## aniversity or mysore

Oriental Library Publications
SANSKRIT SERIES No. 75

## अक्दैतसि द्धि:

गुरुचन्द्रिकाख्यक्याख्यासमलब्नृता प्रथमसम्पुटम्

## THE ADVAITASIDDHI

WITH THE

## GURUCHANDRIKA

Vol. I

EDITED BY
D. SRINIVASACHAR, m.A.

Professor of Sanskrit, Maharaja's College and
Curator, Govt. Oriental Library, Mysore
AND (THE LATE) PANDIT
G. VENKATANARASIMHA SASTRY

First Resident Pandıt, Goot. Orzental Lıbrary, Mysore

## MYSORE

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS 1933

## भू मि का

विदितमेव यत् सिद्दान्तबिन्दुवेदान्तकल्पलतिकादिभ्न्थरचना० प्रकटीक्कृतमहामेषाविमैवै: तत्रभवद्विर्मुयुसूदनसरस्वतीमिः परिच्छेदचतुघ्यात्मकमद्दैतसिद्द्धिनामकं न्यायामृतखण्डनपरं अन्थरलं निरमायीति। यदीयोक्रिसुधार्णवं व्याएं्यातुमुपकान्ताः सुगृहीतनामघेया ब्र्सानन्दसरस्वत्यः ${ }^{1}$ अद्दैनसिद्धिकर्तृविषय एवं वदान्तिमधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्चि ससस्वती।
बेत्ति पारं सरस्वल्या मधुस्द्दनसरस्वती ॥ इति ॥
अस्या अद्दैतसिद्धे: खण्डंनपर्र तरनिण्यारुवमतिगम्मीरं मन्यरलं द्वैतमतीयविपश्चित्पवराः श्रीमन्तो रामाचार्या रचयामासुः।।

तरक्ञिणीखण्डनपरां लघुचन्द्रिकाए्यां व्यास्वामम्द्वैतसिद्द्रे: श्रीमन्तो बहानन्दसरस्वल्यः प्रणिन्यु: ${ }^{2}$ । यदाहुः:-" तद्रक्ताय तरत्रिणीप्रववृते या तामिडां स व्यधाद्रक्नान्द्यतिःः" इल्यादि। इयं लनु चन्द्रिका विह्ठतेरोपषघ्यायकृतज्याख्याल क्रता महामहोपाध्यायेल्याकि?




 नन्द्सरस्बल इति निणांयते। एतदनुरोंबेतनद्रन्थान्ते लिखिते

महानुभावध्रोरयरिविवरमाल्यवर्णिनः।
एतद्रन्यन्य कतारो लेखका: केषलं वयम् ॥
 च घ्रयुत्किटियुलस्यामः॥

बिरदाहित्तैः श्रीयुतैःः-अनन्तक्षूप्णशासिभिः स्वविरिचतया भूमिकया सहित। निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशिता। अद्वैतसिद्धिमघिक्रित्य वक्तव्या बहवो विषयास्तर्तैव भूमिकायां द्रष्ठ्याः ॥

तरक्जिणीखण्डनपरो गुरुचन्द्रिकारुयो महानयं प्रन्थः लमुचन्द्रिकाकर्तृभिरेव पूर्व ${ }^{1}$ विरचितः। एतावता कालेन कुञाप्यमुद्रितोयं सम्युद्रणीय इति कृतप्रयैरस्मम्पाच्चकोशगगाराषिकारिभि: चत्वार आदर्शा: समुपयुक्तः -
१. तेष्वेकः, श्रीमन्महीशूरास्थानषर्माषिकारिणां विषाविशारदेलादिविरुदात्रितानां कुणिगल्-रामशास्रिणां सविषात्।
२. द्वितीयः ${ }^{2}$, श्रेंरीवाबस्तन्यानां विदुुां वि. एस्. रामจन्द्रशास्तिणां सविषात्।
३. तृतीय:, मद्रपुरीस्थकोशागाराच्छासादितः।
8. चतुर्थ:, अस्मद्दीयकोशागारस्थ एव।

आदर्शपुप्तकदानेन सुद्रणाय महदुपक्तृतवतामुदारहद्दयानामुपकारमारं वहामः।

अयं चास्य प्रन्थस्य '(आगमबाधोद्धारान्तः) प्रभो भागः। प्रकाषयिष्यते चाचिरादेवावरिष्टः प्रथमपरिच्छेदान्तो द्वितीयोडपि भागः॥

प्रन्यस्यान्य शोषनादिविषये पूर्वाश्रमे इदानींच बहुपक्ततवद्रघ:


1 "संक्षिप्रचन्द्रिकार्थेन " (ल-चं-२ प), " विस्तरस्तु बृहच्चन्द्रिकायां द्रष्टव्यः " (अ-च-प२६ पु), इल्यादि प्रन्थकृदुक्तश्रमाणैरयं प्रन्थो लघुचन्द्रिकायाः पूर्व रचित द्वति ज्ञायते।।

2 अयं चादर्शः ४२८ पृष्ठानां मुद्दणानन्तरमासादितः। एतदनुरोधेन तावत्सु पाठान्तराणि परिशिष्टे צद्रार्शोतानि ।

## प्रथमसम्पुटगतानां बिषयाणां अनुक्रमणिका

विषय
पृष्षसंख्या

1 मङ्रळाचरणम् 1- 2
3 पक्षतावक्छेद्रकिचार: ..... 5-24
4 प्रपश्वमिथ्यात्वनिरूपणम् ..... 24-52
5 द्वितीयमिथ्यात्चनिरूंपणम् .... ..... 52-- 86
6 तृतीयमिथ्यात्वनिरूपणम् ..... 86-103
7 चतुर्थममिथ्यात्वनि रूपणम् ..... 104-106
8 पश्व्वममिथ्यात्वनिरूपणम् ..... 106-109
9 मिथ्यात्वमिथ्यात्वनि रूपणम् ..... 110--120
10 हरयत्वनिरुक्ति: ..... $120-148$
11 जडंत्वनिरुक्ति: ..... 148--164
12 परिचिछ्छम्नत्वनिरुक्तः ..... 164-179
13 अंशिग्ववविचार: ..... 180-191
14 सोपाधित्वभक्नः ..... 192-203
15 अभाससा+्यभซ: ..... 203-205
16 प्रत्यक्षबाधोद्दारः 206-250
17 प्रत्यक्षप्राव्यल्यभक्र: ..... 250--283
18 प्रत्यक्षस्योपर्जव्यत्वत्वभः ..... 283-295
19 प्रत्यक्षस्यानुमानबएध्यत्वविचार: ..... 295--304
20 आगमबाध्यत्वववचारः ..... 304-329
21 अपनछेदन्यायवैष्यम्यभ⿸厂 : ..... 329-337
22 रौत्यानुमितिसाक्यभซ: ..... 337-345
23 प्रत्यक्षस्य लिन्राघ्यबाध्यत्वे बाधकानिरूपणम्. ..... 346-- 356
24 भाविबाधोपपत्ति: ..... 356-380
25 विश्वसत्यत्वान्डमानभ\%: ..... 380-422
26 मिथ्यात्वे विशोषतोऽनुमानानि ..... 422-442
27 आगमबाधोद्वारः ..... 442--503

## पाठान्तराणि

| पुटम् | प圌: | यथास्धितपाठ: | पाठन्तरम |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 4 | 9 | विरोषधी | विरोषणधी |
| 5 | 8 | समयघटकत्व | समयविशत्व |
| 6 | 15 | प्रमातरिक्तस्था | प्रमासंस्था |
| 8 | 17 | ध्यासाभावान्य | ध्यासान्य |
| 14 | 2 | विशोप्यता | प्रकारता |
| 16 | 11 | विरोष्यता | विशोषणता |
|  | 19 | तादौ | तनदेः |
| 18 | 12 | तन्येपलक्षित | त्न्याश्रय |
|  | 24 | ल्याधि | ल्यादे: |
| 20 | 18 | र्गस्येद् | र्गेद्द |
| 27 | 11 | घटाभिศं | घटाद्विमदभिष्धं |
|  | 14 | घट | घटवत् |
| 28 | 14 | ताकत्वेन | तानिरूपकत्वेन |
| 29 | 2 | बन्धक | बध्य |
| 32 | 9-10 | घटो | घटत्वो |
| 33 | 17 | टर्धाभि | टभि |
| 54 | 12 | विशोषे\| | विशोष्ये। |
| 59 | 24 | अपोक्षतां | अपेक्षितं |
| 62 | 21 | तद्वर्यक-न्ना | तद्वधक्तिभिष्ना |
| 63 | 2 | क्यस्य सं | ซयसं |
| 85 | 2 | उक्ताविरोध | उक्तविरोधि |
| 97 | 14 | न व्या | क्या |
| 107 | 11 | ववष्ण | ववड्डर्मभेन्काष्न |


| पुटम | प蜀: | गथास्थितपाठ: | पाठान्तरम्. |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 118. | 12 | न च ना | येना |
|  | 24 | कल्पितेन प्रपश्वाभा- | निर्विकल्पकधीचेद्यम्। |
| 119 | 1 | वत्वेन |  |
| 123 | 18 | साक्षिणा | स(क्षिणो |
| 125 | 15 | उपह्दितत्वा | उपहिते तत्वा |
| 129 | 11 | जनन | जनना |
| 132 | 17 | ब्रह्मभिन्नवि | ब्रह्मवि |
| 144 | 22 | कारेडपि | कारविद्यानिव्टत्तावपि |
| 150 | 16 | विशिष्रचि | विरिपरूपणण चि |
| 151 | 21 | रूपे स्व | रूपस्व |
| 156 | 18 | अठयाप्य | हयाप्य |
|  | 19 | प्रत्य | अप्रत्य |
|  |  | अवच्चित्रम्न | अनवचिछ़म्न |
| 157 | 6 | वृत्तिभिन्न | भिम्नदृत्ति |
| 180 | 19 | मन्मते | तन्मते |
| 187 | 17 | गुक: | अयुक: |
| 189 | 16-17 | तर्कसत्वात् | तर्काभावात् |
| 203 | $\because 4$ | मानेनैक्य | मानैक्य |
| 210 | 14 | तत्सम्बद्धे दे | तद्सम्बद्दंद |
| 925 | 12 | तथाच्च गो | तथाच्च विनिगमनाविएहेण गो |
| 227 | 21 | बयापकत्वपक्षे | विपरीतझानोत्त रप्रत्यक्ष्त |
| 229 | 21 | तु अन | तु नास्ति, अनुमित्याद्रौ। आन |
| 243 | 13 | तद्ूू | तत्तदू |
| 246 | 19 | श्ञान | झाना |
| 250 | 19 | त्वात् सि | त्वासि |
| 254 | 12 | तथा | तया |
| 260 | 8 | विसेनेन | विध्येतेन |
|  | 16 | सत्यं न | सत्यं त्वगाविसंवादि सत्यं न |


|  | q/ | यथास्थितपाठ: | पाठान्तरम |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| , | 8 | चभ्षु: | मनश्ष्रभ\% |
| 269 | 4 | त्यत्रावि | त्यन्यत्र वि |
|  | 6 | विषयान्यत्र | विषयादन्ग्र |
| 279 | 6 | विषयायाश्र | विपगत्वाश्य |
| 296 | 14 | मासस | मासचोद्नास |
| 298 | 9 | प्रमाणयन्ति | प्रणयन्ति |
| 301 | 17 | श्रुतररन्यमानाप् | श्रुतिकल्पमानापे |
| 302 | 12 | स्यो | स्वो |
| 306 | 24 | थसम्भ | र्थासम्भ |
| 315 | 21 | त्युक्तम | ति युक्तम् |
| 318 | 8 | सम्बन्ध | सस्बन्धि |
| 322 | 17 | वाक्यता | वाक्यार्थता |
| 327 | 2 | बाभावाप् | वासम्भवात् |
| 336 | 13 | मानान्तर | मानलन्तरा |
| 349 | 22 | बरण | चरणा |
| 362 | 4 | धत्युक्तम् स्रूपप्वात् | धि युक्तम् स्वरूपभेदरूपत्वात् |
| 364 | 18 | चाकाश | वाकाश |
| 371 | 22 | बाधक | नाबाधक |
| 373 | 18 | धीरूपे शा | धीरूपरा |
| 375 | 19 | रूपत्व | रूपस्व |
| 377 | 18 | त्वादि | त्वासि |
| 377 | 21 | ₹वविष्याविषयक | स्वचिषयक |
| 382 | 18 | प्रकारधी | प्रकारकधीविरोधि |
| 383 | 22 | धीप्रकारष्याव | ब्याव |
| 391 | 23 | ताया | तथा |
| 409 | 6 | रूपेण | रूपेण वर्तते, एकरूपेण |
| 412 | 19 | तद्वान | तत्तदप्तान |
| 413 | 18 | प्रमावा: | प्रमया |
| 414 | 15 | घ्रह्नणो-तद | घह्नणोंडधिप्ठानत्वात्तत्र |


| पुटम् | प盛: | गयास्थितपपठ: | पाठन्तरम |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 414 18-19 अम्स्य- |  |  |  |
| द्बेत्वभावोदेव न व्यभि- |  |  |  |
| 419 | 19 | तदवयवा | तत्तदबयवा |
| 420 | 16 | भावव | भाव |
| 422 | 9 | तदृत्ति | तदूर्ति |
| 425 | 8 | त्वंम् न | त्वं परमते किमप्येक |
| 426 | 9 | स्व | स्वा |
|  | 10 | स्व | स्वा |
| 428 | 23 | नाश | नाशा |

## शुद्धाशुद्धपत्रिका

| पुटम् प票： |  | अशुद्यम् | शुद्दम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
|  |  | नैन्द्र |  |
| 5 | 20 | बाध्यो | बाधयो |
| 9 | 2 | स एव | तद्रेव |
|  | 9 | त्यनु | त्यननु |
| 10 | 23 | मेंे | मेववे |
| 13 | 21 | ताभिन्न | त्वावच्छिम्न |
| 14 | 8 | क्षानेन | झाने |
| 21 | 4 | इदमाश्रिना | इद्रादिता |
| 22 | 21 | ब्याद्युकं | त्यदि |
| 25 |  | सदूपव | सदूपत्वव |
| 26 | 5 | ताद्टगभ | ताह⿸户⿰㇇⿰亅⿱丿丶丶⿱⿰㇒一十凵⿱一土口 |
| 28 | 18 | मित | पित |
| 29 | 14 | त्मनो | त्मको |
|  | 16 | त्वाभ्यां हति वा | त्वाभ्यामिवा |
| 30 | 3 | वृत्ति | वृत्य |
|  | 4 | त्र त | ग्रत |
|  | 23 | प्रमा | प्रमात्वस्य स्वतस्त्वेन तश्र प्रयोजकाकल्पनात् प्रमा |
| 31 | 6 | युक्ते मे | युक्तेर्मे |
|  | 14 | न च घ | स चघ |
| 32 | 15 | घटभाव | घटाभाव |
| 33 | 2 | त्वास | त्वस |
| 36 | 23 | तादात्म्य | तत्तादात्र्य |


| पुटम् प\|़्ञ. | अशुद्धम् | शुद्धमू |
| :---: | :---: | :---: |
| 399 | निर्बाह: | न निर्वाह: |
| 20 | सदित्ये | सद्वित्यत्रे |
| 21 | वाच्छिक | वावच्छि |
| 409 | नन्तरप | नन्तरं $\boldsymbol{Y}$ |
| 4316 | निर्धर्मिक | निर्धर्मक |
| $47 \quad 25$ | असिप्जी | असद्धी |
| $50 \quad 17$ | कार इति | कार इत्यपर ₹ति |
| $50 \quad 18$ | क्षानयो | क्षानायो |
| 538 | घटब | घटाद्यव |
| $54 \quad 4$ | तत्पतियोगिन: प्रा | तत्प्रतियोगिनोडप्रा |
| 13 | प्रकारके | प्रकारते |
| $55 \quad 4$ | नाजु | नअ्रमानु |
| 5610 | बाध | बोध |
| 19 |  | निश्वय: 1 "बाधन |

मिथ्यात्वनिश्रयात् । तथाच स्वसमानाधिकरणः स्वान्यूनसत्ताके योडत्यम्तमावस्तत्रतियोगोगतंब्र मिथ्यात्वम् । प्रातिभासिकनिष्ठ यत्त्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमू, यश्च स्वसमानाधिकरणाप्रतिभासिकाल्यम्ताभावप्रतियोगित्वं घह्हावृत्ति ' तयोरन्यतरत्वं मिथ्यात्वमिति निष्कर्षः। पूर्णानन्दनिप्षस्य पूर्णानन्द्रसम्बन्धिमनअनिदिनिष्गवावहारिकात्यन्तम्मवप्रतियोगित्वरूगस्य मिथ्यात्वरूप्ववाभावात् महाहृत्तीति । शुक्तिरूप्योंद्रेर्यावहारिकोऽत्यन्ताभावस्तु ब्यावहारिकं तत्समानाधिकरणं तदल्यन्ताभावमझ्रक्ठिलैव मिथ्याकार्यः "। हति श्रुटितम् ।

|  |  | अभुबम् |
| :---: | :---: | :---: |
| 59 | 2 | मर्देन, पा |
|  | 20 | विरोधत्व |
| 60 | 3 | तद्री: |
|  |  | कशा |

मर्देन पा
विरोधित्व
तद्धीत
बरात्त
दोष:, विरोप्यतान्यक्तः स्वसपत प्व निवेशेन बाप्यत्वादेरेतिवेशात्व स्रति भुटितिम् 6473
-
कुष्ट

| पुटम | प予: | अशुदुप्द् | शुद्धम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 67 | 16 |  | न दोषः। इनं उ्यावहारि- |
| करजतमिति संस्कारस्य प्रयोजकत्वात्। |  |  |  |
| 68 | 7 | कारक्षा | काक्षा |
|  | 8 | तत्ता | तत्तत्ता |
| 72 | 9 | कनि | के नि |
| 89 | 16 | द्रा | द्य |
| 96 | 10 | निविष्ट | नि विशिष्ट |
| 98 | 14 | कार्ययो: धवं | कार्यधवं |
| 104 | 4 | पूर्ववहै | पूर्ववै |
| 105 | 3 | मत्र | मग्र |
| 106 | 15 | प्रमाणत्वं | प्रमात्वं |
|  | 16 | बाधित | तुचछबाधित |
| 107 | 16 | सर्वमेव | सर्व मेय |
| 117 | 3 | विनाऽख्या | विना ख्या |
|  | 6 | यर्षदिदू | याद्द |
| 118 | 6 | रूपशः | रूपं, रू |
| 119 | 23 | अविद्यया न इ | अविद्यया इति |
| 121 | 25 | त्वेन वा | तंवनाझातत्वेन वा |
| 124 | 22 | त्वभात्रो | त्वाभावो |
| 131 | 7 | वृत्तिवि | चृत्तिर्बि |
| 135 | 22 | दिल्यर्थ: | दीत्यर्थ: |
| 136 | 9 | विद्यादौ | बिन्द्रादौ |
| 138 | 10 | विष्यक | विषय |
| 139 | 22 | घटितत्य | घटितस्येल्य |
| 144 | 7 | विषयाव | विषयताव |
|  | 23 | ज्ञानस्य | अझानस्य |
| 145 | 22 | किजा | कजा |
| 147 | 9 | न वक्षया | वह्नया |
| 148 | 17 | कल्पने ना | कल्पनेना |
| 151 | 3 | घटक्षा | घटाक्षा |
| 152 | 6 | प्रकारा | पका₹्य |


| पुटम् | पד离: | अशुद्धम् | डुद्धम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 152 | 7 | तंत्रं । अर्थो | त्वं। प्रक्राशात्वं अर्थों |
| 153 | 21 | जकविद्यंग | जकाविद्यो |
| 154 | 7 | अन्या | जन्या |
|  | 12 | पि स | प्यस |
| 155 | 22 | कत्वं तद | कत्वतन |
| 157 | 11 | निवेशास | निवेशास |
| 160 | 1 | त्वरूपे | स्वरूप |
| 162 | 9 | त्यत्रो | ल्यन्यत्रो |
| 171 | 7 | दूरदो | दूरत्वनो |
| 172 | 16 | पद्वक | पाद्क |
| 173 | 5 | तदाश्गया | तादTश्क्या |
| 174 | 1 | दूरदे | दूरत्वदो |
| 180 | 4 | एतेनो | एंतन स्वो |
|  | 22 | भाव | भावा |
| 181 | 9 | कामति | क इति |
| 182 | 10 | समंबनस्य | समवेतत्वस्य |
|  | 21 | आद्यो | आएद्ये तदु |
| 183 | 10 | प्रतियोगि | प्रतियेगग |
| 186 | 10 | ज्ञानभिन्न | छानाभिम्न |
|  | 16 | वत्सु | वस्तु |
| 188 | 14 | निशच्रयत्वात् | निशचयात् |
| 193 | 2 | वत्, सा | वत्सा |
| 194 | 7 | साधगा | साध्य |
| 197 | 1 | साधनत्वात् | साधनात् |
|  | 10 | साध्याठया | साध्यण्या |
| 198 | 5 | पक्षेतर | पक्षेतरत्व |
|  | 11 | पक्षस्येव | पक्षस्यैव |
| 199 | 15 | विषयाव | विष्यताव |
|  | 18 | त्वेन । तत्प | त्वेन तत्र |
| 205 | 7 | णप्रवृत्तेःतद्विषये | णाप्रषृंत्तः प्रमाविषय |
| 207 | 9 | तात्विकस्य | तात्विकत्वस्य |



| पुटम | 9算: | अशुडम् | गुदम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 265 | 14 | कल्प | कर्प |
| 267 | 7 | सामान्य | सामान्यस्य |
|  | 8 | लक्षणया | लक्षणाया |
|  | 15 | अत अतुष्य | अतोडतुल्य |
|  | 23 | न ' $\frac{\text { देब }}{}$ | 'न द्वेष |
| 268 | 7 | नाम न होमा | नामनहोगा |
|  | 24 | विद्य | विध्य |
| 269 | 4 | ज्रावि | पर वि |
|  | 6 | स्वारसिके | स्वारसिकी |
| 270 | 14 | पूर्वरू | पूर्वत्वरू |
|  | 22 | अर्थनादक | अर्थवाद |
| 271 | 5 | स्य यु | स्यागु |
|  | 18 | बहिर्ध | बर्हिर्ध |
|  | 19 | लब्ध | बद्ध |
|  | 20 | लब्ध | बद्ध |
|  | 21 | लिखं | अ宗 |
| 272 | 2 | हैत्यस्य | इल्यम्रत्यस्य |
|  | 14 | मद्र | मन्द्रं |
|  | 22 | धर्मा | धर्मा: |
| 275 | 7 | रिमियत | र्मियेयत |
| 276 | 5 | तस्य | कस्य |
|  | 22 | सत | तส |
| 279 | 9 | बृृत्तः, यो | बृत्तियो |
|  | 20 | किरो | कं रो |
| 280 | 6 | विषगया बा | विषयावा |
| 282 | 18 | रदे | रहै |
|  | 21 | दक्षि | दीक्ष |
| 283 | 3 | क्षित | क्षिता |
| 284 | 20 | ज्ञात | ज्ञान |
|  | 22 | बत्वम् \| श | वत्वरश |
| 288 | 9 | इति; | इति, चेष्ण; |


|  | प算: | अबुदुम् | गुदम |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 294 | 20 | विषयक्र | विषंय |
| 296 | 1 | नैन्द्र | नेन्द्र |
|  | 15 | यकाह्मणानि पश्च हबींणि तबा | पतर्काह्यणानि पश्न हवींचि यक्रा |
| 298 | 14 | ताहराद्रि | द्वादरादि |
|  | 16 | सवन्तया | सवनीया: |
|  | 18 | ज्ञात: | न्नीत |
| 299 | 6 | वर्णीका | वर्णिका |
|  | 19 | सूत्रोक्रोचछे | सूत्रे उन्कोणछे |
| 302 | 1 | वाध्यते चह्नयै | वाध्यत्वे वह्नथौ |
|  | 7 | त्वेन | त्वेन न |
| 303 | 16 | पूर्वकस्लण | पूर्वकाबण्ड |
|  | '17 | त्यवे | यत्वे |
| 304 | 15 | जन्याप्र | जन्यप |
|  | 21 | दपि प्र | दविप |
| 306 | 6 | कम्। ${ }^{\text {a }}$ | कं.त्त |
|  | 12 | त्रिरा | ग्रेरा |
|  | 16 | तनार्थ | तंडsर्थ |
|  | 24 | नाभास | नाभ्यास |
| 307 | 13 | द्वेर्वि | दे वि |
|  | 20 | रूढत्वात्; त | रूढत्वात्त |
| 308 | 2 | रूपेड氧। तत् | रूपे डर्थ तत् 1 |
|  | 21 | दिस्त | देस्तु |
| 310 | 12 | रमिति कर | रम्, हतिकर |
|  | 21 | रूति | अमा |
| 311 | 1 | बशा | वाश |
|  | 17 | र्यानु | ग्रस्यानु |
|  | 19 | वत्रूप | त्वरूप |
|  | 22 | मेल्या | म हूत्या |
| 312 | 20 | त्वम् 1 रये | त्वं इये |
| 314 | 3 | दौ लोके, सोरोदी़ा |  |


| पुटम | प盛: | अशुद्दम् | शुद्बमें |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 316 | 23 | ति बोधितस्य इति त्रुटितम् |  |
|  | 24 | कृत | कृत्य |
| 318 | 10 | मुख्या | अमुख्या |
| 319 | 15 | रूपमुख्या | रूपममुख्या |
|  | 20 | तद्दोष | न दोष |
| 320 | 3 | लक्षणक | लक्षक |
| 321 | 4 | परम | किंतु परम |
|  | 8 | तरापा | तरपा |
| $3{ }^{2} 3$ | 4 | नैव नामुख्यत्वमत्रैवादि | नैवामुख्यार्थत्वं न त्वादिं |
| 325 | 6 | दातुरुप | द्वात्रुप |
| 326 | 1 | वृत्तिवा वाक्याति | वति वा वार्गार्थाति |
|  | 16 | मानान्तर | मानान्तरा |
| 327 | 21 | धात्वर्ध | तथात्व |
| 308 | 8 | कता | कवा₹यता |
| 329 | 22 | घ्ये | द्य न |
| 330 | 19 | प्रवृत्त | प्रवृत्त |
| 331 | 19 | यदा | यद्वा |
| 332 | 9 | दक्षिणयो: | दक्षिणायोः |
|  | 14 | दिक्षिणा | दिदक्षिणा |
| 333 | 11 | पश्न्रमे। दर्शो | पश्श्वमेदर्रो |
|  | 19 | दप्रा | अदृष्ष |
| 334 | 1 | अथत | यथेत |
|  | 6 | प्रयोगस्य | प्रयोगस्थ |
|  | 13 | निमित्तेs | निमित्ते |
|  | 24 | यज्ञातं | तज्ञातं |
| 335 | 11 | रि दरयने। | रि। हइयते च |
|  | 19 | बाध्य | अबाध्य |
| 336 | 1 | न्तर | न्तरा- |
|  | 20 | यद्यपि | यद्वप |


| पुटम् | प需: | अशुद्धम् | शुद्वम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 338 | 19 | न व्या | न तह्या |
| 341 | 5 | तार्थवा | तार्थकार्थवा |
|  | 10 | बपद | व तत्पद्व |
| 342 | 12 | जीव्यात् | जीवया |
|  | 15 | तथा | न तथा |
| 347 | 8 | णयापरि | एयपरि |
| 348 | 3 | कस्यपि | कस्यापि |
| 351 | 25 | श्ञुत | क्ञुते |
| 352 | 2 | विषयया | विषया |
| 362 | 11 | मान् इल्यादिश | टो न इति त्रु |
| 363 | 23 | क्ष्यत्वं चृत्तिश | यत्वं-इंति त्रु |
| 364 | 4 | यथाहि | यत्रवि |
|  | 6 | मपि मनु | मपि गदा म |
| 365 | 6 | धर्म | धर्मि |
|  | 9 | णशा | णाश्ञा |
| 371 | 5 | ण் फ | णफ |
|  | 6 | मिति | मपि |
| 374 | 23 | स्वरूपक्रिया | स्वक्रिया |
| 375 | 25 | कमिॉन | कत्वमिति |
| 377 | 8 | रनु | रननु |
| 378 | 10 | विष्य: | विषयै: |
| 382 | 6 | मतबा | मताबा |
|  | 17 | नित्युक्तम् | दित्थमुक्तम् |
| 383 | 4 | पृथ | अर्थगतं पृथ |
|  | 6 | जन्यं कृति | जन्यकृत्य |
|  | 19 | कारस्य ह | कारह |
| 387 | 14 | ससम्भ | सासम्भ |
|  |  | णघटि | णाघटि |
|  |  | चछे | चछेद्द |
| 389 | 1 | अ्ञह्म वि | ब्रध्नवि |
|  | 2 | त्रह्य वि | अ्रह्नवि |


| पुटम | प算: | अडुद्धम् | शुद्धम् |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 390 | 15 | व्यावृत्य | वृत्त्य |
| 391 | 4 | भावाधि करण | अभावाधि करणत्व |
|  | 8 | न्यत्वाभा | न्याभा |
|  | 19 | भिन्नाव | भि⿻्नानव |
| 393 | 3 | साध्य | साध्या |
|  | 4 | हेतु | हेत्व |
|  | 7 | त्वात्। सा | त्वात् सा |
|  | 9 | त्वात्। अ | त्वाद |
|  | 10 | न भवत: | अ्रमंौ भवत: |
|  | 11 | स्येव | स्यैव |
| 394 | 3 | मिथ्यतंतेनेत्र | मिथ्यात्बेनैव |
|  | 6 | स्यात् | स्यात्य न ; |
|  | 12 | विष्रयका | विष्यः का |
|  | 18 | झानत्व | ज्ञानवत्व |
| 395 | 2 | तत्र ब्यभिच्रारा | तत्र इति त्रुटितम् |
|  | 7 | अर्थने | अर्थेने |
| 396 | 9 | ननु | ननु झाने |
| 397 | 7 | व्यापक | ठयाप्य |
|  | 18 | कसि | कत्वसि |
| 398 | 6 | कल्पेन | कत्बेन |
|  | 8 | विषयमा | विषयत्वभा |
| 399 | 2 | क्षण्या, | क्षण्या |
| 404 | 5 | तना | चेदा |
|  | 17 | तंव प्रा | त्वेडप्रा |
| 405 | 16 | त्व | त्वं |
| 428 | 3 | भावब | भाव |
|  | 13 | पकं | पकत्वं |
| 431 | 16 | रूपकं | रूपकन्वं |
| 448 | 6 | तथाने | तदादे |
| 460 | 4 | घानादा | अानद्दा |

## सव्याख्या <br> अंद्धैतसिद्धि:.

## अ द्वै त सि घि : :

मायाकल्प्पतमाढृतामुखमृपद्रैतपपच्चाश्रय:
सत्यज्ञनसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्याखण्डधीगोचरः।
मिथ्यांबन्धविधूननेन परमानैन्दकतानात्मकं
मोक्षं पात इव स्यं चिजयते विष्णुर्णिकस्पोज्यितः ॥
भररामतिक्षेश्धरमाधवानामैचयेन साक्षात्कतमाधचानाम् ।
 बढुโिर्विरिहिता बुनैः परार्थ
विजयन्तेडपितविव पृता निबन्धाः।
मम तु श्रम ए१ नूनमाट्मंभरितां भावयितुं भविष्यतीह।।
अद्धाघनेन मुनिना मधुसूदनेन
संपृष्य श्रास्बनिचयं रचिताडतियनात् । बोधाय वादिश्विजयाय च सत्वराणां अद्दैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुचनान् ॥

त习्रादेतसिद्द्रैहैतमिथ्यात्वसिद्विपूर्ककत्वात् द्वैतमिथ्यास्वमेब भथममुपपादनीयम्। उपपादनं च ₹वक्षसाघनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तबुभयं वादजल्पषितण्डानामन्यत्मां कथामाश्रिल्य सम्पादनीयम् । तः विभतिपषिजन्पसंशयक विचाराज्ञवाव् मध्यस्यनादौं विभतिवषिः भद्र्ष्षनीया। यघवि

विपतिपरिजन्यसंशयर्य न पक्षतासम्पादकतया उपयोगः, सेषाधीयषाविरह्रसह्ठकतसाधकमानाभववरूपायास्तस्या: संश गाघटितख्वार् 1 अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्ययवतोडनुमित्सया तदनुमानं न स्यात् बाद्यादोनां निश्चयवत्त्वेन संशयासच्यवादाहार्यसंशय स्यातिमसंजकत्वाच । नापि विमतिपते: ₹वरूपत एव पक्षमतिपक्षपरिग्रहफलतया उपयेगः, त्वयेदं साधनीयमनेनेदं चूषणीयमिखादिमध्यस्थवाक्वादापि तझ्ठाभेन
गु रु च न्द्रि का .

सदनन्तचिदानन्दे जगती यत्र जायते। रजतादीव शुक्तयदौ तदेवाहं परा गतिः ॥ तत्त्वं वेदय वेदगं नरहरे नैषोऽधिकारीति चेत् स्तम्भादा|विरमू: कुतोऽस्रुरमश्भण्डांशुतामाश्रितः। द्रोहेणापि न ते ₹मरत्ययमतो नेहानुकम्पेति चेत् तत्कि त्वं न तदीश यद्यदनिशां स्रेहादितस्स्मर्यते।। सरस्वती ${ }^{1}$ स्वामिमहा सरस्वती ${ }^{2}$ सरस्वती $\hat{1}^{3}$ स्वामिमहा सरस्वर्ते ${ }^{4}$ निस्सार्य सारस्वतसारिकार्य सारस्वतः सारसतर्करत्नम् ॥ श्रीनारायणतीर्थ श्रीपरमानन्दपादयोः। ब्रह्सानन्द्यतिर्नत्वा तनोत्यद्यैतचन्द्रिकाम् ॥ सारस्वतसमुद्रेकश्रन्द्रिकाया: परं फलम् । पासक्रिकतया ध्वान्तपरामूततिरपि घुवा।। कुमुद्धतीब्बोघयामि सारस्वतसरस्वतीः। महदामोदमादाय चित्त ${ }^{5}$ चन्द्रिकयाऽनया।।


## 

 मिल्यन्रन्वेडपि क्युदसनीयतया विचाराक्रस्वमस्येव ताध्यांशूयं หति बिभतिपत्ते: कविचिश्विभादिभतिक्धादजनकलेड़ीअनु।मियनऋत्रत्रे अनुमितिं प्रत्युक्तरीत्या प्रयोजकत्वाभावे। ठ्युदमनीवतया विचारप्रयुक्ताभावप्रतियोगितया । विचाराङ्गृंत्रं विचारप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषये फले प्रतियोगितया विरोषणत्वम्। मिथ्यात्वसंशायाभावरूपफलं ज्ञात्वा तदुद्देरोन विचोरे प्रवर्तत इत्यर्थः। पश्चावयवसपरिकरन्यायरूपविचाराभावे हि मिथ्यात्वस्य अनिश्शयात्संरायः। ततश्र सन्दिग्याद्वैततात्पर्पसंश्रायरूपाद्देषादेकमेवाद्वितीयमित्यादिवेदान्तवाक्यादपि संशय एव जायते न निश्रयरूपाद्वैतसिद्धि:। ततश्च तत्त्वमस्यादिवाक्यादपि नाद्वैतव्रद्मणि जीवैक्यनिश्चयः, अद्वैतत्रद्सण एवानिश्षयात् । यद्वा-अस्तूक्तवाक्यान्निश्रय एव, प्रत्यक्षस्यैव संशायत्वात्। तथापि वियदादिप्रपश्चामिथ्यात्वसंशये तद्विरोधिन्नह्मातमैक्येऽपि मिध्यात्वसंशाय । तत औचित्यावर्जितो मिथ्याविषयकत्वरूपाप्रमांत्वस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यजे उैकैक्यज्ञाने संशायः। तथाच निश्रयरूपस्याप्रमात्वेन अग्राह्यस्य वा उक्षैक्यज्ञानस्येष्टस्य विरोधितया, सुखविरोधितया .़ुखविरोधिनीव, प्रपश्चमिथ्यात्वसंशाये द्वेषो, द्विष्टामावतया च तदभाव इष्टः। मिथ्यात्वनिश्रयद्धारा तत्पयोजकतया च विचार इष्ट:। यद्वा वग्दुद्भीयतगेति इष्टतावच्छेदकभूमूतभेदप्रतियोगितयेत्यर्थः। संशयान्यमिध्यात्वज्ञानत्वं हि इप्टतावच्छेदकं उस्तैक्यंज्ञानरूपेष्टविरोधिमिध्यात्वसंशयावरोंधितावच्छेदकत्वेन सुखविरोधि विरोधितावच्छेदकतदूहत्वादिवत् सर्वदा विप्रतिपत्तिरावरयकी तां विना संशयस्य अनुत्पत्तौ विंशोषणस्य संशयस्य ज्ञानाभावे संशयाभावरूपफलज्ञानाभावेन तदुद्देशेन प्रवृत्त्यसम्भवादिति भाव:
 लिश्चितौ ₹ि चादं कुरूत इस्याभिमानिकनिश्ययाभिभायं पर-
 दैशानात्। तस्मात् समयबन्धादिवत्天वकर्तठ्यनिर्वाह्राय मध्यस्थेन विभतिपतिः पदर्शनीयैव। तत्र मिथ्यात्बे विपतिपतिः-

स्वरुपये|ग्गत्वादि।ति। "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विपतिपत्तेरुपरुष्ध्यनुपलबध्यव्यवस्थानाच्च विशेषापेक्षो विमर्शस्संशाय:" इति न्यायसूत्रस्य साषारणधर्मरूपसमानधर्मस्य असाधारणधर्मरूपानेकघर्मस्य वा ज्ञानात् विप्रतिपतिवाक्याद्धा विशेषधीरूपोपलब्षेः बाधाभावरूपानुपलब्घेरितरकोटिठ्याप्यादर्शनरूपाव्यवस्थानाच धर्मिज्ञानरूपविशेषापेक्षो विरुद्धनानाकोटिज्ञानरूपविमर्शः संशाय इति व्याख्याने संशायो विप्रतिपत्त्यादिजन्य इति यथाश्रुतार्थमशश्रित्येदम्। विप्रतिपत्त्यादिप्रयोज्यः स इत्यर्य तु विछोषणधीविधया संश्यस्वरूपयोग्यकोटिद्वयोपस्थितिजनकपदघटतत्वादित्यर्थः। तथाच यत्र विप्रतिपत्तेः संशायस्य जननद्वारा न ज्ञापकत्वं तत्र सम्बन्धितया संशायस्मारकतया उपयोग इति भावः। बान्यादीनामिति। तथाच वादिनोर्मध्यस्थस्य च निश्रये तदन्येषां सभापत्यादनिां संशायापसरणं फलम्। तेषामपि निश्वये त्वाह—तःमादिति । समयः सिद्धान्तस्तस्य बन्धो विचाराश्रयतया नियमः एतन्मत एव त्वया वाच्यमित्याकारः। ₹बकत्तेंचति-कथकसम्पदायानुल्रु्द्वनरूपेत्यादि:, विचारे प्रवृत्तिस्तु विजयादिफलेनेति भावः।

प्र欠पितमिह मन्दैमन्द्धधबनन्धुबन्धं ${ }^{1}$
श्रुतसमितसमाजे मन्दमन्दाक्षदक्षम् ।

ब्रस्प्रमातिरिकाबांपत्रे सति सत्तेन प्रतीत्यर्य चिंद्मिसं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेश्रतियोति न बा, पाएगार्यक्त त्वाकारणोकनिषेधवतियोगि न बेनि ।

कथमथ कथयामो दूषित ${ }^{1}$ तत्तथापि
स्मितमितकुतुकार्थानर्थतशश्रावयामः ॥
अत्रोक्षं वाद्याद|नां विशोषदर्शनात्क्वापि संशायं प्रत्यनुपषायकत्वात्वर्वूपयोग्यैव विप्रतिपात्तिः। वाद्यादीनां विशोषदर्शनं च कथापूर्व समयषटकत्वज्ञापकपरीक्षादिना सिद्धम्। परपक्षमालम्ब्य अंंकारिण: प्रवृत्तिः रण्यात्याद्यर्था । च्युदूसनयितया सम्यादेः संशयोऽपेक्षितोपि वादिनेःः प्रत्येककोटयुक्तिम्यां भविष्यति, किं विप्रतिपत्त्येति। तत्र वाद्यादे: निश्रये ब्वया रापथेन निर्णीतेप्यन्यत्र संशयोपधानसम्भवेन स्वरूपयोग्यत्वाक्षतेः कथापूर्वापातपराक्षया निश्रयानुमितावपि निश्चयानावरयकत्वात् । स्वरूपसान्निश्ययो हि विरोधी, न तु तस्य ज्ञानम्। क्वचितऽगात्याद्यर्था प्रवृत्तिस्तु ममापि सम्मता। सभ्येषु संशयस्य विप्रतिपर्षि विना उक्तिस्तु ठयर्थ। न हि संशयोडपेक्षितः, अपितूकरात्या प्रवृत्तिप्रयोजकफलविशोषणतया तद्धीः। सा च कथाप्रवृत्ते: पूर्व वादिनोर्विपतिपत्यैवोक्तरीत्या सम्भवति, सम्यानामपि निश्रये वादिभ्यां निश्वितेऽपि विजयाह्धर्थमेव तयोः प्रवृत्तिरिय्युक्तं, वादकथायामेव तत्त्रानेर्णयफलनियमात् 1 ब्रक्षप्रमतित-
 ज्ञानतत्कार्यान्यतरत्वम्। तेन न ज्रद्सप्रमापूर्व्वबाधितमातिभासिकविशोषे सिद्धसाघनतादवस्थ्यम् । पल्धुवाज्ञानानऊ़कारे तु प्रातिमासिकान्यत्वमेब सत्यन्तार्थः। तुच्छत्रस्मणोः बाधासिद्धिवारणायान्यविशोषणे । यतु

अश्रच पक्षतावचछेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धे रुद्वेइयत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनतेति मते

ब्रक्वत्वतुच्छत्वावच्छेदेन साध्यहेत्वोरभावरी: अन्यपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्येतुतुज्ञानं न विरुणद्धीति न बाधासिद्धी, किंतु अनुमितेर्भमत्वं स्यात् । अतोडन्यविशेषणे इति, तत्तुच्छम्। अवच्छेद्कावच्छेदेन अनुमितेरुद्देशयतायां सत्यन्ताभावेन पक्षतावच्छेद्कीभूतेतरविरेषणद्वयन्यतरावच्छेदेनानुमितौ तत्सामानाधिकरण्येन ब्रकुच्छयोः साध्यहेत्वभावाधियोर्विरोधित्वेन बाधासिद्धयोरावइयकत्वात्। पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अनुमितेरुद्दे्यत्वे तु अबाध्यत्वान्तमेव पक्षतावच्छेदकम्। अन्यथा वियदादावेव सामानाधिकरण्येनानुमितेः प्रमात्वसम्भवात् अमत्ववारणस्यापि उक्तविशोषणफलतुवासम्भवात् । यदपि शुक्ताादिज्ञानमपि ब्रह्मपमेति ग्राक्तिरजतादौ सिद्धसाघनम् । शुद्धं ब्रह्म न विषय इति मते वियदादेरापि अह्मप्रमान्यबाध्यत्वात् पक्षालाभश्र । अतः सप्रकारकेति श्रद्नभमातरिक्तस्थानायं वाच्यमिति । तद़पि तुच्छम्, शुक्तयादिज्ञानस्य शुक्तयाद्यवच्छिन्नचिद्विषयकत्वेऽपि शुद्धचिदविषयकत्वात्। अन्यथा हि जह्मप्रमान्यबाध्यत्वाप्रसिद्धिरेव वाच्या स्यात्, न सिद्धसाधनम् । ब्रद्मप्रमापदेन ब्रह्मान्याविषयकोक्तौ सिद्धसाघनाभावाच्च । शुद्धं ब्रह्स न विषय इति मतेऽपि शृत्युपहितब्रह्मन्याविषयकस्योक्तावदोषात् । किंच नायं स इति भेदादे: सोयमित्यादिनिष्प्रकारकेण बाध्यत्वात्तव कथं न सिद्धसाधनम्। यद्यपि शुक्तिरजतादौ सिद्ध साधनं वाच्यम् न तार्किर्केण नाप्यानन्दतर्थियेन। तेन तत्रासद्विऊक्षणत्वान*कीकारेण अहाँतेनैन तद्वारणात्, सदसद्विलक्षणत्वादिसाध्यस्य
 १णम् । यदि पुनः पक्षताबचछेदकाबचछेदेनैच साध्यसिद्धिएदेइइया, तैदैकदेशे साध्यसिद्धाबपि सिद्ससापनाभावात् तद्वारकं विशेषणमनुपादेयम्। इतराबिशेषणद्रयं तु तुचेछ अ्रस्माि च

तेन तत्रानज़्रीकाराच । तथापि भाक्करादिभि: श्रुक्यादौ सत्यरजतादि जायत इल्यक्जीकारात् तदनुयायिना केनाचिह्वाधदर्शनान्मिध्येति वक्कुं राक्यमिति तं प्रति विपतिपत्तौ अवाध्यत्वान्त देयम् । यतु भास्करादन्यैराकांक्षिते प्रयोजने तेन रूपेण विशिष्टे साध्यसिद्धि: प्रयोजनं वाच्यामिति तन्न, तेन रूपेण विशिष्टे साध्यं सावयसि कुत इत्याकांक्षायां उक्रपयोजनोक्तेः सचेतसामनुाचितत्वात्। तुश्छ इति। नचानिर्वाच्ये सत इव सत्यपि तुच्छस्य संसर्गतया आरोपसम्भवात् सत्वेन पतीव्यूं तुच्छमपींति वाच्यम्। परस्पराध्यासानुरोधेन अनिर्वाच्ये सत्तादात्याध्यासेडपि तुच्छतादात्म्यस्य सति आरोपे मानाभावास्सतुच्छमित्यपतरतेः। एतत् ज्ञापयितुमेव सदामिन्नमिल्यनुक्वा तस्समानार्थकमप्यहान्तमुक्तम्। अथानिर्वाच्येऽपि कुतस्सत्तादात्म्यम्, तद्विना सचिद्वास्यत्वानुपपतेरिरितिचेत्, तहिं तत्रापि तदनन्तरमेवं तत्रापीय्यनवस्था । खरुपसम्बन्धेन भास्यत्वोपपादनं तु सर्वत्र समामितिचेत् अत्र जूमः—ज्ञानाकाररजतादौ गुक्यादिगतेदंत्वादिसंसर्गाष्यास इति केचित् बौद्धा:, इंत्वादिविशिए्टे रजतादिसंसर्गाष्यास इल्यन्यभाए्यातिवादिनः केचित् । तयो: मतयोः ज्ञानाद्याकाररजताघंशस्य अप्रामाणिकत्वेऽपि तस्वीक्हतयोः रजतामेंद इदं रजतमित्याद्याकारयोः वर्ष्षमाणरतीया मिन्नविषयकत्वादिमतोः अविनिगम्यत्वात् । रजतादिसंसर्गमान्रे अध्यस्ते रजतादेपपरोक्षत्वायोगात्। इदमादेश्र ₹्राकारृृतिनिर्गमेनापरोक्ष्यस्य सम्म-

बात्, तर्संसर्गस्य रजतादेश्राध्यास आवरयकः । तथाचानुमवस्य इवं रजतामत्यादोर्वेनिगन्तुमशक्यत्वादुभयाध्यासत्वसिद्धावप्यननुभूयमानस्य तुच्छे सत्तादात्म्यस्य सति तुच्छतादात्म्यस्य वाऽध्यासो न प्रामाणिक: ॥

यन्तु नेदं रजतमित्यस्य रजततन्निष्ठदंत्वसंसर्गयोः बाधकत्वे गौरवात् रजतबाघकत्वं नेति रजतं नाध्यस्यत इति विनिगमकं भामत्यामुक्तम्। तदौपनिषदं प्रति, नतु रजतसंसर्गमात्राध्यासवादिनं प्रति। तेन रजतादाविदन्त्वसंसर्गाध्यासानम्युपगमात् अनध्यस्तबाधकत्वमम्युपेत्य दूषणे, इदन्त्वादिधर्मस्य परंपरया ज्ञानाकारे साक्षात्तद्धर्मे वा बाषकत्वमभ्युपेत्य तन्मतेऽपि दूषणसम्भवात्। न च ‘रजतमिदं इदं रजतं’ इत्याध्युभयाकारसर्वभ्रमाणामिदंत्वादिसंसर्गाध्यासेनैव उपपत्ताविद्मादितादास्म्य नाध्यस्यतामिति वाच्यम् । अममात्रस्य उभयाकारतायाः घर्मसंसर्गस्य धर्मितादात्य्यस्य वाऽध्यास इत्यस्याविनिगम्यत्वात्। अ्रमकाले इदन्त्वादिमद्रेदस्यापि रजतादावावृतत्वात्। अन्यथा इदंत्वादिसंसर्गाध्यासस्याप्यसंभवात्। तस्यानावृतत्वे तु धर्मप्रतिबिम्बाध्यासस्यैवांजीकारात् तस्यैव विशाषदर्शानाविरोधित्वाव्। एतदाभिप्रायेंगव भामत्यादौ धर्मितादात्म्याध्यासलौहित्यप्रतिबिम्बाध्यासाभावान्यतरनियमो धर्माध्यासस्य उक्तः। एवंच घटस्सन्नित्यादौं सदादिसंसर्गस्येव सदादितावाल्यस्यापि घटादावध्यासः। न च अ्रममात्रस्य द्वयाकारतैव नेति वाच्यम् इदं रजतं रजतमिदं, द्रवयं रूपादिमत्, अहं सुखादिमाननित्यप्रेमास्पदं इत्यादिरूपेण द्वयाकारत्वस्यानुभाविकत्वात्। रजतत्वादिविशिष्टस्यैव प्रातीतिकस्युो्पत्त्या तत्रेदत्वद्रव्यत्वरूपादेरात्मनि सुखानित्यत्वादेरहंकारे प्रेमास्पदत्वादे: संसगाध्यासावर्यकत्वात्। अथ घटस्सनित्यादौ घटादेरेवाध्यासः नतु तत्र सत्तादाल्यस्य, द्वचाकारता तु अविद्यानिष्ठसत्तादाल्म्यस्य अविद्यापरिणामेऽपि सत्त्वादितिचेत् न, घटा-

दिरविध्यापरिणामः तत्र सत्तादास्म्याविद्यागतं भाति, अनाविबकमेव बा घटादौ सत्तादालाल्यमविद्यापरिणामे जायते तत् स एव अविद्यायामपि भातीत्यविनिगम्य्वात्। ' मायां तु पक्रति' 'मिल्यादिश्रुते: सतादास्यविशिष्टं जन्यमान्रं मायोपादानकमित्यर्थसम्भवात् पश्रमप्रकार ${ }^{1}$ निवृत्तेः कार्य्त्वेन तदवच्छेदेनाविद्यापरिणामत्वसम्भवात् तादात्यत्वरूपाखण्डधर्मावच्छेदेन तस्सम्मवात्। अज्ञानतस्सम्बन्धादौ जन्यनिम्ष्टतादाल्येनोपपतेः। न चाविद्यानिष्हस्य सत्तादात्यस्य घटादो भाने अन्य थाख्यात्यापत्तिः। एकमेव तादाल्म्यम् सर्वर्चानादत्युाक्तित्तु तुच्छा, घटादि: तचादाल्मं च नष्टमिल्यनुभवात्। अन्यथा समवायैकलं सिद्धान्ते दुष्टं न स्यात्। अतः अविद्यातादास्म्यमपि घटादावस्रक्रक्य स्वाश्रयतादास्म्यसंम्बन्धेन सत्तादाल्म्यं सन् घट इत्यादौ भातीति मयोच्यते, व्वया तु घटादितादात्म्यमाविद्य।यामक्नक्छक्य धटादिस्थं सत्तादास्यमुक्तसंबन्घेन सत् अज्ञानमिल्यादौ भातीति यद्युच्यते तदा घटादौ सतादात्म्यानामविद्यायां घटादितादात्म्यानां च अनन्तानामझ्जीकाराद्रौरवमितित वाच्यम्। सत्तादाल्म्यं घटादिस्यं कारणत्वसम्बन्षेन अविघ्यायां भातीति अविद्यानिम्ठघटादितादात्म्यानां मया अनक्रीकारात्। तर्षाविद्यास्यं सत्तादाल्म्यं स्वाश्रयकार्यत्वसम्बन्चेन अविद्याकार्यमात्रे ममापि भातीति नाविद्यातादात्म्यं घटादौ मयाड्पुच्यत इति चेत् न। उक्फतादाल्म्यं विना अविद्याकार्यत्वस्पैव घटादावसम्भवेन तव तदावइयकत्वात्। तर्हि तवापि सत्तादात्म्यस्य अविद्यायां तादात्म्यमनंतमावइयकमिति चेन्न। तादात्म्यस्याविद्यायां तादास्मान्तराननुभेगेन स्वरूपमार्रं सम्बन्धः तादात्व्यभिन्नस्य तु खरूपातिरिक्त एव सम्ब-
 จ पश्चमकारा मुनि:-

## बाधवारणायदादरणीयमेन । पसेकं वा विशत्रिपाचिः-विय-

न्धोडनुभवानुरोषात्। स्वस्य स्वप्रतियोगिकसम्बन्धत्वमनुपपन्नत्वादनिर्वाचयं परं इत्यस्य त्वयाप्यक्सीकारात्। अन्यथा सदविद्ययोः कपालघटयोश्ध स्वरूपं सम्बन्ध इट्युक्त्वा तादात्यमांत्रं कुतो नापलुप्यते। किचैवमप्येकाकारपतीतेः क्वचित्साक्षात् क्वाचँच्परम्परासम्बन्धो विषय इत्ययुक्तम्। अन्यथा सत्ताद्रव्यत्वादिजात्या सदाकारतोपपत्तौ सत्तादास्ययैवैर्थ्यात्। इदं रजतमित्यादै। इदमादितादात्म्यनुद्धे: देहादौ प्रेमास्पदत्वनित्यत्वचेतनत्वादिबुद्वेरुक्तरत्या कथमप्युपपादनासम्भवाच्च। अथेदमादितादाल्म्यं न तत्र भाति किंत्विदमाद्यवच्छिन्नमविद्यानिष्ठं सत्तादास्म्यम्। नैचवमपि घटस्सन् अज्ञानं सदित्यादिबुद्धिषु साक्षात् परम्परासम्बन्धमैदेन एकाकारताविरोधः। सत्तादात्मवत् तादात्म्यस्य सत्रादात्यतदाश्रयकार्यत्वान्यतरस्य वा सर्वत्र विषयताभ्युपगमात्। एवंच तुच्छे तदभावेन प्रकृतसझतावपि नादात्म्यं घटशुक्तिरजतादौ सदिदमादेर्जायत इत्यैपनिषदोक्तिव्याघात इति चेन्न। अविद्या।निष्ठस्य सतादात्म्यस्य रजतादाविद्मादिसम्बन्धतया भानासम्भवात्। न हि रजतमिददिति धीर्विशेष्यविशोषणयोः परम्परासम्बन्धमवगाहते, अपितु ताहदरापमेव साक्षाहैसम्बन्धं, अन्यथा तद्विषयकमृवृत्यादिकायाणां ततोनुपपत्तेः। एवमप्युक्ततादास्यमात्रेण द्वयाकारत्वानिवर्वाहाच। अविद्यानिष्ठोक्ततादात्य्यस्य तत्परिणामे रजतादौ भानेन रजतमिदमित्य़ाद्याकारस्य निर्वाहेऽपि इदं रजतमित्याद्याकारस्य न निर्वाह इति द्वयाकारतानुरोधेन रजताद्यवच्छि. नस्य इद्मादितादास्म्यस्य उत्पत्त्ः आवरयकत्वात्। न च तदपि तादास्यमविद्यागतमेवेत्यनादीति वाच्यम्, इदं न जानामीितित् रजतं न जानामीत्यनुभवस्य अमावात्। रजतं रकमेवेति न जानामीति धस्तु रजतादिप्रयोजकाज्ञादमवगाहते, अन्यथा इतिशब्दोल्लेख-

## न्मिथ्या न वा पृथिरी मिथ्या न वेति। एंं वियदादे:

वैयर्थ्यात्। न च रजताघ्यवाच्चन्नस्येदमादितादात्मयस्य उपादानं रजताघवाच्छिन्नसत्तादात्प्कमज्ञानमवखं वाच्यम् । तथाचाज्ञाननिह्ठेनैव तादास्मेन द्याकारत्वादुक्तधियोऽपि तद्रेव विषयो निर्णीयते। इतिशब्दस्तु रजतादिप्रप्येकावाच्छिन्वत्वर्रभायेति वाच्यम्। इदमादिनिष्ठसत्तादात्म्यं प्रतील्य तदन्यथानुपपत्या कल्प्येनाज्ञाननिष्ठतादास्येनेदमादिनिह्षस्य तस्यापळापे उपर्जव्यविरोधात् उत्तधियोडपि सन्द्विघार्थल्वात्। न च द्वयोद्वर्येंन ${ }^{1}$ विशेष्यत्वादेव द्याकारता न तु विषयभेदो भूललं घटवत् घटो भूतरीय इतिवदिति वाच्यम्, विषयाभेदेडपि ज्ञानैवैक्षण्ये पृथखिषयत्रोपपपत्त्या साकारवादापत्तेः। भूतलावच्छिन्नघटसम्बन्धस्य घटावच्छिन्नमूतलसम्वन्धस्य च विषयस्यैव हृ्वन्ते भेदाद्दिशेष्यावच्छिन्नविशेषणसम्बन्धस्य प्रमायामपि वध्ग्ग्रागगत्गत्या भानात्, विशिष्स्यातरिकेकाच घटभूतलसंयोगा इति समूहालम्बने तस्याविषयत्वात्, सिद्धान्ते तथैवाइ्ककारात् । अपिच अनुण्यवसायमात्रस्य मिथो अवच्छेद्याबच्छेदकभावापनवविशेष्यताप्रकारतोभयम्राहकत्वं तार्किकादिमिरुच्यते, तथाच विशेष्यतावच्छिन्नकाइख्वं, प्रकारतावच्छिन्नविशेष्यत्वं चेत्याकारद्वयं सविशेष्यकज्ञानमात्रे अभमलेनास्मदमिमते निर्विवदमेव। इयांस्तु विशेषः-यत् मन्मते वक्ष्यमाणरीत्या ताद्हशी द्याकारता चैतन्यनिछा, चैचनन्यमाह्या च, चैतन्याभददारोपात् जन्यजाने व्यवह्डियते। तन्मते तु जन्यज्ञाननिष्ठानुन्यवसायम्योति। तथाचोक्राकारद्वयं मिन्निषषयषटितमिल्यपि प्रामाणिकम्। तथाहि अभस्थले परेषामिव नास्माकमुभयविऐोष्यकं जन्यज़ानं धर्मिधर्मयोरकैकमात्रविषयकयोः ज्ञानद्वयांगफकरोणावि

$$
{ }^{1} \text { दूधंचे }
$$

## 

अ्रमकारणत्वेन पराभिमतयोरिवै कैक ${ }^{1}$ विशेष्यकजन्यज्ञानस्याप्यनकीकारात् उभयविषयकैकज्ञानोत्पात्तिपक्षेडपि तत्र संसर्गविषयकत्वानक्नीकारेण एकस्याप्यविशेष्यत्वात् पक्षान्तर इव तत्पक्षेऽपि संसर्गस्य साक्षिभास्यत्वौचित्यात्। संसर्गतदुपहितेद्मादिरजतादिष्वविद्यात्टतितिषषयतानामाकाराख्यानां वक्ष्यमाणरात्या स्वाकारेडपि मिथोवच्छेद्यावच्छेदकभावे मानाभावात् अ्रमत्वैनैव पह्लवाविद्याकार्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वैनैकविषयतावच्छिन्नान्यविषयताकभ्रमत्वेन अकार्यत्वात् इदं रजतादितादाल्याकारघीत्वादिनैव संस्कारादिकारणत्वादहं सुखीत्यादौ वृत्यनस्नीकारेण चिद्नतैनैनेव विशेष्यतावच्छिन्नपकारत्वेन तदनुभवस्य निर्वाह्यत्वेन सर्वत्र तथैव सम्भवात् । वृत्तौ तत्स्वीकारे मानाभावात्। नित्यज्ञानं च यद्यव्युमयविशेष्यकं, अवच्छेदकोमूतो हि चिचेत्यसम्बन्धो विशेष्यता, अत एव सौषुप्तानुभवो निर्विशोष्यकवत्वत् निर्विकल्पकः, अज्ञोऽहमित्यादिस्तु सविशेष्यकत्वात् तदन्यः, तथापि पूर्वसिद्ध हदमादिचिस्सम्बन्धो रजतादिचित्सम्बन्धेऽवच्छेदकतया अवच्छेद्यतया च न भातुमर्हति, मूलावच्छेदेन संयोगी, संयोगावचछेदेन मूलीत्यननुभवात्। तद्विलक्षणावच्छेदकत्वे प्रकृते मानाभावात्। अत एव परेषां विशेष्यताप्रकारतयो: मिथोऽवच्छेद्यावच्छेदकत्नं स्वकपोलकल्पितम्। न चाविनिगम्यत्वात् तथा, मूले संयोगीत्यादाविव अनुभवस्यैन विनिगमकत्वात्। अतो द्वितीय इद्रादिचित्सम्बन्धो जाय मानो अवच्छेद्यतयैव भासत इत्यावइ्यकम् । तदुपादानाज्ञानं तु अ्रमकाले रजतादिचित्सम्बन्षावच्छेदेन न चितं सम्बध्नाति रजतं न जानामीत्यननुभवात् ${ }^{2}$ । नापि पूर्व ${ }^{3}$ अ्रमकाले अज्ञानसम्बन्षस्याननु-

$$
{ }^{1} \text { रिबांजैक, } \quad 2 \text { ल्र।घननुमवात् } \quad 3 \text { पूर्व प्रम }
$$

त्बात् घटादेः। तथाहि पक्षे साध्यसन्देक्हत्यानुगुणत्वात् पक्ष-
भवात् अभावेन भिन्नकालावच्छिन्नयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावासम्भवात् । अतः पूर्वसिद्धेदमादिचित्सम्बन्धावच्छेदेनैव तां सम्बधाति। अतो रजतं न जानामतत्यादेनेरापात्तिः। ननु अमस्थले रजताद्य ${ }^{1}$ च्छित्नतादास्मेन $^{2}$ कथं रजतमिदमित्याकारः । न हि प्रमास्थलीयतदाकारतः स विलक्ष्षण इति चेन्न। प्रमास्थलेडपि तादृातादात्म्यैनैव तदाकारस्वीकारादावरयकेन रजतादिसम्बन्धावच्छिन्नेन इदमादितादास्येन चिन्निष्ठ苂व रजतमिदमित्याद्याकारोपपत्तौ रजतादिनिष्षस्येदमादितादास्यस्य कल्पने गौरवात् । तदवच्छिन्नस्यैव तत्र सम्बन्धत्वसम्भवात्। तथाच विशेष्यविरोषणयो: परस्परावच्छिन्नं चिन्निष्ठं परसपरतादाल्म्यं अवरयमभ्युपेयम् यत्तदेव अरमप्रमास्थानीय ${ }^{3}$ द्वयाकारताघटकं, तस्मान्न उक्तसिद्धान्तव्याधातः । न वा तुच्छे सत्तादास्यम् । न च विशोषणचिंसम्बन्धरूपायाः प्रकारतायाः संसर्गात् भेदेनानुभवात्तार्किकादिमि: तथा स्वीकाराच तदभेदानुपपचिरिति वाच्यम्। सिद्धान्ते हि प्राभाकरादीनामिव इदं रजतं जानामत्यादिरेव विशिष्ट्वुद्धेराईारः, साक्षिण एव तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नस्य अ्रमप्रमात्वात् तत्र विशेष्यतावच्छिन्न्वेनैव प्रकारता अनुभूयते न तु संसर्गभिन्नत्वेनापि । प्रत्युत तादास्मेन इदं रजतं जानामत्यिादौ तादास्याभिन्नत्वैनैव प्रकारता अनुमूयते। अत्र संयोगेन घटं जानामीत्यादावपि भूतलादिसंयोगस्य प्रकारतैव घटादौ सम्बन्षः। यदि च तत्र तादाल्यादिनिष्ठसांसर्गिकविषयतामिन्त्वेनैव प्रकारत्वानुभव इत्याग्रहः; तदास्ताम् । तथा द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नस्य यदिदमादितादास्म्यादिकं तदींयं यद्र्रमपूर्वसिद्नसांसर्गिकविषयत्वं तदववच्छेदेन प्रकारतारूपतादास्यसम्बन्घेन रजतादेरु-

[^0]भिम्न एव तह्य दूषणतनं वाच्यम् । अत एवोकंत "साध्या-
त्पत्या इदं रजतमित्याद्याकारस्येव रजतादिविशेष्यतावच्छेदेन इदंतादास्यादे: सांसर्गिकविषयत्वसम्बन्धेनोपपत्त्या रजतमिद्मित्याद्याकारस्यापि निर्वाहः। एवं च रजतभ्रमस्थले रजतं तत्रकारतावच्छिन्नसंसर्गता इदं तादास्म्यं च उत्पद्यन्ते इति भावः। न च रजतत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताया व्यावहारिकरजतावच्छिन्नचित्तादात्म्यरूपायाः इदंतादात्यचित्सम्बन्धावच्छेदेन अ्रमपूर्वमसिद्धत्वेन तस्या अप्युत्पत्तिर्वाच्या, तथा च गौरवं, तद्बाषापत्तिश्घ, न च सेष्टा। न हि ज्ञानेन रजतादिप्रकारता बाध्यते, किन्तु विशेष्ये विशेषणं तत्सम्बन्धो वेति वाच्यम्, घटत्वाद्यवच्छिन्नपकारतायाः पूर्वमसिद्धत्वेपि कपालादितादाल्यविषयत्वावच्छिन्न पूर्वसिद्धपकारतायाः घटाद्युत्पत्तिकाले घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वस्यैव उक्तविषयतावच्छिन्नपूर्वसिद्धपकारतायाः रजताद्युत्पत्तिकाले रजतत्वाघवच्छिन्नत्वस्य सम्पत्तेः। एवंच पूर्वसिद्धप्रकारतैव रजतसंसृष्टा उक्ताकारनिर्वाहिकेति भावः, रजतादिचित्सम्बन्धस्य रजतत्वादिचित्सम्बन्धरूपप्रकारतावच्छिन्नत्वात् यद्यपि विषयादिनिष्ठदोषस्य स्वाश्रये शुक्तयादौ अवच्छेदकतासम्बन्धेन रजतादिकं प्रति हेतुत्वम्। तथापि उक्तविषयत्वावच्छिन्नप्रकारता बाधाभावादिप्ययोज्या। नन्वेवं प्रकारतावच्छिन्नोक्तविषयत्वस्यापि पूर्वसिद्धस्यैव बाधाभावनियम्यत्वसम्मवादुक्ताकारद्वयनिर्वाहाय उक्ततादात्यादेरूत्पत्ति: व्यर्थ। यद्येनावच्छिद्यते तेन तन्नावच्च्विद्यत इति नियमे तु मानस्याभावः ${ }^{1}$ । भावे वा रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यद्युत्पत्त्याऽपि तत्सिद्धचा शुक्तघनिद्रतियोगिकतादास्याद्युत्पत्तिरविनिगम्या। एतेनाकारयोः भेदार्थमिद्मादितादांम्योत्पात्ति रावइयकी। न हि विषयतयोः मिथोवच्छिन्नत्वेन आरोपो मिद्घते,

भावनिश्रयवति हेतुसन्देह एव सन्दिग्धनैकाकान्तिकता" इति । पक्षैत्वं तु साध्यसन्देहबन्वं साध्यगोचरसाधकमानाभाववन्वं वा।

किन्तु विषयमेदादियुक्तामिलयपास्तम् । रजतादितादास्मोप्पत्त्यापि विषयमेदसमम्भवात् । अथात्र रजते पटपवनसंयोग इत्यादिप्रतीत्या प्रातीतिकरजतायवच्छिन्नस्य संयोगादे: स्वीकरात्तस्य चान्यावच्छिन्नववारणाय अवच्छेदकतासम्बन्घेन तदवच्छिन्नं प्रति तद्रजतादे: हेतुल्वात् स्वेत्पतिक्ष्षणोत्पन्न चुक्तयदिप्रतियोगिकतादात्मे अवच्छेदकत्वासम्भवात् शुक्तथाधवच्छेटैनैव रजतादितादाल्म्यदेरुप्पत्तिरिति विनिगमकं, तर्हिं रजतादिविशेष्यताया एवास्त्ववच्छेककत्वं न तु रजतादे:, यस्सम्बद्धो यत्रावच्छेदकः तत्तरावच्छेदकामिति नियमे मानाभावात्। तथाचे|को विनिगमकाभावः स्थिरः। रजतादितादात्यस्योप्पत्तौ तस्येंदिशिशेष्यतावच्छिन्नन्य भानेन, इदं रजतमित्याकारस्य पूर्वसिद्धया रजतादिविशेष्यतया अवच्छिन्नस्य पूर्वसिद्धस्येदंतादात्म्यविषयत्वस्य भानात्, रजतामिदम़ित्याकारस्य सम्भवेन मिन्नविषयघटिताकारयोर्निर्वाहात् तदनुरोधेन रजतादे: इदमादेर्वा तादात्म्युत्वयदत इत्यत्र विनिगमकाभावादिति चेन्न। रजतादिपतियोगिकतादास्म्यादेरुपन्त्यक्जीकारे तादास्मेन घटादिभ्रमस्थले घटादिपतियोगिकतादात्म्यस्य काष्ठादावुत्पत्त्या तादाल्येन घटादे: काष्ठादावुत्पत्त्य|व₹यकत्वात्। तेन सम्बन्घेन तदुत्यत्तिकारणतायां कपालतसंयोगादिनिष्षायां व्यमिचारात् । कपालादिविशिष्टघटत्वादिना व्यावहारिकतादात्म्यसम्बन्धेन वा कपालादिकार्यल्वे च गौखात् । नचेदं रजतमित्याधाकारे रजतादिप्रतियोगिकतादास्यस्य भानादुक्तव्यामिचारतादवस्थ्यमिति बाच्यम् । द्रव्यत्वाधकच्छिन्धुक्स्यादिप्रतियोगिकतादाल्ययानस्यैव तत्रोत्तलेन रजतादिश-

## एतब्ब घटादिसाधारणम्। अत एव तत्रापि सन्दिग्धानैकान्ति-

तियोगिकतादात्म्यस्याभानादु क्तविषयत्वावाच्छिन्ररजतादिप्रकारतामात्रभानेन उक्काकारसम्भवात् । न हि .परमतेऽपि उक्काकारे तदनुव्यवसाये वा रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यं भातीति नियमः । न च तादाल्यसम्बन्धेन द्रव्यत्वादिविशिष्टे घटादावपि घटत्वाद्यवच्छिन्नस्य उत्पत्त्या केवलतादास्येन कार्यत्ने ठ्यभिचारापत्त्या कपालदिनिष्ठतादाल्म्यैनैव घटादे: कपालादिकार्यत्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम् 1 तथाप्याधारताविशोषादिसम्बन्धन संयोगत्वरूपत्वदुःखत्वाधवच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वरूपत्वपापत्वदिना हेतुत्वस्य कम्त्वात्तदवच्छिन्नप्रकारताकभ्रमस्थले उक्तरीत्या व्यमिचारसय दुर्वारत्वात्। न चेदं संयोगवदित्यादिभ्रमस्थले संयोगादिविशेष्यतावच्छेदेन इदमाधेयत्वस्येवेदढंविशेष्यतावच्छेदेन संयोगाधाधारत्वस्योत्पत्ति: सम्भवति, ताद्टशाधारत्वसांसर्गिकविषयत्वस्य इदंविशोष्यतावच्छिन्नत्वेनैवोक्राकारसम्भवेन उत्काधारत्वस्य इदमनुयोगिकत्वाभावेनाधारतासम्बन्षेन संयोगादिंक प्रति द्रव्यत्वादिना हेतुत्वे व्यभिचाराभावादिति वाच्यम् 1 विशोष्याबच्छिन्नस्य विशोषणसम्बन्धस्यैव प्रमाश्रमयोः विशेष्यानुयेगिकत्वमित्यस्येक्तत्वात्। आधारताविशोषेण चिति संयोगत्वाद्ववच्छिन्नोत्पत्त्या व्यभिचारावइयकत्वात् इंतादात्य्यादिसंसर्गस्य मिथ्यामूतस्य अमस्थले उत्पत्तौ साधकत्वात् । यद्धपि रजतादौ प्रतियोगितया अनुयेगितया वा सम्बन्धेन उक्ततादाल्यस्य न अर्रमे प्रसक्तिः, तथापि स्वविषयतावच्छेदकम्रकारतावत्त्वसम्बन्धस्य ${ }^{1}$ प्रसक्रया तेन सम्बन्घेन बाष: सम्भवत्येव। न च मिथ्याभूतरजतादिसंस्टष्टतया तस्य मिध्यात्वमनुमूयते न तु स्वत इति वाच्यम्। रजतादेर्मे-

## कत्व न दोषः। पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिजाविषयत्वाभावमात्रेण।

थ्याभूतसाक्षात्कियमाणेंतादात्व्यादिसंस्टष्टतया मिथ्यामूतत्वसाक्षात्कियमाणत्वयोः वक्तुं शक्यतया विनिगमकाभावात्। मिथ्यात्वसाक्षार्कियमाणत्वे साक्षास्सम्बन्धेन प्रतीयेते इति तु तादाल्मेडपि समानम्। अथ रजताद्यनुत्पत्तौ मिथ्यातादालस्योत्पत्त्या न अ्रमाकारनिर्वाहः। रजतादिप्रकारताया ठ्यावहारिकरजताद्यवच्छिन्नचिन्निष्ठायाः शुक्तयाघवच्छिन्नचिन्निष्ठोक्कतादाल्म्यविषयतावच्छिन्नत्वासम्भवात् । अत एव परोक्षभ्रमस्थले ₹फटिकादौ हौहित्यादिभ्रमस्थले चान्यथाख्यातिवादो न विचारसहः। तत्तचचत्यावच्छिन्नचित्सम्बद्धरुपाणां विषयतानंं मिथोऽवाच्छिन्नत्वासम्भवादिति चेन्न ; उत्पद्यमानामिथ्यातादात्म्यस्याघटमानघटकत्वात् तदुपादानाज्ञानस्य शुक्तिव्यावहारिकरजतायुगुभयावच्छिन्नचिदाश्रितत्वतदुभयभेदा|वच्छिन्नचिद्दिषयकत्वाभ्यां ठयावहारिकरजतादिव्यापकत्वाच । अतएव प्रातीतिकरजतादौ व्यावहारिकरजतादेस्तादात्म्यारोप: प्राचीनसम्मतत्वेन द्वितीये मिथ्यात्वरक्षणे मूले बक्ष्यते। एवंच "अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति अ्रमेषु नान्यक्कथंचन परिस्फुराति अ्रमेषु" इति संक्षेपशारीरकोक्तिः विजयते। विशोषणसंसर्गयेशिव संसर्गर्पतियोगित्वोपहितस्य विशेष्यस्यापि अमकालोत्पत्त्या बाधकालावच्छेदेन बाध्यत्वात्। न च अ्रमपूर्वमेवेद्मादेः सिद्धत्वेनोत्पत्त्यसम्भव इति वाच्यम् ; उक्कोपहितस्येद्मादे: पूर्वसिद्बेदमादितो मिन्नत्वात्। या यदुत्पत्तिसामग्री सा तदुपहितोत्पत्चिसामग्रीति ब्याप्प्या पूर्वसिद्धेदमादिगतदोषादिसामप्या रजतादितत्तादाल्म्यतत्र्रतियोगिकत्वोपाहितानामुत्पत्तिसम्भवात् । अथोकोपहितस्य पूर्वसिद्धेदमादिना नादास्यक्य बाच्यतया तस्याप्युक्तोपहितनादास्मं मिथ्यैवाभात् न पूर्वसिद्धेदमादौ कदापि तदस्तीति बाषा-

# न च तर्हि भ्रतिश्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्। स्वार्थानुमाने तद- 

दिना अध्यस्तत्वेन उत्पत्तिर्वाच्या। एवं तदुपहितान्तरतत्तादास्यान्तराणामुत्पत्तिरिति चेन्न, तादात्म्यस्येव तदुपहितस्यापि तादास्यान्तरानत्रीकारात्वोपधायकतादात्म्यस्यैव स्वंप्रति संबन्धत्वात्। तथा च तादाल्म्यादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकरजताद्घभावेन तद्वयाप्येन च विशिष्टं यतदवच्छिन्नचिद्विषयताकाजानाषारतावच्छेद्कत्वं स्वप्रकारतावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतावच्छिन्नविशोप्यतावत्वादात्यसम्बन्धेन रजतादे: रजतत्वादिप्रकारताव|च्छिन्ना या स्वीयसांसार्गिकविषयता तदबच्छिन्नविशेष्यतावत्तादात्मसम्बन्धेन रजतत्वादिसंसर्गस्य प्रतियोगितासम्बन्बेन तादास्मादे: तादात्म्येन तदुपहितस्य चोत्पत्तौ हेतुः। पह्डवाज्ञानतादास्याश्रयानिष्ठेनाकारताख्याविषयतासम्बन्धेन अ्रमं प्रति स्वान्यवहितपूर्वकालवृत्तित्वं ₹वतादान्योपलक्षितबृत्तिविषयत्वं चेत्युभयसम्बःधेन विषयविशिष्टं पल्लवाज्ञानं अममिन्नो यः स्वतादाल्याश्रयः तद्धृतिविषयतासम्बन्धेन हेतुः। अज्ञाननिष्ठेन तादात्यसम्बन्धेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्यज्ञानमुपादानम् । व्यावहारिककार्यजनने त्वज्ञानस्य नोक्तविशोषसामग्रीत्वं, किन्तु दण्डकपालादिरूपस्य इदमाधाकारमनोबृत्तिकाले साक्षिसम्बन्धात् भानप्रसक्त्या इदं न जानामीत्यनुभवेन च शुक्त्याद्यवच्छिन्नचिद्विषयताकाज्ञानाधारतावच्छेदकत्वस्य सत्त्वे कदाचिद्दोषाभावेन अ्रमानुत्पत्त्या तत्तद्वोषविशिष्टकार्य प्रति तत्तद्दोषाणामपि हेतुत्वम्। तदुक्त विवरणे-" अविधैव वा अस्तु दोषनिमित्तसाहिता रजताद्याकारेण तद्ज्ञानाभासाकारेण च पारणममाना स्क्कार्येण सह साक्षिणो विषय: ". ति। नेदं रजतमित्यादे: रजतभेदव्याप्यशुक्तित्ववादिल्यादेर्वा अप्रामाण्यज्ञनाविषयानाहार्यनिश्षयस्य शुक्तित्वं रजतभेदठ्याप्यमित्याकारकस्य इंयं शुक्किरित्यान्दिताद्धानिश्रय-

भावात्। एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां भ्योगाः－विमतं मिथ्या
कालीनोद्व्बद्धसंस्कारस्य वा सत्ते इदमादावुक्तावच्छेदकल्ले मानाभा－ वात्। भमपुष्कलकारणस्व तत्त्वज्ञानानुदय इति विवरणोक्तेश्र न रजतादरेत्पात्ति•। तार्किकादिमते तु उक्तनिश्थयत्वाद्यवच्छिन्नाभा－ बत्वेन रजतादिविशिष्टाद्दौ⿱⺈⿸⿻口丿乚丶 हेतुत्वे महागौरवम्। मन्मते तु प्रमात्मक－ विशिष्ट्युद्धावपि न बाधस्य प्रतिबन्षकता। तत्सामप्रयाः प्रतिबन्ष－ कत्वेनावइ्यकेनोपपत्तेः। प्रतिबन्धकत्वाभिमतकालीनकारणे शक्य ${ }^{1}-$ स्वीकारण उपपत्त्या कुत्रापि कार्ये प्रतिनन्धकास्वीकाराच्च। प्रति－ बन्धकाभावस्येव शाक्तेर्निल्यत्वेडप्यन्याप्यवृत्तित्वसम्भवात्। न चाज्ञान－ स्यानादित्वादुक्तावच्छेदकल्वस्याप्यनादित्वेनोक्तानिश्रयादिसत्वेडपि तत्स： म्मवतीति वाच्यम् ；उत्कनिश्रयत्वायवाच्छिन्नाभावस्येव तस्याप्युक्तनि－ श्रयकालानवच्छिन्नस्वभाव्वात्। चिचेत्यतादात्मस्यैव मुरुयविषय－ तात्वेडपि आकारताए्यगौणविषयतायाः मनोऽविद्यापरिणामथृत्तिवि－ शोषान् प्रति सम्बन्धत्वं अमत्व च। प्रातिभासिकाकारकाविधावृत़－ गतो जातिविशेषो आन्तं मयेत्याद्यनुमवेन उक्ककार्यतावच्छेदकलेन च सिद्धः। अ्रमजनकदोषात्स्या｜ृृतत्वाच बाषात्पूर्व सः अ्रमेष्डु न गृयते प्रमात्वं चारोप्यते। तोदाल्म्यसम्बन्घेन अ्रमोत्यत्तिपूर्व नाज्ञाने तत्परिणामवैशैष्ट्यम्। अतः स्वतादाल्म्योपलक्षितथृतिविषयतानिवेशः। तस्सम्बन्घेन च रजतादिभाविकार्यस्याप्यज्ञाने सत्त्वमस्तील्यनागतघटाबौ ज्ञायमानघटत्वादिरुपसामान्यलक्षणसनिकर्बस्य स्वसमवायवृत्विविषयता－ सम्बन्धेन सत्व्वमिव युज्यते। उक्षविषयतामान्रसम्बन्धेन अभाव्य－ वहितपूर्वक्षणपूर्वमपि कार्यस्याजाने सत्त्वात्तदव्यवहितोत्रकक्षणे अमोड़－ विस्स्यात्। अतोऽठ्यवहितरूप्वत्वनिवेशः।। अ्रमस्य स्वा़्मिश्रविषयता अत्यन्ताभेदे सम्बन्धविरहात्। नापि विधमानभ्रमस्य महणाय भमा－ 1 श्रि．

## ह₹यत्वात्, जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवदिति ।

न्तरं स्वीक्रियते, साक्षिम्राद्यत्वात्। तत्कार्यस्य संस्कारादेः स्वविषय इव स्वास्मिन्नपि अ्रमणैकैनैव सम्भवात् गौरवेण अ्रमान्तरास्वीकारात्। अतो अ्रममिन्नेति विशोषणम्। पद्धवाज्ञानानख्रिकारपक्षे तु विषयेत्यस्य स्थाने तादाल्याश्रयेत्यस्योत्तरं च प्रातिभासिकेंति वाच्यम्। पल्धवेति च न वाच्यम्। प्रातिभासिकत्वं च सर्वद्टइयमिथ्यात्वानिश्रयपूर्व मिथ्यात्वेन निश्चितत्वं, जातिविझोषो वा। रजतादिभेद्तद्याप्ययोरेकस्य इढ़मादौ निश्रयेऽपि अपरविशिष्टविषयकाज्ञानस्य सत्त्वात्, तदापि रजताद्यध्यासोत्पात्तिम्स्यात्, अतः उभयविशिष्टविषयकाज्ञानाधारतावच्छेदकत्वयोः समुाचितयोः हेतुत्वलाभायोभयो: निंवेशः। उक्काधारतावच्छेदकत्वं स्वरूपसम्बन्धेन, उत्काधारतैव वा स्वावच्छेदकत्वसम्बन्धेन उक्काज़ानमेव वा स्वाधारतावच्छेद्कत्वसम्बन्धेन हेतुः। एवं येन सम्बन्धेनोक्राधारताचच्छेदकतायामिदंत्वादेखवच्छेदकता तत्सम्बन्षावच्छिन्नस्वावच्छेदकतासम्बन्धेन उक्षाधारतावच्छेदकत्वं प्रतियोगितासम्बन्धेन तज्जातीयसंसर्गे हेतुः। रजते इदंत्वस्य संसर्गो मिथैयैव अभात्, न कदापि स तत्रास्तीति बाधात्। एवमिद्मादिविषयकत्वस्य संसर्गः तद्धतः तादाल्म्यं च रजतादिभ्रमावच्छेदेनोक्तम्रमघर्मस्य रजतादिविषयकत्वादे: संसर्गम्येदमादिप्रमावचछछेदेनारोप्यते। न च रजतविषयकत्वस्येव रजतादौ रजतत्वादेरिव च उक्कोपहितेद्मादिविषयकत्वस्य च्यावहारिकत्वात् रजतादिभ्रमे इदंविषयकत्वं नास्तीति बाधाभावाच नेद्मादिविषयकत्वरोप इति वाच्यम् ; . व्यावहारिकं यदिदमादि तद्विषयकत्वसंसर्गस्य रजतादिअ्रमे प्रतीयमानस्य अव्यावहारिकत्वात्। इदं रजतमिति यज्ज्ञानं तन्मिथ्यैवेति प्रत्ययम्य रजतविषयकस्वे मिथ्यात्वासम्भवेन तदुपहित-

ज्ञानमिथ्यात्वावगाहनेऽपि इदंविषयकत्वविशिष्ट्रानमिथ्यत्वावगाहने ऽपि बाघकाभावात् । शुक्तयवच्छिन्नाचिट्द्येषयकाज्ञानाधारतावच्छेदकत्बस्य व्यावहारिकेद्मादाविव तदाकारमनोवृत्तावपि सत्त्वात् शुक्तित्वे इदमादिना तादाल्म्यतर्द्धमयेतिवेक्रृृत्तितादात्यतद्धमयोरारोपौचित्याच्च। न च विशिष्टविषयकत्वस्य उक्तवृत्तावसत्त्वेऽपि शुक्तित्वाद्युपहितविष्यकत्वस्य सत्त्वात् तादृशविशेषविशिष्टावच्छिन्नचिद्विषयकाज्ञानाधारतावच्छेदकत्वमेव उक्तवृत्तुर्युक्तम्, इष्टापतौ च शुक्स्याध्यवच्छिन्नािद्विषयकाज्ञानस्यैव इदमादिकं तद्विषयकमनोवृत्विश्रेति द्वयमाधारतावच्छेदकमिति मूलाद्युक्तिर्विरुद्धोति वाच्यम् ; इदमादिविषयकत्वेन ज्ञायमानवृत्तौ शुक्तिविषकत्वेनाज्ञानस्य शुक्तित्वादिविशिष्टाज्ञान एव पर्यवसानात्,। अत्र तत्षं ${ }^{1}$ प्रातीतिकतादात्योपहितेद्यादिविषयकत्वविशिष्टाबच्छित्नचिदाधारताकस्य रजतभ्रमत्वविशिष्टावच्छिन्नचिद्विषयताकाज़ानस्य अवइयं वाच्यतया तेन चेदें ज्ञानं रजतप्रमेति अमजननादिदं रजतं प्रमिनोमीति साक्षिप्रत्ययोपपत्तेः उक्तबाधकप्रतीतिः स्वज्ञानमात्रांशो मिथ्यात्वविषयकत्वसम्भवात्। व्यावहारिकेदमादिविषयकब्वसंसर्गस्य रजतादिभ्रमेष्वारोपे मानाभावः। न च सति स्फाटिकाघवच्छिन्ने लौहित्यादेरिव तुच्छस्यापि सम्बन्धोडध्यस्यतामिति वाच्यम् ; आस्तिकनास्तिकयोः सत्तुच्छामिति प्रतीत्यभावेन ताहशाध्यासतत्सामग्रयो: अकल्पनात्, 'वन्तुरून्यो विकल्पः' इति पातअलोक्त्या तुच्छषीरूपविकल्पस्य सदविषयकत्वनिर्णयात्, कथंचित्कल्पनमपि तुच्छप्रतियोगिकतादाल्म्यत्वेन, न तु सत्पतियोगिकतादात्यत्वेन, तद्विशिष्टं चार्हान्तार्थः। तुच्छावच्छेदेन च सत्रतियोगिकतादाल्योत्पत्तेरसम्भवः । तुच्छस्य चित्सम्बन्षाभावेन चिति जायमानोक्ततादाल्येऽऽच्छेदकत्वासम्भवातुच्छव्यवहारप्रयोजकतया वि-
1‘ अत्र तत्त्वं ’ इति स्थाने ' नजु ' इलेव कोशान्तरे,

नात्रावयवेष्वाग्रहः। अत्र स्वनियामकनियतया विग्रतिपस्या
कल्परूपवृत्तिस्वीकारेऽपि चित्सम्बन्धासम्भवात् । ननु सन्निष्टया सन्रिवननिष्ठया च प्रतियोगितया सम्बन्घेन तादात्म्यं पत्याश्रयत्वेन तदवच्छेदकत्वेन च सम्बन्छेन अविद्यायाः कारणत्वात्, लौहित्यादिप्रतियोगिकतादास्म्ये च जपादिसन्निधानस्य विशिष्य कारणत्वात्, प्रतियोगितासम्बन्धेन सति इदमादौ लौहित्यादावेवास्तु तादा़्मं न तुच्छेडवच्छेदकतासम्बन्धेन तु स्यात्। तेन सम्बन्छेन तत्रति स्वभ्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभेदस्य कारणत्वात्। अन्यथा रजताघ्यचच्छेदेनेव स्वावच्छेदेनापीदमादितादाल्म्यमुत्प्घेत, तस्य तुच्छेडपि सत्त्वादिति चेन्न तुच्छे निर्धर्मकत्वेन उक्तभेदस्याप्यसत्त्वात्। तादा_ स्यान्यस्वकार्यनिष्ठेन विषयत्वसम्बन्षेन अविद्याया एव तत्र हेतु त्वात्। अन्यथा ₹वपरिणाम्यविद्यापरिणामाभिन्नेऽपि तादात्योत्पत्त्यापत्ते: रजतादौ तदुप्पत्तिपूर्वमपि उक्कविषयतासम्बन्धेन अविद्याया: सम्भवात् तदुत्पत्तिकाले तादाल्योत्पत्तिः। तादास्म्येऽपि तादाए म्यान्तरोप्पत्तिवारणाय स्वकार्यस्य तादाल्मान्यत्वं विशेषणम्। यद्धपि तुच्छस्य सत्तादात्य्यावच्छेदकत्वेऽपि प्रकेते न दोषः। स्रूपसम्बन्छेन सत्तादास्म्यवत्त्वस्यैवार्हान्तार्थत्वात्। अवच्छेदकतया तद्वत्वेाक्तौ चित: सत्तादात्यानवच्छेदकत्वेन अर्हांतेनैव वारणात्। चिद्यिन्नमित्यस्य वैैयर्ध्यापातात्। ₹वरूपसम्बन्धेन सत्तादास्म्यवत्त्वं च सदाकारहीबिषयेषु वर्तते, न तुच्छे, तथापि वस्तुस्थितिरेवोक्ता। अत एवोक्तं. निश्रितसाध्याभावेत्याद्युकं प्राचीननैयायिकैः । नवीनैस्तु दीधित्यादौ यद्यपि राक्त्यादिसाधकानुमाने पक्षीयव्यभिचारसंशायोप्यनुकूलतर्काभावे दोषत्वेनोक्तः ; तथापि प्रकृते अनुकूलतर्काणां बक्ष्यमाणत्वान्न दोष इति भावः। स्वनियामकनिय-तयेति-स्वं विप्रतिपात्ति:, नियामिका जनिका यस्य तेन

## लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः। समयबन्धादिना ब्यवधा-

 नात् तस्यानुमानकालासच्वेपि उपलक्षणतया पक्षतावच्छेद्कत्वम्। यद्वा विप्रतिपतितिषयतावच्छेद्कमेव पक्षतावच्छेद्कम्। प्राच्चांविशोषण ${ }^{1}$ नियतया स्वेतरस्माघ्यावार्तितया। ननु विशिष्टार्थविशोषघीजनकत्वेन विप्रतिपत्तेर्निवेशे विशिष्टघटकविशेष्यतावच्छेदकरूपेणैव पक्षता अस्तु लाघवात् तत्राह--लघुभूतयेति। तद्याक्तित्वरूपलघुरुपावच्छिन्नयेत्यर्थः। तथाच तद्यक्तित्वेनैव निवेरयाया विप्रतिपत्ते कक्तथीजनकत्वं परिचायकमिति भावः। यत्तु धर्मविशोषे भहाषीनमहापि विप्रतिपत्तिः पक्षतावच्छेदिका, न तु धर्मविशोषः, लघुपक्षहतुघटितपरामर्शादिरूपपमाणस्वरूपराघवात् । अतएव सावयवत्वं क्षिते: सकर्तृकत्व प्रति न हेतु:, किन्तु तेनानुमितं कार्यत्वमिति, तन्न; प्रथमोपस्थितत्वल्राघवस्य धर्मिविऐोषे सत्त्वात्। द्रव्यसमवेतद्रव्यत्वरूपे सावयवत्वे तत्सत्वेऽपि गुरुषर्मो न हेतुतावच्छेदक इति मते तत्र हेतुत्वानकीकारात्। अतएव धर्मविशेष एव पक्षताबच्छेदक इति मूले वक्ष्यते।: नन्वनुमितिकाले सतः पक्षतावच्छेद्कझय समकालतवं साध्ये भातीति पक्षतावच्छेदककालावच्छिन्नस्यैव साध्यस्य सिद्धचा अर्थान्तरम्। न चानुमानकालासत्या एव व्यक्के: तद्यक्तित्वेन पक्षतावच्छेदकत्वात्, साध्ये उक्तकालावच्छिन्नत्वस्य बाष काले भानासम्भवाच्च नोष इति वाच्षम् ; तद्यक्कित्वाश्रयपरिचायकं यद्धर्मवद्विरोषकत्वं वाच्यं तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वौचित्यात्। साध्यं न तद्यक्किकालावच्छिन्नमित्यादिबाधाभावे अर्थान्तरानुद्धाराच्चेत्यत आह-यद्वेति । यतु विप्रतिपत्तिर्न पक्षताबच्छेदिका अनुमानकाले असत्याः विशोषणत्वासम्भवेन विरेष्यतावच्छेदककालावच्छि-

$$
{ }^{1} \text { पा. बोधविरोषेण, }
$$

प्रयोगेष्वयि विमतमिति पदं विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेद्कावच्छिन्नाभिप्रायेणेत्यदोषः। ननु किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते, "न तावत् मिथ्याशब्देंडनिर्वचनीयतावचनः" इति पश्ञपादिकावचनात् सदसदनधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्। तद्धि किं असत्वविशिष्टसत्वाभावः, उत सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयम्, आहोस्वित् सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम् । नाद्यः ; सच्वमात्राधारे जगत्यसत्त्वविशिष्टसत्वानभ्युपगमात् विशिष्टाभावसाधने सिद्धसा-

न्त्वेन विधेयावगाहनस्यौत्सर्गिकम्य भञापत्ते:, अतएव न संशयविषयत्वरूपा विमतिः तथा, किन्तूक्तविमतिप्रकारकषीवीशोष्यतेति, ततुच्छम् । ז्वरूपयोग्यत्वेनार्मन्मूलोक्तविप्रतिपत्तिर्हि न वाक्यम्। तस्य अतत्वात्, किन्तु तद्धी:, साच विमतिहधिया तुल्या, व्यापारानुबन्घितद्विशोष्यतायाः प्रपश्चे सत्त्वेन पक्षतावच्छेदकत्वसम्भवात्। औस्सर्गिक च सति बाधे ठयाहतमेव। अन्यथा तदैत्स्सर्गिकमेव न स्यात्। किंचास्माकं समयबन्धादिवत् विप्रतिपत्रेरावइयकत्वात् परामर्शकाले वाक्यस्मृतिरूपविपतिपत्तेरप्यावइयकत्वात् पक्षतावच्छेदकत्वसम्भवः। तव तु संशयधीः कुतः, कथंचित्तत्सामग्रीकल्पने विप्रतिपत्तिसामग्री कुतो न कल्प्यते। अस्मदुक्तदूषणेन ग्रस्ता ते विमतिषीरपि, धीमान्रशून्यपर्रयावच्छेदेन मिथ्यात्वादिएसिद्धयापत्तेः । अदोष इति। विप्रतिपतिमात्रस्य पक्षतावच्छेदकत्वे अझ्मतुच्छयोः बाधासिद्धी । घटादियत्किय्विद्विशोष्यकविप्रतिपत्ते: पक्षतावच्छेद्कत्वे सर्वप्रपश्धमिथ्यात्वासिद्धिरिति दोषाः नेत्यर्थः। किमसत्वेत्यादि। विशिष्टपतियोगिकाभावत्वेन, अभावद्वयत्वेन, एकाभावसमानाधिक-

[^1]धनात्। न द्वितीयः ; सत्वासच्व्वयोरेकाभावे अपरसन्वावइयकत्वेन ब्याघातात् निर्धर्मकश्रक्नवत् सत्वासच्चराहित्येपि सद्रूपत्वेन अमिथ्यात्वोपपत्या अर्थान्तराच, गुक्तिरूप्ये अवाध्यत्वरूपसक्वव्यतिरेकस्य सच्वेन चाध्यत्वरूपासत्त्वस्य व्यतिरेकासिद्धचा साध्यवैकल्याच्च। अतएव न तृतीयः ; पूर्वबत् व्याघातात् अर्थान्तरात् साध्यवैकल्याच इति चेत्, मैवम्। सच्वात्यन्ताभावसत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात्। न च व्याहतिः। सा हि सच्वासच्चयोः परस्परविरहरूपतया वा, परस्पराविरहव्यापकतया वा, परस्परविरहव्याप्यतया वा। तत्र नाद्यः ; तदनकीकारात्। तथाद्यत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूपसच्चव्यतिरेको नासच्वम्, किन्तु कचिद्गुपाधौ सत्व्वेन प्रतीयमानत्वानाधिकरणत्वम्, तघ्यतिरेकश्र साध्यत्वेन विवाक्षितः। तथाच त्रिकालवाध्यविलक्षणत्वे सति कचिद्व्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साधंयं पर्यवसितम्। एवंच सति न श्रुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि, वाध्यत्वरूपासत्वन्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात् ! नापि व्याघातः परस्परविरहरूपत्वाभावाव्। अतएव न द्वितीयोडपि; सच्वाभाववति श्रुक्तिरूप्ये विवक्षितासच्वन्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्। नापि तृतीयः ; तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात् गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेजपि तदभावयोरुष्टादावेकत्र सहोपलम्भात्। यच निर्धर्मकस्य जद्षणः सच्च्वराहित्येऽपि सद्रुपवत्र्रपश्चस्य सद्रूपरणापराभावत्वेन, विकल्पाः। अतरशब्दार्थ विवृणोति पूर्ववदिति। नाद्यः इत्यादिना परप्परविरहहरुपत्वमान्रं निपिध्येते। तेनैव हेतुना व्याघाताभावमाह—नापि व्याघात इत्यादि ।

त्वेन अमिथ्यात्वोपपच्या अर्थान्तरमुक्तम्, तन्न ; एकेनेन सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्र्रतीत्युपपर्त्तो घ्रह्नवत् प्रपश्नस्य प्रत्येकं सत्त्वभावताकल्पने मानाभावात, अनुगतव्यवहाराभावप्रसङ्गाच। सत्र्रतियोगिकासत्र्रतियोगिकमेदद्ययं वा साध्यम्। तथाचोभयात्मकत्वे अन्यतरात्मकत्वे वा ताहगभेदासम्भवेन ताभ्यामर्थान्तरानवकाशः। न च असच्वन्यतिरेकांशास्यासक्भेदस्य च प्रपश्चे सिद्धूत्वेनांशतः सिद्धसाधनमिति वाच्यम् ; "गुणादिकं

सत्स्वभावता सच्छब्देनाभिलप्यमानधीविषयता। अनुगतव्यवहारेति। ननु सदाकारबुद्धौ सत्ता द्रव्यत्व मूर्तव्वं वा जातिर्विषयः। गुणादौ तम्याम्सामानाधिकरण्यादिः सम्बन्धः। त्वन्मतेऽपि हि सत्म्वरूपम्य नैकं तादातात्यं समवायैकत्वदूपणात्। न च तादात्म्यत्वेनानुगतो मे सम्बन्ध इति वाच्यम्; तादात्म्यं सदित्यत्र तदसम्भवात्। एकरूपेण सम्बन्व्वानुयोगित्वयोः असम्भवादिति चेन्न ; समवायस्सन्नित्यादौ तवेव ममापि तत्र तत्मम्भवात्। तत्र विभिन्नरूपेण त्वया तयोरझीकारे ममापि सदाकार्र:तीतेः सम्बन्धांशेड्य्यनुगताकारत्वाय तादात्यत्वरूपेण सम्बन्धेऽपि तदतिरित्तरुपेणानुयोगिव्वसम्भवात्। एकरू पेण सम्बन्ं प्रत्यनुयोगित्वपतियोगित्वयोंरेव मया अनकीकारात्। तादाल्यय्वैनैनै मम अनुयोगित्वसम्भवाच्च - अतएव सद्वहेलेय मे ठयवहार:, न बु सत्सदिति। अथवा सत्व्वरूपपतियोगिकं तादात्स्यमेव सत्तास्वरूपसंम्बन्धेन सदाकारर्धाविषयः, तादाल्स्यं सदित्यत्रापि केवलेपपहिततादात्म्ययोः म्वरूपं सम्बन्धः, तादाल्म्ये तादाल्म्यान्तरास्वीकारात्। तादात्मयिभिन्नयेरेव केवलोपहितयो: तादास्यस्वीकारात्। अतस्सदाकारुद्धौ नानुगतसम्बन्धहानिः। सत्ता सरीति तु न मे ठ्यवहारः ; गुणादिकमित्यादि । समानाघिक्कत-

## गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिक्तत्वत्त्" इति भेदाभे-

त्वात् गुण/दौ गुणयादिभेद्धीप्रतिबन्ध कम्रमाविषगत्वात् । तथाच यो यद्विशिष्टपतियोगिकभेद्धरप्रतिबन्धकपमाविषयः सः तद्भेदाभेदवानिति उयांप्तिः। निष्कर्षस्तु यो धर्मो यद्धर्मवदवच्छिन्नप्र-तियोगिताकमेदप्रकारतानिरूपितस्बावच्छिन्नविशेप्यताकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरुपितप्रतिबन्धकतावत्संयोगाद्यसंसर्गकप्रमादि विषयः स तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगेताकभेदाभेदानुयोगितावच्छेदकताद्वयवानिति सामान्यते ठयासौ घटत्वादिमदवच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदद्रकारतानिरू-पितस्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताश्रयप्रमाविषयो द्रव्यत्वादि:। यथा घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदाभेदोभयानुयोगितावच्छेदक इति दृष्टान्तः। द्रव्यं घटामिन्नं नेत्याध्याकारक घटत्वादिमदवच्छिन्नपतियोगिताकमेदप्रकारतानिरूपितद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविझोष्यताकभ्रमं प्रति प्रतिबन्धिकागां द्र०्यं घट इत्यादिप्रमायां द्रव्यत्वादेर्विषयत्वात् घटो न घटाभिन्न इत्याद्रिज्ञानस्य आहार्यंत्वन अप्रतित्वयत्वात् स्वपदयद्धर्मपदाभ्यां घटत्वादेरेकस्य धर्तुमःःक्यत्वात् द्रव्यत्वादेरिव क्वपदेन घटत्वादेरेव यद्धम्मपदेन धारण तेन घटत्वादेः ₹्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदोओभयानुयोगितावच्छेदकत्वाभावेऽपि न ठ्यमिचारः। न च द्रच्यत्वावच्छिन्ने घटत्वावच्छिन्नमेदो।डसिद्ध इति वाच्यम् ; विशिष्टकेवलयोः भेदवादिना तार्किकादिना केवलघटटे द्रव्यत्वविशिष्टघटत्वादिना मेदस्वीकारात्, विशिष्टघटो घट इत्यादिप्रतीतेररेदस्वीकाराच, विशिष्टघटकेवलयोः मेदास्स्वांकारे संयेगगविशोषवतो भेदाभेद्दयोंर्वृक्षादौं तार्किकादिभिस्स्वीकारेण तंत्रैव दृष्टान्तत्वसम्भबनच । भेदर्धप्रतिबन्धकाभेद त्रमविपग्योंः घटपटयोरभेदाभावात्प्रमेति स्वविशोषणीभूतयावदंशो अ्रमामिन्नार्थकम् । तेनॉक्तम्रमक्य घटत्वाद्यंशो प्रमात्वेऽपि न दोषः।

प्रमात्वं च बाषाभावात् सिद्दम्। संयोगेन घटवतो मिन्न भूतलमिल्यादिघीपतिबन्धकप्रमाविषये भूतलादौ घटाघभेदाभावात् असंसर्गान्तं यद्दर्मावेशिष्टे यद्दर्मविशिष्टंयोगाच्धविषयार्थकम्। न च नीयादिविशिष्टपतियोगिकमेद्रकारकघटादिंवरोष्यकज्ञानं प्रति प्रमायाः प्रतिबन्धकत्वस्य घटादौ नीलादिगुणविशिष्टपतियोगिताकाभेदविषयत्वावच्छिन्नल्वेनोक्तमतिबन्यकत्वे उत्का भेदेसाद्धेरुपपादकलेऽडपि न घटादौ नीलादिगुणाभेदसिद्दिस्तथेति अपयोजकत्वामिति वाच्यम् ; गुणगुण्याद्योरेदान्यसम्बन्धासिद्धया अमेदसम्बन्धेन गुणादिविशिष्ट प्रतियोगिक्युण्यादिनिष्ठाेददस्योक्तमतिबन्धकत्वोपपादकत्वात्। आधाराषेयत्वस्य लोकैरैननुभवात्। न ब्यत्ति घीघंटे नील: कपाले घट इति। अपितु घटो नीलः कपालं घट इत्यादि। अतएवेहेति प्रत्ययहेतुः समवायद्तयोः सम्बन्ध इति कणादादिमतमनुमवाविरोधात् हेयम्। किंच घटो न नील इत्यादेज़्ञानं प्रति घटविशोष्यतानिरूपिताभेदसंसर्गतानिरुपितनीर्गादिगुणप्यकारतांकत्वेन प्रतिबन्धकत्वं मया वाच्यम्। नीलो घट इति घियो नीलगुणघटटमेदविक्यकत्वस्य मयाइस्रीकारात्। नीरुादिगुणविशिष्टनिष्ठोक्तमकारताकत्वेन उु त्वया वाच्यमिति तें गौरवम्। अथ ममापि समवायेन नीलादिप्रकारतानिरूमितषटादिविशेष्यताकव्वेन तदिति चेतहिं ठर्थममभेदान्यनामकरणम्। यत्र यद्विशिप्टेयेज्ञां प्रति यस्सम्बन्बेन खवाभिमतसमवायान्यसंयोगाघविषयिका तयोर्विशिष्टपमाप्रतिबन्धिका स एव हि तयोरमेद: घटो द्रव्यमिल्यादिप्रमायां त्वयाइपि तथाइज्ञाकारात्। एवंच घटो न नील इत्यादिज्ञाने नील्युणाविशिष्पपियोगिकमेदस्य त्वद्रीत्या विषयत्वेडाप तत्र नीलगुणाभिन्वपतियोगिकमेदल्वेनैव विषयत्वं स्वीक्कियते। तथा सति हि तज्ञ्ञनं यत्रोक्तमेदप्रकारकं तत्र नील्गुणामेद-

ज्ञानस्य तत्पूर्वमभावनियमेन तत्र नालगुणभेदप्रकारकत्वसम्भवेन तद्रूपणैव प्रत्तिबन्धकत्वं कल्प्यत इति लाघवम्। ताद्दशानुमित्यादररण्युक्तम्रकारकत्वेन नरिलाभिन्नप्रतियोगिकभेदव्याप्यपरामर्शादिकार्यत्वसम्भवात्। किंच गुणगुण्याद्योः समवायस्वीकारे तदन्तर्भावेणापि ज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्घकत्वं कल्प्यमिति ते गौरवम् । तादात्यान्तर्भावेण तु तत्तवापि कस्तम्। एवं नीलगुणादिकं प्रति तघ्यधिकरणतद्भेदत्वेन मे हतुत्वम्: तव तु समवायावच्छिन्ननीलादिप्रतियोगिताकताहृशात्यन्ताभावत्वेनेति गौरवम्। घटो रूपमित्यादिकं तु लोकैरनुभूयत एव। पटे रूपमिल्यादिकं तु काणादादिमतवासनाविलासः। उक्षं हि भामत्यां 'उभयथा च दोषात्' इति सूत्रे 'अनुभूयते हि पृथिठयादिकं गन्षाध्धात्मकं लोकै:' इति। पुराणवचनान्यपि-

आकाशं आब्दमात्रं तत्सपर्शमात्रं समाविशेत् ।
द्विगुणस्तु ततो वायु: शब्दस्पर्शात्मनो भवंत् ॥
इत्यादीनि । एवमनुभवागमसिद्धं गुणगुण्याद्योराभिन्नत्वं वैशोष्षकरेराक्याप्यवमिति । मास्तां वा रूपत्वघटत्वादिभ्यां आत्मत्वद्वेहत्वाम्यां इति वा भेद:। किन्तु भेद्स एव च घटो रूपवानित्यादिबुद्धौ सम्बन्ध:, घटत्वपटत्वादिभ्यां भेद्सतु घटपटयोर्न सम्बन्धः अबाधितप्रत्ययाभावात्। अथवा रूपत्वघटत्वादिभ्यां तादात्म्यस्य वृत्तिनियामकत्वस्वीकारात् तदवच्छिन्नाकारैतैव उक्तबुद्धौ सम्बन्षः, न तु तदेव घटो न रूपमिति बुद्धौ, तस्याः प्रतिबन्धकतापत्ते:। नचातिरिक्राधारताकल्पने गौरवमिति वाच्यम्, समवायपक्षेडपि तदावइयकत्वात्। समवायस्यैवाघारतारूपत्वे तु रूपं घटवदिति बुद्धयापच्चे:; तत्र च तादात्म्याख्यसम्बन्धे समवायत्वरूपोऽखण्डषर्मो न कल्प्यते कुत्राय्यक्तवात्, किन्तु ताद|न्यंख्वरूपः द्रव्यघटायोस्ता:

दाल्ये कृतत्वात् । यद्वा घटादौ रूपादेः प्रतियोगितरूपादौ घटादेखनुयोगितासम्बन्धः घटम्य रूपमिति प्रतीते: घटादौ तदभावस्य तदभावे च घटादे: वृत्तिनियामकयोस्तयोः क्रृत्वात्। संयोगवदेकत्र शृतिनियामकस्याप्यपरत्र तत्त्वसम्भवात् यद्वा घटरुपाद्योरिव घटादितदभावयोरपि तन्निष्ठभेद एव सम्बन्धः सम्बन्घत्वेन क्लित्वादिति दिक् II
"गुणे शुक्कादयः पुंसि गुणिलिक्नास्तु तद्वति"
इत्यादेस्तु नामान्तरावशोषणं शुक्नादिपदं पुंसि, नामन्तरविशेषणं तु तत्समानलिजमित्यादिरर्थः. यथाश्रुतार्थत्वे शुक्न रूपमित्यादेरसाधुत्वापत्ते:। अत एवाधरत्वानियामकोपि गगनादिसंयोगवदेभदान्यएव सम्बन्धोस्तित्यपि निरस्तम्। आधारत्वानियामकत्वाविरोषेऽपि कियाजन्यत्वादिना संयोगत्वस्येव भेद्धप्रतिबन्धकर्षीविषयत्वेन अभेदत्वस्य सिद्धेः। अथैवमपि भेदांशसिद्धौ कस्तर्कः? उच्यते-भेदं विना न सम्बन्धः घटो घट इति विशिष्टानुभवस्य लोकानामभावात्। न च घटो घटवानिति लोकैरनुभवालंसंसर्गप्रतियोग्यनुयोगिनो: तघ्याक्तित्वाभ्यामेव भेदोपेक्षित इति प्रतियोग्यनुयोगितावच्छेदकान्तर्भावेन भेदसिद्धौ न तर्क इति वाच्यम् ; घटो द्रव्यमित्यादौ तद्यक्तित्वाभ्यामपि प्रतियोग्यनुयोगिनोः भेदाभावेन घटो घटवानित्यादिस्थलेऽपि भिन्नरूपेणैव लोके संसर्गप्रतियोग्यनुयोगितयोः स्वीकाराव्। प्रतियोग्यनुयोगितावच्छेदकरूपाम्यां भेदायहे संसर्गाम्रहात् मेदभ्रमे संसर्गअ्रमाण भेद्ज्ञानस्य संसर्गज्ञानकारणत्वे आवइयके घटो द्रव्यमित्यादौ कारणीभूतमेदज्ञानस्य अ्रमत्वे तत्रयोजकानन्तदोषकल्पनापेक्षया प्रमात्वकल्पनस्यैव युक्तत्वात्। प्रमात्वाकल्पनेऽपि सिद्धान्ते प्रातिभासिकभेदसिद्धेरनपायात्। नचैवं सिद्धान्ते घटो घट इत्याद्बीरपि स्यात् प्रातीतिकमेदसम्भवाबिति बाच्यं, तत्र भेदाकारवृत्तेः

आहार्य्तेन ज्ञानत्वस्यास्वीकरोण स्वीकारेडप्यनाहार्यस्यैय हेतुलेन उत्कहेत्वभावेन उक्तबुद्धचनुत्पादात्। न च भेदस्य पातीतिक्वेने व्यवहारकालेऽपि बाषात् तदा तद्धटितं कपालं घट इल्यदिधीप्रमात्वं न व्यवह्दियेतेति वाच्यं, इृ्टत्वात्। तदा घटत्वकपालत्वजात्योरम्यैक्यज्ञानेन उत्तनुद्धेर्नुप्पादाच। संयोगविशेषवत्कपाएत्त्वरूपेण घटतेनेनोो्रफीरप्युक्युक्ते. भेदज्ञानमपेक्षत एव, संसर्गपतियोग्यनुयोगिताबच्छेदकयोः भेदस्यावइयकत्वात्। यदिचैकरूपेणापि संयोगादिसंसर्गपतियोग्यनुयोगितेत्याग्रहः, तथावि अमेदसंसर्ग प्रति तथा नैव। वस्तुतस्तद्धटे स्वकीयसंयोगादिसत्वेडपि तद्धटः तद्धटाय इति भ्रत्ययाभावात् तद्यक्रिमिन्नवृतिसंयोगादिरेव तद्यक्किसम्बन्धः। अतः घटो द्रव्यमिल्यादौ अभेदसम्बन्बस्थले तद्यके ः स्वतो भेदाभावात् द्रव्यत्वषटत्वादिरूपाभ्यामौपाधिको मेदोडक्यं वाच्यः। अतएव घटाभावे घटो नास्तीत्यादावपि एकत्वविशिष्टघटाभावत्वकेवलघटाभावत्वाभ्यां भेबात्सम्बन्धः। नच प्रतियोग्यनुयोगिभावः सम्बन्धनियामकः। न च घटाभावो घटाभाववानित्यादौ विद्यमानोपि तद्धटस्तद्धटीय इत्यादौ नास्त्यनतुभवादिति वाच्यम्, घटो द्रव्यामिल्यदौौ प्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वतोभेदाभाबस्थले औपाधिकभेदान्यप्रतियोग्यनुयोगित्वकल्पने गौरात्। तथाच तद्दटे ₹वकीयसंयोगादिसत्वेडपि तद्धटस्तन्द्यटीय दरि धीप्रमात्वाभावाद्विशेषणंभेद्यमात्रस्य विरोष्ब्यतततया प्रमात्वनियामकख्वासम्भवाच। विरोषणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदसमानाषिकरणसंयोगादिरूपस्य तद्यटसम्बन्घस्याश्रये संयोगादिसम्बन्बेन तद्धटट प्रकारकज्ञानत्वं संयेगादिसम्बन्धेन तद्धटप्रमात्वमिल्येंरीत्या प्रमात्वं तार्किकावििमिर्निवाच्यम। नंचैवं तद्धटस्तद्धटीय इत्यादे: प्रमात्वं दुर्वारं द्रव्यत्वादिविशिष्टे तद्दटटावच्च्न्नभेदसत्त्वादिति बचच्यम्, द्रव्यल्लादिविशिष्टस्य तद्बटत्वाद्युपहितान्यत्वेन अविशेष्यत्वात् विशेष्पी-

भूततद्धटे तद्भेदाभावात्। न च विशोष्यतावच्छेदकविशोषणतावच्छेदकयोः भेद एव प्रमात्वघटकोस्तिति वाच्यम्, अनवच्छिन्नविशेष्य ताकप्रमायां तद्सम्भवात्। अथानवच्छिन्नविशोषणताकप्रमायां त्वदुक्किरपि न सम्भवतीति चेत् सत्यं, तथापि विशोष्यीमूता विशोषणीमूता च या ठ्यक्तिः तद्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद्धटितं तद्यक्तिप्रमात्वमिल्येकोक्ति: सम्भवत्येव। न च सा अनादरणीयेति वाच्यम् एकजातीयप्रमात्वस्य प्रमामात्रे व्यवहारात्। अन्यथा व्याप्तयादिलक्षणेष्वव्याप्युपन्यासस्य प्रत्रापत्वापत्तेः । एवश्च घटत्वाद्युपहितनानाव्यक्तिविगेषणस्थले तत्तद्यक्रित्वावच्छिन्नभेदधटितामिव तद्धटोपहितमात्रावेशेषणस्थलेऽपि तद्यक्तित्वावच्छिन्नमेदघटितप्रमात्वमुक्तम्। भेदस्य च विशोष्यीभूततद्धटे विरहात् तद्धटस्तद्धटीय इत्यादेने प्रमा त्वम्। तथाचाभेदसम्बन्धस्थले तार्किकादे $\frac{व ि श े ष ण ण व ि श े ष ् य य ो ~ भ े द ा ज ़ ी-~}{\text { - }}$ कार आवरयकः। अन्यथा घटो नीलो द्रव्यं घट इत्यदिधीप्रमात्वासम्भवात्। अतएव घटाभावो घटाभाववानित्यादावपि एकत्वादिवीशेष्टघटाभावत्वकेवलघटभावत्वाम्यां भेदसवीकारेणैव निर्वाहः। न च नीलघटादिव्यक्तयोरुक्तरीत्या भेदसिद्धावपि नीलत्वघटत्वादिव्यक्तयोः प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकत्वासिद्धघा उक्कानुमानानिर्वाह इति वाच्यम्, उक्तरीत्या तत्तन्नीलव्याक्तित्वतत्तद्धटव्यक्तित्वानां येषु भेदेषु प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकतं सिद्धं तेषु नीलत्वघटत्वादी़ांां प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकत्वावइयकत्वात्, यो यडीययावद्विशेषाभाववान् स तत्सामान्याभाववानिति व्याप्तेः विशेषाभावकूटस्यैव सामान्यषर्मावच्छिम्नपतियोगिताकत्वरूपेण सामान्याभावत्वेन व्यवस्थाप्यत्वाँ्ठ, न च तत्प्रतियोगिकतस्सम्बन्धानुयेगिगि तत्सम्बन्षेन तत्प्रकारकघत्वं तत्सम्बन्बेन तत्र्रमात्वमिति वाच्यम्, दूषितत्वात्। रिंच सम्बन्धप्रतियोगितानुयोगितयोः तद्धटाबिव्वरूपत्वे येन संयोगेन तद्धटतत्पटयो-

र्मिथो विशिष्टप्रमा तेन तद्वर्त्तद्वटीय इति प्रमापचितादवस्थ्यं, तत्संयोगस्य तद्रट्रतियोग्यनुयोगित्वासत्वात्। तयोस्तदतिरिक्तक्वल्पने च गौरवम्। मन्मते द्रव्यत्वघटत्वादिम्यां भेदस्य कल्प्यत्वे य: भूतलघंयोः ${ }^{1}$ मेदः क्षसः स एव। न च तस्सबन्धीया तदमिन्ना या प्रतियोगिता तन्निरूपितानुयोगितारूपे तत्संबन्धेन तत्रकारकघीत्वं तस्संबन्धेन तत्रमात्वं पटात्मक्पतियोगितानिरुपितानुयोगितारूपे त्बटे स्वप्रात्ववारणाय तदमिन्नेति तत्ताद्दूरेषणामिन्नपरमिति वाच्यम्, तथापि हि द्रव्यं घट इति धीरिव द्रव्यं द्रव्यमिति धीरपि प्रमा स्यात्। द्रव्यामिन्नघटात्मकपतियोगितानिरूपितानुयोगिताया द्रव््यस्वरूपत्वात्। न हि मन्मत इव वन्मते द्रव्यघटयोंग्रेद, ख्वयौपाघिकमेदास्वीकारात्। नं च द्रह्यत्वषटत्वादिम्यां भेदप्रतियोग्यनुयोगिभावोडपि त्वन्मते अतिरिक्तः कल्यात इति गौरxमिति वाच्यम्, ववन्मते सर्वत्र पतियोगित्वानुयोगित्वयोः अतिरिक्तयोः कल्प्यत्वात् मेदप्रतियोगितानुयोगितयोः स्वावच्छेदकधर्मस्वरूपत्वाच। नच मन्मतेडपि यन्न स्वाभातिको भेदस्तत्र मेदेनैनैव निर्वाहः यत्र तु द्रव्य्वत्वघटत्वादिभ्यां औपाघिको भेदस्व्वयोच्यते तैर्वावातिरिक्तयोम्तयोः कल्व्यव्वमिति वाच्यम्। एवं सति तद्धटः तद्धरीय इत्यादिधीप्रमत्वं तद्वरधामिन्नृवृत्तिसंयोगादिघटितम्, तादाल्मेन प्रमाव्वं तु सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगित्वघटितमिति वैरूप्यं स्यात्। तत्रातियोगिकमेदेति नाम विहाय तत्रतियोगितानिरुपितसम्बन्घनुयेगितिति नाम ल्वया कृतमिति पर्यवसानाछ। एतदाभिप्रायैणैव ‘यथा च तत्राभेदः’ इत्यादि बक्ष्यति। तस्माबयोरमेदसम्बन्धः तयोर्मेदः संैर्रपि वाच्च:, विशिष्केवलार्बोंमेंदं विना तज्ज्ञानादीनां मिधो वैलक्षण्यासिद्धे। भेदज्ञानस्य विशिष्टर्पमात्रहेतुत्वात् प्रमाल्वस्य भेदघटितत्वाच। अथवा समानाजिक्रतत्बादाषा-

रतावच्छेदकतानवच्छेदकरूपाबच्छिन्नत्वसम्बन्धेन गुण्याघंडे पमापकारत्वात्। तथाच यो यदवाच्छिन्नविरोष्यतानिरुपपतोक्तरूपावच्छिन्नसंसर्गतानिरुपितप्रमापकारतावच्छेक्र: स तदवच्छिन्नानुयोगिताकमेदाभेदोभयपातियोगितावच्छेदक इति व्याप्तिः। न चाप्रयोजकत्वं, नीलो घट इत्यादावाधारतावच्छेंदकतानवच्छेदकरूपौगैव सम्बन्धस्योक्त युक्तिमिस्सिद्धघा तादात्म्यजातीयस्य घटो द्रव्यमित्यादों क्रुस्य ताहशत्वेन उपपत्तावतिरिकसमवायकल्पने गौरवात्। गुणादीत्यादिना क्रियावयवजातिविशिष्टांशानां गुण्यादत्यिादिना च तद्दूतां भहणम्। न च कुण्डलत्वादे: कनकत्वाघवाच्छिन्नपतियोगिताकमेदाभेदानुयोगि तावच्छेदकल्वे

> कार्यात्मना तु नानाव्वममेदः कारणात्मना । हममाम्मना यथाऽमेद: कुण्डलाबात्मना भिदा ॥

इति भामत्युक्तमेदाभेदवादिकारिकया कारणतावच्छेदकरूपेणायेदस्यैव कार्यतावच्छेदकरूपेण भेदस्यैवोक्तया विरोध इति वाच्यम्, तया कटककुण्डलयोः कटकत्वकुण्डरत्वाम्यामत्यन्तमेद्दः कटकत्वकनकत्वाम्यां तु भेदामेदावित्यस्मदनुकूळस्यैयोक्तत्वा्। तथाहि-कार्यात्मना तु करकत्वकुण्डलत्वादिरुपै: कार्यमात्रधर्मेरव नानत्वं, कार-णात्मना-कारणगतधर्मेण। कार्यात्मना त्विल्युुुज्यते अमेदोडपि। तथाच कारणगतधर्मकार्यमान्रगतधर्माभ्यां तु अमेदोापीत्यर्थ इति व्याख्या संभवति। भेदाभेद्वादिना त्रिदण्ड्यादिना अह्रूपूज्ञानपपश्रूपपजेययोरमेदोक्तेर्व्यमिचार: ${ }^{1}$ । उ्यमिचारादिस्तु न सम्बन्धः। संबन्धोपि न धूमादिप्रकारतावह्यादिविशेप्यताभ्यां निरुपितसांसर्गिकविषयताकः। हृषान्तस्तु पूर्व्वत्। येन द्रव्यत्वघटत्मम्यां न भेद उच्यते तं प्रत्युक्रयुकिभि: तस्य पसाध्यव्वात् ।.

तढुक्तं शारीरकसंक्षेपे-
अविरुद्धविरोषणद्वये प्रभवत्वेऽपि विरिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा सुतरां तद्विपरीतरुपयोः।।
इति। एकता-अभेद: ${ }^{1}$ । यत्तु भिन्नाभ्यामेकधर्मिबोधकत्वरूपशाब्दसामानाधिकरण्यषटितहेतुना भेदा मेद्सिद्धिरिति परिमळादावुक्तं तस्याव्युक्तरीतौ तात्पर्यम्। यथाश्रुते भेदासिद्धे: ${ }^{2}$ पूर्वमुक्त हेतोरसिद्धे: भेदांशःसाघकतर्कानुत्थापकत्वेन अप्रयोजकत्वाच। ननु मेदाभेदयोरेकन्र युगपन्न प्रहणं तद्धियोर्मिथो विरोषित्रात् युगपदुभयननुभवशलान्तुणगुण्यादिस्थले तदनहीकारे प्रथमोक्तहेत्वसिद्धि: 1 न चैकस्सैयैकदा प्रहणं अविनिगम्यत्वात्; द्वययोः ग्राहकसन्निकर्षाद्याविशोषात्। सामानाधिकरण्यप्रत्यये व्यक्तोोर्मेदांभोदौ चकास्त इत्यादिभामतीविरोधाच्चेति चेन्न। प्रत्यक्षे मिथस्समानाधिकरणत्वेन तयेः युगपद्भानेऽट्यन्यतरविरेधितया एकतरस्य शाब्द्रादिबुद्धे: प्रतिबन्ध कत्वसम्भवात् । एकांशधर्पतियन्धकदोषसत्त्वे तद्विरोधितया अन्यंशम्रत्यक्षेडापि तत्सम्भवात । अन्यतरसमानाथिकरणत्वेन अज़ायमानतद्विधयकज्ञानत्वमेव तद्विरोधितया तज्ज्ञानत्वम् । तेन न प्रमात्वघटितहेर्वसिद्धि: अव्याप्यवृत्तिस्थले सैंैरपि तथा वाच्यत्वात्। भामत्युक्तिरसति दोषे। अत एवात्यन्ताभेदे अन्यतरस्य भामत्यां द्विरवभासमान्रं दूषणमुक्तम् । न तु भेदानुभवविरोघः, भेद्ढानुभवस्य त्वन्मतेऽप्यसार्वत्रिकत्वात् । अन्यतग्स्याभिन्नस्य धर्मिणो द्वाभ्यां रूपाभ्यामवभासमान्रं न त्रेकरूपावछिन्ने अपररूपावच्छिन्नस्य विशिष्टधी:, अत्यन्ताभेदे सम्बन्धासम्भवादिति तदर्थः । अथैवमपि भावाभावावेकत्र कथम्? नचावच्छेदकमेदेंनैव तौ साध्याविति बाच्मम्, एकावच्छेदेन तत्साधकयुत्तेरेवोक्तव्वात्। भामत्यादौ तन्मतस्य विरोषोक्तया दूषणासकतेः। मणिकौररपि
"न चैवं भेदाभेद्:" इत्यनेन तन्मतमापाद्य अवच्छेदकभेदेन स्वमते तन्मतवैरक्षण्यस्योक्तत्वाघ्चेति चेन्न । सामान्यतो विरोधेऽपि हि अव्याप्यवृत्तिस्थले अंवच्छेदकमेदेनेव प्रकृते तदभेदेनापि तयोरेकत्र सम्भवः, धीबलस्याविशोषात्। तदुक्तं भामत्यां-" विरुद्धमिति नः क सम्पत्ययो यन्न प्रामाणिकम्" इति । तदेतत्सर्वं सिद्धान्ते अनुकूलम्। परं तु एकत्र श्रुक्तिरजतत्वयोः प्रतीतिसत्वेऽपि तद्वलाबलपरीक्षया तदुचिततत्सत्ताभ्युपगमात् भेदाभेदावपि मिन्नसताकौ तत्राप्यमेदसम्बन्धत्वाद्यन्यथानुपपत्त्यैव भेदस्य कल्प्यत्वात् व्यावहारदशायामेव विशेषदर्शनबाध्यत्वाच्च । भेदः प्रातिभासिकः, तदुपजीव्योऽभेदो व्यावहारिकः। न च कार्यकारणभाव एव भेदोपजीव्य इति वाच्यम्। स एव तथेत्यपरिविशेषात्, कार्यकारणभावस्यापि प्रतीयमानतादात्यधटितान्वयव्यतिरेकम्रहोपजाविकत्वात्, सांख्यादिमते वक्ष्यमाणरत्या तस्यैवाभावाच। अत एवाभेदोपादानाभेदकल्प्पेति भामत्यामभेद्स्योपजीव्यत्वेनोपादानमस्याम्। सा तथा। अत एव ज्रक्मप्रपश्चयोरपि भेदाभेदौौ । तथैवोक्त पारिमळादौ। यत्त भिन्नयोरभिन्नसत्ताकत्वमेव सिद्धान्ते सामानाधिकरण्यधीमात्रविषयः गुणगुण्याद्योर्मिकितत्वेन ख्वोपहितसत्ताभेदकत्वाभावादित्याश्रमस्वाम्यादिभिरुक्तम्, तन्रेदें चिन्त्यम्-सत्ताप्रतियोगिकभेदइून्यत्वं न कुत्रापि सत्रायामिति तत्पवेशो अप्रसिद्धि:। घटपटाद्यवच्छिन्नसर्वसत्तानुगतसत्तात्वावच्छिन्नभेदरान्यत्वं कपालतन्त्वाद्यवच्छिन्नसत्वास्वस्तीति तत्पवेशे पटः कपाल इत्यादिव्यवहारापत्तिः। तत्कपालादिरूपाविरोषणीमूतज्यक्तितादाल्यवत् सत्तात्वावच्छिन्नभेदशून्यसत्तायाः विषयत्वे घटससनित्यादौ तदसम्भवः, विशोषणीमूतमहासत्तायां सम्बन्बत्वेन वाच्यायां तस्यामेव तादात्याभावात् घटावच्छिन्नसत्तातो भेदसत्व्वाच्च। अथ घटाधवच्छिन्नं सत्त्वमेव तत्र घटादौ मह्हसत्तायाः संम्बन्धः न तु स्वात्यन्तामिन्ना सैवेति

चेन्न, अवच्छिन्नसतात्वापेक्षया महासत्ताव्यक्तितादात्म्यवत् सत्तात्वस्य गुरुत्वेन अनवच्छेदकत्वादप्रसिद्धि:। अथायं घट इत्यादौ घटत्यादिजातेरिव महासत्ताया अपि स्वरूपत एव निवेशः न तु तद्दूयक्तित्वेन ; तथाच महासत्तातादाल्म्यमवच्छेदक्कतानिरूपकत्वरूपेणावच्छिन्नत्वेन सममिति चेत्, तथापि घटः कपाल इत्यादौ तत्कपालत्वादिघटितं घटस्सन्नयं घट इत्यादौं च विशोषणस्वरूपमात्रघटितमिति सर्वत्र विशोषणस्य तद्वूचक्तित्वेनाघटकत्वात्। सम्बन्धवैरूप्यं गुरोरवच्छेदकत्वस्य वैैूप्यस्य वा अंकीकोरेडपि अवच्छिन्नसत्ता सतीति न स्यात्; अवाच्छिन्नसत्तायामवच्छिन्नसत्तान्तराभावात्। अथावच्छिन्नसत्ता ₹्वास्मिन्नपि सम्बन्ध इति चेन्न; सम्बन्धान्तरसम्भवे तस्या एव तस्यास्सम्बन्धत्वस्यायुक्तत्वात्, महासत्तातादात्यस्यावच्छिन्नसत्तायामावइ्यकत्वात् चिद्रूपमहासत्तायाश्चेत्यमात्रे तादात्यस्य त्वयाऽपि वाच्यत्वात् । अन्यथा तत्तद्विशेषणतादात्म्यवत् सत्तेत्यादिपूर्वो क्कासज्ञते: वैरूप्यभॠन्य सर्वत्र कल्पिततादाश्म्यसस्बन्धत्वाभकारेणापि सम्भवात्। अथ कपालघटाद्यो: तादात्म्यं न क्लप्सम्। अवच्छिन्नसत्ता तु क्लपपेति चेन्न ; कपालाद्यवच्छिन्नचिति घटादे: घटाधवच्छिन्नचिंति कपालादेश्ध तादात्म्यस्याव्यंन्योन्याःयासानुरोधेन क्लप्तत्वात्। तस्य च स्वरूपसम्बन्धेन चितीवावच्छेद्दकतया घटादावपि सत्व्वात्। एतेनावच्छिन्नसत्ताया: तद्वयक्कित्वेन सर्वत्र सम्बन्धत्वान्न वैरुप्यमित्यपास्तम्। सत्तादात्म्यं सदिति तु सत्तादात्म्यं सत्सदित्यादिवत् नामुपेयते। किंचोदूतरूूपत्वादिना कारणत्वादे: नीलो घट इत्याकारकषीत्वादिना प्रतिबन्धकट्वादेश्रासम्भवः। एकजातीयसम्बन्षसम्भवात्। मन्मते च तादात्मत्वरूपाखण्डधर्माजीकारेण तत्सम्भवात्। न च स धर्मोsवच्छिन्नसत्तयामेवेति वाच्यम्। अवच्छिन्नसत्तायाः स्वासम्भवेन अवच्छिन्नसक्षा सतीति प्रतीत्यसम्भवस्योक्तत्वात्।

अपिच तद्रूपस्य तद्धट इव तदीयरसादावपि कुतो न प्रमा तत्र तत्सत्ताव्यक्तित्वेन न सम्बन्धताप्रतीत्यभावादिते चेन्न : प्रतीतेरेवापाद्यत्वात्। कदााचिद्दोषात्तदुत्पत्ते: तद्रसो न नील इत्यस्य भ्रमख्वापत्तेश्ष। एवं सन्मनः सद्शतलमित्यादिवत् सुखं मनो घटो मूतलमित्याधपि स्यात्। सिद्धान्ते तृत्तिरूपेण परिणतमनसो घटादेश्र मेळने तदुपहितसत्तयोरिव मिळितभूतलघटाद्युपहितसत्तयोंरैक्यावर्यकत्वात् । एवं घटो मन इत्याद्यपि अपादनीयं, मन्मते तद्रसावच्छेदेन तद्रिपताद्वाम्यानझीकारात् सुखाद्यवच्त्रेदेन मनआधेयतासंसर्गाध्यासस्यैव स्वीकारेण मनआदितीदास्याभावात् मनःपरिणामत्वादिरूपेण सुखादौ मनआदितादात्म्याध्यासस्वीकाँरात्। मनःपरिणामो मन एवेत्यादिव्यवहासस्य 'एतत्सर्व मन एव' इत्यादि श्रुतेश्रोपपत्तेः। अथ तादात्म्यं स्वरूपसम्बन्धेन स्वाश्रये सम्बन्धो नावच्छेदकत्वेनेति न घटादौौ कपालादेस्तादात्म्यं सम्बन्ष इति चेन्न, अविनिगम्यत्वात्। कपालादिकार्यत्वस्य घटादाँ प्रतिबन्धकरीविषयत्वस्य च नीलो घट इत्यादौ तादात्र्यनैव वाच्यत्वात्। सत्कार्यत्वस्य सन् 'घट दत्यादिप्रतिबन्धकधीविषयत्वस्य च ताद्दास्म्यैनैव क्लप्तत्वात् । न च कपालादिकं प्रति तत्तादात्म्य प्रतीव घटादेरवच्छेदकत्वादवच्छेदकत्वमेवास्तु तादास्यस्थानीयमिति वाच्यं ; पस्पराध्यासानुरोधेन घटादेः कवालादितादाल्म्यं प्रत्यवच्छेदकत्वेडपि कपालादिकं प्रति अवच्छेदकत्वे मानाभावात्। सद्धटाद्योर्मिथो विशिष्टनुद्धच़निर्वाहाच। घटादे: सत्सम्बघावच्छेदकत्वेऽपि सद्रूाधिकरणं प्रत्यनवच्छेदफत्वात् सत्सम्बन्धस्य घटादाववच्छेदकत्वेऽपि सतो नावच्छेदकत्वं, किन्तु अवच्छेदकतावच्छेदकववं, घटादिस्तु चिद्धास्यतानियामक: चिन्निष्ठ: स्वसम्बन्ध इव सत्सम्बन्धे अवच्छेदक. बाधकाभावात्। न चावच्छिन्नस्य सत्सम्बन्धस्यावच्छेदकत्वासम्भवात् सदेवावच्छेदकामिति

दवादिप्योगे तार्किकाद्यङ्जीकतस्य भिक्षत्वस्य सिद्वावयि उऐेइयप्रतीत्यसिद्धे: यथा न सिद्धसाधनं तथा प्रकृतेउपि मिकितमतीतेरुद्देइयत्वान्न सिद्धसाधनम् । यथा तत्वाभेदे .घटः कुम्भ इति सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्श़नेन मिकितसिद्धिरहेदेखा तथा प्रकुतेऽपि सच्वरहिते तुच्छे हइयत्वादर्शनेन मिलितस्य

वाच्यम् । घटादिना अनवच्छिन्नस्य तढुपादानकपालादिनिष्ठस्य सत्सम्झन्धस्यैव घटादाववच्छेदकत्वमित्युक्तत्वात्। अन्यथा अधिकरणस्य सतोऽवच्छेदकत्वासम्भवात् । किंचाविद्याद्यनाटिद्रडयसतोरवच्छेयावच्छेदकत्वस्य कथमपि विरहात् तत्र विशिष्ट्वुद्ध: तथापि निर्बाह् । तत्र हि घटादिनिष्ठसत्सम्बन्धं प्रति अवच्छेदकत्वात् सत्पत्यवच्छेदकत्वमज्ञानस्य राक्कितुं राक्यम् । सतोऽवच्छेद्यघटकत्वात्। अज्ञानं प्रति तु सतोऽवच्छेददकत्वं शाक्कितुमप्यशाक्यम्, द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणे वक्ष्यम।णरीत्या सत्सम्बन्धल्य कस्याप्यज्ञानं घत्यनवच्छेदकत्वेन अवचछछेदकघटकत्वस्य सति दूरापास्तत्वात् । अत एव सद्विशेष्यकाज्ञानप्रकारकधीवृत्तिरुपा न तु चिद्रूपेति तत्र वक्ष्यते। यदि च तंत्रैव वक्ष्यमाणं सत्सम्बन्धस्य।ज्ञानावच्छेदकत्वपक्षमालम्बसे तदा सतोऽषिकरणत्वादेव नाबच्छेदकत्वमित्येव गतिः। तर्मादमिन्नसत्तासमानाधिकरणबुद्धिविषयः सम्बन्ध इति वृद्धोकेतमिन्ना सत्ता यत इति ब्युत्पत्त्या तदात्मता तत्र सम्बन्ध इत्येवार्थ: । अस्तु वा अवच्छिन्नसक्तैव तादात्मयशश्रय: अवच्छिन्नसत्ता सतीत्यत्र तु तादाल्म्यं सदित्येव विशेष्यमेव सम्बन्बः। यथाच घटतादाल्म्यप्रतियोगिता नीलत्वादिनैवाच्छिघ्यते न तु रुपः्वादिना, घटो रूपमित्यप्रत्ययात् ; तथा रूपतादात्म्यप्रतियोगिता घटगुण्तत्वादिना अवच्छिद्यते, रूपं घटगुण इति प्रत्ययात् ; न तु रसत्वादि,ना रूपं रस इत्यपत्ययादिति दिक्। मिकितस्य

तस्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्धेइयेति समानम्। अत एव सत्चात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टे साध्यमित्यपि साधु। न च मिलितस्य विशिष्टस्य वा साध्यत्वे तस्य कुत्राप्यप्रसिद्धया अप्रसिद्धविशोषणत्वं, प्रत्येकं सिद्धशा

तत्प्रयोजकतयेति । ननु मिलितस्य हेतूपपादकत्वेऽपि प्रत्येकरूपेण सिद्धि: किमिति नोद्देइया, यदि भिन्नं स्यात्तदा ${ }^{1}$ समानाघिकृतं न स्यादित्यादेरिव यदि सत् स्यात् तदा दइयं न स्यात् दत्यादेरपि प्रत्येकरूपेण ठ्याप्तित्राहकस्य तर्कस्य सम्भवात्। न च लाघवान्मिलितरुपैंणैकैवानुमितिरुद्देइयेति वाच्यम् । न्यायप्रयोगानन्तरप्रत्येकांशाप्रयोजकराक्कानिरासकतर्कोत्थापनक्रमेण प्रत्येकानुमित्योरुत्पादेन मिकितानुमितिलाघवानुभवात् ${ }^{2}$ । पश्चान्मिलितानुमितिस्वाकारें प्रत्युत गौरवादिति चेन्न 1 प्रत्येकानुमित्योरुप्पादेऽपि न तत्र प्रकृतन्यायवाक्यतात्पर्य, गौरवात्। किन्तु मिळितानुमितावेकम्यामिति न्यायवाक्यतात्पर्यविषयत्वरूपोद्रेरयता मिळितनुमितेरेवेति भावात्। पक्षहेत्वोरेकत्वे प्रत्येकन्यायप्रयोगस्य गुरुत्वादशक्किएूयापकत्वाच़। न चैवमपि प्रत्येकावच्छिन्नबिधेयताकानुमितिरेव उद्देइयाऽस्तु भिन्नामिन्नं सदसन्नेत्यादिधटितप्रयोगसम्भवे भेदाभेदोभयवदित्यादिघटितप्रयोगे गौरवादिति वाच्यम् ; येन रूपेणनुमितिविधेयता तेन रूपेण सिद्धि: प्रतिबन्षिका, समूहालम्बनाऽप्यनुमितिः प्रतिबध्या । अत एव वाब्पनसे अनित्ये इत्यनुमितौ वाख्पात्रे सिद्धिरपि प्रतिबन्धिकेति मते तदसम्भवात्। भेदोडभेवश्ष प्रकृतहेतूपवादक इत्यादिधीविषयत्वरूपोभयत्वेन साध्यनिर्देशस्य सामान्यत: प्रत्येकांशसाधकतर्कसूचन ${ }^{3}$ फलकत्वात्। पश्षात् प्रतिवादिना प्रत्येकांशाप्रयोजकत्वे शत्किते सूचिता एव मया प्रत्येकसाध़कतर्कास्त्वया

[^2]मिलितस्य विशिष्टस्य वा साघने, शराशृक्ययोः प्रत्येक्र ध्रसिद्धथा शशीयंगृंళ्रसाधनमपि स्यादिति वाच्यम् '। तथाविध्रसिद्द्रे: शुर्तिरूप्य एवोक्तत्वात् । न च निर्धर्मकत्वात् ग्रक्नणः सत्त्वासत्वरूपधर्मद्वयरून्यत्वेन तत्रातिव्यात्तिः;

ठुन बुद्धा इति परकीयाशाक्तिख्यापनस्य तत्रापि प्रयोजकत्वात्। वादकथायामपि सामान्यविशेषाम्यां घुखबोधनस्यैव प्रयोजनत्वात्। शरीयशृक्षसाधनमिति-राशीयत्वविशिष्टभ्रक्षस्य साधनं शरायगृॠ्योरुभयत्वेन तादाल्येन साषनं वा अर्थः। तेन मिलितसाधनेऽवि दूषणलामः। धर्मद्ययखून्यत्वेनेति-यद्यवि घ्रकणः सत्व्वबाध्यत्वोपलक्षितं तस्वर्वरपमेव, तदन्य्यवे तस्य मिध्यात्वात् व्रह्स वस्तुगत्या सल्यं न स्यात्। " प्राणो वै सल्यं, तेषामेष सत्यः, निल्यो निल्यानां चेतनश्थेतनानां, अणोरणीयान् महतो महीयान् " इत्यादिभिः श्रुतीभि: व्यवहारकालाबाध्यत्वरुपपपश्षसत्यत्वपपेक्षया अबाध्यत्वाह्युपलक्षितस्वरूपात्मकत्वेन ज्रझ्ससत्त्वादेरुक्करोंक्ते: पश्चीकरणशारीरकतत्संक्षेपादौ घेक्षणो नित्यंत्वादिस्वभावस्योकेश्च ${ }^{1}$ । तथाच सत्त्वं न क्रणो धर्म: प्रपश्षस्य तु सुतरां न धर्म इति सत्व्वासत्त्वरूपघर्मद्दयेत्याध्यतिव्यात्तिग्रन्थासक्ञतिः। न च स्वरूपस्यापि स्वस्मिम्नभावात् धर्मेत्यस्य चाविवक्षितत्वात् नोक्कासक्रतिरिति वाच्यम् ; धर्म्दद्यगून्यत्वेनेन्यत्र निर्घर्मकत्वादिति हेत्वसक्रतेः। तथापि ताहद्रसत्त्वदेदराधारत्वं तादाल्म्यं वा व्रद्नणि कल्पितमवइयं वाच्यम्। अन्यथा उक्तश्रुतिमिः सत्त्वादे:
 पपषिमाराक्य "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा: अपृथक्लेडपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते" इत्युक्तं पच्चपाबाम्।

सद्रूपत्वेन ब्रद्नणः तदल्यन्ताभावानधिकरणत्वात्
तत्र चकारात् सत्यत्वशुद्धत्वविभुत्वादीनां ग्रहण्। एवं च सत्त्वाघुक्तसम्बन्धध्ध उपहित एव वर्तते न तु शुद्ध इति तत्र तदभाव एवं उपहिततादात्मेडपि शुद्धो न सत्त्वादिधर्भक इत्या शायेनातिठ्याप्युक्तिः ${ }^{1}$ । न चैवमभावोपि स्वेपहिते न तु शुद्ध इति वाच्यम् ; भावाभावयोरेकस्यावशयकत्वं अन्यथा निर्धर्मकत्वानुपपत्तिश्चेत्यभिमानात्। सदूूपत्वेनेति । उक्तसत्त्वसम्बन्धवत्पतियोगिकतादाल्येयेनेत्यर्थः। उक्तसम्बन्धस्य म्नोणहिन् एव सत्तेऽपि तत्तादात्मं शुद्धे अस्त्येव श्रुद्धाशुद्धयोम्तादात्म्यार्कीकारात्। अन्यथा शुद्धस्याशुद्धोपरागेण भानासम्भवेन संसारकाले स्वप्रकाशत्वं न स्यात्। न हि शुद्धस्य तदा पृथक् भानमस्ति । तथाच सति 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्’ इति गुद्धप्रतिपादकश्रुतेः ‘अनुक्टतेसतस्य च' इति सूत्रस्य चानुपपत्तिः। तदभावेति । उक्ततादाल्याभावेत्यर्थः। तथाचोक्ततादास्य्याभाव एव निवेइयः न तु सत्त्वाभाव इति भावः। न चोक्ततादात्यक्य कल्पितत्वेन शुद्धे तद्भावोपीति वाच्यम्; प्रतियोगिष्यधिकरणस्योक्ताभावस्य निवेशात्। ननूक्तसत्त्वसम्बन्धोपाहितत्रत्यण एव आकाशाद्युपादानत्वात्। सत्त्वोपहितकपालादे: घटाद्युपादानत्वाच्च पपप्चेडव्युक्ततादात्यसत्त्वान्नोक्ताभाव इत्यव्यासिः, न च प्रपश्चे स्वोपहित एवोकतादाल्गमिति तदनुपहितसाधारणप्रपष्चे अव्याप्युक्ति: न युक्ता, सत्त्वानुपहितस्यैव कपालादेरुपादानत्वेन घटादितादास्म्यात् घटादौ न तद्नारावि सत्त्योपहिततादात्म्यमिति वाच्यम् । 'केवलो निर्गुणः' इत्यादिश्रुत्या धर्माभावेऽपि कैवल्ये केवलं ब्रद्सास्ति न तु धर्मोपहितमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वोपहित एव ज््नाणि धर्म इति युक्त्या

[^3]
## निर्षर्मक्त्वैनैवाभावरूपधर्मानखिकरणत्वांखेति

च शुद्धे ब्रद्मण्येव धर्मननल्कीकारात्। प्रपश्चमात्रस्य सत्त्वादिप्रतीते: तत्र तदावइयकत्वादिति चेन्न ; स्वाभाविकस्य सत्त्वसम्बन्धस्य उपहितकेवलभावेन तादात्यक्य च निवेरयत्वात्, प्रपश्वे च सद्वधिष्ठानतादाल्म्यप्रयुक्तल्यैव सत्त्वसम्बन्धल्य सत्त्वात्, सत्त्वोपहितन्रक्मणः तादास्म्यस्य प्रपश्चे सत्त्वेऽपि उक्तन्रह्नकेवरुूपत्वाभावात्। नन्वेवं सत्त्वानुपहितनिष्ठस्य सत्त्वोपहिततादात्म्यम्याभाव: पर्यवसन्नः तथाच सिद्धसाधनम्, ब्रद्मण एव सत्त्वानुपहितत्वेन प्रवश्चे तूक्ताभावस्य माध्वादिभि: म्वीकारादिति चेन्न; मन्मते चित्तादात्म्यम्य दृ₹यमात्रे स्वीकारेणाबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपतादात्म्यवत्त्वरूपम्य सत्त्वोपहितत्वस्य दृइयमात्रे सत्त्वेपि तन्मते घटादौ जन्यज्ञानात्वषयत्वमात्रस्वीकारेण चित्तादात्म्यास्वीकारात्। अबाध्ये दृइयतादात्म्यस्वीकारेऽपि तदुवाहितघटादितोऽन्यस्य केवलघटादे: स्वीकारादुक्ततादालं्यानुपहितऩिष्ठम्योक्ततादात्म्यम्य केवलघटादौ| सत्त्वेन तदभावम्य पक्षतावच्छेदकावच्छेदे नासिद्धत्वादिति दिक् ॥

यदि च निर्धर्मिकमिन्न एव भावाभावयोरन्यतरानियमः तुच्छे तब़न्यतरादर्शनात् धर्माभावाश्रयतादांस्यादेव निर्धर्मकत्वम्य केवलश्रुत्यादौ व्यवहारादिति सूक्ष्मं पइयसि, तदा अतिव्यापिस्तु भन्त्यैवेत्याइयेनाह—निर्धर्मकत्वैनैवेति। यदि च शुद्धेडव्यस्ति धर्मः, तद्वदभेदस्येव तस्यापि कंल्पितस्य सत्ते बाधकाभावात् श्रुत्यादिनापि परमार्घतो न तत्र धर्म इति प्रतिपादनसम्भवात् अन्यथा तत्रात्यन्तासत्त्वबोधने प्रतीतिविरोषात्। तथाच ज्रद्सणो धर्मत्वेन प्रतीयमानस्य सर्वस्य अभाववत्त्वेन सत्त्वस्याप्यभावादतिव्यत्तिरिति शक्कितुर्भावः। तथापि सद्रूपत्वेनेत्यम्य अबध्यस्वरूपत्वेनेत्सर्थः। तद्मावेति।

अबाध्यत्वरूपसत्त्वाभावविरोषीत्यर्थः। अबध्यत्वरूपप्रतियोगिव्यधिकरणसत्त्वाभावेति यावत्। बाध्यवृत्तिस्सत्वाभाव इति तु निष्कर्ष:। बाध्यत्वं च ज्ञानजन्यध्वसप्रतियोगित्वं ज्ञानत्मक्वंसप्रतियोगित्वादिकं वा प्रकृते ग्रा्यम् । तेन प्रवस्चे सत्त्वाभावस्य औपाधिकसत्त्वसम्बन्षसमानाधिकरणत्वेऽपि न दोष:। न वा बाध्यवृत्त्यभावस्यैव लक्षणत्वापत्त्या ऐोषैवैयर्थ्य, उत्कवाध्यवृत्यभावस्य ज्ञानप्रागभावादावपि ${ }^{1}$ सत्त्वात् तत्र सिद्धसाधनापत्तेः । वस्तुतो श्रद्मान्यत्वमेव बध्यत्वं वाच्यम्। अन्यथा ह्यसत्वाभाववैयर्थ्यम्। अथवा निर्धर्मकत्वैनैवाभावरूपधर्मानधिकरणत्वादिति निर्धर्मकत्वज्ञानज्ञाप्यादभावरूपधर्मस्यापि त्रद्मणि बधादित्यर्थः । तथाच धर्मिसमानसत्ताकस्य सत्त्वाभावस्य आश्रयत्वं प्रकृते वाच्यम् । धर्मिसमानसत्ताकह्य असत्वाभावस्याश्रयत्वं तु लक्षणान्तरम्। तदुभयमपि प्रपश्च एवेति भावः। दृशयमात्रं ब्नक्मणि नास्तीति बाघकेन प्रपश्चतद्वर्मयोः बाधनात् स्वबाधकबाध्यस्य सत्त्वाभावस्य असत्त्वाभावस्य च अधिकरणत्वमेव प्रकृते वाच्यम्। यत्राधिकरणत्वं स्थाव्यं तदेव स्वमिति तु निष्कर्षः। ननूक्तताद/स्म्येन ${ }^{2}$ रुपेणाभावो $\frac{\text { प्रसिद्ध:, सिद्धान्ते तूक्ततादात्यक्य व्रछ्समात्रनिष्ठतया }}{}$ लघवेन व्यक्कित्वस्यैव प्रतियोगितावच्छेद्कत्वात्, तत्तादाएम्यव्यक्कित्वरूपायाः तादाल्यमात्रविषयकधिय एव तद्यक्तित्वेन विषयतया प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। तथैवाभावनिवेशो च सिद्धसाघनमुक्ततादात्यमात्रविषयकषणृव्त्युभयाथृत्तिधर्भनिष्ठानवच्छिन्ना च प्रतियोगितावच्छेदकताबच्छेदकता यस्य ताद्दशाभावत्वेन तत्तद्धीविषयतादालग्याभावत्वपर्यवसितेन निवेशेऽपि सिद्धसाघनम्- दइयानां चालनायन्यायेन मिथस्तादास्म्याभावात्। एवमबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमुक्कस्वरूपमात्रर्थीः तादृशात्वेनाभावोड्पसिद्ध: उक्तरीवृत्युभयावृतिधर्मनिष्ठावच्छिन्ना च प्रतियो•

[^4]गितावच्छेदकतावच्छेदकता यस्य ताद्वशाभावत्वेन तद्धीव्यक्कित्वावच्छिन्नाभावत्वेन वा निवेशेऽपि सिद्धसाघनं ; आघ्दे प्रपश्चस्य सत्त्वेऽपि ${ }^{1}$ ज्ञानाविषयज्ञानस्वरूपत्वमादायार्थान्तरं, ज्ञानानां ज्ञानविषयत्ववादिप्राभाकारमते ज्ञानेषु चांशातः सिद्धसाघनामिति चेन्न ; उक्ततादात्यत्वत्वव्यापकविषयताकं उक्ततादाइं्यत्वक्यापकं विषयत्वं वा यत्तद्वृ्र्युभयावृत्तिधर्मनिष्ठत्यादेरबाध्यत्वठ्यापकविषयताकं अबाध्यत्वन्यापकं विषयत्वं वा यत्तद्वृत्त्युमयवृत्तिषर्मनिष्ठेत्यादेश्च निर्दोषत्वात् । उक्तविषयता च शुद्धचिति सत्त्वोपहितचितस्तादात्म्यमित्याकारकज्ञानीया अबाध्यस्वरूपमित्याकारकज्ञानीया च अғ्माकं, परेषां चोक्रतादाल्म्यं सर्व प्रमेयमित्याकारकज्ञानीया अबाध्यम्वरूपं सर्व मेयमित्याकारकज़ानाया च, तादृशाश्ष प्रपश्चे, नाभावः परेषामिति न सिद्धसाघनम्। ज्ञानेषु इच्छाविषयत्वस्य ${ }^{2}$ सैैैरझ्रीकारात्। ज्ञानाविषयज्ञानरुपतया स्वीकार्यतादालम्यादिप्रपश्चेऽपि उक्ततादात्म्यत्व亏्यापकस्येच्छाादिविषयत्वस्य अवइयं स्वीकाराच्च न चरमोक्ते अर्थन्तरसिद्धसाधने। घटादितादात्म्यविषयकवृत्तिधर्मत्वेन तत्रद्धव्यिक्कित्वावच्छिन्ना प्रतियोगितावच्छेदकता यस्य तादृशाभावस्य पटादौ सत्त्वात् सिद्धसाधनम् । अतोऽनवच्छिन्नेति। उक्षविषयताकत्वादिना सिद्धान्ते न प्रतियोगितावच्छेदकता, किन्तु तत्तद्वयक्तित्वेन, चिन्मात्रनिष्ठोफ्तादाल्म्यनिष्ठप्रतियोगितासमनियतस्य ततद्धधियक्तित्ववत एव लघुत्वात्। तन्निवेो च सिद्धसाधनम् । उक्ततादात्म्यं सर्व प्रमेयमित्याकारकधियो ब्रह्मविषयकत्वेन अवच्छेदकतया निवेशे सिद्धसाषनम्। ताहृरार्षसामान्याभावे निवेशिते अप्रसिद्धि: । सिद्धान्ते उक्तसामान्यापेक्षया लघोस्तत्रद्धीव्यक्तित्ववत एव अवच्छेदकत्वात् । परमतेडप्यबाध्यविषयकत्वादेरेव तदपेक्षया लघुत्वेनावच्छेदकत्वात् । अतो निष्ठान्तं व्यापकत्वदिकं च ।

इति सद्सक्दिलक्षणत्वरूपप्रथममिथ्यात्वविचारः.

मिथ्यात्वासम्पादकाभावादिघटितं साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकरूपठ्यासीनिरूपकत्वादिरूपं वा। अवच्छेदकत्वादिकं चाखण्डमेव मिश्रादिसम्मतम्। तेन सर्वत्र सर्वाभावसत्त्वात् न उ्यापकत्वादि दुर्वचम्। लौकिकंयव्यहारोपयुक्ताभावस्य तदीयविशोषणतासम्बन्धानामन्यतमत्वाधसाधारणरूपेण वा निवेशात्, उक्तावच्छेदकत्वस्य अभावाद्यघटितत्वाच्च। उक्रतादात्म्यं संर्वं मेयमित्याकारया कयचिद्धिया तत्तद्वयाक्तेत्वेन अवच्छिन्नपतियोगिताकः। शुद्धन्न्म्मणि धर्माञीकारे तु शुद्ध ज्रद्सनिष्ठायाः अबध्यत्वत्यापकविषयतायाः तद्वयक्तित्वावाच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः प्रवेरय इति तु वस्तुगतिः। च्यापकत्वादी़िवेशे प्रयोजनाभावात् । गुरोरवच्छेदकत्वे तु न काऽप्यनुपपति|रित्यायमिप्रे-त्याह-दिगिति ॥

नन्वसत्त्व ${ }^{1}$ सत्त्वेनापतीयमानत्वं, सत्त्वेन प्रतायमानत्वं च स्वरूपसम्बन्धेन या सत्तादात्म्यप्रकारता तन्निरूपितविशेष्यत्वम्। अस्ति च तादात्म्ये तादात्म्यवति तत्र दृइये च स्वरूपसम्बन्धेन सत्तादात्म्यस्य प्रकारता। न च अह्मण्युक्तविशेप्यत्वाभावादेव वारणसम्भवे सत्त्वाभावोपादानं ठ्यर्थमिति वाच्ग्यम्। सत्सत्पतियोगिकतादाएम्यवदिति प्रत्ययाभावेऽपि वस्तुगत्या सतो यत्तादल्म्यं तद्वस्सदि़िति प्रतीतेः। वस्तुगत्या सतो यत्तादाल्म्यं तत्रकारतानिरूपितविशोष्यत्वम्य त्रक्मण्यपि सत्त्वादिति त्वया अभिप्रेतम्। तदयुक्तम्-असत्वं हि सत्वेनापतीयमानत्वम्। असच्चेन्न सत्त्वेन प्रतीयेतेत्यादिना त्वयैव तस्य सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वे प्रयोजकत्वोक्के:। इष्टापत्त्यादिना स्वस्यैव ₹ं्रंप्रत्या-

पादकल्वरूपपयोजकंत्वासम्भवात्। उत्कासत्त्वस्य अभावसाधनं च न्यर्धम्। न चासद्दैऊक्षण्यसिद्धये तदिति वाच्यम्, तस्यासस्साधारण्यात्। 'तद्दैक आहुः असदेवेदमम्र आसीत्' इत्यादिश्रुत्याइसतः सत्त्वेन प्रतीत्यनुवादाव् । न चासत इव ताद्धशपरीतीरेनुवादो न सत्तासम्पादक इति वाच्यम्। असद्वादिनस्ताहापापतीतिमन्तः इति श्रुत्या प्रतिपादनेन तस्सत्व्वसिद्यूः। न चोक्तश्रुत्या संदेवेल्यादिश्रुत्रर्थम्याभावर्धरेवानूघंते नोक्तप्रत्ततिरिति वाच्यम्। उत्काभावस्याप्यसत्वेन तत्रासीदित्यनेन सत्त्वप्रतीतिलाभादिति, ततुच्छम्। 'असन्चेन्न प्रतीयेत’ इल्यत्रपतीतिरपरोक्षाध्यासाभिप्रायेण यद्यापरोक्ष्याभावरूपा तदा तस्याः सत्त्वेन अपतीयमानत्वेनापादने किंचिन्न बाधकम्। यदि चाध्यासमात्रामिपायेण सा सत्व्वेनाप्रतीतिरूपा तदापादकं सत्त्वविषयबुद्रयविषयत्वरूपं सत्त्वप्रतील्यनहल्वमिति न दोषः। उक्तश्रुत्या च सत्त्वेनासिद्द्यिरानूबते ' एक इत्यनेन बौद्धानामेवोक्तः। तन्मते 'तस्मादसतस्सजायते' इल्याघनुपपच्ते:, कथं नु खल्वित्यादिश्रुतिदूष्यत्वस्य त्वन्मते त्वया अनकीकाराः । अन्ये च नासत्र्णातिवादिनः। पतझ्जलिनाडप्यसद्ज्ञानं सदविषयकमुक्तं ‘ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुरूून्यो विकल्प. ' इति स्नेत्रे। ौौद्धाश्ध न सत्त्वेनासद्धीमन्तः। तन्मते अर्थकियाकारित्वरूपसत्वस्य असति शशविषाणादौ बाषात् । किंच आहुरित्यनेन वचनस्य सत्वेनासद्विपयकत्वं लब्धं, तच्च स्वजन्पर्धीद्दारेति शाब्दलियस्सत्वेनासद्विषयकत्ं वाच्यम् । न च तत्सम्भवति, आहार्यमात्रनिष्हस्य तस्यानाहार्यस्वभावशाब्दज्ञानावृत्तित्वात् । न हि सवद्धिनिर्वद्दिरत्याहेल्युक्तराहार्यप्रतीतिलम्येते । किन्तूक्तराब्द्यात्रं बचनकर्मतया लम्यतें ; शब्दाहार्यैस्वीकारेडपी पूर्वपक्षतया न तदुभन्यासो युज्यते । न हिं सवद्धिर्निर्वद्दिरित्याहेति पूर्वप्षीक्रू तदूपणाय 1 सत्वेन असिद्बीर्नातूल बोष्यने. हति पा.

सचेतसो यतन्ते । एवंच उक्तश्रुतेः सदेवेवे्यादिश्रुत्यर्थमावबुद्धचनुवादकत्वमेव। तच्च सदेवेल्यादिना यत्र यद्विधेयकषीर्जनिता तत्र तदभावयुद्धयनुवादकत्वम् । न चासदेवेत्यत्र नजिसमासगतत्वात्तदसम्भव इति वाच्यम्। 'अ मा नो ना प्रतिषेषवाचकाः' इति शाब्दिकोक्तेः अकारस्सम्बोधने अघिक्षेपे निषेधे चेत्यक्ययवृत्त्यादावु केश्र अकारस्य स्वतो निषेधवाचकव्वसम्भवेन नज़विकारत्वाभावेन समासानन्तर्गतत्वात् । नंचैवमपि सदित्यस्य विशोष्यवाचकत्वात् तन्सक्नतैवकारेण इदमात्मकसतो ऽन्यन्नासीदिति बोधादकारेण ताहृासदन्यदासीदिति बोधः । तथाच सत्त्वेनासतो धीरागैतैवेति वाच्यम् 1 'असदेवेद्मग्र आसीत्, तत्सदासीत्' इति श्रुतैं 'असद्वघपदेशान्नेति चेन्न धर्मन्तरेण वाक्यशेषात्' इति सूत्रेणासच्छबन्दस्य अठ्याकृतार्थकत्वनिर्णयादठ्याकृतादन्यत् नासीत् अठ्याकृतमासीत् तच सदिति व्याकृते अग्रकालासत्वमव्याकृते अग्रकालसत्त्वं सदात्मकत्वं च विधीयते। तत्राप्रकाले सत्त्वं स्थितिमात्रामिति अ्रमः असच्छब्देन च तुच्छोक्रया आसीदिति विरुद्धमिति अ्रमश्र स्यात् अतोऽबाध्यस्वरूपसदातमकत्वं पृथग्विधेयम्। तत्सदासीदित्यय्यकालीनाबाध्यक्वरूपसत्तात्पर्यम्राहकमात्रं वा प्राप्तार्थत्वात्। तथाच तदेकवाक्यतया असदेवेत्यादिश्रुतावपि अठ्याकृतपदोपसंहारादव्याकृते अग्रकालीनसत्ता अद्वितीयश्रुतावधिकोक्तावपि अन्याकृतब्याकृतयोरग्रकालसत्त्वादभावविधायकत्वाविशोषाद सदेवेत्येवकारेणोक्ता भावस्य व्याकृते निषेद्यू शक्यत्वात् अव्याकृते उकसत्ताभावबोषनमात्रस्वीकारात् सत्वेनासद्धीर्दूरापास्ता। यदि च सत एव विशेष्यत्वं, तथाऽपि उक्तश्रुत्या 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किश्वन मिषत्' इति व्याक्टतार्थकमिषत्पदयुक्तश्रुत्या च एकबाक्यत्वात् सदन्यत् ठ्याकृतं नासीदित्येवकारेण बोधेप्युक्तव्याकृतमासी-

दिलेयकारेण न बोधो बाधात् किन्ठु सदर्य नासीदिति। न च ताबता नः क्षतिः। यदि चात्मा वा इदमिल्यादिवाक्यस्य तदाष्योक्ररीत्या असण्डसत्वरूपमात्रपतिपादकत्वं पदान्तरसामानाधिकरण्यं च बाषायामगादिकं च न विकक्षित, तथाच तदेकवाक्यतया संदेवेत्योदेरपि तथात्वं तथाव्यसदेवेत्यादे रुक्त. एवार्थः। यदि च तुच्छस्य पदानभिछेयत्वादसतो वाक्यार्थानिवेशेडवि नन्युक्तवाक्यस्य तदयुक्तवाक्यार्थषीविरोधित्वमानुमाविकमिति सार्थकत्वात् प्रामाण्यमिति छान्दोग्यभाष्यरीतिराश्रीयते तथाप्यसतस्सत्वेन धीर्दूरापास्तैव । ननु बौद्दै: शइाविषाणादेरर्थक्यियाकारित्वं नोच्यते कार्याग्यागावस्य तूच्यते अन्यथा 'तस्मादसतः सजायते' इल्यन्र ‘कथमसतस्सजायेत' इल्याष्केपस्य ‘नासतो दृष्त्वात्’ इत्यायसक्कारणत्वनिरासकसूत्रणां चानुपपत्तिः। न चाबाध्यस्वरूपसत्वेन प्रतीयमानत्वस्यैव मिध्यात्वशरीरे निवेशावर्ध्रक्रियाकारित्वस्यासत्यक्जीकरेऽपि न क्षतिरिति वाच्यम् ; अर्थक्रियाकारिण एवावाध्यस्वरूपत्वनियमस्य माध्यमिकान्यौौद्धैरसीकारादिति चेन्न। उक्तश्रुतिसन्द्मों हि इलं ठ्याकियते -यतो 5 वा|कृतनुक्तसत्वाभाववत् सदये नासीदिति वा तस्मादसतः सज्ञायते सतस्सन्न जायते अमे इलन्यनुत्ञात् पश्वात् सतः कारणत्वेऽपि न क्षतिः, कुतस्तु खल्ड सोम्यैंव स्यात् उक्तसत्व्वाभावः किं प्रयोज्यः ठ्याक्हताभावस्याप्रे नाइकसाममीप्रयुक्तत्वेऽपि सत्त्वाभावस्य न तदिति भावः। कार्यमात्रे सदन्व्वा|क्कथं न कारणं सदिल्याशयेनाह-कथमसतस्सज्जायेतेति। सतस्सन्न जायत इति नेत्यर्यः। अथवा अमे सदुलतौौ कारणाज़ीकारे असदेव ${ }^{1}$ कारणं स्यादित्यापत्त्यभिषायकं तस्मादित्यादि । कुतस्त्वित्यादि तूक्तार्थम्। कारणं विनैवापे कार्यास्रीकारे समानेडपि पश्षात् कार्ये कारणात्रीकारतदभावाम्यां ‘ तैद्दैक आहुः' इति श्रुट्युक्तवादस्वभाववादयोर्भेदः। अतः

पश्ष्रपाद्यादौ तयोः पृथगुपन्यस्य दूषणेडपि न क्षतिः। उक्तसूत्रं तु स्थिरस्य कारणत्वानक्नीकारे असदेव कारणं स्यादित्यापाय दूषण परम्। अतएव तस्तूर्तस्य स्थिर ${ }^{1}$ मनुयायिकारणमनम्युपगच्छतां वैनाशिकानामभावाद्धावोल्पत्तिरिलापयेत । दर्शयन्ति चाभावाद़ावोत्पात्तिं 'नानुपमृद्य पादुर्भावात् ' इति भाष्ये। अस्थिरात्कार्यमिच्छन्तोऽर्थादभावात् भावमाहुरुक्तमेतत् इत्यादि भामती। बौौद्दैरमावस्सार्थक्रियाकारित्वानभ्युपगमात् कथमभावाद्धावो्वत्तिस्तत्सिद्धान्तत्वेनानूह्य निरस्यते । तत्राह—अस्थिरादिति । आपाद्यानुवादोड्यमिति बदिष्यन् क्षणिकस्य कारणत्वासम्भवमाह-उत्ममेतदित्यादिनेति। तत्र कल्प-तरःः-यतु अभावात् ${ }^{2}$ पुनर्नाचेतनत्वादे़़ कार्योपचत्तेरनुपपत्तिः अपितु निरुपाख्यत्व्वादिति ; पश्चपादिकावाक्येन च निरुपाख्योपादानता जगतः सदन्वयादिति विवरणम्। तत्त्वदीवने निरुपाल्य्यकारणवादिनें प्रति निरुपाख्यत्वादिति हेत्वसम्भवादाहेल्यवतारितं, तदपि यदि निरुपाख्यं कारणं चदेत्तदा उत्रहेत्वसम्भव इत्यभिपायकम् । अतएव शून्यमित्यपर इति भाष्ये सुषुपे विज्ञानलेखेस्याप्यभावात् अकस्मादेवाहामिति धीसमुदायस्योत्याने दर्शनाद कारणस्य कादाचिक्कस्य परमार्थवस्त्त्वाभावात् असदवभास एवाहंकार इति टीका, विषयावभासाभावात् निरालम्बनज्ञानयोगादुत्यितेन स्मर्यमाण ${ }^{3}$ विज्ञानत्वाच्च सुषुष्तौ विज्ञानाभावः। किंच सविकल्पकस्य स्वविषयविपरीतनिर्विकल्पकारम्बनत्ववदुत्शानकात्रीनसस्प्र्ययोपि स्वविषयविपरीतरून्यालम्बनः । तदेतदाह- सुषुप्त हाति। अकस्मादिति उत्थानपत्ययस्य पूर्व ${ }^{4}$ प्रत्ययशून्यतया कारणशून्यतेति भाव इति तत्र विवरणम्। आहम्बनत्वमुतरत्वं, अतएव जन्मादिसूत्रे सर्वकार्यमभावपुरस्सरमनुपलम्यमानपूर्वावस्थ्व्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा परकीिात्मेति। विवरणे अभाव-

$$
{ }^{1} \text { आस्थिर. }{ }^{2} \text { भावात्. - } 3 \text { अस्मर्र्माण. }{ }^{4} \text { सर्व. }
$$

पूर्कक्वमेवानु|मितं न त्वभावजन्यत्वामिति। यदिच केनचित् असत्सत्वेन प्रतयित तदा सत्तादांस्यसत्व्वान्यतरवत्त्वपरोक्षत्वं वा सत्त्वेन प्तीयमानत्वशब्दार्थ: । प्रतीयमानेत्यस्य प्राप्यमानार्थकत्वात् अपरोक्षत्वस्यापि सत्वरुपत्वादुत्तार्थार्यवसानात्। अस्ति च सत्तादात्म्यं स्वभिके तच्च्वं च तत्रातीन्द्रियमपि ईंध्रापरोक्षमेव। न चासत्तथा कस्थापि सम्मतम्। तस्मात् शुक्तिरजतादेः ताहचस्याव्यसादिति व्यवहारो न परस्य युक्तः सत्त्वासत्त्वयो: ' परसपरात्यन्ताभावरूप्त्वोक्तिरपि परस्य न युक्ता, सर्वदेशकाओीयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपासत्त्वस्य हि भावत्वेन असत्त्वात्यन्ताभावः ${ }^{1}$ सत्त्वं बाच्यम्। तथाच त्वन्मते अत्यन्ताभावस्य असन्मात्र्रतियोगिकत्वस्वीकरोणासस्त्वस्य अल्यन्तासत्त्वापत्तिः। न च तार्किकादिमते तयेर्मिथो विरहवोक्तिरिति वाच्यं, स्वमते मिथो विरहत्वेन व्याघातोक्तयसझतेः । वक्ष्यति व्यासतीर्थ:-मया त्रिकालसर्वेदेशीयनिषेषापतियोगित्वप्रतियोगित्वे सत्वासत्वे इति च्वीकारादित्यादि । एवं मि४्यात्वरक्षणे सद्धेदनिवेशोऽप्युक्तैव रीतिः। यतु सत्व्वासत्त्वयोरमावसाघनेऽवि घ्वघव् जगत्सदूपं स्यात् सदूपत्वेन प्रमितत्वाविशेषात् अनेकसद्रृपक्पनापतिरुप: तकोडपि नोक्तममितत्वापवादकः। अन्यथा प्रातीतिकोपि सत्तासम्नन्बो जगति न स्यात्. सत्तास्वरूपस्यैव लाघवेनानकीकारसम्भवादिति जगच्चून्यं स्यादिति। सदस्देशदादिनिवेशे तु व्याघातसाध्यैैकल्यादिति तन्गुल्यमस्तीव्युक्तम । अद्मणो बाधाभावेन सद्रूपत्वसिद्धावपि जगतो बाधे सन्देहेन विप्रतिपत्त्यर्धीनेन तदसिद्ध:। अतएव तत्र सताापीः न प्रमा संसर्गखण्डनयुक्तिभि:, संसृष्टर्पमात्रस्य अप्रमात्वनिश्र्ययात्। तर्हिं उक्षणोपि सत्तासंसर्गधीरम्रमेति चेदेदेवेव। तथापि अ्रह्सस्वरूपस्य अबाध्यत्वोपलक्षितत्वमविवादम्। न च तत्रापि बाधावतारं, बाधसाक्षित्वेन व्याधातात्।

## हितीयमिथ्यात्वलक्षणम्

## प्रतिपषोपाघौ न्रैकालिकनिपेषप्रतियोगित्वं वा मिथ्या-

ब्याघातसाध्यैैकल्यादिकं तु परस्परविरहत्वानक्रीकारादेव परिह्ततम्। ततदूद्धयभाव एव सत्त्वाभाव: तद्धेद एव सद्देद इत्युकरीत्या एकैव तादृशी उक्ति: असौ शलमीकृता ॥
‘नेह नानास्ति' इति श्रुत्यर्थे विवदमानं प्रति तन्निर्णयाय साध्यान्तरमाह—प्रतिपन्नेत्यादि । प्रतिपन्नोपाधिः स्वप्रकारकधीविशेष्योपाधिः। नन्वविद्योपहितचिद्दूपां धियमादाय अविद्याश्रये शुद्धचिति नाविद्याप्रकारकध्धविशोष्यत्वं सम्भवति, यो हि चिचेत्यसम्बन्धः यस्य चिच्चेय्यसम्बन्धस्य अवच्छेदकः स: तं प्रकारतारूपं प्रति विशोव्यता न वाऽविद्याचित्सम्बन्धप्रति स कोऽपि तथा। न चाज्रोऽहमहमज़ इति परस्पराध्यासात् अहד्काराचित्सम्बधोऽज्ञानचित्सम्बन्धावच्छेदक इति वाच्यम्। अज्ञानचित्सम्बन्धावच्छेदेन अहंकाराध्यासेऽपि अहंकारचित्सम्बन्धावच्छेदेन अज्ञानसम्बन्धाध्यासासम्भवादधिष्ठानस्याधारतावच्छेदकस्य चैव सम्बन्धाध्यासो हि आरोप्यचित्सम्बन्धावच्छेदेन स्वीक्रियत इत्युक्तम् ${ }^{1}$ । अज्ञानं तु नाघिष्ठानं न वाडSधारतावच्छेदकमिति चेन्न; तथा सति अज्ञानसम्बन्धोप्यहंकारसम्ब न्धावच्छेदको न स्यात्। अज्ञानाधारतावच्छेदकत्वस्यैवारोप्यसम्बन्बावच्छेदकत्वे नियामकत्वात्। न चेष्टापतिरिति वाच्यम्; अज्ञानविशिष्टे अहंकाराध्यासस्य पश्चपाद्यादौ सिद्धान्तबिन्द्रौ चोक्तत्वात्। अथ प्रातीतिकारोप्यसम्बन्षावच्छेदकत्वं प्रत्येवोकावच्छेदकत्वस्य नियामकत्वाचदभावेऽपि अज्ञानस्य ${ }^{2}$ ब्यावहारिकाहंकारसम्बन्धावच्छेदक-

$$
1 \text { इति युक्तम्. } 2 \text { अश्ञानसम्बन्धस्य. }
$$

तमुपपयते। अतएव कपालादिसम्बन्धावच्छेदेन घटादिसम्बन्बेपि चित्युपययते। स्वेतरकारणकूटाविशीष्टं यत्परिणाम्युपादानं तस्वाधिकरणक्षणन्यवहितोतररक्षणावच्छेदेन स्वावच्छेदेन च चिस्सम्बन्बस्वपरिणामकं भवतीति व्याप्तेः। न च तत्र मानाभावः। मूले संयोग इतिवत् कपाले घटं साक्षात्करोमीति विशेष्यतारूप एकसम्बन्षावच्छिन्नस्य प्रकारतारूपापरसम्बन्धस्यानुभवादिति बूषे, तर्हि उत्कोपादानगुक्तावच्छेदेन चित्सम्बद्धो य: स्वपरिणामस्तदवच्छेदेन चिस्सम्बद्धस्वतादाल्यकं भवताति व्यासेः। अन्यथा घटवच्छेदेन कपालसितादात्योत्पत्यनुपपत्ते: घटं कपालं साक्षात्करोमीति प्रत्ययस्योकतादााम्यविषयकस्यापलापापतेः। अहंकरावच्छेदेन चिस्सम्बन्षमज्ञानतादाल्यमपि स्वीक्रियताम्। प्रतियोगितासम्बन्घेन तादाल्यं प्रत्यज्ञानाश्रयत्वतदवच्छेककत्वयोरिव परिणामान्यवहितपूर्ववृत्तिपरिणामित्वस्यापि भयोजकतया उत्पयमानस्य कपालादितादात्य्यस्य घटाघवचछछेदेनेव अज्ञानतादाल्यस्य अहंकारादिकार्यमात्राबच्छेदक ${ }^{1}$ चिस्सम्बन्धसम्भवात्। न चैवमेकचित्यहंकाराज्ञानयोः सम्बन्धादहमज़ इति धी:, न ल्वहंकारविशित्टे अज्ञानसम्बन्धात्। अन्यथा अहमनुभवामीति धीरहक्बारविशिटे अनुभूतिसम्बन्धादित्यधि स्यादिति विवरणोक्तिर्विरद्धेति बाच्यम्। तस्यानवच्छिन्नमनाद्यपि तादास्म्यमश्ञानस्य चित्यास्ति भावाकारत्वेन ${ }^{2}$ अज्ञानस्य तमआदिव़द़ाश्रितत्वनियमात्। अहंकारादवच्छिन्नचिदाश्रितेन तेनाहंकारादिजननासम्भवात्। मुखमात्राश्रितस्य दर्पणादोर्विम्वप्रतिविम्बीमूतमुखभेदकत्ववत् चिन्मात्राश्रितस्याज्ञानस्य बिम्बप्रतिविम्बीभूताचिदेदेकत्वौचिल्यादिल्यत्तैव तात्वयेंण कार्यमात्रवच्छिन्नस्य कार्यस्याज्ञानतादात्य्यस्य निरासे ताल्पर्याभावात्। यदि चाज्ञानान्यस्य परिणामिन एव परिणामावच्छेदेन

त्वम् । ननु प्रतिपन्मोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य ताक्विकत्वे अद्दैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनं, व्यावहारिकत्वेपि तस्य बाध्यत्वेन तात्विकसत्वाविरोधितया अर्थान्तरम्। अद्दैतश्रुतेरतत्वावेदकत्वं च तत्र्रयोगिनः प्रातिभासिकस्य प्रपश्चस्य पारमार्थिकत्व च स्यादिति चेन्म; ग्रपश्वनिषेधाधिकरणीभूतब्रक्षाभिकत्वाबिषेधस्य तात्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्। न च तात्विकाभावप्रतियोगिनः प्रपश्वस्य तात्विकत्वापत्ति: ; ता्चिक्राभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात्। अतास्विक एव वा निषेधोऽयम् । अतात्विकत्वेऽपि न भातिभासिकः ; किन्तु व्यावहास्किः; न च तर्हि निषेधस्य बाध्य-

तादास्म्यं जायत इति यथाश्रुतविवरणोक्यनुसारेण स्वीक्रियते, तदा प्रतिपन्नोपाधीत्यस्य ₹वप्रकारकवृत्तिविशोषोपाधीत्यर्थः। वृत्तेश्न विशोव्यताप्रकारके यद्धपि नोक्ररूपे अहं मुखीत्यादिज्ञानस्थले वृत्त्यभावात् अमे विरोष्यताद्यभावस्य उक्तत्वेन च चितस्तःकल्पनावरयकत्वेन तव ${ }^{1}$ तदुभयवद्ज्ञानानुभवोपपत्त्या वृत्तेस्तत्कल्पने मानाभावाव् । तथाव्यनुमित्यादिवृतेतेरेकानुयोगिकापरप्रतियोगिकसंसर्गविषय कत्वेनैव परामर्शादिकार्यत्वेन तदावइयकत्वात् स्वाकारसंसर्गानुयोगित्वप्रतियोगित्वरूपे। तथाच वृत्तेराकारारू्यगैणणविषयताश्रयस्य अविधातादात्य्यस्य शुद्धचित्यनुयोगित्वसत्त्वात् - तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य च अविद्यायां सत्त्वात् तेन सम्बन्धेन तस्याः मिथ्यात्वसिद्धिः। वस्तुतः ₹वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावेत्यादिलक्षणे प्रतिपक्नेत्यादे: तात्पर्यस्य वक्ष्यमाणत्वान्न कोपि दोषः। त्रैकालिक-निषेधेति-अत्यन्ताभावेत्यर्थ: 1 नांद्वैतहानिकरत्वमिति—निषे-

[^5]
# ल्वेन ताच्विकसत्वाविरोधिध्वादर्थान्तरमिति बाच्यम् ; स्वागाथैस्य रजतादेः स्वापनिषेघेन बाधदर्शनात्। निषेघस्प बाध्यत्वं 

धत्वस्य काल्पितस्याज्ञानेऽपि सद्रुपाधिष्ठानसामान्यज्ञानसम्भवात् नानुपपत्तिरिति भावः । स्वामार्थस्य रजतादे: स्वामनिपेधेन बाधेति। स्वाम्ररजतादे: स्वामाभावविषयकबाधेत्यर्थः। न च मनोवच्छिन्नं जीवरूपं ब्रह्मरूपं वा चैतन्यं अविद्यावच्छिन्नं ब्रछ्स वा स्वामाःग्नन्नंप्रेश्ननिनि तद्वीरेव स्वाम्मबाघः; न तु स्वापाभावधीः अधिष्ठानाविषयकत्वात्, स्वापस्य प्रातिभासिकत्वेन अज्ञानविषयतानवचछेदकत्वाचेति वाच्यम्। बाधकत्वस्य स्वामाभावबुद्धावप्यानुभविकत्वेन मनोवच्छिन्न इव स्वापाभावावच्छिन्नोपि चैतन्ये अज्ञान ${ }^{1}$ विशोषांीकारसम्भवात्। न च प्रातिभासिकत्वविरोषः, तत्तदज्ञानान्याज्ञानभावस्य तत्र निवेशात्, अन्यथा मनसोऽपि तद्विरोधापत्तेः। तथाचेदें रजताभाववदित्यादिस्वापबुद्धचुत्रकालावच्छेदेन रजताभावादौ साक्षिण्युत्पन्ने प्रकाशप्रसक्तया तदवच्छेदेनाज्ञानविषयत्वसम्भवात्। तदानीमुत्पन्नस्येदें रजतमित्यादिस्वम्मस्य तदुत्तरोत्पन्नया इदं रजनाभाववदिति धिया बाष:; अथवा स्वामरजताद्यभावोत्पत्ते: पूर्व प्रकाशाप्रसक्तावपि पश्षात्तद्धीब्राधकष्वानुभवादेव तदवच्छेदेनाज्ञानविषयत्वम्। भाव्यवच्छेदेन ज्ञानविषयत्ववत्। एवंच स्वाम्मेषु प्रातिभासिकत्वं यथाश्रुतमेव। यद्वा ब्बधोडत्र न साविलासाज्ञाननिवर्तकधी:, किन्तु मिथ्यात्वनिश्थयः । निषेध्यस्य बाध्यत्वं-मिथ्यानिषेधप्रतियोगेत्वम् । पारमार्थिक-सत्ताविरोधित्वे-निषेधसत्ताधिकसत्ताकत्वे। न तन्त्रम्-न व्याप्यम्। प्रातिभासिकर्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमप्रतिभासिकत्व स्य, .व्यावहारिकभ्वसमानाषिकरणाल्यन्तामावप्रतियोगित्वमव्यावहारिक-

पारमार्थिकसत्व्वाविरोधित्वे न तन्त्रम्। किन्तु निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम्। प्रक्रते च तुल्यसत्ताकत्वात् कथं न विरोधित्वम्। न च निषेघस्य निषेधे प्रतियोगिसत्व्वापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसा्वमायाति। यत्र निषे. धस्य निषेधवुद्धूया प्रतियोगिसस्वं व्यवस्थाप्यते न निषेधमाँ्र निषिं्यते यथा रजते नेदं रजतमिति ज्ञानानन्तरं इदं नारजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते यत्र प्रतियोगिनिषेधयोर्भभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्वम्। यथा धंससमये प्रागभावप्रतियेगिनोर्रभयोः निषेधः। एवंच प्रकृतेडपि निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपश्नस्य निषेधस्य च बाधनाब्न निषेधस्य त्वस्य उशाप्यं नेत्यर्थः। निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम् । स्वन्यूनसत्रकनिषेषपतियोगित्वं तन्त्रमिल्यनुषज्यते । अपातिभासिकनिष्ठ प्रातिभासिकस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमपातिभासिकत्वस्य, पारमार्थिकनिष्ठं स्वसमानाधिकरणव्यावहारिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पारमार्थिकत्वस्य ठ्याप्यमिति निक्कर्ष: । कथं न विरोघित्वमिति । ब्यावहारिकोक्ताभावपतियोगित्वस्य पारमार्थिकत्वाव्याव्पल्वं कथं नेत्यर्थः। रजतं व्यवस्थाप्यते-रजतत्वं व्यवस्थाप्यते। रजतत्वस्यात्यन्ताभावरूपो रजतमेदो रजतत्वन्यूनसत्राक इति न रजतत्वस्य मिध्यात्वनिश्रयः। न च. समसत्वाकयोः भावाभावयोः अविरोषे बाध्यवाधकत्वानुपपात्तिरिति बाच्यम्, अभावश्राहकश्शुत्यादिपाबल्येन वक्ष्यमाणेन तदुपपतेत। न च श्रुत्यनुमिल्योः परोक्ष्रफ्रमं प्युच्छेक कत्वादात्मसाक्षात्कारपूर्व तदुच्छेदस्त्यादिति बाच्यम्, तदुपादानमूलाज्ञानानिवृत्तेः । न चैवं स्वान्यूससत्ताकस्वसमानषिकरणात्यम्ताभावप्रतियोग्तेन निधितत्वस्य बाध्यत्वरूपत्वे स्वामभावाभावयोः दूयोरपि स्वसे बाषितत्वापात्तिरति बाच्यम् ; उत-

बाध्यत्वेपि प्रपश्नस्य तात्तिकत्वम्। उभयोरपि निषेध्यतावच्छेदकस्य द्धयत्वाद्स्तुल्यत्वात्। न चातात्विकनिषेधबोधकत्वे
रूपस्य द्वयोः सत्त्वे इष्टापत्तेः। निषेध्यतावच्छेद्कस्य हृइयत्वादेरिति। 'नेह नानास्ति' इति श्रुतौ दृइयत्वं प्रतियेगितावच्छेदकम्। अभावादसाधारणस्य नानात्वस्य वृत्तिविशेबविषयत्वरूपत्वात्। तच्च न पर्याप्त्यवच्छेदकं, येन युगपत्सर्वृ्टरयाभावसत्त्वात् ${ }^{1}$ परेषामिष्टं, परन्तु स्वरूपसम्बन्धेन । न चैकाश्रयेऽपि नाना नास्तीति प्रयोगात् तत्र पर्याप्त्यैव तत्तथेति वाच्यम्, वायौ नानारूपं नास्तीत्यादौ स्वरूपसम्बन्धेनापि तथा वकुं शक्यत्वात्। अन्यथा किंचनेत्यस्य वैयर्थ्यात् । केनाति सम्बन्धेन नानात्ववन्नास्तीत्यस्य ततो लाभात्। घटादेनर्नाप्रत्यक्षेण सर्वद्टइयानां युगपदसत्त्वमविवादमिति नेहेत्यादिवाक्यस्यैव वैयर्थ्यापाताच। यदिच 'नेह नानास्ति किंचन मृत्योस्स मृत्युमामोति य इह नानेव पइयति' इत्यस्य 'नात्र काचन भिदाऽस्ति अन्र भिदाामिव मन्यमानः शातधा सहस्रधा मिन्नः मृत्योमृत्युमामेतिं इत्यादिश्रुत्त्यैकार्थतया नानेत्यात्ममिम्नर्थक, किंचिनेति च मूढधीविषयार्थकम् । तत्तयोः एकमेवावच्छेदकं अन्यप्रतियोग्यंश़े विशेषणमात्रम् ! तदुक्तिस्तु भिन्नस्याहमनि प्रतीयमानस्य तादात्म्यस्यासम्भवात्, विषयम्य विषयिणि स्वम्मवत्कल्पितत्वाच्च सुतरामभाव इति सूचनाय। तवापि ${ }^{2}$ तदेव दृइयत्वम्। आदिना वियत्त्वादिवियदभावत्वादिपरिमहःः। सम्भवति च भिदानानाशब्दयोः विलक्षणार्थकतया मिथो वैलक्षण्यर्यूपविषयत्वादे: नेह नानेत्यादौ अवच्छेदकतया धीः। प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकस्याप्यादिमा স्रणादनुमानेऽपि निषेध्यतावच्छेदकं तुल्यं लम्यते। अनुमाने निषेघ्यतावच्छेदकं निंषेघप्रतियोगित्वांशो विशेष्यतावच्छेद-

श्रुतेरश्रामाण्यापत्तिः। घह्नभिम्नं प्रपश्ननिषेधादिकं अतात्विकमित्यतात्विकत्वेन बोधयन्त्या: श्रुतेरप्रामाण्यासम्भवात्। नन्वेकम् । तेन सामन्यानुमाने पक्षतावच्छेदकम्य प्रतियोगितावच्छेदकतया भानाभावेऽपि न क्षतिः। वस्तुतो निषेधप्रतियोगितावच्छेदकमेवार्थः। सामान्यानुमानेऽपि ग्वावच्छिन्ननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वादे: साध्यत्वत् तुल्यत्वात् भासमानत्वात्। यत्तु स्वामार्थाभावम्य जाग्रत्यबाधानुभवात् न तक्य बाध्यत्वम्। स्वमहृ्त्तेनैव बाध्यत्वे आत्मनोऽपि बाधापत्तिः ${ }^{1}$ । एवंच निषेधस्य बाध्यत्वं, प्रतियोगिसत्त्वाविसेधत्वे तन्रमेव। अथ च निषेधनिषेधोपि प्रपश्चसत्त्वस्यापादकः, तद्विना अनुपपन्नत्वात् प्रतियोगिनो निषेधस्य वा सत्त्वावइयकत्वात्। अतएव रजतभेदासत्त्वे रजतसत्त्वं त्वयैवोदाहृतम्। प्रागभावप्रतियोगिनोस्तु निषेधः प्रतियोगिसत्त्वं विनाऽप्युपपद्यते, स्वस्यैन सत्त्वादिति। तत्तुच्छम्। जाग्रत्यबाध्यत्वेनानुमूयमानो हि न्वामार्थस्याभावो क्यावहारिक इन्द्रियादिप्रमाणग्राह्यः। तदन्यसतु म्वाम्मो भावः स्वास्सवृत्तिविशेषाभिव्यक्तसाक्षिभाईयोऽपि न प्रमाणयाह्यः। किंच म्वमे रजतादौ रजतभेदादिकंमनुभूयते। तत्र च ठयावहारिकत्वं न शाङ्कास्पद्म । रजताद्यात्मकनिषेघेन रजताभावादिकं बाधितमनुभूयते। स च निषेधो न ठ्यावहारिकः, तदुचितदेशाकालकार्यग्राहकाद्यभावात्। स्वम्नदृष्टत्वेनात्मनो न बाध्यत्वापत्तिः दृष्ट्त्वाभावात्; 'अदृष्टे द्रष्टा' इति श्रुतेः। मूलाविद्यादिकं तु बाध्यमेव, स्वप्समात्रादृष्टत्वात्। न जापद्धीवध्यमिति निषेध्यन्यूनसत्ताकत्वेनैव निषेषः प्रतियोगिसत्त्वविवरोधी, न तु बाध्यध्वमात्रेण प्रतियोगिनो निषेधस्य वा सत्वं नावइयकम्। स्वामार्थतन्निषेधयोरसत्त्वात् रजतस्य सत्त्वं तु तदन्यूनसत्ताकाभावाश्जानपर्यन्तमिति। अतात्त्विकेति।

तबिकिषप्रतियोगित्वं किं स्वरूपेण, उतासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन, पारमार्थिकत्वाकारेण वा, नाद्यः, भ्रुल्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्यार्थक्कियासमर्थस्य अविद्योपादनकस्य तच्चज्ञाननाइयस्य च वियदादेः रूप्यादेश्य धीकालविद्यमानेन असक्विलक्षणस्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगात् । नापि क्वितीयः, अवध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूपमिथ्यत्व्वनिरूप्यत्वेनान्योन्याश्रयात्। पारमार्थिकत्वस्यापि स्वरूपेण निपेधे प्रथमपक्षोक्तदोषापत्ति: अतस्तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे अनवस्था स्यादिति चैनैन्वम्; स्वरूपैगैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपश्ने श्युक्तिरूप्ये च अड़ीकारात्। तथाहि ग्रुत्तौ रजतभ्रमानन्तरं उन्कमिभ्येत्यूर्थः। तथाच ‘यजेत’ इल्यादिश्रुतिरिवोक्तश्रुतेरापि क्यावह्वारिकं प्रामाण्यमक्षतम्। तात्विकं तु तन्राम्येयेति भावः। किं स्वरूपेगेति- स्वं मिष्यात्वधर्मि तान्निष्टं विषय्व्वादूरूपं स्वरूपम्। पारमार्थिकत्वाकारेणेति। पारमार्थिकत्वं-अबाध्यत्वव्यापकविषयताकधीः। तदाकार:--तद्वयक्तित्वविशिष्टं तम्वरूपम्। तेनोक्षधीत्वस्य तद्वघयक्तिवापेपेक्षया गुरुलेडपपि न क्षतिः, न वाऽSकारपदैवैयर्थ्यम् । अबाध्यत्वरूपेति । बाध्यत्वविरोघिरूपेप्यर्थः । बाध्यत्वेति। प्रपश्चवतेत्यादिः। निरूप्यत्वेनेति। उक्रविरोधस्य निरूप्यव्वात् तद्विशीष्टे तदुक्तिः। न च उक्त ' पारमार्थिकत्वस्य तद्यक्तित्वेन अवच्छेदकत्वज्ञानं मिध्यात्वविरोध्व्वज्ञानं विनापिडति नान्योन्याश्रयः इति वाच्यम् ; तद्विना वियत्त्वादिंस्वरूपवद्वच्छेदक्वनानिश्रयात्। तद्द्धीव्यक्ते : पपश्चविषयकत्वशास्क्रायाः प्रपश्चाविषयकत्वरूपविरोधनिर्णां विना निवर्तयितुमशक्यत्वात् । न च ताबताऽभी तद्धिय: प्रपस्चाविषयकत्वनिरुपणमेव अपेक्षतां, न नु प्रप्चमिध्यात्वनिरूपणामिति

वाच्चम्। मिथ्यात्वेन अनिश्चितश्रप्षस्य तद्दीविषयत्वशाष्हासम्भवात्, अबाध्यत्वव्यापकत्वानुरोषात्। न च ज्रह्नमात्रे श्रुते: तात्पर्यादेव श्रुतिजन्यतद्दीः तथात्वानेश्रय इति वाच्यं, तात्पर्ये संशयानं प्रलेव पक्कृतानुमानसार्थक्यात् । नापि प्रतिवन्धकवशा तद्धी: प्रपश्षाविषयणीति निर्णेयमिति वाच्यम्, मिध्याविषयकते अविद्यानिवर्तकत्वानुपपत्त्यैव प्रतिबन्धकर्वस्य निश्रेयव्वात्। नापि 'तमेवं विदित्वा' इत्यादिश्रुतेः तथा, तस्या अपि उक्कानुपपतिमाश्रिल्यैव तथा बोषकत्वात्। अन्यथा तन्मात्रधियः अविद्यानिवर्तकस्य अद्धप्द्वारकत्वापतेः। अविघासमानविषयकत्वं तु गुद्रद्सविषयिण्याः अन्याविषयकव्वे $\stackrel{\text { पुपवघचे }}{ }$ न हि ${ }^{1}$ घटगुाक्ति|विषयिणी धी: न श्युक्तयज्ञाननिवर्तिका, मिभ्यात्वे निश्चिते तु मिध्यार्थे तत्वावेदकश्रुतितात्पर्याभावात्। कदाचित्साममीं-
 श्रुतिजन्येति भवति निश्रयः। ततश्य तस्याः अवच्छेदकत्व्रीसंभंभव इति भबत्येगन्योन्याश्रयः। यद्यपि सरूपूस्यावच्छेदकत्वपक्षे स्वावचछेदकावाच्छिन्नवन्निष्टत्यन्ताभावप्रतियोगित्वादाव ${ }^{2}$ पारमार्थिकत्वाबच्छेदकत्वपक्षेऽपि स्वसमनियतधर्मावच्छिन्नवन्निष्ट्यादि बक्तुं शक्यम् । स्वपतियोगितान्यापकमात्रस्य व्याव्यमात्रस्य वा उत्तौं पमेयत्वाघवच्छिन्नवन्निह्ठघटाद्यभावस्य तद्बटवन्निष्षस्य एतद्धटवेनेन घटाभावस्य वा प्रतियोगित्बं घटादो सिद्धमेवेति समनियतेति। एवंच पारमार्धिकत्वनिष्ठावच्छेदकत्वस्प उक्षणे पपवेशो निष्पयोजनों भवति ${ }^{3}$ तथाऽपि घटादौ पटत्वेन घटायमावीयपर्रतयोगितायाः घटपटोभयत्वान्यवच्छिन्नत्रतियागितायाश्य स्वसमनियतान्यतरत्वाघवच्छिन्नवन्निष्टाभावीयायाः घटादौ सिद्बत्वात् ल्राघवाच्च स्वाश्रयसमानाधिकरणात्यन्ताभावीयपारमार्थिकस्बावच्छिन्नपतियोगित्वादिकं वाच्चमिति भवत्यन्योन्याश्रयता। विषयता-

[^6]अधिष्ठानतफ्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति नासीक्म भविष्यतींति स्वरूपेणेव 'नेह नाना' इति श्रुत्या च प्रपश्नस्य स्वरूपेणैव निषेधग्रतीतेः । न च तत्र लौकिकपरमार्थरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगीति वाच्यम्, अमबाधयोंैैयधिकरण्यापत्ते: अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्य। न च तर्दुत्पत्त्याद्यसम्भवः। न ह्यनिषिद्धस्वरूपत्वमुत्पत्त्यादिमत्वे तन्त्रम् । परैरनिषेध्यरूपत्वेन अङ्भीकरतस्य वियदादेरुप्पन्याद्यनङ्भीकारात्। किन्तु वस्तुस्वभावादिकमन्यदेव किश्रित्र्रयोजकं वक्तव्यम्। तस्य मयाงपि कल्पितस्य स्व्वकारात्। न च त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं संबन्धेन पारमार्थिकत्वस्य अवच्छेदकता वाच्या, अन्यथा कालिकादिना पारमार्थिकत्वेन घटत्वाद्यभावमादाय घटत्वादौौ सिद्धसाधनाद्यापत्तेः न चाधिकरणान्तं ठ्यर्थम्। पारमार्थिकत्वेन तद्दटादेः स्वानधिकरणे अभावस्य सिद्धत्वत्, सामान्यरूपेण विशोषाभावानम्युपगमेऽपि उक्ताभावमादाय अर्थान्तरापत्तेः। यत्तु प्रपश्चसत्यत्वमते बाध्यत्वापसिद्धचा अबाध्यत्वव्यापकविषयताकर्षरपि अप्रसिद्धेति बाध्यत्वसिद्धया उक्षधीसिद्धि:, तत्सिद्धौ च तद्वच्छिन्नाभावघटितबाध्यत्वसिद्धिरिति अन्योन्यश्रय इति, तन्न; मिथ्यात्वरूपबाध्यत्वासिद्धावपि अबाध्यं सर्वं वाच्यमिति धियः प्रपश्चसत्यत्वमतेऽपि स्वीकारात् प्रमेयत्वस्यैव-अबाध्यत्वरूपस्य तत्र भानस्वीकारात् । अतएव तम इति धीविझोष्य: भावोऽभावो वेति विवद्नते। अनवस्तेति-अबाध्यं सर्व वाच्यामिति घिय: एकस्या अन्यया भाव: ${ }^{1}$ तस्या अप्यन्यया एवमन्यासामप्यन्याभिः इत्यनवस्था। ननु एकया स्वभिन्नदृरयमात्रस्य स्वस्य चाभावे इति वा, स्वेन स्वभिन्नटहयस्य स्वाविषयकयाइन्यया च स्वस्याभाव इति वा, अबाध्यत्वव्यापकव़िषयताकवृत्त्युभयावृत्तिधर्मनिष्ठानवच्छिन्न-

रूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगीति मतहानिः स्यादिति वाच्यम्। अस्याचार्यवचसः पारमार्थिकलौकिकरजततादात्मेन प्रतीतं प्रातिभासिकमेन रजतं प्रतियोगीत्यर्थः। तच स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेत्यनास्थायां वाशब्दः।
प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकता यम्य ताह्हाभाव इति वा वाच्यं, अतो नानवस्थेति चेन्न; पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधेडनवस्थेति शब्देन तं तं पूर्वप्षक्षमानुद्य दोषान्तराणामुक्तवात् । तथाहि, पारमार्धिकत्वाकरोणेत्यस्य स्वेनेत्यर्थकत्वात् आघपक्षस्यानुवादः। तदा अनवस्थेत्यस्य साध्यसिद्विरूपावस्थाविरोध्यर्थकतया अर्थान्तरमर्थ: । ज्ञान सर्व स्वविषयकमितित ${ }^{1}$ मते विषयतया म्बस्य स्वाविजिष्ट्त्वात् ताद्राधियः तद्वचचक्तिव्वावच्छिन्नाभावस्पैव तन्मते निवेशसम्मवात्। स्वाश्रये स्वस्य स्वेनाभावः स्वाविषयत्वं स्वम्यादायैव वाच्यामित्यर्थान्तरात्, स्वमिन्नेन पारमार्थिकवेवेनेत्यर्थकर्वात् द्वितायदक्षस्योक्तिः । तदा 'अनवस्था' इत्यस्य एकरुपेण साध्यस्थापनामावोऽर्थः । स्वमिनस्य स्वेन सवस्यान्येन अभावे वाच्ये एकावच्छिन्नाभावघटितरूपेण साध्यस्थापनस्यासम्भवात् । उउ्कोभयावृतिविशिष्टेनेत्यर्थकत्वात् तृतीयक्षोक्तिः । तदा अनवस्थेल्यस्य विषयतासंबन्घेन घटत्वादे: भपझ्चनिष्ठतियोगितायामवच्छेदकत्वसंभवात् घटत्वाघ्यपेक्षया तत्तद्धीव्यन्त्रीनां गुख़्वेनानवच्छेदकत्वात्। प्रपश्चसत्यत्वमते बाध्यत्वाप्रसिद्देश्र। उन्काभावाप्रसिद्धधा तद्धटितसाध्यस्थापनामावोऽर्थः। तस्यापीत्यपिशब्दात् तद्याक्किबवविशिष्टेन उत्करीत्या तद्याक्तित्वविशिस्टावच्छिन्नाभावघटितसाध्यस्य अप्रसिद्धघा स्थापनाभावः। तेन स्वस्वमिन्नयोः पक्षयोः ठ्याक्किद्वयावच्छिन्नाभावद्दययाटितसाध्यद्वयकरणे डवि दोष उक्तः। अनास्थायांमिति। विकल्प इल्यर्थः। उक्ररील्या

[^7]तत्तद्धीचियक्तीनां अनवच्छेदकत्वेडपि अबाध्यत्वेपलक्षितम्बरूपेणाभावनिवेशो न दोषः। ऐक्यस्य संवन्धेनावच्छेदकत्वं वाच्यम् । तेन उक्तस्वरूपस्य अध्यासिकतादात्म्येन प्रपश्नस्ब्बधित्वेडाप, न स्वरूपावच्छेदकत्वपक्षोक्तदोषः । ऐक्यस्य सिद्धान्ते सम्बन्धत्वाभावेऽपि न क्षतिः। परैस्तद भ्युपगमात्, तद्रीत्या तान्पत्यु|क्तिसंभवात्। गङातरणादे ${ }^{1}$ रधर्मस्य धर्मविधयेन असम्बन्धस्यापि सम्बन्धाविधया प्रतियोगितायामवच्छेदकत्वसंभवाच। न च पूर्वक्षणाद्यवच्छिन्नोक्तस्वरूपात्मकघटाद्यभावप्रतियोगित्वमादाय घटादौ सिद्धसाधनतावारणाय अनवच्छिन्नावच्छेदकताानिवेरो घटादिरूपस्याखण्ड ${ }^{2}$ 〒वाभावेन तदसंभवात्। अखण्डघटत्वाद्यवाध्यस्वरूपनिष्ठं ऐक्यसम्बन्धावच्छिनं प्रतियोगितावच्छेदकत्वं यस्य़ तादृइाघटाद्यभावप्रतियोगित्वमादायांशतो घटादौ सिद्धसाधनमिति वाच्यं ; पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यासिद्धेरहद्रे्यत्वे तदसंभवात्। सामानाधिकरण्येन तदुद्देइयत्वेऽपि सखण्डस्यापि घटादिस्वरूपस्य अनवच्छिन्नावच्छेदकतावत्त्वे बाधकाभावेन अदोषत्वात्। अबध्यत्रत्वव्यापकाविषयतयाऽभावनिवेशसभवात्। एतेन स्वान्येन तत्तदवाध्यस्वरूपेण अवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावमादाय हहयमात्रे सिद्धसाधनामित्यपास्तम् ; न च निर्विकल्पकविषयता तादृइयेका घ्रह्मणीव घटादावपीति स्वरूपावच्छेदकत्वपक्षीयदोष इति वाच्यं; समवायवत्सिद्धान्ते विषयताया आधारमेदे ऐक्यासंभवात् अबाध्यं सर्वे मेयं इत्यादिसविकल्पकीयमुख्यविशेष्यताइ्यक्तयाऽभावनिवेशाचच । बध्यत्वादिनिंष्ठेन विशेष्यत्वेन अभावस्य प्रतियोगित्वमादाय घटादौौ सिद्धसाधनस्य वारणाय मुख्येति। एवंच न तार्किकादिमते बाध्यत्वाप्रसिद्धि: दोष ःति बोध्यम्। किंच शुक्तिरजतादौ बाध्यत्वस्वीकार एव प्रकृतानुमानावतारः अन्यथा साध्यवैकल्यात्। न चोकविशेष्यताया: निरास़ार्थ लौंकिकपरमार्थरजततादत्म्येनापि प्रतीयत इति प्रति-
प्रपश्चृत्तात्तित्वशान्क्रायां ₹रूूपावच्छेदकल्वपक्षीयदोषात् तन्निरासार्थ पपश्चे मिथ्यात्वरूपवाध्यत्वनिश्रयापेक्षया अन्योन्याश्रय इति वाच्यं; येन हि. रूपेण यघत्र निश्भिते न तेन तम्य तत्राभावधीः। प्रकृते च वियत्त्वाद्यवच्छिन्नवत्त्वेन वियदााघाधक्रणं निश्धितं न तूक्तपारमार्थिकत्वावच्छिन्नव्वेन, वियदादौ पारमार्थिकव्वस्य संदिश्घतया तद्वच्छिन्नवत्तया तत्र संशयस्याप्यौचित्यावर्जितत्वात् संश्रयान ${ }^{1}$ प्रल्येव पकृतानुमानसाफल्यात्। स च अभावः अधिकरणात्मकः चिस्स्वरूप्षेत्पारमार्थिकः नांचेत्तदन्यः। यतु तादात्येन बह्मणो ${ }^{2}$ हइयसंबद्बत्वायघ्घप्यवाध्यम्वरूपं श्रह्न वियत्त्वादितुल्यं ; तथाइपि तेनैवाभावो निवेवय: अन्यम्बरूपावच्छिन्नाभावस्य बाध्यत्वात् ; प्रतियोगिसत्त्वाविरोषित्वायापतिदृषृत्वादिति श्रीमदा श्रमादिभिकुकं तन्मिथ्याप्रतियोगित्वान्मिथ्यात्वे सत्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्सत्यत्वं किं न स्यात् । तस्मात् अभावमिध्यात्वादौ प्रतियोग्यादिनिभ्यात्वादिकमपयोजकमिं्यभिप्रायकम्। अन्यथा मिध्याप्रतियोगिकव्वान्मिध्याव्वम्य दुर्वारत्वात्। इदं तु तत्र चिन्ल्यं- तादाल्यसंबन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वानेवेरो स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन ${ }^{4}$ वा प्रतिपन्नोपाधावभाव इति पक्षयोरुपपादनासंभवः। ऐक्यसंबन्धेन तन्निवेशे उत्करील्या सिद्धसाधंनं, उक्कविशेष्यतानिषावच्छेदकतानिवेंदे तु अभावासत्यस्वाप्रतिक्षेप: व्यधिकरणधर्वावाच्छिन्नाभावानम्युपगमेत्किविरोधश्च। त₹्मात् स्वरूपेगाभाव इति पक्षमेवादाय तैस्तथोक्तम। एकेनैव स्वरूपेणाभावमादाय सर्वत्र मिथ्यात्वं बक्तुं शाक्यते इति तत्र. भावः। पारमार्थिकत्वेनामावपक्षस्योपपादनं तु यथोक्तमेव

[^8]पादयितुं च। तदुक्तं तक्वदीपिकायां-‘'तसाह्लै।किभपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधग्रतियोगीति पूर्वाचार्याणं वाचोयुक्तिरमि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रष्टत्तिदर्शानात् लौकिकपरमार्थरजतत्वेनापरोक्षतया प्रतीतस्य कालन्रयेडपि लौकिकपरमार्थरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामझ्रीक्रूल्य नेतव्या' इति । अयमाशायः-एकविभक्तथन्तपदोपस्थापिते धर्मिंणि प्रतियोगिनि च नझोडन्योन्याभावबोधकत्वनियमस्य ठ्युत्पत्तिबलसिद्धत्वात् घटः पटो न भवतीति वाक्यवदिद्धं रजतं .न भवतीति वाक्यस्य अन्योन्याभावबोधकत्वे स्थिते अभिलाएजन्यप्रतीतितुल्यत्वात् अभिलप्यमानप्रतीतेः नेदं रजतमिति वाक्याभिलच्यप्रतीतेरन्योन्याभावविषयत्वमेव । तथाचेदंशक्द्निर्दिष्टे पुरोवर्तिप्रातीतिकरज़ते रजतशब्द्निर्दिष्टव्यावहारिकरजतान्योन्याभावग्रतीतेरार्थिकं मिथ्यात्वम्। नात्र रजतमिति वाक्याभिलप्या तु प्रतीतिरत्यन्ताभावविषया भिซविभक्तथन्तपदोपस्थापितयोरेव धर्मिं्रतियोगिनोर्नखः संसर्गाभावबोधकत्वनियमात्। सा च पुरोवर्तिग्रतीतरजतस्यैव व्यावहारिकमत्यन्ताभावं विषयीकरोतीति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम् । अतो

प्रातीतिकव्यावहारिकरजतयोस्तादात्मं प्रतीयते इत्यन्र संवादमाह-तदुक्तमिति । निषेषोपयोगिनीं प्रसक्तिमह-परमार्थरजतत्वेन अपरोक्षतयेति। उक्करजततादाम्म्येन अपरोक्षतयेत्यर्थः। उक्रतादाम्यारोपं विना व्यावहारिकमिच्छतः प्रातfतिके प्रवृष्तिर्न स्याविल्याशयेनाहरजतार्थिन इति । व्यावहारिकरजतार्थिन इत्यर्थः । उक्तनिषेघह्य मिथ्यात्वाघटकत्वेऽपि तदूलान्मिथ्यात्वमिति मिथ्यात्वविचारे तढुक्तत्रुप-योगमाह-आर्थिकामिति। स्वसमानाश्रयात्यन्तामावपतियोगिलं बिनां

नापसिद्धान्तो नान्यथाख्यात्यापत्तिः न वा ग्रन्थविरोघः इत्यनवध्रम् । नन्वेवमत्यन्तासख्वापातः। प्रतिपधोपाधौ अैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं घन्यत्रासत्वेन सम्प्रतिपन्नस्य घटादेः सर्वत्र पैकालिकनिषघप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्। अन्यथा तेषां अन्यत्र सत्त्वापातात्। न हि तेषामन्यत्र सत्ता सम्भवतीति त्वदुक्तेश्र। तथाच कथमसद्वैलक्ष्षण्यम् । न हि शरागृक्रादेरितोऽन्यद्सत्व्वम् ।

पारमार्थिकान्यत्वं अनुपपन्नमित्यर्थाहुद्धमित्यर्थः। नान्यथारु्यात्यापत्तिरिति। व्यावहारिकस्य श्रुक्तिगतनिषेषप्रतियोगिल्वे तत्र तस्यैव पसक्तेर्वाच्यतया अन्यथाख्यात्यापत्तिः। यत्तु प्रातीतिकठ्यावहारिकरजतयो: तादात्म्यर्गर्न युक्ता तयोरेकस्य अपराज्ञानाकार्य्व्वात् प्रातीतिकस्य स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकधीविष्येणैव तादाल्यपतीतेश्र। न हि पुरोधर्तितत्वाज्ञानेऽपि ठ्यावहारिकरजतत्वज्ञानात् प्रातिभासिकरजतं निवर्तते, ग्युक्नः पटं हुति तु गुक्रपटयोः एकाज्ञानकार्यव्वाप् एकआध्यासाच । न चैवं घटपटयोरपि तादात्म्यनुद्धचापात्तिः, बुद्धौ सत्यां तस्य निमित्र्तकल्पनात् आरोपे सतींति न्यायात् । ठ्यावहारिकरजसस्य च भ्रमस्यले भानानुपपत्तिः, सन्किकर्षादिविरहात्। तस्माद्वुचवहारिकरजतमेव स्वरुपेण निबिध्यते श्युक्तावित्येव त्वदाचर्युवाचामर्थ इत्यपसिद्दान्तादिकं दुर्वारमिति; ततुच्छम्। यघ्यदःमाकार्य तचतादात्व्यवलेति हि न नियम:; रजताज्ञानाकार्ये स्प्मर्ये रजत्तादात्म्यस्वीकारात्। नापि ययोरेकमपि नापराज्ञानकार्यं तथेश न ताबाल्यमिति नियमः ; इदंत्वद्रव्यह्नद्विधर्माणां रजतस च मिषोऽज्ञानाकार्यत्वेडपि तादात्म्यारोपात्, जपाकुसुमलौहित्यस्य समटिकस्य च मिथोज्ञानाकार्यत्वेऽपि तादास्म्याध्यासात्। तत्र पूर्वसिद्धर्मिणो हि घर्मः संतृष्टतैयैवाध्यस्यते। संसर्गय्ब जातिगु-

न च निरुपाख्यत्वमेव तदसत्वम्, निरुपाख्यत्वपदेनैव क्याख्यायमानत्वात्। नाप्यप्रतीयमानत्वमसच्वम्, असतोड्रतीतौ असंक्षैलक्षण्यज्ञानस्पासत्र्रतीतिनिरासस्य असत्पद्र्रयोगस्य -च अयोगात्। न चापरोक्षतया अप्रतीयमानत्वं तत्, नित्यातीन्द्रियेष्नतिव्यापे:, इति चेन्मैवं ; सर्वश्र अैकालिकनिषेघप्रतिणादीनाम् तादाल्म्यमेव सुखादेस्त्वाधारता, अहं घुलीत्यादिमतीते: लौहित्यस्येन्द्रियसन्नि कृष्वेने प्रत्यक्षतासंभवात्तदानममुत्वचित्विकारस्य निष्पयोजनव्वाच । आत्मनः कर्तृव्वादिकमध्यस्तं ₹फटिकमणेरिव लोहितिमा इति निरासे तात्पर्य न तु लौहित्यस्य स्वरूपाध्यासे दूरस्थ्थवृक्षयोराच्छादितमिथस्संयुक्तपन्तयोः वंशाखड्गयोश्व ताहइयो: तादाल्याध्यासाच्च। न चतत्त्तादाल्यं भावरूपं नाध्यव्यते किन्तु भेवाभाव इति वाच्यं; पकृतेडपि तस्सम्भवात् इति अहस्ञारटीकावाक्यस्य व्याए्यातत्वात्, स्वमादावपि भिन्न्वेनाज्ञायमानयास्तोदास्म्यातुभवाच। तत्रैकाज्ञानकार्यत्वं तादात्यमित्युक्तौ भेदर्षकालेडपि तादास्यषीस्स्यात् तादाल्यजातीययोस्तजातीयतादात्यसंस्कारा' 1 लिक्ती तु प्कते न दोषः । अतएव प्रातीित्तिकस्य स्वोपादानाजानेल्याबयुक्तं प्रातीतिकयोः पश्थादूरस्यत्वादिदोषयोगाव् मिथस्तादात्म्यानुभवात् प्रातीतिकरजतादौ तदनघिप्ठानस्य सान्निहितसदशव्यावहारिकस्य पश्षातनदोषाप्तादाल़्यानुभवाच बुद्धौ सत्यामिल्याद्यव्ययुक्तं, आरोपे सतीत्यादिन्यायाद्धि यद्रूपावाच्छिन्नयोः तादात्म्यधीः अनुभाविकी तदूपावच्छिन्नयोः तादात्यसंसकारदोपविरेषादिकं तत्र नियामकं न त्वेकाज्ञानकार्यत्वादि तस्मिन् सल्यपि तद्भावात् असत्यपि तद्रावाच्च इति सिद्यम् । अतः ठ्यावहारिकमातिभासिकरजतयोरपि तादास्म्यीस्तथेति तश्रापि तथा नियामकमव्याहतुमिति एकुट
${ }^{1}$ तादाल्म्याइ सजातीययोस्त ज्तीय संस्कारादिति पाठान्तरम.

येगितंव यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोस्साधारणम्। तथापि काचे. दप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनहत्वं अत्यन्तासत्त्वम्। तच शुक्तिरूप्य प्रपशे च बाधात पूर्व नास्त्येवेति न तुच्छत्वापत्तिः। न च बाधात्पूर्व शुक्तिरूप्यं प्रपश्वो वा सत्त्वेन न प्रतीयते। एतदेव सदर्थकेनोपाधिपदेन स्रूचितम्। शून्यवादिभिः सदधिछ्ठानकभ्रमानधीकारेण क्षचिद्युपार्धी सक्वेन प्रतीत्यनर्हत्व-
एव ते ₹वाक्यार्थाबोधः । तस्मात्तद्वच्छिन्नाश्रयताकारज्ञानकार्यत्वस्य संस्कारदोषविशेषादेश्व विकल्पेन तत्तादाल्योत्पत्तिनियामकत्वान्नानुपपंत्चिः । व्यावहारिकरजतत्वेन सन्निकर्षादिविरहेऽपि न क्षतिः। तादात्मयप्रतीतेः तदंरो समृतित्वात् इदं सुरभीति धीवत् । तंत्रैका प्रमा वृत्तिः इतरत्र प्रमाअ्रमवृत्त्यवच्छिन्नमेकचैतन्यमिति तु विशोषः। इन्द्रियसंयुक्ततादाल्यादे: तत्र सन्निकर्षत्वसम्भवाच । तस्मान्नापसिद्धान्तादिकम्। सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वं चेदसत्त्वं तदा असचेत्सत्वेन न पतीयेयेत्यध्यासमात्रं पक्षीकृत्य आपादनं न स्यात् आपाद्यापादकयोरभेदात् इष्टापत्ते: ${ }^{1}$ । अत उक्कं-सत्तेन प्रतीत्यनहत्वमिति। संत्वविषयकधीविषयत्वं सत्तादात्म्यतत्त्वान्यतरत्वं वा तदर्हत्वमिति भावः। नन्वेवमपि अत्यन्तासत्त्वापात्तिः कथं निरस्ता? तत्राहएतदेवेति। सत्त्वेन प्रतीयमानत्वमेवेत्यर्थः। सूचितामिति। प्रति-. पन्नपदेन स्वप्रकारकषीविरोष्यत्वस्य उपा़िपदार्थ लाभेन स्वप्रकारकष्षीविशोष्यताश्रयसद्वत्त्यत्यन्ताभावप्रतियेगित्वलाभात् प्रपश्चे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वलाभः पर्यवसित इति भावः। शून्यवादिभिः ज्ञानादत्यन्तभिन्नो योडर्थः सोऽळकि इति वादिभिः। सदाधिष्ठानकभ्रमेति। अबाध्यविशेष्यकाळीकप्रपश्चप्रकारकज्ञानेत्यर्थः । विज्ञानं सत्यं तदाकारस्तद्विषयः तद्धर्मत्वात् तद्विन्नामिन्नः ततोऽत्यन्तमिन्नस्वळीक:

रूपासद्वैलक्षण्यस्य झ्डुक्तिरूप्ये प्रपंच्वे च अनक्जीकारात्। नन्त्वेत्रं सति यावत्सद्धिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम् । तथाच केवलान्वग्यत्यन्ताभावप्रतियोगिष्डु अष्टचिषु गगनाद्विं्धु तार्किकाणां सिद्धसाधनम्। यद्धिकरणं यत्सत् तकिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिध्यात्वमिति विवक्षायां अधिकरणपदेनावृत्तिनिराकरणेऽपि संयोगसम्बन्धेन समवायसम्बन्धेन वा यत् घटाधिकरणं समवायसम्बन्धेन संयोगसम्बन्धेन वा घटस्स तन्निष्टत्यन्ताभावग्रतियोगितया सर्वेष्डु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनम्। येन सम्बन्धेन यत् यस्याधिकरणं तेन सम्बधेन तन्निष्ठात्यन्ताभावग्रतियोगित्वमिति विवक्षायां अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु सिद्धसाधनमिति चेष्म ; येन रूपेण यद्धिकरणतया यत् प्रतिपनं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्नपदेन स्स्चितत्वात् । तच रूपं सम्बन्धनिशोषोड-

इति विज्ञानवादः । तदुतरभूमिरूपे शून्यवादे तु विषयस्तयैव, विज्ञानं तु स्वाकारसहितं मिथ्येति विशेषः 1 तत्रांल्येतु अबाध्यस्वरूपमेव न स्वीक्रियते कुतः तद्विरोष्यक्जानं, आघे 'तु विज्ञानस्य अबाध्यस्य नाळीकमकारकज्ञानविशेष्यता, परमार्थालककयो: एकज्ञानाविषयत्वात्। अत उक्तमतयोरलीकत्वमादायाकाशादौ नार्थान्तरमिति भावः। यावत्सदिति। स्वानाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोमित्वस्य सिद्धत्वात् यावादिति प्रतिपन्नेति देयमेव। अन्यथा आकाशादावत्यन्तासत्त्वमादाय विज्ञानवादसम्मतमर्था ${ }^{1}$ न्तरादिति भावः । सिद्यसाधनमिति। सामानाधिकरण्येनानुमितेरुद्देशयत्वे सिद्धसाघनम्य। अन्यथा तु प्रपश्चस्यावृत्तित्वमादायार्थान्तरम्। यद्घिकरणं- यस्याधिकरणम् ।

वच्छेदकविशोषश्य। न हि सम्बन्धविशोषमन्तरेण भूतले घटाघिकरणता प्रतीयते। अवच्छेदकविशेषमन्तरेण वा वृक्षे कपिसंयोगाधिकरणता। तथाच येन सम्बन्धविशोषेण येन चावच्छेदकविरोषेण यद्धिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुमहति तैनैव सम्बन्धविशेषेण तेनैव चावच्छेदकविझोषेण तद्धिकरणकात्यन्तामावप्रतियोगितंव तस्य मिध्यात्वमिति पर्यवसिते क्छ सिद्धसाधनम् । यदि पुनः छवंसप्रागभावप्रतियोगित्वमिवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशाद्धौ न स्यात् । साधकमानाभावस्य

एवंच यावत्पदं ब्यर्थमिति भावः। तद्वत्तया धीस्तच्छून्येडपि भवताति सिद्धसाषनम् । व्याप्यवृत्र्यधिकरणताधीश्रावच्छेदकं विनैवेत्यत आहतथाचेति। यत्रेत्यधिकरणतनन्वयि। तथाच यन्निष्ठा यत्सम्बन्धावच्छिक्नयद्वता यदवच्छिन्नतया प्रत्येतुमर्हा कदाचित् केनचित् प्रतीयमाना इत्यर्थ:। तेनैव सम्बन्धविशोषेणेति-तदन्यसम्बन्धेन अनवच्छिन्नपतियोगिताकेत्यर्थ: 1 तत्सम्बन्धावच्छिन्नपातियोगिताकेत्युत्तौ ततदितरोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावमादाय सिद्धसाधनम् । अंतस्तन्नोक्तम् ${ }^{1}$ । तेनैव चावच्छेदकविशोषेणेति--तदन्यावच्छेदकानवच्छिकेत्यर्थः। अभावान्विते अधिकरणत्वे च तदन्वय.। एवंच व्याप्यवृतिस्थले तद्वतावच्छेदकताभ्रमः प्रसिद्ध एव य द्यदवच्छिन्नतया यद्वत्ताधीः तत्प्रत्येकान्यानवच्छिन्नत्वकूटं निवेरयम। तेन मूलाद्यवचिछछन्ने अग्राद्यवच्छिन्नाभावमादाय न सिद्धसाधनम् ; न च मूलाद्यवाच्छिन्नस्य अস्राद्यवच्छिन्नत्वेनापि ज्ञानात् तन्मिथ्यात्वलक्ष्शणे अग्राद्यन्यानवच्छिनत्वस्यापि निवेइयत्वात् बाषः, मूलाद्यवच्छिन्नस्य मूलाद्यवचिछ्छिन्नाभावप्रतियोगित्वरूपस्यैव मिध्यात्वस्य वाच्यत्वादिति वाच्यम्;

[^9]तुल्यत्वादिह्हाकाशो नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसम्मवात्, अनुमाने च अनुकूलतकर्भाभावात्, सामान्यतो दृष्टमात्रेण घंसप्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि सिद्धिर्रसझात्तव्धतिरेकेण कस्पचिप्र कार्यस्यानुपपत्तेरभावाच्च.। एवं संयोगसम्बन्धेन घटवति भूतले

मिथ्यात्वषटकाभावस्य तात्त्विकत्पपक्ष द्वातात्विकत्वपक्षेऽपि अनवच्छिनत्वस्वीकारात् । न चैवमवच्छिन्नत्वसामान्याभाव एव निवेरयतां लाघवादिति वाच्यम्; विशेषाभावकूटान्यस्य तस्यानम्युपगमात्, सामन्याभावल्वेन निवेरय ${ }^{1}$ स्वरूपाणामेव प्रदर्शितत्वान्च। अतीन्द्रियस्य प्रतिबन्धकस्याभावः कार्यान्यथानुपपत्त्या उच्यते। प्रकृते तु न सेत्याहतब्यतिरेकेणति। लाघवेनेति। सम्बन्षरूपावच्छेदकमेदेनाभावमेदाकल्पनलाघंनेलेयर्थः। विरोधित्वेति। सहानवस्स्योनेल्यर्थः। तथाचात्यन्ताभाबल्वेनेति सहार्थे तृत्ताया। एवंच घटात्यन्ताभाबत्वेन सइ घटसामानाधिकरण्यस्य एकत्राभावेन प्रतियोगिस्वरूपमात्रेण अत्यन्ताभावस्य विरोधित्वमिति भावः । घटपोोभयं भूतले नास्तीत्यादौ नोक्तोभयस्याभावप्रतियोगितिंया धीः, घटादिप्रे्येकरूपस्योभयस्योक्तषीविबयाभावविरोधित्वात्। किन्तूक्तोभयत्वस्य भूतलादिनिष्टाषिकरणतावच्छेबकत्वाभावधी:, अतएव उभबादिपदयोगे एकजातीयव्युपत्त्या घटत्वपटत्वोभयं नास्तत्यिादावपि घटत्वपटलोभयत्ले घटादिनिहाषाषरतावच्छेदकत्वाभावषी:, संयोगसमवायोभयसम्बन्बेन मूतले घटो नास्तीत्यदौौ संयुक्तल्वसमवेतत्वोमयवद्ध्रत्वादौौ घटसंयोगसमवायोमयत्वादौ वा भूतलादिनिन्षाघारतावच्छेदकत्वाभावर्ीः, घटादौ भूतलादिनिष्षंयोगसमवायोभयप्रतियोगिकत्वाभावर्षार्वा। अतएवोक्स्थले भासमानाभाबमादाय वक्ष्यमाणमिध्यात्वस्य घटत्वादौ न सिद्रसाषनम्। अयता

समवायसम्बन्धेन घटाभावसस्वे मानाभावात् लाघवेन घटात्यन्तामावत्वेनैव घटसामानाधिकरण्यविरोधित्वकल्पनात् सम्बम्धविशेषप्रवेशो च गौरवात्

लाघवेन सम्बन्धाघटितावच्छेदकत्व ${ }^{1}$ लाघवेन। घटसामानाधिकरष्यषिरोधित्वेति। भूतलं घटवदित्याकारिका मूतलत्वदौौ या घटसामानाधिकरण्यर्षः तत्पतिबन्धकतायां मूतलादिविशेष्यकधीनिप्ठायां प्रकारतया अवच्छेद्केत्यर्थः। गौरवात्-सम्बन्धानां प्रतियोगितावच्छेदकत्वे गोरवात्। द्वितीये ठयारुयाने घटत्वसंयोगाद्यवच्छिक्षपतियोगिताकाभावस्य प्रतिबन्धकतावच्छेदकनिवेगे घटत्वसंयोगाघवच्छिन्नत्वयोः बिरोषणविशोष्यत्वस्य आविनिगम्यत्वेन ${ }^{2}$ प्रतिबक्षकताभेदे गौरात्। न च प्रतियोग्यंशे भासमानस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया भानात् प्रतियोगितांशो घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वविषयता घटाभाववद्दूतल्रमिति धीनिष्ठप्रतिबन्घकतावच्छेदककोटौ न निवेइयते, किन्तु अभावांशे घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतैवेति वाच्यम्; व्यभिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनामस्माकं ‘तदसम्भवात्। तत्सम्भवे वा सम्बन्घांशेऽपि तदापत्त्या घटत्वसंयोगाद्युभयधर्मावाच्छिन्नपकारतानिवेशास्यैवौचित्यात्। अथैवं घटत्वादिनाऽपि प्रतियोगिता नावच्छिबेतेति अनवच्छिन्नैव सा स्यादिति चेत्, स्यादेव यदि नानुभबो बाधकः, अभावांशो प्रतियोगितासम्बन्षघटत्वमात्राभ्यां प्रकारताया एव प्रतिबन्षकतावच्छेदके निवेशसम्भवात्। न च नीलुघटाभावस्यापि घटीयत्वात् घटवत्यपि घटो नासतीति धीः स्यादिति वाच्यम् ; घटसामान्याभावसियपतियोगिताव्यक्तेरेव घटत्वमात्रावच्छिन्नं घति, संसर्गत्वाक्नीकघटाभावे तद्यक्तचसम्भवात्। अन्यथा प्रतियो-

## घटसमवायमात्रविषयतया प्रतीतेरुपपत्ते:

गितावच्छिन्नत्वक्षेडपि उक्तापतेत्रुर्वारस्वात्, नीरिघटतवावच्छिन्नप्रतियोगिताव्यक्तेपपि घटत्वावच्छिन्नत्वात्, प्रतियोगितायाः अवच्छेककत्वामिमतघटत्वादिस्वरूपप्वाभ्युपनमात्, प्रतियोग्यंशे प्रकारीभवत एव अभावांशे सम्बन्धतया भानात्। प्रतीतेरेपपत्तेरिति। घटसंयु. कादौ समवायेन घटो नास्तीत्यादिपतीच्युपपतेतरित्यर्थः। न च एवं घटादे: प्रतियोगित्वानुभवावरोष:,' समवायविशिष्टघटादिपतियोगित्वावगाहनात् ताहहाप्रतियोगिताकोपि घटसमवायाभाव एव त्समनियतत्वात् । न तु घटसामान्याभाव इत्याशयेनेन घटसमवायाभाव इत्युक्तम्। न चैवमपि वक्ष्यमाणलक्षणन्य ताहृाभावमादाय घटादौ सिद्धसाषन्नम्, यद्रर्रूपपतियोगिताकाभावत्वेन सत्त्वव्यापकत्वे तदूर्मवत्त्वस्य वाच्यत्वात् घटादिसमवायिन्यपि संयोगवत् घटाधभावसत्वादिति वाच्चम् ; संत्वव्यापकतावच्छेदकं यद्दूर्पपर्याप्तपतियोगिताकाभावत्वं' तद्धर्मवच्वे वक्ष्यमाणतात्पर्यात् ताह्हााभावपतियोगितात्वस्य समवायादिघटत्वयोंवेव पर्याप्तत्वात्। अन्यथा नीलघटाद्धभावमादाय सेद्धसाघनाद्यापते:, विशिष्टस्यातिरिकत्कवात् यथाश्रुतस्याप्यदोष्व्वाँ्च। अथवा ननु सम्बन्धावच्छिन्नत्वस्य विरोषितावच्छेदकापवेरो संयोगेन घटाभाववदिल्यादिबुद्धेराि समवयेन घटवदित्यादिवुद्धिविरोधित्वापतिः घटाभावविषयकत्वाविशेषादत आह -घटसमवायेत्यादि । घटः समवायः आदिना प्रतियोगिता अभावश्चेति चडुष्ट्यमात्रविषयतया समवायविशिष्टघटत्वावच्च्चिन्ना प्रतियोगिता विशेषसम्बन्षावच्छिन्ना च या प्रकारता तन्विरूपिताभाव्रकारताकत्वेन प्रतीतेः समवायेन घटाभाववदिल्यादिप्रतीतेः उपपत्तेः उक्कषीविरोषिल्वोपपतेतः। न चैवं घटसमवायादभावस्य तद्विरोषित्सस्य चावइय-

कत्वे घटसामान्याभावतद्विरोधित्वयोः पूर्वोक्तयोर्मानाभाव हति वाच्यम् ; घटो नास्तीति बुद्धेकुक्तरत्या समवायविशिष्टघटादिसामन्याभावीयपतियोगिताविषयकत्वानुपपत्त्या अतिरिक्षप्रतियोगित्वावइयकत्वात्, अतिरिक्ताभावानभ्युपगमेऽपि क्षतिविरहात्, ऊक्तबुद्धिसत्वे घटवदित्यादिबुद्धयनुत्पादात्, उक्तबुद्धर्विरोधित्वस्यानुभाविकत्वात्, सम्बन्धसामान्येन घटाद्यभावस्य त्वयाडव्यक्जीकारात्, घटसम्बन्धसामान्याभावस्यैव मम घटसामंन्याभावत्वात् । एकज्ञानविषयत्वव्यभिचारादिस्तु न सम्बन्ध सम्बन्बो वा न भिन्नकालीनयोः। किंच समवायादिना घटविशिष्टनुद्धौ घटसमवायाभावर्धीविरोघित्वं त्वयाऽपि वाच्यम्; तदनुभवात् । न च समवायादिना धटसामान्याभावंवच्छेदकत्वेन गृहीततद्धीरेव तद्विरोधिर्नाति वाच्यम् ; गौरवात्। तथाच सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावादिनस्तव मते तदन्तभावेनैन विरोधित्वात् घटसमवायित्वाद्यवच्छिन्नत्वस्वरूपसंम्बन्धावच्छिซत्वयो: विशोषणविशेष्यत्वाविनिगम्यत्वात् तत्र विरोधिताद्दयं तदवच्छेदकगुरुत्वं च आवरयकम्। मन्मते च तत्र घटसमवायाभावधत्वैनैकैक विरोधिता। तब समवायादिसम्बन्धाबच्छिन्नघटत्वाधवच्छिन्नप्रतियोगितान्तर्भावेन उक्करीत्या विरोधिताद्वयं अवच्छेईकगौरंं च। मम तु तत्र समवायादिविशिष्टघटाभावधीत्वेन एकैव सेति महदेव लाघवम्। न च तवापी समवायवत अंशो घटत्वस्य एकत्र द्वयमिति रीत्या समवायघटत्वयोश्र प्रकारंतामादाय अन्ये अपि ते वाच्ये इति वाच्यम् ; घटत्वांशो निर्धमिमतावच्छेद कज्ञानस्यैव विरोघिताया आवयोस्सम्मत़त्वात्। घटो न समवायीति धीकालेऽपि प्रकृतविरोषिधिसम्पत्तये एकत्र द्वयमिति रीत्या पकारीभवद्रयां समवायघटत्वाम्यां अवच्छिन्नाया एव अभावांशे प्रकारताया ववरोषितावच्छेद कत्वस्वक्वारात्। न च तथाऽपि समवायविशिष्टघटाभावो

घटसामान्याभाव एव तत्समनियतत्वादिति तद्दी: करं घटसंयुकादौ प्रतियोगिता, समबायम्य न सम्बन्धः ; किन्तु स्वाश्रयसमवेतत्वमित्युत्तौ तद्विषयतायाः विरोषितावच्छेदकत्वनिवेशे गौरवमिति वाछ्यम्; लाघवेन प्रतियोगितामात्रस्य अभावविरोधित्वे स्थिते समवायप्रतियोगिघटत्वेन भूतलादिनिष्टाभावाविरोधित्वात्, उक्तगौरवस्य प्रामाणिकत्वाप्। अतएव संयोगेन भूतले घटो नास्तीत्यादावपि संयोगादेः घटादौ स्वाश्रयसंयुक्तत्वादिकमेव सम्बन्धः। समवायेन भूतले घटो नार्तीत्यादौ समवेतघटाद्वें वा प्रतियोगितया भाति, तस्य केवरघटाद्यन्यत्वेन भूतुादौ तदभावसम्भवात् भूतले समवेतत्वेन घटो नान्तील्यनुभवात्। अतएव समवायवत् घटाभावस्येव नीत्रघटाभावस्यापि धीः समवायेन घटवदिति धीविरोघिन्यन्तु इल्याद्यास्तम्। तव प्रतियोगितावच्छेदकतया प्रतिबन्घकतावच्छेदके निवेशितयोरेख मम प्रकारतावच्छेदकतया निवेशात्। अतएव घटसंयुक्ते घटसमवायाभावस्याप्यसम्भव:, तत्र घटसमवायस्य कालिकसम्बन्बेनाघिकरणत्वसत्त्वात्। अथ कालिकसम्बन्धेन घटसमवायाभाव एव तद्विरोषी तर्हि संयोगेन घटाभाव एव संयोगेन घटाधिकरणत्वविरोधीतेयेव युत्रमित्यपास्तम्। घटसंयुक्ते समवायेन घटाभावस्य त्वया स्वीकरेण तस्यैव मया घटसमबायाभावत्वस्वीकारात् समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटाषिकरणत्वस्यैव मया घटसमतायाभावविरोधिव्वस्वीकारात्। अथवा समवायेन घटो नास्तील्यादौ घटसमवायादिनिष्ठपतियोगितैव परस्परया घटादेंगततया भासते 'शिरी विनष्ट: इल्यादिवत्। अतो घटादे: प्रतियोगितानुभवो न विरुद्धः साक्षास्सम्बन्घेन वक्ष्यमाणप्रतियोगेताया रक्षणत्वान्न दोषः। संयोगेन रूपं नास्तील्यादौ रूपादै संयोगाधभाव: घटत्वेन पटो नास्तीत्यादौ पटादौ घटत्वाघभाव

इव भाति घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिशब्दात् यधपि नामार्थस्य धटत्वादेर्यन्ताभावो न भाति, प्रतियोगिनः प्रथमन्तानुपस्थाव्यबात्। अनुयोगिपादेद सस्तम्यन्तानुपस्थाप्यत्वांच। तथापि तृतीयार्थस्य साहिल्यरूपैशिश्ध्घस्य स भाति । अथवा तत्र घटत्वाभावाद्यन्यो व्यषिकरणघटत्वपटत्वाहुभयावाच्छिन्नपतियोगिताकत्वेन पराभ्युपगताभाव एव भाति । अतएव घटट्वपटत्वाद्युभयावाच्छिन्नवत्तेन ज्ञाते नोक्ताभावघीः, तत्रतियोगितायाः मिथोठ्यविकरणघटत्ववटत्वादिरुपष्वात् । प्रतियोग्यंशे प्रकासस्यैन संसर्गत्वमिल्युक्तमिति मम न व्याहतिः'। अतऽव ताद्दशाभावांशे पकारतावच्छेदकतयोक्तरर्मद्वयममवइयं भातीति स्वीक्रियते। तथाच तत्रतियोगितायाः उत्रथर्म्द्वयरूपप्वात् पतियोग्यंशो प्रकारस्यैव अभावांगो प्रतियोगिसंसर्गत्वमिति नियमाव्याघातः। न च घटत्वस्य पटासम्बन्धित्वात् तद्घाटतसम्बन्धेनाभावस्य पटीयत्वासम्भव इति वाच्यम् ; घटत्वनिं्ठं यत्पटत्वनिष्ठपतियोगितात्वं तन्निरूपकव्वसम्बन्धेन अभावांश्रो पटस्य विशेषणत्वेन भानस्वीकारात्। संयोगकालीनसमवायेन घटादे: रूपवत्त्वस्येव उत्कसम्बन्षेन अभावे पटीयत्वस्य सम्भवात् उत्कपतियोगित्वशश्र्यविशिष्टन्य पटस्योक्ताभावाविरोधिल्वेऽवि न क्षति, उत्तस्थले प्रतियोग्यभावयोः विरोधस्य परणाप्यस्वीकारात् । उत्कन्यले घटत्वपटत्वोभयन्रभूतललनिमाधारतावच्छेदकत्वं नास्तीति धीस्तु न सम्भवति, उभयत्वविशिष्बोधकपदाभावात्। एवंच संयोगेन रूपं नास्तीत्यादावपि संयोगरूपत्वादिमत्वतियोगेकतया ताहराभाव एव भातीति न कथमवि प्रतियोगिताया: अवच्छिन्नता। न चोक्षाभावमादाय सिद्दसाधनम्, स्वावच्छिन्नप-कारकषीविशेष्यसन्मान्रवृत्यल्यन्ताभावपतियोगितात्वपर्यासयषिकरणोके-

[^10]आधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षसि कत्वेन घटस्याथृत्तित्वशक्कातुदयात् उक्तयुक्तेश्न न घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम्। एवं संयोगतदभावयोर्नैकाधिकरण्यम्। 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी मूले न' इति प्रतीतेरग्रमूलयोरेव संयोगतदभाववत्तयोपपत्ते: तदा सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव भयधर्माधिकरणव्वाप्रसिद्ये: वक्ष्यमाणनिथ्यात्वाभावादिल्यास्तां विस्तरः। ननु घटस्य स्वाल्यन्ताभाववदृृत्तत्त्व'रूपो विरोघो ऽृृत्तित्वेप्युपप्यत इति स्वसंयोगिनि स्वात्यन्ताभावसत्चे किं बाधकं तत्राह--आधारोति। ननु घटादिसंयोगी घटाबभाववान् तत्समवायाद्यमावात् घटाघनाघारवदिल्यत आह-उक्केति । अनुकूलतर्कोभावात् कपालहृष्टन्तेन तथैव प्रतियोगिसम्बन्धित्वदिहेतुना ध्वंसादिसिद्धधापतेः तद्वचतिरेकेण कार्यानुपपत्तेरमावात् एकसम्बन्घवल्यप्यपरसम्बन्धाभावस्पैव प्रतिन्नकामावतया प्रयोजकत्वादित्यर्थः। अग्रमूलयोरिति। मिथशौपाधिकमेदववतोः तदवाच्छिन्नवक्षयोरेंति रोषः। तदेति। इति परेणाच्यत इल्यादिः। सन्मात्रनिष्ठेति। स्वेपकारकधीविशेष्यनिष्ठसत्व्वव्यापकेत्यर्थः। तेन न पूर्वोने पपश्चलिकत्वापतिसिद्धसाधने। अधिष्टानमेव तत्र प्रतीयमानाभाव इति पक्षेऽवि केषलस्य सतोऽभावत्ववीशिष्टेन सता सम्बन्धसत्त्वात् व्यापकत्वमुपपन्नम्। न च तत्पक्षे अध्षिष्टानेऽमावाधारस्वप्रल्ययानुपपात्तः:, विशिक्टकेवलयोराषाराघयत्वाभावात् अन्यथा तद्रटो द्रव्यमितितेवत् तत्र द्रव्यमित्यपि घीस्स्यादीती वाच्यम्; अन्यत्र तदस्व्वीकरेऽपि प्रतीब्यनुनोषेन प्रकृते तस्स्वीकारात्, धराभावे घटों नास्तीत्यादाविव कल्पिताषारले बाधकाभावात्। किचिभावपत्यये भावस्य सम्बन्धमांत्र नियमेन भासते आधारत्ं तु सति सम्भवे, यथा पृथिव्यां गन्षाभावो ${ }^{1}$ भाबवद्धत्तिल.

नेत्यादौ चैत्रे न गोशून्यतेत्यादौ़ त्वसम्भवात् न तद्रानि। उक्तं हि न्यायक्रुसुमाझ्जलौ अभावसम्बन्धविचारपसने 'परस्य तादात्यमस्तीति चेत्' इति। परस्य भट्टस्य मते अभावस्य तादात्मं सम्बन्ध इति तत्र टीकाकाराः। तथाचाधिष्ठानस्याभावानाधरत्वेऽपि न क्षतिः। अधिष्ठाने घटो नेत्यादिशब्दे सप्तमी तु आकाङ्क्षासम्पाद्नायापेक्षते नाधारत्वबोधाय। एवंचाभावे स्वाधारत्वाकल्पनेपि न क्षतिः । घटाभावे घटो नेत्यादौ किश्चिद्विशिष्टघटाभावत्वेनानुयोगितावच्छेदकरुपेण आवरयकभेदादेवोपपत्तेः । न च या अभावव्यक्तिः तद्वयक्तित्वेन सत्त्वठ्यापिका तत्रतियोगित्वरूपे प्रकृतलक्षणे समवायेन घटाभावमादाय न सिद्धसाधनम्, तद्वयक्ते: घटसमवायिनि असत्त्वादिति घटादेस्संयोगिनि समवायेनाभावनिराकरणं व्यर्थमिति वाच्यम्; वक्ष्यम[णनिष्कोर्म उक्रदोषासम्भवात्। अभावीयविशोषणतादिसंम्बन्धेन घटाधभावक्यक्ति केवलान्वयिनीमादाय सिद्धसाधनवारणाय प्रतियोगितायाः सम्बन्धावच्छिन्नत्वनिराससार्थक्याच्च । अत्यन्ताभावेति । स्वान्यूनसत्ताकत्वरूपात्यन्तिकत्वविशिष्टसंसर्गोभावेत्यर्थः। तेन प्रातिभासिकाॅ्यन्ताभावमादाय न सिद्धसाधनम् ; न वा निष्ठान्तैनैव धवंसादिवारणादत्यन्तपदार्थघटकसदातनत्ववैयैयर्थ्यम्, भेदस्य सत्त्वण्यापकत्वसिद्धया अर्थान्तरं स्यात्। अतः संसर्गेति। ध्वंसादेस्तु तस्सिद्धया ${ }^{1}$ न तह्बाधेन ${ }^{2}$ तत्सिद्धेरसम्भवात्। ध्वंससामान्यं न सत्त्वव्यापकमिति बाधेन उक्तानुमानात् ध्वंससामान्याभाव ${ }^{3}$ सिद्धावपि भेदसामान्यं न सत्त्वठ्यापकमिति बाधेन भेदसामान्याभाव ${ }^{4}$ सिद्धि: न सम्भवति, घटत्वादिना पटादिभेदस्य सत्त्वच्यापकत्वबाषात्। अन्तु वा अत्यन्ताभावार्थकमभावपदम्। उक्काभावप्रतियोगित्वं च उक्त-

[^11]सत्व्वव्यापकाप्रातिभासिकाभावस्य ठ्यावहारिकानिष्पप्रतियोगित्वं उक्कसत्त्व््यापकाभावस्य प्रातिभासिकनिष्ठपतियोगित्वं चेत्यन्यत्रव़्त्वम्। च्यावहारकिनिष्ठत्वं च प्रातिभासिकान्यविनाशिनिष्ट्वंत्वं ज्यावृत्तित्वं वा माह्यम्। आघस्यन्ल्यस्य च प्रतियोगित्वस्योक्तथा ${ }^{1}$ ठ्यावहारिके प्रातिभासिके च साध्यलाभः। च्यावहारिको यः पूर्णानन्दाभावः तत्पतियोगिज्रक्षण्यतिव्यात्वेः व्यावहारिकनिह्हेति विरोषणम्। विनाशिनः स्वस्य अप्रातिभासिकाभावत्वं च स्वान्यूनसत्ताकल्वं, स्वामस्य ₹्वामाभावेन मिथ्यात्वव्यबहारसु तदानीं तस्याप्रातिभासिकत्वज्ञानात्। प्रपः्षः प्रातिभासिकः सल्य इति वादिनं प्रति तु विनाशिनः स्वस्याभावत्वमेव तत्। सत्त्वं ${ }^{2}$ तु अबाष्यत्वव्यापक विषयताककिश्चिद्धीविषयव्वं तद्विषयतान्यक्तित्वेन निवेश्यम्। तेन गुरोरनवच्छेदकत्वेडपि न क्षतिः। गगनादेरृत्तित्ववादिनं प्रत्यपि साध्यासेद्धये स्वाधिकरणसन्निष्हत्वं ह्रह्वपि नोक्तम्। विषयत्वव्यापकत्वोक्तौ सर्व बाध्यमिति मते अत्यन्तासत्त्वमाद|यार्थान्तरम्। अतस्तद्विषयत्वमुक्तम्। तन्मते च तदप्रासिद्धम्। विज्ञानमात्रसल्यत्वमते विज्ञानान्यस्याहीकत्वेन अर्थान्तरात्। उत्कविशेष्यवृत्तित्व सत्वावरशेषणम्। तथा अस्मदीयूूर्वोत्तरीत्या इहलणोऽभावपातियोगेत्वास्वीकारे ठु पूर्वरक्षणे ठ्यावहारकनिष्त्वादिक उत्तररक्षणे विनाशित्वं च न देयम्। तन्मते विज्ञाने विज्ञानान्यप्रकारकबुद्धचविशेष्यत्वात् नार्थान्तरम्। स्वावच्छिन्नपकारकधीविशेष्यनिम्षसत्त्वव्यापकात्यन्ताभावपतियोगितात्वपर्याप्पयधिकरणधर्मवत्त्वं उक्षणं बोध्यम्। तेन संयोगेन रूपादभावमादाय रूपादौ न सिद्यसाघनमिति दिक्।। अभातिभासिको यः स्वसमानाषिकरणात्यन्ताभावः तस्य घ्रसावृर्ति यत्पतियोगित्वं, यच स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावपतियोगिल्ं

मिथ्यात्वं मन्तव्यम् । न ैैवं सति भावाभावयोराविशोघात् तज्ञानयोर्बध्यबाधकमावो न स्यादिति वाच्यम्;

प्रातिभासकवृत्ति तयोरन्यतरवत्त्वं मिथ्यात्वमिति निष्कर्षस्तु पूर्वमेबोकः। बाध्यबाधकेति। भावाभावयोस्सामानाधिकरण्यबुद्धौ सत्यां तयोरेक्ज्ञानमपरज्ञानाबाध्यम्। अतः उक्तबुद्धचभावविशिष्टेन तयोविरोधारिषयकेन वा परज्ञानेन बाध्यं वाच्यम्। ताद्दराज्ञानं च मिय्यात्वं जानतां न सम्भवतीति न तेषां तथेति भावः। बाघकत्तं यदि प्रतिबन्धकत्वं तदा तन्नास्त्येव ${ }^{1}$, तयोरेकपपमायं सत्यामविद्यादेषादिविरहादेवापरभ्रमानुदयात्। तयोरेकभ्रमे सति तजजनकदोषादिनैवापरप्रमानुदयात्। भावाभावयोरेकज्ञानस्य अपरज्ञानपतिबन्धकत्वार्जकारेऽपि मिथ्यात्वर्धीपूर्वंक उत्कप्रतिबन्छकज्ञानं सम्भवत्येव । वस्तुतः प्रतियोगिसामनाधिकरण्यधीरभावधीप्रतिबच्धकतायां नोतेजिका।न च समुच्चयोत्तरं समुच्चयो न स्यादिति वाच्यम्। अवाच्छिन्नत्वरूपाव्याव्यवृत्तित्वज्ञानस्योत्तेजकत्वात्। न च प्रातिभासिकवेन ज्ञायमानाभावस्य घारापि प्रतिबन्छिका स्यादिति वाच्यम्; त्रक्जज्ञानपूर्वबाध्यत्वरूपस्य प्रातिभासिकत्वस्य ज्ञाने तद्वदभावविषयकत्वस्य प्रमात्वाभावव्याप्यत्वेन गृहीतस्याभावज्ञानप्रहे अप्रमात्वप्रहात्र प्रमत्वेन गृस्यमाणन्य अभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेन क्लप्तस्य उक्षधरिपत्वाभावात् 1 एतेन प्रतियोगिसामानाधिकरण्यज्ञानस्य उत्तेजकत्वे प्रातीतिकप्रतियोगिसामानाधिकरण्यधीरपि तथा स्यात् । अन्यूनसत्राकप्रतियोगिनिवेशे तु गौरवमित्यपास्तम् 1 वस्तुतस्तु मन्मते प्रतिबन्धकत्वं न कस्यापि कुत्राप्युच्यते, अव्याप्यवृत्तिशान्केः मण्याघ्यसमहहितबह्यादौ स्वीकारात्। अथ तयो-

तज्ञ्ञानयो: बाध्यबाधकभावो न स्यादिति वाच्यम्। मिषसत्ताकयोरविरोधेडपि समसत्ताकयोर्वर्वोधत्। यत्र भूतले यस घटस्यात्यन्ताभावो व्यावहारिकः तत्र स घटो न व्यावहारिक इति नियमात्। न चैचं सति ' शुक्तिरियं न रजतम्' इति ज्ञानविषयभिभूताभावस्य व्यावहारिकत्वेन पुरोवर्तिं्रतीतरजतस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि भ्रातीतिकसत्त्वानपहारात् बाधोत्तरकालेऽपि 'इदं रजतम्' इाति प्रतीतिः स्यादिति वाच्यम्; रकेज्ञानस्य अपरज्ञाने अ्रमत्वज्ञापकत्वं तत्तथापि स्वान्यूनसत्ताकसन्मात्रनिष्ठाभावप्रतियोगित्वविशिष्टविषयकरीत्वस्यैव अ्रमत्वरूपत्वम्। न तु स्वविरोधिस्वाभाववति स्पकारर्षत्वस्य शुक्किरूप्यादिज्ञानस्य तदभावात् । अतएव समसताकयोः अविरुद्धयोरपि स्वामभावाभावयोः बाध्यंधकधीविषयत्वमुक्तमिति नानुपपत्तिः। अथ तयोरेकज्ञानस्य अपरोपादानाज्ञाननिवर्तकत्वं तत्तथापि न तयोः विरोधोऽपेक्ष्यते प्रव्युत अविरोषः, एकाश्रये अपरस्य कल्पितत्वात्। अथ तयोरेकज्ञानस्य स्वविषयापेक्षया न्यूनसत्ताकविषयकत्वज्ञापकत्वं अपरज्ञाने तत् तथाषि तत्परत्वादिभाबल्यसापेक्षत्वेऽपि तस्य न तयोर्विरोधापेक्षा इत्यस्माकं स्थितिः। त्वं तु यदि तयोर्विरोधेडत्यन्तभक्तः तदा पारमार्थिको व्यावहारिको वा मिथ्यात्वघटकोडभाव इत्युक्तयो: पक्षयोराध रोचयेरित्यमिप्रेल्याह—भिन्नेति। न व्यावहारिक इति । किन्तु प्रातीतिक इति ऐोषः। प्रतितिकसत्त्वानपहारात् मिन्नसत्ताकाभावस्याविरोधित्वेन तज्ज्ञानस्याबाधकत्वात् उच्छिन्नापरोक्षताकत्वाभावात्। बाधेति। स्वान्यून ${ }^{1}$ सत्ताकसन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभांवप्रतियेगित्वनिश्वयेत्यर्थ: । तथाच समसत्तन्तर्मावेन न विरोघः किन्तु सामान्यत इति भावः। प्रातीतिकरजतस्य व्यावहारिकस्वाभावाविरोषेऽपि न

तथ ' इयं श्रुक्ति:' इत्यपरोक्षग्रमया प्रातीतिकरजतोपादाना च्चननिषृत्तौ प्रातीतिकसत्वस्याप्यपहारात्, गुक्तयज्ञानस्य प्रा तीतिकरजतोपादानत्वेन तदसत्त्वे प्रातीतिकरजतासत्त्वस्य आव इयकत्वात् 1 अतएव यत्र अपरोक्ष्ता अधिष्ठानप्रमया च अ्रमोपादानाश्ञाननिषृत्ति: तत्र व्यावहारिकत्वापहारेऽपि श्रातीतिकत्वानपहारात्। ' तिक्तो गुड: ' इत्यादिप्रतीतिरनुवर्तत एव एवमखण्डव्रद्मसाक्षात्कारात्पूर्व परोक्षबोधेन प्रपश्नस्य व्याव
क्षतिः। तत्र तादृशाभावषियो बाधकत्वाभावेऽपि शुक्तित्वाद्यिष्ठा नतावच्छेदकप्रमाया बाधकत्वेन उक्तबाधोत्तरं तदप्रतीतिसम्भवादि त्याह -- तत्रेति । भिन्नसत्ताकाभावज्ञानस्यापि मूलोच्छेदकत्वादेव प्रति योग्यप्रतीतिप्रयोजकत्वम्। अतएव परोक्षस्य तस्यामूलोच्छेद ${ }^{1}$ कत्वेनातथा त्व ${ }^{2}$ मिति अप्रतीितिप्रयोजके मूलोच्छेदकत्वरूपे बाधकत्वे विरोधि विषयकत्वं न प्रयोजकम्। नाव्युक्तभ्रमत्वज्ञापकत्वरूपे बाधकत्वे तत् तथा उक्का${ }^{3}$ परोक्षस्य विरोध्यभावाविषयकस्यापि तत्सत्त्वादिति भावा भावविरोघस्वीकारः ते वृथेत्यमिप्रेत्याह-अतएवेति । अभावविरोधि स्वानपेक्षस्याज्ञानोच्छेदस्यैव तक्कार्यप्रातीतिकसत्त्वापहारकत्वादेवेत्यर्थ: ब्यावहारिकत्वापहारे-स्वान्यू नसत्ताकसन्मत्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे ज्ञाप्यत्वे। तथाच अ्रमत्वज्ञापकत्वे विरोषिविषयकत्वं नापेक्ष्यत इार्वि भावः। व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकत्वेति। एकस्यैव मूला ज्ञानस्य नित्यपरोक्षापरोक्ष ${ }^{4}$ प्रपश्च्चोपादनत्वात्। अपरोक्षोपादानाज्ञानं प्रत्य परोक्षस्यैव निवर्तकत्वात् तदभावादुक्ताज्ञानानिवृत्त्या प्रपश्चमात्रप्रती तिरित्यर्थः। अथवा अपरोक्षप्रपष्चोपादानाज्ञानादन्यदेवास्तु परोक्षप्र पश्बोपादानमज्ञानम्। तथापि परोक्षन्रद्मज्ञानेन तन्निवृत्त्या तदुपादा नकपपष्चे निवृत्तेऽपि प्रारब्षभोगानुरोधेन कल्प्यमानसंस्कारोपादान

$$
1 \text { मूलोच्छेद. } \quad 2 \text { तथाख. } \quad 3 \text { उक्त. } 4 \text { निल्यपरोक्ष. }
$$

हारिकत्वापहारेेपि प्रतीतिरन्तुर्तत एव। अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यंते। एतेन-" उपाधिशब्देनाधिकरणमात्रविनक्षायामर्थान्तरम्, वाखधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेडपि रूपस्यामिथ्यात्वाप्। अधिष्षानविवक्षायां तु अ्रमोपादानाज्ञानविषयस्य अधिप्षानत्वेन अन्योन्याभ्रयत्वम् ; ज्ञानस्य अ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वं, विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य अ्रमत्वम्" इति परास्तम्। उक्तरीत्या अधिकरणविवक्षायां दोषाभावात्। न च 'स एवतधस्ताप' इति भ्रुत्या प्रतिपषे देशकालाद्युपाधौ परमार्थतो बह्मणोऽभावात्तत्रतिव्यासिरिति वाच्यम् ; निर्धमके तस्मिक्षभावप्रतियोगित्वरूपधर्माभावात्। कपरोक्षपपप्चान्तरं जायते। अतएवापरोक्षब्रक्रजानोतरमपि प्रपश्चनिवृत्तौ पुनः प्रपश्चान्तरं अभीकियत इति परोक्षम्रक्जानोत्वरं परोक्षापरोक्षपपश्चधी: न विरुघ्यत दति भावः। अधिष्ठनेति । तिक्तल्वाभाववदुुडादीत्यर्थः। तथाचाज्ञानोच्छेदकत्वेडपि विरोषिकिषयकत्वं नापेक्षत' इति भावः। नानुवर्तिष्यत इति। निवृत्तेप्यजाने प्रपश्सस्य न निवृत्तिः। जातेऽप्यधिष्ठानसाक्षात्कारे नाजानं निवर्तते भुज्यमानकर्मणा प्रतिकन्धादिल्यादिक ल्वन्यत्। निर्धमरक इति। सत्यादिपदवाच्यसम्बन्धाज्ञानविषयत्वादिकं तु तदुपहिते न तु केवले इति भावः। केवले तदग्ञकरे तदन्यर्पर्मराहित्यमेव निर्षर्मकत्वम्। केवलस्य जगदुपादनानत्वपष्षेडपि न दोषः। छइयमात्रधर्मतानियामको यस्साषारणस्सम्बन्धो दृब्निष्ठतादात्य्यं तबन्यसम्बन्धेन यत् सर्घकं तदन्यस्य निर्घर्मकपदेनोक्तिसम्भवात्, तावतापि स्वरूपादिसम्बन्धेन प्रतियोगित्वादिराहित्यलाभेन पकृतोपयोगाव्। न च प्रपस्चे श्रससम्बन्षस्य मिथ्यात्वात् अ्कणोडरभाव इति बाच्यम्;

तावताऽपि प्रपश्चे त्रक्षाभावासिद्धे: प्रत्यक्षाभावात, घटस्सनित्यादावुपाहितन्रक्षण एवैन्द्रियकत्वात्, अभावांशे निरवाच्छिन्नप्रकारताकज्ञानासम्भवेन केवलप्रतियोगिकाभावाभानात्। प्रतियोगिविशेषिताभावभानं तु विशिष्ट्टैैशिष्टचबोधमर्यादां नातिशेते इत्याद्यमियुक्तोक्ते:, अनुभानस्य चाप्रयोजकत्वात्, तद्वयतिरेकेण कार्यानुपपत्त्यभावात् प्रतियेगिगसम्बन्धस्याभावविरोधित्वात्। अतएव सिद्धान्तबिन्दौौ ब्नहणोडभावाप्रतियोगित्वं सर्वत्र सता ${ }^{1}$ सम्बन्धादित्युक्तम्। एतेन-निर्धर्मकत्वात् श्रक्सण: पारमार्थिकत्वादितदवृत्तिघर्मैरमावसम्भवः प्रतियोगित्वस्य च सत्यत्वादिवत् स्वरूपात्मकत्वात् ब्रह्मणि सम्भव इत्यादि परास्तम्। मिथ्यात्वादिग्राहकमानस्य ब्रह्नभिन्नतयैव प्रवृत्ततया ब्रह्मणो मिथ्यात्वाधभावसत्यत्वादिस्वरूपत्वेऽपि प्रतियोगित्वाद्दिस्वरूपत्वे मानाभावात्। किंच पारमार्थिकत्वादितदवृत्तिधर्मेणामावः किश्विद्धर्मविशिष्टस्यैव श्नद्मणो ज्ञातुं शक्यः, न तु केवलस्य घटादौ पारमार्थिकामत्याद्यनाहार्यज्ञानसत्त्वेन घटादौ न पारमार्थिकमिति ज़ानासम्भवात्, पारमार्थिकत्वाद्यवच्छिन्नवतियोगिताकत्वविशिष्टर्धत्वेन सामन्यतः उक्करीप्रतिबध्यत्वात्। अतएवात्र घट इत्युक्तथीसत्त्वे अत्र घटत्वेन पटो नेति धीः, न त्वत्र घटो नेल्याकारा घटाभावस्यापि धीः। अतएव प्रतियोगित्वे मानाभावादित्यनुक्तुा मानासम्भवलाभार्थ निर्घर्मक इत्याद्युकम्। अपिच किश्चिद्धमावच्छिन्नस्य मिथ्यात्वेन खवान्यूनसत्राकाभावप्रतियोगित्वं शक्षास्पद्। । अताहास्य ${ }^{2}$ तु सत्यस्वरूपत्वेन न तत्तथेत्यपि निर्धर्मकेत्याद्यर्थः। यतु—"येन रूपेण यदाधिकरणतया यत्त्रतिपन्नमित्यादि सन्मात्रनिष्ठेत्यादि च अयुक्तम्, लाघवेन स्वाभावत्वैनैव स्वविरोधित्वात् समसत्ताकत्वस्य गौरवेणाप्रवेशात् सत्ताभेदस्याधाप्यसिद्धेश्व मिथ्यात्वानुमानादेव तत्सिद्धावन्योन्याश्रयात् श्रुते:

प्रत्यक्षबाधितत्वात्" इति, तन्न ; श्रुक्तिरजतादे: स्वामस्य चाभावे उक्ताविरोघत्वाभावेन सामान्यतस्तदभावात्। अथ शुक्तिरजतादे: मन्मते असत्त्वात् न तत्सामानाधिकरण्यं तदभावे इति चेत्तहि हैदधिकरणाप्रसिद्धया तद्धटितविरोधित्वमपि तदभावे नास्तीति क सामान्यतो विरोधवार्ता। यो यो यद्विरेधी स तदभाववृत्तिरिति नियमो न नोऽनिष्ट: ${ }^{1}$, त्रह्मस्वरूपाभावमादाय तत्सम्भवात्। यत्र यत्र यद्भावप्रतियोगित्वं तत्र तद्भावविरोधित्वमित्यपि न नियमः; ब्रद्सस्वरूपाभावस्याधिकरणाप्रसिद्धे:, अधिकरणमेवाभाव इति मते अवृत्तिगगनादिरूपाभावाधिकरणाप्रसिद्धेश्व, घटादेः पटादिरूपस्वाभावेन भूतरादौ सहभावाच । शुक्तिरूप्यादे: स्वाभावाभावस्य अधिकरणाप्रसिद्धेश्र । असतो न स्वाभावाभावत्वं मानाभावादिति चेत्तर्हि सतो ${ }^{2}$ नाभावो मानाभावात् निर्घर्मकत्वाद्युक्तयुक्तिमिस्तस्याभावप्रतियोगित्वासम्भवात्। अतएव सिद्धान्तबिन्दौ न हि शाशविषाणाभावो ज्ञायत इत्युक्त चरमश्रोके। शाशाशृं नास्तीत्यस्य शारो शृक्षाभाव इत्यर्थ इति मणिकारः, किं तर्हि तल्रक्षणामिति चेन्नकिश्चित्। तर्हीतरव्यावृत्त्या तन्न प्रतीयोतेति चेन्न प्रतीयत एव। अतएव सद्धयामभावो निरूप्यत इत्युक्तम्। सद्भयामित्यस्य धर्मिप्रतिगोगिभ्यामिति विशेष्यं यदि तत्तथा प्रतीयते तदा 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प:' इति पातझ्अलसूत्रे असद्ज्ञानमात्रस्य शाब्दत्वोक्ते: निर्षर्मकत्वाद्यें विरहात् तत्तद्धीविषयत्वादेरितरव्यावृत्तत्वनिश्रयेन व्यभिचारसम्भवान्च ${ }^{4}$ नानुमित्या, किन्तु राब्देन, तत्र च न लक्षणमपेक्षते, सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वस्य लक्षणत्वसम्भवाच्च। किंच वैरोषिकविशेषवत् निर्घर्मकस्यासतः सवत एवेतरव्यावृत्तिसम्भवात् न लक्षणापेक्षा। एवंचासत्यतिव्यापुचद्धावनमसक्रतमेव । किंच स्वान्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रति${ }^{1}$ तबिष्ठ:. ${ }^{2}$ असतो. ${ }^{3}$ निर्धर्मकत्वाद्धित्वादे. ${ }^{4}$ नानुमिल्यादिना हति पा.

न चैंग सत्यत्वमपि तत्र न स्यात, तथाच 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादिश्रुतिव्याकोप इति वाच्यम्; अधिकरणातिरिक्ताभावान क्युपगमेन उक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य श्रद्सस्वरूपाविरोधात्। एतेन स्वभ्रकाशत्वाद्यपि व्याख्यातम्परप्रकाइयत्वाभावो हि स्वप्रकारात्वम्। कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशापरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि । तथाच भावभूतधर्मानाश्रयत्वेऽपि ज्रक्सणः सर्वधर्माभावरूपतया न काडप्यनुपपत्तिरिति सर्वमवदातम् ॥ इति द्वितीयमिथ्यात्वविचारः.

## तृतीयमिथ्यत्वविचार:.

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम् । ननु उत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने अतिव्याति: मुन्र्रपातादिानिवर्त्ये च घटादावव्यासिः। योगित्वस्य नासति सम्भवः ${ }^{1}$, तस्योक्तव्यावहारिकत्वादिरुपतद्धटकाभावात्। एवंच अम्तु सन्मात्रेत्यत्र विषयत्वमात्रव्यापकत्वनिवेशः, उक्त विषयकत्वव्यापकत्वनिवेशे प्रयोजनाभावात्। किश्च विभिन्नसत्तेत्यादिना तव लालनमात्रं कृतम्। तथाचातिलाघवात् भावाभावयोर्विरोध एव न स्वीक्रियतां उक्करीत्या तस्य निष्प्रयोजनत्वात्। यदुक्तं सत्राभेदेत्यादि, तन्न ${ }^{2}$; सत्ताभेदस्यानुमितेः पूर्वमसिद्धावपि मिथ्यात्वस्य विप्रतिपन्नत्वेन भावाभावविरोधस्यापि विप्रतिषन्नत्वेन मिध्यात्वानुमितौ प्रतिबन्धकाभावात् पश्थात्तत्र ${ }^{3}$ प्रामाण्यशाक्कायाः सत्ताभेदकल्पनया निराससम्भवात् ॥
'तथा विद्धान्नामरूपाद्विमुक्तः, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपारौः' इत्यादिश्रुत्यर्थनिर्णयाय साध्यान्तरमाह-ज्ञाननिद्रूर्यत्वमिति। पूर्व1 संबन्धः. 2 कारणेषु राक्तिस्वीकारण. 3 तत्र.

ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायामप्ययं दोषः, अधिष्ठानसाक्षात्काएत्वेन निवर्त्ये श्रुक्तिरजतादौं च ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवत्यत्वाभावात् साध्यविकलता। ज्ञातत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां ज्ञानत्वव्याप्येन स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारे अतिव्यातिरिति चेष्ष; ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहग्रतियोगितवं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। अवस्थितिश्र द्वेधास्वरूपेण कारणात्मना च, सत्कार्यवादाम्युपगमात्।
ज्ञाने। तन्निष्ठोत्तरज्ञाननिवर्त्यत्वे। मिथ्यात्वलक्षणस्यातिठ्याप्तिः। तेन पूर्वज्ञानस्य मिथ्यात्वरक्षण ${ }^{1}$ रक्ष्यत्वेऽपि न क्षतिः। अथवा अतिव्याप्ति: सिद्धसाधनम् । अवस्थितीति । स्वाह्मकेत्यर्थः। स्वरूपेण घटादिस्थूलरूपेण। कारणात्मना कारणगतसूक्ष्मावस्थया। सत्कार्येति। कार्याणं पूर्व पश्रान्च आ तत्त्वदर्शनं स्वात्मकावस्थाभ्युपगमादित्यर्थः। पराक्नीकृतध्वंसप्रागभावयोरेव तथात्वेनाडगौरवात् एकास्मिन् कनके जायमानकटकमुकुटयोरेकत्रापरघ्वंसप्रागभावटवश्वीकारादतिरिक्तकल्पने मानाभावात् कटकमेव मुकुटं जातमिति तादास्यानुभवात् "तद्धेदं तर्षव्याकृतमासीत्, भूतग्रामस्स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रहीयते " इति श्रुतिस्मृतिम्यां तथा प्रतीतेश्र। अन्यथा पूर्वापरकालावच्छिन्नस्वसमवायिगतस्वात्यन्ताभावत्वादिविषयकत्वेनैव प्रतीव्युपपत्तेरतिरिक्रमागभावध्वंसयोः असिद्धे: प्रागभावो नष्टः ध्वंसो जात इत्यदिप्रत्ययानां ठ्यअ्अकनाशाद्धिविषकत्वेनोपपत्तेः। न च तौ विना पूर्वोत्तरत्वादिकमेव दुर्वचमिति वाच्यम्। तावता पूर्वत्वादेरेवाखण्डस्य सप्रतियोगिकस्य स्वीकर्तुमुचितत्वात्, तयोः कल्पने प्रागभावत्वध्वंसत्वादेरातिरिक्कस्य कल्पनेन गौरवात् । अथ प्रकृतलक्षणस्य प्रातिभासिककटकादावव्याप्तिः तन्निवर्तकज्ञानस्य तन्निष्ठप्रतिभासिक-

[^12]तादाल्म्यप्रतियोगिव्यावहारिकहेम ${ }^{1}$ कटकादिविरहाप्रयोजकत्वादिति चेन; न हि यन्निप्ठतादात्म्यप्रतियोगित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः ज्ञानप्रयुक्तः तत्त्वमिल्येन लक्षणं, येन ठ्यावहारिकहेमादे: प्रातीतिके कटकादौ तादात्म्यारोपादुक्तदोषः, किन्तु यान्निष्ठतादात्म्यस्य यत्समसत्ता कप्रतियेगिसामान्याभावो ज्ञानगयुक्तस्तत्वव्। यत्पदाभ्योमैकैव लक्ष्यव्यक्तिर्षार्या। अतएव शुक्किरूप्यादितादात्मप्रतियोगदिमाद्यभावस्स शुक्तिज्ञानाप्ययुक्तत्वेऽपि न क्षतिः। एतेन--"इहेदानीं घटप्रागभाव इति लोकाननुभवादिहेदानीं घटो नेति बुद्धे: सामयिकात्यन्ताभावविषयकत्वान्न प्रागभावे अत्यन्ताभावातिरिके मानम् "इति दीधियद्युक्तमपास्तम्। इह मृदि घटो नेति बुद्धे: कपालाद्यवस्थारूपपागभावावगाहित्वात् कपालादेशेश घटादितादाम्यादत्यन्ताभावत्वाभावात् तत्र घटात्यन्ताभावत्वे मानाभावात्। न च तत्र पूर्वत्वरूपाखण्डघर्मकल्पनेनैव ठ्यवहारनिर्वाहे प्रागभावत्वकल्पने मानाभाव इति वाच्यम् ; पूर्व्व्वोत्तरत्वयोरेव प्रागभावत्वध्वंसत्वरूपतास्वीकारात्। न च घटादेर्ब्यन्विकरणेऽपि तन्निरूपितयोस्तयोः सत्त्वाद्धटोदरनचधिकरणेऽपि तत्पागभावध्वंसयोर्व्यवहारापत्तिरिति वाच्यम् ; अत्र घटप्रागभावः अत्र घटध्वंस इति व्यवहारे पूर्वत्वोत्तरत्वयोः तन्निरूपितत्वस्येव तदाश्रये सामानाधिकरण्यस्य तादाल्म्यस्य वा घटसंसर्गतया भानात्। इह मृदि घटो नेत्यादिबुद्धौ घटादेः विरोघिसंसर्गाभावस्य विषयत्वेन घटादिप्रागभावादिमति घटाद्यन्तरवति नोक्तबुद्धि:। न चेह न. घट इत्यादिवाक्ये नजो विरोधिनि लक्षणा ${ }^{2}$ पत्तेनेदंद्युक्तमिति वाच्यम् ; नउर्थे संसर्गाभावे घटत्वादिरूपान्वायितावच्छेदकावाच्छिन्नाधिकरणावृत्तित्वरूपविरोषस्य घटादेः प्रतियोगिनः संसर्गतया भानात्। अतएव घटसंयुक्ते न घटस़ंयोग हतिवदन्णुपहास्यते । घटसंयुक्ते अप्रे न 1 हेमादे:, ? विरोघिलक्षणा.

घटसंयोग इत्यादौ तु अग्रावच्छेदेेन उत्तविरोघस्य भानं ठ्युत्पाति. बैचित्यात्। न च नलोडल्यन्ताभावे शक्तिस्वीकारेण तदर्थे तत्र घटत्वाद्यवच्चिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपघटा ${ }^{1}$ दिससर्गर्ग्यो क्तवाक्यजन्यवोषे भानेनोपपत्तावुक्तविरोधित्वरूपगुरुतरसंसर्गभानकल्पनमयुक्तमिति वाच्यम्; घटादिमत्ताबुद्दौ घटाघसमानाधिकरणधर्मवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्घक्वेन क्लृत्ततया उत्कवाक्यजन्यज्ञानस्य घटाघसामानाधिकरण्यरूपविरोषविशिष्वविषयकत्वे ${ }^{2}$ सांसर्मिकविषयतासाधारणोक्तविरोधविषयताघटितरूपेण प्रतिबन्धकताकल्पनेनैनोपपत्त्या उक्ष ${ }^{3}$ पतियोगिताकत्वविषयताघटितरूपेणात्यन्ताभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाकल्पनेन ल्राघवात्, उत्तज्ञानस्योकविरोघविषयकत्वेन वत्तुं युक्तत्वात्। किंच उत्रप्रतियोगिताकत्वघटितरूपेण प्रतिबन्धकत्वश्वीकरोडपि उउत्तवुद्देरेक्तविषयकत्वानियम:4 घटविरोधित्वविशिष्ष्यटात्यन्ताभावविषयकत्वैनैव तथा स्वीकार्यव्बात्, अन्यथा $\delta$ य्याव्यवृत्तित्वेन ग़स्रमाणोक्काभावज्ञानस्यापि प्रतिबन्धकत्वापातात्, अव्याप्यवृत्तित्वज्ञानस्योत्जेजकल्वें च गौरखात्। तथाचोक्तप्रतियोगिताकत्वविषयतानिवेशो वर्थ इति ध्येयम्। पूर्वावस्थाया अनुपमेंदेनयत्रावस्थान्तरतन्नारौ यथा कपालद्ययासंयोगात् घट: तद्विभागाच् तन्नाशः, तत्र तत्तक्कालार्दे’विशिष्टवस्थैव तत्पागभावध्वंसौ। वस्तुतन्तु तत्र घटस्य कपालनाशत्वं कवालन्तरस्य च पश्शादुत्पन्न्य घटनाशल्वम्, अन्यथा कपालादे: घटादिकालीनानन्तसंयोगादिकल्पनागौरवात्। एवंचाविद्यादिरुपूूर्वावस्थायां तथा बोध्यम्। कपालनाशस्थले तु कापालिकाघ्यवस्थैव कपालघटयोः नाशः, तौ्रैव लोके तत्व्वानुभवात्। अतएव विष्णुपुराणे--

मही घटत्वं घटतः कपार्किकाकपार्किकान्चूर्णरज्ततोडणु:।
1 घटत्वादि. 2 विषयकत्वेन. 3 अविच्छिण. पा. 4 निग्यकेन.
5 स्योष्कजनकत्वे. 6 कपालादि.

जनैः स्वर्कर्मस्तिमितात्मनिश्वयैः आलक्ष्ष्यते जूूहि किमत्र तत्त्वम् ॥ इत्युक्तम् 1 तत्र हि कमिकाणां कपालादीनामण्वन्तानां सर्वेषां अतत्त्वता प्रतिपादिता। तत्र कपालिकादन्यस्य ध्वंसादे: सम्भवे तदतत्त्वताया अप्रदर्शनात् न्यूनतेति कपालिकादिवत् सोप्युच्येत मही कपालादि: घटत्वं घटः पूर्वावस्थैवोत्तरावस्थां प्रति परिणामितया कारणम्। अतएव तयोस्तादात्म्यमित्यावेदायितुमेकपदासम्भवयोरपि तसिल्प्रत्ययप्रथमयोः मिन्नपदगतत्वेनोक्तिः। अणु: त्रुटिरालक्ष्यते। द्यणुकपरमाणू तु न स्तः। अन्यथा तदतत्त्वताया अप्रदर्शनात् न्यूनतापत्तेः । न च त्रुटेः पूर्वसिद्धत्वेन न जन्यतेति वाच्यं; अनन्तत्रुटितत्संयोगादीनां घटादौ पूर्वसिद्धताकल्पने गौरवात्, घट़ाद्घनन्तर्गतत्वेन उपलुम्यमानानामेव त्रुटीनामुत्पत्तिस्वीकारात्। अतएव 'रुपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्' इति सूत्रे घटादिवत्रुटिरानित्या रूपादेरित्युक्तम्। न चाप्रयोजकत्वं रूपादेरिति वाच्यम्; पाकादिना घटादिकमुत्पघते नइयति च, न तु घटरूपादिकम्, एकैकास्मिन् बहूनामुत्पत्तिनाराकल्पंने गौरवत्, नित्याखण्डरुपादे: तत्र घटादावनुभवानुरोधात्त्वीकार इति न्यायस्य घटादाविव त्रुटावपि तुल्यत्वात्, जर्रुयादित्रुटावपि रूपादीत्यादिपदेन संयोगादिकल्पनारूपोकगौरवापत्तिप्रहणात् अनित्यत्वावर्यकत्वात्। विवृतमधिकमेतस्सूत्रमुक्तावलौ न•। घटः धंसः इत्यादि तु उ्यवद्दियत एव। घटो ध्वंसत्वमापद्यत हृत्यादिव्यवहारात् यदि न व्यवह्दियते त़दा तादात्म्यस्य घजर्थव्वेन घंसतादात्म्यस्य नामार्थस्य घटादावभेदान्वयासम्भवात्। अतएव साधु: ध्वंस इत्यादिप्रयोगः। अन्यथा धात्वर्थविशोषणत्वात् साध्वित्येव स्यात्। एवंच नइयतीत्याद्यनुरोषेन परेषामिव न नः प्रतियोगितात्वादिना आखूयातस्य शक्कि: रक्षणा वा युज्यते, चलुति स्फुरति भातीत्यादि-

साषरण्येन तादाल्ये क्रपशत्तयैयोपपतेरित्यादि लाषवम्। किंच घटतद्धेतुकपालयोः समसत्ताकमेदे गुरुत्वादिभेदात्तत्कार्यावनतिविशेषाध्यापत्वःः। अथ गुरुत्वादिकं कार्यद्दव्ये कुत्रापि वा न जायते, उत्ककार्य तु त्रुट्युगुत्वेम्यः अवयवविशेषाद्वा, तर्षवयवानां मिथस्संयोगमात्रादवयवनाशरूपात्परिणामविरोषाद्वा उत्रकार्यसंम्भवात् ${ }^{1}$ कृतमवयवावयवियौगपघेनोोक्तगौरेणे। अथ मिन्नकालीने घंसे प्रागभावे च कथं तत्रतियोगिनः तादास्मामिति चेत् प्रतियोग्यनुयोगिभावोऽपि ते कथं? अनुभवस्य मेडपि नुल्यत्वात्। किचैक स्यामेव मूलावियाव्यक्कौ तत्तस्सामर्मीसमवधानोत्तरकालावच्छेदेन सामान्यगुणकर्मणां भेदामेदादीनां चाखण्डानां ${ }^{2}$ अविद्यावस्थारूप्लेनानादीनां यथामर्यादं सत्त्वम्। अतएंवाविद्यन्यजडजातौ मानाभाव इति वृद्याः। तन्नचायश्न गुणादौ तुल्यः । ${ }^{3}$ तेषां निल्याखण्डत्वमपि। एकैका एव नल़रारुणादिव्यक्तय इल्यादिना मीमांसकनण्यतार्किकादनुमोदित आविर्भावमान्रं न किस्चिदुसयते इल्यादिसांख्यादिसिद्धान्तस्याप्ययमवे निण्कर्ष:, प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। इयांस्तु विरोष:-यतैः 'अविब्यानामाविनाशि सत्यत्वं भेदाग्रहादिकं चोच्यते, सिद्धान्ते तु विनाशि मिध्यात्वम्। भेदाग्रहादिस्थले च प्रातिभासिकाभेदादिरिति मूलावियायां घटत्वादेरुक्क कालावच्छेदैनैव सम्बन्धो घटाह्युत्पत्ति:, कपालिकात्वाघुक्तसम्बन्घो घटादिनाशो व्यवद्रियते। उक्ष च तत्त्वकौमुधां'कारणसम्बन्धः उत्पत्ति:' इति । यावतां मेलन क्षणाव्यवहितोत्रक्षणावच्छेदेन यस्य सम्बन्ध: तावतामनन्यथासिद्धानां तद्विशिष्टं प्रति तत्कारणत्वं च्यवह्दियते । न च कारणकूटवत् ततर्क्षणाव्यहितोत्तरक्षणावच्छेदेन मूल्राविधायां धटत्वादिरूपावस्था-
 ${ }^{3}$ तथेति. पा. 4 अवियानायानामितिवा. पा.

विद्यासम्बन्धो घटायुत्पत्तिरिति वाच्यं ; तत्र तत्तक्ष्षण़त्वादीनामनादिनत्तदविध्यारूपतया तद्विशिष्टमूलाविद्यारूपक्षणानामप्यनादित्वात् तत्तदवच्छिन्नसम्बन्धस्योत्पतित्वं न युक्तमिति चेत्, न। अन्येषु तत्ततक्षणव्यक्तित्वसंबन्धेषु अन्यक्षणठ्यक्तित्वसम्बन्धोऽवच्छेदकः तत्राप्यन्यक्षणठ्यक्कित्वसम्बन्धः अवच्छेदकः इत्यविद्यारूपतत्तर्षणन्यक्कित्वानामनन्तत्वेनैकैकस्य सम्बन्धे अपरस्यापरस्य सम्बन्घोऽवच्छेदक इत्यदोषात्। तार्किकादिमतेऽपि स्वजन्यविभागप्रागभाववैशिष्ट्य रूपतत्तत्क्षणत्वानां क्रियानिष्ठानां मीमांसकनव्यतार्किकयोरिव सांख्यादीनां मतेऽपि क्षणानां क्षणिकानां पूर्व सतां उत्पत्तिः, इति विशोषः। तथाचानादिघटत्वादिरुपपह्डवाविद्यासम्बद्धानां तत्तन्क्षणावच्छिन्नत्वमेव मूलाविद्यारूपत्वेनानादिघटादीनामभिव्यक्ति: सांख्यानिस्मझ्मता। तबाभिव्यक्ति: पूर्वमसतीति चेदसत्कार्यवादापत्तिः सतीति चेत्तस्या अप्यभिव्यक्किरेवं तस्या अपीत्यनवस्था इत्याशाक्कय पेषषामुत्पत्तिवददोष इति तत्त्वकौमुद्यां समाहितम्। एवंच परेषामुत्पत्तिरसती तस्याः उत्पत्तिरपि सैव युगपत् क्षणद्वयस्ग मानाभावेनानऊीकारात्, क्षणान्तरसम्बन्षे तदुत्पत्तित्वस्य वक्कुमशाक्यत्वात् । अतो नानवस्था। तथा $5 \neq म$ कें अगत्या पूर्वं असती अभिव्याक्तिः सैव च तस्याः अभिव्यक्तिरिति नोक्तदोषः । अतएव प्रतिक्षणणं परिणामिनो भावाः शुद्धे'चिति शक्किरिति सांरुयादिसिद्धान्तः । क्षणविशीष्ट्र रूपेण चिदन्यस्येत्पत्तिसम्भवात् । चितस्तु नोक्त रूपेणाप्युत्पत्तिरसकत्वेनोक्ररूपस्यैवाभावादिति भावः। अविद्यादीनां स्वरूपेणानावृतत्वेडापे एकविशिष्टमूलाविद्यायःः अपरसम्बन्घांशे. अवरणे न दोषः । 'बडस्माकमनादयः' इत्यनादातरेषां अविद्यारूपत्वाभावेऽप्यक्षतेश्र ।

[^13]दृष्टिस्ट्र्ट्टिक्षे उक्तावरणस्याप्यस्वकिाराच्च। अथैवमपि घटत्वकपालिकां习योः भिन्नकालीनत्वात् तद्विशिष्टयोः न त।दात्म्यं किंतु तदुपलक्षितयोरिति चेत्, सत्यं ; अतएव घटो यः स्थितः स हृदानीं कपालिका, बालो यः स्त्थितः स इदारीं युवेत्यादिरेव अनुभवः न तु घटः कपालिका इत्यादिः। अतएव घटः प्रमेय: नरिे घटः इत्याद्यनुभवयोः घटत्वादिविशिष्टे प्रमेयादे: नीलत्वाद्युपहिते घटस्य च अभेदभानात् उक्तानुभवाद्दैरक्षण्यम् । भाष्यादौ चायमर्थः सफुटः - 'भावे चोपलब्घे: इति सूत्रे हि द्रव्यस्य भावाभावाभ्यां गुणादे: सयोर्दर्शनात् द्रव्यमेव संस्थानभेदान्नुणाद्यनेकधीशब्दभाक् । यथैको बाल्यादिभेदेनेन्युक्तम्। यत्तु तनुतरमेवं सति सांख्यसिद्धान्त इति काणादं प्रत्युक्षं, तत्सत्यताद्यक्जकारे, तत्त्यागे तु वेदान्त।सिद्धान्तः। अतएव सम्बन्धतदूतोरेकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षया घटस्संयोग इत्यादिधीशब्दाः । यथा एकास्मिन् मनुष्यो त्रात्मण इत्यादि:। न हि कार्यकारणयोः भेद्: अश्रिताश्रयत्व वा वेदान्तिभिरम्युपगम्यते, कारणस्यैन संस्थानमात्रं कार्यमित्यम्युपगमादिति तत्रैव पश्रादुक्तम्। तत्र घटत्वविशिष्टं प्रति स्वरूपं घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदानुयोगितानवच्छेदकं घटत्वाद्येव बाद्यरूपं तदन्यत्संयोगद्रव्यत्वादि ।'भावाच्चोपलब्धे: इति सूत्रे तन्तुव्यतिरेकेण कार्य न, किन्तु तन्तव एवातानवितानवन्तः पट इत्युक्तु तर्द्यातानवितानरूपसंयोगा एव जायन्त इति कार्यस्य पर्वमसत्त्वापत्तिरिति हृध्याशक्कय मूलकारणपर्यन्तमेषा रीति: न किंचित् जायते न्यायसाम्यादित्यभिप्रायकं तन्तुष्वंश्रा इत्यादिक मुक्तम्। भामत्यां च 'तंत्रैकत्वं वनवत्' इत्युक्तम्। 'सत्त्वाच्चावरस्य ' इति सूत्रे पूर्व कारणत्मैनैव कार्यस्य अवरकालीनस्य सत्त्वात् कारणानन्यत्वमुक्तम्। ‘युक्तेरशब्दान्तराच्च’ इति सूत्रे कारणव्यापारवैयर्थ्यमाराक्रय नैषदोषः कार्याकारेण कारणव्यवस्थापकत्वात्

तथाच मुक्षरपातेन घटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणात्मना अवस्थितिविरहाभावात् ज्रह्नज्ञानग्रयुक्त एव स इति

तस्यार्थवत्त्वादित्युक्त्वा तर्हि कार्याकारो जायत ${ }^{1}$ इति हृद्याशाक्क्य कारणे अव्याव्यवृत्तिपटत्वादिसम्बन्धस्योक्तरीत्या सम्वादकत्वमेव तादृराव्यवस्थापकत्वं अन्यथा कार्यासत्त्वतादवस्थ्यादित्याभिप्रायकमुक्तम्। ततश्ष कपालत्वघटत्वयोः भेदात्तदाश्रययोरपि ₹वसमसत्ताकभेदः ताहहाभेदविरोधी "इत्याशक्कय बाल्ययैवनादौ तददर्शनात् न तथेत्युक्तं नच विरेषदर्शनेत्यादिना । ततश्धाव्याप्यवृत्तिघटत्वादिसम्बन्ध एवोत्पत्तिः, ततश्व तादृशभेद्शश्रावइयको बालयूनोरपि स इष्ट इत्याशक्कय तत्रोत्पत्त्यदिस्वीकोरे सङ्कोचविकासाक्यां एकस्यापि तस्सादित्यभिप्रायकं 'न क्षीरी 'त्याद्युक्ता तस्मान्मूलकारणमेव तत्तदाकारेण सर्वव्यवहारास्पदामित्युपसंहृतम्। "उभयथा च दोषात्" इति सूत्रे च भाष्यभामत्योः वायवीयादिपरमाण्वपेक्षया तैजसादिपरमणूनां स्थूलतैजसादिद्रव्यस्येव मूर्युपचयः ${ }^{3}$ आपादितः। तचोकरीत्या तेजस्त्वादीनां शब्दस्पर्शरूपादीनां च मेळनात् तज्जन्यविरोषस्य स्थूलैतैजसस्थले अनखीकारादेवोपपद्यते, अन्यथा तत्र स्थूलद्रण्योत्पत्तिस्वीकारे तदसम्भवात्। न च तदखीकारेपि महत्त्वविशेषस्य तैजसत्वादिव्याप्यजातिविशेषस्य च स्थूल इव परमाणावभावान्नोक्कापत्तिरिति वाच्यम् ; स्वरूपगुणजातिभिः त्रसरेण्वविशोषस्यैवापादनाव्, त्रसरेणौ चोक्तजातिमहत्व्वयोः मानाभावाप्, महत्त्वमात्रोपेक्षया पक्टष्टस्येवापक्टष्टस्यांपि महत्त्वस्यानतीकारात्। नीलपतिकपालारबघघटादौ रूपानझीकारेण रूपमहत्त्वयो: कारणताद्वयकल्पनापेक्षया लाघवेन च रूपमहत्त्वयोः कारणत्वस्थले शाक्तिविशोषविशिष्टत्वेन तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुपहेतुत्वस्वीकारात्। अत

[^14]नातीतघटादावर्यासि:। अतएवोत्तरश्राननिवर्त्ये पूर्वझ्नाने न सिद्द्रसाधनम्। न वा वियदादौं श्रद्कज्ञाननाइयत्वेऽपि तदूदेव मिथ्यात्वासिद्धधा अर्थान्तरम् । उत्तरक्ञानेन लीनस्य पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मना अवस्थानात् अवस्थितिसामान्यएव परमाण्वादेरचचक्षुष्तोपपत्त्या महत्त्वस्य तदहेतुत्वात्, उक्तमहत्वाज़िकारेडपि लाघवेन प्रकृष्टमहत्त्वासमवहिततैजसत्वादिसम्बन्धविशिष्टे सर्वत्र तस्सम्बन्ष्स्योक्ररीया स्वीकारेण परमणावपि तस्सम्भवात् । तदुक्त भामत्यां-'तथाचापरमाणुत्वं स्थू इति। तथाच परमाणुत्वद्यणुकत्वासम्भवः पर्यवसन्नः । महत्त्वस्य प्रत्यक्षानियामकत्वल्रघवमप्यत्रोपजण्यम् । कह्पतरावपि-" द्रव्यस्य गुणसमुद्यायरूपत्वात् तदृद्धिहासाम्यां उपचयापचौौ" इत्युक्तम । यदिच मूलाविद्यायां कादावित्कस्य घटत्वादिसम्बन्बस्य अवसयं प्रयोजकं बाच्यं घटसंयोगाबभावोपि भूतलादौ घटसंयोगसामभीरूपकारणाभावपयुक्तः अन्यथा सर्वैदैव स्यात् कदापि वा तन स्याददिंति जूूे तदास्तु दण्डादि'सम्बन्ष एव तथा। नैतावता कस्यचिदुत्पत्तिः, त्वयापि घटघटत्वादिसम्बन्धस्य दप्डाविप्रुकस्य तदनर्ञा|कारादिति अवहिततमाचैतैस्चिन्य्यमेतस्सुष्थीिः । उक्षज्ञान्रयुक्त एव स-छति॥ अह्सणः तद्ज्ञानस्य वाऽज्ञानादिध्ंसत्वेन ब्रह्सज्ञानपयुक्तत्वमखण्डं युक्तम्, ज्ञानात्कैबल्यमिति लोकशास्रव्यवहारात्। आधार एव ध्वंसः प्रतियोग्येव पागभावस्य स इति मतयो: आत्मनो डज्ञानादिघंसत्वेन प्रयुक्तर्वस्य स्वस्यैव स्वपागभावध्वंसल्वेन स्वप्रयुक्तत्वस्यं च स्वीकारात्। उत्तरज्ञानात् ज्ञातध्वंसः स्वस्मात् स्वभागभावनाश इति प्रत्ययात्, जन्यत्वं बु क्षेमसाधारणं, अद्सणोऽन्याहचं तु पश्चमप्रकासस्यैवेति यथास्थानं बक्ष्यते। एकमेव

विरहानुपपत्तेः। शराविषाणादाववस्थितिसामान्यविरहेऽपि तस्य ज्ञानश्रयुक्तत्वाभावाष्धातिव्यापि: । शुक्तिरजतादेश्रापरोक्षप्रतीत्यन्यथानुपपत्या प्रतिभासकाले अवसिथत्यक्रिकाराक्भ बाधकज्ञां विना तद्विरह इति नं साध्यविकलता। अतएवेनें ध्वसत्वं स्वपरसाघारणसकहहहइयपातियोगितानिरूपकमिंति ध्घंसत्वान्तरास्वकिारादनवस्था नागङ्क्या, हइयप्रतियोगितात्वेन निरूप्यत्वात् नात्माश्रयः : यद्यपि परमतेऽप्युत्रषपप्रयुक्तो ध्वंसः पूर्वज्ञानात्मकसामान्यस्पैवेति सिद्धसाधनादितादवस्थ्यं, विषयतासम्बन्धेन प्रयोजकत्वोकावपि परामर्शपयुत्कानुमित्यादे: प्रागभावे बाधधर्भियुक्तानादिसंसर्गाभावस्य प्रतियोगिनिविप्टज्ञानादौौ च तथा। तथापि ज्ञानवयुक्ततावच्छेदकं ज्ञानपयुक्तं वा अज्ञानवृत्रित्रतियोगित्वं रक्षणं निर्दोषम्। अज़ानघ्बंसक्षण एव तत्कार्यस्य जीवेशामेदादेश्र ध्ंस एक इल्येकैव तदीया तेष्ड पतियोगितेति नाज्ञानभिन्नाव्यात्तः। ज्ञानप्रयुक्ताज्ञानध्धंसस्य प्रतियोगिलं वा अज्ञानध्वंसादितरध्वंसोत्पत्व्यजकारे अज्ञानध्वंसपयुक्तध्वंसमतियोगि तादास्म्यं तत् उत्कपतियोगित्वं जीचेशमेदादाविचाज्ञानकार्येपि तत्तादात्म्यमज्ञाने sपीति द्रइयमात्रे तदन्वयः अज्ञानवृत्तिभेदादिप्रतियोगितया सिद्दसाधनस्य वारणाय विशाषणंशशविषाणेति। शशविषाणे विरहमतियोगित्वस्पैवानम्युपगमात् अद्दाति। घटादीत्यर्थः। घटादौौ चातिव्याप्तिः सिद्धसाघनं, तथाव पटादिनिहस्य घटायवास्थितिसामान्याविहहस्य ज्ञानामयुयकत्तव्वान्न सिद्धसाधनमिति भाव:। गुक्तिरजतादे: पराज़ीकुतमसत्व्वं निस्यति- गुत्तीति। प्रतिपन्नोपाधै स्वरूपेण निबेध्यस्यापि नासत्त्वं, असद्वििक्षणरूपं विनाप्यापरंक्ष्ये शइचिषाणेडपि तस्यादिति भावः। एतेन-" अवस्थित्या सामान्यं विझेष्यते विरहो वा, आधे अवास्थितिसामान्यं कारणात्मना डबस्थितिः कारणमिति यावत्। तथाच ज्ञानप्रयुक्ताभावप्रतियोगिकारणकते बाच्ये उत्ररीप्पयुक्ताभावप्रतियो-

गिपूर्वरीजन्यसंस्कारादौ सिद्दसाघनम्। अनाब्यविथादौ च बाषः। ताहछापतियोग्यविद्योपादानकत्वोकौ प्रतियोम्यन्तैयैयथ्यं अनादिढइये' बाधश्ष। न द्वितीय:, घटाबवस्थितेर्हि सामान्येन विरहो घटादे: स्वरूपविरहः कारणरूपविरहश्येति हूयं विश्शाषाभावान्यसामान्याभा बस्य ल्यैयाविविदावदे निसस्यत्वात्। तथाच स्वरूपविरहस्य ज्ञानाप्रयुक्तत्वादसम्भवः, अवस्थात्वस्यातिप्रसक्तेन ज्ञानपयु क्तविएपपियोगितानवच्छेदकल्याच्च। श्रुक्तिरूप्यादेः स्वरूपेणावस्थित्यञ्ञीकारे स्वरूपेण निषेषस्यासम्भवात् शुक्तिरूप्याध्यावस्य शराविषाणाद्यभाववत् ज्ञानामयुक्तर्वाच्च साध्यैकल्य बाघश्षेत्यपास्तम्। किंच ज्ञानकालविधमानं यत् घटादिश्भूलस्वरूपं तद्द्रिरहस्य सूक्ष्मावस्थारूपस्य ज्ञानाप्रयुत्केव्वऽवि ज्ञानकालविद्यमानं यद्धटादिस्थूलरूपं तद्विरहो ज्ञान'पयुक्त एव, ज्ञानकाल्यविद्यमानस्थूलेऽपि स्वकीयसूक्ष्मावस्थाध्वंसस्य ज्ञानप्पयुकस्य प्रतियोगित्वमव्याहतं, घटपागभावे धटध्वंसप्रतियोगित्ववत्। तथाच स्वरूपविरहो ज्ञानाप्रयुक्त इति न ठ्याहतम्। अपिच सामान्याभावास्वीकरेडपे विशेषाभावकूटनिष्ठेन अज्ञानकार्यव्वावच्छिन्नपियोगेताकाविहत्वेन एकाज्ञानपक्षे अज्ञानधंसोत्तरमस्तनपयुक्तध्ंसस्वकिरे अज्ञानमिन्नहइयव्वावच्छिन्नपतियंगितातविरहत्वेन युगपसर्सर्वछ्यध्वसस्वीकारे हइयय्वावच्छिन्नव्रतियोगिताकाविरहत्वेन अह्सज्ञानप्रयुक्तव्वाकीकारात् ज्ञानपयुत्कतावच्छेदकस्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकविरहत्वर्षर्मवत्त्वं उक्षणं निर्दोषम्। न च घंससैपैव ज्ञानपयुक्तत्वान्नोक्तरूपेण तत्, अन्यथा गुक्तिरूप्यादेः उत्पत्तिपूर्व अनधिकरणदेनो वा तदभावो ज्ञानप्रयुक्र इति स्यादिति वाच्चम्; दाहस्य हेत्वभावकाले जलादौ वा तदभावो मणिप्रयुक्त इति बुद्धघभावात्, देशकालविशेषावच्छेदेन तदभावस्य तत्रयुक्तल्ववद्देशकालविशेषावच्छेदेन संसर्गाभावमात्रस्यैव

## विवरणाचायै:-‘अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा

 चानपयुक्तत्वसम्भवात्, ताहशात्यन्ताभावत्वादिनाऽपि ज्ञानหयु कत्वप्रतीतेश्र, स्वविशिष्टप्रतियोगिकघ्वसत्वस्य स्वादिविरहत्वान्तस्थले निवेशसम्भवाच्च। यत्तु कालदेशाविशोषयोः एकनिष्ठापरावच्छिन्नकार्याभावाधिकरणतैव प्रतिबन्धकादिप्रयुक्तेति, तन्न; इहेदार्नी दाहाभावो मणिप्रयुक्त इत्यादिशब्दभ्रत्यये अधिकरणत्वापत्ययादाधेयत्वस्यैव नठ्यमते सप्तम्यर्थत्वात्। न च तयोरेकनिरू|पितमन्यावच्छिन्नमाधयत्वं प्रयुक्तं ${ }^{1}$ उक्तम्पत्यये भातीति ${ }^{2}$ वाच्यम्। प्रयोजकसमानाधिकरणन्यैव प्रयुक्तस्यौचित्यात्। अन्यथा दाहाभावो मणिप्रयुक्तो नेति प्रत्ययापत्तेः। अश्रानस्य स्वकार्येणेति। स्वोपादानाज़ानम्य स्वस्य च निवर्तकं ज्ञानमारोप्यस्य बाध इत्यर्थः। तेनाज्ञानस्य बाध इति न व्यवहारः। किन्तु शुक्तिरजतादेः स इति उत्तरधीः पूर्वधीबाधो मा भूदिति स्वोपादानाज्ञानस्येति । उपादानत्वं प्रयोजकत्वम्। तेनाज्ञानादिसम्बन्धाद्विबाषे नाव्याप्तिः। अज्ञानतत्कार्ययोः धंसयोः भेदस्वीकारे स्वोपादानाज्ञाननिवृत्त्युदयक्षणे स्वबाधाठ्यवहारात् ₹वस्येति। निवर्तकत्वं च निवृत्त्युपधायकत्व " उपाधिसत्निषानादिकालीनज़ानस्य प्रतिबिम्गादिअ्रमबाधत्वे स्वरूपयोग्यत्वमेव वाच्यं, स्वस्येति न वाच्यम्। परो• क्षस्याप्यपरोक्षभ्रमबाघत्वे अज्ञानतघ्याप्ययोः धंवैकैके वा उपषायकत्वोक्तिपक्षेऽपि स्वस्येति न वाच्यम्। परोक्षभ्रमोपादानस्य असत्त्वापादकाज्ञानस्य निवर्तकत्वात् परोक्षेऽपि - रक्षणनन्वयः। उपषःयक त्वं च एककालीनत्वघटितमिति निवृत्तिकालएव बाधठयवहारः स्थूलस्वरूपस्यापि सूक्ष्मावस्थानिषृत्रिप्रतियोगित्वमिति तत्कालेडपि तद्वाघब्यवहारः। निवृत्त्युपधायकत्वोक्किपक्षे भाविनो वर्तमानं ज्ञानं बाधो नेत्याशयेनाह—वर्तमानेन प्रविलीनेन वेति। तः लक्षणापविष्टत्वेन[^15]सह झ्वानेन निषृत्तिर्बाघः' इति। वार्तिकक्रुस्सिय्यो्रम्तच्चमस्यादिवाक्योत्थसम्यक्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदास्ति भविष्यति ॥।

इति। सह कार्येग नासीदिति लीनेन कार्येग सह निवृत्यभिग्रयम्। 'सह कार्येण न भविष्यति' इति तु भाविकार्यनिवृत्यभिग्रायमित्यन्यदेतत् । रूप्योपादानमश्नां

स्वरूपकथनरपि अरीतस्यापि वर्तमानज्ञानं बाध इत्यत्रोपष्टर्भक. । अज्ञानपयोज्यस्य ज्ञानप्रयुक्ता निवृतिः निवृतित्वर्वरूयोग्यं ज्ञानं वा बाध इति बाधसामान्यकक्षणम । प्रयुक्तवक्वस्य स्वरूपयोग्यत्कस्य चाज्ञाननिशृन्तिद्दारकत्वं वाच्यम्। तेनोत्तरर्धप्रयुक्तूर्वधीनिवृत्तौ नातिव्याति । अज्ञानतव्वयुक्तयोः घंसैक्ये निवृत्तावज्ञानप्रतियोगिकत्वं वाच्चम्। ज्ञानधयुक्तेति न वाच्यम्| स्वरूपयोग्यत्व ${ }^{1}$ च साक्षादेव वाच्यमिति दिक्| लीनेन कार्येणेति । येन कार्येण सह अविया आसीत् येन चास्ति भवविष्यति तैस्सह सा तत्वज्ञानान्नासतांति श्रोकार्थ•। तत्राविद्याया इवातीतादिकार्याणामवि धंसरूसंसर्गाभावस्य तच्त्रीपयुकत्वप्रतीरेरतीतस्य च सूक्ष्म्मवस्थारूपो घंसो न वर्तमानतच्चर्णीवयुक्तः तस्य तत्वाप्य्ययात्। किन्तूक्तावस्थाप्रतियोगिकछंस इति ज्ञानभयुक्तघंसबर्भोगिगित्राय लनिावस्था आवस्यकीति भावः। भावीति। बर्तमानतत्त्वज्ञानेनाज्ञानस्य आवरणझक्रिमात्रस्य वा निवृतिद्दारा भुज्यमानकर्मफलम्य भाविनो निवृतिः । सा च प्रक्ठतानुपष्मि-केत्याह-इत्यन्यदिति।

स्वकार्येण वर्तमानेन लीनेन वा सहाधिष्ठानसाक्षात्काराकिवर्तते । तत्तदूप्योपादानानां अज्ञानानां भेदाम्युपगमादिति न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्। मुद्ररपातानन्तरं घटो नास्तीति प्रतीतिवदधिष्ठानज्ञानानन्तरं शुक्तथज्ञानं तश्रतरूप्यं च नास्तीति प्रतीतेः सर्वसम्मतच्च्यत्। ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यपि साधु । उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञाननिवर्तकत्वं च न ज्ञातत्वच्याप्यधर्मेण, किन्त्वच्छादिसाधारणेनोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन उदी़च्यत्वेन वेति न सिद्ध-

अज्ञानानां भेदेति। तथाच तन्मत एवेदं साध्यमिति भावः। अथवा ननु अवस्थाऽज्ञानानम्युपगमपक्षे साध्यं नेटद्रां सम्भवतीत्यत आह-रूप्येत्यादि । अधिष्ठननेति। श्रहेत्यर्थः। निवर्तते निवर्तितुं योग्यम् । तथाचाज्ञानकार्यत्वरूपं ज्ञाननिवर्त्यतायाग्यत्वमेव वाच्यं, उक्तसंग्रहायेति भावः। एकस्य मूलाज्ञानस्य कार्यमात्रोपादानत्वं सहकारिचैचित्यादित्याह-तत्तदिति । अज्ञानानमिति। पदार्थतावच्छेदकमेदेदेन एकरोषाने कचवनयोरुक्ति: सूर्यमित्रावित्यादिवत्। भेद: तत्तद्दोप|दिसहृकारेण तत्तन्द्रमोपधायकत्वम्। नास्तीति प्रतीतेरिति। न च तत्र ध्वंसभाने ${ }^{1}$ रूप्यध्वंसवति रूप्यवत्यपि ताद्दशबुद्धचापत्त्याडत्यन्ताभावविषयकत्वस्यैव वाच्यत्वात् कथं ज्ञानप्रयुक्तनिवृत्तिसिद्धिरिति वाच्गम्; ताहराबुद्धेः रूप्यत्वावच्छिन्नविरोधिसंसर्गामावविषयकंवेनोक्त।पत्त्यभावात्। किंच पातानन्तरं पातोत्तरमेव। रूप्यं चेति चकार एवार्थो ज्ञानानन्तरामित्यत्र योज्यः। तथाच ज्ञानानन्तरमेव रूष्यं नास्ति ${ }^{2}$ नतु ज्ञानपूर्वमिति प्रतीतेः धंंस एव विषय इति भावः। उदीच्यात्मेति। इबबदस्य तु पृथिन्यादिगुणस्य वायुसंयोगादिनैव नाशः। उदीच्यत्वेनेति। उदीच्यगुणत्वादिव्यापके-

[^16]साधनादि । नापीच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारे अतिव्याप्तिः, स्मृतित्वेन स्मृतेः संस्कारनिवर्तकत्वे मानाभावात्। स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढो भवतीत्यनुभवसिद्धम् । दृत्तं च समानविषयकसंस्कारानेकत्वमित्यदोषः। वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम् । अतो न पूर्वोक्तदोषः। नापि निश्ययत्वेन ज्ञातत्व-

त्यर्थः। व्यापकत्वरूपावच्छिन्नत्वस्य तृतीयार्थत्वान्नाम्नोप्युद्रीच्यविशेषपरत्वाच्च । तथाच गुणत्वादिना निवर्तकव्वं, निवर्त्यता तु धर्मादिव्यावृत्तेन शब्दसाधारणेन। न च ज्ञानादेः क्षणिकत्वापत्तिः स्वस्यैव नाशकत्वादिति वाच्यम् ; पूर्त्व्वसम्बन्धेन नारीकत्वस्वीकारात्। वस्तुतम्तु उदीच्यव्वेनेत्यस्य जातिविझोषेणेत्यर्थः 1 तेन गुणत्वादे: व्यापकत्वेन अन्यथासिद्धया विनिगमकाभावेन च ज्ञानत्वादिना न तत्पसक्तिः। यत्तु सिद्धान्ते पूर्वधीिनिवृत्तिरेगोत्तरधीः अतो न सिद्धसाध्यतेति, तन्न; ज्ञानमेवाज्ञाननिवृत्विरित्यस्यापि तुल्यत्वात् ज्ञानाइमकनिवृत्तित्रतियोगित्वे वाच्ये तद्दोषतादवस्थयात् अनुभवसिद्धं विलक्षणस्मृत्यादिकार्येणानुमेयम्। ननु अनुमेयो विलक्षणसंस्कारोपि स्टृतिजन्य इति स्मृत्या पूर्वसंस्कारनाश एवेत्यत आह-दुढत्वं चेति। तथाच समानविषयकत्वादेसम्बन्धेन संस्कारविशिष्टसंसकारत्वेन विलक्षणस्मृतौ हेतुत्वं न तु विलक्षणसंसकारत्वेन, वैछक्षण्यस्य तत्र म्मृतिनियम्यत्वस्य संस्कारनाशादेश्व कल्पने गौरवात्। न चोपेक्षात्मकस्म्त्युत्तरं ₹मृत्यापत्तिः, उद्बोधकाभावात्। पद्ज्ञानत्वाद्यनुगतरूपे विशेष्यविशेषणत्वाविनिगम्यत्वेन नानाहेतुत्वापत्त्या विजातीयत्वैनैवोद्बोधकत्वादिति भावः। संराये बिपरीतज्ञाने। यद्याप ध्वंसत्वेन प्रयुक्तलोक्तौ नायं दोषः अनादिसंसर्गाभावस्यैव निश्रयादिप्रति-

ब््धकप्रयुक्तत्वात्। अनुमित्यादिरूपः प्रागभावध्वंसो न ध्वंसत्वेन परामर्शादिप्रयुक्तः, तथापि ज्ञानत्वव्याप्यापेक्षया लाघवात्साक्षात्कारत्वमेव वाच्यं न तु ध्वसत्वेन प्रयुक्तत्वामेति भावः। ननु इदं रजतं परयामीत्यनुभूयमानभ्रमं प्रति चाक्षुषत्वेन निवर्तकत्वं एवं स्पृारार्मत्याध्यनुभूयमाने ₹्पार्शानत्वादिनेनि साध्यवैकल्यमिति चेन्न; चाक्षुषाधिष्ठानधजिन्यभ्रमोपधायकाज्ञानत्वेन चाक्षुषत्वेन निवर्य्यनिवर्तकतोकौ तादृशोपधानशून्याज्ञानस्य चाक्षुषणाप्यनिवृत्त्यापत्तेः। उक्तभ्रमस्वरूपयोग्यतोक्तौ चाक्षुषं विना स्पार्शानादिना तादृास्वरूपयोग्याज्ञानानिवृति' प्रसज्ञात्। न च स्पार्शानादिनिवर्ताज्ञानं नोक्तस्वरूपयोग्यमिति वाच्यम्; चाक्षुपस्पार्शनाधिष्ठानधीजन्यभ्रमस्य समूलूस्य स्पार्रनादिना निवृत्तेः। तत्राज्ञानभेद्वर्वाकारेडरि अज्ञानसत्ते अधिष्ठानप्रकाशानुपपत्तेः। न च साक्षात्कारत्वेन निवर्तकत्वे अधिष्ठानस्पार्शानोत्तरं कचिचाक्षुपादिख्रमस्यानुभूयमानस्यानुपपत्तिरिति वाच्यम्; तादृशस्थले स्पार्शनादौ अप्रमात्वधिया निवर्तकत्वास्वीकारात्। अन्यथा वह्ययादौ स्पार्शाने तदन्यत्यादिचाक्षुषभ्रमाद्यापत्ते:। अन्यथा रजतभेदादितद्याप्यत्वानवगाहिनी शुक्तित्वादिधीरणण्डबह्मधशश्र न अ्रमनिवर्तिका स्यात्। परेषां तथैवाभ्युपगमादित्यस्याप्यापत्तेश्र परोक्षप्रातिभासिकभ्रमे साक्षात्कारत्येनानिवर्तकत्वेपि तस्यादृष्ठान्तत्वेन न दोषः। न च ब्रह्मज्ञानेऽपि निश्र यत्वैनैव तथास्तु, तच जातिविशेषादिरूपं निर्भिकल्पेऽीाति वाच्यं; अभानापादकस्य परोक्षेण निवृत्त्यननुभवात् अताटृशा ज्ञानं प्रत्येव -तथा ₹वीकारात्। न च परोक्षभ्रमोऽप्यभानापादकाज्ञानादिति वाच्यं; पिशाचाद्यर्तान्द्रिये रूपविशोषादिक्रमोपादानाज्ञानस्य तत्वासम्भवात्, पिशाचाद्यवच्छिन्नैचनन्यस्य साक्षित्वानापत्रैवैवाभानसम्भवात्। यदि

[^17]
## व्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्ल्ये संशाये अतिन्याप्तिरीति सर्वमबदा-

 तम् IIइति तृतयियमिध्यत्वविचारः

च चाक्षुष्व्वादिना तथेत्याग्रः; तथापि यद्विरेषयोरीति व्याप्षया साक्षात्कारत्वेनाडपि निवर्तकत्वं शुद्धविषयकसाक्षात्कराज्ञानत्वाम्यामपि विशेषतो नाइकनाइयभावः स्वीक्रियते। एत्तेन ब्रस्ससम्ष्का्कारेणेव श्रुक्तयादिस्पार्शनेनापि तत्व्वज्ञानेन विनैवनाक्षुषादितत्त्वज्ञां चाक्षुषादिक्रमो निवर्व्यतामिति परान्तं, गुद्धविषयकसाक्षाक्कारसाविकल्यकचाक्षुषाद्यन्यतमविशेषषकारणसहकृतन्यैव साक्षात्कारूपपसामान्यकारणस्य फलोपधायकत्वात्। "सेतुं दृष्व समुद्दस्य अ्रदहत्यां ठ्यपोहति" इति तु चाक्षुपल्वेनैव निवर्तकत्वबोधकं, साक्षाककारत्वेन उपादानफ्स्यक्षपयुक्तमपि' प्रवृत्यादिकं न निवृत्तिः प्रागभावानसीकारात। अतो न प्रवृत्यादिक्रागभावे सिद्दसाधनम्। नैचैं रक्षणे निवृत्रिनिवेशे संख्यनिनृतेः निश्चगाप्रयुक्तत्वान्नापीत्यादिकमसंगतमिति बाच्यं, साक्षाटकारत्योक्तिपक्ष एव निवृत्तिनिवेशात्। अतएव तदित्यनुत्रुा ज्ञाननिवर्य्येव्वमित्युक्तम्। प्रागभावस्वीकरे तु स्वसमानविषयकब्वसम्बन्धावच्छिन्नपयोजकताकविरहपतियोगिकत्वमेव वाच्यम् । ज्ञानं हि तन्मम्बन्धेन अज्ञाने सन्निवृतिप्रयोजकं न तूपादानप्रत्यक्षादिकम्। तत्पक्षे ₹मृत्या संसकारनाशास्वीकारे साक्षात्कारत्वपयोजकं चिन्त्यम्। अज्ञानव्याप्यस्य निवृतिरप्यज्ञाननिवृतिद्वारा ताहशीतित दिक्॥

इति तृतीयमिथ्यात्वनिख्पणम्

## चतुर्थमिथ्यात्वनिरूपणम.

स्वाश्रयनिष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् । तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्। अतः पूर्ववह्षैलक्षण्यम्। दूपणपरिहारः पूर्ववत् । न च संयोगिनि समवायिनि वा देरो तदत्यन्ताभावासंम्भवः, सम्भवे तु उपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् ; काले सहसम्भववंछोेगपि सहसम्भवाविरोधात् प्रागभावसत्त्वेनोपदानत्वाविरोधाच । न चात्यन्ताभावाधिकरणे प्रागभावस्याप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्; काले व्यभिचाराव। न च काले प्रागभावात्यन्ताभावयोस्सामानाधिकरण्यमिदानीं घटात्यन्ताभाव इदानीं घटश्रागभाव इति प्रतीतिबलादझ्जीक्रतं, देशे तु तदुभयसामानाधिकरण्ये न किश्रिद्यि भ्रमाणमिति वाच्यम् ; मिथ्यात्वानुमितेः श्रुतेश्र प्रमाणत्वात्। विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधः पूर्वमुपपादितः। न चासत्यतिव्यातिःः. स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव सच्वेन


प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात्। न च "तर्द्रक आहुरसदेवेनदमग्र आसीव" इति श्रुत्या असतः सत्व्रतीतेस्तत्रातिव्यासिर्दुष्परिहरेति वाच्यम्; 'सदेनेदेदत्र आसीव्' इत्यस्य अर्थस्याभाव एव नझा प्रतिपाद्येते । न त्वसतः सत्त्वम्, विरोधात्। अतः नातिव्यात्तिः। सर्व चान्यत् पूर्वोक्तमेवातुसन्धेयमित्युपरम्यते ।।

## रति चतुर्थमिथ्यात्वविच्चार:

योगिता भाद्या। वृत्त्यनियामकसम्बन्धेनापि मिथ्यात्वर्रमायाधिकरणताडपि -सम्बन्धितारूपा। एवंच विषयितया स्वसम्बन्धिने ज्ञाने असतोड्यन्ताभावसत्त्वादसत्व्यतिग्याम्तेः सत्त्वावच्छिन्न्वादिनिवेशः । एकरूपेण ₹वाधिकरणे रूपान्तरेण स्वाभावस्वीकरोपि न तृतीये सिद्धसाधनम्। पूर्बोक्तमिति। न चाव्याप्यवृत्विवरणाय एकावच्छिन्नब्वस्यानवच्छिन्नत्वस्य वा अभावे निनेवे साध्याप्रसिद्धि:, गुर्तिरजतादाबेव त्रैकालिकनिषेछेन तल्मसिद्द्धे। एवंच स्वाधिकरणाृृत्तिस्सन् स्वानछिकरणनृत्तिर्यस्तद्नन्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यम्। संयोगादौ दृष्टान्ते साध्यपसिद्धघर्थमवृत्यन्तन्न्। स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगेत्वेति पक्षविशेषणात् अवृत्यन्तामावपतियोगेत्वं पर्यूवस्यति। अन्याप्यवृच्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन विरोषिते पक्षे स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावरतियोगित्वं वा साधं ठ्याप्यवृत्त्यावेन पर्यवस्यतातियत्तत्वविवेकादावुक्तं तस्सम्भवपाचुर्युण; अवृत्रघिष्टानात्नकाभावर्पयवसानस्यास्मस्साघ्येडपि लाघवेन सम्भवात्, अवृत्तेर्य्यत्यन्ताभावत्बेन रूपेण स्वस्मिन् तादात्म्याम्युपगमेन व्यापकव्वसम्भवात्, संयोगादौ पक्षे अस्मदीयरीतेरावशयकत्वाच्चेति ध्येयम्। असद्वारणंत्वम्युपेत्य वाद

## पश्वममिध्यात्वनिरूपणमू.

सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्। सत्वंं च प्रमाणसिद्धत्वम्। प्रमाणत्वं च दोषासहकुतज्ञानकरणत्वम्। तेन स्वमादिवत् ग्रमाणसिद्धभिमत्वेन मिथ्यात्वं सिद्धर्यति। प्रमाणसिद्धत्वं च अबाध्यत्वव्याप्यमित्यन्यत्। अत्राप्यसति निर्धमके ब्रक्षणि
उक्तरीत्या तदत्यन्ताभावे मानाभावात्। सत्वाननुगमे तु सत्त्वसमानाधिकरणं यत् स्वावच्छेद्यक तदवाच्छिन्नज्यापकत्वं स्वनिरूपकत्वं चेत्युभयसम्ब•धेन प्रतियोगिमत्त्व्वंमत्यन्ताभावत्वावच्छेदेन साध्यम्। व्यापकत्वं समानाधिकरणभेदी़ायाया: प्रतियोगितायाः अनवच्छिन्नावच्छेदकताशून्यत्वम्। सिद्धान्ने सर्वेषां अभावस्वरुपाणां केवलान्वयि त्वेन नोक्तावच्छेदकत्वं सामानाधिकरण्यं वा ठ्यापकत्वस्थले वाच्यम्। व्यापकत्वादि, निरवच्छ्छन्नविशेषणतया बोध्यम्। तनाव्याप्यवृत्तौ न सिद्धसाध्यता ${ }^{3}$ । विस्तरस्तु विशेषानुमानेषु भविष्यति ॥।

हृति चतुर्थमिथ्यात्वनिरूपणम.

दोषेति । प्रमाणसिद्धत्वं प्रमाविषयत्वम्। प्रमाणत्वं तु बाधिताविषयकधीत्वमखण्डधर्मो वा। तेन दोषाणामनुगततउसर्वसम्मतख्वाघभावेऽपि न क्षतिः .। घटादेज्ञानं न प्रमा तद्रिबये अबाधितत्वाभ्रहात्, किन्तु तत्वेनाभिमन्यत्त इत्याह-प्रमाणसिद्धत्त्र चेति । प्रमा चेत्यर्थः। अबाध्यत्वव्याप्यमिति। नास्ति बाध्यत्वं यत्र तदवाध्यत्वं शुद्धं ब्रह्म तदभिन्नं प्रमोपाहितं त्रह्म ंयाव्यं विषयो यस्य तत्तथा । तेनाबाध्यस्य शुद्धस्याविषयत्वेऽपि न क्षतिः। निर्धमेक इति। भावरूपषर्मशून्यत्वेऽपि अभावरूपषर्मैवैशिष्ट्यस्यो-

चातिव्यासित्रारणाय सक्वेन प्रतीयमानत्वं विरोषणं देयम्; तयोः . सत्व्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावात्। अतएव. सद्विनिकत्वामित्यत्र सच्चं सत्ताजाल्यघिकरणत्वं वा, अवाध्यत्वं वा, घ्रद्सरूपत्वं का। आद्ये घटादावाविद्यकजातेस्व्वयाऽन्युपगमेनासम्भवः । द्वितीये बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसानम्। वतीये सिद्धसाधनमिति निरस्तम्। अनम्गुपगमादेव सदसद्वितक्षपत्वपक्षेत्रयुक्तयश्वात्रानुसन्धेयः। अवशिष्टं च दृषान्तसिद्दौ बक्ष्यामः ॥

इल्यद्यैतसिद्धा पश्न्वममिध्यान्वनिरक्ति:-

कत्वादतिव्याप्तिः। विशेष्यतया तद्दाने रेषैैयर्ण्यादाह-विशेषणमिति । तथाच धूमपागभाववन्न वैयर्थ्यमिति। पर्यवसानमिति। तथाच बाध्यत्वमेवात्तु ऐोषवैयैर्थात्, तच ज्ञाननिवर्त्यव्यादिरुपमुक्तमेवेति भावः। उतेति । गुणादि कमिल्यादिनोक्केलर्यः। तथाच सत्वेन प्रतीयमात्त्वांशे न सिद्धसाधनं, मिलितप्रतीतेरद्देशय्व्वात्। तच्च मिलितस्थैव हृ्यत्वपयोजकर्वाव्। मिलितं च शुान्तेरूप्यादौ पसिद्धमित्यादि। अत्र सद्र्रिविकव्वं सदतृत्तिघर्मवत्त्रम्। सत्च्रं च अचाधं सत्वमेयमित्याकारकधीविषयत्वम्। तेन न बाध्यत्वघटितत्वप्रत्तैचैय्र्यांदि अविनाइयवृत्तिर्धर्त्त्र वा पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यमित्यादि बोध्यम्। यनु—" ज्ञानत्वं्योप्येत्याधयुक्तं मननत्वावच्छिन्ननिवर्तकताके अर्थसंशये अतिव्यात्ते:, मननस्यातत्वे वैयर्थ्यात्। उनरात्मविशेषणत्वेनेल्यास्दि च न युक्तम्, धर्मादावातिपसकात्। स्मृत्या च संस्कारो नाइयते सुखादिनेनेव धर्मादिः, धृढन्तु संस्कारः स्मृतिजन्य एव, साक्षात्कारतेन च निर्तंकताडपि न; प्रत्यक्षम्य शब्द शा-

घ्यत्वं वदता त्वयैव नायं सर्प इति शब्दबुद्धेः बाषकत्वोकेः ${ }^{1}$ । प्रतियोग्यत्यन्ताभावयेः काल इव देरोडप्यविरोध इत्यपि न; तथा सति विरोधोच्छेदापत्तेः, अद्द्वैतधियोप्यबाधकत्वापत्तेः। मिश्यात्वानुमानं च तत्र न मानं, विरोधेन तस्यैवानवतारात्। प्रमाणसिद्धतं सत्त्वमित्यपि न, तदभावस्य ${ }^{2}$ घटादावव्यापेः। तद्वाध्यत्वव्याप्यमित्यपि न; तस्य व्रद्सण्यभावेडप्यबाध्यत्वात्, प्रपश्चे तद्धावेऽपि बाध्यत्वात्, तस्मिन् अबाध्यत्वं प्रति व्यापकत्वस्येव व्याप्यत्वस्या भावात्" इति, ततुच्छम् ; मननस्य तर्कत्वेनेच्छादेरिब ज्ञानत्वाभावात्। भावे वा युक्तयनुसन्धानरूपस्य तस्य निश्षयत्वरूपण श्रक्नाद्वितीयमित्यादिनिश्रयद्वारा ब्रह्माद्वितीयं न वेत्याकारकसंशयविरहप्रयोजकतायाः नापि निश्रयत्वेत्यादिना गन्थकृतैवोक्तत्वेन त्वदुद्धावनानर्हत्वात्। व्यमिचारादिनिश्रयद्वारा साध्यादिज्ञाननिवर्त्यण्याप्तयादिज्ञानवारणाय ज्ञानमद्वारीकृत्य निवर्तकताया अवरयवाच्यत्वत् । मननत्वादिना साक्षात्संशयनिवर्तकतायां मानाभावात् स्वप्रयोज्योक्रनिश्वयद्वारा तत्सम्भवे ${ }^{3}$ त〒्कल्पने गौरवाच । उत्तोत्या।दे न युक्तं, स्वोत्तरधर्मादेर्निवर्तकत्व क्षत्यभावात्। स्मृत्या च संस्कारनाशे दृढसंसकारजनने च गौरवमुक्तम्। सुखादिना धर्माद्यनाशे पुनस्स्युखाद्यापत्तिः। संसकारनारोडपि न पुनः स्मृत्यापत्तिः उह्बोधकाभावादित्युकम्। प्रकारान्तरेणोक्कापत्तिवारणे धर्मार्किकमीि सुख,दिना न नाइयताम् । परोक्ष्ष शाब्दबुद्धः प्रत्यक्षं प्रत्यप्रमत्वज्ञाप कत्वादिरूपबाधकत्वोक्तावाधि साक्षात्कारत्वेन निवर्तकतायां न हानिः। भावाभावयोरविरोधेडावी तद्धीबाधकत्वमुपवाद्तितम्। मिथगानुमाने च विरोधसन्देहो न विरेराधी तन्निश्रयत्तु तना नेत्युक्तम्। उक्तप्रमाणसिद्वत्वं च न घटादौ, किन्तु प्रमोपहिते त्रस्साणि। अबाध्यत्वव्याप्य-

[^18]
## मिथ्यात्वमिथ्यां्वोपपन्तिः


#### Abstract

ननूक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपश्यसत्यत्वापातः। एकस्मिन् धर्मिंण प्रसक्तयो विरद्धर्भयोः एकमिध्यात्वे


मिल्यस्य नु उक्तार्थ न दोषः। न चैवमुपहितव्रक्षणोपि बाघितत्वातुच्छबाघिताविषयकषीत्वरूपस्य विशेषणस्यासिद्दि: प्रमाया अपसिद्धिश्चेति बाच्यम् ; उन्कोपहितत्रहान्यवाध्याविषयकत्वनिवेशात्, ताद्धशव्रस्सवुद्धावेव पमात्वस्बीकाराच, निर्धर्मक्रक्रमते अन्यथानुपपतेः। यतु सर्वेशकालगतात्यन्ताभावपतियोगित्वरूपं नृश्षकादिसाबारणमत्यन्तासत्त्वमेव मिथ्याल्वमिति, तन्न; तार्किकमते गगनादौ मिथ्यात्वव्यवहारापतेते। स्वाधिकरणानिवेंो च कालान्तस्य छर्थर्त्वादस्मदीयउक्षणमेव। अत्यन्तासतश्र नाभाव्रतियोगित्वं मानाभावादिल्युक्तम्। कदाचिदधिकरणासम्बद्धे च ध्बंसादिप्रतियोगित्वं प्रत्यक्षादिसिद्दम् ॥

> एवमन्यम्पलपितं दूषित्वान्न दूष्येते।
> तस्मात् टीकोक्रमाधं द्वे प्रकाशात्मोक्तबाध्यते?॥
> चित्पुखीयं चतुर्थ स्यादन्त्यमानन्दवोधजम् ।
> नानिर्वाच्येडपसिद्धचादि: प्रतीते प्रतिवेध्यता।।
> स्वाश्रयेड्यन्तनिरहः सद्विकक्षणता तथा।
> इति पक्षत्रेडल्यन्तासत्त्वं नोक्तविरोषणात् ॥
> नोक्षषीनाइयता सिद्धा गृषतां पझ्घता परैः।
> सारस्वैत्स्तर्कर्नैश्यन्द्रिकाचन्द्रतां गतैः ।।
> दुरन्तध्वान्तखण्डानां खण्डिता हइयसत्यता ॥
> इति पष्यमसिथ्याब्बनिराक्त:

अपरसत्यत्वनियमात्, मिथ्यत्वसत्यत्वे च तद्वदेव प्रपश्नसत्यत्वापत्तेः। उभयथाप्यद्वैतव्याघात इति चेन्न ; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपश्र्रसत्यत्तानुपपत्तेः। तत्र हि विरुखयोर्धर्मयो: एकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वम्, यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत् यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्वतद्भावयोः गुक्तौ, यथावा परस्परविरह्व्यापकयोः रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः तत्रैव। तत्र निषेध्यतावच्छेदकमेदानियमात्। प्रकृते तु निषेध्य-

एकमिथ्यात्वे अन्यतरमिध्यत्वे। अवरसत्यत्वनियमात् अन्यतरस्याधिकसत्तानियमात्। एवमप्रेऽपि। सत्यत्वमधिक'सत्ता। तथाच ययोर्विरुद्धयोरन्यतरास्मन् मिथ्यात्वं पारमार्थिकं तयोरन्यतरदन्यतरापेक्षया अधिकसत्राकमिति नियमः, विरुद्धयोः यदेकं मिथ्या तदपेक्षया तदपरमधिकसच्नाकवर्यमित्युक्तौ तु शुक्तिरूप्ये व्यावहारिकमिथ्यात्वश्रये तात्विकसत्यत्वाभीवाद्ययाभिचरापत्तेः। यत्तु शुक्तिरुप्यं न मिथ्या मिथ्यात्वस्यश्र्रयः मिथ्यात्वविरुद्धस्य तात्त्विकसत्यत्वस्याभावात्। यद्यद्विरुद्धक 1 तात्त्विकस्याभाववत् तत्तस्य मिथ्याभूतस्यानशश्रयो यथा गोत्वविरुद्धस्य तात्विकस्य गोत्वाभावस्याभाववान् मिथ्याभूतस्य गोत्वस्यानाश्रयश्र गौ:। तथाच रूप्यमिथ्यात्वस्य तात्किकत्वेन रूप्ये हेतोरेवाभावान्न ठ्यभिचार इति तत्राय: ${ }^{2}$ स्वगुरुं प्रत्येवोक्तम् । अन्यथास्मान् प्रति तात्किकस्य गोत्वाभावस्येत्यस्यासिद्धया साधनवैकल्यात्, तात्त्विकं ब्रै्सैवेति तत्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्धया हेत्वप्रसिद्देश्र। वक्ष्यमाणतर्कसनाथं दृइयमिथ्यात्वानुमानमपेक्ष्योक्कानुमानस्य तर्करहितत्वेन ${ }^{3}$ दुर्बकत्वाच्च । ननु परस्परविरहरूपयो: परस्परविरहण्यापकयोश्यैकस्य मिथ्यात्वे अपरस्याबिकसत्ता आवइयकी, अन्यथा स्मसत्ताकत्वे तयोः सहानवस्थान-

तावच्छेदकमेकमेव छछयत्वादि। यथा गोत्वाईवस्वयो: एकस्मिन् गजे निषेछे गजत्वात्यन्ताभावन्याप्यत्वं निषेघ्यतावच्छेदक्मूभयोस्तुल्यमिति नैकतरनिषेधे अन्यतरसक्षं तद्धत्। यथाच सत्यव्वमिथ्यात्वयोः न परस्परविरहरूपत्वं न वा परस्परविरहव्यापकत्वं तथोपपादितमधस्ताव्। पर-

रूपविरोधात्। तथाच गोत्वाध्वत्वयोः समानाधिकरणभीतिकयो: अतथात्वात्समसत्ताकत्वेडपि सत्यत्वमिध्यात्वयोः तथात्वान्न समसतेल्यत आह—यथाचेति। तथेत्यादि । स प्रकारः सत्त्वासत्त्वे अषिक्ठत्योपपादित इत्यर्थः। तथाच यथा सत्व्वासत्त्वयोः न परसपराभाबत्व प्रपश्चे तयोः प्रत्येकासत्वेपि प्रत्येकाभावसत्त्वात् तथा सत्यत्वमिय्यात्तयोरपि न तत्त्वम्, तुच्छे तयोः प्रे्यकासत्त्वेपि प्रलेकाभावसत्वादिति भावः । ननु तथाडपि परप्परविरहव्याप्यत्वात्वयोर्यावहारिकयोः न सामानाधिकरणं गोत्वाभ्वत्वयोरिव, तत्रह-परस्परविरहरूपत्व इति। उन्कविरहस्य रूपं रूपणं यस्मादिति व्युपत्त्त्या उत्कविरहव्याप्यत्वे इस्यर्थः। अथवेक्तविरहेण रूपं रूपणं यस्येति व्युत्पेतरापि सम्भवात् । रूपमभिन्नं क्याव्यं ब्यापकं च । ननु यत्र तात्त्विकसत्त्वं तत्र न मिथ्यात्वमिम्यात्मनि दृष्पमिति भिन्नसत्ताकयोरपि बिरोधः। किश्व प्रपष्चे सत्यत्वं मिथ्यात्वविषमसताकमपि तात्तिकं वाच्यम्। अन्यथा 'सलं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यदिश्रुतौ सत्यब्रक्षणः पातीतिकसत्यत्वाश्रयाकाशादिसकलपपश्चे कारणत्बोक्तेरनृतपदं विनापि सम्भवात्तद्वूर्र्य्याप्तेः। डुक्तिरूप्यादिव्यावृत्तसत्यत्वस्य सत्यपदेन पहणे तु चुक्किरूप्यादिगाहकमनृतपदं सार्थकमतो नाद्वैतहानेरेद्धारस्तत्राह-

हपरविरहरूपत्वेपि विषमसत्ताकयोरविरोधात्। व्यावहारिकमिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्यत्वापहारेपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात् । तार्किकमतसिद्बसंयोगतद्भाववत् सत्यत्वमिथ्यात्वयो: समुच्चयाग्युपगमाच । एकस्य साधकेन अपरस्य बाध्यत्वं विषमसत्तकत्वे प्रये।जकम्, यथा श्रुक्तिरूप्यतद भावयोः ।

व्यावहारिकेति। व्यावहारिकसश्वेति। प्रातीतिकान्यसत्यत्वेत्यर्थः। काल्पनिकेति। प्रातीतिकेल्यर्थः। शुक्तिरूप्यादौ तयोरविरोधस्सिद्धः। उक्रश्रुतौ च सत्यपदं ठ्यवहारकालाबाध्यपरम्। अतो नानृतपदवैयैर्थ्यमिति भावः। यथा तार्किकैः संयोगतदभावयेार्व्यानहारिकयोरप्यवच्छेदकभेदेनाविरोषोऽङीकियतेत तथा अवच्छेदकभेदाभावेऽवि सत्यत्वमिथ्यात्वयो: व्यावहारिकयोरविरोध:, प्रमाणस्योभयत्राविशोषात्। उक्ष हि भामत्यां' विरुद्धमिति नः क सम्प्रत्ययः यत्र न प्रमाणम्' इति । न चैवं भेदाभेदादिस्थले विषमसत्ताप्रतिपादनपरा वयं तु पइयामोऽभेदोपादानाभेदकल्पनेत्यादिभामती व्यर्थति वाच्यम्। अभ्युपेत्य वादत्वात्। समसत्तयोरपि बाध्यबाधकत्वं स्वामगजतन्निषघदृष्टान्तेनोक्तमेवेत्याइयेनाह तार्किकेति। ननु यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकं नोभयवृत्ति तत्राप्येकमिध्यात्वे अपरस्यधिकसत्तायां का युक्तिः तत्राह—एकसाधकेति । प्र्योजकं व्याप्यम्। यद्यद्वाधकधीविषयः तत्ततोधिकसत्तार्कमिति व्यास्तौ यदि ततोधिकसत्तांक न स्यात् तदा तद्वाधकधीविषयो न स्यादिति हेतूच्छित्चिरेव विपक्षे बाधिकोति भावः। अम्युपेत्य वादोऽयम् । तेन स्वामगजतद्मावदृष्टन्तेन क्यावहारिकयोः प्रपश्चतदभावयोः बाध्यबाधकभावापन्नधीविषयत्वस्य पूर्वोक्तत्वेपि न क्षतिः। अथवा ननु मिथ्यात्वावच्छेद्कस्योभयावृतित्वेडपि एकमिथ्यात्वे अपरस्याधिकसत्ता मास्तु, न ब्बां नियम:-‘एकत्र प्रसक्तयो: विरुद्धता-

एकबाधकबाध्यत्वं च समसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुत्तिकरूप्र भुक्तिमिब्नत्वयोः। अस्ति च प्रपश्वतन्मिथ्यात्वयोरेकत्रक्षानबाध्यत्वम् । अतः समसत्ताकत्वान्मिथ्यात्वबाधकेन प्रपश्ने: स्यपि बाधाश्धाैंतक्षतिरिति कुतमधिकेन ।। इति मिध्यात्वस्स मिथ्यात्वनिरत्तिः.

वच्छेदकरुपावच्छिन्नयोरुमयावृत्तिरूपैणैकामिथ्यात्वे अपरस्यापिकसत्ता' इति। गजे पसक्तयोः गोत्वाश्षत्वयोः नात्र गोत्वं नात्राध्वत्वमिय्युभयावृत्विरूपेण निषेषेडपि समसत्ताकत्वादित्यत आह-एकसाधकेति। तथाचोक्तनियमाभावे डपि यद्धहाधकेलायुक्तनियमोडत्सेव। एकसाधके नापरबाष उभयावृत्रिरूपैणैवेल्यभिप्रायेणोभयवृत्ति न भवेदिति पूर्वमुकमिति भावः। प्रप्चसत्यत्वमिथ्यात्वयोः समसत्ताकत्वमुक्तं प्रमागेन साषयति-एकबाधकेति। यध्दाघककाध्यं तत्रसमसत्ताकमिति व्यात्रौ यदि साधंयं न स्यात् तदा हेतुर्न स्यात् तद्वाषकात्पूर्वेमेव बाधसम्भवादिति विपक्षे बाषक इति भावः । उह्सज्ञानबाध्यं शुर्तिरूप्यादिकमपि स्वाभावादिसमसत्ताकमेव, प्रमात्रा सह बाध्यल्वस्य च्यावहारिकत्वस्य उभयन्रापि तुल्यत्वाप्। प्रपश्रेति। स्वसत्यव्वादिघटितप्रपश्चेत्यर्थः। समसत्ताकत्वादिति । प्रपक्षसल्यत्बस्प तात्विकत्वासम्भवादिति शोषः। अथवा एकंत्र पसक्तयोर्विरद्बये रेकस्यापरापेक्षया अन्यूनसताकव्वं प्रत्यमिध्यात्वं न प्रयोजकं, किन्बु स्वाश्रयसमसत्ताकत्व मतो मिथ्याव्वं प्रपश्चे मिथ्यापि सत्यत्वान्नून्वस्ताकं प्रपश्चसमसत्ताकत्वात्। तच्च प्रपश्चवाषकवाध्यत्वान्वासिद्धमिल्याशयेनाह-एकबाधकेति। समसत्ताकत्वादिति। प्रपश्वमिध्यात्वस्य प्रपक्षसख्बतां प्रत्यन्यूनसत्ताकत्वेन तस्याः तात्विकत्वासम्भवादिति शेषः। आाषाप् बाषसम्भवात्। ननु मिध्यात्वं न स्वाश्रयसमसकाकं तस्स पातीत्रिं-

कनिष्हस्य व्यावहारिकत्वात् व्यावहारिकनिष्ठस्य प्रातीतिकत्वाद़िति चेन्न ; ब्यावहारिकनिष्ठमिथ्यात्वस्यैव ₹्वश्रयसमसत्ताकत्वेनोक्तत्वात्, व्यावहारिकप्रपष्चे स्वान्यूनसत्ताकस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य अनुमितत्वेन तत्रातीतिकत्वस्य तद्धर्मिय्राहकमानेनैव निराकृतत्वात्। किंच मिथ्यात्वस्य सत्यत्वमिश्यात्वविकल्पेन दूषणं नित्यसमा जातिः। धर्मस्य ${ }^{1}$ तदतद्रूपविकल्पानुपपच्चितः। घर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभञ्ञों ${ }^{2}$ नित्यसमों भवेत् ॥
इति तक्रक्षणात्। न च मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे धर्मिणि न तद्वैशिष्टचभक्रः किन्व्वैद्वैतहानिरिति वाच्यम्; विकल्पितकोय्योरेकस्या अद्वैतहानिप्रयोजकत्वेऽपि अन्यस्याः प्रपश्चसत्यत्वतात्त्विकतापत्तिद्वारा प्रपश्चे धमिणि मिथ्यात्ववैशिष्टयभऊ्नप्रयोजकत्वात्। अन्यथा मिथ्यात्वकोटिमात्रस्यास्म।भिराश्रयणे सत्यत्वकोटिप्रयुक्तस्यांद्वैतहान ${ }^{3}$ दोषस्यानवंकाशात् 1 किंच मिथ्यात्वस्यापि मिथ्यात्वधर्मित्वेन तस्य सत्यत्वे मिथ्यात्ववैरिष्टघभॠ्रेन सत्यत्वकोटेरापि धर्मिणि तद्वैरिष्टचभक्ञ्रयोजकत्वमावइयकम्। न च स्वण्याघातकत्वाद्यभावानेयं जातिरिति वाच्यम्; त्वदीयस्य सर्वदेश्राकालनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपासत्व्वस्यासत्त्वे तद्विरुद्धस्य 'असदेवेदेमप्र आसत्' इति वाक्यादसति प्रतिपन्नतया स्वद्युगतस्य सत्त्वस्यासति तात्विकत्वापत्तिः, सत्त्वे तस्य सतोऽसति सम्बन्घानुपपत्तिः। उक्षं हि बौद्धाधिकारे-‘सदसतोः सम्बन्धानुपपत्तेः' इति। तथा 'तुच्छस्य विशेषाभावात्' इति। तथा 'न च तस्य भाविको देशकालसम्बन्धः तुच्छत्वात्' इति । भाविकस्तात्त्विक:। न च प्रागभावप्रतियोगित्वादेरिव सतोऽपि ${ }^{4}$ तस्य सत्सम्बन्ष्${ }^{5}$ इति वाच्यम् ; प्रागभावादिप्रतियोगिनः उक्तासत्त्वाभावात्। असत् राशविषाणमिति प्रततेः सत्त्वाश्रयासत्त्वविषयकत्वे ' वस्तुशून्यो

[^19]विकल्पः' इति पातझ्ञलसूत्रादीविरोषः, स्वलक्षणस्य च विकल्पागोचरत्वादिति बौद्धाधिकारीयवाक्यादिविरोषश्र। असतः सदसम्बन्षक्ष बौद्धाधिकारादौ स्पष्ट उक्तः। तस्मादसतः सत्सम्बन्ं वदन् बौद्रादपि बौद्ध इत्युपेक्षणीय इति, स्वव्याघातकत्वाद्यावश्यकत्वात्। न च भेद: किं मिन्ने उताभिन्ने इल्यादि त्वदुक्तिरपि जातिरिति वाच्यम् ; मम वैतण्डिकतामाश्रिल्य तदुस्तौ ${ }^{1}$ जातित्वासम्भवात् स्थापनीयाभावेन स्वठ्याघातकत्वाद्यभावात् त्वदीयरीतिमाश्रित्य व्वां प्रति मिथ्यात्वानुमानाद्युपन्यासात्। खण्डनयुक्तीनां सर्वप्रमाणबाघकत्वस्यास्मदिप्टत्वेऽपि स्वप्रकाराचिन्मात्रस्य अस्मत्सम्मतस्य केनापि बाधासम्भवात् साक्षित्वात्वाद्टामानाभावाच। तदुक्तं खण्डने-

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत्तानि कस्मान्न यथावदेव सैद्धान्तिकेप्यध्वनि योजयध्वम् ॥
इत्यादिकमभिप्रेत्याह-कृतमधिकेनेति । यतु-"तत्र हि विरुद्धयोरेकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वं यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकं नोभयवृत्ति सत्यत्वमिथ्यात्वयोश्र निषेष्यतावच्छेदकं हइयत्वाघेकमित्ययुक्तम् ; परस्परविरहयोरेकरूपेण निषेधस्य क्वाप्यदर्शनात्। विषमसत्ताकत्वेन तयोः अविरोष इत्यपि न। तयोर्हि विषमसत्ता रूप्ये जगति वा, नाद्य;; रूप्यमिथ्यात्वं तात्विकमित्यग्रिमत्वदुक्तिविरोधात्, रूप्यमिथ्यात्वस्य बाध्यत्वे रूप्यसत्यत्वस्य तात्विकत्वापत्तेः। नान्त्यः; अप्रातीतिकस्य जगतो व्यावहारिकमिथ्यात्वे तात्विक ${ }^{2}$ त्वापत्तेः। सत्यत्वमिथ्यात्वयो; समुच्चयस्तु अत्यन्तायुक्तः, सत्त्वासत्त्वसमुन्चयभीत्या त्वयाडपि सदसद्वैलक्षण्योक्तेः। उत्कं च बौद्धाधिकारे-'सदसत्त्वस्यैकत्र विरोधेन विधिवन्निषेषस्याप्यनुपपत्तेः' इति। संयोगतदाभावौ च न दृष्टान्तः,

तद्वदबच्छेद्कभेदाभावात्। एकबाधकेत्याद्यपि न युक्तं, परस्परविरहयोरेकबाध्यत्वासिद्धे: । शुक्किरूप्यशुक्तिमिन्नत्वयो: परस्परविरहत्वाभावात्। प्रपक्चे सत्यत्वामिथ्यात्वे समसत्ते इत्यपि न, विरुद्धयोरेकत्र समसत्ताऽसम्भवात्। सम्भवे वा वह्नावौष्ण्यतदभावौ च्यावहारिकौ स्यातामिति बाधोच्छेद्। तथाच व्यावहारिकमैष्ण्याभावमादायाग्रे त्वदुक्षा बाघन्यवस्था विरुध्यत इति पूर्वापरविरोधः " इति; तत्तुच्छम्। काप्यदर्शनादेकरूपेण परस्परविरहयोः न निषेध इति हि न युक्तम्; व्यवहारकाले तददर्शानेऽपि तदुत्तरकाले शुद्धचित्तुरुैै: 'नेह नानास्ति किंचन, नात्र काचन भिदाइस्ति' इत्यादिश्रुतिभिरुकानुमानेन च तद्द्रानात्। अधिकसत्ताकाभावज्ञानस्यैव बाधकत्वपक्षे गज ${ }^{1} त द$ भावादे: सवामस्य जागरे स्वामं द्रुयमात्रं कालत्रयेऽपि स्वाश्रये नास्तीति एकरूपेण निषेधात्, शुक्तिरूप्याभावस्याश्रमाद्युक्ते: ${ }^{2}$ शुक्किरूप्याधिष्ठानमात्रगतत्वपक्षे शुक्तिरूप्यतदभावान्यतरत् घटादौ नास्तीति निषेघाच, घटध्वंसकाले कपाले घटतदत्यन्ताभावान्यतरन्नास्तीति निषेघाच्च। विषमसत्तेत्याद्यपि न युक्तम्; रूप्यमिथ्यात्वं तात्त्विकमित्याचायवाक्ये तात्त्विकराब्दस्य व्यावहारिकपरत्वात् विरुद्दयोरकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वमिति नियमस्य यद्वद्वाधकषीविषयः तत्तदाधिकसत्ताकमित्येवंरूपत्वेन रूप्यसत्त्वस्य ${ }^{3}$ तात्विकतापत्त्यसम्भवात्, तस्य रुप्यामेथ्यात्वबाधकषीविषयत्वाभाधात्। एवं नान्त्य इत्याद्यपि न युक्तम्; जगत्सत्यत्वस्य जगन्मिथ्यात्वबाधकषीविषयत्वाभावात्। समुच्चयस्तु इत्यादिकमपि न युत्कम्; कल्पितस्य तदुभयस्य कल्पितयोस्तात्विकयोर्वा तदभावयोक्षैकषार्मिण सम्भवात्, रूप्ये सत्त्वासत्त्वे ${ }^{4}$ नु न समुधिते; जगति सत्यत्वमिथ्यात्वयोरिव तत्र तयोः प्रतीत्यभावात्। सर्व${ }^{1}$ रजत. 2 श्रयाद्युक्ते:. 3 रूप्यस्य. 4 सत्यत्वासत्यत्वे.

देशकालगतात्यन्तामावपतियोगित्वरूपं त्वदीयासत्त्वं प्रातीतिकसत्त्वं $\begin{aligned} & \text { ब }\end{aligned}$ रूप्ये समुचीयत एव, प्रतीयमानत्वात् ; अस्मदीयाक्यां सदसद्रचां कैचक्षण्यं विनाऽख्यातिबाधयोः रूॅय्येडनुपपतेश्र। बौद्दाधिकारीयादुुयनाचार्यवाक्यातु असत्रयातिवादिनां त्वाद्दशानामेव भीः, तह्विताकरणार्थमेव तत्रवृत्तेः। नान्माकं भीः ; अन्मन्मते सर्वमतमूर्वन्यत्स्योदयनाचाँैैरुक्तत्वात्, अन्मन्मतस्य पुरक्कारे तत्रात्पर्यादिदूषणे बन तत्तात्पर्याभावात्।

न সाह्यभेद्मवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः
तद्वाघके बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदानित्यमिदमीद्टरामेव विश्वं
तथ्य तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥
इति तदीयश्छोके क्षणिकविज्ञानातिरिक्तार्थापलाविविज्ञानवादिशून्यतावादिमतयोः दूषणोपसंहारपरे ज्ञानादत्यन्तविलक्षणार्थमपलप्य ${ }^{1}$ ज्ञानस्वीकारो न सम्भवति, अनुमवादिविरोधात् ; तस्य गाद्यमात्रस्य बाधके ज्ञाने चित्रशुद्धिश्रवणादिपरिपाकेन दृढे सति वेदनये वेदान्तदर्शंने सक्झेचकाभावात् सर्वमतापेक्षया बलिनि जयश्रीः यद्विषयकज्ञानं बाधकं तत् नित्यमेंकं ख्वपकाशानन्दस्वरूपं मोक्षान्वयि, लाघवात्। तस्य च न बाध्यत्वं, सर्वसाक्षित्वात्। यदिचोक्तपरिपाकाभावादुक्तबाधकाभावः, तदा हृइयमान्रं वयवहारकाल्राबाध्यरूपन्यावहारिकतथ्यं तत्रापाततः ${ }^{2}$ कदाचित्वार्किकादिभिः तत्रात्विकमिति वक्कुं शाक्यम्। तद्लीकमिति तथागतस्य बौद्धस्य मतं तु निरवकाशामित्यर्थस्य स्फुटत्वात्। न च दूष्यबौद्धमतस्य प्रस्तुतत्वात्ददेक्षया बलित्वमुदयनैः विवक्षितमिति वाच्यम्; तथा सत्यस्मन्मतप्रकटनपूर्वकं तस्य स्वापकर्षोक्तययोगात् । तथाहि-"अस्तु

तरि शून्यतैब परमनिर्वाणमिति चेन्न; सा हि यद्यसिद्धा, तरकथं तदंबशेष ${ }^{1}$ विशवम्? परतश्शेत् सिद्धा, परोऽम्युपगन्तन्यः। स च परो यदि संवृतिरेव, विशवशून्यतयोर्न कश्चिद्विशेषः। कथं तद्य्यवशिष्येत? असंवृतिरूपश्चेत् परः, परत एव सिद्धा अनवस्थ ${ }^{2}$ स्वयमसिद्धश्षेत् कथं शून्यत्वमपि साधयेत्? खतस्सिद्धश्रेदायातोऽसि मार्गेण । तथाहि — खतस्सिद्धतया तदनुमवरूपशून्यत्वादेव न तस्य कालोऽवच्छेदक इति नित्यम्। अतएव न देशोऽवच्छेदक इति व्यापकम्। अतएव तत् निर्धर्मकमिति विचारास्पृप्टम् ; तस्य धर्मधर्मिभावमुपादाय प्रवृतेते। अतएव च तस्य विशोषाभाव इत्यद्वैतं प्रपश्चस्यापारमार्थिकत्वादेव निष्पतियोगिकमिति विधिरुपम् 1 अविचारितप्रपश्चक्षेपात्तु शून्यमिति व्यवहारः। तथापि प्रपश्चरून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रश्चेन कस्सम्बन्धः? न च नायं प्रकाशात इति चेत्; वस्तुतो न कम्चित्। संवृत्या गगनगन्धर्वनगरयोराधाराषेयभाव इव ${ }^{3}$ विषयविषयिभाव । स च यथा नैयायिकै: समर्थयिष्यते तथैव वेद्यनिष्टस्त्वसावस्मिन् दर्ईान इति विशोषः। अविंैैव हि तथातथा विवर्तते यथानुमवीयतया व्यवद्दियते । तत्तन्मायोपनीतोपाधिभेदाचानुमूतिरपि भिन्नेव व्यवहारपथमवतराति गगनमिव स्वमदृष्टघटकटाहकोटरकुटीकोटिभिः। तदास्तां तावत् किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तयेति । तस्मादनुभवव्यकस्थितावनात्माऽपि स्कुरतीत्यवर्जनीयमिति - प्रविशा वा अनिर्वचनीयस्यातिकुक्षि तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायानुसारेण नीलाबीनां पारमार्थिकत्वे" इत्याद्युक्तम् । संवृतिरिति। विकल्प इत्यर्थः। शून्यत्वात्-असंगत्वात्। तस्य—विचारस्य। निष्प्रतियेगिकम्प्रपन्वपतियोगिकत्वस्य मिथ्यात्वेन तद्राहितम्। विधिरुपं-क्िपतेन

पपश्चाभावव्वेन झून्यम्। अविचारितपपश्षाक्षेपात्—यतः प्रपस्यो विचारासहः अतस्तस्य खण्डनात् । प्रकाराते—्रकाशसम्बद्ध: ${ }^{1}$ विष-यविषयिमावः-विषयिप्रतियोगिको विषयभावः। नैयायिक्क:माहरैः। समर्थयिण्येत-‘प्रकाशस्य सतः तदीयतामात्रनिबन्घनः स्वभावविशोषो विषयता’ इल्यादिना वक्ष्यते। वेधनिह्हस्त्वितिचितादात्य्यस्य ${ }^{2}$ चितो मिन्नेषु कल्पितस्य सीकारात् चितेः खमकाइत्वेन चितिविषयत्वास्वीकाराच चिद्रिन्नेण्वेव चितेत्तादाल्य्यूपा विषयता न तु चितावित्यर्थः। अस्मिन् दर्ईने-वेदान्तिद्रनेने। तत्तन्मायोपनीतेति - मूलाविद्यापल्लवाविद्यापरिणामघटादिश्युक्किरूप्यादीत्यर्थ:। वहित्रेति —महानौकेत्यर्थः। किंच सदसत्त्वविरोषस्य अस्मसमम्मतव्वात् तत्परुक्तवाक्यं न नः प्रतिकूलं, अवच्छेदकमेदाभावेऽपि प्रमाणबत्रत्समुच्चय इत्युक्तमेव। परस्परविरहयोरेकज्ञानबाध्यत्वं युक्तम् ; जायद्वोधेन स्वामयोर्भावाभावयोरयं घट इत्यादिज्ञानेन शुक्तिरूप्यतदभाबयो: बाधात्। किंच यद्यपि ज्रदप्रमान्यज्ञानं न परस्परविरहयोर्वाषकं तदधिष्ठानाविषयकत्वात् ; तथापि अद्मप्रमा तद्वाषिकैव, तदपिष्टानविषयकत्वात् ; विरद्धयोः समसत्तयोः एकत्र स्थितिरपि युक्ता, स्वपेन्द्रजालादौ तथा हृष्टत्वात्। व्यावहारिकयोरौण्णयतदभावयोः एकत्र सत्वेऽपि न बाषोच्छेद:, संयोगतदभावयोरिव विरोषनिरूपकाधिकरणस्यैव स्वपतियोगोगिरोंघित्वविघिघामावावीशेष्षस्य बाधत्वसम्भवात्। न चैवं जलमुष्णमिल्यादातुष्णत्वानाषिकरणवृत्व्यनुष्णत्ववज्ञरस्य बाषत्वसम्मवेऽपि तेजोडनुष्णमिमिल्यादौ बाधो न स्यात्, अनुष्णत्वानषिकरणाप्रसिद्देरेति वाच्यम् ;

1 प्रकाशसंद्ध: संतृत्या, अविद्यया न.इति पा. 2 चिशिष्ठतादात्म्येन चिति भिचेषु कल्पितस्य सीकाराच्चितेस्व्वप्रकाइचितिविषयत्वाख्वीकारां्य चिद्रिकेष्पेद चितेस्तादाल्म्यरूपा विषयता न त़ चिस्तिल्यर्थ:. इति पा.

## दृरयत्वनिरुक्ति:.

नजु मिथ्यात्वे साध्ये हेतूकृतं यहृश्यत्वं तद्वयुपपादॅनीयम् । तथाहि - किमिदं हइयत्वं शृत्तिव्याप्यत्वं वा उष्णत्वानाषारवृत्यतुण्णत्तसाध्यकस्थले तस्सम्भवात्। शुद्धानुष्णत्वसाध्यकस्थले बाषाभावस्विष्ट:, तब संयोगाभावसाध्यकस्थलवत्। अत एव क्यावहारिकमभावमादायापि बाधन्यवस्था न विरद्धा, समसत्ताकयोः भावाभावयोः विरोधपक्षे वा सोक्तिति न कोपि दोषः ॥ सारस्वतैः तर्करलैः चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः। दुरन्तध्वन्तखण्डानां भमा मिथ्यात्वसत्यता ॥ इति निथ्यावस्य मिभ्याव्वनिरोक्ति:

बृत्तिव्याप्यत्वमिति। व्याव्यत्व' ${ }^{1}{ }^{1}$ ब्बन्घेन वृत्तित्वेन हेतुता। $^{\prime}$ ब्याप्यत्वं च स्वजनकेन्द्रियंयंयोगादिरूपं, परोक्षवृत्तेः स्वपयोजकउ्यापकतावच्छेदकादरुूपं, अमवृतेः स्वजनकदोषजन्यत्वादिरूपं, चृत्तिमांत्रस्य स्वावच्छिन्नैैन्याभिन्नमहाँचतन्यव्यक्तिपतियोगिकं तत्रद्विपयनिंछ तादात्मयं वा; अनुमिल्यादिवृतेरेपि स्वावच्छिन्नचैतन्याभिन्नमहाचैतन्यव्यक्तिपतियोगिकं वद्धयादिनिहं तादास्ममस्येव तावदन्यतमत्बेन सम्बन्धत्वात् नाननुगमः। न चातिरित्तविषयतैवान्तु तदनंश्रीकारे उत्कान्यतमत्वविशिष्टसम्बन्बेन कारणल्वादिकल्पने गौख़मिति वाच्यम्; तस्यामे दूष्यत्वात्, उक्कसंयोगादेरेव सम्बन्धत्वस्य बक्ष्यमाणत्वात् क्लमेनैनैव निर्वाहे अतिरिकककल्पने गौरारात्। उत्कान्यतंमंत्वस्य स्वरूपतोडवच्छेदकत्वे गौरात् ॥

वृत्तिल्ं $च^{2}$ छीरीरिर्यादिश्रुत्यनूध्यमानः संसकारेच्छादिजनकताबच्छेककतया सिद्धो घीत्वरूपो जातिविशेषः । अन्यथा तचद्विष-

फलंन्याप्यत्वं वा, साधारणं वा, कदाचित् कथंचित् विषयत्वं वा, स्वन्यवहारे स्वातिरिकसंविदन्तरापेक्षानियतिर्वा, अस्वयावच्छिन्नो योडसत्त्वापादकाज्ञानाभावः तत्त्वेन संस्कारादिहेतुत्वे गौरवात् । प्रमाभ्रमान्यतरत्वं वा प्रमत्वश्रमत्वे बाधोद्धारे वक्ष्यमाणे सखण्डे अखण्डे वा। असिद्धिःारकमपि सार्थकम्। मणिकारादिभिराश्वरवादादौ तथोक्कत्वात्। अन्यतरत्वमन्यतमत्वं च स्वरूपतोऽवच्छेदकं वा, प्रमाभ्रमावित्याकारकतद्धीविशेष्यत्वमन्यतरत्वं प्रमाव्याप्यत्वभ्रमव्याप्यत्वे इत्याकारकतद्धीविशेष्यत्वं अन्यतमत्वमिति वा। तेन हेतुतावच्छेदके घर्मे सम्बन्धे च व्यासिप्राहकतया हृष्टान्तवृत्तितावच्छेदकस्य अ्रमत्वस्य अ्रमवृत्तिक्याप्यत्वस्य चावइयकत्वेपीतरवैयर्थ्यमिति परास्तम्। फलव्याप्यत्वमिति । फलं वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं भमावरणकचैतन्यं वा तत्तादात्म्यं तादात्म्येन तद्वा हेतु: साधारणं वृत्तिफलन्यतरव्याप्यत्वं, वैयर्थ्यपरिहारः पूर्ववत्। कदाचिदिति । कालावच्छिन्नवृत्तिकत्वोक्तिः दैशिकसम्बन्धेन हेतुतालाभाय । कालिकेन हेतुत्वे हि अविद्याद्यनादिषु भागासिद्धि: स्यात्। कथंचिदिल्यावृतानावृतसाधारणं चित्तादात्यवत्वं हेतुतावच्छेदकमित्यर्थः । यत्तु 'बाबेन्द्रियद्वारा निस्सृतेऽऽन्तःकरणपरिणामो वृतिः' इति परेण स्वप्रन्थे वृत्तिपदं ठ्याख्यातम्, तन्न शोमतेतराम् । निस्स्टतान्तःकरणपरिणामस्य हेतुत्वे नित्यातीन्द्रियेषु भागासिद्धे:, योगिनोऽन्तःकरणवृत्तेरपि तेषु निस्सरणे मानाभावात्, निस्स्तृत्वस्य जीवनकाला, वच्छेशेदेन बाब्येन्द्रियविभक्तत्वरूपत्वासम्भवात्, त्वगिन्द्रियसंसृष्टत्वस्य वृचिमान्रे सत्चेने बाब्येन्द्रियसंतृष्टत्वरूपस्याव्यावर्तकत्वात् व्यर्थत्वाच्चश्रह्सणि ठ्यमिचारोक्त्ययोगाच्च । यदपि परेण कदाचिदिल्यादिकं विवृतं अतीतादिकमपि कदाचिस्वाकारवृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयो निल्यातीन्द्रियमपि कथंचित् ज्ञातत्वेन वा साक्षिविषय इति, तद्यि तुच्छम्;

प्रकाशत्वं वा । नाद्यः; आत्मनो वेदान्तजन्यषृत्तिव्याप्यत्वेन तत्र व्यभिचारात्। अतएव न तृतीयोऽपि। नापि द्वितीयः; नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च तदभावेन भागासिद्धिसाधनवैकल्ययो: प्रसङ्धात्। नापि चतुर्थः; बह्म पूर्व न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुमवेन आत्मनि व्यमिचारात। नापि पश्नमः ; ब्रह्मण्यप्यद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे संविदन्तरापेक्षानियतिदर्शनेन व्यभिचारात् । नापि षष्ठ: स हि अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपः। तथाच श्युक्तिरूप्यादेरपि अपरोक्षण्यवहारयोग्यत्वेन साधनवैकल्यादिति चेन्मैवम्; फलण्याप्यत्वव्यतिरिकस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात्। न च बृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मणि व्यभिचारः, अतीतादेर्योग्यस्थूलावस्थायां तदाधिकरणयावत्कालं योगिनोन्यस्य वा कस्यचित् प्रत्यक्षसत्व्वन ${ }^{1}$ स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वात्, सूक्ष्मावस्थायामयोग्यस्थूलावस्थायां च अज्ञातत्वादिना साक्षिविषयत्वात्, कादाचित्कोक्तविषयत्वोक्केर्निरालम्बनत्वात्। किंच ज्ञातत्वादिना साक्षिविषयत्वस्य साक्ष्यध्यस्तज्ञानदिविषयत्वरूपतया तस्य वृत्तिप्रतिबिम्बिताचिद्विषयत्वसाधारणरूपेण न हेतुतासम्भवः। वृत्तेर्हि विषयत्वमुक्कान्यतमादिरूपं, वृत्तिप्रतिबिम्बितचितस्तु तादास्म्यं, अन्यतमत्वादिना तत्मम्भवे वा साधारण|मिति तृतीयपक्षाविशोषः। तस्मात्कथांचिट्द्वषयत्वमिति वृद्धोो्रपक्षम्योक्त एवार्थः। स्वव्यवहारेत्यादिपक्षद्वयं तु मूल एव स्पष्टीभविष्यति। अवेद्यत्वे सतीत्यादि। अवेदत्वं भमावरणचैतन्यतादात्मं तत्समानाधिकरणस्यापरोक्षठ्यवहारयोगेत्व स्याभाव इत्यर्थः । क्षेदक्षमत्वादिति। विचारसहत्वादित्यर्थः । एतेन-" स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या, प्रत्ययत्वात्, तथाहि - यः प्रत्यय:

अन्यथा शह्सपराणां वेदान्तानां गैयर्थ्र्रसक्भादिति वाच्यम्; शुर्दं हि घब्न न हइयं, 'यत्तदद्रेशयम्' इति श्रुतेः। किन्तूपहितमेव। तन मिथ्यैव। न हि बृत्तिद्शायां तदनुपहितं तन्भवति। न च 'सर्वप्रत्ययवेद्येगस्मिन् घह्मरूपे व्यवस्थिते' इति स्ववचनविरोध इति वाच्यम्; तस्याप्युपहितपरत्वात् । न चैवं सति शुद्धसिद्दिन स्यादिति चाच्यम्; स्वत एव तस्य प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात्। नन्वज्ञाते धर्मिंण कस्यचिब्रम्स्य विधातुं निषेद्दुं वा अराक्यत्वेन शुद्दे हछयत्वं निपेधता गुद्धस्य ज्ञेयत्वं अवरं स्वीकरणीयम्। न च स्वप्रकाशत्वेन स्वतस्सिके शुद्धे शुर्या दइयत्वनिपध इति बाच्यम्; भुर्धं स्वभ्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टृत्तौ शुर्दाप्रकारे तस्य स्वग्रकाशत्वसिद्देरिति चेन्न ; वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासम्भवात्। शुद्दस्य चृत्तिविषयत्वं न सम्भवति। अतः स मृषा'दृष्ट:, स्वपादिप्र्ययो यथेति बौद्दोर्त्त युक्तं, तन्मते अ्रमत्वस्य ₹्वसस्वेनानुकूलतर्कससत्वात् प्रमात्वस्वतस्त्वमते तु साक्षिणा प्रथमतः प्रमात्वम्रहात् पश्थादनुमिल्या न मिथ्यात्वम्नः " इति परेणोक्तं विचारासहं सूचितम्। अभम्वस्य स्वतस्त्वे मानाभावाव्, साक्षिणा बाधासम्भवादेरुक्तवात्, ठयवहारकालावाध्यव्वादिरुप्रमात्वस्य स्वतस्वेपि ${ }^{2}$ बाध्यत्व्सामान्यानुमितौ बाधकाभावस्य बाधोद्दोरे वक्ष्यमाणत्वाच। यतु "पत्ययत्वादिलयस्य विशष्पप्ययत्वादित्यर्थः। तेनाहमित्यालयविज्ञाने शून्यज्ञाने मिथ्याविषयकत्वरूपसाध्यासत्त्वेऽपि न व्यामिचारः" इत्युक्तम्, तत्स्वपाण्डित्यपकटितम्। शून्ययादिमते बुक्तानुमानम्। तत्र च सर्व बाध्य3मियुत्तुज्ञानयोर्व्यमिचरापसक्तिः। अतएव मिध्यात्वमिथ्यात्ववदोपन्यस्तबौद्धारिकारीयवाक्ये संवृतिसिद्धत्वं शून्यत्वस्य शक्तितम्। तत्वूर्वमप्यम्तु तर्हिं विचारासहत्वमेव विश्व-
'. गुर्ं स्वग्रकाराम्' इति वाक्यस्य लक्षणया अश्रुझत्वमस्वग्रकाइाकत्वव्यापकमित्यर्थः । तथाच अशुखुछ्वव्यावृत्तथा शुुचे स्वप्रकाशाता पर्यवस्यति । यथा भेद़निषेधेनामिकत्वम्। स्येत्यनेन शून्यवादरशक्कितः। न च शून्यप्रत्ययम्य संवृतिशब्दितविकल्पात्मकस्य शशाविषाणादिप्रत्ययवन्निर्विषयकत्वेन उक्तसाध्याभाव इति वाच्यम् ; तथापि बौद्धमते प्रत्ययमात्रस्य स्वविषयकत्वेन स्वात्मकमिथ्याविषयत्वेनादोषात् । खण्डनेऽप्युक्तं—" सौगतत्रद्मवादिनोरयं विशोष: यदादिमस्य सर्वानिर्वाच्यत्वमन्तिमस्यानाल्मन्यनिर्वाच्यत्वम् ${ }^{1} "$ इति। अशुद्धत्वम् उपहितत्वं, न तु शुद्धभिन्नत्वं, शुद्धत्वस्य${ }^{2}$ वृतिविषयत्वापत्तेः। अशुद्वत्वव्यावृत्त्या शुद्धे पर्यवस्यति। उपहितत्वशून्यब्नद्नानिष्ठाभावप्रतियोगित्वेन न ज्ञायते। तथाचास्वप्रकाइत्वव्यापकाभावप्रतियोगित्वरूपायाः स्वप्रकाशत्वव्यतिरेकव्यास्तेः यदोपहितत्वाभावरूपे शुद्धत्वे ज्ञानमुद्बुद्धसंक्कारो वा तदा श्रुद्धत्वविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावस्य न ज्ञानम्। वह्वयभावव्यापकाभावप्रातियोगित्वस्य धूमे ज्ञानादि ${ }^{3}$ काले धूमवान् वह्ययभाववानिति ज्ञानाभाववदिति ${ }^{4}$ ताहद्राज्ञानासम्भव एव स्वप्रकाशत्वसिद्धिरिति भावः। एतेन-' खुद्धत्वस्य हेतोः ब्रद्मण्यज्ञाने कथं तत्र स्वप्रकाशत्वस्यानुमितिरूपासिद्द्धि:' इति परास्तम्, शुद्धस्वरूपज्ञानं विनापि शुद्धत्वस्योक्तप्रतियोगित्वर्थसम्भवात्। उपहितत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकामिति ज्ञानकालेडप्युपहितत्वाभावविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावो न ज्ञायते। धूमन्यापको वह्दिरिति ज्ञानकाले वढ्बयभाववान् धूमवानिति ज्ञानाभाववत्। अतः उपहितत्वाभावरूपशुद्धत्वस्याज्ञातत्वेडपि क्षत्यभावाच्च। न चोपहितत्वाभावविशेष्टे स्वपकाशत्वभावो न ज्ञायत इत्याद्युक्तवाक्यजबुद्धौ शुद्धभानमावइयकमिति वाच्यम्; उपहितत्वाभावावच्छिन्नावेरेण्यतानिरूपितस्वप्रकाशत्वाभावप्रकारताशा लिज्ञानावषयत्वाद्धभावस्य अस्वप्रकाशत्वेन उक्तबुद्दौ भानादु क्तप्रका-

1 स्यात्मान्यानिर्वाच्यत्वम्. ${ }^{2}$ शुद्धस्य. ${ }^{3}$ धूमज्ञानादि, 4 धूमवद्वष्य-

न च शुर्पदेनाभिधया लक्षणया वा शुद्बग्रकारो तत्प्रयेगैबैयथर्यमिति वाच्यम्; पर्यवासितार्थमादाय सार्थकत्वोपपत्तेः। एवंच ' भुर्धं न छइयं न मिथ्या' इत्यस्याप्यशुद्धत्वं, हइयत्वमिश्यात्वयोर्व्यापकमित्येतत्परत्वेन शुर्छे छइयत्वमिथ्यात्वयो: न्यतिरेकः पर्यकस्यति। एतेन-'स्फ्ररणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्न्रं लाघवात्, अतः स्वतः स्फुरददि जह्य मिथ्थैव' इति रून्यवादिमतमपास्तम् । स्वतः सफुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात् । सफुरणविषयत्वस्य ज्नह्नण्यसिद्दे:। नजु विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भाने श्रुत्या विशिष्टस्य हछत्व्वेनैव विशोष्यस्यापि
रताया अनुपहितत्वेन भासमानोपहिते ख्वपकाइत्वज्ञाने प्रसिद्धत्वात्। न चोपहितत्वे स्वपकाइात्वाभावव्यापकताज्ञाने शुद्धत्वस्वप्रकाशत्वयो: सहचारज्ञानमवइयमपेक्षितं, अन्यथोपहितत्वाभावदद्दृत्यस्वप्रकाशत्वामीति व्यमिचारज्ञानानुच्छेदेन ताहृशव्यापकताज्ञानासम्भवात्, तथाचोक्रसहचारघटकतया भ्रुद्धज़ानमावरयकामीति वाच्यं; ग्रुद्धस्य वृत्य्यविषयल्वेन तद्धटितोक्तव्यभिचारविषयकवृत्त्यसम्भवांत्, उपहितत्वाभावभ्रमकाले उत्तव्यापकत्वज्ञानासम्भवेऽपि तदन्यकाले तत्सम्भवात्, उत्कसहचारभमस्योपहितरूपाधिकरणमादाय सम्भवाच्च। न च श्युद्धत्वान्यधर्मविशिट्टे स्वपकाशत्वाभावज्ञानापत्तिरिति वाच्यम् ; बुद्धत्वसत्यत्वदेरेप ${ }^{1}$ ताहहाप्रतियोगित्वज्ञानादिविषयत्वात्, तदभावे इध्व्वात्। न चैवमपि शुद्धत्वोपहिते स्वप्रकाशत्वसिद्धावपि शुद्दे तदासिद्धिरिति वाच्चम् ; शुद्धत्वस्योपहितत्वाभावत्वेनाभावरूपर्घमे शुद्धचृत्तित्वस्योक्तल्वात्। युज्यते च तत् । उपहितत्वादयावतोपहितेन स्वेन श्रह्मणो भेदाभेदद्वीकारात् अभेदस्य धर्मर्धर्मितानियामकत्वात्। पर्यनसितार्थमिति । उक्तज्ञानासम्भवरूपं पर्यवसितपरोजननमिल्यर्थः। एवमिति । वृत्तिविषयत्वं विवैवर्थर्यिद्दि'सम्भवे इत्यर्थः। स्वतःफ्फुरणेति। तथाच साघन-

द्रयत्वात् व्यभिचारः। न च 'विष्णावे शिपिविष्टा' इत्यादौं विशिष्टस्य देवतात्ववत् विशिष्टस्य विषयत्वम्, अग्नीषोमयोर्मिलितयोर्देवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्. अतो न विशेष्ये विषयत्वमिति चाच्यम्; तद्ददेव विशेषणस्यापि अविषयत्वे भागासिद्दिप्रहनादिति चेन्न; विरोष्पतापभ्षस्य विषयत्वेपि क्षत्यमावाव, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमाव । अतएवोपहितविषयत्वेडपि उपघेयविषयत्वमक्षतमेवे ल्यपास्तमा उपहितात्मना तस्थापि
कैकल्यमिति भावः। मिलितस्येति । उभयपर्यांत्र विषचत्व-
 न्थेन विषय्वस्य हेत्वबनद्धा विरोष्ये न हेतः तथा विर्षेपणपाति भावः। विरोष्यतापन्स्पेति। न च विशिघ्ञानेन गुद्धे ज्ञातल्स्य अज्ञाननिवृतेत्र व्यवहारो न स्यादिति वाच्यम्; इष्टत्वात् शुद्धस्याव्यवहार्यत्वात् ‘अव्यवहार्यमलक्षणम्' इत्यादिश्रुतेः। न च शुद्धतात्पर्यनिर्णायकाविचारासिद्धिरिति वाच्यम्; तावताऽव्यक्षतेः उपहिततात्पर्यनिर्णायकविचारादेरेव श्रवणत्वादिसम्भवात्। तस्यापत्यपिकारेण उपहित ${ }^{1}$ न्रद्मभिन्नपपश्च्चमात्रस्य मिथ्यात्वम्, उपहितत्वेन तत्र हइयत्वसत्त्वादिति सूचितम्। तेन निर्विकल्पकास्वाकारे घटादेक्तत्तींकारेऽपि नित्यातीन्द्रियस्यापि विशिष्टरूपंणैव हइयत्वात् केवले तत्र भागासिद्धिरिति परास्तम्। घटादिप्रपश्चस्योपहितन्नस्वरूपाभावादसिद्धयनवकाशात् उपहिततत्स्वरूपे मिथ्यात्वसिद्धयैव नः कृतकृत्यत्वाव। किंच ब्रद्सणः सवप्रकाशत्वेन शुद्धरूपेण ज्ञानाविषयत्वेऽपि न क्षतिः । घटादेस्तु यदि शुद्धरूपं तदा ज्ञानाविषयत्वे अलीकमेव स्यात्। स्वप्रकाशत्वं तु तस्य दूरत एव। अनन्तानां तस्त्वीकारे गौरवस्योक्तत्वात् घटं न जानामीत्यनुभवाच्च। अविच सोयं घट इत्यादिवाक्याद-

मिथ्यात्वाभ्युपगमात ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणे भागासिद्धथभावाच । ननु वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वे तदानीमुपाध्यन्तराभावेन तस्या एव उपधायकत्वात् स्वविषयत्वापत्तिः। नचेष्रपत्तिः, शाब्दबोधे शब्दानुपस्थिता भाननियमेन बृत्ते: शब्दानुपस्थितायाः भानानुपपत्तेः। यथाकथंचिदुपपत्तौ वा न ततोऽज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिस्स्यात् अज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वात्। अन्यथा 'अहमश्नः अयं घटः' इत्यादिज्ञानानामप्युपहितविषयकत्वेन अज्ञाननिवर्तकत्वप्रसझ्ध इति चेक्झ ; वृत्ते: शाब्दवृत्तावनवभासमानाया स्मन्मते शुद्वव्यक्ता ${ }^{1}$ धीः। व्वन्मतेडपि प्रमेयमिस्यादिज्ञानद्विरोण्यमात्रांडो उद्बुद्दसंस्कारात् विरोष्यमात्रस्टृतिर्वाच्या। अन्यथा अननुभूतदशरथत्वादिविशिष्टे शक्यादिज्ञानासम्भव इति भावः। ज्ञानान्तरेति। विशिष्टविषयकज्ञानेल्यर्थः। उपाध्यन्तराभावेनेति। ज्ञानमेवाज्ञानस्य स्वेतरततक्रार्यस्य च ध्वंस इति मते भुज्यमानादृध्टाभावकालीनज्ञानस्य स्वेतोरापाषिकालीनत्वासम्मवात् उपाध्यन्तराभावेनेल्यर्थ: । अथवा तदानान्त्तनानां स्वस्वेतरोपाधीनामन्तरस्य विशेषस्याभावेन तस्या एव तस्या अपीतर्यर्थः। यद्वा ज्ञानमेवाज्ञानध्यंस इति मते अज़ानस्योपाषित्वासम्भवात् अज्ञानकार्यस्यैकजातीयस्य असार्वत्रिकत्वात् तस्या एवाखण्डाकारृतित्वेन सर्वन्रोपधायकत्वादिलर्थः। यथाकंथचित्-शाब्दज्ञानस्य स्वमिन्नशब्दानुपस्थिताविषयकत्वनियमसीकारेण। तत्कार्याविषयकेति। तत्पयुक्ताविषयकेत्यर्थः। तेन जीवेशभेदादादिविषयकस्याप्यनिवर्तकल्वलाभः। उपहितविषयकत्वेन विशिष्टविष्यकत्वेन। तेनास्मन्मते ज्ञानोपहितविषयकस्य निवर्तकत्वेन नेष्टापत्तिः। निवर्तकत्वप्रसझ्न इति। न चोक्तज्ञानानामiनवर्तकत्वात् समानविषयकत्वेन ज्ञाना-

[^20]ज्ञानयोः निवर्तकनिवर्ल्यव्वसिद्यथा गुद्रव्रद्सविषयकाज्ञानानिवर्तकज्ञानस्य च्युद्धव्रद्सविषयकत्वानियमेपि अज्ञानाद्यविषयकत्वनियमः कुतः? इयं शुक्रिरज्ञानं रजतं च मेयं अहं ज्रह्न अज्ञानं घटादि मेयमित्यादिज्ञानानामबिकविषयकत्वेपि अज्ञानं प्रति समानविषयकत्वेन निवर्तकत्वसम्भवात्, अवस्थाज्ञानतक्रार्यशुक्तिरजतादिज्ञानानामविद्यावृतित्वेन शुक्तथाद्यविषयकत्वेऽपि श्युद्धद्रह्नज्ञानस्य मूलाज्ञानततक्कार्ययादिविषयकले बाघकाभावात् बाधिताविषयकत्वेडप्यबाधितविषयकत्वेन प्रमात्वसम्भवांच्चेति वाच्यम्। तार्किकादिमते घटाभाववादेद घटवदिति ज्ञानस्येव शुद्धशह्सविषयकज्ञानस्य तदन्यविषयकस्यासम्भवात्। याहशविषयतयोर्विरोधस्ताहदाविषयतयोरेकज्ञानासम्बन्धनियमस्य तुल्यत्वात्। विरोषश्ध तन्मते प्रतिबध्यपतिबन्धकतावच्छेदकल्वम्, अस्मन्मते नाइयनाशाकतावच्छेदकत्व नारतत्पतियोगिताच्छेदकत्वं चेत्यन्यदेतत्। वह्धिव्याप्यो धूम इत्याकारोह्डद्संसकारकाले धूमवान् वद्धभभाववानिति ज्ञानस्येव हदो वद्धचभाववान् इति उद्नद्ससंस्कारकाले हदो वहिमानिति ज्ञानस्याव्यनुत्पत्ते:, आनुभविकत्वेन हर्याभाववद्रबेत्याकारकोद्ढुद्धसं₹कारकालननव्नब्ञानकाले हृ्यविषयकज्ञानस्यासम्भवाच छइयभाने सद्रूपद्धषणो ह₹यानुविद्दतया भानावश्यकत्वात्। घक्सज्ञानात्पूष्व घटत्वाद्युपस्थितयावद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य मिथ्यात्वघटकतया श्रह्मणि निश्चयात्। तत्र तस्योहूद्धसंस्कारसत्वात्सर्वदा मुमुक्षुणा प्रप््वमिथ्यात्वस्य चिन्यमानत्वात्। अतएव विवरणे "ननु श्रहाड्मानुभवद्दैतदर्श्रनयो: कुतस्साहित्यम्" इत्याशच्यच न वयं साहित्यं जूम: किन्तु कदांचित् असम्प्रज्ञातत्मैकत्वदर्शनं कदाचिदारव्ककर्मोपस्थापितदोषनिमित्दैतदर्शनं चेति" इन्युक्तम्। सन्तमसबहुळालोकयो रिव ${ }^{1}$ द्वैतद्वैतधियोर्विरोष इति तत्त्वदीपने शक्षाव्याख्बानम्। असम्पज्ञातं प्रत्यक्षादिमानाज्ञतम्। ननु ज्ञानं स्वसमानविषयकाज्ञानतज्जन्यभ्रम-

1 संतमसबुदुकभास्करयोरिव.

तद्विषयनाशा इति पक्षे तस्योक्तविषयाविषयकत्वनियमो युक्तः, उक्कः विषयविषयकस्योक्त ${ }^{1}$ अ्रमरूपत्त्रेन तन्नाइत्वासम्भवात्। इयं शुक्ति: तत् रूप्य ज्ञेयमित्यादिरुपेण अतीतरूप्यादिविषयकत्वेन स्वसमानकालीनत्वेनापि ज्ञानस्य तु नासम्भवः, "स्वसमानकालीनत्वेनापि विषयस्य विशोषणीयत्वादुक्तज्ञानस्य तदूष्यमित्यंशो स्मृत्यादिरूपत्वेनातीतरूप्यादिविषयकत्वेन स्वसमानकालीनरूप्याद्यविषयकत्वात्। अतएवेयं शुक्तिरस्य रूप्यस्य धीः मम जातेत्यादिज्ञानस्यापि नासम्भवः। तथाच शुक्तिरियं रजतमिदं विद्यमानमित्यादेरिव अहं ह्रक्म, विद्यमानो घटो रूपवानित्यादेरपि ज्ञानस्यासम्भव: ${ }^{3}$, स्वसमानविषयकाज्ञानजन्यभ्रमविघयविद्यमानविषयकत्वात्। ज्ञानस्योक्तनाशाहेतुत्वपक्षे तूक्तनियमो न युक्तः, उक्तविषयविषयकेनाप्युक्त ${ }^{4}$ नाशजनननसम्भवात्। न चैवमुक्तज़ानस्य स्वनाइयत्वेन क्षणिकता स्यादिति वाच्यम् : उक्कनियमे स्वीकृतेऽपि ब्रक्षानस्य ब्रह्माज्ञानजन्यभ्रमविषयत्वेन स्वनाइयत्वात् तन्नाशकान्तरकल्पने गौरवाच क्षणिकतापत्ते:। न च ब्रह्मज्ञानविषयकभ्रमस्य साक्षिणः अविद्योपहितचिद्रूपत्वेन उक्ताज्ञानाकार्यत्वेन श्रक्सज्ञानस्य न स्वनाइयत्वमिति वाच्यम्; उक्तभ्रमस्य ब्रह्मज्ञानरूपविषयोपहितरूपेणाज़ाऩकार्यत्वात् अविद्यावृत्त्युपहित ${ }^{5}$ चितः साक्षित्वपक्षे स्वरूपेणापि तत्त्वात्। वस्तुतस्तु स्वसमानविषयकाज्ञानतत्पयुक्तान्यतरत्वावच्छेदेनैवै लाघवेन ज्ञाननाइयत्वात् प्रयुक्तत्वस्य च नाइयतावच्छेदकतया सिद्धस्य तदधीनत्वरूपस्य शक्किविशोषरुपस्य वा नित्येऽपि सम्भवात् अज्ञा-

[^21]नसम्बन्धादेरपि ज्ञाननारयत्वमुपपादनययम्। अन्यथा तदुपहितरूपेणापि तं्द्रमस्याकार्यत्वेन तस्य ज्ञानानाइयत्वापत्ते:। तथाच किं अ्रमाजन्यत्वचिन्तया। अतएव ज्ञानस्य उक्तनाशत्वपक्षे उक्तनाशहेतुत्वपक्षे वा अज्ञानसम्बन्धादिनाइत्वं तन्नाराहेतुत्वं वा नानुपपन्नं, उक्तन्यतरनाशत्वादेरेव तत्र स्वीकारात्। यदा तु ज्ञानस्य नाइयमज्ञानमेव, तत्र्ययुक्तं नु तन्नाशनाइयमिति स्वीक्रियते, तदोक्तक्षणिकत्ववार्तापि नेति सुतरां नोक्कनियमः 1 रिंच ज्ञानमुक्तनाशः तद्धेतुर्वा आस्ताम्, उभयथापि जीवन्मुक्तिकाले कथमुक्तनियम: ? तदा भुज्यमानादृष्ट्वेहादिसत्वात् तं््रमात्मकन्नह्नजानातोत्पतौ बाधकाभावात् । यच्छोक्त वहिष्याप्य इत्यादिकं, तद्व्ययुक्तं; तर्किकादिमते हि घटाभाववानयं घटवानिति ज्ञानं नोत्पघ्यते, प्रतिबन्धकीभूतबाधबुद्धिसामग्रया: प्रतिबन्धकत्वात्। सिद्धान्ते तु बाधबुद्देरेव प्रतिबन्ध्नकत्वस्य विवरणाद्युकत्वात् तत्सामग्रया अ(पि)प्यप्रतिबन्धकत्वम्। द्वदो वद्रयभावेत्यादिकं तु तार्किकादिविमत ${ }^{1}$ मिति चेन्न; सिद्धान्ते बाधबुद्धेर्रतिबन्धकत्वेपि तत्सामग्रीप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्। परमते अनुमित्यादिसामभीपतिबन्धकत्ववत्। अन्यथा ज्ञानस्य अज्ञाननाशकत्वपक्षे घटाभाववानयं घटवानयमिति ज्ञानस्य दुर्वारत्वात्। ह्वोो वह्वयभावेत्यादौ़ विमतत्वे तुल्ययुक्तया धूमो वड्दिव्याप्य इत्युद्दुद्धसंस्कारकालनिस्य धूमवान् वड्ययभाववनिति ज्ञानस्योतपत्त्यापत्ते: ${ }^{2}$ । एवंच तमेव विदित्वेत्यादि श्रुतेरप्याङ्डस्यम्, अथवा अज्ञानतत्कार्यतिषयकेत्यस्य स्वनिवर्त्याज्ञानविषयविषयकेतेयार्थ: ${ }^{3}$ । उक्रश्रुतिस्तु "एकधैवानुद्रष्ट्र्यं, प्रपश्वोपशामं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते सोयमाह्मा स विज्ञेय." इत्यदिकेवलात्मज्ञेयत्वपरश्रुत्यैकवाक्यतया तंंशोऽन्याविषयकज्ञानमोक्षहेतुत्वपरा। न्यायसिद्धस्य स्वसमानविषय कत्वेनाज्ञान ${ }^{4}$ निवर्तकत्वस्य तया अनुवादात्। अतएव-

[^22]एवोपधायकत्वाम्युपगमात् । तदुक्त कल्पतरकुनिः:-" शुर्ध्र अब्लेति विषयक्रुर्वाणा धृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिष्टृत्तिहुतुरुद्यते, स्वस्याप्युपाधित्वाविशोषात्। एवंच नानुपहितस्य विषयता, षृत्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते न भास्यतया विषयकोटिप्रवेरोन" इति। अयमभिम्रायः-यथा अझानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति जडत्वात्, किन्तु साक्ष्यकोटावेव। एवं वृत्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्तिविषयकॉटौ प्रविशति; स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः। किन्तु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पाद्यतीति न काजप्यनुपपत्ति:। एतेन ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वं व्याख्यातम् । अज्ञा-

> 'न बुद्धि मर्श्रयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ।
> उपम्दाति चेहुछद्धि ध्याताऽसौ न तु तत्ववित् ॥'

इति ध्यानदीपे श्रीविद्यारण्यैरुकम्। बुद्देर्मर्दनमितरविषयकत्वविषटनम्। तच्च ध्यानोपयुक्तम्। अन्यथा इतरविषयकज्ञानस्योत्पतौ ध्यानत्वस्येतरविषयकज्ञानाभावविशिष्टज्ञानधारात्वस्य ${ }^{1}$ हानापत्तेः। न तु तत्त्ववेद्यमात्रोपयुक्तमिति तदविषयकस्यापि ${ }^{2}$ त₹्वविषयकत्वसम्भवात्। पराभिमतबाघसामग्रयाः प्रतिबन्धकत्वस्य पैरैः क्लुपत्वेपि अखण्डव्रस्षर्षसामप्रयाः तन्मते अलीकत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्यस्य अक्लप्तत्वात्, तत्कशप्यत्वे सिद्धान्ते गौरवापत्तेः, तत्र प्रयोजनाभावाच । विवरणदिवाक्यं तु त्रक्सज्ञानोत्पत्त्युत्तरं प्रारबधभोगाभावकाले द्वैतभत्ययोत्पत्त्यभावपरं योजनीयम्। निवृत्ति: निवर्तिका। विषयतां सम्पाद्यतिअविषयात् शुद्धात् विषयं विध्धमाना सती व्यावर्तयति। तथाच ब्रक्वान्विते स्वविषयत्वेऽनन्वितत्वे सति विद्धमानत्वे च सति व्यावतरकत्वात् स्वविषयतां प्रत्युपाषित्वं वृतेतेः यदुनन्वितत्वे सति यद्वि-

[^23]नमपि हि स्चोपधानदशायामेव ब्रह्म विषर्यकरोति स्वानुपधानदशायां स्वस्यैवाभावात्। तथाच ज्ञानाज्ञानयेरुमयोरव्युपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वात् समानविषयकत्वशिष्ट्टस्यतरणव्यावर्तकं यद्विध्यमानं तत्र तदुपाधिः, यथा घटकारणत्वे दण्डत्वमिति लक्षणादिति भावः। उपहितविषयत्वादिति। ज्ञानस्याज्ञाननाराकत्वपक्षे ज्ञानाज्ञानयोः अन्याविशिष्टज्ञानपरासमूहालम्बनं स्योदेव; अज्ञानेपहितविषयकत्वसम्भवात् । एकविषयत्तेपि तस्य तन्नाराकत्वपक्षे तयोः स्वोपहितविषयकत्वेपि नैकविषयकत्वम्। अतः तन्नोक्तम्। अज्ञानादिविशिष्टविषयकमप्युपहितविषयकं, विशोष्यतापन्नस्य विषयत्वेऽपि क्षत्यभावादित्युक्तत्वात्। अतः उपाध्यविषयकत्वे सतीति। ₹वोपहितत्रह्मान्याविषयकत्वे सतीत्यर्थः । ताबन्मांत्र निर्विषयके तुच्छव्यवहारजनके विकल्पेपीति उपहितविषयकत्वादित्युक्तम्। सविषयकत्वादिति तदर्थः। तुच्छवृत्तेः सविषयकत्वमते तु विशोष्यदळं न देयम्। ज्ञानस्याज्ञानतत्र्रयुक्ताविषयकत्वनियमास्वीकारे तु. विषयत्वानिरूपतित्यम्य सत्यन्तेन ल्राभात् तादृशी या उपहितत्रह्मविषयता तच्छालित्वं दळद्बयार्थः। तच्च 'अहं व्रह्म, घटो मेयः' इत्यादिसमूहालम्बनज्ञाने ऽc्यक्षतम्। ब्रह्मभिन्नविषयकज्ञानाज्ञानयोस्तु अज्ञानतत्पयुक्ताविषयकत्वे सति अज्ञानविषयतावच्छेदकविषयकत्वं ज्ञानस्य अज्ञानसमानविषयकत्वम्। ज्ञानस्याज्ञानतत्पयुक्ताविषयकत्वनियमस्वीकारे तु सत्यन्तं न वाच्यम्। याहरी अवच्छेदकता तादृरी ज्ञानस्य विषयता वाच्या। तेन शुद्धतद्यक्तचवच्छिन्नविषयताकाज्ञानस्य शुद्धतद्यक्तिविषयकज्ञां, शुद्धश्रुक्तित्वादिविशिष्टावच्छिन्नविषयताकाज्ञानस्य शुद्धशुक्तित्वपकारकं ज्ञांन, जातित्वादिविशिष्टथुक्तित्वाद्विविशिष्टा "वच्छिन्नविषयताकाज्ञानस्य ताद्दशयुक्तित्वांदिप्रकारकज्ञानं समानविषय कम्। समानविषयकत्वमिति। एकविषयत्वपदेन पूर्वोक्तार्थ इत्यर्थ:

मस्त्यैव। एतेनोपाधिविषयझ्नानानामज्ञानानिवर्तकत्वं व्याख्यातम्। अज्ञानस्योपाध्यविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्। समानविषयत्वैनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावात्। वस्तुतस्तु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृइयत्वम्। अन्यथा 'शाराविषाणं तुच्छम्' इत्यादिगब्द्जन्यतृत्तिविषये तुच्छे व्यभिचारस्य दुरुच्छरत्वात्। एवंच सति शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न तत्र व्यभिचारः, तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वान म्युपगमात् ॥ तेन न पश्चम्यसब्नतिः। उपाधिविषयकेति। सत्यन्तव्यावर्त्येत्यर्थः। समानविषयकत्वेनैवेति। समानविषयकत्वक्याव्यं निवर्त्यनिवर्तकत्वमित्यर्थः। तेन चैत्रो ${ }^{1}$ ब्रह्मति वाक्यजन्यस्येपहित² ${ }^{2}$ ह्मविषयकम्य उक्तसमानविष्यकम्य स्वसमानाधिकरणसंसारपयोजकाज्ञाना ${ }^{3}$ निवर्तकत्वेऽपि न क्षतिः। शक्तिविशोषवत्त्वेनैव ₹वपरिणाम्यज्ञानत्वसम्बन्धेन स्वहेत्वज्ञानत्वसम्बन्धेन वा कारणत्वम्। अज्ञानेपहितत्रह्मान्याविषयकाज्ञानवृत्तिप्रतियोगितासम्बन्धेन नारात्वेन कार्यत्वम्। यस्य मूलाज्ञानस्य येन ग्रद्सज्ञानेन नाशः तस्य शक्किविशोषविशिष्टस्य ज्ञानस्य स्वपरिणामिनः परिणाम्यज़ानत्वसम्बन्धेन तत्र सत्त्वात् झुक्त्याद्घज्ञाने ठ्यभिचारापत्ते: वृत्त्यन्तम् । डुक्त्याद्यविछ्छन्नविषयताशाल्यज्ञानवृत्तिपतियोगितासम्नन्धेन नारां प्रति ₹वपरिणामिमनोवच्छिन्नाश्रयताकाज्ञानत्वसम्बन्धेन शुक्तित्वप्रकारताकज्ञानत्वेन कारणत्वम्। ज्ञानत्वजात्यस्वीकारे निश्धयत्वजातिर्निवेइयेति दिक्। एवंचोपहितब्रहान्याविशेषितोपहितश्रष्सविषयकज्ञानत्वं तात्विकम्रमात्वम् । यादृशरूपविषयकस्य चयावहारिकप्रमाबाधकत्वं तादृशरूपविषयकज्ञानत्वस्यैव तात्त्विकप्रमाव्वरूपत्वात्। अतस्ताहदाज्ञानस्य अप्रमात्वापत्तिर्मौढयेनैव। न चोपहितन्रस्नण आकाशादिवाधकधीविषयत्वानुपपत्तिः, आकाशाद्यिकसत्ताकत्वाभावात्, यद्यद्वाधकधी-

$$
{ }^{1} \text { च ईशा. }{ }^{2} \text { स्वोपहित. }{ }^{3} \text { ज्ञान. }
$$

विष्यः तत्तदधिकसत्ताकमित्युक्तव्याप्रेरिति वाच्यम् ; स्वाबाधकेल्यनेन यद्बाधकस्य विशोषणीयत्वात्। अन्यथा स्वामयोर्गजतदभावयोः परसपरबाधकधीविषयत्वस्य पूर्बोक्तस्यानुपपत्तेः। विवाक्षिते तु स्वामगजाभाववति स्वामगज इत्याकारकज्ञानस्य स्वामगजतदभावयोः स्वसमानाधिकरणस्वन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वविषयकत्वेनोभयबाघकत्वात् । यह्वाधके स्वाबाधकत्वाभावात् यत्र धीविषयत्वं स्थाप्यं तरस्वपदार्थः। यत्तु-_" ज्ञानाज्ञानयोः शुद्धाविषयकत्वे— ‘ अश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'। इति सिद्धान्तहानिः, लबधे उपहिने विषये अज्ञानस्वरूपसिद्धि:, अज्ञानस्वरूपे च सिद्धे तदुपहितरूपसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः। उपहिताश्रंयकत्वमप्यज्ञाने स्यात्। इष्टापत्तौ च तत्राप्यन्योन्याश्रयः, एवमनुपहितस्य वृत्त्यविषयत्वेन चैतन्यस्य वृत्तिविषयत्वार्थ ${ }^{1}$ तटस्थयाडट्युत्पन्नया वृत्त्यापहितत्वम्। उपहिते सति चैतन्ये तद्विषयकवृत्त्युत्पत्तिः निर्विषयकवृत्त्यनुत्पादात्। तथाच चैतन्यस्य विषयत्वे तद्विषयकवृत्त्युत्पत्तिः, तस्यां च चैतन्यस्य वृत्त्यर्धीनं विषयत्वमित्यन्योन्याश्रय:" इति, तत्तुच्छम् ; अश्रयत्वेत्यादिवाक्येनाज्ञानकार्यानुपहितस्याज्ञानविषयताश्रयत्वयोरुक्तत्वात् ।
'पूर्वसिद्धतमसो हि पश्विमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥' इत्युत्रार्धेनाज्ञानकार्योपहितस्याविषयाश्रयत्वे पश्चादुत्पन्नत्वहेतोरुक्तत्वात्। अज्ञानेपहितस्याप्यविषयत्वादी तात्पर्ये हेत्वनुक्तया न्यूनतापतेत्। लबध इत्यादिकं तु स्वमैब्यप्रकटनम्। अज्ञानतदुपहितयोस्तद्नोचरसाक्षिणोश्र अनादित्वेनोत्पात्तिज्ञपयोरन्येन्याश्रयानवकाशात् । एवमित्यादिकमपि तथा, शाब्द वृत्रौ विषयस्याहेतुत्वेन विषयस्योपहितस्य वृत्तिपूर्वमनपेक्षणात्। लक्षणाज्ञानतजन्योपस्थिती अपि अन्यविशेषित यत्स्वोपहितं तद्विषयके अपेक्ष्येत ${ }^{3}$ न तु शाब्दृ ${ }^{2}$ वृत्त्युपहितीविषयके। न

यद्वा सप्रकारकतृत्तिविषयत्वमेव हइयत्वम्। प्रकारश्र सोपाख्यः कशिद्धर्मः। तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुई्दे निरुपाख्यधर्मप्रकारकझ्ञानविषयीभूते तुच्छे च न व्यभिचारः। अभावत्वस्यापि सोपाख्यत्वाद मावत्वप्रकारकझानविषयीभूते अभावे न भागासिद्धि:। उपाख्या चासीति प्रतीतिविषयत्वादीवत्यन्यत्। एतेन वृत्तिव्याप्यफलण्याप्ययोः साधारणं ठ्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृइयत्वमपि हेतुः, अृ्काणि तुच्छे च व्यभिचारपरिहारोपायस्य उक्कत्वांत् ॥।
च वाचस्पतिमते अत्मसाक्षात्कारस्य मानसत्वेन मनस्सान्भिकर्षविषयाम्यां जन्यत्वात् स्वोपहितात्मविषयकत्वानुपपत्तिः, विषयनिष्ठपत्यासत्त्या तयोर्हेतुत्वेन ₹्वोपहिते तयोः ₹वोत्पत्तिपूर्वमसत्त्वादिति वाच्यम् ; सन्निकर्षाद्युपहितस्य स्वविषयस्य स्वोपहितत्वेन ${ }^{1}$ तदुपपत्तेः। यस्मिन् क्षणे यत्कारणकूटवत्तदव्यवहितोत्तरक्षणे तत्तादात्म्यापन्ने कार्योत्पत्तिरिति ठ्याप्तेः स्वीकारात्। न च विनरयद्वस्थसनिकर्षादिना स्वोत्पत्तिस्थले भिन्नकालीनसन्निकर्षाद्युपाहितात् ₹्वोपहितस्य अत्यन्तभेदात् यत्र मनस्संयोगोपहिते मनस्संयोगः ${ }^{2}$ तत्र लौकिकविषयतया न साक्षातकारोप्पत्तिरित्युक्तानुपपतिरिति बाच्यम् ; तावताडप्यविनइयदवस्थसंप्रयोगात् तदुत्पचिसम्भवादिति सुधीभिर्जेयम्। असत्रूयातिमते राब्देनेवानुमानादिनाऽपि तुच्छस्य ज्ञेयत्त्वात्तन्र व्यभिचारादाह—यद्वेति। धर्म इति। भ्राब्य इति रोषः। तथाच सोपारु्यनिष्ठपकारताकवृत्विर्वाच्येति भावः। तुच्छस्याप्यस्तित्वेन ${ }^{3}$ ज्ञानमस्तींति वादिनं प्रत्याहआदीति। सत्तातादात्यतत्त्वन्यतरवत्त्वादित्यर्थः। एवं फलुव्याप्यत्वहेतुतोक्तिपक्षेऽपि वृत्त्यभिव्यक्तचित्वादिरूपफलत्वेन न निवेशः। किन्तु सवावच्छेद्कवृत्तिक्याप्यत्वसम्बन्षेन मनोवच्छिन्नचित्वेन हेतुता।

[^24]वृत्तिश्र सोपाख्यनिष्ठप्रकारताका ग्राक्षा। तेन नोक्र०्यभिचारः। चित्वेन हेतुत्वं वा, सम्बन्धभदाचचतुर्थपक्षाद्रेदः। न चातीन्द्रिये अविद्यासुखादौ च अनुमित्यादिवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमादाय हेतुः स्थाप्य: तच न फलमिति फलव्याप्यत्वं रूपान्तरेणापि प्रकृते न हेतुरिति वाच्यम् ; बृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन तद्धीनासत्त्वापादकाज्ञाननिवृत्तिमत्त्वेन वा साक्षिचैतन्यस्यैव प्रकृते फलत्वात्। अनुमित्यादिवृत्तौ साक्षिण: प्रतिबिम्बितत्वाधनपायात् । उक्षं हि विवरणे-'जानातेश्रानुमेयादिषु फलापेक्षया सकर्मकत्वं न कर्मकारकापेक्षया' इति। अतएव सुखादिरू. पाया वृत्तेरपि खवच्छत्वत् चित्पतिबिम्बग्राहित्वमित्युक्तं सिद्धान्तविद्यादौ।। वृत्तिज्ञाने यद्यपि बाद्यार्थवत् फलं नास्ति, तथापि चैतन्याभिक्यक्तिरूपं फलमस्त्येव, मनस इव तत्परिणामस्यापि स्वच्छत्वेन चित्र्रतिबिम्बभ्राहित्वादित्युक्तम् 'नाभाव उपलबधे:' इल्यधिकरणे कल्पतर्वादौ। एवंचेन्द्रियकरणकवृतावेव चित्प्रतिफलनं न त्वनुमित्यादिवृत्ताविति वेदान्तसिद्धान्त इति यत्परेणोक्तं तत् तन्मतिपरिपाकः। स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्विषयत्वादिरूपस्य फरुवयाप्यत्वस्यानुमित्यादिस्थले अस्मस्सिद्धान्ते परमनझीकारात् । उक्षं हि विवरणे-' अनुमित्यादौ न क्रियाजन्यफलरालित्वरूपं कर्मत्वं, किन्तु सुषुप्ययदिव्यावृत्तिमात्रम्' इति। वस्तुतः सर्वस्य कर्तृत्वादेव वर्तमानसर्वविषयज़तेत्यादिविवरणे ${ }^{1}$ ईभ्य रोपाधिसत्च्वप्रधानमाया वर्तमानसर्वविषयाकारेण परिणमते, तस्सिंम्य परिणामे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं सर्व पइयत्याध्यासिकसम्बन्धादित्यादितत्त्वदीपनोक्तेः स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वरूं फलुष्याव्यत्वं सर्वत्र सुलुभम्। न च चैतन्यत्वेनैव तादात्म्रूपविषयतया हेतुत्वसम्भवात् व्यर्थविशेषणत्वमिति वाच्यम् ; वृत्विपतिबिम्बितत्वेनैक तादास्येन हेतुत्वात्। तुच्छे तु नोक्तमायावृत्तिः, विध्यमानमात्र एव

$$
1 \text { विवरणात्. } \quad 2 \text { दीपनोक्तं }
$$

तढुक्तेः। अतश्धैतन्यातादाल्य्याच्च न तत्र ठ्यभिचारः। ब्रझ्नणि तु न स:, तदन्याकारवृतौ पूर्वोक्तविरोधेन तदाकारकत्वाभावात्। तन्मात्राकारकवृत्तेः सपकारकत्वविशेषणेन वारणसम्भवात्। तदन्यनिष्ठतादाल्येयैव हेतुत्वाद्वा। एतेन वृत्तिप्रतिबिम्बितडुद्यव्रह्सरूपां्यों भेदसस्त्वात् तादात्य्यत्त्वेऽपि न क्षतिः। अतीतादेरपि वर्तमानताद्शायां ताहृशचितादा़ाल्यात् तत्र न भागासिद्धि:। यत्तु-" वृत्तिविषयत्वेनैव • सकलठ्यवहारसम्भवात् वृतिविषयत्वातिरिक्तम्य चिद्विषयत्वस्याननुभवाच्च न कुत्रापि चिद्विषयत्वम्। अन्यथा तमोनिवर्तकप्रभादिप्रतिफलितं प्रभाद्यन्तरं स्यात्। विषयस्यापरोक्ष्यमपि इन्द्रियपयुक्तसाक्षाहकारत्वविशिष्टवृत्तिविषयत्वरूपं वृत्तिपतिफलितचिद्दिषयत्वं विनाव्युपपद्यते, ज्ञानत्वाश्रयवृत्तिविषयत्वरूपज्ञातत्वादिवत् " इति, तन्न ; सुखादौ नृत्तिज्ञाने च इन्द्रियजन्यवृत्यन्तरकल्पने गौरवात्, वृत्तिविषयत्वस्येच्छादिव्यवहारविषयत्वाप्रयोजकत्वात्। असत्र्वापादकाज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वम्य तत्र प्रयोजकत्वोक्तौ चेच्छाविरहप्रयोजकमज़ानाविषयतावच्छेदकत्वं घटादेरज्ञानविषयचित्तादात्प्येनैवोपपाद्यम्। अवच्छेद्याधिकरणसंम्बन्धं विना अवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न चाज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वस्य तथात्वे अतीततादिद्शायां सुखादौ परोक्षवृतिनिवर्त्यतत्समसंख्याज्ञानानामिच्छादिविरहप्रयोजकानां कल्पनमावइयकं, तथाच तदपेक्षया वृत्तानां विद्यमानतादशायां तत्र कल्पनायां न गौरवमिति ${ }^{2}$ वाच्यम् ; अज्ञानस्य वृत्तिपागभावरूपतया प्राचं मते चृत्तिसमसझ्खयत्वेऽपि विद्यमानसुखादौ वृत्तितः्रागभावादिकल्पनायां तदपेक्षया गौरवात्, नठ्यमते प्रागभावाश्वीकारेणाजानस्य वृत्तिपागभावत्वाभावात् तत्समसर्त्रुचत्वाभावात्। देशकालविशोषावचछछेदेन घटाद्यत्यन्ताभावस्य घटादिंविरोधित्ववत् तद्विषयतावच्छेदक-

$$
{ }^{1} \text { स्वरूपाम्यां. }{ }^{2} \text { तत्कल्यनाया गौरवादिति. }
$$

त्वस्य दृतिविरोधित्बसम्भवात् एकस्यैबाज्ञानस्येच्छाविरहप्रयोजकत्वात् । ताद्धास्याप्यध्यासोपादानत्वेन भाबरूपत्वात्। प्रतिकर्मब्यवस्थ।यामधिकं वक्ष्यते। असत्त्वापादकाज्ञानस्यैवेच्छादिप्रयोजककुक्षौ निक्षेपादनुमित्यादिकाले अभानापादकाइ्ञानसत्त्वेपीच्छाद्युत्पत्तिः। न च घटादेरज्ञानविषयत्वमेव लाघबादन्तु, तथाच तदवच्छेदकत्वोपपादकं चितादात्वं न क₹ृप्यमिति वाच्यम् ; घटादिजडेषु तदाकारवृत्तिं विना प्रकाराप्रसक्किर्हि चैतन्यस्य शुद्धरूपेण मोक्षान्वयिसत्तास्फुरणरूपसर्वरतस्वप्रकाइत्वेन कल्टपस्य सम्बन्षात्। तथाच तत्रैैैकत्र तत्तद्वच्छिन्नरूपेणाज्ञानविषयत्वकल्पनेन तद्वच्छेदकेषु घटादित द्रमेष्वनन्तेषु अपकाशनिर्वाहे तेषु नाज्ञानविषयकत्वं कल्प्यते, गरैरैवत्। किश्च घटादौ तद्वच्छिन्नचिति वा तद्विषयत्वमित्यत्र न विनिगमकम्। न चोक्तचिति तस्स्वीकारे घटादौ तदवच्छेदकत्वस्य आवरयकत्वात् गौरवमेव विनिगमकमिति वाच्यम्; उक्तचितः केवलचिद्न्यत्वेन तस्यामनवच्छिन्नेक्तविषयत्वस्वर्कारे दोषाभावात्, अनतिरिकवृत्तित्वरूपावच्छेदकत्वमादायैव शासे तदवच्छेदकत्वव्यवहारात् अतिरिक्तावच्छेदकत्वाकश्पनात्। उपहितस्य केवलानन्यत्वपक्षे तु एकस्यैव अज्ञानविषयत्वस्य शुद्धचिन्निष्ठस्योक्तरत्या अवच्छेदकत्वानि घटादौ कल्प्यन्ते। तत्र विषयत्वं ब्रह्तज्ञानस्यैव विरोषि, अवच्छेदकत्वादी़ि तु घटाय्याकारवृत्तीनामपि। सर्वथा घटादौ चितादात्म्यमावइयकम्। अत एव सत्तास्पुरण|कारपतीत्याऽपि सर्वत्र चिचादात्म्यसिद्धि:, सत्तास्फुरणरूपतया क्लृचित एव तद्विषयत्वाव्। अतएव विषयापरोक्ष्यमपि नेन्द्रियजन्यषृत्चिविशेषविषयवं, आत्मघुखदौ तदभावात्, तन्मानससाक्षारक्कारस्य तत्र मनस्सन्निकर्षदिहेतुत्वस्य च कल्पने गौरैवात् किन्तु अज्ञानविरोधि चिद्दृवम्। अज्ञानविरोधित्वं च सुखाद्यवच्छिचचिति स्वतः, तबन्याचिति तु तदाकारवृात्येति विशेषः। अतएव ज्ञातत्व-

यद्वा दृयत्वं चिघिषयत्वम् । तन्च यथाकथांचित् चित्सम्बधित्वरूपं हेतुः। तच न चैतन्ये, अभेदे मेदनान्तरीयकस्य मपि न वृत्तिविशेषविषयत्वं, किन्तु असत्वापादकाज्ञानविरोधि चिद्रूपम्। उक्तविरोधित्वं च सुखाध्यवच्छिन्नचिति स्वतं, तदन्याचिति तु वृत्त्या। तच्चापरोक्ष्यादिकम्। यद्यपि ज्नद्म स्फुरति, अ्रझ्सास्तीत्यादावसंस्त्टमेव भासते ; तादृघावाक्ये लकारस्य साधुत्वार्थकत्वस्योक्तत्वात्। तथापि घट: सफुरतीत्यादौ घटादौ तत्तादाश्म्यं भासत एवेति चिद्विषयत्त्वमचिन्मात्रस्यावर्यकम्। प्रभादिप्रतिफलिते च प्रभाघन्तरे न कापि युक्तिरिति न तदापादनम्। न चैवमपरोक्षज्ञानत्वं चितीव वृत्तावपि वाच्यमिति परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः ${ }^{1}$ चैतन्यरूपमुरुयज्ञानवं बृत्तिरूपगौणज्ञानत्वं प्रति वा व्याव्यता न स्यादिति वाच्यम्; मुस्ययोः परोक्षापरोक्षज्ञानत्वयो: मुखु्यज्ञानत्वव्याव्यतायाः अमुख्ययोस्तयोरमुख्यज्ञानत्वन्याप्यतायाः सव्मवात्, अज्ञानसामान्यविरोध्यज्ञानविशोषविरोधिचित्त्वाम्यां चितो मुख्यापरोक्षपरोक्षरूपत्वात् ताद्दराचिदात्मकविषयकत्वेन बृत्तेरमुछ्यापरोक्षतासम्भवात्। तस्मात् फलठ्याप्यत्वहेतुरपि निद्दोषः। फलण्याप्यं्वन्यतिरिक्तस्येत्याद्याचार्योक्तिस्तु स्वाकारवृत्यमिठ्यक्तचैतन्यविषयकत्वाहेतुत्वपरा ; तम्योक्तमायावृत्त्याप्यतीन्द्रियेष्वसम्भवात्, अज़ाननिवृष्तिरूपाभिव्यक्केः मायावृत्त्यप्रयोज्यत्वात्। भेद्नान्तरीयकस्येति। ययोर्मेद्त्तयोरेव सम्बन्ध इत्यर्थः। भेदाभेदानुमानविवेचने विवेचितमस्माभिरेतत्। यद्यपि कल्पितश्कित्मम्बन्ध聿तन्येप्यन्ति, सत्यत्वादिरूपम्य तस्य स्वधर्मतास्वीकाराव् । तथाइपि च्वज्ञानाबाध्यचित्सम्बन्धवर्त्तं वाच्यम्। अथवा भेद्नान्तरीयकस्येति भेदघटितत्यर्थः। सम्बन्धस्य चित्सम्बन्धित्वपदार्थस्य। तथाच चिद्यन्यनिष्ठचित्सम्बन्धो हेतुरिति भाव•। ननु चितः स्वावच्छेदकवृत्विठ्याप्यत्वसम्बन्बस्तुच्छेपीत्यत आह-

सम्बन्धस्य अभावात् । अतो न ठ्यरिचारः। तुच्छे च ठ्यभिचारः परिहारणीयः। यदा स्रव्यवहारे स्तातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपं हइयत्वं हेतुः। संविच्छब्देन विषयाभिव्यक्षं वा बृच्यभिव्यक्तं वा श्युद्धं वा चैतन्यमाश्रमभिश्रेतम्। तथाच घटादौ निल्यातीन्र्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोपि व्यवहारः खतितिक्तसंवित्सापेक्ष इति नासिद्धि:। ठयवहारश्न सफ्फुरणामिवदनादिसाधारणः। तत्र ग्रद्नणः ₹फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्दे खतितिक्तसंविदपेक्षा नास्तीति नियतिपदेन व्यभिचारवारणम्।
तुच्छ इति। ₹वज्ञानाशध्यत्वोक्रिपक्षे तुच्छज्ञानबाध्य'ंव्वाप्रसिद्दे: तदनुक्तिपक्षे तुच्छावृत्तित्वेन सम्बन्धर्विशोषणात् तादास्य्यसम्बन्धस्यैव निवेशाद्देति ऐोषः। प्रातिभासिकज्ञानमपि स्वमादौ स्वाभावज्ञानबाधकमिति स्ज्ञानवाध्यतायोग्यताम्रसिद्देने साधनवैकल्यम्। विष-याभिव्यक्तं-विषयावच्छिन्नेन|वरणेन शून्यम्। बृत्त्यभिव्यक्तंबृत्तिप्रतिविन्वितम्। सर्वोपीति। इच्छाप्रवृत्यादिएरित्यर्थः। अविद्यादे: स्वावच्छिन्नचिदूंवं एकुरणमनाद्यप्यनवीच्छिन्नचिस्सोपेक्षं तदाश्रितत्वात् प्रयुक्तवर्वरूपापेक्ष्व्वस्या ${ }^{3} न ा द ा व प ि ~ स म ् भ व ा द ि त ि ~ भ ा व ः । ~ स ् फ ु र ण म स-~$ त्वापापदकाज्ञानविरोधि चैतन्यं, ताद्यूप्येण स्फुरणन्य निवेशेडपि न क्षतिः, व्रह्स्फुरणापेक्षणीयश्युद्धचैतन्यस्य अह्मातिरिर्तत्वाभावादित्याइगेनेनाहतत्र अद्नण इत्यदि। नित्यसिद्ये इति। नित्यसिद्धव्रहाश्रिते इत्यर्थ:। इदं च नास्तील्यन्र हेतुर्ग विशेषणम्। स्वातिरिक्रेति। खविरक्षणेतेल्यर्थः। स्वावृत्तिधर्माश्र्येति याबत्। तेन अद्षणः स्वस्मिन् ख्वाइ्मकसत्यत्वादिधर्मतनियामककश्पितेमेदसत्वेडपि न क्षतिः। अत्रोकविशिष्ट्कुरणस्य स्वातिरिक्तवृत्तिसमेक्षत्वात् संवितपदेन पूर्व चैतन्यमुक्तम्। अथवा नित्यसिद्दे इं्झस्वरूपे। तथाच घटादिक्फुरण-

# खगोचरयावघ्यवहारे खातिरिकसंविद्येक्षायां पयवसानात्। अत 

 एवास्वग्रकारात्वरूपं हइयत्वमपि हेतुः। स्वग्रकाशत्वं हि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम्। 'यत्साक्षादपरोक्षा द्रब्म' इति श्रुतेः। तथाचन्यानधीनापरोक्षत्वं पर्यवस्यति। तषिरूपितभेद्वत्त्वं हेतुः। तच नित्यपरोक्षे अन्यार्धीनापरोक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धि:।न च ब्रह्मणेऽऽपि ज्रह्नप्रतियोगिककाल्पनिकभेदवन्वात्तत्र व्यभिचारः, अकल्पितभेदस्स्य क्वाप्यसिद्धत्वादिति स्येक्कविरोधिचिद्द्वपत्वेऽपि शुद्धचिद्नृपन्रह्मणः सफुरणं शुद्धचिदेव, आवृताया अपि तस्याः चिन्मात्रमस्तीत्यभिलापादि ${ }^{1}$ दर्शनादिति भावः। स्वगोचरेत्यदि । ₹वस्फुरणाद्यन्यतमत्वव्यापकस्वातिरिक्षचित्पयुक्तताकत्वे पर्यवसानादित्यर्थः। स्वातिरिक्तचित्पयुक्तस्फुरणकवंव सापेक्षम्फुरणस्वरूपकत्वं वा हेतुर्लघुर्बोध्यः।। स्वापरोक्षत्वे इति । अपरोक्षत्वमज्ञानसामान्यविरोधि चैतन्यम्। स्वातिरिक्तेति । स्वविलक्षणचिदित्यर्थः । तेनाज्ञानविरोधित्वरूपण वृत्त्यपेक्षत्वेऽपि न क्षतिः ; वृत्त्यसत्त्वेऽपि चिन्मात्रं भातीति व्यवहारात्। खुद्धचैतन्यस्यापरोक्षताकत्वे तु ख्वातिरिक्षं न निवेशयम् । अनपेक्षापरोक्षताकत्वस्य ब्रद्माणि सत्त्वात् साक्षादपरोक्षात् स्वविलक्षणचिदनपेक्षापरोक्षताक.मनपेक्षापरोक्षताकं ${ }^{2}$ वा अविद्याद्युपहितचिद्रूपमविद्यायद्य रेक्षत्वं शुद्धचित्सापेक्षमेव। तभिरूपितेत्यादि । तदवच्छिन्नानुयोगिताकस्य स्वभेद्स्य प्रतियोगित्वमित्यर्थः । न्रह्न स्वप्रकारां नेति बुद्धया स्वपकारात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य शुद्धव्रत्मानुयोगिकमेदस्य कल्पन ${ }^{3}$ सम्भवात् स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदानुयोगित्वं नोक्तम् । स्वप्रकाशां ब्रक्म नेति बुद्धित्तु ईश्वरत्वादिधर्मोपहितप्रतियोगिकं भेदमवगाहते, न तु खुद्धव्रस्सप्रतियोगिकम्। अभावप्रत्यक्षे श्रुद्धस्य प्रति${ }^{1}$ लाल।पदि. 2 स्वविलक्षणचिदनपेक्षताकं. ${ }^{3}$ कल्पना.बाच्यम् ; तमेप्रद्स्पन्यनधीनापरोक्षत्वरूपधर्मानिरूपित्वात्। जीवत्व्वेश्रत्वादिसूपस्पन्यसैव धर्मय तभिरूप्पकत्वाए। योगिल्लेनागाननियमाव्। अतो न चुद्भघण्युकहेडाररति भावः। जीव्वाहुपहितस्थ घघणः : गुद्रक्नातुयोगिको मेदः गोक्तस्वप्रकाइत्वावच्छिन्नानुगोगिताक:, येन जीव्लोपहितबक्षपतियोगिकलात् गुद्रज्रहमतियोगिकखमाइशक्षयेत। अतो न व्यभिचार ${ }^{1}$ ह्यासयेनेाहतन्मेदसे । धर्मानिरूप्रत्त्वान्- धर्मानबच्छिन्नानुयोगिताकलाव। ननु स्वपकाशो न जीव इल्याद्रिम्यक्षतिद्धमेद्रतियोगिल्बं जह्षण-पीलभाह-जीवल्वेति। अन्यस्य शुद्रघ्रान्यस्व। गुद्वान्यो यो जीव्लादिधर्मः तस्व तनिर्पकत्वात् उत्कमेद्पतियोगितावच्छेदकल्लाइ। तथान ताहचयेपद्वतियोगित्बस्य स्वाच्चेककषर्मसामा-
 तिले मानमावेन गुद्रघ्वाहृत्तिलान ब्यमिचार इति भावः। अथवा ननु स्वभकासलविशिष्टकेषस्र्बसरूपाम्यां कल्पतमेपस्प्पक्यक्वात् तस्यानुयोगितावच्छेककलं स्वभकाशले पतियोगिलं केवर्बसणील्यत आह-जीबत्वेति। तश्विरूपकत्वात् स्वक्षाल्लाबच्छित्राजुयोगिताकमेद्वपततयोगितावच्छेकक्वात्। तथान्तोत्तमेदो यदि स्वपकाशत्बावच्छिन्नानुोगिताकस्तदा जीव्वाघबच्चिन्वतियोगिताकल्बाजीवित्वापुपहितमतियोगिक एव स्यात्। न शुद्रब्मपतियोगिक: उक्तमेदस्य प्यक्षलिद्बलाव्, प्रयक्षे अभवप्रतियोगिता गुद्वाभाननियमात्। अत: ${ }^{3}$ गुद्नुनयोगिकः स्वपकाशब्बाबच्चिन्नपतियोगिताको बाच्यः। तथान ताह्यभेद्रपतियोगित्वमादाय न व्यभिचा-
 काओ शुद्धस्यम्रत्यक्षे भेदान्तरे मानाभावादिति भावः। न चैवं 1 अतो ब्यभिचार. ${ }^{2}$ स्वोपहित. 3 नियमादरः 4 दुपपादकतया.

एवंचावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं हछ्यत्वमपि हेतुः। न च फलव्याप्यत्वाभाबविशिष्टं यद्परोक्षव्यवहारयोग्यत्वं तस जक्षणीवविद्यान्तःकरणादौ शुन्तिरूप्यादी च सच्वेन असिद्धिसाधनवैकल्ये इति बाच्यय् ; अक्षाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्स अपरोक्षन्यवहारयोग्यत्वपदेन विवक्षिभेदप्रतियोगिल्वमान्रं हेडुरस्तु स्वावच्छेदकोपहित एव तत्सत्वात् न शुद्वg्रहणि व्यभिचार इति वाच्यम् ; सत्यत्वादिरूपस्य श्रमण: स्वषमितानिर्वाहाय कल्पितभेदस्य अस्वीकारमते शुद्धं उ्रघ जगदुपादाननमिति मते उपादानत्वान्यथनुपपत्त्या कल्ट्यस्य भेदस्य च परोक्षतुद्रयेकविषयत्वेनानवाच्छन्नप्रतियोगिताकस्य प्रतियोगित्वमादाय श्रुद्रश्राणि व्यमिचारात्, प्रत्यक्ष एव किश्चिद्वच्छिम्नप्रतियोगिताकल्वनामावभाननियमात्, ₹प्रकाशत्वावच्छिन्नानुयोगिताकत्वेन प्रतियोगितासम्बन्ध्धन हेतुत्वे वैयर्प्र्यनवकाशाच्च। स्वपकाशो न तब्यक्किरिति बिया स्वपकारो न स्वपकाश इत्याहर्यधिया वा स्वपकाशत्वोपहितेऽपि तब्यक्तित्वादिरूपेण तस्मान्रेदस्य सत्वात् न भागासिद्दिः। एवश्येति। यथश्रुतमनाहृत्य व्याख्यादरे चेत्सर्यः। अवेद्वत्वे इत्यादि। अवेदत्वसमानाषिकरणं यदपरोक्षण्यवहारयोगयत्वं तदभाव इत्यर्थ:। वेषलं स्वावाच्छिन्नचैन्यविषयकं यद्यानापादकाज्ञां तन्निवर्तकवृत्तिव्याप्यत्वरूपं फलव्याव्यत्वम्। तथ्न न अझ्मण, तद्वच्चिन्नचैतन्यापसिद्वे:। नापि शुक्किरूप्यादौ, तस्यातीततादशायां असत्व्वापादकाश्काननिवर्तकानुमिल्यादिवृत्विव्याप्यस्वेडप्युक्ता ज्ञागनिर्ष्तकवृत्य्यन्याप्यत्वात्। अनावृतसाक्षिसम्बन्धो नोक्त ${ }^{1}$ व्यवहारयेग्यत्व्वम्, येनोक्तदोषः। किन्जु अभानापादकाज्ञाननिवर्तकवृत्विविषयत्वयोग्यत्वम्। उत्कविषयत्वस्य अव्याप्यवृत्ति्बात् ्रक्षण्यपि तदभावोस्तीत्यतो योग्यत्वोति। तचाभानापाद-

तत्वात्। तस चाविद्यादौ शुकिकूप्यादौ चासत्त्वानासिद्धिसाधनवैकल्ये । क्याच घटादे: फलव्याप्यत्वंं तथाग्रे वक्ष्यामः। अविद्यानिवृत्तेः पश्रमप्रकारत्वाभ्युपगमपक्षे तश्र व्यभिचारवारणायाज्ञानकाल $\begin{gathered}\text { त्तित्वं हेतुविशोषणं देयम्। तेंैैव }\end{gathered}$ तुच्छेडपि न व्यभिचारः। एवमेव सर्वेषु हेतुषु व्यभिचाकाज्ञानाविषयतद्वच्छेदकान्यतरत्वम् । उक्कविषयव्वं प्रह्गण्येव, उक्तविशयावच्छेदकत्व घटादावेव, न त्वविद्यादौ। अर्तातत्वादिदशायामपि शुन्तिरुप्यादेः नाभानापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्। साक्षिसम्बन्धाभावादेव तदा तदभानोपपतेः। न चाज्ञानविषयतदवच्छेदकत्वयोरव्यप्यवृत्तितया तद्दोषतादवस्थयमिति वाच्यम्; तदन्याप्यवृत्तित्वेडपि तदवच्छिन्नेमदघटितन्यतरवस्य उ्याव्यवृत्तित्वात्, त्रह्मघटादियत्किश्चिद्यक्तयोरन्यतरत्वदेरेव्याव्वृृत्ते कुक्तयोग्यतात्वसम्भवाच । अत्र मूलाज्ञानावियत्वावाच्छिन्न्रतियोगिताक एकाज्ञानपक्षे तु चिन्मात्रविषयकतद्धीविष्यत्वावच्छिन्नपतियोगिताको भेदो ल लचु: हेतुर्बोध्य: ${ }^{1}$ । अज्ञानकालवृत्तित्वमिति । अज्ञानापयुक्तं सत् यज्जन्यं तदन्यल्ले सति काहसम्बन्धिष्वमित्यर्थः। अज्ञाननारककपयुक्तनाशपतियेगित्वादिकं ज्रझ्नण्यपि नास्तीति छहसत्वभागवैयर्थ्य, अत्तन्नोक्तम्। न चोक्तछइयव्वस्योक्तमतियोगित्विमिन्न्वादूम्रागभाववत् न चैयर्ध्यमिति वाच्यम् ; उत्कमतियोगित्वविशिस्टष्य द्ययत्वघटकीभूतविशेष्यांशस्यैय हेतुल्वसम्मवेनेतेतरैयर्थ्यात् । उक्ककालसम्बन्धिव्वं नु इद्मण्यपाति दृइयत्वं सार्थकम्। सत्यन्तं तुच्छेडपीति विशेष्यम्। तन्मात्रं पझ्चमपकारेडपीति सत्यन्तमुक्तम्। अज्ञानाप्रयुक्त अज्ञानतल्धेशानयतरतादास्मानापन्नम् । तेनाज्ञाननिवृत्तावपि प्रतियोगितया ज्ञानस्य प्रयोजकत्वेडपि न क्षतिः। जीविन्मुक्तमोगादिकमज्ञानानात्मकमपि तलेशा-

[^25]रपरिहाराय यतनीयम्। सद्विविक्तत्वमात्रे तु साध्ये तुन्छे पश्र्ममप्रकाराविद्यानिवृत्तौं च न व्यभिचारगन्धेडपीिति सर्वमवदातम्।। इति हइयत्वनिरक्ति:

त्मकम्। सर्वेव्वनुमानेषु साध्यस्यैव मिघ्यात्वरकक्षणत्वाभिप्रायेण तुच्छव्यार्वक्तं सत्वेन पतीर्यर्हव्वादिकं साध्ये दत्तम्। वस्तुतस्तु साष्ये तक्ष देयम्, पयोजनाभावात्। अतो नोक्रव्यमिचार इति वस्तु-गतिमनुरुघ्याह-सझिविक्तत्वमात्रे साध्य इति। सतो विविक्तखं भेदो यत्र तन्मात्रे यन्साध्यं तस्मिन्निल्यर्थः। तदन्य ${ }^{1}$ ककलसाषारणेश्कसाध्येष्विति यावत्। यतु-" अह्सनिष्हस्यान्यानर्षीनापरोक्षत्बस्य श्र्मातिंरिक्तवे अविद्याधीनतया अन्यानधीनत्वमसम्भवि, त्रघस्वरुपत्वे तु तस्य घटादिनिन्षेदेप्रतियोगिल्वेडपि घटादिनेष्हत्वात् घटादिनिष्मेदपतियोगितानवच्छेदकत्वेन घटादावसिद्यिः। उत्कापरोक्षपतियोगिकमेदोलक्तौ ताहशजीवप्रतियोगिकमेदवत्वात् अहाणि व्यभिचारः। घटादिन्नापरोक्ष इति धीकल्पितमेदमादाय ब्कम्वस्वरूप्यमाप्यपरोक्षत्वस्यो्कावच्छेदकत्वे पश्चम क्रकाराविधाध्बंसादौ ठ्यभिचारः। तद्वारणायाज्ञानकालवृत्तित्वोतौ अवियानाझोतरजीवन्सुक्रोगादाबसिद्धि:। अविद्योलेशकालिनलोत्रौ घटादावसिद्धि: । कमिकसर्वसक्तिपये पश्यमप्रकाराविद्यानारादौौ च व्यमिचारः, युगपप्तर्वमुकेः वामदेवादिमुक्तिबोषकागमविरोधेनाप्रामाणिकव्वात् । किचापोषषक्तं जातिविरोषो वा, तदाश्रयज्ञानविषयत्वं बा, तृतीयप्रकाराभावात्। उभयथाइप्यन्यानधीनापरोक्षताकमिन्नलात् ज्रसाणी व्यभिचारः। न हि习习्र इन्द्रियजन्यमनोषृथििन्टेक्तिजात्याश्रयः। न चोत्रवृतिविषयः। द्वितीयक्षे अन्यानषीनापरोक्षत्वाप्रसिद्दघा घटादावसिड्यिः। अपि-

चावेद्यत्वे सतीत्यादि न युक्तम्, वृत्तिमात्रस्याज्ञानानिवर्तकतया त्वन्मते घटादाविव ब्रह्मण्यप्यज्ञाननिवृत्त्यर्थ वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यावरयकत्वेन फलुव्याप्यत्वात्। विशोषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावः घटादावेव वृत्तौ चित्पतिफलन न तु न्रद्मणीत्यक्जीकारे वृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वेनतींन्द्रियादाविव विशोष्याभावप्रयुक्तो विरिएष्टाभाव इति श्रद्नाणि व्यभिचारो दुर्वारः। वृत्त्यन्यचैतन्यरूपज्ञानस्य मया अनखीकारेणान्यतरासिद्धिश्र" इत्युक्तं, ततुच्छम् ; उक्तव्याख्यानस्य निर्दोषत्वाप्। किंच निरूपितपदस्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकार्थकर्वमिति ते अमः। तथा सत्युक्तभेदप्रतियोगित्वं ब्रह्मण्येवेति प्रपश्चे तदसिद्दिं त्यक्षा पश्चमप्रकारादौ ठयमिचार एव कथमुक्तः; चित्रं महदेतद्यद्वाक्यार्थमनुद्वैव दूषणे प्रवृत्तिः। अपिच पश्चमेत्याद्य'युक्तम्, सघोमुक्तिपक्ष एवोक्तविशेषणादरात्। उक्षं हि संक्षेपशारारकादौसम्यक्ज्ञानविभावस्डुः सकलमेवाज्ञानतत्सम्भवं सद्यो वस्तुबलपपरवर्तनम रुद्यापारसन्दीपितः।
निलेपेपेन हि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरम् संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्यो विमुक्तिश्शुवा।। इति। नापि प्रत्येकमुक्तिपक्षे दोषः, एकजीवपक्ष एव तथोक्तत्वात्। तस्यैव मुखूयसिद्धान्तत्वात् पक्षान्तराण्यपि संगृहीतान्येव। वामदेवादिमुक्तिशास्तं तु अर्थवादो देवताधिकरणन्यायेन प्रत्येकमुक्तिसाघकं वाच्यम्। नच तत्सम्भवति; मानान्तराविरोध एव तन्नय|यप्रवृत्तेः। प्रकृते च ल्रघवतर्कसनाथेम्यः 'पुरत्रये कीडति यस्तु जीवः' इत्यादिश्रुत्यनुमानादिभ्यो जीवैकत्वसिद्दे: । किंचेत्याद्यपि न युक्तं, 'यत्साक्षादपरोक्षात्' इति श्रुत्युक्तव्रह्मापरोक्षत्वस्य तृतीयपकारत्वाच्चस्य जातित्वे जन्यापरोक्षत्वस्येन्द्रियादिजन्यता-

वच्छेद्दकत्वे गौरैवात्, अपरोक्षत्वजात्याश्रयमानसविषयत्वस्य सुखादावपि सत्त्वेन तस्य ब्रत्मण्येवोक्तभ्रुत्योक्स्यस्भवात् अनावृतचिद्रूपत्वेन न्रद्मणि तत्तादात्म्येन विषये तद्विषयकत्वेन वृत्तौ चापरोक्षत्वव्यवहारसम्भवेन अपरोक्षत्वजातावेव मानाभावात्। न च वृचिगतोकरूपस्येन्द्रियादिजन्यतावच्छेदकत्वे गौरवमिति वाच्यमू; चाक्षुषत्वादिना जन्यतावइयकत्वेन चाक्षुषरासनादिसाधारण्येन तदस्वीकाकारात्। स्वीकारे वेन्द्रियत्वापेक्षया लघुना संयोगत्वादिनेन्द्रियं प्रतिज्ञानत्वादिना जन्यत्वसम्भवात्। परोक्षस्थलेऽपीन्द्रियसंयोगाधभावेऽपि न वह्नयादौ कस्याचित्संयोगवतः संयोगादिसम्भवादव्यभिचारात् । अपिचेत्याद्यपि न युक्तम्-

स्वच्छेडन्तःकरणे सति प्रसृमरे नेत्रादिमार्गेदूते
तत्तद्राह्यचय। ${ }^{1}$ 'मना परिणते बिम्बीभवन्ती चितिः।
एकाऽप्यर्थमनोविशेषकवशात् द्वैतं ${ }^{2}$ प्रपन्ना हर-
त्यज्ञां, प्रकटीकरोति विषयान्, ज्ञातं मयेदं त्विति ॥
इत्यादिना सिद्धान्ते वृतौ प्रतिबिम्बितचिदड़ीकारेऽपि सा स्वश्रितमेवाज्ञानं हरतीति नियमः, न तु 干विषयावच्छिन्नाश्रितं स्वविषयाश्रितमेव वा हरतीति। आदे प्रतिबिम्बितनैतन्यविषयघटाद्यवच्छिन्नचिदाश्रितस्य पल्धवाज्ञानस्य नाशसम्भवेऽपि मूलाज्ञाननाशासम्भवात् ब्रह्मणः प्रतिबिम्बितचिद्विषयत्वेऽपि मूलाज्ञानस्य तदवच्छिन्नानाश्रितत्वात्। द्वितीये पल्खुवाज्ञानस्याप्युक्तचिद्विषयघटाद्यनाश्रितत्वेन नारासम्भवात्। किंच ब्रह्मज्ञानस्य जातिविशोषादिनैवैव अज्ञाननिवर्तकतावरयकत्वस्योक्तत्वात् नाज्ञाननितृत्त्यर्थ ब्रह्मण: फलव्याव्यत्वोक्तिः युक्ता। वृत्त्यन्येत्यादिरोदनं तु सुखादिस्थले वृत्तिकल्पनागौरवमोक्षस्वपकाशत्वावरयकत्वादिना पारद्द्तममेव । न च

## जडन्चनिरुक्ति:

जडत्वमपि हेतुः। ननु किमिदं जडत्वं? अज्ञातृत्वं वा ? अज्ञानत्वं वा? अनात्मत्वं वा? नाद्यः ; त्वन्मते पक्षे निक्षिसस्यैव अहमर्थस्य ज्ञातत्वात्तत्रासिद्धेः ; भुद्धात्मनोड्ञातत्वेन' तत्र व्यभिचाराच । नापि द्वितीयः; वृत्युपरक्षचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन केवल।या वृत्ते: केवलस्य चैत-

वृत्तिः सुखादौ मयाऽपि नोच्यते, वृत्तिसाक्षिणो: ज्ञानत्वादिजातिस्वीकारण मन्मते 'घटं जानामि, सुखं जानामि' इत्याद्यनुगतव्यवहारसम्भवादिति वाच्यम् ; अनुगतव्यवहारस्यैकव्यक्किविषयकत्वासम्भवे सत्यैवैकजातयिविषयकत्वस्वीकारात्। मन्मते असत्वापादकाज्ञानविरोषिंचैतन्यव्यक्रेरेव जानामीति व्यवहापप्रयोजकत्वात्। न चाज्ञानतद्विरोधित्वयोः कन्पने गौरवमिति वाच्यम्; ज्ञानप्रागभावस्थले अज्ञानस्वीकारात्, मूलाज्ञानस्यैव घटाद्यवच्छिन्नचिदावरकत्वपक्षे अज्ञानस्य वृत्त्या नाशास्वकिरोणागौरवात्। वृत्त्यभावविशिष्टं यद्ज्ञानं तदभावाविशिष्टचिद्धयक्तेरेव जानामीति व्यवहारपयोजकत्वात्। दृष्टिस्टिप्टिपक्षे केवलचिद्वघक्तेरेव तत्त्वसम्भवात् वृत्त्यकल्पने नातिलाघवात्। विस्तरः प्रतिकर्मव्यवस्थायां भविष्यति।। सारस्वतैस्तर्करबैश्वन्द्रिकाचन्द्रतां गतैः ।
दुरन्तध्वान्तखण्डानां खाण्डिता हंरयताहुतिः ।: इति द्रगत्वनिराक्ति:.

वृत्युपरक्तेति । सुखादावपि सुखादिरुपवृत्त्युपरक्तचैतन्यमेव ज्ञानमिति भावः 1 केवल्राया इति। जडत्वादित्यादि: । केवलस्पति । वृत्त्यभावकाले घटं जानामती्यापत्तेरित्यादि: । मोक्षे

न्यस्य चाज्ञानत्वेन वृत्तावसिद्धिपरिहारेगपि चैतन्ये क्यमिचारतादवस्थ्यान्। नापि तृतीयः ; अत्मत्वस्पैन निरूपयितुमशक्यत्वात् । तद्धि न जातिविशेषः ; त्वया आत्मनएकर्वाम्युपगमाप्। विशिषात्मनां भेदेडपि तेषां पक्षक्षषिनिक्षित्रत्वात्। नाप्यानन्दरूपत्वम्, वैषयिकानन्दे तद्वथतिरेकस्य हेतोरासिद्धेः। तस्याप्यात्मत्वे अज्ञान ${ }^{1}$ पक्षोक्तदोषः प्रसअनीय इति चेत्, मैवम् ; कितीयतृतीयपक्षयोः दोषाभावात्।

वु न ज्ञानपदवाच्चं किन्तु लक्ष्ष्यमिति भावः। अज्ञानपक्षोकेति। विषयेसेवाजन्यदृत्तुपरक्तैतन्यस्यैवानन्दत्वेन केवहचैतन्ये व्यमिचार इति भावः। केवलवृत्तिचितोरिव वृत्युपरक्तचितोडपि न ज्ञानत्वम्। पटाकारवृत्तिकाले घटं जानामत्यिप्त्त्या तदाकारृत्युपरक्तचित एव तज्ज्ञानत्वात्, घुखाद्याकारवृत्त्यावेन सुखादि जानामत्यिस्य असम्भवात्। किन्तु तदीयस्यासत्ष्वापादकाज्ञानस्य विरोबिचितः तज्ञ्ञानत्वं तदीयत्वं च स्वावच्छिन्नाचिद्विषयताविषयितान्यतररूपः तस्सम्बन्धः ब्रह्मणः स्वावच्छिन्नचिद्विषयितायाः घटादेश्र स्वविबयितायाः अज्ञाने अप्रासिद्धघा अन्यतरानिवेशः : सुखादेश्धातीततादिदशायां स्वावाच्छिन्नचिद्विषयताकाज्ञां प्रसिद्धम्। अन्यथा तत्र अ्रमादिकार्यानुपप्तेः अभानापादकाज्ञानसत्त्वेपि परोक्षवृत्विकाले घटं जानामतल्यनुभवादसत्त्वापादकेति। ज्ञाषातोः शक्यता तु लाघवाचिच्विघ्तावेव निरवच्छिन्ना शक्यनानात्व एवानुगमार्थं अवच्छेदकस्वीकारात्। घटं जानातीत्यादिवाक्यजन्यबोषे उक्ताज्ञानविरोषित्ससम्बन्घेन घटा० देश्ञाषात्वर्ये अन्वये निर्षर्मितावच्छेदकराब्दबोषः पक्ठते स्यादे ${ }^{3}$ । घटत्वाध्धवच्छिन्नविऐोष्यताकस्य बाधपतिवध्यस्य योग्यताज्ञानस्य घट:

[^26]तथाहि--अझ्ञानत्वं जडत्वमिति पक्षे नात्मनि व्यभिचारः अर्थोपलक्षित्रकारास्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामापि तद्नपायात्। न चाभावे सप्रतियोगित्वर्वद्च्छाइ्ञानादिष्वपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविकत्वादिच्छायामिव ज्ञानेऽपि तस्य समानसत्ताकत्वमिति वाच्यम्; ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषयसम्बन्धः 1 स च न ताच्चिकः, किन्त्वाध्यासिकः, वक्ष्यमाणरीत्या तात्विकसम्बन्धस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। अतो न तस्य स्वाभाविकत्वम्। न हि श्युक्तौ

स्ववृत्त्यभावप्रतियोग्यसत्त्वापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेन चिद्विशिष्ट इत्याकारकस्य हेतुत्वसम्भवात् चिदाश्रयत्वे आरुयातार्थे वा व्युत्पात्तिवौचित्रयादन्वयः ${ }^{1}$ । अथवा शक्किज्ञानस्य चिद्विषयकराबदत्वेनैव कार्यता। घटं जानामीत्यादिसमभिठ्याहाररीकार्यता तु घटाघज्ञानविरोधिचित्त्वावच्छिन्नपकारताकशाब्दत्वैनैवेति न निर्धर्मितावच्छेदकराब्दर्षीः। अकाशार्दिपदवन्निरवच्छिन्न शक्यतामते ताद्टशरीतेरावइयकत्वात्। न चैंवं 'सत्यं ज्ञानम्’ इत्यादौ लक्षणया शुद्धचिद्धोधसिद्धान्तहानिरिति वाच्यम् ; विशिष्टचिद्धोधस्यौत्सर्गिकत्वेन शुद्धचिहोधमात्रे शक्तिज्ञानस्य प्रतिनन्धकत्वक््वनात्, विशिष्टरूपेण बोधाभावमात्रे रक्षणेति भाक्तन्यवहाराच्च। अन्यथा विशिष्टराक्तिपक्षेडपि शुद्धे शक्तयनपायात्। न चैवमपि ज्ञानानन्दादिपदानां पर्यायतापत्तिरिति वाच्यम् ; आनन्दादिपदानां तुल्ययुक्तया शुद्धाचिच्छकत्वेऽपि चन्दनानन्द इत्यददौं चन्दनसेवाजन्यवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धं्वादिना भाननियमेन तावता विशोषेण पर्यायतावारणसम्भवादित्याशायेनाह -अर्थोपलक्षितम्रकाशस्येति । शुद्धचित इत्यर्थः । ज्ञानत्वेन-ज्ञानपदार्थ-

रूप्यं स्वाभाविकम् । एवंच ज्ञानोपाधिकस्यैव सविषयत्त्स्य इच्छादिष्वम्युपगमात् न तरां तत्र तस्य स्वाभावित्वेन। यद्वा उत्कविरोधिधित्वोपाहितिच्चेतनेनैव ज्ञाषातुशक्यता। घटज्ञानविरेषिष्वप्वाज्ञानविरेषित्वादिरुपेण नानार्थकत्वं तु इष्टमेव। घटज्ञानमिल्यांदौ घटादिपदं तार्पर्यं्राहकम्। यक्किश्चिदज्ञानवियोषिचित्त्वैनैव वा तथा। असत्त्वापादकाज्रानास्वाकारमते अनातृततत्तादास्म्यं तदूरोचरबृचिश्रेत्यन्यतरोपहितचित्वेनैवैव तथा । नानार्थन्वा्वक्विरे तदिति तदोोचरोति च न देयम्। तादास्ये तदीयत्वं बृत्तौ तद्विषयकल्वंच शाब्दबोोे संसर्गतया भासते। एवं निल्यानन्दादिपदानामपि बोध्यम्। त्रिकालापरिच्छिन्नचित्वेन नित्यपदस्य चन्दनादिसेवाजन्यवृत्विविशेषाचवच्छिन्नाचित्वेनानन्दपदस्याबाध्यत्वायुपहितचित्वेन सल्यादिपदस्य शक्यता। एवंच ज्ञानव्वेनेल्यम्य पकृते हेतूकृतमेदप्रतियोगित्वेनेत्यर्थः। ज्ञाषातुवाच्यत्वोपलक्षित्यक्तिमेदो हेतुरिति भावः। न च तद्वचक्तित्वेन तद्वघक्के: भेदो हेवु:, तद्वृयक्तित्वं च तद्वयक्किखें; तथा च तस्याः सिद्धान्ते स्वकीये विशिष्टरूपे कल्पितादा़ाल्यसत्त्वेडपि ग्रद्दरूपे तदभावेन ताह्दशभेदसमम्भवात् व्यमिचारः, प्रपश्चे तद्वथकितादाल्म्यस्य तदा ${ }^{1}$ सत्त्वेनासिद्धिश्रेति ${ }^{2}$ वाच्यम् ; परमते श्रुद्धेपि तद्वयक्तेकैय्यूपसम्बन्घस्य स्वस्मिन् सत्त्वेन परार्थानुमाने ऐक्यरूपसम्बन्षेन तद्यक्तिविगिष्टपतियोगिकभेदस्य हेतुत्वसम्भवात्, विरोप्यताविशेषाइच्छिन्नवतियोगिताकमेदत्वेन हेतुव्वस्याचार्यैंव वक्ष्यमाणत्वान्त। सत्यव्वादिरूपे स्वर्षर्तानिर्वाहकमेदस्य शुर्दव्रसाणि स्वीकारमतेऽपि तस्यापत्यक्षत्वेन तत्रतियोगितायाः निरवच्छिन्न्वा्, तद्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदस्य तद्यक्ता ${ }^{3}$ स्वीकारेणादोषाच्च तब्यक्तिवृत्तिभेदभिन्नभेदो वा हेतु:। ज्ञानोपाधिकस्य सविषयकज्ञानतादात्म्यू-
${ }^{1}$ सदा. ${ }^{2}$ नासिद्बिंतिते. ${ }^{3}$ तब्त्ता.

कत्वम् । न हैंव झानवत् विषयसम्बन्धं विनापि कदाचिदिच्छायास्सत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, सविषयत्वप्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वात् इच्छायाश्व तत्समानसत्तकत्वात्। न च त्वया मोक्षावस्थायामात्मऩो निर्विषयत्वाभीकारात् अनन्दग्रकारो तदपुमर्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; तदा ह्यानन्द् एव ग्रकाशो न त्वानन्द्स्य प्रकाशत्वम्। अर्थोपलक्षितम्रकाशात्वं वा तदास्त्येवेति न ज्ञानत्वहानिरित्युक्तम् । ननु तथापि ज्ञातुरभावात् तदा तक्ष ब्ञानम् । न हि मोत्टहहीना सुजिक्रिया भवति । न चानादित्वेन फ्रियारुपत्वाभावात् अनपेक्षत्वमिति वाच्यम्; अनादे: प्रागभावस्स प्रतियोगिनि, जातेर्ण्यक्तौ, जीवब्रद्मविभागस्स धर्मिं्रतियोगिनोरझानस्य चाश्रयविषययो:, ब्रद्मसत्तायाश्व कर्तर्येेक्षादर्शनात् । अन्यथा 'असित ब्रह्म' इत्याद्रौ कर्वरि लकारो न स्यात्। एवंचातीतादिज्ञानस्य ईइवरज्ञानस्य च

पस्य ज्ञाने उक्तविरो।िित्वादिविषयस्य ${ }^{1}$ सम्बन्षः। इच्छादिष्ड तु स्वनिष्ठमुक्तविरोधित्वादिमज्ञान ${ }^{2}$ तादास्यमिति भावः। अथवा ज्ञानोपाधिकस्येति। ज्ञानोपाध्यविद्याप्रयुक्तस्येत्यर्थः। न तरामिति। तात्तिकेऽपि छानस्वरूपे यदि तन्न तात्तिकं तर्हि अतात्तिकेेच्छादौ तत्तथा न तरामित्यर्थः । एवंच मनोवृत्तिमतन्त्स्यातिरिक्तविषगताखीकारेपि न क्षतिः। नन्बानन्द्सम्बन्घिप्रकारास्स तदा विरहे अनन्द्वाप्रकाशः स्यात् दु:खादिसम्बन्घाभावकाले साक्षिणि दु:खाद्यप्रकारावत्तत्राहप्रकाशत्वमित्यादि। प्रकाशत्वं अप्रकाशरूपाज्ञानसामान्यविरोषिखरूपम् । अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं आनन्दावारकाप्रकाशाविरोधिस्वरू-

[^27]उत्पत्त्यर्थमर्थानपेक्षत्वेउपि तक्रिरूप्यत्वदर्शानेन ज्ञानस्य ज्ञात्रज्ञेयनिरूप्यत्वं स्वभावः। अन्यथा 'इदमहं जानामि' इत्यतुभवो न सात्। 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्स ज्ञानत्वात्' इति विवरणविरोधश्य स्यादिति चेक ; जातेर्ण्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तद्सम्बन्धवदुपपत्तेः सम्बन्धग्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वात्। अतएव ज्ञानस्स सक्ञेयत्वं सज्ञातृत्वं च न खाभाविकम्। तथाहि-सक्ञेयत्वं तावत् क्ञेयजन्यत्वं वा ज्ञेयव्याप्यत्वं वा। नाद्यः, परोक्षज्ञाने ईईवरज्ञाने चाभावात्। नापि द्वितीयः ; 'यदा ज्ञानं तदाडर्थ:' इति कालिकव्यासौ पूर्ववत् व्यभिचारात्। दैशिकव्याप्तिस्तु दूरनिरस्तैव। न च 'यदा अपरोक्षज्ञानं तदारर्थः' इति कालिकव्यातौौ नासित व्यभिचारः, अत्मा च 'यत्साक्षादपरेाक्षाब्दह्य'. इति श्रुतेरपरेक्षज्ञानरूप इति सोप्यर्थव्याप्त इति वाच्यम् ; ₹क्षरज़ाने योगिज्ञाने च व्यभिचारात्। 'यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदाงर्थ;' इति तु व्यापिस्सर्वसम्मता। न चात्मरूपे ज्ञाने ऐन्द्रियकत्वमस्तीति न तया विरोघः।
पम्। अखण्डाकारवृत्युपलक्षितचिद्रूपस्यैवोक्तविरोधित्वरूपत्वादिति भावः। ज्ञानत्वहानिः-आनन्दाप्रकाशापत्तिः । उक्तमिति। सविषयकत्वस्य अतात्त्विकतोक्त्या अरण्डाकारवृत्युपरुक्षितचिद्रूपस्याज्ञानतत्रयुकसामान्यविरोघित्वमुक्तमित्यर्थः। सम्बन्धप्रयोजकोपाधीति। ज्ञातूज्ञेयसम्बन्धप्रयोजकविद्योपाधीत्यर्थः। यदा क्ञानं तदार्थर्थ इति। यदा यस्यार्थस्य ज्ञानं तदा सोर्थ छत्यर्थः। तेन वक्ष्यमाणव्यमिचारसइतिः। दूरेति। अन्तःकरणादौ ज्ञानवत्यपि साक्षात्तक्बन्षेन तद्विषयघटाघसत्वात्परम्परासम्बन्बेन व्यापकत्वस्य यद्यत् ज्ञानं तत्र तादाम्लेयार्थ छति ब्यासेष्बास्माकमिष्टत्वाचेति भावः । सर्वसम्मतेति। यदा यदर्थेन्द्रि-

नजु 'यदा अपरोक्षं ज्ञानं तदारर्थः' इति ठ्याप्तयनम्युपगमे 'इदं रजतम्' इत्यपरोक्षज्ञानान्यथानुपपच्या अनिर्वचनीयतासिद्धिर्न स्यात् । अर्थ विनाप्यपरोक्षत्वोपपत्तेरिति चेत्न; 'इढं रजतमहं जानामि' इति अनुसन्धीयमानं यत् ज्ञानविषयत्वं तस्य आश्रयान्तरानुपपत्त्या अनिर्वचनीयग्जतासिद्धेर्वक्ष्य्यमाणत्वात् । अतएव परोक्षश्रमेऽपि अनिर्वचनीयार्थसिद्दिः। अन्यापरोक्षत्वेन वा अर्थव्याप्यता, अर्षज्ञानस्यापरोक्षत्वानम्युपगमाम् । तथाच नानिर्वचनीयरजतसिद्ध यनुपपत्तिः । एवं सज्ञातकत्वमपि किं ज्ञातुन्यत्वं? ज्ञातृव्याप्यत्वं? ज्ञातृसमवेतत्वं वा? आद्ये ईश्वरज्ञाने व्यभिचारः। ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच । द्वितीयेऽपि अप्रयोजकता। न तूतीयः; ज्ञातुजन्यत्ववत् ज्ञातस सवेतस्यापि सम्भवात्, ज्ञानस्य गुणत्वक्रियात्वयोरनम्युपगमेन द्रठ्याश्रयत्वानुमानायोगात् । कदाचित् ज्ञातज्ञेयसम्तन्धेनैव अनुभवस्य विवरणवाक्यस्य च ययोः लौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानं तदा तदर्थ इति सर्वसम्मतेत्यर्थः। वक्ष्यमाणत्वादिति-" देशान्तरीयस्य साक्ष्यसम्बन्धेनापरोक्षतानुपपत्ते रपरोक्षज्ञानमादाय जानामीति न स्यात्। कालन्तरे तस्य साक्षिसम्बन्षेऽपि वर्तमानकालावच्छेदेन अपरोक्षानुपपत्तेः। देशान्तरीये सन्निकर्षाभावेन प्रत्यक्षासम्भवात्, अलौकिकसन्निकर्षनिरासात् प्रतीतिमात्रे यादृरां भासते ताहदरामवइयं वाच्चम् ; प्रतीतेः स्वविषयशूरत्वात्। अन्यथा घटादावपि रूपादिवैशिष्टयं ठयाबहारिकं न स्यात्, पश्चात् बाषझ्य तत्रापि सत्त्वात्। इदानीं बाषात्परं शुक्तयादौौ रजतादिवैशिष्टंय प्रातीतिकम्। अ्रमस्थले दोषादिकार्यता रजतत्वादिना; न तु रजतज्ञानत्वादिना, गौरवात्" इत्यादियुक्ते: वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। आर्षझ्ञानस्येति । इन्द्रियसन्निकर्षादिरूपक्लृप्तकारणबाधात् तत्प्रत्यक्षादिभिनं,

उपपत्ते:। 'असि ब्रद्म' इति च लकारो न ब्रह्मसत्तां प्रति ज्रह्नण: कर्तृव्वमाह, नित्यत्वेन तदसम्भवात्। किन्तु साधुत्वार्थ इति द्रष्टष्यम्। ननु प्रमाभ्रमभिंं न ज्ञानम्, न चात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रमा, तक्विषयस्याविद्यादेः तात्विकत्वापारात्। न च अग्रमा, दोषजन्यत्वापातादिति चेष्ष; तार्किकसिद्धेश्वरश्ञानवत् घटादिनिर्विकल्पकवच्च स्वभावतः उभयवैलक्ष्प्येनाप्युपपत्ते:। तत्रापि हैश्वर्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य, अ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः। निष्प्रकारके च निर्विकल्पके तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य, तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्य च अनुपपत्तेः। जन्यसविकल्पकत्वेन अ्रमग्रमान्यतरत्वनियमे च असाकं क्षत्यभावात् । विलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेण च स्वभावतो भ्रमप्रमाविलक्षणस्याप्यत्मझ्ञानस्य तदुभयरूपेण ब्यवहारोपपत्तेः। न च ज्ञानपदवाच्यभिन्बत्वविवक्षायां उपाधेरपि पूर्व तु परमतेन तत्रत्यक्षत्वमुक्तमिति भावः। साधुत्वेति। मणिकारादिमते जानातत्यिादाविव कर्तृत्वानामिषानम्। वर्तमानकालभानं तु अखण्डार्थतात्पर्याभावे स्वीक्रियत इति भावः। विलक्षणवृत्तीति। प्रमाभ्रमरूपवृतीत्यर्थ: । सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि घटाद्याकारवृत्त्या तथात्वम्। सुखाघंशो च प्रमाग्रमाविकक्षणत्वामिष्टं, अज्ञाताविषयकत्वात् स्मृतिवत्। आगन्तुकदोषाजन्यत्वादीश्वरज्ञानादिवदिति भावः। अथवा वृतेरे़ेव मुखुयम्रमात्वादि, चैतन्ये तूपचारात्यद्यवहार इत्याहविलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेणेति। बाधकवृत्तिघटितं यत् बाधितविषयकत्वं तदन्यविषयकत्वरूपं द्वयं तदुपरागेणेत्यर्थः। तथाचाबाधितबाधितविषयकत्वाभ्यां चैतन्ये प्रमात्वभ्रमत्वोपचार इति भावः। वस्तुतस्तु वृताविव व्यावहारिकपमात्वस्य घटाद्यवहिछन्नचैतन्ये स्वीकारेऽपि न क्षतिः, तेन रूपेण गुणजन्यत्वस्य सत्त्वात्। अविद्यावच्छिन्ना

क्ञानपदवाच्यत्वात्तत्रासिच्सि:, ज्ञानपदलक्ष्यमिऋत्वविवक्षायां तु घटादेरपि ज्ञानपदलक्ष्यत्वात् तत्राप्यसिद्धिरिति वाच्यम्; झानपद्जन्यप्रतीतिविशेष्याभिक्षत्वविवक्षायामुक्तदोषाभावात् । एवमानन्द्यिघत्वरूपमनात्मत्वयुपपाद्यम् ; वैषयिकानन्दूस्याषि अ््ष्मरूपत्वात्, तदुपाधिमात्रस्यैवोत्पत्तिविनाराप्रतियोगित्वात् । न च ज्ञानाभित्वत्वस्य आनन्द़भिष्तत्वस्य च काल्पनिकस्य ब्रह्मणि सत्त्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्; धर्मिसमसत्ताकतन्भेदस्य हेतुत्वात्। अनौपाधिकत्वेन वा भेदो विशोचित्तु न प्रमा, अज्ञाता गोचरत्वात्। ${ }^{2}$ जीवेशभेदादेरनादित्वेऽपि तदवच्छिन्ना चित् आवरणभझ्ञकवृतिविशिष्टतया गुणजन्यैव। शुक्तिरूप्याद्यवच्छिनरूपेण तु चित् अगन्तुकदोषजन्यैव। शुद्धरूपेण तु सा प्रमा अ्रमो वा नेति न कोपि दोषः। ज्ञानपदवाच्येति । शाक्तया ज्ञाषातुजन्यप्रतीतिविषयेत्यर्थः। तेन शुद्धवाच्यतापक्षे उपाधेरवाच्यत्वेऽपि उपाधेरित्यादे: नासत्कतिः। विशोष्यमिषत्वस्य गुद्धन्रह्मनिष्ठतद्वीविशेषाष्यताव्यक्तयवच्छिन्नपतियेतिगतक्रमेदस्य। तेन घटादेरपि ताद्टशविशोष्यत्वेऽपि नासिद्धि:, गुरोरोरनवच्छेदकृत्वेऽपि न वा क्षतिः। तदुपाधीति। विषयसेवाजन्यवृतिविरोषेत्यर्थः। नन्वव्याप्यवृत्तिविशेष्यत्ववद्रेदस्य अव्याप्यवृत्तित्वपक्षे त्रक्षणि व्यभिचारः। न च ज्रह्सण आवृतत्वेन तत्र भेदस्य प्रत्यक्षतया तत्रतियोगिता अवच्छिन्नेति वाच्यम् ; जीवन्मुकौ तर्पत्यक्षतासम्भवादिति शह्हते-न चेति। ज्ञानभिन्म-त्वस्य-ज्ञानपदजन्यतद्दीविशेष्यमिन्नत्वस्य । आनन्दाभिनत्वस्य आानन्दपद्जन्यतद्धीविशेष्यमिन्नत्वस्य। धर्मिसमसत्ताकेति । शुद्धत्रब्नवृतिभिन्नेत्यर्थः। विशेषणतया शुद्धव्रह्सवृत्ति यत् तदन्यत्वेन विशोषण तया हेतुत्वसम्भवात् विशोष्यांशवौयर्र्थादाह-अनौपाकिकत्वेनेति ।

[^28]षणीयः। तुच्छे पश्धमश्रकाराविद्यानिषृत्तौ च व्यमिचारपरिहारः पूर्ववत्। एवमस्वप्रकाशकत्वं वा जडत्वम्। तच्च पूर्वमेवोपपादितमिति रिवम् ॥

## इति जडत्वहेतूपपत्ति:.

उपार्धि स्वप्रतियोगितावच्छेदकं अर्हति तत्समानाषिकरणं भवर्तीत्यौपाधिकम् । तदन्यत्वेन स्वप्रतियोगिवृतिभिन्त्वेनेति यावत्। घटादिभेदमादाय ब्रक्षणि ठ्यभिचारात् शुद्रत्रह्नप्रतियोगिकमेदेति विशोष्यं वाच्यमिति भावः। शुद्धत्रकणो ज्ञानपदजन्यतद्धीविशेष्यत्वेन आनन्दपद्नन्यतद्धीविशेष्यत्वेन च निवेशाद्धेत्वोर्मेद:। ताद्हाविरोष्यताव्यक्यवच्छिम्नप्रतियोगिताकमेदत्वेन वा निवेशः । तेन स्वरूपतो श्रक्षठ्मक्तिनिवेशसम्भवेन तादृशाविशेष्यताघटितस्य न व्यर्थविशोषणत्वशक्केति ध्येयम्। यत्तु—"यदि ज्ञानस्य विषयेणाध्यासिकः सम्बन्षस्तर्हि चरमवृत्तावात्मा विषयो न स्यात्। न च वृषि-. प्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्य ज्ञानस्य विषयेणाध्यासिकः सम्बन्ष इति वाच्यम् ; चरमवृत्तावपि अज्ञाननिवर्तकत्वाय चिट्रतिबिम्बावइयकत्वात्। ताहशप्रतिकिम्बितचितः आध्ययसिकसम्बन्धरूपविषयत्वस्यत्मन्यकीकारे फलव्याप्यत्वहेतोः तन्र व्यभिचारात्। परोक्षवृत्रौ चातीन्द्रियं विषयो न स्यात्, तत्र तस्यानध्यासात्। तस्मात् ज्ञाने विषयसम्बन्धः स्वाभाविकः। एवमिच्छायामपि उपाध्यनुल्द्येखेन घटमिच्छामीत्यनुभवात् जातेव्र्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपीत्याद्यपि न युक्तम् ; व्यर्तिक विना प्रलये जातिसत्त्वेऽपि व्यक्स्युपरक्तषीविषयत्वं जातेरन्यदस्त्येवेति जात्यादे: ठ्यक्स्याद्यनुपरक्फदुद्धयविषयत्वस्य व्यक्त्याध्यनुपरक्रप्रत्यक्षाविषयत्वस्य वा नियमवत् ज्ञेयाद्यनुपर फबुद्धयविषयत्वस्य ज्ञेयाधनुपरक्तप्रत्यक्षाविषयत्वस्य वा ज्ञाने नियमसम्भवात् । किचैदैैक्यं जीवस्य

श्रस्साण न स्यात्। ऐक्ये जीवस्य हि जन्यत्वं व्याप्यत्वं वा सबन्ष:। नाघ्घः ; तस्य ब्रह्सरूपत्वेनाजन्यत्वात्। नान्त्यः; यदा ऐक्यं तदा जीव इत्यत्र संर्वमुक्तौ व्यभिचारात्। यत्रैक्यं तत्र जीव इति दैशिकष्यासौ जीवे व्यभिचारात्। 'अस्ति न्रह्म' इत्यत्र लकारो न पदसाधुत्वार्थः ; योगक्षेमसाधारण्णं सत्ताक्कियासिर्द्धि प्रति 干्वातन्रथरूपकर्तृत्वस्य तत्रापि संभवेन अर्थसाधुत्वसग्भवात् । तार्किकेभ्वरज्ञानवदित्याद्यवि न युक्तम् ; तार्केकमते हि प्रमात्वं न गुणजन्यतावच्छेदकं, येन ईश्वरज्ञाने न स्यात्। किन्तु तत्तत्पमत्वम्। उक्षं हि मणिकौरः-‘्रमामात्रे नानुगतो गुण:' इति। तथाच दोषाजन्यत्वादीश्वर ${ }^{1}$ ज्ञानं प्रैैवेति नोभयबहिर्भावः । अतएव नित्यसाक्षात्कारप्रमाया अश्रयत्वेन ईश्वर: प्रत्यक्षप्रमाणामित्युक्तमुदयनाचाँ्यैः। तद्वति तत्पकारकज्ञानत्वं न मुख्यप्रामाण्यं, स्मृतौ सत्त्वात् निर्बिकल्पके चासत्त्वात्। किन्तु विशोष्यावृत्त्यप्रकार ${ }^{2}$ कानुमवत्व्वमित्युक्तमन्यैस्तार्किकै: ; अतो निर्विकल्पकमपि प्रमैवेति चैतन्यस्य ज्ञानत्वे प्रमाभ्रमान्यतरत्वमावइयकम्" इति, ततुच्छम् ; ज्ञानस्याध्यासिकसम्बन्धनियमोकौ वृतौ व्यभिचारोक्तचसझतेः। वृत्तेरज्ञानत्त्वात्, वृत्तेरात्मनाडऽध्यासिकसम्बन्घस्यापि सत्त्वात्। अहंकारोपहितात्मनि तद्ध्यासे केवलात्मन्यव्यध्यासात् । अन्यथा जन्यमात्रोपादानत्वभझापत्तेः। आत्मनि च फलुष्याप्यत्वहेतुर्यथा नास्ति तथोक्तमस्माभिः। परोक्षत्याद्यपि न युक्तम् ; वृत्तेरज्ञानत्वात् परोक्षवृत्तिस्थले साक्षिाणि वह्यादेरज्ञानविरोधित्वादिसूपोक्तसम्बन्धस्य अतात्तिकत्वात्। अतात्त्विकस्यैवाध्यासिकशब्देनोक्तत्वात्। कल्पिततादास्यस्य आध्यासिकरबदार्थत्वे तादात्यरूपत्वे निरुपयितुमशक्यत्वादिति हेत्वनुपपत्ते:। घटस्सच्छामत्यित्र च प्रकारतया ज्ञानरूपोपाधि-

$$
1 \text { त्वादिद. } 2 \text { विश्राष्यापृत्तिप्रकार. }
$$

सम्बन्धस्यानुल्डेखेऽपि सम्बन्ध ${ }^{1}$ तया तदुल्लेखानपायात्। अन्यथा सम्बन्षान्तरकल्पने गौरवात् । अतिरिक्तविषयतारूपसम्बन्धान्तरकल्पनेऽपि तस्याविद्यकत्वात् सविषयकत्वमात्रस्य तात्तिकत्वाभावे प्रकृतप्रन्थतात्पर्यसम्भवात्। व्यक्ति विनेत्याद्यपि न युक्तम् ; व्यक्तयविषयकजात्यनुमित्यादिसम्भवात्, धंसो घटत्वाध्यप्रतियोगिक इत्यनुमित्यादे : सर्वसम्मतत्वात् । आघ्यनियमे व्यभिचारात् । घटाध्यविषयकघटत्वादिभ्रमदोषविशोषजन्यतया लौकिकम्रत्यक्षे द्रितीयनियमे ब्यभिचारात्। कालिकसम्बन्धेन पटे घटत्वप्रत्यक्षं भवत्वितीच्छाजन्ये वह्ययनुमित्यादिसामश्रीकालीने घटाविषयके घटत्वप्रत्यक्षे व्यभिचाराष्ण । तत्रेच्छानुरोधेन घटत्वादिभानेऽपि भिन्नविषयकानुमितिसामप्रया प्रतिबन्धेन ${ }^{2}$ घटाभानात् घटत्वे सान्निकर्षसत्त्वे तस्य लौकिकम्रत्यक्षत्वसम्भवात् समवायेन जातिपत्यक्षप्रमाया ठ्यक्तिविषयकत्वानियमे च तदापादनासंभवात्कालिकेति ज्ञानविषयोभयैविशिष्ट्यावगाहिज्ञानस्य विषयविषयकत्वनियमस्य युक्तत्वात्। मन्मते ज्ञानस्य स्वप्ककाशत्वेन विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयत्वस्य तत्रेष्टत्वात्। यदा यस्य प्रत्यक्षं तदा स इति नियमे ₹वोत्पचिक्षिणतद्दितीयक्षणविनाशिघटादिप्रत्यक्षे त्वन्मतेऽपि व्यभिचारात्। यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदारर्थ इत्याचार्योक्किस्तु स्वाष्यवहितपूर्वत्वसम्बन्घेन व्याप्यत्वाभिप्रायेण विषयस्य कार्यसहभावेन प्रत्यक्षहेतुत्वमाश्रित्य स्वोत्पत्तिक्षणत्वसम्बन्घेन व्याप्यताभिपायेण वा जन्यापरोक्षत्वेन वारर्थव्याप्यतेत्यप्याचार्यवाक्यं तथैव योज्यम्। तादास्मेन व्याप्यता कालिकेन व्यापकतेति वा तत्र बोध्यम्। यदा ऐक्यं तदा जीव इति ठ्याप्तौ सर्वमुक्तौ व्यभिचारोक्तिस्तु नामूढस्य। सर्वमुक्तौ कालाद्यभावात् सर्वमुक्तिर्भविण्यतत्यिादिरूपेण कल्पितः काल इदानीतनः। यत्र ऐक्यं तत्र जीव इति दैशिकव्याप्तिमदृष्ट्वा ${ }^{3}$ । यत्रैक्यमित्याद्युक्तिरपि मोहादेव। किंच नास्मस्सिद्दान्ते जीवेध्वरयोंसैमं, येन 1 संबद्ध. 2 साभग्रीप्रतिबन्धेन. 3 व्याप्तिरप्यविदुषां.

जीवत्वरूपे ₹भ्वरत्वरूपे का ऐक्ये जीवाभावाब्घभिचारः। नापि जीवत्रकणोरात्यन्तिकाभेदः, तस्य भेदे सत्यसम्भवात्। किन्तु तत्त्वोपलक्षितचिन्मात्रयोः। अस्तीत्यादिकमपि न युक्तम् ; स्वस्वव्याप्येतरासु यावतीषु व्यक्तिषु सतीषु यदधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणे सत्वे ताबतीषु सतीष्वेव तदनघिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणे सत्त्वाभावरूपं क्षेमसाघारणजन्यत्वं हि मक्रलादोर्विनप्रागभावादाविव न त्रक्मण: स्वसत्तायां त्रस्सासम्बन्धिक्षणाप्रसिद्दे:, ₹वस्मिन् स्वपयुक्तत्वरूपाखण्डधर्मस्यासम्भवाश्च। सत्तास्तीत्यद्दौ पैरैवि तथा वाच्यत्वात्। तथाचास्ति ब्रझेत्यादावखण्डार्थत्वमव्याहतम्, सत्यं ज्ञानमित्यादिवत्। तार्किकमते हीत्यादिकमप्ययुक्तम् ; माणिकारो हि तद्वति तत्र्रकारकानुभवत्वरूपे प्रमालक्षणे तत्र्रकारकत्वं तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वं तद्ज्ञानजन्यत्वं वा, ईश्वरस्य तद्वैरिष्टयविषयकं ज्ञानं, न तु तत्रकारक, निर्विकल्पकं च प्रमाश्रमबहिर्भूतं, व्यवहारानक्तत्वादिति वदन् ईइवरषीनिर्विकर्पकयोरप्रमात्वं व्यक्तमुक्तवान्। यथा स्सृतौ तान्त्रिकाणां प्रमात्वाव्यवहारात् विझोष्यसंसृष्टविशेषणज्ञानादिरूपगुणजन्यत्वासंम्भवाच अनुमवत्वघटितं प्रमात्वं, तथा जन्यत्वाघटितस्येरवरषीसाषारणत्वेन गुणजन्यतावच्छेदकत्वरूपपरतस्त्वविप्रतिपत्तिरूपव्यवहाराविषयत्वेन नित्यज्ञानस्य प्रमाणकलत्वभावाच जन्यत्वघटितमेव तत्। अतएव स्वतोमाबत्वविप्रतिपचिरूपव्यवहाराविषयकमनुभवत्वजन्यत्वधटितमपहाय ${ }^{1}$ ज्ञानत्वघटितमुक्रण्यवहारविषयप्रमालक्षणनान्तरमुक्तम्। एवं निर्विकल्पकस्य प्रवृत्यादिरुपष्यबहाराप्रयोजकत्वात् तद्यावृत्तं तदित्याइायेन प्रमात्वस्येरवरज्ञाननिर्विकल्पकव्यावृत्तत्वे उ्यवहारानफ्रत्वं हेतूक्तम्। न च प्रमामात्रे नानुगतो गुण इति पूर्व मणावुकत्तव्वत् सामान्यतः प्रमाव्वं नैव जन्यतावच्छेदकामेति वाच्यम्; तथापि भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदकस्य ईईवरम्रत्यक्ष्यव्यावृत्तमत्यक्षादिप्रमात्वस्य आवरय-

1 अविहाय.

कत्वात् । किंच प्रमामात्र इत्यादि मणिवाक्यं प्रमात्वसामान्यस्य जन्यतावच्छेदकत्वाभिप्रायकमेव । तार्किकशिरोमण्यादिभिः तथैव व्यास्यातत्वात्। तथाहि -"यद्यपि प्रमासामान्ये अनुगतो गुणो नान्वयव्यतिरेकासिद्धः ; तथापि प्रमाविशोषे गुणविशोषाणामन्वयन्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वे सिद्धे बाधकाभावात् प्रमासामान्येऽपि तेषां तत्सेत्स्यतीत्यभिप्रेत्य समाषत्ते—‘प्रमामात्रे नानुगतो गुणः किन्तु तत्तत्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निक्कयथार्थलिन्नसाहइइयवाक्यार्थज्ञानानां यथायथं गुणत्वम्' इति । तथाच צमात्वघटितषर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वेन प्रमासामनन्ये कारणत्त्वम्। एतेन दोषोऽपि व्याख्यातः। तत्र्रमासामन्ये ईभ्वरायं तद्विशिष्टज्ञानं हेतुः। तदभावः अ्रमसामान्ये, दोषोपि तदेव। वस्तुतो विशोषणसंसृष्टासंसृष्टविशोष्यज्ञाने गुणदोषौ, लैकिकसन्निकर्षवत् सामान्यलक्षणाऽपि निर्विकल्पकजननी विशेष्यसंसृष्टासंसृष्टविशेषणज़ाने वा तौ, तेनापसिद्धसाध्यकानुमितिस्वीकारेडाप न क्षतिः" इत्यादि शिरोमणिनोक्तम्। यतु" प्रमात्वसामान्यस्य जन्यतावच्छेदकत्वे ${ }^{1}$ प्रत्यक्षादिप्रमात्वं न भूयोवयवसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदकं, प्रत्यक्षस्य प्रमासामान्यस्य च सामग्रीभ्यां तदवच्छिन्नस्यार्थसमाजसिद्धत्वात्। अतः प्रमामात्रे नानुगतो गुण इति" इति विद्यावागीहैर्याएख्यातं, तदापाततो प्रन्थलापनमात्रम्। प्रमात्वसामान्यस्य जन्यतावच्छेदकत्वेडापी अर्थसमाजसिद्धत्वस्य दुर्वारत्वात्। उक्षं हि कुसुमाञ्जलिटीकायां तैरेव-"घटत्ववद्विरोप्यकत्वादि न कार्यतावच्छेदकं, अर्थसमाजसिद्धत्वात्। तद्विशेष्यकज्ञाने तद्वानसामम्री, तत्पकारकज्ञाने च तज्ज्ञानं, ${ }^{2}$ विषेयताख्यतत्पकारताकज्ञाने च तदसंसर्गाप्रहादिर्हेड़ः। तद्वयक्किप्रकारतानिरूपिततद्वयक्तिविशेष्यताके हि संसर्गा ${ }^{3}$ घहसामान्यप्रत्यासत्रिरेव तथा । अम्यथा
${ }^{1}$ वच्छेदकल्वेन. ${ }^{2}$ तदक्ञानं. ${ }^{3}$ चासंसर्गा.

यावन्तो विशेष्यवृत्तिव्यतिरेकषर्माः तत्तदाश्रयविशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वेन जन्यत्वापत्त्या अनन्तहेतुत्वापत्तेः। भवतु वा प्रमात्वमेव जन्यतावच्छेदकम्। तथापि शाब्दादिप्रमात्वं न तथा, शाबद्ज्ञानप्रमासामान्यसामग्रीभ्यां तद्वच्छिन्नस्यार्थसमाजसिद्धत्वात्" इत्यदि । उत्पत्तिवादे अस्तु वेत्यादिमणौ मिश्रैरप्युक्तं—'सर्वकार्यप्रमासाधारणमीभ्वरीयज्ञानमेव गुणः' इत्यादि । एवं ‘यदि प्रमात्वा ${ }^{1}$ समानाधिकरणधर्मनिरूपितकार्यत्वप्रतियोगिककारणजन्या न स्यात् अप्रमा स्यात्' इत्यादिमणौ ईश्वरज्ञानं तु न पमेत्युक्तम्। प्रमामात्रे नानुगतो गुण इत्यत्रोक्कम्। अन्मन्मते त्वनुगत एव स साधारणोऽ天तीति। उद-यनाचार्यैस्तु-"ननु नेश्वरज्ञानं प्रमा, नित्यत्वेनाफलत्वात्" इत्याशान्कय" मितिस्सम्यक्परि(चच्छात्ति)ज्ञतिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेद्: प्रामाण्यं गौतमे मते।
समीचीनो ह्यनुभव: सा प्रमेति व्यवस्धितम् ॥
 गौतमसूत्रविरोधः। तेन ईश्दरे प्रामाण्यमावेदितं न तु प्रमातृत्वमिति चेन्न ; प्रमासमवायित्वेन प्रमातृत्वस्येव प्रमाया अयोगव्यवच्छेदेन प्रमाणत्वस्यापि सम्भवात्" इत्यादिकं कुसुमाझ्अलिचतुर्थस्तबकान्ते उक्तम्। तत् प्रौढिमात्रम् ; उक्तयुक्तेरनित्यत्व ${ }^{4}$ विशोषणसार्थक्यात्, उक्तसूत्रे ईभ्वरस्य वेदार्थप्रमावत्त्वेन तदुक्तवेदस्य प्रामाण्यं यदुक्तं तत्रानित्यत्वाविशेषितमेव प्रमात्वमुपयुज्यत इत्येतंत्परत्वाच, सौत्रप्रमाशब्दस्य जन्यत्वघटितमुरूयार्थैकदे गोन अजन्यज्ञाने प्रवृत्तिसम्भवपरत्वाच। अत एव प्रमाया अयोगव्यवच्छिन्नत्वे सति कारणत्वरूपस्य मुरूयार्थस्य एकदेशेन प्रमायोगव्यवच्छेदेन सौत्रशमाणशब्दो भगवति वर्तते । न . चैतावता אक्षणा, -
${ }^{1}$ प्रमाइममात्वा ${ }^{2}$ अनिल्यव्वेन. ${ }^{3}$ आय. 4 रनिल्यार्थ.

एवमस्वश्रकाशत्वं वा जडत्वम्। तच पूर्वमेवोपपादितमिति शिवम् 11

इति जडत्वोपपत्तिः.

' राक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते मवति लक्षणा'
इत्यत्र शक्यादित्यस्य शक्यतावच्छेदकघटकादित्यर्थकत्वात्। अतएव 'इयेनेन यजेत' इत्यादौ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वसमानाधिकरणेष्टसाघनत्वशक्तस्य विधे: केवलेष्टसाषनत्वबोधने न लक्षणेत्यभिपायेण प्रमायोगव्यवच्छिन्नत्वमीश्वरस्योक्तम् । अन्यथा प्रमाया अकरणे घटादावपि प्रमायाः कालिकादिसम्बन्बरूपयोगाभावव्यवच्छेदसत्त्वेन प्रमाणराब्दमुरुयार्थत्वापत्तेः। अतएव 'करणन्यवहारनतु अन्यत्र यद्यप्यन्यनिमित्तकः, तथापीहोक्तनिमित्तविवक्षयैव' इत्यये उत्कं कुसुमाइ्ञलौ। अन्यनिमित्तकः अयोगव्यवच्छेदेन जनकत्वनिमित्तक इति वर्धमानाः। यतु-_" स्वाधिकरणक्षणधंवोत्पत्तिक्षणत्वन्यापकपमितिकत्वरूप: प्रमा" योगव्यवच्छेद : सौत्रभभाणशब्दार्थः। स चेश्वरे प्रमाचरमकारणे चास्ति" इति विघ्यावागीरैरुक्त, तत्रायमेव यदि मुर्यार्थः तदा परमाण्वाद्यकारणे डपि तत्त्वापत्तिः, ईश्वरप्रमामादाय तत्राप्युक्तार्थसत्वात्, उक्कप्रमित्यधिकरणत्वोक्तावपि जन्यमात्रस्येश्वरज्ञानमादाय तत्सत्त्वात्। जन्यप्रमानधिकरणकालोत्पन्ने चरमक्रियादौ प्रमाणपदमुरूयार्थत्वापत्तिः। यदि चायं गौणोर्थः, तदा प्रवृच्चिनिमित्तं नु यथोक्तमेवेल्युत्रर्मन्थविरोषः। अथ प्रमोपधायकत्वघटितमुकरूपं मुख्यार्थः, उक्षग्रन्थस्य तु यथोक्षं प्रवृत्विनिमित्रमेव तद्धटकत्वादित्यर्थः, तदाडस्मदुक्तपकारे पर्यवसानम्। तस्मादीध्ररज्ञाननिर्विकल्पकव्यावृत्तं प्रमात्वमव्याहतम्। यच्चोक्तम्'तद्वति तत्र्रकारकज्ञानत्वं न मुरुयप्रमात्वम्, किन्तु विशोष्यावृत्त्यप्रकारकानुभवत्वम्' इति, ततुच्छम्; तद्वतीत्यादे: मणिकारादिभि:

## परिचिछ्छन्नत्वविचार•

परिच्छिम्नत्वमपप हेतुः। तच देशातः कालतो वस्तुतश्वेति त्रिविधम्। तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वं अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। कालतः परिच्छिन्नतं ध्वंसप्रतियोगित्वम्। वस्तुतः परिच्छिष्षत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वम् । ननु-"समवायसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं आत्मनि व्यभिचारि, तस्याप्याकाशादिवत् क्काप्यसमवेतत्वात्। संयोगसम्बन्धेनात्यन्ताभावश्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धम् ; तस्य यावन्मूर्तसंयो-

सिद्धान्ते उक्तत्वात् विशेष्यावृत्तीत्यादेः स्वतः परतो भाद्यताविप्रतिपत्त्यनास्पदत्वेन प्रवृत्त्यनुपयुक्तत्वात्। अनुभवत्वघटितस्य प्रमाव्यवहारमात्रेपयोगेड T $^{1}$ ज्ञानत्वघटिततद्वतीत्यादेरेव प्रवृत्त्युपयुक्तत्वेन मुखूय्वसम्भवात्। तदुक्त मणौ-प्रवृत्तिसंवादादिना प्रमाणयं यथार्थत्वमेवानुमीयते न त्वनुभूतित्वे सति स्मृतौ व्यभिचारादिति प्रमापदुरुखार्थत्वाच। उक्षं हि दीघितौ-‘प्रमापदं हि धात्वर्थतावच्छेदक्ज्ञानत्वपुरस्कारेण यथार्थज्ञानमभिघत्ते। स्पृतिहेतो: प्रमाणन्तरत्वापत्ते: शास्ते प्रमाव्यवहारौपयिकं स्पृतिव्यावृत्तमनुमन्यते' इति। मणौ निर्विकल्पकं च प्रमाबहिर्भूतं, व्यवहारानऊत्वादित्यायुयकेत्तेः दर्शितत्वाच । यचानन्दस्य ब्रह्मरूपत्वे तत्तारतम्यानुभवादिकमनुपपन्नमित्युक्तम्, तदস्रे समाधेयम् ॥

सारस्वैतैस्तर्करबैन्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैं।
दुरन्तध्वान्तखण्डानामखण्डि जडताहुतिःः ॥
इति जडत्वनिरुक्ति:.

आकाशादावित्यादिना ईश्वरादिग्रहणम्। सर्वमूर्बत्वाकाश-

गित्वनियमात्। अपूर्तनिष्ठत्यन्ताभावप्रतियोगित्वामिग्राये तु अत्मनि व्यमिचारस्तदवस्थः। सर्वसम्बन्धित्वाभावविनक्षायामपि सर्वसम्बन्धरून्ये परमात्मनि व्यभिचारः, अज्ञाने सर्वसम्बन्धिन्यासिद्धिश्न। छ्वंसप्रतियोगित्वमपि आकाशादावसिद्धम्। तेषां परैनित्यत्वाभ्युपगमात्व। अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं च आत्मनि व्यभिचारि, तस्य जडनिष्ठान्योन्याभावश्रतियोगित्वात्। अन्यथा जडत्वापत्तेः" इति चेेन्न अत्यन्ताभावे अन्योन्याभावे च प्रतियोगिसमसत्त।कत्वविशोषणेन आत्मनि व्यमिचारपरिहारात्। अज्ञानाकाशादौौ च स्वसमानसत्ताकात्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतियोगित्वसत्त्वेन असिद्धधभावात्। अविघ्याकाशादेर्य्यावहारिकस्य पारमार्थिकत्वाभावपक्षे स्वान्यूनसत्ताकेति विरोषणं देयम्। अतएव प्रातिभासिकश्युक्तिरूप्यादेः

मिल्यादिपतीत्याडSकाशादिसंयोगो वृतिनियामक इृति वृत्तिनियामकसंयोगेन प्रतियोगित्वमप्यसिद्धमिति भावः। अभिग्राय इति। संयोगावच्छिन्न्रतियोगितात्वेनैव हेतुः अमूर्तनिक्षाभावीयं त ${ }^{1}$ मादायाकाशादावप्यस्तील्यिमिपाय इत्यर्थः। मूर्ते संयोगेनात्मनः सत्व्वेप्यमूर्ते तेन तदभावाद्वयमिचार इत्याह—आत्मनीति। उपहितात्मन एवोपदानत्वात्साक्षित्वाच्च सर्वसम्बन्धो न तु खुद्धस्येति मत्वाडSE-सर्वेति। धर्मील्यस्य स्वाश्रयेत्यर्थकत्वे स्वपदस्य हेतुपरत्वादन्यतरत्वादिना ताहृराप्रतियोगित्वं श्रुद्धातमनोऽपील्यत आह—अज्ञानाकाशेति। स्वेति। यत्र हेताः स्थाप्यः स स्वपदार्थः। अत्मावृत्रिप्रतियोगितया अल्यन्ताभावो भेदश्र हेतुः। अतः स्वत्वनननुगमादिर्दे दोषः। यषपि मिथ्यात्वरक्षणोक्तरीत्या आकाशादेरत्यन्ताभावपतियेगित्ले मानाभाव:,

व्यावहारिकाभावर्रतियोगित्वेडपि न साधनवैकल्यम्। निरुकमिथ्यात्वप्रकाराणामेवंरूपत्वाभावात् न साध्याविशिष्टता । घंसप्रतियोगित्वं चाकाशादौ नासिद्दम्। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इति श्रुतिसिद्धजन्यत्वेनानुमितत्वात्। 'आकाशवत्सर्वगतथ्य नित्यः' इत्यत्र चात्मानिदर्शननत्व ${ }^{1}$ स्वसमानकालीनसर्वगतत्वेन आभूतसम्प्रवावस्थायित्वेन चेति द्रष्ठण्यम्। 'अतोडन्यदार्तम्' इति श्रुत्या अनात्ममात्रस्यैव विनाशित्वश्रतिपादनात्। अतएव "घटादयः स्वानु-

निथ्यात्वानुमानं चोक्तहेतुकं उत्तहेडुसिद्धे: पूर्वमपवृत्या न तत्साघकम् ; तथापि हइइयत्वादिहे वन्तरेणालयन्ताभावप्रतियोगित्वघटितमिथ्याव्वे सिद्धेप्यत्यन्ताभाव्रतियोगित्वेन सदसद्विकक्षणत्वादिरूपमिथ्यात्वानुमितिस्सम्भवतील्यमिप्रायेणाह —निकुक्तेति। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वान्येल्यर्थः। एवंरूपत्वेति। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपत्वेल्यर्थः। साध्याविशिधता साध्यस्यानुमितिपूर्वकालपेक्ष्या अनुमितिकाले विरोषाभावः, सिद्ध्रव्वमिति यावत्। विशिष्टपतियोगित्वरूपमिध्यात्वसिद्धाववि पकृत ${ }^{2}$ हेतुना तदन्यमिथ्यात्वसाषनमब्याहतमिति भावः। एतेन-मिथ्याख्वक्षणे स्वाधिकरणादिनिवेशात् तदनिवेशापक्षेऽपी सद्धृत्यत्यन्ताभावनिवेशाब्न साघ्यहेत्वोरविशोषः' इत्यादि परास्तम्। जन्यव्वेनेति। जन्यमात्रस्याविद्योपादानकत्वात्तन्नाइनाइयत्वादवियासम्बन्घादेरपि अज्ञानप्रयुक्तलेनाज्ञाननाशक्नाइयत्वात्। शुक्तयज्ञान ${ }^{3}$ म्बन्घादौ क्ल्टस्त्वाप् एकाज्ञानपष्षे तस्या ${ }^{4}$ ल्हत्त्वेडपि ،विद्वान्चामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादिश्रुतेः लाघवादनात्मत्वावच्छेदेनैवैत्मज्ञानविरोषित्वकल्पनात् अनात्ममान्रं विनाशि अविद्यानाइस्पैव अनात्ममात्रनाशत्व ${ }^{5}$ क्पनात् नाका-

गतग्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभकत्वात्, यथा सर्पमालादिकम्, स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वा इदमंशो विभज्यते । " एवं बह्मण्यनुगच्छति घटादिकं विभज्यते। सन् घटः सन्

शादिव्यक्तिनाशकल्पनागैरवमिति भावः। स्वानुगतप्रतिभासे इति। स्वतादाल्मेन स्वरूपतो भानयोग्ये स्वतादाल्म्यविषयतानिरूपितानवच्छिन्नप्रकारतावतीति यावत्। सप्तम्या ठ्यापकत्वमर्थ: ${ }^{1}$ । उ्यापकतानिरूपकत्वं तादात्येन। तथाच यदुक्त्रकारतावतत्र कल्पिता इति ठ्यापकता लम्यते। कल्पिता: ज्ञाननिवर्त्या:, स्वाभाववति ज्ञेया वा । ताह्टाप्रकारताव्यापकस्वनिवर्तकघीविषयताकत्वं ताहझाप्रकारताव्यापकस्वाड्यन्ताभावकत्वं वा पर्यवसितार्थः। उक्तप्रकारताया: सामानाधिकरण्यमात्रनिवेशे घटस्य स्वतादास्म्यभ्रमविषयपटत्वदौ कल्पितत्व ${ }^{2}$ मादाग परैर्रान्तरं वाच्यम्। अतस्तस्याव्यापकत्वं निवेशितम्। तादृहाप्रकारतावति द्रत्यगुणकर्मादौ स्वनिवर्तकधीविषयत्वाभावादनवच्छिनेति। द्रव्यगुणादौौ च नानवच्छिन्नं प्रकारत्वम्। प्रतियोगिताविषयतादेरखण्डत्वस्वीकारे ताछशाप्रकारतावति तत्र घटादे: स्वनिवर्तकधीविषयत्वाभावान्निरूपितन्तस्थले स्वतादाल्म्यसमानाधिकरणेति वाच्यम्। एवंच यथासन्निवेशो व्यापकत्वं न ठयर्थम्। सामानाघिकरण्यं वा तस्साने निवेइयम्, प्रतियोगितादेरवि धर्मत्वात्। घटादौौ तादात्म्यस्वीकारे तु सामान्यवद्वक्ष्यमाण ${ }^{3}$ रीत्या तस्य. त्रह्यस्वरूपत्वाद्धटादिनिवर्तकषीविषयत्वात् न तद्वयमिचार इति निरूपितान्तमपि निद्दोबम्। तच यथोकरुपेप साध्यसिद्धचर्थ प्रकारताविरोषणम्। द्वितीयसाध्ये त्वनवच्छिन्त्वं न देयम्। वस्तुतस्तु ${ }^{4}$ कल्पितपदझ्य स्वात्यन्ताभाववति प्रतीयमानार्थत्वे स्वानुगतप्रतिभासेत्यस्य स्वपश्वादपि

[^29]पटः" इत्यानन्दबोधोक्तमपि साघु। विभक्तराब्देन स्वसमानसत्ताकमेदप्रतियोगित्वरूपवस्तुपरिच्छेद्स्य विवक्षितत्वात् न अद्सतुच्छयोर्व्यमिचारः। न च 'खण्डो गौौस्युण्डो गौ:" इत्येवमादिस्वानुगतप्रतिभासे गोत्वादौ व्यक्तीनामकल्पितत्वात् ब्यभिचार इति वाच्यम् ; सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वादिसामान्यानम्युपगमात्, गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपि गोत्वादिन्यक्षकतावच्छेदकसामान्यानभ्युपगमात्, व्यक्तिविशोषाणामेवाननुगतानां

भासमानार्थकतया सदूपार्थकत्वपर्यवसानात् सत्त्व' ${ }^{1}$ ्यापकस्वात्यन्ताभावकत्वं द्वितीयसाघ्यं पर्यवस्पति। स्वानघिकरणकपालादिरुपसद्दृच्य्य्यन्ताभावपतितियोगित्वमादाय पटादौ परेषामर्थन्तरवारणाय व्यापकत्वमू । भासमानत्वव्यापकतानिवेको शून्यवादिनां सिद्धसाधनम्। अतः सत्वउ्यापकत्वमुक्तम्। अथवा द्वितीयसाष्यं ज््ससिद्धयुक्तवक्ष्यमाणानुमान एव बोध्यम्। कल्पितत्वं च स्वाभाववतीति बक्ष्यमाणाचार्यवाक्यमपि तदमिम्रायम्। यथेत्यादि:, यद्यद्विभज्यते तत्व्वानुगतप्रतिभासे कल्पतं, यथा रजुसर्पादिकमिन्युदाहरणे एवमित्यादेरुपनयनिगमनयोः तात्र्पर्य । आनन्द्बोधोक्तमिति। प्रमाणमालायामित्यादिः। प्रथमसाध्याभेप्रायेणाशक्ष्य निराकरोति—न चेत्यादि। गोत्वाद्यनपेक्षतया गोत्वादिकार्य्ययोजकतायां दृष्टन्तमाह-गोत्वाद्यम्युपगम इति। व्यक्तिविशोषाणामिति। जातितृत्तिलैकिकाविषयतया प्रत्यक्षं प्रति स्वविषय"समवेतत्वसम्बन्बेन प्रत्क्षक्षस्य कारणत्वेन स्वविषयव्यक्तीनां सम्बन्षविषया प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रयोजकत्वरूपं व्यद्जकत्वमिति भावः। अनतुगतानां गोत्वाद्यविशेषितानाम् । अथ सास्खाद्यवच्छिन्नसन्निकर्षादे: विशिष्य गोत्वादिव्यझ्यकत्वस्यावश्यकलेनोक्तक्यअक्ते मानाभावः,

[^30]सार्तादिमन्वाद्युपाध्यनुगतानां वा तद्यञ्जकत्ववत् व्यक्तिविशोषविशिष्ट्वेन सत्सामान्यस्यैव तत्तद्यवहारजनकत्वोपपत्तेः। तत्राह-साखेति। अनुगतानां विशेपितानां सास्काधवच्छिन्नसन्निकर्षाद्याश्रयतया व्यक्तीनां ${ }^{1}$ उ्यअ्ककत्वमिति भावः । न्यक्तिविशेषविशिष्प्व्वेनेति। गोत्वादिना अभिमतन्यक्तीनामन्यतमनिह्हता_ दाल्यरूपवैशिक्टेनेत्लर्थः। तत्तझ्यवहरोति। गोत्वादिप्रयोज्यकार्येत्यर्थः। जनकत्वेति। प्रयोजकत्वेल्यर्थ:। न च सम्बन्षाननुगमेग दोष:, स्वरूपसम्बन्बेन कारणत्वादिस्थले तस्यातत्त्वात् अन्यतमत्वेनानुगमसम्भवाच । न च तावता तादास्म्यानभ्यात्तद्धटितान्यतमत्वनिवेशे गौरवमिति वाच्यम्; तावदन्यतमत्वव्यक्तेः स्वरूपत एव निवेशात्, अनुगतरूपान्तरसत्व एव तेन रूपेणावच्छेदकत्वे अन्यथासिद्दे: स्वीकारात्। अतएव स्वरूपसम्बन्धेनाभावादेः कारणत्वादिस्थले तावस्व्वरूपान्यतमत्वमेव स्वरूपतोऽवच्छेदकम्। अन्यथाइननुगतसम्बन्घैः कारणत्वादेर्दुर्वच्वात्। एवंच तादशान्यतमसम्बन्घेन सद़पमेव गौरिर्यादिव्यवहारविषयः। गोत्वा्यवच्छिन्न्वेन अभिमतं कारणत्वादिकं उक्तसम्बन्धेन तद्रुपैणैवा2वच्छिद्यत इति गोत्वादिकल्पनं व्यर्थम्। तदुक्तं भर्तृहरिणा— सम्बन्ममेदात्सत्तैव ${ }^{3}$ विद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्येते तस्यां सरे शब्दा ठ्यवस्थिताः ॥
इतीति भावः। न च गोग्यत्तीनां अन्यतमत्वेनापि कारणत्वादिसम्भवात् सत्तामान्यस्यैवैल्यसक्ष्तमिति बाच्यम् ; ग़ोत्वाम्युपगमेप्युकान्यतमत्वादिना तदापत्त्या तेन रूपेणान्यथासिद्रेराबाम्यां स्वीकारात्। अथवा गोग्यक्तयः सद्रूपतादास्मविशिष्टा गौरिल्यादिव्यवहारविषया इल्येव पकृतर्पन्थर्थः। न च गवादिपदानां शक्यता, गवादिनिष्ठकारणत्वादिक च सद्रूणावच्छेतुमशक्यं, अतो गोत्वमावर्यकमिति वाच्यम् ; सदूपविशिष्टगोव्यक्तिण्वेव उक्तशक्यताकारणतादे${ }^{1}$ सलिकरषष्षान्यक्तुनां. ${ }^{2}$ सदूपेगवा ${ }^{3}$ भेदास्तर्तैव.

अतएव 'घटादिकं सनूपे कल्पितम्। प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धुजलतरक्रवत्' इति ब्रह्म-

रनवच्छिन्नस्य स्वीकारे बाघकाभावात्। न च कम्बुग्रीवादिमत्त्वादिना शाब्दबोधस्यापि घटादिपदर्गक्तिज्ञानजन्यत्वापत्तिरिति वाच्यम्; घटत्वेन घटबोधस्यानुकूलायाः घटपदननिष्ठायाः शक्केरेव घटपदघटयो: शाक्किरूपत्वात्। तार्किकादिरीत्या तु घटपदात् घटत्वेन घटो बोध्यतामितीच्छा विशेष्यत्वस्यैव तदूपत्वात् ${ }^{2}$ तत्र घटत्वं सदूपमेव घटस्तघ्यक्तिरेव सदूपेण यत्किस्चिद्वोव्यक्कौ राक्यताग्रहसैयेव अन्वयव्यतिरेकाम्यां सद्रूपेण गोव्यक्तिस्मृतिशाब्दबोघहेतुत्वस्य अनवच्छिन्नस्य सम्भवात्, अनवच्छिन्नकारणत्वादेरेव दण्डत्वविशिष्टादौ ग्रहात् प्रवृत्त्यादिसम्भवात्। न च घटत्वादिजारिं विना घटादिकारणत्वमेकं दुर्वचमिति वाच्यम्; शक्तिविशोषरूपस्यातिरिक्ताखण्डरूपस्य वा कारणत्वस्य उक्तजाति विनाऽप्यैक्यसम्भवात्, कार्यकारणव्यक्तीनामन्यतमत्वव्यक्तयोरेव अखण्डकारणता ${ }^{3}$ घटकत्वसम्भवाच। अन्यथा व्याप्यत्वादेः कारणत्वाद्यवच्छेदकत्वस्य चावच्छिन्नत्वनियमापतेरित्यास्तां विस्तरः। अतएव उक्तपरिच्छेदानां हेतुत्वसम्भवादेव। सदूपे कल्पितं सदूपधीनिवर्त्यमुक्तार्थकं वा। तरन्नन्द्रे तु तत्त्वं सिद्धमेवेति न साध्यवैकल्यम्। प्रतीयमानत्वात् प्रतीयमानतायोग्यत्वात्। सदनुवेधेन प्रतीयमानतायोग्यत्वं च उक्तपरिच्छेद एवेति भावः। अथवा सत्तादात्याविषयकप्रतीत्यविषयत्वादित्यर्थः । प्रतीतिमान्रे सद्रूपं विषय हति वक्ष्यते । यत् यत्तादात्य्यािषयकप्रतीत्यविषयस्तत्तत्र कल्पितमिति सामन्यतो व्याप्तिः। अतएव दृष्टान्ते चन्द्रानुविद्धेत्युक्तम्। चन्द्रानुविद्धघीविषयेत्त्यर्थः।। प्रत्येकमिति । प्रतीतिविशोषणेन स्वविषयक-

[^31]सिद्धिकारोक्तमपि साधु। ननु सदर्थस्य ब्रह्मणः रूपादिहीनस्यासंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्य़स्य कथं घटस्सन्मित्यादिब्बुच्हिविषयता स्यात्? तथाच 'घटोऽनित्यः' इत्यनेन घटगतानित्यतेव 'घटस्सन्' इत्यनेनापि घटगतमेव सत्त्वं गृह्यते। न च स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहो: चन्द्रावच्छेदेनेन श्रह्मणोऽपि घटाद्यवच्छेदेनैव प्रत्यक्षतेति वाच्यम्; इब्दाद्यनच्छिम्षस्यापि गगनादेः श्रावणत्वाद्यापातात्। राहोस्तु दूरदोषेणाज्ञातस्य नीलस्य योग्यस्य शुक्क्रास्वरचन्द्रसम्बन्धाच्चाश्रुपता गुक्तेति चेन्घ; यतस्सदात्मना न ब्रह्सणो मूलाज्ञानेनावृतत्वम्, किन्तु घटाद्यवच्छिन्नराक्तथज्ञानेनैव।
प्रतीतिमात्रस्य तत्तादाल्म्य' रूपानुवेधविषयकत्वकाभेन उत्तहेतुलाभान्न तदुक्तिवैयर्थम्। यत्तु अनेकेषां तदनुविद्धतया प्रतीयतमानत्वं हेतुः, त्रह्मणस्तु नानेकत्वमिति ; न तत्र व्यभिचारः, तद्रूपाभिन्नत्वं वा साध्यमित्युक्तं तच्छोभतेतराम् । ब्रद्मणोडपि ज्ञानानन्दादिरुपेण अनककत्वस्य कस्पितत्वात्, प्रपश्चमादायापि तत्सत्यत्वाच्च । उक्कसाध्यं च मिथ्याव्वं विनाऽपि सम्भवर्तीत्यर्थान्तरात्। ननु सदिति प्रथमहेतुर्यद्यपि स्वान्यूनसताकभेद ${ }^{2}$ प्रतियोगितात्वाद्युक्तरूपेण ; तथापि सदनुवेधधीविषयत्वयोग्यतात्वेन तदुक्तिर्न घटत इत्यभिप्रायः। सदात्मनेति । सदूपेपेत्यर्थः । घटाद्यवच्छिन्मराक्तयज्ञानेनेति । घटादिप्रपश्चानुकूल्डा शक्ति: यस्य ताहहामज्ञानं यत्र तेन पूर्णानन्दरूपेणेत्यर्थः । सद्रूपस्फुरणेऽपि पूर्णानन्दावरणादेव संसारदृष्टयाड ${ }^{3}$ पूर्णानन्दरूपेण मूलाज्ञानावृतत्वम् । सद्रूपूूर्णानन्दरूपयोस्तु भेद आविद्यक इति भावः। अथवा सदात्मनेति घटाद्यवच्छिन्नसदात्मनेत्यर्थः। अतएव वक्ष्य्यति ब्रह्म घटाघचच्छेदेन योग्यमिति। अत एव पस्धवाज्ञानास्वीकारपक्षेडपि मूलाज्ञानेन घटाध्याकारवृत्तिकाले घटा-

तथाच चक्षुरादिजन्यवृत्ता तदावरणभक्रे सति 'सन् घटः' इत्यत्र ब्रह्सणः सफुरणे बाधकाभावात्। न च रूपादिहीनतया चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः बाधिकेति वाच्यम् ; प्रतिनियतेन्द्रियग्राघ्येष्वेव रूपाद्यपेक्षानियमात् । सर्वेन्द्रियग्राह्यं तु सदूपं ब्रक्ष । नातो रूपदिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्ति:, सत्तायाः परररपि सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाम्युपगमाच । तदुक्ता वार्तिककृन्नि:अतोडन्नुमव एैवको विषयोऽज्ञातलक्षणः। अक्षादीनां स्वतस्सिद्धो यत्र तेषां ग्रमाणता।।
घ्ववच्छिन्नसदूपानावरणात् तस्य प्रकाश इति भावः। घटाद्यवच्छिन्नेत्यादेरर्थस्तु पूर्ववत्। सर्वेन्द्रियग्राह्यमिति । घीमात्रविषयत्वाभ्युपगमादिति भावः। पैरैरिति। सत्ताजातेस्तार्किकान्दिभिः सर्वेन्द्रियभ्राब्यत्वाभ्युपगमात् ज्ञानविषयत्वरूपसत्तायाः मणिकारोक्रप्राभाकरमते घीमात्रविषयत्वाभ्युपगमादित्यर्थः । उत्कं हि मणौ-‘प्राभाकरास्तु मितिमांन्रंशे सर्व ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इति । प्राचीनप्राभाकरमते तु वाचस्पत्यादुक्ते मेयभ्मनकाले मितिमात्रोर्न संशयविपर्ययावित्येवाभ्युपगमः । सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वसाधकस्य ${ }^{1}$ सर्वधीविषयत्वस्योपपदकमाह— तदुक्तमिति । अनुभवः सदूपम् । तस्यैव विषयत्वे हेतु:—अज्ञातलक्षण इति । सद्रूपभिन्न नु विषयीभूतसदूपावच्छेदकम् न तु विषय इति भावः। स्वतस्सिद्धः अनारोपितः। अथवा अज्ञातो ${ }^{2}$ विषयोडनुभव एव, जडे अज्ञातत्वाभावादिंत्यर्थः। तथाच सद्रूपान्यस्य विषयत्वेऽपि न क्षतिः। अक्षादीनां चक्षुरादिप्योज्यज्ञानानाम्। तेन अ्रमस्याप्यनुभवो विषय इति लम्यते। उक्षविषयकत्वं विनाज्ञानमात्रे प्रमात्वष्यवहारो न स्यात्, अज्ञाताबाधितविषयकत्वस्पैव प्रमात्वरूपत्वादित्याशयेनाह-यत्रेति। यद्विषयकत्वेनेत्यर्थः। प्रमाणता

इति कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभिः सर्वेन्द्रियग्रा्यत्वाम्युपगमात्, न च शब्दावच्छिन्नस्याकाशस्यापि भावणत्वं स्यादिति वाच्यम्; स्वभावतो योग्यस्य हि केनचिभिमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य अवच्छेदकादिना योग्यता

प्रमात्वव्यवहारः । अमेप्यधिष्ठानीभूतसदूपपदात्यापन्वरजतादिविषयकल्वेनैव प्रमात्वं बाधात्पूर्वं ${ }^{1}$ व्यवहियत इति धीमात्रस्य सदूपविषयकत्वमावरयकामीति भावः। कालसम्बन्धिल्वरूपा सत्ता सर्वषीविघयत्वात् सर्वेन्द्रियभाद्या मीमांसकादीनाम्। उक्षं हि तै:-

## 'न सोडस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते'

इतीत्याशयेनाह—कालस्येति । प्रतीयमानांगे आधेयतासम्बन्बेन विशेषणतया कालो भाति, इदानीं घट इल्यनुभवात्। अविद्यमानघटादेरपि तदान्नीं घट इत्याद्यनुमवात्, स्मर्यमाणस्य तर्कारीनार्थक: स इव्युल्झेखनियमाव् । अतएव तर्णिकादिमि: परोक्षज्ञाने सत्ताभानावइयकत्वं वाच्यमित्याइयेन ममिंसकादीनामिल्यादि पदमुपांम्। तथाचानुभवानुरोघात् सत्तावच्छेदकभानसामभ्या एव सत्ताभासकलं कल्प्यतं इति तार्किकादिभिरणि वाच्यम्। पर्वते वड्रिमुमिनोमीत्याघनुभवस्सापलापायोगात्। अन्यथा पर्वतीयवद्विः सन्न बेत्यादिसंशयापते: उत्कसंशयनिवर्तकज्ञानान्तरकल्पने गर्रैवात्, सत्ताषटितरूपेण व्यापकत्वाग्रहेपि सत्राभानस्थनुमिल्यादौ सम्भवात्, उत्रनियामकसम्भात् । अतपवातीन्द्रियानुमित्यादावपि सताभानावरयकत्वम्। न च मीमांसकादिभिः कालांडे लौकिकान्यविषयैतैव घीमात्रे स्वीक्रियते, ल्वन्मते नु सदूपे लौकिकविषयतेति कथमनुभवैकरूपतेति वाच्यम्; तन्मतेऽपि सत्तां साक्षात्करोमीति धीवलात्ताद्वाविषयत्वावइयकत्वा-

सम्पाद्यते, यथा दूरदोषेण प्रतिरुद्दयोग्यताकस्य राहोश्वन्द्रसम्बन्धेन । एवंचावरणेन प्रतिरुद्दयोग्यताकं इह्म घटाद्यवच्छेदेन योग्यं भवति। नभस्तु स्वभावायोग्यमेव, न प्रतिरुद्धयोग्यताकम् ; येन शब्द्वावच्छेदेन योग्यं भवेत्। यद्वा द्रव्यग्रहे चक्षुषो रूपापेक्षा। न तु अन्यग्रहे। ब्रह्म तु न द्रव्यम्, 'अस्थूलमनण्वह्दस्वमदीर्घम्' इति श्रुत्या चतुर्विधपरिमाणनिषेधेन द्रव्यत्वग्रतिषेधात्। अतो नानुपपत्तिः। अस्तु वा द्रव्यम्; तथाप्यध्यस्तद्रव्यवति गुणादौौ रूपानपेक्षचाक्षुषत्वदर्शनेन धर्म्य-

स्संयुक्तविशोषणतासान्निकर्षसम्भवात्, गुरुमते हौकिकान्यप्रत्यक्षविषयत्वानम्युपगमाच्च ${ }^{1}$ । न च सद्रुपस्य द्रव्यत्वमभ्युपगम्य सिद्धान्तस्येदानीमुच्यमानत्वात् द्रव्यप्रत्यक्षे च रूपादिहेतुतायाः क्ल्ट्तत्वात् रूपादिहीने तत्र कथं प्रत्यक्षविषयत्वमिति वाच्यम् ; द्रव्यत्वं हि यद्यपि सदूपं कल्पिततादास्म्येन स्वस्मिन्नपि वर्तत इति ताद्टशतादाल्म्यं सद्रूपाभिन्नद्रव्यव्यक्तिनिष्ठतादास्यानि चेत्यन्यतमसम्बन्धेन सदूपाविशिष्टमेव द्रव्यम् ; तथापि स्वभिन्नद्रव्यव्यक्कितृत्तितादास्याना ${ }^{2}$ मन्यतमसम्बन्धेन सद्रूपविशिष्टं यत् तद्वृत्तिविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति रूपादिहेतुतेति भावः। सदूपभिन्नद्रव्यव्यक्तिवृत्तितादात्यान्यतमसम्बन्षेन सद्रूप|विशिष्टमेव द्वन्यमित्याशायेनाह—यद्वेति । ठ्यावहारिक. महत्त्वादिपरिमाणं व्यावहारिकस्य द्रव्यत्वसम्बन्घस्य सदूपेऽनक्जीकारे अनुपपन्न ${ }^{3}$ मित्यत आह-अस्तु वेति। धर्मीत्यादि । धर्म्यन्यूनसत्ताकेन तादास्म्येन द्रव्यत्ववतीत्यर्थः। तेन कर्मधारयोत्तरं मतुपोडसाधुत्वेऽपि न क्षतिः । न वा द्रव्यत्वस्य सद्रूपत्वेन द्रव्यव्यक्तीनामिव गुणादिव्यक्तीनामन्यूनसत्ताकत्वेऽपि क्षतिः। यद्यपि यथश्रुतांक्तविव-

[^32]न्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षुः रूपमपेक्षते । ब्रक्षणि च द्रव्यत्वं धर्म्येेक्षया न्यूनसत्ताकमेवेति न तवूहे रूपाद्यपेक्षा। कल्पितत्वं च स्वाभाववति प्रतीयमानत्वं वा स्वरूपज्ञाननिवर्ल्यत्वं वेत्यन्यदेतत्। तस्मात् परिच्छिधत्वमपि भवति हेतुरिति सिद्धम् II

इति परिचिछम्नत्वहेतूपपत्तिः.

क्षायामपि सद्रपव्रव्यत्वस्य ठ्यावहारिकतादात्याश्रये व्यावहारिकगुणादौ चाक्षुषे ठ्यभिचारः, प्रातीतिकस्य तत्तादात्मस्य आश्रये प्रातीतिकगुणादौ चाक्षुषत्वस्वीकारे तत्रापि व्यभिचारः; तथापि धर्म्यन्यूनसत्ताके ${ }^{1}$ त्यस्य गुणाद्याश्रयत्वेन पराभिमतं यद्यत्सद्वृपमिन्नं ताहृशव्यक्तिगततादात्म्यान्यतमेल्यर्थकव्वान्न दोषः। गुणादेः सद्रूपस्य च ताह्हातादात्म्येन सद्रूपद्वव्यत्वानाश्रयत्वात् । एवमन्यत्रापि धर्म्यन्यूनसत्ताकत्वादिकं निर्वाच्यम्। तेन घर्म्यादिनिवेशागैरवानवकाशः । सत्तात्रैविध्यासिद्धिदशायामपि तदुक्तिसम्भवश्थेति ध्येयम् । चक्षु: चक्षुरादि। रूपं रूपादि । तेन त्वगिन्द्रियादिकमपि न ब्रह्म ${ }^{2}$ स्पार्शानादावुद्रूतस्पर्शादिकमपेक्षत इति लम्यते । ननु अन्यांशे उद्बोघकाद्यभावे घटत्वादिमात्रविषयकस्मृतिः सद्रूपाविषयेति नोक्तहेतुसम्भव इति चेन्न; सद्रूपभाने उद्बोघकादे: पृथगनपेक्षाया उक्तत्वात्। न चायं घट इत्यादिज्ञाने घटत्वांशो सद्रूपभाने ${ }^{3}$ अयं घटो न बेल्यादिसंशायनिवर्तकता न स्यादिति वाच्यम्; जातिमान् घट इत्यादाविव स्वातश्रघेणापि स्वरूपतो घटत्वादिविषयतायास्तत्र सम्भवात्, उक्कसंशयेऽपि घटत्वांशो सदूपभानाच्च ${ }^{4}$ । न च ब्रहजजाने ${ }^{5}$

$$
{ }^{1} \text { धर्म्यसत्ताके. } \quad 2 \text { माि नह्य. }{ }^{3} \text { सदूपाभाने. } 4 \text { सदूपाभानान्च. }
$$ 5 घह्वाभाने ज्ञाने.

अ्लांशो घटः सान्नित्यादौ सद्रूपांशे च सद्रृपतादात्म्यभानं स्यादिति व |च्यम् ; सद्रूपान्यभासकसामग्रयां सद्रूपमिन्नांश एव सद्रूपतादाल्यभासकत्वनियमात्। वस्तुतस्तु त्रह्मणश्राक्षुषादिवृत्त्यविषयत्वेऽपि नास्माकं प्रकृते क्षतिः ; घटादिविषयकवृत्त्या घटाद्यवच्छिन्नसद्रूपस्याप्यावरणाभिभवाद्धटादौ भासमाने सद्रूप ${ }^{1}$ तादात्म्यस्यावइयं भानसम्भवात्, अज्ञातचिदवच्छेदकविषयकत्व ${ }^{2}$ घटितस्य घटादिगोचरवृत्तिप्रामाण्यस्य वक्षुं राक्यत्वात् । ज्रह्मज्ञानस्य तु त्रिकालाबाध्यविषयकत्वघटितं प्रामाण्यं मिन्नमेवेति तत्राज्ञातविषयकत्वनिवेशेऽपि क्षत्यभावात् सद्र-पानुविद्धेत्यादिहेतोः सद्रूपतादास्म्ये ${ }^{3}$ ₹चनिष्ठे भासमान एव भासमानत्वरूपत्व ${ }^{4}$ सम्भवात् । परंतु वस्तुगतिराचार्यैरुक्ता। यत्तु-" खण्डो गौर्मुण्डो गौरित्याद्यनुगतव्यवहार एव गोत्वादिसामनन्ये मानं, अन्यथा व्यक्तिविशोषविशिष्टसत्सामान्यस्य उक्तव्यवहारविषयत्वे घटादेरपि व्यक्तिविशेषत्वादुक्तव्यवहारविषयत्वपपत्ति:, ठ्यक्तौ ${ }^{5}$ विशोषस्य गोत्वादिरूपत्वे तु मदिष्टसिद्धि:। सदात्मना न श्रह्मण इत्याद्यप्ययुक्तम्। सदानन्दरूपयेरखण्डैकरूपत्वेन सदात्मनाडSवरणाभिभवे आनन्दात्मनाऽपि तद्मिभवसंभवात् आनन्दात्मनाडपि प्रकाशापत्तेः । प्रतिनियतेन्द्रियेत्याद्यपि न युक्तम्, न्नह्मणोऽत्यन्ताव्यक्तत्वेन अतीन्द्रियत्वात्। 'नावेदविन्मनुते तं’ न चक्षुषा हृइते, सर्वभूतेषु गूढः, दृइयते त्वग्रयया बुद्धघा सूक्ष्म्मया' इत्यादिश्रुतेः । सत्चादृष्टान्तोप्ययुक्तः, तस्याः योग्यठ्यक्तिवृत्तिजातित्वेन योग्यत्वेऽपि ब्रह्मणोऽतथात्वेन अयोग्यत्वात्। अतोऽनुभव इत्यादिवार्तिकमप्ययुक्तम्, 'अथ परा यया तदक्षरमघिगम्यते' इत्यादिश्रुत्या ब्नद्मबोधकत्वस्य परविद्यारूपोपनिषदां लक्षण ${ }^{6}$ स्योक्तत्वात्, प्रत्यक्षादेर्ब्रह्मबोधकत्वे तत्र तदति-
${ }^{1}$ तद्यूप. 2 अज्ञातचिद्यिषयत्व. ${ }^{3}$ तादास्मेन. 4 रूपत्वा. 5 वृत्ती. 6 निषदंशलक्षण. ${ }^{7}$ तद.

व्याप्तेः। कालद्दष्टन्तोप्ययुक्तः; उपनयसन्निकर्षणैव साक्षिणा वा कालभानात्। स्वभावतो योग्यस्येत्याद्यपि न युक्तम्; आकारास्येव ब्रह्मणोऽपि रूपाद्यभावेन स्वभावायोग्यत्वत्। त्रह्न तु न द्रव्यमित्याद्यपि न युक्तम् ; अस्थूल्ञदिश्रुात्या घटादिसाधारणस्थौस्यादेरेव निषेधेन परिमागमात्रानिषेधात्, " महान्तं विभुमात्मानं, अणेरणीयान् महतो महीयान्, ज्यायानेम्य: त्रिम्यो लोकेम्यः, सर्व समामोषि, सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् " इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैः व्रह्म परिमाणवत्, उपादानत्वादित्यादियुक्या च त्रह्मणि परिमाणसिद्धे:, अद्रव्यस्य तस्याम्बरादिधारणानुपपत्तेः। धर्म्यन्यूनसत्तेत्याधदि न युक्तं ; जगतः कल्पितत्वासिद्धौ द्रठ्यत्वे व्रह्मन्यूनसत्ताकत्वासिद्धे:" इति, तत्तुच्छम्; गोत्वादिसामान्यं विनाडप्युक्तव्यवहारस्योपपादितत्वात्, सदानन्दयोः कल्पितभेदेन घटादिवृत्त्या घटाद्यवच्छिन्नसद्रूपस्यैव प्रकारास्वीकारेण च दोषाभावस्योक्तव्वात्, ' आनन्दं ह्रह्मणों रूपम्, आनन्द्ं ब्रद्मणो विद्धान् ' इत्यादिश्रुतिभिरुकभेद्स्यानुवादात्। किंच सदानन्दयोर्मास्तूक्तमेद: ${ }^{1}$, तथापि न क्षतिः; सद्रूपस्य घटादिविशोषणतया व्यवहारं पति सद्रूपमूलाज्ञानं न विरोषि, घटादिवृत्तिशून्य ${ }^{2}$ काले घटादिव्यवहारस्य विरोधिपह्धवाज्ञानसत्त्वेन ${ }^{3}$ तद्विशोषणतया सद्रूपभानासम्भवात् । पल्⿹वाज्ञानावृत्तं सद्रूपमित्युपचर्यत इत्यस्मिन्नर्थे प्रकृतস्नन्थतात्पर्यात्। अनन्द्रूपमपि विशोषणतया ठ्यवह्दियत एव—
' अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपश्चकम्' इति व्यवह्दियमाणस्य पश्चांशत्वोक्ते: घटोशसतीत्यादिवत् घट: प्रेयनित्यादिप्रतीतेः । न च सद्रुपस्य घटादिवृत्तिविषयत्वे मूलाज्ञाननिवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्; आपातश्रौतज्ञानस्येव घटादिवृत्तेरपि तदनिवर्तकत्वात्, सामयीविशोषजन्यज्ञानस्यैव विजातीयत्वेन तन्निर्वतकत्वस्योक्तत्वात्। न च विशोषणतया

[^33]व्यवहारस्यावरण ${ }^{1}$ प्रतिरुद्धत्वे घटादिवृत्तिविषयत्वं सद्रूपे ठ्यर्यमुक्तमिति वाच्यम्; सदुपरक्तघटादिसंस्कारार्थ तदुक्ते:, सम्भवपाचुर्यमात्रेण तस्योक्तत्वाच्च।' नावेदवित्' इत्यादिश्रुतेस्तु न विरोषः, मूलाज्ञानस्य वेदजन्यवृत्यैव निवृत्तिरित्येतत्परत्वात् । सत्वादृष्टान्तस्तु न त्वया दृष्टन्तः , यथा सत्रा सर्वेन्द्रियम्राब्दा तथा त्रह्म ; उक्तयुक्तिकलापसत्त्वे जातित्वाभावस्याप्रयोजकत्वात् न्रद्सण एव सर्वजातिरूपत्वस्योक्तत्वाचेत्यारायात्, सद़पं धीमाच्रविषयत्वेन सर्वानुभविकमित्येतत्परत्वेन मया व्यारु्यातत्वात् , सत्तेत्यादे : दृष्टान्तत्वाभावाश्च। उत्रवार्तिकमपि युक्तम्, ‘अथ परा’ इत्यादिश्रुत्याऽक्षरविषयकमूल्राज्ञाननिवर्तकत्वस्यैव लक्षणस्योक्तत्वात, कालस्योपनी ततया न भाने, प्रत्युक्तत्वात्, तया विनापि भानस्योपपादितत्वाच्च। साक्षिणा न तज्जानं, तस्य क्रियादिरूपस्य साक्षिण्यनध्यासात्। खभावेत्यादि ${ }^{2}$ रोदनं तु प्रत्युक्तम्। ब्रक्ष त्वित्यादिकं तु युक्तम् ${ }^{3}$; अस्थूलादिश्रुत्या परिमाणमात्रस्यैव निषेघात् सकोचे मानाभावात्, घटादिसाधारणपरिमाणस्य श्रक्षण्यप्रयुक्त ${ }^{4}$ त्वात्, सर्वभासकत्वादिना प्रसक्तसर्वसम्बन्षयोग्यस्य परममहत्त्वस्यैव प्रसक्कत्वात्। अणीयानित्यादे: दुर्बोघत्वपरत्व वत् महीयानित्यादे: परिमाणशून्यत्वपरत्वात्, अविद्यादि ${ }^{5}$ महत्साधारणपरिच्छेदशून्यत्वपरत्वाद्वा। सर्वत्र प्रसिद्धेत्यादिसूत्रेण मनोमयत्वादिना ब्रझोपासना, सर्वं समामोषीति स्मृत्या सर्वसम्बन्षः प्रतिपाद्यते, न परिम्णणम्। उपादानत्वमपि न परिमाणसाषकं; व्यासित्राहकतर्काभावात्। अतएव द्रव्यत्वमपि न तथा; विवर्तोपादानत्वे तदुपयोगस्य शाक्कानास्पदत्वात्। एवं धारणं न द्रव्यत्वसाषकम् ; न हि त्र\&णि अ््साण्डादिधारणं संयोगविशेषः, निरवयके संयागाभावात्, किन्तु आध्यासिकतादाल्म्यं पतनप्रतिबन्षकप्रयलो वा, तस्य च मायि-

[^34]कस्यादृव्येऽपि सम्भवात् । उत्तं हि पदार्थर्वण्डने —" ईश्वरस्य परिमाणवत्त्वे मानाभावः, द्रवयत्वस्य तृटित्वादेरिव परिमाणासाषकत्वात्। रूपादीनां च नेन्द्रियायोग्यत्वं, मानाभावात्, अतीन्द्रियानन्तस्पर्शकल्पने गौरवात् न स्पर्शवत्त्वेन द्वण्यसमवायित्वं, किन्तु जातिविशोषेण"। तद्वीकायां चोकं रामभद्रसार्वभौमैः-‘एवमीश्रे जीवे च द्रव्यत्वे संयोगादौ च मानाभावः, आत्ममनोयोगादे: हेतुत्वेऽपि न मानम्' इत्यादि। जन्यमात्रं प्रति द्रव्यत्वेन परिणामिकारणत्वेऽपि न क्षतिः। अन्यूनसश्रकत्वे च यथक्याख्याते न कोऽपि दोष इति । यदपि देशकालयोः कुत्रापि नात्यन्ताभावः, स्वस्मिन्नपि सत्त्वादित्याद्युक्तं; तच्छोभतेतरां, देशकालन्तरयोः देशाकालात्यन्ताभावसत्त्वात्, स्वस्मिन् स्वसत्वस्य विरुद्धत्वात् देशकालान्तरस्यैव देशाकालयोः सम्बन्षप्रतीतेः । यदापि प्रमेयत्वादेः स्वस्मिन् वृचिरित्युक्तं हृ्टान्ततया, तदपि न; प्रमेयत्वान्तरमादौयैव प्रमेयत्वं प्रमेयमित्यादिबुद्धयुपपत्तेः। किंच प्रमेयत्वादेरेकस्य सर्व ${ }^{1}$ सम्बन्घित्वेऽपि न देशकालयोरैकैकयो: तथावं, अविद्यारूपयोस्तयोस्तदिति चेन्न ; अविद्यायाः तादाल्यादिसम्बन्धेन स्वस्मिन् जीवेशाभेदादौ चाभावात् ${ }^{2}$ । हि घटाभावे घटो नास्तीतिवदविया स्वस्मिन् अस्तीति घीरस्ति। सर्वत्र देशकालौ स्त इति घीस्तु सर्व दृइयं विनाशीतिवत् सर्वत्र नैकसम्बन्धविषायिका ॥

> सारस्वतैस्तर्करलैश्वन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः । दुरन्तध्वान्तखण्डानखखण्डितनाहुतिः ॥ इति परिच्छिच्नल्वनिऐक्ति:.

[^35]
## अंशित्वविचार:.

चित्पुखाचार्यैस्तु ' अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावश्रतियोगी, अंशित्वात् इतरांशिवत्' इत्युक्तम् । तत्र तन्तुपदस्रुपादानपरम्। एतेनोपादाननिष्ठत्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्ष्रणमिथ्यात्वसिद्धि:। न च-कार्यस्स कारणाभेदेन तद्नाश्रितत्वत्व सिद्यसाधनं, अनाश्रितत्वेन अन्याश्रितत्वेन वा उपपन्या अर्थान्तरं चेति वाच्यम् ; अभेदे कार्यकारणभावव्याहत्या कथश्निदपि भेदस्यावइयाम्युपेयत्वात्। न च 'तद्नन्यत्वमारम्भणशब्दा-

अंशित्वात्-उपादानतानिरूपकत्वात्, जन्यत्वाद्वा । ननु तन्त्ववाच्छिन्नैतन्येमवेपपादानं न बु तन्तुरिति मते पटे सिद्धसाधनम् ; किंच उक्तमतियोगित्वं न मिथ्यात्वस्वरूपं, घटादेः सत्यत्वमतेऽपि तत्र तत्त्वी कारादिलयर्थान्तरम्। अपिच पटान्तरे तन्व्वन्तरानिहाभावप्रतियोगित्वानुमिल्यर्थमेकोक्तच ${ }^{1}$ ल्यास्तत्राह—तशेति। एत्पदं ${ }^{2}$ तु पक्षीमूतव्यक्तिपरामित्याशयेन तत्थाने ख्वपदमाह-खेति ${ }^{3}$ । भेदस्येति। तथाच कार्यस्य कारणानाश्रितल्वेऽपि कारणस्य कार्यमिन्नल्वेन कार्यवतियोगिकसम्बन्धनुयोगित्वान्न कार्यात्यन्ताभाववत्व्वम्। अन्यथा न्यायादिमते बदरं कुण्डीयमित्यादिधियो अ्रमत्वापतेः, कुण्डाभाववति कुण्डप्रकारकत्वात्। न च तादाल्म्यसम्बन्बो मेदस्पैव विरोषी नात्यन्ताभाबस्पेति वाच्यं; मन्मते ययोल्तादास्मं तयोरवरयं भेद इत्युक्तत्वात्, तादात्म्यस्य परकीयसमवायस्थानीयत्वाच्च तस्यात्यम्ताभाव एव विरोषित्वाव् ${ }^{4}$ अतएव धनानाधिकरणे धनस्वामिन्ययमघन इल्यादिघीर्न प्रमा, मण्यादिवृतितृणादौौ च न दाहादिकं, मण्याध्यावसत्त्वात्।
${ }^{1}$ मिल्यर्थ ऐकात्य. ${ }^{2}$ तत्पदं. ${ }^{3}$ मूले नोपलम्यते. ${ }^{4}$ भावविरोधित्वात्. 5 धनस्वामीतिवद्यमधन.

दिम्यः' इत्यधिकणविरोधः; उपादानन्यतिरेकेणोपदेयंयं नास्तीत्यस्पैय तदर्थव्वात्। बाधात्तन्मात्राभितवेनेन पक्षविगपणाश नार्थान्तरम्। न च प्रकृतेऽपि बाधः, तस्योस्दरिख्यमाणत्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वाश्रामाणिकत्वविकल्पावकाइ:, तस्य प्रागेव निरस्तत्वाव्। न च कस्यचित्पटस्य संयोगवृत्युतत्तन्तुषु सत्वेन तत्र व्यभिचार इति वाच्यम् ; तर्समवेतस्य
 त्यन्ताभावप्रतियोगित्वाङ्भीकारेण पक्षसमत्वात्। न चाव्याप्यन च मण्यादिसंयोग एव प्रतिबन्षकामिति वाच्यम्, तत्वेन प्रतिबन्पकत्वे गौरवात्। बदेरे कुण्डं नेल्यादिधीस्तु बृतिनियामकसंयोगेनाभावविषयिका। अतएव तस्सत्वेऽपि संयोगेन कुण्डीयं बदरमिल्यादिधीः। अतएव पृथिवीव्वादिकं प्रति संयोगेन गगनादेर्यापकत्वोक्तिप्रस्तावे गगनाभाववतोऽपि पृथिव्यादेः संयोगेन तस्सम्बन्षित्वादिति दीधितिवाक्ये उत्पत्तिकालवच्छेदेन संयोगेन समबायेन बा गगनाभावः पृथिन्यादाविति व्याचक्षते । अथवा भेदसत्वेन तादाल्यसम्बन्षसंभवोकिद्वारा स्वोपादाननिष्टात्तन्तावाव्रतियोगिस्वतादात्यैक्त्वमेव मिध्यात्वममिति ज्ञावितम्। कथंचिदिति । प्रातीतिकस्येत्यर्थः। तादास्यसम्बन्धत्वन्यधानुपपत्त्या भेदकल्पनात् भेदोपजीव्यत्वेनामेदरुपतादात्म्यस्य व्यावहारिकत्वादिति भावः। बाधादिति। कारणानाश्रितस्यापि पटादेर्भूतलाध्याश्रितव्वादनाश्रितत्ववाध इति भावः। तन्मात्राभितत्वेनेति। स्वोपादानान्यस्मिन् तादात्यसम्बन्धेनानाश्रितल्वेनेल्यर्थः। तेनान्यतादात्यवत्वेनापी नार्थान्तरम्। प्रामाणिकत्वेति। तात्विकल्वेत्यर्थः। प्रगेवेवेति। तात्विको ब्यावहारिको बेत्यादेरक्तत्वादिलर्थः। ननु मूले वृष्षे न तत्संयोग इतिवतन्तुषु दशायां न पट इति परततित तादाल्येन पटस्य अव्याप्यवृत्तिलं, तत्राह—संयोगेति।

धृत्तित्वेन अंर्थान्तरम्; पटतद्भावयोरेकािकरणणृत्तौ विरोधस्य जगति दत्तजलाझलिव्वप्रसक्षात, संयोगतद्भावयोरप्येकाधिकरणवृत्तित्वानम्युपगमाव। अम्युपगमे वा एतत्तन्तुत्वावच्छिकवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्य विरोषणं देयम् । एवमेतत्कालीनत्वमपि। तेन कालान्तरीयाभावमादाय नार्थान्तरम् । न चेह तन्तुष्डु पट इति प्रत्यक्ष्वाधः, तस्य अ्रमसाधरणतया चन्द्रप्रदेशिकत्वप्रत्यक्षवद्रामाण्यराक्कास्कन्दितत्वेनाबाधकत्वात्। बाधोद्धारे च विस्तेरणैतचक्ष्यामः। न चान्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तुसमवेतत्वं विना न युक्तमिति विरुद्दो हेतुरिति वाच्यम् ; एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावश्रतियोगित्वेपि एतत्तन्तुसमवेतस्य सत्त्वेनांशित्वस्य साध्येनाविरोधात् । एतष्धिष्टात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति ; परमते केवलान्वयिधर्ममात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्ते:। किन्वेतथिष्ठ्र्वागभावप्रतियोगित्वादिकम्। तथैपब्मिघ्ठत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेडपि न विरुद्उत्कबुद्धघोः ${ }^{1}$ मूले वृक्षवृतिसंयोगाभावः मूलाघवच्छिन्नवृक्षे संयोगाभावो वा, दशायां तन्तुवृत्विपटाभावः, दशावच्छिन्नतन्तुपु पटाभावो वा विषय इति भावः । एतत्तन्तुत्वावच्छिक्षथृत्तित्वं एतल्पटानवच्छेदकानवच्छिक्षत्वम्। तेन मिथ्यात्वघटकाभाकस्सावच्छिक्षत्वस्वीकारेपि न क्षतिः । तत्पटानवच्छेदकेल्यत्र देशकालसाघारणमवच्छेदकत्वं निवेर्यमिल्याशयेनाहं-एवमेतदिति । प्रयोजकं समव्यापकं, न बु व्याप्यमात्रं व्यापकमत्रं वा; आद्योकर्वर्यंत्वात्, द्विताये केवलान्वयिनि वक्ष्यमाणापत्त्यसम्भवात् । केवलान्वयीति। उपलक्षणमेतत्। केवलु्यापकमपि न भवति, तत्त्वपाइकतर्काभावादिति भावः। ननु प्रागभावप्रतियोगित्वमपि न प्रयो-

मित्युपपादितमधस्तात्। एतत्समवेतत्वं च एतनुपादानकत्वम्। न तु नित्यसम्बन्धशालित्वं, तस्यानम्युपगमात्। नन्वयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्वारब्धत्वात् व्यतिरेकेण पटान्तरवदिति प्रतिरोधः। न चाप्रसिदविशोषणत्वम्, एतब्निष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किश्चिबिष्टात्यन्ताभावग्रति योगि, संसर्गाभावग्रतियोगित्वव्याप्यत्वात् प्रागभावप्रतियोगित्ववदिति सामान्यतस्तत्र्रसि⿱े女े:। न चाकाशात्यन्ताभावस्य घटादौ संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वग्रहात्तस्य च केवलाजकं, तत्तन्तुसमवेतद्रव्यत्वादौ तदभावात्तत्राह-एतन्समवेतत्वामिति। एतन्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियेगि, न एतदारबधत्वादिय्युक्तसाध्याभाववान् तत्पटोपादानोपाद्धानकत्वादित्यर्थः । तेन तत्पटाव्याप्यृृत्तित्वान्न बाषः, न वा तस्संयोगजन्यत्वस्य तदारबधत्वस्यास्मन्मते असिद्धि: । यद्यपिसंसर्गाभावप्रतियोगित्वस्यैव तादाल्येन हेतुत्वसम्भवाद्याप्यत्वांशैवैयर्थ्यम्, व्याप्यत्वं च यदि यत्किष्चिदूपेण, तदा घटादिवृत्तित्वविशिष्टत्वेनाकाशाभावस्यापि तदस्ति ; यदिच अत्यन्ताभावप्रतियोगितात्वेन, तदा साघनवैकल्यम्। यदि संसर्गाभावप्रतियोगितात्वेन, तदा व्याप्यतायाः साधनतावच्छेद्करूपायाः ${ }^{1}$ स्वव्यापकोक्तसाध्यसमानाधि ${ }^{2}$ करणवृति यत् संस• र्गभावपतियोगितात्वं तत्त्वेन हेतुता वाच्या। तथाच संसर्गाभावप्रतियोगितात्वस्य निवेशावइयकत्वे ${ }^{3}$ तेंनैव रूपेण हेतुतासम्भवादितरवैयर्थ्यम्, किस्चिन्निष्ठात्यन्ताभावपतियोगितात्वस्य ${ }^{4}$ ताहृशप्रतियोगितात्वरूपेणोक्कव्यातौ प्रविष्ट्वेनेन तेनैव रूपेण हेतुतासम्भवादितरवैयर्थ्य च । न चास्तु तौथैवेति वाच्यम्; अप्रयोजकत्वात् । द्वितीयपक्षे साधनवैकल्यात्। अन्यथा भेदपतियोगितात्वेनापि उक्क-
${ }^{1}$ साधारण रूपायाः. ${ }^{2}$ व्यापकोक्रसमानाधि. 3 कत्वेन. 4 प्रतियोगितात्वरूपसाध्यतावच्छेदकस्य.

न्वयित्वेन किश्विब्मिष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात् तत्र ठ्य़भिचार इति वाच्यम् ; संसर्गाभावग्रतियोगित्वानधिकरणे केवलान्वयिनि धर्मे सत्वेनाकाशात्यन्ताभावस्य संसर्गाभावप्रतियोगित्वाव्याप्यत्वेन व्यमिचाराभावादिति चेक्न ; यत्रैत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वारव्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तावेतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य उपाधित्वेन प्रतिरोधस्य हीनबलत्वात, एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावव्यापकस्यैतत्तनुतिष्ठ्रागभावाप्रतियोगित्वस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानैतत्तन्तुनिष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्, दृइयत्वाद्यनुपपत्तिप्रतिकूलतर्कपराहतेर्वक्ष्यमाणत्वाच। अतएव एतसध्यानुमित्यापत्तेरित्युक्तानुमांन न सम्भवदुक्तिकम्-तथापि तद्भु्युपेत्य दूषणान्तरमाह—यत्रैतदिति । प्रागभावानत्रीकारे तु एतदुपादानकवाभाव एवोपाधिः। ताहृशपतियोगित्वेन सन्दिह्यमाने पक्षे यदि उप|घेर्निश्वयस्स्यात्तदा तद्वराप्रतियोगित्वरूपसाघन ${ }^{1}{ }^{\circ}$ ब्यापकत्वमुपाधौ नि- $^{\prime}$ श्रीयेत, स तु नास्तीत्याइायेन पक्षाटृत्तेरित्युक्तम् । पक्षावृत्तित्वेन निश्चितस्येत्यर्थः। सन्दिह्यमानेत्यादि। सन्दिद्यमानं यदुक्तपतियोगित्वं तद्यापकत्वानिश्रयादित्यर्यः। तथाचैतदारब्तत्वाभावत्यापकोपाधिव्याभिचारित्वेन हेतुना एतदारबघत्वाभावव्यभिचारित्वमेतन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वे अनुमेय²मिल्येतद्नारबघत्वे ताद्वाप्रतियोगित्वव्यापकतानिश्रयो न सम्भवतीति भावः। न चोक्तोपाध्यभाववति ताहृहाप्रतियोगित्वस्य सन्देहा ${ }^{3}$ तत्रोक्तठ्यमिचारित्वस्य हेतोरनिश्रय इति वाच्यम् ; एतत्तन्तुपदस्य तत्पटोपादनपरतया तत्पटोपादानीमूतं यत्तन्त्ववच्छिन्नचैतन्यं तन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूपोपाध्यभाववति ताहईांचैतन्यारेपितसर्पादौ स्वोपादानवृत्चिस्वावच्छेदकावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वनिश्रयस्य परेणापि वा-

$$
1 \text { साधना. } 2 \text { न प्रमेय. } 3 \text { योगित्वसंदेहा. }
$$

त्तन्त्वनारन्धत्वमपि नोपाधिः, उपाधिन्यतिरेकेण साध्यव्यंतिरेके साध्यमाने सोपाधिकत्वस्य उक्तत्वात्, अव्याप्यधृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचाराश । अतएव यत्रत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तश्र एतत्तन्त्वनारव्धत्वमिति न साध्यन्यापकताग्रहोऽपि, तत्रैव व्यभिचारादिति सर्वमनवद्यम् ॥ एवंच ' विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात् स्वभादिवत्' इति विद्यासागरोक्तमपि साधु। ज्ञानव्यतिरेकेणासत्व्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमत्वं साध्यम्। ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्यमानत्वं चिदाभासे सत्येवोपलम्यमानत्वं च्यतयोक्तव्यमिचारित्वस्य हेतोर्निभ्धयानपायात्, ताहछश़्यव्यमिचरिव्वसंशयाहितव्यभिचारसंशयेनाव्युक्तव्यापकतानिश्वयपतिबन्धसम्भवान्च उत्कत्वादिति । उपाध्यभावे साध्याभावस्य व्यतिरेकण्यम्तेरेव वाच्यतया तत्र एतन्निष्ठपागभावा' पतियोगित्वस्योपाषेकुक्तल्वादित्यर्थः। तत्र व्यभिचारादिति। दशावच्छिन्नसंयोगे तत्पटानवच्छेदकानवच्छिन्नात्यन्ताभावशतियोगित्वरूपस्य साध्याभावस्य तत्तन्वारब्धत्तस्य हेतोश्र सत्वादिल्यर्थः। न च स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नस्वसमानाधिकरणाभाव ${ }^{2}$ पतियोगित्वस्यैव साध्यतया उत्कभतियोगित्वस्य उक्तसंयोगे स्थापनकाले व्युत्पत्तिस्वाभान्यात् तस्यैव स्वपदेन धार्यत्वात् नोक्तव्यमिचर इति वाच्यम्, प्रकृतानुमानवादिनव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्, व्युत्पत्तेर्व्यात्तिज्ञानादावनुपयोगाच, तत्पटावच्छेदकत्वेनैव साध्ये निवेशात् साध्योपाध्यो: तत्तन्तुपदेन तत्पयोपादानस्यैव धार्यतया त्तन्त्ववाच्छिन्नचैतन्याधिष्टानकसर्पादौ स्वानवच्छेदकानवाच्छिन्न्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावपातियोगित्वस्याप्यन्यपायाच, तदारण्षत्वस्य तदुपादानकत्वरूपस्य सत्त्वाच्च ; तस्संयोगजन्यव्वरूपस्यं पक्षेडपि मन्मते अभावात्। चिदाभासे इति।

# हेतुरिति न किश्रिदनुपपव्नम्। एवमन्येषामपि प्रयोगा यथायोगसुपपादनीया इति श्रिकम् ॥ 

हल्यंरित्वविचार:.
चिदाभासं विनापि यत्रकाशते तदन्यव्वं, च्वपकाशान्यत्वमिति यावत्। स्वावच्छिन्नचिद्विषयत्वं वा, जडानामेव चिदवच्छेदक्ताान्न त्रह्सणि तत्। अथवा ज्ञानं सदात्मकं चिद्रूप् । तथाच सत्तादात्माविषयकनुद्धयविषयत्वांदिरुपः प्र्येक तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वादित्युक्तहेड़ः पर्यवसन्नः। सदविषयकबुद्धघविषयत्वस्य श्रसण्यपि सत्व्वात्तादाल्यनिवेशः। चिदाभासशब्दस्यापि सत्तादात्म्यार्थकत्वाचिदाभासेत्यादेरुक्तार्थकत्वम्। एवंच बौद्धोक्तस्सहोपलम्भहेतु'र्रयमिति आान्तिरेव। अर्थो ज्ञानभिन्नो ज्ञानाविषयकवुद्धचविषयत्वादिल्यस्यैव बौद्धानुमानस्य बौद्धाधिकारे उक्तव्वात्। एतेन-ज्ञानात् ${ }^{2}$ भेदेनानुपल म्यमानत्वं ज्ञानामावपयुक्तेपपलविघविरहकत्वं वा हेतु: ; नाध:, पटस्य ज्ञां न तु पट ${ }^{3}$ इल्यसिद्धे:, नान्त्य:, ज्ञान ${ }^{4}$ मेवोपलब्धिरिति स्वस्य स्वा्रयुफ्तत्वादित्यादि परास्तमिल्याह-न किस्रिदिति॥

ननु विमतं मिध्या, र्धाकाल एवान्यथा प्रमितत्वाच्चित्रनिम्नोन्नतादिवत्, भरूपपबस्संसंरम्वात् सवितृंच्छिद्रादिवत्; न चासिद्दि:, घकिएल एव 'इदं सर्व यदयमात्मा' इति श्रुत्या सर्वानात्मन आत्मत्वेन प्रमितेः, घटादि स्फुरतीति भारूपसंलम्मत्वाचेति कौनुदी। तत्रान्यथेत्यात्मत्वेनेत्यर्थे सदात्मत्वेन प्रमितत्वस्यामिध्यात्वक्याव्यत्वाद्विरुद्धो हेतुः, प्रतिपन्नोपाधौ निषेप्रतिगोगित्वेनेत्यर्थे ठु असिद्दिर्ण्यर्थविरोषणता च; द्वितीयस्तु सवितात्मनोः ठपभिचारी, ‘सविता प्रकाशते आत्मा स्फुरति' इति तयोः भारूपसंल्मत्वादिल्यत आहएवमन्येषामिति। अन्यथा पमितत्वादित्यस्य प्रपश्चविक्क्षणाखण्डानन्द-
${ }^{1}$ सदोपालम्भो हेतु. ${ }^{2}$ ज्ञानत्वाकू. ${ }^{3}$ तन्तुपट. ${ }^{4}$ ज्ञानत्व. ${ }^{5}$ सचित्र. 6 लेनेल्यर्थः तदाल्यतेन.

रूपेण प्रमिततादास्यादित्यर्थः। तच कल्पितं अछ्सण्यपीति घीकाल इव्युक्तम्। स्वषीकाल इत्यर्थः। त्रह्नधीकाले च त्रद्सणि न तत्, अ्रसियः स्वेतरकल्पितध्वंसरूपत्वात्। तथाच ब्रह्सावृत्तिस्तद्धीविषयत्वावच्छिन्नपतियोगिताको वा भेदो हेतुरिति उक्तजडत्वहेतौ पर्यवसानम्। भारूपं स्वप्रकाराूपं, तत्र सम्यक् लमतत्वात् यावत्त्वरूपं सम्बद्धत्वात्। ब्रह्सणः स्वस्मिन्नसम्बन्घन्तु न तथा, कन्पितत्वात्, ब्रस्नान्यनिष्ठभासम्बन्धादिति यावदिति द्वितीयस्याप्यस्व्रकाशत्वाद्युक्तहेतावेव पर्यव सानम् । सवितरि व्यभिचारोक्तिस्तु शोभते, तस्यापि पक्षत्वात्, दृष्टन्तन्तु श्रुक्तिरूप्यादि वा चित्रनिम्नोनतादि वेति ${ }^{1}$ न विशेषः। यतु-"कथंचिद्धदो यदि कार्यकारणत्वानुपपतचोच्यते ${ }^{2}$ तर्हि कथंचित्त्वं मिथ्यात्वमेव। तचाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्यभेद्सस्स्य ${ }^{3}$ इत्यागतमेव। एतनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेप्येतत्समवेतत्वादंशित्वस्य साध्येना ${ }^{4}$ विरोधादित्यादि कथमप्ययुक्तम् ; तदत्यन्ताभाववति तत्रागभावस्य विरोषात्। अन्यथा वाय्वादौौ रूपादिप्रागभावापत्तेः। केवलन्वयीत्याद्यपि न युक्तम्, एतत्समवेतत्वस्य यावस्त्वरूपमेतत्सम्बन्धवत्त्वरूपत्वात्, ${ }^{5}$ तस्य च केवलन्वयिन्यपि सत्त्वात्। तत्तन्तुसंयोगिनि पटे व्यभिचारोऽपि युक्तः, तत्संयोगिनि तदत्यन्ताभावविरोधात्। समवायेनाभावस्य साध्ये निवेशो तु समवायानम्युपगमपश्षे सिद्यसाधनमर्थान्तरं वा। इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षं चन्द्रपादेशिकत्वप्रत्यक्षवद्रमाणमित्यपि न; दृ्टान्तस्यापरीक्षितत्वत्, दार्ष्टान्तिकस्य फलपर्यन्तार्थक्रियापरीाक्षितत्वात्तयोंनैष- . म्यात्। तत्र एतत्तन्हुनिष्ठेत्याधपि न युक्तम्, तथा सति हि पृथिवी इतरेम्यो भिद्यते पृथिवीत्वादित्यादावपि यत् प्टथिवीतरतत्र पृथिवतित्वाभाव इत्यादिव्याप्तिप्रहे पाकजरूपाभावादिरुपाधिः स्यात्, पृथिवीत्वाभावन्याप्-
${ }^{1}$ गुक्षिर्पप्यादिवचिच्निन्नोम्णतादिवद्देति. 2 कारण्वान्यथानुपपत्योच्यते. ${ }^{3}$ मिल्यतः मेदस्सल. 4 अंशस्य साष्येन. ${ }^{5}$ बत् र्पपत्वात्.

कस्य पाकजरूपाभावस्य पक्षावृतेः पक्षवृचितया सन्दिe्यमानपृथिवीतरावयापकत्वात्। तथाच व्यतिरेकिमात्रोच्छेदः। हृइयत्वानुपपत्तिस्तु न प्रतिकूलतर्कः, ${ }^{1}$ संयोगादिना हइयत्वस्य वाच्यत्वात् ${ }^{2}$ । एतत्तन्त्वनारबधत्वरूपोपाघिरेव प्रयोजकः, साध्यं प्रति समनियतत्वात् । नांशित्वं हेतु:, साध्यवति अ्रसण्यसत्त्वात्" इति, तत्तुच्छम् ; स्वसमानाधिकरणस्वान्यूनसत्ताकात्यन्ताभावभतियोगित्वमेव मिथ्यात्वमित्युकत्वत्वादभेदसत्यत्वास म्भवात्। तत्सम्भवे वा मिथ्याभेदस्य त्वन्मते अलीकर्वात् कथं ते कार्यकारणत्वम् ? अत्यन्ताभावपागभावयो: विरेाघस्तु दीधित्यादावेव निरस्तः। घटे रक्तरूं ${ }^{3}$ नास्तीति प्रत्ययात् तस्य प्रगभावादिविघयकत्वे रक्रतापागभावदिमति ${ }^{4}$ रक्केऽपि तत्रसक्ञत् । वायवादै। रूपादिपागभावापत्तिस्तु शोभतेतराम्, अत्यन्ताभावस्य प्रागभावाव्याप्यत्वात् । केवलेत्यादिकमयुक्तम् ; प्रयोजकत्वग्राहकतर्काभावस्योकत्वात् । तत्तन्तुसंयोगिनी त्यादि न युक्तम् ; तस्सम्बन्धिनि तदत्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वानुमितिकाले सन्द्वग्घत्वेन विरोधानिश्चयत्वात्, समवायवान्दिनं प्रति समवायेन, तादात्यवादिनं प्रति तादास्येनाभावस्य निवेशेन सिद्धसाघनाद्यभावत्, नैकदा त्रयाणां विवाद इति न्यायात्, तन्ठुः पटाय इति धीविषयसम्बन्धेन सम्बन्धसामन्येन वाऽभावस्य निवेशासम्भवाच्च । द्ह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षस्य त्वाहौौरिव चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्यापि बहुभिः परीक्षितत्वात्, विचारशर्र ${ }^{6}$ परीक्षितत्वस्य दार्ष्टन्तिकेप्यभावात्, अर्थक्रियामात्रस्य स्वामपदार्थेऽपि सत्त्वात्। यंत्रैतदित्यादिकं तु युक्तमेव ; साध्यासमानाषिकरणाषिकरणं यत्साधनवत्तन्निष्ठाभावपतियेगितावच्छेदकः साध्ये ${ }^{3}$ -

[^36]समानाधिकरणवृत्तिर्यो घर्म: तद्वत्त्वरूपलक्षणस्योक्तोपाधौ ${ }^{1}$ सत्त्वार् ज्ञानसम्भवाच्च। उक्कप्रतियोगित्वरूपसाघनवत्त्वेन उभयवादिनिम्चित ततन्त्ववच्छिन्नचैतन्योपादानकसर्पादौ द्शावच्छिने तत्तन्तुसंयोगादौ च तत्पटोपादानोपादानकत्वाभावरूपसाध्यस्यासमानाधिकरणधर्मनिश्ययात्। एवं स्वानधिकरणसाघनाधिकरणवृतिषर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वादिलक्षणस्यापि सत्त्वात् पृथिवीतररूपसाषनतादास्म्येन निश्चिते जलादौ पृथिवीत्वाभावरूपसाध्यस्यासमानाधिकरणघर्मो नास्ति न ज्ञायते ${ }^{2}$ चेति प्रथमलक्षणस्य स्वानधिकरणत्वादि नसित न ज्ञायते ${ }^{2}$ चेति द्वितीयादिलक्षणस्यासत्त्वात्, ${ }^{3}$ ज्ञातुमशक्य ${ }^{4}$ त्वाच्च। पृथिवी इतरमिन्ना पृथिवीत्वादित्यादौ पाकजरूपाभावादेरुपाधित्वासम्भवात्, व्यतिरेकिमात्रोच्छेदापसकेः पाकजरूपाभावरूपोपाधिव्यभिचारित्वस्य पृथिवीतररूपसाघने निश्चयाभावे तेन हेतुना पृथिवीत्वाभावरूपसाध्यव्यमिचारित्वानुमाना सम्भवाच, ${ }^{5}$ सत्पतिपक्षोन्नायकतया दूषकत्वस्य तत्रासम्भवाच्च । उक्तं हि दीधिितौ-"यत्र यद्दोषोन्नायकत्वमुपाधे:, तत्र तदुन्नयनौपयिक ${ }^{6}$; रूपवैकल्यमाभासत्वे बीजम्" इति। न च तथापि सन्दिग्धोपाधित्वं पाकजरूपाभावादे: स्यादिति वाच्यम् ; साध्यहेत्वोर्व्याप्तिग्राहकतर्कसत्त्वात्। तदुक्तं हि मणौ-" यत्र साध्यहेत्वोः साध्योपाध्योर्वा व्याप्तिग्राहकसाम्यान्नैकत्र व्याप्तिनिश्रयः, तत्र सन्दिग्घोपाधित्वम्। यत्र तु एकत्र तर्कावतारः, तत्र हेतुत्वमुपाधिव्वं वा निश्यितम्। अत एव पक्षेतरत्वं न सन्दिग्बो"पाधि:" इति। न चैवमुक्कसर्पादावुक्तसाधननिश्रयस्योभयवादिनोः सम्भवेन साधनाव्यापकत्वसौलम्यात् पक्षावृतेः पक्षवृत्तितया सन्दि्यमानेत्युक्तिणर्यर्थेति वाच्यम् ; यदि उक्तसार्वादौ नोक्रसाघननिश्वयः, तथापि यंत्रतत्तन्त्वत्यादिव्याप्तिम्राहकतर्काभावा-

[^37]त् सन्द्रिं्घोपाषित्वमेतन्निष्ठपागभावाप्रातियोगत्विस्याव्याहतामत्याभिपायेण तथोक्तत्वाप्। संयोगादिना हइयत्वोपपादनं तु प्रतिवक्ष्यते। उपाधिरेवेल्यादिकं तु न युक्तं ; 'उपाधित्वे साध्यसमनियतत्वादिकं नोपयुज्यते' इत्यादेर्मण्यादावुक्तत्वात्। सहध्यासमनियतत्वान्न हेतुत्वमित्युक्तौ न लज्ञेति चित्रम्। तथा सति धूमादेर्वद्ययाघहेतुत्वापच्तेः। तर्कसत्त्वातत्र हेतुत्वमिति चेत्तर्हि साम ${ }^{1}$ नैयत्यं कोप ${ }^{2}$ युक्तम् ? वक्ष्यन्ते च प्रकृतहेतौ तर्काः। साध्यवति व्रद्सणीत्ययुक्तम् ; व्रद्सणोडत्यन्ताभावप्रतियोगित्वे मानाभावस्य उक्तत्वात्। एतत्पटात्यन्ताभावः एतत्तन्तुनिष्ठः एतत्पटानाद्यभावत्वादित्यादिनब्यानुमानेषु परेणात्राशक्तितमप्रे समाषेयम् । समाहितप्रायं चेत्याचार्यैरुपेक्षितम्। यदपि मिथ्यात्वषटकोऽभावो यदि न तात्विकः, तदा सिद्धसाघनादि । अथ यदि तात्विकः, मण्डनमते भावाद्वैतस्वीकारान्नाद्वैतहानिरिति तदाऽभावे अभावत्वादेर्व्रह्नणि तदाश्रयत्वादेरावइयकत्वात् भावाद्दैतमपि व्यहतम्। अभावस्य प्रवृच्चिऩिमित्चस्य सम्भवात् ब्रक्स वाच्यं स्यात्। अखण्डार्थेन केदान्तेन त्रझाभावयोर्द्वयो: संसर्गासिद्विश्र, अन्यस्य तत्त्वावेदकत्वं नास्त्येवेत्यभावः कथं तात्त्विकः? अद्विती।यपदस्य भावरूपद्वितायाभावपरतया सकोचे बीजाभावश्ष। भावस्यापि स्वाभावाभावत्वेन सत्यता स्यात् । भेदोप्यभावत्वात् सत्यः स्यात्। घंवादेसेस्सत्यत्वे मिथ्याप्रतियोगिना विरोषो न स्यात्। भावत्वस्येवाभावत्वस्यापि दुर्वचत्वाप् कथमभावस्सत्यः ? हइयत्वादिहेतोरभावे व्यभिचारश्येत्युक्तम् । तत्रोक्काभावस्यातात्विकत्वमाचार्यैविवेचितत्वाददोषम् । तात्त्विकत्वमपि न्रक्षान्यस्याभवस्स मण्डनमते युक्तमेव ; अभावत्वाभावाश्रय ${ }^{3}$ व्वद्रेरतिरिक्कस्यानह्नीकारादभावस्वरूपेण प्रतियोगिविशेषितेन ब्रझ्साद्वैतमिति व्यवहारोपपच्तेः, अभावत्वस्यातिरिकल्वेप्यनुयोगिताविशोषरूपस्य तस्य प्रतियोगिताया इवातात्विकत्व समम्भवात्। अश्रयत्वमतिरिकमि-

[^38]व्याक्तिस्तु शोभते, सम्बन्घस्यैवाश्रयत्वर्तपप्वात्। अभावस्य ल्वधिकरणमेव स्वन्ध इति द्वितीयाभावाश्रयत्वस्य अ्करूपत्वात् अभावस्पेल्यादि न युक्तम् ; अ्कणो विशिष्टरूपण वाच्यव्वेपि तात्र्यानुनोषोन रक्षणाकीकारात्। अखण्डर्थेन महावाक्येताभाबासिद्धावपि ' एकमेवाद्वितायम्' इल्याघवान्तरवाक्येन तस्सिद्धे:, तस्य च मण्डनमाते अखण्डार्थल्वाभावेड्यक्षतेः। न चावान्तरवाक्ये श्रुद्धाबोषे महावाक्ये तद्रानं न स्यादिति वाच्यम् ; ज्ञानानन्दादिपदेम्योडsान्तरवाक्यजन्योोषे शुद्दरूपेणापि भानात्समानाधिक्टतनानानामषटितस्यैकमेवाद्दितीयमित्यादेरेव सिद्धान्तेऽखण्डार्थल्वात्, नेह नानेल्यादिश्रुते: मिष्यात्वनुमितेत्षाभावसिद्धिसम्भवाच्च। न चैवं मिध्यात्वघटकवस्तुमान्रस्यैव तात्विकतापतिः , स्वाधिकसत्ताकस्बसमानाषिकरणाभावपतियोगित्वस्य मण्डनमते जनुमेयत्रगा तदन्यथानुपपत्या 5 भावस्य तास्विकतासिद्धावपि तदन्यत्वस्स्य ${ }^{1}$ तस्सिद्धघसम्भवात्। अतएवाद्रितीयपदे उक्तसक्षोचोडपि प्रामाणिकः। अन्यथा तत्राभावस्थापि निषेषे स्वपतियोग्याधिकसत्तानुपपतेः। किंच तत्व्वज्ञानोदेरेन पवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या तत्वज्ञानकार्योडविधाध्बंसो वाच्यः । तस्य च मिध्याल्वे तत्व्व्जानबाध्यत्वान्न तत्कार्यत्वमिति स तात्तिकः। एवंच मिथ्यात्वघटकात्यन्ताभावोड ${ }^{2}$ विद्धाध्ंसश्र तात्तिक, तदन्यत् छहयजातं मण्डनमतेऽपि मिथ्यैव, तात्विक्त्वमाहकयुक्तथावादिति भावस्येल्यादि निरस्तं बोष्यम्। अभावत्वं दुर्वचत्वान्मिधैय सप्रतियोगिकत्ववत् उत्काभावव्यावृत्तहरयत्वं धंस्रतियोगित्वादिकमेव वा भण्डनमते मिष्यात्वे हेतुरिति न व्यभिचारः॥ सारस्वतैस्तर्करलैैै्वान्द्रिकाचन्द्रमूषणः।
दुन्तध्वान्तसंण्डानामखण्डि सांशतातुतिः ॥ इल्यांघिल्लविचा:-

## सोपाधिकत्वभ ङ्ञ:

नजु हइयत्वादिह्हेतवः सोपाधिकाः ; तथाहि-स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वं वा विफ्क्षद्वायावृत्तं समव्याप्तम्। अतएव व्यतिरेकव्याप्तिमहुपाधिरिति चेन्न; ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहा-

स्वबाधकेत्यादि । यत्रोपाधिः स्थाप्यः स स्वपदार्थः । सवबाधकेन ज्ञानेनाबाध्यो यो दोषस्तत्पयुक्तं भानं यस्य तत्त्वम्, शुक्तिरूप्यादौ साध्यव्यापकं वियदादे: स्वबाधकाबाध्य ${ }^{1}$ दोषाप्रासिद्धया शुक्तिरूप्यादावेव प्रसिद्धं तद्वियदादिनिष्ठसाधनाव्यापकं बोध्यम् । स्वबाधकाबाध्यबाधकमित्यादि । स्वपदार्थः पूर्ववत्। शुक्किज्ञानादिरूपं यत् स्वबाधकं तद्वाध्यं नात्र रूप्यमित्यादिर्धरूपंपं, बाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयः शुक्तिरूप्यादिः, स्वबाघकाबाध्यर्धविषयत्वं वियदादावप्यास्ति, तहाधकव्रह्सज्ञानाबाध्याचिद्विषयत्वस्य तत्र सत्त्वात्। अतो बाघकं प्रति निषेध्यत्वेनेति। तथाच स्वबाधकाबाध्यस्वप्रतियोगेकाभावबुद्धिकत्वं समुदायार्थः। आकाशाद्यभावनुद्धेस्तह्बाधकव्रह्मज्ञानबाध्यत्वादाकाशादावुक्तोपाधेरभावेन न साधनव्यापकतेति भावः । विपक्षेत्याद् । विपक्षात् ब्रह्मणस्तुच्छाच्च व्यावृतं, अतः समव्याप्मित्यर्थः। उदयनादिमते समव्याप्तस्यैवोपाधित्वादिद्यमुक्तम्। अतएव समव्याप्तत्वादेव। ययोः व्यतिरेकव्याप्तिः, तयोरेव व्याप्य ${ }^{3} व ृ त ि व ् य त ि र े र े ~-~$ किणो: अन्वयन्याप्तिः। अतएव पक्षेतरत्वं नोपाधिः, व्यर्थविशेषणत्वेन व्यतिरेके ${ }^{4}$ व्याप्तयभावादिति मते साध्यान्वयठ्यतिरेकोन्नायकस्वान्वयठ्यतिरेकत्वरूपं साध्यप्रयोजकत्वमुपाघित्वम् । अतएव पक्षेतरत्वेनोपाधिरिति मते च उपाधित्वसंपाद्नायाह-व्यतिरेकव्यामिमदिति।
${ }^{1}$ काबाध्या. ${ }^{2}$ द्वाधकत्वमज्ञान, ${ }^{3}$ व्यासि. ${ }^{4}$ व्यतिरेक. ${ }^{5}$ स्वाभावक.
 बव, साधनबत्पष्षमात्रव्यार्त्तकविशेपणनत्वेन पष्षेतरुल्यत्वाण्।

साच्याभावम्याप्यस्वामाक्वत्व'मिलर्यः । साधनवदिति। पर्वतावयव-
 दोपपयुत्तविकर्पविषयादलीकाब विपष्षाइ्यावर्तकक्वात् साषनवदिति

 अनवच्छेदकं यद्विश्रेपणं तत्र त्तापनवद्विपष्ताव्यार्रकमन्यल्लादिक्षोंक्राबच्छेककताया अनवच्छेकं पर्षता'बववृत्यादिक पर्वतो पूमबान्

 तथापि साषनवद्विप्ष्षम्यार्तको यावान् पलिद्धः तनदन्यब्ब स्वाषके.
 साषनवत्व्विपक्षल्बोमयाभाईः तबत्र साषनबद्विपथ्त व्यावर्तकामिति बा
 मिति तदुपाबिः। पष्षेतरबुल्यत्वादिति। यदां साए्यव्यापकताश्राहकतर्कामाबनियताव सापनववस्षमात्वव्यार्तरकवेषषषणात् पर्वतेरर्वा-
 न्यत्वादिक स्वबाबकेलादिक च तक्रामावे पक्षे व्यभिचारसंगयेन साध्यव्वापक्लानिभ्ष्यादिलय्यः। उत्क हि मणौ-न च पक्षतरले स्वन्याघाकक्वेनानुपापाततिव्याति:, तत्र अनुक्षततक्कामावेन व्याप-

${ }^{1}$ स्वाभावक. 2 वा साधनादि. 3 निष्ठप्रति. 4 पर्वतीया. 5 चृत्तित्वादि. 6 द्विपक्ष. ${ }^{7}$ अदित्यादि. ${ }^{3}$ द्विपक्षवद्वया. ${ }^{9}$ यथा. ${ }^{10}$ तथा.

त्वादिकं नोपाषिः, पक्षमात्रत्यावर्तकविशेषणवत्त्वात् । उक्षं च तत्र दीवितौ-"तर्कादिना व्यापकतानिश्चये नु पक्षेतरत्वमपि बाधोन्नीतपक्षेतरत्ववन्निश्वितेपाधि:, ${ }^{1}$ पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वं तु नानुपाधितायां बीजं, परिभाषामात्र्वात्, किन्त्वनुकूलतर्कामावेन ताद्दाव्यापकत्वनिश्षय इति, तथाकथकसम्पदायानुरोधात् बाषानुनीतः ${ }^{2}$ पक्षेतरो न कथायामुपाघित्वेनोन्भान्यते" इति । ईश्वर्वादे च मणावुक्तं-" पक्षेतरत्वादौ विपक्षबाधकाभावात् न साध्याण्यापकतानिश्रय इल्यनुपाधित्वे बीजम्" इति। अतएव सन्दिग्घोपाधित्वमपि तस्य नास्ति, हरयत्वादिहेतोः साध्ये व्यापक ${ }^{3} त ा$ ा्राहकतर्कसत्त्वात्, उक्कोपाधौं साध्यव्यापकत। ग्राहकतर्कासत्त्वाच्च। उकं हि मणौ-" यत्र साध्योपाध्योः हेतुसाध्ययोः व्याप्तिग्राहकसाम्यान्नैकत्र ठयाप्तिनिश्रय:, तत्र सन्द्धिघोपाधितं, व्यभिचारसंशयाधायकत्वात्, यत्रत्वेकत्र तर्कावतारस्तत्र हेतुत्वमुपाधित्वं वा निश्चितम्" इति । विपक्षाद्यावर्तकत्वेऽपि' साषनवद्विपक्षान्न व्यावर्तयतीत्यंशेन प्रकृतोपाध्यो: पर्वतेतरत्वादिकं न सदारा, किन्तु पर्वतावयवशृत्यन्यत्वादिकमिति तदेव दृष्टान्तीकृतम्। तन्रायमभिप्राय:-पक्षेतरतुल्यत्वेन पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादे: यथोक्रमणिवाक्ये अनुपाधित्वमुक्तम्, तथा तस्सुसदृहायोंरुक्तोपाध्योरपि तदिति । यतु-‘ ठ्यतिरेके साधारणत्वात् पर्वतेतरत्वस्य अनुपाधित्वं, न तु विपक्षाव्यावर्तकविशेषणवत्त्वादिति तन्न ${ }^{6}$ दृष्टन्तीक्टतम्' इति, ततुच्छम् ; उक्तविशोषणात् तदनुपा|घित्वस्य मण्यादानुक्तत्वात्, तद्भावस्य पक्षमात्रचृचित्वेन असाषारणत्वादन्वयव्याप्तया सत्रंतिपक्षासम्भवेऽपि क्यतिरेकव्याप्तया तत्सम्भवाद्यभिचारज्ञापकतया दूषकत्वे तदभावासाधारण्यस्याप्रयोजकख्वाप्, सत्पतिपक्षोन्नायकतयैवोपाषेः दूषकत्वे सत्प्रतिपक्षे
${ }^{1}$ पक्षेतरत्वविनिश्यिते उपाधि:. ${ }^{2}$ बाधानुष्सीत. ${ }^{3}$ साध्यव्यापक. ${ }^{4}$ कते सत्यपि. ${ }^{5}$ तथाच तर्कसहायो. ${ }^{6}$ तत्र.

न च बाधोष्बीतत्वात् सोप्युपाधिः, बाघस्यात्रे निरसिष्यमाणत्वात्। अपिच यछ्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्पैष साध्यव्यापकत्वम्, इतरांशो अनुकूलतर्काप्रसराव् । तथाष ' क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं, शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र यथा शारीरविशोषणवैयर्थ्याष्न शरीरजन्यत्वं कर्तजन्यत्वव्यापकम्, एवं
उपाध्युद्धावनाभावप्रसक्ञत्। यदपि प्रथमोपाषौ विशाषणं साध्यसमव्याप्रयर्थ न तु पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थम्, अतस्तस्योपाधित्वमन्याहतमिति, तदपि न; समव्याप्पयर्थमुक्तस्यापि साष्वनत् पक्षमात्रव्यावर्तकत्वानपायात्। न हि तत्पक्षण्यावृत्तिमात्रार्थमुपात्तत्वम्, ${ }^{1}$ अपितूक्तरूपम्। किंच दोषपयुक्तभानत्वं न व्रद्माणि, तस्य स्वपकाशत्वात्। अतो विशेषणं विनापि साध्यसमव्याप्तिसत्त्वमिति न तदर्थ विशोषणं, किन्तु पक्षमात्रण्यावृत्त्यर्थमेव। भानं हि चैतन्यं चेत्तदा न तत्कुत्रापि दोषप्रयुक्तं, अनावृतचैतन्यं चेत्तदा वृत्तिद्वारा व्रद्नण्यपि दोषप्रयुक्तं तद्वाच्यम्। तथाच परोक्षप्रातीतिके तस्य साध्याव्यापकत्वमतो वृत्चिरूपं तद्वाच्यम् । न च ब्रद्मणि दोषप्रयुक्तं तदस्ति, बाध्य ${ }^{2}$ विषयकतृत्तेरेव दोषप्रयुक्तत्वात्। न च बाध्याविषयकत्वेऽपि तत्वाविषयकत्वेनालीकाकारवृत्तेः वासनादिदोषम्रयुकत्त्वादलीकवारणायोक्तििशेषणमावइयकामिति वाच्यम् ; अलीकाकारवृत्तेरस्माभिरस्वीकारात्, त्वया स्वीकारेडप्यस्मान् प्रत्युपन्यक्तोपाधावुक्तविशेषणवैयर्थ्यात्। बाधोष्भीतत्वादिति। पक्षे साध्याभावनिश्ययरूपबाधेन ${ }^{3}$ निर्णीतसाध्य ${ }^{4}-$ व्यापकताकत्वादित्यर्थः। यथा वह्रिरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ बह्दीतरत्वमुपाधि:, पक्षस्य साध्याभाववत्तया निश्चितत्वरूपाद्विपक्ष ${ }^{5}$ त्वाद्विपक्षाव्यावर्तकविशोषणशून्यत्वात् तथा स्वबाषकेत्यादिकमपीति भावः। यदिति। यद्वच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्यर्थः। साधकतवं व्याव्यत्वम्। तस्य तद्विशिष्टस्य। यथा शरीरेत्यादि । शरीरजन्यत्वं यदि कर्तृजन्यत्वव्यापकं ${ }^{1}$ गुपाप्तम्. ${ }^{2}$ बाह़. ${ }^{3}$ निश्रयानेरूपकबाधे. ${ }^{4}$ बाध्य. 5 रूपविपक्ष.
' विय्रदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्' इति साध्यव्यतिरेकसाधने स्वबाधकाभिमताबाध्यभागस्य वैयध्यात् स्वबाधकाभिमताबाध्यद्रोषप्रयुक्तभानत्वं न मिथ्यात्वव्यापकम्। दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यन्यापकम् 1 तच साधनव्यापकमपीति नोपाधिः; न स्यात्तदा कर्तृजयत्वाभावव्याप्याभावपतियोगि न स्यादिति तर्को नावतरति, लाधवेन जन्यत्वाभावैनैव ठ्याप्यतासम्मवेन शरीरविशेषणवैयर्थ्यादिष्टापात्तित्वादिति यथा मण्यादानुक्तम्, एवं स्वबाधकेत्यादि $न^{1}$ मिथ्यात्वन्यापकं, यदि तत्तद्धापकं न स्यात् तदा तदभावव्याप्यस्वाभावकं न स्यादित्यापप्तेरिष्टत्वाल्ल्डाघवाद्दोषप्रयुक्तभानत्वाभावत्वेनैवा ${ }^{2}$ मिथ्यात्वक्याप्यतासम्भवेन ₹वबाधकेत्यादिंवैयर्थ्यादित्यर्थः । यत्र तु विशिष्टाभावत्वैनैनव च्याप्यता व्यर्थविशेषणत्वाद्यभावात्तत्र विशिष्टरूपेणापि वयापकत्वं, तर्कम्रसरात्। उत्कं हि मणावर्व्ररवादे-"धूमविशोषादौ चन्दनव््यादे: कारणत्वाद्विपक्षबाधकेन ${ }^{3}$ विशिष्टस्य व्यपकत्वाद्विशिष्टाभावस्य हेत्वभावठ्याप्यत्वं, यत्र तु विपक्षे बाधकं नास्ति तत्र विशिष्टव्यापकता नास्ति" इत्यादि। न च शाररिजन्यत्वाभावे जन्यत्वसामान्याभावत्वस्यासत्त्वातत्र शरीरांशस्य तेन न वैयथ्थ्य, धूमत्वेनेव घूमपागमावे प्रागभावत्वस्य ${ }^{3}$ स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदका . न्तरघटितत्वस्य ठ्यर्थविशोषणतारूपत्वादिति वाच्यम् ; विशोष्यविशेषणयोः प्रत्येकाभावयोरेव विशिष्टाभावत्वस्वीकारात्, येन विना ठ्याप्ति: गृषते तदेव व्यर्थविशोषणामिति मते ${ }^{4}$ वा तथोक्तत्वात्। उक्षं हि मणौ"उक्कस्थले शरीराजन्यत्वे व्यर्थविशोषणत्वं, लाघवेनाजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वात्, येन विशेषणेन विना व्यापिर्न गृद्यते तस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वनियमत् । अतएव श्राणं पार्थिनं, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव

[^39]छइयत्वादिनैव मिथ्यात्ववत्तस्यापि साधनत्वात्। एवं टितीयोपाधावपि 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति' इति विशेषणं व्यतिरेकसाधने व्यर्थम् 1 विरोष्यभागस्त्रु साध्यसाधनयो:
व्यक्अकत्वादित्यत्र रूपादिषु मध्य ${ }^{1}$ इति असिद्धिवारकमपि न व्यर्थम्, तेन विना व्याप्तयग्रहात् " इत्यादि। किंच तर्काप्रसरादित्यनेन ब्यापकताग्राहकतर्कमात्रमुपाधित्वे बीजमुक्तम् । उक्तमण्यादिवाक्येऽपि तथोकम्। तथाच व्यर्थविशोषणत्वाभावेऽपि यथा शरीरजन्यत्वं ताद्वशतर्काभावात् न साध्यठ्यापकम्। जन्यत्वमात्रं तु तत् यदि कर्तृजन्यत्व'व्यापकं न स्यात् तदा कर्तृजन्यतावच्छेदकं न स्यादिति तादृशतर्कसत्त्वात् साध्याव्यापकम्। तथा स्वाधकेत्यादि न मिथ्यात्वठ्यापकं, तादृशतर्काभांवात्। दोषपयुक्तभानत्वं तु तद्यापकम्। मिथ्याभूतवस्तुमात्रं यदि दोषप्रयुक्तभानं न स्यात्तदा मिथ्या न स्यात् परमते वियदादिवाद्धिति ताद्दरातर्कसत्त्वादित्यत्र प्रकृतम्नन्थतात्पर्यम् । व्यतिरेके व्यर्थत्वं नु ताद्टातर्काप्रसरचीजमात्रोपलक्षणत्वेनोक्रमिति ध्येयम् ॥

ननु यथा मित्रातनयत्वेन इयामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वं, तस्मिन् साध्ये इयामत्वमुपाधि:, तथा दृइयत्वादिना मिथ्यात्वे साध्ये दोषप्रयुक्तमानत्वं, ${ }^{3}$ तस्मिन् साध्ये मिथ्यात्वमुपाधिः, अस्तु युगपदुभयसाधने त्वर्थन्तरं, मिध्यात्व एव विप्रतिपत्तेस्तत्राह-- दृयत्वादिनेति। युगपनुभयसाधनेपि नार्थन्तरं, मिथ्यत्वत्वव्वावच्छिन्नविधेयकानुमितरुदेइयत्वादुभयविषगकसमूहालम्बनानुमितेरपि तथात्वादुद्देशयतानाकान्तसिद्रेरेवार्थान्तरत्वात् । न च तथापि पक्षे ${ }^{4}$ साधनवति द्वयोरपि सन्दिग्षत्वात्सन्दिग्धाल्साधनाव्यापकत्वात्सन्दिगघोपाधित्वमेकैकस्याक्षतमिति वाच्यम् ; साघने साध्यव्याप्यतानिश्रायकतर्कावतारे तदसम्भवस्योक्तत्वात्, साघंयं च नोपाधिरिति तार्किकोक्केश्रेति। अथ यथा पर्वतावयववृतीति

व्यापक इति नोपाधिः। अतएवाधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवक्षेतुजन्यज्ञानविषयत्वमुपाघिः। अत्र च ब्रह्वणोऽणि बौद्दूकल्पितदोषवद्धेतुजन्यक्षणिकत्वादिश्ञानविषयत्वात् समव्यासिसिद्धधर्थ अधिष्टानसमसत्ताकेति विशेषणं, न तु पक्षमाश्र्यावृच्यर्थम्। अतो न पक्षेतरतुल्यतेत्यपास्तम्। ब्रह्मणीव ब्रह्नणि कल्पिते क्षणिकत्वादावपि मिथ्याभूते धर्मे अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानाविषयत्वादुपाधेः साध्याव्यासेः, व्यतिरेकसाधने व्यर्थविशोषणत्वस्योक्तत्वाच्च। नापि श्रुतितात्पर्पाविषयत्वमुपाधिः, ध्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य बह्ममात्रनिष्ठतया तदभाविरोषण कृता पर्वता' वयवरूपादेे्य्यावृृत्तः: ${ }^{2}$ नोपाधितायामुपयुज्यते, किन्तु पक्षस्येव साघनाव्यापकत्वसम्पादकत्वादिति, उपाघित्वौपयिकी या विपक्षव्याृृत्तिः तदसम्पादकव्वादुक्तविशेषणस्य पक्षमात्रव्यार्त्तकवं मण्यादावुक्तमिति दीधित्याधौ स्पष्टम्। तथा समन्याप्तिसम्पादकस्याप्यधिष्ठानेत्यादिविशेषणस्य प्रघ्षव्यावर्तकत्वस्य ${ }^{3}$ खानघिकरणेत्यादिनिरुकोपाषित्वानौपयिकत्वादुक्तव्यावृत्त्यसम्पादकत्वेन पक्षमात्रव्यावर्तकत्वमक्षतम् । आर्देंन्धनादेश्नु आर्द्रत्वादिविशेषणकृतायोगोलकादिव्यावृत्तिः साधनाव्यापकत्वसम्पादकत्वादुपाधित्वौपयिकील्याशयेनाह-अतएवेति। समव्यात्तिसम्पादकत्वेप्युक्तरीत्या पक्षमात्रव्यावर्तकत्वादेवेत्यर्थः। अश्दणीवेत्यादि । स्वजनकाज्ञानविषयावच्छेदक ${ }^{4}$ रूपाषिष्ठानघटितोओोपाार्थिर्यथा न अह्सणि, तजनकामसिद्ध्रे, तथा न तत्र कल्पिते क्षणिकत्वादावपि, तजनकाज्ञानविषयत्रह्षावच्छेदकापसिद्देः। तत्पसिद्विस्तु धुत्तिरूप्यादौ। स्वजनकाज्ञानविषयसमसत्ताकदोषनिवेके तु तत्राप्रसिद्धया साध्य्यव्यापकत्वमपि। ज्रक्षमात्रेति। अवान्तरतात्पर्यविषयत्वं नु यागादिनिष्ठे स्वर्गादिसाघनत्वे, न ठु यागादौ, 'अनुप${ }^{1}$ ब्तरपर्पता. ${ }^{2}$ म्याप्यद्युत्तिः, ${ }^{3}$ व्यार्तक्तक्य, ${ }^{4}$ विषयताबच्छेकक.

वस्य साधनव्यापकत्वात् 1 नापि ग्रातिभासिकत्वमुयाषिः। तद्धि ब्रह्मजानेतरबाध्यत्वम्; तस्य च देहात्मैक्ये मिध्यायूतेडप्यसत्त्वेन साध्याव्यासे:, व्यतिरेके व्यर्थविशोषणत्वाब्ब। नापि प्रतिभासमात्र्शरीरत्वमुपाधिः, दृ्ष्टिष्टिपक्षे साधनव्यापकत्वात्, परेषामसिद्धेश्रेति ।।

इति द्रयत्वाद्वीनां सोपाधिकत्वभक्न:-

लब्षेस्तत्र्रमाणम्’ इति जैमिनिसूत्रैकदेशेन मानान्तरानुपलब्ष एव श्रुतितात्पर्योक्तेः। साधनत्वादिविशिष्टतया यागादाविव मिश्यात्वविशिप्रतया द्रयमात्र एव श्रुतितात्पर्यात् साध्याव्यापकत्वापतेः परमतात्पर्यमेव निवेइयामिति भावः। दोषजन्यर्धाविषयत्वमपि परोक्तं साषनव्यापकं प्रतिभासमात्रशरररत्वमज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वं प्रातीतिक एव सत्त्वात् साधंय ठ्यामोति, न तु साघनामिति भावः। दृष्टीति । प्रतिकर्मव्यवस्था तु तत्पक्षे नास्तीति भावः। परेषां तत्त्ववादिनाम्। शुक्तिरूप्यादीनां अत्यन्तासत्त्वेन तत्र तदसिद्धे: साध्याव्यापकत्वमित्यर्थः। अत्यन्तासत्त्वादेव तत्र नाज्ञानविषयावच्छेदकत्वामिति चेदसतः सत्त्वेन धीवादिनां भवतां तस्यापि ${ }^{1}$ सम्भवात्, परेषां तत्त्व वादितार्किकादीनां तदसिद्धेरज्ञानाप्रसिद्धया तदप्रसिद्धोरेति वाऽर्थः स्वकालत्वव्यापकस्वर्षीकत्वं तदित्युक्तमपि ${ }^{2}$ सुखादिषु साक्षिभास्यत्वेन। तत्पसिद्धावपि श्रुक्तिरूप्यादावत्यन्तासत्त्वेन तदसिद्दि:। तार्किकादीनामपि कचित्तस्सिद्धावपि कचिच्छुक्किरूप्यादौ तदसिद्धिरिति साध्याव्यापकस्वमिति भावः। चकार उत्कोपाधिषु दोषान्तराणि समुच्चिनोति। तथाहि-स्वबाघकेत्यादौ स्वत्वस्यानुगतत्वेपि सबाधकबाध्यत्वं, यदि च्वजनकाज्ञाननिवर्तकनिवर्स्यत्व तदा जनकत्वस्य स्वावच्छेदकधाटितत्वात् स्वजनकत्वस्य

$$
{ }^{1} \text { तस्यामपि. . ?तुदित्युफाव़पि. }
$$

शुक्तघ्छिन्छनविषयकत्वादिरूपावच्छेदकभेदेने ${ }^{1}$ स्वजनकाज्ञाननि वृत्तिजनकत्वस्य शुक्कित्वप्रकारकेदंविशेष्यकत्वादिरूपावच्छेदकमेदेन नानाविघस्याननुगम: ${ }^{2}$ । पल्लुाज्ञानास्वीकारपक्षे शुक्तिरूप्यादिबाधकत्रह्सज्ञाना ${ }^{3}$ बाघ्यदोषाष्रसिद्धि: । यदि च स्वमिश्यात्वनिश्रयनिश्चितमिथ्यात्वकत्वं ${ }^{4}$ तत्तथापि निश्धयस्य तत्तद्धर्मितावच्छेदकादिभैदेन नानात्वादननुगम:। नेह नानास्तीत्यादिश्रुत्यादिजन्येन ईश्वरीयेन वा मिथ्यात्वनिश्रयेन दोषमात्रस्य निश्चितमिश्यात्वकत्वादेताहृशदोषोपापसिद्धिः। अथ जनकत्वं तत्त्त्वं वा अखण्डं न तु स्वावच्छेदकघटितं पल्डवाज़ानं चास्तीत्यकीकृत्य आघ्य एव पक्ष:, दोषमिन्नं यत्त्वभिन्नं तदविशेष्यकमिथ्यात्वनिश्रयनिश्चितमिथ्यात्वकत्वं तदिति पक्षो वा भाष्य: ${ }^{5}$ । उक्तश्रुतिजन्यादिमिश्यात्वनिश्धयस्तु खामिन्नविशोष्यकः। स्वभिन्ना ${ }^{6}$ विशेष्यकामेथ्यात्वनिश्षयनिशिश्चतमिथ्यात्वकदोषप्रयुक्तभानकत्वस्य घटादावपि सत्त्वाद्दोषमिन्नेति। खाभन्न यद्दोषभिन्नं तदविशोष्यकेन 'घटाविघे मिथ्या' इत्यादिनिश्रयेनाविद्यारूपदोषमिश्यात्वं निश्चितमिति न घटादौ तदिति चेन्न ; तथापि द्वितीयपक्षे शुक्तिरूप्यतज्ज्ञापकदोषौ मिथ्येति निश्रयमादाय साध्याव्यापकत्वाद्यत्र प्रातिभासिकान्तराविशेष्यकं खविशोष्यकं मिथ्यात्वज्ञां न जातं, तन्रापि साध्याव्यापकत्वाच पक्षद्वरेंडपि दोषत्वस्य दोषमात्राननुगतत्वात्, साध्याव्यापकत्वाद्वाध्यान्तवैयर्थ्याच्च। न चान्यतमत्वेन दोषाणामनु. मम:, अनन्तदोषघटिततया युगसहस्रेणापि दुर्जेयत्वापत्तेः। न च स्वरूपतोऽन्यतमत्वं निवेर्यमिति वाच्यम्; त्वन्मते तस्य स्वरूपतो ज्ञेयत्वे गोत्वादिजात्यपलापापत्ते: तावघ्यक्तयन्यतमत्वस्यैव तत्त्वसम्भ वादविद्यान्यदोषाणामन्यतमत्वस्यैव निवेशसम्भवेन अबाध्यांश ${ }^{7}$ वैयर्थ्यात्, सभध्यव्यापकत्वस्य तेन रूपेण ग्राहकतर्काभावादन्यथापातीतिकाना-

[^40]मन्यतमत्वेन ${ }^{1}$ तादाल्म्येन उपाधित्वसम्भवात्तदपेक्षया गुरुरूपानुधावनस्य तेडनुचितत्वात् ।.अविद्यान्यदोषप्रयुक्तमानत्वानि यावन्ति वस्तुगत्या तावन्निष्ठप्रतियोगिताया लघुना तावदन्यतमत्वेन स्वरूपतोऽवच्छिम्नत्वात् स्वबाधकेत्यादिरूपावच्छिन्नपतियोगिताकाभावत्वस्य अप्रसिद्धया तेन रूपेण साध्याभावध्याव्यत्वाभावात् स्वबाघकेत्यादिरूपेण व्यापकताप्राहकतर्काप्रसरादुपाधित्वासम्भवात् स्वामादिभ्रमे स्वामादिपातीतिकस्यापि दोषत्वेन तत्र स्वबाधकजाग्रदादिबोधबाध्यत्वेन साध्या ${ }^{2}$ वयापकत्वांच्चि । एवमुपाध्यन्तरेपि दोषा बोध्याः । यतु—"देहात्मैक्य साध्याव्यापकतोक्कि: न युक्ता, मम देह इति देहालमभेदस्यानुभाविकत्वेन तस्यैवापसिद्धेः। यद्यतिरेकस्येत्याद्यपि न युक्तम्; एकनिष्ठव्याप्यतायामवच्छेदकयोस्सम्भवे तयोल्लघुनैव अवच्छेद्या सा, न गुरुणा, यथा नीलध्यूमनिष्ठव्याप्यता धूमत्वेन, न नीलधूमत्वेन। न च विशिष्टाभावे विशेष्यसामान्याभावत्वमस्ति, यन तन्निष्ठव्याप्यता तेनावच्छिद्येत। ई’्वरानुमाने तु झरीरजन्यत्वस्यानुपाधित्वं श्रुत्येश्वरसिद्धौं, पक्ष एव साध्याव्यापकत्वात्। त्रह्नणीवेत्याद्यपि न युक्तम्; समसत्ताकान्तेन व्यावहारिकबाधाबाध्यस्येत्यस्य वाच्यत्वात्, न्रह्मणि क्षणिकत्वादिज्ञापकदोषस्याविद्यादिरुपस्य शून्यवाद्युत्थापिततर्कादेर्वा व्यावहारिकबाधाबाध्यत्वात्। ब्रह्मण एव्वेत्याद्यपि न युक्तम्; श्रुतिजन्यपमां प्रति विषयत्वस्य प्रपश्चे अवइयवाच्यत्वात् धर्मादौ तदन्कीकारे तदसिद्धयापत्तः । उक्ता च देवताधिकरणे परै ${ }^{3}$ देवताविमहादिप्रमा श्रुतिजन्या" इति, तत्तुच्छम् ; मनुष्यत्वादिविशिष्टस्य ऐक्यस्यात्मन्यध्यासस्व्वीकारेण तत्सत्त्वेऽपि मम देह इत्यनुभवे बाधकाभावादहङ्कास्यापि मन्मते अस्मदर्थत्वेन तन्देदस्यैबोक्तनुभवविषयत्वसम्भवात्, त्वन्मते ममत्मेतिवदभेदस्यैव षष्ठचोल्रेखसम्भवाच्च। अन्यथा

$$
1 \text { मनतीतत्त्रेन. }{ }^{2} \text { साध्यादि. }{ }^{3} \text { पदै:. }
$$

रजतमस्य स्वरूपमित्युक्तिमात्रेण इदंरजतयोंरैक्यमप्यपलप्येत। विस्तरेण चैतदप्रे वाच्यम्। यद्यतिरकेत्यादि युक्तं, विशोषणविशेष्ययोरैकैकाभावस्यैव विशिष्टधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमिन्यादेकुकत्वात् । ईध्वरेत्यादिकं तु ोोभते; मीमांसकादिक प्रतीधधरानुमानस्य प्रवृत्ततया नेन श्रुल्येश्वरसिद्धघस्वीकारात्। अन्यथा सिद्धसाधनप्रसक्तयैवानुमानवार्तालोपे उपाध्यन्वेषणा ${ }^{1}$ नौचित्यात्। उ्यावहारिकेत्यादिकं तु न युक्तम् ; डुक्तिरूप्यादिज्ञापके दोषेपे ठ्यावहारिकस्य यद्वाषकं ज्रक्नज्ञानं तद्वाध्यत्वस्य सत्त्वात्, ठ्यावहारिकविषयकबाधाबाध्यदोषोकावपि ठ्यावहारिकदोषमात्रस्य तत्त्वेन शुाक्तिरूप्यादाविव वियदादौ क्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्वमादाय ज्रद्मणि चोत्तोपाघेस्सत्त्वेन साध्यसमठ्याप्तयभावात्, सवं प्रतीटत्यस्यापि बहधविशेषणत्वे ${ }^{2}$ ततएव श्रद्मनिष्ठक्षणिकत्वे तद्धटितोक्तोपाधेरसत्त्वात् साध्याव्यापकत्वस्य आवरयकत्वात्तद्वारकस्य व्यावहारिकविषयकेत्यक्य व्यर्थत्वात् प्रातीतिकदोषज्ञाध्यप्रातीतिकविशोषे साध्यान्यापकत्वात्। श्रुतिजन्येत्याध्यपि न युक्तम् ; नेह नानास्तत्यादिश्रुतिजन्ययमाविषयत्वस्य दृइयमात्रे सत्त्वस्योक्तत्वात्। निषेध्यत्वेन विषयत्वनन्यविषयत्वोक्तावपि "इदग् सर्वमसहजत, सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इत्यादिश्रुत्या मानन्तरनैरपेक्ष्येण श्रहोपादानकत्वादिना कार्यमात्रप्रमापनात् कार्यमात्रनिष्ठकार्यतायाः ठयवहारकालाबाध्यत्वात्। अन्यथा घटादेरपि तादृशाप्रमां प्रत्यविषयत्वात्, 'पृथिवी ब्रद्झेट्युपासीत' इत्यादिश्रुतिजन्य्ज्ञानस्य मानान्तरज्ञातपृथिब्याद्यंशो प्रमात्वाभावात् । किश्चिदंश्रो ${ }^{3}$ प्रमात्वविवक्षायां प्रातीतिकपृथिव्यादेरपि ताहृशिषयत्वसम्भवान्मिथ्या नोपास्य ${ }^{4}$ मिति सक्ते र्षोक्ते-

1 उपाध्यत्वेषणा. 2 तत एव व्वह्मनिष्षक्षणिकत्वस्यापि वरणाध्यावद्वारिकविषय-
 कोशान्तरे पाठः. ${ }^{3}$ किम्यिदंशेन. 4 तथोपास्य.

## अभभाससान्यभ⿸厂⿹弓冫$: ~$

ननु－विमतं प्रातिभासिकं，हर्यत्वात्；जह्म मिथ्या， व्यवहारविषयत्वात् असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याद्या－ भाससाम्यमिति चेन्न；जगतो व्यावहारिकसन्वबाधे व्यव－ हारानुपपत्तिः，ज्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्येति ग्रति－ कूलतर्कपराघातेन तयोरसाधकत्वात्，प्रकेते च प्रतिकूलतर्कस्य निरसिष्यमाणत्वात्। किंच प्रातिभासिकत्वं न्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वं प्रतिभासमात्रशररीरत्वं वा？आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः， अप्रयोजकत्वं च । द्वितीये द्वाष्टिसृष्टिमतेन सिद्युसाधनम्। एवं बह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम्। निरुपाधिके च्यवहारविषयत्वरूपो हेतुरसिदः，वेदान्तजन्य－ वृत्तिविषयत्वाम्युपगमेऽप्यप्रयोजकः 1 एवससद्विलक्षणत्वमपि मिंथ्यात्वेन ज्ञातं नोपास्यमित्यत्र ताृपर्यात्। तथाच साध्यव्यापकत्व－ रक्षार्थमबाध्यविषयकत्वरूपप्रमत्वनिवेशे साधनव्यापकत्वस्य दुर्वारत्वात्।। सारस्वत्तैस्तर्करलैश्धन्द्रिकाचन्द्रभूषणै：।
दुरन्तध्वन्त्वखण्डानामुपाधिरपसारितः ॥
इत्युपाधिभः：
आभाससाम्यमिति । उक्कानुमानाभासा यथा न साधकाः तथा प्रपश्चमिथ्यात्वानुमानमित्यर्थः । प्रपश्चमिथ्यात्वे नानुपपत्तिः， आभास तु साऽन्तीत्याशायेनाह—न जगत इत्यादि । जगतः व्यावहारिकमात्रस्य। ठ्यावहारिकसच्चेति। अज्ञातसत्त्वेत्यर्थः। व्यव－ हारेति। चक्षुरादिजन्यवृत्तिप्रत्यमिज्ञादी ${ }^{1}$ स्यर्थः। अज्ञातत्वावच्छेदकघटा－ घस्वीकरे चाक्षुषादिवृत्तेः विषयेन्द्रियसम्बन्धादिजन्यायाः पूर्वद्टष्टस्य दृशय－ मानैनैक्यपत्यभिशादेश्धानुपपतिरिति भावः। अप्रयोजक इति। यदि जक्ष म प्र्यक्षादो．

ज्रक्नण्यसिद्धमेव। क्वचिद्द्युपाधौ सच्चेन प्रतीत्यनर्हत्वं बसत्व्वम्, तद्विलक्षणत्वं च क्वचिद्युपार्धौ सक्चेन प्रतीत्यहत्वर्वरपम्। तच्च शुद्धे ब्रह्नणि नास्त्येव। न च बाध्यत्वमसच्वं, तक्रिक्षणत्वं चाबाध्यत्वं, तच श्रक्षण्यस्त्येवेति वाच्यम् ; अवाध्यत्वेन बाध्यत्वर्कक्षणमिध्यात्वसाधने विरोधात, शुक्तिरूप्यद्धृन्तस्य साधनविकलत्वाच, शून्यवादस्याप्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। तस्माब्न हइयत्वादीनामाभाससाम्यमिति सिख्यम् ।।

## हत्याभाससाम्यभन्न:-

मिथ्या न स्यात्तदा वृत्तिविषयो न स्यादिति न तर्क:, मिथ्यात्वाभावेऽपि तत्र कर्पितस्य वृत्तिविषयकत्वस्य सम्भवात्। श्रहणणः साक्षित्विन बाधकपमाणस्य तत्रानवतारादिति भावः। तच शुद्ध इति। सत्तादाल्यसत्त्वा ${ }^{1}$ न्यतखवत्त्वरूपनुक्तात्हत्वं निर्षर्मके अद्साणि नास्ति, किन्तु तदुप हित इति भावः। गुद्दे तत्स्वक्कृतमप्यपयोजकमित्याशयेनाह- शून्यवादस्येति। यतु-" सुखानुभवर्पर्यन्तव्यवहारस्याप्यक्यावहारिकत्वस्वीकारे का व्यवहारानुपपत्ति:? स्वपोट्थापिततर्कवन्न तर्क: प्रतिकूलः। किज्ञेत्याद्यवि न युक्तम् ; देहातैैैय्याप्रसिद्द्र:, दृट्टिसृष्टेर्रमाणिकत्वादनुपाधिकस्थान्यवहारे तदसिद्धचापतेः। एवमित्यादिकमपि न युक्तम्; 'स्वे महिज़्ि' इति श्रुत्या स्वस्मिन्नेव अझ्यणः परीत्यहहत्वात् मिथ्यात्वस्यैव मन्मते तुच्छ’रूप्वात्, शून्यादस्यैव स्वयं स्वीकृतत्वेन आपत्त्यनहत्वात्" इति, ततुच्छम्; घटादिज्ञाने अन्वयन्यतिरेकसिद्धस्य .चक्षुरादिजन्यव्वस्य प्रत्यमिज्ञादिसिद्द्यस्य पूर्वोत्रकालीनयोरैक्यम्य च ठ्यावहारिकत्वं स्वीकृत्यैव घटादौ ठ्यावहारिकत्वपक्ष्पवृते:



## प्रत्यक्षबाधेरद्वरः:

ननु 'सन् घटः' इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया द्रयत्वाद्य इति चेत्म ; चक्षुराद्यध्यक्षयोग्यमिथ्यात्वविरोधिसत्वानिरुत्तेः। तथाहि - तावत् प्रमाविषयत्वं तद्योग्यत्वं, अ्रमाविषयत्वं वा ताद्टक्सत्त्वम्; चक्षुराद्यगक्यभ्रभग्रमाधाटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वाद्क्ष्यमाणदूषणगणग्रासाच्च। तथाहि—नाद्यः ; असति प्रमाणप्रवृत्ते: तद्विषयत्वात् प्राक् सत्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्य तदन्यत्वात्, सत्वनिरूपणं निना सदर्थविषयत्वरूपप्रमात्वस्य निरूपणे

दृइयस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वान्तरत्वबहि ष्टादिना यथानुभवं साक्षिंणि कल्पनासम्भवादस्थिरज्ञानानामर्थानां च कल्पने गौरवात्, ज्ञानोत्पत्ति ${ }^{1}$ कालत्वेन अभ्युपगतकाले अर्थानामेवोत्पत्तिस्वीकारे लाघवात्, दृष्टिस्टृष्टिपक्षस्यादरणीयत्वात् 'अचिन्त्यमव्यवहार्यम्' इत्यादिश्रुत्या अव्यवहार्यस्यापि अद्नण: स्वत एव सिद्धेरुकत्वात्। एवमित्यादि युक्तम्; उक्ताहत्वस्य स्वोपहित एव त्रह्मणि सत्त्वात्, शुद्धे सत्त्वेऽप्यप्रयोजकत्वस्योक्तव्वात्, अन्मन्मते मिथ्यात्वस्य उक्ताहत्वघटितत्वस्योकत्वात्त्वन्मतसिद्धस्य सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यापि मिथ्यात्वस्य अत्यन्तासति अस्नणि च सत्त्वे मानाभावस्योफत्वेन शून्यवादे अस्मत्स्वीकारोक्षे ${ }^{2}$ रुन्मत्तप्रलापत्वान्न हि द्रयमात्रमिथ्यात्वेन शून्यवाद:, किन्तु सर्वासत्यत्वेन॥ सारस्वैतैस्तर्करनैश्धन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः। दुरन्तध्वन्तखण्डानामखण्ध्याभासतुल्यता॥ इति आभाससाम्यभฐ:

चान्योन्याश्रयात्, मिथ्याभूतस्य श्रुक्तिरजतसंसर्गस्य व्यवसायक्वारा साक्षाच निषेध्यत्वादिना प्रमाविषयत्वाभ्युपगमाच्च । नापि द्वितीयः ; योग्यताया अनिरूपणात्। न तृतीयः ; असिद्धे:, सर्वस्सैव क्षणिकत्वादिना अ्रमविषयत्वाभ्युपगमात्। अत एव नासच्वाप्रकारकभ्रमाविषयत्वमपि, अन्योन्याश्रयाज। नापि सत्त्वप्रकारकग्रमाविषयत्त्वम्, आत्माश्रयात्। नापि असत्वश्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्, अन्योन्याश्रयात्। नापि प्रतिपन्नोपाधौ *्रैकालिकसत्वनिषेधविरहः, आत्माश्रयात्। नापि सत्ता जातिः अर्थक्रियाकारित्वं असदृलक्ष्यण्यं वा, एतेषां मिथ्यात्वाविरोधित्वेन तत्र्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमाने बाधाभावात्। नापि वेदान्त्यभिमतमिथ्यात्वाभावस्सत्वम्, तुच्छे अतिव्यासेः। नाप्यसक्टिलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वम् ; अनारोपितत्वं हि आरोपाविषयत्वम्, तन्चसम्भवि ; सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना आरोपविषयत्वात्। नाप्यस्तित्वग्रकारकम्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वं, कालसम्बन्धित्वं वा सत्व्वम् ; अस्तित्वं च वर्तमानत्वम्, न तु व्यवसायद्वारेति। रजतमिदें जानामीत्यनुव्यवसायरूपभ्रमाया: व्यवसायांशो नेदं रजतमिति प्रमाया निषेषांडो विझेषणत्वं रजतादेरिति भावः । आत्माश्रयादिति । यद्यपि पूर्वोक्तान्येन्याश्रयस्थलेडपि सत्त्वघटितत्वेनात्माश्रयत्वं, सत्त्वपकारकप्रमानिरूपणे तद्विषयत्वरूपसत्त्वनिरूपणं, तन्निरूपणे च ताद्दरापमानिरूपणमिति प्रकृतेऽप्यन्योन्याश्रयत्वं : तथापि स्पुटप्रतीतिमपेक्ष्य एकैकमुक्तम्। प्रतिपज्ञेति। त्रैकालिकस्य स्वसत्त्वाभावस्य स्वधीविशेष्यदेश़कालावच्छेदेन स्वस्मिन् या धी: ‘अत्र रजतं नास्ति नासान्न भविष्यति' इत्यादिरूपा तद्विषयत्वस्य शुक्किरूप्यादिनिष्ठस्याभाव इत्यर्थः। अस्तित्वेति । अस्तित्वप्रकारतानिरुपितं प्रमाविझेष्यत्वमित्यर्थः। वर्तमानत्वं काल-

सत्त्वम्, अतो नात्माश्रयः। अतीतादिरपि कदाचित् वर्षत एवेति नाव्यापि: । आरोपितत्वं च कालत्र्यासम्बन्घित्वेन बाधेन बोधितमिति न द्वितीयलुक्षणे अतिठ्यामिरिति वाच्यम् ; प्रमात्वस्य सत्त्वघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वेन पूर्वोक्तदोषात्, वर्तमानत्वप्रकारकग्रमाविषयत्वेऽपि मिथ्यात्त्राविरोधाच्च। दितीयमपि न मिथ्यात्वविरोधि; शुक्तिरूप्यस्यापि प्रतिभासकालसम्बन्धित्वात्, बाधेन तात्विककालत्रयसम्बन्धनिषधेडपि अतात्विककालसम्बन्धस्य अनिषेधात्। नापि तात्विककालसम्बन्धित्वं तत् ; तात्तिकस्याद्याप्यनिरूपणात्, निरूपणे वा ऐोषवैयर्थात्व। ननु भवन्मते यत् सत्वं ज्रह्मणि, तदेवेह मम। उत्क हि-
'याद्हरां ज्रह्नणः सत्त्वं तादृरां स्याज्जगत्यपि । तत्र स्यात्तद्निर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः ॥'
इति । न च तत्रापरिच्छिम्नत्वं सत्त्वम्, तच न जगर्ताति वाच्यम्; तुच्छस्यापरिच्छिक्तत्वेऽपि सत्त्वानभ्युपगमान्मापरिच्छिष्त्वं सत्वम्। किन्त्वन्यदेत। तच्च ब्रह्मणीव अ्रमाधिष्ठानत्वाच्छुक्तिकादेरपि भविष्यतीति चेत्, नूनं विवाहसमये कन्याया: पित्रा निजगोत्रं पृष्पस्स यदेव भवतां गोत्रं तदेव ममापि गोत्रमिति वदतो वरस्य अ्राता भवान्। यतो जामातश्व भुरयो: एकगोत्रत्वे विवाहानुपपत्तिवत् जगद्धक्यणोरेकसच्वे जगतोऽसत्वमेव स्यात्। तथाहि-स्वप्रकाशाश्वितीयचैतन्यरूपत्वमेव ब्रक्नण-
सम्बन्धित्वम्। तेन तत्रकालसम्बन्धित्वरूपवर्तमानत्वस्याननुगमे ऽपि न क्षतिः। बाधेन तात्विकेति। तात्विकत्वेन कारसम्बद्धस्य ${ }^{1}$ निषेछेडपय काइसम्बन्घत्वेनानिषेधात् कालसम्बन्घित्वेन ${ }^{2}$ निषेधपक्षेडपि प्रतियोग्यभा-

$$
1 \text { सम्बन्धस्य. } 2 \text { धात् सम्बन्धित्वेन. }
$$

स्सत्त्वम् ; तदेव चेज्जडस्यापि जगतः, तदा रजतत्वविरोधियुुकिसत्तया रजतस्येव जडत्वविरोधिस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्यात्वेपपत्ते:। चैचतन्यस्यैवावच्छिष्नानवच्छिम्नाज्ञानविषयत्वेन सर्वअ्रमाधिष्ठानत्वाभ्युपगमात् न अ्रमाधिष्ठानत्वेन
वयोः भिन्नसत्ताकत्वेन अविरोधादित्यर्थः। रजतत्वविरोधीत्यादि । यथा शुक्तयवच्छिन्नसत्तातादास्म्य ${ }^{1}$ रजते कल्पितं ठयावहारिकरजतावृत्तित्वरूपरजतत्वविरोधादव्यावहारिकरजतवृत्ति ; तथा तात्विकस्वभकाशसत्तातादाल्यं प्रपश्चे कल्पितं तांत्त्वकस्वप्रकाशत्वविरोधीति अतात्विका ${ }^{2}$ स्वप्रकाशवृत्युच्यत इति जगतो मिथ्यात्वोपपत्तेरित्यर्थः। अवच्छिन्नेत्यादि। अवच्छिन्नं चानवच्छिन्नं च तदवच्छिन्नानवच्छिन्नमिति समाहारः। तादृरां यद्जानविषयत्वं तेनेत्यर्थः। रजतादिश्रमोपादानाज्ञानविषयत्वं शुक्तयाद्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठं, वियदाद्युपादाना ${ }^{3}$ ज्ञानविषयत्वं तु अनवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठमिति भावः। न अ्रमेति। अ्रमविषये अधिष्ठान सत्तायास्तादात्म्यारोपादधिष्ठानस्याबाधाच्च सदूपत्वं वाच्यम्। तंत्रैकस्याध्चैतन्यव्यक्ते: सर्वर्रमाधिष्ठान ${ }^{4}$ त्वसम्भवेन सदूपतासम्भवे तदन्यत्र तक्कल्पने गौरवं, "नेह नानास्ति, त्र्यमप्येतत् स्वमं, मायामान्रं, ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादिविरोघश्थेति भावः। यतु—" अद्मणि यत्सत्त्वं तदेव प्रपश्चे इत्यस्य स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपं सत्त्वं प्रपश्वगतमिति नार्थः ; किन्तु यादृइां ब्रक्ससत्त्वं श्रुतिगम्यं मिथ्यात्वविरोधि तादृरां प्रपश्चसत्त्वं प्रत्यक्षादिगम्यं मिथ्यास्वविरोष्षीति। ज्नसत्त्वं च न स्वप्रकाशाद्वितीयत्वादिरूपं, मिश्यात्वाविरोषित्वात्, सर्व मेयमिति ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्यापि त्वन्मते मिथ्यात्वात् , अवेधत्वादिरुपस्व ${ }^{5}$ प्रका शत्वयुक्तस्याद्वितायस्य शून्य ${ }^{6}$ -

[^41]शुक्तयादेस्सच्वसिद्धि:। नन्वेवमपि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेघप्रतियोगित्वमसरंख्व तुच्छानिर्वचनीयसाधारणम्, तदभावस्सत्त्वम् । तच्च ब्रद्मणीव जगत्यपीति ज्रूमः। न च संयोगे अव्यासिः, तस्याव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात्। तद म्युपगमे च व्याप्यवृत्तित्वेनाभावो विशेषणीयः। नापि वियत्यव्यातिः; तद्त्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वाई्रीकारेण लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव। न हि कर्स्मिश्विद्देशे काले वा तस्याभावः, नित्यविभुत्वभङ্भग्रसङ्भात्। आकारात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वाभ्युपगमे च सृत्तिमत्र्रतियोगिकत्वेनाभावो विशेषणीय इति चेन्न; चक्षुराद्ययोग्यानेकपदार्थघटितत्वेन एतादृहासत्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरस्यापि सद्रिविक्तत्वादिरुपभिथ्यात्वाद्ब्माणि श्रौतसत्यत्व०्यवहारप्रयोजकं यत्वद्विरहस्यैव मां प्रति प्रपश्चे त्वया साध्यतया तथाभूतस्वप्रकाशत्वाद्वितीयत्वादेरभावस्य साधने सिद्धसाधनापत्तेश्र" इति, तत्तुच्छम्; अस्मदीयदूषणानवबोधात्। त्रह्मसत्त्वं यदि हि प्रपश्चे स्वीक्रियते, तदा तन्मिथ्यात्वोपपत्तेरित्यन्तेन प्रत्युक्तम्। यदि यथा ब्रह्म सदूपं तथा वियदादीत्युच्यते, तदा चैतन्यस्येत्यादिना प्रत्युक्तम् ${ }^{1}$ । न्रद्मसत्त्व च नेत्यादिकं तु प्रल।पः। न हि व्रद्मणि स्वविषयकत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं मिथ्यात्वविरोधि ब्रूमः, येन सर्व मेयमिति बीसाधारणं स्यात्। नाप्यवेद्यत्वादिमात्रं, येन तुच्छसाधारणम्। किन्तु अन्यानधीनापरोक्षताकत्वादिरूपं, तक्च ज्रह्सण्येवेत्युक्तम् । न्रह्नाणि सत्यताठ्यवहारप्रयोजकं यदवाध्यस्वरूपं तन्निष्टेनाबाध्यत्वह्यापकविषयत्वेन यो भेदः तादृशाविषयतासम्बन्धेन ज्ञानाल्यन्ताभावो वा तद्धटितं मिध्यात्वं साध्यम्। अतो न सिद्धसाधनमित्याद्युक्तमेव । त्रस्सस्वरूपमिव वियदादिस्वरूपमपि न बाध्यम्,

सामर्यात्। न हि सर्वदेशीयत्रैकालिकयृत्तिमत्र्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियेगिकत्वं कस्यापि प्रत्यक्षम्; येन तदभावः
 पि सर्वेदेशीयत्वर्वैकालिक्वयोरयोग्गत्वाप्। ननु स्वदेशकाल-
तन्त्वे गौखादितिते चेच्, सेयं निध्यात्बबोषकभुल्युमानादौ तवापरिचितिः। सा चापसार्युत एव। नित्यव्वेति । यदाडककासस्थात्यन्ताभावस्तदा तस्य ध्वंसः प्रागभावो वा वाच्यः, तथाचानित्यत्वं स्यात्। यत्र द्रव्ये तस्यात्यन्ताभावः तत्र तत्संयोगो न जात इति वाच्यम्। अन्यथा अत्राकाशमिति प्रतीतेः वृत्चिनियामकतत्संयोगेन तदत्यन्ताभावविरोषादव्याप्यवृत्तित्वानकीकारात्। वृत्त्यनियामक एव तत्संयोग द्धति स्वीकारेऽपि तेन तद्विरोधत्। अन्यथा धनवत्यपि निर्घन इत्यादिव्यवहारापचिरित्यादेश्चित्युखीयानुमाने उक्तत्वात्। तथाच सर्वमूर्तसंयोगगित्वरूपं विभुत्वं न स्यात् । यध्यपि तत्संयोगिन्यपि समवायादिना तदत्यन्ताभावः तद्धत्यपि काले तत्सम्बद्धे देशावच्छेदेन तदत्यन्ताभावो वक्तुं राक्यः, तथापि तल्सम्बन्षिनि सम्बन्धान्तरेणापि न तस्यात्यन्ताभावः ; किंतु यदीयसम्बन्बान्तरस्येति पूर्वोक्ताभिपायकमेतत्। अतएव नित्यजलीयरूपादावपि देशो संयुक्ततत्संयुक्तसमवायादिसम्बन्घसत्त्वेन ${ }^{1}$ न तदत्यन्ताभावः। तथा सति ताद्हशारूपादिसमवायाद्याश्रये तत्संयोगस्यानक्रीकार्यतया विभुत्वमक्रप्रसकादिति भावः॥

यतु-" सर्वसंसर्गकात्यन्ताभावनिवेशात् समवायादिना सर्वदेशीयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि गगनादौ न सत्त्वलक्षणाव्याप्तिः" इति, ततुच्छम् ; सर्वसंसर्गकत्वं हि यदि सर्वसम्बन्धावच्छिन्नपतियोगिताकत्वं, तदाऽसम्भवः। न हि सर्वत्र सरैवस्सम्बन्बैः किच्चिदस्ति ${ }^{2}$ । यदि सर्व-

वृत्तिनिषेधग्रतियोगिकत्वाभावे गृद्यमाणे कालत्र्यमध्ये वर्तमानकालस्य सर्वर्देशमध्य प्रकृतदेशस्यापि प्रवेशेन तत्र निषेघप्रतियोगित्वाभावस्य गृहीतत्वात् तत्संवलितं कालभ्यव्टार्ति

सम्बन्धानां अन्यतमावच्छिन्नपतियोगिकवं तत्तथापि शइविषाणादावतिन्यात्तिः। यथा हि भेदप्रतियोगिता न नव्यनये तादाल्यसम्बन्धावच्छिन्ना, तच्च्व ${ }^{1}$ मानाभावात् घटत्वादिना मेदस्यैव घटादितादात्म्यविराधित्वसम्भवात्। यथावा ध्बंसप्रागभावयोः प्रतियोगिता न केनापि धर्मेण सम्बन्धेनाइबच्छिन्ना, मानाभावात्, तथा तुच्छनिष्टाप्यभावप्रतियेगिता न केनापि धर्मेण सम्बन्घेन वा अवच्छिन्ना, मानाभावात्, स्वपतियोगिकाभावमात्रेण तुच्छस्य विरोधसम्भवात्। अथैंब तुच्छस्याभावोपि न सिद्धचेत् मानाभावात् तस्यायेग्यत्वेन अप्रत्यक्षत्वादनुमानस्याप्योजकत्वेन अनवतारादिति चेत्, सोयं तुच्छवाद्दिनस्तैवंवं गर्तपातः। यतु अश्षे गोत्वं नाम्तीति प्रीतिः गोत्वाश्वत्वयोः संसर्गमहीकं निषेधपतियोगितया अवगाहत इति अभ्वाघवच्छेदेन गोत्वाभावस्य सर्वकालवृत्तित्वात् सर्वकालिकत्वमेवाभावे निवेश्यं, ताहहाभावव्रतियोगिकल्वमसदनिर्वाच्ययोरेव सर्वदेशीयाभावप्रतियोगित्वं घटादावरीति तन्नोक्तमिति मतं, तत्वरोक्तमपि गोल्वादे: प्रतियोगिग्वानुभवापखापादलीकसंसर्गस्य प्रतियोगिल्वेनानुलेखाखाचाचर्यैन शक्दितम्। न हीत्यादि ${ }^{2}$ वृत्तिमत्पतियोगिकाभाबादिकं न प्रत्यक्षं, वृत्तिमान् यद्यत्र स्यात्तदोपकम्येतेल्यादिरूपावादनासम्भवाव्। प्रतियोगिसत्त्वहेतुकापादन ${ }^{3}$ योग्योपलब्बिपतियोगिकत्वरूपयोग्यतायाः प्रतियोग्यनुपलब्धावभावात् वृत्तिमदादेः सत्वेप्यतीन्द्रियव्वादिना तदनुपलन्बिसम्भवादिति भावः। तत्संबलितेति। सर्वेदेशकारुघटितं मिथ्यात्वं, परमते मिध्यात्व-

1 तत्त्वे. ${ }^{2}$ न तह्हांलादि. ${ }^{3}$ हुनापादन.

सर्वदेशीयनिषेध्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं नानुमानेन ग्रहीतुं शक्यत इति चेन्न ; इंद्रदेकालस्टृत्तिसकलनिषेघग्रतियोगित्वस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेन तदभावस्य सुतरां तदयोग्यत्वात्। स्वदेशकालबृत्तियत्किश्रिन्निषेधाप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात् स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यस्य च स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्धचा केवलान्वयिनि सम्बन्धभदेन घटादौ चासिद्धेः। स्वात्यन्ताभावयावदिधिरणावृत्तित्वं वा, स्वात्यन्ताभावयत्किश्रिदाधिकरणावृत्तित्वं वेति विकल्पेन पूर्वोकदोषाच्च । तसात् तत्र्रकारान्तरस्य निरूपयितुमशाक्यत्वात् मिथ्यात्वाविरोधित्वाच स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपमेव सत्वमुपेयम्। तच्च न चक्षुरादियोग्य_ स्यासत्त्वरूपत्वात्। अस्मन्मतेऽपि च्वदेशकालवृत्तिनिषधप्रतियोगित्वरूपं तद्रहीतुमशक्यम्, तदभावस्य गृहीतत्वादिति बोध्यम्। पूर्वोक्तेति । एतेन-"अत्यन्ताभावसामान्ये यत्पतियोगिकत्वयत्सामानाधिकरण्योभयाभावस्तत्वं सत्त्वं वाच्यं, तत्सम्बन्धिनि तद्वावस्वीकारे तु तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियेगिगतासामन्ये यन्निष्ठत्वस्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नयद़िकरणतासमानाधिकरणात्यन्ताभावनिरुपितत्वस्य च द्वयोरभावस्तत्त्वं तत्केवलान्वयिनि च नाठयाप्तिः, तन्निष्ठत्वस्य ₹वरूपसम्बन्धावच्छिन्नतदाषारतासमानाषिकरणतात्यन्ताभावनिरूपितत्वस्य च द्वयोः ₹वरूपसम्बन्वावच्छिन्नप्रतियोगितासामान्ये अभावात्" इति' प्रत्युक्तम् ; अधिकरणे यावत्त्वकिस्चित्त्वविकल्पेन तत्रतत्राप्युक्तदोषादुक्तोभयाभावधियः उत्कोभयत्वाषटितमिथ्यात्वरीविरोधित्वाभावाच्च। स्वसमानेत्यादि । स्वपदं ऊक्ष्ष्यपरम्। यावदिति तादृसप्रतियोगित्वसामान्याभावाभिप्रायकम्। तेन तत्तत्पतियोगिताविशेषामावज्ञानस्य मिथ्यात्वबुद्धयावरोघित्वेऽपि न क्षतिः। तथाच घटादिसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व-

मित्युक्तम्। ननु यसिन्कर्सिंश्रित् खदेशकालवृत्तिनिषेधे एतदेरैतत्कालबृत्तिनिषेधत्वं ज्ञात्वा तेन प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितानां खदेशाकालवृत्तिसकलनिषेधानां प्रतियोगित्वस्साभावो घटे ग्राह्यः । ततस्सार्वैदिक्सर्वदे ेीयनिषेधप्रतियोगित्वस्स ग्रहणं घटे दुर्घटमिति चेन्न; एवं सामान्यलक्षणया सर्वनिषेषेषेपूस्यितेष्वपि तत्प्रतियोगित्वाभावस चध्रुरादिना ग्रहीतुमशक्यत्वात्। योग्यप्रतियोगिक एव हि संसर्गाभावो योग्यः। सामान्यस्य पटादिनिष्षस्य घटादावभावसत्त्वात्त्र रक्षण्तक्षतिः पूर्वोक्तस्य मिथ्यात्वस्याभावः सत्त्वमिन्युक्तौ तुच्छेऽपि तत्सत्व्वादतिव्याप्तिः। अतस्तथा नोक्तम्। अयोग्यत्वमुक्तान्यन्ताभावे इन्द्रियसन्निकर्षाभावात्पत्यक्षाविषयत्वमिति भ्रान्त्या शाक्कते -नन्वित्यादि । उत्काभावेषु सामान्यक्षण्तनन्निकर्षसत्वेप्युक्ताभावप्रतियोगित्वं यदि घटादौ स्यात्तदोपफम्येतेल्यापादनासम्भवः ${ }^{1}$ उन्काभावभतियोगित्वस्य तर्र सत्वेपि तन्निरूपकाभावानां ${ }^{2}$ अर्तान्द्रियत्वाल्लौकिकसन्निकर्षाघ्यमावाच्च अनुपलव्चिसम्मवात्। अतः उक्षपतियोगित्वाभावस्य न त्रौकिक्मत्यक्षविषयल्वम् । अतएव दीधिल्यादावुक्तं-"यथा विघमानमपि वद्बिले रासभादिेदेशनिष्टाभावपतियोगीगतावच्छेदकलं न गृघ्बते, अभावदेशविप्रकर्षादिना ग्राहकमावात्, तथा धूमवन्निष्ठाभावपतियोगितावच्छेदकत्वमपि" हति । नानुपलबछेः प्रतियोगिसत्व्वविरोधित्वरूपयोग्यतेति तदभावो नाध्यक्ष इतीव्याइयेनाह-नैवं सामान्येत्यादि। योग्य-
 इॅर्यर्थः। संसर्गाभाव इति । अभावमान्र विवक्षितम् । येन संसर्गेण यत्र यन्य प्रतियोगिनः उपलम्मापादकत्वं तेन संसर्गोण तत्र तस्याभावः प्यक्ष इति ज्ञापयिनुं संसर्सपदमुक्तम्। एतेन-

## न चाईोषनिषेधानां प्रतियोगित्वमतीन्द्रियसाधारणं चक्षुरादि－

＂योग्यप्रतियोगिक इत्यादेः योग्यप्रतियोगिकान्यः संसर्गा ${ }^{1} भ ा व ः ~ न ~$ योग्य इति नार्थः，उक्तप्रतियोगित्वाभावस्य योग्यायोग्यप्रतियोगिकत्वेन योग्यतापत्तेः । नाप्ययोग्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो योग्यो नेत्यर्थः। महावायौ योग्यायोग्योद्यतरूपसामान्याभावप्रत्यक्षतायाः दीधित्यादानुक्त－ त्वात्। नाप्ययोग्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकः संसर्गाभावः न योग्य इत्यर्थ：। तावता उक्रप्रतियेगितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव－ प्रत्यक्षतावारणेऽपि स्तम्भे पिशाचादेरिव येग्ये घटादौ ताट्टराप्रतियोगित्वा－ श्रयस्य भेदप्रत्यक्षतासम्भवेन तदवारणे ${ }^{2}$ मिथ्यात्वानुमितिप्रतिबन्धक－ बाधसामान्यावारणात्＂इत्यादि परास्तम् ；उक्षप्रतियोगित्वस्य अत्यन्ताभावप्रत्यक्ष ${ }^{3}$ इव तद्धद्रेदप्रत्यक्षेडपि निरुक्तयोग्यतायाः प्रति－ योग्यनुपलक्मे अपेक्षणात्，तदभावस्य प्रकृतग्रन्थार्थत्वात्। अतएव तदभावो नाध्यक्ष इति दीधित्यादिवाक्यस्य तद्वद्रेदस्याप्यनध्यक्षतायं तात्पर्यम् ；अन्यथा तस्य लौकिकम्रत्यक्षसम्भवे उत्तरर्पन्थेनोपनयेन तदभावधीकथनवैयथर्थापत्तेः । अतएव च मूर्तसामन्यतद्धतोरिव （उपाधिसामान्यतद्वतोः）अत्यन्तान्योन्याभावौ न योग्याविति व्याप्तिग्रहो－ पायदीधित्यादावुक्तम् । मूर्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्तामावस्येव मूर्वव⿳亠口्धदझ्यापि निरुक्तयोग्मताविशि：ष्टस्य प्रतियोग्यनुपलुम्भस्य असत्त्वा－ देव अप्रत्यक्षतायाः सम्भवात् अतीन्द्रियसाधारणमिति । अती－ न्द्रियासनिकृष्टाभावपतियेगितात्ववढित्यर्थः। चक्षुरादियोग्यमिति । येनोपलब्धिरापादायितुं शक्यते ताहृशमित्यर्थः। अयोग्यधर्मानर्वाच्छिन्न－ योग्यमात्रवृत्रिप्रतियोगिताकाभाव एव योग्यः। वारवादौौ रूपाद्यभावस्तु न प्रत्यक्षः，किन्तु अनुमेयमिति मते तु यथाश्रुतमेव सम्यक्। यत्तु－ ＂सर्वदेशकालवृत्तिनिषघप्रतियोगित्वस्य चक्षुराध्ययोग्यत्वेपि तदभावो

[^42]योग्य:, घटे आकाशत्वाभाववत् घटे आकाशत्व ${ }^{1}$ सत्त्वे तस्यानेकवृच्तित्वाजातित्वापत्त्योपलम्भापादनवत् घटे ताह्टशाभावप्रतियोगित्वोपल्भम्भस्य आपादनसम्भवात् घटवृत्तेः ${ }^{2}$ संसर्गाभावप्रतियोगित्वस्य प्रागभावपत्रत्योगित्वादिवत् योग्यत्वात् प्रतियोगित्वस्य स्वरूपविशोषरूपत्वात् घटादिज्ञानानन्तरं अयमिहैव नान्यत्रेत्यन्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यानुभवात्। अन्यनिष्ठात्यन्ताभावस्तु न चक्षुरादिग्राबः, विशोष्यसन्निकर्षाघभावात्। न च घटादौौ सर्वेदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावे दृष्टान्ताभाव इति वाच्यम् ; मन्मते शुक्तिरूप्यादेस्तादृशपचियोगित्वस्य साक्षिभास्यस्य सत्त्वेन दृष्टन्तत्वात्, तार्किकादिमते तु व्यतिरेकेण दृष्टान्तत्वसम्भवात्। एवं स्वसमानाधिकरणेत्यादिरूपं सत्त्वमपि योग्यम्, उक्तरीत्या उपलुम्भापादनसम्भवत्" इति प्रलपितं, तत् स्वमतिः प्रकटिता। प्रागभावस्य हि सत्त्वे ${ }^{3}$ तत्र्रतियोगित्वं पत्यक्षं, तदसत्त्वे वा, नाद्यः; तदा स्वश्रयासन्निर्कर्षण तत्पतियोगित्वस्य प्रत्यक्षासम्भवात्। अन्त्येपि तस्य प्रागभावप्रतियोगितात्वेन प्रत्यक्षं प्रतियोगितात्वेन, तद्वयाक्तित्वेन वा, नाद्यः; प्रागभावासन्निकर्षात्। न द्वितीयः; सम्बन्धिता ${ }^{4}$ वच्छेदकरूपेण प्रत्यक्षं प्रति सम्बन्धितावच्छेदकरूपेण प्रत्यक्षम्य हेतुत्वात्, प्रागभाव ${ }^{5}$ पत्यक्षे तेन रूपेण प्रत्यक्षासम्भवात्, अन्त्यकल्पे वक्ष्यमाणदोषाच्च। नान्त्यः; तावतापि यथा तद्वचक्कित्वेन उपलब्धिरापादयितुं राक्यते न तु प्रागभावप्रतियोगितात्वेन, तथोक्कात्यन्ताभावप्रतियोगितत्वेनेपपलम्भो नापादयितुं राक्यत इति तदवच्छिन्नाभावस्यायोग्यत्वानपायात्। अतएव 'घटत्वत्वादिना नाभावप्रत्यक्षता' इति शिरोमाणिः। अयं नान्यत्रेत्यनुमवस्तु नानुपपन्नः, सन्निक्टष्टस्वानघिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगित्वप्रत्यक्षसम्भवाद्विशेष्यसन्निकर्षाभावात्। अत्यन्ताभावो न प्रत्यक्ष इति नु शोभतेतमां, तथा सति महावायावुद्भूत-

[^43]योग्यम्। वस्तुतस्तु सामान्यं नेन्द्रियप्रत्यासत्तिः, मानाभावात्। न च महानसीयधूमेन्द्रियसंयोगेन तत्रैव व्यासिग्रहे पर्वतीयधूमादनु मितिर्न स्यात्, सामान्यस्य च धूमत्वादे: प्र त्यासत्तित्वे तस्यापि प्रत्यासन्नत्वात्तत्र व्याप्तिग्रहे ततोऽनुमितिरिति वाच्यम्; पर्वतीयधूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमत्वेनप्रकारेण गृहीतस्मृतव्यापे: तण्र वैशिष्टचग्रहसम्भवात्। 'सुरभि चन्दनम् ' इतिवत् विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षविशोषणज्ञानासंसर्गारूपात्यन्तामावादेरपि प्रत्यक्षत्वासम्भवात्। न च यथा मनशतत्त्वेन ${ }^{1}$ रूपेणोपषलबध्यापादनं न सम्मवति तस्य मनोभिन्नावृत्तित्वादिघटितत्वेनातीन्द्रियत्वात्, अथ च मनस्त्वाभावः प्रत्यक्षः, तथोक्तप्रतियोगित्वाभावोऽपि प्रत्यक्षः स्यादिति वाच्यम्। मनस्त्वं यदि घटे स्यात् तदा मनसो येगग्यत्वेन तत्समवेतत्वेन मनसत्वोपलबध्यापत्त्या तेन रूपेपैण तदमाव₹्य प्रत्यक्षात्। मन्मते इत्यादिकं तु ₹वपित्रादीन् प्रत्येव वाच्यम्। याद्हशाभावो न्यायादिमते प्रत्यक्षन्तसैयैव त्वया साक्षिभास्यताया वाच्यत्वात्, अन्यथा अतिमसकात्। तार्किकादीनां तु वाक्यमुक्तमेव, तत्तु त्वय्य तथा प्रलपता स्वमेऽपि न श्रुतमित्यलमव्युत्पन्नविडम्बनया। ननूक्तप्रतियोगित्वाभावस्य लौकिकप्रत्यक्षासम्भवेऽपि उक्करीत्या सामान्यप्रत्यासत्या ज्ञानप्रत्यासत्त्या वा अलौकिकप्रत्यक्षमसतु; तत्राह- वस्तुतस्त्वित्यादि । विशेष्येन्द्रियसान्मिकर्षति। मुख्यविशेष्येन्द्रिययोः लौकिकसान्निकर्षेत्यर्थः। बहिरिन्द्रियाणां स्वलौकिकसन्निकृष्टमुरूयविशेष्यकज्ञानजनकत्वनियमान्मुख्यावेशेष्यांशो लौकिकसन्निकर्षस्य बहिरिन्द्रियजन्यभत्यक्षे भपेक्षेति भावः। यो यत्र पुरा अवगतः स एव तत्र संस्कारवशादलौकिकभ्रत्यक्षविषयोड्यन्नानुमानादिति प्राचीनतार्किकादिमते, उपनयसन्निकर्षास्वीकारमते च महानसीय एव स्मृतव्याप्ते:

प्रहरूपाया विशिष्टज्ञानसामग्रथा: पूर्णत्वात्। व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण वा पक्षधर्मताइानस हेतुता; महानसीय एव धूमो धूमत्वेन व्यासिस्मृतिविषयो भवति। धूमत्वेन पर्वतीयधूमपर्वतयिधूमे प्रत्यक्षासम्भवादाह-व्यासिस्मृतिप्रकारेण वेत्यादि । यधाश्रुतार्थमिदं प्राभाकरादिमते। अस्मन्मते तु स्मृतिप्रकारेण समृतिप्रकारतायोग्येन विषयो विषयतायोग्यः। योग्यत्वं च उद्लुद्धसंसकारविषयत्वम्। तथाच प्राभाकरादिमते व्यात्पिविशिष्टवैशिष्टयबुद्धचनावइयकत्ववत् ${ }^{1}$ मन्मते व्याप्तिस्मृत्यनावइयकत्वं, पर्वते धूमज्ञानोत्तरं व्यास्तिविशिष्टवैशिष्टघस्येव व्याप्षेरपि ज्ञानाकल्पने लाघवात् । न च व्याप्तिसंखकारत्वेन हेतुत्वे पूर्वाननुभूत॰्यापेः विशिष्टैवैशिष्टयानुभवादनुमितिर्न स्यात्, अनुद्धुद्धसंक्कारादनुमितिवारण।योह्बोधकानां नानाविधानां हेतुत्वे च गौरवामिति वाच्यम्; ठ्यापिसंस्कारज्ञानयोः स्वविशिष्टानुमितौ कारणत्वयो: सम्भवात्। ₹मृत्युपधायकोहोधकानां परेषां स्मृताविवार्माकमनुमितौ हेतुतायामगौरवात्। संखकारहेतुत्वं च ₹मृताविवानुमितावपि अन्वयन्यतिरेकसिद्धमस्तु, मासतु वा। अतएव पश्ञपाद्यां "लिक्नज्ञानसंस्कारयोः सम्भूय लिज्ञानहेतुत्वं, संसकारानुद्बोधे तदभावात्; तस्माल्किज्ञानमेव लिक्जिसम्बच्धसंसकारमुद्बोध्य तत्सहितं लिखिज्ञानं जनयति" इस्युक्तम्। तत्र ₹मृताविवानुमितौ संसकारस्य हेतुत्वमस्तु, मा वा 1 तदुद्योधकहेतुत्वातु तद्धेतुत्वमुक्तमित्याशयेन संसकारानुद्बोषे तदभावादित्युक्तम्। उद्धोधकानामपि समृताविवान्वयव्यतिरेकाम्यां हेतुत्वमसतु, मा वा, किक्ञानमेव वस्तुगत्या अनुमित्यच्यवहितपूर्ववृत्ति उद्नुद्धसंस्कारादिसहितं जातिविशोषेण शकिविशोषेण वा हेतुर्लाघवादित्याशयेन तस्मादित्यादि । न चैंव वड्डिव्याप्यधूमवानित्याादेज्ञानादिदं न्याप्तयाधंशो अ्रम हति धीविषयादनुमितिः

$$
1 \text { वैशिष्ट्यबुद्धेरिव. } \quad 2 \text { तन्न. }
$$

ज्ञांन चापि जातम्। तच्च सामान्यलक्षणां विनैव तावतैवातु मितिसिद्धे:। न च सामान्यप्रत्यासत्ति विना धूमो वकिव्यभिचारी न वेति अनुभूयमानसंशयो न स्यात, प्रसिद्धधूमे वब्बिसम्बन्धावगमात् अप्रसिद्दूस्य च अज्ञानादिति वाच्यम्; प्रसिद्धधूम एव बत्त्वूमत्वादिना व्यासितिश्ययेऽपि धूमत्वेन तत्संशयोपपत्ते: । तथाचोत्क मणिकता-'घटत्वेनेतरभेदस्यात्, व्याप्तयादिविषयकज्ञानत्वस्य कारणतानवच्छेदकत्वेन तदंशे भ्रमत्वज्ञानस अकिश्चिकरख्वात्, एवं व्यमिचारादिज्ञानसत्त्वेप्युक्तहेतुसम्पत्त्या अनुमितिः ₹्यादिति वाच्यम् ; ठ्याप्तिज्ञानत्वपक्षधर्मताज्ञानत्वाभ्यां हेतुत्वद्वयमते वह्विच्याव्यधूमैवैशिष्ट्यांशे भ्रमत्वेन गृहीतादिव मन्मतेऽऽ्युक्क्जानादनुमितेरिष्टत्वाद्याप्तयादिविषयक्जानत्वेनहेतुत्वे5वि उक्तभ्रमत्वज्ञानाभावानां हेतुज्ञाननिष्हेतुतावच्छेदकत्वस्स स्वातन्रयेण हेतुत्वस्य वा सम्भवात्, कारणतावच्छेदकजाल्यादे रुत्तज्ञानावृत्तित्वसम्भवेनापत्त्यसम्भवाच्च। एवमुकहहेतुताद्दूयमते वद्विव्याप्याभाववानयमिल्यादिषीसत्त्व इव व्यमिचारादिधीसत्त्वे कारणसम्पत्त्या अनुमितेर्मन्मतेपि इष्टत्वात्, ${ }^{1}$ संस्कारद्वारा अनुमितिप्रयोजकरीप्रतिनन्धकरीविषयत्वादेव व्यभिचारादे: हेत्वाभासत्व्यम्भवात्, कारणीभूतसंसकारायथार्थन्वज्ञापकव्यमिचारादेज्ञापनार्थ सत्पतिपक्षायुत्थापनार्थ वा विपरीतनिश्धयस्य संस्कारनाशकत्वमते व्यमिचारादिज्ञानस्य व्याप्तिसंस्कारनारकल्वेन ताहृशव्यमिचारादिज्ञानार्थ वा उपध्युपन्याससम्भवात्, कारणतावच्छेदकीभूतजात्यादेर्य्यमिचारादिज्ञानोत्ररकालन्ज़ाने सत्चे मानामावेनाखितदोंपपरिहाराच। वहिसम्बन्धेति। वद्विव्याप्तायिर्थः।

$$
1 \text { संस्कारान्तामितिप्रयोजक . . . . वा लाघवादि . . . . हेतु }
$$ रं संशायः . . . द्वेरिव मन्मते ठ्यापिसमृतेरेपि नावरयकत्वम्। रद्वा . . . नारद्वा . . धीप्रतिसम्बन्धकधीविषयत्वादेव. इल्यधिकः पाठः.

निश्ययेऽपि पृथवीत्वादिना तत्र संशायसिषाधयिषे भवत एव' इति । निश्यितेप्यर्थ प्रामाण्यसंशयाहितसंशयवत् धूमत्वं वह्विन्यभिचारिष्टत्ति न वेति संशायादपि ताहझासंशयोपपत्तेश्न । एतेन वायुः रूपवान वेति संशायोपि व्याख्यातः। नतु सिद्धे नेच्छा किन्तु असिन्दे, सा च स्वसमानविषयज्ञानजन्या। तच ज्ञां न सामान्यप्रत्यासत्तिं विना । न च सिद्दगोचरसुखत्वश्रकारकज्ञानादेव अज्ञाते सुखे भवतीच्छा, समानग्रकारकत्वमात्रस्य नियामकत्वादिति वाच्यम्; रजतत्वेन प्रकारेण रजते अनुभूयमाने घटादौ रजतत्वप्रकारकेच्छाप्रसद्भात् । न च प्रकाराश्रयत्वमपि नियामकम्, रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छानुदयग्रसक्रत्। तथाच समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकवंं तन्त्रम्। अतएवाख्यातिपक्षे रजतस्मरणस्यैव गुर्तौ प्रवर्तकत्वमित्यपास्तमिति चेक्न; यतो रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छा नास्तेव, किन्व्वनिर्वचनीये रजत इत्यनिर्वचनीयख्यातौ वक्ष्यते। प्रकाराश्रयत्वं नियामकं संशयादिति। धूमवृतित्वधटितथूमत्वत्वरूपेण धूमत्वस्य विशेष्यतया ठ्यमिचाराभावरूपव्यास्तेः उपस्थितेश्च व्यमिचारतद्भावसहचरितधुमत्ववैशिक्षचस्य धूमे अवगाहनात् साधरणणधर्मवद्धर्विधीविधया धूमघर्मिकठ्यमिचाससंशयह्टेतुरयं संश्राः । यद्धपि व्यभिचारतदभावसहचरातधर्मान्तरज्ञानमपि तथा सम्भवति; तथाव्यस्य धूमत्वठ्यामिचारिवृत्वित्वावगाहित्वात् ठ्यमिचारीणि धूमे च्याप्तिककारकत्वरूपाप्रामाप्यज्ञापकत्वेन व्याप्तिनिश्रयामिभावकत्वादादर इति ध्येयम्। वस्तुतन्तु उफसंशयस्य दोषविशेषतया अनुभवबहात् तदजन्यव्यभिचारज्ञान एव ठ्यात्तिनिश्रयो विरोधीति भावः। अप्रामण्यसंशयोत्थानद्दारा उत्कसंशयस्य व्यासितनिश्चयाभिभावकते तु न हृान्तसामझस्स्यम् ।

वद्क्षरयातिवादी परमेवं विभीषणीयः । तथाच प्रकाराश्रयत्वस्य नियामकत्वाद्न्यथारुयातिपक्षोपि निरस्त एव। न च तर्हि अ्रमत्वं न स्यात्, इदं रजतमिति अ्रमत्वाभिमतज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारत्वानम्युपगमादिति वाच्यम्; बाधितविषयत्वेन हि अ्रमत्वं, न तु व्यधिकरणप्रकारत्वने, विभीषणीय इति। वस्तुतस्तन्मते संवादिपवृत्तावेव प्रकारश्रयव्वं नियामकं, प्रवृत्तिमात्रे तु उपस्थितयोः इष्टतावच्छेदकपुरोवर्तितोरसंसर्गाप्मह इति न दोष इति भावः । प्रकाराश्रयत्वस्येति । एकरजतज्ञानादन्यरजते प्रवृत्त्यापत्तिस्तु ज्ञानरजतानामेकत्रेव अन्यत्रापि प्रवृत्तिः स्यादित्यापत्त्या तुल्या, असाधारणकारणकल्पनात्तद्भावात् तदनापत्विरपि तुल्येति भावः । व्यधिकरणप्रकारत्वेति। स्वनिरुपितविशेष्यतावद्धित्तिभिन्नवृत्तिप्रकारताकत्वेत्यर्थः। स्वप्रकारता रजतादिस्त्रप्कारता, स्वनिरूपितविझेष्यतावति शुक्तयादौ वर्तमानादिदंत्वादे: भिन्नरजतादौ वर्तमाना बोध्या। बाधितेति। स्समानाधिकरणाभावप्रतियोगीत्यर्थः । विषयाबाधप्रयोज्यत्वात्वाधिकरणत्वेन प्रतीतेः विषयाभावज्ञानज्ञाप्यत्वात्। किंच यत्र येन सम्बन्धेनासम्बन्धि यत् तान्निष्ठविछोष्यतानिरूपिततत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकर्षीत्वं, तत्र तेन सम्बन्धेन तस्य अ्रमत्वमित्युक्तौ अ्रमत्ं संसर्गांोे न स्यात्। ठ्यवद्यियते च तदंशेपि अ्रमत्वम् । अन्यथा संसर्गोश एव भ्रमत्वं न प्रकारांरो इल्येव स्वीकृत्य तदीयतत्सम्बन्धनिष्ठसांसर्गिकविषयत्मकत्वं तत्सम्बन्धन्य भ्रमत्वमिति लक्षणं किं न स्यात्। अथ तस्य विशोषणस्येव तदीयतत्सम्बन्धस्यापि उक्तप्रकारताकधीत्वमेव तस्मिन् विशोष्ये अत्रमत्वम्, तथापि संयोगेन रूपवानित्यादिज्ञानं रूपांशो संयोगस्य अमो न स्यात्, प्रतियोगितासम्बन्धेन रूपासंबन्धिनः संयोगस्य तेन सम्बन्धेन प्रकारत्वाभावात् सम्बन्धभानस्य नब्यैरस्वीकारात्- अथ यस्सम्बन्धो यदप्रति-

योगिकः तन्निस्ठसांसर्गिकविषयतानिरुपिततत्प्रकारताकधीत्वं तस्सम्बन्पस्प तत्र तस्मम्बन्षे तस्य च भ्रमत्वं तदा एकोक्तयसम्भवः। न चोक्तज्ञां घटादौ रूपस्यैव अमः न तु रूप संयोगस्येति वाचम्; व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावास्वीकर्तृमते ब्यधिकरणसम्बन्धावृच्छिन्नाभावाश्वीकारस्याप्पौचिल्येन घटत्वेन पटो नास्तील्यत्र पटे घटत्ववैशैक्ष्यचस्येव संयोगेन रूपं घटे नास्तीत्यत्र रूपे संयोगवैशिष्टयस्य अभावभानौचित्येन ताह्हाघीवाध्यस्य संयोगेन रूपवान् घट इति ज्ञानस्य रूप संयोग्रमल्वौचे-
 ससंर्गकज्ञानस्यापि संयोगाभाव्रकारकधीवाध्यंत्ववत्। ननु प्रतियोगिनि विशेषणमेव प्रतियोगितावच्छेछकमिति नियमेन घटो नास्तीय्यादिज्ञानस्य प्रतियोगिनि विऐोषणप्पमाव्वमेव विशेषणाभूतघटत्वादे: प्रतियोगितावच्छेबकत्व्वप्रत्वे नियामकं ${ }^{1}$, अन्यथा घटत्वावच्छिन्नाभावः पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्यादिज्ञानस्यापि पमात्वापत्तेः। तथाच घटत्लेन पटो नास्तीति ज्ञानं न घटताद्वौ प्रतियोगितावच्छेदक्वस्य प्रमा, संयोगेन रूपं नास्तीति ज्ञानं चु संयोगादौ सम्बन्धे ${ }^{2}$ प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य कुतो $^{3}$ न पमेमेति चेत्, ताह्दायुत्तोरेवे। न हि संयोगेन घटो नाह्तीति ज्ञाने संयोगादिसम्बन्धो घटांशे विशेषणणामूतोऽपि प्रतियोगितावच्छेदकः, घटत्वादिक तु न तथेति वैषम्ये मानमस्ति। न च पूर्वमज्ञातस्य ${ }^{5}$ संयोगादेवर्विशोषणत्वासम्भवेव ${ }^{6}$ प्रतियोगिता_ वच्छेदकत्वर्षीरिति बाच्यम्; विशिष्ट्वद्धघादौ विशेषणधीहेतुत्वा₹ीकर्तृनव्यमते तथोक्रेरसम्मवात्। न च रूपे संयोगाभावनिर्ण${ }^{1}$ घटत्वादिप्रमावेंमेव घटत्वादौ प्रतियोगितावच्चेकलेन नियासकम् ।

 क्छेक्ततया भानं रूप्वर्ष्य तत्र विशेषणतयैव. पा. 5 दूर्व्शातस्य. 6 प्रतियोगिनि विरोषणत्वासम्भवेप.

तस्यापि विषयवाघ्रयोज्यत्वादिति हि वक्ष्यते । नन्वमावज्ञानस्स प्रतियेगिगज्ञानजन्यत्वात् प्रौढ्रकाशयावत्तेजोविरहरूपस्य तमसः प्रत्यक्षता न साव्, सामान्यप्रत्यासन्ति विना प्रतियोग्यनुपस्यितेरिति, चेन्न; असन्मते तमसो भावान्तरत्वाव्। योत्तरं जायमाने संयोगेनेन रूपं नास्तीति ज्ञाने रूपे संयोगस्य विशंषणत्वासम्भवात् उत्तवैषम्यमिति वाच्यम्; एकत्र द्वयमिति रीत्या रूपत्वसंयोगोभयप्रकरज्ञानस्य संयोगेन रूपं नास्तीति निर्णयाप्रतिवद्धत्वाच्च तयोः तदाइपि भानसम्भवात्। एवं दूस्थविषयकनिर्विकल्पकपत्यक्षे सर्वलोकसम्मतभ्रमत्वव्यवहारो न स्या्।। अस्मन्मते तन्रानिर्वाचंचं जातं बाधितमतो बाषितविषयकत्वंमेव भ्रमत्वमिल्याशयेनाह—अक्ष्यत इति । असन्मते पूर्वोतरमीमांसकमते । मावान्तरत्वादिति। तदुक्तम्-

नाभावोडमाववैधर्म्यान्नारोपो बाघहानितः।
द्रव्यादिषट्क्रैैधर्प्यात् क्षेयं मेयान्तरं तमः ॥
इति। तमो नीलं चलतील्यादिप्रतील्या रूपादिमत्व्वात् घटादिण्विव तत्राबाधात् गन्षाधभावेन पृथिष्यादिनवद्रव्ययुणादिवैधम्याचच द्रव्यान्तरमिल्यर्थः। किश्च द्रव्यचाक्षुषे आलोकपतियोगिकः संयोगो न हेड़ः, मणिपभादौ तद्भावेऽपि चाक्षुषभावाव् ${ }^{1}$ । नापि आलोकप्रतियोगिकत्वोपलक्षितः संयोगो विजातीयत्वेन हेतु:, अणुदेशावच्छिन्नाधालोकसंयोगात् न चाक्षुषमतो विजातीयत्वेनेति। आलोकप्रभादौ वाय्वादिसंयोग एव ताहद्रा इति वाच्यम् । आलोकप्रभादौ बाख्यादेः संयोगो विभागादिरेव वा ताहश इल्यत्र विनिगमकाभावात्, घटादावपि विभागादेहेढुत्वसम्भवेन सक्षराघपसक्ते: तददोष्त्वाश्च ${ }^{2}$ अ अतो द्रव्यचाक्षुषे तादात्येन संसर्गविषया तमस्त-

## न च तथाऽपि तब्झञ्जकत्वत्तदपेक्षेति वाच्यम्; स्वरूपसत

 एव ताहक्तेजोविरहस्य तमोण्यअकत्वं, न तु ज्ञातस्य, माना-जात्या प्रतिबन्धकत्वात् तमो नाभावः, कपालादौ घटादिरिव घटादौ तदवच्छिन्नैतन्यगतमूलाविद्यापारणणामनतम इति तत्रतत्र तत्तादात्मात् तर्काले न चाक्षुषम्, प्रभादौ तद्रावाच्चाक्षुषम् । तमोघ्वंसश्रालोक ${ }^{1}$ संयोगादिरूप इति न तर्कल्पने गौरवम् । न चैवं तमोऽभावत्वेन कारणत्वे गौरवात् द्रव्यचाक्षुपहेतुत्वेन वस्त्वन्तरमेव सिद्धघेतेति वाच्यम् ; प्रतिबन्धकाभावस्य सिद्धान्ते हेतुत्वास्वीकारात्, प्रतिबन्धकस्य कार्यामावं प्रति क्षेमसाधारणजनकटवमात्राम्युपगमात्। प्रतिबन्धकाभावाधिकरणं यः प्रतिबन्घकाभावसहितकारणकूटक्षणोत्वरक्षणः तत्व्वस्यैव कार्यव्याप्यतया प्रतिबन्धककाले न कार्योप्पत्त्यापत्ति: अथवा स्वावच्छिन्नवतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन स्वनिरूपकत्वसम्बन्धेन वा तमस्त्वमभावनिष्ठ कारणत्वावच्छेदंकं प्रतियोगितायाः ₹वावच्छेदकधर्मरूपत्वेन तमसत्वाभिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वमभावेऽपि । वस्तुतस्तु तमस्त्वावच्छिन्नाभावक्याक्तिसतद्धयक्तक ${ }^{2}$ त्येनैव हेतु:, तच सैव व्यक्किस्तान्निष्ठधीविशोषविषयत्वं वेत्यन्यत्। न च तद्वयक्केः स्वरुपतो भानाभावात् स्वरूपतो नावच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, स्वरूपतो भानाभावे डपि स्वरूपतो ऽवच्छेदकत्वे बाधकाभावात्। किश्च उक्तकारणत्वेन भावन्तरासिद्धौ तदभावेन नीलं तम इत्यादिप्रतीतेरानिर्वाहाचमसो भावत्वावरयकत्वेन तदभावस्यैव उक्तकारणत्षसम्भवेन तद्देतुत्वेन भाबान्तरं न कल्प्यते गौरवादिल्याहतां विस्तरः ॥

न तु ज्ञातस्येति। अलोकस्य तमोनाशकत्वात्तमस आलोकाभावप्रयुक्तत्वेन तमोजन्यस्य तमश्चाक्षुष ${ }^{3}$ स्यालोकाभावप्रयोज्यत्वं; तत्र च न ज्ञानमुपयुज्यते । उक्तं च विवरणे-‘ आलोकविनाशितस्य
${ }^{1}$ तमोष्वंसाभ्कालोक. ${ }^{2}$ व्याक्तितद्ययक्ति. ${ }^{3}$ तद्वकाष्धुष.

भावादित्यम्युपगमात्। अन्येषां मते ताद्तक्तोनिरहझानस्यापेक्षितत्वेपि प्रतियोगितावच्छेदक्रकारकझ्ञानादेव तत्सम्भवेन तदर्थ सकलप्रतियोगिज्ञानजनिकायाः सामान्यप्रत्यासत्तेरजुपयोगात्। न च गोत्वाभावज्ञानं गोत्वत्वप्रकारकझ्ञानजन्यम्, तच्च गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोत्टित्तत्वरूंप सामान्यम्रत्यासत्तिमन्तरेण न शक्यमवगन्तुामति साम्प्रतम्; यत्किश्विइोव्यक्तेरेव तमसः पुनर्मूलककारणादेव विद्युदादेरिव झटिति जन्म' इति। तम उत्पन्नं नष्टमिति प्रतीतेस्तमउत्पत्त्यादिविषयकत्वं स्वीकृत्येदम् । लाघवाच्छョद उत्पन्नो नष्ट इत्यादिबुन्द्रिरिवोक्तबुद्धेरभिव्यक्तयुत्पत्तिनाशाविषयकत्वे च साक्षादेव आलोकाभावस्य ब्यङ्अकत्वम्। न चैवमालोके सत्यपि दिवा उल्कादेस्तमश्राक्षुषं न स्यादिति वाच्यम्; दोषविशोषाणामपि विकल्पेन व्यअकत्वादालोकाभावभ्रम एव दोषविशेषणणामावइयकहेतुत्वेपि प्रातीतिकस्याप्यालोकाभावस्य उ्यक्जकत्वाद्धा। अन्येषां उक्ततेजोविरहस्तम इति चदिनां वैशेषिकादीनां, द्रव्यं तमस्तद्यझ्ञक अलोकाभाव इति वादिनां पूर्वर्मांांसकानां, च। प्रतियोगितावच्छेदकेति। घौढप्रकाशत्वेत्यर्थः। तच उद्भूतानभिभूतरूपकमहातेजस्त्व प्रभात्वरूपा जातिर्वेत्यन्यत्। गोष्यकेकरिति। समवेतत्वसम्बन्छेन गोत्व ${ }^{1}$ रूपेणावच्छिन्नं प्रतियोगितावच्छेदकत्वं गोव्यक्तीनां सर्वासां प्रत्येकपर्यापत्वाद्यत्किस्चिद्नोब्यक्तिनिष्ठतया भातीति भावः । विशेषणविधया गोः प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् गोसमवेतद्रव्यत्वाद्यश्र्रयेऽपि गोत्वं नास्तीिति धी: प्रमा। वस्तुतस्तु तत्तद्रोव्यक्तीनां गोत्वनिष्ठाधेयतया अवच्छेदकत्वमनवच्छिन्मम्, न तु गोत्वादिना अवच्छिन्नम्, एकैकगोव्यक्तिमात्रनिष्टावच्छेदकत्वस्य तद़तिप्रसक्तगोत्वाद्यवच्छिन्नत्वासम्भवात्, तत्तद्वयक्कित्वेनापि तद्व²-

गोत्वत्वरुपत्वात्। एतेन प्रागभावप्रतीतिरपि ब्याख्याता। किंचानागतज्ञानस्य अपेक्षितत्वे अनुमानादेव तज़किष्यति । तथाच न्यायकुसुमाअ्जलौ-

## राक्रा चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छक्का ततस्तराम् ।

च्छिन्नं लाघवात्। तथाच तत्तद्गोव्यक्तीनामेंकैकमात्रस्य उपलक्षणविधैयैवावच्छेदकववं ताहृशसम्बन्घेन तद्वचक्तिविशिष्टगोत्वस्य गवान्तरे सत्त्वाभावेंन तत्र गोत्वं नास्तीिति प्रत्ययापत्त्या विशेषणविषया तस्यावच्छेदकत्वासम्भवत्। गोत्वं तु नावच्छेदकं, अत्यन्ताभेदे सिद्धान्ते सम्बन्धाभावेन प्रतियोग्यसम्बद्धत्वात् । गौरित्यकारकयतिकक्चित्ज्ञानेच्छापकारत्वादिकं तु ज्ञानविषययेगेेदे विषयत्वभेदानअीकारे अतिप्रसक्तम् । अतो गोव्यक्तेरेवेत्युक्तम्-गोत्वत्वेति । गोत्वांशो प्रकारेत्यर्थः। तथाच गोमात्रस्य गोत्वनिप्ठप्रतियोगितायां वस्तुगत्या अवच्छेदकत्वेऽपि कस्यचिद्रोरेव गोत्वांशो प्रकारत्वेन गोत्वाभावप्रतियोगितावच्छेदकतया भानात् तद्विषयी भूतस्यैव कस्यचिद्धोर्वा गोत्वेन ज्ञानमेव ${ }^{1}$ तदभावधीहेतु: न तु गोमात्रस्येति भावः। एतेनेति। प्रतियोगिज्ञानस्याभावबुद्धौ विशोषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानविघया हेतुत्वात् प्रतियोग्यंशो विशोषणतावच्छेदकधर्मप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वेने त्यर्थः 1 घटत्वादिना विद्यमानघटज्ञानादेव भाविघटविशोषितप्रागभावरीः राब्दादिना ${ }^{2}$ योग्यताबलाद्विद्यमानकार्ये शक्तिम्रहात् भाविकार्यस्य लिङा प्राभाकरमते बोधवदिति भावः। राक्षेत्यादि । कालान्तरे देशान्तरे च वर्तमानधूमादिठ्याभिचारीत्यस्य अतीन्द्रियपिशाचा ${ }^{3}$ घ्युपाधित्वस्य वा राक्का पूर्वोका चेद्ति तदा देशकालान्तरयो: भाविमूतयो: अननुमूतयोर्जानाय अनुमानमस्त्येव। जल्पेन प्रतिवादिनं निरस्त्र
1 गोर्वों ज्ञानमेव. ${ }^{2}$ शब्दादीनां ${ }^{3}$ पिशाचत्वा शाक्षते.
A.S.v.

## ठ्याघातावधिराराक्का तर्कराङावधिमतःः।

इत्यत्र राङेपपादकमनागतज्ञानमनुमानादेवेत्युक्तम् । अनुमानं च 'वर्तमानपाकः पाकपूर्कारीनः पाकत्वाद्तीतपाकवत्' इत्यादि । न च चरमपाके ठ्याभिचारः; साध्यसिद्युचपजीवकस्य व्यभिचारज्ञानस्यादोषत्वात्, अन्यथा सिद्धर्यसिद्विव्याघातात्। किंच शब्दाद़ि सकलधूमपाकादिगोचरज्ञानसम्भवः। न च राङादिपूर्वं शब्द्स्योपस्थितिनियमाभाव इति वाच्यम् ; कदाचिदेव शब्दादनुभूतस्य तदानीं त्वनुभुष्बुं प्रत्याह——र्कइशङ्कावधिरिति । शाङाया अवधिः सामग्रीविघटक: । ननु तर्कस्यापि ठ्याप्तिधीमूलकत्वादनवस्था; तत्राह——्याघातेति । आशाङ्का उक्कानवस्था यदि सर्वत्र राङ्षसे, तदा धूमाद्यर्थ वह्रयादौं तवैव प्रतृत्तिः न स्यादिति तर्करूपेण व्याघातेन वारण्णयेत्यर्थः। उक्रमिति । कालान्तरे कदाचिद्वयभिचरिष्यतीति काल भाविनमाकल्प्याशा क्षयेत ; तदाकलनं च नानुमानमवर्धरययेतेत्यनेनोक्तमित्यर्थः। भाविनमित्युपलक्षणम्। पाकपूर्वकालीनः। पाककालीनघंसप्रातियोगी। सिद्ध⿹सिद्धीति । भावि यदि ज्ञातं, तर्घनुमानेनेति किं पाश्चात्येन ठ्यभिचारज्ञानेन, यदि न ज्ञातं तर्हि, तत्र व्यमिचारो ज्ञातुमशक्य इत्यर्थ: । पाककालीनध्चंसप्रतियोगिपाकत्वादि तु असिद्धत्वाच्रमपाकसिद्धयधीनसार्थकताकविशोषणयुक्तत्वाच्च न हेतूकृतम्। न च जातायामनुमितौ ठ्यमिचारिरिल्नधीजन्यत्वेन अ्रमत्वमनुमयमिति वाच्यम् ; व्यभिचारलिङ্धीजन्यानुमितेरपि प्रमात्वात्। शब्दादनुभूतस्येति । विद्यमानराक्तयादि ${ }^{2}$ ज्ञानादविद्यमानव्यक्तिबोधः प्राभाकरमत इव समानप्रकारकत्वेन शक्तयादिधीशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावादिति भावः।

प्रमृष्टतत्ताकस्मृतिसम्भवात्। नन्वनुमितेत्र विशेषणज्ञानजन्यंत्वेन सामान्यप्रत्यासत्तिसिद्दि:, न चानुमानान्तराइिशेषणज्ञानमनवस्थानादिति चेन्न ; विशेपणतावच्छेदकप्रकारकज्ञनादेश साध्य-
 नम्' इल्यदिविशिष्ज्ञानाय कलिपता ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरपि निरस्ता ; चन्द्ननत्वेन सुरभित्वान्नुमानेपपप्तेः। अन्यथा साध्यविशिष्टपक्षम्रत्यक्षोपपत्तेरनुमानमान्रोंच्छेदप्रसझात्। न चाभावसाध्यकेनल०्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्देरनद्धत्वात् तत्र क्रूप्ताया: अनुमितिसामग्रथाः प्रत्यक्षसामग्रीतो बलवच्वमिति वाच्यम् ; अर्थापत्तिवादिभिरस्माभिस्तदनस्युपगमात् । 'पर्वतवृतिंधूमो वृद्धिव्यापकः' इति परामर्शात् साध्यविशेष्यक-

तत्त्द्रशकालसम्बन्धित्वरूपतत्ताविशिष्पूर्वत्वादिना अनुभूतस्यापि केवलधूमल्बादिना समृतिरिर्याह---ग्रमृष्टत्ताकेति। तत्रांशे संस्कारानुदोधेनाविषयीभूततसाकेल्यर्थः। ज्ञानादेवेते। विशेषणज्ञानं यदि समवायेन हेतुः तदा प्ल्यक्ष एव, अन्यथा समृतौ व्यमिचारादिति भावः। पक्षप्रत्यक्षेति । परमाणुः रूपवानित्यायनुमितेरेपि परमते मानसभर्यक्षक्ववोपपत्तिः। न चानुमिनोमील्यनुन्यवसायेनानुमितित्वजातिसिद्धघा तद्विशिप्ृस्य परामर्शजन्यत्वमावशयकम्, अन्यथा ठ्यात्तिपक्षधर्मतानिश्घयस्यानुपयुक्तव्वापतेरितित वाच्यम् ; अनुमितिसामर्भीव्वेन पराभिमतव्यासिज्ञानाचुत्तरप्यक्षक्षस्यैवोक्तानुठ्यवसायविषयत्वात्, व्याप्सिपक्षधर्रतानिश्रयस्यताहशप्रत्यक्षपमात्वमहोपयुक्तव्वसम्भवात् वह्वयादिप्रमात्वस्य व्यापकत्वपक्षे वद्दयादिठ्याप्यवद्विरेष्यज्ञानस्य विरोष्यदर्शनलेने उपयोगादिति भावः। अर्थापत्तीति। वस्तुतस्तु तर्रानुमितिस्वीकोरोपि व्यतिरेकव्याप्सिज्ञानघटितायाः साममचा एवलैकिकमत्यक्षसामशीतो बलवव्त्वं सिद्धचति,

पक्षविशेषषणकान्नुमिल्यम्युपगमे तु नैव काप्यतुपपत्ति:, अनुमितेः पक्षविरोण्यत्वनियमे मानाभावात्। किश्र धूमत्वादिसामान्यं न स्वरूपतः भ्रत्यासत्तिः। धूलीपटले धूमभ्रमानन्तरं धूमत्वेन सकल थूमनिष्ठवाह्द्निव्यात्तिग्रहान्तुदयप्रसक्नाव्। न चेषापाच्चः; तदुत्तरकालमनुमित्यनुद्यापत्ते: । तथाच धूमत्वक्ञानं प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्। तच धूमेन्द्रियसन्विकर्षदन ल्वन्वयव्यात्तिजानघटिताया इति ध्येयम्। नैव कापीति । विशिष्टबुद्धिमान्रे विशोषणविषयकत्वेन संस्कारादिसाधारणेन हेत्वेड़पि पक्षवृत्तिसाध्यधटितव्यात्तिविशिष्टविरोष्यकज्ञानात् पक्षधर्मताबलात् पक्षीयसाध्यविशेष्यकानुमितिसम्भवः सामान्यउक्षणानैरैप्ष्ष्येणेति भावः। यदि पर्षायधूमस्सन्निक्टष्ट:, तदा तत्र पूर्वोक्तरीत्या समृतन्यम्सेर्वैशिष्यचधीसम्भवान्न सामान्यरक्षणापेक्षा। यदि च ठ्याप्तिषीसमये पक्षे विद्यमानो घूमोडसन्निक्छष: ; तदावि चरूूपतो धूम्ल्पर्यासत्तिल्वेडपि तदानीं तत्सत्वात् व्यातिपीसमम्भवः। यदि तु न तथा, किन्बु पक्षीयघूलीपटले धूमत्वभमोषरं पक्षीयातीतानागतघूमेषु व्यात्सिं गृहीत्वा अनुमितं, तदा अतीतादिधूमेषु व्यम्तिर्धारूर्वक्षणावच्छेदन धूमत्वरुपपप्यासतेः: कारणस्याभावात् न व्यात्तिषीरूपकार्यस्य विशेण्यतासम्बन्धेन तेब्लूप्यतिसम्मव इत्याहधूरीत्यादि। उपरक्षणमिदम्। पक्षातृत्तिषूमे व्यातिम्रहानन्तरं यदि पक्षीयातीतादिधूमेषे च्यात्ति गृहीत्वा अनुमितिः, तत्राप्यनुपपाच्चिध्या। तत्राततिादिषु पक्षीयभूमेषु व्याप्तिप्ययक्षपूर्वक्षण इृति रेषः। एतेन "धूलिपटले घूमत्वभ्रमात् धूममात्रे व्यात्तिप्रक्षे बाधकाभाव:, तस्य धूलीपटलविशेष्यकवंवं नु दोषपयोज्यं, न तु धूमत्वसामान्यपयोज्यम्; धुमनिप्रविशेष्यतासम्बन्बैनैव धूमत्व्रकारकप्यक्षस्य तत्कार्यत्वात्" इति परास्तम्। धूमत्वज्ञानमिति। विषयतासम्बन्षेन कारणत्वात्'त्तेन

[^44]शायां धूमज्ञानात् प्राक् नास्त्येव । निर्विकल्पके मानामावात् विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावएनभ्युपगमात्, अवरयक्लत्तकार्यकारणभावविशेषेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः। न च धूमत्वेन सक्भिकृष्टधूमव्यक्तिज्ञानानन्तरं तन्समानाकारमसन्निकृष्टधूमगोचरं ज्ञानान्तरमुत्पद्यत इत्यत्र सम्बन्धेनातति।दावपि तद्सीति तत्रापि विशेप्यतया प्रत्यक्षोत्पत्तिरेति भावः। नन्वनवाच्छिन्नप्रकारतया ज्ञानं जन्य' '्रत्यक्षं वा प्रत्यनवच्छिन्नविषयतया ${ }^{2}$ सम्बन्धेन सविषयकत्वेन हेतुत्वमवइयं वाच्यम्, अन्यथा जातिमानिति प्रत्यक्षम्य नियमेन घट इत्याद्याकारकत्वं स्यात्, सनिकर्षादेरविशेषात् ; ज्ञानोपरमेऽपि इच्छाद्यनुण्यवसाये घटादे: प्रकारत्वात् ज्ञानत्वेन हेतुत्वम्, अनुछ्यवसायस्य साक्षित्वेनाजन्यत्वे तु ज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिस्यत्राह—अवइयेति। अयं घट इत्यादिसधर्मितावाच्छेदकबुद्धे: बाधाभववप्रयोज्यत्वात् निर्धर्मितावच्छेदघट इत्यादिबुद्धेरपाष्टविषयान्तरजिज्ञासादिरुपप्रतिबन्धकाभावप्ययोज्यत्वात् ताद्टराप्रति चन्धकत्वस्य च जातिमानिति प्रत्यक्षं भवतु ; घट इति प्रत्यक्षं भवत्वित्यादीच्छोत्तेजका नुरोधेन प्रथत्तात् जातिमानिति धीकाले घट इत्यादिधीसामग्रया अनावइयकत्वेन जातिमानिति ज्ञानस्य नियमेन घट इत्याद्याकारकववासम्भवात् किंच उक्तम्रकारतासम्बन्घेन प्रत्यक्षे न ${ }^{4}$ विशेषणधाहेतुत्वम्, अनन्तनिर्विकल्पककल्पनागौरवात् ; किन्तु अनवच्छिन्नविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति क्रप्तसंयोगांदरेव स्वाश्रयसमवायेन विजातीयत्वेन हेतुत्वम्। अलौकिकप्यक्षक्षं तु अनवचिंद्नन्ना प्रकारतापरामर्शादिनियम्येति भावः। ननु धूमनिष्ठविशेष्यतया प्रत्यक्षं प्रति स्वाश्रयनिष्ठविषयतया धूमत्वं हेतु: , तथाच ज्ञानान्तरानुत्पादे S पि न क्षतिः, चक्षुस्संयुक्तसमवायादेः सहकारत्वात्, तद्भावकाले न

मानमस्ति ；धूमव्वेन पुरोवर्तिनं धूमं साक्षात्करोमि न व्यव－ हितमित्यनुभावाच्च। अन्यथा जगतीगतसकल धूमन्यक्तीरहं साक्षात्करोमीत्यनुठ्यवसीयेत। न चैवमनुभवमात्रशारण्णरम्युपे－ यते। किश्न सामान्यप्रत्यासन्यद्धकारारे यत् प्रमेंयं तदार्भिघंयं， यत् प्रमेयवत् तदभिध्यवदित्यादिन्याप्तिपरिच्छेदे सार्वज्या－ पत्तिः। न चेष्टैव सा；परज्ञानविषयो घटो न बेत्यादिसं－ शयानुपपत्ते：। न च घटत्वश्रकारकघटविषयकनिश्ययो घटसं－ झायविरोधी，प्रमेयमिति निश्ययस्तु घटविषयोर्जपि न घटत्व－ प्रकारक इति वाच्यम् ；भासमानवैशिष्च्रत्रतियोगिन एव प्रका－ रत्वात्，घटत्वस्यापि प्रमेयमिति ज्ञाने भासमानवैंशिप्यप्र－ तियोगित्वात，घटत्वप्रकारकनिश्ययस्य घटत्वश्ञानजन्यत्व－ प्रत्यक्षं，तत्राह－धूमत्वेन पुरोवर्तिंनमित्यादि । साक्षात्करो－ मीति। न च—सांन्नकृष्लौकिकविषयकप्यक्षक्षस्योक्तानुव्यवसायविषय－ त्वात् नेन्कापत्ति：，ठ्यवाहिताद⿸广 प्रत्यक्षणिएलोंकिकविषयतायामुक्तरीत्या मानाभावे तापर्यांक्कविकाव्यादि－ स्थले स्मरणानुमानशाब्दवोधरूपवाक्यार्थधीसम्भवात् बाधितेव्यंथं आहा－ र्यालैकिकमानसादिप्रत्यक्षास्वीकरोपि शान्दधीसम्म्यात्，कलह्हादौ। तथा दृष्टत्वात्，वाक्यार्थज्ञानं विनापि गुक्रवद्वाक्यरचनासम्भवाच्च पमेय－ त्वसामान्यलक्षणायाः सरवविषषयज़ानजनकत्वम्। प्रमेयत्वसामान्युक्षणा तु प्रमेयव्व＇सामान्युक्षणाजन्या स्वयमपि सर्वीविषयकेल्यभिभायेणाह् यत्प्रमेयददिति। इस्चेतेति। अलौकिकप्यक्षत्वादुक्तसार्शयमाध्ररीयधी－ विलक्षणामिति भावः। उक्तज्ञानाभावकाले संइाये घाषकाभावादाह－ परझ्ञानेति । उक्तज्ञानेत्यर्थः। यम्योक्तज्ञानं जातं तस्यैयेक्कज्ञान－


विशेषणाददोष इति चेत् न विशेषणज्ञानत्वेनैव तस्य जनकता वाच्या, तस्याः प्रागेव निरासात् ; स्वरूपसम्बन्धविशेषाभ्युपगमे च अनिर्वचनीयवादापत्तेरित्यादिदूषणानि बहुतरमूहनी-

यत्रमेयं तदभिघेयमितीत्यर्थः। विशेषणादिति। घटत्वज्ञानजन्यव्वमेव घटत्वपकारकव्वमित्यर्थः। निरासादिति। यत्र घरत्वादौ प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोः सहचारं गृहत्ति व्याप्तिर्गृहीता तत्र घटत्वज्ञानजन्यत्वमापि व्याप्तिम्हे वर्तते। न च स्वरूपतो घटत्वज्ञानजन्यत्वं वाच्यम्, उउक्थले च भमेयव्वाधिकरणत्वेन तद्ज्ञानं न ₹वरूपत इति वाच्यम् ; तथाप्ययं घटभिन्नवानिति निश्चयस्य घटमिन्नव्वसामान्यलक्षणाजन्यस्योक्तसंशयविरोधिव्वापत्ते:॥

ननु-प्रकाशस्य सतन्तदीयतामान्रूपप: स्वभावविश्रोषो विषयतेति बौद्धाधिकारे उक्तम्, तत्र तदीयता तस्सम्बन्धित्वं प्रकाशस्य ज्ञानस्य, तथाच ज्ञानख्वरूपविशेष एव अर्थन सह ज्ञानस्य सम्बन्ध इत्यर्थः। सामान्यतो विषयता ज्ञानमेव, घटादिविषयता तु घटादीयत्वेन अनुगताः ज्ञानविशोषाः संयेगविशेषा द्वव घटादानां, सम्बन्धब्यवहारनिमित्तं च ज्ञाननिष्टमर्थसम्बन्धित्वं, न व्वर्थनिमें ज्ञानसम्बन्धिव्वं, अतीतानागतानुरोधात्, सम्बन्धसम्बन्धिनोश्य्याभेदो न दोषाय, सर्वत्र व्वरूपसम्बन्धन्थले तथा कर्पनादिति शिरोमाणिः। तथाच घटत्वपकारकज्ञान'मुक्तसंशययविरोधि ; प्रकारकत्वं च ज्ञानविशेषपरूपमिति प्रमेयमित्याद्याकारकज्ञानस अतथााव्वादविरोधित्वमित्यत आह—स्वरूपेति। स्वस्य स्वं न सम्बन्धः, ₹वं न स्वीयमिल्यनुभवात्, अथ केनचित् रुपेण स्वस्यापि ₹वातिरेकं स्वीकृत्य सवपतियोगिकसम्बन्धत्वं बाच्यम् ; तथापि ताहदशाकिस्चिद्रूपविशष्टस्य स्वरूपस्य स्वभिन्नत्वे स्वभददो ${ }^{2}$

विरुद्ध इति मिथ्यात्तं वाच्यमित्यनिर्वाच्यवादापात्तिः। अथ ताद्शविशिष्टरूपमत्यन्तमिन्नं, तर्हि भाषन्तरेणातिरिक्तविषयैव स्वीकृता। नन्वस्त्वतिरिक्कैव विषयता। उत्कं च शिरोमणिना-"यदि ज्ञानं विषयता, तर्हि घटपटाविति धीर्घटत्वपटत्वावच्छिन्नघटीयपटीयात्मकविषयताशालित्वात् अ्रमस्त्यात्; अथ यथा समवायोऽनवच्छिन्न एव ${ }^{1}$ सत्ताया रूपसंयोगाद्यवाच्छिन्नश्ष रूप ${ }^{2}$ संयोगादे: सम्बन्धः, तथा निर्विकल्पकं ज्ञानं अनवच्छिन्नमेव। सविकल्पकं तु तत्तत्पकारावच्छिन्नम्। विषयतासमूहालम्बने ${ }^{3}$ घटत्वाद्यवच्छिन्न ज्ञानं घटादेर्विषयताभ्रमे घटत्वाद्यवच्छिन्नं पटादेरिति चेत्रार्हि घटज्ञानं ज्ञातो घट इत्येव स्यात्, न तु घटत्वेन घटज्ञानं, घटत्वेन घटो ज्ञात इति, घटत्वस्य सम्बन्बकोटौ प्रवेशात्। न हि भवति नीलत्वेन नील: पटः, नीलत्वेन पटः नीलिमेति। तत्तत्पकारावाच्छिन्नं च यदि धर्मान्तरं तदा भाषान्तरेणातिरिक्तविषयतांत्रीकारः। अथ तदुभयमेव, तदातीतानागतविशेषणके अप्रतीकारः। रिंच घटज्ञानं यदि घटादि $भ ि: ~ ₹ व र ू प े ण ~ स म ् ब न ् द ् ध-~$ मिति तेषु व्यवहारमाधत्ते, तदा आत्मनि स्वाभावेषु कालादावप्यादध्यात्, तैरपि समं तस्य स्वरूपेण सम्बद्धत्वत्। अपिच यदि विषयत्वं तत्त्वं वा नातिरिच्यते, तदा कथं तद्विषयकेच्छादिसामान्ये तद्विषयकज्ञानानां कारणत्वं? अननुगतत्वात्। तस्मादतिरिंक्कैव विषयता, तद्विशोषास्तु पकारत्वादयः। एवं विषयतात्वादिकमपि । एतेन प्रतियेगित्वादधिकरणत्वादयेपि व्यारूयाताः । अथैवं सम्बन्धानन्त्ये अनवस्था स्यात्, स्यादेव, यदि कचिदपि स्वरूपसम्बन्धेन न प्रतीकारः ; अन्यथा अनुपपत्तेः दुर्वर्वत्वात् सा ज्ञाननिष्ठा ${ }^{4}$ ज्ञानस्ग नियतकार्यजनकतावच्छेदकतया कल्पनीया, तत्तत्पतियोगितया चार्थे विषय-
${ }^{1}$ एवं. ${ }^{2}$ चिछछमस्वरूप. ${ }^{3}$ चिछछनविषयतासमूहालम्बनेन. ${ }^{4}$ साक्षात् ज्ञानानिष्टा.

व्यवहारः। परे तु विषयत्वविषयित्वे भिन्ने एवार्थज्ञानयोः प्रतियोगिल्वानुयोगित्वे इव भावाभावयोर्रिल्याः। इलंच खभावेति सीयभावार्थकम् ${ }^{1}$ । प्रकासस्येति त्विच्छानिरासायेय्युत्रग्रन्थनुरोषेन वर्णयन्ति। वस्तुतस्तु इच्छादिष्वपि ज्ञान इव विषयत्वम्। अथ तेषु जनकज्ञानौपाधिक विषयत्वमिति चेन्न; जनकज्ञानस्य तद्विषयत्वस्य वा तद्विषयतात्वे अतिपसझात्, ईश्र्रेच्छादौर तदसम्भवा|्च। अथ यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्येच्छादिजनकत्वं तद्दिषयकज्ञानमेव इच्छादेस्तद्विषयत्वमिति चेत्तर्हिं इच्छादेः: सर्वंविषयकत्वं ${ }^{2}$ न स्यात्, सर्वविषयकत्वेन इच्छायनुतुपादकत्वात्। स्याच्च सुखादीच्छाया अपि दुःखाभाबादिविषयकत्वं, ज्ञानोपरमे इच्छादीनां च सविषयकत्वं न स्यात्। तस्माल्लाघवाद्वाषकाभावाच ज्ञान इवेच्छादिष्वपि ज्ञानाघटितैव विषयता" इति। तत्र व्याख्यानम्-तत्तत्रकारेति। यदवच्छिन्नं ज्ञानं विषयता तद्विशेषणं यस्य विषयताँतद्विशेष्यमिति भावः। अतीतेति। अतीतादिविरोषणकं ज्ञानमिदानीं अतीतादिविषयकमित्यादिव्यवहारानुपपतिरिति भावः। नन्वेकत्र ज्ञानं घटसम्बद्धावं पटसम्बद्धत्वं च अस्तित, तत्राहे घटत्वम् अन्ले पटत्वं चावच्छेदक, अमे तु पटसम्बद्धत्वे घटत्वमवच्छेदकमिति अमत्वमेव, सम्बन्धत्वावच्छेदकले चातिरिके अनतिरिके चेति न विषयताबाध: ; इश्थंच यत्सम्बद्यत्वं ज्ञाने, स विशेष्य:, योऽवच्छेदकः स प्रकार इल्युच्यते तत्राहकिम्बेति । स्वरूपेण स्वात्मकेन सम्बन्बेन आट्मनि स्वत्मिन् कथमिति।
 वाच्यम् ; अननुगतसम्बन्घै: कारणत्वे सत्यपि परामर्शादौा तस्सम्बन्बेन हेतुत्वं न क्लहतमिल्यनुमिल्याधनुत्पतिसम्भवे पक्षतादिहे उुत्वानापत्त्या

[^45]अन्यवस्थापते:, ${ }^{1}$ अननुगतसम्बन्धघटितव्यापकत्वस्य दुर्वच्व्वाच्व। अतएव सम्वन्धतावच्छेदकस्य संयोगत्वद्रेरापे अभावभाने संसर्समर्यादया भानमझीकुर्वन्ति । अतएव सर्वसम्बन्घेन भूतलादै। द्रव्यं नास्ति सम्बन्धसामनन्येन तु द्रव्यं तत्रास्तीतित सिद्धान्त.। प्रकारवादाय इल्यादिना संसर्गत्वविशेष्यत्व्वनिर्विकल्पकविषयत्वसंप्रहः। निर्विकल्पकविषयत्वं विरोप्यत्वमिति केचित्। सर्वसाधारणं तु विषयितात्वादिकमर्थान्तरं सम्बन्धतावच्छेeकमुपेयम्। अतएव, तद्विषयकज़ानत्वादिनाऽनुगतरूपेण हेतुत्वादिति भावः। ₹रूपसम्बन्धलोपे अनवस्थेत्याह-अथेति। याव्प्रतीतिः तावस्सम्बन्धः, तदभावे तु न स इति नानवस्थेय्या-शयेनाह-स्यादिति। जनकतावच्छेदकेति। न च विषयनिष्टा सा प्रतियोगितासम्बः्धेन ज्ञाननिष्ठजनकतायामवच्छेदिकाइस्त्विति वाच्यम्; कारणांडो साक्षात्र्रकारीभूय अवच्छेदकस्य वृत्तिनियामकसम्बन्धेनैन तत्वोपगमात्। कारणताया अवच्छेदकत्वेन कर्ट्व्वस्य तर्सामानाधिकरण्यसम्भवे वैयधिकरण्याकल्पनाददेति भावः। विषयनिष्टम्यासत्र्या हेतुतद्वदावे वाच्ये विषयनिष्टोपि सम्बन्धस्सिष्यति, अन्यथा स्वविषयताप्रतियोगित्वेन तदुक्तगौरादादित्याइयेनाह-परोल्विति । तथाप्यर्थज्ञानोभयनिष्ठ एक एव सम्बन्धः कर्प्यते न तूभयमित्यस्वरसेनाहुरिति। तदेतत्सन्याख्यानं शिरोमाणिवाक्यम् । तथाच प्रमेयमित्यादिज्ञाने घटख्वशकारताकलाभावेन उक्तसंशयाविरोष्घिं्वं, प्रमेयवादिति ज्ञाने च घटववभकारता नानवच्छिनेत्यनवच्छिन्ना या घटऱ्नक्रकारता तच्छालित्वेन बिरोधित्वे न दोष ${ }^{2}$ इति चेन्न ; तस्यापि स्वरूपसम्बन्धेय्यादिअन्थेनैव प्रत्याख्यानात्, ज्ञानार्थस्वरूपयोः सम्बन्धविझेपरूपस्य अतिरिक्रविषयतारूपस्य अम्युपगमे चानिर्वनीयस्वं विचरासहत्वमापघत इति तर्थसम्मaात् । तथाहि-भासमानवैशिष्टयपतियोगे-

त्वानुयोगित्वयोरेव प्रकारताविशेष्यतारूपत्वस्भ्भवेन तदतिरिक्ततक्कए्पने मानाभावः। न च दण्डपुरुषसंयोगा इल्यादिसमूहालम्बने दण्डादे: प्रकारत्वापत्तिः, संयोगेन रूपवानित्यादिज्ञाने च रूपादे: प्रकारत्त्व न स्यादिति वाच्यम् ; भासमानेत्यस्य वैशिष्टयप्रतियोगित्वानुयोगित्त्वयोश्ध विशेषणत्वात्। तथाच सांसर्गिकविषयतामतिरिक्तामझकृत्य संयोगादिनिष्ठसांसर्गिकविषयतानिरूपितसंसर्गिकविषयताश्रययोः प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः प्रकारताविशोष्यतारूपत्वमुच्यते। न च प्रकारतां विशेप्यतां वा अतिरिक्तां उपेत्य ${ }^{1}$ प्रकारताश्रयप्रतियोगिकत्वं विशोष्यताश्रयानुयोगिकरंब वा सांसर्सिकविषयत्वमित्येवास्त्विति वाच्यम् ; संयोगेन रूपवानित्यादिजाने कालिकसम्बन्धसयापि संसर्गत्वापत्ते:, संयोगादे: संसर्गत्वाभावापत्तेश्च, संयोगादे: रूपाददप्रतियोगिकत्वाभावात्। न च अतिरिक्तपकारतादिस्वीकारे संयोगानेष्ठसंसर्गतानिरूपितघटादिप्रकारताकज्ञानत्वेन कारणताद्यवचंचेदके निवेशे लाघवम् . उक्तसंसर्गतानिरूपिता या घटादिप्रतियोगिव्वसंसर्गता तच्छालिज्ञानत्वेन निवेशे तु गौरवमिति वाच्यम् ; उक्तगौरबापेक्षया प्रकारताविशेष्यतयोरतिरिक्तयोः कर्पने गौरवात् । संयोगे तत्रातियोगित्वानुयांगित्वयोश्र एकस्या एव सांसर्गिकविषय-
 त्वेन निवेशसम्भवाच्च । एतेन—‘'संयोगसंसर्गतानिरुपितसंसर्गताद्वरयकल्पने तत्स्थाने प्रकारताविशोष्यते एव कल्पघेते इति न गौरवम्' इति परास्तम्: स्वप्रतियंागिकसंयोगानुयोगित्वसम्बन्धेन घ्रटादिप्रकारताकज़ानस्थले तादृइसंसंसर्गतद्वयस्य अनुष्यवसायसिद्धत्वात्। अतएव केवलसंयोंगेन घटाभावनिश्चयोत्तरं ताहृशबुद्धे: त्वन्मते उत्पत्त्यापत्तिः, स्वाश्रयसंयोगेन घटवत्ताबुद्दे: तत्र्वतिबध्यत्ववारणाय घटभकारतानिरुपितसंयोगसंसर्गताशालिज्ञानस्यैच त्वन्मतने , तत्प्रतिबध्य-

त्वात्, ताद्टराबुद्धेस्व्वन्मते संयोगसंसर्गताया घटप्रकारतानिरूपरितप्रतियोगित्वससर्गतानिरूपितत्वाप् ${ }^{1}$ । ननु घटादिस्वरूपं यदि संयोगादिप्रतियोगित्वानुयोगित्वं, तदा स्वाश्रयसंयोगादिसम्बन्धेन घटत्वप्रकारकज्ञानस्यापि घटभकारकत्वापात्तिः यदि तदुतिरिक्क, तथापि स्वशश्रयप्रतियोगिकसंयोगत्वादिना सम्बन्धतायां तत्पकारकज्ञानस्य स्वसंयोरीयप्रतियोगितासम्बन्धेन पटवान् घट इत्यादिज्ञानस्य च घट प्रकारकत्वापात्तिः, द्रव्यवत् घटवादिति ज्ञानयोरनैलक्षण्यापच्चिश्ध, अतिरिक्त प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः तत्सांसर्गिकविषयत्वयोश्च कल्पनामपेक्ष्य अतिरिक्तप्रकारत्वविशोष्यत्वयोरेव कल्पने ल्याघवं चेति चेन्न ; घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वपर्याप्तसांसर्गिकविषयता हि घटत्वावच्छिन्नप्रकारता; तथाच स्वाश्रयप्पतियोगिकसंसर्गत्वंस्थले स्वश्र्यतावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य भानेऽपि घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य अभानात् न घटत्वावच्छिन्नपकारताव्यवहारः। स्वाश्रयत्वरुपेण स्वाश्रयम्य तु प्रकारत्नमिष्यत एवं तवापि मते तेन रूपेण तत्रमात्वनिवर्वहार्थ तथा वाच्यत्वात्। अन्यथा स्वाश्रयरूपसंयोगेन गुणत्वादिपकारकज्ञानस्य रुपश्रमत्वं न स्यात्। स्वसंयोगीयप्रतियोगितासम्बन्धेन पटवान् घटइति ${ }^{3}$ ज्ञानस्यापि संसर्गता न घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वे पर्याष्ता। तत्पर्याप्तत्वं च घटत्वावच्छिन्नत्व ${ }^{4}$ संसर्गतानिरुपितत्वे सति प्रतियोगेत्वनिष्ठत्वं, घटत्वानच्छिन्नत्वप्रतियोगितारूपत्रितय ${ }^{5}$ पर्यासैक्तिषययतारूपत्वं वा । न च घटत्वावच्छिन्नपतियोगिताकसंयोगोन पट ${ }^{c}$ प्रकारकज्ञानस्यापि घटत्वावच्छिन्नकारताकत्वेन ठ्यवहारापत्तिरिति वाच्यम्; इष्टत्वात्। शुद्धसंयोगेन घटत्वावच्छिन्नप्रकारताकत्वेन त्वदस्गीकृत्ञानस्यैब मया घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोगसंसर्गकत्वस्वीकारात्,
${ }^{1}$ घटश्रकारतानिर्लपित्वात्. 2 योगिकसंयोगसंसर्गत्व. ${ }^{3}$ पटवानिति. 4 वरिछ्छे. 5 प्रतियोगितांदष्डु विरोषणविशेष्यभावापंषु त्रितय. ${ }^{6}$ घट.

तत्रेव घटत्वावच्छिन्नत्वपतियोगित्वसंयोगानुयोगिल्वेषु पर्यास्ताया एकविषयतायाः स्वीकाराच । स्वानुयोगिकसयोगपतियोगितासम्बन्घेन घटवानिति ज्ञानस्य न संयोगेन घटप्रकारक्तं ; प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः अधिकयोर्भानेन उत्कपर्यास्तयावात्, रक्तदण्डवादति ज्ञानीयस्य ब्यासज्यवृत्तेः प्रकारत्वस्य तदवच्छेदकत्वस्य वा दण्ड. रक्तवदिति ज्ञान इव संयोगेन घटबदिति ज्ञानीयस्य विरक्षणस्य प्रतियोगित्वादिविषयव्वस्य संयोगेन घटप्रकारतानियामकस्य ${ }^{1}$ स्वानुयोगील्याधाकारकज्ञाने अभावाच्च। शुद्धघटत्वादिप्रकारकत्वं नु शुद्धघटत्वादौ प्रतियोगित्वे च वर्तमानं संसर्गताकत्वं घटवदिति ज्ञाने, घटत्वाबच्छिन्नं द्रव्यवदिति ज्ञाने द्रव्यत्बावच्छिन्न प्रतियोगित्वं संसर्ग इति तयोः वैलक्षण्यमेव। इत्यंच प्रतियोगित्वानुयोग्तियोः घटादिरूपत्वेडधि न क्षतिः। वस्तुतन्तु तयोः तदतिरिकत्वं व्वाडपि वाच्यम्; अन्यथा संयोगसम्बन्बेन तद्धटस्तद्वटाय इत्यादिज्ञानमपि प्रमा स्यात्, तद्रटप्रतियोगिकसंयोगानुयोगित्वस्य भूतरस्वरूपत्ववत् तदा घंटस्वरूपप्तस्याप्यवग्यवाच्यत्वात् भूतलं तद्धटीयं तद्धटो भूतलीय इति बुद्धयोरेकसयोगेन प्रमात्वात्। अतिरिक्तयो ${ }^{3}$ स्तयोस्स्वीकारे ठु संयोगीया या तद्धटनिष्पपतियोगिता तन्निरूपितानुयोगित्ववति तद्धटप्रकारक्ञानस्य तद्धटप्रमात्वरुप्त्वाप् तद्धटस्य भूतलनिष्ठतत्र्रतियोगितानिरूपितानुयेगित्वेऽवि स्वनिष्टतत्रतियोगितानिरुपितनुयोगित्वाभावादुक्तबुद्दे: प्रमात्वासम्भवः। न च तयोरतिरिकत्लेडपि तद्धटनिं्टेन तादाल्यसम्बन्छे प्रतियोगित्वेन निरूपितानुयोगिलं तद्धटेsपीति अयं तद्धट इति बुद्धिरिवायं संयोगेन तद्धटीय इति बुद्धिरीि प्रमा स्यादिति वाच्यम् ; संयोगपतियोगितायास्तादात्यप्रतियोगितातिरिकत्वात्। अथ संयोगवत् तादात्यस्य संयोगरूप्वा-

ढुक्तदोषतादवम्थ्यामिति चेन्न ; तादात्म्यम्यातिरिक्तत्वात् । अन्यथा अयं तादाल्येन संगुक्तवान् संयोगेन संयुक्तवानिति धियोर्वैऊक्षण्यानुपपत्ते:, संयोगवत्त्वावच्छिन्नस्य तादात्म्यपतियोगिश्वस्य तद्धटे सत्त्वेऽपि तद्वटत्वावच्छिन्नं यन्संगोगगपतियोगित्वम् तनिरूवितानुयोगित्वस्य असच्वात्, तद्वति संयोंगेन' तद्धटप्रकारकत्वस्य प्रमत्वरूपत्वेन दोषाभाव|च्च। अतएव स्वस्मिम् तद्धटट्य संयोगो नेति च्यवह्दारः प्रमाणम् । अतएव उक्तशिरोममणिवाक्ये प्रतियोागित्वाधिकरणत्वयोः अतिरिक्तत्वमुक्तम् । तस्य सम्जन्धप्रतियोगित्वयोः अभाव ${ }^{2}$ प्रतियोगित्वादेश्च अतिंरेक ${ }^{3}$ परत्वात्। परमार्थतन्तु संयोगेन घटवद्यूतल मित्यादौ संयोगादिसम्बन्धनिष्टसांसार्गिकविषयताया एव अतिरिकाम्यां घटभूतलप्रतियोगित्वानुयोगित्वाम्यां निरूपितत्वं ₹वीकियते, अत्र ज्ञाने घटस्य भूतले संयोगस्सम्बन्ध इति प्रत्ययात् । ₹वाश्रयसंयोगादिसंसर्गकज्ञाने च संयोगादिनिष्ठसांसर्गिकविषयतायाः न ताक्यां निरूपि तब्वं, तथा प्रत्ययाभावात्, स्वाश्रयसंयोगाादिसंसर्गकात् घटवदूूतळमित्यादि ज्ञानात् संयोगेन घटवद्शतल $म ि त ि ~ ध ी क ा य ा प प ् त े श ् च ~ । ~ उ क ् क-~$ ज्ञानयो: वैलक्षण्यान्तरस्वीकारे गौरवात् । अतएव वह्ययादिप्रतियोगिकपर्वताद्यनुयोगिकसंसर्गता संयोगादावसतीति प्रतियोगिवैयधि करण्यनिरूपणप्रस्तावे व्यासिसिद्धान्तलक्षणे हरिदासादिभिरुक्तं शिरोमणिटीकायाम्। एवंच घटवद्भूतल ${ }^{5}$ मित्यादिज्ञाने यदि घटादौ विषयत्वमपेक्षितं, तदा घटादे: ज्ञानसामान्यसामग्रया घटादौ निर्विकल्पकीयविषयतानियामकत्वम्। अथ विशिष्टबुद्धचांदौं विशोषणज्ञानादिहेतुत्वे मानाभावात् न तदपपेक्षा, तदा तद्ज्ञानाविषयस्यापि घटादे:

[^46]सांसर्गिकविषयतानिरूपकतावच्छेदकत्जम् । वस्तुतनतु प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरेव विषयतात्वप्रकारतात्र्विशोष्यतात्गानि कल्प्यन्ते। अन्यथा उक्तरीत्या घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वनिरूंपितसंसर्गताकत्वस्य घटत्वावच्छिन्नभकारताकत्वरूपत्व गौरवात्। तथाच प्रतियोगित्वानुयोगित्वयो: अतिरिक्तत्वं स्वीकृत्यापि विषयताया अतिरिक्तत्वस्वीकरणस्य अयुक्तत्वात् पक्षधरपर्यन्तप्राचीनतार्किकसम्मतं भासमानँचैशिष्टचप्रतियोगित्वानुयेतिगत्वे एव प्रकारत्वविशेप्यत्वे इति मतमेव युक्तमित्यवहिततमचित्तैश्चिन्त्यमेतष्सुधीमि: ॥

ननु तथापि प्रमेयत्वसामान्यलक्षणाजन्यज्ञानस्य प्रमेयमुख्यविशोप्यकत्वेन घटत्वादिरुपप्रमेयप्रतियोगितानिरूपितसमवायसंसंस्गिकविषयताकत्वाभावात् कथमुक्तसंशयविरोधित्वमाचाँचैरुक्तम् ? न चांक्तान्नोत्तरभाविज़्ज़ानस्य तंथזत्वभमिप्रेतमिति वाच्यम् ; घटत्वस्यापि प्रमेयमिति ज्ञाने भासमानवैशिष्टचपतियोगित्वादिल्युक्तिविरोधादिति चेन्न ; प्रमेयमिति ज्ञानात् ज्ञानान्तरे भासमानं यद्वैशिष्टयं तत्पतियोगित्वादित्यर्थसम्भवात्। अपिच मुख्यविशेप्यतानन्त ${ }^{1}$ र्भावेन सामान्यप्रत्यासत्तिकार्यत्वस्य नव्यमते स्वीकारात्, विशिष्टैरैशिष्टयनुद्धयादौ विशेषणताबच्छेदकमकारकज्ञानत्वादिना हेतुःवस्याप्यस्वीकारात्, प्रमेयमिति सामान्यज्ञानाज्जायमाने प्रमेयवानयमित्याकारकज्ञाने घटत्वस्य भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वादुक्तसंशयानुपपात्तिरित्यभिप्रायः। न चोक्तसंशाये प्रमेयवानित्याकारा ${ }^{2}$ प्रमेयतावच्छिन्नपतियोगितात्वावच्छिन्नानिरूपकताकसमवायसंसर्गताकधीः न विरोधिनी, किन्तु अयं घट इत्याकारा शुद्धघटत्वप्रतियोगितात्वावच्छिन्ननिरूपकताकसमवायसंसर्गताकर्धारिति वाच्यम्; सकरघटटृत्तित्वादिरूपघटत्वत्व ${ }^{3}$ विशिष्टवानयमित्यादिज्ञानस्यापि तद्विरोधत्वानुभवात् तद्यक्तिभतियोगिसाकाभावबुद्धौ लाघवेन तद्यक्किप्रकारक ${ }^{4}$ -

[^47]
## यानि । तस्मात् सामान्यप्रत्यासन्या निषेधमात्रप्रतियोगि-

निश्रयत्वेन विरोधित्वौचित्यात्। अन्यथा तद्बूटमात्रवृत्त्यनन्तधर्मावच्छिन्नप्रकारताकनिश्चयत्वेन अनन्तविरोधित्वकर्पने गौरवात्। न चात्र घटत्वमित्यादिज्ञानस्यापि विरोधित्वान्नोक्तधीत्वेन विरोधित्वं, किन्तु घटत्वनिश्ययत्वेन, निश्धयत्वं च जातिविशोषोऽनभ्यासकालीनज्ञानइव प्रमेयवानयमित्यादिज्ञाने घटत्वाद्यंरो नास्ति, दोषविशोषस्य तेत्र प्रतिबन्धकतया ${ }^{1}$ स्वीकारादिति वाच्यम् ; तादृरादोषकश्पने गौरवात्, सामान्यप्रत्यासत्तेरेव प्रक्षालनाद्धीति न्यायेन त्यागार्हत्वात्, प्रमेयत्ववनिम्ठेत्यादित्यापिज्ञानस्य अधेयत्वांरोऽपि प्रमेयत्वनिश्रयत्वाभावापतेश्रे। तस्मादिति। यद्यवि घटोऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणो धर्मत्वादित्यनेन, कपालमत्यन्ताभाववत् वशतुत्वादित्यनेन वा घटसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावसिद्धिः सम्भवति, वह्दिमदित्यनुमितेरबाधितयावद्वह्बिविषयकत्ववत् उक्कानुमितेरण्यबाधितयावदत्यन्ताभावविषयकत्वसम्भवादिति चेत्, तथापि यादृहायावद्भावप्रतियोगित्वाभावस्यायोग्यत्वेन लौकिकम्रत्यक्षाभावस्योक्तत्वादलौकिकमत्यक्षस्य च अनझ़कारात्, अछीकारेऽपि चन्द्रप्रादेशिकत्वपत्यक्षमिव तह्बधितत्वानुमानोदयादनुपयुक्ता सेति भावः ॥

यतु—‘ असद्विलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वं वर्तमानत्वप्रमाविषयत्वं वा सत्त्वलक्षणमदोषं, तस्य चक्षुराद्ययोग्यार्धघटितत्वेऽपि तद्योग्यताया लक्षणत्वसम्भवात् ‘इति’ तन्न ; अज्ञानविषयत्वस्य तयोगयतात्वे जडेष्वठ्याप्तेस्तदवच्छेदकत्रस्य तत्त्वे ${ }^{2}$ ब्रह्सण्यठ्यापेतः । तदन्यतरस्य तन्त्वेऽपि शुक्तिरूप्यादावपि धीकाले मिथ्यात्वेन न जानामीत्यनुभवेन अज्ञानविषयतावच्छेदकत्वसत्त्वात्त्रातिब्याप्तेः, सुखादावक्याप्तेश्च। अत एव प्रातीतिकान्यत्वे सति तुच्छान्यत्वमपि न तथा, चक्षुराद्ययोग्य-

## त्तोपस्थितौ तद्मानग्रहात् बाध इत्यनुपपन्नमेव ।

तुच्छादिघटितत्वाच । अतएव वर्तमानविशिष्टरूपेणा ${ }^{1}$ ज्ञानविषयतावच्छेदकत्वमपि न तथा, शुक्तिरूप्यादेरिन सुखोदेरपि यानहःचसताकालं वर्तमानत्वेन प्रत्ययात्तद्भावात् दृष्टिस्ट्टिपक्षे घटादावव्याप्तेश्ध, अज्ञान-
 पराभिमतमिथ्यात्वाभावः सत्त्वमिति न्वकीयमूलग्रन्थे पराभिमतमिक्यगत्वं यदि स्वसमानाधिकरणस्वसमानकलिननिषेधप्रतियोगित्वादि, तदा तदभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् पौनरुक्तयमित्याराख्वंय स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे ताॅपर्यमिय्युक्तं, तदतीव चित्रम्, उक्कावच्छेदकत्वस्य मिध्यात्वरूपत्वेनास्मदाचार्यै: क्वाप्यनुक्तत्वेन अโमदिष्टत्वात्। न घ्यक्मन्मते घटादौ घटत्वादिना भेद्: स्वीक्रियतेकिन्तु घटत्वाद्यत्यन्ताभावः । अश ‘नेह नाना' इत्यादिश्रुताचत्यन्ताभाव इव अस्थूलम्नमत्यादिश्रुतौ भेदन्य बोधनात् तादृशमपि मिथ्याव्वं युक्तमिति चेन्न; न स्थूलं यत्रेल्यादिव्युत्पत्ष्या तस्या अव्यत्यन्ताभ|वझोधकत्वात्, ‘असेहम च्छाय|मे’ इत्यादौ ${ }^{3}$ तत्पुरुषासम्भवेन तत्समभिच्याहारात्, अस्थूलकित्यादावपि बहुवश्वहैर्युक्तत्वात् विभक्तयन्तत्वानुरोधेन जघन्यंत्वेन च चरमपद एव «ध्षूणाम्बीकारेण तस्याद्यपद्लडक्षणिकतत्पुरुषतुल्बत्वाच । अतएवाद्दैतरलादौ तस्या ${ }^{+}$ भेदबोधकवं खण्डितम् । तदोधफंत्वडव्यार्थिकस्यात्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वस्य बोघनसम्मवात्ताहृदाबोधमादायैव परिमाणनिषेधबोधकत्वमस्या: पूर्वमाचार्येकुक्तम् । न च परे:आ।ननि तद्येदानझीकारे कथं तद्भोधकत्वमिति वाच्यम् ; धार्मैसमसत्तकेन तदाश्रयत्वेन भेदघोधनसम्भवात् । अतएव नेदं रजतमिति प्रतीतेरार्थिकमिथ्यात्वसाषकत्वमिति पूर्व-

1 रूपेण. 2 यत्तु. 3 अस्मेहो।ऽच्छाय इल्यापष्गा. इल्यधि ह: पाठः 4 तध्ग.

> A.S.v.

माचर्रैरेवोोक्तम् । किश्व त्वदीयमूलेडपि पश्चविधमेवमिथ्यात्वं दूषणायानुदितं अन्यविषमिथ्यात्वस्यास्मदीयत्वे तददूषण ${ }^{1}$ तवन्मूलकृतो न्यूनता स्यात्। तस्मात् पराभिमतेत्यादित्वन्मूलस्सायमर्थः—"सदसद्विलक्षणत्वादिरूपमिथ्यात्वे परैर्रक्समात्रगततया स्वमतसिद्धसत्त्यस्याभावनिवेशो सिद्धसाधनापत्ते: अबाधं्रं सर्वे मेयमित्याकारकर्धविशोषविषयत्वाद्यभावस्य तद्धीविषयत्वाद्यभावत्वेन निवेशः कार्यः। तथाच मिध्यात्वलक्षणस्यासत्त्वाभावघटितत्वेडपि अनुमीयमानमिथ्यात्वांशास्य तदघटितत्त्वेन पराभिमतस्याभावः उक्तर्धाविषयत्वादिरूपः सत्त्वमिति । एवश्च यत्पूर्वमनुमेयत्वेन शह्छ्बितं तद्भावरूपसत्त्वग्राहिप्रन्यक्षस्य बाधत्वमपि स₹च्छते, न तु भेढगर्भयथोक्तग्राहिप्रत्यक्षस्यानुमेयात्यन्ताभावतद्वद्भेदा ${ }^{2}$ विषकत्वादिति स्फुटमेव ते अन्ताप्रतारकत्वम्। तद्धीविषयत्वार्दिं च चक्षुराद्ययोग्यत्वात् न प्रत्यक्षमिति त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधाप्रतियोगित्वादि दूषणेनैव दुष्ट्र ${ }^{3}$ मित्यस्मदाचार्यैन पृथग्दूषितम् । यद्यपि त्वन्मते दृयत्वादयः सत्त्वप्रत्यक्षबाधिता इति प्रतिज्ञायास्तित्वप्रमाविशयत्वादिरुपसत्त्वोक्किरप्यसङ्जता, तत्र्रत्यक्षस्योक्तरीत्याबाधत्वासम्भवात्। तथापि पराभिमतेत्यादौ उक्तासख़ तौ त्वत्पाणिड्यमेव बीजािति । अपिच ₹्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वमठ्याष्तं ${ }^{4}$, घटादिसखण्डदृइयमात्रे तद्वन्निष्ठायां भेदप्रतियोगितायां त₹्समनियतानां ज्ञानविषयताविशेषाणामत्यन्ताभावप्रतियोगित्वादनिनां वा तदपेक्षया लघुत्वेनावच्छेदकत्वात् । अथ गुरोऱच्छेदकत्वमते घटादिकमवि तथेति चेन्न; तन्मते कम्बुप्रीवादिमत्त्वादेः प्रतीतिबलात् स्वाश्रयविरोध्यभावप्रतियोगितावच्छेदकव्वेडपि तदवविरोध्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावात् श्रुत्यादिजनितायाः मिथ्यात्वबुद्धेर्विषयता-विशेषादिलघुरूपावच्छिन्नस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिवि-

ननु प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वे शुक्तिरूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं कथं प्रत्यक्षं स्यात्? अथ तत्र रजतत्वविरोधिश्रुक्तित्वे साक्षात्कृते तदन्यथानुपपत्त्या च रजतत्वाभावे निश्थिते मिथ्यैव रजतमभादिति तादृङ्निषेधप्रत्ययः स्गसम्बन्धसर्वभासकेन साक्षिणैवोपपन्नः, तर्हि साक्ष्षत् सवविषयस्यगगनादेर्माविकालनिषधाप्रतियेगितवं सकलकालग्राहिणासाक्षिणा गृद्यतामिति-चेन्न साक्षिणो विद्यमानावभासकत्वेनाविद्यमानभाविबएधाभावभासकत्वानुपपत्ते:,

घयकत्वेनाव्युपपत्तेः गुरानिष्ठताहृशावच्छेदकत्वाकल्पकत्वात्। ${ }^{1}$ अथ विषयताविशोषादेरिव तद्धरादेरपि स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वसम्भवात् न गौरवमिति वाच्यम्, तथापि तस्य स्वरूपतः प्रतियोग्यंशो विशोषणत्वासम्मवेन केनचिद्रूपेण तथभूतस्यावच्छेदकत्वं वाच्यमित्युपस्थितिगौरवं दुर्वारमेव। अन्यथा तद्रूादेः ₹्वसमनियतकारणतावच्छेदकत्वापत्त्या अनन्त ${ }^{2}$ कारणत्वाद्यापत्तः। विषयताविशेषादिकं यद्यपि प्रत्यक्षे ज्ञानविशोषिततयैव भाति; तथाप्यनुमित्यादौ स्वरूपैणैवविशोषणमिति तदेवावच्छेदकं युक्तम्। किज्व भेदगर्भमप्युक्तसत्त्वं ${ }^{3}$ न चक्षुरादियोग्यं, मूर्तसामान्यवद्द्रेदवदुक्तरीत्या योग्यानुपलम्भाभावादिति दिक् ॥। साक्षात्वविषयस्येति। ज्ञाततया अज्ञाततया वा स्वविषय ${ }^{4}$ स्येत्यर्थः । साक्षिण इति । प्रमाणवृत्त्यनुपहितसाक्षिण इत्यथः। विद्यमानावभासकत्वेनेपि । विद्यमानन्येनार्थेन ${ }^{5}$ विद्यमानकालावच्छेदेन आध्यासिकतादत्म्याभावेनेत्यर्यः भाविकाधГभावभासकत्वेति। भाविकालनिषेधापतियोगित्वनिश्रयत्वेत्यर्थः। तथाचाज्ञाततया भाविबाधाभावस्य साक्षिणा उयवहारो यद्यपि सम्भवति; तथापि न

[^48]साक्षिज्ञानस्य अ्रमप्रमासाधारणत्वेन त्रमाणाताधकत्वाच । ननु ज्ञानग्रामाण्यं गृब्नन् साक्षी घटादिगतमनाध्यत्वं गृहात्येच, न हि निषयाबाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नामेति चेन्न; व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्रेण प्रवृत्तावपि संवादोपपत्ते:, तद्पगतप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेडपि विरोधाभात्रात्। न हि घटादिज्ञानस्य संबादिप्रशृत्तिजनकतावच्छेदकं प्रामाण्यं त्रिकालाबाध्यविषयकत्वम्, किन्तु श्रुक्तिरूप्यादिज्ञानव्यावृतं व्यवहारकालाबाध्यविषयकसकलज्ञान दृत्ति ब्यनहारकालानाध्यविषयकत्वमेव । तच्च न भाविकालवाधविरोधीत्युक्तम्, भाविकालबाधतदभाबौ च न मानं विना साष्षिणा गुहीतुं ख़्मौ,

तस्य तन्निश्चयत्वमेति न Гमेश्यात्वानुमितिबाधकत्वम् ${ }^{1}$ । शुक्तिरुप्यादेरव्युक्तन्यथानुपपत्त्यादिमानेनैव त्रिकालादिगर्भ ${ }^{2}$ मिथ्यां्वनिश्धय इति भावः भ्रमप्रमासाधारणेति । सुखांद्यो प्रमात्वस्येव गुक्किरूप्याद्यंशो अ्रमत्वस्यापि गृह्यमाणत्वेन त्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वांशेऽपि अ्रमत्वरुक्कास्पदत्वेनेत्यर्थ:—ठ्यवहोरत्यादि । ठ्यवहारकालाबाध ${ }^{3}$ विषयकत्वमात्रेण प्रवृत्तिप्रयोजकाविसवादोपपत्तेरित्यर्थः। याद्टईां प्रवृत्तावविसंवदित्वं ताह्यं तत्पयोजकज्ञाने अंपक्ष्यते औचित्यत्त्, भाविकालाबाध्यत्वानिनिनेशो गौरवांच्चेत्यायेनाह-न हीति । अवच्छेदकमिति । आवरणविषयतानवच्छेदक ${ }^{4}$ प्रमात्वेन जनकतेत्यर्थ: । तेन द्ढ़षनिनेष:च्रमाया अम्ं।त्वम्रनंविपयीमूनाया अपवर्तकत्वपि न दोष:। तत्रप्रमत्वविशिस्टमानावच्छेदेन साक्षिण अवरणविषयत्वात्। प्रवृत्ति ${ }^{5}$ सामान्यकारणीमूतं यत् प्रमात्वेन निश्रीयमानं ${ }^{6}$ ज्ञानं तब्सहकृताया एव प्रमायाः संवादि.पवृत्र्युपधायकत्वात्-शुक्तिरूप्येति।
${ }^{1}$ साधकत्वं. ${ }^{2}$ त्रिकालादिगत ${ }^{3}$ काल्वाबाभ्य. ${ }^{4}$ तावच्छेदक 5 प्रयन्न. 6 निर्णीयमानं

तस्य विश्रमानमात्रग्राहित्वादिति चोक्तम्। ननु वर्हिं देहात्मैक्ज्ञान मुष्णं जलमित्यादि ज्ञानं च प्रमास्यात्, व्यवहारदशायां विपयावाधादिति चेन्न; अव्रह्नज्ञानमवाधितत्वेन तेषामापि घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात् । ननु कालान्तरस्थमपि यन् बाधं तदपि कि यक्कालावच्छेदेन अनेन स्खार्थो गृहीतः त₹ कालावच्छेदेनैव तन्निषेधति उतान्यकालावच्छेदेन; अद्ये कथमस्य प्रामाण्यम्? अन्त्ये अनिल्यत्वादिकमेवेतिचेन्न; अवाघ्यत्वरूपपर्रामाण्यस्य प्रपश्न्जजने मया अननीकारात् । यत्कालावच्छेदेनैचन्नेन स्वर्थों गृहीतः तत्कालावच्छेटेनैव तन्निषेधाम्युपगमात् । यच्च प्रामाणं मया अम्युपेयते तत् व्यवहारद्रायां विपरीतग्रमरूपचाधकस्य अनुपपन्नत्नादस्त्येन।
व्यवहारकारचाध्य ${ }^{1}$ जुक्तिरूपुपेत्यर्थ:-क्षेमत्वादिति। तथा च च्यवहारकाल्लवाध्यपातीतिकमान्रस्येयें गतिरिति तत्र साक्षिगा उक्तप्रमाण्य ' ग्रात् संवादिन्येय प्रवृत्तिः, व्यवहारकाराबाध्यविषय फ₹वस्ट्येव पशुत्तिंगं:शि़्वारि़िति भाव:। न च स्मृतिवरणायाज्ञानविपयतावच्छेदकावाध्यविषय करंं प्रमात्वं वाच्चमिति प्रातीतिकम्य ताद्रा|धाध्त्वाभावान्नतद्द्धीः प्रनेति वाच्यम् ; तात्रिकठ्यवहार्भपमाहच्य तथात्वेड१ि प्रवृत्तिपयोजके अवच्छेगकान्तानिवेशेात् । समृतेर्य्यनु|िल्यादिवत् पपर्तक ${ }^{3}$ त्वात्-अनित्यत्वादित्यदिना। निपेघस्याव्वाप्यवृतित्वमेवकारात् न तु मिण्याव्वर्धरूपो बाध., मिए्भात्वस्य पतिपन्नदेश़-कारावाच्छेन्ननिषेघघटितत्वादिलिर्थः-अवाध्यत्वेति । त्रिकालाबाध्यव्वेत्यर्थ.। अस्ल्येवेति । व्यदहारकातावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेडपि तद्धाविषयत्वाभावो उ्यवदारकाले अस्लेवेवेयर्थः। अत्र तद्रूपभाणाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपीत्यपिशब्देन अस्वरसः सूचितः। ' काखाबाध्य ? प्रामाण्या इंभिलादियदवर्तक.

स चेत्यम्, व्यवहारकालावाध्यविषयकत्वमपि न साक्षिम्राब्यम्, यदेव हि तार्किकादिमतरीत्या साक्षाक्कियते तदेव साक्षिम्याबं वाच्यम्; अन्यथा पिशाचाभावादेरपि तत्त्वापत्ते:। व्यवहारकालाबाध्यय्वं च तन्मतरीत्या घटादिकं इदानीं यदि ठ्यवहारकाले बाध्येत तर्हि तथोपलम्येतेत्यापादनासम्भवेन योग्गानुपलम्भाभावात् बर्तमानव्यवहारकाले अन्यपुरुष्य बाधसम्भवेऽपि तत्पुरुषे बाधाभावेन तत्पुरुषस्य बाधानुपलनिधसम्भवात्। अथ—-सस्तुगल्या ये व्यवहारकालः तत्तज्ज्ञानाधिकरणीभूतः तद्धटितं स्वाधिकरण'कालावच्छिन्नं यद्वाधाविषयत्वं तद्विषयकत्वरूपं स्वाधिकरणकालावच्छिन्नसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन स्वविषयवाधस्य योऽऽमावसतद्विशिष्टत्वं वा प्रमात्वम्। स्वपदं प्रमावयक्तिपरम् । पुरुषमेदेन पपश्घमेदादेकपुरुषीयर्षीविषये पुरुषान्तरीयबाधाभावादायं, पुभुदेने प्रपश्चाभेदे ऽवि द्वितीयं साक्षिणा सुगहम्, यदीदानीमिदं घटादि बाध्येत तदा तथोपपलम्येत, यहुक्तसम्बन्घेनात्र ज्ञाने बाधः स्यात् तदा तथोपलम्येतेत्यापादनसम्भवात्, योग्यानुपलम्भसत्त्वादिति चेन्न ; तत्तज्जाने खवानधिकरणण्यवहारकालबाध्यविषयकत्वमहे प्रवृत्त्याघनुन्वंत्पादेन स्वाधिकरणकालीनोक्तबाधाभावघटितस्य प्रमात्वरूप्वाभावात्, श्वसमानाधिकरणस्वान्यूनसत्ताकाभावपतियोगित्वस्य स्वा|घिष्टानस्य वा ज्ञान घटादेर्बाध इति तत्वेनेदेानीं ज्ञानसम्भवाच्च। अथ वस्तुगत्या व्यवहारकालीनं यद्वाधायोग्यत्वं तद्विषयकत्वमेव। तदुक्कायोग्यत्वं च उत्कमातियोगित्वविशिष्टरूपेणाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं अज्ञानविशेषणतया च उक्तप्रतियोगित्वविशिष्टं साक्षिभाबमेव। समृतेरप्युक्तम भाव्वेन प्रवर्तकत्वम् । शुर्तिरुप्यादिधिरापि बाधपूर्वं तथेति सापि प्रव्तिका संश्रयवारणाय निश्षयत्वमपि निवेश्यम्। अज्ञात ${ }^{3}$ विषयकनिश्षयत्वं प्रमात्वामिति अद्वैतरलायुक्तेरत्रैव तात्पर्यम्।

$$
1 \text { म्वस्यानधिकरण. } 2 \text { प्रत्तृत्यनुनु. } 3 \text { अज्ञात. }
$$

न च यत् भवतां घटादिबुद्धे: प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्ष्ण्यं विषयस्य ब्यावहारिकसत्वसाधकं, तदेवेह मम विषयस्य पारमार्थिकसत्व्वसाधकमस्त्विति वाच्यम्; प्रातिभासिकबुद्धिवैलक्षण्यं हि घटादिबुद्धे: सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वादिरूपम्। तन्न पारमार्थिकसत्वं घटादेः साधयितुं शक्तम्। देहातमैक्यज्ञाने ब्रह्मज्ञानाव्यवहितअ्रमे च व्यभिचारात्। ननु 'घटस्सन्, रूव्यं मिथ्येति' प्रतीत्योरविशोषे कथं 'घटोमिथ्या, रूप्यमिथ्यात्वं न मिथ्या' इति विशोषः? न च तदापि मिथयैन, रूप्यताच्चिकत्वापत्तेरिति चेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि यथा न रूप्यस्य ताच्चिकत्वं तथोपपत्तरुक्तवात्। न च पारमार्थिकसत्त्वस्य प्रत्यक्षागोचरत्वे तन्निषेधभ्रुतीनां
 दिप्रवृत्तिप्रयोजक ${ }^{1}$ प्रमात्वाभावापत्तेरिति चेत् तथापि ठ्यवहारकालीनबाधाभावघटितक्य सक्ष्यय्याह्यत्वेनापिशब्दसूचितमस्वारस्यं सिद्धमेव । तदेवं त्रिकालबाधाभावघटितप्रमात्वग्राहकत्वनाविद्यमानग्राहकत्वाश्र्रिकालनिषेषाप्रतियोโगित्वमपि साक्षी गृ्लातिवति दृशयत्वादे: साक्षिबाध्यत्वशाक्षां निरस्य च्यावहारिकपमायाः प्रसङ्ञात् तदीयठ्यावहारिकविषयकत्वसाधकलिब्नेन दृइयत्वादिकं बाधितमिति प्रसछ्ञाच्छक्कते। न चेति। प्रातिभासिकेति। ब्रह्माविषयकज्ञानबाध्येत्यर्थ: विषयकत्वादीत्यादिना व्रह्मधीबाध्यत्वविषयकत्वादिस ब्लंहः। तेन सोऽयमिति शाबद़्निष्प्रकारकधीबाध्यभेदाविषयकस्योक्तवैलक्षण्याभावेऽापि न क्षतिः। अविरोषे। आगन्तुकदोषजन्यत्वविझोषस्याभावे। तन्निषेधेति। तद्वच्छिन्नप्रति-

अभ्रसक्रप्रतिपेधकता स्यादिति वाच्यम् ; तासां चक्षुरादिग्रसक्तद्दैतनिषेधपरत्वात् । पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधपरत्वेजपि नाप्रसक्तनिषेधकच्चम् ; परोक्षप्रसकेत्सेस्भवात्, 'नान्तरिक्षेऽमिश्रेतव्यः' इत्यादिवदप्रसक्तक्रतिपेघस्याप्युपपत्तेश्न। न च योगिताकनिषघबोधकेल्यर्थ: ${ }^{1}$ । अप्रसक्तप्रतिषेधकतेति। येन रूपेण यत् न ज्ञातं ${ }^{2}$ तेन तन्निषधकतेत्यर्थः। चक्षुरर्यादि । द्ययत्वाकाशत्वादिना चक्षुरादिज्ञातं द्दूतं, तेन तन्विषेपपर्वादिल्यर्थः। नान्तरिक्षइल्यादि । यत्र प्रतिषेधे तात्पर्य, तत्र प्रतियोगिप्राघयादिकं विना तरकल्पनवैयर्थ्यात् तदाव₹यकता, यत्र तु 'नान्तरिक्षे' इल्यादौौ न


 सत्यत्वेन द्वेताभावस्य अनुवादद्वारा विघेयब्दह्नम्तिपरस्वमिति भावः। प्रथमाध्याये द्वितीयपादे अर्थवादाधिकरणे 'न पृथिठ्यामम्मिश्रेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि , इस्यन्तरिक्षे दिवि च चयनं न प्रतिविध्यते, अप्राप्तव्वाब् । नापि पर्युदस्यते, अदिठ्यनन्तरिक्षे च नित्यम्रासत्वात् । एवं पृथिक्यां न तत्पतिषेषपर्युदासौ, चयनविरोधात्। नापि ग्रहणाग्रहणवत् पााक्षिकत्वसिद्धिये प्रतिषेध इति वाच्यम् ; ' पगुकामश्भिन्वीत ' इल्यादि पुरुपार्थचयनस्य 'अथातोऽमिममिष्टोमेन यजेत' इल्यादि फत्वर्थचयनस्य च पाक्षिकत्वस्य च सिद्ध्रत्वात्।' 'यद्यामिं चेच्यमाणा भवन्ति' इत्यम्मिन् सत्रगतसमारोपकालादिगुणविधायकवाक्ये सिद्धवत्वाक्षिकातुवादादिना ‘आम्मेः सोमांध वेच्छताम्’ इति कात्यायनोक्तयाचनिरमिसोत्तरेवदिकपयोगस्य दशमोक्रत्वात् कल्वर्थचयनस्यापि पाक्षिक-

$$
1 \text { निषेषकेलर्य.्य. }{ }^{2} \text { युत् ज्ञात. }
$$

अताच्विकम्रपश्ने यदि ताच्चिकत्वमप्यध्यक्षेण न गुद्यते कथं तर्हिं तस्यातत्वोवेदकत्वम्? न हि तदेव तत्चेनावेदयत्तात्विकं नाम। छइ्यते च सार्वलौकिकग्रपश्चे पारमार्थिकत्वानुभव इति वाच्यम्; न ह्यर्मांक तत्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, तान्भिन्नत्वमतर्व्ववेद्कत्वम्। किन्तु अबाधितविषयत्वं तच्चावेदकत्वम्। बाधितविषयत्वं च अतत्व्ववेद्कत्वम्। अबाधितविषयत्वं च औौते अह्सज्ञान एव, तन्द्रिन्ञाने तात्पयवद्देदत्वेनैनैव तश्चावबोधकत्वात्। तथांच प्रपश्नप्रत्यक्षस्य ताच्चिकत्वागोचरत्वेडपि अतच्चाबोधकतंज्ं सङ्भच्छते। सार्वलौकिकपारमार्थिकत्वप्रसिद्दिस्तुजलगतपिपासोपशमनसामर्थ्यप्रसि द्विवत् परोक्षतयारवुपपन्ना नापरोक्षत्वपर्यवसायिनी ।।

त₹्माद्ध्यक्षयोग्यस्य सत्व्चस्येहानिरुक्तितः।
नाध्यक्ष्वाधो मिथ्यात्वलिद्नस्यात्रोपपद्यते।।
त्वस्य सिद्वव्वात् ‘उत्त्रवेद्याममिश्रीयते ' इत्यनेन सामिययोग एवामघुत्तरवेघोः समुच्चयस्य सक्षर्वोंत्तवात्। अत उक्तवाक्यमपमाणमपतिछेधभागित्नादिति 'अभागिप्रतिषेषात्' इति सूत्रे आराब्कय शुद्धपृथिवीचयनप्रतिषेषो नित्यानुवादो ‘न पृथिन्यां चेतन्यः’ इति नहि निन्दान्यायेन 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम् ' इति विह्हितहिरण्य₹वुत्यर्थः। तदुपपादकौ च इतरौ नित्यानुवादौ, यथा अन्तरिक्षे दिवि वा चयनमप्रसिद्धं तथा हिरण्रयरहितायां शुद्वपथिच्यामिति सिद्धान्नितं ‘अन्न्ययोर्यथोोक्तम्, इति सूत्रे। तात्र्प्येति। महातार्वेयेत्यर्थः। अवान्तरतापर्यविषयन्य यागादिगतेष्टसाधनत्वादे: बाधितत्वादिति भावः। पिपासेति। दु:खविरेषरूपपपिपासानिवृत्तिसामर्थ्यस्य जलगतन्य व्यापकताविशेषरूपत्वात् शक्तिविऐोषरूपत्वाद्वा नापरोक्षतेति

# न लौकिकं न सामान्यज़न्यं साक्ष्यात्मकं च न। प्रत्यक्षं बाधते लिङ्झमिथ्यात्वस्यानुमापकम् ।। 

 इति प्रत्यक्ष्योग्यसत्यत्वानिरक्ना प्रत्यक्षवाधोद्वार:.
## प्रत्यक्षबलखण्डनमू.

किंचेदं रूप्यमिम्यत्र दद्मितिवत् ‘सन् घटः’ इत्य-习ापि सदित्यधिष्टानभूतं चह्सैव भासते। न च चाक्षुपादिज्ञाने रूपादिहीनिस्य अह्लणः कथं स्फ़रणमिति वाच्यम् ; रूपादिहीनस्यापि कालादिन्यायेन सफुरणस्य पांगेव उपपादितत्वात्। नन्वेवं 'नीलो घटः, मिथ्या रूप्यं असन्दृश्धङम्'

भावः। लौकिकं। लौकिकसन्निकर्षजन्यम्। सामान्येति। अलौकिकसान्निकर्षमन्त्रत्यर्थः। सामान्यज्ञानप्रत्यासत्योः सन्निकर्ष्व्वास्वीकारात् योगजधर्मस्य पत्पक्षजनकव्व्वीकारक्षेड्यवतीन्द्रियप्र्यक्षजनकत्वास्वीकारात् सत्यत्वप्प्यक्षाजनकत्व्वमिति भावः॥

> सारस्वैतैस्तर्करलैश्धन्द्विकाचन्द्रभूषणै:।
> दुरन्तध्नन्तखण्नां खण्डता मत्वयोग्यता॥

इति प्र्यक्षबाधे द्धार:

इदमितीति। यधदंरंजतयोः कल्पितं तादाल्यं भाति, तथा सद्रूपमिध्यारूपयोः, तच नोक्तमिध्यात्वविरोधीति बैकिकम्यक्षमपि न हृइयव्वादिवाधकरूपमिति भावः । घठादेरारोपितव्वात् सिद्धिकालेडपि कार्यमात्रे अह्झणो निमित्व्वस्येवोपादानत्वस्यापि सीद्धि-

इत्यादावपि ‘नीलः’ इत्यादिरघिष्ठनानुनेध इति स्यात्। न च नैल्यं घटादिष्वस्ति सत्त्वं तु नेति वाच्यम्; अस्यारोपितत्वसि दुुयत्तरकालीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। अन्यथा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यत्रापि सत्यमित्यधिष्ठनान्तुवेध एव स्यादिति चेत् न; सान्नित्यस्य घट इत्यनेन सामानाधिकरण्यस्य बाधितत्वात्। तथाहि सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनं वा, स्वरूपसत्त्वनिबन्धनं वा, कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं वा, सामानाधिकरणंयं स्यात्। न चाभावादिसाधारणसत्प्रतीतौ सत्ताजातिस्फुरणं सम्भवति, अभावादिषु त्वयापि तद्नझ़ुकारात्। न च काचित्साक्षात्सम्बन्धेन काचित् परम्परासम्बन्धेन सदिति प्रतीत्युपपत्तिः, विजातीयसम्बन्धेन समानाकारप्रतीत्यनुपपत्तेः।

सम्भवात् ज्ञानरुपत्वेन ज्ञेयमान्रसम्बन्धत्वाच्च सद्वूप्रह्यतादात्य्यमुक्तधीविषयो निर्णीयते । न त्वन्याद्द्रासत्तासम्बन्ध:, असम्भ वात् । किश्च उत्कमिथ्यांव्वाभावविषयकत्वे सिद्धे ख्वानेष्टे ${ }^{1}$ सेत्स्यति । न च तत्र्यं ${ }^{2}$ साघयितु शक्षं, सदूपतादात्यविषय कत्वस्य त्वस्सिद्धाव्वेडपि मिथ्यात्वरूपारोपितत्वसिद्यि:स्सम्भवत्येवेति कान्योन्याश्रयनेत्याइयेयाह-न सघ्धित्यस्येति। यघ्यपि जातिनिबन्धनमिल्येव वक्तुमुचितं, तथापि जातेः सर्वगतत्वमते तथा वक्जुमशक्यतया सुरुणनिवन्धन मिल्युक्तम्। विजातीयेति। सर्वत्र एकजातीयस्बन्थेन सतापकाऱकवेनेन मानसिद्धपतीतीर्विजातायसम्बन्धेन कचित्सत्राप्रकारकत्वेन उपादानासम्मवादित्यर्थः। न च तथा मानसिद्धत्वमसिद्धमिति वाच्यम् ; द्रव्य्युणकर्मयु साक्षात् सम्बन्ध:, अन्यत्र परम्परासम्बन्ध: भातीति हि वैरेपिकादिशा|्रकल्पना। न तु लोका-

अन्यथा सम्बन्धभेद् एव न सिद्वेग्यत्। न च स्वरूपसच्चेनाभावादौ तर्प्रतीतिः, अननुगमात्, अननुगतेनापि अनुगत-

नुमवः अन्यथा तच्छास्रानभिज्ञस्य द्रव्यादित्र्यमेव सदितिधीकाले त्रया$न^{1}{ }^{1}{ }^{\text {स्सामान्यादिसदिति परम्परासम्भन्धेन सत्तार्धीः स्यात् ।न च }}$ त्रयान्यत्र परम्परासम्बन्धेन सत्तावतो भेद्र्र्यमेवेत्यत्र प्रकार इति परम्परासम्बन्धेन सत्ताधीर्न जायते छति वाच्यम्; येन सम्बन्धेन त्र्ये सत्ताप्रकारः त्रयान्यत्र तत्सम्बन्धेन तद्बतो भेदस्यैव एवकारेण़ बोधनादेव ${ }^{3}$ परम्परासम्बन्धेन सामान्यादिकं न सदिति धीकाले सामान्यादिसदिति धीर्भ्रमस्स्यात्। द्रव्यादिसप्तकं सदेवेति च लोकानुभवो अ्रमस्न्यात् ; विशेप्यतावच्छेदकावच्छेदेन एकसम्बन्धेन सत्ताप्रकारकत्वात्। न ${ }^{4}$ च तदिष्टं; बाधकाभावात्, तत्कारणदोषकल्पने गौरवाच ' लोहितः इफटिकः' इत्यादौ तु बाघғय सर्वननुभाविकत्वात् तक्कल्पना न दोष इति भाव.। अन्यथेति । साक्षात्सम्बन्धन्य प्रामाणिकत्वसम्भवेऽपि परम्परासम्बन्धल्य कल्पन इत्यर्थः । सम्बन्धभेदः साक्षात्सम्बन्धनानात्वम्। घटादेस्संगोगः समवायो वा अस्तु कपालादौ भूतलादौ वा परम्परासम्बन्धसम्भवात् । अथ क्वसाक्षात् क्वपरम्परेति विनिगमकाभावादुभयत्र परम्परासम्बन्धाननुभवाच उभयत्रापि साक्षात्सम्बन्धः, तर्हि प्रकृतेऽपि द्रव्यादित्रये साक्षात्, अन्यत्र परम्परेति वा अन्यत्रैव ₹्वरूपसम्बन्धेन समवायत्वाभावत्वादिवत् सत्ताखण्डोपाधिर्वर्तते द्रव्यादित्रये ₹वरूपसम्बन्धर्घटितपरम्परासम्बन्धेनेति वेति विनिगमकाभावादुभगत्र परम्पराननुभवाचोभयत्रापि साक्षात्सम्बन्धः। तत्र घटादेरुत्पत्तिकाले कपालादौ संयोगस्य, भूतलादौौ समवायन्य चासम्भवात् सम्बन्धभेद्सिद्धावपि प्रकृते एकसम्बन्ध एव ${ }^{1}$ किाया. ${ }^{2}$ भैदस्स्वग. ${ }^{3}$ बाधनादेबं: ${ }^{4}$ न चेल्यादिस्सर्वानुभाविकरादिल्यन्त.पाठः छहचिन्च छइयते.

प्रनीती जातिमाग्रोच्छेदप्रस्बाव । अतएव न सर्वर्रापि स्वरूपसच्चेनैव सद्वघचहार:, एकैनैच सर्वानुगतेन सर्वर्र सत्र्रतीत्युपपत्तौ बहृनां तहेतुत्वकलपने मानाभावाव्। नापि काल-
 सदिदं रजतमिल्यादिध्रमें अभावाच्च। तस्मदेकं सर्वाधिघ्रनमेत्र सादति सर्वर्रानुभृयत इति गुक्तम्। नीलादेस्तु घटादिसामानाधिकरण्ये किमीप नाध्ति बाधकम्। न वा नीतादेरशिप्रनतंब्य सम्भवति, प्रागसच्चाई। नीलीवीतादिश्रतास्व-

कल्व्पत द्वति विशेष:। न च जन्यसल्वावच्चिन्न प्रति द्रव्यवेन हेगुल्लम्; अन्यथा रूपादेः स्वसमबायिसमवेतल्बस्वन्बेन कारणस्य सबात् कपाउसादावापि रुपाहुपतिस्स्याव्, अतो द्रव्यादिशये ${ }^{1}$ सतासमवायस्य आइ₹चकलवात् अन्यत्र पसम्परासम्पन्बस्य तद्धाितेत्य सम्मघान्त चवसूपयम्ब्धकलपन मिति विनिगमकामीति बाच्यम; तावतापि हि रूपादिव्वेन साक्षातसम्वध्यतां सबा, न उ द्रव्ये। किष्ध

 चवरूपसच्चेन-घटादिमषरूपसत्वेत। अथवा स्रूपसन्वेनेति काएसम्भन्धितेनेति देशसम्वन्धिल्बेनेते वा अर्थः। सर्वातुगतेनेति। यदि सण्डकाखेदेश्रानं तदा अनुतुतत्त्वम्। अयाविया हूपमहाकाबद्देगानां तदा अनादिपदार्थेकु तरसम्ष्चा संम्भव। पर्प-
 इति मावः। अधिषनत्वं उपदानाझ़ानविषयत्वम्। नीलद्दोंटेंत्वा-


कानन्ताधिष्ठनकल्पने गौरवात्, अधिं्ठेयतुल्यये।गक्षेमत्वाच्च। अधिष्ठेयविषमसत्ताकमेव हि अधिष्ठानं भवति। 'मिथ्यारूप्यम्, असन्नृथ्षुक्रम्' इत्यादौं मिथ्यात्वासत्वयोराधिष्ठ।नत्वशाकापि नास्तीति रून्यवादापत्तेः । तत्र चानुपपत्तिरुक्ता, वक्ष्यते च। यत्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यत्रापि तथा स्यादिति, तन्न; यतो न तत्र सत्तासम्बन्धेन सत्वम्, किन्तु स्वरूपेणैचेति उक्तदोषानवकाशात्। न चैवं घटादावपि स्वरूपेणैव तथात्वम्, पूर्वमेव निराकृतत्वात्। किं च निश्रितनीलादि प्रत्येकं वा अधिष्ठानमित्यत्र विनिगमकमाह —अधिष्ठेयतुल्ययोगक्षेमत्वादिति। मिथ्याव्वादित्यर्थः।।

अधिष्टयविषमसत्ताकमिति। यत्पमया यदुपदादानाज्ञाननिवृत्ति₹तत्रदेपेक्षया अधिकसत्ताकं वाच्यं, अन्यथा तथा सा न स्यात्। नीलादिकं च घटाद्येक्षया न तथेति भावः। अथवा अधिष्टेयविषमसत्ताकं ताच्तिवकं, अताच्तिश कस्य नाधिष्ठानत्वमज्ञानविषयत्वरूपं सम्भवति, जडत्वेनैव प्रकाशासम्भवेन तँद्वैयथ्यादिति भावः। न चाधिष्ठानावच्छेदकतया नीलादि भासतां इदं रजतमित्यादाविदमादिवदिति वाच्यम्; घटत्वादिवन्नीलादे: प्राक् सत्वंं अतएव तदवच्छिन्नैतनन्यस्याज्ञानविषयत्वस्य वाच्यतया तन्मते घटत्वादिवत् नीलादेरपि सद्रूपानतिरेकसम्भवात्, अधिष्ठान ${ }^{1}$ सैव सम्भवात् अधिष्ठानावच्छेदकतया सामानाधिकरण्यस्यापपष्टत्वसम्भवाच्च मिथ्यात्वासन्वयोः मिथ्यातुच्छयोः। तेन परमते मिथ्यात्वासत्व्वयेः नीलानितुकुल्यत्वेऽपि न क्षतिः। राक्कापीति। नीलादेस्तु सत्त्वशाक्कया अधिष्ठानत्वशाक्का सम्भवतीति भावः। ख्वरूपंणेति। खरूपानतिरिकमित्यर्थः। तथाच सत्तायां सद्वचवहारः सत्तान्तराविषयक इति परेषामपि सम्मतमिति भावः

प्रामाण्येंश प्रत्यक्षमितरवाधऊं भवेत् । न चात्र प्रामाण्यं निश्यितम्, अगमविरोधात्, अनुमानविरोधात्, भाविवाधाभावानिर्णयाच। ननु प्रत्यक्षम्ब प्रवलमनुमानागमबाधकम्, नानुमानागमौ, प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तद्विरोधाभावेनानुमानागमयोः प्रामाण्यम्; तयेः प्रामाणेये च तद्विरोधात्, प्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात्। न हि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येप्येवमन्योन्याश्रयः, तस्यानपेक्षत्वादिति चेन्न; चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षे अनुमानागमविरोधेन तस्याप्र्रमाण्यद्रीनात, तेनापि स्वप्रामाण्यसिद्धर्थर्थमतराविरोधस्य अवइयमेक्ष्णणीयत्वात् । तथाचान्योन्याश्रयतुल्यत्वात् परस्परविरोधेन श्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्राप्रणीतत्वादिना प्रमाजनकत्वव्याप्तेः बेद्रामाण्यनिश्यये जाते तेन स्वतस्सम्भावितदोपस्य प्रत्यक्षस्य वाधात् अस्मन्मते कान्योन्याश्रयः । अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षनुद्रूा बाधात् देहभिन्नत्वमप्यात्मनो नागमननुनानाभ्यां सिद्धूचे्। ननु प्रत्यक्षमनुमानाद्यपेक्षया जात्यैध प्रनलम्, कथमन्यथा औष्णचग्रत्यक्षेण वह्विरात्ययनुमितिप्रतिबन्धः? न च तत्रोपजीव्यत्वनिवन्धनं प्रत्यक्षस्य वाधकत्वम्, धर्म्यदिश्यक्कुरादिनैव सिद्देस्त्वच्रोऽनुपजीव्यत्वात् । किश्व प्रत्यक्षस्य प्राबल्यमनुमाद्य-गृहीतरेखोपरेखादिग्राहकत्वादनुमानाद्यनिवर्तितदिब्घोहादिनिवतकत्वाचेति चेन्न? त्वाचप्रत्यक्षस्याप्युपजीव्यत्वेनैव हैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्, चध्षुरादिना धर्म्यादिग्रेडपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्द्रेरभावात्। तथा न जात्या प्राबल्ये मानमस्तित। तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये प्रयोजकम्, प्रत्यक्षागुहीतधर्मादिग्राहकत्वेन परोक्षप्रमाणस्यैव प्राबल्यापत्तेः। नाप्यअनुमानविरोधात् । तर्कसहकृतत्वेन बलवदनुमानविरोधात् ।

नुमानाद्यनिवर्तितद्धि््झोहनादिनिवर्तकत्वेन प्राबल्यम्। एतावता हि वैधर्म्यमात्रं सिद्धम् न च तावता इतरम्रमाणापेक्षया प्राबल्यं भवति। अन्यथा रवाचप्रत्यक्षनिवर्तितवंशोरगभ्रमनिवर्तकत्वाचक्षुषोऽपि त्वगपेक्षगा प्राबल्यं स्यात्। ततश्व चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुवस्य तद्विरोधित्वाचज्ञानात् बाधो न स्यात्। प्रत्युत अगमसैपैव सर्वतः प्राबल्यं स्मर्यते-
' ाबल्यमागमस्यैन जात्या तेषु त्रिषु स्टृतम्'।
इति । न च तद्वैदिकार्थविषयमिति वгच्यम्। अंद्यैतस्यापि वैदिकार्थत्रात् ।

बंशोरगेति । म०डू कवसाब्जनदुष्टनयनजन्यभ्रमस्याटुष्टनयनजप्रत्यक्षेगैव निवृत्तिः। त्वगादिना काठिन्योपलन्भेप्युक्तदोषदुपष्टनयनेन वंशोरगदर्शनादिति भावः । वैदिकेति। वेदान्याबोध्येल्यर्थः अंद्यैतस्येति वस्तुतस्तु वेदान्याबोध्येडर्थेमानान्तरस्य भनृत्तरेवाभावात् दैर्बल्योक्तेरसक्रतच्वात् स्वधेध्यार्थ एव मानान्तरस्य दौर्बलल्यपरा उक्कस्म्ऩतरिरिति बोध्यम् । यतु -" विजातीयसम्बन्धेत्यादिकं न युक्तें लोहितोऽयमिति समानाकारप्रतीतेः स्फटिकादौ स्वसमवायिसंयेगगरूपपरम्परासम्बन्धेन अन्यत्र समवायेन लौहित्वपकारकत्वस्य सैंन्व स्वीकारात्, नीलोड यमित्याकारकपतीतेः सम्बन्धमेदेन घटतन्नीलिम्नोः नीलरूपप्रकारकत्वाच्च। अन्यथेत्याद्यवि न युक्तम्; तत्तत्सम्बन्धगोचरतुद्धेः सम्बन्धभेद्साधकत्वात्। न च ₹वरूपसत्वेने $\stackrel{् य ा द ि क म प ् य य ु क ् त म ् ; ~ ब व न ् म त े ~}{\text { न }}$ प्रमेयत्वेनैवाननुगतेनाप्यनुगतव्यवहारसम्भवात्, त्वन्मतेऽपि श्रह्मणि स्वरुपेणन्यत्र तत्सम्बन्धेनेत्यननुगमाच आधिष्ठयविषमेत्यादिकमयक्वयुक्तम्; त्रव्मणोऽपि घठाद्योेक्षया आधिकसत्वश्य मया अनक़्ञाअरात्, न्तह्मसत्त्वश्रुतेरिव सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थापि सत्त्वग्राहकत्वात् शून्यवादापत्ति-

रपि न युक्ता ; वियदादिमिश्यात्वेडपि तदापत्ते:, अधिष्ठानमात्रसत्यत्वस्य शून्यवादेऽपि स्वीकारात्" इति, तत्तुच्छम् ; अस्मद्याख्यातार्थनवबोधमूलकत्वात्। व्याख्यातं हि साक्षात्सम्बन्धेन बाघसत्त्वे सामान्यादौ लोकानां सहुद्धचनुदयात् तत्र तत्सम्बन्घेनैव तद्धीरिति । तथाच ₹फटिकादौ तत्सम्बन्घेन लौहित्यादे: बहघसन्वेपि तदुद्धचुदयात् तद्धी:, तत्सम्बन्धेनौपाधिकभ्रमत्वात् परम्परासम्बन्धविषयकत्वाद्वा बाधाप्रतिबध्या वा, उभयथापि न क्षतिः । तत्र परम्परासम्बन्घविषयकत्वे च रजतादिकमपि साहृइयादिसम्बन्धेन शुक्ताादौ भातीति सम्भवेन अ्रममात्रोच्छेद: । साक्षाहसम्बन्धविषयकत्वानुभवेन अ्रमत्वकल्पनं तु तुल्यमित्यस्मदीयो अ्रमत्वपक्ष एव साधुः। न परेषां परम्परासम्बन्धधीत्वपक्ष:। नीलोड़यमित्याद्ययुक्ते, नीलरूपस्यापीदन्वादिरूपेण नीलत्वावच्छिन्नपतियोगिताकतादातम्यानुयोगित्वान्नीलोऽयमिति बुद्धे: तादास्य्यरुकैजातीयसम्बन्धविषयकत्वात्, रूपविशोष्यकतत्रतीतेः परमते अत्यन्ताभेदसम्बन्धविषयकत्वेडपि बाधादिकृतविशोषस्यो ${ }^{1}$ कत्वेनादोषत्वाच यत्तु अन्यथेत्यादे: कमप्यर्थमबुध्वा प्रलपितं, तन्महाचित्रम्। प्रमयत्वेनेत्यादिकं तु झोभते। न ह्मस्मन्मतेऽननुगतेन च्यवहारविषयक्यानुगमः, किन्तु अननुगम एव तत्तन्र्रमभेदकूटवज्जानत्वाद्यनुगतरूपेण जातिरूपेण वा, प्रमात्वादिना प्रमेयत्वाद्यनुगमो वा। ब्रद्सणीत्यादिकं तु चित्रं ; ज्रद्मणि सम्बन्धाभानेऽपि एकसद्वयक्तिविषयकज़ानस्य सर्वत्राक्षतत्वात्, सत्तायाः ऐक्यान्यसम्बन्धभानस्य सर्वसग्मतत्वाच। अधिछेयेयेत्यादि युक्तमेव; सद्रूपमिव नीलादिकमधिष्ठानं स्यादिति मांप्रति त्वया अवादितम् ज्रह्माधिष्ठानं विषमसत्तकत्वात् न नीलादि तबभावादिति मदुक्तौ त्वदस्वीकारस्याप्रयोजकत्वात्, प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वविरोधिसत्त्व््राहकत्वस्य अद्याप्यसिद्धेश्र । अधिष्ठानमात्रेत्यादितु
${ }^{1}$ बाधाबाधादिकृतनिरोष्य.

गोमते । सर्वमिथ्यात्ववादो हि शून्यवादः 1 अतएवास्तु तर्हि शून्यतैवेत्यादिबौद्धाधिकारीयपूर्वोक्तवाक्ये शून्यतायाः परतःसिद्धावनवस्थादिकमुक्क्वा स्वतास्सिद्धव्वमाशक्षय अयातोऽसि मर्गोणेत्यादिना अस्मन्मतप्रसक्तया शून्यवादत्वहानिरुक्ता । अधिष्ठानमात्रसत्यतायां तु शून्यव।दस्य मन्मताविशोष: 1 वाच₹पत्यादिभिरापि तत्वप्रमाविएहेण प्रपश्चबाधो न स्यादिति शून्यवादो दूषित। खण्डने च सौगतब्रद्सवादिनोरयं विशाष:--‘ यदाघघस्य सर्वमनिर्वाच्यं अन्त्यस्याइमान्यत्' इन्युक्तम् । तस्माचछून्याशून्यमतर्धशून्योसीति व्यक्तम्। यदुपि—"चक्षुरादिना धर्म्यादिप्रहेडवीत्याद्ययुक्तम् ; श्वैत्यानुमित्याद्यनिवर्तितपीतभ्रमनिवर्तकजातिविशोषावच्छिन्नधीजनकत्वेन प्रत्यक्षस्य प्राबन्यसम्भवात्। प्रत्यक्षागृहीतधर्मादिग्राह कत्वेनेत्याद्ययुक्तम् ; यत्रमाणविषयगतविशेषस्य तदगृहीतस्य ग्राहकम् यत्प्राणं ततो हि तत्प्रबलम्। धर्मादिकं च न प्रत्यक्षविषय इति न प्रत्यक्षाच्छबद्द: प्रबल इत्यदोषः" इति, तदपि तुच्छम्; जात्या प्राबर्यमित्यस्य हि प्रत्यक्षत्वमात्रेण प्राबल्यमित्यर्थः। तदनिवर्वितभ्रमनिवर्तकत्वादिना ततः प्राबल्यं तु पश्धादाशाङ्रय दूषणीयम्। किंच निर्दोषचक्षुषः त्वगनिर्वर्तितवशोरगअ्रमनिवर्तकत्वात् त्वगपेक्षया प्राबल्यापत्तिः कथमुद्धृता? काठिन्यविशोषादिविषयकवंशत्वाचप्रत्यक्षस्यापि मण्डूकवसाङ्जनरूपचक्षुर्दोषसत्वे तादृशाभ्रमानिवर्तकत्वात्। चाक्षुषविशिष्टवुद्धौ त्वाचबाधबुद्दिप्रतिबद्धयत्वस्य तार्किकाधसम्मतत्वाच्च । अत एव चक्षुरनिवर्तितवंशोरगभ्रमनिवर्तकत्वाचक्षुरपेक्षया त्वक्पाबल्यं स्यादित्याशक्कापि तवासझतैव । अपि च यद्यनिवर्तितभ्रमनिवर्तकं तत्ततः प्रबलुमित्युक्तौ प्रत्यक्षानिवर्तितं यागादावधर्मत्वभ्रमं प्रति श्रुतेर्निवर्तकत्वात् प्रत्यक्षात्सा प्रबरा ते स्यात्, प्रत्यक्षत्वेन उक्तनिवर्तकविशोषणे शाबदत्वविशोषणमादायापि तथा नियमः कि न स्यात्। अथ याद्दशाविशिष्टविषयकयदानिवार्तितं

## 'काचित्प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमागमबाधितम् ।'

इति तु परीक्षित्रप्रमाण्यभ्रत्यक्षविषयम् ।
भमं प्रति ताह्दशविशिप्टविषयकतया यन्विवर्तंकं ततस्तत्पवलं, प्रत्यक्षविषयविषयकतया ${ }^{1}$ च श्रुतिन्नोंत्रभ्रमनिर्वर्तिका, धर्मस्य प्रत्यक्षागोचरख्वा_ दिति चेन्न ; आपोपदेशादिना गुक्त्रादौ़ रजतादिप्र्यक्षनिवृतेरानुभाविकत्वेन शब्दात् प्यस्क्षस्य प्रावल्यासिद्दे: वंशोरगादिस्पहीयापतेः तथाप्यनुद्धाराच्च। यत्रमाणविषयगतेल्याघपि न युक्तम् ; प्रत्यक्षविषययागादिगतन्याहौकिकश्रेयस्साधनत्वर्वरूपधर्षत्वादे: साहकत्वात् शब्द्नस्य प्रत्यक्षात्पाबल्यसम्भवात्। किस्चातीन्द्रियं प्रत्यक्षागृहींतं घटादिगतं गुरुत्वादिविशोषमनुमानादि गृद्धातीव्यतेा यस्पमाणफखागृहीवविशेषस्य यत्पमाणफलं ग्राहकं ततः तर्पबलमिति न नियमः। नापि फलवृत्तिजातिविशेषषविशिष्टागृहीतविशेषान्तर्मावेन नियम:, गुरुत्वादिकं च न प्रल्यक्षत्ववविशिष्टगृहीतमीध्वर्पर्यक्षग्रहीतत्वादेति बाच्यम्, शाब्दत्वादिजातिविशिष्ट|गृहीतविशेषापपसिद्दे: केनचित्पुखेंण तदादिशब्दै: बुद्धिविशेषविषयत्वादिरूपेण विशेषमात्रगृहीतस त्तैंः स्वरूपत एव सर्वविशेषघहणसम्भवात्, ईध्वरीयेन विवरणायुक्ता|विविषयकानुमितिरूपेण ज्ञानेन सर्वविशेषषणां गृहीतत्वाच, प्रल्षक्षत्वजातेरस्मन्मते अलीकत्वस्योत्कत्वाच्च यदपि च त्वाच्र्यक्षत हत्यादे: परीक्षितप्रामाण्यकपत्यक्षविषयकत्वेडपि अस्मदिष्टसिद्धे: सन् घट इत्यादिरपि फलरपर्यन्तं परीक्षितत्वादिल्यादियोदनं, तत् देहामझ्ञानस्य ${ }^{3}$ स्वामादिज्ञानस्य च फरुपर्यन्तं परीक्षितव्वेडपि दुर्बल्लत्वाद्येयम्। पाश्वात्ययाधादिक ठु नुल्यम्। परीक्षित्रामाण्यक्रत्यक्षेति -

प्रत्सक्षमनुमानं च शासं च विविधागम्।
त्रयं सुविदित कार्य धर्मगुद्दिमभीप्सता।

[^49]प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु समृतम् ॥
झतु समृतेः,
तस्माप्प्रत्यक्षदृष्टेऽपि ${ }^{1}$ युक्तमर्थ परीक्षितुम् । परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान् न धर्मात्परिहीयते।।
इति नारदोक्तेश्चेति भावः यद़पि-" तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यमथो खल्वाहुः कोऽह्रति मनुष्यस्सर्व सत्यं वदितुं सत्यसंहित। वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति विचक्षणवतीं वाचं बदेचक्षुत्वै विचक्षणं विह्येनेन परयतीत्येतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यचक्षुस्तस्मादाचक्षाणमाहुरदागिति स यद्यदर्शमित्याएह अथाक्य श्रद्द्धति यध्यु वै ₹षयं पइयति न बहूनां च नान्येषां श्रद्धाति तक्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं बदेत्सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति भवति" इति दीक्षणीयेप्टेरर्थवादे ऐतरेयव्राल्मणवाकं प्यंत्यक्षप्राबल्यबोधकम् ; तत्र विचक्षषन. वतीमित्यस्य चक्षस्संवादिनीमित्यर्थकत्वात्, सत्यं निहि बस्तित्यस्य माः न्तरापेक्षया बलवद्यवस्थापितमित्यर्थकत्वाचेति। तदापि तुच्छमू। यदि हि चक्ष्रेव मानान्तराद्लकवत् तदा त्वगाद्यवेक्षयाऽपि बलवत्सात् । यदि चक्षुस्संवादि वदनमेव सत्यं न स्यात्। चक्षुर्वद्य प्रत्यक्षपरत्वेऽपि अतीन्द्रियादिविषये निर्दोषानुमानादिसंवादि वदनं सतंयं न स्यात्। तस्मादुक्तश्रुतिरेवं व्याख्येया सत्यं व्यावहारिकसत्यार्थकवाक्यं तन्माश्रोक्किर्न मनुष्याणां सम्भवति, अमबाहुल्यात्, तन्मूलकवाक्यानां बहुरः उच्यमानत्वात्। किश्च 'न ल्रूयत्सत्यमप्रियम्’ इत्यादिवच. नेम्यः 'सत्यमेव वदितव्यम् ' इत्यनुपपन्नमित्यमिपायेण अथो खल्बाहु. रित्यादिनाऽऽशाक्य 'यद्रूतहितमत्यन्तं तद्धि सत्यं प्रचक्षते' .इत्यादिवचनोक्तलक्षणााकान्तवचनमेव सत्यं, तदपि मानान्तरेणोपलम्धम् यादृरां ताद्धां वाच्यम्, न रागद्वेषादिना तद्विरुद्धं वाच्यम्। अतएव ॥

[^50]सत्यं ज्रूयात्पियं ज्रूयान्न ज्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ज्ञूयादेष धर्मस्सनातनः ।।
इतीत्याइयेन समाघत्ते---विचक्षणवतीमिति। चक्षुरिति। विशोषदर्शानसाधनमित्यर्थ:। विझोषेण चक्ष्यते दृइयते अनेनेति व्युत्पत्तेः।'मनोऽस्स दैवं चक्षु: इति प्रजापतिविद्यास्सश्रुतौ मनसि चक्षु:पदप्रयोगात्, 'योऽयं दक्षिणेऽक्ष्णि पुरुषो दृइयते इति श्रुतौ प्रमाणसामान्ये प्रमातृतया यः पुरुषो दृइयत इत्यर्थात् प्रमाणसामान्ये तत्पयोगाच्च । तच्च साधनं द्विविधं, वाक्ये परदुःखाप्रयेजकत्वनिश्चयसाधनविचारः, वाक्यार्थोपलबिधसाधनमानान्तरं च तत्र द्वितीयस्ययोगो वाचि आवइयकः, अनुपलु्यकथने प्रत्यवायादित्याइायेनाह-एतेनेति। प्रथमस्य योगोऽपि तस्यां तथा दु:खप्रयोजके कथिते प्रत्यवायादिल्याइायेनाह—एतद्धेति सत्यमिति वाक्सत्यतायां मुखूं प्रयोजकमित्यर्थः। पमाणगृहीतार्थकमपि परदुःखप्रयोजकं त्याज्यमित्येतदर्थ। मुल्यत्वेक्तिः । मानान्तर्रेपलबधार्थकत्वस्य वाक्सत्यताप्रयोजकत्वे शिष्टठ्यवह्टारमनुवदति। तस्मादाचक्ष्षणणमिति अंद्राक् वाक्यार्थ प्रतीतवानसीति प्रश्नः। अदर्श प्रामितिवानहमित्युत्तरम्। अस्य वचनस्य श्रद्धधाति सत्यतां निश्विनोति अचक्षाणस्य प्रमाणाकुरालत्वे आह यद्युवेति खंय श्रोता पइयति वाक्यार्थ प्रमिणोति । एवंच वाक्यार्थস्राहकमानस्यैव दैवादृष्टत्वे वक्का नापराध्यति, परिहारासामर्थ्यादित्यशयेनाह—सत्योत्तरेति । तस्मादागमाद्यपेक्षया प्रत्यक्षे श्रद्रालुत्वं चार्वाकसरु्य'मात्रविजॄम्भितमिति बोध्यम् II

किंच उक्तश्रुतिर्माधवायभाष्ये एवं वयाख्याता-"सत्यमेव वाच्यकित्यस्य प्रायेण मनुष्याणामशाक्यता 'अथो खलु' इत्यादिनोक्ता। सत्यमात्रेंक्तिफलाय प्रकारान्तरं विधते— विचक्षणवतरमिति।

विचक्षणेनि चतुरक्षरो मन्त्रत्तद्युक्तं वाकयं बदेत्-देवदत्त विचक्षण गामानयेत्य/दि वक्कव्यमित्यर्थः। तदाह आपस्तम्बक्ष " लसितं विचक्षण इति नामध्पेयन्तेषु ' निदधाति च लसितेति ब्रास्मणस्य, विचक्षणेति राजन्यवैरययो:" इति। उक्कमन्रस्य सत्योक्किस्थानीयत्वं पतिपादयतिचक्षुर्वै इति चक्षुरिन्द्रियं नेत्रं, तद्विचक्षणं विशोषेण चष्टे पइयत्यनेनेति व्युत्पप्तेरित्याह्- एतेनेति । एतद्धुत्यादि । प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणानां मध्ये चक्षुरेव मनुष्याणां सत्यं निहितं, तथाच ${ }^{2}$ यथावस्तुज्ञानसाधनत्वेनाभिमत, चक्षु:पर्यायविचक्षणशब्दप्रयोगः सत्योक्किस्थानीय इत्यभिप्रायः। चक्षुछो यथावसतुज्ञानसाधनत्त्रन्वयन्यतिरेकाभ्यामाह-तस्मादाचक्षाणेति। उदाहरणान्तरमाह--यद्यु वेति। निपातसमुदाय:। च नेति शबद: अपिशब्दसमानार्थ इति। तथाच वस्तुगत्या चक्षुषि यथावस्तुज्ञानसाधनत्वस्य असत्त्वेडपि मनुष्याणां तथा अभिमत ${ }^{3}$ त्वात् सत्यस्वं चक्षुप उक्कम्। अतो यथावस्तुज्ञानसाधनत्वमेव तस्य भाष्याभिप्रेतम् । अतएव तथा अभिमानस्यैवाग्रे उदाहरणम् । अन्यथा यथा वसतुज्ञानसाधनत्वमात्रदृढत्वे उदाहरणतात्पये चक्षुषा यथावस्तुज्ञानं, तद्विना नेत्येवोक्क स्यात् । न तु अद्राक् अदर्शा शद्धघतीति । यस्माचक्षुषः तテ्त्वदर्रानहेतुत्वं मनुष्याणामभिप्रेतं तस्मादाचक्षाणमाहु. रद्रागितीति भाष्ये मनुष्याणामभिप्रेतमिति नोक्तं स्यात्। मनुष्याणामिति श्रुतावपि नस्यात् । मानान्तरापेक्षया बलवत्त्वं तु त्वया स्वमत्यनुसारेणापामाणिकं सत्यशब्दार्थतयोंक्त . सुदूरपराहतम्। तथा विचक्षणवतीमित्यस्य चक्षुस्संवादिनीमित्यर्थोप्यप्रामाणिक इत्युक्तम् । ' चक्षुर्वैसत्यम् अद्रागित्याह अदर्शामिति तत्सत्यम् ' इति तैत्तिरीयश्रुतिरप्युक्तसमांनार्थकत्वादविरुद्धा। यत्तु—"वाजसनेयिनो द्वौ विवद्मानावे${ }^{1}$ नामघेयं तेषु. ${ }^{2}$ 'तथाच . . . चक्षुषः' इल्येतव्क्वचिन्न छ₹यते. ${ }^{3}$ नियमित.

वायातावहमदर्शमहमश्रौषामिति, य एवं ज्रूयादहमदर्शामिति तस्मा एव श्रद्धते" इत्यामनन्ति ; तत्परीक्षितप्रामाण्यकЯत्यक्षपाबल्यानुवादः, अपरीक्षितप्रत्यक्षस्थले वैपरीत्यस्यैव लोके दर्शानादिति नास्मत्पतिकूलम् । तस्मादैतरेयत्राद्मणपथमाध्यायरेषवाक्यमस्मदनुकूलमेव ॥
'अमे ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद अदित्याह्सामवेदः' इत्युपकम्य ज्योतिष्टोमे श्रूयते--ंत्मादुच्चैऋचाक्कियते, उपांशु यजुषा, उंच्चै₹साम्ना इति । तत्र उचैष्टादिकमृगादिपदार्थमुद्रिएय विधीयते। स कि तत्पदस्य मुखूयार्थे मन्त्रविशोष:? उत उपक्रमस्थऋग्वेदादिपदगृहीततात्पर्यानुपपत्त्या लाक्षणिक ऋग्वेदादिविहितकर्मान्नमन्त्रमात्ररूपोर्थ: ? इति संशोये, ऋग्वेदादिपदानां विध्यपेक्षितस्तुतिबोधकत्वेन गुणभूतार्थवादस्थत्वात् न. प्रधानभूतविधिवाक्यस्थेषु ऋगादिपदेषु लाक्षणिकार्थताइपर्यम्राहकतंव, किन्तु वेद्पदानामेव विधिस्थर्गादिपदानुरोधेन लक्षणया बेदैकदेशामन्त्रमात्रपरत्वमञ्तुणविरोधन्यायात्, अपच्छेदन्यायेन पश्धात्तनविधे: प्राबल्यादनुवादे लक्षणाया अदे|षत्वाचेति
 नुपपत्तेः, प्रधानस्यापि विधिवाक्यस्य स्वगतऋगादिपदेषु वेद्रक्षणां विना निर्वाहाभावात् अङ्नगुणविरोधन्यायानवतारात्। अतएवापच्छेदन्यायस्याप्यपवृतेतेकवाक्यत्वाभावे सत्येन तन्नयायेन परेण पूर्वोपमर्दस्वीकारात् विधिश्थर्गादिपदानामपि उद्देइयसमर्वकवेवनोक्तरीत्या अर्थवादोरार्थबोध कत्वावइयकत्वेन चननुवादकत्वाल्लक्षणाया अदोषत्वाच तेष्वेव लक्षणा। न वेदपदेषु। न च वेदपदेष्वेव लक्षणया ऋगादिमश्राणामेव स्तूयमानत्वसम्भवात् न विघिस्थपदेषु लक्षणेतिवाच्यम् तेषु लक्षणाग्राहकाभावात्, विधेः पूर्वमनुतपन्नतया पूर्वोप्पन्नेषु लक्षणारूपोपमद्राक्षमत्वात् ऊक्षणां विनैनैवाड्मेः ऋगित्यादिना मत्रसुतिधीसम्भवेन वेदपदानां वैयर्थ्यापत्तेश्व। मत्रमात्रं च न वेद्शब्दस्य मुरूयार्थः एकदेशाध्ययनेन-

ननु प्रत्यक्षस्यासझातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेनैव प्राबल्यम् ; उत्巾ं हि-
'असझ्ञात विरोधित्वादर्थवादो यथाश्रुतः। आस्थेयस्तद्विरूद्धूस्य विध्युद्देशास्य लक्षणा '।। इति चेन्न ; यत एकवाक्यस्थपरस्परसापेक्षपदत्वेन उभयोस्साम्ये सति। उपक्रमस्थवेदपदानुरोधेन उपसंहारस्यर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कुत्रवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृते तन्नयायस्सम्भवति, उमयोस्साक्याभावात्, गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्रितस्स भ्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वात्।
नापि वेदाध्यनविध्यर्थसिद्दय|पेत्तः । तस्माद्वेदादिपदानां ऋग्वेदादिलक्षणाग्राहकत्वात् ऋगेदादिना यत्रियते विर्धयते तर्कर्म उचै: कुर्याद्दित्यर्थपर्यवसानात् योग्यत्वान्मज्रमात्रस्य द्वारत्वलाभात् ऋगेदादिविहितकर्माद्दिमात्रस्योचेष्टादिसििद्विररिति वाक्यविनियोग्रस्तावे तृतीये तृतीयाद्याधिकरणे 'श्रुतेर्जाताधिकारस्यात्' इत्यत्र चिन्तितम्। ऋगादिश्रुतेः मघ्रजातेराधिकार उद्देरयता म्यादिति पूर्वपक्षसूत्रम्। तथाच च्यायेन प्रथमोटपन्नं प्रत्यक्षं श्रुत्याद्येक्षया प्रवलुमिति ईाक्कतेनजु प्रत्यक्षस्येति । एकवाक्यस्थेत्यनेनापच्छेदन्याया (न) वतारः; परस्परसापेक्षेत्यनेन विषेः प्रधानतयाऽपेक्षणी|यत्ववदर्थवादस्याप्युक्तरीत्या विधिनिर्वाहकार्थसमर्पकत्वेन अपेक्षणीयत्वमित्यक्जगुणविरोधन्यायानवतारस्तूचितः । ननु वेदपदानामेव मन्त्र्रात्रपरत्व किं न स्यात्? तत्राह-उपक्रमस्थेति। प्रथमप्रवृतेत्यर्थः। तथाच विधेः तत्प्रवृत्तिकालपश्षात्रवृतत्वान्न लक्षणारूपतदुपमर्दक्षमतेति भावः-न्यूनवलत्वादिति । तथाच परस्परसापेक्षत्वेन एकवाक्यगतत्वेन च पूर्वस्य परेण बाघासम्भवेडप्यतथामूतत्वेन प्रत्यक्ष़स्य पूर्वस्यापि प्रबऊश्रुत्या बाध्यत्वमेव सम्भवतीति नोत्तन्यायावतार इति भाव:

## अन्यथा ' इंद रजतम् ' इति भ्रमोजपप 'इयं श्रुक्तिः' इत्याशोप-

अन्यथेति। एकवाक्यत्वादिप्रयुक्तस्यापेक्षणीयत्वस्याभावेन बाध्यत्वसम्भवेऽपि प्रथमपवृत्तत्वमात्रेणोकन्यन्येयेन पाबल्यान्युपगम इत्यर्थः। यतु ' प्रत्क्षस्य प्रमात्वं फलपर्यन्तपरीक्षया निश्चितमिति न न्युनबरत्वम्’ इति, ततुच्छम् ; उक्तपरीक्षासत्व्वेडपि निश्र्थित्रामाण्यकश्रुतिविकुद्धार्थकवेेन स्वसस्सम्भावितदे।पलेन च अपामाण्यसंशयसम्मवादुत्तपरीक्षायाः स्वपादाविव भामाण्यानिभ्रायकत्वात्। तृतीयतृतीये 'श्रुतिलिक्रिवाक्यपकरणन्थानसमास्यानां पारदैर्बल्यमर्थवेप्रकर्षात्' दू्यधिकरणे श्रुत्यादीनों विरोधे पूर्वापेक्षया परं दुर्बहं पूर्वसापेक्षतया विनियोजकत्वात् , श्रुल्यादिक विना लिजादे: विनियोजकत्वासम्मवात् । श्रुत्यादिकं कल्पयित्वा यथा विनियोजकं लिखादिकं ततः पूर्वमेव लिलादिनिरेपक्षश्रुत्यादिना विनियोगसम्भवे तदाकांक्षोच्छेदाल्जिजादे: प्रवृत्यसम्म्नात् । तत्र श्रुतिरका|क्रिभावबोधकतृतीयादि:, तत्कल्पकयोग्यता लिखं, तत्कल्पकः पदयोस्सन्निधि:वाक्यं, तर्कल्पकोमयाकाड्क्षा प्रकणं, तरकल्पकं पाठादिसादेसयं स्थानं, तर्कल्पकं यौगिकमाध्वर्यवादिपदं समाल्येति। तत्र श्रुतित्फ़्फयोर्विरोधे 'ऐैन्द्रचा
 किन्ब श्रुत्या गाहप्याए्रम्। न चाक्षानां प्रकृत्यर्थत्वेन निराकाउ्क्षाणामपि विक्कृतिमात्राकाड़्क्या अतिदेदेकल्पनवदैन्द्रीगाहपप्ययोः प्रकाइय-
 ऐन्द्रीवीनिनियोजकत्वमास्तामितिवाच्यम्। ध्यानाहुपायान्तरणणापि स्मृतिसम्भवेन मघ्र्यर्यन्तमाकांक्षाविरहात् 1 यधपि ₹ृृतीयादिश्रुति: केवरकरणत्पस्य बोधिका, न तु गाईपप्यादीनिरुपितकरणत्वस्य, तस्य ‘ऐन्द्रचा गार्हपत्यम्, इति श्रुतपदसानि|घिरूपवाक्ययैनैव

देशापेक्षया प्रबलं स्यात्। एतेन-" लिक्नात् श्रुतेरिव रीघ्रगामित्वाद् प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम्। तदुक्तम्-

## प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोकेंबलाबलम्। <br> शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिझयोः ॥"

## इत्यपास्तम्, परीक्षितस्य मन्थरगामिनोडपि प्राबल्यात् ।

बोधनाव् ${ }^{1}$ । तच त्राद्सणवाक्यव्वेन मन्त्रलिखोपेक्षया प्रलम्, यद्यव्यन्यदैवत्यः पश्रुरितिवत् । तथाच लिन्नस्य वाक्यबाध्यतायामुत्कोदाहरणं युज्यते, न डु लिस्स्य श्रुतिबाध्यतायां, तथापि वाक्यस्यापि श्रुतिघटितत्वात् श्रुतिवाक्याम्यां बाध्यस्यापि प्रधानेन व्यपदेशात् श्रुतिमात्रवाध्यत्वव्यपदेश इति तत्राप्युक्तोदाहहरणं युक्तमिति चिन्तितम्। तथाच झीYYपघृत्तत्वाधथाश्रुतिर्तिसमेप्ष्षया प्रवला तथा श्रुत्याघपेक्षया प्रत्यक्षमिति शःां निरस्यति--एतेनेति। लिकापेक्षणीयतया लिन्ना् प्रबएश्रुते: तद्वाषकत्वेऽपि प्रत्यक्षस्योत्तरीत्या न्यूनबलत्वेन श्रुल्याघवाधकत्वेने तसर्थः। ननु प्रत्क्षस्य उक्तरीत्या न्यूनबलत्वेडपि श्रुत्याद्येक्षया शीघगामित्वेन पाबश्यम्, श्रुत्यादेराकाङ्क्षादिनिश्रायकमानन्तरसापेक्षत्वेन मन्थरगामिव्वात्, तत्राह—परीक्षितस्येति। प्राबल्यहेतुयुक्सस्येत्यर्थः। अतएव ज्वास्सणवाक्यस्य मन्थरगामिनोडपि मत्रलिक्सात्पावल्यमुक्तम्। विवरणकारीयन्यायनिर्णयदादौ च लिसादेस्तापर्पयवत्वेन प्रबलस्य श्रुत्याघयेक्षया प्राबल्यमुक्तम । मन्थरणामित्वमात्रेण दुर्बलत्वे चन्द्रप्रदेशिकत्वादिम्त्यक्षापेक्षया चन्द्रापादेशिकत्वाधागमानुमानाधपि दुर्बलं स्यादिति भावः दहामाष्टे 'अविशेषेण यच्छास्यमन्यययत्वाद्क्वकल्पस्य तस्सन्विग्वमराद्विशेषशिष्टं स्यात्, इत्यधिकरणे चिन्तितय्-ज्योतिषामे श्रुते। पदे जुहोति, वर्म्मनि जुहोति इत्यादौ, अन्यत्र श्रुते-
'गाहपल्ये पलीसंयाजान् जहोति इत्यादौ विरेषविहितगाहपप्यदेः 'यदाहवनीये जुहोति' इति सामान्यविहिताहवनावादिभिः विकल्पा बाधो वेति संशये, प्रत्क्षस्य 'शरमयं बर्हिं’' इत्याद्रिशास्तस्यानुमानिककुझा|घतिदे शश शास्बाधकत्वं युक्तम् ; तस्य तदपेक्षया शीघप्रवृत्तव्वात्। सामन्यविशोषशास्ययोस्त् दूयोरपि प्रत्यक्षत्वात्। शीभप्रवृत्य'विहोंपण तुल्यबलल्वात् तद्विहितयोर्विकल्प इति भाप्ते, अविऐोषेत्यादि सिद्धान्तः। होमव्वसामान्य जुहोतिवाच्यझ्य सर्वहोमच्यक्तिषु सम्बधधान्लक्षणया अविऐोषेण यस्सामनच्यराखं विशेषबोधतात्पर्यक तत्सन्दियंघ विशेपपरत्वेन निर्गुतुमशक्यम्। अतो विशेषविशिष्टं विशोषरूपेण विधायकं पदादिशास्घमारात् रीप्रशवृत्तं ${ }^{2}$ प्राकरणणिकहोमविशेषविषयकखवात् पदाविविशिष्ट्रोमविशेषोत्पत्तिवाक्यत्वात्, विषयान्तरे निरवकाशत्वाच सामान्यशास्बं बु अनारम्यारीतत्वादुत्पन्वोमविषयकव्वात् पद्होंमाद्दिविश्रोषातिरिकेते सावकाशत्वाच्च दुर्बलम्। पल्बीसंयाजादिविशेषशाएखंत्रं लक्षणां विनैव पवृत्त्वादप्व ${ }^{3}$ रीप्रपवृत्त, पद्वीसंयाजादिपदानां जातिवाचित्वाभावेन व्यक्तिविछोषश़क्तर्वात् अत अतुव्यबरत्वाद्किकल्पो न युक्तः। अतप्व न समुच्चयः; तीहियवादिवन्चिरेक्षकरण ल्वेन पदादेराहवनीयस्य च विहितत्बाच्च। तस्माद्विकल्पष्य समुच्चयस्य वान्यायय्व्वाहाध एव सामान्यशास्रविहितस्येति सूत्रार्थः । यधपि वी्द्यादिद्रव्यं विना यागादिश्वरूपनिष्पत्तिरूपटृष्टकार्याभावात् तस्य दृष्टार्थत्वसम्मवेऽपि आहवनीयादिक विनापि मक्षेपरूपहोमनिव्पत्यादिरुपदृष्टार्यसम्भवात् न तस्य दृष्टर्थतेत्रते विमिन्नादृृरुपकार्यजनकत्वेन समुच्चय एव युक्तः; एकेनापरजन्यादृष्जननासम्भवात्। अतएव न 'देवता|मेशब्दक्कियमन्यार्थसंयोगात् इति सूत्रेण बष्ठे देवतादीनां प्रतिनिघिर्निषिद्ध:। अमेर्देषार्थल्वे चु प्रतिनिघिस्स्यवेव।


न च 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यस्माव् 'पदे जुहोति' इत्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत् घटविषयसत्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य सामान्यतो द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया ग्राबल्यमिति वाच्यम्; सामान्यविशोषन्यायस्य निश्थितप्रमाणभावोभयविषयत्वान् । अन्यथा 'अयं गौरश्ष:' इत्यादेरपि गौरश्रो न भवतीत्यादित: प्राबल्यं भवेत्।
अतएव चानूयाजा अदृष्टेनोपकुर्वन्तो नाम न होमादिभिरुपहोमै: विकबप्यन्ते बाध्यन्ते वेत्युक्तं दरामे। तथाव्याहवनीयादे: होमं प्रत्यवरयापेक्षणीयत्वाभावेऽपि अघारतारूपद्टष्टोपकारजनकत्वाप् दृष्टार्थतैव। एवमपिनतस्यप्रतिनिध्याप|त्तिः अवइयापेक्षणयदयदृष्टार्थस्यैव तत्स्वीकारात्। अतो न षष्ठोक्किविरोधः । अद्टष्टजनकत्वमप्याधारत्व द्वारीकृत्य वाच्यम्। तथ होमं प्रति पदादेराहवनीयस्य च निरपेक्षं प्रमितमिति तदन्यथानुपपत्त्या समुच्चयाभावः विशेषविधिना सामान्यविधिरिव सामन्यनिषेधोऽपि बाध्यते। अतो 'न हिंस्यात्' इत्यादौ वैधान्यहिंसानिषेधः; इष्टानिष्टसाधनत्वयोरविरोधेऽपि पुण्यजनकत्वस्य पापाजनकत्वव्याप्यत्वात्। अतएव 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छाति' इत्यादिस्मृतिः, ‘अशुद्धमिति चेन्न, राब्दात्' इति ठ्याससूत्रं च। तथाच यथा पदहोमादिशास्त्रेणाहवनीयादिशाएंं बाध्यते, सामन्यविषयकत्वात्, तथा प्रत्यक्षेण श्रुत्यादीति राक्कते-न च यदाहवनीयेति। भवेदिति। अन्र यथा 'न हिंस्यात्' इत्यादे: •वैधन्यहिंसानिषेध परत्वं सम्भवति, हिंसात्वसामान्यरुपेण वैधान्यहिंसायामनिष्टसाधनत्वबोधने लक्षणाविरहात्। नेह नाना' इत्यादै। तु सत्त्वप्रत्यक्षाविषय द्वैतसामान्याभावबोधकव्वं लक्षणयैव वाच्यमिति वैषम्यम्। अथ भावनाविद्धर्थत्वमते हिंसाकरणकक्तृत्यभावे शाब्दभावनाविषयत्वबोधे वाच्ये वैधान्यहिंसाक्कातिसामान्याभाव एव लेक्षणया बोध्य इति चेन्न;

कृतिमुख्यवविशेष्यक्बोधस्य तन्मते स्वीकारेण हिंसाकृतित्व्रामान्वरूपेण वैधान्याहिंसाकृतौ भावनापयोज्याभावपतियोगित्वबोधस्य उक्षणां विनैव सम्भवात्। अथधद्वैतश्रुत्यादिरुपसामान्योोधकपमाणस्य सावकाशात्वं रक्षणयाइकीत्यत्राविरेष्पमाणस्य सामन्यप्यमाणगतरक्षणारूपोपमद्दपयेजकत्वमद्वप्पवि प्रकृते कल्प्यत इति चेन्न; सावकाशत्वं हि विशेषप्रमाणविषयान्यत्र स्वारसिकेपषृति:, न तु लक्षणादिरूपोपमर्दप्रयुक्ता। वक्ष्यतेचाचार्यै:—‘ श्रुतेरापि निखकाइशव्वमनन्यपर्वात् ' इति। न श्रुत्यादे: सावकाशत्वेन प्रल्यक्षवाध्यतासम्भवः। किस्च ‘नेह नानास्ति किश्घन, नात्र काचन मिदा, इदं सर्व यद़यमाॅमा' इत्यादौकिमादि सर्वनाम्ना विशेषरूपेण बोधकर्वात् ॥

न पुण्यापे मम नासित नाशो न जन्मेदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो मम वहिरस्ति न चानिलो मेडस्ति न चाम्बरं च॥ 'अम्थूळमनणवद्व्वमदीर्घमलोहितमझबेहमच्छायमतमोडतेजककम्, अशब्द मस्पर्शमरुपपन्यम् तथाइरसं नित्यमगन्धचच यत्' इत्यादिश्रुतौ विशेष्यवाचकपदयोगांत् वृथिवीमिघ्येत्यादिविशोषनुमानरीतेंक्तव्वाच्च क्षुत्यादीनामपि विशेषरूपेण मिध्यात्वविषयक्त्वाद्विरोषरूपेण सत्यताविषयकप्रत्यक्षबाध्यतायां न प्रत्याशा। न चोक्तश्रुतौ पुण्यादौ आत्मनि सम्बन्धनिेषधात् ${ }^{1}$ न पुण्यादि़िमिध्यात्ववोधकत्वमिति वाच्यम् ; "एवं तिदित्वा परमात्मरूपम्" इट्युत्रवाक्येन आत्मानमुद्दिय पुण्याभावादिविधानस्य स्वरसतः अतीतेः ममेति षघ्ठयाः सहत्यर्यक्थत्वात्। न च प्रत्यक्षायोग्यभूस्यादेखेव निवेध इति बाच्यम् ; ऊक्षणावत्तेः। अदृष्पमष्यवहार्यममनिन्द्रियमविषयम्' इति नृसिब्दतापनीयश्रुतौ " अशरींरं शरीरेषु, अपाणिपादोडहमचिन्यशक्तिः, पइयाम्यचक्षुस्स श्रृणोम्यकणः, अपाणे घमनाः" इत्यादिश्रुतिषु पत्यक्षविषयत्वादिरुपद्टृत्वादिनिषेषस्य स्फुट-

त्वात्। न चादृष्टमित्यादिकं तत्पुरूष इति वाच्यम् ; 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादिबहुवीहिप्रायपाठात्, अचहुवीहित्यस्य अविनिगम्यत्वादिति ध्येयम् ।

यत्तु 'उत्सर्गतः स्वतः प्रामाण्यन्य प्रत्यक्षेडपि निश्रयावशकयत्वात् सामान्यविशोषेत्याद्ययुक्तम् इति, तत्तुच्छम् ; औत्सर्गिकत्वादेव दोषसत्त्वे अपवादात्। अन्यथा औससर्गिकत्वहानिरिति ₹ववचनार्थाबोधस्य स्फुटत्वाच्च ज्योतिष्टोमे श्रूयते—' त्सरा वा एका यज्ञस्य तस्माद्यतिक्चित्राचीनममीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ति इत्यादौ़ी विहितमुपांशुत्वममीषोमीयापेक्षया पूर्वस्य ज्येतिष्ट्टेमभागस्याज्नमुत तद्नतपदार्थस्येति संशये, तःपदार्थमुद्द्रियोपांशुत्वं विर्षयते। अन्यथा सिद्धनन्तेऽव्यमीषोमीयादिपदार्थानां मिथोऽनन्वयेन प्रत्येकोद्दे वा वाक्यमेदापत्तेः । ततपदं च पूर्वभागमेव परामृशति, न तु तदुतपदार्थान्, तेषामप्रकान्तत्वात् । प्राचीनशब्दस्य लक्षणया क्वचित्ताहृशपदार्थबोधकत्वेडपि अकृत्याधिकरणन्यायेन पूर्वभागवाचकत्वात् यद्यपि पूर्वरूपेण पदार्थबोधकत्वमपि तस्य सम्भवति ; तथाप्येकवचनान्तत्वेन नात्र नानापदार्थबोधकत्वम्। एकपदार्थबोघेन च यत्किश्चिदित्यसक्नतम्। अतस्तस्य समूहता₹पर्यসाहकत्वेन सार्थक्यात् एकसमूहाभिप्रायेण एकवचनप्रयोगात् पूर्वसमूहबोधकवं तन्यावइयकम्। ताहहो च समूहे भागितया ज्योतिष्टोमरूपप्रकृतयज्ञस्यान्वयः तदेकदेशरापूर्वत्वे च निरुपकतयाऽमीषोमीयस्य अन्वयः। तथाच ताहहशसमूहरूपभागस्यैव प्रक्रन्तस्य तत्पदेनोद्देरयता। यद्धपि यज्सस्येति पदे त干्भादित्यनेन व्यवहितम् ; तथांपि विधिवाक्यार्थे तदर्थान्वयः। अन्यथा अर्थवादकःाक्यार्थ एव तदन्वये तस्य प्रवृतिविशोषकरत्वाभावापत्तेः। अस्तु वा तस्य त्सरायामेवान्वयः। तथापि ज्योतिप्टोमस्य प्रक्टतत्वात् तदीयभागलाभः ; सिद्धान्तेऽपि पदार्थविशोषणतयातदीयत्वस्यावरयकत्वात्, अन्यथा अतिप्रसन्गत्। तथाच् ताद्टराभाग-

स्वरूपे साधनानर्थक्यात् तज्जन्यापूर्वे च मानाभावात् भागिज्योतिष्टोमजन्यपरमापूर्वविशिष्टतया भागोद्देदो नोपांशुत्वं विर्धीयत इति परमापूर्वप्रयुक्तं तत्। तथाच ज्योतिष्ट्रोमविकारे अमीषोमीयपूर्वभागान्तर्गते स्वप्राकृत ${ }^{1}$ पदार्थेप्वपितदूह इति प्रापे, यतिक्चिच्छब्दःय बहुष्वेव प्रयोगात् स्वार्थपरत्वे सम्भवति समूहतार्त्पयग्राहकत्वेन तस्सार्थक्यभ्य युक्तुत्वात् यत्पाचीनमित्यनेन एकवचनान्तेनैव समूहल क्रभे किक्चित्पदँवयथर्घापत्तेश्र प्रथमोकत्तेन बलवतरत干्यानुरोधेन चरमोकप्रार्चीनपदाश्रितस्यैकवचनस्य बहुत्वलक्षणासम्भवात् प्राचीनपद्धय पूर्वत्वरूपेण पदार्थबोधकत्वात् तेनेत्यनेन तत्तरपदार्थजन्यावन्तरार्पूर्वसाधनोद्देशैनैवोपांशुत्वं विधियते । एवंच योग्यत्वन्मन्रमात्रं द्वारं, समृहस्योद्देशत्वे तु घटकपदार्थाझमत्रो द्वार ${ }^{2}$ मिति गौरवम् अतएव एकवचनानुरोधेन भागस्यैव स्वघटकपदार्थजन्यापूर्वस्बन्धित्वेनोद्देइयता आस्तामित्यपि पराFतम् । किश्चित्पदानर्थक्यादेरुकत्कत्वाच । यत्तु "यज्ञत्सरयोरन्वयात् उपांशुत्वं परमाप्वूर्पयुक्तं, त्सर छद्मगतौ' इति समृतेः । यदुपांशुत्वानुष्ठानमेषा यज्ञस्य स्सरा यज्ञसाध्यपरमापूर्वलाभाय छद्मगतिः, यथा पक्ष्यादिलाभाय शांनैः छद्मगतिरित्यर्थपर्यवसानात्" इति तन्न ; यज्ञसम्बन्धिपदार्थजन्यापूर्वलाभायेत्यर्थस्य न्यायानुसारिणः सम्भवात्। तथाचोक्षेण्वप्राकृतपदार्थेपु यूपावटास्तरणबहिर्धर्मवदुपांशुत्वस्य नोह इति नवमप्रथमे ‘देशलबधमुपांशुत्वं, तेषां स्यात् श्रुतिनिर्देशात् तस्य च तत्र भावात्' इति सूत्रेण सिद्धान्तितम्। देइालब्घममीषोमीयात् पूर्वसम्बन्धितयेपात्तमुपांशुत्वं, तेषां पदार्थानां लिख्य स्यात्, यक्किश्चिच्छ्रतिनिर्दे शात्। तत्र ताद्टशानिर्देरो सति पश्यात् तस्य 'प्राचीनम्’ इत्यस्य भावात् उत्पन्नत्वात् तत्र तेषु पदार्थेनु त₹्य उपांशुत्वस्य मझ्रद्वाराभावात् । उपकारकतया सत्त्वात्-इति सूत्रार्थः । तथाच

न च यथा 'यत्किश्चिस्राचीनमग्रीषोमीयात्तेनोपांश्यु चरन्ति' इत्यस्य यत्किश्रिच्छबद्दस्य यतिक्रित्रिक्रतवाचित्वेन सामान्यविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिके सावकाशत्वात् 'यावत्या वाचा कामयीत तावत्या दीक्षणीयायामनुत्रूयात् इत्यनेन निरवकाशेन सकेषेचचः, तथा भ्रत्यक्षेण निरवकाशेन वृत्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकारायाः श्रुतेः सङ्कोचः
दीक्षणीयाद्सिसकल्राचीनपदार्थजन्यापूर्वसाधनोद्दे $े न ~ उ प ा ं ग ु त ् व व ि ध ा न-~$ प्रसक्तावपि ‘याबत्या’ इत्यादिविशेषविहितस्वरावरुद्धदीक्षणीयाप्रायरीयादिभिन्नपाचानपदार्थजन्यापूर्वसाधनोद्देशेन उपांशुत्वविध।यकतया सावकारां यक्किश्चिदित्यादिवाक्यं सकुच्यते, यथा यावत्येय्रादिना, तथा प्रत्यक्षेण तदविषये सावकाशश्रुत्यादिसक्काच इति शक्कते-न च यथेति । निरवकाइेनेति। दक्षिणीयादिजन्यापूर्वसाधनोद्देोन ₹वरविशेषविधायकत्वेन दीक्षणीयादन्यत्रानवकारोनेत्यर्थ। स्थितं हि नवमट्दितीयाधिकरणद्वितीयवर्णके ' यावत्या वाचा कामयीत तावत्या दीक्षणीयायामनुन्दूयन्मद्रं प्रायणीयायां मन्द्रतरमातिथ्यायामुपांशूपसस्सू उच्चेः प्रवर्ग्येण उच्चैरमीषोमशंय ' इति। ज्योतिष्टोमे श्रुताः खरविशोषाः दीक्षणीयादिजन्यापूर्वसाधनोद्देशोन विधीयन्ते, ज्योतिष्टेमजन्यापूर्वपयोजकापूर्वसाधनीमूतदीक्षणीयाद्युद्देरोन वेति संशये साक्षावुरुषार्थासाधनत्वादनान्तरापूर्वमान्रं नोद्देइयषटकामिति द्वितीयक्षे प्राप्ते, पश्वादिवत्परम्परयापुरुषार्थसाधनस्याप्युद्देइयत्वसम्भवात् ज्योतिष्टेमापूर्वघटितोक्तरुपापेक्षया आवरयकत्वाल्धाघवाच दीक्षणीयादिजन्यावन्तरापूर्वसाधनत्वेनैव उद्देइयता। एवं प्रोक्षणादिरूपसन्निपत्योपकारकार्तानामुत्पवनादिरूपा धर्म पोक्षणादिजन्यवीब्यादिनिष्टापूर्वसाधनोद्दो गेन, प्रयाजाबारादुपकारकाक्रनामभिक्रमणादि रुपाधर्माः प्रयाजादिजन्यापूर्वसाधनोद्देरोन विधीयन्ते। एवंच ज्योतिष्टेमविकारं-
 पूर्वस्शानापन्नापूर्वाभावेन प्राकृतकार्यभावादनूहः। तेषु दैक्षपर्मानतिदेशश्र। यतु माव्ये—‘अभ्षमेधे त्रैषातबीया ${ }^{1}$ दीक्षणीया भवति' इति बचनेन यजमानसं₹कारे दीक्षणीयाकोर्ये विहितत्रेषातवीयायां दीक्षणीणयाघर्मपात्ति: पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तु प्रसिद्धन्रैधातवीयाघर्मघात्तिः, इति प्रयोजनमुक्तं, तत्र पूर्वपक्षवत् सिद्धान्तेऽपि च्थानापतै बाधकाभावात्। यदितु स्थानाप्त्यतिदेशापेक्षया त्रिविधातिदेशो ${ }^{2}$ बलवानिति अष्टमोके: नामातिदेदेरन प्रसिद्धत्रैधातवीयापर्मपात्तिरिति शाष्षयेत, तदा तत्पूर्वपक्षेडपि तुल्ग्यम् । वस्तुतो नेये त्रैधातवीया, प्रसिद्धत्रैावीयात: कर्मान्तरं, सस्यव्युपादेयगुणायोगे आरुगातासामाधिकरण्यात्। अतः सघर्मिकैव यजमानसंसकाराय विधीयत इति धर्मस्यानाकाड्ज्ष्क्त्वाप् न स्थानापत्यतिदेशे इति। अत्र यधापि दीक्षणीयायाः यार्जुवदिकल्वेनोपांचु यजुकेष्यनेनोपांशुव्व, तथावि तच्चोदकेन बाध्यते। पाक् स्विष्टकृतः पथमस्थाने ${ }^{3}$ मछ्घमेनेडाया रोषे तृतीयस्थानेनल्लेतत् स्थलवैपरील्यस्य दर्शापूर्णनार्सायन्य चोदकपाप्तव्वात् चोदकाश्रितस्य पयोगवचनाश्रितोपांगुख्वादिनानावेदस्वरापेक्षया बहवच्च्रात्, तदपि यत्किश्रिम्पाचीनमिल्यादिना बाध्यते, ${ }^{4}$ तदपि याबल्येल्यादिनेति बोध्यम्। स्विष्टक्कतः प्राक् प्रथमस्थानेन नीचैः स्वेरेण पाक् स्विष्टक्कृत्रंर्रं मध्यमेन स्वरेण ऐोषे इडोतरं तृर्तीयस्थानिनोंचैस्व्वरेणेति दर्शार्णमासीयवाक्यार्थः। न चामीषोमीयात्प्राचीनासु दीक्षणशि|प्रायणीयोपस्सु ${ }^{6}$ यावत्येय्यादिना स्वरवेशोषे विहिते यक्किश्चिदिल्याधपि निर्विषयकत्वात् निरककाशमुपसस्सु उपांश्युत्वस्यानुवादश्च स्यात् इति वाच्यपू; यक्किश्चिदिल्याद्वे: दीक्षणीयायक्षेकु विषायकत्वात्, यावत्येत्यादे:
${ }^{1}$ उद्देगव्वात्. 2 नैैघातर्तयातिदेशो. ${ }^{3}$ प्रथमस्थानेन. ${ }^{4}$ साघ्यते. ${ }^{5}$ ह्रायाः प्रक्. ${ }^{6}$ प्रायणीयाभिषोपषसत्डु.

दीक्षणीयादिस्वरूपमात्रे स्वरावेशोषविधायकत्वात्। प्रवर्गे तु साइ्ञ एवेाचैःस्वर उच्चै: प्रवर्ग्येणेस्यस्य तद्विधायकवचनस्य करणतावाचितुतीयायोगात्साईस्यैव करणत्वात्। ननु यत्किश्चिदित्यादे: सामान्यविषयकत्वादेवाहवर्नयायदिवाक्यवत्सक्षेचः न तु सावकाशत्वात् सामान्यविशेषन्यायश्र पूर्वमेवोक्तस्तत्राह-यत्किश्चिच्छब्दस्येति। प्रकुतवाचित्वेनेति । विशोषबोषकर्वेनेत्यर्थः सर्वनाम्नां घटादिशब्दपर्यायतावारणाय बुद्दिविषयविशिष्टराक्तव्वेडपि विशेषरूपेण शाब्द़्धीजनफस्वमाव₹्यकम् ; अन्यथा विशोषरूपेण संशायस्य निवृत्त्यनुपपतेः। तथाच सामन्यविषयकत्वाप् न सक्कोचः, किन्तु सावकाशत्वादिति भावः। यतु ‘विशोषबोघने प्रकरणसापेक्षतया यर्किश्चिच्छब्दसक्षोच:' इति, ततुच्छम्; अमशिोमीयात्पाचीनं यत्किश्चिदित्यनेन प्रकरणनिरपेक्षेणैव तत्पदार्थ ${ }^{1}$ बोधसम्भवात्, अवान्तरापूर्वसाधनलक्षणार्थमवान्तरप्रकरणापेक्षणस्य तत्तत्स्वरूपपरिचयार्थ त्तद्वाक्यापेक्षणस्य वा दीक्षणीयादिपदेऽपि तुल्यत्वात्। वृक्यन्तरेणेति। 'नेह नानास्ति' इस्यादौ आदरणीयं नाना नास्ति इह ब्रह्माण तत्सत्त्वे ${ }^{2}$ एकैवादरणीयास्ति' इति लक्षणा(दि)वृत्या विषयान्तरपरतेत्यर्थः। ननु स्वारसिकवृतेः सक्केचयोग्यता सावकाशता, न हि 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादेर्यजमानसादृरयादिबोधकत्वं, 'सोमेन यजेत' इल्यादे: सोम ${ }^{3}$ सम्बन्धिबोधकत्वं च, सावकाशात्वेन सकोचात्। किन्तु मुख्यार्थतात्पर्यहीनशुरुत्यपेक्षया, बलवत्पत्यक्षवाध्यत्वात् . 1 न चाद्वैतश्रुतेः बाध्यत्वं सम्भवति; तात्पर्यवत्त्वात्, प्रत्यक्षस्थानिश्चितप्रामाण्यत्वेन न्यूनबलुवत्त्वाच्चेत्यत आह—अनेकार्थत्वेनवेति । 'अन प्राणने’ इत्यस्य भावाक्किबन्तस्य नकारपूर्वकस्य नानेतितृतीयान्तं रूपं जीवना-

[^51]किं न स्यादिति वाच्यम्; तात्पर्यलिड़ैरुपक्रमादिमिः हैत-
भावेनेत्यर्थकं, 'अ मा नो नाः प्रतिषेघवाचकाः' इत्युक्तेः। तथाच भाना विनारोन किश्चन नास्ति अस्त्येवेति न अस्थिरमित्यर्थ:। तथाच उस्मैव सेव्यं तदन्यस्य विनाशित्वेनास्थैर्यातत्वास्रेरुरुषार्थत्वात्, 'मृत्योस्स मृत्युमामोति य इह नानेव पइयति' इत्यत्र तु इवरब्दझयाल्पार्थकत्वादल्पमपि विनारोन युक्तं यः से०यत्वेन पइयति ${ }^{1}$ स मुहुर्मियत इति ठयाखण्येयम् । अथवा इह ब्रद्माणि नानाबं नास्तीत्यर्थो लक्षणया वाच्य:, 'हिरुक् नाना च वर्जने' इत्यमर।त् । इह घ्रद्मणि पृथक्भाव(रूपवर्जन)विशिष्टं किमपि नास्तीत्यर्थः। अनेकार्थकत्वेनेति भावः। यतु—"तत्त्वमसीत्यादौ तदादिपदस्य तदीये लक्षणारूगवृत्यन्तरेण ज्यैव सन् ज्रम्वाप्येतीत्यादावनेकार्थत्वेन पूर्वन्नद्नपदस्यजीवार्थकतय। अप्येतीत्यस्य सम्बध्नतीत्तर्थकतया विषयान्तरपरता" इति ठ्यरुयानं, तत् शोमते; मिथ्यात्वबोषकश्रुते: सत्यताभत्यक्षेण सक्केचच्य पक्टतत्वात्, तदन्यत्र वृत्यन्तरादि ${ }^{2}$ वर्णनस्य प्रकृतानुपयोगात्। उपक्रमादिभिरिति। बृहदारण्यके बष्ठे द्वितीयजाह्मणान्ते—'स एष नेति नेत्याहमाऽगृद्यो न हि गृद्यते अशीर्यो न हि शीर्यते असङ्' इत्युपक्कः। ताद्हश एव चतुर्थज़्जाघ्सणन्ते उपसंहारः-‘अभयं वै जनक प्राप्षोसि' इति, •नैनं कृताक्कते तपतः' इति च । तत्रैव फलं-‘अनु मा शाधि' इति मानान्तराविषयत्वरूपापूर्वतास्चनम्। 'स यत्तत्र किश्चित् परयत्यनन्वागतस्तेन भवाते असको द्ययं पुरुष इति, नेह नानास्ति किश्चन, सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति' इत्यादिरम्यासः । 'मृत्योस्स मृत्युमामोति य इह नानेव पइयति' इत्याद्धर्थवादः। 'एष सेतुर्विघरण एषां लोकानां यस्सिन् पश्चपश्चजना आकाशश्व प्रतिष्ठितः

$$
1 \text { सेव(क्य)ते न पइयति. } 2 \text { पूर्वशृत्यन्तरादि. }
$$

निर्षेधपरत्वे अवधृते अद्दैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्，प्रत्यक्ष－ स्यापि व्यंवहारिकद्धतविष्यतया सावकारात्वात्，विरुद्धयोश्य द्वयोः＇अहं मनुष्यः＇इत्यादिप्रत्यक्ष＇आकाशावत्सर्वगतर्⿰习习 नित्यः＇इत्यादिश्रुत्योरिव तात्विकप्रामाण्यानुपपत्या कस्म चिम्यावहारिकं तस्यचित्तात्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्，अत्यन्ता－

इत्यादिकमात्मनो जगदुपादानत्व बोधकत्वात् कारणं विना कार्य नास्ती－ स्युपपचिः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्－निरवकात्वादिति । विषयान्तर－ परतया सावकाशत्वाभावादित्यर्थः। किश्च नात्र काचन भिदाऽस्ति इत्यादिश्रुत्या नेह नानास्तीत्यादिश्रुतेरेकार्थत्वस्योक्तत्वात् उक्तव्याख्यानं प्रलापः। न च भिदापदस्यापि विनाइयर्थकतया यतो विनाशि अतो नास्तत्यिर्थ इति वाच्यम्；अत्र भिदामिव मन्यमानः शातषा मृत्यु－ मामोतीव्युत्तरासत्रतेः। अत्र सावकाशानिरवकाइन्यायस्यापि निश्षित－ प्रामाण्यकोभयविषयकत्वम् ；अन्यथा＇अयं गौरश्वः＇इत्यादेरपि स सगौन्नाध्व ${ }^{1}$ इत्यादिसकेचकत्वं स्यादित्याशयेन－श्रुतेरपीत्यपिशब्द उक्तः। यतु—‘सत्त्वप्रत्यक्षाविषये मिथ्यात्वबोघकतया अंद्वैतश्रुतेः सामकाशत्वसम्भवेन प्रत्यक्षस्यापि तात्तिकप्रामाण्यसंभवे व्यावहारिक－ प्रामाण्यस्य अप्रामाण्यपर्यवसितस्य तत्रोक्तिरयुक्ता＇इति，तत्तुच्छम् ； प्रत्यक्षाविषये ठ्यावहारिके मिथ्यात्वबोधनेऽपि त्वन्मतोपमर्दात् । अथ तत्राप्यनुमानादेः सत्वम्याहकस्य निरवकाशत्वेन मिथ्यात्वश्रुतिर्न प्रवर्तते ${ }^{2}$ ， तर्हि तस्या निरवकात्वं स्थिरमेव । अथ उक्तानुमानादे？सम्भावितदोष－ त्वात्＇प्राबल्यमागमस्य＇इत्यादेश्रुतेश्राद्वैतश्रुतिबाध्यता，तदा सत्त्व ${ }^{3}$－ प्रत्यक्षस्यापि सत एव सा अस्तु । किश्च＇अशाब्दमस्पर्शामरूपम्＇ इत्यादिश्शुतेतेः प्रत्यक्ष्षाविषये कथं सावकाशत्वं ；शबदादेः प्रत्यक्षाविषयत्वे

[^52]मानाभावात्, 'देहेन्द्रियुद्धिनास्ति, न लिप्येते लोकदु:खेने' त्यादौ देहढुःःखादे: भ्यक्षाविषयत्वस्य कथमप्यसम्मवाश्च, पृथिवीत्वपटस्तादिविरोषविशिष्टमिथ्यात्वानुमानस्योक्तस्य निरखकाशत्वाच। अपिच नेह नानेत्यददौौ प्रत्यक्षा'विषयद्वितीयादिसामान्याभावो रक्षणणैयैव बोद्धव्यः, मुरुयवृत्त्या द्वितीयादिसामन्याभाबस्यैव बोधात्। मुरू्यवृत्रुपमर्देश्न न सावकारातया सक्केचात्, किन्तु वरुवप्रमाणवाध्यत्वात्। बलवत्त्वं च श्रुतेरेव निर्णीततात्पर्यकत्वात्। यदिचामुख्यवृत्त्या विषयान्तरे श्रुतेः सावकाइत्वं तदा प्तत्यक्षस्यापि किम्चिकारताध्यत्वरूपमिथ्यात्वाविरोधिसत्वविषयकत्वेन तत्रिं न स्यादित्युक्तम्। तेन 'उपांगु चरन्ति' इत्यादौ तु तत्यदस्य दीक्षणीगत्वादिरुपेणेव तदन्यरूपेणापि बोषस्य ${ }^{2}$ मुख्यवृत्यैव सम्भवात् सावकाशत्वन्यायसम्मवः । तस्मादद्दैतश्रुतेः सावकालत्बेन सक्षोचोक्तिर्मत्रपरापः ॥

द्वादरो द्विताये स्थितं पश्चदशरात्रे पश्चदशयुत्याके सव्रविशेषे प्रथमाहोडमिपुप्नामकं नाम्नामेयामिष्टुद्बिकारत्वात्त्रामेयी सुव्रण्या तदुत्रर््यहस्य ज्योतिर्गौरायुरिति नामकस्य नामैभाहकाण्डोक्तज्योतिरिादियागविकारत्वात् तदीया ऐन्द्री सुत्रह्\#ण्या, अन्येण्वेकादशयु द्वादशाहविकारत्वात्रदीया ऐन्द्री सुव्रक्षण्या, सुत्रसण्या इन्द्र आयाहीत्यदिनिगदविशेषः। तत्र सुल्याकालीननुप्रभ्षण्यापठे तत्रहिनमेदेने अनुष्ठययव्वान्न विचारः। आतिय्यान्ते उपसत्काले च सुव्दक्यण्यापाठे सर्वुप्यार्ये तत्रव्वस्पैकादरो स्थापितत्वाद्विरोधपसक्तौ अमिप्टुन्नामकस्य मुख्यत्वात्वदीयमेयी एव पठनीयेति प्राप्ते भूयोडनुम्महाय पैन्द्रयैव कार्येति भाष्यम् । वार्तिके तु सुव्र\&ण्याया देवताप्रकारनार्थल्बादिन्द्रप्राशनेनामिप्रकाशनरूपोपकारासिद्धेर्यय उपकारलाभे अननुष्ठानरूपस्य पसझस्य असम्भवाद्धेदैनैव सुत्रभ्षण्यापाठ इति नेददुदाहरणण् । अतएवैकादझे तत्रतोक्तिरपि

एकदैवत्यमुत्रण्यणाविषयेति। तस्मात्काम्येष्टिकाण्डे ‘ अमये दात्रे पुरोडाचमष्टाकपालं निर्वपेदिन्द्रायपदात्रे पुरोडाशमेकादशकपालं, दधिमधुघृतमापोषानास्तस्संसृष्टं प्राजापत्यं पगुकामः' इति श्रुते चित्रोष्टिवद्ध्य्यादि द्रव्यकानेकयागा आमेयपुरोडाराधानायागयोरामेयविकारत्वादमावास्यापैर्णमास्युभयधर्मकोवन न वक्ष्यमाणविरोषः। ऐ•्दस्यैन्द्रामविकारत्वाद्धियागस्य दधियागविकारत्वादमावा₹्याधर्माः। मधुघृतोदकानां तु उपांश्युयाजविकारत्वात् पौर्णमासधर्माः। तदिह पश्चसु ${ }^{1}$ सहक्रियमाणेषु आज्यभागयो: वार्त्रमीवृथन्वतीमझ्नाणं हविरमिमर्शने चतुहोंतृपश्चहोतृमक्र्योश्व विरोषः।'वार्त्रनी पौर्णमा₹यामनूच्येते वृथन्वती अमावास्यायाम् ' इत्याभ्यां पौर्णमास्यक्नाज्यभागयोः वार्त्रघयोरमावास्याज्ञज्यभागयोवृथथन्यत्येः ठ्यवस्थयाप्रापणात् पौर्णमास्यमावास्याविकाराऊाज्यभागेष्वपि तासं ठ्यवस्थयैव पाप्तेः। एवं ‘चतुहोत्राभौर्णमासीमभिमृशेत्पश्चहोत्रामाबास्यामित्याभ्यामपि 'पृथिवी होता धौरध्वर्यु: रुद्रोऽमीत् बृहस्पतिरुपवक्ता' इति चतुर्होतृमश्रस्य पौर्णमासीहविरभिमर्शने, ‘अमिहोंता अभ्विनावध्वर्यू ; त्वषाऽमीत् मित्र उपवक्ता' इति पश्चहोतृमत्रस्य अमावास्याहविरभिमर्शाने विहितत्वात्तत्वद्विकारेष्वपि तथा प्राप्तत्वाप्। न चज्यभागयो: हविरभिमर्शनस्य च सर्वानुद्दिइय तद्रेणैकमत्रेणकरणे मश्रान्तरानुरोधेन पुनःकरणं युक्तम्; गुणनुुरोधेन प्रघानावृत्तेरन्याय्यत्वात् । अत ${ }^{2}$ ऍैन्द्रदधोः प्रथमोक्तेन्व मुरुगत्वात् असझ्ञातविरोधित्वात्तदनुग्रहायामावास्याधर्मा वृधन्वतीपझ्चहोर्बृनस्रा एव कार्या इति प्राप्ते—मुख्यधर्मानुग्रहो यद्यपि प्रथमं बुद्धः ; तथापि पाश्वात्यपर्यालोचनेन बहूनां धर्मबाघस्यायुक्तव्वात् भूयोनुग्रहानुरांधेनाल्पसद्ययानांभूयोधर्मेषु प्रसतित्विमिति पौर्णमासीविकाराणं भूयसां धर्मा वार्त्नमी-. चतुहोंत्रमक्षाः कार्याः। 'आसन्नानि हर्वाष्यमिमृखति' इति वच-

प्रामाण्यस्यान्याय्यत्वात्। तत्राद्दैतश्रुतेः व्यावहारिकभामाण्यसम्भवे द्वैतग्राहिग्रत्यक्षादेः तात्विकं प्रामाण्यं भवेत्। तदसम्भवे तु बलादेवाद्वैतश्रुतेः तात्विकं प्रामाण्यामिति प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं पर्यकस्यतीति कुतबुद्दयो विदांकुर्वन्तु। नतु पश्रद्शराi्रे प्रथमे अहन्यग्यिष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्रिष्हुद्वरम्रभूता सुत्रक्षण्या आग्रेयी प्राप्ता। तस्या अल्पविषयायाशतुर्दर्शा-

नान्तरविहिताभिमत्रणानुवादेन चतुहोंत्रे्यादिना मझ्रविधानात् सकृदेव सर्वहविरमिमर्शनसम्भवात् । अविरुद्धधर्मविषये तु सर्वेषां तत्रता आवृतिः, योग्यधर्मतिषये त्वावृत्तिः। इदमप्युदाहरणं उपांग्याजस्यामावास्यायममावपक्षे। तत्र तद्रावपक्षे द्विविधमझ्राणामप्यविरोधात् नेदमुदाहरणमिल्यन्यंन्मृग्यमिति सिद्धान्तितं 'विरुद्धर्मसमवाये भूयसां स्यास्सधर्मत्वम्' इति सूत्रेण। तथाच तत्र यथाभाष्यरीत्या भूयोडनुम्रहानुरोधेन उक्कमन्ररूपमुख्यधर्मांोे अतिदेश्शस्य बाध:, एवं प्रत्यक्षादिमूयोनुमहानुरोषेन अद्वैगश्रुत्तेः मुख्यार्थांोो बाध इति शाष्तेननु पश्रद्शरात्र इति। पश्चदरायागार्थ क्रियमाण आतिध्यान्तोपसत्कालीनसुरुद्सण्यापाठे इत्यर्थः। अत्र प्रात्ता या आमेयीयी तस्यास्तत्र प्राप्तया ऐैन्द्रया यथा बाष इति योजना । आमेयीवाहौ मानमाह—प्रथम इत्यादि । प्रथमाहविषयकेन नामातिदेशेन प्राप्षेत्यर्थः। तन्रापि हेतुः—एकहागिष्मुद्दूर्मभूतेति। ऐैन्द्रीप्रापकमानमाह—चतुर्दशाहस्स्वति । नामातिदेरोनेन्यनुजाक्तिशेष: । तथाच चतुर्दराहस्सु प्रथमन्रहाविषयकेन नामातिदेरोन अवशिंट्टिकादशविषयकेन चोदकेन च प्राप्तया ऐन्द्रचेत्यर्थः। यथाश्रुतं लससन्रतं ${ }^{1}$ चोदनालिक्रकातिदेशरूपेण चोदकेनावशिप्टे्वेकादशाहस्वेव: ${ }^{2}$

हस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्रया सुत्रह्कण्यया बहुविषयया यथा बाधः, बहुुबाधस्यान्याग्यत्वात् । तथा द्वैतग्राहिम्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्डस गुणोपासनावाक्यादिरूपबहुग्रमाणाबा धायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्। तदुकंत बहुग्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यम्। दृष्टं श्रुक्तिरजतजान इति चेत्ष; दृष्टान्ते बहुविषयया वाधः अत्र बहुमिरिति वैषम्यत्, देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानराब्दाभासादिसत्तेडपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेन प्राबल्यवदत्रापि अनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्यात्,

ऐन्द्रीप्राप्तत्वादित्थमेव ${ }^{1}$ सामझ्ञस्येडध्याहारवशेन ठ्याख्यानं परेषां स्वमतिव्याखरानार्थमेवेति ध्येयम् -द्वैतग्राहीति। द्वैतसत्त्वम्याहीत्यर्थः। वैषम्यादिति । 'भूयसां सधर्मत्वम्' इति सौत्रपदद्वयेन भूयोविषयक प्रमाणानुरोधेन स्वल्पविषयकप्रमाणबाध इति न्यायशरीरम् । न त्वेकस्मिनेव विषये भूयसां प्रमाणननामनुरोधेन ₹वल्पप्रमाणबाध इति सर्वैन्रैव शब्दानुमानाभासानां भूयसां सम्भवात्, भूयोविषयकैकपमाणेनस्वल्पविषकबहूनां प्रमाणानां बाधाभावापतेत्र किश्र श्रुत्यनुमानदृइयत्वाधन्यथानुपपत्तिरुपाणां नानाविधानां मिथ्यात्वग्राहकमानानां जीवेश्वरयोरैक्यबोधकानन्तश्रुत्यनुमानार्थापतीनां च बह्नामनुरोघेन द्दैतसत्त्वप्रत्यक्षमेव बाधितुमुचितम्। कर्मकाण्डसगुणोपसनावाक्यदिकं तु द्वैतमिथ्यात्वविरेध्यविषयकं मिध्यात्वनिश्धयपूर्वमेव प्रवर्तत इति तदबाधायाँ्वैतवाक्यार्धबाधोक्कि: प्रलाप इति भावः। एकविषयकम्रत्यक्षतनुपजीव्यनुमानाद्याभासानां बहुत्वमात्रेण अनुमाष्यत्वेऽतिप्रस्न इत्याशयेनाह-देहेति। ग्राबल्यादिति। निरवकाइत्वेनेत्याव्कि:। तर्हि प्रत्यक्षस्यापि निरवकाशत्वात्तात्किकमामाण्यठ्यवहाराच

## विद्याविद्याभेदेन विद्यदविद्वत्पुरषभेदेन च विरोधाभावात् ॥.

## रति प्रत्यक्षभाबल्यनिराकरणम्

विरोषः; तत्राह—विद्येति। विधा तात्विकविषयकमद्दैतश्रुतिजन्यज्ञानं, अविद्या व्यावहारिकविषयकं ह्दैतपत्यक्षादीव्यर्थः-विक्षदिति। अविदुछ एव प्रत्यक्षदौौ दोषवशात् तात्विक्रामण्यं्यवहारः । निर्दोषस्ब विदुषषस्तु विद्यायामेव तद्ववहार इति नोक्तविरोध इत्यर्थः॥

अन्रेदमालोचनीयम्—विपतिविद्देत्यायुक्ताधिकरणोत्तरं 'मुरूं वा पूर्वचोदनाल्कोकवत्, इल्यषिकरणे स्थितं अध्वरकल्पायामिष्टौ 'आमावैव्णवमेकाद्राकपालं निविपेदपराहे, सरस्वतीमाज्यस्य यजेत' इति श्रुपयोराद्यस्यौषष'द्रु्यकत्वाह्ूद्वैवल्यंव्वाश्च ऐन्द्राम्मविकारः, तस्यापि वैकल्पिकद्वादशकपालद्नव्यत्वाच्च। सरववती तु उपांगुयाजविकारः, आज्यद्वव्यकत्वात्। तथाचाघस्य दार्शिकम्, द्वितीयस्य पौर्णमासिकं तप्रमित्याज्यभागमश्रहविरमिमर्शनमत्राणां पूर्ववत् विरोंबे मुख्यत्वादाघायांदार्शिकाज्यमागादिमन्त्रः कार्याः, मुरु्यत्वन्यायापवादकस्यामुख्यभूयस्तादेरभावादिति सिद्धान्तयित्वा ${ }^{2}$ बार्तिकादौौ मतान्तरुक्तम्। तत्र ' विप्रतिविद्देल्यादि-मुख्यं वे' त्यादिसूत्राभ्यामेकाधिकरणम्। तत्रामुख्यमूयस्त्वं मुर्व्यव्वापवादकमिति पूर्वसूत्रेण पूर्वपक्षयित्वा मुख्यत्वमेवामुस्वमूयस्त्वापवादकं, लोके बहुमिरप्यमुस्वैर्मुख्यक्या|ा|धनात् पत्युत विपरीतदर्शनादिति। युक्तां चैतत् ; भूयसां दुर्बलत्वे भूयस्तस्याकिज्चित्करत्वात्, ' शतमप्प्धच्धानां न परयति' इति न्यायात्। उक्तं हि सत्पतिपक्षस्यले न्यायभाष्यादौ-‘ ठ्यास्तिक्षधर्मते बलं, न ठु भूयस्वम्' इति। दुर्बल्वात् द्वैतसत्त्वप्त्यक्षादेः अनिश्चितप्रामाण्यकत्वादिना श्रुतेर्ने-

$$
{ }^{1} \text { भुतुयोराबा (स्यौ) अंबध. } \quad 2 \text { सिद्बान्त दति. }
$$

त्यनिद्दोषत्वादनन्यपरत्वाच पाबल्यमिति भूयोनुग्रहन्यायोपन्यासः परस्य निरालम्ब एव। यतु-" भूयोनुम्रह आवइयकः, न ह्घल्पवैगुण्ये सम्भवति भूयोवैगुण्यं प्रयोगवचनं क्षमते, पूर्वावगतमपि कारणान्तरवशाद्बाध्यत एव" इल्यादि शास्रदीपिकादावुक्तम्, तदुक्तयुक्तेरप्रयोजकम् ; मुरुयोपकारेण भूयसामुपकृतत्वाद्वैगुण्यभावात्। अतएव उपकारांशे साधनाकास्क्ष्काविच्छेदेन भूयोषर्मांशे अतिदेशाप्रवृत्तावपि क्षत्यभावात्, भूयस्तादे ब्बाधकर्वासम्भवाच्च। यदपि प्रथमप्रवृत्तस्य लोकेबहुभिः पश्रात्पवृत्तै रुपमर्दात् भूयस्तं मुख्यत्वबाधकमिति नठयोक्तं तचिन्त्यत्; दुर्बलुभूयस्त्वे तथा दर्शानाभावात् । समानबरुभूयोभिर्बाध्यत्वं वाच्यम्; तदपि प्रमाणस्थले वक्तुमशक्यम्, असञ्जातविरोधित्वेन मुखूयस्यबलवत्त्वात्समानबलत्त्वाभावात् सझ्ञातविरोधित्वेन बाध्यत्वस्य भूयस्ववप्यविशिष्टत्वेन भूयसामषि समानबलवत्वाभावात् । न छ्सेकेनोपक्रमस्थेन प्रमाणेन प्रमाणानामुपसंहारस्थानां बहूनां बाघः । तस्मादमुर्यस्यैव समानबलमूयोबाध्यत्वं वाच्यम् । तत्र तूदाहरणं न यथोक्तं, प्रत्यक्षादेन्न्यूनबलत्वात्, प्रकृतानुपयोगान्च। तस्मादुकन्तन्यायस्य अत्यन्तशिथिलत्वाद्वाक्यमान्रं त्वया दृष्टन्तीकृतम्। तदपि विषममित्यारायेन ' दृष्टन्ते' इत्याद्युक्तम्। 'अपिचानन्यपरत्वेन श्रुतेः प्राबल्यात्' इत्यनेन प्रत्यक्षादेरदैस तश्रुतिशेषत्वाद्दौर्बल्यम्। उक्तं हि वार्तिकादावपि'वात्स्यायनादीनां ब्रद्यण्येव समन्वयः' इति। उक्षं च-' मुख्यंवे ' व्युक्ताधिकरणोतरं ‘अझगुणविरोधे च तादर्थ्यात्, इत्यषिकरणे मुख्यानां दक्षिणीयाधज्रानां प्रधानस्य जघन्यस्य च सोमयागस्य, य इष्टया' इल्यादिविहितपर्व काले अनुष्ठानविरोषे प्रधानस्यैव तर्काले
 त्करत्वात्, लोके प्रघानेन पश्रात्पवृत्तेन एकेनापि पथथं प्रवृत्तानां

[^53]
## प्रत्यक्षस्येपजजीठयत्वभ छः

ननु-उक्तन्यायै: प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्याभावेऽपि उपजीव्यत्वेन प्राबल्यम्, उपजीव्यत्वं च अनुमानागमापेक्षित शोषार्थग्राहकतया। सा च क्वचित् साक्षात्, कवचित्परम्परयादृष्टं चापेक्षितैकदेशग्राहिणामप्युपजीव्यत्वम्। तद्विरुद्दग्रहणे तेन बाघश्र यथा घटविभुत्वानुमाने पक्ष्राहिणा अक्ष्णा, नरशिररश्युचिस्वानुमाने साध्यग्रहकेणागमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञातासमवाग्याधारव्वहेतुग्राहेकणनुनुमानेन। किमु बक्रव्यमपेक्षिताऐोषग्राहिणा स्वविरुद्धग्राहकस्य बाधः ; चक्षुरादेश्य राब्दतअन्यज्ञानप्रामाण्याद्यग्राहित्वेजपि तन्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वादुपजीव्यत्वम्। धष्टं च नरशिर:कपालाश्युचित्वबोधकागमस्य तचछछुचिच्वान्नुमानोपजीठ्यझुाचित्वागमसजातीयत्वेन तदत्तुमानात् भ्राबल्यम्। न चेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुुमानमुपजीवबह्रनं गुणी भूतानां उपमर्ददर्र्नाचच। अत एकादि' दीक्षापक्षे दीक्ष्षणीयादौ पर्वकालबाधः। द्वादशदाईक्षापक्षे त्वावरोोधान्न सः अरीपोमीयायौ तु सर्वथाइवि स इति अज़स्य प्रधानस्य च गुणानां धर्माणां विरोधे प्रघनस्य धर्मा एव कार्या इति सूत्रार्थ:। तथा च प्रधानत्वादद्दैतश्रुतिरेादरणणियेति भावः ॥

तर्कैस्सारस्वतै रतलैै्थन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तद्वान्तखण्डानामक्षजातिबलं हतम् ॥
इति प्रत्यक्षप्राबल्यभज़
असमवायीति । असमवायिकारणेत्यर्थ:-वक्तम्यमिति । बाघक्रियाविरोणत्वान्वुंसकं वाघछत्यनन्तरमितिशब्दोऽध्याहर्तब्य:

## तीति सम एव उपजीव्योवजीवकभावः। अज्ञातकरणतया ज्ञान-

 जननार्थमनुमानानपेक्षणात्, अनुमानागमादिना तु ज्ञानज्ञानजननेति । स्वकार्ययावद्ज्ञानजननेत्यर्थः । तेन सविकल्पकप्रत्यक्षस्यातीन्द्रियविशेषणज्ञानादिरुपानुमित्यादिसापेक्षत्वेऽपि न क्षतिः। विशोषणज्ञानत्वादिना हेतुत्वाभावमते तु यथाश्रुतमेव रम्यम् । यद्यष्यतीन्द्रियक्षसाध्यहेतुकानुमितिविशोषस्यप्रत्यक्षानपेक्षमेव जननम्, शब्दानुमानादिनैव व्याप्तयादिर्घसम्भवात् । न च किश्चिद्विषयकप्रत्यक्षत्वावच्छेदेनापि ${ }^{1}$ नानुमित्यादिसापेक्षता, विशेषणधीत्वादिना हेतुत्वानकीकात् । किष्चिद्विषयकानुमितित्वाद्यवच्छेदेन तु प्रत्यक्षसापेक्षता, ऐन्द्रियविषयकानुमित्यादौ तत्सम्भवात्। तथाच किश्चिद्विषयकयज्जातीयप्रमासामान्यं यज्जातीयप्रमोपजीवकं तज्जातीयं तज्जातीयाेक्षया टुर्बलम्, अदृष्टाद्वारकोपजीवकत्वानिवेशात्, प्रत्यक्षस्य खजनकचक्षुरादिजनकादृष्टप्रयोजकानुमानादिसापेक्षत्वेऽपि न क्षतिः- इति वाच्यम्; चक्षुर्घर्षणादाविष्टसाधनत्वानुमितिप्रयोज्यचक्षुषैन यस्य व्यक्किविशोषस्य यच्चक्षुषसामान्यं जातं तस्यानुमित्युपज्जीवकत्वात्, सविषयकान्यद्वारीकृत्य उपजीवकत्वनिवेशेऽपि बिशुर्दमातापितृजन्यत्वादिपरोक्षसापेक्षे व्रासणत्वादिप्रत्यक्षे तादृशोपजीवकत्वसम्भवात्। न चानुमित्यादिसामान्ये प्रमात्वेन ज्ञायमानज्ञानस्य हेतुत्वात् प्रमात्वप्राहकसाक्षिण उपजीवित्वेन तज्जातीयत्वेन चाक्षुषादिकं प्रबलमिति वाच्यम्, आवरणविषयतानवच्छेदकप्रामाण्यकचाक्षुषादिज्ञातस्य हेतुत्वेन साक्षिणोडनुपजीव्यत्वात्। अस्तु वाडनुमित्यादौ जनकतया तद्दीयाप्रामात्वशाक्रानिरासकतया तस्वरूपवत्त्वम् । शाक्यानिरासकतया $च^{2}$ साक्ष्युपजीठ्य:; तावतापि तज्ञातीयत्वेन प्रावल्यं दुर्वचम् । तज्जातीयत्वं हि न तद्बृतिप्रत्यक्षत्व ${ }^{3}$ जातिमत्त्वं ; तस्यास्मान् प्रत्यलिकत्वेन पूर्वोकत्रत्वात् । नाप्यपरोक्षय्रम-[^54]जननार्थमेव तदेप्षणादिति विशेषादिति चेन्म-उपजीण्यानिरोधाइा। तथाहि-यत्वरूप्रमीज्येते, तब बाध्यते। बाध्यते च जात्विकत्वाकारः। स च नोपजीव्यते, कारण्वे तस्पाप्रवेशाइ।

निवर्तकलं, तस्य साक्षिण्यमात्, अज्ञाननिचृत्विदरकलेन प्रायमेव भा(ब) नाए । नाप्पपरोक्ष्वपप्रतिक्षक्षलम्; तस्थ प्रमायामपि लिद्धान्ते
 दोषणां प्रतिन्धकलादिना प्रमानुलादात् , परोष्ष्षप्रतिक्न्ककल्बसेण
 प्रमासाघरणल्बेन तजातीयवव्वेन प्राबल्यासम्ममा|्व। किस्ध उपरीख्यजातीयय्तमान्रेण न पाबए्यम्, यदा हि नोपजावयतेन पाबल्यं, किन्बु परीक्षितलवेनेतित पर एव कक्ष्यति, तदा परीक्षततुपुजीव्यातायं प्रबलं वाच्यम्। न त्वपरीक्षितम्। तथाच परीक्षितप्रत्यक्ष्वे्वेन प्राबल्ये न नः क्षतिः । अपि च उपर्जव्यजातीयत्वेन न प्राबल्यं कापि क्रुसम्अशुचित्वबोधकागमस्य आगमत्वेनैव प्राबल्यसम्भवादित्यादिदूषणानि सन्ति; तथापि सफुटत्वाचन्युपेक्ष्य वाचस्पत्याद्युक्तरीत्या समाधत्ते— नोपजीव्येति। यत्स्वरूपमिति:। व्यवहारिकपामाण्यमित्यर्थ:ताश्व्व्काकारः। त्रिकालाबाध्यविषयकत्वम्-अप्रवेशादिति। व्यावहारिकप्रमात्वेनैव प्रत्यक्षस्यागमानुमानजन्यर्षकारणत्वं, न तु त्रिकालाबाध्यविषयकत्वेन । ठ्यावहारिकप्रमात्वं चाद्दैतश्रुत्यनुमानजन्यज्ञानपूर्व कालाबाध्यविषयकत्वम्। तस्य चाद्वैतश्रुत्यनुमानजन्यज्ञानेन स्वकाले द्बैतमात्रबाधकेनापि ${ }^{1}$ नोपमर्द इति भावः । प्रमात्वेनापि न कारणत्वामिति तु किश्चेत्यादिना वक्ष्यति । ननु पूर्वकालावच्छिन्नसत्त्वं

[^55]तदुक्तम्-
पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेगुतच्वशहिर्दूतसच्चासत्वकथा वृथा।
दति किश्नापेक्षितग्राहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यता, तया च बाधकलव् । तदपेक्षितश्रतियोगेग्राकक्वे 'ददं रजतमि' ति अमस्य बाधेपजीव्यत्वात कथं नेदं रजतमिति बाधुुद्दिस्तद्रिरुखा उदीयाव। अथ निपेष्यार्थसमर्पकतया प्रतियोगिश्ञानत्वेन तस्पोपजीव्यत्वेजपि तत्र्रामाणं नोपजीव्यम् ; न हि प्रतियोगिग्रमात्वेनाभावक्रानजनकता ; गौराराद, भ्रियोगिभ्रमादप्पभावज्ञानदर्श्रनाच्च । किन्तु तद्ज़ानतेवैनैव; हाघवाव । अतस्तरिरुद्वविषयकं ज्ञानपद्रीयादेकेति ज्रूप, तुल्यमिदं प्रक्रतेजपि पष्षन्ञानत्वीदन्ना कारणता, न तु तत्र्रमात्वादिना-

कारणत्वं मिथ्यात्वविरूद्धं; तत्राह-वदुक्तमिति । खण्डन इति शोष:-पूर्वसम्बन्धनियम इति । अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याव्यवहितपाकालावच्छेदेन कार्यव्यापकत्वे इत्यर्थः। अन्यथासिद्धव्यामचारिणोर्वरणायोक्तरूपमवइयं हेतुवं त्वयापि बाच्यम्। सत्त्वं नु न तत्र निवेशयते, व्यर्थल्वादिल्याह—तुल्य इत्यादि । प्रमात्वादिनापीति। अभामण्याशक्षस्पद्ज्ञानं हु न निक्षय इति न तस्मात्कार्यापत्तिः। अथवा अनावृतपमाव्वेन हेतुत्वेडपि न क्षतिः; प्रातीतिकषीसाघारणस्य मिथ्यात्वेनाज्ञातविषयकत्वरूपभमात्वस्सैव तथात्वस्वीकारोण श्रुत्याचुपजीठ्यप्त्यक्षेणावृत्य ${ }^{1}$ शुर्यादिजन्यज्ञानात्पूर्वमनपायात्। एवंच तत्रामाण्यं नोपजीव्यमित्यस्य पूर्ववाक्यस्य तदीयं भ्रमव्यावृत्तं प्रामाण्यं

पीति। अथ यत्रामाण्यं स्वरूपसिद्धचर्थ अपवादनिरासार्थ च यत्र्रामाण्यमुमजीवति ; तत्तस्योपजीव्यम्। यथा स्टृतेरतुभवः न च रजतभ्रमस्तथेति चेत् तर्हि व्यापिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वं स्यात्, लिङ्ञाभासादपि वह्निमति वब्विभ्रमादर्शनात्। नजु येन विना यस्योत्थानं नास्ति, तत्तस्योपजीव्यमित्येव वक्तव्यम्। तथाच रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव, न तु प्राबल्यम्। न ह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम् ; किन्तु परीक्षिततया परीक्षा च सजातीयविजातीयसंवादविसंवादाभावरूपा । च तौ रजतभ्रमे स्तः; प्रकते चाक्षुषस्य परीक्षितत्वेन ग्राबल्यम् नोपजीक्यमित्यर्थ:-यत्र्रामाण्यं। यद्धीनिष्ठप्रामाण्यम्-अपवादेति । स्वाभावधीरित्यर्थः। अबाधितविषयकानुभवेन अबाधितविषयिकैव स्मृतिजायते, अनुमूतमात्रवियकत्वादिति स्सृतेरबाधितविषयकत्वरूपं' प्रामण्यमनुभवीयं तदर्धननम् अतएव अबाघितविषयकर्धजन्यस्मृतित्वरूपविशोषदर्शानेनाबाधितविषयकत्वाभावर्धीनिरास इति ₹मृतेः स्वजनकषीरुपजीठ्येस्याह——या स्मृतेरिति। दर्शनादिति । परामर्शादिप्रमात्वं विनाप्यनुमित्यादे: प्रमात्वस्वरूपस्य सिद्धेः। अतएव प्रमापरामर्शादिजन्यत्वज्ञानस्य ${ }^{2}$ अनुमित्यादौ प्रमात्वाभावधीनिरासं प्रति सर्वत्रा ${ }^{3}$ प्रोजकत्वात् प्रमापरामरादिजन्यस्य गन्धभागभाववद्धटो गन्धवानित्यनुमित्यादे: प्रमात्वाभावेन प्रमाजन्यानुमितित्वादेः प्रमात्वक्यभिचारित्वाथ्चा पवादानिरासकत्वात् प्रत्यक्षस्य परामर्शादे: नानुमित्यादावुक्तोपज्जित्यतेति भावः-सजातीयेत्यादि । सजातीयः संवाद: स्वसमानविषयकप्रमात्वेन निसितं ज्ञानान्तरं, विजातीयः संवाद: स्वसमानविषयकप्रवृत्त्यादिरूपं कार्य, विरुद्धविषयकज्ञानं सजातीयविसंवादः, विरुद्धविषयकप्रवृत्त्यादि-

$$
1 \text { त्वादिरूपं. } 2 \text { जन्यस्य ज्ञानस्य. } 3 \text { सर्वत्र. }
$$

अस्ति हि 'सन् घटः' इति विशोषदर्शनजन्यशानानन्तरं घटार्थक्रियाप्रत्यक्षे क्तमदूरादिदोषाभावाच । एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः, साक्षिप्रत्यक्षं चादोषत्वात् परीक्षितमिति तदबाध्यम् $1{ }^{1}$ एवमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामपि अनाश्वासे वेदे पौरुषेयत्वाभावझाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने ब्रक्षमीमांसायां प्रत्यधिकरणं सिद्बान्त्यमिप्रेतार्थ उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने च अनाश्वासः स्यादिति प्रमाणतदाभासब्यवस्था न स्यात्-इति ; परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवद्विसंवादाभावदोषाभावादिरूपा। तया च स्वसमानदेशाकालीनविषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य ठ्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेशाकालीन
कार्य विजातीयविसंबादः, ज्ञानन्तरं घठार्थक्रियेति पाठः । दूष्यन्यायामृतग्रन्थे तथा सत्त्वात्। ज्ञानानन्तरं घयार्थक्कियेति पाठेऽपि ज्ञानरूपसजातायसंवादानन्तरं विजातीयसंवादरुपजलाहरणादिरूपार्थक्रियेत्यर्थः। प्रमात्वेन निश्चितत्वलाभाय ज्ञाने जन्यान्तं विशेषणं विसंवादाभावेडपि वर्तते। श्रुत्यादेरन्यविषयत्वादिकल्पनादित्यभिमानः । चन्द्रप्रादेशिकत्वादौ सजातीयविजातीयविसंवादव्यापको दूरत्वादिदोषः, तन्दभावादुक्तप्रत्यक्षे उक्तविसंवादाभाव इत्याइायेनाह—प्रत्यक्षे कुप्रेति । ननु दूरत्वाद्यागन्तुकदोषाभावेऽपि अविद्यारागपापविशोषरूपदोषयोगादुक्तमत्यक्षादीनां कथं परीक्षितत्वं ? प्रसिद्धं हि श्रुत्यदौौ तेषां दोषत्वं-"न तं विदाथ य इमा जजानन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव नीहारेण प्रावृताः, अज्ञानेनावृतं ज्ञांं तेन मुबन्ति, इतिनुकामयमानः आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्ययैरिणा कामरूपेण, विवदिषन्ति यज्ञेन, ' ज्ञानमुत्पघ्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः, जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयै:" इत्यादौ, तत्राह-एवमेव च दोषेति। कालीनेति। भ्रामाण्यस्येति च। विषयाबाध्यत्वे

बद्धिरिव। तथा च व्यनहारदशामात्राबध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं फ्रीक्षितश्रमाणे ठ्यवस्थितमिति कथमत्यन्ताबाध्यत्वाभावग्राहकांगमानुमानयोः प्रवृत्तिः न स्यात्ः तस्माश्विश्वास्रमाणतदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकं च व्यावहारिकमित्युपप्वमेव सर्वं जगन्मिथ्येति । ननु-प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्दस्य ब्याप्रयादेर्बाधेनानुमेयादेः अनुमित्यादिग्रामाण्यस्य च बाधः अनुमेयादेर्ब्यास्यादिना अनुमितित्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्। अन्यथा प्रातिभासिकव्याम्सयादिमता बष्पाध्यस्तथूमेन ताच्चिकोव्यावहारिको वाडत्रिः ठ्यावहारिकव्यास्स्यादिमता धूमेन ताच्विकोงग्रिः व्यावहारिकेणाबधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य
अन्वितं देशः तत्तद्विपररूपः। तथाच परीक्षया स्वेदेशस्वकालकालीन ${ }^{1}$ प्रामाण्यघटकमबाध्यत्वं व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः। वह्विरिवेति। यथोदयनादिमते धूमकिज्नकव्दयनुमिती घूमकालीनवद्धिर्विषय: तथा परीक्षाटिक्रकमामाण्यघटकाबाध्यत्वानुमितौ परीक्षाकाठीनमषाध्यत्वमिल्यर्थः । अथवा सजातीयसंंवादविसंगादावबाधितविषयकत्वेन निभ्भितज्ञानस्य समानविषयकत्वविरुद्धविषयकवर्वरूँ। तत्र बाधितत्वसामन्याभावस्याशक्यघहत्वेन उक्कत्वात् तत्तक्कारीनबाधितत्वाभावो निवेश्यः। तथाच तद्ध्रितेन संबादेन तद्धटितमेवनुमेयेयम । न बु बाषितत्वसामान्याभावघटितं, अनुमितिविधियतावच्छेदकस्यैव ब्यात्तिनिरूपकतावच्छेदकव्वात्। व्यमिचर्यमाणत्वादराक्यमहत्वाच। एवं तत्तक्का⿳亠 तथा निश्चितं यदद्वैतश्रुत्या जघन्य ${ }^{2}$ ज्ञानं तद्विरुद्धविषयकत्वाभावेना प्युक्तभमात्वं अनुमेय तत्तकाले दोष्वेन गृष्षमाणं यत् ददभावेनापि तदेवानुमेयमिल्यर्थः। प्रमाणे प्रमाणविषये। व्यावहारिकेणेति। ब्यावहारिकेण अबाधेन विभ्धस्य तात्तिकं सत्व्वम्। च्यावहारिकेण

$$
1 \text { स्वदेशाकालगतं. } \quad 2 \text { श्रुत्याद्यजन्यं. }
$$

A.S.V.

जीवेशभेदस्य च तात्विकं सर्वं सिद्धचेत्- इ्रति चेन्न ; एतावता हि ठ्यास्यादिसमानसत्ताकमनुमेयं सिद्धधत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः। स चास्माकमिष्ट एव। न हि त्रद्मभिनं कचिद्यान्ताबाध्यमस्ति न चायमनुमेयादे: व्यास्यादिना समसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति ; उ्यभिचारिणापि लिख्ञेन साध्यवति पक्षे अनुमितिप्रमादर्शनात्, घ्वनिधर्महस्वत्वदार्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विस्युभिर्वर्णैः सत्या शाब्दूप्रमितिः क्रियत इति मीमांसकैरम्युपगमात्; गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्चिकठ्यास्यादिमतापि पृथिवतित्वेनातात्विकगन्धानुमितिदर्शानात्, प्रतिबिम्बेन च विम्बानुमितिदर्रानात्। न च तत्रापि बिम्बरहितावृत्तिरूपा ठ्यासिस्तात्विक्येवेति वाच्यम्; एवंसत्यवृत्तिगगनाविरुद्धधर्मवत्त्वेन जीवेशाभेदन्य तात्विकं सत्त्वमित्यर्थः । वर्णानं ह्स्वत्वाद्यभावे हेतु:-र्नित्यैर्विसुभिरिति । आकाशादिवत् नित्यै: देशकालानवच्छिनैश्चेत्यर्थ: । अकारस्य ह्रसत्वे सर्वदा सर्वदेरेो तथोपलम्येत, तस्यैकत्वाव् । मिथ्याभूतैः बाधितत्वयोग्यैः। क्रियते प्रयुज्यते वर्णज्ञानत्वेन कारणत्वात्। अताच्विकेति । विशिष्टघटस्य केवलघटातिरेकात्तर्र गन्धाडतात्त्विकः, तस्य तदनतिरेके पागभावस्य विशेषणत्वात् तत्र कालिकसम्बन्धेन प्रकारीमूतो गन्धोडतात्विकः यदिच गन्षांशो प्रागभाव एव विशेषणमुच्यते, तथापि गन्धे प्रागभावस्येव प्रागभावेऽपि गन्धसंसर्गस्यारोपो वाच्यः; परस्पराध्यासात्। तथा च संसृष्टरूपेणातात्त्विक ${ }^{1}$ एव गन्ध इति भावः।ननुप्रयुक्तत्वं क्षेमसाधारणजन्यता. अन्यथा गगनाभावो बबिम्बाभावादिति ${ }^{2}$ व्यवह्दियत इत्याशाक्कय यावतीषु स्वेतरव्यक्तिषु सतीषु यत्सत्त्वे उत्तरक्षणे यत्सत्वं तावतीषु सतीष्वपि तदभावे उत्तरक्षणे अवइयं तदभाव

[^56]देरपि ठ्याप्यतापत्ते:। न च तत्र बिम्बपूर्र्कत्वमेवानुमीयते, बिम्बव्यतिरेक्रयुक्तण्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपेणाप्रातिभासिकेन हेतुनेति वाच्यम् ; प्रयुक्तत्वं हि न तअ्भनक्वजन्यत्वादिरुपम् ; व्यतिरेकयोः परस्परं तदभावात् । किन्तु व्याप्यव्य।पकभावः। तथाच निम्बव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेक्रतियोगित्वं हेतुः। स चाकाशादौौ व्यमिचार्यें। तस्मात्तत्र प्रतिबिम्बनैैब बिम्बानुमानम् ; अनुमेयस्य लिख्नष्यास्तथादिसमानसत्ताकत्वनियमस्यापास्तत्वात्। एतेन शब्देगपी योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितण्यम्। योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यताबाधेड्य्याधितः स्यादिति परास्तम्। वेदान्तवाक्ये अखण्डार्थरूपवाक्यार्थावाधरूपायाः योग्यताया: अप्यबाधाच्च। न च तथापि वेदान्ततद्ञ्ञानर्रामाण्यमिथ्यात्वे कथं तात्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम् ; शब्द्तद्द्जानतात्विकत्बं हि न विषयतात्विकत्वे तन्त्रम् ; इदं रजतामित्यनाप्रवाक्यस्य तझन्यअ्रमस्य च त्वन्मते तात्विकत्वेजवि तद्विषयस्याताच्चिकत्वात्। इति रीत्या क्षेमसाधारणजन्यत्वस्य प्रतिबिम्बाभावनिष्हन्य प्रतिबिम्बघाटित्वेन अतात्विकत्वाव₹यकत्वात् प्रतिबिम्बेतरमागस्य व्यर्थत्वाच। प्रतिबिम्बमेव बिम्बूपूर्वक्वेडपी तादाल्येन हेतुरित्याशयेन आहतस्मादिति। अनुमेयमनुमितिविधेयतावच्छेदकं यदिच क्षेमसाषारणं जन्यत्वमखण्डं, तथापि प्रतिबिम्बा ${ }^{1}$ भावत्वरूपावच्छेदकमिथ्यात्वात्वापि मिथ्या, तस्य स्वसमानसत्राकघर्मावच्छिन्नत्वनियमात्। अतएव श्रुक्तिरूप्याभावनिष्जानानाभावजन्यतापि मिथ्या। चैतन्यम्य तु घटायवचच्छिन्नत्वं न स्वाभाविकामिति भावः तद्ञ्नानेति। तजन्यज्ञानेल्यर्थः। तन्त्रं

[^57]न च ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं श्रुक्तिरूप्यझ्ञाने दृ्टमितिप्रकते ऽपिज्ञानग्रामाण्यमिथ्याच्चे विषयस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम् ; प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकम् ; अ्रमप्रमाबहिर्भूते निर्विकल्यके विषयबाधाभावात् । किन्नु तद्भाववति'तत्प्रकारकत्वादिरूपमप्रामाण्यमेव तथा। तच प्रकृते नास्त्येव। न चार्थाबाधरूपप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादर्थस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम् । अबाधितार्थविषयत्वं हि यत् प्रामाण्यं तस्य मिथ्यात्वम् । प्रकेते नार्थाबाधात् तद्धाधकप्रमाणासम्भवात् तस्य सर्वबाधावधित्वात्। किन्तु तद्विषयत्वरूपसम्बन्धबाधात्तथा । तथाचाबाधितार्थविषयत्वरूपग्रामाण्यमिथ्यात्वेऽपि नार्थो मिथ्या। विरिष्टस्यैयांशामिथ्थात्वेऽप्यपरांशासत्यत्वात्, यथा द्ण्डबाधनिबन्धनद्डिपुरुषबाधेऽपि पुरुषो न बाधित एवेति ।।

इति प्रत्यक्षस्योपर्जाष्यत्वभङ्नः.
समण्यापकम्-प्रयोजकं व्याप्यम्। भ्रमप्रमाबहिर्भूत इति। तार्किकादिरीत्या स्वमते त्वबाधितविषयकत्व प्रमात्वं तत्रास्त्येव । नन्वबाधितविषयकत्वरूपं प्रमात्वं यत्र मिथ्या तद्विषयकत्वं मिथ्यात्वव्याप्यमिति शाक्कते-न चार्थेति। रूपेति । धटितेत्यर्थः। सर्वबाधावाधित्वात्। सर्वबाधकप्रमाविषयत्वात्। तद्वाधे तदृशाप्रमा अनुपपन्नेति भावः। सत्यत्वादिति । त्वन्मतेऽपि सर्वदेशकालगताभावस्य सत्यत्वेऽपि तत्पतियोगिनः शुक्किरूप्यादेः मिथ्याध्वादिति भावः । ननु ज्ञानविषयत्वविशिष्ट ${ }^{1}$ रूपेण न्रह्स मिथ्येत्याशाक्कय, तथापि केवलरूपेण न मिथ्येति सदृष्टन्तमाह--यथेति । यतु-"अनुमेयं क्याप्तयादिसमसत्ताकमेव ${ }^{2}$ । अन्यथा त्वदनुमेयमिथ्यात्वमतात्विकं स्यात्। उक्त-

[^58]नियमे व्यमिचारिलिक्रकप्रमानुमितौ व्यमिचारोक्तिरयुक्ता; व्याप्तयादिशब्देन विषयाबाधस्योक्तत्वात । तथाचानुमेयमात्रस्य तस्समसत्ता; अस्येंतेत्यं्यमिचारात्। गगनस्य उ्याव्यत्वापात्तिस्तु इट्वैव; पक्षघर्घताषीविलम्बनदेवानुमित्यमावात् । धनििघर्मेल्याययुक्तं; दीर्ष्व्वादिज्ञानस्यैव कारण्वात्, तार्किकादिमते दीर्घत्वादेर्वर्णेष सत्यत्वाच्च। अखण्डवाक्यार्थेत्याद्युयक्तम् ; संसर्गस्यैव वाक्यार्थत्वात् । ज्ञानप्रामाण्यं मिथ्येल्ययुक्तं; मिथ्यात्वानुमितिरापि मिथ्यात्वंशे प्रामाण्ये मिथ्याव्वापतेः, जरहृवादिवाक्यस्यापि मिथ्यात्वांशो प्रमात्वापतेश्च। यत्व्वरूपनुपजणियते तन्न बाध्यत इस्याद्ययुक्तम्; विषयाबाधस्यातात्तिकतेवन्नुमित्यादेरप्रामाण्यापतेः। अपेक्षितभाहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यतेत्याद्युग्तं; यद्दी प्रमात्वं यद्धीप्रमात्वे प्रयोजकं सा तस्या उपजीव्येय्यत्रादोषात् । प्रयोजकत्वं च योगक्षेमसाधरणम्। तत्र योगांशः स्वरूपसिद्धार्थमिल्यनेनोक्तः । क्षेमांशस्तु अपवादनिरासार्थमिल्यनेनेनेति । परीक्षया स्वसमानदेशकालीनो विषयाबाधः सिद्धघर्तत्याघ्ययुक्तम् ; मिथ्यात्वानुमिते: ख्वदेशकालयोरपि घटादिनिषेषविषयक्वेन उपजीव्यविरोधापारेहारात्। मिध्यात्व्वमाणेन घटादिस्वरूपस्यापि बध्यमानवेने धर्मियाहकमानबाधात् " इल्यादि पल़पित, तन्न; मिध्यात्वस्यातात्त्विक्यैयानुमेयत्वात्। ठ्याम्पयादिपदेन विषयाबाधोक्किस्र तवैवोचिता; प्रतिवादिना विचारे अधुनिकलक्षणया पण्डितेन रान्दाप्रयोगात्। विषयाबाघशब्दं प्रायः व्वन्रुरुः प्मस्मृतान्। अन्यथा शतवारं व्याप्षयादीति ल्राक्षणिकराबंद न जूूयात्। किंच विषयावाधरूपपामाण्यमिथ्यात्वे विषषो मिथ्या स्यादिति पश्चात् शक्कितनान् । तदापि प्रायः विस्पृत्या। अन्यथा पूर्बोक्तं वदन्नन्नम्मत्तकल्प: स्यात्। अपि च विषयाबाधसमसत्ताकमनुमेयमस्मन्सम्मतमेव। गगनादेर्व्याप्यत्वं तु न युक्तम्। यद्धपि हि गगनादेरवृत्तित्वधीकाले छ्याप्यतया

गगनादिप्रकारकषी: पक्षे न जायते । तत्रावृत्त्वरीः या तस्याः तत्पकारकरीविरेधित्वस्य क्लपत्तत्वात्। तथापि व्याप्यगगनादिविशेष्यकपक्षप्रकारकज्ञानादनुमित्युपपत्ति: । न च तद्वारणाय व्याप्यप्रकारकधीरेवानुमितिहेतुर्वाच्येति वाच्यम्; ठ्याप्यापेक्षया पक्षस्य लघुत्वेन पक्षप्रकारकनिभ्षयत्वैनैव हेतुत्वात्। अन्यथा गुरुमूतन्याप्याभावाप्रकारत्वादिगर्भनिश्षयत्वेन हेतुत्वे गौरवात्, अवृत्तित्वज्ञानाभावकाले ठ्याप्यप्रकारकज्ञानसामयया असत्त्वे गगनादिव्याप्यविशेष्यकज्ञानादनुमितेरपलापापत्तेश्ध। न च ठ्याप्यगगनादिविशेष्यकज्ञानादनुमितिरिष्टेति वान्य्यम्; अवृत्तित्वेन ज्ञायमानहेतुकानुमितिस्वीकारे सर्वै्रैव गगनादिहेतुकानुमित्यापत्तेः। साध्याभाववद्वात्तित्वरूपव्याभिचारज्ञानासम्भवात्। अपिच पक्षधर्मतापि गगनादौ कुतो न ज्ञायते? अवृत्तित्वधियः प्रतिबन्धकत्वादिति चेन्न ; तादृराधीसत्वेपि गगनरियो घट इत्यादिधीदर्शानात् तस्यासम्भवात्; अन्यथा वृत्तिमत्त्वसामान्याभावरीः तत्प्रकारक्जान इव स्वामित्वादिसम्बन्धो धनादिवृत्त्यनवच्छेदक इति घीरप्यौचित्येन तत्सम्बन्धेन घनादिप्रकारकज्ञाने प्रतिबन्धिका स्यात् । तथाच तक्काले धनादिलिज्ञकानुमितिलोपापत्तिः । किंचोक्र०्याप्तयदरे गगनादौ जगद्याव्यत्वं व्यवह्दीयेत। इष्टापत्रौ च अनुभवविरोषः। अतएव गगनादौ व्याप्थत्वमुक्षा वृत्तिमत्त्वं हि विशेषणमिति दीधित्यादावुक्तम्। ध्वनिषर्मेत्यादि युक्तं; दीर्षत्वादेज्ञानस्य कारणत्वेऽपि यथा कारणीभूतधीविषयद्दर्घत्वादिविषय ${ }^{1}$ सत्ताकं शाब्द्वोधस्य विषयप्रामाणयम्, तथा व्याप्तयादिविषयसत्ताक ${ }^{2}$ मनुमेयादीत्यत्र तात्पर्य बाषकाभायात्। मीमांसकमते दृष्टन्ते ताकिकोक्किस्तु शोमते। वेदान्तवाक्ये ससर्गो नार्थ इति तु वक्ष्यते। मिश्थात्वनुमितिप्रामाण्यस्य व्यावहारिकत्वात् मिथ्यात्वमिष्टमेव। जरद्नवादिवाक्यस्य मिथ्यात्वपामाण्यं

## प्रत्यक्षस्यानुमानबध्यत्वत्विचार:

किश्न्व विपक्षबाधकसाचिवमनुमानमपि प्रत्यक्षबाधकम्। नन्वेवमपि "औदुम्त्रीं स्पृष्टोदायेत्," ऐन्द्रया गाईपत्यमुपतिष्टते, इारमयं बर्हिर्भवति" इति श्रुतित्रयग्राहि प्रत्यक्षं यथाक्रमं 'औदुम्बरी सर्वा वैै्टयितव्या' इति स्मृतिरूपेण न व्यावहारिकम्। यत्स्वरूपमित्यादिकं युक्तमेव ; अनुमित्यादेस्तात्त्विकप्रामाण्याभावस्येष्टत्वात्। स्वरूपसिद्धघर्थमित्यादेः अर्थवर्णनं तु झोभते ; अनुभवादिप्रामाण्यस्य स्मृत्यादिप्रामाण्यं प्रति योगक्षमसाधारणकारणत्वे मानाभावात्, अस्मदुक्तरीत्या स्वरूपसिद्धयादिशब्दार्थसम्भवात्। परीक्षयेत्याद्यपि युक्तम् ; मिथ्यात्वानुमितेः घटादिनिषेघस्य बोधक ${ }^{1}$ व्वेऽपि तस्य तात्तिवकत्वेन अतात्विक कटादिक्वरूपज्ञानस्य उपजीव्यस्याविरोधात्, घटादिदेशाकालयोस्तत्समानसत्ताकतन्निषेधबोधन $ए व^{2}$ विरोधात्। अन्यथा रुप्यादिमिथ्यात्वबोधेऽपि तदापत्तेः। मिथ्यात्वग्राहकमानेन घटादिज्ञानस्योपजीव्यत्वेडपि तदीयतात्त्विकपामाण्यस्य अनुपजीव्यत्वात्, उपजीव्यस्यापि परीक्षितस्यैव प्राबल्यात्। परीक्षायाः ${ }^{3}$ स्वसमानकालीनाबाध्यमात्रव्यवस्थापकत्वस्य ववदीयरोदनसहसेणाप्यपारिहारादिति। तस्माध्यक्किश्विदेव प्रलपन् ₹वकीयानामेन मान्योऽसि॥

सारस्वैत्तै्तर्करलैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्वान्तखण्डानामखण्ड्यक्षोपजीव्यता।।
इति प्रल्यक्षस्येपजीव्यत्वभःः.

औदन्बरमम्। उदुग्बरवृक्षविकाररूपां स्थूणाम्। ऐन्द्रचेति । 'कदाचन ₹तरीरसि नेन्द्र सश्धसि दाइयुषे' इत्यादिऋचेत्यर्थः । गार्हपत्यं त्रेतान्तर्गतममिविशोषम् । वेष्टनश्रुत्यनुमानेनेति। ज्ञाय-

[^59]सर्ववेष्टनभ्रुत्यनुमानेन 'कदाचन स्तरीरासि नैन्द्र सश्रसि दागुषे' इति मन्त्रसामर्थ्यलक्षणन इन्द्रशोषत्वभ्रुत्यनुमानेन चोदनालिक-
मानहेतोः अनुमानत्वमते। हेतुज्ञानस्यानुमानत्व्वमतेतु स्मृतिरुपेणेत्यस्य। स्मृतिविषयकेणेत्यर्थ: । औदुम्बरीसर्ववेष्टनस्मृतिः ताहृराश्रुतिमूलिका, बाधकाभावे सति गिष्टपरिगृहीतस्मृतित्वात् ; या बाधकाभावे सति यदर्थक शिष्टपरिगृहीतस्मृतिः, सा तदर्थकश्रुतिमूलिका, यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलकस्ट्टतिरित्यनुमानरीतिः । नेन्द्रेत्यादि । कदाचनेत्यादिमझ्रगतेनेन्द्रेत्यादिभागसथेन्द्रादिपदानामिन्द्रादिप्रकारानसामर्थ्यलक्षणेनेत्यर्थः । रोषत्वश्रुतीति। उक्तमत्रन्य उक्तसामर्थ्यम् उक्तमत्रस्य इन्द्रशोषत्वबोघकश्रुतियुक्तम्, उक्तसामर्थयत्वात् ; यद्यन्निष्ठं यदर्थप्रकाशानसामर्थ्यं तत्तन्निष्ठस्य तदर्थप्रकाशनरोषत्वस्य बोधकश्रुतियुक्तं, प्रत्यक्षश्रुतिविनियुक्तमन्रसामर्य्यवदिति बोध्यत्। चोद्नालिङ्डेति । विधिवाक्यसादृइयेत्यर्थः। सोमारौद्रश्ररुः श्रुतिबोधितकुराबर्हिशरोषताकः; तादृरापौर्णमाससहृशचोदनाकत्वात् , यद्यच्छुतिबोघितयच्छेषताकयद़ीयचोदनासद्टशाचोदनाकं तत्तच्छुतिबोधिततच्छेषतां, यथा 'यद्राह्यणानि पश्च हरींषि तह्बाह्यणानीतराणि समानमितरच्छयेनेनेत्यादिप्रत्यक्षवचनातिदेशबोधितशोषताकामिति सामान्यतोऽनुमानं बोध्यम्। सादृइयं च निर्वपतिधानुद्विदैवत्यत्वादिघटितं बोध्यम्। अधिकरणं तु लिखूयते प्रथमतृतीये चिन्तितं-ज्योतिष्टोमे सदोनामकस्य मण्डपस्य मध्ये औदुम्बरी निखन्य स्थाप्यते। तस्याः सर्ववेष्टनं 'सर्वा औदुम्बरी वेष्टयितव्या" इति स्मृत्या विहितं "औदुम्बरीं सपृष्टेोद्नायेद्" इति 'प्रत्यक्षश्रुत्या च तस्याः स्पर्शनं विहितम्। तदेवं प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धार्थास्मृतिः प्रमाणं न वेति संशये शिष्टप्रणीतस्मृतित्वादविरुद्धार्थकस्मृतिवत् श्रुतिमूलकत्वसम्भवात् प्रमाणमेव सा । श्रुतिविरुद्धार्थकत्वेऽपि श्रीहियवादिश्रुतिववन्मूलश्रुतेरुपपत्तेः। न चैवं श्रुतिलिज्ञादिषु पूर्वपूर्वेणो-

त्तरोतरबाधो न स्यादिति वाच्यम् ; तेषु पूर्वेणाक्नकित्वे बोषिते तदाकांक्षोच्छेदेनोत्राप्रवृत्तावपि प्रक्षतस्स्तेः स्वमूलश्रुल्याकांक्षायाः फ्यक्यकस्मृलोच्छेदाभावेन तदनुमानसम्भवादिति प्राप्ते, कारणान्तरसत्त्वेडपि जिज्ञासां विना अनुमित्यादेरुतुत्पत्त्या परोक्षज्ञानमात्रे अनुमिलिय्याप्त्योर्वा जिज्ञासा हेतुः । अतो वेष्टितव्वाभावेन स्पर्शश्रुतिऊब्षेनौदुम्ब्या: पारिच्छिन्नत्वात् वेष्टनजिज्ञासाविरहेण वेष्टनम्पृत्या न मुलीमूतश्रुत्यनुमितिः। किंच चीहियवादिशार्शयोश्तुल्यबकत्वेन विकल्पसम्मवाद्विरोषपरिहारेडपि प्रकृते अनुमेयश्रुतेः सापेक्षत्वकल्प्यत्वादिना दुर्बलुत्वान्न तथेति सा न प्रमाणम् । न च वस्रनपर्झाने स्पर्शश्रुत्यर्थसिद्धिः सम्भवर्तीति वाच्यम्; स्पार्शनप्रत्यक्षस्य स्पृाघात्वर्थत्वात्, वेष्टिते तु त्वक्प्रंयोगाभावेन तदसम्भवात् 1 एवं प्रत्यक्षश्रुत्यविरुद्धायामपि यस्यां स्मृतौ लोभादिदृष्टमूलत्वसम्भवः साडप्यप्रमाणम्। यथा 'वैसर्जनहोमीयं बासोग $s$ चर्यु: प्रतिगृद्धाति, यूपहस्तिनो दानमाचरान्ति’ इति। यूपहस्ती यूपपरिण्यानवस्रम् । अत एव ‘अपिवा कारणापहणे प्रयुक्तानि' इल्यत्र लोभादिदृृकारणासम्भव एवाचारे श्रुतिमूलक्तं वक्ष्यत इति भाष्यम्। नेदं युक्तम्। तथाहिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधे स्मृतिमूरश्रुतेः अभावः साषकाभावात्, बाषकाद्वा। नाघः; मन्वादिस्म्ताताविव शिष्टपार्महादेः साघकत्वात्, जिज्ञासां विनाडप्यनुमिम्यादिदर्शनेन तस्या असाषकत्वात्, अवेष्टितत्वेनौदुम्बर्याः परिच्छेदेडपि स्मृते मूललजज्ञासासम्भवाच। नान्ल्यः; बाधकं हह स्पर्शश्रुतिर्वा, बेष्टनश्रुल्यदर्शनं वा। नायः; वीहियवादिवत्तदुपपत्तेः। नान्त्यः मन्वादीनां तद्घर्शनसम्भवात्। किश्घ उक्तस्ृृतिमूलश्रुतिः प्रल्क्षैव 'तामूर्ध्वदेरोन पारिवेष्टयति’ इति सा ख्वयायन'शाखाप्रानादित्युदाहरणमपि दुर्लमम्। अपिच स्मृतेतु-

द्नातृस्पर्शविषयमध्यमोतरमागान्यभागविषयकत्वेनाव्युपपतेः न स्पर्शश्रुतिविरोषः। एवं शिष्टपारंगृहीतस्पृत्रेलोभादिम्ल्रकत्वे मन्वादिस्सृतेरवि तदापत्तिः। 'अपिवा कारणामहणे' इत्यादि बक्ष्यमाणाषिकरणे तु शिष्टपरिय्मह एव मुर्यहेतुः । दृृ्टमुल्रासस्भवस्त्वन्वाचयमात्रम्। तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धस्मृतिमूरश्रुतिर्यद्यपि परप्रत्यक्षा सम्भवति। परप्यक्षं च आत्मप्यक्षतुल्यमेवेतें सा स्मृतिः प्रमाणमेव। तथापि सा श्रुतिः यावन्न स्वप्त्यक्षा तावत्पत्यक्षक्षुश्यर्य्य एवानुष्षेयो न तु नाहृश्स्मृतर्थर्थ; अर्थवादादिना विधिमुन्नीयापि स्सृतिं प्रमाणयन्ति यथा स कृताकत इत्यादि: सवनीयपुरोडाशविकल्पवोषकस्मृतिः। सा हि सवनीयपरौ देवतासंस्कारार्थप्राकृतपश्रुप्रोडाशस्य सोमं प्रत्यारादुपकारकसवनीयपुरोडाशस्य च छिद्रापिषानार्थल्वमर्थवादाग्यां भान्ल्या रचिता। अत एव "सवनीये छिद्रापिधानर्थत्वात् पझुपुरोडाझो न स्यात् अन्येषामेवमर्थत्वात्" इति ताहहाद्वितीयस्थाधिकरणे छिद्रापिषानरुपैकार्थत्त्वे विकल्पमाश स्य निराकृतम्।" सुपषिरो ह वा एवर्हिं पझुर्र्धिंहि वपामुत्यिदातीति यह्रीहिमय: पुरोडारो भवति अपिहिल्या अछिद्रतायै, अनुसवनं सवनीयापुरोडाशा निरुप्यन्ते अपिहित्या अछिद्रतययै" हत्यर्थवादयोः स्तुति मात्रपरत्वेन उैक्कैकार्थत्वाप्रापकत्वात्। तथाच तद्वदेव यद्यर्थवादाद्युन्धतः विघिमूल्ग स्मृतिः, तथा प्रत्यक्षश्रुतिसन्नयाययोः विरोषे अर्थवादन्यायाभासादिमूलकस्मृतेर्रामाण्यात् सा न प्रमणणमिति राष्कासम्भवात्। एवंच'विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ध्रनुमानम्, इति सूत्रे अनपेक्षं उक्तशक्षानिरासकानपेक्षं प्र्यक्षश्रुतिचोदितमनुष्ठेयं स्यात् । असति उफशक्षाबीजे हि अनुमानं प्रत्यक्षश्रुत्यविरुद्धश्रुत्यनुमापकस्मृतिबोधितमनुन्हेय-
 तस्माच्छाक्यादीनां ं र्यीबाबानामपि च्रयीपोत्काहिंसादिधर्मवक्तृत्वेन क्षत्रि-

रूपेण कुराभ्रुत्यनुमानेन च बाध्यत इति सर्वमीमांसा उन्मृदिता स्यादिति चेन्न; वैषम्यात् । तथाहि-किमिदमापाद्यते श्रुतित्र्यग्राहिग्रत्यक्षं ? अनुमानैः बाध्येतेति वा ? प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयमिति वा नाद्यः विरोधाभावेन तद्धायत्वप्पसद्धया च शिष्टत्वशाष्क्या तदीयस्मृतेरपि वेदमूलकत्वमिति प्रापे, तेषामशिष्टत्वेन त्रयीतद्विदोः प्रसिद्धेः शिष्टंत्रैवर्णीकानां धर्मतया पारिम्रहस्य पूर्वाधिकरणमुख्यहेतोरभावात् वेदाप्रामाण्यवादिभिरेव तत्पारेभ्रहाच न सा प्रमाणम्। सूत्रं तु तथा व्यारुगेयमिति वार्तिकम्। तदेवं सापेक्षत्वात्र कल्प्यश्रुतिमूलकत्वाच निरेक्षक्रत्तश्रुत्यपेक्षया दौर्बल्यात् तद्विरुद्धार्थकस्मृतिरप्रमГणमिति भाष्ये उक्तम्। वार्तिके तु स्वपरपत्यक्षयोः श्रुत्योः तुल्यत्वेन ताद्धरास्मृतेः प्रमाणत्वेव्युक्तरा क्क्या तदर्थाननुष्ठानमुक्तम् ; शिष्टपरिगृहीतताद्धाम्मृतावुक्तराइ्काया अव्यसम्भवात्, पश्थाद्वर्णकान्तरमुक्तम् । अनुमानाद्येेक्षया प्रत्यक्षस्य तत्त्वेन प्राबल्यं तु न कुत्राप्युक्तम्। तथाव्युक्ताधिकरणे तदुक्तमिति आन्त्या प्रत्यक्षापेक्षया अनुमानबकुत्वे उक्काधिकरणविरोधः स्यादित्याइायेन परेण वेष्टनश्रुत्यनुमननेनेत्युक्तम् ${ }^{1}$ । यद्यपि सामर्थ्यरूपालिज्ञापेक्षया श्रुतेः प्रावर्यं तत्पवृत्तिपूर्वमाकांक्षोच्छेदकत्वात्। न तु प्रत्यक्षविषयत्वात्रत्यक्षविषयलिक्भादीनामपि, वाक्याद्येक्षया प्राबल्यात्। अतएवं 'पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति सूत्रोत्तोच्छेदकत्वं हेतूकृतम्। तथाच श्रुत्यपेक्षया लिज्ञस्य तथा प्राबल्यं न शाक्कास्पदम् । तथापि प्रत्यक्षविषयत्वात् तत्पाबल्यमिति भ्रान्त्या रोषत्व ${ }^{2}$ श्रुस्यनुमानेनेत्याशाक्कितं परणेति चोध्यम्। श्रुतिलिकविरोधस्तु पूर्वमेवोदाह्टतः। चोदनेति। 'सोमारौद्रं चरं निर्वपेत् कृष्णानां व्वीहीणामभिचरन्' इति विहितेष्टौ 'शारमयं बर्हि:' इति श्रुताइराराः चोदकेन प्राप्तयह्ह कुरामयबर्हि: बाधन्ते

$$
1 \text { त्यनुमानेनाप्युक्तम . } 2 \text { रोष. }
$$

न वेति संशये न बाधन्ते, पाषाणमयी भूरित्यत्रेवमयटा बहुशारसंयोगमात्रस्य प्राकृतकुराबर्हिषि विषानसम्भवात्। बर्हि:कार्योद्देशोन शरविधाने मयटो वैयर्थ्यापते:, बर्हि: पदे उक्षणापत्तेश्रेति प्रापे, उकसंयोगविधानक्य अदृष्टार्थत्वापतेः दृष्टं स्तरणरूपं बर्हि:कार्यमुद्हि्रयशारा विषीयन्ते बर्हिःपदस्योद्देशावाचकत्वेन तवापि मते तत्रापूर्वसाधनलक्षणावइयकत्वेन मन्मते उक्तकार्यद्वाराऽपूर्वसाघनरक्षणायास्तत्रादोषत्वात् । मयट्श्रुतिस्तु स्थानापत्त्यतिदेशप्राप्तरवनादिसंसकारविशिष्टस्य शराविकारद्रव्यस्यानुवादः । न च चोदकेन कुशतःकार्ययो: पूर्व प्राप्ततयानुवादः। न च चोदकेन कुरातत्कार्ययोः पूर्व प्राप्ततया पश्रात् स्वमात्रा ${ }^{1}$ कांक्षयाऽन्वयभाजां राराणां कुरा ${ }^{2}$ विरोधेनैव अन्वयौ चित्यात् कुरारावे प्रतिनिघित्वेन अन्वयेपपत्तेः न शाराणां कुराबाघकत्वामिति वाच्यम्; पदार्थविशिष्टेपपकारविषयिण्याकांक्षया पदार्थ विशिष्टोपकारस्यातिदेशपक्षे तस्य शरविधिपर्यालोचनेन पदार्थाउ।विशोषितोपकारविषयकत्वकल्पनात्। अन्यथा रारविध्यानर्थक्यत् विकृत्याकांक्षयैव शाराणां ग्रहणमिति कुराप्राप्षेरेवाभावात् तार्किकप्राप्तया च प्राप्बाधव्यवहारः। अथवा उपकारस्यैव प्रथममाकंक्षयाऽतिदेशः पदार्थस्य पश्राप्। अतः पदार्थाकांक्षायां रारविधिनैव तच्छान्ते: न कुरातिदेश इति दशमचतुर्थे ‘चोदनालिखसंयोगेन तद्विकारः प्रतीयते' इत्यधिकरणे स्थितम्। चोदनाया लिक्षे निर्वपतियजत्यादिधातु:। अष्टाकपालादिसङ्बया एकद्विदैवत्यत्वादिसम्बन्धघटितसाद्धइंयेन तद्विकारः पौर्णमासधर्मकुराध्यतिदेशो इति पूर्वपक्षसूत्रार्थः। अत्रापि क्हपत्तत्वनिरवकाशत्वादिना शरादिशास्तं कल्प्यसावकाशादिरूपकुराद्यतिदेशापेक्षया प्रबलम्। न तु प्रत्यक्षविषयत्वेन, प्रत्यक्षाविषयस्यापि वैकृतमन्त्रलिज्नादिकल्प्यश्रुते: प्राकृतमन्त्रादिप्रापकातिदेशाबाधकत्वात्। तथाच प्रत्यक्षत्वेन

[^60]ध्यबाधकभावस्य शास्तार्थत्वाभावात् अस्माभिरनम्युपगमाच्च अनुक्तोपालम्भमात्रत्वेन निरनुयोज्यानुयोगापतेः 1 अतएव न द्वितीयः ; प्रत्यक्ष्वविषयीभूतश्रुतित्र्यस्य लिक्नबाधकत्वपरेऽपि शास्त्र प्रत्यक्षस्य लिक्रबाध्यत्वे विरोधाभावात्। न हि शब्द्प्रत्यक्षयौरैक्यमस्ति । शब्दस्य च सर्वप्रमाणापेक्षया बहवत्वमवोचाम। तस्मात् मैढ्यमात्रमेतन्मीमांसाविरोधोद्धावनम्।।
दुर्बरुत्वस्वीकारेऽपि प्रत्यक्षाविषयस्य शारादिशास्सक्य अनुमानरूपातिदेशबाध्यत्वे आनर्थक्यापत्त्या ' आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्' इत्यादिन्यायेन अनुमानस्यैव बाध्यत्वम् प्रपश्चसत्वप्रत्यक्षस्य तु त्रिकालाबाध्यत्वर्वपसत्ता ${ }^{1}$ याहित्वस्य उक्तव्वात्, व्यावहारिकसत्वाधिष्ठानसत्वविषयकत्वेन सावकाशत्वाच्च। नोक्तन्यायेनानुमानबाधकत्वमिति। तथाव्यनुमानत्वेनोक्ताधिकरणे प्रत्यक्षबाध्यतोक्तेति आन्त्या कुराश्रुत्यनुमानेनेत्यादि पगेगाए़क्रिननिनि ध्येयम् ॥

ननु प्रत्यक्षविषयकश्रुते र्विरुद्धविषयकत्रात् प्रत्यक्षस्यावि तदित्यत आह्ट - अस्माभिरिति । विरुद्धविषयकप्रमाणविषयकप्रत्यक्षे अनुमानबाध्यत्वस्येति शेषः । साक्षादनुमानविरुद्धार्थविषयकप्रत्यक्षस्यैवानुमानबाध्यत्वस्य श्रुतेरन्यमानापेक्षया बलवत्त्वस्य चास्मामि: ₹वीकारात् स्वविषयश्रुतिद्धारा विरुद्धविषयकपत्यक्षस्य नानुमानापेक्षया दौर्घल्यमस्मत्सम्मतमिति भावः। मौढ्येति। यत्तु -' श्रुतित्र्यम्राहिप्रत्यक्षं बाध्येतेत्यापत्तिर्युक्ता प्रत्यक्षविषयश्रुतिः स्वविषयस्पर्शोपपादिका सर्ववेष्टनादि बोधयति। अनुमानं तु सवरवेष्टनादिति ${ }^{2}$ विषयीभूतश्रुतिद्वारा प्रत्यक्षस्य विरुद्धविषयकत्वात् श्रुतित्रंयं बध्येतेत्यापत्तिरपि युक्ता; प्रत्यक्षविषयत्वेन हि श्रुतित्रयं बाघकं, न श्रुतित्वेन ; अनुमितश्रुतेरपि प्रत्यक्षश्रुतिबाधकत्वापत्तेः' इति प्रल्रपितम्, तत् उक्तव्याएयाने निरव-

ननु ग्रत्यक्षस्य लिख्ञबाध्यते वब्नैचैण्यप्रत्यक्षं \ैत्यानुमान स्यात्मस्थायित्वप्रत्यमिज्ञानं च क्षणिकत्वानुमानस्य बाधकं न स्यात्। प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यादिति चेन्न ; अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात्। अपरीक्षितप्रत्यक्षं हि परीक्षितानुमानापेक्षया
काशम्। स्वविषयश्रुतिद्वारा विरुद्धविषयकम्रत्यक्षम्यास्माभिरनुमानबाध्यत्वास्वीकारात् प्रत्यक्षविषयत्वेन श्रुतिर्बाधिका; वैकृतमन्न्रहिब्नादिकलप्यश्रुतेरतिदे शा ${ }^{1}$ बाधकत्वापत्तेः। किन्तु निरवकाशत्वादिनेन्युक्तम्। अनुमितश्रुतेः प्रत्यक्षश्रुतिबाधकत्वापत्तिस्तु शोभते ; उभयोः श्रुतित्वाविशोषात् बाध्यबाधकत्वानुपपत्तेः । किश्च अनुमित ${ }^{2}$ श्रुत्यपेक्षया प्राबल्यं प्रत्यक्षविषय ${ }^{3}$ श्रुतित्वेन प्रकृते कथम् ? प्रत्यक्षश्रुतेः स्वविषयस्पर्शनं सर्व ${ }^{4}$ वेष्टनं विनानुपपन्नमित्यर्थपतिस्वरूपस्योत्थापनीयमानद्वारा अनुमेयश्रुतिविरुद्धविषयकत्वात् साक्षात् तत्र्रतिबन्धा ${ }^{5}$ क्षमत्वात्। प्रत्युत प्रत्यक्षश्रुतिकल्प्यार्थापत्त्येेक्षया अनुमानकल्प्यश्रुतिरेव प्रबका स्यात्, श्रुतित्वात्, कल्पकप्रमाणयोः बलाबलापेक्षया कल्प्यरूप्रमेयबलाबलस्य प्रबलत्वात्। अथापि केनचिद्विरोषेणप्रमाणबलाबलमेव ग्राद्यम् ; तथापि श्रुतित्वेनैव श्रुति: प्रबल सम्भबत्यनुमानापेक्षयेति प्रत्यक्षविषयत्वविशोषणं ठ्यर्थमेवेति ध्येयम्-- अर्थक्रियेति । दाहादिकार्येत्यर्थः। श्रुत्यनुग्रेण 'अजो नित्यः' इत्यदिश्रुत्यनुय्रहेण । यतु—"फलुपर्यन्तपरीक्षाया जगत्सत्यत्वबोधकश्रुत्यनुमहस्य च सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षेपि सम्भवात् तस्यापि औष्ण्याद्रिप्यक्षवदनुमानापेक्षया प्राबल्यमुचितम् । किंच त्वन्मतेअस्तीत्येवोपलबघष्यः इत्यादेरप्यखण्डार्थत्वेनात्मनि स्थायित्वसंसर्गप्रमित्यसम्भवः। अयोग्यशृकेत्यादि न युक्तम्। श्रृक्तन्य योग्यत्वानियमात्, श्टृक्षानुमानं गति प्रत्यक्षबाधोद्शावनसम्भवात् । ${ }^{1}$ रतिदेश. ${ }^{2}$ अनुमेय. ${ }^{3}$ प्रत्मक्षश्रुतिविषय. ${ }^{4}$ सर्वा. ${ }^{5}$ साक्षात्रतिबन्धा.

दुर्बलम् ! 'नीलं नभः' इति प्रत्यक्षमिव नभोनिरूपत्वानुमानापेक्षया अतो न सामान्यतो हृ्टमात्रेण सर्वसक्षरापत्तिः। नन्वेंवं पशुत्वेन श्रृक्षतुमानमपि स्यात्। लाघवात् पशुत्वमेव श्रृछवच्वे तन्त्रम्। न तु तद्विशेषगोत्वादिकम्, अननुगतत्वेन गौरवादिल्येतत्तर्कसध्रणिनतत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्राबल्यात्। अनुकूलतर्कसाचिठ्यमेव हि अनुमाने बलम्। एवंच येनकेनचित्सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किश्निदनुमेयमम्, लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्वात्। तावतैव प्रत्यक्षवाधकत्वादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यान्। न ह्यत्र प्रत्यक्षवाधादन्यो। दोषोस्तीति चेन्न ; अयोग्गभृम्मादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्केज्ञगभासत्वस्य त्वयापि बक्तव्यत्वेन व्यकअन्यथा कैत्यस्याव्ययोग्यस्य सम्भवेन तदनुमाने प्रत्यक्षवाधोन्रावनानुपपत्ते:" इति, तनुच्छम्; ;्यावहारिकपरीक्षया तात्त्विक्वासिद्देरनुपदमुक्तव्वात्, जगत्सत्यत्वभुतेरेन्यपरत्वादेः वक्ष्यमाणत्वात्तात्त्विक्वाविषयकत्वात् ‘अस्तीय्येवोपलक्षक्य:, अजो निल्यः’ इत्यादीनामखण्डार्थत्वेडपि निल्यव्वाद्युपाघिपरामर्शूपूर्वक ख्रण्डप्रमितेरेव अनित्यय्वाद्धिभ्रमनिवर्तकत्वसम्भवात्, सामर्भीविशोषजन्यज्ञानसैयैव विजातीत्यवेन उउ्कभमनिवर्तकत्वं ${ }^{2}$ न तु नित्यत्व्वादिसंसर्गविषष्यकत्वादिना गौरखादित्यस्मत्सिद्धान्तस्य त्वादहौौः दुर्बोधत्वात् । श्रृक्रोग्यतानियमस्तु श्रृज्भिणांमव युक्तः ; पिशाचादिशरीर्येव श्रृ़्रिशररिस्यापि अनुदूनूरूपस्य सब्भवेन तदीयभ्रृक्षस्य ताहछत्वेन अयोग्यत्वसम्भवात्, तदसस्भवेडपि ताहचशश्वृक्वेन सन्द्विघस्यानुमानसम्भवाच्च । अयोग्यौैत्यस्य वह्यादाबनुमाने प्रत्यक्षवाधो नोर्शाण्यत एव, कित्त्वप्रयोजकत्वमेव व्याप्तिप्राहकतकार्मावरूपमिति। अत्र नभसि नैल्प्पत्यक्ष्षस्य नरिरूपूँंत्वानुमा-

$$
{ }^{1} \text { मर्शाकावूर्व. }{ }^{2} \text { निर्त्रक्लात. }{ }^{3} \text { नाल्य. }
$$

स्थाया उमयसमाधेयत्वात् । न हि तर्काभाससध्रीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाप्यभ्युपेयते। अत उपपनंज सत्तर्कसचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य बाधकामिति ।।

इति प्रत्यक्षस्यानुमानबतध्यत्वासिस्दि:

## अगगमबाध्यत्वविचार:.

किश्न परीक्षितग्रमाणभावशबब्द्बाध्यमपि प्रत्यक्षम्। ननु प्रत्यक्षं यदि शब्द्बाधं स्यात् तदा जैमिनिना 'तस्माद्यूम एवाग्नेर्दिवा दहछो नार्चेः' इत्यद्यार्थवादस्य 'अदितिद्यौ:' इत्यादिमन्त्रस्य च दृष्टविरोधेनाप्रामाणये प्रापे 'गुणवादस्तु' 'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' इत्यादिना गौणार्थता नोच्येत। नेन बाध्यत्वं यन्मूले उक्षं तत् तज्जन्यमिथ्यात्वधीविषयविषयकत्वम्। यदि तु प्रमत्वेनैव अभानापादकाज़ानं प्रत्यपि निवर्तकता, दोषविशोषाणं प्रतिबन्धकत्वात् न च.न्द्रप्रादेशिकत्वादिभ्रमनिवृत्ति: । ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वलक्षणे साक्षात्कारत्वेन आचार्याणां दृइयनिवर्तकतोक्तिम्नु नैतन्मते तदा तज्जन्याप्रमाजन्याज्ञाननिवृत्तिप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वमेव। तदेवं शब्दबाध्यत्वं वक्ष्यमाणं बोध्यम् ॥

तर्कै: सारस्वतै रबै: चन्द्रिकाचन्द्रभूषणै: ।
दुरन्धघ्वान्तहन्न्रीयमनुमित्याइक्षबाध्यता ॥।
इति प्रल्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वम्.

तस्माच्बूम इत्यादि । तस्मादित्याद्घर्थवादस्य 'गुणवादस्तु'
इति सूत्रेण 'अदितिः' इत्यादिमश्रस्य च 'गुणादपि प्रतिषेघः' इति सूत्रेण गौणार्थता सिद्धान्तत्वेन नोच्येतेत्यर्थः। दृष्टविरोधेनेति ।

प्रथमद्वितीये अर्थवादाधिकरणे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादे: धर्मप्रमानुत्पाद कत्वं खार्थेचानुवादफत्वमित्येतावन्मान्रं 'स्तेनं मनोऽनृतवाड्विनी वाक्' इत्यादौ मनस्त्तेनत्वस्य वागनृतमात्रवादिनीत्वस्य च बाषितत्वात् मनः स्तेनसद्वशं बागनृतपायवादिनीत्यर्थो वाच्यः । तथाच अनुवादत्वापत्त्या विधिकल्पकत्वं वाच्यम् । वाब्मनसयोरनृतादियोगादन्येनापि तत्सेठ्यमिति ${ }^{1}$ तत्रापि नायमपूर्वविधिः; प्राप्तार्थत्वात्, 'नानृतं बदेत्' इत्यादिशास्रबाधापत्तेश्र । नापि अनृतन्येन कार्य न साषयेत् स्तेयान्योपायेन न द्रव्यमर्जयेदित्यादिपरिसख्बया, हैद्वोष्यात्, सत्यमेव बदेत् प्रतिग्रहादिना द्रव्यमर्जयेदित्यादिशास्तबाधाँ्च। अतएवानृतं वदेदेवेत्यादिर्न नियमविधिरपि। नापि विकल्प:, कल्प्यत्वेनास्य दुर्बलत्वात्। तक्माच्छार्लविरोघेन विधिकल्पकत्वाभावादपामाण्यम्। एवं 'तस्मान् धूम एवागेर्दिवा दहुगे नार्ति:, अर्चिरेवामेर्नकंत्क दहरो न धूमः तस्माद्दिवाऽमिरादित्यं गतो रात्रावादित्यस्तम्' इत्यादे: दृष्टविरोधादप्रामाण्यमिति ' शास्तहष्टविरोधाच्च' इति सूत्रेणाशक्क्य अन्येषामप्यर्थवादानामन्यपकारेणाप्रामाण्यमाशक्क्य 'गुणवादस्तु' इति सूत्रेण बाधितार्थानां गौणार्थकत्वं प्रतिज्ञाय 'रूपात् प्रायात्' इत्यनेन 'दूरमूयस्त्वत्' इत्यनेन च अन्येन च सूत्रेण उपपाष, सेर्वेषामर्थवादानां विध्यपेक्षितस्त्रतिनिन्दाबोधकत्वेन प्रामाण्यमिति समाहितम् । तत्र 'हिरण्यं हस्ते भवत्यथ गुहाति' इति विषेः शोषभूते 'स्तेन मनोऽनृतवादिनी वाक्' इत्यत्र स्तेनशब्द: प्रच्छन्नकारित्वेन स्तेनसाद्हइयात्मकात् रूपात् स्तेनसदूरो गौणः; अनृतराब्दोडनृतवाक्यबाहुक्यरूपात् प्रायाद्रौणः। वाब्यनसयोः ${ }^{2}$ ₹तेनसदृशत्वादिना हिरण्यादूनत्वप्रत्ययाव् नहिनिन्दान्यायात् हिरण्यस्तुतिः । न तु निन्दया निषेषोन्नयनं,
${ }^{1}$ तथ। यवर्त्तव्यमिति. ${ }^{2}$ स्तेनसहात्वादेहिंरण्यविषिस्तुल्यर्यत्वाजहिनिनःः न्यायात्-पा.

क्रहपिध्येकवाक्यतासम्भवे तदयुक्तक्वात् । तस्माद्यूम एवेल्यादौ तु हलिर्गीणो दूरमूयस्वात् गुणात्, तच्ध भूयस्वेन दूरस्थै: दछयमानल्वम्। दिवा हि दूसस्थैः भूयस्त्वेन धूम एव हछयते नार्णिः, नकंत्तं च तैस्तेनार्चिरेव छइयते न धूम इति। तथाच "सूर्यों ज्योतिर्ज्योतिरमिस्स्खाहोति प्रातर्जुहोति, अमिज्योंतिस्सूर्यस्स्बहेति सायं जुहोति" इति मिश्रहिक्नकमन्रविधेः रोषभूतं तत्माद्दिवेल्यादिकं तदुपपादकम्। तस्मादू$म े ल ् य ा द ि क ं ~ उ भ य ो ं द ् द ै व त य ो ः ~ म ि ल न ा द ु भ य द ै व ् य ह ो म स ् त ु त े र े प प च ् च ि ः । ~$ वस्तुत干तु केवललिक्नकमिश्रलिखकममझ्रविध्योर्मध्ये पठितमप्युक्तवाक्यद्ययं "अमिज्योतिज्योतिरमिस्ववहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्वाहेति प्रातर्जुहोति" इति केवललिद्रकमझघ्रविषेः ऐोष:; ‘उभाम्यां सायं हूयते उभाभ्यां प्रातः न देवताम्यस्समदं दधाति’ इट्युभयलिस्नकमत्रविषे: अर्थवादान्तरस्याम्तानात् ्यस्माद्दिवाम्मिगादित्यान्तर्गतिः तस्मादादिल्यस्यैव ज्योतिष्टृात्तन्मात्रहि क्रकमष्रः प्रशस्त ${ }^{1}$ इत्युपपत्तिः। एवर्मर्चेरावामेर्नक्तमिंति तत्रापि बोध्यमिति । प्रथमद्वितीये मन्राधिकरणे "तदर्थशासात् वाक्यनियमात् बुद्धि ${ }^{2}$ चास्सात् अविद्यमानवचनात् अचेतनार्थनच्धनात् अर्थविपतिषेषात् स्वाध्यायवदवचनात् अविजेयादादनेत्यसंयोगात् मघ्रानर्थक्यम्" इति सूत्रे मह्रा अनर्थकाः ‘बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादौ शार्यविहितार्थकत्वेन अविधियकत्वात् 'अभिर्मूर्घा' इत्यादौौ वाक्यक्रमनियमस्य स्वार्थनोषे अनुपयोगात् अद्टार्थत्व्वस्य सिद्धा-
 श्रुक्षा त्रयोऽस्य पादाः' इत्यादौ चतुईश्टक्ष्वादियुक्तकर्मणोऽविधमानस्य बचनत्वात् ' ओषषे न्रायस्वैनम्' इल्यादावचेतनार्थसम्बोषनात् 'अअदितिर्घौरदितिस्तरिक्षं', इत्यादौ अदितिशब्दरुपदेवताया चुलोकाघभेदरूपार्थसम्भवात् मम्रमान्तेडध्ययनाभासस्येवार्थज्ञानाभ्यासस्यावचना-

[^61]
## तरिसद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्धसमवाया इति

दर्थज्ञानार्थत्वाभावात् 'अम्यक् सात इन्द्रस्यट्टिरस्मे' इत्यादौ अम्यगादिपदार्थस्य 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी जुषाणा' इत्यादौ वाक्यार्थस्यावि ज्ञायत्वात्। 'र्कि ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' इत्यादौ कर्मानन्नकीकटाद्यनित्यार्थबोधकत्वात्। न चार्थवादस्येव मघ्राणां सतुतिपरत्वेन विधिना पदैकयवाक्यतेति वाच्यम्; प्रदेशान्तरस्थमन्त्राणां तदसम्भवात् । तस्मान्मन्त्राणामप्रामाण्यमित्याइाक्क्य ‘वविशिष्टनतु वाक्यार्थः ’ इत्येनेन वाक्य।न्तरस्येव मन्त्राणां वाक्यार्थधीजनकत्वात् कर्मसम्बन्ध्र्थ1 ${ }^{1}$ काशानरूपदृष्टार्थसम्भवे नाहृष्टार्थत्वं, किन्तु तदसम्भव इति अधीतवेदेन यत्सम्भवति तक्कुर्यादित्यस्य सिद्धान्तसिद्धपयोजनत्वसम्भवान्नानर्थक्यं स्वविनियोजकविधौ पदार्थविधया प्रामाण्यसम्मव इति समाधाय सूत्रान्तरैरुक्तशक्का निराकृताः। तत्र मन्त्रवाक्ये कमनियमोऽद्टष्टार्थ एव, बुद्देर्विक्मरणाादिसम्भवात्पैषमन्त्रसार्थक्यं, 'चत्वारि' इत्यादेः सूर्यप्रकाशाकरवाद्दिनयामरूप ${ }^{2}$ हुझचतुष्टयं विद्यमानार्थ ${ }^{3}$ एव, ओषछ्यदिसम्बेध्यता चैतन्यारोपात्, अदितिरित्यादे: गौणार्थकत्वाविरोधः, ${ }^{4}$ अर्थज्ञानस्य अभ्यासावचनेऽपि प्रयोजनत्वमविरुद्धम्। अप्र सिद्धार्धस्तु निगमनिरुक्तादिना ज्ञेय:। कीकटादिपदानां कृपणादिगौणार्थपरतया कर्मसमवेतार्थकत्वमिति संक्षेप:॥

तनिसद्धीपति। 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादावपि यजमानादिपदं प्र₹ तरार्देनामघेयं स्यात् , सोमादिपद्वत् रूढत्वात् ; तदसम्भवेपि जघन्य-
 विधीयत इति प्राप्ते प्रत्यक्षतिंध्यश्नचणात् ‘प्रस्तरमुतरं बर्हिषस्सादंयति’ इत्यादिविध्येकचाक्यत्वाच तद्विधेयम्रस्तरादिसतुतिपरं यजमानेत्यादिकमित्यैदुुम्बराधिकरणसिद्धम् । यजमानादिपदं तु गौणस्वार्थपरमिति

[^62]तद्धटितवाक्यार्थमीद्वारा स्तुतिः। गौणत्वं च मुख्यार्थगतगुणघटितत्वम् । अस्ति च 'सिंहो देवद्तःः' इत्यादौ कूरादिरुपेर्थे। तत् ' खपुण्पं त्वसिद्धान्त:' इत्यादौ च बावितार्थकत्वरूपो गुणः सिद्धान्तरूपे वाक्ये खपुष्पपदस्य स्वरूपाइ्मकमुरुयार्थगतो बोध्यः ; सर्वेषां पदानां स्वरूपे निरूठरक्षणासत्वात्, खपुष्पपदे च समुदायशक्तथभावेऽपि वाक्ये मीमांसकमते लक्षणासम्भवात्। एवंच तत्र प्कारान्तरपलाप: परेषां हेयः। चन्द्रो मुखमित्यादौ चन्द्रादिपदस्य चन्द्रसदहार्थक्वे गैणार्थकत्वं नोचेत् भाक्तस्तद्यवहारः। तथाच यजमानकार्यसिद्दिहुतुर्यजमानपदस्य गीणार्थ:, गैणार्थगतस्य मुछ्वार्थसम्बन्धस्य गौणीवृतित्वात् गौणार्थमिन्नगतस्य मुख्यार्थसम्बन्धस्यैन लक्षणात्वात् गैणीकक्षणयोंद्भो बोध्घ:। न्यायसुधायां तुअभिधेयाविनामूतपतीतिरिक्षणोच्यते।
ऊक्ष्यमाणगुणैयोंगाद्तेत्रेश्षा तु गौणता।
इति वार्तिकोक्तौ शक्यधटितरूपेण बोधे ऊक्षणा, शक्याझृितशक्यनिष्ठगुणवत्र्रूपेण बोषे गौणीति तयोर्मेद उक्तः । 'अंगिर्वै उत्वणः ' इत्यादावपि पूर्ववद्विधिल्वे प्राप्ते अमयादिशब्दस्य जननघटितोमिजननस्थानजातरूपो गीणोगर्थ; स्टहष्टिकाले ब्र्मणो मुख़ादमिंत्रास्षणयोर्जननस्य श्रुल्युक्तत्वात्। एवं 'आदिल्यो यूप:' इत्यादौ सारूप्यघटित अदित्यादिसहशो गौणोरर्धः । आदित्यादिपदन्य यदापि सारूव्यं साहद्यं ; तच्च तद्रततेजस्वित्वादिजातीयवत्त्तम् ${ }^{1}$ । तथाच जननादिघटित² गुणोपि सारूप्यामिति न विडोषोो भाति। तथापि सारूप्यस्य साहइयरूपत्वेन भेदघटितत्वं तस्सिद्धघादिन्तु तदघटितत्वम्। अथवा सारूप्यस्थले भेदांशस्य अधिकस्था ${ }^{3} भ ा न े प ि ~ ज न न ा ष घ ट ि त ग ु ण भ ा न-~$ मेब विशेषः। यतु चक्षुर्पाष्यारूप्यमत्र भाति अन्यत्र तदन्यदिकि, यद़वि अत्र प्रकारतया आदिल्येजस्वितासहइतेजस्विता भाति मुऊुणा-

[^63]र्थस्य।' 'अमिर्म्राझणः' इत्यादौ तु सादृर्यसम्बन्धेन अमिजननससम्बन्धिजननं भातीति भेद इति तयोः मतयोर्विनिगमकाभावः। यजमानकार्यकारित्वादेरपि चक्षुर्पाघ्यत्वसम्भवास्सम्बन्धविधया आदित्यतेजस्वितासादृइयं भाति । अमिजननादेसादृइयं तु प्रकारतयेत्यस्यापि सम्भवात् आमिजननसथानजातत्वेन आदित्यवृत्तितावच्छेदकवैलक्षण्यविशिष्टतेजस्वितात्वेन च भानादुभयत्रापि गुणघटकसादृइयभाने मानाभावाश । 'अपशावो वा अन्ये गोअश्वेम्यः पशवो गोअरवाः इत्यादावजादीनां तत्रतत्र विहितत्वात् पशुकार्ये प्रतिषेधस्य पर्युदासस्य वा न सम्भवः। नापि ‘अयज्ञिया वै माषाः' इल्यादाविव प्रतिनिधिनिषेधकत्वं, विध्येकवाक्यताभक्रपत्तेः। अतः 'पुरस्त|प्पतीचीनमश्वस्योपदधाति पश्सात्रारीनमृषभस्य' इति विध्यपेक्षितगवाश्वस्तुतिपरत्वं समासगतपगुपदस्य गवाश्वगतपाशस्त्यजातरियविशिष्टरूपः प्रशंसाघटितो गैणार्थः। 'सृष्टीरुपदधाति' इत्यत्र तु प्रत्यक्षविधिश्रवणाद्विधित्वम्। तत्र यद्यव्युपघानमिष्टकानां चयनाइत्तेनैव आक्षिप्येत, ${ }^{1}$ तथाप्यक्षेप्रवृत्तेः पूर्वमनेन प्रत्यक्षविषिना विषीयतें। तत्फलं प्रतीष्टकमुपषानस्य तत्र चयनसमानकर्दृकत्वस्य च सिद्धि:। अन्यथा समुदितेष्ट कोपषानं तस्य चयनभिन्नकर्तृकत्वं च स्यात्, आर्थिकखात्। सति त्वस्मिन् इष्टकासंसकारद्धारा उपघानस्य चयनाइताबोघकविधौ प्रतिपषानं गुणावृत्विन्यायादङ्रप्रधानयारेककर्तृकत्वाच्च उक्तफलयोस्सिद्धि:। सृष्टिपदस्य तु लिक्नप्रकरणप्राप्तसुष्टयसृष्टिमझ्रसमूहरूपो गौणसृ्टि्टिम््रबाहुल्यरूपभूमघटितोऽर्थ इति भाष्यम्। उपषानमात्रे विधेये एकेन विघिना निर्वाहे 'प्राणभृत उवदधाति' इत्याबनेकोपघानविषीनां वैयर्थ्यापतेः। उपषानानुवादेन मश्रो मझ्रविशिष्टेपधांं वा इष्टकासंस्कारार्थत्वेन विषीयते। तत्रोपधानविधिफलं पूर्वोक्तम्। मश्रविधिफलंतूपषाने मश्रनियमादि: । अन्यथा

तस्सिद्धिपेटिकायां 'यजमानः प्रस्तर:' इत्यादे: गौणार्थता च नोच्येत। त्वयापि प्रत्यक्षाविरोधाय तस्वंपद्योलक्षणा नोच्येत।

मझ्राणामिष्टकामात्रप्रकाराकत्वात्तुपुपान इव तन्रूहणादिष्वशि प्रापिस्स्यात् । अत उपधाने नियमो ग्रहणादिपरिसझ्ब्या वा फलम् । मध्यमचितिसम्बन्धोडपि तर्फलं 'यों वै काश्चन व्रास्मणवर्तमिष्टकामभिजानीयाच्तां मध्यमायां चितावुपद्यात्' इत्यनेन प्रत्यक्षत्रात्मणवतीनामिष्टकानां मध्यमचितिसम्बन्धविधानात्। अन्यथा तत्रचित्यवान्तरप्रकरणपठितानां मन्राणां चयनमहाप्रकरणेन सर्वस्यामन्त्यायां वा चितावेव निवेशः स्यात्। इष्टकानां प्रत्यक्षज्राछ्मणवत्त्वं च प्रत्यक्षत्रा््मणगतपदाविघेयमत्रकत्वम् । सृष्टिपदं हि सृष्टिप्रकाराकमत्रकरणकोपधानकर्माणि मुरूयमपि गौण्या चृत्त्या सृष्टिप्रकाशकप्रायसमूहान्तर्गतमझ्रकरण कोपघानकर्मेष्टकापरामिति करणविनियुक्तलोकंपृणामझ्रकेष्टकाया अपि मध्यमचितिमात्रसम्बन्धापत्तेरेष्टकावाचीति पदविशेषणं वाच्यम् । सृष्टिपकाराकपायमझ्राः सप्तदश, 'यत्सप्रदेशेष्टका उपदधाति' इत्यर्थवादानुसारात् । तत्र सृष्टिप्रकाइाकाः चतुर्दशा, तेषु ' श्रक्ासृज्यत' इत्यादिरुपेण सृजधातुप्रयोगात् । त्र्योऽन्येऽतो भूमघटितो गौणार्थ इति तु वार्तिकम् । 'प्राणभृत उपधाति' इत्यादौ तु प्राणभृत्पदाघटितमत्रापेक्षया स्वल्पेन प्राणभृत्पदघटितमत्रेण तत्पदाघटितमंत्रैश्य घटितो यस्समुदाय: तदन्तर्गतमन्रकरणकोपधानकर्मेष्टकारूपोऽए्पत्वरूपलिग्नघटितो गोणार्थः। ${ }^{1}$ सर्वमन्यत्पूर्ववदिति प्रथमचतुर्थे ‘तस्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिज्ञसमवाया इति गुणाश्रयाः' इत्यधिकरेंण स्थितम्। शब्दस्य प्रत्यक्षात्पाबल्ये तस्सिद्धघादिधटितगौणार्थकथनं तत्रत्यं विरुद्धघेतेर्ल्यः। तत्सिद्धिपटिकेति। तस्सिद्धिंशब्दयुक्तं सूत्रं पेटिका,
1.-अल्पत्वं च अनधिकत्वम्। तेन सम्संख्याकस्थलस्पापि लिज़समवायेन प्रहः । सर्वमन्यत्र. (इल्यधिकः कोशान्तरे पाठ:.)

श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यसम्भवात्। न च तात्पर्यलिक्भानां उपफमादी़नामत्र सत्वाब्मांद्वितभुतीनामपुख्यार्थत्वमिति गाच्यम्। 'यजमानः अस्तरः' इत्यादावपूर्बत्वाद्येकैकलिद्भस्य तात्पर्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात्। एकैकालिद्सस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वे लिज्भन्तरमनुवादकमेव।, त्वन्मते प्रत्यक्षासिद्दे भेदे श्रुतिरिव कि बाहुल्येनेति चेन्न ; वाक्यरोपप्रमाणान्तरसंवादार्थक्कियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन ठ्यवहारदशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिण: "धूम एवागेर्दिवा दद्धो, अदितितौंः, यजमानः प्रस्तःः" इत्यदेः तद्विरोधेनापुख्यार्थत्वेज्य्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षददेहिं परीक्षया ठ्यावहारिकग्रामाण्झमात्रं सिद्धम्। तच नाद्वैताग़मेन बाध्यते। बाध्यते तु ताच्चिकं ग्रामाण्यम्। ततु परीक्षया न सिद्धमेव। अतो न विरोधः। धूम एवाग्रेरित्यदेस्तु मुख्याथर्वे पत्यक्षादेर्ग्यावहारिकं प्रामाण्यं क्याहन्येत। अतो विरोधात्तत्रामुख्यार्थर्वमिति विवेकः। यत्तु प्रत्यक्षाविरोधाय तत्वंपदयोर्लेक्षणा नाश्रीयेतेति, तन्न ; षड्विधलिद्नैर्गतिसामान्येन च अख्वण्ड एव अवधार्यमाणस्य तत्प्पर्यानुपपत्ते:, जीवेशगत-
संक्षेपेण सर्वेषां गोणार्थानां निर्णायकत्वादिति मावः। अपूर्वत्वादीति। प्रत्क्षविरुद्धार्थस्य मानान्तराज्ञातकरुपमपूर्व्व्वमित्यर्थः। बाक्यरोषेति। विधिवाक्यरूपेण वाक्यरोपेण सह अर्थवादानकमेकवाक्यत्वानुरोषाप्त् Fतुतिपरस्वनिश्धयादन्यपरैः तैने प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थसिद्धीरिति प्रत्यक्षादिप्रवलमित्यर्थः। अथवा तस्माद्यूमेत्यादिवाक्यस्य रेषो मझ्रादिविषिः। तेन दिवादृष्टाम्ययिकरणकहोमे मघ्रविधानात् अमयर्चिरादीनां दिवादर्शनादिपम्यक्षं वाक्यशेषपरीक्षितमिति भावः। जीवेशगतेति । उक्षपदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट्स्याहपपदवाच्यस्य अहंकाराहुपहितचित्व

सर्वझत्वकिगिव्रिद्इत्वादीनामैक्यान्वयानुपपसेश्य। तात्पर्यविषयीभूताखण्डप्रतीतिनिर्वाहाय लक्षणाईीकरणस्यैव उचितत्वात्, तात्पर्यविषयीभूतान्वयानिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्। न चैवं सति अमुरुयार्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; तद्धि प्रतीय-
रूप ${ }^{1}$ किस्चिज्ज्त्त्वांवशिष्टस्य च ऐक्यबोधे उत्कविशोषणयोरपि ऐक्यमवइयं बोध्यमित्यन्वयानुपपत्त्या लक्षणया शुद्धयोरैक्यबोध इति भावः। न चोपहितयोरेव ऐक्यं घटो द्रव्यमित्यादाविव बुध्यतामिति वाच्यम्; विशिप्टान्वयधीत्वेन मुरूयवृत्तिज्ञानकार्यता, उपहिता ${ }^{2}$ द्वन्वघर्विनेन अमुरूयधृत्तिज्ञानकार्यता। अतएव 'लोहितोण्गीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्याद्दै सर्वत्र विशिष्टान्वय एवैत्सर्गिकः। अतएव च घटो द्वव्यमित्यादावमुस्यवृत्त्यैव उपाहितान्वयः। मुख्यवृत्तिश्र विशिष्टशक्तिः, निरुढक्षलणा च। यदिच लाघवादुपहित एव शक्किरिति नव्यमतमशश्रीयते, तदा उपहितशर्क्तिर्निरूूढलक्ष्पण च मुख्यवृत्तिः। एवंच विशिष्ट उपहिते वा शाक्तस्यापि त्रहादिपदस्य विशेष्यमात्रशक्तत्वन ज्ञानात् विशोष्यमात्रधी: वक्ष्यमाणा युज्यत एव ; विशेष्यमात्रयित्वेन ज्ञायमानशक्तेरमुस्यवृत्तित्वात्। न च विशिष्टे उपहिते वा शक्तस्य पदस्य विशेष्यमात्रे शक्किज्ञां तच्छाब्दबुद्धौ न कारणं, किन्तु तस्य तत्र אक्षणाज्ञानमेवेति वाच्यम् ; उपहितशाक्केर्विशेष्येऽपि सत्त्वात् लक्षणायाअन्याय्यत्वात् । अतएव बलवदनिष्टाजनकत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वशक्तस्यापि विधेः केवलेष्टसाधनत्वबोषकत्वम्। 'इयेनेनाभिचरन् यजेत' इत्यददौ शाक्तयैयेति तार्किकाः। मुरूप्यतृत्त्योपस्थितानामेकदेशान्वयबोषानुपघायकत्वादे वामुर्यवृत्तित्वमुक्तमुर्यवृत्वन्यवृत्तेरुपपद्यते। एवंच उपहितान्वयषी: लक्षणया । अथवा उपहितशक्किज्ञनस्यैव यदा विशोषणान्वये तात्पर्य्ञानादिसहकारिसमवहितत्वं, तदा मुरूय्यवृत्तित्वं;

$$
1 \text { द्युपलक्षितत्वस्प. } 2 \text { तडुपहिता. }
$$

मानार्थपरित्यागेन अर्थान्तरपरत्वं वा ? अशक्यार्थत्वं का ? नाद्यः सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानस्यैक्यस्यात्यागात् । नान्त्यः; जहदजहहल्रक्षणाश्रयणेन शक्यैकदे श्रापरित्यागे sपि ‘सोऽयं देबद्तः' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशास्यान्वयाम्युपगमात्। विशोषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्। तथाचोक्ष वाचस्पतिमिश्रःः-" प्तर्तरादिवाक्यमन्यऐोषत्वादमुख्यार्थम्। अद्दैतवाक्यं त्वनन्यरोषत्वान्मुख्यार्थमेव। उत्कं हि शाबरभाष्ये-‘न विधौ परइशब्दार्थः' इति"। यथाचापूर्वत्वाद्यैकैकतात्पर्यलिओे़ेन 'यजमानः पस्तरः' इत्याघर्थवादवाक्यानां न स्वार्थपरत्वं तथा वक्ष्यामः। नन्वन्यशेष-
यदा न त्रदा न तदिति सर्वमुपपयत इति ध्येयम्। प्रतीयमानस्येति। नन्वखण्डैैक्यं प्रतीयत एव; नेल्यत आह— सामानाधिकरण्येनेति। अकार्यकरणणद्रव्यबोधकसमानाधिकरणनामदूयत्वाबच्छेदेन अखण्डार्थल्वमानुभविकामीति विवरणाद्युक्तत्वात् अखण्डार्थता। अधिकं तु अप्रे वक्ष्यते। विशेष्यमात्रान्वयस्येति। विशेष्यमात्रान्वयबोधोपषायकर्धाविषयझझकेतिरित्यः । नन्वेवममुख्य ${ }^{1-}$ वृत्तिज्ञानार्पीनवाक्यार्थधीजनकत्वाद्वाक्यममुर्याह्थ ${ }^{2}$ स्यादित्याश क्रय वाक्यस्यागुखु्यार्थल्वं नोक्तरूपं, किन्तु वक्ष्यमाणमिल्याइयेयाह— तथाचोक्तमिति। वक्ष्याम इति । उपकमोपसंहारयोरेकार्थनिष्ठत् मभ्यासार्थवादौ चेति त्रयं शब्वगतम् । अज्ञातत्वरूपापूर्वृत्व फलं अबाषित्वरूपूपपपत्विश्षेति पद्सु लिखेषु अन्त्यत्रयमर्थनिष्ठम्। प्रामाणपघरीरनिर्वाइद्वारा तात्पर्यज्ञापकमवश्यमपेक्षणीयं; मानान्तरेण ज्ञाने ${ }^{8}$ निष्फले बाधिते बा पमात्वासम्भवेन तात्पर्यासम्भवात्, आघत्रयेप्पर्थवादस्याप्यावइ्यकत्वमन्यथा विषेयपाशस्त्यद्द्दचसम्भवेन विघिर्यव-

त्वानन्योपष्ते नापुख्वार्थव्वमुख्यार्थंत्वयोः प्रयोजके, किन्ब मानन्त्रविरोधाविरोधै।। अन्यदोपेगपि मानान्रराविरोधे सूमं गौः क्र्या बहुध्थीरा इत्यादौं च बेदे प्रस्तरादिवाक्यवदमुख्यवृत्तेरनाश्रयणात्। अनन्यरोषेडपष 'सोमेन यजेत' इत्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्वत्रिकद्बयापत्या सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय सोमवता यागेनेति मतवर्थलक्ष-
सानासम्भवात् । इतरयोस्तु तात्पर्यस्य सन्देहे तन्निर्णायकतया उपयोगः। एवंचापूर्वत्वव्येकैकमात्रेण न तात्पर्य ${ }^{1}$ सिद्धिरिति प्रथमपरिच्छेद एव विशोषतो मिथ्यात्वानुमाननिरूपणोत्तरमक्षरतात्पर्याम्यां वक्ष्यति। मन्यकrनन्न्वनिनुन: तत्वावेदकश्रुतिबाध्यत्वात् व्यावहारिकाः। यद्यि सा श्रुतिः शुद्धस्वरुपम।त्रपरा ; तथापि तहपरत्वस्य निर्गुणत्वर्धद्वारकत्वात् निर्गुणत्वेऽप्यवन्तरताइपर्यस्वीकाराद्धा सगुणत्वबाधिका। 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादौ तु स्तुतिधियो द्वारं यजमानकार्यकारी प्र्तर इति वाक्यार्थर्घीरपि सम्भवतीति न यजमानप्रस्तराभेदे तात्पर्य ; येन विना हि महातात्पर्य न पर्यवस्यति तत्रैवावान्तरतात्पर्यमिति द्वितीयपरिच्छेदे सत्त्वादिवाक्यानामखण्डार्थत्व्व्र्पकरणे वक्ष्यति। न चापूर्वत्वास्सत्यकामत्वादौ श्रुतेस्तात्रर्य, अारोपेणाव्युपास्यतासम्भवेन तात्पर्य विनाऽप्युपपाद्यमानेऽन्यशोषे वाक्यार्थे अपूर्वेऽपि ताहपर्यास्वीकारात्। अतएव 'अजक्षीरेण जुहोति' इति विधे: रोषमूते जर्तिलादिवाक्यार्थे तात्पर्य न च्वीकृतमिति द्वितीयपरिच्छेदे अाट्मनिर्गुणत्वप्रकरणेडन्यत्र च वक्ष्यति । वैयधिकरण्येनेति 1 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत, उद्दिदा यजेत पशुकामः' इत्यादौौ वाजपेयादिपदं गुणपरम् । यद्यपि यागे वानपेयदिवगुणस्य नान्वय:, कारकाणां क्रियां प्रति गुणत्वेन मिथोड्रनन्वयात् । आख्यातार्थक्रियां

[^64]प्रति हि धात्वर्थः कारकमेव। 'पचति, ओदनं पचति' छत्यादौ पाकं करोति पाकेनौदनं साधयतीत्यादितिचरणात् । नापि कियायामेव करणत्वेन तस्यान्वयः; समानपदेपपात्तत्वेन यागे करणत्वेन प्रथममन्विते अाकंक्षाविरहात् । नापि कारकतया क्रियान्वयनियमेप्यकारकतया यागे तस्यान्वयः; भेदान्वयस्य बाधितत्वात् । धात्वर्थनामार्थयो: भेदान्वयस्याठ्युत्पन्नत्वात्। नापि गुणपदғ्य वाजपेयादिसम्बन्धिलक्षणया तदुत्तरतृतीयार्थाभेदस्य ${ }^{1}$ यागेऽन्वयः, यागगतकरणत्वस्यैव वा तृतीयार्थस्य क्रियायामन्वयः, उक्षणाकल्पनापेक्षया गुणपद्स्य यौगिकत्वेन नामधेयत्वस्योचितत्वात्। नापि स्वाराज्यादिकर्मिकायां क्रियायां यागस्य करणत्वेऽपि यागकर्मिकायां गुणस्य करणत्वम् ; एकेनाख्यातेन क्रिययोः बोधने आवृत्त्यापातात् एकक्किंयायां कर्मद्वयस्यान्वयासम्भवात्। तथापि कियायां यागस्य न करणत्वेनान्वय:, किन्तु करणकर्मसाधारणसम्बन्धित्वमात्रेण। तथाच करणत्वरूपं सम्बन्धमादाय स्वाराज्यादिकर्मणः कर्मव्वरूपं तमादाय गुणरूपकरणस्यान्वयः यागेन स्वाराज्यं वाजपेयेन यागं कुर्यादिति ; इति प्राप्ते—क्रियया करणत्वादिरूपेणैव कारकस्य अकांक्षितत्वात्तद्वृपेैव तस्यामन्वयो न सम्बन्धित्वमात्रेण। अतःःप्रथमतः करणत्वेन यागे अन्विते अनाकांक्षत्वात् न गुणस्य करणत्वेनान्वय इति यागान्वयाय गुणपदस्य सम्बन्धिलक्षणादोषत् वाजमन्नं सुरारूपं यस्मिन्निति ठ्युत्पत्त्या नामत्वमेवोचितं, सुराम्रहविघानात्। न चैकक्रियायां य।गस्य करणत्वेन कर्मत्वेन चान्वय₹सग्भवतीव्युक्तम् ; यजेरावृत्तिपसकाच, विरुद्धयोस्रिकयोबोधकृतैैरूप्यापत्तेक्ष । विधेयत्वं गुणत्वमुपादेयत्त्वमित्येकम्, अनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमुद्छे्यत्व्वमित्यन्यदिति त्रिकद्वयम्। फलानुवादेन यागस्य, यागानुवादेन गुणस्य चोत्पचिविधौ यागस्याज्ञातज्ञाप्यत्वरूपे विधेयत्वानुवाद्यत्वे फलो-

[^65]
# णाया आश्रयणात्। एवं विचारविधायके ' अथातो ब्रह्सजिज्ञासा' 

 इति स्त्रे 'तद्विजिज्ञासस्व' इति श्रुतौं च मानान्तराविरोघेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणाया: 'सर्व सल्किदंदंदेशेन यागस्य तदुद्देशेन गुणस्य च विनियोगविधौ यागस्य शेष्षशेषित्वरूपे गुणत्वप्रधानत्वे तादृइप्रयोगविधौ प्रकृतविधिप्रयुक्तकृतिसाध्यताधीविशोष्यत्वतदभावरूपे उपादेयत्वोद्देइयत्वे। न च स्वाराज्यादिफलनिरूपितकरणत्वेन यागे प्रथममन्वितेऽपि यागनिरूपितकरणत्वेन गुणस्यान्वयोस्तिति वाच्यम् ; निरूपकविशेषस्य पश्रादेव क्षेयत्वेन करणत्वसामान्याकांक्षाविरहात्, तावतापि विशिष्टविघिगौरवरूपदोषानुद्धाराच । किंच भावनायां प्रथमतः फलान्वये बुद्दे फलविशिष्टभावनानिरूपितत्वेन फलनिरूपितत्वपर्यवसितेन करणत्वस्यादावाकांक्षितत्वेन बोषे च सति पश्शादेव तदाश्रययागनिरूपितकरणत्वस्य आकांक्षितत्वं वाच्यम्। उक्तबोछे च सेमादिभानाभावे सहोचरितानामेकधीजनकत्वनियमस्य ${ }^{1}$ भर्रापत्तेः। तद्ञाने च सोमेन यजेतेत्यादावगत्या सोमादिपदेष्बपि मत्वर्थलक्षणाश्रयणं, तेषां कर्मणि योगाभावात् अप्रसिद्धार्थकरूढिकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति प्रथमचतुंक्ष 'नामघेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमितिचेत्' इत्यधिकरणे स्थितम् । तथाच फलकर्मिकायां भावनायां यागस्य तत्कर्मिकायां गुणस्यान्वयो ${ }^{2}$ वैयधिकरण्येनान्वयः। सामानाधिकरण्येनान्वयनतु तृतीयार्थाभेदन्य यागेऽन्वय:, अभेदसम्बन्छेन तन्रान्वयो वा, मीमांसकमते धात्वर्थक्कियायां कर्मत्वेनैव करणत्वेनाप्यन्वयात्, घात्वर्थ द्विउ यान्तेनेव तृतयियन्तेनापि नाद्नोपस्थितार्थस्यान्वयसम्भवात्। यागगतस्य यजिबोधितस्य करणत्वस्य तृतीयान्तनाम्नापि क्रियायामन्वयबोधो वेति भावः। मानान्तरेति। जिज्ञासायाः कृतसाध्यत्व्वाहकमानेत्यर्थः, विध्यन्वयाय विघ्याक्षित्र-

घ्र्न' इत्यदौ चामुख्यार्थतायाः स्वीकतत्वात् सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये श्रकण लक्षणाया एवेष्ट्वेन अमुख्यार्थत्वनिपेघायोगाष्च अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यनुपपत्तेर्वा रक्षणाबीजस्य विष्यविधिसाधारणत्वाए्ध । शाबरं तु वचनमर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरम् । तस्मान्म प्रत्यक्षं शब्दवाध्यमिति चेक ; भावानवबोधात् । तात्र्पर्यविषयीभूतार्थवोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम् ; न शक्यार्थमात्रबोधकत्वम्। अन्यार्थतात्पर्यकत्वान्ध अमुख्यार्थत्वम् । न लाक्षणिकत्वमात्रम्। तथाचाद्दितागमस खतात्पर्यविषयीभूतार्थनोधकत्वनिर्वाहाय लक्षणाभ्रयोगडपी प्रुख्यार्थत्वमुपपन्नमित्यवोचाम। एवं च 'सोमेन यजेत' इत्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्याभावात् कृतिसाघ्यल्वान्वयाय । वाक्यस अद्वैतवाक्यम्य । इट्तेवेनेति। ' अद्दैतवाक्यं तु अनन्येषषत्वान्मुरुवार्थमेव' इयुक्तशाचस्पतिवाक्येनेति श्रोषः। तात्पर्यविषयीभूत्तेत्यादि। चवकीयमुख्वतात्र्यविष्यबाक्यार्थपतिपादकत्वमिल्यर्थः। अर्थवादानां प्रतिपाहः प्राशस्य्यषीद्वारीभूतो वाक्यार्थोडवान्तरतात्पर्यस्य विषयो न मुरु्यतान्पर्यस्य प्राशस्लं मुरुपतात्पर्यविषयोडपि न वाक्यार्थः । वाचस्पतिमते तु मुख्युपदं न देयं, प्राशस्स्यधीद्वारा वाक्यार्थे तात्पर्यानकीकाकात्। विशेषणे तात्पर्याभावादिति। विशेष्यबिछोषणयोः तात्पर्यभेदे वाक्यमेदापत्विः। विशिष्टविष्यन्यथनुपपत्त्या विशेषणविधिकल्पनाद्धारा विशेषणे सात्पर्यमिति न सम्भवति विछोषणविषिना विछोषणे पमिते विशिष्टविषि:, विबिष्टविषै च सति तबन्यथानुपपत्त्या विऐोषणविषेः कस्पनमिल्यन्बोन्म़ाश्रयात् । अतो रेवत्यधिकरणकवारखन्तीयरूपविशेषण इव तान्मर्य 'विबयेडपि सोमाबौ विशिष्वविषेः प्रामाण्यमिति भाव: ${ }^{2}$ ।

मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच नामुख्यार्थत्वम्| जिज्ञासापदे तु ज्ञाधातुना इण्यमाणज्ञानलक्षणाउ़क्रीरानॠ्भीकारमतभेदे डपि सन्पदस्य विचारे जहह्डक्षणाभ्युपगमसोभयत्र तुल्यत्वाव्।
एतस्यैव 'रेवत्तांषु वारवन्तीयममिष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो छोतेन यजेत' इत्यादावुक्तविशेषणस्य लौकिकभमाणाज्ञातत्वेन विशिष्टविछ: तद्धी 'सापेक्षत्वादुक्तन्योन्याश्रयः 1 सोमेनेत्यादौ तु सोमादे: लौकिकमानज़ातत्वान्न स इत्यत आह—मत्वर्थलक्षणायामपीति। सोमादिपदे सोमादिरुपस्वार्थसम्बन्धलक्षणायामपीत्यर्थः । यद्यपि पद्वात्रन्य स्वार्थपरित्यागेऽापि तात्पर्यविषयवाक्यार्थबोधकत्वान्मुरुयार्थत्वमव्याहतमिति बक्ष्यते ; तथापि पदस्य मुरुग्रार्थव्वात् वाक्यस्याप़ि तदिति कुचोघं परस्यानवकाशामित्याइायेनेदमुक्तम् । अमुख्यार्थपदघटितत्वेन वाक्यस्यामुखग्रार्थत्वे पदमात्रस्य संसर्गलाक्षणिकत्वमते वाक्यमात्रम्। मतान्तरेऽपि सोऽयमित्याद्यख्वण्ड।र्थवाक्यं तथा स्यात् । अतः शक्याघटितार्थकपदघटितंत्वमेवामुल्यार्थत्वंः वाक्यस्य परेणापि वाच्यमिति तद्रीत्यापि क्रकृते न दोष इति भावः । इष्यमाणजानेत्यादि । इष्यमाणत्वेन पदादनुपस्थितस्य साधनाकांक्षाविरहेण साधनत्वेन सम्बन्धेन विचारे तदन्वयासम्भवात्तेन रूपेण धातौ लक्षणेति श्रीमदाश्रमप्रभृतयः केचित्। तथा सति विचारस्यापि साघनत्वेन अनुपस्थितस्य साध्याकांक्षाविरहेण तेन रूपेण लक्ष्यत्वापतिः। अथ तथाडनुपस्थितस्यंापि विचारस्यान्वयाईत्वे बाधकाभाव:, अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वस्य येग्यतात्वानभ्युपगमात्, तर्हि घातौ ल्कक्षणा वयर्येत्यपरे। सन्पदस्येति । यद्यपि प्रत्ययार्थस्य विचारस्य प्रकृत्यर्थज्ञानोंद्दोनेन विधानं न सम्भवति, एकपदोपस्थाव्ययोः » ‘वषट्कर्तु: प्रथमभक्ष:’ इत्यत्र अक्षप्राथम्ययोरिंव उद्दे्रयविषेयभावासम्भवात् ; तथापि, कर्तब्येत्यध्या ${ }^{2}$ हृतपदार्थभावनांयां

[^66]शाक्यार्थपरित्यागेऽपि विधितात्पर्यानिवाहात् नामुखुयार्थत्वम्। न हि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपन्या पदमात्रे लक्षणायामापि वाक्यस्यामुखुयार्थव्वम्। प्रतीतस्यार्थस्यानन्यझोषत्वेन मुखुयत्वात् । यत्र पुनः प्रतीत एवर्थर्थंडन्यशोषत्वेन कलप्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव। अन्यद्धि पदतात्पर्य, अन्यच्च वाक्यतात्पर्यम्। 'सैन्धवमानय, गङ्भायां वसन्ति' इत्यादौं वाक्यतात्पर्यैक्येऽपि पदतात्पर्यभेदात् ज्ञानसाधनविचारस्य करणत्वेनाथराबदोपस्थितेष्यमाणमोक्षस्य कर्मत्वेना ${ }^{1}-$ न्वय इति भाट्टमतरीत्या न दोषः । अस्मन्मते तु कर्तब्येत्यपि नाध्याहार्य, ज्ञानरूपषष्टसाधनत्वस्य विचारे जिज्ञासापदेनैनैव लाभाद्विचारान्वितमुमुक्षानन्तर्यार्थका ${ }^{2} थ$ बब्दोपाप्तमोक्षसाधनत्वस्य ज्ञाने पश्षाल्ल्यमसम्भवादिति । अर्थस्य वाक्यार्थस्य । अनन्यशेषत्वेन स्वप्रतिपादकवाक्यतात्पर्यविषयत्वेन। अन्यरोषत्वेन सवप्रतिपादकवाक्यतात्पर्यविषयप्राशम्त्यायुपपादकवेन । द्वारभूते वाक्यार्थ तात्पर्य ${ }^{3}$ स्वीकारात् विवरणकारादिमतेऽपि मुखुयतात्पर्यास्वीकारात् उक्तमुख्यार्थलक्षणं नास्तीत्यर्थः। ननु स्वप्रतिपाद्यवाक्यार्थभिन्नतात्पर्यकत्वरूपमुखयार्थकत्वं नार्थवादेषु सम्भवति, पद्विधया नेषां प्राशस्त्याप्राशस्त्योोधकत्वेन तत्तात्पर्याभावात्। प्राशस्त्यादिघटितविधघवर्थ तु सार्थवादविधिस्तात्पर्य, न तु केवलार्थवादस्य। यदि प्राशास्त्यादावप्यर्थवादस्य तात्पर्यमुच्यते ; तथापि तात्पर्यविषयार्थप्रतिपादकत्वरूपं मुख्यार्थंत्वं स्यात्। न चार्थपदेन ${ }^{4}$ वाक्य्योर्थनिवेशेात् तद्दोष इति वाच्यम् ; प्राशास्याद्रवप्यर्थवादात्मकवाक्ययर्थत्वात्, अत अह—अन्यद्धीति। वाक्यतात्पयैंक्य इति। लवणतुरंगयोः सैन्धवपदतात्पर्यभेदेडपि 'सैन्धवमानय' इति वाक्यस्यस्वघटकपदार्थयोः संसर्गे तात्पर्यैक्यमित्यर्थः । यद्यपि पदतात्पर्य इव वाक्यतात्पर्येऽपि लवणाद्विपदार्थभेदनिवेशः, तथापि वाक्यार्थस्यापूर्वत्वा-

[^67]' विषं भुछ्क्ष्व' इत्यादौ पदतात्पर्यमेदे उपि वाक्यतात्पर्यमेदाव्। अतएव ' इयं गौः क्रट्या बहुक्षीरा' इत्यादिवाक्यार्थस्यावशयं फ्रेतव्येति विधिरोषत्वेन तत्रारास्त्यलक्षणकत्वात् 'सोऽरोदीव्' इत्यादिवाक्यार्थस्य च 'बर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणा' इति विधिरोषत्वेन रजतनिन्दद्वारा तत्राशस्त्यलक्षकत्वात् 'सर्व खल्विदं बद्म तझलान्' इति वाक्यार्थस्य 'शान्त उपासीत'
ह्लवणकर्मतत्वेन ${ }^{1}$ निवेशासम्भवात् सैन्धवपदार्थकर्मतत्वेन निवेशात् वाक्यतात्पर्यैक्यम्। अथवा ऐक्येपीत्यादे: पदार्थविषयकत्वेन ऐेक्येऽपि पदतात्पर्यभेदात् संसर्गविषयकान्यत्वादित्यर्थः। विषमित्यादि। विषभोजनेष्टसाधनत्वे तद्धीद्वारा द्विषदन्नभोजनानिष्ट्ट साघनत्वे च तात्पर्ययोर्मेदे डपि विषादिपदानां विषादावेव तात्पर्यमित्यर्थ: 1 तथाच स्वतात्पर्यविषयो यः स्वघटकपदार्थसंसर्गः तत्मतिपादकत्वं मुस्यूर्थत्वं नार्थवादेषु, स्वघटकपदार्थसंसर्गमिन्नतात्पर्यकत्वममुर्यार्थत्वम् ${ }^{3}$ तेषु प्राशस्त्यादितात्पर्यकत्वाद्त्येयेति भावेनाह-अत एवेत्यादि। लक्षणकत्वादिति । तथाच पुरुषेच्छाघटिततात्पर्यस्य वेढ़े अभावेऽपि तत्पतीतिशक्तत्वरूपं पद्तात्पर्य अर्थवादेष्वठ्याहतामिति भावः। सोरोदी़ित्यादीति। "सोऽरोदीधदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रूशार्यत
 ददाति पुराडस्य संवत्सराद्गृहे रुदन्ति तस्माद्बर्हिषि रजतः न देयम् " इत्यत्र बर्हिरशब्दितयके रजतदानं निषिध्यते।' 'यथाश्रद्धं दक्षिणां ददाति ' इत्याद्दिना सामान्यविहितदक्ष्णिणादाने रजतस्य स्वेच्छाप्रापत्तेन शास्रापापत्तव्वाब्न विकल्प:। 'हिरण्यं दक्षिणा' इति विधिरोषोप्यभवदित्यन्तपूर्वोक्तस्य पश्षात् ' तस्माद्रजतमदक्किण्यमश्रुजम् ' इस्यादिवाक्य नहिनिन्दान्यायेन हिरण्यस्तुतिपरत्वाचद्धुरा तत्राशस्त्यलक्षकामिति

[^68]इति शामविधिशेषत्वेन अत्यनायाससिद्धत्वरूपतत्र्राशास्त्यलक्षकत्वादमुख्यत्त्रमेव। अतएव मानान्तरविरोध एव लक्षणेत्यपास्तम्। 'इयं गौ: कग्या बह्हुक्ष्रारा' इत्यादिना प्राशास्त्यलक्षणायां ठ्याभिचारात्। परमतात्पर्यविषयीभूतार्थप्रतीतिनिवर्वाहायैव सर्वाथ्थवादेषु लक्षणा। एतावांस्तु विरोषः—विधिप्राशास्त्ये लक्षणातः प्रागर्थवाद्वाक्यार्थज्ञानम् । तस्य प्रमाणान्तरविरोधे बाध एव । यथा ' प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' इत्यादौ। अतएव तत्र गुणवादमात्रम् । प्रमाणान्तराश्रासैत तु अनुतादमात्रं " अय्रिर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादौ। अतएव तदुभयत्राबाधिताज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यानिर्वाहादग्रामГण्यम्। यत्र पुनः प्रमाणन्तरप्राप्पिविरोधौ न स्तः तत्र प्रामाण्यशरीरानिर्वाहात् भूतार्थनादत्वम् ।
हिरण्यद्वानविर्घिशेष: प्राशस्त्यलक्षकः । रजतदाननिषेधझोषवाक्यं तु अप्र|इसस्त्यकक्षकं बोध्यम्। रामतिधीति। 'स कतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरारः' इति विहितकतुशब्द्यितधगानाज़्रामाविघति्यर्थः। आनायाससिद्धत्वेति । बलवदनिष्टाजनकत्वेत्यर्थः । गुणवादमत्र्रमिति । गौणार्थघटितमेव वाक्यार्थ द्वारीकृत्य प्राशस्त्यादिबोधकत्वम्, न तु बघितं वाक्यार्थ द्वारीकृत्येत्यर्थः। तदुभयत्रेति । बाधितप्रासयेर्वाक्यार्थयोरित्यर्थः । भूतार्थवादत्वमिति । प्राशस्त्यादिधीद्वारा वाक्यार्थप्रमापकत्वमित्यर्थः। तात्पर्यविषय एव श्रुतेः प्राबल्यात् बाधिते च वाक्यार्थे द्वारमूते वाक्यस्य तात्पर्यस्व्वीकारात् वाचस्पतिमते तस्य न सिद्धि:। मतान्तरे द्वारीमूतवाक्यार्थ अवान्तरतात्पर्यस्वीकारेऽपि प्राप्त इव बाधिते तत्र न तस्त्वीकारः बाधक्रमंणस्य ठ्यावहारिकप्रामाण्यावइयकतया तद्विरोधेन 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादे: ताहृदाप्रामाण्यासंभवात् अनन्ताद्दैतश्रुतानां परमतात्पर्यवतीनां तात्त्विकम्रामाण्यविरोधेन तादृशप्रामाण्यस्याप्यसम्भवात् मुरुयतात्पर्यविषयवाक्यार्थान्विते

> A.S.v.

यथा 'इन्द्रो षृत्राय वच्चमुद्यच्छत्' इत्याद़ौ। अयमेव देवताधिकरणन्यायः। ननु तर्हि 'आदित्यो गूप:' इत्यद्दौ वाक्या-
बाक्यार्थ ${ }^{1}$ एव श्रुतेः मानान्तरापेक्षया प्राबल्याअक्नकारात् प्रस्तरादिवक्ये तदसम्भवात् गौणार्थघटितवाक्यार्थेनैव प्रारास्त्याद्युपादादनसम्भवात् बाधितार्थम्यानन्यथासिद्धपयोजनवत्व्वाभावात् ताद्राप्रयोजनवत्येव ${ }^{2}$ श्रुतेस्तात्पर्यात् । अतएव तस्सद्धघधिकरणे बािितार्थकस्थले गौणार्थव्यवस्थापनाप् न श्रुत्या ${ }^{3}$ बाधितार्थसिद्ध्रि:। यद्याि मतान्तरे संसर्गप्रमितिशक्तत्वं वाक्यतात्पय्य, तथापि वाचस्पतिमते निराकांक्षप्रमितिशक्कत्वस्यैव तत्त्वान्न मूतार्थवादानां वाक्यार्थीभूत ${ }^{4}$ संसर्गतातपर्यम्। यदि च समिदाद्यन्नाक्यानां सवार्थ तात्पर्यमावइयकी च मुख्यार्थता, तदा प्रयोजनवद्वाक्यार्थान्बयिसंसर्गो निवेइयः। प्रयोजनं च इप्टत्वेन प्रतीयमानं स्वर्गादि। अस्ति च ताट्टशसंसर्गप्रमितिशक्तत्वं सामिदादिबाक्ये ; स्वर्गाद्यन्वितप्रधानकरणकभावनारूपवाक्यार्थे समिदादिवाक्यप्रमितसमिदाद्युपकारसंसर्गान्वयात् । नास्ति च भूतार्थवादे ; 'इन्द्रो चृत्राय बज्रमुदयच्छत्' इत्यादिवाक्यार्थस्य अन्यत्रानन्वयात्। निराकांक्षत्वं वा प्रयोजनवत्त्वं प्रकृते वाक्यार्थस्य बोध्यम्। संसर्गश्र सर्वमेतेषु स्वघटकपदार्थप्रतियोगिको वाक्यतात्पर्यलक्षण्षणे निवेइयः। अन्यथा पदे अतिक्याप्तेः। वस्तुतस्तु संसर्गस्य तादृशास्य निवेशे अखण्डार्थके सोऽयमित्यादिवाक्ये अव्याप्तयापत्तेः प्ययोजनवद्वाक्यार्थघटको यः पदवृत्तिद्वयपतिपाद्योऽर्थस्तत्रमाशक्तत्नं वाक्यततत्पर्य वाच्यम्। अखण्डार्थवाक्ये अखण्डस्यैवार्थम्य प्रयोजनवतो वाक्यार्थस्य घटकः। स एव प्राशास्त्यान्वितवाक्यार्थस्य घटकः 1 पाशास्त्य ${ }^{5}$ मेकयैवार्थवादवाक्यलक्षणया ${ }^{6}$ प्रतिपाद्यते, न तु पदव्टात्विद्येनेति न भूतार्थवादे मुरूयत्वापातिरिति ध्येयम्। देवताधिकरणेति। चतुर्लक्षणास्थेल्यादिः। तेन द्वादशालक्षण्या-
${ }^{1}$ ताप्रर्यविषयवाक्यार्थ. ${ }^{2} 2$ प्रयोजनवत्त्व च (वा). ${ }^{3}$ स्थापनात् श्रुल्या. ${ }^{4}$ वाक्यार्थ भूत. ${ }^{5}$ प्रारास्यान्वित. ${ }^{6}$ वादलक्षणया.

र्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाइक्रीरादमुख्यार्थत्वं न स्यात् । न स्याद्यद्यादित्यसदझो यूप इति वाक्यार्थपर्यवसानं स्यात्। किन्त्रु गुणषृन्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य 'यूपे पर्खुं बधाति' इति विधिशोषत्वेन तत्राशास्त्यलक्षकत्वमस्त्येव । तेनैव नामुख्यत्वमन्रैवादित्यपदगौणतयेति तत्सिद्धिपेटिकायां सर्वोदाहरणेष्ववान्तरवाक्यार्थप्रतीतये गुणवृत्तिप्रकाराः प्रदर्शिता इति द्रष्टक्यम् । कर्मप्रारासत्यलक्षणा च सर्वार्थवादसाधारणी तत्रास्तेवेति नामुरुयार्थत्वानुपपत्तिः। अत उपपष्ं प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यमद्वैतमुक्तन्यायाभावेऽपि न क्षतिः। अध्चरमीमांसकैः भूतार्थवादानार्मपि स्वार्थ प्रामाण्यं न स्वीक्रियते। तन्मते 'यन्न दु:खेन' इत्यादिस्वर्गादिफलुप्रतिपादकवाक्यानामपि प्रामाण्यं न स्यात्, अर्थाधियः प्रमात्वं बिनापि स्वर्गस्तुतिधीद्वारा महावाक्यार्थोपकारकत्वसम्भवात्। अथ मानान्तरप्राप्तिविरोघहीनार्थविषय कत्वेन यन्न दु:खेनत्यद्यौ प्रमात्वं बलादायातिति वाच्यम् ; तत् 'इन्द्रो वृत्राय' इल्यादावपि समानमित्याशायेनाहअयमेवेति। पर्यवसानं तात्पर्यम् । वाचस्पत्यन्यमते ऽपि मुख्यार्थत्वं निर-स्यति-किन्तिवत्यादि । तेनैवेति। तथाच स्वार्थ मुस्यतात्पर्याभावात् मतान्तरेऽपि न मुख्यार्थतेति भावः। कर्मप्राशास्त्येति। इष्टसाधनत्वविध्यथरमते बलुवदनिस्टाजनकत्वरूपपाशास्यं धात्वर्थे कर्मण्यवन्वितम् ; तस्यैब प्रवृत्तिविषयत्वात्, शबदभावनाया विध्यर्थत्वेऽपि ${ }^{1}$ करणेतिकर्तब्यताविशिष्टार्थभावनायां प्राशस्त्यस्यान्वयात् । उक्तभावनाकरणे घात्वर्येपि तदन्वयोऽस्तेवे। उक्कार्थभावनायां प्राशस्त्यप्रकारशाब्दबोधस्य परं इतिकर्तव्यतात्वेन शाब्दभावनायामन्वयः । विवेचितं चेद्दमस्माभि: सिद्धान्तबिन्दुटीकायाम्। अस्येवेति। अन्यथा 'विधिना त्वेकवाक्यत्वाप् स्तुत्यर्येन विधीनां स्यु:' इत्यर्थवादाधिकरणोकं विध्याकांक्षिता-

वाक्यस्य। यक्षोक्तमर्थवादमुखुयार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येंपरं शबरस्वामिवचनमिति, तन्न; अश्वप्रतिग्रहेष्टौं 'प्रतिगृड्डीयात्'

थरोघकत्वं न स्यात्। न वा अध्ययनविधिविषयत्वं स्यात्, प्रयोजनचदर्थापर्यवसानात्। न हि द्वारमूतो वाक्यार्थो विध्याकांक्षितोडनाकांक्षितो वा प्रयोजनवान् । न च निष्पयोजने साकांक्षे श्रुतेर्मुख्यतात्पर्यम्। अतएव 'अर्ये $न$ नुपलबधे तत्र्रमाणम्' इत्यनेन अर्थशब्दितसत्प्रयोजनेडनघिगत एव तत्तात्पर्यमुक्तमिति भावः । अश्वप्रतिग्रहेत्यादि। " प्रजापतिर्वरुणायाश्धमनयत् स ख्वां देवतामाछईत् सपर्यद्दीर्यत स एतं वारुणं चतुष्कपालूमपरयत् तन्निरवपत् ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत वरुणो वा एतं गृद्धाति योडश्षंप्रतिगृद्नाति यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्डीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत् " इत्यनारम्यश्रुतेष्टिरमिमत्कर्मसम्बन्ध्यभ्वदाननिमित्तिका ताद्टशाभ्वदानान्ं वेति पूर्वाधिकरणेन निर्णीतापि दातु: प्रतिय्रहितुर्वेति संशये, यद्यप्युपक्रमाधिकरणन्यायेन दातुरेव सम्भवति, "अनयत् प्रापयत्, देवतां दानसंप्रदानवरुणरूपां जलोदररूपेण परिणतां, अर्छत् प्राप्तवान्, वरुणपाशात् जलोदरात्, गृह्राति जलोदररूपेण प्रामोति " इत्यर्थात्; तथापि मैत्रायणीयशाखायां"अथैषोsश्वः प्रतिगृबते स वा उभयतोदन्प्रतिगृछते निर्बभस्त्यस्येन्द्रियं च परूंश्र वरुणो वा अश्वो वरुणैदैउत्यो यो वा अश्वं प्रतिगृह्नाति वरुणं स पदीति तदश्वहविषा यष्टव्यं निर्वरुणत्वाय चतुष्कपाला भवन्ति चतुष्पाद्वयश्वः कवौैैरैवैनमामोति यावन्तोडश्वास्तावन्तः पुरोडशा भवन्ति सर्वत पवैनं मुश्चति " इति वाक्ये प्रतिप्रहोपकमाय़ा एवैतदिप्टेराम्नानात् तदन्रोोधेन शाखान्तरायोक्कवाक्यीयोपकमस्थेडनयदित्यादिपदे प्रनिम्रहलक्षणेति प्रतिप्रहीतुरेवेयमिति प्रापे, दातुरेवेयम्, मैन्रायणायवाक्ये तथावंगमेऽपि उक्तवाक्ये प्रबलोपक्रमे लक्षणायां मानाभावात् तद्बलेन

इति विधौ प्रतित्राहयेदिति क्यवधारणकल्पनया अर्थवादातुसारेण प्रयोजकन्यापारलक्षणाया अमीकरणात् । तस्माद्विधौ दातुरिष्टिरित्यत्र बाधकाभावात् मैन्रायणीयवाक्योक्तदूसस्थ ${ }^{1}$ कर्मानुवादेन अश्थदानरूपोद्देशयसम्बन्धनोधनानुपपत्तेः अस्य वाक्यस्य कर्मान्तरविधायकत्वसम्भवात् नामादीनामुपस्थापकानामभावेन शारान्तराधिकरणन्यायासम्भवात् पतद्वाक्यीयदातुरुपकमानुरोधेन ${ }^{2}$ मैत्रायणायवाक्यीयोपकमस्यापि प्रयोजककर्तृत्वपरं्वव्याए्य्यानेन मैत्रायणीयवाक्योक्तकर्मण एव उक्कान्ये विषानसम्मवात् मैच्रायणीयवाक्योपकमस्यापि दातुरिश्टिपर्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । तस्मादुपक्मानुरोषेन विघिस्थे प्रतिगुबातौ प्रतिमघपयोजकण्यापारे दाने रक्षणा । अथवा आर्यातेन साक्षात् परस्परससाषारणकर्तृसामान्यमाक्षिप्यते। अन्यत्र साक्षात् तदाक्षेपेऽवि पक्रते उपकमानुोधेन तदसम्भवात् परम्परया तदाक्षेप:। अथापि साक्षार्कहुरौस्सर्गिकावेक्षस्य ल्यागेन परम्पराकर्डुराक्षेपो न मुरुय इति रक्षणेति ठ्यवड्डियते इति तृतीयचतुर्थ चिन्तितम्। व्यवधारणेति। पयोजकीभूतदातृपरव्वेल्यर्थः। प्योजकठ्यापारो दानं लक्षणाशब्दस्याक्षेपार्थ ${ }^{3}$ कत्वपक्षे बहुवीहिणा आदातेति * तदर्थः। विधावित्यादि। मुख्यतात्पर्यविषयो वाक्यार्थो नान्यहोष इत्यर्थः। नन्वेवे-न चानन्यपरं वाक्यमुपचरितार्थ युक्तम्; उक्तं हि -'न विषौ पररशब्दार्थः’ इतीति भामस्यां ‘विछौ विषायकराब्दे परो लक्ष्श्रश्राब्दार्थो न भवति' इति कल्पतरुव्याए्यानं न युज्यत इति चेन्न; भावानबवोधात्, उपचरितार्थल्वं हि तात्पर्यविषयीभूतत्रधात्मामेदान्यार्थबोधकत्वम् । तच्र कर्मविध्येकेक्षतकर्वृस्तुतिबोघकतया उपासनाबोधकतया वा तत्रोक्काभेदसिद्धचननुक्लो रक्ष्योडर्थो महावाब्ये न सम्भवति; तस्योक्तामेदपरत्वादित्याशयेन उक्ष्यो नार्थ इल्यनेन


तात्पर्यदृत्तिवाक्ये प्रतीयमानवाक्यातिरिक्तोडन्यः रोषी नास्तीत्येवंपरमेव तद्वचनम् । अतस्सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि स्रुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वमिति शिवम् ।।

हति प्रत्याक्षस्यागमबाध्यत्वम्.

तात्पर्यविषयसिद्धघननुकूलूक्ष्ष्यो नार्थ इत्युक्तम्। विधायकवाक्ये अन्यशोषो नार्थ इत्युक्ते तु उपासनापरत्वखण्डनं न स्यात्। अतस्तथा नोक्तम् 1 लक्ष्यमान्रनिषेधे तु स्वसिद्धान्तविरोध एव; महावाक्ये भागल्यागलक्षणास्वीकारात्, प्रतिगृ्डीयादित्यादौ दाने, 'उच्चै ऋचा क्रियते' इत्यादौ ऋगादिपदे ऋग्वेदादौ लक्षणाया: सर्वसम्मतत्वाच्च । स्रुख्यार्थत्वात्। मुख्यतात्पर्यविषयबोधकत्वात्। बाधकत्वमिति। मुरुयतात्पर्यविषये श्रुतेः प्राबल्यस्य सर्वसम्मतत्वात् वाचस्पतिमत इव मतान्तरेऽपि बाधकत्वमित्यर्थः। यत्तु—" वाक्यशोषपमाणन्तरसंवादेत्याघयुक्तम् ; परीक्ष(क्षा)या ${ }^{1}$ अंद्वैतश्रुतिसमानपामाण्यस्य प्रत्यक्षादिषु सिद्धत्वेन विरोषात् 1 घड्विषलिजै: गतिसामन्येन चेत्याब्ययुक्तं; अन्योन्याश्रयात् 1 सिद्धेऽखण्डतात्पर्ये तन्निर्वाहाय अखण्डरुक्षणया मानन्तरा ${ }^{2}$ विरोघः 1 मानान्तरविरोधे च सति अखण्डतात्पर्य ${ }^{8}$ सिद्यि: । हौकिकवाक्यस्य मानान्तरविरुद्धतात्पर्यकत्वेऽपि वेदवाक्यस्य न्यायगम्यतात्पर्यस्य मानन्तराविरुद्ध एव कल्पनात्तात्पर्यविषयार्थबोषकत्वं मुरूयार्थत्वमित्याद्ययुक्तम, प्रत्यक्षस्यागमवाक्यबाधकत्वाभावे तत्व्वमस्यादौ भागत्यागलक्षणा, सोमेनेत्यादौ मत्वर्थलक्षणा च न स्यात् । न हि तत्त्वंपद्वाच्ययोः सोमयागाधोश्षाभेदबोषने प्रत्यक्षविरोधात् अन्यदोष: ${ }^{4}$ । एवं सन्पदे ${ }^{5}$

[^69]विचारलक्षणापि न स्यात् । न च तात्पर्यानुरोधात् तच्वमादिपदेक्रु रक्षणा, मानान्तररविरुद्धे तापर्यस्पैवाभावात् । किस्र अन्यद्येषत्वस्य अमुख्यत्वरूपप्वे प्रस्तरादिवाक्यमन्यरोष्व्वात् अमुरु्यमिति हेतुहेतुमत्त्वयोरसक्ञतिः ; अन्योेषषाक्यार्थवोषके समिषो यजतीत्यादिवेदे तण्डुलान् पचतीत्यादिलैकिकषाक्ये च भुखुार्थत्वव्यवहारो न स्यात्। अभ्षप्रतियहेल्यादयुक्तम् ; न हि तन्रार्थवादानुसरेण विषौ उक्षणा, किन्तु उपकमपाबल्यात् । किश्च तन्त्रसारे मैन्रायणीयशाखायां दात्रुपकम-
 अमिमक्कमदानाऩ्वात् दातुरिष्टिर्नार्थवादपाबश्यात्" इति प्रलपितम्; तत् परवाक्यार्था 1 नवबोधादेव। तथाहि-अद्दैस शुरितिप्यक्षयोः प्रामाण्गे मिथ्यात्वेन यदि समे, तदेष्टापतिरुकैकानचाँ्यैः। अथ विषयतात्विकत्वेन, तदापि तन्निराकृतमेव। षड्डिषलिसैरित्यादि युक्तमेव, न्यायाषीनस्य प्रबलश्रुतितात्पर्यनिर्णयस्य दुर्बलमानान्तराविरोषनिरपेक्षत्वात् । श्रुतितात्रर्यनिर्णायकोपकमादीनामपि प्राबल्यपयोजकं निरवकाशत्वादिकमुक्त, वक्ष्यते च। अतएव तात्पर्यविषयार्थेल्यादि युक्तमेव; निर्णीततात्पर्यानुरोधेन तत्व्वमादिपदानामखण्डरक्षणाम्युपगमात् सर्व्कत्वकिच्विज्जत्वादीवेशेषणयोः सोमयागाबोरमेदे च निर्णीतश्रुतितात्र्याभावेन तदंशे प्रत्यक्षाघविरोधस्य अपेक्षणीयत्वात् तात्पर्यविषये हि श्रुतिः प्रबलेत्रा|युक्तम्। दर्शनरूपफलसाघनत्वाधनुोोषेन 'द्रष्ट्यः श्रोतव्य' इत्यादेर्विचारविषायकत्वनिर्णयात् तदेकवाक्यतया 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादेः तन्मूरक-‘अथातो प्रझजिज्ञासा' इति सूत्रस्य च धात्वर्थनिर्णयात्तदनुरोषाजिज्ञासापदे विचाररक्षणा युत्का। अन्योषषप्वममुरव्यत्वमिति ${ }^{2}$ तु परस्य अ्रमः; अन्यार्थतााप्यर्यकत्वमगुख्यार्थकत्व ${ }^{3}$ मितयनेन स्वप्रतिपाधवाक्यार्थमिन्नतात्यर्यकत्वस्यैव अमुख्यार्थकत्वरूपत्तेना-
${ }^{1}$ तच्छछस्वाबक्यार्था. ${ }^{2}$ छोषलं मुख्यल. ${ }^{3}$ कलं मुस्यार्य.

चौर्युकुकत्वात् । अतएव .यत्र वाक्यार्थोडन्यहोषत्वेन कल्प्यते, तत्रामुरूयत्वमित्यनेनोक्तमुरुयार्थकत्वे स्वनात्पर्यविक्रयपर्तीय्युपपादकवाक्यार्थप्रतिपादकर्वरूपमन्योोषार्थकवाक्यत्वं हेतुतयोक्तमाचाँ्यैरपीति अन्यशोषवाक्यार्थेत्याद्युक्तम् ${ }^{1}$ । न घंगवाक्यमुरूयार्थत्वे व्यवहारः सम्पतिपन्नः। तण्डुलन् पचतीत्यादिकं तु अनन्यशेषत्वात् मुख्यार्थमेव। न हि वाक्यार्थस्यान्योपकारकत्वमन्यरोषत्वं; येन तण्डुलपाककृतेः भोजनाद्युपकारत्वेन अन्यरोषता स्यात्। किन्तु स्वप्रतिपादकतात्पर्यविषयप्रतीव्युपपादकषतिषिय ${ }^{2}$ त्वम्। तथाच़ किं पचतीति प्रश्नोत्ररोक्तवाक्यस्य चवार्थ एव तात्पर्यात् नान्यरोषत्वम्। यदिचोक्तरूपान्यरोषत्वं तत्रास्ति, तदा तत्रामुस्यार्थत्वमिष्टमेव। समिदादिवाक्यानां मुख्यार्थस्वप्रकारोऽपि दर्शित एव। न हि तत्रार्थवादेत्यादिकं तु शोभते। अर्थवादानुसारेण विधौ यत्र लक्षणाप्रसाक्किः तन्रैव हि त्वया निषिध्यते। सा चार्थवादस्थेपक्रमाद्यनुरोधेनैवेति तत्र तन्निषेषोसक्नत एव। तदभावे तन्निषेषस्तु उन्मत्तप्रलाप:। मन्मते च मुख्यतात्पर्यविषयस्य वाक्यार्थस्यातादृरात्वेन भ्रान्तिमत्पुरुष प्रति ताद्हाहेतुना अन्यशेषत्वप्रतिबेघकं न विधावित्यादिवाक्यं युज्यते । न च 'वरुणो वा एतं गृह्नाति योऽश्षं प्रतिग्रद्नाति' इत्युक्तवाक्यान्तर्गतार्थवादस्य ${ }^{3}$ प्रतिगृह्वातत्युपसंहार एव लक्षणा, न तु विधाविति वाच्यम्; विधौ लक्षणां विना दातुरिप्टयसिद्धे:। मैत्रायणीयवाक्यगतिस्तूकैक्तै। वचनाद्दातुरिष्टौ त्वधिकरणमेव व्यर्थ स्यात्। तघ्रसारोक्तवाक्यं तु न युक्तम्। तथाहि-मैत्रायणीयोक्तवाक्ये 'यो वा अश्वं प्रतिगृद्नाति वरुणं स प्रदीति तदृ्वहविषा यष्ववं निर्वरुणत्वाय' इत्यनेनाश्वम्रहीतुर्वश्वदं प्रति वरुणरूपजलोदरदातृत्वोक्के: अश्वदातुरेव सवरुणत्वप्रतीतोर्निर्वरणत्वाय तस्यैव यम्टृत्वं प्रतीयते। एवश्व पूर्ववाक्ये प्रतिगृद्यत इति षष्ठयनादरे ग्रहीतारमनादृत्य सोऽश्वोऽस्य.

$$
{ }^{1} \text { ल्याद्यु्तम्. }{ }^{2} \text { पादकराब्दविषये. }{ }^{3} \text { वादस्थ. }
$$

## अपचन्छेदन्या $य$ वैषम्यभॠः

किश्नापच्छेदन्यायेनाप्यागमस्य. प्राबल्यम् । यथा हि 'पौर्वापर्ये पूर्वदौौल्बल्यं प्रकृतिवत्' इत्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेददातुरिन्द्रियादीनि निंबभभ्ति भर्सयततील्यर्थः। किश्च बेदोपकमाधिकरणादावमेंर्कंगेद इत्याघर्थवादस्थर्वेदेादेरुपोपकमाध्यनुोधेन. 'उच्चे₹ंचा कियते' इल्यादिविघिस्थर्गादिपदेपु ऋखेदाएघर्थलक्षणा सर्वसम्मतैबेल्यर्थवादानुरोधन विधौ न रक्षणेति परापप पव॥

तैकैस्सारस्वतै रहै*्धन्द्रकाचन्द्रभूषणैः।
अक्षस्प्यागंमबाध्यत्वं घोतितं ध्वान्तनाशकम् ॥.

## इति प्रल्यक्षम्यागमबाष्यव्वमे.

किश्रापच्छेदेति। "अध्र्युं विनिष्क्रामन्तं प्रस्तोता सन्तनुयात्तं प्रतिहर्ता, तमुर्ाता, तं ज्रहा, तं यजमनःः" इति अध्चर्वादिकच्छं धृत्वा प्रस्तोत्रादीनां बहिष्पवमानस्तोत्रार्थ ज्योतिष्टोंमे गमनमुक्तम्। तत्र विचछछदे प्रायभ्धितं-यदि भस्तोता अपच्छिन्धात् ज््मणे वरं दघात्, यदि प्रतिहर्ता सवर्वेदसं दघात्, यद्युदाता अदक्षिणं यझ्ञमिष्टू तेन पुनर्यजेत तत्र तद्द्यात् यत्पूर्वाह्मिन् दास्यन् स्यात्। तर्रोभाम्यां कियमाणे विच्छेदे प्रायं्चित्तमत्ति न वेति संशये, उभाम्यां कियमाणस्य एकैककर्तृकत्वेन निर्देशासम्भवात् निमित्ताभावात् तत्र तन्नास्तीति प्रापे, कियानुकूळकृतिरूपकर्तृत्वस्य प्रत्येकपर्यास्त्वात् उभयकर्तृकविच्छेदेडपि निमित्तसत्व्वात् ${ }^{1}$ तदस्येवेति युगपदुभाभ्यां कियमाणविच्छेदेडपि प्रायाश्चितमावइयकामिति ‘विभागश्रुतेः प्राय|्भितं यौगपघेन विघते’ इत्यधिकरणे षछ्पपश्चमे स्थितम्। तदुत्तरंर च 'विभतिषेधााद्द्विहप: स्यात्' इत्याधिकरणे स्थितम्। प्रतिहर्त्रुनात्रो:

युगपदपच्छेदे प्रायश्चित्वद्वयं समुस्चीयतें, सर्वश्वदानस्य पुनः प्रयोगे कर्तु शाक्यत्वात्। अथ़वा दक्षिणोत्कर्षविशिष्टपुनःपयोगमात्रमुद्नात्रपच्छेदनिमित्तकं, न ${ }^{1}$ त्वदक्ष्षिण्यमपि ; तस्यार्थिकत्वेनानुवाद्यत्वात् । अतः पूर्वप्रयोगे सर्वस्वदानेऽपि न विरोध इति पाप्ते, अदक्षिण्यस्य ${ }^{2}$ नैमित्तिकत्वाभावेऽपि पूर्वप्रयोगे सर्वसवदाने दक्षिणेतकर्षस्याप्यनुपपत्त्तः प्रथमप्रयोगे न सर्वस्बदानम् । नापि पुनःप्रयोगे, प्रतिहत्र्रपच्छेदवति प्रयोग एव तद्विधानात्। अन्यथा एकस्मिन् प्रयोगे प्रतिहर्तुरपच्छेदे कतोंस्तद्वत्व्वाविशेषादुत्त्रसर्वप्रयोगेषु पाक्षिकतया तदापत्तेः । निमित्तवति प्रयोगगे ${ }^{3}$ नैमित्तिकस्य दैबादकरणे प्रयेगान्तरेडपि तदापत्तेः। अतो विरोधाददक्ष्पिण्य ${ }^{4}$ सर्वस्वदानयोर्विकल्प: । पुनःप्रयोगमांत्र त्वविरोधाददाक्षिण्येन ${ }^{5}$ समुच्चीयते। तदपि विकल्प्यत इत्यन्ये। तदुत्तराधि-करणे-‘पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' इत्यत्र स्थितम्। यदा क्रमेणापच्छेदस्तदा तन्निमित्तकयो: विरोधे पूर्वनिमित्तकमेव कार्य, असझ्भातविरोधित्वात्। अथवा विकल्प:, नैमित्विकरास्तयोःः सामान्यविशेषविषयकत्वादे: अभावेन समबलत्वात्, अनुप्षानवेलायां पौर्वापर्गस्य शास्रार्थानिर्णायकत्वादिति पापेत, नैमित्तिकेन सर्वस्वदानेन नित्यस्य द्धादशाशतादेरेव परापच्छेदनिमित्तकेन पूर्बापच्छेदनिमित्तकस्य बाघ: । नित्यनैमित्तिकशास्ययो: पूर्वपरकालप्रवृत्त्वं पूर्वपवृत्तस्य पश्षात्रपृत्तिरहितप्रयोगविषयकत्वकल्पन। ${ }^{6}$ सम्भवश्चेति हि द्वयं पूर्वपरापच्छेदनिमित्तकपायश्चित्तशास्त्योरप्याविशिष्टम् ।। तथाच शास्तार्थावधारणवेलायामेव पश्घात्तनानुष्टानकालनियो: पूर्वापरानिमित्तकपायाश्षेत्तकर्तव्यताबुद्धयो: ${ }^{7}$ पैर्वापर्यमालोच्य व्यवस्थितविषयकत्वकल्पना युक्तैव। न च सझ्जात ${ }^{8}$ विरोघित्वेन परविज्ञानस्यानुपपत्तिरिति वाध्यम्; इदं
${ }^{1}$ त्वदाक्षिण्य. ${ }^{2}$ अदाक्षिण्यस्य. ${ }^{3}$ निमित्तप्रतियोगे. ${ }^{4}$ ददाक्ष्षण्य. 5 ददाक्षिण्येन. ${ }^{6}$ त्वस्य कल्पना. ${ }^{7}$ दुद्धे:०, ${ }^{8}$ असजात.

रजतमिति ज्ञानं बाधित्वा नेदं रजतमिति ज्ञानस्योलमत्तेः यत्र पूर्वोचर. ज्ञानयोः मियोंपक्षणीयता, तर्रैव पूर्वस्य परेण बाधनासम्भवात् पूर्वा'विरुद्धविषयकतया अपरस्योत्पत्ते: पूर्वर्य परोपर्दे क्वात्; यत्र बुन सा, तत्र पूर्व धाषित्वाडपि परोल्परिसम्भवात्, बाधितस्य सझातस्थावियोधि ${ }^{3}$ व्वात् परोलपत्रेर्निर्विमत्वात्। अतएव उत्पनेने परज्ञानेऽपि न पूर्व्जानं अमत्वज्ञापकं, ${ }^{4}$ बाधित़्वात्। न च पूर्बस्य प्रथमतः कल्पितमपि अमत्वं पश्षत्परबाषकल्पनया त्युज्यत इति वाच्यम्; परस्य बाषकान्तराभावात् प्रथमकल्पित्यागे बीजाभावात् । न च पूर्वमेव परं बाधित्वा जायत इति बाच्यम् ; पूर्वज्ञानोप्पत्तेः पूर्व परस्यैयाभावात्, तहांबं विनापि पूर्वोरपच्तिसम्म्मेन अन्यथानुपषत्ययावात्। यतु-"पूर्वज्ञाने विस्मृते तेन पसस्य अ्रमत्वकर्पनार्थ पूर्ज्ञानस्मरणं कल्प्यमिति परभ्रमत्वकल्पने गौरवम् ; पूर्व्रमत्वकल्पनापष्षे तु पूर्वस्मिन् विस्पृतेऽपि न क्षतिः, उत्तरज्ञानविषयस्यैव अनुष्ठानसम्भवात्" इति, तन्न; परज्ञाने विस्पूतेऽपि च तेन पूर्व्रमत्वकल्पनाय तद्विषयानुछानाय च परज्ञानस्मृतिकल्पनागौरवं तुल्यम्। तदुतुरं च-‘ यद्युदाता जघन्यः स्यात् पुनर्ग्ये़े सर्वेददसं दघाघधेतरस्मिन्ं इल्यधिकरणे स्थितम् । यदा प्रतिहर्त्रपच्छदोोत्तरमुर्रान्रच्छेदः, तदा पुनःपयोगे सर्वस्वदानं द्वादशशतं वेति संशये 'यत्पूर्वस्मिन् दास्यन्' इत्यनेन ऋ F स्वभावतो यद्दें तदुच्यत इ्रति द्वादश्रातेमेव देयम्। यदा ₹वाभाविकं द्वादशइतं प्रतिहत्र्रच्छेदनिमित्तकंच सर्शस्वं दास्यन्नासीदित्युभयस्पैव प्राप्तत्वाद्विकर्व इति प्रात्ते-द्वादशशतं न दास्यन्नासीत्तस्य ${ }^{5}$ सर्वस्वेन बाधितत्वात्। यद्यपि सर्व्व्वम्प्यदाक्षिण्येन दक्षिणोल्कर्षेण वा बाघितं पूर्वप्रयोगे, तथापि परनिमित्तात् पूर्व यद्देगत्वेन पसक्कं वस्सर्वस्वमेवेति तदेव परनिमित्रो-

[^70]चरमपि देयम् । यदा तु प्रतिहर्त्रपच्छेदो जघन्यः तदा पूर्वप्रयोग एव सर्वस्वं देयम्, न तु पूर्वापच्छेदनिमित्तकः पुनःप्रयोगः कार्यः। यघ्घपि सर्वस्वदानेन सहादाक्षिण्यस्यैव विरोधः, तथाव्यदाक्षिण्यपुनःप्रयोगयो: समु|चितयोरेव नैमिष्तिकत्वेन एकाभावे इतरस्याप्यभावैचित्यात् ‘केशाइमश्रु वपते' इत्यादौ इमश्रुभावात् पत्याः ${ }^{1}$ केशावपनाभाववत्। यंद्यवि च दक्षिणोत्कर्षस्य पुनःः्रयोगाइ्नतया विधानावइयकत्वादेव पूर्वप्रयोगे निर्दक्षिणत्वस्यार्थिकत्वाददाक्षिणं ${ }^{2}$ तमिष्ट्वेत्यनुवादः, तथाप्यनुवादस्य पाक्षिकत्वभयात् निर्दिक्षणत्वकोपे पुनःप्रयोगलोप: 1 वस्तुतस्तु स नानुवाद; 'तत्र तद्द्घात्' इत्येनेन पूर्वप्रयोगे दातव्यद़क्षिणयोः पुनःप्रयोगाञ्तया विधानेऽपि पूर्वप्रयोगाङ्नकत्रानत्यर्थ पूर्वप्योगेऽपि दक्षिणाया आवरयकत्वेन अदाक्षिण्यस्याप्रात्तर्वात्तद्विषानस्यावइंयकत्वात् । यघप्येवमुद्रातृमात्रापच्छेदेन पुंनःप्ययोगे ज्योतिष्टोमत्वादेव द्वादशाशताद्विप्रास्या 'तत्र तद्द्यात्’ इति तत्रापकतया न सार्थकम् ; तथापि तत्र पूर्वप्रयोगे एकविंशत्यादिक्षिण।पक्षकरणेपि पुनःप्रयोगे द्वादशाइतादिपाप्तया तन्निवर्तकत्वेन प्रतिहर्त्रुद्गात्रो: ऋमेणापच्छेदे पुनःपयोगे द्वादशारातादिनिवर्तकत्जेन च तत् सार्थकमेव । तथाच पश्षात् प्रतिहार्त्रवच्छेदे पुनःप्रयोगस्य न बाधः। 'केशाइमश्रु वपते' इत्यत्र तु द्वन्द्वसमासेन उपादेयगतत्वेन साहित्यस्योक्तत्वात् तद्विशिष्टमकं ; पक्टते तु अरुणैकहायन्योरिव प्रकृतदेवतापनयदेवतान्तरंसयोगयोरिव प्रत्येकमेव क्रियान्वयान्नैकलोपे परलोप:। न ब्बारुण्यस्य उपांशुयाजे देवतान्तरसंयोगस्य वा अभावे एकहायन्या सोमक्रयस्य नानुष्ठानम्। अपनयस्य लोपेन उपांशुयाजस्य वा अनुष्ठानम्| ${ }^{3}$ 'तण्डुलान् विभजेत्'इत्यपनयवाक्ये हि ${ }^{4}$ दर्शहविर्मात्रस्य पूर्वदेवतापनयो विधीयत इत्युपांशुयाजहविषोऽपि तद्पनयात्‘ अमये ${ }^{1}$ इमभ्रूभावापत्या. ${ }^{2}$ कत्वाद्धक्षिणान्त. ${ }^{3}$ उपांचुयाजसवनानुष्ठानम्. ${ }^{4}$ दार्शिक.

निमित्तकादक्षिणयागेन परेण प्रतिहत्र्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदाक्षिणयागस्य पूर्वसिद्धनिमित्तकस्य बाध इति स्थितम्, तथेहापि उदीच्यागमेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधः । ननु प्रतिहत्र्रच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदाक्षिणयागस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदे युगपद्पच्छेदे क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहत्र्रपच्छेद्स्य पश्चात्वे च सावकाशा इति गुक्तः उद्वात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन बाधः । अन्यथा 'यदि प्रतिहत्रा अपच्छिद्येत सर्ववेदसं द्यात्' इति शास्त्रमप्रमणं स्यात्। अतएव 'विग्रतिपेधाद्विकल्प: स्यात्' इत्यधिकरणे द्वयोः गुगपदपच्छेदे विकल्प उक्तः। किंच 'यद्युद्नाता दात्रे’ इत्यादिना उपांशुयाजजान्यहाविषामेव द्वेवतान्तरसंयोगविधानादुपांशु ${ }^{1}$ याजस्याननुष्ठानमुक्तं बष्ठपश्चमे। दर्रोप्युपांश्रुयाजमई्कीकृत्य तस्मात्पतिहर्तुः पश्चादपच्छदे पूर्वप्रयोगे सर्वस्वं दत्वा पुनःप्रयोगेडपि सर्वस्वं देयम्। यदा तु आध्रयोगे उद्नानुरपच्छेद:, तन्निमित्तकपुनःपयोगे च प्रतिहर्तुरपच्छेद:, तदा तत्र सर्वस्वं देयम्; नैमित्तिकत्वेन नित्यदक्षिणा ${ }^{2}$ बाधकत्वात्। न च पुनःपयोगस्य प्रायश्चित्त्रया पूर्व्रयोगाइनत्वाव् 'तत्र तद्द्या' दित्यनेन पूर्वप्रयोगाऊ्रदक्षिणाया एव उत्तरप्रयोगवृत्तित्वमात्रविधानात् अऋगुणविरोधन्यायेन अञ्रमूतपुनःप्रयोगाइ्ञसर्वस्वदाक्ष्रणाबाघेन प्रधानभूतपूर्वपयोगाक्नद्वाद्राशतादि देयमिति वाच्यम्; अपूर्वविधित्वात् दृष्टर्थत्वादिप्रसक्रेन पूर्वप्रयोगाइकदाक्षिणाया उत्तरप्रयोगवृत्तित्वविधानानुपपत्ते: पुनःप्रयोगा₹दक्ष्षिणाया एव पुनःपयोगबृत्तित्वात् । परेणेति । परसिद्धनिमित्तकेनेत्यर्थः । अन्यथेति । निरवका ात्वेपि बाध्यत्व इत्यर्थः। इतरस्मिभित्यधिकरण इति। इत्युक्तमित्यन्रन्वेति । निमित्रकपूर्वपयोगस्थेति ${ }^{3}$ पाठः। निमित्तकान्तं सर्वस्वविरोषणम्। प्रयोगस्येति पाठे तन्निमित्तकसर्वस्वयोगात्

[^71]जघन्यः स्यात् पुनर्यक्ञे सर्ववेद्सं दद्यात् अथेतरस्मिन्' इत्यधिकरणे उद्नात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदात्परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तं पूर्वं प्रयोगं दाक्षिणाहीनं सम्पाद्य कर्तठ्यज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे 'तदद्यात् यर्प्रू्वस्मिन् दास्यन् स्यात्' इति ध्रुत्युक्ता या दाक्षिणा सा पूर्वभाविग्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकपूर्वप्रयोगस्य सर्वस्वदित्साया अवाधेन सर्वस्वरूपैव। न तु या ज्योतिष्टोमे नित्या द्वादशशातरूपा । तस्माब्भ प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः, किन्तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम् । उक्तं हि टुप्टीकायां 'तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेप:' इति। अपिच क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणर्सवस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः सम्भवेन विरोध एव नास्ति । यथा बदर्रफले कमिकनिमित्तवतोः इयामरक्तरूपयो:। उक्षं ह्यपच्छेदाधिकरणे 'नैमित्तिकरास्त्रस्य ह्ययमर्थः निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तठ्योऽपि ऋतुर्निमित्तेऽसति एवं कर्तव्यः' इति। तस्मादापच्छेदन्यायः सावकाराविषयः । अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्याप्रयोगस्य तन्निमित्तकतोक्किः । निक्षेप इति । यध्घम्युक्तरीत्या प्रयोगान्तरे निक्षिप्ता तदन्नमेवेति पूर्वप्ययोगाऊत्वं तस्यास्सर्वथा बाधितमेव, तथापि अर्न्तैव परेणेदमुक्तम् । एवं कर्तब्य इतीति । यद्यपि नानेन वाक्येनाविरोधः ${ }^{1}$ प्रतिपाद्यते, किन्तु बाध्यबाधकभाव पव। पूर्व परस्य बाध्यं न तु परं पूर्वस्येति सयुक्तिकमुपपाद्य तस्मात्पूर्वदौर्बल्यमिति सौत्रपदेन तत्र सूत्रकारस्वारस्य ${ }^{2}$ मुक्षा नैमित्रिकेन नित्यबाषं दृष्टान्त ${ }^{3}$ यितुं शास्तदीपिकादौ प्रकृतवाक्यस्य उत्तत्वात्। अतएव नित्यमित्याद्ययिमम्नन्थो दृष्टान्तबोधकः । तथाच निमिच्चं यत्र न जातं ${ }^{4}$ तत्रान्यथा कर्तब्योपि यत्र यज्ञातं तत्र अन्यथा

[^72]वकाशोस्तीति चेत्म; उद्नात्रपच्छेदाभावे युगपदुभयापच्छेदे प्रतिहत्रपच्छेदस्य पश्याच्वे च ज्योतिष्टोमद्वितीयम्रयोगे प्रतिहत्रपच्छेदी निमित्तसर्वस्वदक्षिणयागप्रतिपादकशास्तस्य सावकाशत्ववत् व्यावहारिकग्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि सावकाशात्वात् तत्रैकप्रयोगे विरोधवदत्रापि तात्विकत्वांशो विरोधात् । अतएव सगुणसग्रपश्नश्रुत्योः निर्गुणनिष्प्रपश्नश्रुतिम्यां अपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्टूक्तम्। तदुक्तमानन्द्बबाधाचार्यै:-

तत्परत्वात्परत्वाच निर्देषषत्वाच वैदिकम् ।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥
इति। ननु मानान्तराविरोधे ध्रुतेस्तत्परत्वमसिद्दम्, परत्वं तु प्रमानन्तरभ्रमे व्यभिचारि दृइयते । 'न क्षा सेद्' इति परं प्रति ‘मृडमृदगुधकुषक्किशावद्वसः कृा' इति पूर्वमपि बाधकम्। निर्दोषत्वं त्वर्थान्तरम्रामाण्येनान्यथासिद्धम्। तदुक्तम्-

तत्परत्वमसिद्धत्वात् परत्वं व्यभिचारतः।
निर्दोषताइन्यथासिद्दे: प्राबल्यं नैव साधयेत् ॥
इति चेन्म ; प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं, श्रुतेसतु, ताक्विक-
क्रियत इत्यर्थकोक्तवाक्ये नित्यनैमिच्तिकशास्रयोः व्यवस्थितविषयकत्वसम्भव एव बाध्यबाधकभावप्रदर्शनायोक्तः। बदरफलहद्टष्तन्तस्तु विषमः; तत्र कालभेदावच्छेदेन रयामरक्तत्वज्ञानयो: बाध्यबाधकत्वात्। प्रकृते चैकस्मिन् प्रयोगे एकदा सर्वस्वदक्षिणात्वादक्षिणात्वज्ञानयोः बाध्यबाधकत्वावइयकत्वात् यदा दाक्षेणा प्रसक्ता तदा निर्दाक्षिणत्वस्य शास्रार्थ ' त्वात् तथापीदमपि अान्त्यैव परेणोक्तम्। पश्यात्चे चेति। चकारो द्वितीयप्ययोगे इत्यस्योत्ररं योज्यः । द्वितीयेति । प्रतिहर्त्रपच्छेदोत्तरजातोद्नात्रपच्छेदनिमित्तकेत्यादि:। परोक्तिमभ्युपगम्येदम्,

मिति विरोधाभावेन तत्परत्वसिद्दे:। परराब्देन च मानान्तरबाधितपरत्वं विवाक्षितम्। तेन प्रमानन्तरभ्रमे न ब्यभिचारः, तस्य तदुत्तरभाविमानबाधितत्वात्। 'न कृा सेद्' इत्यस्य तु पाठतः परत्वेऽपि स्वभावसिद्धाकिस्वस्यानेन अपाकरणं विना पुनस्तत्र्रतिप्रसवाथ्थ मृडमृदेत्यादे: अप्रवृते : तदपपेक्षया अर्थतः

द्वितीयप्रयोगस्थदक्षिणायाः पूर्वप्रयोगाऊत्वे सर्वदा बभधस्योकत्कत्वात्। अर्थतः पूर्वत्वमिति। तथाच पाठलबषादर्थरळधस्य पौर्वापर्यस्य बलवत्त्वात्तैंैन ठ्यवस्थेति मावः। यत्तु 'ठयावहारिकपामाण्यमादाय प्रत्यक्षम्य सावकाशास्येक्ति'न युक्ता, प्रामाण्यमात्रस्य तात्विकस्य स्वीकारात्, इति, ततुच्छम् ; श्रुतिप्रत्यक्षयोः तात्विकपामाण्यविरोधे श्रुतेरतात्विक्वपामाण्यस्यासम्भवात् प्रत्यक्षस्यैव तदित्युक्तत्वात्, तत्र प्रतिकूलतर्कमप्रदरर्य त्वदख्वीकारमात्रस्याप्रये।जकत्वात्। अतएव तत्परत्वादित्यादावसिद्धि:, प्रत्यक्षबाधिते तात्पर्याभावात्, द्वितीयहेतावपि मानन्तरबाधितेति विशेषणासिद्धि:। श्रुतेः प्रत्यक्षवाधिता²र्थकत्वाद्तित्यपि तुच्छम् ; प्रत्यक्षस्यानिश्चितताच्तिकप्रामाण्यकत्वेन उयावहारिकप्रामाण्ये सावकारात्वेन च तात्विकमामाण्यं विना निरवकाशत्वादियुक्तश्रुतावबाधकत्वस्योक्तत्वात्। अन्यथा अन्यतरस्यैव ताश्तिककपामाण्यनिश्चयेन बाधकत्वनिश्वये तत्परत्वरूपापच्छेदन्यायानुसरणम्य वैफल्यात्। तस्मात्पररीत्या अन्य3 ${ }^{3}$ तरस्यापि तदनिश्चये मद्रीत्या श्रुतेः तन्निश्वयेऽपि प़कारान्तरेणापि श्रुतौ तनिश्वयाय तदनुसरणात्परप्रलापोऽनव ${ }^{4}$ काशः । यद्यपि 'मृड मृद' इत्यदिना पूर्वेणाप्यपवादन्यायेन 'न क़ाा सेट्' इत्यस्य बाध इति, तदपि तथा, मृडेय्यादे: पूर्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यस्योक्तत्वात् । यत्र हि अपवादशास्रार्थ: उत्सर्गशार्तं विनापि सिद्धश्तत्र अपवादशार्यं पूर्व

$$
1 \text { त्वांक्ति. } 2 \text { बाध्या. } 3 \text { तदन्य. } 4 \text { प्रल्गापानव. }
$$

पूर्वृ्वमेव। अववादावादे उस्सर्गस्पैव स्थिरस्वादतो निद्दोष्त्समपि नन्पथासिद्धम् । तात्वर्यविषय एव प्रामाण्यस्याम्युपेयत्वादित्यवोषमान्रविज़्निभ्मितमपच्छेद्यायवैपम्यामिधानमिति॥ सत्यप ग्छे रे्यायवैषन्यमझ:

मिथ्यत्व्वरनुमिते: इौत्यानुपितिसान्यभङ्ञः ननु यदि प्रत्यक्ष्वाधितमप्यनुमानं साधयेत् तदा वह्धयनींธणयमपि साधयेत्। तथांच कालत्त्ययापदिष्टकथा सर्वर्तोच्छिघ्येत। न चौष्ण्यप्रतियोगिकाभावे साध्ये पक्ष एव प्रतियोगिप्रसिद्धिरिति तत्र बाधस्साककाइः । प्रक्रते तु स干्चं ब्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्दम्, तदविरुद्धं च मिथ्यात्वम्, तस्य पारमार्थिकसच्चविरोंधित्वादतो न व्यावहारिकसच्चग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यत
प्वर्तते। तत्रापि न नियम:, प्राकरणिकहोमादिबोधकत्वेन पदादि-
 पवादशार्लयोः प्रतृत्तिकमे नियामकाभावेन युगपट्पवृतेः। तस्मात् सामान्वशार्सास्य सावकाइत्वादिकमेवानवकाशत्वादिमदपवाद शाह्रवाध्यत्वे बाजं, न तु पूर्वमृृत्तत्वमिति पाकरणिकहोमादिबोघकलेन पदादिशास्स्य यथा पूर्वप्रवृत्तिः, तथा मृडेत्यादे: कित्वनिषेषनिषेषरूपत्वात् कित्वनिषषषपाप्विसापेक्षतया 'न क्षा' इल्यादिपवृत्तुत्वरमेव नवृतिरिति कफुट एव ते परवाक्यार्थाबोषः ॥

> तर्कैस्सारसबतै रलैश्वन्द्किकाचन्द्रभूषणै: ।
> अपच्छेन्यायसान्यं दुरन्तध्वान्तनाशनम् ॥

इलपष्छेपन्यायवैष्यम्यभः:

इति वाच्यम्; वकिविरोषे औष्ण्याभावानुमाने शैत्यानुमाने वा तदभावात् । पक्षतििरिक्रस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थलक्य तत्र सत्यात् | न च यत्र प्रत्यक्षं प्रबलं तत्र बाधठ्यवस्था, न चात्र तथेति न बाध इति वाच्यम्; प्रक़तेऽ८्यौष्यम्रत्यक्षसमकक्ष्यस्य प्राबल्यप्रयोजकस्य विद्यमानत्वात्, अनौष्ण्यानुमितेः मिथ्यात्रानुमितेश्य समानयोगक्षेमत्वात्। न च मिथ्यात्ववादिनां प्रतिपन्नोपाधावौठ्यनिषेधग्राह्यनुमानेन मिथ्यात्वाजुमितेः समत्वशमष्टमेवेति वाच्यम्; औष्णयनौष्ण्ययोः 'भावाभावरूपतया तदनुमितिसाम्येऽपि रौत्यानुरमितिसाम्यस्यानभ्युपगमात्, रैत्यस्यौष्ण्याभावरूपत्वाभावात्। तस्मात् बाधस्य दोषता वा त्याज्या, औठ्णयप्रत्यक्षायजमानत्वप्रत्यक्षादे: स₹्यप्रत्यक्षापेक्षया विशेषो वा वक्तठ्यः । न चौष्ण्यप्रत्यक्षे परीक्षितोभयवादिसिद्बग्रामाणंय, सत्वप्रत्यक्षं तु न तथेति विशेष इति वाच्यम्; सच्वप्रत्यक्षेऽपि प्रामाण्यासम्मतौ हेत्वभावात्। परीक्षायास्तुल्यत्वादिति चेन्मैबम्; विरुद्वार्थग्राहित्वेन विशोषात्. प्रत्यक्षसिद्वायजमानत्वौष्णयादिवच्छब्द लिङ्गग्रा्ययजमानत्वानैष्ण्याद्यपि व्यावहारिकमिति समत्वात् प्रत्यक्षेण बाध्यते। भ्रकते तु सत्त्वं ठ्यावहारिकं प्रस्यक्ष्सिद्धं, ताद्वेरुद्धं च न मिथ्यात्वम्, तस्य पारमार्थिकसच्वविरोधात्। अतो न व्यावहारिकसस्तग्राहकेण अध्यक्षेण बाध्यते। नन्वेवं वद्तस्तन को वा अभिम्रायः ? कि तान्विकविषयत्वात् बाधकैनैव ${ }^{1}$ मिथ्यात्वानुमानादेनेन बाध्यता? उत स₹्वमिथ्यात्वग्राहिणो: ठ्यावहारिकतास्विकविषययोः परस्परविरुद्धविषयत्वा-

## वह्निविशेष इति। यत्र वह्नौ नानुमात्रा औष्णयमुपलबषं

[^73]भावात् न बाध्यबाधकमाव:? अन्त्येऽवि किमध्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वमगृहीत्वैव तद्सिद्धस्य तारिवकसत्त्वस्यैव अभावं गृबात्यनुमानादि? उत प्रत्यक्षविषयीकतसैयव तारिचकमभावम्? नन्य्यः; प्रत्यक्षविषयाभावग्राहिणि तद्बाधकत्वोक्तयोगात्। न द्वितीयः; प्रत्यक्षागृहीतप्रतिषेधकत्वेन अभ्रसक्तप्रतिषेधापतेः, प्रत्यक्षविषयस्य तास्चिकत्वापत्तेश्व। न प्रथमः ; उपर्जव्यम्रत्यक्षविरोधेन अनुमित्यादिविषयस्य तात्विकत्वासिद्धेरिति चेन्म; प्रथमे द्वितीये च पक्षे अनुपपच्च्यभावात्। तथाहि-प्रथमे पक्षे न तात्विकत्वासिद्धि:, यस्मात् 'इदं रजतम्' इत्यनेन 'नेदें रजतम्' इत्यस्य .बाधादर्शानात् परीक्षितमेव बाधकम भ्युपेयम्। परीक्षा च प्रष्टान्तिसंवादादि रूपा व्यवहारदशायामबाध्यत्वं विना अनुपपव्षा तद्श्रा बाधग्राहिणं बएधते नांद्वैतभ्रुत्यनुमानादिकमित्युक्तमेव। दितीयेऽपि पक्षे नाप्रसकप्रतिषेधः, परेक्षप्रसक्तेस्सम्मवात्। यत्तु कोंचिदात्मनि तत्चिक्रकस्तप्रसिद्धया प्रसक्तिमुपपादयन्ति, तन्न ; न हि प्रतियोगिज्ञानमान्रं प्रसक्तिः। किं तर्हि? निषेधाधिकरणकप्रतियोगिज्ञानम्। न चात्मा निषेधाधिकरणम् । तस्मात्परोक्षप्रसक्तिरेव दर्शनीया। अथवा मा भूत्रसक्ति: 1 अभावप्रत्यक्षे हि संसर्गारोपत्वेन सा उपयुज्यते। शब्दानुमानयोस्तु तस्याः कच्चेपयोगः ? न चाप्रसक्तै निषेधवैयर्थ्यम् ; अनर्थनिवृत्तिरूपस्य तंत्रेत्यर्थः। क्षेपयोग इति। ननु प्रसां्कि विना प्रतिबेछे 'न तौ पशौ करोति न सोमे' इत्यादौ प्रतिषेधास्वीकारो न युज्यते ; तथाहिदशमाष्टमे 'अपूर्वे त्वर्थवादस्स्यात्' इत्यधिकरणे स्थितं --'आज्यभागावमीषोमाम्यां यजति' इत्याज्यभागौ विषाय 'न तौ पशौ करोति न सोमेडध्वरे' इति दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थवाक्ये न तौ पशौ' इति न पर्युदास:; स हि पशुमिन्ने तौ करोतीत्येवंखूपो न । तथा सति

६र्शापूर्णमासोदेशोग तयोर्बिषायकबाक्येन प्रकृतबाक्यमवइयमेकवाक्यतापन्नमिति व्यर्थ स्यात्। न हि तेन तयोरतिदेशः परौ निवर्वते। बथ पशुपकरणस्थाज्यभागप्रापकातिदेशोन एकवाक्यतामऊीकृत्य ' आज्यभागान्यत् प्रकृतिवत् ${ }^{1}$ कुर्यात्' इत्येवे पर्युद्दासो वाच्यः, मिन्नपकरणत्थयो: पदैकवाक्यत्वासम्भवेऽपि वाक्यैकवाक्यतासम्भवात्; सोऽपि म, अभावशक्तस्य नओ भिन्ने लक्षणाद्यापत्तेः प्रतिषेधस्यैव युक्तत्वात्। न च प्रतिषेधपक्षेडपि विकर्पावर्यकत्वेन अष्टदोषतादोषः; फलमुखत्वात्, पर्युदासपक्षेपि तदावरयकत्वाच्च। पशुप्रकरणे हि "अझये अाज्यस्यावर्दायमानस्य अनुनूूहि, सोमायाज्यस्यावदीयमानस्यानुजुहि, अम्मय अज्यं प्रस्थितं प्रेष्य, सोमायाज्यं प्रस्थितं प्रेष्य ${ }^{2} "$ इत्यादि. प्रैषाणामुक्तव्वात्तेषां च लिजा ${ }^{3}$ दाज्यभागमात्राकत्रादाज्यभागयो: पशाघनुष्ठानं प्रतीयत इति विहितपर्युदस्तत्वात् विकल्पावइयकत्वम्। तस्माप्रतिषेष एवासौ, तदर्थवादन्तु न सोम इति। यथा सोमे अज्रमागौ न कार्यौ तथा पशावित्याज्यभागयो: मिन्दा। न च- यब्षपि सोमस्यापूर्वस्वेन आज्यभागयोः तत्राप्रसक्तया न सम्भवति प्रतिषेघः, तथापि तदक्रद्दीक्षणीयादिद्वारा तत्र्पसक्कया सम्भवतीति वाच्यम् ; तथा सति तत एव सोमाअ्कार्मषोमीयपशौ तद्विकृतिपश्वन्तरे च निषेध्यिद्धया 'न पशौ' इत्यस्य वैयर्य्यापषेः, पूर्वनिषैधैकवाक्यत्वे सम्भवति वाक्यमेदस्यान्याय्यत्वाण्च। तस्मान्नान्तरिक्ष इत्यादिवत् न सोम इत्यनुवाद इति तदिदं विरुद्धघेत, पसर्कि विनापि सोमे प्रतिषेघस्म्भवात्-इति चेन्न; प्रतिषेधस्य मानान्तरप्रापत्वान्विष्पयोजतत्वाश्च तात्पर्याविषयत्बेन ${ }^{4}$ विध्यपेक्षितस्तुतौ न सोम इत्यादे: तात्पर्येप प्रपश्चे तात्विकत्वाभावस्य ${ }^{5}$ वादिविपतिपक्या सन्दिगघत्वेनापा ${ }^{6}$ पत्वात् निष्पपश्क्रक्नक्जानार्थत्वेन

1 प्रहेंताविष. 2 प्रैष्य. 8 देषतालिशा. 4 याविषषयन्वे निष्धनिन्ट ायां विध्यदेक्षित. ${ }^{5}$ स्वभाबस्य. ${ }^{6}$ ल्वेन श्रा.

सप्रयोजनत्वाण तंत्रैव श्रुतेत्तात्पर्यसम्भवेन बोषकत्वात्। यदि हि निषेषषीः प्रसक्तिसापेक्षा स्यात्, तदा नान्तरिक्ष इत्यादि न सोम इत्यादि वा निल्यानुवादोडपि न स्यादिति द्वारीभूतवाक्यार्थाबोषे सुतितेकिन्दाबोधोपि न स्याए। तदवोषेडपि तहोधे 'गुणवादस्तु' इति सूत्रेण गौणार्थतापि बाधितार्थवादानां नोच्येत। तस्मान्निषेषतात्पर्यमेब निषेधपयोजनवत्वाय प्रसक्तिसापेक्षम् । प्रयोजनवत्त्व च पकृते तां विनापीति नानुपपत्तिः। न च 'तमेबं विद्वानमृतः' इल्यादिना सगुणस्सैव मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वलाभान्निष्पपक्षवक्षज्ञानं ठयर्थमिति वाच्यम्; 'पपपश्चोपशमं शिवमद्दैतेत चतुर्थ मन्यन्ते सोयमाहमा स विज्ञेयः' इल्यादिमिः श्रुद्धस्यैव तल्काभात् तदनुसरोरैवैपदसस्य श्रुद्धबोषकत्वात्। सगुणवोधकत्वेपि 'तमेव विदित्वाडतिमृत्युमेति' इल्याघनुसारेण तज्ज्ञानस्य स्वसाध्यचित्कैकाम्रयाषीनचुद्धज्ञानद्वारा मोक्षहेतुत्वपरमुक्तवाक्यमित्युपपतेः। वक्ष्यते चैचदा|च्चंयेय विस्तेरण द्वितीयपरिच्छेदे। एत्तेन-न पशावित्यादौौ प्रतिवेघात् प्रसक्केरावइ्यकतया विकश्पस्थापनात् प्रसर्कि विना ना भावधीरित्यपान्तम्। विकल्पो हि तत्र न निषेघबुद्धे:, प्रसक्तिसापेक्षत्वात् ; किन्तु निषेधतात्पर्यस्य। अथ तस्य तत्सापेक्षत्वं, ततो विकर्पो वा फथमिति चेंत्, पसक्रर्हि यदि रागाघंना, तदापि रागविषयान्नित्यनिकृत्विरूपपयोजनवत्तेन निषेषे ताल्वर्यम्; यदि शास्लाषीना, तदापि तया तद्विषये जायमानपवृत्ते: पाक्षिकत्वसिद्दिरुपपयोजनवत्तेन निषेछे तात्रव्यर्। तादशप्रयोजनवत्त्वनिश्घयेन निश्षीयमानं तात्वर्य तस्सापेक्षमुक्तपाक्षकत्वसिद्यचा च विकल्पस्यापि सिद्दे: । यध्धपि न तौ पशाविल्यादिनिषेषशाखं प्रत्यक्षं विशेषविषयकल्वादिमच्च; तथाप्यतिदेशादिरूपस्य सामान्यविष्यकव्वादिमतः प्रसक्जकशाख्यम्य न सर्वदा बाधकं, उत्करीत्या तदुपजीव्यनिर्णीततात्पर्यकत्वाव्। तस्यात्यन्तिकाबाधे च

स्व ${ }^{1}$ मप्रमाणं स्यात्। अतस्तदांशिकबाधेनोक्तपााक्षिकत्वसिद्धि:। पदादिविशोषशास्तं तु आहृवनीयादिसामान्यशास्यमनुपजीवैयैव प्रयोजनवदर्थऐोषीमूतस्वार्थपरत्वेन निश्रीयत इति न तस्सापेक्षतया विकल्पः। न चाज्यभागाभाववाक्यस्यापि प्रयोजनवत्पश्वत्नपरत्वेन ग्रणणसम्भवान्नोक्तरीत्या प्रसक्तिसापेक्षत्वमिति वाच्यम् ; आज्यभागाभावेऽंीीतरांतै: पशूपकारास्सिध्यति, फलमूम ${ }^{2}$ कल्पनाचाज्यभागयोरपि प्रवृत्तिः पाक्षिकीत्यस्यैवार्थस्य निषेषबलात्कल्पनोपपत्तौ उकाभावस्याज्त्वे मानामावात्, तलस्वकिारेपि निषेधे स्वतग्सिद्धप्राप्ते: ${ }^{3}$ ताप्पर्यविरोधिन्या हानाय ${ }^{4}$ आस्रीयप्रसक्त्ररवइयमुपजीव्यत्वाच्च। यत्तु-"विधिस्थल इव निषेघस्थलेडपि सकलकारकविशिष्टभावनाया मुख्यविशेष्यत्वात् विधिप्रयोज्याभावस्य प्रकारतया तत्रान्वयादाज्यभागकरणकपहुकर्मकभावनात्वेन प्राप्तिर्निषेध ${ }^{5}$ स्येपजीव्यात्; तथाच 'न कळझं भक्षयेत्' इत्यादौ विशिष्टभावनाप्रसक्तेः मूलीमूतेष्टसाषनत्वज्ञानस्य लौकिकत्बेन श्रौत।निषेघबाधयत्वेऽपि ${ }^{6}$ न तौ पशावित्यादानुक्तभावनाम्राप्तिमूल्रीभूतेष्टसाधनत्वज्ञानं तथा सम्भवति, शासुयत्वादिति पाक्षिकबाधेन विकल्पः । 'न तौ सोमे इत्यादौ तु सकलकारकविशिष्टभावनाया अप्रासिद्धत्वात् उक्कान्वयासम्भवादन्यथा 5 न्वयः " इति मतं, तत्र कचिद्नन्यथान्वयावइयकत्वे उक्तान्वयकल्पनया उपजीवयत्वकल्पने मानं चिन्त्यम्। यतु-‘परोक्षप्रसक्रयुक्तिरयुका ; सा हि नानुमानेन, श्रुत्याद्यननुगृहीतस्यानुमानस्यार्थसाधकत्वात्। न श्रुत्या, .विकल्पापत्तेः' इति, तम्न ; अर्थासाधकत्वं यद्घर्थाप्रमापकलंत्व, तदा तदिष्टं; निषेषश्रुतितदुपजीव्यानुमानाभ्यां बलवन्धयां बाध्यत्वास्, उपर्जव्यस्यापि लैकिकप्रमाणस्य श्रुत्या बाधदर्शनात् । यद्यनुमित्यजनकत्वं, तदा

1 कबाध च स्वय. 2 फलग्रम. 3 स्सिद्बत्वास्रापेः, 4 विरोधिनाहवनीय. ${ }^{5}$ प्राप्तनिषेष, ${ }^{6}$ वाच्यत्वेडपि.

प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात् । न च प्रत्यक्षविषयताच्चिकत्वापतिः, तद्विषयाधिकरणस्यैव पारमार्थिकत्त्व्यतिरेकस्य बोघनात्। तथाच न काप्यनुपवात्तिः। तदुक्तं खण्डनकुत्रिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रविइय शरणं श्रुतिः। विरोधादुपजर्वेनेन ब बिभेति कदाचन ॥
इति। नन्वेचमप्यनौष्ण्यं तात्तिक्रमिति तदनुगितिरपि न बाध्येत व्यावहारिकौष्णग्रग्रहिणा अध्यक्षेण। एवंच 'आदित्यो यूपः' इत्यादावपि-

तात्चिकादित्यतां यूपस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन ॥
इत्याद्यपि स्यादिति चेन्म; अनौष्ण्यं तात्चिकं स्यादिति कोर्थः? यदि तच्च्तर औक्यं नास्तीत्यर्यः, तदा अद्धेते पर्यवसानादिषा-

तत्र बाधका ${ }^{1}$ नवतारे तस्सम्भवात् श्रुल्या प्रसक्तिक्षेडपि न विकल्पः। 'विभ्ष सल्यम्' इल्यादिवक्ष्यमाणश्रुतेस्हुतितात्पर्यानवधारण-
 स्वतिद्वारभूतविभ्षव्यववहारिकस्यतावोषकत्वनिश्रयेन निषेधश्रु्येक्षया न्यूनबलवच्च्व ${ }^{2}$ निश्रयादिति ध्येयम् । व्यतिरेकस्य बोधनादिति । ननु प्रातिभामिके उ्यावहारिकत्वनिषेछे प्रातिभासिकत्वन्य ठ्यावहारिकट्ववत् ठ्यावहारिके प्रपष्चे तात्विकव्वनिषेधे ठ्यावहारिकर्वं तत्र तात्विकं ₹्यादिति चेन्न ; ठ्यावहारिकत्वस्यापि पपश्चान्त:पातेन तत्रापि तात्विकत्वनिषेधात्। न चोपजीव्यपसकिविरोधात् श्रुतेर्निषेघाप्रमापकत्वमिति वाच्यम्, उक्तरीत्या प्रसक्तेरुपजीव्यस्वादुपजीठ्यत्वेऽपि लैकिक. त्वेन सम्भाविददोषत्वात, ज्ञानमात्र्योपजीवचत्वेन तात्विकभामाण्य-

पच्चःः यदि व्यवहारतोऽपि नास्तीति, तदा ब्यवहाराविसंबादादिरूपपरीक्षितरवविशिष्टमौष्ण्यप्रत्यक्षं बाधकमिति नार्नौष्प्यस्य ताष्विकरवसिद्धि:। एतेन हैत्यानुमानं व्याख्यातम् । एवमादित्ययूप्रेदस्य तत्त्वतो व्यवहारतो वा निषेधे योज्यम् ; श्रुतेरन्यरोषतया आदित्ययूपाभेदपरत्वाभावेन परीक्षितग्रत्यक्षविरोधेन गौणार्थतया सतावकत्वोपपतेश्र। अतएव 'तात्विकादित्यतों यूपस्य' इत्यादिना अद्वैतश्रुतेः 'आदित्यो यूप:' इत्यादिभ्रुतिसाम्यापादनमपास्तम् । न चानुमितिसिद्धूमिथ्यात्वग्राहकत्वे सत्यद्वैतश्रुतिरनुवादिका स्यत्, यथा ' अग्रिहिमस्य भेषजम्' इत्यादिध्रुतिः प्रमाणान्तरगृहीताहिमानिवारणशाक्तयनुवादिकेति वाच्यम्; स्वस्वचमत्कारानुसारिणोडनुमानस्य सकलसाधारण्याभावेन तस्य ध्रुत्यनुवादकत्वाम्रयोजकत्वात्। तदुक़ं 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यत्र वाचस्पतिमिश्रै: $\qquad$ यनेनानुमितोऽप्यर्थः कुरालैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततररेनन्यैरन्यथैनोपपाद्यते ।।

विशिष्टस्यानुपजीव्यत्वान्निषेधबाध्यत्वसम्भवात् । श्रुतेस्तु नर्दोंषेत्वन तदषीनप्रसक्तेर्व्यावहारिकपामाण्यस्यावइयकत्वेन; वयावहारिकनिषेघबोघकेन 'न तौ पशौ' इत्यादिना नात्यन्तबाष ${ }^{1}$ इत्युक्तम्रायत्वाव् । व्यवहारतोऽपीति। तथाचन्याव्यावहारिकौष्ण्यविरोधित्वं व्यावहारिकत्वपर्यवसन्नमनौष्ण्यक्य स्यादित्यर्थः । तात्विकत्वसिद्धि: व्यावहारिकौष्ण्यविरोधित्वसिद्दिः । स्वस्वचमत्कारानुसारिण इति । स्वस्वमात्रेण प्रमात्वेन गृष्यमाणस्येत्यर्थः। तथाच यस्य वाद्दि${ }^{2}$ पत्यनुमानाद्विना अनुमानेष्वपामाण्यशक्रा, तं प्रति तन्निवृत्त्यर्थमपेक्षणीया श्रुतिः नानु-

# इति। छष्टान्तीकतथुतौ तु हिमनिषृत्तिकारणताया वहौं सर्व- 

 साधारणप्रत्यक्षार्थापत्तिभ्यां अवसेयत्वाद्येष्यम् । तस्मान्मिथ्यात्वानुमानस्य न वहि़्दित्यान्तुमितिसाम्यम् ॥इति मिथ्यात्वन्नुमानस्य रैत्यनुमितिसाम्यभक्रः

## प्रत्यक्षस्य लिक्झाम्यबतध्यत्ते बाधकम्

किश्न परीक्षितत्वेनैव प्राषल्यं, नोपजीव्यत्वादिना। अनुमानशब्दवाध्यत्वस्य प्रत्यक्षेडपि दर्शनात्। तथाहि-ददं रजतमिति प्रत्यक्षस्य अनुमानाप्तवचनाभ्यां नभौनैल्य्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुत्रानेन 'गौरोऽहम्' इत्यस्य 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इत्यस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य च अनुमानागमाभ्यां ‘पीतइशब्बास्तिक्तो गुड:' इत्यादेश्यानुमानाप्तवचनाभ्यां बाधो हइयते। ननु साक्षात्कारिश्रमे साक्षाटकारिविशेषवादिका। श्रुतिताइपर्ये तु अन्यत एव निर्णीतमिति भावः। नन्वेवं परं प्रति नानुमाननुपन्यसनीयं, परस्याविश्वासादिति चेन्न; अविश्ष़स्य ज्रुवताइपि ${ }^{1}$ परेंण दूषणनुपुप्यासे विजयस्य जल्पकथास्थलीयानुमानफलस्याव्याहतत्वात्, वादकथायामपि श₹्काबीजाभावात् निर्दोंपेडनुमाने नाविश्षास: ${ }^{2}$ । शक्काबीजसत्त्वे तु नोपन्यस्यत एवानुमानम्, उदन्यस्यापि तच्छछ्कापसारणं श्रुल्या वा कियत इल्यदोषात् ।।

तर्कैस्सारस्वतै रैलैध्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
मिध्यात्वौौत्यानुमयोरसाम्यं ध्वन्तभअनम् ॥i
इति भिध्याव्बानुमते .रैल्यानुक्तिसाम्म्यभः:

दर्शनमेब विरोधीत्यम्युपयम्, अन्यथा परोक्षग्रमाया अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वोपपर्तौ वेदान्तवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वण्युत्पादनप्रयासो ठ्यर्थस्स्यादिति चेष्म; 'नायं सर्पः' इत्यादिवाक्यादिना सविलासाज्ञाननिवृत्यभावेऽपि अ्रमगताश्रमाणत्वज्ञापनेन भ्रमप्रमाणत्वबुद्धे: तद्विषयसत्यताबुद्धेश्य निवर्तनात्, तावता च अ्रमनिवर्तकत्वव्यपदेशात्, अर्रमे प्रामाण्यत्रिभ्रमस्य तद्विषये सत्यताविक्रमस्य च परोक्षत्वेनापरोक्षन्घाधानपेक्षत्वात् । न हि दुष्टकरणाजन्यत्वमबाधितविषयत्वं वा प्रामाण्यं कस्यचित् प्रत्यक्षम्। न वा सर्वदेशासर्वकालसर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपं विषयसत्यत्वम् । अतस्तयोः परेक्ष्षम्रमाबाध्यत्वमुचितमेव । तयोश्य बाधितयोः रजतादिभ्रमः स्ररुपण सन्नपि स्वकार्याक्षमत्वादसनिनेति बाधित इत्युच्यत इत्यनवद्यम् । ननु 'इदं रजतम्' इत्यत्र सगुक्तिकं प्रत्यक्षं बाधकं, न युक्तिमात्रम्, 'गौरोऽ्हम्' इत्यत्रापि मम शरीरमिति बलचत्र्रत्यक्षमेत्र', 'अहामिहैकमस्मि सदने जानानः' इति तु प्रमाणमेव, जीवस्याणुत्वादिति चेन्न ; रजताभेदशरीराभेदप्रत्यक्ष्योः जाग्रतोः रजते युक्तया ${ }^{2}$ प्रतिबन्धाक्षमत्वे तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेरेवानककारात् । न च तत्र परम्परासम्बन्धेन कर्द्मलिपे वस्त्र 'नीलं वस्त्रम्' इतित्रत् 'गौरोऽहम्' इति गौणम्, कर्द्मवस्त्योरिव शरारात्मनो: भेदानध्यवसायेन दृष्टान्तदार्ष्टन्तिकयो: वैषन्यात् .। तथाचात्रैक्याछयास एवोचितः । एवंच 'उष्णं जलम्' इत्यत्रापि यदि

गुक्तथा प्रतिबन्धाक्षमत्व इति। ननु युक्तिरपि नोत्पद्येत, प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धादिति चेन्न; युक्तिर्हि न प्रत्यक्षग्रा्यद्यक्य अभावमवगाहते, ऊिंनु तद्याप्यम्। तथाचेदें रजतत्वाभावठ्याप्यवदिति ज्ञानरूपयुक्तः

कर्दमवस्त्रयोरिव तोयतेजसोर्मेदग्रहः; तदा गौणतैव। यदि च शरीरात्मवत् मेदानध्यवसायः, तदा अध्यास एव । तथाल्र युक्तिबाध्यमेवेति तदप्युदाहरणम्। यस्वहमिहैवेति प्रमाणमित्युकम्, तन्न; आत्मनः 'आकारावत्सर्वगतश्ध' इति सर्वगतत्वेन इँहेवेति व्यवच्छेद्ययाप्रामाणिकत्वात्। न च जीवोऽणु:, गुगपदेव पादशिरोवच्छेदेन सुखनुःखानुभवात्। न ऐोकोणणरेकदा व्यवहितदेशाक्क्यावच्छिब्मो भवति । न च युगपत्र्रतीतिभ्भ्रमः, उत्सर्गसिद्धश्रमाण्यापरित्यागे बीजाभावाब। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः। ननु-नभोलैलैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन न बाधः, लिद्भाभावात्। न च परममहच्चद्वर्यानारम्भकत्वादे: लिद्ञव्वम्, त्वन्मते असिद्द्रेः। निस्पर्शत्वं तु तमसि व्यभिचारि। पृथिठ्यादित्रयेतरभूतत्वादि चाभ्रयोजकम् । तथाच नीरूपत्व-

इदं रजतमिति प्रत्क्षक्पप्रतिब्य्यव्वात्तदुतरोप्पत्विसम्भवेन तया ${ }^{1}$ रजतत्वाभावच्याप्यग्युक्तित्वादिमति रजतत्वपकारकव्वहेतुना अमत्वानुतितिरण्याहता। एतेन-‘रजतादिप्र्यक्षे विद्यमानेड्य्यजतादिप्रस्यक्षं जायते स्वमावतो बलबत्त्वात् । अन्यथा काप्यप्रामाण्यर्धीर्न स्यात्' इत्यपान्तम् ; उक्तरींत्या भमत्वरीसम्म्वेने स्वभावतो बरुवत्वकल्पने मानाभावात्, प्रतिबध्यतावच्छेदके तत्वद्यक्तिभेदकूटनिवंको गीरवात्। अन्यथा विरोषिनिश्धयस्य कापि प्रतिबन्धकता न स्यादति ध्येयम् । विस्तरेणेति। उसकान्ल्यादिकं तु अणुत्वा'भावेव्यौपाधिकपरिच्छेदादुपपचते। किघ्वत्मनो द्रव्यत्वे मानाभावस्योक्तत्वात् पारिमाणमात्रे मानाभावः। ह₹्यमात्रम्वनच्धन्तु सत्ताक्फुरणणरूप्वादुपपधत इस्यादि वक्ष्यत इत्यर्थः। निस्पर्शात्वमिति । अनुदूस्तस्पर्शो नास्तींति भावः।

$$
{ }^{1} \text { संभाबत् । तथा. }{ }^{2} \text { अणुत्वा. }
$$

ग्राइकसाक्षिप्रत्यक्षमेव तबाधकं वाच्यम्; न च रूपग्रहणासमर्थस्य साक्षिणः कथं नीरूपत्वग्राहकर्वमिति वाच्यम् ; पिशाचाग्राहकस्यपि चक्षुपः तदभावग्राहकत्ववदुपपत्तेः, परेणापि साक्षिणोपि रूपवसमोग्राहकत्वाभ्युपगमाच् । अचाक्षुपेपि नभसि वायाविष चक्षुषैव रूपाभावग्रहणसम्भवेन चाक्षुपप्रत्यक्षवाधात्-हति चेक्भ; 'नालं नभः' इति प्रत्यक्षे जाप्रति रूपाभावग्रहणस्य चक्षुषा साक्षिणा चासम्मवात्। तथाच बलवती युक्तिरेव तद्वाधिका। न च लिक्राभावः, चक्षुरन्वयन्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषित्रतीतिविषयत्वात्, (न) रूपददिति लिब्लसम्भवाम् । न चा्रयोजकत्वम् ; नभो यदि सरूपं स्यात् तदा चक्रुर्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतीतौ रूपासम्बन्धितया विषयो न स्यादिति तर्कोपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः, सविधे रूपासम्बन्धितया नभसस्सिद्धेः सर्वजनसम्मतत्वात् । नभसः साक्षिन्वेद्यतायामपि चक्षुरन्वयन्यतिरेरान्गनिधानमवर्जनीयमेव। अन्यथा अन्धस्यापि तत्रूहणं स्याप् । न च तदभावेति। तद्रेदेत्यर्थः। रूपवत्तम इति। 'नित्यानुभवग्रां्धं तमः’ इति तच्त्वदीपनोक्तेः। तमस इव तदीयरूपादेरपि प्रातातिकत्वात् साक्षेबेधत्वेऽपि व्यावहारिकस्य रूपादेरतत्वाप्तदभावष्य नभसि साक्षिवेछ्घत्वं परोत्रमयुक्तम्। न च तमसः प्रातीतिकत्वे गुहामध्यस्थमदृ्यमानं तमों न स्यादिति वाच्यम् ; न हि ${ }^{1}$ ताहृयं तमस्स्वीकियते ; अपितु जले बृक्षाघोऽपप्ववत् केनचिद्र्यमानमेव, अधिष्ठानज्ञानादिरुपनिमित्तनाशादेव तन्नाशसम्भवात्। आलोकं विनापि तन्नारः, निमितनाशं विनाप्यालोकेन तन्नाश इल्यमिपायेण विवरणे आलोकनाइयं तदुक्तमिति ध्येयम्। अवर्जनीयमिति। चक्षुस्संयोगावच्छिन्नालोकावच्छिन्न नभः साक्षिवेघम्। यदितु महान्धकोरेडपि नभस्साक्षारकरोमीति .व्ववहारः प्रामाणिक:,

पश्रीकरणाइूपबदारग्धत्वेन नभसो नीरूपत्वं बाघितमिखि
 पश्श्विकरणपक्षेडपि अपश्रीकरणदशायां यस्मिन् भूते यो गुण: स पं्रीकरणाद्वचवहारयोग्यः भवतील्येतावन्मात्राम्युपगमाब् नाकासे रूपारम्भप्रसFः। न च 'नायं सर्पः' इत्युक्तेडपि किमेंब बदसि परमपि पुनः पराम्टर पर्सीति प्रतिवचनदर्शनात् न शब्दमात्रं रज्नुसर्पादिक्रमनिवर्तकम्, किन्तु भत्रक्षमेवेति षाच्यम् ; प्रतिवचनस्थले अमप्रमादादिश्रक्काकान्तत्वेन 'नायं सर्प:' इत्यदेद्रुर्बलतया न अ्रमनिवर्तकत्वम्। यत्र तु ताहक्श्रा काकान्तव्वं, तन्र भ्रमनिवर्तकतैव। अतएव ताहक्राक्रानाक्रान्तपित्रादिवचासि नेद्धक्रतिवचनम्; किन्तु सिद्धनर्प्रष्टत्यादिकमेव। ज्वालैक्यप्रत्यक्षमप्येवमेव युक्तिवाध्यम्। न च निर्बापितारोपितस्थले स्प्टतरभेदप्रत्यक्षनाधितामित्यन्यन्रापि दीघेंयं न हैसेति भेदद्रत्यक्षमेव तद्वाधकमिति वाच्यम् ; निर्वापिवारोपितातिरिकस्थले ताबदयं विचारः। तत्र दीर्घंयं न हस्वेति भेदप्रत्यक्ष वतुमशक्यम्। यैव हस्वा सैवेदारीं दीर्घेति हस्वत्व-

तदा चक्षुस्संयोगावच्छिन्नं नभ एव तथा। अन्यथा अन्घस्यापि तत तथा स्यात्। एवंच निमीलितनेत्रस्य तथा व्यवहारस्बीकारेऽवि न क्षतिः चध्रुन्तरे तस्संयोगसम्भवात्। न च नभसि चक्षुस्संयोगे मानाभाक इति वाच्यम् ; अन्धस्य नमस्साक्षाक्रोमीति व्यवहारात्ताद्याठ्यवहा प्रति चक्षुस्संयुक्तनभस्व्वे ${ }^{1}$ हेतुत्वावर्यकत्वात्, चक्षुस्संयुक्ते नभस्या वरणस्बीकाराद्धा तदावरयकत्वात्। एतेन-' रूपवत्यपि नमसि चक्षु स्संयोगाध्वीकारण तत्र रूपाचाझुतुपोपपतेः नभो यदीत्याघुक्त्र्कीमिब

दीर्घत्वाक्यां उपस्थितयोरमेदस्य साक्षातिक्रयमाणत्वात्। तथा च ज्वालाप्रत्यभिजा युक्तिबाधैये । सर्वद्वा पितदूषितनेत्रस्य 'पीतरहां्व्व:' इति प्रत्यक्षे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे च परोक्षातिरिक्तस्य बाधकस्य शाक्कितुमप्यराक्यत्वात् गुक्तयादिबाध्यतैन वक्तव्या। ननु सर्वत्रैनात्र प्रकारान्तरेण।सत्कल्पे प्रत्यक्षे मानान्तरप्रवृतिः। तथाहि-द्विविधं ज्ञानं द्विकोटिकमेककोटिकं च। अन्त्यमपि. द्विविधम्, अप्रामाण्यशाकाकलक्कितं तदकलक्कितं च। तत्राद्यौ सर्वप्रमाणावकाशदौ, अर्थापरिच्छेद्कत्वाद प्रामाण्यशाब्काकलक्कितत्वाच। अप्रामाण्यधीकलक्कितत्वं च क्षेधा भवति, दुष्टकरणकत्वनिश्ययादर्थाभावनिश्रयाच । तथाच रैलाग्रस्थितविटपिनां प्रदेयिक्त्वप्रतीतिर्दूरदोषनिबन्धना दृष्टेति दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययो दोषनिबन्धन एवेति निर्णीयते । एवमाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्रयाद्रे रूपवत्वर्धीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्यीयते । 'पतितरशाइ्वः' इत्यादिग्रत्यक्षं तु प्राथमिकपरीक्षित्रत्यक्षेण 'शाखो न पीतः' इत्यर्थाभावनिश्रयात् अभ्रामाण्यज्ञानास्कन्द्धितमोोतपद्यते। एवं सवितसुषिरादिप्रत्यक्षमपि। तथाच चन्द्रादिग्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं दूरादिदोषानिश्वयात् 'पीतशराबः' इत्यादिप्रत्यक्षं प्राथमिकार्थाभावनिश्ययादेव काशः' इति परास्तम्। वस्तुतन्तु नभो ${ }^{1}$ यदि नीलं क्यात्तदा नीकत्वेन दूरस्थैः गृद्यमाणावच्छेदेन निकटस्थैरपि नीलत्वेन गृह्यतेत्यत्र तर्के नभो यदीत्यादेस्तात्पर्यम् । तथाच नीकुत्वेन निकटस्थचाक्षुषाविषयत्वेन नभसि नैल्याभावानुमानं निर्विम्नम्। एवं महान्धकारे श्रकृत्वेन चाक्षुषाविषयत्वादिना शौकृयाद्यभावोऽनुमेयः । न च शुक्गेडपि नभासि शौक्नूयं न गृब्बेत, किन्तु नैल्यं दोषादिति वाच्यम्;

बाधितमिति पश्थादनुमानागमादी़्रसर इति न ताम्यां त्वाघः। येन हि यक्य अ्रमत्वं ज्ञायते तत्तस्य बाधकमित्युच्यते। न च चन्द्रप्रदेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते। अ्रमत्वज्ञानोत्तरकालमेव तत्र्रयृत्तेः। अभ्रामाण्यज्ञानाकलक्क्रितं तु स्वार्थपरिच्छेदकं निइशक्न्रयृृत्तिजननयोग्यम् । यथा 'वब्रिरुण एव' ‘भ्स्तरो यजमानभिन्न एव' 'घटः सन्ने’’ इत्यादि, तंभान्यस्यावकाशदर्शनात् नान्येन बाध्यम् । न ह्यत्र प्रागिव दूरादिदोषधीर्वा अर्थाभावनिश्ययो का कोख्यन्तरालम्बित्वं वा अस्ति । किश्च कचित्प्रत्यक्षं प्रत्यक्षान्तरगौरवाद्युन्तिबाध्यं भवतु । कचित्च लिद्धादिकं श्रुतिगौरवात् श्रुत्यनुसारिग्रकरणादिबाध्यं भवतु। राजामात्य इव राजगौरवेण राजभृत्यबाध्यः। तथापि न गुक्तिमात्रस्य प्रकरणमात्रस्य वा प्रत्यक्ष्लिक्भादिबाधकत्वम्, प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्य सर्वत्राभावात् । न हि प्रधाननीलेऽवि नभसि आलोकबाहुल्यदोषान्नैल्यं न गृस्ते, किन्तु श्रुक्वंव्वं दोपादित्यव्यापि सम्भंखात्। तस्माद्द्विनिगकाभावात् नभसि रूपमार्रं प्रारीतिक; अनुद्नूद्रूपूपनकीकारात् । अअ्कीकररेडवि नभसस्तद्वत्वे मानाभावाद्योग्यनीलरूपामावस्यैव साध्यत्वसम्भवान्न दोषः। क्रचिच लिज्भादिकरिति दृष्तन्तत्वेन पकृतोपयुक्तम् । प्रकरणमात्रस्य प्रकरणादिमान्तस्य, प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्येति। प्रत्यक्षसमानविषयकत्वस्य युक्तिमान्रे, श्रुतिसमानविष्यकत्वस्य प्रकरणादिमान्रे चाभाबादिल्यर्थः। कचिद्वाधकजातीयत्वेन बाधकत्वे दोषमाह--न हि प्रधानेत्यादि। प्रथमतृताये 'शिस्टाोपेपविरुद्धमिति चेन्न; शास्रपरिमाणत्वात्' इल्यधिकरणे स्थितम् स्मार्तानामाचमनादीनां औौतैत्रि: कमकालपारेमाणादिभिः विरोधे श्रौतत्वेन कमादीनामेव पावल्यादान्मनादिसमृतिनामपामाण्यं; न हि ‘क्षुत आचामेत्’ इत्यादिना विहित-

# भूताचमनादिपदार्थविषयया 'आचमेदुपनीती दक्षिणाचारः' 

इत्यादिस्मृत्या पदार्थधर्मभूतक्रमादिविषयया 'वेदें कृत्वा वेदि करोति' इति क्षुतिर्वेद्दकरणानन्तरं क्षुतनिमित्तकाचमनोपनिषाते

## माचमनादि वेदवेदिकरणयोर्मध्ये अनुम्षितं चेत् 'वेदं कृत्वा वेदिं

 करोति ' इत्यादिश्रुत्युक्तक्रमस्य प्रयोगविध्यवगतम्य अनुं्ठेयेयत्तारूपपरिमाणस्य पूर्वाद्बादिकालस्य च विरोध ${ }^{1}$ स्सम्भवति । न च श्रौतत्वेऽपि क्रमादे: पदार्थर्मर्वात् पदार्थेम्य आचमनादिभ्यो दौर्बल्यामिति बाच्चम् ; प्रमाणतत्त्वनिश्वयस्य प्रमेयतत्रवनिध्धायकर्वेन प्रमाणबलाबलनिश्ययस्य प्रमेयबलनल निश्धयात्पूर्वप्पवृत्तत्वेन बलवत्त्वेन ठ्यवस्थापकत्वादिति प्राप्ते--यावत्पमाणगम्यपदार्थानां प्रापचुत्तरं युगपदनुष्ठानासम्भवेनाकांक्षितस्य कमादेः श्रुत्यादिना निर्णेयत्वापपदार्थाविरोधेनैव कर्प्यत्वान्न पदार्थविरोधित्वम्। विरोधित्वेऽपि पदार्थानामेव प्राबल्यम् । प्रमाणानां हि न स्वरूपतो विरोधः; किन्तु विरुद्धविषयकत्वात्। तथाच प्रमाणबलाबलनिर्णयाएय विषयविरोधालोचनकाले प्रमेयनला बलाम्यां शास्स्रंथनिश्षये वाश्धाच्चंय प्रमाणबलाबलज्ञानमग्र|द्यमिस्युक्तश्रुत्या नोक्तम्मृतेब्बध्यत्वरूपमप्रामाण्यम् । बेद्: सम्मार्जनसाधनदर्भमुष्टि:, तस्य करणं बन्धनादिसंसकार । वेदि: गाहपप्याहवनीययोर्मध्ये चतु. रहुलखाता भूमिः, तत्करणं छेदेनेन सम्मार्जनादि: । शिष्टस्य 'वेदं कृत्वा वेद्दि करोति' इत्यादिश्रुत्युक्तस्य स्मार्ताचमनाद्यनुष्ठानात् अकोपे हान्यभंवे सति अविरुद्धमेवंजातीयं ₹मार्तमितिं चेन्न, आाख्रेण श्रुल्यादिना कमस्य प्रयोगवचनेन प्रयोगशीप्रत्वादेश्र परिमितत्वात्प्रमितत्वादिति पूर्वपक्षसूत्रार्थः। सिद्धान्तसूत्रं तु अपिवेत्यादिकम् । वार्तिककारीयमधिकरणवचनं त्वन्यादृरां प्रकृतनुपयुक्तम्। उपवीती दाक्षेणेति।[^74]बाध्यत क्षति अन्यत्रापि तथा भवितक्यमिति चेन्मैभवम् ; यतो युक्तिरेवैषा। यद्यहूरस्थल्पपीरमाणज्ञानं तत्तहूरदोषनिबन्धनमश्रमा, रैलगग्रस्थविटव्यल्पपरिमाणज्ञानवदिद मपि तथेति। तथा च एवंरूपया युक्तचैत्र चन्द्रप्रदेशिकत्वादित्रत्य क्षस्य बाधं वद्न युक्तया न प्रत्यक्षस्य बाध इत्यनेनाजैषीः परं मन्दबुद्धे मन्दाक्षं न तु परम्।
 बाधकम्, तस्येदानीमभावत् । न च तत्स्मृनिर्बोधिका; तस्या अनुमवाहुर्बलत्वात्। केवलं यक्तगुत्पादन एव सोपयुज्यते। तेन युक्तयागमाक्यामेत्र उदाहुतस्थलेषु बाधः। यत्रु कवचिद्युकचादे: बाधकत्वद्र्शनमात्रेण सर्वत्र न बाधकत्वं वत्तुं शाक्यम्, युक्तगादिबाधकताया अनुस्तियमाण प्रत्यक्षगौरवनिबन्धनत्वादित्युक्तम् ; एतदनुक्तोपालम्भनम् । न हि मया क्वचिद्दर्श-
उपवीतच्छेने पुनरुपवीतान्तरम्रणे कमादे: बाघः, वामपार्श्वस्धपदार्थस्य दक्षिणहस्तेनानुष्ठाने प्रयेगरीीप्रव्वादिबाधः। तत्स्मृतिः तज्जन्यस्मृतिः। दुर्बलत्त्रादिति । गृहीतमाहकत्वनियतजातीयत्वादिना दौर्बल्यमिति भावः 1 स्मृतेर्बाधकत्वेऽपि सिद्धं नस्समीहितं परोक्षस्यापरोक्षबाधकत्वादित्यपि बोध्यम् । यतु-‘'दूरस्थतरुपरिमाणादिप्रत्यक्षे
 साक्षिणैव' इति, तत्तुच्छम् ; यदि हि अमत्वे साक्षिणोडनावृतः सम्बन्घः, तदोोक्तधीः कोपयुज्यते? तेंनैव अमत्वे व्यवहार ${ }^{2}$ सम्भवात् । अन्वयन्यतिरेकाभ्यां सापि व्यवहारे ${ }^{3}$ आवरणनिवृत्तौ वा ${ }^{4}$ कारणं इति चेन्न; अपूर्वकल्पनापत्तेः । अथोक्तषीविशिष्ट्जानस्यैन अमत्वमनावृतं ${ }^{5}$, तदा अ्रमोत्पचिद्वितीयक्षणोत्पन्नया तया विशिष्ट्जाने

$$
{ }^{1} \text { दूरत्वादिना दोष. }{ }^{2} \text { भ्रमव्यवहार. }{ }^{3} \text { संविद्यघवहांरे. }{ }^{4} \text { कारणं, }
$$ येनोक्तकल्पनापूर्वकलन्नापत्तिः इति पा. ${ }^{5}$ भ्रमत्वमावर्यकमिल्यानाधृतं.

नमात्रेण युत्तेर्बाधकता सर्वत्रोच्यते, अपितु चन्द्रप्रादेशिकत्वशा ${ }^{\text {पी तत्वप्रत्यक्षादौ } य ा व द ा ग म ा द े: ~ ब ा ध क त ा प ् र य ो ज क ं ~ द ृ ष ् छ ~ त ा व-~}$ त्सत्वेन । न च तत्रानुस्तियमाणं प्रत्यक्षमस्ति ; घहौरवेण बाधकतायां अन्यथासिद्धिं हूरयाः । तस्माचन्द्रग्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य ग्रपश्रसत्वप्रत्यक्षस्य च तुल्यवदेव बाध्यता। युक्तया-

द्वितीयक्षण इव प्रथमक्षणेऽप्यनाष्बुतं तस्स्यात्। आवृतं वा द्वितायक्षणेडपिं स्यात्, आवरणनिवर्तकाभावात्। अथात्ञानैकत्वपक्षे तत्त. द्विषयाकारवृत्त्यभावविशिष्टाज्ञानस्य तचद्विषयावारकत्ववदुक्तधीविरहविशिष्टाज्ञानं अ्रमत्वावारकमिति, तद्व्यपूर्वकल्पनम् । त्माद्दोषजन्यस्वादिलिक्ञभ्रमत्वानुमित्यैन तदावरणामिभव इति क्लपर्तीतिरेव साध्वीति धग्रेयम् । ननु नभौनैल्येनानुमानं चाघकं, सविधे नभसि नैल्यसत्त्वेऽपि तस्य नीहारावगुण्ठनस्येव सामीव्यदोषादग्रहसम्भवादुक्ततर्कानववतारेणानुमानासिद्धोरिति चेन्न; सामीप्यदोषाच्तदग्रहो दूरत्वदोषात्तदूहो वेल्यत्र विनिगमकाभावात्। न च दोषস्राह्यत्वे नभोनैल्यस्य प्रातीतिकत्तेन अनन्तोत्पत्तिध्वंसकल्पनागौरवमिति वाच्यम्; तस्य उयावहारिकत्वेपि अनन्ततचाक्षुषोल्पात्तिनाराकल्पनात् । किंच सामीव्यदूरत्वयो: दुर्वचत्वाद्विजातीयसंयोगादिमत्पदेशावच्छिन्नं नभः स्वनिष्ठविषयतासम्बन्धेन नैल्यविशोषचाक्षुषत्वावाच्छिन्नं प्रति हेतुर्वाच्यः। तथाच तदपेक्षया लाघवाद्विजातीयसंयोगत्वेन नैलयविशेषहेतुत्वमेवास्तु । एतेन नमोनैल्यस्य ठयावहारिकस्य दैशिकाव्याप्यवृत्तित्वशक्षणि प्रत्युक्ता । सर्वावच्छेदेन सन्निकर्षात्तत्रत्यक्षवारणाय उत्कहेतुत्वावरयकत्वेन लाघवात् उक्तहेतुत्वेन तत्रातीतिकत्वसिद्धेः। अतएव किन्व्वागमादिना बाधानन्तरमिति भ्रन्थे उक्तयुाक्तिराचार्याणाममिंप्रेतेति ध्येयम् । यतु ' रूपवदवयवारबधत्वादाकाझो रूप-

गमयोश्य तुल्यवदेवंव बाधकतेति। न हि चन्द्रप्रादेशिकर्वप्रत्यक्षेजपि प्रागेव दुष्टकरणत्वनिश्वयः। नैकह्यस्यापि कवचिद्दोषत्वेन सर्वंत्र परिमाणज्ञानाविश्वासग्रसझ्झात्। किन्तु अागमादिना बाधानन्तरमेब। तद्धव पक्रतेगपि मिथ्यात्वसिद्धघनन्तरमेव अवियारूपदोषनिथ्थयः। तथाच सर्षात्मना साम्पम्। यतु दछस्प वस्तुनो बलवदृष विना अन्यद्वाधकं नास्तीत्युक्तम, तहुर्वलशग्दलिक्नादित्रिपयम्। यदद्पुक्तं विरणे-'यत्राविचारुस्स्समेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितपुण्छिन्नव्यवहां भवति, तत्र तथा भबतु। यत्र पुनः विचरपदववीुपारहबयोः ज्ञातयोर्ब्राबबरचिन्तया बाधनिभ्यः, तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्दि:'- हैति, तदपि गृहीतभ्रामाण्यकशब्दतुपमुप्पद्यताम्' इृति, तन्न ; अन्मन्मते हि नारम्भवादप्रक्रियया रूपादिक स्वाश्रयसमवायिरूपादिजन्यम् ; जलादे: पश्चीकृतस्य ${ }^{1}$ गन्धाय्यापत्ते:, घटरूपाद्युत्पत्त्यव्यवहित ${ }^{2}$ पूर्वक्षणे घटाद्याह्मना पारिणतस्य कपालादेरेवाभावेन तदीयरुपादे: दूरत एवाभावात् घटरूपाद्युपर्षायकत्वासम्भवाच्च । किन्तु शक्तिविशेषविशिष्टस्यैव कारणत्वं तत्र स्वीक्रियते। सा च शक्किः तेजस्संयोगविशोषे पाकजरूपादिजनक इवाकाइावायुठ्यावृत्तपाश्चभौतिकसंयोगेऽपि स्वीक्रियते। तथाच येषु येषु भूतेषु यादृशायाद्धशर रूपादि अनुभवसिद्धं, ताद्टशताद्टशकारणतावच्छेदकराक्तयशश्रयसंयोगानां तेषु तेव्वेव ₹वीकारात् न दोषः । एष एव न्यायो ‘वैशेष्यातु तद्धादः' इति सूत्रेमिऽप्रेतः। रूपादिमात्रस्यानादित्वे तु न कापि राक्षा, पृथिठ्यादिजनकसामসी्रव्याप्यसामग्रया एव नीलादिविशिष्टजनकत्वस्वीकारेणाकाशादे र्नीरूपत्वादिसम्भवात्। दृष्टस्य प्रत्यक्षविषयस्य। दृष्टं प्रत्यक्षम् । गृहीतग्रामाण्येति । मिश्यात्वश्रुति-

[^75]
# जीव्यनुमानातिरिक्रयुक्तिविषयम् ; एकत्र प्रामाण्यनिश्यये बला- 

 बलचिन्ताया एवानवकाशात् ॥इति प्रत्यक्षस्य लिन्काद्यबाध्यत्वे बाधकम्.

## भाविबाधोद्धारः


#### Abstract

एवंच 'भाविबाधनिश्वयाच्च' इति यदुक्त, तद्व्युपपन्नमेव ; प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य यथा आग-


 मेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वबोधकागमेन बाध इति निर्णयात् । एवंच भाविबाधराङामादाय यत्पर्रैदूषणमुक्तं तदनुक्तोपालम्भनतया अपास्तम्। वस्तुतस्तु बाधराङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य बाधकतोद्धारः समीचीन एव। प्रत्यक्षशाब्दयोः बलाबलावेचारात् प्राक् किमयं शब्द् उपचरितार्थः? आहोसिवत् प्रत्यक्ष्मम्रमाणम् ? इति राछायामुंभयोरबाधकत्वप्रापौ तात्पर्यलिड्ञः: श्रूयमाणार्थपरतया निश्रितस्यागमस्य उपचरितार्थत्वराङ्कान्युदासेन लब्धावकारात्वसम्मवात् । न च शब्दलिङ्नयोः प्रत्यक्षाबाधकतया प्त्यक्षान्तर-निरवकाशत्वश्रुतित्वादिना ताहृशी, तदुपर्जीवित्वाद्धढतर्कयुक्तत्वाच्च तदनुमानमवि ताहुरामिति भावः॥

तर्कैः सारस्वतै रतैश्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणै:।
अक्षे लिझ्ञाद्यबाध्यत्वे बाधकं ध्वन्तनाशाकम् ॥
इति प्रल्यक्षस्य लिकाद्यबाध्यत्वे बधधकम्.

ऊ०धावकारात्वसम्भवादिति। प्रत्यक्षे बाघशक्काया इत्यादि:।

स्याप्रमाणतया शक्कथमानत्वेनाबाधकतया च बाधकसामान्याभावे निश्यिते बाधशक्षा न गुन्तेति वाच्यम् ; शब्दल लिद्भयोः प्रत्यक्षबाधकत्वस्य व्यवस्थापितत्वाव्, प्रत्येकं विरोषाभावनिभ्यये ऽपि विरोषाणामियत्तानवधरणद्शायां संश्रयसम्भवात्, प्रत्यक्षस्याप्रमाणतया राङ्बयमानत्वेन रा क्किरिरोपपादनस्यासम्भवदुक्तिकत्वाच । अथैनं जाग्रदाादिज्ञानस्याप्रमात्वे खमदृष्टस्य शुर्तिरूप्यादेश्र बाधासिद्धौर कथं हृ्टान्तसिद्यिः स्यादिति चेन्न ; आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकविषयत्वेनोेक्षिकप्रमाणत्वेन अन्यूनसत्ताकविषयत्वेन वा बाधकत्वात्। अतएव यदुक्तं बौौ्द्ध प्रति भद्टदार्तिंके-

प्रत्यक्षस्येति। प्रत्यक्षान्तरस्येत्यर्थः। यदि प्रत्यक्षान्तर्वव्वावच्छेदेनाप्रामाण्यशक्रा, तदा प्रत्यक्षमात्रे ₹वविषयसत्च्वावगाहित्वस्य त्वयापि स्वीकारान्, विषयान्तरांश दू सच्च्वांशेडप्यपामाण्यशः क्षासम्भवः। अथ तदवच्छेदेन सा न, तदा प्रल्यक्षान्तररूनस्य बाषकस्य रान्कासम्भवाद्वित्युभयथापि न शक्षाविरहोपपादनसम्भव इल्याशयः। आरोप्यसत्ताधिकेति । प्रतितिकच्यावहारिकपारमार्थिकसत्तानां पूर्वपूर्वापेक्षया उत्रोत्तरस्याधिक्यम्। तत्र पल्ववाविद्यावच्छिन्न चैतन्यमाघा, मूलाविय्यावच्छिन्ं तत् द्वितीया, गुद्धं ततृतीया। अथवा अज्ञानविषयतावच्छेदेकव्वं द्विताया, ग्रुद्धाचिदन्यत्वे ${ }^{1}$ सति तदभाव आधा, मुखादे र्व्यवहारिकत्वपक्षे विशेषणान्तरं देयम् । प्रातीतिकस्येव गुद्धचितोपि तदभावात्तदन्यत्वनिवेशः । बाध्य ${ }^{2}$ बीविषयसतापेक्षया उत्राधिकसत्ताकविषयकत्वरूपमापेक्षिकम्पमाणतं विनापि स्वामधियः न्वाम्रींशाषकत्वस्य स्वयमुक्तव्वादाह—अन्यूनेति।

$$
1 \text { गुछबत्वतन्यले. } \quad 2 \text { साष्य. }
$$

## प्रतियोगिनि हृष्टे च जाग्रद्रोधे मृषा भवेत्। <br> स्वमादिद्धि्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किक्टतः ।।

इति, तत्सभ्नच्छते । ननु अ्रमकालीनापरोक्षबुद्धधविषयविशोष-
प्रतियोगिनि दृष्ट इति। प्रतियोगित्वेन मानसिद्धे• जाय्रहोधे इत्यर्थः। प्रतियोगित्वं च उक्तसत्ताक ${ }^{1}$ निषयकत्वम्। अथवा जाभद्बोधेन प्रतियोगिनि दृष्टे विषयीकृते इत्यर्थः। प्रतियोगित्वं च उक्तसत्ताश्रयत्वम्। अस्माकं: ज्ञानातिरिक्तज्रेयस्य उक्तसत्तावादिनाम्। ख्वादीति। आदिना शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकस्य व्यावहारिकस्य च सक्लू । मृषा बाध्या। तव ज्ञानातिरिक्तं ज्ञेयं सर्वमलीकमिति वादिनो योगाचारस्य । भेद्: बाध्यवाघकभावादिः। किक्कुत इति । ज्ञानान्यविषये उक्तसत्रानजीकारात् ज्ञानात्मकविषयस्य ज्ञानेन सह विषयविषयिभावसम्बन्धानुरोघेन ${ }^{2}$ ज्ञानान्भिन्वत्वेनापि स्वीकार्यतया भेदाभेदयोस्साहित्यविरोषात्, अभेदादिसम्बन्धमात्रस्य च सम्बन्धान्तरसापेक्षत्वादिना दुर्वचत्वात्। ज्ञानजेयसम्बन्धसापेक्षसिद्धिको ज्ञेयांशा इव ज्ञानांशोऽपि त्वन्मते बाध्यः ₹्यात्, इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति बुद्धयोरन्यूनसत्ताकविषयकर्ताविशेषात्। अथास्तु तथैव माध्यमिकस्य शून्यवाद इति चेन्न; ज्ञानस्य लाघवेन क्षणिकत्वाद्यस्वीकारात् ${ }^{3}$, तत्स्वरूपमात्रे सन्देहाद्यभावेन प्रकाइयत्वाकल्पनाच्च सफुरणस्वरूपबाधस्य अनुपलबचेः तद्वाध्यत्वे मानाभावात्, Fफुरणरुपस्य तदन्यबाधकतायोग्यषीविषयताकल्पनस्योचितत्वादिति । त्वन्मते बाधकताप्रयोजकं रूपं दुर्वचमिति किरिब्देनाक्षिप्यत इति भावः । परमते शुक्तिरूप्यादेः असत्त्वस्वीकारेण तत्सत्ताधिकसत्तादेः अप्रसिद्धया न बाध्यत्वं सम्भवति, मन्मते तु सम्भवल्येवेत्याइायेनाह-तत्सङ్ञच्छत इति । अ्रमकालन नेति । ताद्धशाबुद्धि: अधिष्ठानसामान्यांशाषी:, तद़विषयो विशोष-:
${ }^{1}$ सत्ताकसंज्ञा. ${ }^{2}$ भावानुरोधेन. ${ }^{3}$ घ्यत्वकिारात्

विषयैव धर्बाधिका हष्ट, न च विश्रबाधिका धीस्तथेति चेश; अधिष्ठानतत्व्व्रानत्वेनैव अ्रमनिवर्तकत्वाप्, विश्वनिवर्तक श्रकज्ञानस्य तथात्वात्। न च स्रकारिकैन धी: अ्रमनिवर्विका, इयं तु निष्प्रकारिका कथं तथेति वाच्यम् ; निवर्तकतायां सप्रकारकत्वस्य गौरवादप्रवेशात् । नजु आवइयकः सप्रकारकत्वनियमः, व्याटृत्ताकारझ्वानत्वेनैव अ्रमनिवर्तकत्वात्, अन्यथा अनुवृत्ताकारज्ञानादपि तम्वियृच्यापत्तेरिति चेत्, सत्यम्; व्यावृत्ताकारत्वेन ज्ञानस्य अ्रमनिवर्तकता, न तु विशेषप्रकारकत्वनियमः । तथाहि-व्यावृत्ताकारता हि द्वेधा भवति, विशोषणादुपलक्षणाच्च। तत्राघे सप्रकारकत्वनियम:, द्वितीयेडपि धर्मान्तरस्य यदुपलक्षणं तस्माओ्यावृत्ताकारत्वे सप्रकारकतैव श्रुक्तित्वादिः। धीस्तथेति। तद्धीविषयम्य शुद्धस्य प्रपश्बोपहितभानेप्यवइयं भासमानव्वात्। अथवा विरोषो व्यावर्तकधर्मः, शुर्दं च न तथेति भावः। अघिप्षानतच्चज्ञानेति । अन्यविषयत्वानिरूपिता या भममूलाज्ञानविषयनिष्टाविषयता तच्छालिज्ञानेल्यर्थः। व्याृृत्ताकारत्वेन । उ्यावृत्तविषयकत्वेन । ग्राध्याभावादिरूपो यो ब्यावर्तकषर्मः तदाश्रयविषयकवेवेनेति यावत् । विशेषणादिति। व्यातृत्ताकारुद्दी भासमानं व्यावर्तकषर्ममादायेल्यर्थः। ताहशाषर्माश्रयविषग्रकत्वरूपेति यावत्। उपलक्षणादिति। उत्कमासमानान्यव्यावर्तक घर्ममादायेत्यर्ः: । ताहृताधर्माश्रयविषयकवरुपूति यावत् । धर्मान्तरस्येति 1 उत्तृणत्वादिरूपस्य घर्मान्तरस्य तद्वथाप्येन काकादिना यत्रोपस्थितिस्तत्र तस्योतृणत्वादे: ज्ञापकरूपोपउक्षणकाकाध्याश्रयविषयकज्ञानस्योतृणत्वाभावादिभ्रमानिवर्तकस्य काकाघ्रकारकत्वेऽपि उत्तृणत्वादिभकारकत्वास्सप्रकारतैबैतेर्यर्थः। न चउत्तृणत्वं्याप्यकाकादिमताज्ञानस्यैव ताहाग्रमविरोघित्वसम्भवात् उत्व-

णत्वादिधर्मान्तरोपस्धितिः ठ्यर्था, यत्र ताद्छाकाकादिमताज्ञाऩं गृहादौ नास्ति, तत्र ताद्याभ्रमनिवृत्तये सम्बान्धि ${ }^{1}$ ज्ञानविधया काकादिधीजन्योतृणत्वादिस्मृतिजन्यतद्बिशिष्ट्रुद्देखपयोगित्वेऽपि 'काकवन्तो गृहा:' इत्यादिवाक्यार्थोघच्धले ताह्यकाकादिमताज्ञानस्यैव ताह्याभ्रम-विरोषिल्बसम्भवात्-इति वाच्चम् ; ‘रदानीं गृहा नोतृणाः' इत्यादिभ्रमे इदानीं ताह्छकाकनन्त इत्यादिज्ञानस्यैव निवर्तरकतया काकासत्त्व-
 न चोतृणन्व्व्याप्यतया काकादिज्ञानाय पूर्वमुतृणत्वाद्युपस्थित्यावस्यकत्वात् ताद्धशज्ञानेन पुनः तदुपस्थितिकल्पना ठ्यर्यंति वाच्यम् ; व्याव्यस्वसंसकाराविश्षकाकादिज्ञानस्यैन उपस्थापकत्वात्। यद्याि रजताकिअभमनिर्वर्तस्य शुक्तित्वादिपकारकज्ञानस्य च्यार्तकतावच्छेदकीभूतेन रजतमेदठ्याव्यस्चादिना न शुक्तित्वादिविषयकत्वम्; तथावि तस्य ताहद़शभ्रममूलाज्ञानसमानविषयक्वेन उक्ताजानोच्छेदकल्वेन अ्रमनिवत्रकत्वम् । अतो वस्तुगत्या व्यावर्तकतावच्छेदकरूपविशिष्टं यत्तस्मकारकक्ञानं भ्रमनिर्वर्तक वाच्यम् । तथाच शुद्दव्नह्नणोऽपि तादास्येन द्वैतापावव्याप्य्यवात् ${ }^{2}$ तादात्ये्येन स्वसम्बन्धिनि नस्मिन् ज्ञाते ${ }^{3}$ युय्तैव द्वैतभ्भमनिवृत्तिः। अतएव तादास्येन स्नेहाद्यावव्याव्यत्वेन ज्ञाने ${ }^{4}$ स्नेहादिभ्रमनिवृत्तिः तार्किकादिभिः स्वीकियते। न हि तै: स्नेहायमावस्य तादाल्पेन व्याप्यः स्नेहवानिति अमः ₹वीक्रियते। अतएव चस्तुगत्या व्याव्यं यत् ख्वं तादाल्येन तद़्पकारकत्वेडपि बक्रज्ञानस्य अभनिवर्तरकत्वमव्याहतम्। याहखास्य हि ज्ञानस्य तार्किकादिभिः याहशाभ्रमप्रतिवन्षकत्वनुच्यते ताहछास्य ताहशभ्रमेच्छेदकत्वमस्माभिरप्युच्यते। तथाच तादास्येन तदभावव्याव्यं तद्वदिति

[^76]स्रमेच्छाविरहविशिष्टं तद्यावव्याप्यज्ञानं ताद्टशभ्रमे प्रतिबन्धकमुच्यत एव तैः। तत्र यद्यपच्छाजन्यस्यास्मन्मते ज्ञानत्वाभावानुक्तेच्छाविरहो बाधकतावच्छेदके न निवेशइयते, अनुमवबळाच व्याप्यत्वानवगाहिज्ञानस्यापि बाधकत्वं ; तथापि व्याव्यत्वेन ज्ञातविषयकज्ञानस्य अ्रमविरोधित्वमविवादमेव। अथ तदमावादिव्याप्यत्वानवगाहिज़ानस्य तद्रमविरोघित्व स्वविषये तदभावत्वाद्यवगाहित्वे तदभावा ${ }^{1}$ दिव्याप्यत्वप्रकारको द्नुद्धसंसकारविशिष्टत्वे वा नान्यथेति परेषामाम्रह, तथापि नास्माकं क्षतिः ; शुक्तित्वार्दौ रजतभेदादिव्याप्यत्वप्रकारकसंककारविशिघ्टस्य तत्पकारकज्ञानस्य शुद्ध习त्मणि द्वैताभावादिठ्याप्यत्वप्रकारकसंसकारविशिष्टस्य तज्ञानस्य रजतक्य द्दूतस्य च अमे विरोधित्वसम्भवात्। न चैवं द्द्रैताभावच्याप्यत्वविशिष्टविषयक्ज्ञानस्यापि द्वैतभ्रमविरेंशित्वसम्भ_ वेन शुद्धज्ञानसैयैन श्रुत्याद्विना तहोधनं विरुद्धमिति वाच्यम् ; उस्कविशिष्टविषयकस्य शुद्धविषयकस्य वा चिरसश्चितसद्वैतत्रद्मवासनाभिरपामाण्यज्ञानानाःकन्दितत्वाभावेन श्रवणादिपाटवोत्तरज्ञानविशेषस्यैव तत्सम्भवात्, तश्य चेहूद्धनादृश़संसकारैवैशिष्टयावर्यकत्वात् शुद्धविषयकत्वेऽपि तादृराभ्रमावेरोधित्वसम्भवात्। शुद्धान्यविषये तत्त्वमम्यादिश्रुते: तात्पर्ये प्रयोजनाभावात् शुद्धमात्रतात्पर्यग्राहकतयोपकमादिकं लिक्ग प्रवृत्तामिति तदनुसारेण तमेव विदित्वेत्यादिश्रुत्या तथा बोधनस्य युक्तत्वात्। अथ तथाव्यनुपस्थितेन गिरिदर्यादिवर्विवस्तुमात्रगतविंोोषेणावच्छिन्नप्रतियागिताकाभावत्याव्यत्वेन संक्काराभावात् तेन रूपेण द्वैतभ्रमनिवृत्तिः कथमिति चेत् स्वत एव, कारणाभावात्; ताद्दुाभ्रमस्य निवृत्रिर्हि विश्वसत्यत्वमतेडनुत्वाद: । कारणोच्छेदपूर्वकोच्छेदन्तु मन्मत एवेपस्थितरूपेण द्वैतं सदिति अ्रमं प्रति तेन रूपेण द्वैताभावच्याप्यत्वेन संसकृसद्रूपज्ञानस्य विरोधित्वमित्येतन्मान्रं सर्वसम्मतमिन्युक्तम् ॥

किश्र असणि तादाल्येन हइसपकारकझ्रममात्रस्य जडत्वादिभाननियमादनात्ममान्रं जडतया दुःख्यतया मिध्यात्वेन च भाति, आर्मा तु चिदूपूप्वादिनेति विवरणायुकेः हृछ्यभं प्रति पूर्णानन्द्वव्वरूज्ञानं विरोषीत्युक्तम् ; जडब्वादिधर्मस्य पूर्णानन्दस्वरुपस्वाप् । स्वीक्कियते हि पैरैपि घटे तादात्मेन घटान्य्रमे घटत्वादिविषयकक्ञानस्य विरोषित्वम्। अन्यथा घटो घटादन्य इति अ्रमापतेत। न चैवमपि निर्विकल्पकस्य जक्षज्ञानस्य विरोषित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् ; घटत्वावाच्छिन्नपतियोगिताकमेदविशिप्टनिष्ठ ${ }^{1}$ पकारतानिसूपितविशेष्यताबच्छेकफक्वसम्बन्घेन प्रत्यक्षं प्रति तदिच्छाविरहाविशिष्टज्ञानत्वेन घटत्वनिहेन अनवच्छिन्नविषयतासम्बन्धेन प्रतिकन्षकत्वं हि परैः स्वीक्रियते। जातिमान् घटान्य इत्यनाहार्यप्र्यक्षोदयादनवच्चिनेति। घट इति ज्ञाने सत्यपि ताहृशप्रत्यक्षोदयादवच्छेदकलेखेड्यनवच्छिन्नेति देयम्। तथाच पूर्णानन्दरूपतद्वघक्तिव्वावाच्छचन्न्रतियोगिताकभेदाविशिष्ट ${ }^{2}$ पकारतानिरुपितविझेष्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेन प्रत्यक्षे तदिच्छाविरहविशिष्टज्ञानत्वेन ${ }^{8}$ पूर्णानन्दव्वरूपनिष्टेन अनवच्छिन्नविषयतासम्बन्षेन विरोधित्वस्यापि सर्वसम्मतत्वात्, चरमुह्सज्ञानकाले जडत्वादिरूपेण ज्ञाने मुुुक्षोरिच्छाविरहात् चरमस्य ब्नक्निर्विकल्पस्य सर्वसम्मतमेव ताद्रशज्ञानविरोधित्वम्। तथाच मन्मते ज्ञानस्येच्छाजन्यत्वास्वीकारेणो केच्छाविदटविशिष्टरूपेण अक्सजानस्य विरोधित्वाश्वीकरोेड्यनात्मज्ञान पत्य(क्ष)पामाण्यज्ञानानाएकन्दित्रस्ञानल़्लेन विरोधित्वं स्वीक्रियते; जडत्वादेः प्रतिबध्यतावच्छेदके निवेशाभावेन लाघवात्। अपिचेच्छा(घ) पटिताज्ञानसामหी अनिच्छाविषयज्ञानविरोषिनीति परेषां सम्मतमिति अद्सनिर्विकस्पस्य मोक्षहेतुत्वेन श्रुल्यादिसिद्दस्य तार्किकशिरोमण्यादिसम्मतस्य च मुमुक्षोरत्यन्तमिष्टतया अन्यज्ञानस्य तदभावेन

यदि तु स्वरूपोपलक्षणाब्याषृत्ताकारता, तदा निष्पकारकतैब ; उपलक्षणस्य तत्राप्रवेशात्, स्वस्य च खस्मिभ्रकारत्वात्, न च प्रमेयत्वादिवत् स्वसैयव स्वसिन् प्रकारत्वमिति वाच्यम् ; त्वयापि केनलान्वयिन्येव अगत्या तथा अङ्गीकारात्। न तु सर्वत्र। अथ आकारप्रकारयो: अभेदात् श्रह्साकारतैव ब्रह्मबुद्द्ये: तत्रकारतेति चेन्न ; तिशिष्ट्युद्धे: विरोष्याकारत्वेपि तदग्रकारकत्वात्, आकाएप्रकारयोर्मेदात् । आकारश्र बृत्तिनिष्ठः कशिद्धर्मोडसाधारणव्यवहारहेतुरिति वक्ष्यते। तस्माद्यथाकारापदाच्छब्दाश्रयत्वोपलक्षितधर्मिस्वरूपमात्रं ज्ञायते, तद्वदत्रापि द्वितीयाभावाद्युपलक्षितन्रह्मप्रत्युत द्विष्टतया ${ }^{1}$ च न्रह्मनिर्विकल्पस्य अन्यधीमान्रविरोधित्वं सर्वसम्मतामित्यादिकमभिपेत्याह—यदि तु स्वरूपेति। उपलक्षणस्येति। व्यावृताकारबुद्धावविषयस्य क्यावर्तक ${ }^{2}$ धर्मस्येत्यर्थः। तत्र ठ्यवृृत्ताकारबुद्धौ अप्रवेशात् अप्रकारत्वात्। स्वस्य चेति। ननु स्वं स्वस्य रूपमित्यादिव्यवहारात् ‘अनन्दं श्रक्सणो रूपं, तस्य भासा’ इत्यादिश्रुत्यनूदितत्वाण्च स्वस्य स्वस्मिन्नपि कल्पितसम्बन्धोडस्तीति कथं स्वस्य स्वस्मिन्नपकारत्व ${ }^{3}$ मिति चेत्, न; ज्ञानविशोषविषयत्वादिरुपभेदविशिष्टकरोण सम्बन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः सम्भवेऽपि शुद्धसवरूपेण तदसम्भव।त्, सम्भवे वा तस्य प्रातीतिकत्वेन च्यावहारिकविषयकभ्रमविरोधिधीविषयत्वायोगात्। त्वयाऽपीत्यपिना प्रतिवाध्यन्तरसमुच्चयः। अभ्मन्मते केवलान्वयित्वस्यैवानकीकारात्। अक्रीकारेऽपि प्रमेयत्व प्रमेयमित्यादौौ विशेष्यविरोषणयोः प्रमेयत्वयोः भेदस्वीकाराप् । कश्निदिति। विषयता ${ }^{4}$ शब्देन पैर्व्यवहार्य इति भावः। धर्मिस्वरूप. मात्रस्योपलक्ष्य्त्वं च परसम्मत्या ${ }^{5}$ निर्णुतु हष्टान्तमाह-सस्माघयेति।
${ }^{1}$ तद्विशिश्टतया ? अब्यावर्तक. ${ }^{3}$ स्वस्मिन् प्रकारत्व. ${ }^{4}$ विषयिता. 5 परसम्मतत्वात् .

स्वरूपझ्ञानं व्यावृत्ताकारं द्वैतनिवर्तकमपरोक्षम्। यथाच राब्दाप् ताद्दक्ज्ञानसम्भवः, तथा चक्ष्यते। न च बाधकधियां अ्रमतद्येतुत्वज्ञान ${ }^{1}$ दोषाध्यस्तहृधादीना ${ }^{2}$ मबाधकत्वं दृष्टमिति कथं चह्नज्ञानस्य तद्वाधकत्वं घटतामिति वाच्यम् ; यथाहि स्वमे द्रघ्वारं वुष्टकरणवन्तं कल्पयित्वा तस्य अ्रमं कल्पयति, तत्र जागरक्ञानेन संरेषां निषृत्तिद्र्शनात्। जाग्रहशायामयि मतुष्यग्रतिकृतौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तन्यनादर्शा एव आदर्शत्वं कल्पयित्वा स्वप्रतिबिम्बमयं पइयरीति कल्पयति, तदा नायं चेतनो न चायमादर्शा इति प्रमया सर्वनिषृत्तिदर्शनाच्च नेयमदृष्टचरी कल्पना। तथाचेयं श्युक्तिरित्याद्याधिष्ठानज्ञानं रख्ञां सर्पअ्रमामिव द्रष्र्रद्यध्यासं मा निवीष्टतत्। तत् कस्य हेतोः? तदाधिष्टानसाक्षात्कारत्वाभावात् । ब्रह्नज्ञानं तु आकाशादिप्रपंश्वभ्रममिन उंक्त हि शब्दमणौ अपूर्ववादे आकाशास्मृतिजनकसंसकारस्य शब्दाश्रयत्वविषयकत्वनियमकल्पनेन शबदाश्रयत्वांशोपि संसकारोहोधनियमसम्भवेनाकाशशब्दादशक्यस्यापि शबदाश्रयत्वस्य भानं; अन्तु वा तदपि शाक्यं, यदिं नियतोपस्थितिः। वस्तुतः सैव नास्ति। अस्तु वा पदादपि निर्विकल्पकमिति निर्विकल्पकमाकाशनिष्ठानवच्छिन्नविषयताकम् । तेनाकाशांशो सुबर्थस्य सह्बघादे: कर्मत्वादौं सुबर्थ चाकाशस्य प्रकारतेवपि न क्षतिः । तथाच यत्र धर्मस्य नियतोपस्थितिः, धर्मिणामानन्येयानुवृत्तधम्म विना शक्तिम्रहासम्भवश्ध, तंत्रैव धर्मेडपि शाक्तिरिति 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इति न्यायसूत्राभिप्रेतं आकाशादिपदाद्धर्मिस्मृति: ${ }^{3}$ कदाचिदष्टद्वव्यान्यद्वव्यत्वेनापीति शाबदाश्रयत्बेन उपस्थित्यनियमात् धर्म्यनानन्ल्याच्च शुद्धाकाशा एव तत्पदशक्किः ₹वीक्कियत इति कारणीमूतशकिग्रहे शब्दाश्रयत्वादिना धर्मीभूतेऽपि कार्यमूते

$$
1 \text { तद्धेल्वश्ञान. } \quad 2 \text { द्रष्ट्रदीना. } \quad 3 \text { धर्मास्मृतिः. }
$$

द्रह्र्दोषोषादिक्रममपि निवर्तयेदेव। तत्कस्य हेतोः? अरोषश्रमाघिप्टानतत्वसाक्षात्कारत्वात्। एवंच बाधनुद्धित्वं न दोषाघबाधकत्वे प्रयोजकम्, अपितु तश्रमाधिष्ठानत₹्वसाक्षात्कारभिक्मत्वमिति द्रष्वण्यम्। ननु कल्पितत्वादुक्तहध्रान्तेन तत् बाध्यताम् , इह तु कथमिति चेत्, हन्त अक्षव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पितत्वस्मरणे शब्दानुभवे वा गुद्ध एव भातीति घर्मस्वरूपमात्रस्य ज्ञापकषीविषयत्वात्। शब्दाश्रयव्ब्वादिकमुपरक्षण्णम्, तापसव्वविशिषस्य जटा इवेति यथा तार्किकै: ₹्वीक्कियते, तथा द्वितीयाभाववत्वादिविशिष्ट्रक्सज्ञानाधीनलक्षणज्ञानाषीनज्ञाने शुद्धब्नस्षणो भानात् द्वितीयाभावादिकमुपאक्षणामिय्यम्माभिः स्वीकियत हाति घर्भिमात्स्योपलक्ष्प्यव्वम्। वृतित्ञाभाधीनज़ानविषयव्वं वा नास्माकमेवेते भावः। न च तथावि एकनामार्थ मात्रविषयकशाब्दोोधे परासम्मतिरिति वाच्यम् ; एको द्वावित्यादौ तदभावात् तत्र शाब्दबोषानक्रीकरे शृषोमीमीयनुभववाघापत्तेः। अन्यथा शाब्दानुभवमात्रमपलष्पेतेति भावः ॥

यतु--" प्रल्यक्षे बाघशाष्काया लन्धावकाशत्वमुक्तमयुक्तं; प्रत्यक्षविषयसत्वे फलपर्यन्तपरीक्षायाः श्रुतितात्पर्यय्याहकलिक्रम्यो बलवत्त्वात्, श्रुतावेव रा्काया लब्धावकाशत्वात् प्रत्यक्षविरुद्धार्थ लिक्रानां तात्पर्य ${ }^{1}$ माहकत्वाच्त। अधिष्ठानतत्वज्ञानत्वैनैव अमनिवर्तकत्वमिल्या1 घपि न युक्तम् ; स्वाश्रयान्योन्याभावासमानाधिकरणधर्मस्त्त्त्वमिति द्रण्य ${ }^{2}$ वर्धमानोकेक्रेः धर्मिस्वरूपस्य तत्वरुपस्वाभावात्। व्यावृत्ताकारता दूंघेल्यादिकमप्ययुक्तम् ; उपलक्ष्ये कख्विद्यर्ममादघत एवोपरक्षणत्वात्। अतएव 'इत्यंभूतरक्षणे’ इति सूत्रस्य कल्चित्रक्रारं प्राप्त इत्यंभूतः, तस्य रक्षणे ज्ञापके तृत्तयेयलर्थ इति क्यास्यानम्। अस्तु वैतधथातथा। तथापि स्वरूपमार्जज्ञानं न बाधकं, भ्रमविषयीभूत-

[^77]मझीकर्वतां असाकमिद्मनिष्ट महदापादितं देवानांप्रियेण।। ननु साक्षिप्रत्यक्षं न बाध्यम्, दोषाजन्यत्वात्; प्रत्युत ध्रुतिजनिताद्वैतश्ञानमेव बाध्यम्, तात्पर्यअ्रमरूपदोषजन्यत्वादिति चेक्ष;

स्वरुपानपहारकत्वाद्विषया ${ }^{1}$ पहारो बाध इति पौरैपि स्वीकारात्"इति, ततुच्छम् ; फलपर्यन्तव्यवहारस्य तात्त्विकतानिर्णायकपरीक्षात्वस्य ${ }^{2}$ पूर्वमेव निरासात्। अन्यथा इन्द्रजालस्यापि तदापत्तेः, बलवच्छुत्याश्रितत्वेन तात्पर्यलिक्ञानां बलवत्वात्, तत्त्वं तु धर्मे ${ }^{3}$ स्वरूपमवि वर्षमानोकौं स्वसम्बन्धिप्रतियोगिकभेद्वदसम्बन्धि तत्व्वमिति विवक्षितत्वात्। अन्यथा धनादिकं घन्यादेैैैईोषिकाभिमतविशोषादे: तत्स्वरूपं च तस्वं न स्यात्। तथाच स्वस्य स्वस्स्मिस्तादात्म्याऊीकारे तादालम्येन ₹वसम्बन्धिस्वप्रतियोगिकभेद्वति तदास्येनासम्बद्धत्वात् ₹वमपि स्वस्य तत्त्वम् । तदन解कारे तु स्वभिन्ने तेन सम्बन्धेन असम्बन्धित्वे सति तेन सम्बन्धेन स्वसम्बन्घित्वं स्वभेदशून्यत्वं चेत्यन्यतरँवत् ₹वस्य तत्र्वमिल्येव विवक्षितम् । वस्तुतस्तु अनारोपितं त₹्वमिति लक्षणे सर्वस्यापि अ्रमप्रकारत्वरूपारोपितत्वेन अप्रसिद्धिमाशक्कय, वर्धमानेन तथोक्तत्वादम्मन्मते चाधिष्ठानतन्त्व ${ }^{4}$ शब्देन अज्ञानविषयसम्बन्धिनोऽनारोपित ${ }^{5}$ स्वरूपस्योक्तया तदज्ञानविषयस्य अवच्छेदकत्वभेदशून्यत्वान्यतररूपसम्बनधवत्वे सति तदज्ञान ${ }^{n}$ कार्याविलुक्षणस्य पर्य. वासितार्थस्य सुपसिद्धत्वात् परप्रकापानवकाश इति ध्येयम् । उपलक्ष्ये कश्चिद्धर्ममादधत एवोपलक्षणत्वमिति त्वस्मदाविरुद्धम्; ${ }^{7}$ ज्ञानविषयत्वस्त्यैव ताह्हाधर्मत्वात्। कध्चित्रकारमित्यादिसूत्र०्याख्याने च प्रकारराब्द: 'एकघैवानुद्रष्टव्यः' इत्यादिश्रुतौ एकधैव निर्विकल्पेन घटो ज्ञात
${ }^{1}$ कर्वादिति विषया. ${ }^{2}$ परीक्षाक्षमम्य. ${ }^{3}$ धर्म. घ्रानत्व. ${ }^{5}$ विषयस्यानारोपित. ${ }^{6}$ तज्ज्ञान. ${ }^{7}$ त्वस्मद्विरद्धम्.

इल्यादिलैकिकन्यवहारे च धापत्यय छव स्वरूपार्थको न धर्मार्धकः। तस्त्वरूपपासिश्च धर्मस्वरूपस्य सम्बन्षो धर्मिस्वरुपस्य स्वस्मिन् कल्पितं तादात्यं तर्भेदाभावेपहितत्वं वा धर्म ${ }^{1}$ सम्बन्धमात्रस्य प्रकारप्रापिरुपपत्वे जटाभिस्तापस इतिवत् शब्दाश्रयत्वादिना गगनस्वरूपमिदं सत्तया घट इत्यादिप्रयोगस्य सर्वसिद्धस्य अपलापापतेः। न हि गगनघटत्वादिश्रुद्धस्वरुपस्योक्तरील्या शब्दजन्पर्षीविषय ${ }^{2}$ लं स्मृतिविषयत्वं वा बोधयुक्ताक्यगततृतीयापदमसापु। अथानुमापकरूपोपאक्षण एव तृतयिा उत्कसूत्रेण विषीयत इति उत्कविषयत्वबोधने तृतीया न साधुः। अतएव सांक्षिप्रारठ्याकरणे 'हेतुविद्रोघ्रादे:' इति सूत्रेणानुमापक एव ज्ञापके तृतीयां विधाय धूमेनामिमानिस्युदाह्दत्तमिति मन्यसे, तथापि गन्धसमनियतख्वादिना पृथिवील्वरूपमिददमिल्यादौ तृतायाभाप्तयर्थमुक्रूूप एव सूत्रार्थो वाच्यः। न हि तत्र किश्चिद्दर्मीविशिष्टस्य अनुमावकमुपलक्षणम् । अपितु तद्वदन्यावृत्तित्वरूपण्यास्ता श्रुद्वप्विवीव्वस्य । तथा च द्वितीयाभावरूपष्वादिना अद्सम्वरूपमिदमिल्यकि प्रयोगस्संभवतीति द्वितीयाभावरूपत्वादिकमप्युपरक्षणमिति न किश्चिदव्यन्नुपपन्नम्। किश्चोक्तसूत्रे चिह्ञाब्दितमेदकेपे तृताया विवक्षिता। उदाह्तातं च तत्र 'कमण्डदुना मैन्रः' इति । मुग्धबोषन्याकरणेऽपि साषनहेतुविशेषणमेदककर्त्टु तृतीयां विधाय ‘नेन्रैः पुण्येन भूषाभिर्नाघ्रा दृष्टरिशावो जनैः’ इट्युदाहत्तम्। तथाच इव्थंभूतरक्ष्षणशब्देन इतरमेदानुमापकरूपस्य भेदकस्यापि सञ्राष्यतया हतरमेदस्य चाभावादौ ज्रद्सणि च तत्वरूपतया प्रकारं प्राप्त इति ठ्यास्याने प्रारपदस्य धर्माथकत्वमसज़्तमिन्युक्तभेदरूपस्वरूपानुमापकस्य द्वितीयाभावरुपप्बादे: इत्थंभूतऊक्षणत्वम०याहतम् । वस्तुतस्तु अनुमापक एव उपलक्षणशाब्व:

[^78]चैतन्यस्य स्तरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्याचृत्तेद्दोषजन्यत्वा; तत्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैन साक्षिपदार्थत्वात्। अंद्वैततात्पर्यग्रहस्य च अ्रत्यक्षाद्यविरोधेन प्रमारूपतया
प्रयुज्यते । उपलक्षणशबबदार्थ एव इत्थंभूतलक्षणेति सौत्रशाब्दार्थ इति ते अ्रमः। स्वविशेष्यान्वितानन्वयि उपरक्षणमस्य्यपि हि ठयवहारस्ताप्रिकाणाम्। अतएव गोत्वेनोपलाक्षितं उ्यक्किस्वरूपं गोपद्शक्यं धेनुपदशक्यवदित्यारक्य गोत्वस्य व्यक्तिघोधे भानावइयकत्वान्निरकृतं मणौ शक्तिवादे। उक्षंच तत्र-—"गोत्वविशिष्ट एव कार्यन्व्वयात् गोत्वं विशेषणं नोपलक्षणं, तदन्येन कार्यान्वये उपलक्षणं, यथाऽयं वासस्वी द्वेवदत्तशब्दवाच्य इत्यत्र वासः ${ }^{\prime}$ तस्माद्विशोषणशबदनवयवहार्यमिन्ने उपलक्षणशब्दप्रयोगात् ठयावृत्ताकारध्र ${ }^{1}$ विषये विशोषणपदः्य तदन्यत्र उपलक्षणशब्दव्योगो युक्त एवेति पन्न 干शयव:नेचः स्वस्यास्तु वा यथातथेत्यनेन त्वैयैव सूचितः । विषयापहारों बाध इत्यत्र तु विषयो Sज्ञानप्रयुक्तरूपो विवक्षितः। तथाच शुद्धस्य उपहितविषयकअ्रमविषयत्वेऽप्व ${ }^{2}$ न क्षतिः। नन्वविद्यावृत्तिं विनापि विषयेषु सुखादिषु साक्षिणः सम्बन्धसम्भवात् तदर्भी कारो ठ्यर्थः्तत्राह --तत्रत्रतित्रिम्वितचैतन्यस्येति । शुक्तयाद्यवच्छन्नव्रह्नचैतन्याध्यम्तरजतादे: साक्षिसम्习नधार्थ अविद्यावृत्तिरवइं वाच्या। तत्र चाविच्चैव कारणामिति सुखादिष्वपि सा आवइयकी; विषयतासम्बन्धेन तदुत्पत्तौ अज्ञातविषयभेदस्य हेतु त्वात् घटादौं तदनुत्पात्तिरतीतावस्थयुखादौ उऋ्केदस्यासत्व्वात् तत्रापि तदनुत्पत्तिः। अविद्यासुखादौ ${ }^{3}$ तत्कालीनमनोवृत्तौ च एकस्या एवाविद्यावृतेस्स्वीकारादविद्यावृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य साक्षिपदार्थत। उपपद्यते। न च शुक्तिरूप्यादिामिन्नकालीनसुखादावनन्ताविद्यावृत्तिकल्पने गौरवात् शुक्तिरूप्यादिस्थलीयदोषविशेषाणामेव अविद्यावृत्तिहेतुत्वं न

[^79]
 नैचैनन्यम्ग सुखाशिकालीनमनोतृते र्गा नाशः सुखादिसंस्कार इति
 नत्वेडापे ${ }^{2}$ उक्तविद्दे देग्रागावेन सुखादिविषग्रत्वासम्भवात्, चैतन्यनिष्ठतादाल्य्यतृत्तिंतिष्ठाकारसाधारणविषयतात्गप कारतात्वादेः अनुगतस्याभावाच । सु वाघनुभि.यादित्टतिनाइरूससं₹कारजाधारण्याग समृतिहेतुतावच्छेदके अ काररूनविषयतानिवेशाम्य आवरग कत्वाचैनैन्य ${ }^{j}$ तादात्र्यनात्रनिनेशासम्भवात्। एंंच साक्षिरूपस्य अविद्यापतिबिम्बितचैतन्यस्य शुक्तिरूप्याद्यधिष्ठानझुक्तयाद्यवाच्छिन्न चैतन्यरूपत्वं जीवस्यैन जगदुभादानत्वाद्विति पक्षेडपि शुकिरूप्यादावविच्यावृत्तिसिद्धिः। एवंच
 तेरेव तत्र मानत्वात् । प्रमझ्चसूक्ष्रनावत्थारूपपरलयस्य तक्कालीनर्वृर्ति विना पश्धाह्न्मृतेरनुपपतेः, तां विना सदा सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। उक्षं च तथा विन्रणादौ। यदि च अविद्यावृत्तिर्नासतीत्याप्रद्टः, तदापि साक्षिणों विषगीभूनसुखननोवृतयादेः अविद्यरुपद़ोषजन्यत्वादे वा बाध्यता; तत्वक्षे साक्षिण एव भ्रमत्वाच्तः चाजन्यः्वाद्विषयेष्चेव दोषजन्यत्वस्य बाध्यत्वत्यवस्थापकत्वात् । अनादिपदार्थेव्वपि क्षेमसाधारणस्याविद्यारूपदेाषजन्यत्वस्य सत्व्वात् । न चाविद्यावृतेरुक्तीत्या सिद्धावव्यविद्योपहितचैतन्यस्यैव बिम्बपतिबिम्बरूपेशजीवानुगतस्य साक्षिगदार्थं्वसम्भवे तद्वात्तिपतिबिम्बितस्य तदुक्तिरयुक्तेति वाच्गम्; वृत्तिपतिबिम्बितस्यैन भासकत्पेन तत्पदार्थत्वानपायाच्छुद्रचैतन्यस्य ईश्ररम्य वा जगदुपादानत्वपक्षे वृत्तिद्वारैव साक्षिणि जगत्सम्बन्धस्य वाच्यत्वात्। अन्यथा अनावृतविषयतादात्म्याश्रयतादात्यादिसम्बन्धत्वे
$$
1 \text { शु क्तादि. } 2 \text { यवाचच्छनत्वेऽवि. } 3 \text { कत्वा शेतर. }
$$

दोषत्वाभावात् न तज्जन्यमद्वैतज्ञानं बाध्यम् ; भ्रमजन्यत्वस्य विषयबाधाप्रयोजनत्वाच। न च वाधकतुल्यमानताकैद्धतश्रुतिसंवादिद्वैतप्रत्यक्षं कथं बाध्यमिति वाच्यम्; द्वैतस्य प्रत्यक्षादिलौकिकमानसिद्बूत्वेन तद्वोधकश्रुतेरनुनाद्कतया फलनद्ज्ञातस्वार्थतात्पर्यकाद्वैतश्रुतिसाक्याभावात्। ननु बाधकधीवोध्यं न बाध्यम्, भेदश्र बाधकधीबोध्यः; तया स्वविषयस्य भिन्नत्वेनैन ग्रहात्, नेदं रजतमितिवद्मिन्नतया उदासीनतया ग्रहणे बाध-

गौरवात्, व्रद्मज्ञानान्यस्य आवरणा ${ }^{1}$ नाराकत्वपक्षे तत्सम्बद्धत्वासम्भवाच, यदाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितं यचैतन्यं तत्तत्साक्षिपदार्थ इत्यभिप्रायाच, अविद्यावृत्तिद्वयस्य युगपढुत्पत्तिस्वीकारात् पर्प्पराकारकत्व मेकस्या एव वा वृत्तेः स्वस्वतराकारकत्वमिति नानुपपात्तिः। एतेन शुद्धचिदेव साक्ष्यस्तित्वत्यपि प्रत्युक्तम्। यदेव हि विषयसम्बद्धतया भासकं तदेव साक्षि, न च शुद्धं तथा, कैवल्येडपि तत्वापत्तेः। यत्तु मनउपहितमेव चैतन्यं साक्षि, अन्यथा एकमनोवच्छिन्नझ्य प्रमातुरन्यमनस्तद्धर्नादिप्रत्यक्षत्वापत्तेरिति ; तन्न रम्यम् ; अहंपरमनआदिकं साक्षात्करोमीति ठयवहारे तत्तन्मनोवच्छिन्नसाक्षिण: परमनआदिविषयकस्य विषयत्वात्तस्य च बाधितत्वादविद्योपहितस्य सााक्षित्वे बाधकाभावेन मनोमेदेनेन साक्षिपदार्थभेदे मानाभावात्। अन्यथा तत्तच्छरीरतत्तत्कालावच्छिन्नेन चैतन्येन शरीरान्तरकालन्तरीयसुखादिकं प्रत्यक्षीकियेयेतेति तद्वारणाय तत्तच्छरीरकालाबच्छिन्नस्यैव सााक्षेपदार्थर्ववापत्तेः। तत्तच्छरीरावच्छिन्नस्य शारीराद्यन्तरीयसुखाद्यसम्बन्धान्नोक्ताप|त्तिश्धेत्तर्हि तत्तन्मनोवच्छिन्नस्य मनोन्तरासम्न्धोपि सम²इति विभावनायामति दिक् । पश्षाद्वाध्यतात्पर्यधीर्भ्रम एवेत्यत आह-अ्रमजन्यत्वस्येति। लिखा-

$$
1 \text { आवरण. ` } 2 \text { न सम. }
$$

कत्गायोगादिति चेन; बाधकधियो भेदविषयत्वानम्गुपगमात इयं श्रुकिरित्येन बाधन्उुद्धगुद्यात्। तस्यास्तु नेदं रजत,मेति भेदन्तुद्धि: फलम्। व्यावृत्ताकारतैव बाधधिय आवइयकी। सा च स्ञरूपोपलक्षणचलान्निष्पकारक्नह्नज्ञानेऽपि अस्तीति न बाधकधीबोध्यत्रं भेदस्य। ननु-सम्रविलक्षणं फलपर्यन्तपरीक्षायामिति चेच्छछका स्यात्तदा अंद्वश्रुतिप्रत्यक्षतत्प्रामाण्यशक्षायामद्वैतश्रतिराभ न सिद्धघंत्। चाधेडपि बाधशक्षायामबाधितचाधप्रसिद्दिरपि न स्यात्। बाधितबाधशद्रायाश्र अबाध्यत्वाविरेशि-

भासादिजन्यभ्रनानुनिल्यादिसाधरण्येनेति शेषः। मिध्याव्वधीरूपे बाधे दृइयंब्वादे ः ₹वपयोजकाज्ञानसहितस्य विषयस्योच्छेदरूपे बाधे चाधिछानतत्व्वज्ञानस्य प्रयोजकल्वनिति भावः। बाधकधिय इति। यावत्या इत्यादि:। तेन रजतभददा|ज्ञानजन्यु्रमबाधकवुद्दे: भददविघयकत्वरवि न क्षतिः। इत्ये श्यादि। एतावन्मात्राकाराया अपि बाधनुद्देरु्य्यादिलर्यःः। बाधकधीति। बाधकधीमात्रेट्यर्यः। यथाश्तुते श्रुत्तिबादिना ज्ञानेऽपि ${ }^{1}$ रजतानयव्यादेखूपेण अज्ञानाधीनभ्रमस्य तेन रूपेण ज्ञानादेव बाधादसक्ञतिरिति ध्येयम्। शङ्का स्यादिति। प्रत्यक्षे बाधकइङ्का स्याद्बित्यर्थ:। किश्च बाधकं बाधितं वा शङ्कयेत अबाधतं वा, नाँत्य इल्याह—बाधेड्पीति। बाधपदानि बाधकार्थकानि, प्रताक्षे यद्वाघकमाश क्रं तन्रापि बाधकशाक्कासम्मवेन अबाधितबाधकरूपायाः शब्काकोटेः प्रसिद्धिः ज्ञानमापि न स्यादित्यर्थः। आघे त्वाह-बाधितेति। बाधित बाधकस्थ तत्त्वज्ञानत्वाभावेन अचाधकख्वात् तच्छक्षायामपि बाधकाबाध्यव्वरूपं सत्त्वं प्र्यक्षविषये ज्ञातं
${ }^{1}$ यभाभुतुते चाबाध्यंश्तिक्तिलाधिता ज्ञाते तेनापि.

त्वात्। भाविबाधेऽपि बाधशङ्कापातेन स्ञक्रियाव्याघातश्य स्यात्। राङ्कग्रत्यक्षेऽपि राङ्कायां शाङापि न सिद्धचेत्। एनं सर्वत्र शकाप्रसरात् सर्वविस्त्रापत्तिरिति चेत्-मेंनं मंसथाः। यतः समत्वेन प्रमाणान्तेर उपस्थित एव निश्रितेऽपि सत्चाद़ँ शा़ा भवतीति त्रूमः, न तु निश्रितमात्रे शङ्का भवतीति। तथाच यदुक्षं बौद्दं प्रति भद्टचार्तिंके -

## दुप्प्जानगृहीतार्थप्रतिपेधोऽपि युज्यते । गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोपि न सिद्धचति ।।

इति, तद़पि न विरुद्वुचते; गृहीतमात्रबाधस्य तच्छङायाश्वानुक्ते:। ननु सत्त्वादिप्रत्यक्षे क्रृपदूरादिदोषाभावनिश्रये कथं शाङोदयः? न च क्रपानामभावनिश्वयेऽपि अक्लुप्तस्य

शक्यत इल्यर्थः । भाविबाधे बह्नतत्त्वज़ाने । स्वक्रियेति । वेदान्तश्रवणादिप्रवृत्तीत्यर्थः । शाङ्काप्रत्यक्षे बाधकाविषयकराङ्कायाः
 सच्चादौं प्रत्यक्षविषयगते सत्त्वादौ। दुष्टज्ञानेति। झुाक्तिरूप्यादेरागन्तुकदोष्युक्ती विषयत्ववत् दृईयमात्रस्य अविद्यारूपदो।घयुक्तधीविषयत्वात् प्रतिषेधो बाधो युज्यते। धीविषयत्वश्य दोषगुक्तत्रं च दोषप्रयक्तनिष्ठत्वम्। तेन ब्रह्मधीविषगत्वस्यापि कम्यापि कथंचिद्दोषयुक्तत्वेऽपि न क्षतिः। दोषप्रयुक्तस्यैन अविद्याप्ययुक्तव्वेन बाध्यतायोंग्यत्वमिति भावः । गृहीतमात्र बाध्यमिति माध्यमिकमते तु ख्वपक्षोजपि न सिद्धयति ₹फुरणस्वरूपम्य बाधानुपलम्भेन अविद्याप्रयुक्तंव्वाकल्पनात् जन्यर्धाविषयरूपगृहीतमात्रस्य बाधासम्भवादिति भावः। यद्यपि प्रत्यक्षसमत्वेन श्रुत्यादित्रातमुपस्थितं, तथापि प्रत्यक्षविषयसत्वादौ न बाधकशाष्का घटत इति शाक्षते-ननु सच्वादीति ।

राङ़ स्यात्। शबदे क्लृप्तक्तुनिन्रन्धनदोषस्य नित्यत्वेन वेदे अभाi्रेऽपि दोषान्तरशाङ्काया: सुवचत्वात्। न च स्वामप्रस्यक्षे तदा दूराद्यभानननिश्ययेऽपि अप्रामाण्यदर्शनेन तद्वदत्रापि शङ्केति वाच्यम् ; शून्यमेत्र तत्च्रमिति स्गामचेदेडपि तदा भ्रान्त्यादिदोषाषाभावनिश्वयेऽपि अप्रामाण्यदर्शनस्य वेदेडपि समानत्वत्। स्वम习ैषम्यानुभवस्तूभगत्रापि समान इति चेन्न ; सच्वप्रत्यक्षाद्वैतागमयाः करुप्पदेापाभावनिश्वयक्ग्र समानत्वेन प्रामाण्यराङ्कायामप्रतिबन्धकत्वात्। न हि सत्र्रतिपक्षे उमयत्र दोषाभावनिश्वगः किमत्र तच्च्रमिति जिज्ञासं प्रतिबधाति ; विरुद्बविशेषादई्रनकालीनस्यैव विशेषदर्शानस्य शाङात्रतिबन्धकत्वात्
किमत्रेति। अत्र अनयंः परामर्शाद्रयविषयग्याप्तिपक्षधर्मतयोः किं
 धीप्रतिबन्धद्वार्रति ऐोष:। ननु दोषाभाववर्त्वाबच्छेदेन अबाध्यत्वनिश्चयात् बाध्यत्वव्यावर्तकस्य दोषाभावस्योक्कान्यतरत्वावच्छदेन निश्रय उक्तधीप्रतिबन्धद्वारा उक्तजिज़ासां कुतो न प्रतिबध्नाती।त्यत आहविरु.दूति । विरुद्धघटितो यो विरुद्धार्थস्राहित्वरुपो विशेषः, तदनिश्ययकालीनस्यैव दोषाभावरूपबाध्यत्वव्यावर्तकनिश्रग्य स्य बध्यत्वधीरूपे झाङ़कायं प्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः। मिथो विरुद्धार्थग्राहित्वेन परामर्शायोर्ज़ाने तद्विधयीमूतच्याप्पयादौं जातेऽपि दोषाभावनिश्चये भ्रमतव्व्यहात् न तम्य बाध्यत्वर्धपतिबन्धकत्वमिति, तद्वदेव प्रत्यक्षश्रुल्यादिमानयोः मिथो विरुद्धग्राहित्वेन ग्रहात् प्रत्यक्षविषयसत्त्वादौः जातेऽपि निर्दोषत्त्वनिश्यये भ्रमत्वग्रहात् न चध्यत्वर्शप्रतिबन्ध इति भावः। वस्तुतस्तु सत्त्वादिप्रत्यक्षे फलप्तदोषाभावनिश्चय एव न सम्भवति अधिष्ठानसत्व्वादेरेव सान्निष्या|दिरुयेण प्रत्यक्षं प्रति दोषतया क्रपेतन घटादौ ज्ञेयत्वात्। तथाचाधिष्ठानसत्त्वसम्बन्षाकाराविद्यावृत्तेरुत्तस-

अचच्छेदकवृत्यनित्यत्गेन च साक्षिप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वोक्तेः। अतएव यदुक्तं तार्किकै:-"तदेव ह्याराङयते ; यस्मिन्नाराङ्कयाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा न भवन्ति । उक्षं च भट्टचार्तिके बौद्धं प्रति-

## ' इह जन्मनि केषांचित् न तावदुपपद्यते। योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ।।

इति। तथाच प्रामाण्यस्येत्पत्तौ ज्तरैं च ₹ंतस्त्वादिह च उत्पत्तिसंतस्त्वापनादस्य दोषस्य ज्ञात्तिस्वतस्त्वापगाद्स्य चाधस्य च अदर्शानात्। निर्मूलराङ्कायाश्य स्वक्रिय।दिविरेधेनानुत्थानाम्युपगमात् स्जस्थं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम्" इति, तदपि निरस्तम्;

म्बन्धल्य वा दोषजन्यत्वसम्भवात्वद्यचिन्डन्नलः़ि गोडपि दोषजन्यत्वेन बाध्यत्वमित्याशयेनाह— अन्चच्छेद्कवृत्तीति। अवच्छंद्कम्य उक्काविद्यानृत्तेरुक्तसत्त्वह्य वा सम्बःधत्यर्थ:। अतएव यदुक्तमित्यादि उत्कं तार्किकै: तदेवेत्यादि उक्षं च वार्तिके इहेत्यादि। तथाच प्रत्यक्षम्य प्रामाण्यं तत्तावेदकत्वरूपं सुस्थमित्यादि यत्तदृप्यत एव निरस्तकित्यर्थ:। जन्मनि जन्मावधि मरणपर्यन्तकालं こपपद्यने प्रत्यक्षादिबाध इति इाष:। न चिद्म इति। प्रत्यक्षादेशताई्त्वक्वप्रमाण्यप्रच्युतिपूर्वकं वेदान्तताांच्वकपामाण्यस्थितिर्यद्यपि भाविप्यर्तरिति सम्भाव्यते, तथापि सर्वबाधो न भाविप्यत्येवेति न बौद्धमतासीद्धिरिति भावः। शाङाया एंबत्येवकारेण ₹वव्याघातिकायाः निमूल्लायाश्य रा₹।या अस्वीकारादित्यर्थः 1 श्रूयमाणार्थपरतया निश्धितत्वेनागमे शा काव्युदासात् प्रत्यक्ष एव बाधशा्काया लबधावकाशत्वोक्त्या श्रुतिजन्यज्ञाने बाधशाक्कावियहेण न श्रवणादिपवृत्तिरूपस्वरूपक्रियाइयाघातः प्रत्यक्षे च बाधक, क्षाश्रुतिमूलकत्वात् न निर्मूलेति भावः। ननु

आगमादिश्रामाण्यमूलकराङ्राया एव स्रीकारात्। रूप्यादिनिषेधस्य तु ‘नेदें रजतम्' इत्यदेरेर्दैतभुत्यनुगुणत्वेन नाप्रामाण्यशक्ञास्कन्दनम्। अतो न वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्ति:। नापि सन् घट इत्यदेः नेदं रजतमित्यनेन समानयोगक्षेमता ; अै्देतश्रुतिनिरोधाविरोधाम्यां विशेषात्। अतएव सौपुप्तिकानन्दानुभवस्याप्यप्रामाण्ये कथमात्मन आनन्द्ररुपता तात्विकी, आनन्दश्रुतेर सुभूताताच्चिकानन्दानुवादकत्वापपपत्तेरित्यपास्तम् ; आनन्दस्य अह्सरूपत्वेन अद्वैतश्रुतिविरोधाभावेन तद्रामाण्यप्रयोनेदं रजतमिल्यादिभल्यक्षस्यापि अमझाधकं्वकाले अमत्वश ख्ञासम्मव:, तथाचाकाशाएिमिथ्यात्वानुमितौ दृघान्ततया मूलीभूतगुक्तिरूप्यादि-मिथ्याव्वहानिक्तत्राह-रूप्यादीनि। सत्वपप्यक्ष इ्वाद्दैतश्रुतिविरुद्वार्थकत्वस्य बीजम्याभावात् नोक्त अत्यक्षे अमतवशशक्षा, अद्वैतश्रुत्या द्दैतमिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यादिचाधकाले न निश्चिते, श्रवणादिना तस्यास्तत्र तात्पर्या|निध्यगात्। अतेा न मिथ्याविषयकत्वरूपभ्रमत्वनिश्भयः। तत्निश्चेयेप्यज्ञानावच्छेदकविषयकत्वादिरुपण्यावहारिकमामाण्यस्य अन्यूनसत्ताकविषयकतसस्य बाधकतापयोजकस्य न क्षातिः। इत्थंच श्रवणादिहीनया तया मिध्यत्वस्वंग़येन उक्तभ्रमत्वसंशयेपि न क्षतिरिति भावः । अनुगुणत्तेन विरुद्धार्थकत्वाभावेन । तदप्रामाण्येति । यद्यवि सौथुपत्तुभवोडज्ञानेपाहितानन्दरूपप्वविषयांशे भ्रम एवेत्येवं वक्तु युक्तम् ; तथापि तदंश़े भमत्वे उपहितविषयकस्य गुद्धवि-
 निरासायेदेमुक्तम्। ग्रुद्धानन्दरूपतदंदो अपामाण्येति तदर्थः। अतएव शुद्धानन्दांशे अपामाण्यपयेजकाभावादेव। सौपुपानुमवस्य शुद्धानन्दविषयकल्वेडपि तद्विरोध्युपाहिताकारत्वेन उ्यावृत्ताकारत्वाभावात् न व्यावृत्ताकारधीजनकानन्दश्रुल्यनुवादकमिति भावः। अत्य-

जकाभातात्। अतएव नानन्द्श्रुतेरप्रामाण्यम्। तदुक्तं खण्डनेअत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थ शब्द्: करोति हि । अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्यलाम् ॥
इति। उक्षं च सुरेश्वरवार्तिक-
अतोऽन्नबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात्। अबाधाच प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छुतेः ।।
इति । अत्र चाक्षादिवदिति निदर्शनं ठ्यान्रहारिकप्रामएण्यमात्रे-
न्तेति। यद्धपि कल्हादिस्धल अत्यन्तमसति विरोधिधीचिषयीमूतेडप्यर्थे शाबंद्ध ज्ञानमानुभाविकं भमरूपं ईब्द; करोति, तथाव्यत्र सद्वितीया ${ }^{1}$ ब्वादिधीविषयत्वेन ताहरोडट्यद्वितीय करोति ; उत्पत्तौ स्वतस्त्वापवादकस्य वाक्यार्थय्रमपमादादे: शब्द्दोषह्य ज्ञतौ स्वतस्त्वापवादकस्य मानान्तरबाधितार्थकत्व्रम्रह्य कलहादिस्थल सत्वेपि अद्वैतानन्दबोधकश्रुतै अबाधात् उक्तापचादकाभावात् स्वतः प्रामाण्येन निश्रलां नियतसम्बच्ध।म्। यत उत्पतौ ज्ञषौ चात्र ज्ञानपामाण्यम्य ₹वतस्त्वमनपवादकं, अतः प्रमामत्र करोतीत्यर्थः। अवबोधकत्वेनेति। अज्ञातज्ञापकत्वेनेत्यर्थ:। तथाचानुवाद कत्वलक्षणमप्रामाण्यं निरस्तम्। उत्पतौ स्वतः त्वापवादकं निरस्य-ति-दु प्टेति। ज्ञतौ तान्नरम्यति-अबाधादिति। निद्रानामेति। यथा व्यावहारिकभामाण्ये आगन्तुकदोषाप्रयुक्तविषयकत्वं ठयवसथापकं, तथा तात्विकमामाण्ये दोषसामान्यापयुक्तविषयंकंव्वमिति ₹वापवादकदोषाप्रयुक्तविषयघटितप्रामाण्यपदार्यत्वेन साधारणधर्मेण दृष्टन्तढा।र्षान्तिकतेति भावः ॥

यतु-" चवमे द्रष्टारमित्याघयुक्तं; दुष्टकरणस्य कलिपतत्वेन अद्रष्टृत्वात्, यो यो यद्रूमद्रष्टा तस्य तद्वाधऽप्यबाधनियमस्य

## णेति द्रपृष्यम्। एवंच ताच्चिकर्रामाण्याभावेजपि प्रत्यक्षा-

अक्षतेः । वृत्विपतिविभ्वितन्य साक्षिताव्ययुका ; वृतेर्विषयि त्वापत्त्या विषयव्वासम्भवात्, वृत्य 1 न्नरोयहितभास्यव्वेडनवस्थापत्तः चिन्मात्रस्य साक्षितौचिल्यात् भ्रमजन्यव्वस्य विषयचाधापयोजजकवादितययुक्तम् ; बाध्यधीततक्कारणयोरेकविषयकव्वे अ्रमजन्यव्वस्य बाधपयोजकल्वस्म्मवात्, योग्यताश्रमजन्यशाब्द्बोधे तथा दर्शनात्। द्वैतम्य प्यक्षादिलैकिकमानेल्याघ्यवि न युक्तम् ; प्रत्क्षादिगृहीतन्यवावहारिकसत्व्वद्देतान्यवारमार्थिक्द्वैतमाहकत्वेन ह्वैतश्रुतेरुनाद्वकत्वात् । इयं शुक्तिरिलेयेव्याद्ययुक्तम्; रजतगुक्तयोरमेदम्रे अ्रमानिवृतेः भेदगहे
 प्रत्यक्षेडव्यनुछूत्ति:, न तु पीतभेदप्रत्यक्षे। एवं समत्वेन प्रमाणान्तर इल्यायुयुक्तम् ; ईब्दो ज्ञात एव पमाकरण किति तत्रामाण्यं प्रत्यक्षोपजीवकं, इन्द्वियं तु न तथेति तव्पामाण्यं न ज्ब्दोपजीवकमिल्युपजीच्येन प्रत्यक्षंग शब्दस्यासमत्वाज्। न हि सत्र्पतिपक्ष इल्याघयुक्तम् ; सत्रतिपक्षन्यायेन प्रत्यक्ष दव श्रुतावपि शस्कापतेः। अतएवागमादिपमाणमूलकेत्यायद्युक्तम् । मूलहान्यापचिसमाधानमवि न युक्तम्; नेदं रजतामिति ज्ञानं श काז्पदश्रुल्यानुगुण्यरूपस्य विशेषस्याप्ययोजकत्वात् "-
 सिद्ध:। वृत्तरत्तूपाधिल्वेडवि विर्रोषणत्याभावेन न विषघित्वम्। यथाज़ विषयत्वेडपि नानवस्था, तथोक्तम् ${ }^{\mid}$गुद्धचितः साष्षिव्वं तु प्रत्युक्तम्। ₹्वविषयविषयकभ्रमजन्यत्वं न बाध्रयेजकं, लिख्भाभासर्षाजन्यानुमित्यादौं ठ्यमिचारात्। स्वविषयतापर्याप्यधिकरणविषयकभ्रमजन्यत्वादिकमपि प्रतियोगिता अभावीया इल्याकारायां लिक्राभासजन्यानुमितौ वयभिचा-

## दीनां ठ्यावहारिकम्रामाण्याभ्युपगमात् न स्वक्रियाव्याघातः।

 न वा-
## प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्र च विविधागमम्। त्र्यं सुविदितं कार्य धर्मगुद्विमभीप्सता।।

रीत्यादि बोध्यम्। प्रत्यक्षादिसिद्धद्वैतेन लौकिकवैदिककार्यमात्रनिर्वाहे ${ }^{1}$ पारमार्थिकद्वैतान्तरपरत्वं यत् श्रुतेः कल्ट्यते तत्रायस्तह्दैत ${ }^{2}$ गले बद्धवा मरणाय लोकवेदब्बहिर्मूताय ${ }^{3}$ । कथं च तर्हि द्वैतश्रुतिसंवादित्वेनाबाधंय प्रत्यक्ष斤मिति त्वनुरुणुकां त्वयोपपादितम्? कथं वा प्रत्यक्षाद्यगृहीतं श्रुतिघटकपदैरुप्थाप्य ब्रह्म तु उपहितरूपण प्रत्यक्षादिगृहीतमुपाध्यंशानुद्नद्धसंसकारविषयः नै: स्मारयितुं शाक्यम्? न च पारमार्धिकद्वैतमपि व्यावहारिकद्वैतोपहितरूपेण प्रत्यक्षादिगृहीतं तद्रूपानुहूद्धसंक्कारविषयः तदनुपहितरूपेण पदैरुपस्थाप्यत इति वाच्मम्; उत्कोपहितरूपेण प्रत्यक्षादिना तन्गहणे मानाभावात्। सत्ताक्फुरणरूपझ्य ब्रह्मणः प्रपश्चेपहितरूपेण तेन ग्रहणं त्वविवादम्। रजतशुक्तयोरभेदग्रंहेट्यनुवर्तमानभ्रमश्तु रजतभेदाज्ञानकार्यव्वात् तद्भेद्जानान्निवर्तते, बाधकमात्रं न भेदाविषयकमित्यानार्यामिःन इन्युक्तम्। न च झुक्तित्वज्ञानस्यापि झुक्तितंव रजतभेदब्याव्यमित्याकारोद्बुद्धसंसकारविशिष्टस्यैव बाधकत्वात् बाधकमात्रं भेदविषयकमेवेति वाच्यम; प्रमाया एव बाधकत्वादुक्रसंसकारस्य तदुपाधित्वेन बाधककोट्यप्रवेशात्, अनुभवानुरोधेन उक्तसंक्काराविशेषितज्ञानस्यापि बाधकत्वाच । किंच यद्विशिष्टाधिष्ठानर्धत्वेन बाधकता, तन्न बाधकधीबाध्यमित्येव त्वया वाच्यम्। अनयथा रजतादे: बाध्यस्यपि भदप्रतियोगित्वेन बाधकधीविषयत्वेन वयमिचारात्। तथाच न नः क्षतिः

$$
1 \text { निर्वाहात्. } 2 \text { तत्प्रशास्तद्वेतं. } 3 \text { गर्ध्यभूताय. }
$$

# इत्यादिस्मृतिशिरोधः। तस्मज्य सिद्धं बाधनिश्ययेन तच्छक्कया वा प्रत्यक्षादे: अद्दैतागमानुमानाद्यविरोधित्वम् ॥ 

हति भाविबाधेपपत्तिः.
न हि यद्भेदपकारकव्वेन या धीः बाधिका स भेदस्तह्दाध्य इति नस्सम्मतम्। न च 'नेह् नानासित किश्भन, शिवमद्वैतम्' इत्यादिश्रुतिजन्यज़ानस्य द्देताभावविशिष्ट ${ }^{1}$ विषयकव्वेन द्दैताभाववाधकर्वात् ठ्यमिचार इति वाच्यम् ; न हि द्वैत्वावच्छिन्नामावस्य स्वविशिस्टव्रद्सविषयकवेन बाधकं तत् ; किन्तु तादृशाभावाभावाविशिष्ट ${ }^{2}$ वह्नज्ञानव्वेन। किंचनेतिसर्वनाम्ना तत्तदसाधारणरूपावचिछन्नाभावानां बोधनात् यद्दिशिष्टाधिष्टानर्धावेन बाधकत्वं यतन्निरूपितं बाध्यव्वं न तः्येति द्वैनाभावाभाश्म्यापि बाध्यव्वं नानुपपन्नम्। शिवमद्वैतमित्यादिश्रुतिजन्यधीम्बखखण्डविषयकत्वंनैच बाधिकेति ध्यययम्। पीतभेदप्र्यक्षन्षनवर्यों अ्रमः पीतमेदाइज्ञानकार्य इति नोक्ररीतिक्षतिः ${ }^{2}$ । शब्द्यय यद्यणि प्रत्यक्षमुपजीव्यं, तथापि न तत्तात्विकभामाण्यमुपजीव्यमिव्युक्तम्। कि: चक्षुरादीन्द्रियनिषं प्रमाकरणत्वमपि शाबते़ेषसाधनताज्ञानाधीनप्रवृत्तिजन्यर्षणाद्यर्धनचक्षुरादिसापेक्षमिंति कथं न शब्दोपजीवकम्, इन्द्रियंव्वावच्छेदेनातथाटववत् शब्दज्ञानत्वावच्छेदनापि न प्रत्यक्षोपजीिकत्वम्। सत्प्रतिपक्षन्यायेन श्रुतावपि शक्षापात्तिस्ठु प्रत्यक्ष एव शा्काया लठधावकारत्वेनैनैव पूर्वमेव प्रत्युक्ता ; पूर्व सत्पतिपक्ष ${ }^{3}$ -
 प्रत्यक्ष ${ }^{5}$ एव राक्षावकोशात्। किश्च श्रुतौ श्ऱ्राशानवि नार्माकंक्षति:; बाध्यज्ञानापेक्षया अन्यूनबर्वस्यैयैव बाधकतायां प्रयोजकख्वसम्भवात्।
 5 बाधकव. 6 ग्रभ्षल.

स्यादेतत्। अध्यक्षस्य भिन्नविषयत्चादिना चाधाक्ष्मत्वेऽपि अनुमानमेव बाधंं स्यात्। तथाहि-व्रह्म्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यम्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षंहैतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सति असच्चानधिकरणत्ने सति ヨह्नान्यत्, विमतं वा सत्, पारमार्थसदा, प्रातिभासिकत्तानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्वात्, घ्रह्मनत्, ठ्यतिरेकेण शाश़्ञवद्वेति चेन्न ।
सूचितं चेद्माचाँ्यैः स्वाम्नगजादिज़ानस्य स्वाप्मगजाद्यभावधीबाध्यत्वं वदद्वि:। पूर्व स्फुरणरूपस्य कदापि बाधननुपलम्भपराहता च श्रुौ
 अपिच श्रुतिविषये ब्रह्माणि बाध्यत्वं ज्ञानोच्छेद्यकारणत्वं ज्ञानोच्छेद्यप्रयोजनकत्वं वा स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिकं वा शक्कीयम्। न च सत्सम्भवति, घह्मम्यकारणकत्वाप्रयाजककत्वानधिकरणकत्वानां त्वयापि स्वीकारात्। अतएव म्वात्यन्ताभाबसामानाधिकरण्यादिकमपि न तथा, तत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वन्य मानाभावादिना पूर्व निरस्तत्वाच्च। यत्तु परैः प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वप्राहित्वमत्रोपपादितं, तत्पूर्वमेव •न $\because, \ldots . \div 1$ i तद्याग्यत्वं वा ' इत्यादिना आग़ङ्कय दूषितत्वान्नेह दूपितम्॥

रतैः सारस्वतैस्तै कैक्यन्द्रिकाचन्द्रभूषणे. ।

इति भाविबाधेद्धार.

मिन्बविषयत्वादिनेति । श्रुत्यनुमानविषयमिष्याव्वाधिराषेव्यावहारिकसत्वविषयत्वादिनेत्यर्थ.। आदिपदा|छ्₹कालनाध्यसद्यूपतादा-

तन्मनते प्रातिभमिि कस्याप्यसशेन ठ्यर्थतिशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धि:। अस्मन्मतमाश्रित्य हेतूकरणे च देहात्मैक्ये ज्नष्मज्ञानेतरावाध्ये व्यभिभारात् । न हि प्रातिभासिकत्वं ज्रक्षज्ञानेतरवाध्यत्वादन्यत् । त्वया हि ग्रातिभासिकस्य भुक्तिरूप्यादेरपक्षत्वाग सत्यन्तमायं तिशेषणत्रयं विकल्पेन पक्षे प्रक्षित्तम्। तत्र च्रह्न बृत्तिक्याप्यमिति मतेनाद्यम्। तदनन्युपगमे तु शाबद्द्रमां प्रति ताँ्पर्यप्रमा हेतुरिति मतेन द्वितीयम्। अन्येन्याश्रयात् नं सा हेतुरिति मतेन तृतीयम्। तथाच
 तच्रासिद्दूरिति। उ्याव्यत्नलक्षणे ठयाप्यतावच्छेकान्तराघटितहेतुतावच्छे-
 पुरुषनिग्राह्टकत्न न तु हेत्वाभासत्वमिति मते तु ठ्याप्यत्वे प्रयोक़निग्राट्टकान्यहेतुनिष्ठत्वासिद्धेरित्यर्थः। अस्मन्मतमिति। देहात्मैक्यस्य त्वन्मते अनझीकारेऽवि अस्मन्मतानुसारिहेतुप्रयोगे अम्मन्मतसिद्धदेहातैमैक्ये ठ्यमिचारवारणनावइगकामिति भावः। ननु प्रतिभासमात्रशररिर्वादिरूपं प्रातिभासिकत्वं हेतो निवेइयं, तस्य च देहात्मैक्ये सत्त्वान्न ठ्यभिचार इत्यत अह --- त्वया हीति । अन्योन्याश्रयादिति । शब्दैकगम्यार्थ तावपर्यभम। शाबद्धर्दूर्वमसिद्धा। न च शाबद्धीजननानुकूलखाक्रिरूयताँपर्प्र्ं तत्पूर्तमापि प्रमातुं शक्यत इति वाच्यम् ; शाब्दभ्रमशक्तत्वस्यातात्पर्यत्वात्, शाबद्वमाशक्तरूपस्य तस्य वाक्यार्थाबाधरूपप्रमां्वघटितत्वेन शाबद्दुप्रमापूर्वं प्रमातुमशक्यत्वात्। तथाच शाबदद्रमातत्पर्यप्रमयोः परस्पराधीनत्वादुत्पत्तावन्योन्याश्रयादित्यर्थः । कर्मदाशास्त्यदौ बेदान्ततातपर्यभ्रमजन्यो यइशाठदबोधः तदन्याबाध्यं कर्मा ${ }^{2}$ प्रारम्त्यादि, तत्र बाधवारणाय प्रमितिस्थले ज्ञानं निवेशितम् । तृतीयमिति । स्वग्रन्थ ब्वैयैन तथोक्तत्वादिति शेषः । तथाच

प्रातिभासिकस्पासत्च्चनाधिकरणत्त्वमझक्छकतमेव; अन्पथा तुच्छवारकासत्वानधिकरणत्वविशेयणेनैव तन्यावृतोंतातत्र्रयासंनैयथर्पापत्तेः। एंच देहात्मैभपन्यापि पक्षत्वे बाध रव। बाधे च सति पक्षविशोषणस्य पक्षत्तन्यासिद्धचाश्रयासिद्विरावि। अतएव स्तबाधकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानाच्रिषयत्वे सतीति वा, खबाधकाभिमतबाध्यबाधाविषयत्वे सतीति वा, स्वसमानाधिकरणकम्मर्रागभाअसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वा विशोषणप्रश्षेपेजपि न निस्तारः। देहात्मैक्ये पूर्वोंत्तदोषाठ्यावृत्तेरेव। पक्षतावच्छेदके अ्रह्मपमान्या ' वाध्यद्वादि|नैवेड़े च अङीक्रतमेवेति। तथाच देहानमैंय्यस्य असदन्यत्व्वर्रह्मपमेल्यादिविशेषणयोः सत्तेन पक्षत्वावइयकत्वेन प्रतिभासमान्रशरीरत्वरूपपातिभासिकख्वस्य होतौ निवेशे स्वरूपासिद्यिः । अह्सजानान्यवाध्यत्वरूपतन्निवेशे च ठ्यभिचारः। न च पक्षीयव्यमिचारो न दोष इति वाच्यम्; अनुकूळतर्कसत्वे पक्षीयव्यामिचारसंश्रयस्य अपतिनन्धकत्वेडपि पकृते ठ्यमिचारनिश्धयसम्भवादिति भावः। पक्षत्वे पक्षत्वात् । बाध एव बाधोडपि पक्षत्वस्य साधकवाधकमानाभावरूपस्य आश्रयासिद्दिमध्येऽसिद्बिचाधयो: प्रार्चौनै०्यवहारादितदुक्तम्। नठ्यमते तु बाध एव; अनुमिय्युद्ययतावच्छेदकपकारधीविषयस्यैव आश्रयासिद्दिल्वात्। स्वताधकेत्यादि । सं भातिभासिकं रूप्यादि, तद्वाधकाबाध्यः काचादिदोष:, तजन्यभ्रमझानविषयः तदेव रूप्यादि, तदन्यत्वं व्यावहारिकमात्रे। बाधाविषयत्व हति। नेदें रुप्यामिल्यादिचाधस्य रूप्यादिबाधकाबाध्यम्य निषेध्यत्वेन विषयो रूप्यादि, तदन्यन्वं क्यावहारिकमान्रे। समानाधिकरणं स्वसमानाधिकरणं यत्करणं यक्कर्म तत्रागभावसमानकारीनज्ञानं अद्साविषयकं तद्दाध्यं रूप्यादि। पूर्बोक्तेति।

यत्तु- प्रथमे साध्ये ठ्यावहारिकसच्चमादाय सिद्धसाधनम्, द्वितीयसाध्ये तु वादिनः परमार्थत्वविशोषणं व्यर्थम् ; व्यावर्त्यप्रसिद्धेरिति, तन्न ; व्यावहारिकसच्चं सत्च्चेन व्यवहारमात्रमिति मतेन प्रथमप्रयोगादनुगतम् | पृथण्यावहारिकं सच्चमिति तु मते द्वितीयः प्रयोगः। न च विशेषणं ठ्यर्थम् ; परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनेद्द्धारस्य तत्र्रयोजनत्वात् । ईश्वरानुमाने जन्यं कृतिजन्य-
₹ववाधकजायद्रोधवाध्यस्वामाद्रिपातिभासिकदोषजज्ञानविषये स्वास्यादिप्रातीतिकविशोष बाधादिक बोध्यम्। आंय द्वितीयेडपि स्वाप्रगजादौ स्वबाधकजाग्रहोध्यनाध्यम्वाम्नगजाघमावृुद्दे: निषंध्यव्नेत्व विषये तहोोध्यं, जाम्यहोधस्यापि तद्वाधनयोग्यव्वा्। ख्वशाधनोपधायकं तु तत्वद्धीविश्रन्तमननुगतत्वान्न निवेइयम्। तृतीये व्वसिद्धि:; ईध्ररनिक्षज्ञानस्यैव स्वसमानाधिकरणेध्यप्रसादकेपरूपकर्म्रागभाव (वा) समानकालीनत्वेन तद्वाध्याप्रसिद्दे:, ‘पूर्व तु बादरायणों हेतुव्यपदेशात्’ इति न्यायेनान्त:करणानिषकम्मापसिद्ये:। स्वत्वकाधकत्वदोष्व्वदेदेरुगतस्याभावेन तत्तत्रातिभासिकव्याक्तिमेदकूटपयंवसानेन दुर्ज़यत्वं तु कक्ष्रयेऽवि, इक्सज्ञानबाध्यशुक्तिरूप्यादिपातीतिके बाधन्यमिचारादिकं तु पक्षषट्केऽपि बोध्यम्। परेणैव दूषणमाशक्र्य यदुद्धूतं क्रिष्यन्युप्पादनाय तदनु-मोदते-यच्विति। व्यवहारमात्रमिति। एकमेवाधिष्ठानीमूतं उक्षसत्च्वं कल्विपतादात्येयेन सदाकारस्य द्र₹यपतीतिमांन्र प्रकार इति मते सादिदमिति धीप्रकारसवरूपैक्यादिसाघनेन सिद्धसाघनम्। त्रिकालबाध्यव्वोपलक्षितम्वरूपात्यन्ताभेदस्य प्रप्चे प्रतिवादिना अनझीकारादिति भावः। अनुगतं सदिददमिति धीपकारव्यावहारिकमात्रविशोष्यकधत्रिकारः पृथण्यावहारिकान्यविषयकसदिदामिति धप्रकारादन्यद्वृ्यर्थ. मिति सदिदामिति धीपकारस्य वादिमते परमार्थत्वानियमेन तन्मा-

मित्यत्र मिममांसंक प्रति जन्यत्वस्येत्र विश्वपरमार्थत्वतादिनं
 पपत्तेश्य। तस्मात् पूर्नोक्त एत दोषः। हेतौ च ठ्यर्थविशेषणत्वदोषः। यद्यपि मतद्बयेपि अप्रामाणिकस्यापि निपेधप्र-

त्रैक्यस्य साधनसम्भवे परमार्थैति प्रकारविशोषणं वयर्थमित्यर्थः। जन्यत्वस्येवेति । ईभ्वरानऊीकारेण तदीयनित्यक्टेतरऩीकारिणं मीमांसकं प्रति जन्यत्व ${ }^{1}$ मव्यावर्तकामिति भावः। उपरझकत्वेनेति। अठ्यावर्तकत्वेनेल्यर्थः। प्रतिवादिवादिनेाम्सिद्धं च्यावर्तकत्रं नापेक्षते, कित्तु तयोरन्यतरसिद्धामेति भावः। उंक्तं हि मण्यादौ-"अद्टप्द्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यानि समवेतानि स्वजनकादृष्टेतरोपादानतोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि, समवेतत्वे सति प्रागभाइप्रतियोगित्वात् ; यदेवं तदेवं यथा घटः। न च जन्यत्तन्यावर्त्यप्रसिद्धि:; प्रमेयो घट इनिवदन्यावर्त क्वेऽपि तटुपरक्रनुद्धेरद्देरयत्त्रेन तस्योपरझ्जकत्वात्" इत्यादि । ननु ब्रह्सज्ञानेतराबाध्यत्वमप्रसिद्धम् ; मन्मते ज्ञानमात्रस्य सदूधЯन्नत्मावगाहित्रेन तदितरराधनत्ताप्र.सेद्धे: । अथ श्रद्समात्रविषयकज्ञानं निवेशयं ${ }^{2}$, तदापि परमते तद्रपसिद्वम्। अतः पक्षहेत्वोरप्रसिद्धदंषः कुतो नोच्यते ${ }^{2}$ किश्च प्रातिभासिकस्य अप्र. नागे. कत्वेन तदन्यत्तमपसिद्धम् ; वेदान्ततात्पर्यनमाजन्यत्त्रस्य शुद्धव्रह्म शाब्दप्रमात्वरूपस्वावच्छेदकघाटितत्त्वात्, मोक्षहेतुत्वस्य च विजानीयज्ञानत्वरूपस्वावच्छेदकघटितः्वात्तावद्रशावच्छेदकाप्रसिद्धेरप्रसिद्धि: परमते, तत्राह-यद्यपीति। अप्रामाणिकस्येति। अप्रसिद्धम्य नमाणा।विषयक्य चेत्यर्थः। अह्द्ययवाचामह्दृद्ययमेवोत्तरामिति न्यायेन स्वमतासिद्धस्यापि पर ${ }^{3}$ पसिद्धिमात्रेण निषेधप्रतियोगितया प्रयेगः । प्रमाणाविषयस्शापि

[^80]तियोगित्वाम्युपगमादारोपितत्वेन उमयसम्मतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्ति। अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वानुमाने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्त्वाद्दोषसाक्यं स्यात् तथापि हेतौ प्रातिभासिकत्वविशेषणं व्यर्थम्। अनधिकरणत्वे सति असत्चानधिकरणत्वमात्रस्यैव परमार्थसच्च्वसाधकत्पोपपत्तेः । शुद्धमेव हि ज्न हष्टान्तत्वेन अभ्युपयम्। धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्यवैकल्यापत्तेः। सा४यं तु बाधाभावरूपत्वाद धिकरणस्वरूपमेव न धर्मः । धर्म्यतिरिक्राभावानम्युपगमस्योक्तत्वात्। तथाच चक्षुस्तैजसत्वानुमाने रूपादिषु मध्ये इत्यस्यासिद्धिवारकस्यापि Б्यापित्रहौपांयिकत्वेन ठ्यभिचारवारकविशोषणतुल्यतया यद्यपि सार्थकत्वम् । ठ्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे व्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रस्य तन्त्रत्वात् 1 तथापि 'क्षित्यादिकं न कर्तुजन्यं

अ्रमविषयत्वमत्रेण निषेधपतियोगित्वधीशश्व मतद्वयेऽपि स्वीक्रियत इति भावः। अम्युपगमात् प्रसिद्धिरसतीत्येका ये।जना। पक्षहेत्वोः सत्यन्तस्य प्रसिद्धिरस्तीत्यर्थः। देहत्मैक्याहैं बाधत्यभिचारादिवारणाय प्रातीतिकव्यावर्तकसत्यन्तस्थले विशोषणान्तरमाह- आरोपितत्वेनेति ।
 न क्षतिः । प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्दिरस्तीत्यपरायोजना। अनधिकरणत्वेति। अस्मद्रीत्या प्रातिभासिके ठ्यमिचारप्रसक्तेरेदम्। साधकत्बेति । ठ्याप्तिम्रहौपयिकत्वेत्यर्थः । ननु त्रद्मण्यज्ञानविषयत्वाद्यधिकरणत्वसत्त्वादनीधकरणत्वाभावेन च्याप्तयग्रहात् उयास्तिग्रहौपयिकतया तत्सार्थक, तत्राह शुद्धमेवेति । उक्ताधिकरणत्वं चोपहित एव, न शुद्धे ब्रक्मणीति भावः। तैजसत्वानुमानेति। चक्षुA.s.v.

शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र शररिस्यव क्यासित्रहानुपयोगित्वेन प्रातिभासिकत्वस्य वैग्यर्थ्यमेव। आकाशादावजन्यव्वकर्तजन्य-
 ऊर्चास्त्रिहोपपतेः। तथा न एकामसिर्दि परिहरतो द्वितीयासिद्धणापत्तिः । स्उरूपासिद्विपरिहारार्थ निर्रेपणं प्रक्षिपतो छ्याप्यव्वासिब्बिरिलयर्थः । ठ्यात्तानतुपयोगस्प दर्शितत्वात्।

नतैजसं रूपादिषु मधंये रूपस्यैव व्यझकंवादालोकवदित्यत्र मध्यान्तानुपादाने हृष्टान्ते हेत्वभावेन साध्यहेत्वोः सहचाराम्रहात् मध्यान्तं च्याप्तिग्राहकामिति भाचः । ननु ठ्याप्षेरिव पक्षधर्मताया आपि य्याहकव्वेन सार्थक्यं कुतो न स्यात्, व्यासिप्राहकस्यापि सार्थफत्वऽनुमितिप्रये।जकत्वस्यैव तन्त्रत्वसम्भवा|तत्राहु—ठ्याप्रातिति । एवेति ऐोषः। तथाच यद्विरोषणविनाकृतस्य ठ्याव्यतावच्छेदकत्वसम्भवः, तद्वचर्थ, तद्धाटितक्य गौरवेणानवच्छेदकत्वात् । न च व्याव्यतायःः ₹वरूपसम्बन्धरूपस्य अतिरिक्कस्य वा अवच्छेदकत्वम्यानझी|कारादन्यूनानतिरिक्तवृतित्वरूपावच्छेईकत्वस्य गुरावपि स्वीकारान्नोक्तरीत्या वैयर्श्यम्य दूषणत्वमिति वाच्यम्; ठयाप्यताया उक्तावच्छेदकत्वस्यानङीकारे कारणतादेरपि तदापत्तेः दण्डः कारणमित्यादिधीरिब धूमो व्याप्य इत्यादिधीरपि द्यवच्छेदकत्वावगाहिनी सम्भवत्येव। अतएव कम्बुप्रीवादिमत्त्वादिना ठ्याप्सिनैैै्यत एव । तथाच स्वविशिष्टठ्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य।वच्छेद कहेतुतावच्छेद. कादिरुपव्याप्तिधीविरोधित्वात् ठ्याप्यत्वासिद्दिविधयोइतावच्छेदकत्वशून्यहेतुतावच्छेदकरूपस्य व्यर्थविशेषणत्वस्य हेत्वाभासत्वं स्वरूपासि|द्धिमात्रवारकविशेषणघटितहेतावपि तदक्षतमिति भावः । ₹पष्टश्वायमर्थो मण्यादावीश्वरवादादौ। तत्र हि — शरीराजन्यत्वे ठ्यर्थ-

किश्न ठ्यावहारिकसच्वमात्रेणैव उपपत्तः उक्तहेतोरप्रयोजकत्वम् 1 परमार्थसत्वे बाधानुपपत्तिलक्षणग्रतिकूलतर्कपरा-

विशोषणत्वं, लाघवेनाजन्यत्वस्यैव च्याप्यत्वात् । ननु ठयर्थत्वमसिद्वम्, पक्षधर्मतौपयिकत्वात्, ठ्यमिचारवारकम्यापि सार्थकत्वे अनु. मितिप्रयोजकत्वस्यैव बीजत्वादित्याशक्षय, नीलधूमे नलकतत्वमपि न व्याव्यतावच्छेदकं, गौरवात्, किन्तु धूमत्वमेa, दण्डत्त्रेन कारणत्वे रूपामिव। एवं शरीराजन्यत्वेऽपि न शरारमवच्छेदकं, गौरयात्। येन विशेषणेन विना ठ्याप्तिः न गृह्यते, तस्यैव ठ्याप्यतावच्छेदकत्वनियमात्। अतएव गन्धस्यैय वयक्जकव्वादित्यत्र रूपादिषु मध्य इति विशोषणं विना ठ्याप्तचम्रहात् त₹सार्थकमेवेत्यादि समाधानमुक्तम्। उक्षं च तत्र पक्षघरैः--‘गौरवमेव तदहेतुतायां बाजम्' इति। किज्च यद्विनापि यद्वच्छेदेन रयासिर्तृहातुं शक्यते, त्तत्तर्राधिकत्वान्निग्रह्म्थानम् । अतएव परं प्रति तेन रूपेण ठयापेंरुपन्याससम्भवेन अनुपयुक्तकल्पत्वात् उक्तविशेषणघटितहेतुतावच्छेकघटितमेंव व्याप्यत्वं चाच्यम् । तथाचोक्तविशेषणघटितत्वविाशिष्टहतु तावच्छेदकस्य व्याव्यत्वासि|द्धिविधया हेत्वाभासः्वमिति सर्वथा ठ्याप्युत्वासिद्धिर्दुर्वारा। उक्षं च तत्रैव—यन्निक्ठा यन्निरूपिता ठ्याप्तिः येन विशोषणेन विना गृहीवुं न शक्यते, तत्र तद्विशेषणं तद्वयं
 प्रतियोगितया जन्यत्वमवच्छेदकं धूमे नीकत्वमिवेत्यादिपूर्वोक्तराक्काग्रन्थेप्युक्तम् । न रारीराजन्यत्वे नीलधूमादौ| च ठ्याप्रिरिति विशोप्यमात्रे सा। तथाच स्वरुपासिद्धि: त तद्वारणाय विशेषणोपादाने ठ्याप्यत्वासिस्य्येरिति। अतएव ₹्वसमानाधिकरणण्याप्यतावच्छेदका-

[^81]धाताच्च ननु न्रह्मण्यसत्र्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपं हेतुं प्रति व्यावतरकतया प्रयोजकत्वेन परमार्थसच्चं क्ल्प्रम्। अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येव असद्वचातृत्तिं प्रति तद्विरुद्दूसच्वस्यैव प्रयोजकत्वात्। ज्ञानत्वानन्द्वत्वादिकं तु न तत्प्रयोजकम्। साक्षादसश्वाविरोधित्वात्, प्रपश्ने तदभावाच्च। तथाच बह्सविश्वसाधारणं परमार्थसत्व्वमेव तत्प्रयोजकम्। न च विश्वमिथ्यात्वात् परमार्थसच्चमपि न विश्वसाधारणम्। ज्ञानत्वानन्दृत्वादिवदिति वाच्यम् । अन्येन्यश्रयपपत्तेरिति चेत् । अयुक्तमेतत् न हि प्रातिभसिकासतोरेका ठ्यवृत्तिरुभर्यी वा समष्यात्ता । येंैैकग्रयोजकप्रयोज्या भवेत् । किन्तु प्रातिभासिकव्याृृत्ति-
न्तरघटितत्वं ठर्थविशेषषणव्व, तदभावविशिष्हेत्ततावच्छेदकं ठ्याप्तिघटकमिति दीघित्यादावुक्तमनादेयम् । ईंध्ररादाीयपक्षधरराये •अथ ताहहाधर्माघटतित्वमवि विशोषणम्, इति वाक्ये पूर्वोंक्तसाध्यसम्बन्धितावच्छेदकस्यैव ताहृशपदेनोक्तत्वात् ₹ससामानाधिकरण्यादिविशोषणन्य स्वकपोलममात्रक्प्पितवेन निंर्यु|क्तिकत्वात्। धूमपागभावादौ व्यर्थविशेषणत्वस्य उचितत्वात् यदि च निमहस्थानत्वरूपा' व्याप्यख्वासिद्धिरेव च्यर्थविशेषणस्य दोषत्वं न नु हेत्वाभासत्वमिति मतभाद्वियेते, तथापि ठ्यास्तिग्रहानैपयिकमात्रस्य तत्तान्त्रिकसम्मतमित्यसिद्धिमात्रवारकस्यांपि प्रातिभासिकत्वस्य प्रकृते तदावइयकमिति ध्येयम् प्रातिभासिकासतोरिति। प्रातिभासिकत्वेन भेदः, असत्चेन च भेद: नैकः; न वा तौ समव्याप्तावित्यर्थः। ननु प्रातिभासिकासतोरन्यतरत्वेन याव्यावृत्तिः ${ }^{2}$ तन्पयोजकतया अ्रहीण सच्वंव सिद्धमित्याइक्रय, क्रहस्य अह्मपपश्चन्यतरत्वस्यैव तत्पयोजकत्वसम्भवात्, अन्यथा ज्नासदन्यतरव्यावृत्तिपयोज कतया प्रातीतिके


## प्रयोजकं व्रह्न विश्वासत्साधारणमेव वक्तव्यम् । असत्यपि

 प्रातिभासिकत्वाभावात्। एवमसद्वथावृत्तावपि प्रयोजकं ₹ह्न विश्वप्रातिभासिकसाधारणमेव वक्कव्यम् 1 प्रातिभासिकेप्यसत्त्वाभावात् । तथाच तत्प्रयोजकद्वयसमावेशादेक उ््सण्युभयव्यावृच्युपपत्तौ नीलत्वघटत्वरूपावच्छे !कद्वयसमाबेशोपपन्ननलियघटत्ववत् नातिरिक्तप्रयोजककल्पनायामस्ति किश्निन्मानमिति कृतबुद्दय एव विदांकर्वन्तु। नित्यत्वं चोपाधिः तुच्छभातिभासिकगोः नित्यत्वव्यतिरेके साध्यव्यतिरेकदर्शनात्।मिथ्यात्वं सिद्धमित्यस्यापि मया चक्तुं शक्यत्वाटुभयमतक्लुपातिरेरक्रयोजकसिद्धौ न मानमित्याइयेयाह--अतिरिक्तग्रयोजकेति। नित्यत्वव्यतिरेक इति । सति सप्तन्या अवच्छछन्नव्वलाभात् निल्यत्वठ्यतिरककव्यापकस्य साध्यव्यतिरेकक्य ल्लाभः। ननु --. देहात्मैक्ये बाधायु़क्तिरयुक्ता; मन्मते तस्यैवाप्रसिद्वत्वात्, सत्यय्व्वादि-
 न्तार्थन्वसम्भवाच्च । अनधिकरणत्वे सतीत्यादिहेतुसम्मवात् प्रातिभासिकत्वं ठ्यर्थमिल्यपि न युक्तम्; अह्नण्यनघिकरणत्वासिद्द्ये:, ठ्यास्तयम्रहादधिकरणत्वसामान्याभावस्य हेतावपवेशेनोातकैयैर्य्यस्सम्भवाच्च। प्रातिभासिकव्यावृत्तिपयोजकं ₹र्सविश्धासत्साधारणमित्याद्युुकम्; तब मते त्रिषु एकम्या व्यावृत्तेरसम्मवात् अश्चणि हि तत्वरुूपा सा विश्धस्मिन् ठ्यावहारिकमेदरुपा, असतु निर्धर्मकत्वात् न तद्वृ्, किन्तु सैबासन्निष्हा । अतएव न अद्बादिष्वनुगतं प्रयोजकमास्ति,, अह्सासतोनिर्धर्घकल्वात्। व्रह्सविश्ययोस्तु प्रातिभासिकासद्वय|वृत्तिरेका सम्भवतीति तत्प्रयोजकं सत्व्व्यावइयकम्। निल्य-

$$
1 \text { प्रातिभासिक, } 2 \text { निल्य, }
$$

त्वमुपाधिरित्यपि न युक्तम्। सत्च्वाभावं विनापि नित्यत्वाभावसम्भवेन अनित्यत्वस्य साध्याभावासाधकत्वात्। उक्ततरेकेण सत्त्वव्यापत्वेन गृहीनतहोतोः अव्यापकत्वेन उपांधः ${ }^{1}$ साध्याव्यापकत्वप्रहाचेति" इति चेन्न ; मन्मतमाश्रित्य प्रयोगे बाधाद्युक्तः । त्वन्मते प्रयोगेऽपि निर्द्रोंष्वेनोभयसिद्धस्यैव हेतोस्त्वयामां प्रति प्रयोज्यत्वात् ; अन्यथा अतिप्रसछ्ञात्। उभयवादीतायाद्युक्तावपि न निस्तारः।न हि ख्या तार्किकेण वा सत्यत्ववादिना देहात्मैक्यस्य मिथ्यात्वमुच्यते, तार्किकेण तस्य भ्रमविषयत्वाध़्नीकारेपि मिश्यात्वानझी कारात्। अ्रमविषयत्वरूपमिथ्याः्वनिवेशे च स्वरूपासिद्धि:, साघनैवैकल्यं च। किज्च जीवगतेऽनणु ${ }^{2}$ त्वादै। त्वैयैन मिश्यात्वस्वीकारेण तत्र त्वन्मते बाधनयमिचारादि। एवमन्मान् प्रति जीवाणुत्वादौ तत् । न चाहं मनुष्य इत्यादिप्रत्यये मन्मते मम शररीरमिति विशेषदूर्शनान्न स्वामित्वादिदेदससम्बन्धस्यैव भानेन देहात्मैक्याभानेव्युक्तविशेषादर्शनकाले तद्रमस्यासीकारात् तन्मिथ्यात्वमुभयसम्मत[मिति वाच्यम् । तथाप्येकस्य मिथ्यात्वस्य उभया ${ }^{3}$ म्म्मत्वात् $^{2}$ त्वया हि तत्र सर्वदेशाकालुण्यावृत्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं मिश्यात्वमुच्यते, न तु सदसद्विलक्षणत्वादिरूपं, उक्तप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वनिवेशो' चासदन्य्यत्वस्य वैयर्थ्यम् तदनुपादानेप्युभाभ्यां सिद्धत्वं ज्ञातत्वं प्रमितत्वं वा ; आद्ये बसतुमात्रस्यैन उकमिथ्यात्वेन ज्ञातत्वादप्रसिद्धि:, उभयज्ञातमिथ्यःववदन्यत्वनिवेशे ज्ञातान्तवैयर्र्य तुच्छक्योक्कमिथ्यात्वेनास्मद" ३ीकारातद्यावर्तनासम्भवः। असदन्गत्वत्वनिवेशे त्वन्मते वैयर्पर्यमुक्तम्। द्वितायेऽपि प्रमितत्वान्तं ठयर्थम्, तुच्छचयावर्तनासम्भवश्च । उक्तमिथ्यात्ववदन्यत्वमात्रं निवेइयं, न त्वसदन्यत्वमिय्युक्तावपि सदो|षोसदन्यत्वस्यापि सत्वेन प्रतीत्यह्हत्वरूपस्यास्मान् प्रति सार्थकत्वेन निवे-

[^82]ऐोपि सन्दिग्धासिद्धि:। पक्षे उन्कमिध्यास्वस्य सन्दिग्वत्वादिति दिक्। प्रातिभासिकवं ठ्यर्थमिति तु युक्तमेव, अभावरूपष्य हेतुपविप्षस्य त्रह्म/णि सत्व्वात् । अथा'भावरुप्वनिवंको सरुपूामिद्वघापत्त्या भावाधिकरणमेव निवेदयम् तच नह्सणि नास्तीति चेन्न ; तन्निवेशेडपि साधनवैकल्यापते: ध्याप्वच्रह्रादभावरूपत्वस्यैव च्याप्तिग्राह कवेवेन सार्थक्यात्। अधिकरणव्वसामन्याभावेत्यादिकं तु न यूक्तम्। शरीरारांजन्यत्वे शरीरांशौवैयर्ण्यं हि न स्वसमानाधिकरणच्याप्यतावच्छेदकान्तर ${ }^{3}$ घटितहेतुतावच्छेदक्करूप, जन्यव्वसामान्यव्वाभावत्वरूपव्याप्यताषच्छेदकान्तरस्य हेतुतावच्छेद्यकस्य शरराराजन्ग्वव्यस्याघटकत्वाद्यमानाधिकरणत्वाच्च। किन्तु पूर्व्याए्वातरुपम्। तथाच सामान्याभावस्य हेतावनिबेशेडपि वैयर्य्यमश्षतम्। न च झरीरांशोपि तत्र न व्यर्थ इति तादृधामेव ठ्यर्थव्वं चाच्यमिति चाच्यम्: ताल्रिकसम्मतबीजसत्वे त्वदवचनाप्रयोजकत्नात्, विशेषाभावकूटस्यैन सामान्याभावत्वेन ₹वसमानाधिकरणेत्यद्येगपि सत्च्चाच्च। न च प्रतिभासिकख्वाबच्छिन्नपियोगिताकभेदस्यैव टेतौ निंँइयत्वादधिकरणत्वसामान्याभावो न निविष्ट इति वाच्यम् तथापि अह्सज़ानान्यावाध्यत्वादिरूपष्य तस्य निवेझो कारें अवाध्यव्वादेरेव हेतुव्वसम्मेवेन इतरवैयर्प्यात्। न च सामान्याभावत्वस्य सामा.याबच्छिन्नपतियोगिताकाभावत्वरूपत्वे सामान्यपटितविशेषाभावबुद्धावपि तद्धा|नियमः ғ्यात्, अतः सामान्यभिन्नावच्छिन्नसासान्यावच्छिन्नपतियोगिताकाभावत्बं तद्वाच्यम्, तथाच विशेषाभावे तस्यापपवेशान्नोक्तरूपं वैगर्ं्य्यलिनि वाच्यम् ; विशोषाभावनुद्धौौ सामान्याभावत्वधी|नियमेडपि सामान्यामावसंसर्गावगाहिनुद्धौौ विशेषाभावकूटनिरू१िनविगेपणानंया भानर्वीकरोण अनतिपस्ञात्, सामान्यभावत्वस्य

[^83]अतएवानिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वार्दित्यपि न हेतुः। किश्व ग्रमात्वं तद्वति तत्रकारकत्वं तत्चावेद्रकत्वं वा। आद्ये दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यम् । न हि परमार्थसतः शुद्धस्य

सामान्यभिन्नानवच्छिन्नत्वघटितत्वे मानाभावात्, अन्यथा ताहदापतियोगितान्तरकल्पने गौरवात् । अथाभावरूपे ज्रह्मणि निर्घमके न हेतुतावच्छेद्कं, किन्तु तत्रतियोगित्वमेब अन्यत्र, अतएव व्याप्यत्वमपि न तत्रेति मन्यसे ; तर्हि ठ्यापिम्रहाभावात्तैवैव विपत्तिः। ब्रह्मादित्रिषु एकं ठ्यावृत्तिपयोजकमित्यादि युक्तमेव। यद्यपि ज्रह्मणि तत्स्वरूपे अन्यत्र धर्मस्वरूपे ठ्यावृत्तिप्ययेजके, तथापि व्ययोक्तं तदैक्य'मझीकृत्यंक्तित्वात्। तथाच त्वयैव स्वविपह्बीजमिदं चिन्तितम्। अतएव ब्रद्मविश्वयोस्तु प्रातिभासिकासद्यावृत्तिरेकेति ते ठयाएमेह एव। एकैकव्यावृत्तेरिव तस्या अव्यनैक्यात्। अथ ठ्यावृत्तितत्रयोजकयोः अंनैक्येपि ज्ञानविझोषविषयत्वेनानुगतरूपेण प्रयोज्यप्रयोजकत्वाभिति चेन्न; एवमपि अह्मपपश्चेभयमात्रविषयकर्धीविषयत्वाद्रेरेव प्ययेजकत्वसम्मवात् प्रपश्चे सत्यत्वासिद्धेः। वस्तुतस्तु प्रये।जकाभावेऽपि न क्षतिः। न घ्मकधर्मविशिष्टे एव उक्तव्यावृत्तिधीरिति नियमे मानमसित। अतएव तर्काभावानुक्कहेतोः साध्यक्याप्यत्वामहेण नित्यत्वस्य साध्यक्यापकताम्रहसम्भवात् । ठ्यापकीभूतेपाध्यभावे ठ्याप्यमूतसाध्याभावठगाप्यत्वग्रह्ं, नित्यत्वाभावो यदि सत्त्वाभावत्यभिचारास्यात् तदा सत्त्वध्यापक्पनियोगिक्ग न स्यादिति तर्कात्। अंतएबेति। बाधानुपपत्तिरूपपतिकूलतर्कपराघातात् नित्यत्वापाधिमत्वर्चैवेत्यर्थः। अनिषेध्यत्वेनेति । विषयत्वान्वयिस्वाििकरणवृतितिषेषप्रतियोगित्वविषयत्वांनेरूपितत्वेनेति तदर्थः। न हि परमार्थत्बेति। श्रद्मणोऽज्ञानमित्यादि

ब्रक्मणस्सग्रकारकज्ञानविषयत्वम् । न च धर्मवतो दृष्टान्ततेत्युक्तम्। तस्य पक्षकुक्षिनिक्ष्प्तत्वेन निश्यितसाध्यवच्वाभावात्। द्वितीये त₹्वावेदकत्नस्य अनाधितविषयत्वरूपत्वेन साध्यविशोषपर्यवसानात् हेतुग्रेहे सिद्धसाधनम्। हेतुग्रहे तु स्वरूपासिद्धि:। यत्तु प्रमाविषयत्वमत्रेणैव परमार्थत्वोपपत्तौ विशोषणे व्यर्थ इति, तन्न; पुरोवर्तिनं रजततया जानामीत्याद्यनुठ्यवसायरूपग्रमाविषये प्रातिभासिके ठ्यभिचारवारकत्वात्। साक्षात्पदस्य तत्त्व च मिथ्यात्वप्रमितेः साक्षाद्विषये ठ्यमिचारवारकत्वात्। अनिषेध्यत्वेनेत्यस्स न ह्यनुव्यवसायमिथ्यात्वप्रमे न भवतः। नाप्यनिषेध्यत्वेन ईंश्वरं प्रति साक्षाद्परोक्षत्वं

ज्ञाने अज्ञानंविषयत्वाद्युप'हितर्येव भानमिति भावः शुक्तिरूप्यादेरपि स्वाश्रये स्वप्रकारकर्धतिषयत्वात् मन्मते ठयभिचारः, परमतेऽपि यद्यपि तस्यासत्वेन तदाश्रयाप्रसिद्धघा न ठ्यभिचारः, तथापि व्नह्मणोऽटयाश्रयाप्रसिद्धया साधनैैैकल्यम्। अथ स्वर्कीययस्नम्बन्धवति स्वप्रकारकधीविषयत्वं हेतु:, तत्सम्बन्धावचिछछन्नत्रतियेगिताकसर्वदे इकालवृत्त्यभावा $1^{2}$ प्रतियोगित्वं साध्यम्। अतएव रजतादेस्तादाल्यादिसम्बन्धेन मिथ्यत्वं, न तु विषयितादिसम्बन्धेनेति। तथाप्यधिष्टानैचतन्ये रजतस्य य: सम्नंध्ध: तेन तस्य मिश्यात्वमवइयं वाच्यम् अधिष्ठानचिदेव तस्याभावः। तथाच तदंरो तेन सम्बन्धेन रजतप्रकारके रजतमत्र नास्तीति ज्ञाने प्रमाव्वाभाबादनिषेछ्यत्वेनेति व्यर्थम्। न ब्याधार एवाभाव इति प्राभाकरादिमते सुखाद: ${ }^{3}$ स्वध्वंसादिरूपात्माने समवायन्यसम्बन्धः कलॅ्यते; कलृप्तसम्बन्धेनैव निर्वाहात्। एव रजततदाकारवृत्र्योरिव तयोस्सम्बन्धन्यापि कल्पितत्वात् साक्षादित्यपि च्यर्थम्। यत्तित्या-

[^84]हेतुः। सत्यत्वसिर्दिं विना अनिषेछ्यत्वेनेत्यस्य असिद्देः। तथाचान्योन्याश्रयः। न चेश्वरज्ञानविषयस्य प्रपश्वस्य मिथ्यात्वे तस्स भ्रान्तत्वप्रसङ़। मिथ्याभूतस्य मित्यात्वेनेन ग्रहणात्। ऐन्द्रजालिकवत् भ्रान्तत्वायोगात्। अन्यथा सविपयकभ्रमज्ञातृत्वेन भ्रान्तत्वस्य दुर्वारत्वापत्तेः। अथ निपेध्यत्वेन ज्ञाने तत्पालनार्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिर्न स्यात् ऐन्द्रजालिकम्रवृत्तिवदीश्वर्रवृत्तेरपि तथाविधत्वात् । नापि सप्रकाराबाध्यार्थक्रियाकारित्वं हेतु:; सप्रकारकजाग्रद्दोधाबाध्यस्वजलावगाहन-

दिक तु भाव्योक्तमनास्धयानुदितमिति ध्येयम् । तस्य तत्र। भान्तत्वप्रसङः विशेषदर्श्रिनां भान्तववव्ववहारापसझः। मिथ्यात्वेनेति। तथाच स्वसमानाधिकरणविशेषदद्शननाकालीनस्य बाधितविषयकज्ञानस्य अश्रयंवं अन्तन्यवहारे विषयकालीनान्तविशेषणानुपादाने उन्कविशेषदद्शनककालीनस्य सोपाधिकभ्रमस्य|श्रये पुुुषेडप्यहं भान्त इति व्यवहारसम्ग्यादिति भावः। अन्यथा उन्किशेषषदर्शनकालीनभ्रममादाय भ्रान्तव्वव्यवहारे। सविषयकभ्रमज्ञातृत्वेनेति। विषयतापर्याप्मयधिकरणं यन्जुखादिविशिष्टद्पणानि तद्विशिप्टभ्रमस्य मिध्यात्वेन यत् ज्ञातृत्वं तेनेल्यर्थः। भ्रान्तत्वस्य। भ्वात्तवक्यवहारस्य। यथाश्रुते बाधितविषयकज्ञानवर्वरुपभ्रान्तत्वम्येप्टप्वादसझतेः। तथाविधत्वादिति। विसंबादित्वेन ज्ञायमानत्व्वादित्यर्थः! संबादिल्वेन ज्ञायमान्रवृत्तौ प्रमातृत्तेन ज्ञायमानस्योपादानप्र्यक्षादे: हेतुत्वेप्यता_ दृश्रवृत्तावताद्धशाम्य त₹्य हेतुत्वमविरुद्धमिति भावः। सप्रकाराबाध्येत्यादि । सककाराबाधं यदर्थक्रियाकारे तत्वादित्यर्थः। जायद्वोधेति। मनोवच्छिनेत्नन्यदेशरघिष्ठानत्वपक्षे जाम्द्धीवाध्यव्वेपिड

प्रियासङ्गमादिविशेषिताप्रमाण्णमूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकं तच्चाबाध्यमेवेति मतं, तद्सत् । ज्ञानमात्रस्य हि ताद्क्रसुखाजनकत्वेन किश्र्विद्विशोषितस्यैव तथात्वं वाच्यम्। ज्ञाने च विशोषो नार्थातिरिक्तः। तदुक्तम्'अर्थैनैव विशोषो हि निराकारतया धियाम्'। इति। अर्थनेति अर्थ एवेत्यर्थः। तथाच मिथ्याभूतधिऐोषितस्य व्रह्माधिष्ठानकत्वपक्षे तदबाध्या खामर्धीरिति भावः। सङ्नमादी-
 प्रहः। विशोषितेत्यनेन सख्नमदेरर्थक्रियाकारित्वं दर्जितम् । नन्वर्थम्य प्रियासझत्वादिना कारणतावच्छदकत्ने गौरवात् ज्ञाने जातिविशोष एव तथा कल्प्यताम्, तत्राह- सदुक्तमिति निराकारतगेति । ज्ञानगतविशेषाङीकारे तेनैव ज्ञानाकारेण ज्ञानाभिन्नेन नीलादिरूपण नीलं जानामीत्यादिच्यवहारोपपत्तौ नीलादि बहिरर्थमान्रलोपापत्ते: बहिरर्थाघटितस्य विशेषस्य ज्ञानेऽनुपलबदेश्य ताद्टशविशोषो ज्ञानेनाझी ${ }^{1}$ कियते। अतएवननुमितित्वादिकं नाखण्डो ज्ञानघर्मः, किन्तु व्याप्ति पक्षधर्मतार्धजनन्यत्वादिरूपः। इन्द्रियजन्यत्वाद्यनुपन्थितौ साक्षत्कारत्वादिकं न प्रतीयत एवेति भावः। किज्च सुखादि ${ }^{2}$ जनकतावच्छंदकर्वेन कल्ट्यमाना जातिः ज्ञाने अर्थे वा ₹धीकार्येत्यत्र न विनिगमकम्, स्वामार्थस्य सुखादिसामानाधिकरण्यासम्भवात् । न च जाग्रदर्धस्य साक्षिसम्बन्धाभावकाले सुखादिस।मानाधिकरण्याभावेन तस्याहेतुत्वमिति वाच्यम् ; अर्थपत्यक्षमात्रस्य कारणतासथले तस्य हेतुतासम्भवात्, ज्ञानमात्रक्य हेतुतास्थलेडपि म्वामार्थषु जाग्रज्जानेषु

जनकत्वाभ्युपगमे मिथ्याभृतस्यापि जनकत्वादूधमिचार एव। तथा चोंकं शास्बद्दीपिकायां बौंद्यंं प्रति- "अथ सुखज्ञान मेवार्थक्किया तच्चाष्यभिचार्येन। न हि कचिद्यस्यति सुखे मुखज्ञानमस्तीत्यारह्य सत्यमेतत् न तु तेन पूर्वज्ञानप्रामाण्याध्यवसानं गुक्तम्। अप्रमाणेनापि प्रियासड़मविज्ञानेन स्वमावस्थायां सुखद्रीनात्"। इति। ननु त्रिषयविशेषोपलक्षितस्यैव ज्ञानस्य सुखजनकत्वमस्तु, तत्कुतो विषयस्य जनकत्वमिति चेन्न; स्वरूपाणामननुगततया ज्ञानत्वादेश्व अतिप्रसक्ततया अनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादुपलक्ष्षणत्वासम्भवात्। ननु विशोषणत्वमप्यसम्भवि अनागतज्ञानजन्ये तत्कालाविद्यमानस्य विष यस्य पूर्वभावित्वरूपजनकत्वासम्भवादिति चेन्न ; स्वव्यापारजन्ये ब्यापारिणोडसतोजनकत्ववत् स्वज्ञानजन्येडप्यसतोजनकत्वसम्भवात् अतीतानागतावस्थस्य असच्चधर्माश्रयत्वेनैन अभ्गुपगमात्।

च सा जातिरिति वक्तुं राक्यव्वात् । स्वाप्रेन प्रियादिना ${ }^{1}$ जाग्रककाओनीनेन व्यवहारिकप्रियादिज्ञानेन च सुखायुत्पत्तिसम्भवात्जातिसाए्कर्यस्यादूषकक्वात् हटि्टिसृष्टिवादे अर्थ एव तत्सम्भावाच्च स्वाम्रज़ानस्यापमात्वे संवादमाह-तथाचोक्तमिति। यथा स्वव्या पारादिसम्बन्धेन कारणत्वं, तथा स्वज्ञानसम्बन्धेनेत्याह- स्वन्यापरेति। यद्घतीतादिकं सूक्ष्म्मरूपेण विद्घमानं न स्यात्, तद| वर्तमानध्वंसमतियोगित्वादिरूपासश्च्वस्य ज्ञानविरोषविपयत्वादेश्य वर्तमानकारावच्छेदेन आश्रयो न स्यात्त न द्याश्रयासम्बद्धकालोऽवच्छेदकस $Я$ म्भवतीत्याशयेगेाह—अअतीतिति । यदायदा यज्ज़ानस्वरूपा|ाधः, तदा तद्विषयाबाध इति नियमात् स्वाम्ज्ञानं बाध्य-

अन्यथा छ्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वतद्ज्ञानविषयत्वादीनामनाश्ययत्वापत्तेः। प्रमाणबलात् कारणत्वाभ्युपगमस्यात्रापि तुल्यत्वात्। किश्न स्वरूपाबा४यस्य विषयावाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपवाध्यस्यावइयकतया स्वमादिज्ञानं सदेवेत्यस्य वक्रुमशक्यत्वात्। अनादित्वस्य विपमव्यास्त्योपाधित्वाच न चार्थक्रियाकारित्वं प्रति परमार्थसच्वस्य ब्रह्नणि प्रयोजकत्वेनावधारणादकारणककार्योत्पत्तिरूपविपक्षबाधकतर्केण हेतोस्साध्यठ्यापकतया तदव्यापकतया उपाधेः साध्याव्यापकत्वमिति वाच्यम्; प्रातिभासिकरज्जुसर्पादौ भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शानेन प्रातिभासिकसाधरणस्य तुच्छव्यावृत्तस्य प्रतीतिकालसत्वस्यैव अर्थकियाकारित्वं प्रति प्रयोज कत्वत्व । प्रासिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वानम्युपगमे सम्रकाराबध्येति हेताविशोषणवैग्यंर्यापत्तेः। कस्मिन्नपि देंो कस्मिन्नपि काले केनापि पुरुपेणाबाध्यत्वं हि परमार्थसच्चम् । तदपेक्षया प्रतीतिकालसत्वस्य लघुत्वाच। किश्न शुद्दस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् साधनविकलत्वम्। उपहितस्य पक्षनिक्षेपात् साध्यविकलत्वम् । आरोपितमिथ्यात्वकत्वादित्यपि न हेतुः ; आरोपितत्वं प्रातिभासिकत्वं चेत् प्रपश्ने हेतोरसिद्धिः। तत्सिद्धेः पारमार्थिकसिद्धगुत्तरकालीनत्वात्। व्यावहारिकत्वं चेच्छुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारः। उभयसाधरण्येप्ययमेव दोषः। कल्पकरहितत्वादित्यपि न हेतुः। असति व्यमि-

मित्याह—किश्नेति । अकारणकेति । सत्यकारणहीनेत्यर्थ: यदि मिध्याभूतं कारणं स्यात् तदा सत्यं स्वात्, यन्नैवं, तन्नैं, यथा नृश्टक्नम् । अथवा कारणं यदि सल्यं न स्यात् तदा कारणं न स्यात्, यथा नृश्टक्षमिति तर्को बोध्य:-कालसत्वस्य। काल-

चारात् । यथाश्रुतस्यासिद्देश्व । ननु नासिद्वि:, शुर्द्ध हि चैतन्यं न कल्पकम्; अद्टष्टत्वात् । नोपहितम्, कल्पितत्वादेवान्यथानवस्थानात्। तथा च यावद्विरेषाभावे कल्पकसामान्याभावसिद्द्वारिति चेन्न; गुद्धस्याप्यनाद्यविद्योपधानवरोन कल्पकत्वोपपत्ते: । कल्पकत्तं हि कल्पनां प्रत्याश्रयत्वं विषयत्वं भासकत्वं वा; तच सर्व कल्पनासमसत्ताकल्पेन गुद्धत्वाठ्याधातकम्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके-

आश्रयत्वविषयभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्रिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।

## इति। अस्सु वा उपहितस्य कल्पकत्वम्। न चानवस्था।

सम्बन्धन्य । शुद्धत्वव्वव्याघातकमिति । शुद्ध््याविद्योपहितादिरूपानुगमात्। वस्तुतः शुद्धतेवि अविद्यादिरूपां कल्पनां प्रत्याश्रयादिरूपत्वाविरोधादिति भावः। शुद्धғय कल्गनासम्बन्धाभावपक्षेडपि न क्षतिरित्यारायेनाह—अस्तुवेति। यतु--" प्रमाविषयत्वहेतौ साधनवैकल्योक्तिरयुक्ता ; विशेष्यावृत्तीत्या दि ${ }^{1}$ प्रमात्वे दोषाभावात्। तन्त्वा वेदकत्वरूपेऽपि न साध्याविशोषः; अर्थसत्ष्वाग्रहेऽपि शब्दादिना साद्वेषयकत्वग्रहसम्भवात् । अनिषेध्यत्वेनेत्यंशास्यासिद्देरित्यादिकमयुकम्; निषेध्यत्वेन ज्ञातस्य पालनाय प्रवृत्तसम्भवात् । न ह्येन्द्रजालिक: स्वमायाकृतं पहलयति, किन्तु दर्शयति । ईशस्तु पालयति -एष लोकपाल.' इत्यादिश्रुतेः, 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादिश्रुतेरनिषेधयत्वेन सर्वज्ञतोक्कः, 'यस्सर्वज्ञः सर्ववित्' इस्यादावुक्तस्य सामनन्य्यििऐोषाम्यां ज्ञानस्य निषेध्यत्वविषयकत्वासम्भवाच । ठयापारिण इवासतो ${ }^{2}$ प्यतीतादेः जनकत्वोक्तिर्नयुक्ता; व्यापारपूर्वकाले हि

सतो च्यापार्रणः तजनकलं, न चु व्यापारजन्येफहजनकर्वस। अतीतादेभुनु मिध्यात्वेन कालत्र्येप्यसतो न जनकत्वं, असद्दैऊक्षण्या, पेक्षया ${ }^{1}$ लाघवेन सत्व्वस्यैव कारणत्वप्रयोजकत्वात्। ₹वज्ञानम्य कारणत्वमात्रेण मिथ्यार्थस्य कारणत्वं तु नोपपन्नम् । विद्यमानध्वंसपत्रतियोगित्वादिकं तु अविद्यमानेडपि स्वीक्रियते, विद्यमाने तद्दसम्भवात्। कारणत्वं तु नाविद्यमाने सम्भवति; पूर्वभाविव्वरूपत्वात्। ज्ञानस्वरूपबाधाभावे विषयस्याप्यवाध इत्यप्ययुक्तम् ; मिष्यागजादेरसत्तेडपषि तज्जाने सत्च्वानुमवन्य तज्ञारमासीदिल्यस्य सच्च्वात्, साक्षेण्यवाधेऽपि तद्विपयस्य रूप्यादेः बाधाच्च। प्रतीतिकालसत्वमर्थक्कियाकारित्वे पयोजकमिल्यापि न युक्तम् ; तस्य सत्त्वेन प्रतीयमानरूपव्वेन तुच्छेडवप्यर्थकियापतेतः । आरोपितमिध्यात्वे च हेतौ नोक्तदेाष:, आरोपितपदेन मिथ्याव्वेन उभयसम्मतत्वोक्तेः अह्नजगतोर्मिध्यावं तादृरां न तु रूप्यादे:" इति प्रलवपितम्, तन्न; विशेष्या'वृत्तात्यादिपमाव्वनिवेशो हि सरुपासिद्धि:। न हि प्रपश्चज्ञाने तादृगप्पमात्वं पूर्व निर्णीतम्, किन्ठु शुक्तिरूप्यादेरिव विशेष्यवृत्तित्वेडपि तद्भावसम्मेेन मिध्यात्वसन्देहात् सन्दिग्ं सद्विषयकत्वमपि न निणाँतम्। प्रपश्चे सत्च्वसन्देहे तद्ज्ञाने तस्सन्देहस्याप्यौचित्यार्विजतत्वाच्छबदादिना आपततो निर्णयेपि तत्र प्रमाव्वसंशयात् तद्विषयीभूते सद्विवयकत्वसंशयात्, ऐन्द्रजालिको न खकृतं पालयतीति तु चित्रम् ; इन्द्रजालाधिष्ठानानिमित्तपालनस्य विरोध्यैन्द्रजालिकान्नरनिरसनस्य चेन्द्रजालपाहनत्वात्, ईगस्यापि जगत्पालनस्य ताहशात्वा्। सेयमिल्यादौ ईक्षणमात्रमुक्तम्। न त्वनिषेध्यव्वेन सामन्यविशेषाम्यां ज्ञानं ती निघेध्यत्वेनापि सम्भवति, स्वाधिष्ठाने दृयं नास्तीति वियदादि नान्तीतत्तं ${ }^{3}$ ज्ञानस्य ताहछात्वात्।

[^85]अविद्याध्यासस्य अध्यासान्तरानपेक्षत्वात्। स्वपरसाधारणसर्वनिर्वाहकत्वोपपत्ते: अकल्पितरैय कल्पकत्वादर्शनाच। कल्पित ${ }^{-}$

ठ्यापारिणस्तु ठ्यापारजन्याजनकत्वे कथं ठ्यापारव्यापारिता? तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकस्यैन ठ्यापारतायास्तांत्रिकोक्तव्वात् का वा तत्र तद्धेतुत्वेडनुपवत्तिः ? कार्यवति साक्षात्सम्बन्घेन असतोपि ठ्यापारिणो व्यापारसम्बन्धेन सत्त्वात् कार्याष्यवहितपाकालावच्छेदेन कार्यवन्निष्ठो यो व्यापारसम्बन्धावच्छिन्नाभावः तदप्रतियोगित्वात्। अन्यथादृष्टादे: परस्परासम्बन्धेन रूपादिभोग्यजनकत्वानुपपत्तेः। यागादेश्च सवर्गादिजनकत्वान्यथानुपपत्तया धर्मादिकल्पना तार्किकमीमांसकाद्युक्ता न स्यात्। स्वर्गकामो यजेतेत्यादेश्र अपामाण्यं स्यात्। न हीप्टप्रयोजकस्वं विध्यर्थ:, इष्टकारणकारणत्वरूपस्य तस्य इष्टकारणत्वापेक्षया गुरुत्वात्। अत एव 'अम्मिकामः काष्ठमाहरेत्' इत्या/दिलौकिकवाक्ये 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्रुयात्' इत्यादिश्रुतौ ${ }^{1}$ चेष्टकारणकारणत्वे लक्ष्षैच। अत एव ‘अविभागात्तु नैवं स्यात्, उत्पत्तौ विध्यभावात्' इति सूत्रयेषर्यारुयाने सप्तमे शाबरभाध्ये उक्षं यंथंा •गोमयैः पचन्ति, तुषपका भवन्ति इत्यादौ अमिसाध्ये पाके गोमःदी़ानां करणत्वं, तथा यागस्यापूर्वद्वारा ₹वर्गसाधनत्वम्। उक्षं च तत्र तन्ररले अनेन भाष्येण यागस्य फलसाधनष्वमुपपादयता तस्य तदनुपपत्त्या यागसाध्यमपूर्वंमेव यजेतेत्यादेरर्थ इति प्रामाऋरमत निरन्तम्। किज्व तन्मते उक्तवाक्ये गोमयादिपदे तत्साध्यामा|विव संनेम्यो दर्शपूप्णमासावित्यादावपि दर्शादिसाध्यापूर्वे दर्शादिपदे लक्षणा स्यादित्यादिलाघवेन सत्त्वं कारणत्वे प्रयेजजकमिति तु न युक्तम्; त्रिकालाअध्यत्वरूपतदपेक्षया कालसम्बन्धस्यैव लाघवेन तत्त्वात्,

[^86]अतกितदावपि सूक्ष्मरूपे तत्स₹्वात् । अतएव स्वज्ञानकारणत्वमात्रेण मिथ्यार्थस्य कारणत्वानुपपत्तिकरणं ₹वाज्ञानादेव विद्यमान इव अविद्यमानेऽपि विद्यमानधंसप्रत्तियोगित्वादिकं यथा न सम्भवति ${ }^{1}$ तथोपदिष्टम्। पूर्वभावित्व चोक्ररूपं यागादावस्येव, ड्यापारादिसम्बन्धावच्छिन्नतद्भावस्य तदीयन्यापारादिसम्बन्षारिरुद्धत्वात्। अतएव संयोगेन गगनादे: पृथिवीत्वाविक्यापकत्वपरे तदभाववतोऽपि पृथिव्यादेर्तृत्त्यनियामकसंयोगेन तत्सम्बन्धित्वादित्यादिदीषित्यादिवाक्ये उत्पत्त्यादिकालावच्छेदेन पृथिच्यदौौ गगनादेः वृत्य्यनियामकसंयोगेनाभाव इत्यर्शकत्वं व्याचक्षते । यदि च तत्र सर्वदा़ तद्वभाव इत्यर्थकत्वं, तथापि न क्षतिः। तद्वदेवेव प्रकृतेऽपि स्वप्रतियोग्यसम्बन्धि यत्कार्यसम्बनिध तद्नृत्यभावाप्रतियोगित्वस्य सत्वादिति ध्येयम्। तज्जानमासीदित्यनुभवस्तु न बाध्यत्वविरोधी, बाध्येष्वेव मन्मते अतीतसत्तासम्बन्षात् । अन्यथा अन्रेन्द्रजालमासीत् अत्र गन्धर्वनगरमासीदिति धिर्नस्यात्। ब्वन्मेत परं तदनुपपतिः, प्रातीतिकस्यखपुष्यवद्स त्वाम्युपगमात्। न हि भवति खपुण्वमासीिदिति। साक्षिस्वरूपबाधाभावस्तु न, उपहितस्य साक्षित्वेन तस्यापिबाधात् । जन्यज्ञानान्तर्भावे ${ }^{2}$ नोक्तनियमें वा, विषयबाधकबाध्यतायोग्यत्वं हि तन्नियमे प्रयोजकम्। तच्च जन्यस्यैव, ${ }^{3}$ ज्ञानस्य विषयोपादानाज्ञानोपादेयत्वात्। प्रतीतिकालसत्त्वं तु प्रतीतिकालसम्बन्ध इत्युक्तमिति तुच्छत्वानापत्तिः ${ }^{4}$ । आरोपितममिथ्याववंहतावारोपितपदेन मिथ्यात्वेनोभयसिद्धोक्तावपि जीवानणुत्वाददेमिथ्यात्वस्य त्वया मया च मिथ्यत्वेन सम्मतत्वात् तत्र क्यभिचारो मन्मतरीत्या दुर्वारः; मन्मते तस्य सत्त्वाभावनिश्धयात्। किश्च उक्तसिद्धतंव यदि ज्ञातत्वं, तदा शुक्तिरुप्यादिमिथ्यात्वेडपि कदाचित्वयामिथ्यात्वेन ज्ञेयत्वात् त्वन्मतेऽपि व्यभिचारः। यदि प्रमितत्वं, तदा-
${ }^{1}$ यथा संभवति. ${ }^{2}$ भावेण. ${ }^{3}$ ज्ञानविषयाज्ञानाविषयोपादानत्वात् ${ }^{4}$ तुच्छे त्वनापात्तिः.
A.S.v.

प्रतिबिम्बविशिष्टआदर्शादेरादर्शान्तरे प्रतिबिम्बकल्पकत्वदर्शनाच, बिम्वस्य दितीयादर्शससम्मुखत्वाभावेन तत्र कल्पकत्बायोगात्। अन्यथा अतिग्रसङ्ञात्। विस्तरणणँतद्रे वक्ष्यामः। तदेवं निराकृताः परमार्थसत्चे साध्ये षडमी हेतयः। एवमन्येऽपि निराकार्याः । अथ विमतं न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वातदसिद्धं; प्रपश्चे सत्त्वसिद्धे: पूर्व तन्मिथ्यात्वे मिय्यात्वज्ञानस्य प्रमात्वासिद्दे:। नच व्यावहारिकपमाब्वं निवेइयं, न तु ताश्त्वकं, तथाच तश्वावेदकत्वरुपप्रमात्वश्य तत्रासिद्धावपि मतद्वयेपि ठ्यवद्वारकालाबाध्यमिथ्यात्वकप्रकारकत्वरूपस्य व्यावहारिकप्रमात्वन्य निश्रयोऽसन्येन ; प्रपश्च्चमिश्याववं हि प्रातीतिकम्, यदि वा व्यावहारिकं, उभयथाऽपि तन्मिथ्यास्वं च्यवहाराकालाबध्यमिति वाच्यम् ; उ्यवहाराकालाबाध्यमिथ्यात्वकप्रकारकत्वानिवेोो हि ठ्यवहारकालाबाध्यमिध्यात्वाश्रयमिश्यात्वं पर्यवसितहेतु:। तथाच यस्य प्रततीतिकस्य मिश्यात्वे ${ }^{1}$ ब्रह्मज्ञानाव्यवहितपूर्व स्वम्नकाले वा मिष्थात्वभ्रम:, तत्रापि हेतुसत्त्वात् व्यमिचारः । बाध्यपदेन बाधयोग्यत्वनिवेशेऽपि स्वाम्मभ्रमस्य मूलाविद्योपादानकत्वमते स्वाममिथ्यात्वस्य ंयवहारकालबाधयोग्यत्वाभावात् । ततश्र तद्वारणाय तत्त्वावेदकरूपाया उभयवादिसिद्धप्रमाया निवेशो तात्त्विकमिथ्यात्वाश्रयमिथ्यात्वं पर्यवसितहेतुरिति हेतुविशोषणासिद्दिपर्यवसानम् । यदि च यद्यत्पार्तीतिकमिथ्यात्वं तद्वद्भददकूटवन्मिथ्यात्वं हेतुरुच्यते, तदा दुर्जेयता। अप्रयोजकत्वं तु स्फुटम्।। यदावि शुद्धस्य कल्पकत्वोक्किरयुक्ता, नित्यमुक्तिश्रुतीवरोधात्, तत्व्वतो नित्यमुक्तेः जीवेऽपि सत्त्वात् । अतएव कल्पकस्याभावाद शश्रयत्वविषयत्वादिकमपि न शुद्धस्य । न च शुद्धमेव कल्पकं, देहाद्यभावात्। नाप्युपहितं, अविद्याध्यासस्य स्वपरानिर्वाहकत्वे मानाभावात्। अदर्शान्तररे प्रति-

दात्मवदिति अनुमानान्तरं भविष्यतीति मतम्, तन्न; भ्रातिभासिके शुक्तिरूप्यद्रौ ब्यभिचारात्। न च तत्रासद्विलक्षणत्वहेतुरेव नास्तीति वाच्यम् ; असद्विलक्षणत्वाभावे हि अपरोक्षतया प्रतीतिरेव न स्यात् । ननु तर्घसद्विलक्षणत्वे तद्विरुद्वसद्विरक्षणत्वायोगः। तथाच साध्यस्यापि विद्यमानत्वान्न व्यभिचार इति चेन्न ; सच्चे सर्वजनसिद्धबाधविरोधात्। गजादौ गोवैलैलक्षण्येऽपि तद्विरुद्धाश्वैैलक्षण्ययोगवत् सद्द्वैलक्षण्येडपि असंद्वैलक्षण्ययोगोपपत्ते: प्रथमामिथ्यात्वनिरुक्तानुक्तत्वाप् । ननु विमतं न चैतन्याज्ञानकार्यम्। न तत्कार्यधीविषयः। न तत्कार्यसत्वववत् ।

बिम्ं तु न कल्पितमिति वक्ष्यत इति, तदवि तुच्छम् ; जीवेऽपि
 युक्तम्, तस्य तदव्याव्यत्वात् । उपहितस्यापि युक्तमेव तत्, तस्यानादिवेवेन देहायनेपेक्षत्वात्। न च तस्य स्वान्यं प्रति कल्पकत्वसम्भवेडावे स्वं प्रति कथमाश्रयत्वं भासकव्वं चेति वाच्यम्; घटाभावादेः कल्पितस्वशश्रयव्वस्येव तत्र तस्य सम्भवात्, तस्याश्रितत्वभास्यं्वाभावेऽापि क्षतिविरहाचच । श्रुद्धस्येव तस्यापि स्वपकाशत्वसम्भवात् अस्वप्रकाशत्वरूपः मिष्यात्वहेतुक्षु त्स्साधारणः कार्यः। तदिदमुक्तं अवियाध्यासस्य अध्यासान्तरानेेक्षत्तवा' ${ }^{1}$ देल्यादि। बाधविरोधादिति। न च बाधोपपतये रूप्यदेदसत्वं प्रत्यक्षोपपतये च सत्त्वं कर्प्यतां, त्वन्मते सत्त्वासत्त्वयोः निषेधस्येन विधेरवि समुचयसम्भवादिति वाच्यम्; बाधोपपतये हि प्रतिपन्नाधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगिल्वं स्वीकर्तुमुचितं, न तु सत्वेना्रतीयमानत्वषटितमसत्व्वं, तदघटित ततु रूप्यादाविष्टम्। प्रत्यक्षोपपतये च साक्षि-

$$
1 \text { न्तरापेक्षत्वा. } 2 \text { सत्त्वेन. }
$$

न तद्ज्ञानबाध्यसष्ववद्वा । तस्मिन्नपरोक्षेऽपि अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भ्रासमानत्वात् 1 यदेवं तदेवं यथा घटे अपरोक्षेपि अनिषंध्यत्वेन साक्षान्भ्रसमानः पटो न घटाज्ञानकार्यादि: विपक्षे च तदापरोक्ष्ये तद्ज्ञनव्याहतिरेव वाधिका । न चासिद्धि:, अधिष्टानतया सुखादिसाक्षित्वेन तदानीमपि चैतन्यापरोक्ष्यादिति चेन्न ; सामान्याकारेणापरोक्ष्येपि शुक्तयादौ रजतादेरनिषेछयत्वेन साक्षान्द्रासमानतया तत्र ठभिचारात् । अथ ठ्यावृत्ताकारेण यस्मिन् भासमाने यदनिपेध्यत्वेन साक्षात् मासते, तन्मतदज्ञानकार्यददीति व्यापिरिति मन्यसे, तर्द्मसिद्धिः। न हि चैतन्यमिदानीं अ्रमनिवर्तकर्वाभिमतच्यावृत्ताकारापरोक्षप्रतीतिविषयः । तथा सति अदिष्ठानमेव न स्यात् । यदा तु

सम्बन्धो ${ }^{1}$ ऽेक्ष्यते न तु तात्रिकत्वरूपं सत्त्वम् । सत्त्वासत्व्वयोर्मिथेविरहत्वं ${ }^{2}$ तु खण्डितमेव ठ्यावृत्ताकारेण अमनिवृतित्वरूपयोग्यज्ञानेन । यतु अ्रमनिवर्तकर्वाभिमत्त्ञानान्यून ${ }^{3}$ विषयकापरोक्षस्यहेतौ निवेशात् ताहृाधिष्ठानज्ञानस्येदानीमपि सत्त्वात् अज़ानव्यहतिरिति तत्तुच्छम् ; ₹वरूपचैतन्यस्य स्वाविषयकत्वत्, ₹्वविषयकत्वोपि अज्ञानाविरोघित्वात् । उक्तान्यूनबिषयकापरोक्षम्य अज्ञानविरोधित्वे प्रामावयशळ्कास्पदवृत्तेराि तदापत्तेस्तद्वयावृत्तविरोधितावच्छेदकत्वेन लाघवेन कल्व्यक्य जातिविशोषस्य मुक्तयनुपधायकज्ञाने सत्त्वे मानाभावात् अज्ञानविरो|धितावच्छेदकविशिष्ट[परोक्षस्य हेंतौ निवेशनीयस्येदानीमभावात्, तदिदमुक्ते न हि चैतन्यमिदानीमित्यादि। स हीति। यत्तु 'नैकत्वसाक्षात्कारवतः प्रतिबिम्बदर्ईने प्रवृत्तिः, किन्तु भेदज्ञानवतः, अतएव बालानां तत्र बालान्तरधीः' इति, ततुच्छम्; ${ }^{1}$ साक्षात्सम्बन्धो. ${ }^{2}$ विरोधित्क ${ }^{3}$ ज्ञानाज्ञान. ${ }^{4}$ ज्ञानसत्वे.

बेदान्तवाक्यजन्गृत्तौत व्यावृत्ताकारतया अपरोष्षं तदा अनिबेध्यव्वेन आपश्ने अपरोक्ष्यरक्षापि नास्ति । अतः प्रमाणजन्या-साधरणाकारभानस्पैंवज्ञानविरोंधित्वान्नापरोक्षतामत्रेणाज्ञानपराहतिप्रसढ्नः। यच्चज्ञानपदेन ज्ञानाभावोत्तौ सिद्दसाधनम्, अनिव्वचनीयाज्ञानोंतौ च तस्य खभुष्पायमाणत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति; तनुच्छम्; असत्प्रतियोगिकाभावं स्वीक्वुर्वतः पराभ्युपगममन्वेणैच प्रतियोंगिग्रसिद्बिसम्भबाव्। ननु विमतं न आत्मन्प्यं्यसम, आतमसाक्षात्कारवव्रपृत्तिविपयत्वात, यदेवं तदेवें यथा घटसाक्षात्कारवव्रवृत्तिविपयो घटो न तत्राध्यस्तः। न चासिद्धि: ; ईरगजीवन्मुक्तयोः आत्मसाक्षात्कारबतेरपि जगत्रक्षणमिधाटनादौ प्रदृतेः। शश्षे अध्यस्तमपि पीतत्नं न ग़्बन्नेतव्वसाक्षात्कारवत्रपृत्तिविषय इति न तत्र व्यभिचार इति चेन्न ; प्रतिबिम्बे व्यभिचारात् । स है मुखैक्यसाक्षा क्कारवत्र पृृत्तिविपयो। मुखे अध्यत्तः, तद्वथीतिंकेणोपलभ्यमानव्वस्योपाघिल्वाच । एवंच विमतं नेश्षरमायाकल्पितम,

बालनां बिंघेषादर्शनात् एकलानिध्ययेपि विशेषदर्शिनामेक'बनजानतामेव दद्दरंने पवृतेगतुभाविक्वात। अतपव दर्पणायुपाधि-
 कादीनां सम्मतम्। उत्कं च दीधिष्यादौ -'निर्णयातमनि साघारणे वा दोपविरोपाजन्योपनितभमने साघारणन्य निर्र्यातमनो वा विपरीत्ञामम्य पतिक्षकलाव’ दूति। तद्धशतिरेकणणोपलर्यमानत्वस्येतिं। तदविपयकोपषकिचविपयवस्स्येलर्थः । पपस्षोप-


$$
1 \text { दर्शनादेक, }
$$

एतेन-उक्तोपाधि: सर्वपक्षवृत्तित्वेन साधनब्यापकः, व्यतिरेकेणेत्यस्य भेदेनेत्यर्थ शुद्धं ज्रह्म न जानामि घटस्फुरणमिति भेदेन प्रपश्चोपलम्भात् । विनेत्यर्थेपि तदविषयकोपलठिधविषयत्वपर्यवसाना दासंसारमज्ञानानावृत््य ${ }^{1}$ त्रह्मणो रूपादिहीनस्य घटाद्युपलम्भाविषयत्वादिति निरक्तम्। यथाच शुद्धं ब्रह्म घटादिधीविषयः, तथोपपादितं तद्वयतिरेकेणननुपलभ्यमानत्वादिति मिथ्यात्वहेतूपपादने। किश्व साक्षत्कारवत्तं विछोषणमुपरक्षणं वा आद्ये असिद्धि: न हि यदाSSत्मसाक्षाःकारः तदा द्दूते ज्ञानं प्रवृत्तिर्वा । उक्षं हि विवरणादौ ज्ञानिनं प्रकृत्य 'कदाचिदद्दैतज्ञानं कदाचिद्दैतज्ञानम्' इति । उक्षं च पूर्व्माचर्यैः हृइयत्वहेतूपपादने -- 'अज्ञानतः्कार्याविषयक ज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वात्' इति । यथाच द्वैता'विषयकज्ञानं जायते तथा तत्रैवोक्तम् । द्वितीये तु दृष्टशुक्तिताकेपि धर्मिगि वर्षाद्यन्तरे रजतादावध्यस्ते प्रवृतेतर्णभिचारः। न चैवमीशस्य नित्यमद्वैतदार्शित्वात् द्वैते प्रवृत्तिर्जानं च न स्यादिति वाच्यम्; ईशस्य हि यदैद्वैतज्ञानं तन्द्वैपदर्शनविरो|धि, तत्र्वावच्छेदकजातिविरहात्। अतएव तदादाय नासिद्धुघद्धारः, साक्षातकारमात्रस्य अण्यावर्तकत्वेन स्वविरोधिसाक्षात्कारस्यैव हेतौ निवेइयत्तात् । अधैं प्रतिबिम्बे व्यमिचारोक्किरसक्नता, मुखैक्यसाक्षातकारस्य तदनिवर्तकत्वादिति ${ }^{3}$ चेन्न; यस्य हि साक्षात्कारस्य उपाध्यपगमक्षेण तन्निवर्तकत्व तत्साक्षात्कारवत एव तत्र पूर्वक्षणे प्रवृत्तिसम्भवात्। न चैवमीइास्येव जीवस्यापि संसारावस्थायां अ्रमा${ }^{4}$ विरोधितत्त्वज्ञानाविशोषात् ईश्वरस्यैव तत्त्वदार्शित्व श्रुतिबोधित कुत इति वाच्यम् ; ईशं प्रत्यावरणाभावात्। अतएव सर्वज्ञात्वेडपि तत्र न भ्रान्तत्वक्यवहारः,

1 मज्ञानावतिंतस्य (मज्ञानावृत्तस्य). ${ }^{2}$ द्वैत. 3 दर्शनानिवर्तक. ${ }^{4}$ भ्रम.

तं प्रत्यपरोक्षत्वात् यदेवं तदेवं यथा चैन्रं प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः। विमतं न जीवकल्पितम्, तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वात्, आत्मवत्। न चासिद्दि:, प्रत्यमिज्ञानात् । अदृष्टादेरभावे पुनुरुत्थानायोगाच्चेत्यपि निरस्तम् ; अद्ये ऐन्द्रजालिकं प्रत्यपरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचाराव। मायाविययोरमेदेन देहार्मैक्यअम्रमे व्यभिचरांच द्वितीयेंव्वसिद्धे:। न च प्रत्यमिज्ञया प्रभजन्य स्थापित्व्यस्द्धनोंसिद्धि: । सुपुप्तिकालस्थायित्वासाधकव्वस्य प्रत्याभिज्ञाया हटिस्यृष्टिसमर्थने वक्ष्य-

आवरणस्पेन तत्र पयेजककलादितिति धेयम्। ऐेन्द्रजालिकमिति। न च तत् मायाकल्पितं तेन न द्रयत इति वाच्यम्; तथा सति तदुपादानकमवृत्तिः तम्य न स्यात्, तत्र तत्पत्यक्ष््यहेतुत्वात्। दृरयते हि स स्वमायानिर्मिताम्रफलादानच्छेदनदानादौ प्रवृत्तः । अतएव मायायुद्धे 干्वमायानिर्मितगजतुरगशस्तादिवयापारे पवर्तन्ते । न हि तावत्पदार्थानां दर्शनं विना तेष्वसाधारणतत्तद्वयापारे प्रवृत्तिघटते। किश्च हरिवंशादौ प्रद्युम्नशम्बरयुद्धादौ-

ततो मायां परां चक्रे देवशात्रु: प्रतापवान् । सिह्मान् व्याधान् वराहांश्य तरक्षून् ऋक्षवानरान् ॥ मुमोच धनुरायम्य प्रद्युम्मस्य रथोपारि । गन्धर्वास्त्रेण चिच्छेद सर्वास्तान् खण्डशासतदा। प्रद्युम्नेन तु सा माया हता तां वीक्ष्य शम्बरः। अन्यां मायां मुमोचाशु दानवः कोघमूर्छितः ॥ निहतां हक्तिमायां तु तां समक्ष्य महास्युरः। सैद्मीं मायां महातेजाः सोऽस्जद्दननवेश्वरः ॥

माणत्वात्, अदृष्टादे: कारणात्माना अवस्थितत्वेन पुनरुत्थानसम्भवाच। मिथ्यात्वमात्मान्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्। शुक्तिरूप्यत्ववदित्यपि न, मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वस्योपाधित्वात्। मिथ्यात्वं च सदसद्विलक्षणत्वं सद्विलजणत्वमात्रं वा।

## सिद्मान् विद्रावितान् द्ष्वा माययाष्टापदेन वै। राम्नरश्चिन्तयामास कथमेनं निहन्मि वै।।

इत्यादौ स्वमायानिर्मितदर्शानं स्पष्टमेव। तस्मादैन्द्रजालिकेन स्वमायानिर्मितं न दृइयत इति प्रलापमात्रम्। वदन्ति चैन्द्रजालिकाः'मायाानिर्मितं द्वक्ष्याम:' इनि । ईरोन यद्धृइयते तदपि तन्मायाकल्पितं सम्भवतीत्यप्रयेजजकत्वमपि बोध्यम् । कारणात्मनेति । कारणगतसंसकारात्मनेत्यर्थः। न च तर्हि तन्रैवोक्तसाध्यं साधनायमिति वाच्यम्; अवस्थितत्वं हि स्थूला ${ }^{1}$ वस्थावत्त्वं वाच्यम् । अन्यथा अवस्थितत्वेतरवैयर्थ्यापातात, अबधितनुक्तिरूप्याएदिसूक्ष्मावस्थायां ठयभिचाराच। अन्रेद्द बेष्यम्-ऐन्द्रजालिकेन द्वित्रिदिनस्थायि 干वमायानिर्मितमपि प्रदइर्यते । तच्च तस्मिन् सुषुपे क्यवस्थितमेवेति व्यभिचारः। दृइयते हि मायाविनि स्वमायोपसंहारमकृतवति दैवान्मृते तन्मायानुवर्तनं यथा गयाप्रदेशापूर्वप्रदेशो कचित्सदोइ्णोदकककुण्डं बदरिकाश्रमेऽपि तत्। अथ कम्यन्चित्तोमंमाएवाम्यात्तत्, न तु मायात इति चेन्न ; क्लप्रकारणवह्ययादिसंयोगं विज़ा तपोमाहाल्म्यमात्रेण तदसम्भवात्। मिथ्यामात्रेति। प्रतियोगित्वविषयत्वादौ क्यभिचारात् मात्रेत्युक्तम् । न्यूनवृत्तित्वस्येति । न च प्रमेयत्वे आत्मान्यसर्वान्तर्गततुच्छावृतौ मिथ्यात्वान्यूनवृतौ साध्याव्यापकत्वामिति वाच्यम् ; प्रमेयत्वस्य मिथ्याभूते स्वस्मिन्नवृत्त्या मिथ्यात्वन्यूनवृत्ति-

[^87]आद्ये सिद्धसाधनम् । तस्यात्मान्यसर्वमध्यपतितासदृत्तित्वाभावात्। द्वितीये तु हेतौ मिथ्यापद्स्य सद़सद्वैलक्षण्यपरत्वे स्वरूपासिद्धिः। सद्वैलक्षण्यरूपे पक्षे तुच्छसाधारणे सद्सद्विलक्षणेतरावृत्तित्वरूपहेत्वभावात् 1 तस्यापि सद्वैलक्षणण्यमात्रपरत्वे सन्द्युगानैकान्तिकता, साध्याभाववत्यात्मभेदे हेतुसन्द्वे-

त्वात्। प्रमेयत्वे प्रमेयत्वान्तरं तु न प्रमेयत्वत्वेन रूपेण, सम्बन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वविरहेण्मधाराधेयभावविरहात्। न च प्रमेयत्वे मिथ्याछ्वरसिद्भमिति वाच्यम् ; घटः प्रमेयत्व मित्यारोपसत्त्वात्। तथाच येन रूपेण साधये वृत्तिर्निविष्टा, तेन रूपेणोपाधाविति न दोषः। न चैवं मिथ्यात्वस्यापि स्वावृत्तित्वेन मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वात् साधन亏्यापकत्वमिति वाच्यम् ; ठयावहारिकमिथ्यात्वे मिश्यात्वस्य पूर्वमसिद्धत्वात्। अतएवासदन्यत्वादावापि न साध्याव्यापकत्वम्। असदन्यत्वादिमिन्नत्वरूपपक्षधमाव्विच्छनन्नसाध्यव्यापकत्वादरे तु सुतरां न दोषः । किश्च सदुपरागेण असतोऽपि प्रमाविषयत्वात्, अन्यथा आत्मनन्यसर्वमध्यपतितासद्धटितसाध्यप्रमाया असम्भवात् प्रमेयत्वादे: स्ववृत्तित्वमतेऽपि सा-ध्यव्यापकत्वमक्षतम्-सर्वमध्येति। न च सर्वपदेन असदन्यत्सवर्व ${ }^{1}$ वाच्यमिति वाच्यम्; असत्व्वस्य ₹वन्मते शुरक्तिरूप्यादावपि स्वीकरेण सर्वपदनैयथ्यापत्तेः। मन्मतरीत्या सदसदन्यत्वस्य पक्षे निवेऐोऽपि सदन्यत्वमात्मच्यक्तित्वावच्छिन्नभेद एव निवेइयः। अन्यथा त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वस्य गुरुत्वेन तेन रूपेण भेदाप्रसिद्धेः। तथाचात्मासद्भयां भिन्नत्वं स्वाश्रयसर्ववृत्ति, नेत्यनुमाने बाध एव। गुरोरवच्छेदक्र ${ }^{2}$ त्वपक्षेऽपि मन्मते सदन्यत्वस्य आत्मान्यत्वरूपतया माम्प्रति बाधएव । तथा च मन्मते दुष्टहेतोः मां प्रत्युपन्यासस्ते

हात् । अप्रयोजकत्वादिकं च पूर्वर्णकं क्षपणमनुर्तर्त एव। आत्मा परमार्थसदन्यः पदार्थत्वादनात्मवत्। न च कल्पितात्मप्रतियोगिकभेदे नार्थान्तरम्। कल्पितमिथ्यात्वेन मिथ्यात्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनापत्तेरेत्यपि न। क्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाघने अतिम्रस ङ्वाभावात्, अनानन्दृत्वस्यापाधित्वाच। अथ आत्मा यावत्त्वरूपमतुवर्तमानानात्मवान्, यावत्त्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा, पदार्थत्वत् भावत्वाद्वा घटादिवत् । अत्र पझ्ञमप्रकाराविद्यानिवृत्य्यक्गुपगमपक्षे सिद्धसाधनपारिहाराय साध्ययोः भावरूपपद्मनात्मविऐोषणमित्यपि मन्दम्। यावत्त्वशोमते । सल्यव्वं, प्रातिभासिकान्यसर्वृच्ति न, सत्यमात्रृत्तित्वादेत्याभाससाम्यमप्रयोजकव्वं .चेत्याह -अप्रयोजकत्वादिकमिति। पदार्थमिति । अत्मभेदपदार्थमित्यर्थः । न चत्मानि ब्वन्मते तद्भे犭स्यास्वीकारात् न सिद्धसाधनमिति वाच्य्यम्; जीवववाघवच्छेदेन ग्रुद्धस्य तदनवच्छेदेनापि गुंद्ध जीवादे: भेदसत्त्वात् 'तस्य भासा' आनन्दं ह्र्मणो रूपम्, इत्यादिश्रुल्यनूदितस्य जीवत्वाघनवच्छेदेनैव शुद्धात्मनि तत्रतियोगिकमेदस्य व्यावहारिकस्य सिद्धान्ते स्वीकाराच्च। 'अनन्दो विषयानुभवो निल्ययव्व चेति सन्ति धर्मा:, अपृथक्तेकपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते' इत्यादिपस्चवाघ्याहुक्तभेदस्य उ्यवहारकालवाध्यव्वात् अनानन्दत्वस्येति। न च परमार्यददैक्यरूपं साध्याभावं विनाव्यानन्दत्वस्योपाध्यमावस्योपपन्नत्वान्न तस्य तद्याव्यतागाहकहतर्क इति वाच्यम्; खण्डनयुक्तिभिरेकस्य साक्षिस्वरूपस्य बांघासम्भवेन परमार्थसत्वेडपप परमर्ध्यद्द्रेदस्य अवइयं बाधात्, 'नालेप सुखमस्ति भूमैव मुखम्' इत्यादिश्रुत्या सद्बहत्त्यभावपतियेगित्वरूपस्य परिच्छेदस्यानन्दरूपताविरोधित्वोकेशेश्च। भावाद्वैतमते तात्विकस्याभावरूपानात्मनः स्वीकरादाह-भावरूपेति।

रूपमित्यस्य यत्किश्वित्त्वरूपपरत्वे सिद्धसाधनात्, आत्मस्वरूपपरत्वे साध्याप्रसिद्दूः । न हि यावदात्मस्वरूपमनुवर्तमानोऽनात्मा प्रसिद्धोऽस्ति । तथा सति अनुमानवैयर्थ्यात् । अथ स्वरूपपद्स्य समभिठ्याहत्तपरत्वात् ठयाप्तिग्रहद्शायां दृष्टान्तस्वरूपं पक्षधर्मताग्रहद्शायां च अत्मस्वरूपमेव प्राप्यत इति न साध्याप्रसिद्धि:, न वा सिद्धसाधनमिति चेन्न ; शब्द्स्वभावोपन्यासस्यानुमाने अनुपयोगात्। स्तज्ञानचाध्येत्यत्र स्वशब्दे डपि तुल्योऽयं दोषः। अतएव वीमता बन्धनिवृत्ति: स्तग्रतियोगिविषयविषयक्जानाबाध्यानात्मसमकालीना, उक्तज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमानकालीना वा, बन्धानिवृत्तित्वत्, निगलबन्ध-

उदाहरणवाक्यस्थस्वपदस्य दृष्नन्तपरत्वे पदार्थत्वस्य यावत्तः्न्वरूपानुवर्त मानानाइ्मवत्त्वह्यभिचारित्वेन ${ }^{1}$ ठयापकता ${ }^{2}$ সहासम्भवः, ₹वात्मकपदाथर्व्वस्य हेतुंत्चेन तद्वारणेऽपि ₹त्वत्वान्यवैयर्थ्य स्वरूपासिद्धिश्र। प्रतिज्ञांहेतुवाक्यस्थस्त्वपद्योः पक्षपरतया पक्षरूपस्वपदार्थघटितसाध्यहेत्वोः ${ }^{3}$ प्रतिज्ञाहेतुवाक्यनिर्दिष्ट्योः उदाहरणादिवाक्ये ठ्याव्यव्यापकत्वादिलाभासम्भवात् कुतोऽस्य गमकत्वमित्यादिजिज्ञासानिवर्तकत्वासम्भवः। तथाच डक्तशब्दम्वभावोडनुमानानुपयुक्त इत्याइायनाहशब्द््वभावेति। उक्षं च मणावीश्वरवादे - कार्यत्वहेतुस्वोपादानाभिज्ञजन्यत्वसाध्ययोः ठ्याप्तिप्रहः किं घटोपादानान्तर्भावेन ? किं वा तत्तदुपादानान्तर्भावेन ? किं वा उपादानमात्रन्तर्भावेन? आद्ये ठ्याभिचारः। द्वितीये तत्तदुपादानत्वस्य अननुगतत्वात् कथं ठयापकताप्मह्:? अथ तच्छब्द्स्य समभिव्याहृत परत्वान्न दोष इति चेन्न ; अनुमाने शब्दस्वभावोपन्यासस्य अप्रयोजकत्वात् । तृतीये तु सिद्धसाधनमिति स्वपद्स्य पक्षद्टष्टन्तान्यतरपरत्वेऽपि सिद्दसाधनम्। एवप्रागभावष्यतिरिके-

ननवृत्तिवदित्यपि निरस्तम् ; पश्षद्टष्तन्तोः बन्धपदार्थस्यैकस्याभाबेन स्वरूपासिद्धिसाधनैँकल्यान्यतरापातात् 1 ₹चपदे चोक्तस्साध्याप्रसिद्विदोषः। हेतौ च बन्धेतितिरोषण्वैर्य्यर्था। व्याप्यत्वासिद्दि: । अभ्रयोजकत्वं च कस्याश्चिन्निवृत्तेरनात्मसमानकालीनत्वद्शर्रात्। निवृत्तिमत्रस्य तथात्वसाधने संसार-

ल्यादिविवरणोकानुमानं उु पश्रान्परिक्कार्यामिति ध्येयम्। बन्धपदार्थस्येति। ततत्स्वातन्र्र्विरोघिरूपनानार्थकं बन्धपद्रम्। अतएवाविद्या वतामपि निगडादिविमोंकें निर्बन्धवं, च्यवहरान्ति। आमान्यनिवृतेहेंकु त्वेडपि ठ्यर्थ" विशेषणत्वं, अप्रकाशितार्थ्रकाइत्वादित्यविद्यानुमानहेतौ तु प्रकाशपदन्य आलोकपमान्यतरपरव्वेडपि न क्षतिरिति भावः। यतु 'बन्धेति न व्यर्थम्, निवृत्तिविशेषलाभार्थव्वात्' इति ; तत्चच्छम्। निवृत्रौ हि विछेघो न जातिः, किन्तु प्रतियोगिविशेषानुयोगित्वं तन्मात्रं हेवु:, तद्विशिष्टनितृत्तिवंब बा ; अन्ले विशेषणं उ्यर्भमेव। आघ्धेडवि यदि निगडादिबन्धरूपविशेषपतियोगिकवं हेव़:, तदा तदसिद्दम्। अज्ञानपतियोगिकवं यदि हंतु:, तदा साघनवैकल्यम्,

 प्यादिरूपानात्मकार्लनवव्वस्य व्रह्मणि सत्त्वात्त्या'घंह्मान्यत्वपक्षेपि नाना जीवकक्षे तस्साध्ये सवपतियोगीलित्रत्र तद्जाननिवृच्तेरेव सवदेन घार्यत्वात् एकजीववक्षेडपि जीवन्मुक्तिपक्षे तत्। सघोमुत्तिकक्षेत तु साध्याप्रसिद्धघादि। स्उपद् इति। हृष्त्तपर्वे निगडरूपन्धपतियोगिविषयाद्यमिद्दि:, पक्षपरत्वे च अज्ञान ${ }^{\text {² }}$ पचन्धविषयपसिद्धावपि तद्विधयकज्ञानाबाध्यानात्माप्रसिद्दिरिते भावः। तथात्वसाधन इति ।

[^88]कालीनायाः दुःखनितृतेः समानाधिकरणटुःखग्रागभावकालीनत्वदर्शानमिव दुःखनिवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने। नन्वेवं सामान्यानुमानेषु निराकृतेषु विशिष्यानुमानं भविष्यति। आत्मधीर्न स्वविषयविषयकधीनाध्या धीच्वात् श्रुक्तिधीवदित्यपि बालभाषितम् ; स्वविरोध्यविषयकम्रत्ययविषयकत्वस्योपाधित्वात् अन्धोऽयं रूपज्ञानवानित्यन्धस्य रूपविषयतया कलिपतं यत् ज्ञानं तस्य रूपं नान्धगम्यमिति स्वविषयविषयकग्रत्ययवाध्यत्वदर्शनेन ठ्यभिचारात्। कल्पितच्चात्तत्र तद्वाधने प्रकृतेऽपि वृत्तेः

यतु ' स्वकारणानाहमसह्हावं विना निवृत्तिर्न जायेतेत्यनुकूलूतर्कः प्रकृतानुमाने विशेषः' इति ततुच्छम् ; चरमनिवृत्तेर्हि कारणमुपादाननाइादि । तचाभावरूपम्। अदृष्टं तु न तबकारणं, तस्याभोगतत्साधनेतरत्वात्। उक्षं च तथा वर्धमानाघै:। तस्यान्यस्य वा भावस्य ${ }^{1}$ तःकारणत्वेडपि
 त्तावुपादानं, भावाद्यैतमते स्वविशिष्टं भावं वा जन्यं प्रत्येव तस्येपादानत्वात् रूपं नान्धगम्यमिति । ननु ₹वविषयमात्रविषयकधीबाध्यत्वाभावस्य साध्यत्वे नायं दोष इति चेन्न ; इदं रूपं तन्नेतित्रमविषयीभूतस्यान्धप्रत्यक्षाविषयत्वाभावरूपतत्त्वाभाधस्य अन्धपत्यक्षविषयत्वरूपस्येदं नदिति वाक्यजप्रमायाः कल्पितोक्तपत्यक्षविषयमात्राविषायिण्या बाधेन क्याभिचारे प्रकृत्यन्थतात्पर्यात् । न ह्युक्तपमायां तद्रूपान्याद्विषयः, समानाधिकृतपदद्वयजन्यत्वेन मन्मते निर्विकल्पकत्वात् । च्वविषयताया अन्यूनानतिरिक्तविषयताकज्ञानाबाध्यत्वोक्तावपि बाध्यज्ञानस्यापीदं तदिति वाक्यजन्यत्वेन निर्विकल्पकत्वे तन्रैब ₹थले व्यभिचारः ; उपलक्षणविघया व्यावृत्ताकारत्वस्येवरोष्याकारत्वस्य सम्भवात्, बाधकत्वस्येव बाध्यत्व-

कल्पितत्वं समम् | धीपदेन चैतन्यमात्रविवक्षायां तु सिद्धसाधनमेव। आत्माधिष्ठानकभ्रमहेतु: न स्वकार्यत्रमाधिष्ठ।नज्ञानबाध्यः, ग्रमहेतुत्वात्। यद्वं तदेवं यथा श्रुक्तथधिष्ठानकभ्रमहेतुकाचादीत्यपि न साधु । व्यावृत्ताकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्वस्य स्वकार्यभ्रमाधिष्टानानारोपितत्वस्य वा उपाधित्वात्, दूरादिद्दोषादुपलादौ यत्र चाकचक्यकल्पना तेन चाकचक्यदोषेण शुक्ताविव गजतकल्पना, तत्राधिष्ठानज्ञानेन चाकचक्करूप्ययोरुभयोरपि

स्याव्युक्तवाक्यजन्यज्ञाने सम्भवात्। स्वपदस्य पक्षपरत्वे विशिष्टधर्माघच्छिन्नामावाप्रसिद्धिश्च, लाघवेन बाध्यत्वत्वमात्रस्यावच्छद्वरत्वात् । स्वविषयमात्रविषकत्वनिवेशे रूपं चाक्षुषं न वेति ज्ञानं रूपं चाक्षुषामिति धीबाध्यमिति तत्रापि ठ्यभिचारे बोध्यः—धीपदेनेति । आत्मत्यवहारग्रयोजकधीराट्मधीरिति भावः । काचादावंशातस्सिद्धसाधनात्अत्माधिष्ठानकेति । व्यावृत्ताकोरत्यादि । यस्माद्यावृत्ततया ज्ञातं ${ }^{1}$ ₹वजन्यभ्रमाधिष्ठानं स्वजन्यभ्रमनिवर्तक तदन्यत्वस्येत्यर्थः । अविघ्यादिद्वितायायाबोपलक्षितस्यव्नह्मणोधर्भर्रमनिवर्तिकेत्यविद्यादौं तदस्तीति बोध्यन्। यद्धपि व्याव्यभ्रमस्य अ्रमानुमितिजनकस्य ह्वदो निर्वड्रिरित्यादिज्ञानेन बाधात् सफुटो व्यभिचारः; तथापि अ्रमत्वन्याव्यधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरुपितकारणताननवेशो ${ }^{2}$ ठ्याप्यभ्रमस्य दोषविधया सर्वत्र व्यापकभ्रमेष्वकारणत्वाद्धेत्वभावादेव न व्याभिचार इत्याइायेन स्थानान्तरे तमाहदूरादीति न चचाकचक्यज्ञानं हेतु:, तच ने बाधं मन्मत इति वाच्यम् ; ज्ञायमानचाकचक्यस्यापि हेतुत्व्वस्भवात् न च चाकचक्यस्यैकस्याभावेन, भावेऽपि तद्धीमात्रेण अ्रमानुत्पादात् तत्तद्धीव्यक्तित्वेनैव तत्तร्रमहेतुँ्वमिति वाच्यम् ; प्रतीतिकतत्तच्चाकचक्यव्यार्त्त ${ }^{1}$ त्वेनैव हेतुत्व-

[^89]बाधदर्शनेन व्यभिचाराच। घह्मान्यानादि परमार्थसत् अनादित्वाप् श्नह्वदित्यपि न भद्रम्। ध्यंसाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वात्। घह्न देशकालसम्बन्धं विना नावतिष्ेते पदार्थत्बात् घटवदित्यपि न। कालसम्बन्धं विना नावतिष्टते इत्यस्य यदा ग्रह्म तदा अवइयं

सम्भबात्। अरोपिनं न हेडुरिति प्रलापस्तु प्रयुक्त एव, शुद्दव्रहाहेतुत्वपक्षे आरोपितस्यैव हेतुत्वाच्च। यतु-" व्यावृत्ताकोरेत्यम्य पक्षमात्रठयार्वर्तक्वेन आद्यस्योपाधे: पक्षेतरच्चरूपपता, द्वितीयोपाधौ तु साधनउ्यापकता, तत्रारोपितस्य तदधिष्णानकभ्रमा"हेगुत्वेन साघनाव्यापकत्वसन्देहम्याप्यभावात्" इति ततुच्छम् ; स्वजन्यभ्रमाधिष्ठांनें यस्माव्यावृतं तद्देदरुपोपापौ तत्रतियोगिरूपविशेषणन्य उक्तचाकचक्यादिरूपविपक्षादपि व्यावर्तकतेन पक्षमात्राव्यावर्तकव्वात्, साध्यव्यापकताग्राहकतर्कसत्वे पक्षमान्रव्यार्वर्तकव्वमदूषणमित्यस्यदीधित्यादौ पदर्र्शितत्वाच। द्वितीये च न साधनव्यापकतानिश्रयः ; तत्रारोपितस्य तद़धिष्ठानकपमा ${ }^{3}$ हेतुत्वे युक्तयभावादुक्तचाकचक्यादौ साधनान्यापकत्वस्यैव ${ }^{4}$ निश्ययात्, पक्षे चानरोगिपित्वं साधयितुं ंबयाड्यापि यल्यते, न तु निश्रीयत इति
 पाधेरसत्त्वे उत्कसाध्यानुपपतें: साध्यव्यापकताम्रहादुक्तोपाध्यभावो यदि-
 तर्कसत्वान्नाप्रयोजकतेति ध्येयम् । जह्नान्यानादीति। अत्र पक्षे हेतौ चानादित्वं पागभावाप्रतियोगित्वं चेत्तदा तुच्छे बाधव्वभिचारौ, तद्वृत्भावत्व चेत्तदापि भावत्वमभाबमिन्वत्वं चेत्तदा स्वरूपासिद्धि:। अविद्योदेरी पूर्णानन्दायमावत्वात् सतादात्म्यं चेतदापि वन्मते तदन्यवैयर्थ्यम्, शुक्तिरूप्यदेद्त्वया तदनझीकाकात्, तन्मानेहुतेले च

[^90]कालसम्बन्ध इत्येंरूपा व्याप्तिरित्यर्थः। तथाच सिद्धसाधनम् । न हि यस्मिन् काले न्नह्म तस्मिन् काले घह्मणः कालसम्बन्धो नास्ति । एवं यत्रात्मा तत्र कालसम्बन्ध इति दैशिकण्याप्तावपि मिद्धसाधनम्। न हि देशाकालासमझन्घः कदाप्यास्ति । परममुक्तौ तु न देशो न काल इति सुस्थिरं सिद्धसाधनम्। त्रह्सान्यद्वेदै कगम्यं धर्मादि परमार्थसत् श्रुतितात्पर्याविषत्त्वात् इ्रह्मवदित्यपि न साधु । पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्योपाधित्वात्। साक्षिवेद्यं सुखादि परमार्थसत् । अनिषेध्यत्वेन अविद्यायाः पश्चमपकारनिवृत्तेरपि सत्तादात्य्याभावे दृइयत्वानुपपत्ते: लाघवेन कार्यमात्रे सदुपादानकत्वात् तस्यां ठ्यभिचारः। अतएवध्वंसाप्रतियोगित्वं सर्व'पक्षनृत्तित्वेन साधनव्यापकमिति परास्तम् ; अभावान्यत्वस्य पक्षहेत्वेार्निवेगासम्भवात्. सत्तादात्यनिवेशे प्रागभावादौं साधना ${ }^{2}$ व्यापकत्वात् पक्षेप्युपाधेः सन्देहे नसन्दिग्धेपाधित्वसम्भवाच। सुस्थिरमित्तं। देशाकालसम्बद्धं मन्मते सत्त्वेन प्रतीयमानं सर्वम्। | ह्नह्मणे।प्यविद्यादिदेशकालसम्बन्धात्। तथाच तद़न्यभद्साधने सिद्धसाधनम्। तुच्छान्यत्वाभ्युपगमाव्, परममुत्तौ। देशाद्यसम्बद्बस्यापि ब्रह्मणः ताहहाभेदक्य देशकालसम्बन्धरूपम्य परममुक्तयन्यकाले त्रह्माणि ₹वीकाराच देशादिदूयवैयर्थ्य च। अत एव देशकालासंसृष्टसत्ताया अत्यन्ताभावे साध्येडपि तदुभयम्; सतावत्त्वे न निश्विते विशिष्टामावस्य देशादिसम्बन्धरूपत्वात्? यक्किस्चिक्कालावच्छिन्नं देशकालासम्बद्धान्यत्वमादाय अर्थान्तरं च। तद्वारणाय यदा़यदा ब्रह्म तदा देशाादिसम्बन्धमिय्युक्तावाचार्य ${ }^{4}$ दूषणं बोध्यम्। पारमार्थिकत्वेनेत्यादि । परमार्थ परभप्रयोजनमर्हति यत् तत्र्वेन विशिष्टा या श्रुतिरतत्तात्पर्यविषयत्वस्येत्यर्थः। 1 असर्व 2 साधन (बाधेन पा.) ${ }^{3}$ सुस्थिरमिल्यदेशकालंबबन्धित्वं
4 वच्चार्याय.

दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वत्, आत्मवदित्यपि न; शुक्तिरूप्यादिषु ठ्यभिचारात्। तेषां दोषजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि दोषाजन्यसाक्षिविषयत्वात्, गुद्धस्य शृत्तित्विषयत्वानम्युपगमे दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच। दोषजन्गज्ञानाविषयत्वविवक्षायां वा असिद्दो हेतुः। साक्ष्यवच्छेदिकाया अविद्यानृत्ते द्दोष-

तथाच मोक्षोपषायकपमाविषयत्वं श्रुतिजन्यधीमात्रपयोजनरूपव्वं बो पाषिर्लम्यते ; ताहृशविषयतायोग्यताया विवक्षितत्वात् । एतेन साघनविशोषितोडयमुपाघिरिति रेध्रानुमाने इरीरजन्यव्ववदाभास इति परास्तम्, वस्तुतन्तु साघनविरो|षितत्वं नाभासताप्रयोजकं; उपाषेर्दूषकताशीजविषटकरूपस्यैव तत्वेन दीधित्यादातुक्तत्वात्। ${ }^{1}$ साध्याठ्यापकतादिगाहकतर्कस्तु पूर्वव््। साक्ष्यवच्छेदिकाया इति । न च दोषजन्यवेवेनोभयवादिसिद्धं यत् ज्ञानं तदविषयत्वं वाच्यम्, अविद्यावृत्तिम्तु न तथेति वाच्यम् ; तथा सति जीवपरयोरैक्ये जविानणु वे चे तात्विकत्वसिद्धचापतेम्वन्मते ठ्यमिचारात्, श्रुक्तिरूप्यादौ व्यभि चाराच । न हि तज्ज्ञानमुभयसिद्ध ताहरामशित ; मया अविद्यानिवृते स्व्वया तदन्यस्य तत्वार्शकारार्। पूर्बोक्तरील्या उभयसिद्धत्वस्य दुर्वचत्वात्। अथोभयसिद्दो यो दोष स्तदजनन्यज्ञानविषयत्वं वाच्यम्, गुक्तिरूप्यादिधीजनकदोषः उभयसिद्ध:, न नु सुखादिर्धजजनकदोषः, मम मते सुखादेस्साक्षिमांश्रवघल्वादिति चेन्न; त्वन्मते सुखादेरिव मन्मते शुक्तिरूप्यादेस्साक्षिमात्रवेचत्वपक्षे व्यमिचारात्वदोष्वेनेोभयसिद्धकाचादिजन्यप्रक्षादिविषयकाचादौौ ठ्यावहारिके स्वरूपासिद्धेश्य । अथ अभविषयत्वेनो भयसिद्धं यद्धतदन्यत्वं हेतुः, तदा जीवानणुंत्वादावुक्तदोषः, दुर्ज़यतासिद्धत्वस्य ज्ञातत्व प्रमितत्वरुपत्वविकल्पायुत्ताकोषापत्त्रित्रे ध्येयम्।

[^91]जन्यत्वात् । असद्वोचरराब्द्ञानात्मकविकल्पस्य दोषाजन्यत्वेन असति ठ्यभिचारश्र। आत्मनो वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे दोषजन्यदेहात्मैक्यभ्रमविषयत्वात् साधनविकलों दृ्टान्तः। तदनभ्युपगमे तु अविषयत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्वसाधकत्वोपपर्त्ती दोषजन्यज्ञानेति विऐोषणनैयथ्यात् व्याप्यत्वासिद्धिः। तावन्मान्रं च पक्षे स्खरूपासिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः। विमतं परमाधरसत् स्वविषयज़ानात्पूर्र्मावित्वात् आत्मवदि ल्यपि न; दृष्टिसूप्टिपक्षे असिद्देः। विषमन्याप्तस्यानादित्वस्य उपाधित्वाच। अन्योन्याभावातिरिक्तेतद्धरसमानाधिकरणितद्यटग्रतियोगिकाभा-

अ्रमविषयत्वादिति। विशिष्रात्मगोचराया अहमाकारवृत्तेइश्युद्वात्माडपि विषय इति भावः। साधकत्वेति। ठ्वस्तिप्रहयोग्यत्वेल्यर्थः। तथाच व्यात्तिप्रहानुपयुक्तक्वेन वैषर्थ्यमिति भाव:। उत्तरीत्या ज्ञानमात्रस्यैव
 प्रतियोगिताकाभाबव्वेन हेतुव्वं बाच्यम्। तथाच ज्ञानान्तविशोषण₹य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेडपि पनियोग्यंडे विशेषपणत्वं वाच्यम्। तथाच स्वसमानाघिकरणन्याप्यतावच्छेदकान्तरघटितत्वरूपमपि व्यर्थ ${ }^{1}$ मिति घ्येयम् । दृ्टिसृष्टीति। न च प्रतिकर्मक्यवस्थाभावापत्र्या स पक्षो न युक्त हति वाच्यम् । तद्रघवस्था हि केनचिदेदेव कदाचिदेव कश्रिदेव ज्ञायते इत्येवंरूपा। सा च ततक्षेडप्यस्ति ; तत्तन्मनोवछिन्नौतन्येपु ततद्विपयाणां तत्तरकाल एवाध्यासादिल्युक्तापतेत्रैौैब्यमूलकख्वात्। अत्र विशोषानुमानेष्वाद्यद्वितीययो स्चवपदस्य पक्षद्धान्त्तरर्वविकल्पेन पूर्वोकसाध्यैकैल्यादिदोषः। द्वितीये अ्रमत्वस्यैकस्याभावात् तत्त弓्रमं प्रत्येव ततद्यक्तित्वेन दोषणणां हेतुव्वेन तन्निवेशेडननुगमः। तावदन्यतमत्वेन हेतुत्वानां हेठुल्वेडपि दृष्तन्तमात्रवृत्तिहतुत्वस्यैव तच्वेन हेतु-

[^92]त्वसम्भवेनेतरवैयर्थ्यम् । तच्च ₹वरूपांसेद्धम् । पदार्थत्वहेतु: पदशाक्यत्वं चेत् च्वरूवासिद्धम् । पदलक्ष्ष्यत्वं चेत् पदत्वरक्ष्यत्वयोरननुगतत्वात् पक्षहृष्टन्तयोरनुगतहेत्वभावात् स्वरूपासिद्धिसाधनवैकल्ये । अन्यतमत्वेन हेतुत्वेपि वैयर्थ्यासिद्धयादिकम् । तद्धीविषयत्वेन हेतुत्वे चाप्रयोजकत्वादिकम् । दोषाजन्येत्यादिहेतावपि दोषत्वस्य तत्त्ड्रमजनकत्वरूपस्याननुगमादुक्तदोषः । किज्चिद्रमजनकत्वमात्रनिवेशे अ्रमान्तरविषये ठ्यभिचारः । दोषाणामन्यतमत्वेन निवेशोऽपि दाषे|जन्यज्ञानाप्रसिद्दि:। वस्तुमात्रस्यैव किश्चिद्रमं प्रति दोषत्वात्। स्वज्ञानात्पूर्वभावित्वादित्यत्रापि पूर्वभावित्वस्य पूर्वकालवृतित्वरूपत्वात् यक्किश्चित्ज्ञानपूर्वभावित्वं शुक्तिरूप्यादौौं ठ्यभिचारि। यावत्स्वज्ञानपूर्वतृत्तित्वं घटादावासिद्धम् । यक्किम्चित्स्वप्यक्क्षपूर्ववृत्तित्वं शुक्तिरूप्यादावपि, सन्निकर्षादिना तत्रपि प्रत्यक्षोत्पत्रौ बाधकाभावात् । सुखादौ साक्षिमात्रवेद्यत्वे तत्रासिद्द्ध: । तस्य पक्षबहिर्भावेऽपि स्वप्रत्यक्षोत्पत्तिकालोतपन्नपरिमाणविशेषादावसिद्यि: । संयु${ }^{1}$ फसमवायमात्रेण तत्रत्यक्षानुदयेन तावदवयवावच्छिन्नसंयोगवत्समवायहेतुत्वे तत्तत्पुरूषीयत्वस्य कार्यकारणतावच्छेदके निवेशे गौरवात् । पुरुषनिष्ठपरम्परासम्बन्धेन तावद्वयवावाच्छिन्नसंयोगस्यैव लाघवेन तत्प्रत्यक्षहेतुत्वेन तदुत्पात्तिकालेऽपि तत्पत्यक्षसम्भवात् । न चैवं तत्परिमाणोत्पत्तेः पूर्वमपि तत्पत्यक्षापत्तिः; तदवयवावच्छिन्नत्वस्य गुरुत्वेन विजतीयसंयोगत्वेनैव हेतुत्वाच्चाहरास्य तत्पूर्वमसत्त्वात् । यावत्त्वप्रत्यक्षपूवर्वृत्तित्वं तु सुतरामसिद्धम् ; ईशयोगिप्रत्यक्षाणां साक्षिणश्च स्वविषयपूर्वमपि सत्त्वात्। अयोगिजीवयावज्जन्यप्रत्यक्षनिवेशोडपि व्याप्तिসहानौपयिकत्वेन यावज्नन्यपूर्ववर्तित्वेतरांशवैयर्थ्यम् । तदनुपादाने

1 संयुक्तसमवेतसमवायेति पां.

वत्वं एतद्धटसमानाधिकरणावृत्ति अन्योन्याभागवतिरिक्तैतद्टटसमानाधिकरणैतद्धटप्रतियेयागिकाभावमात्रवृत्तित्वात् एतद्धट प्रागभावत्ववत्। ठ्यधिकरणधर्मात्वच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नेत्यपि विशोषणीयम् । अत्र च स्वसमानाधिकरणः स्रसमानकालीनो योऽत्यन्ताभावस्तद्रत्रतयोगित्वलुक्षणसत्वसिद्धिरित्यपि न साधु । साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्यैतद्वटप्रतियोगिकजन्यजन कान्यतरमात्रवृत्तित्वस्योपाधित्वात् । न च पक्षीभूतधर्मस्यात्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहे साधनाव्यापकबवसन्देह इति वाच्यम् ; विपक्षसाधकतकानवतारदशायां

चासिद्धिरिति परोक्तिः प्रलापमात्रमिति ध्येयम्। अन्योन्येत्यादि $\backslash$ तद्धटभेदनिम्ठेऽभावत्वे बाधादतिरिक्कान्त, समवायेन तद्धटात्यन्ताभावनिप्राभावत्वे बाधत् एतद्वरसमानाधिकरणेति । सामानाधिकरण्यं न्नंबावियद्युत्तिनं, कवालरूपादौ बाधात् एतद्धटग्रंतियोगिताकाभावेति। हेतौ च तद्धरभेदत्वे समवायावच्छिन्नतद्वटात्यन्ताभावत्वे घटात्यन्ताभावत्वे मेयत्वादौं च ठ्यमिचारात् कमेण विशेषणांन सार्थकानि ; प्रागभाववत्वादौ साधनवैकल्याद्दृ्टान्ते । एतद्धटेति । शुद्धसाध्यमेतद्बटासमानकार्लाने तत्तद्यक्तित्वेपीति नत्रोपांग्यमश्नाद्या? --साधनावच्छिन्मेति। अन्यतरेति। एतद्धटभरियोगिकं यदेतद्धदस्य जन्यं जनकं च तयोरन्यतरदेतद्धटस्य प्रागभावो धंसश्च, तन्मात्रवृत्तित्वस्येत्यर्थः। साध्यसमव्याप्तिरक्षार्थ मात्रेति । विषमठ्यापकस्याव्युपाधित्वं साध्यव्याप्यत्वांशास्य दूपकताया मनुपयोग।दिति निष्कृष्टमते तु तन्नोपादेयम्। सन्देह इति। एतद्वटे मिथ्यात्वसन्देहकाले तत्समवायिनि समवायेन तदत्यन्ताभावस्य सन्देहात् पक्षे अत्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहः। तद्यूटध्वंसमागभावकाले च तद्वटवति तदत्यन्ताभाबो नाम्युपेयते। तत्काले

सान्दिग्धोपाधेरपि दूपणत्वसम्भवाप्। घटात्यन्ताभावत्वे च व्यमिचारात् । संयोगसम्बन्धेन घटवत्यपि भूतले समवायसम्बन्धेन

तद्बटो नाश्तीति बुद्देस्तद्यूटप्रागभावाद्यवगाहित्वेनोपपत्ते:, पूर्वापरघटघ्ंसप्रागभाववति घटो नास्तीति घीम्नु नापाया, नास्तीत्याकारकबुद्द्रे: प्रतियोगिविशेषणीभूतषटत्वादिविशिश्षठ्यधिकरणसंसर्गाभावविषकत्वात् । तत्तद्यधिकरणत्वं च तदवच्छेदकाचच्छिन्नस्य तस्सामानाधिकरण्यस्य अभाववत्त्वादिरूपम्। अतस्संयोगादिमल्यवि सयोगो नान्तीत्यादिधी:। वस्तुतस्तस्यां घटत्वायवच्छिन्नपतियोगिताकाभावल्वैनैवाभावभानात् । अन्यथा प्रतियोगिताया अवच्छ̄न्नवे मानामावेनासिद्धयापतेत्रे: प्रागभावादिकालेऽप्यत्यन्ताभाव आव₹यकः। तथाच पक्षस्य तद्धुटासमानकालीने तद्धरात्यन्ताभावे निश्रयेन पक्षे साधनवतानिश्रयादुपाध्यभावनिध्रयाच साधनाँ्यापकव्वमुपाधेर्निल्धितमेव । न चान्यतरतृत्तित्वस्य मान्रार्थाविशोपितस्योपाधिल्वकल्पे साधनाव्यापकत्वस्मम्भव इति वाच्यम्; तस्यापि तद्यूटाल्यंत्ताभावत्वे साधनाव्यापकर्वसम्मवात्। न
 ठ्यापकत्वमिति वाच्यम्; तयोस्साध्यवत्व्वानिश्रयादिति ध्येयम् । सन्दिग्धेति। यत्र व्यमिचारसंशयविरोधी तरोंडबतरति, तत्र ठ्यभिचारसंश्रयूपस्वकार्यक्षमत्वात् सन्दिग्धोपाधिर्न दूपणम् । यत्र तु स नावतरति तत्रोक्तस्वकार्यक्षमव्वात् स दूषणमेवेति भाबः । संयोगेत्यादि। न च समवायेन तद्धटवति बृतेर्निवेशान्नायन्दोष इति वाच्यम्, समवायेन घटचत्यपि सयोगेन घटात्यन्ताभावसत्वादित्यस्य प्रकृतग्रन्षार्थल्बात्। समवायेन तद्धटाभावस्य हेतौ निवेशे बु साषनवैकल्यामिति भावः। ननु समवायान्यसम्बन्धानवच्छिन्न्रतियोगिताकघटात्यन्तामाववं हेतौ निवेइयं, तथाच नोक्तव्यमिचारो न वा साघ-

घटात्यन्ताभावसच्वात् साध्याभाववति हेतोर्टृत्तेरित्यलमतिविस्तेरण ।।

हत्यद्दैतसिद्धौ विश्वसत्वानुमानभङ्रः

## अथविश्वमिथ्यात्वे विझोषतोडनुमानानि मिथ्यात्वे च विरोषतोग्रुमानानि-इ्यक्ञानेतराबाध्य

 नैैकल्यं, तराह - साध्याभाववतीति। समवायावच्चिन्न्रतियोगिताकघटायम्ताभाबस्य नियल्बात तद्रटसमानकालीत्वेन घटायन्ताभाब्ल मुक्तसाध्याभाववदिति भावः। ननु तद्धटसमवाय्यवच्छिन्नं यत्तद्धटकालतृत्तित्वं तद्वित्तिवाभावस्साध्यः, तथाच समवायेन तद्यटाभावो नोकवृत्तित्वयान्, तद्धटसमवाय्यन्यावच्छेदेनैवैव तस्य तद्धश्वादिति न ठ्यमिचारः, तत्राह —अलमिति। मन्मते मिध्यात्वघटकात्यन्ताभावस्य प्रतियोग्यविरुरुद्धत्वेन देशकालावच्छिन्नवृत्तिकत्वाभावेन सिद्धसाधनम् । प्रातिभासिकतद्बटात्यन्ताभावमादाग व्यभिचारः। तदन्यत्वेन समानकालीनविशेषणेऽपि बाषठ्यमिचारौ, पूर्वोत्तरकालीनात्यन्ताभावयोरेव प्रागभावध्वंसरूपतया ₹वीकारसम्भवात् । एकया अत्यन्ताभावव्यक्तयैव धंसादिबुद्धगुपपत्ते स्संसर्गाभावत्यक्तयन्तराकह्पनात्, तद्धटात्यन्ताभावे तद्धटसमानकालीनत्वावरयकत्वात् उक्तावच्छिन्नत्वानिवेशो बाधाद्यावशयकत्वात्, तन्निवेशे सिद्धसाधनमिति भावः ॥तर्कैस्सार्वतै रलैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
विभ्वस₹्वानुमानानां भঞ্जनं ध्वान्तभझ्जनन् ॥ इात विश्वसल्यव्वानुमानभฐ:.

बह्मज्ञानेत्यादि । श्रक्सज्ञानान्याबाध्यं ${ }^{1}$ यं्न्रक्षान्यतद्यदितिरस-
1 व्रह्मजानेतेतेराध्यं.

ज्नश्नान्यासत्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्वाधिकरणावृति, ब्रद्सा-
त्वाभाव इत्यर्थः । पारमार्थिकसत्वेति । सामान्यानुमानोक्तरीत्या धीविषयत्वादिरूपं पारमार्थिकसत्त्वं बोध्यम्। अतो न सिद्धसाधनादिपूर्वोक्तदोषः । ${ }^{1}$ ठ्यावहारिकं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणवृत्तित्वमत्र निवेइयम्। एतेन-"" व्रह्मस्वरूपस्य तस्या${ }^{2}$ धिकरणाप्रसिद्धि: कल्पितस्य तदधिकरणत्वस्य तनैै्रैन प्रसिद्धावपि शुक्तिरूव्यत्वे साध्याप्रसिद्धि:; तद्वद्धुत्तित्वस्य मिथ्यात्वन्तु न सिद्धम्, येन तत्सत्वेऽपि तदभावसत्वान्नाप्रसिद्धि:, पारमार्थिकसद्धतित्वेऽपि किस्चिद्वच्छेदेन तदभावसत्त्वमादाय सिद्धसाधनापत्त्या पारमार्थिकसद्वत्ति यदत्तदन्यत्वस्यैव साध्यीकार्यत्वात्, तस्य च शुक्तिरूप्यत्वे ज्नहिषेष्ठे न प्रसिद्धि:" इल्यादि परास्तम्। अवच्छिन्नव्रह्मनिम्ठेऽपि शुक्तिरूप्यत्वे शुद्धग्नह्म|वृत्तित्वानपायाच। अवृत्तित्वमात्रं न व्याप्तिग्राहकं, दृष्पान्तावृत्तित्वात् । अतो व्रह्मावृत्तित्वं हेतूकृतम् । न च श्मण्यवृतित्व्वसत्वात्तन्रैव तस्या उयाप्तिग्राहकंबं शंक्यम् । अनन्दत्वादिधर्मरूपत्वेन ब्रह्मणोऽपि स्ववृत्तित्वात्तस्य प्राती तिकत्वात्तद्भावोऽपि तस्योति चेन्न; तथापि ब्रह्मणि हष्टन्ते साध्यवैकल्यापातात्, सद्रूपत्वेन व्रह्मणः प्रपझ्चवृत्तित्वात् परमते पारमार्थिकसद्वत्तित्वात्। अत एव साधनवैकल्यमपि, प्रपश्चवृत्तित्वस्य श्रझनिष्ठस्याद्यापि मिथ्यात्वासिद्धया त्रद्मण्यवृत्तित्वासिद्धे: । यद्यपि केवलस्यासत्त्वाभावस्य पारमार्थिकसद्बतित्वम्, तथाप्युक्तपक्षतावच्छेदकविशिष्टरूपेण तदभावरूपसाध्यकत्त्वमक्षतम्। अतएव ज्रह्मन्येति सार्थकम् । प्रातीतिकवृत्तित्वविशिष्टस्सन्नसत्त्वाभावः पारमार्थिकावृत्तिरिति परेषां सिद्धम्। अतोऽबाध्यान्तम् । न चैवमपि श्रह्मज्ञानबाध्यपातीतिकवृत्तित्वविशिप्टस्य पारमार्थिकावृत्तित्वेन परेषां सिद्ध इति वाच्यम् ; पैरैः पातीतिकमात्रस्य ज्रह्सज्ञानान्यवाध्यत्वार्कीकारात्, सर्व प्रातीतिकं प्रतिपन्नोपाषौ

बृत्तित्वात्, शुर्तिरूप्यत्ववत् परमार्थसन्भेदवच्च। विमतं मिथ्या, ज्रह्मान्यत्वात्, श्रुक्तिरूप्यवत्। परमार्थसच्चं स्वसमानाधिक-

नास्तीति बाधसम्भवान्च, यथोत्तपक्षे साध्यस्य परेषामसिद्धत्वात्। झुत्तिरूप्यत्ववदिति। शुक्तयवच्छिन्नैचनन्यवृतेरापि श्रुंक्तिरूप्यत्वस्य श्रुद्धअक्षावृत्तित्वामिति भावः। यद्युपहितथृत्तेश्युद्धवृत्तित्वनियमः, तथापि न क्षतिरित्याशोयेनाह-परमार्थस亏े्रेदवादेति । न च परमार्थसद्रेदोऽपि अस्सतृत्ति:, अन्यथा परमार्थसत्त्वस्य त्रझ्सम्वरूपस्य स्वर्मर्त्वनुपपत्तेरिति साधनवैकल्य्यमिति वाच्यम् ; तत्र श्रसृृत्तित्वस्य प्रातीतिकत्वेन तदभावस्य पररीत्यापि सम्भवात्, दृष्टन्तस्य परमार्थसत्च्चावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदस्य श्रद्मण्यभावाच्च, तद्वचक्तित्वावच्छिन्नपतियोगिताकमेदादिनैनैव धर्मातानिर्वाहात् उ्यावहारिकस्य परमार्थापृत्तेर्वा भेदस्य दृष्तन्तवे निद्दोंश्वाच । अतएव भेदस्य विभागवत् प्रतियोगिचृतित्वेडवि न क्षतिः। वन्तुतन्तु परमार्थसत्पतियोगिफववविशिष्टस्य हछ्टान्तत्वाचाद्घास्य ब्रहाणे सत्त्वे मानाभावान्न माधनवैकल्यम्। अतएव च न साध्यैदै₹ल्यम्। अतएव च शुर्तिरूप्याद्युपहितृृत्तिव्वेऽवि नोक्तभेदस्य श्रुद्धव्रह्तवृत्तित्वशष्का, तदतिरिकस्थल एव तथा •नियमस्वीकारात् । अतएव अहाकालन्यत्वविशिष्टघटादे: महाकालाष्थृत्तित्वं पराम्युपगतम्। मिथ्या । सद्विरक्षणम् । तेनासद्वघावृत्तमिध्याव्वस्यासम्भवेऽवि ${ }^{1}$ नासति व्यमिचारः। घद्सान्यत्वादिति । उक्तरीत्या घह्नाणि ठ्यमिचारादिकं परिहार्यम् । स्वसमानाघिकरणान्योन्येत्यांदि । अन्योन्याभावो ठ्यावहारिकः प्रतियोग्यवृत्तिर्वा आह्ब:, तेन अघ्सनिष्ठं ब्कमेदं प्रातीतिकमादाय न दोष:। स्वसमानाधिकरणताह्दाभेदपतियंரगिवृत्ति यघत्तावदन्यत्वकूटं साध्यम्। अथवा ₹वपतियोगिवृतित्वं स्वसामानाधिकरण्यं

[^93]रणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति ; सदितरावृत्तित्वात्, बह्यत्ववत्। बह्मत्वमेकत्वं वा सत्त्वव्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्। व्याप्यवृत्तिघटादि: जन्याभावातिरिक्तसमानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगी, अभावप्रतियोगित्वात्,

चेत्युभयसम्बन्धेन उक्तभेदविशिष्टं गत्तदन्यत्वं साध्यम्। तेन स्वपदार्थस्य पक्षद्टष्ट।न्तसाघारणस्यैकस्याभावेऽपि न क्षतिः। सदितरेति। परमार्थसदन्येत्यर्थः । सच्चव्यापकमिति । अबाध्यनिस्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकमित्यर्थः। एकत्वं। यत्किश्चिदेकत्वम् न सत्त्वठ्यापकम् नानावस्तुषु सत्त्वस्वीकारात्। यद्वा पश्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे तस्या ब्रह्मान्यत्वादेकत्वमाविनाशित्वादिरूपं पः़त्हननमिनि ध्येयम्। सयोगादिवदत्याव्यवृत्तित्वेनार्थान्तरं स्यादतां-व्याप्यवृत्तिरिति। दैशिकसम्बन्धावच्छिन्ना वृत्ति: किण्चिद्वच्छिन्ना यस्य तदन्य इत्यर्थ। घटगोत्वादे: कालिकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्ते: कपालाद्यवच्छिन्नत्वादवच्छिन्नान्तम्। समवायेन घटादररवयाप्यवृत्तित्त्वे त्वाह-अदिगिति। गोत्वादीत्यर्थः। घटादौ तु अवच्छिन्नवृत्तिकान्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव शुक्तिरूप्यादिदृष्टन्तेन साधनीयमिति भावः । भेदप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाधनं क्यादतो। मात्रेति । अजन्यसमानाधिकरणान्यस्याप्रतियोगीति पर्यवसितं साध्यम्। कपालादिनाइनाइयघटादौं समानाधिकरणान्यध्वंसप्रतियेगित्वेन बाघात्-अजन्येति। अन्यान्तविशेषणम् । अभावप्रतियोगित्वादिति । न चाभावेति ठयर्थमिति वाच्यम् ; अभाचसंयोगादिप्रतियोगितासु सम्बन्धावच्छिन्नत्वादितद्दभावाभ्यां विलक्षणासु प्रातियोगितात्वक्यैकस्याभावेनाभावीयप्रतियोगितागतरूपेण हेतुतालभाय तदुपादानात् । अन्यथा सयोगादिप्रतियोगितारूपेण हेतुत्वे गुणादौ भागासिद्धे: । तास्डु तस्यैकस्य ₹वीकारे तु प्रतियोगितासम्बन्घेन

अभिधेयत्ववत् । अभिधेयत्वं हि परमते केवलान्वयित्वादन्योन्याभावमात्रश्रतियोगी । स च समाना धिकरण एव । अस्मन्मते तु मिथयैयेति नोभयथापि साध्यवैकल्यम् । अत्यन्ताभावः प्रतियोग्यवाच्छिन्नवृत्तिः, अभावो' हेतुर्बोध्यः । मते त्विति । अमिघेयत्वमिल्यनुषज्यते । मिथयैयेति । स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोग्यवीत्यर्थः । अत्र अजन्यो य स्वससमानाधिकरणन्याभावस्तत्रतियेगी, च्वमते खपुष्पवत्, तथापि पर्रसिद्दूस्य खपुप्पस्येव मेद स्साधयितुं ₹ाक्यत एव। अथवा अजन्याभावसामान्यस्य स्वसामानाधिकरण्यं प्रतियोगित्वं चेत्युभयसम्बन्घेनाभवस्साध्य: । स्वसामानाधिकरण्यपदार्थस्म्वाधिकरणसंयुक्तत्वाभावादि: ${ }^{2}$ गुणादौ प्रसिद्दोो निवेखेय । तेन सामानाधिकरण्यसामान्याभावाभसिद्धावपि न दोषः। तथाच घटादौौ पक्षे संयुक्तत्वाभावघटितेन, गुणादौ पक्षे समवेतत्वाभावादिघटितेन उभयसम्बन्धेनाभावसामान्याभावक्साष्य इति ध्ययेम् । प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिरिति । प्रतियोगी अवच्छिन्नो येन तन्पतियोग्यवच्छिन्नं, तेन तदवच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य स इत्यर्थः। गतात्वदेरवि कालवृत्तित्वे गवादिदेश़स्मावच्छेदकब्वात् न गोत्वाघ्चवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकर्वाप्रसिद्धि:। अथवा अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वं साध्यम् ; परमते गोत्वाध्यावस्य का ${ }^{3}$ लवृत्तिवे गवादि|भिन्नदेशस्सावच्छेककत्वात् न तत्र सिद्दसाधनम्। ननु-" पूर्व कल्पो न युक्तः; व्वन्मतेऽल्यन्ताभावस्यावच्छिन्नचृत्तिकत्वस्यायुक्तत्वात् । द्वितीयकल्पोऽपि न युक्त:, कालिकसम्बन्धेन गोत्वाद्यमावस्य विशेषणतया कालवृत्तित्वस्य गवादिमिन्नावच्छिन्नत्वेन तत्र सिद्धसाधनाभावेडपि समवायादिना गोत्वादभावे सिद्रसाघनात्" इति चेन्न; कातत्रये कुत्रापि हृयं नास्तीत्यनुभवेन अल्यन्ताभावस्यावाच्छिन्नवृत्तिस्व्वकारेणाडsघ् 1 अभावे. 2 भावादिति. 3 भावशृत्तित्वे.

दोषाभावात्, गवि तन्नाइकाले गोलं समवायेन नान्ततील्याघनुभवेन परमते समवायाघवच्छिन्नगोत्वाध्यावस्याव्यवच्चिन्नवृत्तिकत्वेन द्वितीयदोवस्याव्यभावात् । अतएव ज्ञायमानसामान्यस्य प्रत्यक्षकारणत्वे भाविधटादौ घटत्वाद्यावाव् ठ्यमिचोरण सामान्यक्ञानस्य कारणतं दींघित्यादावुक्तम् । अवच्छेदकावच्छेदेने साध्यसिद्देखह्देइयत्वेन कुत्रचिदल्यन्ताभावे सिद्धसाध्यकत्वस्यादोष्व्वाच्च। एवंच पूर्वकल्पेड्यन्ताभावे प्रतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नत्वस्य द्वितीयकल्पेडनवच्छिन्नत्वस्य ${ }^{1}$ च ${ }^{2}$ साधर्म्यमन्याहतं, प्रतियोग्ग्यच्छेदकावच्छेदेनाभाव्याप्रहणात् प्रतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नत्वभ्रमः परेषामिति दिक् । नित्याभावत्वादिति । सदातनाभावत्वादित्यर्थः। घ्चंसादौौ ठ्यमिचारास्सदातनेति। अविद्यादे: पूर्णानन्दायदावत्वात् पूर्णानन्दरुपपतियोग्यवच्छेदकाप्रासिद्धया व्यभिचार:। न च तच्वज्ञानोत्तरकालस्यैव तदवच्छेदकल्वेन कल्पितच्वान्वाप्रसिद्धिरिति वाच्यम् ; तथाप्यविय्यादौ तक्कालावच्छिन्नव्वस्याभावात् तत्पूर्वकालवच्छिन्नत्वाच कर्पद्दयेपि व्यमिचारात्-अतोऽभावेति। भावविरक्षणेत्यर्थः। अन्योन्याभाववदिति। आघसाघ्ये गोत्वादिभेदस्य गोत्वाघवच्छेदकगवाद्यवच्छिन्वव्वात् गोत्वादितद्रेदयोः कालवृत्तित्वे गवादेखचच्छेदकत्वात् न साध्यैकैल्यम्।। द्वितीयसाध्ये तु तस्य किश्चिद्वच्छिन्नैशिक्रवृत्तिकान्यत्वरूपस्य विवक्षितत्वे भेदमान्रं दृष्टन्तः। दैरिकिल्यस्यानिवेदो नु वाच्चय्वादिकं। तस्य कालिकवृत्तेरप्यनवच्छिन्नत्वात्। न चोक्तरील्या घटादौ तन्नाशकालावच्छेदेन तद्रेदोडपीति साध्यवैकल्यमिति वाच्यम् ; भेदमात्रस्य ठ्याप्यवृत्विव्वमते तदभावात् मतान्तरे ${ }^{3}$ सन् (त्) पदार्थभेद्स्यद्टह्तनत्त्वसम्भवाश ।

प्रतियोग्गशेषाधिकरणवृत्तिमात्रतृत्ति, प्रतियोग्गवच्छिन्नवृत्तिमात्रवृत्तिवा, नित्याभावमात्रृृत्तित्वात्, ,अंन्योन्याभावत्वकत्। घटात्यन्ताभाववच्चं प्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणन्टृत्ति, एत-

आघ्यसध्यं स्वनिष्ठपतियोगितानिरूपकत्वस्वावच्छेदकावच्छिन्नव्वोभयसम्बन्धेन विषयवत्व ${ }^{1}$ पर्यवसितं बोध्यम्। तेन किल्चिव्रतियोगिनिवेशे सिद्धसाधनादि, स्वपतियोगिनिवेशे पक्षृह्टान्तसाधारणझ्य स्वत्वस्याभाबेन तदन्यतरनिवेशे साध्यवैकल्यबाधावित्यादिकं न दोषः। प्रतियोग्यशोषेति । अरोषपतियोगीतिर्यर्थ:। ूूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टन्य स्वस्याभावरुपो यः प्रतियोगी तदधिकरणवृत्तिस्सर्वोप्यस्यन्ताभावस्तन्मात्रवृत्तिव्वं पक्षे सिद्धम्। अतोऽडोोषेति। तथाच स्वप्रतियोग्यधिकरणताब्यापकाधिकरणतानिरूपकं यचत्रेदेदकूटबदवृत्तित्वं माध्यम्। स्वपतियोगिकवं स्वासामानाघिकरण्यं चेन्युभयसम्बन्घेन विष्यविशिष्टं यत्तदवृत्तित्व स्वावच्छेदकविशिष्वदवृत्तित्वं ₹वनिरूककं चेल्युभयसम्बन्धेन प्रतियोगिताडिशिष्टं यत्तदवृतित्वं वा पर्यंवसितम्। ताद्शशिषषयविशिष्टं च सर्वावयवनाशजन्यो घटादिनाशः । प्रतियोग्यवच्छिन्नेल्यादि । स्वपतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नमिन्नावृत्ति अवच्छिन्नृृत्तिकावृत्तीति वा र्थः। दृष्टान्त उक्तरीत्या बोध्य:, रोषं पूर्ववत्। प्रतियेगिजनकेति। स्वपतियोगिजनककेलयर्थ: । ₹्वसमानाधिकरणपदार्थोडत्यन्ताभावस्तत्रतियोगिजनकामावश्थ तद्धटपागभावः । तत्सामानाधिकरण्यं चानवच्छिन्न निवेश्यम । तेन ताह्दाभाभावकालेंन तद्धरहघंसकालेन वा अवच्छिन्ं तस्सामानाधिकरण्यं तद्वटात्यन्ताभावनिष्ठमादाय न सिद्धसाधनादि । त्ककालनारजन्यतद्बरध्यंसते व्यमिचारात् कारीनन्तम्। कपालनाशनाइयघट ${ }^{2}$ व्यक्तिनिवेंशो बु तन्नोपाद्देयम् । अनादिप्रतियो-

[^94]त्कपालसमानकालनैतद्धटप्रातियोगिकाभाववृत्तित्वात्, प्रमेयत्ववत् । एतत्कपालमेतद्धटात्यन्ताभावाधिकरणम्, आधारत्वात्, पटादिवत् । ब्रह्मत्तं, न परमार्थसन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगि-

गिकाभावत्वादौ च्यमिचारात् एतद्वटप्रतियोगिकेति । तद्वटसंयोगत्वादौौ ठ्यभिंचारादभावेति। वस्तुतन्तु—एतद्धटेति। एतत्कपालनाशनाइयघटेत्यर्थः, एवंच तत्सामानाधिकरण्ये अनवच्छिन्नत्वं विशोषणम् तद्धटप्रागभान्तकालानच्छिन्नं तत्समानाधिकरण्यमाद्दाय सिद्धसाधनवारणाय । तद्धट्घंसत्वे ठ्यभिचारात् कालीनान्तम् । येन तद्धटसमवाएयिनि तद्धटात्यन्ताभावो न स्वीकियते तं प्रत्यनवच्छिन्नत्वं न देयम् । ननु स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणवृत्तित्वसाधनेऽपीष्टसिद्धै। किमिति जनकाभावनिवेश इति चेत्। अयं माव:—तहीज घटाद्युत्पत्तेः पूर्व तत्समवायिनि प्रतीयमानतदभावस्य परेणापि स्वीकारात् तस्य चत्यन्ताभावन्यत्वे तंद्देशकालावच्छिन्नवृत्तिकंत्व च मानाभावात् गौरवाच्च। प्रतियोगिकाले तत्सत्वेपि औपनिमदद्रर्शनापरिशीएलिन पुरूषं प्रत्यावृतत्वश्वीकारादेवाप्रकाशेपपत्तेः । प्रतियोगिजनकत्वेन पराअ्भीकृतोऽमावोऽत्यन्ताभान एव । अन्यथा तस्य विनाशित्वे गौरवात्। न चैवं प्रतियोगिमति तऽकालावच्छेदेनेन तदत्यन्ताभाव इति धी: गवादौ गोत्वाद्यभाव इति धीश्च प्रमात्वेन व्यवह्द्बेयेतेति वाच्यम् ; अत्यन्ताभावे हि अवच्छिनत्वानふीकारादेव अद्या, आवृतत्वाइ्नकिारादेव द्वितीया धीर्न प्रमात्वेन ठयवह्वियते। त्वयापि गव।दौ तन्नराादिकाले गोत्वाद्यभावोऽक्भीक्रियत इत्युक्तम् । विवृतमधिकमेतत्सूत्रमुक्तावलौ नः। अधिकरणमिति। अनवच्छिन्नाधिकरणतावदित्यर्थः। तेन तद्धटानवच्छेदकावच्छिन्नतदत्यन्ताभाववत्त्वमादाय न सिद्धसाधनम्। न परमार्थसदिति । मिथ्यातुच्छविलक्षणवृतिभेदेद्रतियोगितानवच्छेदकत्वं साध्यमू । तेनाबाध्यानिष्ठभेदघटितात् सत्त्वव्यापकामिति पूर्वसाध्याद्भेदः

तावच्छेदकम्, ब्रद्मतृत्तित्वात्, असद्वैलक्षण्यवत् | परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदो न परमार्थसन्निष्ठः, परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वात्,

हेत्वन्तरेण पूर्वसाधितसाधनेऽपि न क्षतिरिति तदेव वा साध्यम्। भेद इति। स्वप्रतियोग्यवृत्तिरित्यादिः। तेन परमार्थतदन्योभयभेदादौ' ${ }^{1}$ न बाध: । न च तत्रापि मिश्यमूूतत्वात् परमार्थनिष्ठत्वं नास्तीति ठ्यर्थमुक्तविशोषणामिति वाच्यम् ; तथापि त्रह्मामेन्ने परमार्थत्वनिषेघम्य पकृतानुमानफलस्यानुरोधेन तदावइयकत्वादन्यथा, परमार्थनिष्ठत्वमात्रमिथ्यतेत्वैनैव त्रह्मवृत्तिभेदे साध्यस्योपपपाद्यतया प्रपश्चवृत्तिभेदे ऽपि तेनैव उक्तसाध्योपपत्त्या उक्तफलासिद्धेरुक्तविशोषणे द्ते तु विनिगमकाभावाद्विईोषणीभूतस्य परम।र्थत्वस्य प्रपश्चेडभावमादायापि साध्यं पर्यवस्यतीतिध्येयम् । प्रतियेगिकत्वादिति । न च परमते संयोगादौ घटत्वाभावादौ च व्यभिचार इति वाच्यम्; तस्य पक्षसमत्वात्परमार्थसन्निष्ठत्वेन हेतुना तत्र परमार्थप्रनियोगिकत्वाभावानुमानस्य वक्ष्यमाणतया हेत्वभावाच्च । अथैवं सप्रतियोगिकत्वस्यैव साधकत्वसम्भवेन परमार्थसदिति व्यर्थमिति चेन्न; तदभावे हि संयोगादेरभावस्य प्रतियोगितासु प्रतियोगितात्वरूपानुगतधर्माभावेन संयोगादिप्रतियोगिताया निवेशो संयोगादेरेव पक्षीकार्यतया तत्र साध्यसिद्दे: परमार्थंनिष्ठत्वामिथ्यात्वेनापि सम्भवात् ज्रह्मान्यम्यापरमार्थत्वालाभ स्स्यात्। सति च तस्मिन् विशेषणे सप्रतियोगिकरवममावनिष्ठमेव लम्यते । मन्मते ह्यभाव एव परमार्थसत्पतियोगिकः, संयोगादे: ब्रह्मण्यनखीकारात्तादाल्यमपि तादृरां यद्यपि ; तथाप्यभावीयप्रतियोगिताविशोषो निरूपकतासम्बन्धेन हेतुकताद्विशोषणाल्लम्यत इति न दोष: । यद्यपि परमार्थत्वावच्छिन्नप्रतियोगितायासतत्वन हेतुत्वे सिद्धसाषनम्, व्रह्कत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया-

1 तेन्योभयभेदाभेदौौ. 2 न परमार्थ.

परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत् । भेदत्वावच्छिनं, सद्विलक्षणप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवत्, अभावत्वाच्छुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाववत्। परमार्थसन्निष्ठो भेद़ो न परमार्थसत्प्रतियोगिक:, परमार्थसद्धिकरणत्वत्, शुक्तिरूप्यप्रतियेगिकभेद्वत् । मिथ्यात्वं न्नह्नतुच्छोभयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यातृात्ति₹तत्त्वेन हेतुत्वे तु साधनवैकल्यम् ; तथापि तयेरन्यतरत्वेन तद्वोध्यम्। यदि तु प्रतियोगितापदार्थमान्रेडनुगतं प्रतियोगितात्वं स्वीक्रियते, तदा सप्रतियेगिकत्वस्यैव हेतुत्वे तात्पर्यम् । परमार्थसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववदिति । ताहृशाभावश्च भेद एव, परमते परमार्थसत्त्वस्य मेयत्वादिवदल्यन्ताभावप्रतियो।गितानचच्छेद्कत्वात् अलीकेडपिवृत्तिविषयत्वरुूपस्य परमार्थस्य सत्त्वात्, मन्मतेऽपि मिथ्यातव्वाहकमानेन वियत्वादे ${ }^{1}$ रत्यन्ताभावपतियोगितावच्छेदकत्वसिद्धावाि मानाभावेन तस्य तदसिद्धेर्गुरुत्वाच तत्तद्धीठ्यक्तयपेक्षयेति ध्येयम् । सद्विलक्षणेति । सद्विलक्ष्षणं यत् स्वप्रतियोगिस्वाधिकरणयोरन्यतरत् तत्सम्बन्धित्वं साध्यम्। सद्विलक्षण ${ }^{2}$ वृतिप्रतियोगितानिरूपकत्वं सद्विरक्षणवृत्यधिकरणतानिरूपकं चेत्येतयोरन्यतरववं पर्यवसितम् तेन स्वपदार्थाननुगमेऽपि न स्वरूपासिद्धयादि । न परमार्थस्त्रतियोगिक इति । संयोगादे: पूर्ववत्पक्षसमत्वान्न क्यमिचारः । परमार्थसद्धिकरणकत्वादिति । साधिकरणकत्वस्य हेतुत्वे ता₹पर्यम् । यदि तु सर्वास्वधिकरणतास्तु अधिकरणताव्वन्नासित, तदा उक्तरीत्या अन्यतमत्वेनैंब निरुपकतासम्बनधेन हेतुता बोध्या। तच तावदाधिकरणतामात्रविषयकतद्धीविषयत्वं ताबदधिकरणताभिन्नभिन्नत्वेन हेतुत्वे तु हृ्टन्तीयाधिकरणताठ्यक्तीतरांझाऔयर्थ्यम् । सकलमिथ्यादृत्तित्वादिति। स्वबिशिष्टव्याव्यमिध्यात्वकत्वात् स्वावच्छिन्नाभाववद्बृतिमिथ्यात्वकं यद्यत्वद्रेदकूटवत्त्वादिति यावत्। 1 विषयत्वाभावादे. ${ }^{2}$ तद्विउक्षण.

त्वात्, मिथ्यात्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा ; दृइयत्ववत्। हइइयत्वं परमार्थसदवृत्ति, अभिधेयमात्रवृत्तित्वात्,
मिथ्यात्वं मिध्यात्वत्वम् । ठ्यापकं व्यापकतावच्छेदकम् । तेन मेयत्वादिरुपेण उ्यापकत्वमादाय न सिद्दूसाधनम्। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति। ताहृशात्यन्ताभावप्रतियेगितानवच्छेदकत्वे तात्पर्यम्। नचात्यन्ताभावप्रतियोगितानवछेदकत्वस्यैव साधकत्वसम्भवेनान्यवैयर्थ्यमिति वाच्यम्; साधनवैकल्य।पत्तेः । न च मेयत्वं ब्रह्मत्वं वा दृष्टन्तोास्त्वति वाच्यम् ; मन्मते मेयत्वस्यापि तदभावात् ब्रह्मत्वस्यापि परमते घटादिनिष्ठोक्तात्यन्ताभावपनियोगितावच्छेदकत्वात् । स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नाहि प्रतियोगिता हेतौ साध्ये च निवेइया । अन्यथा स्वरूपासिद्धिबाधयोरापतेः। यदि तु बह्मत्वेन स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितायमपपि मानाभावात् परमतेऽपि न व्र्मत्वमवच्छेदकं तदाऽन्तु तदेव हेतु । न च स्वरूपासिद्धि; मिथ्यात्वत्वन्य तत्तद्धीविषयत्वापेक्षया गुरुत्वेन उक्तावच्छेदकत्वामावात् । न चैवं प्रपश्चे मिभ्यात्वस्याभावेव्युक्तसाध्योपपत्तिरिति वाच्गम्। उक्तोभयान्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगेतावच्छेदकं यद्विशिष्ट्व्यापकतावच्छेदकं तदन्यत्वस्य स।ध्यत्वात्। प्रपश्चे मिश्यात्वाभावे च मिश्यात्वत्वसमनियतलघुघर्मम्यावच्छेदकत्वात्तस्य च मिध्यात्वठ्यापकतावच्छेदकत्वेन मिथ्यात्वत्वे साध्यानुपपत्तेरिति ध्येयम् । दृइयत्वं परमार्थसद्वृत्तीति। दृरत्वं दृक्पतियोगिकत्वविशिष्टं व्यावहारिकं तादात्म्यम् । प्रपश्चनिष्ठस्य ब्रह्मतादात्यम्य ब्रद्मण्यपि सत्त्वात् बाधः। अत आद्यम् । व्रह्माणि व्रह्मणः प्रततीतिकतादाल्ये बाधादन्त्य विशोषणम् । न च तयोर्व्रद्मवृत्तित्वम्मिश्येति साध्यसत्त्वान्न बाध इति वाच्यम् ; तथाप्यनुमानफलम्य ब्रह्मान्यसर्वमिश्यात्वसिद्धेश्तद्विशोषणफलत्वात् तदभावे परमार्थतृत्तित्वमिश्यात्वेनैव साध्यसिद्धयोक्तफलालाभात् ₹वरूपासिद्धेश्व । अभिधेयमात्रवृत्तित्वात् | अवाच्यावृत्तित्वात्

गुक्तिरूप्यत्ववत् । हइयत्वं परमार्थसक्शिन्कत्वव्याप्यम्, हइयेतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासिकत्वनत् । उभयसिद्दमसद्धिलक्ष्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणम्, आधारत्वात्, श्युक्तिरूप्यवत् । प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशः, अत्यन्ताभागाश्रयः, आधा-
${ }^{1}$ ब्रह्मावृत्तित्वादिति यावत्। पक्षमदेदादानानुमानांद्रदः, न्रह्मान्यवृत्तित्वविशिष्टत्वं वा हेतु:, रूप्यादिपदानां प्रत्येकाभिधेयवृतित्वानां तत्वेन हेतुत्वे वा तात्पर्यम्। एतेन शब्दार्थभेद|च्छक्किरूपातिधाया भेदात् सर्वाभिधेयमझ्ञ़हाभाव इत्यादि परास्तम्। धर्मत्वादिति । परमते गगनाद्यवृत्तिपदार्थ साध्यसामानाधिकरण्गघटितन्याप्तयभावाद्धर्मेति। तदघटितन्याप्स्साधघत्वे तु तन्नदेयम्। शुक्किरूप्यादावंशतास्सद्धसाधनात् उमयसिद्धूमिति । उमयवाद्दिसिद्धामित्यर्थः । उमयसिद्धं यदसत्वद्भिन्नत्वन पक्षत्वेडपि स दोषो उह्मणि बाधश्न, अबाध्यत्वादिधर्मसत्व्वात्। अतम्तन्न कृतम्। तथाचासद्विन्न्वेनोभयसिद्धं पक्षः, शुद्धं न्रद्य न परसिद्धमिति न देाषः 1 इत्थं च आधारत्वात् इत्यक्य अन्मप्रतियोगिकतादात्म्यनुयोगित्वादितयर्थ: । वम्तुतन्तु अचाध्यत्वादे-
 समत्वेन ब्रह्मणि व्यभिचाराप्रसक्तेः। उत्कोभयसिद्धत्वं च सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावापतियोगिकत्वेन ミ... ः. چरूपं यद्यप्यप्रसिद्धम् ; ब्रह्मण: पराप्रमितत्वात्, प्रपश्चस्यांि तथा मदप्रमितत्वात् ${ }^{3}$ शुक्तिरूप्यादेरुभाभ्यां तथा प्रमितत्वाभावात्, तथांव न्रह्मपातीतिकतुचछछेम्यो मिन्नत्वादिरुपं तद्राद्यम्। यदि तु जह्मणः पक्षसमत्वात् परमतेपि साध्याभाबवत्वेना।निश्रय इत्यालोच्यते तद्वा श्रक्मेति न देयम्। प्रतियोग्यवच्छिन्न इति। घटादि: घटत्वाद्यमावस्यानवच्छिन्नाधिकर-

[^95]रत्वात्, कालवत्। आत्मत्तावच्छिन्नम्, परमार्थसत्ताधिकरणप्रतियोगि कभेदत्त्वाचच्छिन्नराहितम्, परमार्थसत्तात्, परमार्थसत्त्वावच्छिन्मवत् 1 परमार्थसति परमार्थसद्भेदाड्नीकारवादिमतेऽपि सन्द्रेदो न परमार्थसत्ववन्निष्ठः, किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ननिष्ठ
णतावानित्यर्थः। तेन घटादे : स्वनाञाकालाद्यवच्छेदेन घटत्वाद्यभाववत्त्वेडपि न सिद्धसाधनम् । समवायादिसम्बन्धेन धटत्वादेरत्यन्ताभावस्य दैशिकविशेषणतया अधिकरणत्वं साध्यम्। कालवदिति। घटादिमिन्नकालवदित्यर्थः। किन्तु घटत्वावच्छिन्नेति। न च परमार्थस ${ }^{1}$ द्वटो नेत्यादिप्रतीतेः परमार्थसत्त्वोपहिते तद्भेदविषयकत्वान्नेदं युक्कामिति वाच्यम् ; तस्य घटत्वाद्युपहितप्रतियोगिकभेदावगाहित्वेडपि परमार्थत्वोपहितप्रतियोगिकभेदाविषयकत्वात् । न च परमार्थसत्त्वोपहितनिष्ठां घटत्वायवच्छिन्नां प्रतियोगितां विषयीकुर्वन्त्या परमार्थसत्तच्वेप, हित नेति प्रतीत्या तदवगाहनमावइयकमिति वाच्यम्; तादृशःप्रतीतेस्तार्किकसम्पदाया ${ }^{2}$ सम्मतत्वात्। प्रतियोग्यंशे प्रकारतावच्छेदकतापर्यास्यधिकरणमेच हि प्रतियोगितावच्छेदकतया भातीति तत्सम्मतम्। अतएव पर्वतवृत्तिभूमवन्निष्ठाभावपरियोगितावच्छेद़ंक न वह्बित्वमिमिति धी: पर्वतवृत्तित्वाविशेषितधर्मावच्छिन्नपतियोगिताकं भेदं नावगाहत इति ठ्यभिचारधीकालेपि ताद्दार्धीसम्भवेन तस्या अनुमितिहेतुत्व खण्डयन्ति । अथवा आहमत्वम्, परमार्थप्रतियोगिकमेदकूटान्तर्गतया कयापि व्यक्तया न व्याप्यम्, परमार्थवृत्तित्वात्, परमार्थव्ववदित्यत्र तात्पर्यम् । परमार्थत्वे परमार्थप्रतियोगिकमेदत्वावच्छिन्नव्याप्यतासत्वेवि तत्तद्रेदव्यक्तित्वावच्छिन्नं प्रति क्याप्यता नास्ति, भ्वपतियागिनि परमार्थ तम्याभावादिति। परमार्थमेदवृत्त्युभयावृत्तिधर्मावच्छिन्नं प्रति या व्याप्यता तदभावरूपसाध्यं तत्रासत्येव । आत्मान्यपरमार्थस्वीकारे च

[^96]एव । शुक्तिरूप्यम्, मिथ्यात्वेन प्रपश्नान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वात्, बह्मवत्। साध्यसच्वमत्र न्रेधा-स्वस्यामिथ्यात्वेनोभयोर्मिथ्यात्वेनोभयोरामिथ्यात्वेन का। तत्रान्तिमपक्षस्यासम्भवात्पश्षे साध्यसिद्विपर्यवसानं मध्यमपक्षेण । हृ्टान्ते तु नद्देदव्यक्तिक्याप्यमतत्च्वमिति ${ }^{1}$ तंत्र तच्च्वाभावसाषनं पस्स्यानिष्टाभिति ध्येयम् । मिथ्यात्वेन प्रपश्नान्न भिद्यत इति। मिथ्याव्बहेतुकप्रपश्बमेद्वत्व्वस्य अमाववदित्यर्थः। उत्कमेद्ववत्वंच स्वविशेप्यिका या प्रपश्चमेदन्याव्यमिथ्यात्वपमा तजन्यानुमितिविषयो य पपश्चमेदस्तद्वृत्वम् । तद्वेतकत्क्वस्य तत्पमाघटितववाव₹यकत्वात्। न हि भवति निर्धूमों घूमंन वन्हिमानिति। यत्रो कमेदवत्त्वं स्थाव्यं स स्वपदार्थः। तथाच मिथ्यात्वव्यापक यन्मिथ्यात्वसमानाधिकरण तत्वेन रूपेण प्रपश्चभेदस्याभावः पर्यवसितसाध्यम्। स्वमते उक्ररूपपविशिष्ट्य पपश्चमेदस्याप्रसिद्धावपि घटत्वेन पटस्येव उक्ररूंपण प्पप्चभ्भेदस्याभावो नापसिद्धः। ठ्यवहारेत्याविवक्षितम्। स्वस्येति। यत्र साधं स्थाप्यं तस्पेल्यर्थः। उभयोरिति । स्वғ्य प्पप््वस्य चेत्यर्थ: । अन्तिमपक्षस्येति । आघ्पप्षासम्मवेनेत्यादि: । तेनाघपक्षासम्मबानुक्या न न्यूनता । परमतेडापे पक्षे मिथ्यात्वस्वक्कारात् तत्राद्यान्ग्यपक्षयोरसम्भवः। तयोस्सम्भवे ठु प्रपः्धमीमेन्नऽपि पक्षे मिध्यात्वरूपिश्रोषणाभावात् उत्कविशिपृरूपेण प्रपश्नेेदाभाबसम्भव हति भावः। मध्यमेति। मिथ्यात्वसमानाधिकरणपपश्नेमेदाश्रयेडापे पक्षे उक्कविनिम्टरुपेण न ताह्दशभेदः। मिथ्यात्वव्यापकत्वरूपविगेषणस्य तदभावात् ${ }^{2}$, प्रपश्चम्सत्य: ${ }^{3}$ पक्षो मिथ्येति स्वाकारे तूत्तविशिष्टरूपेण पक्षे प्रपश्षेदेन्य सत्च्वान्न साध्यपर्यवसानम् । अतएव स्वस्य मिथ्यात्वं पपश्चस्य सत्यव्वमिति पक्ष: साष्य ${ }^{4}$ -
${ }^{1}$ मात्मत्वमिति ${ }^{2}$ तत्राभावात्. ${ }^{3}$ सल्य. तथाच सिद्दसाधनमू. इल्यधिक: पाठ:. ${ }^{1}$ साध्ययर्यवसितमिथ्यात्वं प्रपम्धस्य सत्वे च पर्यवसानात्. इलधिकपाठ:.

प्रथमपक्षेणेति विवेकः। विमतं मिथ्या, मोक्षहेतुज्ञानाविषयत्वे सत्यसदन्गत्वात, ऊुक्किरूप्यवत्। मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वम् परमार्थसच्चव्यापकम्, परमार्थसत्वसमानाधिकरणत्वात्, पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वनत्। एतत्पटात्यन्ताभावः एत-

पर्यबसानानुपुुक्तव्वात् पूर्व न विकल्पित इति भाव.। प्रथमेति । दृ्टन्तन्त्योभयसम्मन्येक्ष्षणे मन्मते अन्स्यक्षस्यासम्भधात् उभयमतेडपि मध्यक्षासम्भवात् प्रथमपक्षेणैव तत्र साध्यसिद्यु:। हृष्टन्नस्य प्रतिवादिमात्रसम्मत्येक्षणे तु चरमपक्षेणापि तत्र सा सम्भवति । प्रथम इव चरमेडीप मिध्यात्वरूपविशेषपाभावात् उन्तरूपेणाभाबस्य सम्भवादिति बोध्यम्। परमार्थसच्चसमानाधिकरणत्वादिति। न च
 तत्समानाषिकरणव्वनिष्ठठ्योप्षस्तत्वेनावच्छेदासम्भवात् । अन्तु वा तम्यैव हेतुत्वे तावपर्पम्। न च स्ररूपासिद्धिरिति बाच्यत् ; परमार्थसत्त्वस्याबह्यंव्वव्यावककिश्चिहुद्धिविषयव्वरूपन्य पक्षीकृते मोक्षप्रयोजकत्वविशिष्टे म्वर्मिंम्तादात्म्यसत्त्वात्। श्रुतितात्पर्यविषयत्वतित श्रुतिनिनिष्ता स्रीनपमाविषयव्वेत्यर्थः । तादृो ज्योतिष्टानादिनिंष्ठ 'सांमेन यजेत' इ़्यादिश्रुतिजन्यधीविषयत्वे साध्यैक्कल्यादाह-पारमार्थिकव्वेनेंते। अबाध्यंवव्यापकंति तदर्थः। स चोक्रविषयत्वविशेषणं, ताद्धां च विषयत्व परमते विध्व सत्यामित्यादिश्रुतिजन्यधीविषयव्वम्। मन्मते तत्व्वम्यादिश्रुतिजन्यधीविषयत्वमेव। पक्षदृष्नन्तयोरमेदेडाप्तत्च्वावच्चेदकमेदान्न दोष ; पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितितेद्दे्र्यत्वपक्षस्यापि पकृते वक्ष्यमाणत्वात्। पटान्तरपतियोगिकात्यन्ताभावे सिद्दसाधनात् एतदिति पक्षे दत्तम् । तन्वन्तरनिष्त्वस्य सिद्धत्वान्साध्ये , प्येतदिति । पटान्रर्रागभावे

त्तन्तुनिष्टः ; एतत्पटानाद्यभावत्वात्, एतत्पटान्योन्याभाववत् । तन्तुनाशजन्यपटनाशक्य कदापि तन्तुबृत्तिता नास्तीति तत्र व्यमिचाग्वारणायानादिपद्यम । यस्य पटस्याश्रयविभागेन नाइास्तद्त्यन्ताभावस्य पक्षत्वेत्वनादिपद्मनादेयमेव। अत्र चैतत्पटभ्रतियोगिकात्यन्ताभावत्तावच्छिन्नस्य पक्षीकरणान्न सम्बन्धान्तरोणात्यन्तामाज्रमादाय अंशतस्सिद्यूसाधनम् ; पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सीध्यसिद्वेरुद्देइयत्वात्। समवायसम्बन्धावच्छिन्मो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नश्व य एतत्पटात्यन्ताभावस्स एव वा पक्षः। तन्तुराब्देन च पटोपादानकारणमुक्तम्। तत्र च प्रागभावस्य सत्त्वान्न तेन ठ्यमिचारः। कार्यकारणयेरभेदेन सिद्धसाधनादिद्यूपानि ग्रागेन तत्वप्रदी़पिकानुमानोपन्यासे निराकतानि । यद्वा समतायसम्चन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ता-व्यामिचाराद्धेतौ-एतदिति। पटेति । उ्यक्किशिशेषपारेचायकम्, न तु हेतौ प्रविष्टम् । पक्षत्त्व त्विति । तस्य पक्षत्वे हेतावपि तहपट एव निवेइयः; अन्यथा न्वरूपासिद्देः। तथाच अनादी़ति उयर्भ्वव्वान्न देयमिति भावः । उद्देशयत्वादिति । न चैनं पक्षे एतदिति ठ्यर्थममति वाच्यम् ; तद्वरचक्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वेनैवान्मिन् कल्पे पक्षत्वेन, पटत्वन निवेशामावात्। व्यधिकरणेति । एतथपटत्वन्येत्यर्थः । तेनोभगत्वाद्यवच्छिन्नात्यन्ताभावमादाय न सिद्धसाध्रन् । ननु तत्पटप्रागभावः तत्तन्ववच्छिन्नचैतन्याविद्ययोरेव वर्तते न तु तत्तन्तौ, सिद्धान्ते तम्य तत्पटानुपादानत्वादिति तत्र तत्तन्तुनिष्ठत्वाभावाद्वयभिचार:, तत्राह--तन्तुराब्देनेति । तत्तन्तुशब्देनेत्यर्थः। पटोषादानेति तत्पटोपादानेत्यर्थः। प्रागेवेति। चित्सुखाचार्यास्त्वित्यादिम्नन्थ इति शेषः। समवायान्यसम्बन्धेन तत्पटात्यन्ताभावे सिद्धसाधनादयमिति तत्पारिचायकमाह-समवायेति ।

भावः, एतत्तन्तुनिष्ठः ; एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, सम्नन्धान्तरावच्छिन्नैतत्पटात्यन्ताभाववदिति विशिष्यानुमानम्। अव्याप्ययृत्तित्वानधिकरणत्ते सति उक्षपक्षतावच्छेदकवत् ससमानाधिकरणात्यन्तामातप्रतियोगि, अनात्मत्वात्, संयोगवत् । न च विश्वात्यन्ताभावे ठ्यभिचारः, तस्य अधिकरणस्वरूपत्वे अनात्मत्वहेतोरेवामावात्, अतिरिकत्तत्वे तस्य

एतत्पटत्वन्यधर्मानवच्छिन्नपतियोगिताकेत्यस्याप्युपलक्षणम् । एतत्तन्तुनाशाजन्यतःॅपटनाशो ठ्यभिचरााद्धेतानत्यन्तेति । नाशानाइय'पटठ्यक्तिनिवेशे तु नन्न देयम् । वस्तुतन्तु अत्यन्ताभावे त्वितरवैयर्थ्यम्, तत्तन्तुत्वात्यन्ताभावम्यापि पक्षसमत्वेन तत्राव्यमिचारात् । तथाचात्यन्ताभावत्वमेको हेतुः। तन्तुनाशानाइयपटठ्यक्तयभावत्वमपरो बोध्यः। अठ्याप्यवृत्तित्तमादाय सिद्बसाधनादिवारणाय सत्यन्तम्। उक्तेति । ब्रद्मप्रमान्याबाध्येत्यादिपरकीयाद्यानुमानीयेत्यर्थः । स्त्रमानाधिकरणेति। सामानाघिकरण्यं प्रतियोगिता चेत्युभयसम्बन्धेन अत्यन्ताभावस्साध्य:, उक्कपक्षतावच्छेदकसमानाधिंकरणप्रतियोगितावच्छेदकत्वं शवाश्रयनिष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेद कत्वं चेत्युभयसम्बन्धेनात्यन्ताभावस्सा ध्यमिति तु पर्यवसितम्। तेन ₹वददार्थस्य पक्षद्टष्टन्तोमयसाधारणस्याभावे इपि न चाधसाध्यवैकल्यादि, न वा उभयाभावादिप्रतियोगितामादाय सिद्धसाधनमिनि ध्रेग्रम्। ठ्यमिचार इति। तस्य नह्मस्वरूपत्वेनाधिकरणाप्रसिद्बया नोक्तसाध्यम्, विंश्व वश? जोम्रूपेग तु हेतुसत्ञमिति भाव । शुद्धव्रक्मणि च्यभिचारो विश्वाभावत्वेपपहिते वा, नाद्यः; तत्र हेत्वभावात्। नान्त्यः, तत्र साध्यसत्त्वादित्याशयेनाह तस्येति । अभावादिति । एवंचाभावमात्रक्य ब्रह्सणि व्यभि${ }^{1}$ तादहानाइ才. 2 अल्यन्ताभावत्वेतर. $3^{3}$ करणधर्मे स्वर्रति.

मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितया साध्यस्यैत्र सत्वात्। न च अत्यन्ताभात्यस्यात्यन्ताभावे तत्प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वासिद्विरिति वाच्यम्; अभावेऽभावप्रतिगेगित्वस्य भावगताभावप्रतियोगित्वाविरोधित्वत् । प्रागभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि तत्र्रतियोगित्वस्य घटादौ सर्वसिद्धत्वात्। उपपादितं चैतत् मिथ्यात्वमिथ्यात्वे। अत्र चाव्याव्यवृत्तित्वानधिकरण शब्देन एकदेशावच्छेदेनाविद्यमानतंवं पक्षविशोषणं विवक्षितम्। एतेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभानप्रतियोगित्वे क्तै। बाधः, अवगनवृत्तित्वानधिकरणत्वोकौं घटादीनामपक्षत्वापतिरिरि दूषणद्वयमपास्तम्। अनात्मत्गहेतुस्तु जडत्वहेतुठ्याख्यानेनैन व्याख्यातः । अतएव नित्यद्रव्यान्यदव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्त-
चारित्वादाट्वत्वप्रतियागित्वं नियेपगनिति द्रष्टवयम्। मिथ्यात्वेन। ज़ार्नानवर्त्यत्वेन । अत्यन्ताभावश्रतियोगितय। । ₹्वाधिकरणन्रत्न निष्ठात्यन्ताभावप्रतियेगगितया। नन्वेनं विश्वन्य सत्यतापत्ति:, विरुद्ध-
 भाव इति। बोध्ये इति ओोष:। मिथ्यात्वासिद्धिरिति। निषेधस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियेगगिनि मिध्यात्वासिद्धिरित्यर्थः: । भावगतेति । प्रतियोगिगतेत्यर्थः। मिथ्यात्व इति। तत्र हि विरुद्धयोरेकमिथ्यातवेऽपरसत्यत्वं यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृ|त्ति न भवेदित्यादिमन्थे मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनपंर इत्यर्थः। एकदेशावच्छेदेनेति । दैशिकसम्बन्धावच्छिन्ना किक्चिदवच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य तदन्यत्वं विवक्षितमित्यर्थ: । घटादे: कपालाद्यवच्छेदेन कालवृत्तित्वादाद्यमवच्छिन्नान्तम् । बाध इति । उक्कप्रतियोगित्वाभाववति उक्तपतियोगित्वसाघने बाध इत्यर्थः। अपास्तमिति। न च कपाले अग्रे घटो न तु मूले, तन्तुषु दशान्यभागे पटो न तु दशास्विति प्रतीते: घटादें

पक्षतावच्छेदकवत्, केनलान्वग्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, नित्य्यव्यव्यदित्यपि साधु । हृ्टान्तथ्थायं पररीत्या। ख्वमते तु

दे ेशा'वच्छिन्नृृत्तिव्वस्य उक्तरूपम्य सत्वादयुक्तमेतदिति वाच्यम्; समझमिदं कपालद्द्रयम्. घटस्समघ:, एते तन्तवः, पटः कश्चिद्व्यन्त, कपालादेरंशो न घटाघन्य इति प्रतीव्या अवच्छिन्नवृत्तिकत्वामावसिद्वचोक्तपतीतेरसिद्द्रे:, कपा ख्याघ्याघेयत्वविषयकतया उक्तभतीतेर्मन्मते अ्रमत्वाच। न चैवमपि कपालादों स्वनागकालावच्छेदेन घटादिसमवायाभावादन्यकालावच्छेंनैनैव तस्समवायात् घटाद्बीनामपक्षतापत्तेत्तादव स्थ्यमिंत वाच्यम् ; पपश्चसत्वमते धंसंसागभावाभ्य्यदेव घटादिनाशकाले कपाल्लदौ घरादिकं नाम्तीति बुद्धशुपपत्ते:, तत्र तदत्यम्ताभावसत्त्वे भानामावात्, घटत्वावच्छिन्नव्यघिकरणध्यंसादिविषयकतवस्वीकारांदव घटादिमति किश्चिद्यटादिध्वंसादिकमादाय ताहशप्रतीयाप्रत्यभावात्। एतेन नष्टकपालादौ घटादि नान्तीiति धीरपि च्याइुयाता; प्रतियोगितासम्बन्धेनेव विऐोषणतासम्बन्धेन नृ्टकपालेडपि घटध्ंंससत्त्वसम्भवात्। अल्यम्ताभावानवगाहितत्पतीत्या घटादेरवच्छिन्नवृत्तिकत्वासिद्दी:। केवलान्नयीति। वृत्तिमदल्यन्ताभावाप्रतियोगीत्यर्थः। गगने परमतं साध्यैकल्यवारणाय बृत्तिमदिति। गगनादेः परमते स्वाभा'वाभावत्वस्वीकारे तु तन्न दंयम्। अधिछ्ठानचिच्चिपात्यन्ताभाबस्यात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात् तव्प्रतियोगित्वमनात्ममान्रेऽत्तीति बोध्यम्। पदार्थत्वादिति। बह्साविषयकविषयत्वांदत्यर्थ । न्रह्नाण उ्यभिचाराद्दिरे षणम् । स्वमते त्विति। एवमतं आकाशादेशृत्तिमत्त्वस्वीकारात् साध्यस्य तत्रोक्तानुमानात्वूर्वमसिद्धत्वात्स न हृष्तान्तः। तथाच नित्य-

[^97]शुक्तिरूप्यवदित्येन । न च स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽत्यन्तासच्वापातः, तद्वैलक्षण्यप्रयेजकाभावादिति वाच्यम्; उत्पर्तिनिवृत्योरन्यतरग्रतियोगित्वेन परिहारात् । आत्मत्तावच्छिन्नधर्मिको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, अत्माप्रतियोगित्तात्, शुक्तिरूव्यप्रतियोगिकभेदवत्। न च घटपटसंयोगे ठ्यभिचारः, हेतुमत्तया निर्णाते अङ्कुरादाशिव साध्यसन्देहस्यादोपत्वात् । एवमन्येडपि म्रयोगा यथोचितमाशचनीया विपश्यिड्रिरिति दिक् ।।

द्रव्यान्यदिति न देयमेवेति भावः । इत्येनेति। न च शुक्तिरूप्यात्यन्ताभावम्ग गुक्तचवच्छिन्नर्नचदात्म कतदाधिष्ठानरूपत्वात्तस्य च घटादावत्यन्ताभायप्रतीतेनेनके वलान्वयित्वमिति वाच्यम् ; अवच्छिन्नचितोऽधिष्ठानत्वेन शुद्धचिताऽड्यधिष्ठानत्वात् तक्यापि तदत्यन्ताभाववत्वेन उक्तसाध्यम्ग शुर्तिरूप्ये सत्त्वात् । शुक्तिरूप्यादेर्मूल्राविद्योपादानकत्वपक्षे उक्तभङ्काविरहाच। स्वरूपेणेति। उक्करूपेणेति ईाष:। तद्वंलक्षण्येति अत्यन्तासद्वैलक्षण्येत्यर्भः। परिहारात्। असद्वैलक्षण्यसिद्धे:, निवृत्ति. प्रतिगोगित्वमात्रस्यासद्द्वेलक्षण्य ${ }^{1}$ साधकतंव $^{2}$ भावाद्यैतमते पश्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेस्तद़सिद्धि: उत्पत्तिप्रतियोगित्वमनादौौ न तत्साधकम्। अतोडन्यतर्रविशेषः। आत्माप्रतियोगित्वादिति । न चाप्रतियोगित्वमात्रस्य ब्रक्मनिष्ठम्य साधकववसम्भवादाल्मेलि चयर्थमितिवाच्यम् ; श्रक्मणो दुइयाभावरूपत्वेन सप्रतियोगिकत्वात्। तन्मिथ्यात्वक्य पूर्वमसिद्धत्वाप्परं प्रति दृष्टान्तत्वासम्भवात् . ${ }^{2}$ स्वनिष्ठप्रतियोगित्वानिरूपकर्वपम्बन्धेन आत्मन एव हेतुत्वे तात्पर्यसम्भवाच। अदोषत्वादिति। साधयाभाववत्वांशे संशयात्मकठ्यमिचारज्ञानस्य ठ्याप्तिर्षीविरोधित्वे सन्दिग्धसाध्यपक्ष-

# हेतवोऽभीष्टसिद्धणर्थ सम्यग्नो बहवश्य नः। अल्पाः परस्य दुष्टश्येत्यत्र स्पष्पुद्दीरितम् ।। अभीष्टसिद्वावनुक्रूलतकबलाबलं चात्र परीक्ष्य यतात् । प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयन्तु मनाऽध्धुनैव।।  

## अथ विश्वमिथ्यत्वस्यागमबाधोद्वारः.

नन्वस्तु शब्द्वाधः, तथाहि - "विश्वं सत्यं, यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं, याथातथ्यतोरर्थान् ठ्यदधान्छाश्वतीम्यस्समाभ्यः " इत्यादिश्रुतिभिः, असत्यमप्रतिष्टें ते जगदाहुरनीश्वरम्' इ्यादिस्मृतिभिः, 'नाभाव उपतन्धेः, वैधर्मांच न स्वादिवत्' इत्यादिस्तन्तैश्य विश्वस्य सत्यत्वप्रतिपादनादिति चेन्न; भ्रुतेस्तत्परत्वाभावात्। तथा हि, "विश्वं सत्यम्मघवाना युवोरिदापश्न न प्रमिणन्ति वरतं वाम्। अच्छेन्द्रा बह्सणस्पती हविर्नो अन्न युजेव वाजिना जिगातम्" इति ऋक्संहिताद्दिती-

कानुमानमात्रलोपापत्ते: नवैयैपि ठ्यात्विगाहकाभावसहकृतम्यैव ताहृदासंशयस्य तद्विरोधिव्वस्वीकारात् प्रकृते चानुकूलतर्काणां भूयसां वक्ष्यभाणत्वात् न स विरोधीति भावः॥

तैंक्स्सारस्वतै रलैभ्धन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्चन्तभज़ाय विशेषा सल्यतानुमा॥
इति किसमिभ्यांव्वे विशेषतोनुमानानि.
जगदाहुरिति । सत्यमिन्नं-जगदिति मतमायुत्वेनोक्कम।

याष्टकवाक्यस्यायमर्थः-हे इन्द्रान्नह्मणस्पती! मघवाना मघवानौ मधमिति धननाम, धननन्तौ मखवन्ताविति वा, विश्षं सर्व सत्यं कर्म मन्नूतत्वात् फलस्सावइयं भावित्वाद्वा, ताद्टरां कर्म युवोरित् युत्योः इत् इत्थमतधारणे वा । युतामेवोद्दिइय सर्वाणि कर्माणि अनुष्टेयानीत्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, चनेत्येतत्पद्वद्वयसमुदायः, ऐकपद्यन्त्वध्यापकसक्श्रदायसिद्दम् । वां गुवयोर्त्रतं सङ्कल्पं कर्म वा न प्रमिणन्ति न हिंसन्ति। 'मीङ् हिंसायाम्' कैग्यादिकः । किन्त्तन्नुमोदन्त इति यावत्, नोऽस्मांकं हविर्द्य्यदिकमनं च पुरेडाशा।दिकं च अच्छ अभिलक्ष्य वाजिना वेगवन्तावश्वाविव युजा युक्तौ सन्तौ जिगातं देवयजनमागच्छतम् । (जिगातिर्गतिकर्मा, जौहोत्यादिकः) अन्मं घासं प्रति अश्वानिवेयि चा। यद्वा हे इन्द्रानह्मणस्पती! विश्वं सत्त्वेन अतो जगत्सत्यमिति शिष्टमतमित्यंभमानः। कर्म सद्भूतत्वादिति । "यो वै धर्मस्सत्यं वै तत्तम्माद्धर्में वदन्तमाहुम्सत्यं वदति" इति श्रुतौ धर्मस्य सत्यराबद्वार्थत्वोक्तेः "ऋतं विचन्तौ" इत्यादिश्रुतौ सत्यशब्दसमानार्थऋतशठदेन कमफलमात्रोंक्तेश्र सत्यशब्देन पकृते धर्मरूपं कर्मोक्तम्। सतो ब्रह्मणा भव इति व्युत्पत्तरिति भावः। अद्वैतश्रुतेरिव विश्वं सत्यमित्यादिश्रुतेरपि स्वार्धतत्पर्ययाहकमक्ति । "अपश्ष न प्रमिणन्ति’’ इत्यम्य वाक्यझोषस्य ठ्यापनशीला देवा अपि प्रमाविषयाकुर्वन्तीत्यर्थकत्वेन विश्वसत्यतायाः प्रमाविषयत्वरूपोपपत्तिबो त्रकत्वादिति पश्चात्परो वक्ष्यति, तदपि निरवकाशामित्याइयेन चनेत्येतत्पदद्वयतया ठ्याचष्टे —चनलत्येतदिति । यतु चनशब्दस्याखण्डस्यान्ययेषु पाठादेकपदत्वेन माधर्वयभाष्ये वाक्यान्तरे क्यारयातत्वात्, "नेह नानास्ति किश्चिन" इत्यादौ व्वयापि तथा ₹वीकाराच, पदद्धयत्वेन व्याखूया न युत्तेति, ततुच्छम् ; कचिदेकपदत्वेन व्याखुयातत्वेऽपि सर्वत्र

परिद्धइयमानं जगत्, युवयेरित् युवयोरेव युवाभ्यामेव सृष्टम् । अथवा-युवयोरेव विश्वं सर्व स्तोत्रं सत्यं यथार्थम्। यद्यत्रुणजातं स्तुत्या प्रतिपाद्ये तन्सर्न्र युवयोर्विद्यमानमेव न त्वारोपितमित्यर्थः। आपो ठ्यापनशीला देवताः, अनुपलक्षितानि पश्रभूतानि वा। युवयोर्वतं जगदुत्पादनाख्यं कर्म न हिंसन्ति इत्थं महानुभार्वँ युवां जिगातम्। रोषं पूर्तवव्याख्येयम्। तथाच स्तुतिपरतया नास्य विश्वसत्यत्वे तात्पर्गम् । 'शाक्मना शाको अरुणस्सूवर्ण आयो महररूरस्सनादनीलः। यांचिकेत सत्यमित्तस्र मोधं वसु स्पर्हमुत जतेतात दाता' इत्यस्साप्यश्टमाप्टकस्थस्येन्द्रस्तुतिपरतया न विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्। तथाहि - शाक्मना शाक्कैन शाक्मा तेन शाक्मना बलेन । शाकः शक्तः, खशक्तयैव सर्व कर्तुं राक्त इत्यर्थः। न हीन्द्रस्य सहायान्तऱपेक्षाउस्ति, इन्द्रत्वादेव । अरुणः अरुणवर्णः कश्चिच्छोभनवर्णः पक्षी तथा व्याख्याने मानामावात्। पदद्वयत्वेन व्याख्यातयोरपि बहुस्थलेष्वध्ययनसम्पदायसिद्यम्यैकपदम्य दर्शनात्। तथाहि- द्वितीयाप्टकपथमाध्यायीयैंकादशवर्वीयायां पहचां चतुर्थ्यामृचि "ददाति मझं यादुरि" इल्यन्र यादुऱत्यस्याध्ययनसम्पदाायसिद्दे एकपघेडपि दुरी आदखवती या मझ्षेन्ददातीति पदभेदेनेन माधर्वीयभाष्ये ठ्यारुयातम्। एवं-न हि देदो न मत्यों महम्तव कहुं परः। मरुद्विरम आगहि " इल्यादौ ऐकवघेनाषीययमनँन्स्यापि नहील्यादर्नेवेति पदमेंदेन व्याख्यातम्। वामनसूक्त सलिलमिल्यस्यैकपघेन पठ्यमानानामपि Чकारलिकारलकाराणां परमात्मजीवतदैक्यपरतया पदमेदेन श्रुत्यन्तर्रमाणोपन्यासपूर्वकं ठ्याएल्यानं माधवीयभाण्ये कृतम् । "अरुणो मासकृद्वक" इल्यत्र अरुणो मा इल्यस्य पृथक्वदत्वेन पद्यमानस्यापि मासकृदिलेये पदल्वेन निरुक्तकारैव्व्यास्यातम् : न त्वारोपितामिति । न प्रातीतिकमिल्यर्थः।

आगच्छतीत्यध्याहारः ; उपसर्गश्रुतेः। यो महो महान्, रूरो विक्रान्तः सनात्पुराणः अनीलोडनीड:, नीडस्यक्रत्वा। न हीन्द्रोः अग्रिवत्कुत्रचिद्पि यक्ञे वृक्षे निकेतनं करोति । एवं सुपर्ण इत्यादिरूपकेण इन्द्रमाह। स इन्द्र इदमिदानीं कर्तव्यमिति यचिकेत जानाति तत्सत्यमित्सत्यमेव। न मोधं न व्यर्थम्। स स्पाहै स्पृहणीयं वसु निवासार्ह धनं जता जयति रात्रुम्यस्सकाशात्। उत अणि दाता ददाति च स्तोतृभ्यः। जेता दातेति तुजन्तेन 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिपेधः। एवमेवन्यद्वि सत्यत्वप्रतिपादक्मुঞ्षेयम् । 'याथातथ्यतोडर्थान् क्यदधात्' इत्यपि वाक्यं न प्रपश्वसत्यत्ते प्रमाणम्। तस्य पूर्वसृष्टप्रकारेण सर्जन-

## आगच्छतीति। न चाभिव्याम्तयर्थकत्वसम्भवाद्ध्याहदारो न युक्त इति

 वाच्यम् ; अमिव्यापेत् कर्मालाभेन साकाङ्क्षतापत्तेः। न च यचिकेत तदमिष्याप्य तत्सत्यमेव जेयें सर्वमित्यर्थ इति वाच्यम् ; यद्योगप्राथम्यबलादेरामिग्याप्तिलाभात् "न तज्ञलं यन्न सुचारुपष्क्जम्" इत्यादिवदाङ्यगढद̣ानपेक्नणन्। स्पाहै वसु अभि亏्याप्य जेता दातेत्यर्थस्तु न सम्भवति, आसत्र्यभावात् । याथातथयतोऽर्थान्व्यद्धादिति । यद्यपि "याथातथ्यतोऽर्थान्" इतीशावास्योपनिषदि पठ्यते, दूष्यपरग्नन्थेऽपि तथैव पाठो हइयते, तथापि श्रुत्यन्तरस्थयथातथार्थानित्याएदिकमेवाविशेषादु़ीतम्। पूर्वसृपेति । ननु "यथार्थ तु यथातथम्" इत्यक्ययवर्गेडमरोक्तेर्याथतथ्यझाब्दस्य स्वार्थिकतद्धितन्तन्य सत्यार्थकत्वमेवोचितभिति चेत्, न; तथ्यशाब्दस्यपि ${ }^{1} स त ् य ा र ् थ क त ् व े न ~ य ा ध े त ् य स ् य ~$ त्वन्मते वैयर्थ्यापवत्तिः ;" "काविर्मनीषी परिभूष्स्वयंभू:" इति पूर्वभाग ₹थकठ्यादिपदानां कान्तदार्शित्वादिवि शिष्टरूपार्थानां त्वन्मते वाक्यार्था-नुपयोगात्। मन्मते तु-यतः कान्तमतीतं सर्वे दृष्टवान्, यतश्र मनीषी मनसा देष्टे ऊहापोहकुशाल:, यतःः पूर्वस्स्टविरुद्धमिच्छतामसुराणां परिभवसमर्थः, यतश्य स्वयमन्यनैरपक्ष्येण पूर्वसृष्टपकारेण जगद्भावनसमर्थः, ततो हेतोर्याथातथ्येन पूर्वे यथा तथा व्यदधादित्यर्थ उपपद्येततराम् । वस्तुतो न पत्ययन्च्वार्थो वैयर्थ्यात्, किन्तु यथातथाइाबदन्य गादृशतादृशार्थकतया तद्भावार्थकः, पश्चम्यर्थस्तसिश्व ब्यठलोपे, तथाच गाहृश तादृईाभावं प्रतिसन्धाय ठयद्धादित्यर्थः त्वन्मते तु प्रत्ययोऽपि व्यर्थ । यथातथार्थनित्यादिवाक्येडपि त्वन्मते यथाशबद्दो व्यर्थः, तथाशब्दम्यापि सत्यार्थकत्वात्। अतएव तथागतशब्दғ्य बौद्धबोधकम्य सत्यज्ञानार्थकत्वममरटीकादावुक्तम्। 'धाता यथामूर्वमकष्पयत्’ इति श्रुत्येकवाक्यतया मदीयार्थ एव युक्तः। किश्च यथाशब्दन्य योग्यतावीव्सासादृईग्यदार्थानतिवृत्त्यर्थकत्वेन शाबिदकोक्तत्वात् प्रकृते च अनतिकमरूपपदार्थानतिवृत्च्यर्थकत्वसम्भवात् त्वन्मतरीत्या तादात्म्येन तथा अनति'कमोक्कौ तथ्यतोऽर्थानित्यनेनैव विवक्षितार्थसिद्धया यथेत्यस्य वैयर्थ्यात् । उपादानतया ${ }^{2}$ तथ्यानतिक्रमेक्तया सत्योपादानकान्सर्वानर्थान्त् ठ्यदधादित्यर्थलाभेन उपादानसत्यत्वाजगत्सत्यं भाति न तु वस्तुतस्सत्यमिति श्रुतितात्पर्यलाभात्वन्मतविरुद्धमेवेदं वाक्यभित्याशयेनाह—— जगत्सत्यत्वमिति। न च वबन्मतेऽपि तथ्यत इत्यनैनैव तथ्यहेतुलाभसम्भवेन याथेते ठ्यर्थमिति वाच्यम्; निमित्तहहतुणन। नम्र|न्निनिरiथांग कार्यतादात्म्याश्रयहेतुलाभार्थकत्वेन तद्वैयर्थ्यात्। यत्तु परिभावयतीति परिभूरिति ठ्याख्यानं, ततपरिभवतेस्सकर्मकत्वाज्ञानात्। सकर्मकरवं तु स्पष्टम्।' परिभूतस्स नागरैः' इत्यादि-

$$
1 \text { तथ्यानति. } \quad 2 \text { उपादानयाथा. }
$$

यत्र च स्तुत्यादिपरत्वं नास्ति, तत्रापि प्रत्यक्षसिद्धानुतादकतया ' अम्गिर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिवाक्यवन्न तत्परत्वम्। न च त्वन्मते सर्वत्र श्नसन्चस्यैंव स्फ्ररणात्तदतिरिक्तस्य कालत्रयाबाध्यत्वरूपस्य घटादिसच्चस्ग प्रत्यक्षेणाप्रापेस्तद्रोधकत्वेन श्रुतेर्नानुवादकत्वमिति वाच्यम् ; इतरसच्ववाधपुरस्सरत्वाद्बह्हसच्चस्फुरणाम्युपगमस्य तत्रैन सत्यादिपदप्रवृत्तिस्तीकारेण तदातिरिक्तविश्वसत्यत्वस्य शाब्दबोधाविपयत्वात्तदादायानुवादकत्वापरिहाहारात्। अथ ' पृथिवी इतरभिन्ना, न हिंस्यात्सर्वा भूतानी' त्यादौौ घटादावेकदेशे प्रत्यक्षेण, श्राह्मणादावेकदेशे वाक्यान्तरेण, विधेयसिद्वावपि सर्वत्रासिद्धत्वाद्यथा नानुवादकत्वं, तथा विश्षमात्रसत्यत्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वान्नातुवादकत्वमिति मन्यसे, मैचम् ; दृृान्ते हि पृथिवीत्वं हिंसात्वं चैकोडनुगतो धर्भ इति

प्रयोगात्। ननूक्तवाक्येषु स्तुत्यादिपरत्वेडपि विक्षसत्यताया देवताधिकरणन्यायेन सिद्धिर्नु, वाध्यान्तरस्य च विक्षसल्यताबोधकस्य स्ठुत्यादिपरत्वाभावस्य सम्भावितत्वात्तस्सिद्यिरस्ठ, तत्राह—यत्र चेति । त习्रापीत्यपिना उक्तवाक्येप्विति समुच्चीयते । अनुवादकतयेत्युपरक्षणम । अद्दैन ${ }^{1}$ श्रुत्यनुमानादिविरहद्धार्थकतयेत्यपि बोध्यम् । तत्परत्वमिति । तत्पमापकत्वमित्यर्थः। मानान्तरेण प्रासे बाधिते चान्यपरस्वस्य देवताधिकरणंनापि प्रमापक ${ }^{2}$ व्वान्यवस्थापनात्, अप्राप्त एव च श्रुतितात्पर्यान्न तस्सिद्धिरिति भावः। एतेन यद्वपाशकृतजगदनुवादेन न सल्यत्वविधिस्सम्भवति, अनुमनन ${ }^{3} म ा त ् र े ण ~ ज ग त ~ ई ई श क ृ त ् व ा-~$ सिद्युचाडनुवादायोगातात्यापि विधाने वाक्यमेदापात्तिः ; तथापि देवताधिकरणन्यायात्सत्यकामादिवाक्यास्सत्यस्वविशिंश्छास्येव य|चिकेतेत्यादि-

[^98]तदवच्छेदेन विधेयस्याप्राप्तत्वेन तत्र नानुनादकत्वं युक्तम्, इह तु विश्वत्नन्नाम नैको धर्मोस्ति। किन्तु विश्वराब्दस्सर्वनामत्वात्तेन तेन रूपेण घटपटादीनामुपस्थापकः। तेषु च प्रत्येंकं सत्त्ंं

वाक्येडपि सत्यत्वविशेशिष्टजगत्महृत्त्वस्यंझे सिद्विरित्यपासतम्। सर्वनामत्वादिति। ${ }^{1}$ बुद्धिविषयविशिष्टसर्वशक्तत्वदित्यर्थः । तथाच यथा तथादेबुद्धिविषयविशिष्ट। भवजनकत्वम्, अन्यथा तेन रूपेण संशयनिवृत्त्याद्यनुपपत्ते, तथा
 वृत्तिधर्मणकारेण बोधकत्वमित्यपास्तम्। यथ। हि सर्वशब्दस्य पुत्रत्वपशुत्वादिविशाषरूपण बोधकर्वम्, अतएव सेन्यो दर्जायूर्ण.न 1 बित्यादिना ताट्टशरूपावच्छिन्नसाधनताओधनात्ताहृशरूपॅणैव कामनया दर्शपूर्णमासानुष्ठानं, विधिबाध्यतावच्छेदकरूपंणैव हि कामनयाडनुष्ठितं कर्म फलाय भवति । अत एव येनयेन रूपेण पुत्रत्वादिना कर्मान्तरफलमुपदिष्टम्, तेनतेन रूपणैवोपहितं दर्शापूर्णमासयो: फलम् न त्वन्यरूपेणेति सिद्धान्तः । यत्तु—ंहिंसात्वावच्छेदेन न किश्चिद्विधीयते किन्तु भूतेषु हिंसाभाव इति हिंसात्वानुगमेाक्तिर्गर्थर्था इति, तत्तुच्छम् ; पृथिवीत्वावच्छेदेन इतरभिन्नत्वस्येव भूतर्तिंसात्वावच्छेदेन बलुवदनिष्टसाधनत्वम्याप्राप्तत्वेन विधेयत्वात्। भूतेषु हिंसाभावो विधीयत इति तु स्वमैढ्यमकटनम्, अज्ञातज्ञाव्यत्वरूपाविधेगत्वस्य भूतहिंसानिम्ठे बलवदनिष्टसाधनत्व एव वाच्यत्वात्, भूतनिष्ठक्य हरंसाभावस्य मानान्तरज्ञातत्वात्, भूतोद्देशोन हिंसाभावविधायकत्वस्योक्रवाक्ये केनाप्यस्वीकाराच्च। तेषु च प्रत्येकमिति। न च प्रत्यक्षेण घटादिषु घटत्वादिना सत्त्वे गृहींतेऽपि परमाण्वादौ तत्ष्वेन सत्त्व न गृहीतमित्यगृहीत-

गुछातमेवेति कथं नानुवादकत्वम्, प्रकारबैलक्ष्षण्याभावात्। न चैकशाखास्थविधिवाक्यैकार्थशाखान्तरस्थविधिवाक्यस्य पुरुषान्तरं प्रतीव येन पुंसा वादिशिप्रतिपच्यादिना घटादिसत्ता प्रत्यक्षेण न निर्णीता तं प्रत्यर्थवत्वेन नानुवादकत्वमिति वाच्यम्;
भाहिव्वान्नानुवादकस्वमिति वाच्यम् ; घटत्वादवच्छेदेने प्रत्यक्षाभासस्येव परमाणुत्वायवच्छेदेन लिज्ञाभासादेस्सत्व्वप्राहकव्वात्। न हि परमाण्वादि सदिति लोको न जानाति। मन्मते सर्वपस्सयेये इति मण्डनोक्ते: 'अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातरक्षणः । अक्ष्वादीनाम्' इति वार्तिकोक्तेश्च धीमान्रस्य स्वविषयन्रक्ससत्र्वावगाहित्वस्वीकाराच। एकशाखास्थेति। एकवेदीयैंकशाखास्थेत्यर्थः। एकार्थेति। समानार्थेत्यर्थः। एकवेदीयायासु 'नानाशाखासु पठ्यमानानां ‘अमिहोत्रं जुहोति’ इल्यादानां समानार्थकवाक्यानां पुरुकेदें प्रति प्रवृत्तव्वा्यथा नानुवादकता, तथा विधसस्व्वग्राहकयोः प्रत्यक्षश्रुलोरोत्यर्थः । पुनःश्रुतिरुपाग्यासाददिमेइशाखाभेदेनोन्कानां कर्मणां भेद इति प्राप्षे, अम्यासादनिं स्ववाक्योक्तकर्मपर्ववमात्रज्ञापकत्वाद्विहितविधानायोगादेव कर्मेंदकत्वम् । भिन्नशाखास्थवाक्यानां तु स्वस्वाध्येतृपुरान्प्पति एकस्पैव कर्मणोऽज्ञातज्ञाव्यत्वरूपविघेयत्वसम्मवान्न तहोध्यकर्ममेद् ${ }^{1}$ । एकवेदस्था एका शाखा अध्येतन्येति हि शासार्थः। 'अध्वर्यु बृर्णाते' इत्यादावेकत्वस्येव 'स्वध्यायोडध्येतव्यः' इत्यादावपि स्वीयत्तैकत्वयोर्विनियोगदशायां विवक्षितत्वात्। 'वेदानघीत्य वैदौ वा' इति बचनानुरोधेन वेदान्तरस्थशाखान्तराध्ययनस्यापि शास्रार्थत्वादेकवेदस्थत्वनिवेकेः। अत एव बेदमेदेदेपि पुरुषाभेदादेकत्रैव वाक्ये कमोत्पतितिपर्र गुणादर्थ श्रवणम्। अतएव च एकस्मिन्कर्माण विरद्धानामझानां नानाशाखागतानां विकल्प:। स च तत्तुरुषमेदेन न ठ्यवास्थित:, तेषां प्रकरणा-

[^99]एवं सत्यनुवादस्थलसैयाभावप्रसঋ्भत्। न च सर्वाविवादस्थलमेबोदाहरणम्, सर्वाविवादस्य निश्यतुमशाक्यत्वात्। पुरोवादपूर्वकत्वादनुवादस्यात्रायं पुरोवाद इत्यसैयाभावान्न शाखान्तरस्थवाक्यानुतादकत्वग्रसङ्:ः । यत्तु—वृहदारण्यकभाष्ये देहभिन्मात्मबोधिकाया 'अस्तीत्येवोपलब्धण्य' इत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशाङ्य चादिविप्रतिपत्तिद्रानादित्यादिना तत्परिहुतम्। तथाच प्रत्यक्षसिद्धसत्वग्राहकत्वेऽपि चादिविप्रतिपतिनिरासार्थकत्वेन नानुवादकत्वं प्रकुतेऽपीत्युक्तम्; तद्युक्तम्; भाष्यार्थानवबोधात्। तथाहि तत्र वादिविप्रतिपत्तिदर्शानेन देह-
दिना शुद्धकत्रर्थत्वावगत्य।डध्येतृतत्तत्पुरुषार्थत्वाभावात् । अविरुद्धानां तु समुच्चयः। 'बह्लल्वं वा स्वशाखोक्त ग्राह्यम्' इत्यादिकं चानुकल्पविधानार्थमिति द्वितायस्यान्त्याधिकरणे स्थितम्। सर्वाविवादस्येति । न च ‘अग्निर्हिमस्य भेषजंम्, अस्यामोषधयो जायन्ते’ इत्यादिवाक्यार्थे सर्वाविनाद इति वाच्यम् ; अझ्मर्हिमनिवृत्तिजनकत्वरूपे वाक्यार्थे स्वभाववादयद्चच्छावादयोर्विवादात्, अवयन्यनङीकारमते ओषधिरूपस्थूलद्रव्योत्पत्तिरूपेऽर्थेडपि विवादाच्च । अत्रायं पुरोवाद इत्यस्येति । अत्र तद्वेदी|यैकशाखाध्येतृपुरुष अयममिहांत्रं जुह्होतीत्यादितद्वेदीयशाखान्तरीयो वादो वाक्यं पुरः पूर्वमामिहोत्रादेरज्ञातस्य ज्ञापक इत्यस्यार्थझयेत्यर्थ:। यदि हि तद्वेदीयैकराखावाक्यं तद्वेदीय शाखान्तरवाक्याध्येतारं प्रति ज्ञापकं स्यात्, तदा ज्ञातज्ञापकत्वेनानुवादकं ₹यात्। न चैवमस्तीति भावः। यत्तु-" वेददृष्टृप्रथमव्यक्तचेक्ष्षया पुरोवाद्रश्य सम्भवात् सादिप्रत्यक्षस्यानादिवेदापेक्षया पुरोवादत्वासम्भवाच प्रतिपत्तृं्यवसथया नानुवादकत्वं युक्तम्'" इति, तन्न युक्तम् ; प्रथमं वेदद्रप्टारं प्रति तद्वेदीयशाखान्तरवाक्यझ्यानुवादक्त्ववत्सत्ववपत्यक्षवन्तं प्रति सत्त्वश्रुतेरनुवादकत्वानपायात्, प्रत्यक्षस्याप्यनादित्वेन वेदात्पुरोवादत्वसम्भवात्;

व्यंतिरिक्तल्वेनातमनः प्रत्यक्ष्तैव नास्ति | अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनश्थार्वकादेस्तत्र विप्रतिपतिने स्यादित्युक्तम् । न तु वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनास्तीत्यदिस्सार्थकत्वमननुवादकत्वं का। तथाचोकं तन्रैव 'तस्माअन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारविशोषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तत' इति। ननु चातुर्मास्यम‘्यपर्वणो: 'द्वयोः प्रणयन्ति' इति वाक्यस्य अन्गथा अमिर्हिमस्य भेषजमित्यादेरप्यनुवादत्वासम्भवात्। चार्वाकादेरिति। न चैंं सत्त्वेन विध्वस्य प्रत्यक्षतापि नास्ति, अन्यथा तत्रावयोर्विवादों न स्यादिति वाच्यम् ; विश्वसच्व्वयोस्सम्बन्धे हि नावयोर्विवादः, त्वया सत्यस्य मया मिध्याभूतस्य तस्याझीकारात्, अधिष्ठानसत्तासम्बन्धो मिथ्या जायते जगतीति मया स्वीकारात्। प्रवर्तत इति। प्रमापयतीत्यर्थः। चातुर्मास्यमध्यपर्वणोरिति। वैश्वद्वदं वरुणप्रघासाः साकमेधःः डुनासीरीयं चेति पर्वचतुष्टयात्मकम्य चातुर्मास्यारूयकर्मणो मध्यपर्वणोरित्यर्थः । चातुर्मास्यप्रकरणे-‘ द्वयोः प्रणयन्ति तस्मात् द्वाभ्योमेति, ऊरू वा एतौ यज्ञास्य यद्वरुणप्रघासाश्व साकमेधाश्ध ' इति श्रुतम्। तत्र सधर्मकं सौमिकं प्रणयनमुत प्राकृतमधर्मकमिति संशये प्राकृतम्य चोदकपापत्वेन वाक्यसार्थक्याय सौमिकं तदत्र विधीयते। अतएव तत्रोत्तरवेदेस्सत्त्वेन तत्रापौ 'न वैश्वदेदे उत्तरवोदिमुम्रु पयन्ति न जुनारसीरीये' इति तत्पर्युदासस्सक्भच्छते। तेन तयोरुत्तरवेदिमिन्नास्सौमिकप्रणयनधर्मा कार्याः। यत्तु 'उपात्र वपन्ति' इ्युत्तुत्वरेदेरुपप्तिवाक्यम्, यच उत्तरवेद्यामम्मिं निद्धाति' इति तस्या विनियोगवाक्यम्, तन्मध्यमयेः पर्वणोः प्राकृतप्रणयनकाल एवोत्तरवेदिमात्रविधायकमिति प्रापे, प्रकृतिवच्छब्देनोपास्थितत्वात्प्राकृतमेव प्रणयनमत्रातिदेशप्रवृत्ते: पूर्व विधीयते अनूद्यते वा। ननु तत्र किं प्रयोजनम् ? नेतरयोः पर्वणो:

[^100] नाव्यर्थवादत्वेन स्तुतिधीः ${ }^{1}$, विध्यन्तराभावादिति चेदुच्यते— डत्तरबेदिरुपगुणप्राप्तिः प्रयोजनम्। एतद्धाक्याभावे हि पर्वचतुष्टयेडपि प्राकृतप्रणयनम्राप्तया देशापेक्षायामुत्तरवेदिविधानं चतुष्ट्येडरी स्यात्। एतद्वाक्यसत्त्वे तु पर्वद्वयीयप्रणयनस्यैव विशिष्योपदेशेनोपस्थितत्वातत्रैवोतरवेदे $\ddagger$ तदीयामिनिनिषानमेव च द्वारं सिध्यति। अत इतरपर्वणोरुचरवेदिपारिसङ्ध्वैैव प्रयोजनामिति। अथ तद्वाक्यक्य प्रथमेत्तमे मध्यमे वा पर्वणी विषय इति संशाये ${ }^{2}$ मधयमविषयकत्वे तन्र्रोत्तरवेदिप्राप्तेः प्रथमोत्तमयोस्तर्पर्युदासानुपपत्ते: प्रथमोत्तमे निषयस्ततश्ध त"त्र्न प्राप्ताया उत्तरवेदे सतत्रैन्व निषेधाद्विकल्पः। द्वाम्य्येमीतीय्याद्यर्थवादस्तु लक्षणया प्रथमोत्तमपर इति प्राप्तौ, लक्षणाविकल्पयोरन्याय्यत्वान्मध्यम एव तद्विषगः। ततश्र प्रथमोत्तमयोरुत्तरवेद्यप्राप्तया तयोस्तन्निषेधो नित्यानुवादः । तत्प्रयोजनं चोपात्रवपन्तीत्यादेर्वरुणप्रघासावान्तरप्रकरणबाधः। तद्वाधाभावे हि तदवान्तरपकरणपठिताया उत्तरवेदेस्तन्मात्राङल्वप्रसक्तया त्रिषु पर्वसु निषेधो नित्यानुवादस्स्यान्न द्वयोः। तहूलात्तु अवान्तरप्रकरणबाधान्महाप्रकरणेन सर्वपर्वाइत्वप्रसक्तौ मध्यमयोरुत्तवेद्युपसंहारों युज्यते । न चैवं प्रथमोत्तमयोः पर्युदासेनावान्तरर्रकरणबाध इवोत्तरवेद्युत्पत्तिविनियोगविध्यार्मध्यममात्रविषयत्वमपि सिध्यतीति द्वयोः प्रणयन्तीति व्यर्थमिति वाच्यम् ; उत्तरवेद्याममिं निदधातीत्यनेन हि उत्तरवेदेर्विधिर्न निधानानुवादेन ; निघानमात्रे तत्राप्तयापत्तेः। नाम्मिनिषानानुवांदेन, विशिष्टोद्देशासम्भवात्। नामिमात्रानुवादेन. गाईपत्यादावपि उत्तरवेद्यापत्तः। किन्तु अतिदेशेशप्रवृत्तेः पूर्वमुतरवेदिविशिष्टं पाकृतानिधानमेवामयुद्देशेन विर्धीयते। उत्तरवेदिपाप्रिमात्रं त्फलम्। अतश्रौपदेशिकप्रणयनविध्यभावे प्रणीतामिनििधान इव कपालतापाद्यर्थाम्मैंनिधाने डापे-
$$
{ }^{1} \text { स्तुतिः. }{ }^{2} \text { इति विषयसंशये. }{ }^{3} \text { कपाले होमार्थमलि. }
$$

## चोदकग्राप्ताग्रिप्रणयनव्यतिरिक्ताग्निप्रणयनविधायकत्ववत् प्रत्य-

तदापचिः। औपदेशिकपणयनाविधिसत्चे नु तस्यैन पुरस्मूर्तिकस्य देशापेक्षायामातितेदेशिकविषित पूर्वमुत्रवेदेदिरूपेश्रेविधानान्न तावाद्धर्थामिं ${ }^{1}$ निधाने उत्तरवेघ्यापत्तिः। अत एवौपदेशिक्रणयनविषिसत्त्वेऽपीतरपर्वणोरातिदे़िशिकपणयने उत्तरवेदिस्स्यादित्यपास्तम्। औपदेश्रिकपणयनस्य पुरस्फफर्या तंत्रैवोतररेद्विविधानाददिति वार्तिकोकदूषण्यागेन भाष्गानुसारी पन्थाः। वार्तिकानुसारी तु—प्राकृतं सौमिकं वा प्रणयनमिति पार्ते, न सौमिकम् , अनुपस्धितव्वात् ; नापि प्राकृतम्, तस्याहवनीयोत्वादकत्वेन आहवनीयापाइएनकत्वासम्भवात्। 'आह्वनर्गयाट्दूवर्मी प्रणयतोऽध्नर्युश्न प्रतिप्रस्थाता च' इति शाखान्तरवचने प्रकृत्रयणनोत्ररमहृतनीयापादानकपंणयनान्तरविघि:वावगतेः, साकमेघेडापि बोधायनादिक इपसूत्रानुसारेण ताहईपपणयनान्तरविध्यवगतेः, ताभ्यामेकवाक्यत्य 'द्ययोः प्रणयन्ति' इस्यस्यापि ताह्द्राप्रणयनविधायकत्वनिश्वयेन प्राक्छनपणयनार्थिकत्वानुपपतेतः । तस्मादपाकृतमपूर्व प्रणयनमत्र विषीयमानें द्वाम्यामिल्याघर्थवादान्मध्यमयोरेव तस्य चापेक्षितो देश उनखेदिएक्त ${ }^{2}$ वाक्याभ्यामुत्पत्तिविनियोगाभ्यां विधीयत द्रति तयोरपि मध्यमविषयत्वमेव। एवंच प्रथमोत्तमयोंत्तत्रतिषेषो नित्यानुवादो भाष्यमत इवावान्तरपकरणवाधार्थ:। याज्ञिकास्तु पगुक्धन्वत् सौमिकानेव धर्माननुतिघन्ति, उत्तरवेद्दिपरिमाणमात्रं शाम्यामात्रमौपदोशिकं कुर्वन्ति। तन्मते प्रणयन्तीति बहुवचनमाप ज्रह्महोत्र|दिसत्त्वादुपपद्यत इति सर्वमेतस्स्तमतृतीये स्थितम्। एवंच वार्तिकोक्तिमशश्रित्याह - प्रणयनविधायकत्ववदिति । नेह नानेल्यादिश्रुल्या साक्षिस्वरूपे तदन्यसर्वनिबेषेन विध्वसत्व्वयोस्सम्बन्धस्यापि निषघाद्विध्वसत्वश्रुतेर्न त्रिकालनिषेघाप्रतियोगित्वंम्, तात्विकसत्वसम्बन्धो वा विश्वस्मिन्विषय इल्याझये-

[^101]क्षप्राप्तन्यावहारिकसत्दविलक्षणत्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वरूपस च्वप्रमापकत्वं प्रकुतेउस्त्विति चेन्न ; त्रैकालिकसत्त्वनिषेधकभ्नुतिविरोधेन विश्वसत्यत्वश्रुतेः त्रैकालिकसच्वपरत्वाभावात्। न च वैपरीत्येमव किंन स्यात् विनिगमकाभावादिति चाच्यम् ; तात्पर्यान्यथानुपपात्तिगतिसामान्यानामेव विनिगमकत्वात् । अद्देतश्रुतिहिं षड्रिधतात्पर्यलिङ्बोपेता। तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिद्यम् प्रामाण्यशररिघटकमर्थनिष्ठमज्ञातत्वं, अवाधितत्वं, प्रयोजन-नाह-न त्रैकालिकेति। त्रैकालिको यस्सत्वन्विषघस्व्वसमानाधिकरणात्यन्तामावप्रतियोगित्वं तद्वोधकनेहनानेल्यादिश्रुतिविशोधेनेत्यर्थ: । तात्पर्येति। तात्पर्ययाहकत्रिख्यवट्केत्यर्थः। अन्यथानुपपतिश्य वक्ष्यमाणा। गतिसामान्यमह्दैतावगतिरूपकार्येण सबेवेषां वेदान्तानां समानल्बं, षणणां टिन्नानां पश्च स्वसामम्भीबलान्निर्णीयन्ते, उपपत्तिरूप'मबाधितत्वं नु वक्ष्यमाणानुपपत्तिगतिसामान्याभ्यामिति षणणां निर्णयेन तात्वर्यनिश्रय इति वक्ंतु लिख्ञानां तात्पर्योपयोगितां घटय-न्विवेकमाह-तत्र त्रिविधमिति। प्रामाण्यशररीरोति। ज्ञाते बाधिते निष्पयोजने वा विषये पमातृभि: प्रमाणं न ठाापियत इति याहशविषयकज्ञानमुद्दिइय प्रमाणन्यापारे प्रवृत्तिः, ताहृछाविषयकज्ञानमेव प्रमेल्युच्यते। तथाच ज्ञाताघर्थे दैवात्रमाणजन्यमीप ज्ञानं न ${ }^{2}$ प्रमा, प्रमाणध्ंससंयोगादिवव्। अतोऽज्ञानाबाधितसपयोजनार्थविषयकघारूपप्रमानुकूलशक्तिमच्वरूूपे ताहपर्ये घटकर्वेनाज्ञातत्वादित्रोपयोगः । इथथं च ज्ञातत्वादेकैकर्किनमात्रेण यप्परेण ‘यजमानः प्रस्तरः' इत्यादौ तात्रर्यमाशक्कितम्, यच्चोपप्ययाघैकैकमान्रेण विक्षं सत्यामल्यादौ तचछछक्ष्क्येते, तद्रान्यैयैविति बोध्यम् । अतएव "औन्पत्तिकन्तु शब्दस्सार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानुुपदेशोडव्यतिरकक्चर्थेडनुपळन्धे तट्प-

$$
1 \text { उपपत्तिसत्त्व, } 2 \text { प्रमा इति-पा. }
$$

वस्चं च। त्रिविधं तु शब्द्निष्ठमतिप्रसझ्झवारकं-उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यं, अभ्यासः, अर्थवादश्रेति । तत्र शब्दनिष्टलिङ्झत्रये तावब्न विनादः, सर्वासामेवोपनिषदामेवं प्रवृत्तत्वात्। मानान्तरासिद्धतया मोक्षंहुतुज्ञानविषयतया च अज्ञातत्वं सप्रयोजनत्वं च निर्विंवद्मेव अवाधितत्वमात्रं सन्दिग्धम् । तचान्यथानु-
माणं बादरायणस्यानपंक्षत्वात्', इति जैमिनीयसूत्रे प्रमात्वशरीरघटकविषयेऽबाधितत्वं प्रविष्टमित्याशयेन औत्पत्तिक इत्यनेन कारणदो|घोऽठ्यतिरेक इत्यनेन बाधक ${ }^{1}$ ज्ञानामावो विवक्षितः। अज्ञाततवं प्रविष्टमित्याइयेन अनुपलुबध इति, सप्रयोजनत्वं निविष्टमित्याशयेनार्थ इत्युक्तम्। उक्षं च शास्रदीपिकादौ। विशोषणन्नयेणाबाधितागृहीतार्थम्राहि ज्ञानं भन नगामिति ${ }^{2}$ प्रमाणलक्षणं. सूचितमिति भावः। एवंच लिङ्न शबद्नसत्र विशोषणतया ज्ञापकत्वाव्पयुज्यत इति बोध्यम्। अतिप्रसझ्जवारकमिति। यत्र पूर्वत्रिकं द्वयोरर्थयोरास्ति, अभ्यासादित्र्यनन्यतमच्च एकत्र्रवार्थे, तत्राम्यासाद्यन्यतमहीनों्यऽपि तातपर्यापत्तिरूपस्यातिप्रसङङ्य, अभ्यासादिहीनेऽऽर्थेडपि तन्पयेऽ यरंक न स्यात्तदा एतदर्थेऽभ्यासादि युक्तं न स्यात्। एतदर्थतात्पयेंकामिदं नार्थान्तरताहपर्यकमेकवाक्यत्वेन गृहातत्व।दित्यादितर्कावतारे अपाद्याभावनिश्वयादिविधयाम्यासादिनिश्श्ययस्य तात्पर्यनिश्वयोपयोतितेतेति। यत्रोकातिप्रसङस्तत्रैवाम्यासादे स्तद्वारकतयोपयोग इति ध्येयम् । ऐकरूप्यमेकार्थनिष्ठता । यथा 'सदेव सोम्येद्मम्र असीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपकमस्य ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्व तंसत्यम्’ इन्युपसंहारस्य चाद्वैतनिष्ठता। अभ्यासोऽनन्यपरपुनइश्रवणम्। यथा उक्तवाक्यस्य नवधा श्रवणम्। अर्थवादो ‘येनाश्रुतं श्रुतम्’ इत्यादिशाशास्यबोधकं वाक्यम् अद्वैतन्रद्माप्तिसाधनश्रवणादौ प्रवर्तकत्वादैद्वैतन्रह्सतात्पर्यग्राहकम् । यद्य

पपतिगतिसामान्याम्यां च निर्णीयते। न हि सर्वप्पफ्धनिशेषरूपमदँवंते व्याबहारिकम्। येन तत्र श्रुत्व्यावहारिक श्रापण्यं स्यात् । अतस्तत्र तात्विकमेव प्रामाणयम् । द्वैतसन्तं तु व्याहारे कम् । अतस्तत्र न श्रुतेस्तात्विकं ग्रामाण्यम्, परस्परविरूद्वयोर्द्वयोस्ताच्चिकत्वायोगात्, वस्तुनि च विकल्पासम्भवात्, ताच्विकव्यावहारिक्रामाण्यभेदेन च व्यवस्थोपपत्ते:, अतत्परत्वेनावधारितस्य विश्वसत्यत्ववाक्यस्यैवान्यथा व्याख्यातुमुचितत्वाव् । तथाहि चतुर्धा हि सामानाधिकरण्यम् ; अध्यासे 'इदं रजतमू' इत्यदौौ, वाधायां ‘स्थाणुः पुमान्' इत्येवमादौ, विरोषणविशेष्यप्यज्ञातत्वाद़त्र्रयविशिष्टार्थप्रमापकववरूपं तात्पर्यमभ्यासादिहीनात्थेप्यज्ञातत्वादित्रयनिर्णये राक्यं निर्णेतुम् ; तथापि ताहछशार्थ प्रयोजनवत्वाह्यभावीनर्णायकतया र्धर्थतरीयाम्यासादेरज्ञातत्वादित्रयाभावनिर्णायद्वारा उत्कतात्पर्याभावनिर्णायकत्वामिति ध्येयम्। अन्यभाहनुभ! विं विवेच-यति-न हि सर्वेल्यादि । द्वैतस्य ताच्विकत्वे व्यावहारिकवे वा तदुद्धौ सत्यां व्यावहारिकाद्द्वतुद्दघसम्भवात् । न च त₹्यामसत्योमेवद्वैतबुद्धिरिति वाच्यम् ; नाहं जक्षेत्यादिघरीरूपायास्तन्यासर्सवदा सम्मवात् तां बाधित्वा श्रुत्यादिबलरवत्पमाणेन तदुत्पाढे़ च द्वैतस्यातात्विकत्वं सिद्यामिति भावः। सामानी़िकरण्यमिति। समानविभक्तिकमिथम्साकाउ़्कनामद्वयवत्वरूपं पदयोस्सामानाधिकरण्यमिल्यर्थः। अध्यास इति। मिन्नसत्ताकयोस्तादास्म्योंधकाकाइ़्क्षाघटितमित्यर्थः। जाधायामिति। बाध्यमानतादाल्म्योपखक्षितस्याषघष्टानस्य बोषकाकाउ्क्षाघटितमिल्यर्थः। ${ }^{1}$ स्थाणु: पुमानित्योदेः ₹थाणुत्वेन ज्ञातः पुमानित्यर्थकत्वात्। ${ }^{2}$ तस्थाणुतादात्मेन बाध्यमानेनोपलक्षितः पुमानघिष्ठानं प्रतीयत इति भाव: विशेषणविश्रोष्यभावेनेति। समानसत्ता-

भाने 'नीलमुत्पलम्' इत्यादौ अभेदे 'तत्व्वससि' इत्येवमादौ। अत्र च बाधायामध्यासे वा सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सत्यत्वबोधकभ्भुते: षड्विधतात्पर्यलिक्भोपेतांद्वैतश्रुतिबाधकत्वम्। नन्वात्मन आनन्दत्ववोधिका श्रुतिरपि ‘ सुखं सुप्तोजस्मि’ इूति साक्षिप्रत्यक्षकयोस्तादात्म्योोधकाकाङ्क्षाघटितामिल्यर्थः। अमेदेनेतेति। अखण्डार्थबोधकाकाङ्क्षाघटितमित्यर्थः। अध्यासे वेति। वाकारो उ्यवस्थितविकल्प:। श्रुस्तिरूप्यादौ विश्वान्तर्गते बाधिते बाधायां अबाधिते वियदादौ त्वध्यासे सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। यतु-"न हि सरेेत्यादिना बाधिततया प्रतीयमानस्पापि वाक्यार्थत्ममर्थान्तरानुपपत्तेरिय्युकम्, तथाच ःन्मते तत्व्वमीत्यादौं तच्वंपद्ववाच्ययोरैक्यमपि वाक्याथंस्स्यात्, अर्थान्तरानुपपतेत्। अथ लक्षणया श्रुद्धयोरैक्यरूपपर्थन्तर-
 ' यजमानः प्रस्तरः ' इत्यादेर्येजमानप्रस्तरयोः :्यावहारिकाभेदोर्र्थोडन्डु। प्रत्यक्षादेस्तु प्रात्तीतिकस्तयोर्मेदों विषय:, तच्त्वमसीत्यादेरापि वाच्ययोस्तात्विकाभेंद:, प्यक्षादेश्वु ठ्यावहारिकभेद इति स्यात् । गतिसामन्यं तु अभ्यासपर्पवसन्नमबाधितव्वासाधकम्, त्वन्मते सर्वेवदान्तवाक्यानामभ्यस्तानामप्यख््ड्डार्थव्वात । ठ्यावहारिकतात्त्विकरूपविषयमेदेदन श्रुल्योर्यवस्थोक्तिर्न युक्ता, अन्योन्याश्रयात्। बिनिगमकाभावात् अध्यासे बाधायां चा सामानाधिकरण्यमयुक्तम्, तयोरद्याप्यसिद्धे:" इति ततुच्छम्, यदि हि वाच्ययोरैसैये उपकमादिकं स्यात्, न स्याच 'प्रपश्चोपशमं शिवमद्दैतें चतुर्थ मन्यन्ते सोडयमाल्मा स विज्ञेय' इल्यादिश्रुति: तदा ताहछैक्यं वाक्यार्थस्स्यात्। ' आत्पैवैदेमग्र आसीत्नान्यक्किज््न मिषत्' इत्यादिनिन्प्पपश्चर्मोपक्रमादिसत्त्वात्, उन्कश्रुतेनेन्दमतिकृताया - विष्वं सल्यमिल्यादिश्रुतिबाधितत्वशाक्कायसश्ष ब्यावहारिकतात्विकविषयभेदन्यवस्थ्थया परिहारात्, अद्वितायात्मैव तत्व्वमसीत्यादेरर्थः ! अतएव

स्वतष्र एक एवेल्येवरूपं स्वतन्राद्वितीयमपि न तदर्थः। यजमानप्रस्तरयोस्तु न व्यावहारिकाभेदो वाक्यार्थः, तं विनाऽपि गौणार्थद्वारा स्तुतिबुद्धचुपपत्ते:। अन्यशा तयोर्धर्मसाक्कर्य व्यावहारिक प्रतीयेत। एकनाझोडप्यपरावस्थित्यनुपपत्तेश्च। गतिसामान्यं तु अबाधितत्वबोधकमेव, अद्वैतबोधकानि सर्वरशाखागतानन्तवाक्यानि यद्यैद्वै ${ }^{1}$ तात्पर्यकानि न स्यु:. तदा लक्षणान्यझोषत्वादिकल्पनादुष्टानि स्युर्रित्यादि तकोपस्था पकर्वात्, तादृ इावाक्यानां मिथस्संवाद़विसंवादाभावरूपपरीक्षासम्पादकत्वाच। तथाच वाक्यानामखण्डार्थत्वाद्गतिसामान्यं नाबाधितत्वबोधकमित्यु|क्तिर्मौन्यादेव। न ब्याधितत्वप्रकारेण प्रमापकं वाक्यमिति नस्सम्मतम्। तार्विकातार्विककिषयतया श्रुत्योंर्यंवस्था तु युक्तैब, अद्वैतश्रुतिः तात्चिककप्रमाणम्, अव्यावहारिकप्रमाणत्वे सत्यज्ञातसप्रयोजनार्थक_ श्रुतित्वात् . तार्तिकममाणत्वेन पराम्युपगतश्रुतिवत्। अन्यथा प्रामा_ उयानुपपत्तिरनुकूलुर्कः । न च विरोधपरिएाराय • विश्चसत्व्वश्रुतिः न तात्त्विकपमाणं • ताश्विकनिेपधप्रतियोगिविषयकत्वादित्यनुमानस्य अवइयापेक्षणीयत्वं निेषेधतात्विकरं च पूर्वनुमानादिति परस्पराश्रय इति वाच्यम् ; विश्वसत्त्वश्रुतिविरोधा हि पूर्वानुमाने विश्वसत्वश्रुतेस्तात्रिवकप्रमाणत्वनिश्ययाघीनः, स च नास्स्येव, अद्वैतश्रुताविव तस्याम-
 यस्तु पूर्वानुमाने साध्यसंशयसम्पादको न विरोधी। तवाप्रामाण्यंसंशयन्तु उक्कतर्कमूलकविशोषदर्शनादिना निरसनीय इत्यन्योन्याश्रयाभावात्। किंश्च अद्वैतं यदि प्रातीतिकं क्यात् ठ्यावह्टारिकं वा स्यात् तदा ' अदृरयमच्यवहार्यम्' इत्यादिश्रुत्यर्थो न स्यात् मोक्षहेतुर्घविषयो न स्यात् । व्यावहारिकबन्धनिवृत्तेव्यावहारिकतत्व्वज्ञानादनुपपत्ते: उप-
${ }^{1}$ तात्पर्यजनकानि स्यु:. 2 दोष ${ }^{3}$ न विरोधी तत्र प्रामाण्य. न विरोधितयाप्रामाण्य. वा.

सिद्धानन्दानुवादिनी सत्तश्रुतिवज्रवेदिति चेन्न; साक्षेण उपहितानन्दत्विषयत्वेन श्रुतेश्र निरूपाधिकानन्द्वविषयत्वेन भिकविपयत्वादनुवादत्वायोगाद्। तया हि स्वरूपानन्दो गुद्यते । ₹वरूपं चाज्ञानोपहितमेव साक्षिविषयः। ननु तच्वमसीत्यादौ नवकृत्वोडभ्यासवत् पिपासितस्य जलगोचर्रमाणसम्प्रववदैक्ये पड्विधतात्पर्यलिङ्नवन्श्रावरूपाजाने प्रत्यक्षसिद्धे 'तम आसीत्' इत्यादिश्रुतिवत् सच्चश्रुतिद्दोर्ब्यार्थेति चेन्न ; अशेषविशेषग्राहिग्रत्यपतौ वा मोक्षहहतुर्धीविषयस्यापि बाधापते:, बाध्यवाधकर्धाविषययोस्स मानसत्ताकत्वेन विनिगमकाभावात्। तस्मान्ना'तात्विकम्। उत्कशुतिधीविषयत्वाभ्यां अद्दैतवाक्यार्थरूपमसण्डं अस्म यदि व्यावहारिकं तदा बाध्येत। न च बाध्यने, साक्षिस्वरूप्वादनुपल्यम्यमानबाधकत्वात्। तस्मान्न ठ्यावहारिकमित्यादियुक्तिसचिवो क्कानुमानददैद्रतश्रुतेस्तात्व्वकं प्रमाण्यम् । हैने तु नैनं युक्तिः। पय्युत ह्देता यदि तार्च्विकं न्यात् तदा हृयं न स्यात्, संसृष्ट न स्यात् ; हरयव्वात्संसृष्टत्वाच न तात्विकम्, हगादिससरगस्य निर्कुमशक्यस्वादित्यादियुक्तिसचिवानुमा नादिना विध्वसत्यव्वश्रुतेरताच्चिकविष्यकत्वसिद्धिः। अतएखाध्यासकाघयोस्सामानाधिकरण्यमित्यवि निश्रेतुं शक्यमेव; प्रपश्चन्य व्यावहारिकत्वनिश्चयेनाध्यासस्वादिनिश्ययात्। न च उ्यद्दारदशायामध्यासत्वादिनिश्चयाभावेन ताहईशामामानाधिकरण्यानुपपतिरितिति बाच्यम् ; अध्यासत्वादिघटितरूपेण हि विष्ध सत्यमित्यादिवाक्यान्न बोघः, किन्तु वस्तुगत्या मिन्नसत्ताकयोस्तादाल्म्यं बाध्यमानम्, तादात्यं वा तादात्म्यवेन बुध्यते विचारदशायामेव ${ }^{2}$ अध्यासत्वादिनिर्णेयेन उन्तसामानाधिकरण्यनि उरासः। अतएव झुक्तिरूप्याघंश एव उक्तवाक्यस्य बाषायां सामानाधिकरण्यमिल्युक्तम्। भिन्भविषयत्वादिति। न चैंब विष्ष

$$
1 \text { तस्माब. } 2 \text { हति. } 3 \text { निणंय:. }
$$

क्षग्राप्ते तद्दार्द्यार्थमन्यानपेक्षणात्। पिपासितस्य शाब्दलिङ्धानन्तरं जले प्रत्यक्षमपेक्षितम्, न तु प्रत्यक्षानन्तरं शब्द्रिक्जे । न च तर्हि 'तम असीत्' इत्यादेर्न किश्निद्वेदिषमिति म्रत्यक्षसिद्धाज्ञानादाढर्यार्थत्वं न सादिति वाच्यम् ; 'तम आसीत' इत्यस्य सृष्टिपूर्वकालसम्बन्धित्वेनाज्ञानग्राहितया सुपुप्तिकालसम्बन्धित्वे नाज्ञानग्राहकं प्रत्यक्षमपेक्ष्य भिन्नविषयत्वेनैव प्रामाण्यसम्भवात् ।

सत्यमित्यादिश्रुतररांप प्रत्यक्षागृहीततात्त्वकसत्त्वग्राहकत्वमिति वाच्यम्। अन्यथानुपपन्नाद्वैतश्रुतिविरोधादिना निरस्तत्वात् । दाढ्यर्थर्थमिति । फलपर्यन्तभत्यक्षे अ्रमत्वशाङ्ङाविरहस्य सिद्धत्वात् तद्रूपदार्ब्यसिद्ययेऽन्यानपेक्षेति भावः। सृष्टिपूर्वकालेति। 'नासदासीनो सदासी़त्तम आसीत्' इत्यादिश्रुतौ तदानीमिति पदसत्त्वात्तदर्थम्रलया ${ }^{1}$ मिन्नतीतकालसत्वमासीदित्यनेनोक्तमिति भावः। यघ्यपि सदसद्विलक्षणकार्यत्वादिति हेतुकानुमानादिनापि प्रपश्चे सदसद्विऊक्षणकारणपूर्वकत्वग्रहणास्टृृष्टिपूर्वकालीनत्वेनाप्यज्ञानं गृहीतम्, तथाऽपि विपरीतानुमानादिना ताहृशानुमानाद्यप्रामाण्यशङ्षावतामनिपुणपुरुषाणामननुवादि कैवोक्तश्रुतिः ॥

यतु 'एतावन्तं कालं ब्रह्म नावेदिषम्' इस्यनुभवेन ब्रह्मधीपूर्वकालमात्रगतत्वेनाज्ञानग्रहणादुक्तश्रुतिरनुवादिकेति, तत्तुच्छम् ; ब्र्मधीपूर्वकाल ${ }^{2}$ वृत्तित्वेन ग्राहकानुभवेन प्रलयवृत्तिताप्राहक,श्रुतेरनुवादत्वायोगत्। उक्तकाल ${ }^{3}$ त्वम्रलयत्वरूपप्रकारमेदात्। किश्चोक्तसाक्ष्यनुभव-
 अमत्वशाष्कास्पदत्वेनोक्तश्रुतिसापेक्षत्वाच, नोक्तश्रुत्यनुवादकताप्रयोजकत्वम्। अत एव ब्रह्म न जानामीति साक्ष्यनुभवस्य तच्छक्षाप्यसक्नैवाभ्युपेत्याचर्यैस्समाहिता । सत्त्वप्रत्यक्षे तु न भ्रमत्वशाकेति न दाब्बार्थ श्रुतिसापेक्षता। एतेन प्रळयकाल्लानस!क्षिणा स्ट्टिपूर्व्कालीन-

ल्वेनाज्ञानं गृद्यत इ्स्यपि परास्तम् $\mid$ तत्तक्कालत्वेन सुखादिकालस्य साक्षियोगयत्वेडापि स्टृष्टिपूर्वकालत्वप्रळयत्वादिरूपोक्तश्रुतिग्रा्यतावच्छेदकरूपेण कालस्य तद्योग्यत्वे मानाभावादिति ॥

- अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः' इत्यभ्वमेधे पझुत्र्यं विहितम् । तंत्रैकपयोगत्वेन तत्रेणाप्रिगुपैपे पठनीये अश्धष्य चतुर्मिंश़दूध्क्कित्वादितरयोः प्रत्येकं षर्ड़ंशतिवह्क्रिकत्वात् पूर्वाधिकरणरीत्या समस्यवचने षडशीतिरेषां वक्ष्र्य इति प्राप्तम्। तत्र 'चतुर्शिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वक्क्रीरश्रस्य स्वधितिस्समेति, इल्यौपदेशिकेन मन्रेण षड्डिंशातिपदयुक्तस्याधिगुपैप्रान्तर्गतमन्रस्यातिढेशिकस्य बाधात् अश्वस्य चतुर्त्रिंशदित्यादिमन्र:, इतरयोम्तु द्विपश्चाशदनयोर्वक्ष्र्य इति समास इत्यपि प्राप्तम्। तत्र 'न चतुर्स्तिरादिति ज्रूयात् र्ड़िंशतिरित्येव ज्रूयात्’ इति प्रकरणे समाम्नातवाक्ये किं विधीयत इति चिन्तायाम्, न तावत्पतिबेधः; स हि चतुस्त्रिंशत्पदमात्रस्य, तद्युक्तर्चो वा नोभयम्, विहितनिषेधेन विकल्पापत्तेः। अन्ते ऋगलक्षणापत्ते: ऋक्पतिषेधे घडरीतिरिति समासस्यैव प्राप्तेष्षड्बिंशतिपद्युक्ताधिगुप्रैषस्याप्राप्तया तस्यापि विधाने वाक्यभेदापत्तेश्ध। षर्ड्विशतिपदे घडशीतिसमासपदोपेताधिगुऊक्षणयानुवादत्वे|क्तै लक्षणादोषात्, अतो न गिरा गिरेतिवत्
 सिद्धघर्थः । षर्ड्रिशतिरिति ज्रूयादिति च ‘ऐरं कृत्वोद्नेयम्, इतिवद्विधिः। तद्बलादेव षर्डिंशातिपदे अश्ववर्ड्डिस ख्यचयलक्षणा। एवकारस्तु न विधिविरोधी, मानाभावात् । 'अत्र होवावपन्ति' इत्यादौ ${ }^{1}$ तस्या तत्त्वात्, षड्डिंशतिपदायोगणन्याबृत्तिरूपस्य चतुर्सिंशत्पद्रूपान्ययोग०यावृत्विरूपस्य वा षड्डिंशातिपदविषानफलक्यानुवादतया एवकारसार्थक्योपपत्तेश्च। तस्मादश्वे ‘ घड्डिंशतिर्बाजिनो देवबन्धो ' रित्यादिमत्रः, इतरयोसतु

प्राकृत एव ‘द्विपप्चेशादनयेर्वेक्रय’ इत्याढिममश्रस्समासेनेति प्रापे, निषेधेनैवन्ययोगव्यावृत्यनुवादसिद्देर्योगव्यावृत्र्यनुवादम्यापि ठयर्थत्वात्, पदमांत्रण न्तुत्यनुपपत्तेश्र नैवकारोडनुवाद: ‘नापि विधायकः ; षड्ड़ंशतिपदक्य पक्षे प्राप्तया तदयोगाप्रसक्तेर्योगन्याृृत्तिविध्यसम्भवान षड्रिंशति पदाविधानावइयकत्वेन तत एव तस्याः प्राप्तत्वात्। अतएवनन्ययेगगन्यावृतेरापि न विघायकः, तत्वेडापि विकछ्पापत्तेश्च। अतएव अन्र घ्यवावपन्तीत्यादावेवकारार्थविधौ 'न तौ पशौ’' इत्यादिवद्विकल्पापत्तिरुक्ता कौस्तुरे !! वस्तुतस्तु निषेघसम भिव्याहुतैवकारस्थले प्रतिप्रसवरूपताडनु. वादरूपता वा ठ्युत्पत्तिसिद्धा । न च वैशोषिकमन्रे धड़िंशतिपदस्य प्रतिप्रसवक्सम्भवरि । न वा प्राकृत एवाध्रिगौ घडशीतिपदप्रासौ तत्र्रतिप्रसव• ; तथात्वे 'न चतुस्र्रिंशदि' ति निषेधानुवादानुपपत्तेः, वैशोषिकमन्रेणाध्वांश प्राकृताधिगुसाधेन तत्र पाड्वंशशिपद्रतिप्रसझानुपपत्तेश्च । तूपरगामृगयोर्द्विपश्चाइत्पदप्रातौ तत्र षड्डिंशतिपदप्रतिप्रसवे डाि निषेधानु वादानुपपत्तितादवस्थ्याच्च । तस्मादेवकाररूपतात्पर्य रोधात् षड्ड़ंशतिपदे घडरीतिपदयुक्ताध्रिगुप्रैषलक्षणया तस्यैव प्रतिप्रसवरूपोडनुवाद: ' घड्ड़िशतिरित्येव श्रूयादि' ति । 'न चतुस्तिंशादि' त्यत्र तु चतुर्स्रिशत्पदे तदादिकमझ्रलक्षणया तन्निषेधो विधीयते, तะ्पद्मात्रनिषेधे षड्डिंशतिरित्येवेत्यादेरनुवादत्वानुपपत्तेः। मन्रनिषेधे तु 'विहितप्रतिषेधाद्विकल्पसिद्द्धे, अभावपक्षेडतिदेशपाप्रस्य षडरीतिपदयुक्ता प्रिगोरेव न्यायप्रापत्वेन तदनुवादत्वमुपपद्यते। अश्वलायनमते तु षड़िं
 शतिपदेन लक्षणयानुवादः 1 एतेन एवकारयुक्तवाक्येनोकप्रैषस्य प्रतिप्रसवविधिः। वाचनिकेन वाऽध्रिगुग्रैषेण पाठपाप्रस्य ${ }^{2}$ वैशेषिकमन्त्रस्य बाधात् 'न चतुस्तिरादि' ति निषधो नित्यानुवाद:

# ननु 'पड्ििंशतिरस्य वङ्कयः' इति मन्त्रस्याश्रमेधे चोदकगाप्तस्ग 

 'चतुस्बिंद्वद्वाजिनो देवबन्धोः' इति बैंशोषिकमन्त्रेणापोदितस्यवैरोषिकमत्रस्य च चतुल्बिंशदिल्यादेवाचस्तोमादौ विनियोगान्न वैयभ्ज्यम् । एवश्च विकल्पोडपी नाष्टदोषबदुष्टो भविष्यति। एवकारश्रायोगस्यान्योगोगस्य वा उयावृत्यनुवाद इत्यपास्तम् । निषेधपूर्वकैककारस्य ससममिव्याहततार्थनुतुवाघताज्ञापकत्वात् । यच्छब्दादिवत् विषिविरोघित्वात् । अतएव 'उपवासाः पतन्ति' इल्युक्षे उपवासानेव कुरु न गच्छेल्यत्र गमननिवृत्तिरेव विघेया, न तूपवास इति सर्वसिद्ध्रम्। यत्र तु न निषेधपूर्कैककारो यथा ' त्रीणि ह वै यज्ञ्येददरा|णि गायन्री बृहत्यनुष्प्प् अत्र हूंवापतन्तिं इत्यादौ तत्रैवकारसम्बन्धन्य विधानेडपि न क्षतिः। पकृते विकल्पन्तु बहुवचनान्तपाइमम्रवन्न विरुध्यते, तदमावे तु वैरोषिकमझ्रम्य प्रकरणबाधा दोषःः। न चाधिगुपैष्यस्याविधेयत्व्वडपि एवकारार्थस्य वैझोषिकमश्ररूपन्यनिनृतृत्त्र ${ }^{1}$ विंधेयव्वस्म्मवेन न चतुर्घिंशदिल्येवानुवादः कि न स्यादितिवाच्यम् ; तावतापि शास्रवापस्य निवृत्तिविधानेन विकल्पानपायात्।
 कारस्य वु तैर्रैकारार्थविधिमझ्काकुर्वतस्तत्र विकल्पापत्तिः। तद्दूदेवेहावि तदभावापत्तिः। न चैवमपि विनिगमनाविरही इति वाच्यम् ; एवकारस्य अयोगान्ययोगन्यावृत्तिरूपसन्दिग्वार्थकत्वन तद्युक्तवाक्यस्य चरमत्वेन च न चतुर्जिशादिस्यस्यैव निषेघविधायकत्वादिति नवमचतुर्थे स्थितम्। तथाच चैहोषिकमम्रेणापोदितस्य ${ }^{2}$ पाक्कृतम्न्नस्य न चतुखिंशदिल्यादिना यथा प्रतिपसवः, तथा मिध्यात्व्श्रुत्याइपोदितस्य जगस्सत्यत्व्वस्य 'विष्वं सत्यम् ' इत्यादिश्रुल्या प्रतिप्रवव इति न साऽनुवाद इति शाष्कतेननु "ड्विशतिरित्यादि। इति मन्त्रेति । इत्यादिमश्ध्रत्यर्थः।

[^102]षड्ड़ंशतिरित्येव ज्यूयादिति बचनवत् प्रत्यक्षप्राप्तजगत्सच्वस्य मिथ्यात्वश्रुत्याऽऽपाततोऽपादितस्य प्रतिप्रसवार्थ सर्वश्रुतिरिरि चेम्म ; मिच्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वाभ्युपगमे तस्या बलवत्वेन तद्विरोधात् सत्यच्वश्रुतेरन्यपरत्वादेवतधिकरणन्यायासम्भवाच्च प्रतिप्रसवार्थत्वस्य वक्तुमराक्यत्वात्। ननु सत्त्वप्रत्यक्षम्रामाण्ये तेनैत्र मिथ्यात्वश्रुत्यनुमानादिबाधः, तदप्रामाण्ये न तेन सत्वश्रुते-रनुवादकत्वमू-इति चेन्न ; भ्रत्यक्षाग्रामाण्येऽपि तत्सिद्बबोधकस्यानुवादकर्वसम्भवात् । न हि प्रमितग्रमापकत्वमनुवादकत्वम्, किन्तु पश्याड्शेध धकत्वमात्रम्। पश्राच्चं च प्रमाणावधिकमप्रमाणाचधिकं चेति न कश्रिद्विशेषः। न च श्रुतेस्सवेसिद्धप्रमाणभावायाः सदर्थत्वायाननुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाप्राप्रतात्तिकसच्चनिषयत्वमतइयं वक्तव्यम् । तथाचाप्रमाणेन प्रत्यक्ष्षेण कथं श्रुतेरनुवादकत्वमिति वाच्यम्; सत्वांरास्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि वाक्यार्थस्य

पड्रि्विशातिरित्येवेति। न चतुर्फ्रिशादिति जूयादित्यादिः। अन्यपरत्वात् स्तुतिपरत्वात्। ननु स्तुतिपरादपि तिश्वसत्त्ववाक्यात 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदुयच्छत्' इत्यादितो द्वारमूतवाक्यार्थ इव विश्वसत्त्वं सिद्धघतु, तत्राह-देवतेति। मानान्तरबाध्यार्थे तन्नयायासम्भव:, प्रमापकत्वासम्मवेन तद्वयवस्थापकत्वासम्भवादिति भावः। ननु अ्रमप्रत्यक्ष ${ }^{1}$ प्राप्तार्थस्य श्रुतिविषयत्वे श्रुतेरेपामाण्यं स्यादित्यत्र मदुक्तदूषणपर्यवसानम्, न तु पमितबोषकत्व'रूपस्यानुवादकव्वस्यानुपंपत्तौ, तथाच नेदं समाधानं युक्तमिति चेन्न; देवताधिकरणन्यायसिद्धं प्रमाण्यं विश्वसत्वांगे ${ }^{3}$ श्रुतेर्न सम्भवतीिति पूर्वमेवोक्तत्वात् , क्रियादिसमभिठ्याहारसिद्धवाक्यार्थरुपस्तुत्याहंघो प्रामाण्यस्य व्याबहारिकस्य वक्ष्यमाणत्वाच, प्रामाण्याभावस्यास्मदिष्ट्वेन तत्र दूषणपर्यवसानोक्केरुन्मत्रप्रलापत्वात्। वाक्यार्थस्येति।
${ }^{1}$ ननु प्रल्यक्ष. ${ }^{2}$ प्रमितिबाधकत्व. ${ }^{3}$ विश्वस्तादौ.

क्रियादिसममिव्याहारसिद्धस्यापूर्वत्वेन तद्विषयतौयवानजुवादकत्वोपपत्तावद्दैतश्रुतिबिरुद्धतात्विकसत्त्वविषयत्वकल्पनायास्तद्थर्थ मयोगात्। परमार्थसाद्विषयता तु सर्वश्रुतीनां शुद्धव्रह्यतात्पर्यकत्वेनैव । अवान्तरतात्पर्यमादाय व्यावहारिकसद्विषयतेति स्तुत्यादिरुपस्येत्यर्थः। क्रियादीति। किया प्रमिणन्तीत्यादिपदसमुद्नायलुम्यवाक्यादिरुपा, ${ }^{1}$ आदिपदात् व्यावहारिकसत्त्वबोधकविश्वं सत्यमित्यादिसङ्रूः । क्रियादिपदसमुदायलुम्यवाक्यार्थद्वारकं स्तुत्यादिरुपमपूर्व विधिसमभिठ्याहृतविश्यसत्त्वादिवाक्यप्रमेयमित्यर्थः। अथवा स्तुतिधीद्वारीभूतो न प्रमिणन्तीिति अपूर्ववाक्यार्थः तस्य विभ्धं सत्यमित्यादिवाक्ये सत्त्वा²द्विश्वसत्त्वंशोऽनुवादत्वेऽपि न क्षतिरित्यर्थः। यद्वा किया भावना, आदिना तदंशस्वर्गादिरूपसाध्यादितद्रोघकपदसमभिठ्याहारेण स्तुत्यादिरूपापूर्वर्थ एवार्थवादाधिकरणन्यायेनोक्तवाक्यप्रमेय इत्यर्थः। सदर्थत्वा-येति-यदुक्तं तत्र सत्त्वं तात्त्वककव्वं व्यावहारिकत्वं वा, अन्त्ये तात्विकविषयत्वमवरयतमत्यसझतं, आघ्ये त्वाह-परमार्थसद्विषयतेति ।।

ननु—'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादिवाक्यस्ग़ापि ब्रह्मविदापोतात्यादिक्रियासमभिष्याहारसत्त्वात् क्रियाघटितवाक्यार्थमादाय प्रामाण्यसम्मवाद्रह्मणोऽपि तात्तिककव्वासिद्धि: ; रिंच सत्यं ज्ञानमित्यादिवत्सिद्धार्थकान्यपि विश्वसत्यताबोधकानि 'विश्वमाप्रा अन्तरिक्ष महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्। जहि प्रतीचोऽनूच: पराचो विध्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु' इत्यादीनि सन्ति। किश्र त्वन्मते जरद्नवादिवाक्यस्यापि ऊक्षणया अखण्डन्रक्सपरत्वसम्भवेन तद्विकक्षण प्रामाण्यं न कर्मकाण्डे सिद्धचति। अवान्तरतात्पर्यविषयस्य बाधितन्त्वेन तमादाएय ब्रह्मणि प्रामाण्यं ${ }^{3}$ पर्यवसितमिति चेत्, अ्रान्तोऽसि, ब्रक्सविदा|सोतीत्यादिवाक्ये हि न क्रियाघटितवाक्यार्थे तात्पर्गम्, ब्रह्मविदो।

$$
1 \text { प्रमिणन्तील्यादिस्पा. } 2 \text { न सत्त्वा. } 3 \text { अपर्यवसित. }
$$

A.s.v.

व्रह्न|ज्ञाननिवृतितिरूपायां पराषौौ ज्ञातव्वेन तदसम्भवात्। अपितु तद्वोधनद्वारा उक्न सतुव्वा ${ }^{1}$ सत्यंव्वायुपुलक्षितं तदज्ञातं ज्ञाप्यते। तथाच्चापरक्षणतया सत्यत्वादिव्यावृत्तत्रह्तज्ञानद्वद्मसत्यव्वादि.भ्रमंशयनिवृत्ते: कथं न घ्रह्ससत्यं्वादेरुक्तवाक्यास्सिद्धि: ? विभ्वमाप्रा इत्यादिवाक्यस्य तु सिद्धार्थकत्वम् , आए्यातन्तपदार्थाघटितार्थकत्व विघिवाक्यार्थापर्यवसितार्थकत्वं वा। नायः, आप्रा इल्यादेराए्यातान्तश्य क्फुटवात्। ठ्यारुगातं च माधवीयभाष्यादौ-"विश्वमन्तरिक्षं च त्वं स्वेन महित्वा महिम्ना आपूरितवानिति, अन्यस्वावान् ल्वदाश्रयो नकिर्मेति च सल्यमित्यर्थ इति जहील्योदेरपि ये प्रातिकूल्येनाश्चन्ति, ये च ताननु, ये च पराम्चन्ति, तान् विभमूपतन् हत्वा विश्ष स्वकार्यसमर्थतया सत्य कुरु। ततस्तत्स्वकार्याय विष्टं आविष्टमस्त्वित्यर्थ:" इति। नान्त्य:, मन्रार्थ वादानों प्रयोजनवदर्धपर्यवसानाय समभिक्गाहतवििधिवाक्यार्थपयवस्यतद्रव्यदेवतान्तुत्यादिप्रतिपादकव्वावर्यकव्वात्। तथाचोक्तवाक्यानामपि प्रत्यक्षादिसिद्दूसत्वांशेडनुवादत्वेडपि स्तुत्यादौ तद्वारमूतावूर्वाक्यार्थे च व्यावहारिकपभा4म्मवान्न सत्यत्वपमापकत्वम्। किश्न तेषामालोच्यमानोऽर्यस्त्वत्पतिकूल एव । तथाहि विभ्वमन्तरिक्ष चापरिच्चिन्नेन स्वस्वरूपमहिम्ना त्वमापा अतोऽन्यस्सर्वोडपि त्वावान् व्वस्सम्बन्धा सन् सत्यं अद्या साक्षात् ब्वस्सम्बन्ध विना तु न किः न सत्यमित्यर्थः। मा किं मा किर्न ${ }^{2}$ किरिति त्र्योडपि वर्जन इति शाब्दिकाः। तथा विभमूतानसुरान् हत्वा असमदनुकूलं विभ्षं. कुरु। तयद्यपि मिथ्या, तथापि त्वयेपादानेन सत्येन विष्टं व्याप्तं सत् सत्यमस्त्विक्यर्थ: कृतधीगम्यः। जरदूवेत्याद्युत्क्तम ; न हि जरदूवादिवाक्ये अखण्डव्रद्मपरता-
 तात्र्पकत्यं कर्मकाण्डस्येव तस्य सम्भवति । बाधितार्थद्वारा कर्म-

$$
{ }^{1} \text { घघ्हस्बुल्या. } i^{\prime} \text { मा कि न किं न कि:. }
$$

कर्मकाण्डप्रामाण्योपपादने वक्ष्यते। न च-प्रत्यक्षं स्तप्रामाण्यनिर्णयार्थ श्रुतिसंवादमपेक्षत इति न तेन श्रुतेरनुवादकत्वम्। अन्यथा सत्यं ज्ञानं, नेह नानेत्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात् । ब्रह्मसच्चस्य लोकतो भ्रमाधिष्टानत्वेन लिख्डेन च, मिथ्यात्वस्य

काण्डस्य ज्रह्मप्रमापकत्वं तु सम्भवत्येव ; परमतात्पर्यविषयस्य ब्रह्मणोऽ बाध्यत्वात्, बाधितेऽव्यर्थे पूर्वमबाधात्, 'सत्यस्य सत्यं, प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यः' इत्यादिश्रुतिभिः प्रपश्चस्य न्यूनसत्व्वावगमाच्च, न्यूनसदर्थविषयकत्वरूपं व्यावहारिकं प्रामाण्यं कर्मकाण्डғय सम्भवत्येव। त्वन्मते तु 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यादौ हे वसन्त इत्याद्यर्थवत्, तत्त्वमसीत्यादौ अतत्त्वमसीत्याद्यर्थवच्च. जरद्गवादिवाक्येऽपि ताद्दारार्थस्सम्भवत्येव।।

लोफत इति। अज्ञोऽहं सन्निति प्रत्यक्षादिनेत्यर्थः। ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादिवाक्येन ज्ञानस्य विनाशित्वादिरुपान्तशून्यत्वपतिपादनात्कथमुक्तभत्यक्षेण तक्यानुवादकत्वमिति चेत्, तथापि सत्यत्वज्ञानत्वांड़े सन्नहं जानामीत्यादि प्रत्यक्षेणानुवादत्वसम्भवात्, निरवयवद्रव्यत्वादिनाऽनन्तत्वस्याव्यनुमानसम्भवाच । मिथ्यात्वस्येति। सर्वदे़ेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावपतियोगित्वस्येत्यर्थः। तेन विज्ञानवादे ज्ञानातिरिक्तार्थस्यालीकत्वात् स्ताधिकरणवृत्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाबोधकब्वेऽपि नासकतिः। विज्ञानवाद्शास्तस्य वेदमूलकत्वे ताह्रानुमानादिनेव तेनापि वेदस्य नानुवादत्वमत उक्तं अवेदमूलेति। यदि विज्ञानवादशास्रमाधुनिकं स्यात्तदा प्रवाहानादेवेदानुवादकतायां न प्रयोजकं, प्रवाहानादित्वातु भवेत्प्रयोजककमित्याशयनोक्षं-प्रवाहानादीति। ननु विज्ञानवादे घटाद्याकारज्ञानस्य मिथ्यात्वाप्रतिपादनात् नेह नाने ति श्रुत्या च तत्रतिपादनान्न तेन सोऽनुवाद इत्यतो वादादिनेति। आदिना शून्यवादपरि-

रिति वाच्यम् ; यदि हि हष्टेऽप्यर्थे प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवाद्मपेक्षेत तदा श्रुतिसंवद्विरहिणि दृष्टे कुत्रापि निशराङ्क्रष्टतिर्त स्यात्। न स्याचिचं 'अग्रिर्हिमस्य भेषजम्' इत्याद्यप्यनुवादकम् । न चेष्टापत्ति: ; मानान्तरगृहीतम्रमाणभावग्रत्यक्षनिर्णीते मानान्तरस्यानजुवादकत्वे जगत्यनुवादकत्वकथोच्छेदप्रसङ्झात् । न च 'सत्यं ज्ञानं, नेह नाना' इत्यादेरप्यन्नुवादकतापत्तिः। अनुवादकता हि न तावत्र्रत्यक्षेण ; घह्मत्वसामानधिकरण्येन सत्वादिकं हि अनेन प्रतिपादनीयम्, तच न प्रत्यक्षगम्यम् । नाप्यनुमानेन,

ग्रहः। ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येनेति। ब्रह्मत्वसत्त्वयोस्सामानाधिकरण्यधीद्धारेत्यर्थः। तच तादृइप्रतिपादनं च। गम्यमिति। लम्य ${ }^{1}$ मित्यर्थः । ब्रह्म न सदित्यादिश्रमनिवृत्तिरुक्तर्धद्वारा जायमानात्सत्यत्वाद्युपलक्षिताखण्डविषयकज्ञानादेव न तु सन्नहमित्यादि प्रत्यक्षात्, तत्सत्वेऽपि तादृशभ्रमानुवृत्तेरित्युक्तपत्यक्षं नोक्तश्रुतिसमानाकारं, न वा तत्समानप्रयोजनमिति, न तेन तस्यानु²वादकतेति भावः। अथ भिन्नाकारत्वेऽपि समानप्रयोजनकं ब्रह्म सत्यं भ्रमादिष्ठनत्वादित्यनुमानमनुवादकताँ ${ }^{3}$ प्रयोजकमस्तु, तत्राह——ापीति। वस्तुतो ब्रह्म न सदित्यादिक्रम/निवर्तकत्वेऽपि तत्त्वमसीत्यादि वाक्यगततत्पद्रक्ष्यर्वरूपप्रमारूपप्रयोजनस्योक्रानुमानादसिद्धे: तदसिद्धौ च त₹्ववरूपाज्ञानानिवृत्त्या तत्र तज्ञानप्रामाण्ये वा संशायेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थे तज्जाने चंाप्यौचित्यावर्जितक्य संशयस्य प्रामाण्यसंशयस्य वा दुर्वारत्वान्नानुमानेनोक्तश्रुतेरनुवादत्वशा क्षेति ध्येयम्। न चोक्तस्वरुपे ${ }^{4}$ लक्षणाज्ञानार्थ तद्धी:, असम्प्रज्ञातसमाधि ${ }^{5}$ रूपविशेषणांशेऽनुद्बुद्धसंक्कारजन्यस्मरणरुपा वा वाच्येति तत एव ${ }^{1}$ रक्ष्य. 2 तस्या अनु 3 दिल्यन्मानं वादकथा. ${ }^{4}$ स्वरूपलक्षणाज्ञानार्थ. 5 रूपा विरोषणांशे.

न हि बर्कस्सर्वदेशकालीनपुरुसाधारण इल्यादिना प्रगेव निराक्तल्वाू। नापि प्रवाहानादिविज्ञानवादिमतेन ; तस्पाौौ-
 नपेक्षत्वान्न सापेक्षातुवादक्त्वम्, निरेष्षानुतादकत्वं तु धाराबहनवन्नग्रामाण्येतुः। उएँ हि नयविकेके - 'सापेक्षातुतादे हि न प्रमितिः। न तु दैवादतुतादे धराबहनवत् हूति
 ज्ञातानिद्वे:, निरद्धमनस्साक्षिण्स्सेतेवा पमाब्वामावात्। अतएव

 बोषिका अस्पणार्श्बादिति; तदुक्तार्थानवोधात्। न हि तर्क इति। येषामनुमाकौौश्रेन विरद्धतर्कामसेत बा अनुमाने अमलशःरा,


 न्यन्त्वोषिका। यनु अहं सत्रिलादिपलयक्षं अ्रससत्वनुनुमाने भमत्वशः्कानिवर्त्कमीति, तस्ताक्षिपस्कक्षस्य इस्षस्त्वसामानाषिकरण्येन सत्त्वा-
 पूर्व निश्रायकस्वामावादिलर्थः। अनिश्रायक्बे हेड़ं पौखेय"त्वं ज्ञापविड़ंड भ्रुता तदभावं ज्ञापयति-अपौखुयेयेति। पतिसर्ग नात्तिकशास्षाणं सत्वेपि सर्गादिकाजीनवेदोलपयेः प्थादेश अम्रमपादादिदोषयुक्कैर्नास्तिकै: कियमाण्ताव्, विक्षातबादे घटादिज्ञानस्य मिध्यात्वा-


$$
1 \text { पारहहतनम् . }{ }^{2} \text { यकल्वे तु पौछषेय. }{ }^{3} \text { मिथ्यात्वादमी. }
$$

वाच्यम् ; यतो लाघवादनुवादकत्वमेवाप्रामाण्ये प्रयो-
जकम्, न तु सापेक्षानुवादकत्वम्, अनधिगतार्थबोधकत्वस्य प्रामाण्यघटकस्य तावतैन गतार्थत्वात् । न च तर्हि धारावाहनबुद्धावग्रमाण्यम् ; तस्या वर्तमानार्थग्राहकत्वेन तत्तत्क्षणविशिष्टग्राहकतयानुवादकत्वाभावात् । किन्तु श्रुतेरतत्परत्वे प्राप्तत्वमात्रमेव प्रयोजकम् 1 अन्पथा वैफल्येन स्वाध्याय-

मिथ्यात्वसाधकस्य धीविषयत्वादिहेतोस्साक्षिण्यावृत्तधर्मावच्छेदेन मिथ्यात्वबोघकश्रुत्यनुवादत्वाप्रयोजकत्वात्, नेह नानास्तीत्यनेन सत्तादात्म्यविशिष्टमनूद्य तत्र मिथ्यात्वस्योक्रश्रुत्या विधानात्, शून्यादे च ${ }^{1}$ सद्रूपस्यैव अनखीकारेण तथा ${ }^{2}$ बोधनाभावात्, न नास्तिकशास्येण श्रुत्यनुवादतेति भावः। यत्तु—" वेदस्यापौरुष्यत्वेन मानान्तरापेक्षयाऽनुवादत्वाभावे 'उरु प्रथस्व' इत्यादिमम्रणां पुरोडाशापथनादिरुपस्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्नन विनियोगसिद्दे: 'उरु प्रथम्वोरु ते यज्पपति: प्रथतामिति पुरोडारां प्रथयति' इति ब्राह्मणवाक्यमनुवादकामिति मन्र्धिकरणे|क्त विरुध्येत' इति, ततुच्छम् ; श्रौतलिकादिष्ठु श्रौतत्वादेर ${ }^{-}$ नादित्वात्, पौरुषयशास्ल्रिष्विवाप्रामाण्यशा ख्काविरहाच्च। न हि मानान्तरमात्रपेक्षया श्रुतेरननुवादत्वं ज्रूम: । किंतु सादित्वपैरुषेयत्वादिनाऽवेद् मूल्ककव्वसदेाषत्वादि शाष्कायुक्तनास्तिकशास्राघ्येपक्षया। अतएव यत्र फलपर्यन्तपरीक्षादिना नाप्रामाण्यशका, यथा अवघातादेनैनुत्यादिसाधनभाहक्लौकिकमाने तेनानु ${ }^{3}$ वादताप्रसक्ते: व्रीहीनवहन्तीत्यादेर्नियमतात्पर्यकवं ₹वीकृतम्। वर्तमानेति। वर्तमानकालविशिष्टेत्यर्थः। न

क्षणानामतीन्द्रियत्वान्न प्रत्यक्षतेति प्रत्यक्षमण्याद्युक्तम् ${ }^{+}$शक्कयम, संयुक्तादिविशोषणतया सथूलकालस्येव क्षणानामपि भहणयोग्यत्वात्।


विधिग्रहणानुपपत्तेः। अपिचेयं सत्वश्रुतिरपि सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षत्वात्सापेक्षानुवादिन्येव। न हि सच्वप्रत्यक्षं त्रिना तन्मूलशक्तथादिग्रहमूलकराब्द्र्रवृत्तिसम्भवः। अतएव यत्र तु प्रमाणान्तरसंतादस्तत्र प्रमाणान्तरादिवार्थनादादपि सोर्थः प्रसिद्वयति ; द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकार्थप्रवृतेः, प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम् । प्रमाताह्यव्युत्पन्नः प्रथमं प्रत्यक्षादिभ्यो यथा अर्थमवगच्छति, न तथा आम्नायतः, तत्र व्युत्प₹्यपेक्षत्वादिति वाचस्पतिमतमप्येतमर्थ संवादयति। तेनाम्नायस्य

क्षणानां तादात्येन प्रतिबन्धकत्वकल्पने मानाभावात् । उक्षं हि शास्रदीविकादौौ ${ }^{1}$ घटोऽत्र दृष्टो न वेति पृष्टो घदति-सन्निहितक्षणे मया दृष इतीति। यदिच क्षणानामतीन्द्रियत्वे तुष्यसि, तदा क्षणविशिष्टेत्यस्य क्षणव्यावर्तितो यक्तत्तहुध्युत्पत्तिद्वितीयक्षणविनाशिस्थूलकालस्तद्विशि ${ }^{2}$ (स्टपरतया घारावाहिकवुद्धीनां स्वोत्पचिक्षणाद्वितीयक्षणविनाशिस्थूलकालविशी)षार्थप्राहकत्वेन अननुवादता बोध्या। वस्तुतन्तु 'न सोऽस्ति भ्यत्यो लोके यत्र काले न भासते' इति सिद्धान्ते स्वोल्पत्तिक्षणग्राहित्वं सर्वम्त्ययानां न सन्निकषोदिप्रयुक्तम्, किंतु ज्ञानसामान्यसामग्रीज्ञानोत्पत्तिक्षणाविशिष्टार्थविषयकमेव ज्ञानं जनयतीिति नियमप्रयुक्तम्। अतएवेच्छादेमेमंदंशादिविषयकतनं न कारणनियम्यमिति पक्षधरादयः। एवंच वेदजन्यनुद्धयनुमित्यादिधाराभ्युपगमेऽपि न द्वितीयादिबुद्धेरनुवादतेति ध्येयम्। अन्यथा वैफल्येने त्यादि। अध्ययनस्याक्षरावाप्तयर्थत्वपक्षे अनुवादत्वप्रयुक्तचै ${ }^{3}$ लल्यस्यादोषत्वेऽपि कतुविध्य ${ }^{4}$ पेक्षितवाक्यार्थज्ञानार्थत्वक्षे ताहराज्ञानस्यन्यतस्सिद्धौ तदुद्दे होनानुवाद़कवाक्याध्ययने ' सवाध्यायोऽध्येतठ्य:' इति विधिना प्रवृत्यनुपपतेरित्यर्थः

1 शास्रदीपिकोन्मेकटोकादौ. ${ }^{2}$ अयं कुण्डलितः पाठः काचित्कः 3 वैकल्य. 4 क्रचिद्दिध्य.

व्युत्पच्येपेक्षत्वेन प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्यैवोक्तेः। न च-वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनकत्वेन न निष्प्रयोजनानुवादकत्वम्, सप्रयोजनानुवादकत्वं तु न स्गर्थपरत्वविरोधि ; विद्दद्वाक्ये समुदायद्वित्वापाद्नरूपप्रयोजनवत्वेनानुवाद्यस्वार्थपरताया दृष्टत्वात्।

प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्येति। न चैवं स ल्यं ज्ञानमिल्यादिवाक्यस्यापि शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाज्ञानावेक्षितशाक्य习्ञ नापेक्षणीयेन ${ }^{1}$ सन्नहमित्यादिप्रल्यक्षेणानुवादस्स्यादिति वाच्चम्ं ; न्सत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वाभाहक त्वादिना उत्करोदनस्य परिहृत्वात् ॥

विद्वद्वाक्य इति। "य एवं विद्वान् ौौर्णममसीं यजते स यावदुक्येनोपामोति तावदुपामोति; य एवं विद्दानमावास्यां यजते स यावदतिरान्रेणपापोति तावदुपामोति" इति वाक्य इत्यर्थः। उक्तवाक्यं अपूर्वकर्मणोर्विघायकं वा, ' यदामे यो ऽष्टाकपालोडमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति, इल्यादिना पौर्णमास्यमावास्याकालयोगित्वेन श्रूयमाणानां षणणामनुवादकं वेति संशये, अनुवादकत्वे वैयर्थ्याद्विधायक मेब। यदाग्मेय इत्यादौ यो दी़क्षित इत्यादाविव च यच्छब्दस्य विधिविरोषित्वाभावात्। अत एव औौर्णमास्यमावास्प्याददे अपि नामघेये। ' पौर्णमास्यां वौर्णमास्या यजते, अमावस्यायाममावास्यया' इति वाक्याभ्यामुक्तकर्मानुवादेन कालविषानात्। यद्यम्युक्तवाक्ये रूपं न श्रूये तथापि 'वार्त्रही पौर्णमास्यामनूच्येते वृधन्वती अमावास्यायाम्' इति बचनेन आज्ययागकमाम्नातानामपि ऋचां कमं बाधित्वा उक्रकर्मदूयाइक्वेन विधानन्माझ्रवार्णिकामिसोमदेवताया घौवाज्यरूपद्वण्यस्य च लाभसम्भवात्, यदांमेय इत्यादिवाभैयेवे बोक्तकर्मणी पौर्णमाध्यमावास्याशब्दाम्यामनूद्य द्रव्यद्येवताविषानसम्मवाद्रूप्राभः। एवश्च ‘दर्श-

1 राक्यज्ञानमपि लक्षणीयेन.

पूर्णमासाम्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्येन आमेयादियागसाषारण्येन तदसाघारण्येन ${ }^{1}$ वा उक्ककर्मद्वयमयाजादीनां फलसम्बन्धः, कालयोगिणु द्वित्वस्येन द्वित्वेन प्रसिद्धाज्यमागानिकु कालयोगस्यापसिद्बत्वेन यजिसक्कोचे विनिगमकाभावात्, राजसूयन्यायेन प्रकरणाससेर्वापामेव फलसम्बन्धौचित्यात्, न तु छण्णामेवेति प्रापे नोक्तवाक्यं विधायकम्, यदाभेय इल्यादौ यच्छब्दस्य कर्तृसामानाधिकरण्याभावाद्पसिद्धुस्तूयमानार्थकत्वेन विध्यविरोघित्वेडपि पक्छते कर्तृसामानाषिकरण्येन प्रसिद्वकर्तृपरामर्शकत्वसम्भवात्, श्रूयमाणतच्छन्दपर्यन्तवाक्यार्थविधिविरोधििव्वस्यानपवादात् , एवं शब्द्समभिष्याहारेण प्रसिद्धार्थकत्वनिश्ययाच्च। उत्क हि वार्तिंक्

कियापैदैकयोगित्वे यच्छब्दों न रुजोद्विधिम् ।
कर्तृयुक्तक्स एवान्य्यापितार्थानुवादकृत् ॥। इति।
रूपालाभाच, वार्त्रभीवाक्यं हि आज्यभागाक्त्रया लिक्रक्रमप्राप्तानां वात्र्रमीवृधन्वतीमन्त्राणां कालद्दूरा कर्मद्वारा वा ठयवस्थामात्रविधायकम्, न त्वपूर्स्य कर्माझ्ञवस्य बोधकम्, गौरवात्। यदामेय इत्यादिकमपि न द्रव्यदेवताविधायकम् ; प्रात्तकर्मानुवादेनानेकविधाने वाक्येदेतात्। यदि हि नानागुणविशिष्टा भावना विधीयेत, तदा तदन्यथनुपपत्या कल्प्येषु विऐोषणविघिषु न श्रूयमाणविघेर्यापार: ${ }^{2}$ । भावनायाः प्रातत्वे तु विशोषणेष्वेव विधिच्यापारादेकगुणविधाने गुणान्तराक्षेपासम्भवात् विध्या ${ }^{2}$ बृत्तिरक्षणो वाक्येमेदः। उन्कं हि वार्तिके-

शब्दव्यापरनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्।
एकोक्यवसितानां तु नार्थाक्षेपो विरुध्यते ॥ इति
ननु अनेकगुणान्वितभावनायामपाप्तायामिव प्राप्तायामपि पर्तर्तनारूपविध्यन्वयस्य सम्भवादनेकगुणानां प्राप्तकर्मानुवादेन विषाने को दोष

इति चेत्, एकविधायकत्वस्य वाक्यस्वाभाव्यस्य भङ्ञ एव दोषः। अन्यथा अनेकेषु प्रमापकतररूपतात्पर्यभेदेन वाक्यस्यावृत्तापत्ते:। न हि सकृत्रतिसंहितं वाक्यं नानार्थन्प्रमापयितुमीष्टे 'सकृदुचर्चरतईशब्दस्सकृदर्थ गमयती' ति ठ्युत्पत्तेः । किश्च भावनायां विधिसम्भन्धस्य वाक्यान्तरण लवधत्वाद्रुणविशिष्टभावनायां विध्यन्वये तात्पर्य वाच्यम्। तथा चैकपतिसन्धानविषयेण विधिपदेन नानागुणेषु विध्यन्वयधीर्नसम्भवति। न हि घटः पटो रूपीत्यत्र सकृत्रतिसंहितरूपिपदेनोभयत्र रूप्यन्वयः; 'सकृदुच्चरितरशब्दस्सकृदर्थ गमयती' ति व्युत्पत्तेः । भावनायास्तु क्रियास्वाभाठ्येन सक्टृत्पतिसंहिताख्यातोपस्थिताया अपि नान।गुणन्वयाहत्वात् गुणान्वयानुरोधेन ${ }^{1}$ प्रधानावृतेतेन्याय्यत्वाच्च। न चागेय इत्यादौ देवताविशिष्टद्रण्यस्य तद्धितेनेक्तत्वादेकस्यैव तस्य प्राप्तकर्मभावनानुबदेन विधिसम्भव इति वाच्यम् ; कारकत्वेनोपस्थितदेवताया हि भावनायामेवान्वयो, न तु द्रव्ये, कारकत्वेनानुपस्थिथतानामेव वृत्तिशाठदैकदेशार्थानां ‘अभ्वाभिध।न्नाम् ’ इत्यादौ मिथेन्वयात्। अथैवमनुवादत्वे वाक्यं व्यर्थमिति चेन्न ; एकेन पौर्णमासीपदेनामावास्यापदेन च आमेयादित्रिकयोरुक्त्या साहित्यप्रतीत्या समुदायसिद्धै। तन्नुद्वित्वस्यैव दर्शाूर्णमासाभ्यामित्यधिकारवाक्ये बोधादामेयादि ${ }^{2}$ षण्णामेव फलसम्बन्धस्य विद्दद्वाक्यरूपानुवादप्रयोजनत्वात्। यथाहि विद्वद्वाक्ये पौर्णमासीमित्याद्येकवचनं पौर्णमास्यादिकालयोगित्वरूपसामान्यगत ${ }^{3}$ स्यैकत्वस्य पाशाधिकरणन्यायेन बोधकं, तथा अधिकारवाक्ये द्विवचनमपि समुदायान्तर्गतास्मयादिरूपनामार्थैकदेशसमुदायद्वयगतद्वित्वस्य बोधकम्। यत्तु द्विवचनस्य बहुत्व लक्षणा, तस्यां च स्वशक्यद्वित्वाश्रयस ${ }^{4}$ मुदायघटकामेयादिपर्यापत्तत्वरूपसम्बन्धरूपायां तात्पर्यग्राहकं विद्व-
 दियागानामेव. ${ }^{3}$ सामान्यावगत. ${ }^{4}$ सदुरदितामे.

अतएव तत्र वाक्यैकवाक्यतोक्रा। अन्यथा अर्थवादवत्पदैकवाक्यतैव स्यात्-इति वाच्यम् ; प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूपप्रयोजनवत्चेन प्रमाणान्तरस्य सप्रयोजनतया स्वार्थपरत्वोक्तौं 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्याद्यपि तेनैव ग्रयोजनेन सप्रयोजनं ख्वार्थपरं च स्यात् । तथाच न प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थमन्यापेक्षा दृपान्ते तु समुदायानुवादेन द्वित्वसम्पादनस्योद्देशयस्यान्यतो लन्धुमशाक्य-
द्वाक्यमिति मतं ; तत्र लक्षणाकल्पने मानाभावः। नामार्थतावच्छेदके समुदाये स्वाश्रयतद्धटकत्वसम्बन्धेनाग्मेयादिनामार्थे वा द्वित्वशश्रयत्वसम्भवात् । न चैवं 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या' इत्यदिवाक्यद़ंयं ठ्यर्थमितिवाच्यम् ; त्रिकयोः प्रयोगद्वयविधायकत्वस्यैकादशो वक्ष्यमाणत्वात्। अन्यथा आम्येयादीनां प्रत्येकमुत्पत्तिवाकंय कालयोगात्रत्येकं प्रयोगापत्तेरिति द्वितीयद्विताये स्थितम् ॥

स्वार्थपरतों घटयति-अत एवेति। वाक्यैकवाक्यतेति। अधिकारवाक्यापेक्षितसमुदायप्रतीतिप्रयोजकतेत्यर्थः । सा चैकपदोपातत्वेन साहित्यप्रतीतिद्धारेयुक्तम्। द्वित्वसम्पादनस्येति। अधिकारवाक्याध्धनद्वित्वबोधनस्येत्यर्थः। ननु-प्रत्यक्षसिद्द्धेऽपि भावरूपाज्ञाने विप्रतिपत्तेस्त्वयाह्नीकारात्तत्र श्रुत्यनुमानाद्युपन्यासाच, प्रत्यक्षविषयत्वादिना मीमांसकादिसिद्धेडपि वाच्वादौ तार्किकादीनां विप्रतिपपत्तेश्च, प्रत्यक्षे विप्रतिपत्त्याहितप्रामाण्यसंशयेन तद्विषयेपि संशयसम्भवात्तन्निरासरूपं प्रयेजनं सत्वानुवादश्रुतेस्सम्भवत्येवेति-चेत्, अन्तोऽसि, नह्यज्ञानं भावरूपत्वेन कस्यापि पत्यक्षसिद्धम् ? येन तत्र तद्रूपे विप्रतिपतिर्न स्यात्। न वा प्रत्यक्षो वायुरित्यादौ तार्किकादीनामित व्यवहारकालाबाध्यो घटादिरित्यत्र कस्यापि विप्रतिपत्तिः । त्रि कालाबाध्य-

[^103] सत्वविऊक्षणसत्वयाहकत्वादननुवादत्वस्यैव संत्वास्सप्रोजनानुवाढत्वोकिस्तव विरुध्येत। तेन प्रयोजनेनेति। एत्तेन--वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनेन न स्वार्थपरता, न हि तस्स्वतः पुरुपार्थ:, न वा चित्रादिफलपध्वादिक्सर्वेषामर्थिनां सुखपयोजकत्वेन काम्यम्, न वा विद्वद्वाक्णीयसमुदायासिद्धिरिव स्वतः पुरुषार्थस्वर्वादिमद्वाक्यापेक्षितम्। न च-पपश्चसत्त्वस्य विपतिपत्त्यभावेन निश्यये कर्मानुष्ठनात्स्वर्वादिमत्कम्ववाक्यापेक्षित एव विप्रतिपत्तिनिरास इति -वाच्यम् ; विधिषु श्राद्ध एवाधिकारीय्यनेन मिथ्यात्वनिश्ययाभावस्येव कर्मानुष्ठानेऽपेक्षा भामत्यादावुक्ता न तु सत्वानिश्रयस्य । यदा तु विचारसहकृतबलकत्प्रमाणेन पपश्चो मिथ्याव्वेन निभ्यितः, तदा न कर्मानुप्रानेऽघिकारः, नवा सत्यत्वनिश्धयस्य तदोपयोगः, पूर्वपवृत्तसर्वमानं बाधिब्वैव मिथ्यात्वनिश्चयस्य जायमानत्वादित्यादि सूचितम् ॥

यतु-" अग्मिर्हिमस्य भेषजम् " इत्याद्धावपि द्वीपविशेषवर्तिनां विपतिपतेस्तन्निरासरूपेण पयोजनेन स्वर्थपरत्वमिष्टम्, पुरुपविशोषं पत्येव च तस्यानुवादकत्वमिति, ततुच्छम्; विधिसमभिन्याहृतानामर्थवादानां विध्येकाक्यतानुरोधेन विध्यर्थान्वयिस्तुत्यर्थकत्वस्यावइयकत्वातत्प्योोनैनैव सपयोजनार्थकत्वाच । न चैवं ताहृशार्थवादेषु स्वार्थपरतापत्तिस्तवा'सक्रतति—वाच्यम्ं यदि विश्रं स्त्यमिल्यादिश्रुतेस्तुतिपरलं विध्येकवाक्यतासम्पादकमुत्स्तज्य विपतिपत्तिनिरासरूपपयोजनेन स्वार्थपरता स्यात्, तदा अविर्मिंमस्येय्यादावपि तथा स्यात्, अविशेषादित्यभिपायेये तदापतेराचार्यैंक्कत्वात् । किज्चानार्म्याषीतानां पर्णतादीनामपूर्वसाधनीभूतजुढाद्यक्वं न स्यात्, जुहादी़ीां पर्णमयत्वादौ

एतदभिग्रायं च पूर्वोकें नयविवेकवाक्यम् । न चानुतादकत्वेऽपि नैष्फल्यमात्रं नत्वप्रामाण्यम्, याथार्थ्येमेव प्रामाण्य न त्वनधिगतार्थगन्त़त्वे सति याथार्थ्यमिति-वाच्यम् ? तात्पर्यविषये राब्दः प्रमाणम्। "यत्पररशब्द्: स शाब्दार्थः" इत्यमियुक्ताम्युपगमात् । अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेकुक्त-
कस्यचिद्विप्रतिपच्तिसम्भवेन तन्निरासप्रयोजनकानुवादतायामपि ₹वार्थपरतासम्भवात्, दृष्टार्थत्वे सम्भवत्यदृष्वार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। विपतिपत्तिनिरासस्य पुरुषमात्रपयेजजनापर्यवसानं तु विश्वसत्यत्वश्रुतावपि तुल्यमिय्युक्तम् । एवं पूषानुमन्रणमन्रादीनामुलकर्षो न स्यात्, विप्रतिपत्विनिरासार्थकस्वार्थपरत्वसम्मवे लिख्नकव्प्यश्रुत्या विनियोगस्यान्याय्यत्वादित्याशययेंन "अमिर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादीत्यत्रादिपदस्योकत्वात् । अमिर्हिमस्येत्यादावुक्तापतौ नाचार्याणामास्था। एतदाभिप्रायमिति। सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दैवादनुवादे, धारावहनवदिति नयविवेकोक्केर्निष्पयोजनानुवादे न प्रमितिः। प्रयोजनवदनुवादे तु प्रमिनिः, यथा धारान्तःपातिद्वितीयादिबुद्धि: केवलघटाद्यंशेऽनुवादरूपापि तत्तक्षणविशिष्टविषयकाज्ञाननिवृत्तिरूपप्रयोजनसत्त्वेन प्रमितिरित्यर्थ इति भावः। एवंचनन्यतोऽसिद्धप्योजनवदबाहित विषय एव प्रमत्व्वरक्षणे निवेशय', न तु तत्राज्ञातत्वमपि निवेइयम्। औत्पत्विकसूत्रस्थेनानुपलब्धिपदेनापि लक्ष्यभूतप्रमाज्ञानीयपकृतप्रयोजनवदुपलबधेरविषयत्वविवक्षणान्न तदनुपपत्तिरिति बोध्यम् ॥

वस्तुतस्तु विद्वद्वाक्याद斤िां न स्वार्थपरतायामुक्ताधिकरणस्यतात्पर्यम्? अपितु स्वार्थनुवादाहीिनसमुदायसिद्धिद्धारा अधिकारवाक्य${ }^{1}$ पमेये घण्णां फलसम्बन्छे तेषां तात्पर्यमित्यत्र तस्य तात्पर्य, धूमोऽस्तीति वाक्यस्य वह्विमतायामिव। एवंचाधिगतार्थ प्रमात्वस्वीकारे बीजाभा-

त्वाच्च। न ह्यन्यतस्सिद्धेरर्थे शास्नतात्पर्यम्। अतो न तत्र प्रामावयम् । यदाहुर्मद्टाचार्या:-‘ अप्रापे शास्त्रमर्थवत् ' इति । नन्वः यमनुवादो न 'वायुैर्वै क्षेपिष्ठा देवता इत्यादिवत् स्तुल्यर्थन वा दधा जुहोतीत्यादिवद्नन्यविधानार्थः ; अनुवाद्यत्वेऽप्यन्यविधानाय प्रमाणानूदितस्य ताच्चिकत्वनियमात्। न हि 'त्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादाावारोपितव्वाह्यादेर्धी:, अनुवाद्यस्यासत्ते ह्याश्रयासिद्धौं धर्मधर्मिसंसर्गरूापानुएमितिवेद्य इवानुवाद्यविधेयसंसर्गरूपनाक्यार्थो बाधितस्स्यादिति चेन्न; अस्याजुवादस्याश्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वात् । न च प्रामाणनूदितस्य तात्त्व-
वेन सौत्रमुक्तवदं यथाश्रुतार्थकम्। विश्वसत्वश्य च मानान्तराधिगतत्वान्न तत्र श्रुतेस्तात्पर्यम् । विप्रतिपत्तिनिरासार्धीनतद्धीद्धारा कर्मानुप्ठानतत्पर्यकत्नं तु न तस्यास्सम्भवति। प्रपश्चसत्यत्वविप्रतिपत्तावपि मिथ्यत्वनिश्धयाभावेन कर्माधिकारानपायादित्युक्तम् । तテ्सम्भवेऽपि तस्या न विश्वसत्वपरता सिद्धा, किन्तु कर्मानुष्ठानपरतेति विश्वमिथ्यात्वं निर्विश्नमेव। अत एव अथ ${ }^{2}$ व्यावहारिकसत्वपरेत्यादिना आचर्यैररे तम्याः कर्मानुष्ठानपरत्वं वक्ष्यत इति ध्येयम् ॥

न ह्यन्यत इति। यत्तु ज्ञातेऽपीष्टार्थे कियासममिव्याहारेण ताँपर्य वाक्यस्याविरुद्धं बालभाषितस्येवोति। तत्तुच्छम्? बालभाषितस्य हि अन्यतोऽसिद्धसुखविशेषजनकवाक्यार्थधीप्रयोजकत्वात्स्वार्थे धूमोSFतीति वाक्यस्य वह्ययनुमिताविव सुखसाक्षात्कारे वा तात्पर्य युक्तम्। प्रकृते तु सत्वश्रुतेरन्यतोऽसिद्धपयोजनाभावान्न तदिय्युक्तक्वात्। स्तुत्यर्थ इति। स्तुतिधीद्वारमित्यर्थः। इत्यादिवदिति। इत्यादौ जुहोतीत्याघंशा इवेत्यर्थः। अप्राप्तेति। अज्ञातनिषेधज़ापनेत्यर्थः। तथा-

[^104]कत्वनियमः, स्वमाध्याये नेदं रजतमिति वाक्ये च क्यमिचारात्। अथ तत्र ज्ञानविषयतया निषे४यतया चानुवाद इति न तात्विकत्वम्, तर्हि प्रकेतेऽपि 'नेह नाना' इति निषेधार्थत्वादस्यानुवादस्य न तात्विकत्वमिति गृहाण। अतएव न वाक्यार्थस्यासत्त्वप्रसङः, तात्पर्यविषयस्य सत्यात् । अथ 'किश्नन' इत्यनैनैवानुवादस्य कुतत्वात्किमधिकेनेति चेब्म; सामान्यतो निषेधस्य हि किज्न्नेत्यनेन निषेध्यसमर्पणेऽपि

चान्यविघ।नायैवायमनुवाद इति भावः। स्वमाध्याय इति। स्वमफलोक्किरूपे ग्रन्थ इत्यर्थः । ज्ञानविषयतया। अवविषयतया। निषेध्यतया चवसमानाधिकरणनिषेघप्रतियोगितया। इति न ताच्विकत्वमिति। भ्रमविषयदेस्तात्त्विकत्वासंम्भवो विधानायानुवाद्यस्य ज्ञानमात्रमवेक्षितम्, न तु तात्त्वक्वव्वमिति भावः। निषेधार्थत्वात् स्वसमानाधिकरणनिषघप्रतियेगिबोधकत्वात्। न तात्त्विकत्वमिति तद्विषयस्य विभ्वसत्यत्वस्येत्यादिः। अतएव उक्कानुवाद्स्याज्ञातनिषेघज्ञापनार्थत्वादेव। तात्पर्यविषयस्य निषेधस्य सच्वात् तात्त्विकत्वात्। निषेधस्य मिश्यात्वघटकस्य व्यावहारिकत्वपक्षे तदेव सत्त्वशबदार्थः। तथाच तत्पक्षपि कर्मकाण्डवद्यावहारिकप्रामाण्यं वाक्यस्याक्षतमिति भावः। यतु अनुवाद्यासत्त्चे तन्निष्ठो विधेयसंसर्गोप्यसन् स्यादिति परेणोंकं, तदप्यत एव परास्तं बोध्यम्। नेदं रूप्यमित्यादावसत्यपि रूप्ये निषेधस्य विधेयस्य परेण तात्विकप्रतियोगित्वरूपसंसर्गाम्युपगमान् ' व्रीहीन् पोक्षति' इत्यादौ प्रातीतिकव्राघ्यादिकं नोद्देइयं, अपूर्वसाधनत्वात्, न हि सर्वमनुवाद्यं विधेयापेक्षया न्यूनसत्ताकमिति जूम इति ध्येयम्। सामान्यत इति। आकाशत्वादिनानाधर्मैरित्यर्थ:। किंचनेल्यनेनेति। सर्वनाम्नेति शेषः। निषेध्यसमर्पणेडपीति। आकाश-

विशिष्य निषेधे विशिष्य निषेघ्यसमर्पणस्योपयोगात्। अथ निषेधवाक्यस्य न निषेध्यसमर्पकवाक्यान्तरापेक्षा; अन्यथा 'न
त्वादिविशोषरूपैर्निषेध्यसमर्पणेऽपीत्यर्थः। विशिष्य निषेध इति। आकाशत्वादिपत्रत्यकनिषेधांशे इत्यर्थः। विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्य आकात्वादिप्रत्येकरूपेण निषेध्यबोधकवाक्यस्य। उपयोगात् र्किचनेति पक्रान्तपरामर्शिसर्वनाम्ना बोधनायोपयोगात्। तथाच विभ्धसत्यतात्वादिप्रत्येकरूपेण विश्वं सत्यमित्यादिवाक्ये ‘यस्मिन् पश्च पश्चजना आकाशश्र प्रतिष्ठितः’ इत्यादिवाक्ये चाकाशत्वादिना यत्पक्रान्तं तदेव सर्वनाम्ना परामृइय निषिध्यत इति सर्वनाम्ना परामर्शार्थ पूर्व विश्षसत्त्वादिकं श्रुत्याऽनूद्यत इति भावः। अथवा किंचनेत्यनेन सामान्यतो निषेधाधिकरणा ${ }^{1} न न ् त र ् भ ा-~$ वेन निषेध्यसमर्पणेडपि विशिष्य तत्तदाधिकरणान्तर्भावेन निषेधं प्रति तत्तदधिकरणे निषेध्यसमर्पणस्य प्रतियोगिप्रसक्केरुपयोगादित्यर्थः । निषेधाधिकरणविशोषे प्रतियोगिप्रसझ्अकतयोक्तवाक्यानामुपयोग इति भावः। विशिष्य प्रक्नान्तबोधकसर्वनाम्नो विशोषरूवबोधकवाक्यसापेक्षत्वात् ््न्साणि प्रपश्ननिषेघवाक्ये तत्र प्रपश्नप्रसझकवाक्यस्येव 'विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमेवं सोम्य स आदेशः, तत्सत्यं स आत्मा, सत्यस्य सत्यम्, तेषामेष सत्यम्' इत्यादिवाक्येषु प्रपश्चासत्यत्वबोधकेषु प्रप््वसत्यताप्रसझ्ञकस्य विध्ध सत्यमित्यादिवाक्यस्योपयोगाच्च। एवं 'सोम्य स:' इत्यस्य यथा मृदेव सत्या न तद्विकारः, एवं गौस्मव सत्यं न ताद्दिकार इत्यर्थकत्वम्, तत्सत्यमित्यस्य तदेव सत्यमित्यर्थकत्वम् । ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्येतत्पूर्ववाक्यपरिपोषणस्य तदैव सम्भवात् । एतेन किंचिनेत्यनेन सामन्यतो निषेध्यसमर्पणेऽपि विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्य तद्साध्यत्वेन तत्र विध्व सत्यमित्याद्युपयुक्तमित्यर्थोऽसकतः, सर्वनाम्न: किंशब्दस्य विशोषरुपेण दृइयत्वादिसामन्यरूपेण ${ }^{2}$ वा उप-

करजंं भक्षयेत्' इत्यादावपि निषेष्यसमर्पणार्थ 'करखंं मक्षयेत्' इत्यादिवाक्यान्तरसापेक्षत्वग्रसङ इति चन्न ; सर्वत्रापेक्षानियमाभावात्, सति सम्भवे प्रकते त्यागायोगात्, 'अतिरात्रे षोडरिनं गृद्नाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृब्बति' इत्यादौौ वाक्यान्तरर्रापस्य निषेधदर्शनाच । न च तद्धदेव विकल्पापत्ति:, सिद्दे वस्तुनि विकल्पायोगात्, ग्रहणाप्रहणवाक्ययोरुभयोरापि मानान्तराप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलच्ववदिह सत्वश्रुत्रमानान्तर्रप्तविषयत्वेन निषेघश्रुतेश्राप्राप्रविषयत्वेन तुल्यबलत्वाभावाच्च। अत
स्थापकत्वसम्मबादेति परास्तम् । यथवि विश्व सत्यमित्याद्यनुवाद् स्वुत्यर्थ इत्यपि सम्भवति । उक्षं चाचार्यैस्तद्याएख्यानववसरे तथा पूर्वम्। तथाप्यन्यविधानार्थताया अपि सम्मवात् परेणात्र तदूपणन्य कृतत्वाच तन्निरासपूर्वं सापि ठ्यवन्थाव्यत इति बोध्यम् । कलझं भक्षयेदिल्याद्वाति। तथाच प्रतियोगिप्ससक्जकाक्याभावेऽपि विशेषरूपेण निषेधाधिकरणन्तर्भावेन च प्रतियोगिप्रसक्तेर्मानान्तरेण सम्भवाद्यथा निषेषोपपतित्ने कलञ्जमिल्यादौ, तथा नेह नानेल्यादाववीति भावः। सति सम्भव इति। यथा प्रत्यक्षादिमानन्तरेण विरोषषरूपेण प्रातियोगिम्रसक्तिस्सम्मवति, तथा उत्कवाक्येग्योपीत्यर्थः । यद्यम्युक्तवाक्यानि विनापि पसक्तिरस्ति, तथापि निषेधब़ाक्यार्थताँपर्पज्ञापकतया तेषामुपयोगः। लोकेऽपि हि मानन्तरपसक्तनिषधबाक्यतात्वर्य मानान्तरातुवादेन ज्ञापयन्ति——ददं रजतमिति दृं परन्तु न तथेति, एवं विध्ं सत्यमिति प्रमिणन्ति, परन्ठु न सत्यामिति निषेघतात्वर्यज्ञापको मानान्तरानुवादः। अतएव चनेत्यस्य ${ }^{1}$ छेदेने ठयाख्यानाभावेऽपि न क्षतिरित्यवि बोध्यम ! ननु सत्यव्वासत्यत्वयोरकक्रासम्भवेऽवि कचिद्दृइये चासत्यल्वं कचिद्हरये च सत्यव्वं स्यात्त्राह-- षोडशीति। आशाष्के -

[^105]एव निषेधवाक्यप्राबल्यात्तदन्तुरो $े न े त र व ् म य य त े । ~ अ थ ा प ् र ा प ् त ा न ् य-~$ प्राष्त्यर्थत्वेडव्यलौकिकस्त ‘अएपश्र न प्रभिणन्ति' इत्यादिपदार्थसंसर्गस्य विधेयस्य सच्वान निषेध्यार्थानुवादकत्वमिति चेन्न; तदन्यपरत्वस्य प्रागेवोक्तत्वात् $\mid$ ननु 'यत्तन्न' इति निवेधानु-
 भावस्य बकुक्राक्यत्वात्। नतु तर्हि 'तत्सत्यम्’ इत्याद्यपि 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति 'असद्वा इदमग्र असीव्' इति च निपेधाय 'सन् घटः, सत् घटड्ञानं, सत् सुखस्फुरणम्' इत्या-
अप्राप्तान्येति। अलौकिकस्य हौकिकमानाविषयस्य। आपथनेति। उ्यापनरीला देवाः चन अपि प्रमिणन्ताति देवपमेयत्वसंसर्सस्येन्द्रकर्तृक जगत्सजनादौौ विधेयस्य सत्व्वादित्यर्थः। अन्यपरत्वस्य स्तुतिपरत्वस्य निषेधविधानपर्वस्य वा । तथाच उक्कसंसर्गस्य न विघेय्व्वम् । इन्द्रक कृंकठयावहारिकसत्यजगत्सर्जनस्य श्रुत्यादिना प्रमेयत्वस्य साक्षेसिद्धत्वात्, अष्मदानिकं प्रतीव देवान्प्र्यवि श्रुत्यादिना तस्य प्रमेयत्व सम्भवात्, अनुमानांदेना देव्वमेयव्वस्यास्माभिर्जातुं शाक्यत्वात्। एवं न हिंसन्तीत्यर्थोपि न विघेयः ; तस्ष्मापि मानान्तरेण ज्ञातत्वात्, निष्पयोजनत्वात् ताद्दिंसाबोधकवाक्यान्तराविरुद्धत्वाँ्ध। किन्तु स्तुतौ निषेधे वा तात्पर्यमुक्ताक्यस्येति भावः। यत्तनेति-निषेघार्थानुवादस्य
 धार्थेडपष प्रतियोग्य्यनुवादे ताहशलिक्राभावान्न तदावइयकमित्याहन यरिक्निद्विदिति । लिख्याभावेन अनुवादत्वव्यझ्ञकाभावेन। यनु एकमप्यनुवादलिए प्रकृते नेति, ततुच्छम्; रजतमिदें ज्ञातम्, परन्तु नेदं रजतमिल्यादाविव ज्ञातार्थकत्वस्यैव तल्भिजस्य सत्वात्। सन् घट इत्यादौौ हह्सणि सत्व्वसम्बन्घो न भातीत्यत आह--सद्वटड्रानमिति। ज्ञानं वृत्तिरूपं सत्वेन भातीत्यत ओह—सत्सुखेति । सुखक्षुरणं उु

दिसिद्धघ्रक्ससच्वानुवादि स्यादिति चेक्म; ज्रद्सत्वसामानाधिकरण्येन सच्चस्य प्रत्यक्षादि म्योड्रापेः, शून्यवादग्रसझेन्ज तस्य निषेधायोगान्व, 'इदं सर्व यदयमात्मा' इत्यत्र अनुवादलिख़सम्भवेन कल्पनाच । एवमानन्दध्रतेरापि 'अटुःखमसुखं समम्' इति निषेधाय न प्रत्यक्षप्राप्तानन्दानुवादित्वम्, दुःखसाहचर्येण
चिदेव, सिद्धान्ते सुखादौ बृत्त्यन्र्तीकारात्। ब्रद्नत्वेति। अह्तात्वसामानाधिकरण्येन या सत्व्वप्रातिर्त्रस्स सत्यमिति धीः तस्याः प्रत्यक्षादिम्योडभावादिलर्यर्। तथाच उक्कप्यल्षक्षादिना तस्सत्यमित्यादिवाक्यं नानुवादः, उत्कप्यक्षासिद्ध 'यत्तद्रक्न न सत्यमिति भ्रमनिरासरूपं प्रयोजनं, तस्साघकत्वात् । यदि बुक्तं प्रत्यक्षं त्रह्ससत्यमित्याकारं स्यात्, तदा उत्कपयोजनसाघकं स्यात्। त्स्सत्यमिति वाक्यजमखण्डज्ञानं तु जह्स सत्यमित्याकारधीद्वारकत्वादुक्तपयोजनकामिति भावः। अथवा अह्सत्वसत्वयोस्सामानाघिकरण्यं ताम्यामुपलक्षितयौरैक्यम्, अह्सत्वविशिष्टे सत्त्वसम्बन्धश्ध चतुर्घा उत्केषु सामानाधिकरणेपण्वमेदे सामानाधिकरण्यस्याखण्डैक्यपर्यवसानात् । विशेषणविशेव्यभावे सामानाधिकरण्यस्य च समानसताकषर्मद्दयसामानाधिकरण्ये पर्यवसानात्योोरप्राहेरित्यर्थः। तथाचोक्तम्यक्षं नाखण्डविषयकम्। ${ }^{2}$ न ज्रह्म न सत्य मिति अ्रमनिवर्तकमिति न तेन तस्सल्यमिति श्रुतिर्रुवाद इति भावः। इदं सर्वमित्यादौ शाखान्तरीयाक्ये निषेषार्थानुवादे यदिति लिख्नस्य दृष्ट्वात्तदेकार्थतया विष्धं सत्यमित्यादावपि तक्कल्प्यत इत्याह— इदं सर्वमिति। न चैवमपि यत्वदिति लिक्षाभावस्तववन्थ इति वाच्चम् ; नेह नानास्ति किम्चनेत्यादौ किंशब्दस्य, नेतील्यादौ चेतिशब्दस्य यं्पदार्थपरामर्शकल्वेन तच्छब्दतुल्यत्वाव्, यत्तदोर्निल्यसम्बन्चेन यच्छब्दबलादेव तच्छब्दकल्पनसम्भवाष्ब ॥

$$
1 \text { यत् ब्रह्म न सत्यमिति इत्ति पा, } 2 \text { ब्रह्म सत्यमिति. }
$$

वस्तुतन्तु यतददोरोकतरेणोत्ररवाक्यस्थेनान्यतरस्य पूर्ववाक्यस्थस्य समभिव्याहारो नापेक्ष्यते। अतएव-

> साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं
> मीलितं यदभिरामताधिके।
> उद्यता जयिनि कामिनीमुखे
> तेन साहसमनुत्धितं पुनः ॥

इत्यादौ तथा हृरयत इति मम्मटोक्तेस्तच्छब्दसमानार्थकिमितिशब्दयोरव्युत्तरवाक्यस्थयोर्यच्छब्दसमभिव्याहारानेक्षत्वात्। पकृते यच्छब्दावइयकल्वं परेण मौब्यादेवाशा़्दितमिति घ्येयम्। अत्र सन् घट इल्यादौ घटाद्युपहितसद्रूपस्यैच भानेन ${ }^{1}$ घुद्रव्बाभानात्त्सत्यमिति श्रुल्यनुवादत्वं परस्यासम्भवुद्किकमेव। न च-

सर्वप्त्ययेवेहेडस्मिन्र््सरुपे ठ्यवस्थिते।
प्रपश्चस्य प्रविलयइशब्देन प्रतिपाघ्यते ॥
इति मण्डनोक्तेशयुद्धं अह्ल सर्वेश्रीविचामिति वाच्यम्; ठ्यबस्थिते घटायवच्छिन्नसदूपेण विशेषेणावस्थिते ज्रह्यरूपे सर्वर्ध वेंद्येडपि प्रपश्चस्य प्रकृषो बाधरुपो विलयो यस्माँजातः तताहहां ज्नह्न शब्देन श्रुल्यैव प्रतिपाद्यत इति तदर्थात्-

परागर्थपमेयेपु या फलत्वेन ${ }^{4}$ सम्मता।
संवित्सैवेह मेयोडर्थों वेदान्तोक्तिपमाणतः ॥
इति वार्तिको क्तेरपि बेदान्तमेयग्युद्धत्रस्साणि घटाघवच्छिन्न्नफरणरूपफलतादात्म्यमर्थः। तेन घटस्फुरणं सदित्यादिप्त्यक्षमपि नोक्रश्रुल्यनुवादताप्रयोजकम्। न चोपहितविषयकवुद्दौं गुद्धस्याभाने तदुत्तरं शुद्बसंशयादि स्यादिति वाच्यम्; गुद्दसंशयादाववि तस्याविरेाषित्वात्। इद्सणशश्युद्बस्योपस्थिथ्यमावेनोक्तापत्त्यसम्मबात् उपस्थितौ वा उक्तापत्तेरिष्त्वाच्च।

[^106]सुखस्यापि बैषयिकस्यैव ग्रहणेन तब्विषेधाय ज्रह्तरूपसुखानुवादायोगात्। एतच सर्वमुक्तं विवरणे-निष्प्रपश्वास्थूलादिवाक्यानुसारेण 'इदं सर्व यद्यमात्मा' इत्यादीनि निषेधसमर्पकत्वेनैक्यतां प्रतिपद्यन्ते। सुषुत्तौ निष्र्रपश्नतायां पुरुपार्थव्वदर्शनात् '

वैषयिकस्येति। न च दु:खपदवाच्यस्येव सुखपद्वाच्यस्यापि सर्वस्य महणौचिल्येन आत्मसुखस्यापि निबेध्यतेति वाच्यम् ; विषयसम्बन्बंजन्यवृत्ति'विशेषाबच्छिन्नाममनस्पुखपद्वाच्यत्वेन तस्य सर्वस्य निषेध्यत्वेऽपि तत्पदलक्ष्यसुखस्वरूपनिषेधासम्भवात्। इदं सर्व यदग्यमात्मेत्यादीनीति। नेतिनेतीत्यात्मेल्यादौ निष्पपश्चात्मबोषार्थमिदें सर्वमित्यादिना सपपश्चात्मानुवाद इत्यर्थः। इदं सर्वमित्यादौ बाधायामपि सामानाधिकरण्यसम्भवादाह - आदीति। तेन ' मयि सर्वे प्रतिष्ठित, सच त्यच्चाभवत्’ इट्यादिस स्क्रहः। ऐैक्यतां एकबाक्यतां। पुरुषार्थत्वदर्शनादिति । सुषुप्तौ भासमानं साक्षियुखं यद्यपि जाम्रत्व्वम्सयेरपि भाति, मा न भूवं हि भूयासमिति परप्रेमदर्शनादन्येच्छानर्धीनेच्छारूपस्य पर्रेश्णः सुखरूपत्वेनाभासमाने आत्मन्यसम्भवात्। भासत एव परमप्रेमाश्पदत्व. रक्षणं सुखं जायदादाविति विवरणोक्तेश्च ; तथापि कटं कर्मेति लोकानुभवात्, जाप्रस्व्वप्सोस्सदा स्थूलस्क्ष्स्मोपाधिक्रियाजन्य्यु:खसत्त्वा्, विषयसुखानामपि-

न तद्स्ति सुखं होके यन्न दु:खकरं भवेत्।
तदसम्पामिविव्छेदक्षयेण्वडुख 'कृघृतः ॥
इति बार्तिकोत्तरीत्या तद्रासयादिपयुक्तदुःखमूलत्वाच सुपुसयवच्छिन्नसुखं जाप्रदादिसुखापेक्षयाइतिशयितम् । लोकानां च तथाऽननुमवो ${ }^{4}$ विवेकाभावाव्, नरकसुखासक्कसूकरादिवत्। तथाच दु:ख-

इति । अथ—निष्प्रपश्नता न पुरुषार्थः, मूर्छायां तत्व्वादर्शानात् ; न च तदा तद्ञानमात्रं न तु तद्भाव इति वाच्यम्; समं सुषुप्तावपीति-चेन्न ; मूछायां स्वरूपसुखस्फुरणाभावात्। तथा च सूत्रम्-' सुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिरेषात्' इति। सुषुप्तिमुक्तिकार्लननानिष्रपश्वतायां स्वरूपसुखानुभवेन तस्याः पुरुषार्थत्वात्। तथाच श्रुतिः-'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति। अथ 'तस्मा-
मिश्रितदुःखमूलजाग्रदादिपपश्चशून्यत्वेन यथा जाग्रदादिसाक्षिसुखापेक्षया सौषुप्तसाक्षिसुखमतिशायितत्वेन पुरुषार्थ इति ठ्यवह्दियते, तथा तदपेक्षयापि मुक्तिसुखमतिशयितत्वेन न्यवह्रियते, ताद्धाप्रपश्वतन्मूल्लाविद्याशून्यत्वादित्याशयः । मुपुप्व।नीील्यपि: हेतौ, तेन तद्भाबन्नासङतिः । सुस्वस्फुरणेति । सुखस्यानावृतत्वेत्येर्थः। तद्नानीमुक्तप्रमा ${ }^{1}$ नुदयेन साक्षिण आवृतत्वम्। अतएव दु ग्गाभानोडपि न तदा स्फुरतीति भावः। मुग्धे मूर्छावस्थारूपे मूढे आवृत इति यावत्। .. ...n रोषः। अर्धसम्पत्ति: सुषुप्तिरूपसम्प्तेरर्ध परिरोषात् ज्ञानेन्द्रियाणामुपरमे डपि कर्मेन्द्रियाणामनुपरमात्पूर्णसम्पत्त्यभावात्, ${ }^{2}$ कर्मेन्द्रियाणामनुपरमश्ध मुखहस्तादि चेष्टाविऐोषादिति सूत्रार्थः। सुषुतौ जाग्रदादिप्रपश्चाभावः ' सुषुप्तिकाले सकले विलीने पुनश्र जन्मान्तर कर्मयोगात्। ततन्तु जातं सकलं विचित्रं, एवमेवास्मादात्मनस्सर्वे प्राणास्सर्वे लोकास्सर्वे द्वेचाम्पर्वाणिए भूतानि च्युचरान्ति " इति सुषुतौ लौनप्रपश्चसृत्टिचोधकश्रुतिम्यस्सिद्ध ${ }^{3}$ इत्याइायेनाह --सुषुम्मिक्तीति । पुरुषार्थत्वात् जाग्रदादिस्वरूप सुखानुभवापेक्षया अतिशायितपुरुषार्थत्वात्। ननु यत्किस्चित्पपम्चाभावस्सुषुप्ताविव जाস्रस्व्वप्नयोरव्यस्ताति कथं सौषुप्तसुखस्य जाग्रस्सुखांपक्षयारतिशायस्तन्ताहतथाच श्रुतिरिति। द्वितीयादिति। विषयादि रुपात्व्वामिन्नात् भयं भवतीति, देहेन्द्रियविषयरूपस्य सुखसाधनस्याप्युक्तरीत्या अयहेतुत्वमित्यर्थः।

[^107]देकाकी न रमते' इति श्रुतेस्सम्रपश्नतापि पुरुषार्थः, न ; तस्या दुःखसाधनत्वेन पुरुपार्थत्वायोगात, कर्मकाण्डवद्स्याइश्रुतेरविवोकिपुरुषपरत्वाच । ननु ' पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इति भेद्ञानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणात्कथं न सग्रपश्नता पुरुषार्थ इति चेन्न ; तत्त्वतेः पूर्व ममापि प्रेरकप्थथ क्षृ दृष्टेस्सगुणन्मह्नानवत् प्रेरकत्वेन व्रह्मज्ञानस्यापि परम्परयोपकारकत्वात्, ' एकधैवानुद्रष्टत्यम्' इत्यादिवाक्यस्वारयद्यपि द्वितीयपदेनानात्ममात्रमुक्तम् ; तथापि जाग्रत्ववम्मरूपभयहेत्वभावमात्रेण सौषुप्तसुखस्य जाग्रदाादेसुखापेक्षया अतिशायः। मुक्तिसुखस्य तु भयहेतुसामान्याभावत्वेनावस्थान्र्युखुखापेक्षया।डतिशाय इति भावः । सप्रपश्वतेति। जाग्रत्क्वझसुखामित्यर्थः । पुरुषार्थः सुषुप्सिसुखतुल्यपुरुषार्थ:। तस्या जाग्रत्न्व्मसुखम्य। दुःखसाधनत्वेनेति । दु:खोपधायकक्रियविशिष्टत्वेन, विषयाप्रापयादिप्रयुक्तकालन्तरीण ${ }^{1}$ हु:खस्वरूपयोग्यत्वेन चेत्यर्थः। पुरुषार्थत्वायोगत् सौषुप्तुस्वतुल्यपुरुषार्थत्गयोगात्। अविवेकीति येषां विवेकाभावाज्जाग्रत्व्व्मसुखे उक्षदुःखसाधनत्वाग्रहः, तेषां तत्र बलवह्देषसाग्रयभावादिच्छायां सत्यां तत्सम्पादकविषयाभावादेकाकित्वे रत्यभावस्स्यानुवादिका श्रुतिर्न तु तावता तस्सुखस्य सौषुप्तसुखतुल्यत्वं तच्छुत्या लम्यत इति भावः । न मतेरिति। प्रेरकत्वेन पृथक्तिन च मत्वा मुच्यत इति नोक्तश्रुत्यर्थः। किंतु तत्वमतेः पूर्व प्रेरकत्वेन पृथक्तुन च स्थितमीशमात्मानमखण्डं ज्ञात्वा मुच्यत इत्यर्थ इति भाव: 1 पृथत्तुप्रेरकत्वाम्यां मत्वेत्यर्थकत्वेऽपि न क्षतिीरत्याइयेयाह—सगुणेति । दहराकाशादिरूपेत्यर्थः ! प्रेरकत्वादिना द्विधादिदर्शननमेकधादर्शनोक्तया वयावर्तितमित्यहह-एकधेति। विषयरूपो ज्ञाननिष्ठप्रकारो धाप्रत्ययार्थः। एकपदमखण्ड-

स्यादभैद्जानस्यैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वात्। अत एव प्रेरकत्वन ज्ञानस्य जोषहेतुत्वमुक्तम्। तथोत्तरत्रतपि 'वेदविदो विदिल्वा
रूपकेवलार्थकम्। अतएव नेह नानेत्यम्रिमवाक्येन कैवल्योपपादनं " अद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज़ेय:" "अन्योऽडसावन्योऽ्मस्मीति न स वेद यथा पशु: ,
प्रत्यस्तामितेदें यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
तद्भावभावनापन्नस्ततोऽसौ परमाइ्मना ।
भवत्यभेद़ी भेदश्च तस्याज़ानकृतो भवेत् "॥

इत्यादिश्रुतिम्मृतिसहसं च सङ्ञच्छत इति भावः। न च सड्बययावाचकादेकशब्दात् धापत्ययविधानात् केवलार्थकोत्तर ${ }^{1}$ स्सोऽसाधुरिति वाच्यम् ; कैवल्यस्यापि बुद्धिविषयत्ववद्गौणैकत्वसङ्खयत्वात्। एको देव इत्यादौ नाम्ना, येन जातानि जीवन्तीत्यादावेकवचनेन च तस्यैव प्रत्ययात् । अन्यथा सद्वितीयत्वशक्कानुपमर्दात्, तादृछसस्बयोपलक्षितबोधकस्यापि सौत्रसङ्वयाशब्देन ग्रहातुं शक्यत्वात्, एकशब्दस्य सङ्बयावाचकत्वेऽपि विषायितारूपैकप्रकारयुक्तदर्शनलाभेन निर्विकल्पकदर्श्नलाभसम्भवात्, सविकल्पकस्य विशोप्यतादिरूपनानाप्रकारयुक्त्वेन व्यावतरनसम्भवात्। अभेद्ज्ञानस्येति। चिन्मात्ररूपाखण्डाभेदज्ञानस्येत्यर्थः। जोषेति । ब्नहलोकाद्यवच्छिन्नप्रीतिविशेषरूपजुष्ट्राब्दार्थेत्यर्थः । अतएवाठ्यवहितोत्तरत्वबोधकं तत इति पदमपि सङ्ञच्छते । प्रेरकत्वमतेर्मोक्षहेतुत्वे तु मध्ये जोषाक्किरसझता। तेनेति. तृतीया तु अमृतत्वाप्तौ मननस्य प्रयोज्यतां ज़ाप्यतां वा बोघयतीत्यपि बोध्यम् । यद्यापि जुष्टः शामादिसामगया पाप्तस्सन्नात्मानं क्षेत्रजं प्रेरितारमीध्वरं च

लीना घद्षणि तत्परा योनिपुक्ताः। तदात्ततर्चं प्रमीक्ष्य देही एक: कृतार्थों मवते बीतशोक:' इत्यमेद एव भ्रूये। अतो न भेदज्ञानस्य मोष्षहुतुत्वम्। एतेन नेह नानेति श्रुतिरेव विश्र सत्यमिल्यकाध्यत्वरूपवाधनिवेषेाय विज्नानवादिप्रम्तविक्षनिकेषातुबादिनी किन स्यादिति निरस्तमू। भावाभावयोः परस्परविरहरूपप्वे समेपि भावग्रहो निरपेक्षत्वान्नाभाव्यहमपेक्षते,अभावग्रहस्तु सत्रतियोगितया भावगहमेक्षते । अतो नेति भ्रुतेरेख सत्वभुत्यपेक्षा, पृथक् तदुभयविकक्षणाखण्डरूपेण मत्वा तेनामृतत्वमेतात्यर्थ उक्तवाक्ये सम्भवति ; तथाव्युत्तरवाक्येन पैनरुक्तचाघ्यापत्य्या न तथार्थः। उत्तरं हि
 न्तरं वेदविदो विदित्वा लीना' इत्यादिकं, प्रेरितारं मत्वा अमृतत्वमेतीत्युदीधी।|त्रमेतन्नत्वमृतल्वोपधायकहेडुनिर्णायकम् । तर्मिमघ्रयमित्यादिना सर्वान्तरर्वेनोच्यमानं 'परमं तु श्न वेदविद्दो विदित्वा' वेदने ${ }^{1}$ करणेन साक्षात्कृंय उक्तक्रक्षणि लीना उपाधिमान्रलययैनैकीभूतः योनिमुक्ता जन्महीना भवन्ततियर्थक्यमित्याइयेनाह-तथोत्तरत्रति । श्वेताश्वतरीयोक्कवाक्योत्तरं द्वितीयाध्यायेऽपि तथोक्तमित्याझयेनाहतदात्मतत्वमिति। वीतरोक इत्यस्योतरं ‘ यदात्मतच्वेन तु जघ्सतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपइयेत् ' इति वाक्यम्। तथाच युक्तः त्रिहुन्नतमित्यादिना पूर्वोंत्तयोगविशिष्टस्सन् दीपोपमेन स्वपकारेन, येना ंमनस्तत्वेनानारोपितरूपेणामिन्नं अझ्सतव्वं प्रशयेत्, ततु तदखण्डमेव प्रर्षेण श्रवणाद्युतरं सम्यववेदान्तवाक्येन ईक्षित्वा साक्षाक्कृत्य एको द्वितीयशून्यस्मन् कृतार्थो भवते भवति प्रामोति तदात्मतत्वामिति वेल्यर्थ इति जीवपरयोरैक्यधीरेव मोक्षंटुरुरिति भावः । एतेनेति। पुरुषार्थमूतनिष्पपघ्चसुखबोधकवाक्यझोष्वस्स्य सपपप्चवाक्ये

## 1 वेदनेनेति.

# न तु सत्वश्रुतेर्नेति श्रुत्यपेक्षा ; अन्यथा अन्योन्याश्रयापतेः। 

 ननु—उत्सर्गापवादन्यायोडस्तु। यथा हि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति श्रुतिरविशेपप्रत्तापि हिंतात्वसामान्यस्य प्रत्यक्षादिगाप्त्वालिष्विष्येपस्थिथौ नार्पा|पेमायवाक्यमपि निषेष्यसमर्पणायपेक्षेते, तथा 'नेति’ इत्यादिश्रुतिरविशेपप्रवृत्ताजप व्ववस्थापेनेत्यर्यर्। न तु सश्वश्रुतिरिति । न च सत्व्वश्रुतेरबाध्यत्वविषयकरवाहाध्यताप्रसझ्ञकनेति' नेतात्य्यादि श्रुत्येक्षा युक्तेति बाच्यम्; सन् घट इत्यादिप्र्यक्षगृहीतमवबध्यव्रह्मतादाल्म्यं धटादौ सत्त्वश्रुतिबोधयति, न तु स्वसमानाषिकरणाल्यन्ताभावापतियोगित्वम् । येन ताह्हशाभावपातियोत्वस्य घटादौ प्रसक्जिकां नेतीट्यादिश्रुतिमपेक्षेत । उक्ततादात्म्यस्य भावरूपत्वान्न तदभावरूपपतियोगिप्रसझ्जिकामपि तामपेक्षते । उस्सविरोषणत्वेनाबाध्यत्वज्ञानं प्रति बाध्यं्वज्ञानापेक्षणेऽपि विभ्धवाध्यत्वयोस्संसर्गबोषनं श्रुन्यर्षीनं नापेक्षितम्। किश्च सत्वश्रुतेर्यदि त्रिकालबाध्यत्वस्य यद्विवा्यवहारकालनाध्य्यस्त्याभावो विषयः; उभयथापि प्रतियोगितावच्छेककेन कालाघटितझध्यतात्वेन न बोधिकोक्तश्रुति:; किंतु स्वसमाना|घिकरणत्यन्ताभावपतियोतात्वरूपवाध्यतात्वमात्रेण । यदितु सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षे मायावच्छिन्नचैतन्यसम्नन्धरूपं सत्व्वमेव विषयः, तस्यैव तच्च्वदीपनादौ ठ्यावहारिकसतात्वोक्कः, तदा सत्त्वश्रुतेरापै तदेव विषयो न तु बध्यत्वाभावः। सर्वथा नेततियादिश्रुतिर्न सत्ष्वश्रुत्येक्षणीया। किस्घ सत्व्वश्रुत्या प्रपश्चे बाध्यत्वाभावस्य बोध्यव्वेऽपि नेतीत्यादिश्रुत्या, ‘एवं सौम्य स आदेश’ इत्यदिश्रुत्यां च तद्भावस्य प्रपश्षे बोधानात्रदंशेडनन्योेषत्वं'तस्या अव्याहतामिति माव: ${ }^{2}$ । नाशीषोमीयवाक्यमिति । तथाचामीषोमीयियाक्यमपवादशाखं सदुस्सर्शाखास्य न हिंस्यादित्यस्य बाधकामिट्युस्सर्गापवादन्याय इति भावः ।प्रत्यक्षग्राप्षघटादिसच्चरूपनिषेष्यमादाय निराकाइक्षा सती न प्रत्यक्षाप्राप्तधर्माधर्मादिसत्यत्ववोधिकां 'विश्वं सत्यम्’ इत्यादिश्रुतिमपि निपेष्यसमर्पणायापेक्षितुमहीति। यत्र तु मानान्तरेण निषेष्यस्याप्रापिस्तत्र निषेछ्यसमर्पणाय श्रुत्यन्तरमपेक्षत एव । यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः मानान्तरेण निषेष्योपस्थितावपि वाक्योपेक्षणे अग्रीषोमीयहिंसाया अपि निषिद्धत्वेनाधर्मत्वं स्याप् इति चेत्, मैवम् ; अमीषोपीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषयत्वेनानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्चेन च न निपे७यसमर्पण-
न प्रत्यक्षाप्राप्ति। यघवि धर्माषर्मस्वर्गनरकादेने प्रत्यक्षादिना पात्तिरिति दूष्यमन्थे उक्कम्, नरकादेरिय्यस्य नरकादिसत्यत्वस्येय्यर्य इति तदीयैयै्याख्यात्तम् ; तथाच प्रस्यक्षादीव्यादिना धर्मादिसत्यवव्व्यानुमानादिनाव्यमााप्तिरित्र ${ }^{1}$ रराभिपेतेत् । तथापि धर्मादिक, सत्, वेदेविहितत्वादित, ${ }^{2}$ इल्यनुमनेनेन मन्मते 'सर्वप्न्ययवेये’ इल्यादिमण्डनोक्तथा धर्मादिग्राहकमानेन च धर्मादिसत्यय्वं’ गृद्यत इति आदिपदं भान्यैय परेणेक्तमिल्याझयेन तद्विहाय प्रत्यक्षापाष्तेल्येव धृतम्। यद्यपि एवं घर्मादे रनुमानादिसिद्धं सत्त्वमिव घटादे: प्र्यक्षसिद्धं सत्व्वमवि विक्षं सत्यमित्यादिश्रुत्ने नीतीव्यादिश्रुत्या निषेषायानुददतीति नोस्सर्गापवादन्यायावकाश इति स्पष्टम् । न चानुमानाकुझल ं प्रति घर्मादिसत्त्वबोघकत्वाद्विश्वसत्वश्रुतिर्नानुवाद इति वाच्यम् ; घर्मिमाहकमानेनैव घर्मादिस्यत्यतसिद्ध्।। न हि घर्मादिपमाता तस्सल्यव्वं उ्यावहारिक न प्रमिणोतीति सम्भवति। तथा सति धर्मादिगाहकरास्लादिमानस्य ठ्यावहारिकर्रामाण्यमझापवेतेः। यत्र त्वर्थक्कियादिसंवादाभाव:, तत्रानुमानाकौशलादियुक्तं पुरुषं बोषयन्ती मिथ्यात्वादिश्रुतिरुनुवाद इत्याचर्यैरक्तक्रम्; तथापि परे लालययन् प्रकारान्तरेण समाधते—मैवम् ; अमीषोपीयेति। न्यूनविषयत्वेति।

[^108]द्वारेण निषेघवाक्यरोषता। विश्रं सत्यमित्यद्येस्तु निषेधविषयसमविषयत्वेन ख्वार्थतात्पयंरहितत्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशोषतोचितैव। अत एव प्रत्यक्षाप्रामधर्मादिसच्वोपस्थापनेन वाक्यसाफल्यमपि। स्वार्थतत्पर्परहितत्वेन च नाग्रीषोमीयवाक्यतुल्यत्वमित्युक्तम् । अतो हइयत्वादिहेतोर्धमाघंऐोडपि श्रुत्या न बाधः। अथवा व्यावहारिकसत्वप्रेयं विश्रसत्यत्वश्रुतिः। न च व्यावहारिकसच्चे सर्वाविप्रतिपत्तेस्तत्प्रति-
अमीपोरोयायहिंसाया निषेध्यय्व्वनादिनाइवैधघाहंसाया अपि निकेष्यत्वस्य वाच्यतया निषेध्यमात्रममीषोमीयवाक्यस्य न विषय इति भावः। स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेनेति। स्तुत्यादितातपर्पकत्वाद्यिध्रसत्वे स्वार्थे न तात्वर्यामिति भावः। साफल्यमिति १रभ्रान्न्यनुसरणम्, धर्मादिसत्त्वस्याप्युक्ररत्या प्राप्तव्वात् । यत्तु विष्धं सत्त्यमित्यादिवाक्यमपि धर्मादिमाँ्तस्त्वविषयकत्वान्नेतीत्यादि ' श्रुतेः सर्वद्छइयनिषेघबोषकत्वेन निषेघन्यूनविष्यकमिति, ततुच्छम्; नेति नेतत्यायदिश्रुतिहि इतिशब्दोपाप्तनानाधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्नानानिषेषान् बोघयतीति विशसत्ववाक्यं यदि धर्मददेरेव सं्च्वं बोधयेत्, तथापि धर्मादौ सत्यतात्वावच्चिन्नाभाधबोधकल्वांशे नेतीत्यादिश्रुतिसमानविषयकमेव, निषेध्यतावचछेदकरूपावचाछेन्नविषयताकत्वत्यैव समानविषयकवस्व्योपक्षणीयत्वात् । तावतैव प्रतियोगितावच्छेदकविरिष्टप्रसक्तोर्निव्वाहात् न हिंस्यादिति वाक्यस्य तु भूतहिंसात्वाबच्छेदेन बलबदनिष्टाजनकत्वाभावबोधकत्वे हिंसात्वावच्छेदेनोक्ताजनकररुरूप्रतियोगिप्रसाक्तिसावेक्षत्वात् अमीषोमीयवाक्यं ताद्ठापसक्तिजनकमनपेक्षणीयमेव। ठ्यावहारिकसच्चपरेति। व्यावहारिकसच्चानुवादद्दारा वाकगोोध्यमवृत्याादिपरेत्यर्थः। द्वारीमूतार्थेSवान्तरतात्पर्यन्वीकारमतेऽपि 'इन्द्रो वृत्राय बज्ञमुदयच्छत्' इत्यादौ

[^109]पादनवैसथ्र्यम् ; दशाविशोषे स्वर्गनरकादिसत्त्व्रतिपादनेन तत्राप्रिपरिहारार्थ प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तत्तत्त्रयोजनत्वात् $\mid$ ठ्यावहारिकत्वं च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वम्, न त्वबाध्यत्वम्, मिथ्यात्वबोधकभ्रुतिविरोधात्। न चैवं दृढभ्रान्तिजनकत्वादत्यन्ताप्रामाण्यापत्तिः ; स्वार्थप्रतिपदननवदुपपत्तेः। एतावानेव विशेषःमानान्तरप्राप्तिबाधाम्यां हीनार्थ एव तत्त्वीकारेण विश्वसत्यत्वादौ ताम्यां युक्ते तदसम्भवात्। दशानिरोष इति। परलोकानखीकर्तृवादि. विपतिपत्त्या स्वर्गादौः सत्यतासन्देहदश्शायामित्यर्थः। यद्यपि सत्यं मिथ्यावेति सन्दिग्घमपि स्वर्गादिकं स्वमविषय इव भवति प्रवृत्त्याद्युद्रेइयम्; तथापि ठ्यावहारिकादि सत्यमलीकं वेति सन्दिग्धं तन्न तथेति ठयावहारिकसत्त्वप्रतिपादनेनोक्तसंशयनिवृत्तिद्धारा प्रवृत्त्यादौौ ताहपर्यमिति भावः। श्रुतिविरोधादित्युपलक्षणम् ठ्यावह्हारिकसत्यत्त्वस्य प्रत्यक्षादिसिद्यस्यानुवादद्वारोक्तप्रवृत्त्यादिपरत्वे सग्मवति अपूर्वस्य बाध्यत्वसामान्याभावस्य विषायकत्वे'गैरवाादित्यपि बोध्यम्। हढभ्रान्तीति। श्रुतिजन्यभ्रन्तेर्मानान्तरबोधितार्थविषयकत्वेन संवादान्र्रमत्वशाष्कानास्पदत्वं हृढत्वमिति भावः। अत्यन्ताप्रामाण्येति। उक्तदृधभ्रान्तिजनकत्वव्यवहारेत्यर्थः। स्वमार्थप्रतिपादनवदिति। 'सधीः सवप्गे भूत्वेमं लोकमनुसश्चरति' इत्यादि शुद्धत्वं ${ }^{2} प द ा र ् थ प त ि प ा द न ा र ् थ ा न ु व ा द र ू प ा, ~ ' य द ा ~ क र ् म स ु ~ क ा म ् य े ष ु ~ स ् त ि य ं ~ ' ~$ ₹वझेषु पइयति। समृद्दिं तत्र जानीयात्' इति स्वघदर्शननफलप्रतिपादनार्थानुवादरूपा वा श्रुतिरिवेत्यर्थः। ठ्यावहाररंके विश्वसत्त्वे चावान्तरतात्पर्यभावं सफुटयति-एतावानिति। तहस्वाम 'मिथ्यात्वश्रुतिर्द्विधार्था, नेह नानेत्यादिरधिकरणामावयोस्संसर्गबोधिका 'प्रपश्च्चोपशमं शिवमद्दैत, अस्थूलममनु, इत्यादिस्त्वखण्डव्रह्मार्था समानाषिकरणनाह्मोस्सोऽयमित्यादा|विवाखण्डार्थतवस्य सिद्धान्ते स्वीकारात्, तत्राडsध्याया अख-

तत् प्रातिभासिकं इंद तु व्यावहारिकमिति। नजु मिथ्यात्वश्रुतेलक्षणया अखण्डचिन्मात्रपरत्वेन सच्चवोधनाविरोधित्वमेव, न ; अखण्डार्थबोधस्य द्वितीयाभावबुद्विद्वारकत्वेन जगत्सत्यत्वविरोधित्वात्। न च प्रपश्वसत्यत्वश्रुतेरम्रामाण्यप्रसङ़ः ; अतच्वावेदकत्वस्यावान्तरतात्पर्यमादायेष्टत्वात् । परमतात्पर्येण तु तत्त्वावेदकत्वं सर्वश्रुतानामपि समम्। ग्रातिभासिकव्यावृत्तस्य व्यावहारिकस्य तद्वाति तत्प्रकारकत्वादिरूपस्य निराकर्तुमशक्यत्वादासां व्यावहारिकं प्रामाण्यमव्याहतमेव। 'असद्वा इदमग्र असतीत्' इत्यादिश्रुत्यनुरोधनापि 'तत्सत्यम्' इत्यादिश्रुति ने ब्रह्माणि ठ्यावहारिकसत्वपरा; ब्रह्मणो च्यवहारातीतत्वात्। तस्यापरमार्थत्वे च निरधिष्ठानतया शून्यवादापत्ते:, किश्रित्तत्वमगृहीत्वा च बाधानुपपत्तेः। अतएव सत्वभ्रुतिविरोधेन ण्डार्थषीकारणं अधिकरणे प्रपश्वाभावसंसर्गबोधं प्रति जनकत्वात् प्रपश्च्चसत्यताधीिविरोधित्वं स्पष्टम्। द्वितीयाया अपि द्वितीयाभावेपपक्षिताखण्डव्रह्मरूपठ्यावृत्ताकारत्वेन तद्विरोधित्वमुक्तं व्यावृत्चाकारता द्वेधेत्यादि-भ्रन्थेनेत्याशयेनाह-न अस्वण्डेति। द्वारकत्वेनेति। आद्यायाः श्रुतेः द्वितीयाभाववत्त्वेन बुद्धाववान्तरतात्पर्यम् । द्वितायायास्तु द्वितीयाभावोपस्थितिद्वारा तदुपलक्षित ${ }^{1}$ बोधपरत्वमिति भावः। अवन्तरतात्पर्यमिति। उक्रम्रवृत्यादावित्यादिः। तत्रकारकत्वादीत्यादिना ठ्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वादेस्सक्फ्रहः। अगृह्हात्वा चेति । चकाराद्वाघानुपपात्तिमात्रस्य हेत्वन्तरस्य समुच्चयः। तेनाधिकसत्ताकवस्तुज्ञानस्यैव बाधकत्वपक्षे तार्त्विकविषयज्ञानं विना न ठ्यावहारिकप्रपश्षबाष इति तात्विकं ज्रद्सावश्यकम्। बाध्यान्यूनसत्ताकविषयकज्ञानस्यैन बाघकत्वपक्षे तु साक्षिरूपं त्रह्स न बाध्यम्, साक्ष्षिणो बाधानुपपत्तेः । तह्बाधे साक्ष्य्त्तर-

मिथ्यात्वशुतिरेवान्यपरेत्यपि न, पड्विघतात्पर्यलिझोपेतत्वेन मिथयात्वश्रुतेरनन्यपरतया प्रबलत्वात्, वैदिकतात्पर्यविषयस्य च तात्विकत्वनियमेन तात्पर्यझापकानामपि लिद्धानामर्थतथात्व स्वीकारापत्त्याऽनवस्थ।पत्तेरित्यर्थो लम्यते। अत्रास ${ }^{1}$ द्वेत्यादिवाक्यं नासझोधकम् ; असतः प्रकृतवाक्यार्थानन्वयात्, तत्र मानाभावाच्च । किंतु स्वबोधकं ‘तद्वैक आहु:' इत्यादिना स्व'बोघनद्वारा सत्वैव सोम्येद्वमिट्येतताइपर्यकत्वात्। अतएव कथं नु खस्वित्यादिनाऽर्थहीनत्वेनोक्तवाक्यमेवाक्षिप्यत इति न परकीयशक्कावकाश इति ध्येयम् । यत्तु-‘ द्वितीयामावस्य म्रह्मातिरिकत्वेऽखण्डार्थविरोधित्वान्न सहोषे द्वारता, तस्य श्रहूपत्वे तु तद्राररिका धीरपि न जगत्सत्वविरोधिनी’ इति, ततुच्छंम् ; द्वितीयरूपरक्षणादिज्ञानस्येन द्वितीयाभावरूपद्वितीयज्ञानस्याप्यखण्डार्थनुद्धौ प्रयोजकत्वेनाप्रतिबन्धकत्वात् । द्वितीयत्वेन संद्वैतत्वज्ञानस्यैवद्वैतधीप्रतिबन्धकत्वात्। किज्च अधिष्ठानज्ञानं अमोत्पत्तौ विरोधि, न तु अमोडधिष्ठानज्ञानोत्पत्रै, युक्तया ह्वैतस्य बाधितत्वादपि न तद्धीर्विरोघिनी, ठ्यावहारिकपामाण्यानपवादात्, अखण्डार्थधीप्रयोजिकेति द्वितीयामावस्य ब्रह्मातिरेकेडपि क्षतिविरहात् । श्रक्षरूपत्वेऽपि द्वितीयाभावत्वेन ब्रह्मधीद्वारकधीर्विरोधिन्येवेत्यलं मूढविडम्भनेन। ननु यत्र तात्पर्य त ${ }^{3}$ स्याडद्दैतस्य सिद्धावपि न तस्य तात्तिक्वंवं सिद्धयति, तस्य च्यावहारिकत्वेऽपि तहोधकश्रुतेः कर्मकाण्डवत् प्रामाण्योपपच्चेस्तत्राह- वैदिकतात्पर्येति। वेदपरमतात्पर्येत्यर्थः। तथात्व इति । तात्विकत्व इत्यर्थः । पर्यवसानादिति । अंद्वैतवाक्यस्य पदार्थशोधनद्वाराऽखण्डवाक्यार्थमहातात्पर्यकत्वेऽपि अखण्डवाक्गार्थस्यैवाद्वै। रूपस्य तात्तिकत्वसिद्धिरिति भावः। नन्वेवं निभ्यसच्वेऽपि श्रुतेस्तात्पर्ये लिजमसित 'आपश्व न प्रमिणन्ति' इति प्रामा-

[^110]एव पर्यवसानात् । सत्वश्रुतिवाक्यस्थपदानां चान्यपरत्वाष्ष सत्चे तात्पर्यलिड्जाराङ्रा। ननु यदि सत्वश्रुतिः प्रत्यक्षग्राप्तार्थत्वान्न स्वार्थपरा, तर्हिं मिथ्यात्वश्रुतिरपि तहिरुद्धार्थत्वात् स्वार्थपरा न स्यात्, तत्र्राप्तितद्विरोधयोस्तात्पर्याभावहेत्वोरुभयत्रापि समत्वादिति चेन्न ; प्रत्यक्षपपेक्षया चन्द्राधिकपरिमाणबोधकागमस्येन मिथ्यात्त्वोधकागमस्यापि बलवत्वेन प्रत्यक्षग्रापानु ${ }^{1}$ वादिसत्वश्रुत्यपेक्षयाऽपि बलवत्वात्, प्राप्तार्थाप्राप्तार्थयोर्मध्ये प्राप्तार्थस्याप्राप्तविध्यर्थत्वेनान्ग्यरोषत्वनियमात्, अप्रापार्थस्यानन्यरोषत्वेन बलनत्वाच । अन्यथोभयोरप्यप्रामाग्यापत्तेः। तदुकंत्तं संक्षेपशारीरके—' अतत्परा तत्परंवेदवार्यैर्विरुद्धचमाना गुणवाद एव' इति । अतएवानन्यशेषमिथ्यात्वभ्रुतिविरोधान्न স्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वरूपस त्यत्वपरा जगत्सत्यत्वश्रुपिरित्युक्तम्। अद्वैत्रुतेश्र प्राबल्ये निरवकाशात्वतात्पर्यवच्वादिकमेव भ्योजणिकत्वरूपायाः तन्न मोघमित्यर्थकियाकारित्वरुपायाश्योपपत्तेर्वाक्यशोषे उक्तत्वादिति विश्वसत्त्वमपि तात्त्विकमस्तु, तत्राह-स सत्वश्रुतीति । अन्यपरत्वादिति। अन्मन्मते श्रुतिमात्रस्य ${ }^{2}$ अन्मपरमतात्पर्यकत्वात् पररीत्यापि स्तुत्यादिद्वारा वादिविपतिपत्तिनिरासद्वारा वा कर्मम्रवृत्तिनिवृत्विपरमतात्वर्यकत्वादित्यर्थः। चकारान्मानान्तरप्राप्तिबाधाभ्यां विश्वसत्त्वे तात्पर्यासम्भवः। तद्विरुद्धेति। प्रत्यक्षतदनुवादिश्रुतिविरुद्धेत्यर्थः। प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्वश्रुतीति । प्रत्यक्षं च तत्राप्रानुवादिश्रुतिश्रेत्युभयेत्यर्थः । प्रत्यक्षापेक्षया बलवत्त्वमागमत्वादिना विवेचितम्। श्रुत्यपेक्षयापि यद्धपि तत्तद्विवेचितम् ; तथापि दूषणन्तरानिराचिकर्षयाभूयो विवेचयति-प्राप्तार्थेति। अतत्परा विश्वसत्त्वादिश्रुतिः। गुणवादः तत्परवाक्यार्थरोषीभूतार्थबोंकृत्। अतएव जगत्सत्त्वश्रुते र्गुणवादत्वा-

[^111]कम्, न, निपेधवाक्यत्वम्। एतेन निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये किति तद्विते वृद्विविधायकात् 'कितिच' इति सूत्रात्सामान्यतो गुणवृद्दिनिषेधकं ‘किछ्ड्ति च' इति सीत्रं बलवत्स्यात्, अग्रीषोमीयबाक्यादहिंसावाक्यं पोडशिनो ग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यं 'सल्यं ज्ञानम्' हत्यादिवाक्यात् ‘ असदा इदमग्र आसीत्' इत्यादिवाक्यं च बरकवत्त्यादित्यपास्तम्, सामान्यनिशोषभावादिना सावकाशत्वनिर्वकाशत्वादिरूपचल ैैपरीत्यात्, 'विश्वं सत्यम्' इत्यादेस्तु व्यावहारिकसत्यविपगतया अन्यरोपतया च सावकाशत्वादे: प्रागुक्तत्वात् । तस्मान्न सच्वश्रुतिविरोधः। नापिअसत्यमप्रतिष्टं ते जगदाहुरनीश्वरम् । एतां बुद्विमवष्वम्य नष्टात्मानोऽल्पवुद्दूयः॥
देव। सा₹काइल्वेति। सावकाशत्वादिरूपं निरवकाशत्वादिरूं च यदूलं चैपरतल्यं च तत्वंथति समाहारद्न्द्दो व्युक्कमेण ${ }^{1}$ चान्वय: ।
 रूपं यन्निरखकाशत्वादिबकल्य वैपरीी्य तम्मादित्यर्थः। 'किङति च’ इति निषेघन्तु इसकक्षणगुणनृद्धघंःः। किति चेति विहिता बृद्यिस्तु नेग्रक्षणा। इर्रक्षणत्वं हीक्पदमुच्चार्य विहितत्वम्। तथाच भिन्नविषयव्वादत्र सामन्यविशोषन्यायोक्तिर्भान्यैन परस्येल्यपि बोध्यम्। यतु दार्ब्यादिप्रयोजक्तया विध्वसच्चभ्रुतिक्तवरैवैवेत, तन्निरस्तमेव। यद्वि ' यद़अ दाइयुपं व्वमझे भद्रं करिप्यसि ${ }^{2}$ तवेत्तस्सत्यम|ज्रिरः, अजो न क्ष्मां दाघार पृधिवी तम्तन्म यां मन्त्रेमिस्सल्यैः' इस्यादिश्रुतितिर्मन्चत्बादि-
 बाध इति, तदापि तुच्छम् ; सर्वनाम्नेल्यादिपदेने दृइयव्वादिरूपेंगेव मन्त्रत्वादिविशेषरुपेणापि मन्रादे

[^112]इत्यादिस्मृतिविरोधः ; सद्विविक्तत्ववादिनो मम जगत्यसद्वैलक्षण्याङ्झीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृतिविरोधाभावात् 1 ननु 'नाभाव उपलबधेः, तैंधर्म्याच न स्वभादिवत्' इति स्तन्रद्वयेन जगतः पारमार्थिकसत्त्वबोधनेन विरोधः, न चानेन शन्यवादिनिरासार्थेनासद्वैलक्ष्य्यमात्रत्रतिपादनान्न विरोधः ; अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्यासद्वैलक्षण्यस्य शून्यवादिमतेऽपि सत्वेन तन्मतनिरासार्थत्वानुपपत्ते:, निषेधाप्रतियोगित्वरूपस्यासद्वैलक्ष्ण्यस्य त्वयाप्यनङ्भीकारात्, असंद्वैलक्षण्यमात्रस्य साधने संत्रे स्वमवैलक्षण्योक्तययोगाच, व्यावहारिकसत्यत्वमात्रेण स्वम्नैलक्षण्यस (त्वयाप्यद्भीकारात्, असद्वैलक्षण्यमात्रस्य) तन्मतेऽपि सत्वाच । तदुकं बौद्दै:-‘द्व सच्चे समुपाश्रित्य बुद्दानां धर्मदेशाना' इति चेन्न ; सूत्रार्थानवबोधात् । तथाहि-सदूपाद्रद्मणो जगत्सर्ग वद्तस्समन्वयस्य सर्वमसदित्यनुमानेन विरोधसन्देहे-

## न सन्नासन्न सदसन्न चानुभयतत्त्वकम्। <br> विमतं तर्कपाड्यत्वान्मरीचिषु यथोदकम् ॥

परोक्तश्रुतेस्तात्पर्याभावाच्च। तत्र्रतिपाद केति। जगति सद्वाविक्तत्वस्यासद्वैलक्ष्पण्यस्य च प्रतिपादकेत्यर्थः। उकस्मृतौ हि यतोऽनीभ्वरमीश्वरानुपादानकमतोऽसत्यं सत्योपादानशून्यं, अतश्र बाधावाधिरूपप्रातिष्ठरून्यं जगदिति ये माध्यमिकादयो वदन्ति तन्निन्दया सल्येप्वरोपादानकं तत् ج्वबाधावधिसहितमिति प्रतिपादितम्ं। तथाच सदुपादानकत्वाहाध्यत्वाच सद्साद्विरक्षणामिति मन्मतमेव तदिति भावः। शास्रदर्पणोक्तामधिकरणरचनामाह --तथाहीत्यादि। वद्तः प्रतिपादयतः । समन्वयस्य प्रथमाध्यायस्य । तर्कपीङ्यत्वादिति। तर्कविरुद्धरूपादित्यर्थः । तथाच न सत् बाधयोग्यत्वात्, ना सत् कालादि-

1 पादानजन्यं.

इति बह्नसाधारण्यान्भिस्तक्वतायां प्रात्तायां स्त्रेण परिहारः। सतो ब्रह्मणो नाभावः न शून्यत्वं, उपलबधेः सत्वेन प्रमाणात्रतीतीः । तथाच किश्कित्परमार्थसदवश्यं शून्यवादिनापि स्वीकार्यम्। अन्यथा बाधस्य निरवधिकत्वप्रसङादिति सूत्रार्थः। स च न प्रपश्धमिथ्यात्वविरोधी। तथाचोक्तम् बाधितोपद्रवो ${ }^{1}$ मांनैर्ण्यावहारिकमानता। मानानां ताच्चिकं किश्विद्वस्तु नाश्रित्य दुर्भणा।।
सम्बन्धात्, न सदसत् विरोषांत्, न चानुभयतन्वकम् ताश्विकयोः सदसदेदेभयोरभाववत् सदसद्विन्न्वाभ्यां निर्वन्तुमशक्यत्वादिति बोध्यम् । विमतमिति सत्वेन पर्तात्यर्हमिंट्यर्थः। तेन नुच्छे न बाधासेद्धी । चरमसाध्यद्दूये तु धीविषयत्वमात्रेण पक्षता, तुच्छेडवि हेतुसाध्ययोस्सत्त्वात्। ज्रह्ससाधारण्यादिति। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितेतुद्देइयंव्वादित्यादिः। न शून्यत्वमिति। ज्रक्न न बाध्यं बाधायोग्यव्वादित्यत्र तात्पर्यम्। निरवधिकत्वेति। बध्याध्रकसत्ताकवस्तुझून्य्वे्वेयर्थः। न ${ }^{2}$ च तदनुपपन्नमित्याशयेनहह-तथाचोक्तमिति। शास्रुदर्पण इति शेषः। मानैः वस्तूनामप्वयो बाधितः, तात्विकल्वं सिद्धचति। यदि तात्विक न स्यात्तदा बाधरून्यममेयं न स्वात्, शुक्तिरूप्यादिवत्, बाधशून्य्वं चंग्रे व्यावहारिकेल्यादिना उपपादन्गययमिति भावः। अथवा मानानामबाधितविषयकत्वरूपपामाण्यस्यौत्सर्गिकत्वात् वस्तूनामप्बवो बाधो बाधितो न सम्मवति। ननु बाषकपमाणादौत्सर्गिकस्याववादोडस्तु, तत्राह— व्यावहारिकेति। बाधितविषयकेत्यर्थः। अनाश्रित्य बाष कविषयत्वेनाम्वीकृत्य,। यद्वाघक्त्ञानं तद्वाध्यापेक्षयाऽषिकसत्राकविषयं, अन्यथा समबकत्वेन बाध्यवाघकत्वानुपपत्तेः। अतस्तात्विकविषयकधीरेख व्यावहारिकमानबाधिकेति भावः। अथवा अनाश्रित्य

[^113]इति। नापि स्वपवैधर्म्योक्तययोगः, तस्याः 'विमतं निस्तत्वम्, तर्कपीज्यत्वात्, मरुमरीचिकाजलवत्' इत्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणागम्यत्वद्रोष जन्यत्वाद्युपाधिप्रद्र्रनपरत्वात्। विज्ञानवादनिराकरणपरेणापि नानेन सूत्रेण विरोधः। रूपादिरहितन्रह्मजगदुपादानत्त्रत्रतिपादकसमन्वयस्य नीलाद्याकारं विज्ञानं साधयताऽनुमानेन विरोधसन्देहे -

स्वपधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्धचाऽर्थस्य सहेक्षणात्।
तद्भेदेनानिरूप्यत्वात् ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम् :।
विमता धीः, न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्, स习्मधीवत्,
साक्षित्वेनास्वीकृत्य, साक्षिणोऽपि बाधस्वीकारे साक्ष्यन्तरं तत्साधकं वाच्यम् ; तद्वाधकसाधकमपि साक्ष्यन्तरामित्यनवस्थानात्फुुरणं नास्तीति बाधानुपलळछेश्र साशक्षिरूपं ञ्रह्म तात्त्विकमंव वाच्यमिति भावः। उपाधिदर्शनेति । बाध्यत्वादेक्म्वव्नधर्मस्य ब्रह्मादावभावप्रदर्रोनेन स्वमाद़ी निश्रितसाध्यव्यापकत्वं ब्रह्माणि साधनाव्यापकत्वं च दर्भितामिति भावः । विमता नीलाद्यनुमवरूपा धीः, न ज्ञानष्यतिरिक्तालम्बना,
 ${ }^{1}$ बाद्यरूपसमानसत्ताकनीलादितादाइ्म्ययुक्तेति वाऽर्थः। आस्तिकमतेऽनु भवत्वशून्य एव नीलाद्वि:, औौपनिपद्दमतेडपी नील्गादितादात्यम्यमनुम निष्ठं नानुभवर्वरूपसमसत्ताकमिति न सिद्धसाधनमिति मावः। धीत्तात्। अनुभवत्वात्। स्वमीवदिति । अंनुभवविषयकस्वप्तथीवदित्यर्थः। औपनिषदमते स्वसस्यावच्छिन्ननुभवस्य शुद्धानुभवविषयतारूपतादास्यान्न साध्यैवैकल्यम्। न च ताद्टरानुमवविषयस्य जडस्यानुभवत्वशून्यत्वात्तद्वस्थमेव तदिति वाच्यम् ; अनुभवविषयकत्वावच्छेदेनानुभवाविषयकत्वसत्त्वात् | औपनिषदें प्रत्यनुभवत्वाश्रयविषयकत्वमेव वा साध्यम्।

# विपक्षे च ज्ञानाभानेज्प्र्यभानप्रसक्षो बाधकः। न हि भिस- 

 योरश्रमहिपयोस्सहोपल्म्मनियमोडस्ति। तस्माब ज्ञानातिरिकं सदिति प्रास्ते परिहारस्र्रं ‘नाभाव उपलुन्षे’ इ इल्यादि ।
## बाघेन सोपाधिकतानुमाने उपायभावेन सहोपल्मम्भः।


 नीरुख्वाघाश्रयविपयकलावच्छेनैनैवानुपवविपयकलं स्वीकियत हूति न बाषः। एवं-नीखाबनुमझः स्वसमसताकनीक्तादिसेस्सर्गयक्तः, अनु-
 संसर्गानान्, यथा अनुभववृष्वकानुमवेठ्डुभववृत्त्युमव्वस्म स्वसमानसताकसंसर्गयानिति सामन्यतो क्याप्रिरापि बोध्या। बुद्धचाडर्येस्य सहेक्षणादिलयदे रुक्रक्तरक्षपदर्शनपपर्वमाह -न हीति। तथाच सहोपरुम्मॅनियमजज्ञानयेपेनार्थानिरूपणम्। अतो ज्ञातब्बात् ज्ञानमर्थाकारकमिति बुद्धेयेयार्थ इति भावः। ननु ौौद्यमेत तुच्छह्य ज्ञातल-
 सदिति। ज्ञातवसूून्यं न स्व्ं न तुच्छविउस्षणनित्यर्थः। तथाच तुच्छविरक्षणवविपयक्ञानल्यमेवनुमवब्वम। तुच्छज्ञानुं विकल्पो नातुभब इति न न्यमिचर्यन्युमव्वमीति भावः। बाधेनेति। सहार्ये तृतीया।

 भभा उपायमूता रूपयहे विधयसनिक्विघ्बाव तावतापि न रूपं प्राामकं, तथा ज्ञाने उपायमूतो विषयम्तज्ज्ञाने विपर्यीभवति, विष-


[^114]सारूप्यतो बुद्धितदर्थमेदः ₹शूलार्थभक्षो भवतोऽपि तुल्यः। सूत्रार्थस्तु-नाभावः ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस नासत्वम्; किंतु उ्यवहारदशाताध्यार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्व्वमेव उपलब्धे:ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलन्धेः। स्वमवैधर्योंक्तिवां्यत्वाह्युपाधिप्रदर्शानाय। तेन बाधल्सोपाधिकत्वाच पूर्वान्नुमां दुष्टमित्यर्थः। तस्मानैधमपि विरोधगक्र। तनुक्तम्-"तस्पान्न ज्ञानाकारोर्थः,

द्विषयस्योपायत्वोक्तिः। अथवा उपायो ज्ञानपहस्य ${ }^{1}$ विषयम्यहकतानेयामकं ज्ञानविषयकव्वं, तस्य भावेन विद्यमानत्वेन, सर्वथापि सहोपळम्भो नोक्तसाध्यसाधक हृति भावः। ननु ज्ञानमात्रेण सकरुठ्यवहारोपपतौ ज्ञानात्यन्त²मिन्नर्थकङ्नने गौरवम्, तत्राह —स्रारूव्यत इति। अपिशब्द: काकाक्षिन्यायेनोभयसम्बद्धः। स्थूलार्थमझेडपि सारुव्यतो ज्ञानतदर्धयोरल्यन्तभद: सौत्रान्तिकस्येव तव योगाचारस्यापि आवइयकव्वेन तुल्यः। सौत्रान्तिको हि स्थूलमवयविनं पृथिन्यादिचतुष्टान्यगुणाएदिकं
 विषयस्य प्रतिबिम्बरूपं सारूप्यं तदम्युपगतं न स्यात्, त्वयाऽवि तथाऽनझ्गीकारशालिना तथाऽङ्रीकार्यम्। अन्यथा सारूप्यशब्दितं विषयात्मकरूपस्य साहित्यं तद्म्युपगतं न स्यात्। न च विषयतादालात्यं स्वसमसत्ताकमेव ज्ञाने सारूप्यं ममेति वाच्यम्? तादात्न्य ${ }^{3}$ स्वीकारेऽवि तन्य ₹वसमसत्ताकले मानाभावात्, एकस्मिन् ज्ञानस्वरूपे तात्तिके सर्वविषयाणां तादांत्यस्वीकरोण निर्वाहेडन्त्तज्ञानोत्पत्तिकल्पने गौरवात्। न चौपनिषदानामपि विषयाणामनन्तनामुत्वत्पित्तुल्येति वाच्यम्; औपनिषदानामनादिविषयकज्ञानस्थले कस्याव्युत्त्रेरकल्पनात्तव तत्रापि ज्ञानोत्पत्तिकल्पनादिति भावः। बाध्यत्वाद्युपाधीति। स्वमधीर्बाध्येति

किंतु बाह्यः, स चार्थकियाकारित्वसत्व्वोपेतोडप्यद्वैतभ्रुतिवशाद्रह्नाणि कल्पितो न परमार्थसन्निति सिद्बान्तस्य सुगतमतान्देदः " इति। उक्षं चत्मतत्वविवेके-

> न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्वाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः ।

नो चेद्नित्यमिदमीट्टामेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ।।
इति । धर्मिग्राहकमानबाधश्र प्रागेव परिह्त इति रिावम् ॥ हति विश्वमिथ्यात्चस्यागमादिबाधोद्दारः.

तत्र साध्यव्यापकता, जाग्रद्धीश्य न बाध्येति तत्र साधनाक्यापकतोति भावः। ननु मिथ्यांवानुमाने मानसिद्धस्यैव पक्षीकार्यत्वाद्धर्मिय्राहकमानबाधस्स्यात्तत्राह—धर्मीति । धर्मिग्राहकमानगतं ठ्यावहारिकं प्रामाण्यमुपर्जीठ्यम् । एतच न मिथ्यात्वानुमानेनापसार्यते । यच तात्त्विकं प्रामाण्यमपसार्यते, तन्नोपजीव्यमित्यादिना पूर्वं तत्परिद्दतमित्यर्थ:॥

तैैैस्सारस्वतै रतैश्चन्द्रिकाचन्द्र्रभूषणैः।
मिश्यात्वस्यागमाधैरप्यबाधाद्यूान्तभअ्जनम् ॥
ईति विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधोद्धारः.

## University of mpysore

Oriental Library Publications
GENRRAL EDITOR
M. S. BASAVALINGAYYA, M.A., Curator, Govt. Oriental Library, Mysore.

SANSKRIT SERIES No. 78
अं्द्धेत सि द्धि :

गु रु च न्द्रि का खुय क्या ख्या स म ल हृ ता
द्वितीयसम्पुटम्

## THE ADVAITASIDDHI

WITH THE
GURUCHANDRIKA

Vol. II<br>kdithd by<br>Vidvan's. NARAYANASWAMI SASTRI

$$
\begin{gathered}
\text { MYSORE } \\
\text { PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS } \\
1937
\end{gathered}
$$

## द्वितीयसंपुटगतानां विषयाणमनुकमाणिका.

पृष संख्या.

1. असतः साधकलेपपपति: ..... 1- 11
2. असतः साधकत्वाभावे बाधकांनखूपणम् ..... 11-10
3. छऋछछइयसंबन्धभनः ..... 40-61
4. अनुकूलतर्कानहपणम् ..... 61-112
5. प्रतिकर्मव्यवस्थेपपत्तिः ..... 113-165
6. प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् ..... 165-208
7. मिथ्यात्वक्रुग्युपपात्तः ..... 209-230
8. अद्वैतभ्रुतर्ब धोद्वारः ..... 230-258
9. एकमेवेल्यादिश्रुल्यर्थभिचार: ..... 258-313
10. ज्ञानानवर्ल्यव्वन्यथानुप्यत्ति: ..... 313-331
11. दृं्टिसेष्युपपत्तिः .....  ..... 332-347
12. एकजीवाज्ञानकल्यितत्वापपर्ने: ..... 347-357
13. अविचाइक्षणापपतिः ..... $358-366$
14. अज्ञानप्रल्यक्षोपपत्ति: ... ..... 367-406
15. अज्ञानवादे अनुमानोपपनिः ..... 406-425
16. भ्युग्युपपनि: ..... 425-432

## श्रुद्धाधुड्धपत्रिका.

| पुटम्. | प15\% | अशुद्धम्. | डुद्धम्. |
| :---: | :---: | :---: | :---: |
| 4 | 24 | पुस्तक | पुस्तुके |
| 6 | 15 | वबोध | त्वबोध |
| 13 | 2 | ष्यहार: | ठ्यवहारः |
| 25 | 20 | सद्रपसय | सद्रूपस्य |
| 44 | 3 | विषंडित्व | विषयित्व |
| 50 | 23 | समवते | समवेत |
| 60 | 10 | तज्ञन | तज्ञान |
| 65 | 11 | डुद्ध | ( ञुद |
| 65 | 12 | ठ्यवहार. | वंयवहारः) |
| 76 | 22 | न्याये-द. ढ. | न्याये दृढ |
| 121 | 21 | वर्विति | व।स्त्विति |
| 123 | 19 | काल | काले |
| 124 | 17 | Sहेतुकप्रतिसन्धानप्यक्षर | हेतुकप्रतिसन्धानेऽप्यक्षुर |
| 137 | 12 | धर्म 3 | धर्म ${ }^{2}$ |
| 143 | 17 | भाव | भावा |
| 219 . | (2) | भागान्त्य. | भागन्वग: |
| 219 | 21 | द्रवा: | द्रव: |
| 220 | 7 | ज्ञानाऽपूर्व | ज्ञानात्पूर्व |
| 243 | 11 | आपदेत | आपादिते |
| 245 | 14 | भेदाथर्कत्वं | भेदार्थकत्वं |
| 266 | 11 | दोध: | द्वोध: |
| " | 20 | एकां द्व | एको द्वा |
| 270 | 18 | हिरुसाना | हिरड़्न।ना |
| 292 | 12 | सत।योग | सन्तायोग |
| 431 | 4 | युष्माकामन्य | गुष्माकमन्य |
| , | $2: 3$ | ल्यदि | ल्यदि |

# सव्यार्या अंद्वससिद्धि:. <br> द्वि ती य स न्पू ट म् 

## अढ्देतसि दि:

## अथापत: साधकत्वोपपत्तिः

ननु सच्चसाधकानां मिथ्यात्वसाधकनुनुमानेक्यः प्राब-
 बेधने सर्भैमिथ्पात्वासिद्धिः । तद्देघघने परस्रण्याहति-

## गु रु च न्द्रि का

## अथासतः साघकत्वोपपत्तिः

परस्परेति। मिध्याबवसाधकानां न्यायवाक्यघटकपतिजादाीनामनुमितेशेश्र मिथा व्याघातः ; पविज्ञया मिध्यात्वस्य हेठुवाक्यादिना हेतुल्वादेश्वावाध्यंत्वलाभ:, प्रतिज्ञाघधीनानुमित्या च मिष्यात्वादिरूपस्य छइयमात्रस्य मिध्याव्बरूपवाध्यत्वक्रम इति व्याघाताव्। एवं पक्षादौ तद्विऐषेषणीमूतषर्माणममाबस्य मिध्यात्वानुमिया विपयीकरणादाश्रयासिद्धधादिकम्। तथाचोक्रव्याघतादिसत्त्तेन ${ }^{1}$ मिध्यात्बसाषंकं दुर्बलमिति भाव:। प्रतिज्ञादिना मिथ्यात्वादेरवाघ्यत्वं कथं लम्यते ?"

1 समत्वेन ग.

तेन तस्य तथा बोधनात्, तस्य तंत्रमेयत्वानुपपचेत्वर्व। नांत्यः; व्यविं हारकालाबाध्यत्वैनैव तत्रमेयत्तोपपतेरिस्याशायेनाह—मिथ्यात्वेति ₹ भाधं प्रत्याह-प्रतिश्ञादिभिरिति। त्रिकालाताध्यत्वेति। तदर्थकपदस्य प्रतिज्ञादावभावान्न तस्य तद्वोषकत्वम्, धीमात्रस्य त्रिकाल्मबाध्यरूपसदूपविषयकत्वपक्षेडपि सद्रूपतादास्मेन स्वविषयं ${ }^{1}$ घीमात्रमवगहते, न तु त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्वेनेने भावः ॥

नन्वेवमप्याश्रयासिद्धयादिकं स्थितमेव ; न च मिथ्यात्वानुमिते: पूर्वमशश्रयासिद्धय।दिनिश्वयाभावाच्तस्या उत्पत्तिरविरुद्ध तति वाच्यम् ; कार्यकालेऽपि बाघबुद्रदयमावस्यापेक्षणीयत्वेन मिथ्भात्वानुमितेर्हईयमात्रस्स स्वाषिकरणनिष्ठामावपतियोगित्रावगाहिन्या उत्पत्त्यसम्भत्रात्, प्रतित्ञादिजन्यमिध्यात्वबोधेन तस्याः पूर्वमप्याश्रयासिद्धचादिविषगीकरणाषेति, चेन्न ; ठ्याहत्यभावादित्यनेनैन्वश्रयासिद्धयादिकृृतः्यानुमित्यादि याषात-: स्यापि निरसनात् । तथाहि—अनुमित्या प्रतिज्ञादिजन्यबोधेन वा षक्षतावच्छेदकविशिष्टे मिध्यात्वं बोध्यते। न च तावता आश्रया-, सीद्धिधी: ${ }^{2}$; पक्षविशेषणतावच्छेदकरूपेण पक्षनिष्ठाभावपतियाोत्तानिश्षयस्याजातत्वात्। एवं न स्वरूपासेद्वघादेकमपि, हेतुतावच्छेदकादिविशिष्टे पश्षादिनिष्ठाभावपरतेयोागित्वनिश्रयाभावात्। विशेषानुमाने उक्तरूपविशिष्टे स्वाश्रयनिष्ठाभावपतियोगितात्वविशिष्ट्रकारकनिश्भये $ऽ प ि ~$ नाश्रयासिद्धघादिशक्बपि। किश्चाश्रयासिद्धयादिलक्षण प्रतियोगिठ्यषिकरणाभाबस्यावइयं निवेइयत्वान्मिश्यात्वघटकाभावस्य चातथात्वान्न दोषः ॥

1 स्वविषंयं क. 2 सिद्धिबाधधी:.

#  

 स्वस्वपरोष्षधीविषयत्वं सत्तेन ताहराधीविषयत्वं वा साघकताघ्रयोजकम् ; तुच्छे नित्यातीन्द्रिये चाव्यास्यतिक्यातिम्याम्। तत्त्वेव छ्नानमपि न तत्र प्रयोजकम् ; वद्वित्वेनाइ्ञातेऽपि वह्षै। दाहकत्वदर्शनात्, वड्दित्वेन जातेऽपि गुआपुझे तददर्शनाँ्व। नापि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता सक्षप्रतीतिस्तन्त्रम् ; आत्मनो गौर-

यचु प्रतिज्ञादिभिखिकालसत्त्वाग्रहणे Sपि कदाचित्सत्त्वेन स्वविघयम्रहणात् त्रिकालासत्त्वम्राहिण्यां मिथ्यात्वानु|मितेर्निरोध इति, ततुचछछम् ; तैः कदाचित्सत्त्वेनाप् स्वविष'याय्रहणात् तत्तहोधक ${ }^{2}$ पदाभावादेरुक्तत्वात्। अथ धीमात्रस्य स्वकालाबाध्यविषयकत्वेन साक्षिणें। भ्राखत्वनियमः, तथापि तस्यौस्सर्गिकत्वेन मिथ्यात्वप्राहकबुद्धौं तदपादसम्भवान्न दोषः। न हि स्वतः प्रामाण्यवादे ${ }^{3}$ प्रामाण्याभावग्राहकगमम्भससत्त्तेपि स्वतःप्रमाण्यषीः । वस्तुतस्त्वज्ञातविषयकानिश्थयत्वसेपेण सर्वढइये मिएयात्वनिश्थयात्पूर्व मिथ्यात्वाज्ञानकाले वा मिथ्यात्वेाँज्ञातं यतद्विषयकनिश्षयत्वरूपेण मूलाज्ञानतत्पयुक्तान्यतरविषयकनेक्थयत्वरूपेण जातिविशेषरूपेण वा प्रमात्वैनैव धीमात्रस्य संाक्षिआसत्वनियमो न तूक्तनियम इत्युक्तमायम्। तथाच ताद्टशप्रमात्वग्रहकालेपि मिश्यत्वानुमितौ न विरोध इति ध्येयम् ॥।

साःकतेवति। प्रतिज्ञादेः सिद्धिजनकत्वेतर्थर्थः। ननु सत्यत्वरूपं सत्ष्वं न साधकताषटकम्, किंतु धीविषयत्वादिरुपंप, तत्राहन तु धीति। घीमात्रं धीख्वविश़िष्टं साधकता"घटकसत्त्वरूपम्।
${ }^{1}$ स्वविषंम्रहणात्. ${ }^{2}$ तत्र तद्रोधक स. ${ }^{3}$ प्रामाण्यभाव ख. ${ }^{4}$ धीत्व- ${ }^{-}$ विशिष्टं साधकताप्रयोजकं साधकता इति-ग.

च्वेनानिल्यत्वस्य नभसो नैल्येन स्पर्शवक्वस्य चापष्ते: 'गौरोऽहं' 'नीलं नम' इत्यादिप्रतीतावपि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाघात्, यौत्रिकबाधस्य त्वन्मते प्रते ऽपि मावादिति-चेष ; यादृइया बुद्धचा तव नभौनैल्यादिधीव्याष्टत्तया घटादौ सत्व-। सिद्धि:, ताद्धगुद्धिविषयत्वस्सैव साधकत्वे तन्त्रत्वात्। अत एव 'लोकग्रसिद्धिस्तन्त्र' इतीष्टसिद्धचुक्तमप्युक्रामिग्रायेण सम्यगेव। एवं त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता वादिग्रतिवादिग्राभ्निकादीनां सक्वबुद्धिस्तन्त्रमित्युपपब्नमेव। गुझापुञ्जस्य वह्वित्वे आत्मनों गौरत्वे नभसो नीलते च ताद्वग्नुद्धिविषयत्वस्य तवाप्यसम्प्रतिपत्तेः। अन्यथा तेषामपि तत्र सक्वसिद्विप्रसङ़ात्। अथ-याहृइया खब्दे क्रुप्रदेषरहितया बुद्धया तव त्रश्नणि सत्त्रसिद्धिः, तादृइया प्रत्यक्षे क्रूप्रदोषरहितया मम जगति सच्वसिद्दिरस्तु, साधक-तुल्यत्वादिति-चेब्ण ; शद्यसत्वबुद्यिवजगत्सत्वबुद्ध्रेराधितंत्वाभावात्, त्रिकालाबाध्यत्वरूपस्य सत्वस्य प्रत्यक्षाविषयताया उक्तत्वाच्च। न च बुद्धिविषयत्वस्य तन्त्रत्वे वह्रित्वेनाझातस्य वद्धेरदाहकत्वप्रस票ः, अमृत्व्वेन ज्ञातस्य च विषस्य संजीवतादृग्बुद्दीति। व्यावहारिकसत्त्वेन धीरेव ताहह्शीतिं भावः। उत्कमेतत्बण्डने। कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम् ? प्राक्सत्त्वनियमानम्युपगमादसत्वस्य सर्वासत्ववविशेषादिति च̈न्न; इदमस्मान्नियतपाक्सदिति बुद्धया विशेषात्। न चातिपसक्रः; याद्हरया त्रिचतुरकक्षा ${ }^{1}$ बाधानबबोधविश्रान्तया वस्तुसचतनिश्ययस्ते, तादृ३ैये कारणतानिश्षयो ममापीति । आत्मनो गौरत्व इति। पारलौकिकफलोद्देशेन वैदिककमर्नुष्ठानायापेक्षेतेन देहात्मनोंमेदनिश्षयेन आत्मगौरत्वदे ${ }^{2}$ वर्यवहार-

[^115]कत्वम्रसक्न इ ति वाच्यम्; वह्तौ ताद्युद्धिविषयत्वर्संश्ररादिसाधारणस्य सन्तात्। विषे सञ्जीवकत्वप्रसझस्य नभौनैल्यादितुल्यत्वाह्। वस्तुतस्तु-ज्ञाताज्ञातसाधारणं व्यावह्रारिकं सत्त्वमेव साधकत्वे तन्त्रम् ; तच ब्रद्सज्ञानेतराबाध्यत्वमेव; तः न मिथ्यात्वघटितम् ; अत्यन्ताबाध्ये जक्षज्ञानबाध्ये च तुल्यत्वात्। अत एव नेदं परमार्थसत्त्रव्याप्यन् । एवं च परमार्थसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वेन तदभावेडपि न साधकतानुपपत्तिः। एतेन ब्यावहारिकतं जन्मन्नानवाध्यत्वं वा, ठ्यावहारिकविषयत्वे सति सक्षं वा, सत्त्रेन व्यवहारमात्रं वा। नाद्यः मिथ्यात्वसिद्धे: प्रक् तदसिद्धया अन्योन्याश्रयात्। न द्वितीयः ; तस्यास्माकं मिथ्यात्वाविरोधि ${ }^{1}$ व्वेनेष्टत्वाव्। न तृतरियः ; सच्गाभावे साधकत्वानुपपत्तेरिति निरस्तम् ; उक्कनिरुक्तररदुष्टत्वात्। न च हेत्वादीनां ठ्यावहारिकसच्वे साध्यस्यापि ठ्यावहारिकसच्चमेत स्यात्, अनुमितित्रिषयसाध्यस्य - परामईंविपयहेतुना समानसत्ताकत्व-

काले बाधात् व्यंवहारकालाबाध्यसत्त्वर्धर्न तत्रेति भावः। नैल्यादितुल्यत्वात् । नैल्यादेस्साधकताप्रस क्नतुल्यत्वात् । उक्तखण्डनवाक्ये ब्यावहारिकसत्त्वनेव कारणताघटकमभिमतम्। मिध्याभूतेड़पि तंदक्रीक्रियते, बुद्धिशलात् 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यादि श्रुतिबलांत्छत्याइयेन बुद्धघा विशेषादित्युक्तम्, न तु तद्धी: कारणताघटिका, गौरवादित्य-मिप्रेत्याह-वस्तुतस्तित्रत्यादि । ठ्यावहारिकसत्यमेवेत्येत्रकारेण पारमार्थिकसत्व्वमेव प्यंयोजकामिति नियमो व्यवच्छिद्धते। तेन प्रातीतिकसत्व्वस्यापि प्रयोजकतया वक्ष्य्यमाणत्वेऽपि न क्षतिः। तत्त्वावेदकत्लेत्यत्र तत्र्वं व्यवहारकालवाध्यमबाध्यं वां, आघे आह-सक्लेनेति।.

नियमादिति वाच्यम् ; हइयत्ववन्मिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिक-; ल्वेन समानसत्ताकत्वस्येष्टत्वाप्, समानसत्ताकत्वनियमासिद्धेश, धूलीपटले धूमभ्रमादपि वबननुमितिप्रमादर्शनात, गन्धुव्याप्यपृथिवीत्वग्रमातोऽपि गन्घप्रागभावावच्छिबे घटे पक्षे बाधास्फूर्तिद़शायामनुमितिभ्रमदई्शनाच्च। मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेडपि तच्चावेदकश्रुतिवेद्यत्वोपपति: ; सत्वेन सत इव मिथ्यात्वेन च मिथ्याभूतस्यापि . प्रमाणगम्यत्वाविरोधात्, एकांशो तक्त्वावेदकत्वाभावेडप्यपरांशे तत्त्वावेदकत्वोपपत्तेः। ननु व्यावहारि-

ब्यावहारिकसत्वेंनत्यर्थः । प्रमाणेति । ब्यावहारिकप्रमाणेत्यर्थः। द्वितीये आह--एकांश इति। मिथ्यात्वांश इत्यर्थः। अशान्तर इति। मिथ्यात्वघटकात्यन्ताभावस्य तात्त्विकत्वे तदंशे तत्त्वावेदकत्वम्, तस्य वयावहारिकत्वे ${ }^{1}$ तु परमतात्पर्यविषयांद्वैतज्रह्मांशे तददिति भावः ॥

यतु-'मिध्यात्वेन मिथ्यात्वबोधकत्वं श्रुतेर्न युक्तम्, व्रद्सण इव मिथ्यात्वस्यापि तात्त्विकस्यैव श्रुत्या बोधनस्य युक्तत्वात्, मिथ्यावबोध कवाक्ये मिथ्यात्वेन मिध्यात्वबोधकपदाभावाच्च' इति, तन्मुखमस्तीव्युक्तम्; सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुतिगतसत्यादिपदेन बाधाभावेन च ब्रद्सणः सत्यत्वसिद्धावपि मिथ्यात्वस्य तदसम्भवात्। नेह नानेत्यादिश्रुत्या मिथ्यात्वादिसाधारणसर्वद्टर्यमिथ्यात्वबोधनात् । यदुपि ब्रह्लज्ञानान्याबाध्यत्वं न साषकत्वे प्रयोजकम् ; कित्वबाध्यत्वम्, लाषवात्, ज्रद्सणो वृत्त्यविषयत्वपक्षे जगतोऽपि बह्सजानेतरबाध्यत्वाच, शुक्तिज्ञानस्यापि सद्रूपत्रसविषयकत्वेन शुकिरूप्येऽपि ब्रस्ञानान्या ${ }^{2}$ बाध्यत्वसत्त्वाच्चेति, तदपि तथा; बाध्यत्त़ं हि ज्ञानजन्याविघ्याध्यंसजन्यध्वंसप्रतियोगित्वादिरूपं ‘सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाष' इति विष-

कत्वं साघकतायामतन्तम्, अश्रानादिसाघके परमार्थसति साक्षिणि तदभावादिति चेष्ण ; श्रद्यझानेतराबाध्यत्वस्यात्यन्ताबाध्येऽपि सश्वस्योक्तत्वात । त्रैविध्यविभागे पारमार्थिकव्याटृत्षठ्यावहारिकत्वनिरुकावपि जनकतायां तत्साधारण्येडव्यद्येषात्। वस्तुतस्तु साक्ष्यप्यज्ञानोपहित एवाज्ञानादिसाधकः ; स च रणाद्युक्तेः। तथाच जन्यताया अवच्छेदकमेदेन भेदात् उ अह्सज्ञानजन्यता ज्ञानान्तरजन्यता चान्यतरत्वेन त्वया निवेइयेति, व्रह्ञजानाध्जन्य'तात्वेन निवेशे लाघवमेव स्फुटम्, गौरवं तु दूरे। किश्च श्रहज्ञानान्य ${ }^{2}$ बाध्यत्वं तघोग्यतारूपं वाच्यम्, अन्यथा ब्रह्मज्ञानबाध्यप्रातीतिकासाधारण्यापत्तेः। तच्च मूलाज्ञानतत्पयुक्तान्यतरमिन्नट्य यत्वम्, तद्भावक्ष ब्रह्सतद्धीबाघ्यसाषारण:, उक्कान्यतरतवं वा प्रयोजकम्। तथाच बाध्यतात्वावच्छिन्नपातियोगिताकत्वसम्बन्धेन ${ }^{3}$ बाध्यंत्वं विशिष्टाभावापेक्षया लाघवं तत्र सफुटमेव। कालसम्बन्घित्वादेस्तुच्छव्यावृत्यम्य प्रयोजकत्वे तु सुतराम् । शुद्धब्नद्मणों वृत्चविषयत्वमतेऽवि न दोष:, येन रूपेण प्रपश्चवाधकता, तैन रूपेण निवेशात्, जातिविशेषषस्यैव तादृशरूपत्वात्, वृत्त्युपहितत्रम्मान्यविषयकज्ञानस्गान्यान्तेन विवक्षितत्वाद्वा । अतएव शुक्तिज्ञानक्य तद्रूपाभावान्नोक्त ${ }^{4}$ दोषः । शुक्तिरूप्ये ${ }^{5}$ ताटृशाबाध्यत्वोक्तिस्तु शोभते ; ज्ञानमात्रस्य अद्सज़ानत्वे तदन्यबाध्यत्वाप्रसिद्धे: ॥

अज्ञानादिसाधक इति—यर्धपि साक्षी अज़ानादिसिद्विरेव न तज्जनक:, नार्थज्ञानादौ ' संशयाह्यभावपयोजकः; अज्ञानस्यैव स्वसंश्रयाद्यावप्रयोज फत्वात्। ज्ञानादे़रिवाजानस्यापि तार्किकाद्दिरीत्या स्वाभावर्धप्रतिबन्धकत्वात्। ${ }^{7}$ तथाव्यझाो साक्षिण एव स्वसंशयाघमाव-
${ }^{1}$ ज्ञानजन्य-स. व्रह्नज्ञानान्यक्ञान-ग. ${ }^{2}$ ज्ञानान्या. ${ }^{3}$ बाध्यत्वविशिश्य-गः ${ }^{4}$ तद्रूपान्ताभावेनोत्त. ${ }^{5}$ ताद्हा. ${ }^{6}$ नाप्य्ज्ञातंशे, नाप्य्ज्ञानादा।-क. स. ग. 7 तश़ाप्यक्तानस्य साक्षेसम्बद्धस्यैंन-क, सम्बद्सर्यैव-ग.

ठ्यावहारिक एव, अनुपहितेन परमार्थसदाकारण तस्यासाघकत्वाप्। एवंच ब्यावहारिकसक्वमेव सर्वत्र साधकतायां प्रयोजकमिति स्थितम् । यथा चात्ञानोपहितस्य सत्कित्वेडपि नात्माश्रयादिदोष:, तथोक्तं हइयत्वहेतूपपादने प्राक्, अग्रे च वक्ष्यते। यत्र च यत्साधकं ठ्यावहारिकं, तत्र तद्यावहारिकम्। यत्र तु साधकं प्रातीतिकं, तत्र फलमपि तथैव, न तु क्यावहारिकमिति सर्वविधिग्रतिषेधादिव्यवहारासछरः । अत एव लोकस्यापि प्रयोजकत्वम्। मन्मते घटज्ञानादेराप्युक्तप्रतिबन्घकत्वाभावात्। घटज्ञानादेस्साक्षिभास्यत्वनियमेन साक्षिण एव तत्संशयादिप्रतिबन्षकत्वात्। अज्ञानज्ञानकार्ये चाज्ञानज्ञानत्वादिना कारणत्वं साक्षिण एवाज्ञानोपहितस्येति भावः। परमार्थसदाकारेणेति । शुद्ध ${ }^{1}$ ब्रह्म न जगइकारणमिति मतावलम्बनाच न दोष इति भावः। ठ्यावहारिकसत्वमेवेति । एवकारात्पारिमार्थिकसत्त्वमप्रयोजकमित्यर्थः। तेन ‘यत्र तु साषकं प्रातीतिक 'मिति वक्ष्यमाणं न विरुद्यम्। नन्वेवं ठ्यावहारिकप्रातीतिकयोः कारणत्वे स्वामेन यागदिना स्वर्गाद्दकं, ब्नह्महत्यादिना च नरकादिकं ठ्यावहारिकं स्यात्, तयोः प्रातींतिकमेव स्वर्गादि फलं, अनेन कर्मणा मम स्वर्गादिकं भविष्गतीति परोक्षतया स्वर्गादिप्रतीतेरिति स्वीकारे क्यावहारिकयागादिनापि प्रातीतिकमेव स्वर्गादि स्यात् , एवं ठ्यावहारिकद्ण्डादिना प्रातितिकघटाद्यपि स्यात्तत्राह— यत्र चेति। तव्यावहारिकमिति। तद्यवहारसिद्धमिल्यर्थ:। तथैत्र व्यवहारसिद्धमेव। याहृशास्य यादृशफलं व्यवहारतः प्रमितं ताद्दार्य ताहशमेवेत्ति भावः। न तु ब्यावहारिकम्। न तु व्यावहारिकसत्त्वाश्रय पव। व्यवहारासक्रः। उक्कसक्रस्याभावः। एतेन-

व्यतिकमे विचारस्य याहृच्छिकवाधान अन्तान्त्वपपत्तिरित्युदयंनोो्रमपि निरस्तम् ; व्यावहारिकसत्चेन लोकमर्यादानतिक्रमाप्।

ब्याबहारिकयोरेवे साध्यसाघकमांव प्रातीतिकसवितुसुषिरादिकमषातीतिकानिष्टसाषकं न स्यात्, ड्रुभाश़ुमववपदर्शादेवेर्यावहारिकराज्यादिसूचकत्वं न स्थादित्यादि प्रत्युक्तम्। यथामानसिद्धस्य साध्यसाषकभावस्यैव पकृतम्रन्थर्थत्बात्। अतएव धूलीपटले धूमभ्रमादित्याघुक्तम्। स्वाम्मार्थस्य श्रुमागुभसूचकत्वमिल्यादि. बक्ष्यते च 1 किश्व मन्मते प्रपश्धस्य मिथ्याल्वेऽपि त्वां प्रति साधकतया छहरव्वायुपुन्यसितुं मया शक्यत एव ; त्वद्रीज्या ल्वहोधनसम्भवात् ॥

योपि तावत्ररासिद्ध: स्वयं सिद्धोडभिषीयते।
भवेत्तत्र परीकारः स्वतोऽसिद्धे ठु का किया।।
इति बौद्धं प्रति भद्टोक्क: ${ }^{1}$ । परमतासिद्ध:, स्वमतासिद्ध: साषकलेवेोपन्यासाईः, तत्र साघकस्य पश्चाद्वकुं शक्यत्वात्। च्वमते परमते ैवाडसिद्धम्तु न तथंन्यर्थकत्वादविरोषात्। न हि शब्द्र्पयोगे स्वमतासिद्धत्वमर्थस्यापेक्षितंम् । अपिच पारमार्थिकसताससम्बन्धस्य प्रयोजकल्वेडपी आरोपितेडपि सोऽम्येवारोपितः। अनारोपितन्कु न मन्मते प्रस़िद्धः। सल्यत्वं न च सामान्यं, मृष्र्थं परमार्थयोः। विरोषाव् न हि सिक्षलं सामान्यं सिष्षवृक्षयोःः ॥
 वचनार्थमुपन्यासो लालावक्रासबादिवत् ॥ नास्तिक्यपरिहारार्थ संतृति: कर्पिपतेति ${ }^{5}$ च। कल्पनापि च मिन्नस्य नैव निर्वस्तुके ${ }^{6}$ भवेत् ||
 ग. ${ }^{5}$ कललोंत-क. ख.ग. 6 निर्वस्ठका.


 कल्पनापील्यादिना तदुक्तम । अतख़ च-

वस्माबनास्ति नास्लेव यचाल्ति परमार्घतः।
वस्सलम्न्नन्मिथ्येव न सलद्द्वयक्यना।।
इति बौद्धं प्रति अघ्होत्रिरपि पुक्कैव। अवाध्यापिषानाज्शीकां विना
 आत्तिकमते त्रिकाखाबण्यं सल्यं बस्सीकियते तद्विक्ष्षणं व्यवहारकालाबाधरूपं व्याबहारिकमलं मया स्वीकियत इहि स्वपरततयो: सलद्दूककृषनाया माध्यमकीवया अयुत्तलात् । योगाचारस्सापि विज्ञानमेव परार्यललं, तत्र कलिपतो नीताबाकारो व्याबहारिकसलय, विश्युबनिज्ञाननिर्णयात्वूर्वमाध्यल्बादिति कल्लनाया अयुक्तलात, क्षाणकलेन मिध्याविश्ञाननिषस्य कल्पनाधिघातबस्य तदम्पुपगतस्य प्वोंकरीलायसमम्मात् । अतप्व तयोर्मतयोरेव-

तन्रार्यालून्य क्जाञां योगानारः समाश्रिता.।
${ }^{2}$ सस्माप्यमाविच्छन्ति ये माध्यमिकनादिःः ॥
इल्वापुत्रसार्तिकेन निरसः। असम्म्मते बु प्रपस्सस्य लण्डनपुक्तिमि-
 साभ्षिलेन चाघात्, 'सल्यस्य सलं भ्राणा कै सलं तेषोमेषषत्य'


 ज्येत कार्ममात्रं पति कारणलब्रम । विशेषषतन्तु याह़्योोः कार्षकरणता

णायामविरोधेन ठ्याख्यास्यन्ते । तस्मात्पक्षादिसर्वमिथ्यात्वसाघनेऽपि न ठ्याहतिः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वापपर्त्तः ॥

## अभासतः साधकत्वामावे बाधकनिरूपणमू

ननु सच्वापेक्षया तुच्छांवेलक्षणत्वादेगौंरवकरत्वेन साघकत्वे कथं तन्त्रत्वमिति चेब ; त्रिकालबाधविरहरूपस्य सच्च्वस्य लघुत्वाभावात्, जात्यादिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, उभयसिद्धे सद्विविक्त साधकत्वदर्शनेन पारमार्थिकसत्वस्य साधकत्वाप्रयंजकत्वाच । तथाहि—प्रतिबिम्बे बिम्बसाधकत्वं तावदस्ति । तस्य बिम्बात्मना सत्वेऽपि प्रतिबिम्बाकोरणामानसिद्धा, ताद्हशत्वेनैव सेति कचिद्यावहारिकादपि वैदिककर्मण: प्रातीतिक: स्वामाविषय:, तस्माच व्यावहारिकमित्याशयेनोपसंहरति-तस्मादिति ।।

तर्कै: सारस्वतै रतैै्यन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तधवान्तख़्डणानां साधकत्वमझत्यपि॥ इलसतस्साधफ्रक्वोपवर्ंतः ॥

## अथासतः साधकत्वाभाढ़े बाधकनिरूपणम्

बिम्बसाधकत्वमिति। मुखपतिकिम्बम्, मुखसन्निधिर्वूकम्, मुखर्शतीविम्बत्वात्, यद्यस्य प्रतिविम्ब ततथा, यथा सम्पतिपन्नमित्यादिरीतिः । प्रतिबिम्बस्वरुपश्य मिष्याभूतम्योत्पत्विमते ₹पष्मसतम्साषकत्वम्। मुखादिबिम्बमेव दपणाहुपाधिसम्बन्बेन मिध्यामूतेन विशिष्ट प्रतिबिम्बमिति मते स्वरूपतों मिथ्यात्वस्य तत्र परान्पति वक्तुमशक्यल्लेड्प्युक्तविशिश्टरुपेण मिध्यार्व्वमिल्याशयेनाह — तस्येति ।

सत्तात्परमार्थसच्वं न साधकत्वे प्रयोजकम्। एवं खमार्थस्यासतोऽपि भाविशुुमाशुुभसूचकत्वम् । यद्यपि तत्रत्यदर्शन सैयव सूचकत्वम्, 'पुंरुषं कषष्णं कठ्पद्न्तं पर्यति' इत्यादि श्रुतिबलात्; तथाषि दर्शनमात्रस्यातिप्रसक्तत्वेन विषयोप्यवइयमपेक्षणीय एव । एवं. सफटिकलौाहित्यस्य उपाधिसनिधान साधकत्वं च । न च लौडित्यं स्फटिके न मिथ्या, किंतु धर्ममात्रप्रतिबिम्ब इति न पृथगुदाहरणमिति वाच्यम्; धर्मिभूतग्रुखादिंनैरपेक्ष्येण तद्बर्मभूतरूपादिप्रतिबिम्बादर्शानात्, प्रतिबिम्बस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमेन लौहित्यस्य एफटिके क्याप्यचृत्तिप्रतीत्ययोगाच । लौहित्ये एफटिकस्थत्वारोपे तस्य प्रति बिम्बत्वम्, स्फटिके लौहित्यारोपे तु तस्य मिथ्यात्वमिति विवेकः। 'सफटिकमणेरिवोपधाननिमितो लोहितमे' ति लोहितिस्नो मिथ्यात्वं दर्शितं प्रतिबिम्बसत्यतावादिभि: पश्रपादिकाकृन्भि:। एवं रेखातादात्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम् । न च रेखास्मारिता वर्णा एवार्थसाधका इति वाच्यस् ; आभौसावमयं ककारोऽयं गकार इत्यनुभवाद्मेदेनैव स्मरणात्, विवेके श्रुतिबलादिति।' अरुद्य नौकावृषकुझ्जरेषु भुक्ता रुद्वित्वा ध्रुवमर्थलाभः ’ इत्यादिम्मृत्युन्नीतश्रुतिबलात् ${ }^{1}$ । स्वपकालिनभोजनादिज्ञानापेक्षयोाक्तमाजनादेरेव लहुत्वात्, कृष्णदन्तादिविशेषणस्य सूचकत्वेन तद्विशिष्टर्दशनस्योक्तश्रुतौ सूचकवनिर्देशा ${ }^{2}$ सम्भवाच, विषय एव सूचको न धीरित्याशायेन यध्यपि तथापीत्युक्तम्। लिक्नस्या"कारणत्वमतेप्यवमपेक्षणीयता बोध्या। पश्रपादिकेति। तथाच तन्मते तथोकेक्वर्वाच््पतिमते लौहित्यस्य प्रतिबिम्बत्वेऽपि न क्षतिरिति भाव:। बिवेक इति। कस्य ${ }^{1}$ हल्यादिस्मृतिवलात् ख. ${ }^{2}$ निदेंशसम्भवाषेति क. ख. ग. ${ }^{3}$ लिसस्याकरण ग.

सत्यपि ढढतरसंस्कारवशाब्मारोपनिषृत्तिः। अतएव ककारं पठति लिंबति चेति सार्वलौकिको व्यहारः। वर्णारोपित़दीर्घत्वहखत्वादीनां च नगो नाग इत्यादावर्थविरोषत्रत्यायकत्वम्। नच वर्णोष्बनारोपितध्वनिसाहित्यं तदमिव्यक्तिरूपं का दैर्घ्य प्रत्यायकम्, एवं सखत्वादिकमपीति वाच्यम्; छनीनामस्फुरणेडपि दीर्घो वर्ण इत्यदिप्रत्ययात् । नन्वारोपितेन वर्णदैर्घ्यादिना कथं तात्विकार्थसिद्दिः ; न ल्यारोपितेन धूमेन तात्विकवद्निसिद्धिरिति चेष ; साधकतावच्छेदकरूपवत्व्वमेव साधकतायाः प्रयोजकम्, न त्वारेपितत्वमनारोपितत्वं का ; धूमाभासस्य त्वसाधकत्वं साधकतावच्छेदकरूपव्याप्तथभावात्, नासच्चाव्, अनाभास़त्वग्रहश्य तत्र बहुलोर्ज्धतादिग्रहणवझ्याप्तिग्रहणार्थमेवापेक्षितः । तदुक्तं वाच-स्पतिमिभ्रै:-"यथा सत्यत्वाविरोषेडपि चक्षुपा रूपमेव ज्ञाप्यते न रस:, तथैवासच्वाविशेषेडपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, न तु धुमाभासादिना" इति। दृष्टे हि मायाकल्पितहस्त्यदे रज्जुसर्पादेश्य भयादिहेतुत्वं सविवृसुाषिरस्य च मरणसूचकत्वं शब्काविषस्य

चिदिल्यादिः। ध्वनिसाहित्यं-दीर्घत्वश्रयध्वनिसाहित्यम्। व्यामय-भावात्-व्याप्यत्वेनामहात्। नासच्चात्-नरो|पित्वात्। धूमाभासादिनेति । ठ्याव्यत्वेनागहीतेल्बादिः। मायाहस्स्यादिकं सलंय शक्तिविरोषेण स्वुज्यत इति परेणोक्त, '(तन्नयुक्तम्;) घटोक्कचादिमायाकल्पितल्वेन हस्स्यादेर्भरतादावुक्तत्वात्। प्रतियोद्द्रा ${ }^{2}$ निराक्कतस्याबयवादिदर्शनस्य पश्षादभावेन मायारूपत्वस्य तत्र स्पप्वत्वादिल्याशये-नाह-मायाकल्पितेति। शक्कविषेति। मयनिशेषपयोंजकविष्वत्रमति-

च मरणहेतुत्त्रम् 1 ननु तत्र राक्कैव मयम्तुत्पाद्य. धातुव्याकुलतामुत्पाद्यतीति सैत्र मरणहेतुः, न तु शक्षितं विषमपि; एवं सवित्वसुविरमायाकल्पितगजार्दनामपि ज्ञानमेव तचदर्थक्रियाकारि, न त्वर्थोऽपि, तथा च सर्वत्रोदाह्टतस्थलेषु ज्ञानमेब हेतु:, तच स्वरूपतस्सत्यमेव, अन्वयव्यतिरेकावपि ज्ञानसैयंन कारणतां ग्राहयतः, न हि सन्निहितं सर्पमजानानो बिमेति। न चार्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्तेडतिग्रसक्नादर्थावच्छिसमेव झानं हेतुः, तथाचार्थोडपि हेतुरेवेति वाच्यम्; अर्थावच्छिस्स ज्ञानस्य हेतुत्वेऽप्यवच्छेदकस्यार्थस्य ताटसथ्येनाहतुत्वोपपत्तेः, घटावच्छिस्मस्य तदत्यन्ताभावतं्घंसादेर्घटदेशाकालभिब्नदेशाकालादित्व्वेऽव्यवच्छेदकस्य घटस्य तद्भाववत्, घटेच्छात्रक्मज्ञानयोघटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटव्रह्दणोस्तदभाववत्, घटप्रागमावस्य घटं प्रति जनकत्वेऽपि घटस्याजनकत्वत्वत्, विशोषादर्शानस्य अ्रमं प्रति जनकत्वेजपि विशोषदर्शनस्य तदभाववत्, विहिताकरणस्य प्रत्यवायजनकत्व्वेपि विहितकरणस्य तदभाव वत्, स्वर्गकामनापा यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत्, अतीतादिस्मृत्यदेर्दुःःखादिजनकत्वेऽट्यतीतादे स्तद्जनकत्ववत्, असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्वयवहारहेतुत्वे $ऽ य^{\prime} स त स ् त द ् भ ा व व त ्, ~, ~, ~$ चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदहेतुत्ववत्, चद्नक्ञानस्य तदश्शाननिवर्तकत्बे $\stackrel{् य ु द ा स ी न स ् व भ ा व स ् य ~ अ ह ् न ण स ् त द ् भ ा व व त ्, ~ त ् र-~}{\text { - }}$ बाझानस्य जगत्परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रद्मणस्तदभाववच्च। न च तथापि मिथ्यार्थ ज्ञानव्यावर्तकताऽस्तीत्यसतोऽपि हेतुत्वमिति वाच्यम्; नहि व्यावृत्तधीहेतुत्वं व्यावर्तकत्वम्, किंतु

[^116]परेचेच्दःः असतः साषकलाभावे वाषकनित्पणम् 15
व्यातृत्तिधीहेतुषीविषयत्वमेव; सत्यपि दप्डे तदश्नाने क्यातृत्य: क्षानाद् । अथावच्छेदकस्य मिथ्यात्वेड्वच्छिमस्प़ापि तम्चियम:, न; तुन्छक्ञाने तुच्छैवैरक्षण्ये च तुच्छत्वस्य, प्रातिभासिकाक्दैलश्षण्ये प्रातिभासिकत्वस्य, पंचमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां वाजनिवेचनीयाश्कानस्य निष्त्तौ चतुर्थप्रकारानिर्वचनीयत्वस्य, पारमार्थिकात्मस्वरूपे तद्भिजे बनृतद्द्रैतस्याभावेज्नृतंत्वस्य चादर्शनात् तत्राबच्छेदकानामसदादी़नां ताटश्थ्येड्रापि तथास्त्विति

तदुपहितस्य। तत्राबच्छेदकानामिति ॥
बस्तुतस्तु तुच्छोपहितरूपेण तुच्छजानादेस्तुच्छतमेव। अत एव तेन रूपेण तस्य न प्रामाणिकत्वम्। अतएव प्रातिभासिकैलैलक्षण्यादेः स्वरूपतो व्यावहारिकलेखेपि प्रातिभासिकोपहितरूपेण प्रातिभासिकल्वमपामाणिक्लं च $^{1}$ । एवं पश्षम्रकारस्यापि स्वरूपेणैव तत्वम्। अविधामतियोगिकत्वानुपहितरूपेण त्वविधादशायां चतुर्थक्रारत्वमेव। द्वैताभावस्यापि स्वरूपैणैव सत्व्वम्। द्वैताभावत्वोपहितरूपेण लनृत्वम्। अनएव मुत्तौ न तदुपहितमिति मांहमूलेवात्र परोक्तिः। अतो मिथ्योपीहतरूपेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वमावइयकमिति ध्येयम् ॥
' यतु प्रतिशिम्बस्य नानाविषच्बात् कचिद्याप्यवृत्वित्वसम्भवेन तदभावनियमोक्तिरुक्ता; वर्णे दीर्घित्वादिप्य्ययो ध्वनिद्वारा युक्त एव, ध्वनेराफुरणे तदपर्ययात्, वर्णपहकाले ध्वनेरपि योग्य्बलेन ग्रहनियमाब, वस्तुगत्या दीर्घधन्यमिव्यक्तं यद्वर्णास्वरूं तस्यैव दीर्व्वर्वरपत्वसम्भवां। आरोपितस्य साषकताईीकारे तु कारणताबच्छेदकद्ठ्डल्वादेस्लन्मते दण्डाभासेडपि सत्त्वेन ततोडवि घटाघापनिः’ इति,.

[^117]चेत्, अत्रोच्यते- यदुक्तं ताटस्थ्यलक्षणसुपरक्षणत्वमेव सर्वत्राकच्छछद(क)स्येति, तब, विशेपणत्वे सम्भवत्युपलक्षणत्वायोगात्।

तब्न ; नानाविधल्वेरपि हि प्रतिबिम्बं न्याप्यवृत्येव दृृ्ट्। दीर्घत्यादिघीस्तु वर्गेधु न ध्वनिद्दारा, साक्षात्सम्बन्घेन वर्गे तत्वत्ययात् पर्म्परया उद्दीकारण्तेन गौरवं च। किश्च परोक्ष ${ }^{1}$ वर्णज्ञानं ध्वनिविषयकत्वानियमात् साक्षाद्दर्ण दीर्घंत्व्वकारक्स, तत्र ध्वनिभासकसामंभीक₹पने गौरवात्। वस्तुगल्या बी़ीध्घन्यनमिव्यक्तन्य ${ }^{2}$ दीर्धतरूपूप्वे ताह्हसस्यांकारादेहेस्वस्वमारोपित वाच्यम्, तत्र च न विनिगमकम् ; हस्वध्वन्यमिब्यक्तक्वरूपं दन्वतारूपं दीर्घल्बं ल्वारोपितमित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात् । न च ह्ववदीीध्घध्वन्यमिठ्यक्तमकारादिद्धयमिति वाच्यम्; एकैका एवाकारादिग्यक्तय इति मीमiसकमते तदसम्भवान्दौरवाच्च। दण्डाभासादेश्च न घटादिहेतुत्तापतिः; घटादिहेतुता हि नाभाससाघारणेन दण्डल्वादिना, किंतु तद्वचावृत्तदण्डल्वादिजात्यन्तरेग। अथवा ब्यावहारिकद्ण्डादिमात्रृत्तितादात्मानामखण्डन्यतमत्वविशेषरुूपण कारणतावच्छेओकताघटकसम्बन्धत्वात्, कपालसंयोगादिंगतजातिविशेषस्य द्ण्डाभासाद्दिस्थल्लियकपाइससंयोगादौ विरहाद्धा न दोषः। यदि हि जाति-
 दण्डादिव्यक्किविशेषमात्रे दण्डत्वार्दे' मत्व्वात्यक्तिविशेषणततादास्म्यानामन्यतमवृवैनैव सम्नन्षल्वं वाच्यम्। तथा(च) प्रालीतिकव्यावृत्रतादास्यानामेवान्यतमल्वेन कारणतावच्छेदकषटकासम्बन्षत्वान्न दोषः। बस्तुतो दण्डामासादौ दण्डखवादेस्स्दूपपाविधाम्यामन्य्येनाम्युपगम्यमानस्य सत्ते मानाभावः; प्रतीतिके उयावहारिकतादाल्म्याध्यासस्य तत्वपदीपिकादानुक्तवात् दण्डाघर्यव्ववृत्तरपप्नन्वत् ॥

$$
{ }^{1} \text { परोग्त. } \quad 2 \text { व्यक्लत्स. } \quad 8 \text { मलं यद्याकी. }
$$

विशोषणबाघपूर्वकत्वादुपलक्षणत्तकल्पनाया:, अन्यथा "दु्ही श्रैषानन्ताह" लोहितोष्णीषा ॠत्विजः प्रचरन्तीत्यादावपि वेदे दण्डलौहित्यादेरुपलक्षणत्तात्तद्भावेप्यनुष्ठानप्रसक्नः, 'सर्वरी़िनि सर्वनामानि' इत्यत्र. सर्वशब्द्स्य सर्वनामसंब्ञा न स्यात्, 'जन्माद्यस्य यत' इत्यत्र ज़न्मनो नक्मलक्षणत्वं न स्यात्; विशेषणार्थत्वेन तव्रुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसम्भवे डपी उपलक्षणार्थत्वेनातकुषणसंविज्ञानबहुत्रीहिस्वीकारश्रसझ्ञात् । एवं 'असिपाणयः प्रवेइयन्ता' मित्यादिलौंकिकम्रयोगेऽपि। प्रतिबिम्बादिश्रानानां जनकत्वे च विशेषणतया प्रनिब्विम्नादीनामपि जनकत्वे बाथाभावाब्झोपलक्षणत्वपक्षो गुज्यते। उदाहत्तस्थलेषु सर्वत्र बाधक-

अनुष्ठानग्रसक्ञ ड़ति। यध्यु्युक्ताक्ये दण्डादिकमेव प्रैषानुबचनाद्युद्दोशेन विधीयते, तदाश्रयम्य मैत्रावरुणादे: ‘मैत्रावरुण: प्रेप्यात चानु चाह' इत्यादिना प्रापत्वात्, तथाऽपि कादाचित्कसम्बन्धद्वारा साधनतया तद्विधिः स्यात्। न चानुवचनकाले दण्डस्यासम्बन्धेडवलम्बन रूपदृष्टद्वारानुवचंनसाधनत्वं तस्य न स्यादिति वाच्यम्; कादाचितकावलम्बनार्षनश्रमापनयद्वारा तत्साधनत्वसम्मवात्। यत्तु—": ज्ञानकार्येडिि विषयहेतुत्वे बाधकमस्ति, अतीतधूमादे: स्वज्ञानकार्यानुमित्यादौ हेतुत्वासम्भवाव् ; अतम्तत्राप्युपलक्षणत्वम् । दण्डीत्याढ़ौ च 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इति सूत्रेण विद्यमानसम्बन्ब मतुपो विषानाच्छौतं विशेषणत्वम् । लोहिते 'ल्यादौ च बहुदुहीरेम्मतुप्समानांथत्वात्, सर्वादीत्यादौ च तन्रुणसंविज्ञानस्याताहृहाबहुवीबपपेक्षया मुख्यत्वाब्नोपलक्षणत्वम्" इति, तन्न; यथा हि धूमज्ञानं विना जायमानवब्युनुमितौ न तस्य व्यमिचार , ${ }^{2}$ स्वाव्यवहितोत्चरत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वात्;'

$$
1 \text { लांहिले. } 2 \text { व्यार्वतोंत्तर्वस्य. }
$$

Advaita. Vol. II.

$$
5447
$$

तथा धूमं विना जायमानानुमितौ न तस्य सः। यदि तु स्वज्ञानसम्बन्बेन विषयम्य कारणत्वं लाघवात, न तु ज्ञानस्य, तदा सुतरां न दोषः ; अर्तातस्थापि स्वजन्यापूर्वसम्बन्धेन यागादेरिव क्याप्तयादिविषयतानिरुपितस्वविषयनाकज्ञानसम्बधेन धूमादेरपि हेतुत्वसम्भवात्। न च-यत्र ज्ञाने ठयाप्यत्वादिविशिष्टधूमत्वादिरूपेण धूमादिर्न भातः, किं त्वन्य:, तज्जानन्यक्तेश्धूमादिसम्बन्धत्वासम्भवाद्नुपपतिरितिवाच्यम् ; स्वज्ञानाव्यवहितोत्तरानुनिमतौ धूमादे: कारणत्वेऽनुपपत्त्यमाबात् स्ववृत्तिघूमत्वाद्यवच्छिन्नविषयताकज्ञानत्वेन रूपेण तज्ज्ञानस्यापि धूमादिसम्बन्षत्वसम्भवात् । ( एतेन- ${ }^{2}$ न लिनस्यानुमितौ कारणत्वं युग्तम् ; कार्यव्यवहितपूर्वक्षणे स्वस्वव्यापारान्यतरसत्तायामेव सर्वस्य कारणस्य कारणतायास्तात्रिकै: स्वीकारात्, अतीतादिघूमादे: कारणत्वासंभवा ${ }^{3}$ दित्यपास्तम् ; उक्कक्षणे विद्यमानधूमादेरेवोक्तसंबन्धेन मया हेतुत्वस्योक्तत्वाप्। न चैवमतीतन्यक्तेस्तद्यक्तित्वेन हेतुतास्थले कारणता न स्यादिति—वाच्यम् ; इष्टत्वात्, विशिष्टकारणताग्राहकमानस्य बाषकाभावे सत्येव विशोषणीमूतलिके कारणतामाहकत्वार्।) मतुबर्थस्तु न विद्यमानः सम्ञन्घः ; किंतु विद्यमानस्यास्तीत्यस्य, तदिल्यनैनैवान्वयात्। यदिच सम्बन्धविशिष्टेऽस्तित्वान्वयास्सम्बन्धेऽपि तदन्वय इत्युच्यते, तथापि ताहृशोऽर्थो विशोषणत्वस्यौस्सर्गिकत्वादेव । अन्यथा सम्बन्धोपलक्षित एव तदन्वयसम्भवाप्। किश्चास्मिन्नस्तील्यर्थे मतुपि का गतिः ? न बस्मिन्निति तदित्यन्रन्वेति ; येन विशिष्टेऽस्तित्वान्वयात्वदिष्टसिद्धि:, किंतु कारकत्वादस्तिक्रियायाम्, तथाचाधाराषेयभावरूपमत्वर्थस्य कादााचित्कत्वेऽपि तत्पदार्थस्यास्तित्वमादाय मतुप्सम्भवत्येव।

[^118] संभवात्-ग.

मस्लेयेति विशेषः। तथाहि प्रथमे घटदेशकालौ गृहीत्वा तन्र्रिणदेशाकालत्वं तदल्यन्ताभावादौ ग्राह्यम् ; घटस्यापि तत्सम्बन्षे तद्देशकालमिब्देशकालत्व्ंव ठ्याहतं स्यातू। द्वितीये त्विष्टापत्तिः ; काचित् घटज़्गानस्य घटेच्छाजनकत्वबत् घटं प्रत्यपि अतएव गावोऽस्यासन् भविव्यन्ति वेत्यादौ गवादीनामस्तित्वाभावस्पले गोमानिल्यादि न भवतीति महाभाष्यादावुक्त्त् ॥

वर्ुतस्तु सम्बन्धमात्रे मतुप्। अतएव • मतुबस्स्यर्थ इति सूत्रेणासधात्वर्थसम्बन्धमान्रे स विहितः। अतप्व च दप्ब्ययमासी दित्यादे: साधुत्वं महाभाष्यादावकरीक्रतम्। तथा श दण्डी पैपानन्वाह, दण्डी गच्छति' इल्यादौ बिशि叉्टैशिश्ट्यान्वयस्वैस्सार्गिक्वादेव दण्डसम्बधानुवचनादोरोककालीनत्वलाभ:। न च ' घातुसम्बन्घे प्रत्ययाः' इति सूत्रेण सूत्रान्तरानुक्तार्थेडपि प्यल्ययिधानात् ‘ वसन्ददर्श ' इत्यादौौ शतृपत्यय इव दण्ब्यासीदित्यादौ मतुप्पत्ययस्याव्यतीतकालोरर्थ इति बाच्यम् ; तावतापि 'दण्डी भुक्षे, भाविकृत्यमासती्' इल्यादौ गत्यभावात्, आंबे हि नोक्तसूत्रपवृत्तः ; आए्बातस्य विरद्धार्थकस्व. ‘्यल एव तस्त्वीकारात्, द्वितायेऽतीतकृत्यमासीदित्यन्वयासम्भघा|त्, प्रकारन्तरेण समाधानोपक्ष्षया चोक्तरीतिरेव युक्ता। विषमानसम्न्धधाथंक एव बहुव्वीहिरिय्युक्किम्तु शोमते ; , च्टधनोऽऽमिम्यादावतथाल्बात्। अतएव ' मत्वर्ये बहुद्धाहिः' दूति काल्यायनोक्तिरौस्सर्गिकपरा। तनुणसंविज्ञानमुख्यत्बं नु विरोषणन्वमुरु्यत्वद्वेव।।

काचित् घटझ्ञानस्पेति। भाविषट्ञानस्य घटं प्रल्यिि कारणलम् । न च—घटोद्रे्यकेच्छाधीनकृत्यान्यथा'सिद्ध ज्ञानमिति बाच्यम् ; कृतेरपि कपाँ²संयेगेनन्वथासिद्दल्वापतेः। अन्वयव्यतिरकौ'

$$
1 \text { कृत्यन्यथा-स. } \quad 2 \text { काल-क. }
$$

जनकत्वात्। अद्कणो वेदान्तसाध्यत्वे तु नित्यत्वविरोघः। तुतीये प्रांगभाववत् घटस्य ₹्वजनकत्वे प्रतियोगिग्रागभावयो: समानकालीनत्वापाचि:, स्वावधिकपूर्वत्वधटितजनकत्वस्य स्तस्मिन्ठ्याहततवं च। चतुर्थे पश्वमे च प्रतियोगितद्भावयो: सहाष्टत्या अ्रमप्रत्यवाययोरनुत्पत्तित्रसछः। बष्टे कामनावत् कामनाविषयस्य यागजनकत्वे तस्य प्राक्सत्त्या तत्कामनैव व्याहन्येत ; सिद्धे इच्छाविरहात्। सप्तमेडतीतस्य जनकत्वे कार्याव्यवाहितपूर्वकाले स्वस्वव्यापारान्यतरसत्वापात्ति: । अष्टमेडसतो जनकत्वे नि:स्वरूपत्वव्याघातः। नवमे चिकीर्षितघटज्ञानवत् स्वस्य जनकत्वे पूर्ववझ्याघातः । दरामे उदासीनस्य बत्कणो न निवर्तकत्वम्; स्वरूपतः उपहितस्यैव वृत्तिविषयत्वेन तस्याविषयत्वात्, उपहितस्य च निवर्तकत्वमस्त्येव। एकाद्रो त्रह्माज्ञानस्य पारेणामिकारणत्वेडपि न व्रह्मणो जगतकारणत्वम्; कार्ये जडत्वोपलन्भात् । एवंविधबाधकबलेन तत्रेपलक्षणत्वस्वीकारात् । न च अ्रकृते बाधकमस्ति, अठ्यवहितदेशाकालादिवृत्तित्वस्य प्रातिभासिकसाधारणत्वाद् । इदानीमत्र सर्प इत्यादिप्रतीत्यविशेषात्। न हि क्रचिदाधकबलेन सुख्यपरित्यागः कुत इति सर्वत्र तथैव भविष्यति ; उत्कराद्यनुविधानाच । तथा हिस्वमे जागरे चोत्कृष्टकलधौतदर्शनादुतक्कृष्टं सुखम्, उत्कृष्सर्पादिदर्शनाच्धोत्कृष्टं भयादि दृइते ; विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षाच तुल्यौौ ज्ञात्वैव हि घट: क्रियते। उपहितस्येति। ज्ञानकार्य प्रति विषयहेतुताया उक्तत्वादिति भावः । कारणत्वं-परिणामित्वम् । जउत्वेति-जडत्वमात्रेत्यर्थ: 1 चैतन्यपरिणामत्वे कार्य ${ }^{1}$ चैतन्यं

त्रुविघानं कार्ये न स्यात् ; न हकारणोत्क़ष्ष: कार्यमनुविषषे इति न्यायाव् । न च ज्ञानप्रकर्षादेव तत्र्रकर्षः; ज्ञानेऽपि विषयगतग्रकषष विहायान्यस्य प्रकर्षस्याभावात्। अथ ज्ञानगता जातिरेव प्रकई्षः। न; चाक्षुषत्वादिना सछ्रेर्रसक्ञाव, विषयप्रकर्षोणैवोपपर्तौ चाक्षुंबत्वादिव्याव्यनानाजात्य ्रीकारे गौरवान्मान (भावाज्च। किश्ज ज्ञानस्य भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिषत्वमेव कारणतावच्छेदकमास्थेयम् ; ज्ञानत्वेन जनकत्वेऽतिग्रसॠत्रात्, तथा च मिथ्या(त्वा)वच्छिषत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वाप् अ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव। जनकतावच्छेद्करूपेण च मिथ्यात्व रूपान्तरेण सन्वमप्यसत्वानातिरिच्यते ; अनुपयोगात् । तदुक्तं खण्डनकृन्दिः-‘ अन्यदा सत्वं तु पाटच्चरतुण्ठितवेइमनि यामिक-

स्यादिंति भावः। ज्ञानेऽपि विषयगतप्रकर्षमिति। न च दोषपकर्षादेव ज्ञाने प्रकर्ष इति वाच्यम् ; दोषपकर्षरडपि ज्ञानप्रकर्षस्य विषयान्यस्यानु'पलबधेः। तुल्यदे|षाथीनत्वमपि अ्रमविषययोः प्रमाविषययोर्वा प्रकर्षाप्रर्षाम्यां सुखादिप्कर्षाप्रकर्षद्शर्शनत्, विषयपकर्षेणानुभविकेनैबैपपतौ ज्ञानपकर्षे मानाभावस्य वक्ष्यमाणत्वाच। सक्रेति। तस्य दोषत्वानम्युपगमे तु ज्ञान इव विषयेडवि भातीतिके विनिगमनाविरहेण जातिसिद्धया तक्यापि हेतुत्वसिद्धि:।'किश्व ज्ञानगतवैजात्यमननुभवान्न विषयातिरिक्रम्; अन्यथा साकारवादापतेः। अनुमितित्वादिकमपि ${ }^{3}$ व्याप्षय।दिधीजन्यत्वादिरूपं विषयघटितमेव। ब्याप्तच्रह्र काले तद्धीरसिद्दैवेति भावः। अन्यदा सक्वमिति। कार्योपध।नकालान्य ${ }^{5}$ कालसत्त्वं
${ }^{1}$ न्यत्वस्वा. ${ }^{2}$ दोषाधीनन्रम-क. ख. ग. ${ }^{3}$ न ब्याप्रयादि. ${ }^{4}$ ठया-स्वायम्रह-ग. ${ }^{5}$ कायोंपधानकाउ-क.

जागरणवृत्तन्तमनुसरति' इति। ₹्रुयेणापि तु अ्रमझानस्य मिथ्यात्वमस्तेने, स्वरूपतो बाधाभावे विषयतोडप्यबाघग्रसज़ता। न च गुणजन्यत्वम्रुपाधिः; तस्याप्यापाद्यत्वेन वह्बयनुमाने वाध्बिसामग्रया इव साधनठ्यापकत्वेनानुपाधित्वात्, विषय छव मिथ्यात्वप्रयोजकदोषादिसमवहितसामग्रया ज्ञानेऽप्यविशेषाच। तुछ्छज्ञानतद्वैषम्यादौ च तुच्छत्वादर्शनमबाधकम् ; अवच्छेद्यावच्छेदकयो: सर्वत्र सारूप्यनियमानम्युपगमात्, अकृते चानच्छेदक इवावच्छेय्येडपि मिथ्यात्वग्रयोजकरूपतुल्यत्वेन सारूप्यो-
यथा कार्योपषाने व्यर्थमुक्तं खण्डने, तथा कारणतानवच्छेढ़करूपेण सत्त्वमपि, असत: कारणताया अनवोदितत्वात्। उपाधिरिति। भ्रमो यघ्घबाधितं ज्ञानं स्याचद्रा अवाधिताविषगकं स्याद्कित्यत्रेति दोष: । दोषादीत्यादिपदेनाविद्या गृझते। प्रमत्वावच्छिन्नं प्रनि मनक्तेनेनेव भ्रमत्वावच्छिनं प्रत्यविद्यांतेन परिणामित्वम्। अ्रमत्वप्रमात्वे च पल्लवाज्ञानकार्यविषयकधीत्वतदन्यधीत्वादिरूपे जातिम्वरूपे वाडनुगते। साक्षिरूपं ज्ञानमपि ${ }^{1}$ विषयेपहितरूपेण मिथ्येति न तत्र' चभमिचार इति भाव:। न च लाघवाद्दजतत्वार्दिनैब दोषकार्यंत्वाद्रजतादिग्रमो न चाकचक्याद्विधीरूपदोषजन्य इति वाच्यम्; तादृशाधीमात्रूय अ्रमा${ }^{2} ज न क-$ त्वेन तद्धीव्यक्तेस्तत्वेन ${ }^{3}$ स्वविशिष्ट प्रति कारणत्वस्य वाच्यतया स्ववि⿹़ेष्याश्र्र्यैैतन्यनृत्तित्व'सम्बन्धेन तत्तद्रजतादाविव तद्विषयकाविघ्यापरिणामरूपे अ्रमेऽपि च्वविशिष्ट्टव्वम्य सत्त्वेन अ्रमस्यापि दोषकार्यत्वानपायात्। ननु तुच्छज्ञानादेशशब्दादिजन्यत्येन व्वरूपतो न तुच्छतं यथा, तथा अ्रमस्य मिथ्याविषयोपहितरूपेण मिथ्यात्वं न स्वरूपत इति किं न स्यातन्राह-तुच्छेति। सारूप्येति। समानस्वरूपतेत्यर्थः।

[^119]पपत्षे: । सर्वसाधारणं चैकं कारणत्वमम्युपगम्यैतद्वोचाम । वस्तुतस्तु दण्डतन्त्वादिसाघारणमेकं कारणत्व .नास्त्येन ; यत्र तन सत्वमवच्छेदकं, (तत्र) ${ }^{1}$ मम तुच्छविलक्षणत्वादिकम् ; कितु कार्यतावच्छेदकं घटत्वपटत्वादि कारणतावच्छेदकं च द््डतन्तुत्वादि। तन्द्रदाच कारणत्वं मिकम्। यथा गोगवयसाह्रयमन्यत् आ्रात्रगिन्यादिसाद्छयमन्यत् ; तत्र नैकमवच्छेदकम्, किंतु गवयत्वभगिनीत्वादिकमेव ; तद्वदत्रापि दण्डत्वादिकमेव सत्वासत्वोदासीनमवच्छेदकं वाच्यम्। तथाच जनकत्वा ${ }^{2}$ तुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः। तदुक्तं खण्डनकान्मि:-
"पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
नास्त्येवेति। मानाभावादिति शेषः। तुच्छविलक्षणत्वादिकमिति। कालसम्बन्धित्वं तुच्छविलक्षणत्वम् । आद्विना अधिकरणसम्बन्षित्वादिकं गृद्यते। न चैवं-तुच्छमपि कारणं कार्यविशोषे स्यात्, तुच्छव्यावृत्तरूपेण सामान्यकारणत्वे तु सामान्यसामश्रीविरहादेव नापचितिरिति वाच्यम्ं ; बैद्धैरपि तस्य कारणताग्राहकमानाविषयत्वेनार्षक्रियाकारित्वानुक्ते: कार्यविशेषं प्रति तस्य कारणत्वक्लल्प्नात् । ननु नियतपूर्वसत्त्वरूपं कारणत्वं कथमसति ${ }^{3}$ तत्राह-पूर्वसम्बन्षनियम इति। कार्याठ्यवहितपाकालावच्छेत़न कार्यन्यापकत्वे सत्यनन्यथासिद्धत्वरूप इत्यर्थः। व्यापकतायां प्रतियोग्यधिकरणव्यावृष्त. विशेषणताविशेषाणामन्यतमसम्बन्घेन कार्यवन्निष्ठवं निवेइयम्, तेनाभावस्य सिद्धान्ते सार्वत्रिकत्वेडपि न क्षतिः। अथवा पूर्वसम्बन्षस्य नियमो यत्रेति ठ्युत्पत्या नियतान्वयत्यतिरेकशालिनि स्वीक्रियमाणं यद्धतुलं तस्मिन्नतिरिक्रपदार्थरूपतया आवयोस्तुल्य इत्यर्थः '। ${ }^{1}$ न मम. ? जनकत्वाजनकत्वा. ${ }^{3}$ मर्सादति.

# हेतुतक्ववरिर्भ्रूतसक्वासफ्वकथा दृथा"॥ इति। 

"अन्तर्भावितसच्चं चेत्कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्वं चेटकारणं तदसत्तत:"।। इति च
न चैवम्
" अन्तर्भावितसत्वं चेदधिष्ठानमसत्तः।
नान्तर्भावितसत्वं चेदधिष्ठानमसत्तत: "।।
हेतुतत्वं हेतुत्वं तस्मात् बहिर्भूतं तदधटकमित्यर्थः। तुच्छस्य व्यापकत्वासम्भवात् कारणतामाहकददेशकालान्वयन्यतिरेकधीविषयत्वाभावाच सत्त्वं न कारणताररीरे निवेरयम्। तथाच सत्व्वस्येवासत्व्वस्य कथा वृधेति भावः ${ }^{1}$ । अथवा हेतोस्तत्वमसाधारणधर्म: तद्बहिर्मूतं तद्विनं सत्स्वरूपत्वमसत्स्वरूपत्वं चेत्यर्थः। तुच्छזवरूपस्येवाखण्डसद्रूपस्यापि ${ }^{2}$ कारणताग्राहक्रमाणविषयत्वानऊक्ञारान्न कारणत्वामिति भावः। यदि कारणताश्रयन्य सत्तासम्बन्धोऽपेक्षते, तदा सोऽस्त्येव कल्पितः कल्पितेऽपि। परंतु स नापक्षत ${ }^{3}$ इति वस्तुगतिरित्याइयेन क़था वृथेन्युक्तम्। कारणस्य सत्तानियमे साधकाभावमुक्ता बाधकमाह—अन्तर्भावितेल्यादि। यद्यन्तर्भातितसत्रं सत्ताविशिष्टं सत्ता तदाश्रयह्धोभयं यदि कारणताश्रय:, तदा ततस्तादृशाम्युपगमादेव असत्सत्तानाश्रयोडषी कारणमिति सिद्धम्। न हि सत्तायां सत्तान्तरमक्ति, न वा सैव सत्ता। तस्यां सत्तन्तराभ्युपगमे तक्यापि स्वपत्यक्षादिकारणत्वनिर्वाह्दाय सत्रान्तरं वच्यामित्यनवस्था नानासत्तां्गुपगमात्। सत्ताकारानुगतनुद्धिलच्छुने घटादिस्तरूपसतयैव निवांहो ${ }^{4}$ जातिमात्राय जलाअलिश्ध तव
${ }^{1}$ न कारणघारीरे निवेइयते सत्वर्वेवेति भावः-क. न कारणझरीरे निवेइयमिति भाष्व:ग. ${ }^{2}$ स्वर्पस्पापि. ${ }^{3}$ नापेक्षित-क. ग. ${ }^{4}$ निर्वाहे-ग.

परिच्छेद:] असतः साधकत्वाभाषे बाधकनिस्पणम् : 25
इति तवापि समानमिति-वाच्यम् ; ममाधिष्ठाने स्वरूपत एव सच्चाहीकारः, तन तु कारणे स्वरपातिरिक्रस्ताइ्रीकार इति विरोषात्। यत्तु अर्थो न ज्ञानस्य जनकतायामवच्छेदकोडपि; मानाभावाद् । न चातिग्रसकः ; विषयावच्छेदकमनयेक्ष्यैब सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानां्यावृत्तिसिद्बे:। तथाहि सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्याटृत्तिवर्यावर्तकाधीना । न विषयस्तरसम्बन्धो वा व्यावर्तकः ; स्वरूपातिरिक्रद्विष्ठसम्बन्धस्याभावात्, असम्बन्धस्य चान्यावर्तकत्वत्। अथ सम्बन्धान्तरमन्तरण विशिष्टव्यवहार-

स्यात् यदि च नान्तर्भावितसत्वं कारणताश्रयः सत्तोपलक्षिते कारणता, तदाडवि ततस्तदम्युपगमादेव सत्ताशून्यार्ताततादिदशायामपि दण्डादौौ कारणता स्यादित्यसतकारणत्वं सिद्धमेव। अथ कारणताश्रयकोटौ सत्वाया न विशेषणतयोपलक्षणतया वाsन्तर्भावः, कितिपाधितया, तदापि असत्सद्रूपान्यक्कारणमिति सिद्धम्। न हि दण्डादिनानाम्वरू:पाणि सद्रूपाणि ; श्रुतियुक्तिबध्ययत्वादननुगतत्वात् ; तुल्ययुक्तया 'ब्नसणोऽपि सद्रूपम्य त्वया वाच्यत्वेन तत्सम्नन्धाद्देव तद़न्यत्र ${ }^{2}$ सदाकार प्रत्ययोपपत्तेश्र। न चैवर्वमत्यादिकारणत्वम्यंलडधिष्ठानत्वमादाय" पूोकदांबस्स्सादिति पराभिमानः। स्र्रूपत एवेति। सद्रूपमेवाबछिन्नानवच्छिन्नरूपण प्रातीतिकव्यावहारिकाप्यासमात्राधिष्ठानमित्यर्थः। स्वरूपातिरिक्तिति । दण्डादे ${ }^{3}$ कारणस्वरूपातिरिक्तलत्थर्थः। उक्तयुक्तिभिरबध्यत्वोपलक्षितरूपस्य सद्रपन्य कारणत्वासम्भवातत्सम्बधिन्येव कारणत्वं त्वया बाच्यम् ; तथाच सदूपान्यदेव कारणं तव सिद्धमिति भावः। द्विष्तम्बन्धेति। विषयपतियोगिकज़ानानुयोगिकसम्बन्घंत्यर्थः।

، व्रह्मण्यपि. $\quad 2$ तन्मात्र. ${ }^{3}$ द्प्डादिस्वरूपकारण.

जननयोग्यं झ्ञानस्वरूपमेन वा ज्ञानमात्रनिष्ठः कश्यिद्धर्मो वा सम्बन्धः, तार्हे विषयमनन्तर्भाव्यैव ज्ञानात्तद्गतधर्माद्बा विशेषसिद्धिरित्यायातम्। किश्र सर्पज्ञानमसर्पश्कानाद्धर्म्यन्तरसम्बन्षमनपेक्ष्य विलक्षणम्, तअनकविलक्षणजन्यत्वात्, यवाहुरात्कलमाहुक्हवत्, तঞ्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्वा, यवबीजात्कलमबीजवत्। न च विलक्षणन्विषयसम्बन्धेनैव हेतनोरुपपतावप्रयोजकर्वम्; तथात्वे हि यवबीजतदक्कुरविलक्षणजन्यजनके कलमाद्युरतदीजे अपि यवाहुरतद्बीजा(कुरा) म्यां कलमाह्दुरतबीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्ष्प्यं विना कदाचिदुपलक्षणीभूतचैत्रादिसम्बन्घित्वमात्रेण विलक्षणे स्याताम्। साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञाना-

कश्यिदिति। विषायिताविशेषरूप इत्यर्थः। विशेषसिद्धि:-व्यावृत्चिसिद्धि:। ननु-विषयाघटितरूपेण तत्तज्ञानस्वरूपस्य सर्पत्वा ${ }^{1}$ ब्नव. च्छिन्नविषयिततिकेषस्य वा त्यावर्तकतंवं न सम्भवति; आद्यस्याननु. गतत्वात्; द्वितीयस्य सर्पत्वेन सर्पज्ञानमात्रगतत्वे तत्तत्सर्पज्ञा ${ }^{2}$ नाद्यावतिकत्वासम्मवात्, विषयस्य तु तचत्सर्परूपस्य तस्माद्यावर्तकत्वं सम्भबत्येव । किश्व प्रत्यक्षे ठ्यावर्तकज्ञाने ज्ञानस्य विषयिता ${ }^{3}$ विशोषम्य वा न स्वरूपतो भानमिति विषयघटितरूपंणैव व्यावर्तकत्वं बाच्यमतआह—किश्रेति । धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्ष्षणिति । स्वविषयसम्बन्धान्यवैलक्षण्ययुक्तमित्यर्थः । तेन विषयितामादाय न सिद्धसाघनादि (शक्तयन्येत्यपि वैलक्षण्ये विशेषणं देयम् ) ${ }^{4}$ तअन-केति-असर्पज्ञानजनकेत्यर्थः। विलक्षणेति—मिन्नेत्यर्थः। असर्पज्ञानव्यावृत्तजन्यत्वाश्रयधीव्वादिति तु पर्य习सितम्। सर्पज्ञानत्वादेर्जन्यता-

1 सत्वा. ${ }^{2}$ तत्तत्संज्ञाना-क. 3 विषयता. 4 अयं कुण्डलितः पाठः क-पुस्तके न द₹यते.

दन्यसम्बन्वितामात्रेण विलक्षणः स्याव्। एवं च यथा प्रतियोगिनमनन्तर्भाच्यैव घटस्याभावोडभावान्तराद्: यथाच विषयमनन्तर्भान्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माषोद्धरणकृतितः, यथा चातीतादिज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञानव्यवहारौ च ज्ञानान्तरादितः, अन्यथा तत्कार्यसक्कः स्यात् ; एवं सर्पज्ञानमपि रजौं सर्पज्ञानस्य श्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेपपि सर्पज्ञानत्वेन तद्द्वेतुजन्यत्वात् स्वत एव वा असर्र्ज्ञानाद्दिलणमिति न कोऽपि दोषः। न चाभावादाबपि प्रतियोग्यदेरेच्छेदकत्वम् ; घंसादेः क्रेरतीतादिश्ञानस्य च सत्तासमये प्रतियोगिविषययेरसत्वादिति। तब्न ; सर्पज्ञातत्वावच्छिस्मस्यासर्पज्ञानाव्यावृत्तौ प्रयोजकं न तत्तत्स्ररूपमेव; सर्वज्ञातसाधरण्याभावात्, किन्त्वनुगतो धर्मः कशिव्। सोडपि सर्पज्ञानमात्रे न जातिरूपः प्रत्यक्षत्वान्तुमानत्वादिना सक्कर्रसक्ञाव, किं तूपाधिरूप; । स च ₹्रूपसम्बन्धेनाध्यासिकसम्बन्धेन वा सम्बन्धिभूतशिषयादन्यो न भवति; वच्छेदकल्वे ौौरंखादतिरिक्तमखण्डं वैलक्षण्यमवच्छेदकं विना जन्यता नोपपघत इल्यनुकूलम्तर्क इति भावः। विलक्षणः स्यादिति।. चैत्राद्विसम्भन्धित्वावेर्गुखलेनावच्छेदकान्तरमखण्डं कखमबीजादिनिष्टो यवबीजाढ़िण्यावृत्तो जन्यजनकमावः कह्पयताति चेत्, तरिं सर्पज्ञानेऽपि तथा बोध्यमिति भावः। सर्वंज्ञानेति। सर्वसर्प'ज्ञाने पर्थः। विषयादन्यो नेति ॥
 सिद्धत्वाल्धुपूरपान्तराभावाच्च तद्देव जनकत्वावच्छेदकम् । सर्षज्ञानादौौ तु तन्न प्र्यक्षसिद्दम्, नाप्यवच्छेदकतया कर्प्पम्ं विष:-

यितासम्बन्षेन सर्वोदेरेवावच्छेदकल्बसम्भवात्। न च सर्पत्वावच्छिक्न विषयिताले़ेत्र सम्बन्घले गैरवम् , विषयितामान्रेण नु स्वोडतिमसक्तः, सर्षत्वाधन्यरूपण 'सर्पविषयकज्ञानपि ${ }^{1}$ सत्त्वाद़िति वाच्यम्; सर्षत्त्वविशिष्टं प्रति सर्षस्वावच्छिन्नविषयिताया एव सम्बन्घल्लेन विषयितामात्रेण सर्पस्यानतिप्रसक्रत्वात्। न च तथापि सर्पत्वावच्छिक्त्वमवच्छेदकतायां कल्प्यम्, कर्प्यजातौ ल्वनवच्छिन्मेवावच्छेदकत्वमिति वाच्यम् ; मम सर्पत्वनिह्है मवच्छेदकल्वमिव तब जात्यन्तरं कर्प्यमिति राषवाभावेन तब कल्पनानुद्यात्, अवच्छेककतार्यविषयितासम्बन्बेन सर्पत्वस्यैव कारणताधवच्छेदकत्वसम्भवाच। विषयितासम्बन्बेन सर्पस्यापि ज्ञानपत्यासन्नत्वात् , सर्पसम्बन्धेन सर्पत्लस्य कारणताधवच्छेदकत्वसम्भवाच ॥

अपि च या यद्यावृत्तकार्यताइालिषी:, सा तदवृते :स्वविषयसम्बन्धान्यैैउक्षण्यस्याश्रय इति सामनन्यतो क्यातिर्वाच्चा। अन्यथा ज्ञानमात्रे विषयसम्बन्घान्यधर्मसिद्धिर्न स्यात्। तथाच स्वरूपतो घटल्वादिविषयकज्ञाने कथं साध्यसिद्धि:? तन्निष्हजन्यव्वादौ विषयितासम्बन्घेन घटत्वादेरावावच्छेदकत्वसम्भाव्। न च—तत्रद्धान्यक्केदेंशकालान्तरे उत्पत्तिवारणाय तत्वद्धीत्वेन तबत्कारणन्यक्जिजन्यत्तं वाच्चम्, तनद्दीववं च न तबद्धीम्वरूपम्, स्वरूपंतो ज्ञानस्याबच्छेदकल्वासम्भवाद्धर्मान्तरं चातिपसक्तम्, अतो धीनिप्षाखण्डधर्मविछेषरूपमिति साध्यसिद्धिरिति वाच्यम् ; स्वरूपतस्तनद्दीव्यक्तीनामव• चेछककले ${ }^{3}$ बाधकाभावात, स्वरूपतस्तासां बुद्धचविषयत्वेडपि ज्ञानत्वाघुवलक्षक्षितरूपणावच्छेककताधीविषषयत्वसम्भवात्, कारणताहुपाहिते स्वस्मिन् केवलस्स स्वस्य भेदसम्भवेन मन्मतेडपि तादास्यसम्भवाच्च। ${ }^{1}$ असर्पझानेके. ${ }^{2}$ सर्षलविष्यनिह. ${ }^{3}$ दकलेन-ग ${ }^{4}$ मेदे-क. ग.

असतः साधकत्वाभाओ बाधकनिर्पणम
मानाभावाव्व । अत एव धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणमित्युकानुमानं बाधितं द्रष्टव्यम् | ब्यमिचारि च, तथाहि-घटसंयोगः, पटसंयोगाक्ष जात्या भिद्यते, तदषृत्तिजात्यनधिकरणत्वाव्। किंतु घटरूपेपाघिनैवेति - धर्म्यन्तरसम्बन्धमपक्षैव विलक्षणे घटसंयोगत्वाबच्छिमे साध्याभावशति उत्तहेतुसत्वाश्यभिचारः, अप्रयोजकं च। न च-उपलक्षणीभूतचैच्रसम्बन्धेनापि कलमाक्दुादेर्वावृत्ततापत्तिः: विपक्षबाधायामिष्टापत्तेः। न हि जातेर्व्यानतककत्वे उपाघिरर्ण्यावर्तको भवति। एवं शिलोद्धरणमापोद्दरणकुत्योः परस्परं जात्या व्यावृत्तावपि विषयरूपेपाधिनापि व्याधृष्ति-

अतएव "द्धण्डवादिकमेव साघ्यताबच्छेदकम " "्यादिदी़ीषितिटीकायां दण्डादे: स्वर्रूपत एव प्रतियोगितावच्छेदकल्ं तार्किकैरुक्तम्। यत्र नु कचिद्विषयादे: क्हुस्यावच्छेदकखं न सम्भवति, तत्रातिरिक्तवैरक्षण्यसिद्धावपि नात्माके क्षतिः, तदेतदाह- मानाभावादिति ।।

यनु सिाद्छयविशोषोडनुगतः सर्पज्ञानमान्रेक्तीति स एवं उयार्तक इति, ततुच्छम्र ; सर्वादिविषयक' '्वान्ये साद्धरये मानाभावात्।
 दिति, तदपि न; जातेरसकीर्णीर्व्वानियमे "सर्पज्ञानादिनिष्ठकार्यतादाववच्छिन्नत्व्व ${ }^{4}$ नियमस्यापि वंक्तु श़्क्क्रत्वेन साध्यसिद्दौ तर्काभावाव। ब्यावर्तकत्बेन तु न जातिः सिध्यति ; उपाधिनापि तस्सम्भवात् ॥।

न जाल्या भिद्यत इति। पटसंयोगाहृतिजातिशून्यः ताहहरजातिभाहकमानाविषयत्वादितर्थर्। घटरूपेति। घटसमवेतबेलेयर्यः। धर्म्पन्तरसम्बन्धमपेक्ष्येति। यो यदृृतिजन्यताबान्, स स्वाषिकरणसम्बन्घान्यस्य तदवृत्चिधम्मम्याश्रय इतित व्यात्तिः पूर्वमुक्तल्यमि-
${ }^{1}$ लान्यसा-क. ग. ${ }^{2}$ दिलयुकाम-क. ग. ${ }^{3}$ सर्व-क. ग. 4 वfि्छिल.

रविस्द्धा। इिलोद्धरणें च जातिविशेषविशिष्टाया: छतेर्जनकल्वेन तद्रहिताया माषेद्धरणकतेस्तदनिष्पत्तिरविरूद्या। व्याटृत्तेरन्यतोगपि लिद्धिसम्मेे कार्यकारणभावादिनिर्वाहाय जातिविश्रेषस्पापि कल्पनाद, अतीतास्सद्वियकक्ञानव्यवहारादौ चातीता-

 द्विरेव न व्यमिचार इति ${ }^{2}$ परास्तम् ॥

यतु-‘जातिविशेषावच्छिन्नकर्मपयोज्यजातेः पटसंयोगावृतेने• घटसंयोगे सत्व्वेन न व्यभिचर इति, तन्न ; तत्रक्कियाव्यक्तिल्वेन तत्तक्कियासमानाधिकरणत्वाबच्छिन्नं प्रति हि कारणता, न तु विजातीयंंयोगत्वावच्छिन्नं प्रति; तत्तक्कियानधिकरणेऽपि विजातीयसंयो गोल्पत्त्या ब्यमिचारापत्तेः । तत्तत्रियानधिकरणें संयोगोत्पतौ ताहशदेशानामेव नियामकत्वम्, तत्तद्देश््यक्तिसमवेतत्वावाच्छिन्नं प्रति तद्याक्तित्वेन हेतुत्वात्। तथाच येन रूपेण कियाहेतुस्तद्वच्छिन्म-
 मानाभावादसिद्धत्वेन कथं न व्यमिचारः॥

कार्यकारणभावादीति। आदिना जातिविशेषविशिष्टविषयकब्वेन ज्ञानस्यानुभवो प्राष्षः, अत एवेल्यस्योत्तरमपिर्योजनीयः। तेनाभाबनिदर्शनमसिद्धम् । न हि घटाभावस्य पटाभावात्रतियोग्यविशोषितं बैलक्षण्यं केनाव्यकीक्रियते युज्यते का। न च--घटाभावादौ तन्मात्रगतकारणताध्यवच्छेदकतया तस्सिद्धिरिति-वाच्यम् ; प्रतियोगितासम्बधेन घटादेरेवावच्छेदकत्वसम्भवात्, प्रतियोग्यविशेषितरूपेणान्यथासिद्ययावच्छेदकत्वा'सम्भवात् । अन्यथा तचदावव्यक्केरोवोक्र-

1 नोर-ग. ${ }^{2}$ न ब्यमिवार:, धीत्वघटितहेत्र्व नोषें संयोग इति-क. ग. 3 कार्यतेन कार्य-क. 4 बचेछबकल.

पीरचेंः] असतः साषकलाभांके बाधकनिस्पणम् 31
सतोरेव ठ्यावर्तकत्वम्। न हि व्यातृत्रिधीजनकत्वं त्व् ; येम सक्वाभावे प्राक्सच्वशरीरतया न स्यात्, किंतु व्याृृचिषीजनकघीविषयत्वमित्युक्तम्। तच्चातीवदौौ सुलभमेव। अतएवामाबदिनिदर्शनमापि .निरस्तम्; उत्ररूपव्यार्वर्तक्वस्पात्यन्तासन्यपि सम्भवेन कदाचित्सति सम्भास्य कैसुतिकन्यायसिद्धत्वात्। नतु—विषयस्य व्यावर्तकत्वेजपि सर्वत्र विशेषणत्वासम्भवाढ़पलक्षणत्वमेव वाच्यम् ; उपलक्ष्षणेन चोपलक्ष्यगतस्वसम्बन्धव्यतिरिक्तः कथिद्दर्म एवोपस्थाप्यते, काकेनेव गृहसम्बन्धिना तद्रतसंस्थानविशेषः ; तथाच स एव व्यार्तर्तक द्वि बिषयसम्बन्धमनपेक्ष्य स्वगतरैनैव धर्मेण ज्ञानस्य व्यावृचिरिति चेष; विषयस्य विशेषणत्ववदुपलक्ष्षणत्वस्याप्यन्म्युपगमात्। येन हि स्वोपरागाद्विशेष्ये व्यवृत्तितुद्धिज्जन्यते, तद्विशेषणं व्याषृत्तितुद्यिकाले विश्रेब्योपरअअकमित्यर्थ ; यथा गोत्वादि। येन च स्वोपराग-

रील्या स्वरूपतोडबच्छेदकर्वसम्भवेनातिरिक्रूर्मकल्पने मानाभावादिति समुच्चीयने। अत्यन्तासतीति। मिध्यानूतेत्यर्थः। स्वसनाकालेडपी स्वसमानाषिकरणात्यम्नामाव ${ }^{1}$ पतियोगििीति यावत्। तेन तुछ्छन्य मानाविषयल्वेनान्यावर्तकलेडपी न क्षतिः। कदाविस्सतीवि। सर्वकाल्मम्बन्चिनीत्यर्थ:। स्वोपरागाद्रिति । स्वापरागमादायेत्यर्थः। स्वोररका ठ्यावृत्वुद्यिर्यद्दुद्यधा जन्यत इत्यर्थः। काले इति। तथाच
 बुद्धै स्वोपराग इति भावः। च्वघंसादेतितिर्माब्यावर्तके प्रतियोग्यादावुपाषाबतिन्यापिवारणाय सत्यन्तम्। उपऊक्षणे तद्वारणाय विशेष्यम्


[^120]प्रुदासीनं कुर्चता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्तिबुद्विर्जन्यते तनुपऱक्षणम्, पथा का कादि । यत्तु-विशेष्ये नोपरञ्ञकम्, न वा धर्मन्तरोपस्थापकम्, अथ च व्यावर्तकं तदुपाधिः स्वविशेप्यान्वितायामुक्तेपरागसम्बन्धेन गोत्वस्यान्वयसम्भवाद्यावृत्तिबुद्धौ तद्विशेषणं व्यवद्वियत इति भावः। तदु अलक्षणमिति। तथाच च्यातृत्तिबुद्ध|वुपलक्षणत्वं तज्जनकधीविषयधर्मेपस्थापकधीविषयत्वमिति भावः। नोपरश्ञकमिति। व्यावृत्तिबुद्धिकाल इत्यादि:। व्यावर्तकतायाः प्रमाणसिद्धत्वातृतीयमपि व्य|वर्तक वाच्यमित्याशयेनाह-ठ्यावर्तकमिति । उयावर्तकत्वेन प्रमितमित्यर्थः। उपाधिरिति। तथाचोकोभया=यत्वे सति व्यावृत्तिबुद्धेजनकधीीविषयत्वमेव तस्यामुपाधित्वमिति भावः ॥ लक्ष्यस्वरूपमपि यद्यदमुष्य साक्षा-

दर्थान्तराद्रवति मेद्कमेतदाहुः । अस्य स्वरक्षणतयैन तु लक्षणं खं ${ }^{1}$

छिद्रं जलं द्रवमितीद्टामेन लोके ॥ " स्वानुरक्तमतिजन्मकारणं यंत्पुनर्भवति लक्ष्ष्यंस्त्तुनि। तद्विशोषणतयाडस्य हक्षणं केसरादिकामिवाश्ववस्तुन:"॥ " स्वानुरक्तमतिजन्मेहुतुतां उक्ष्यवस्तुनि निरम्य लक्षणम्। अस्व${ }^{2}$ रूपमपि तस्य यद्भवेत् काकवत्तदुपलक्षणं विद्यु:"॥ इति संक्षेपशारीरकोतौ तूपलक्षणनुपाधिश्ध द्वयमपि स्वलक्षण ${ }^{3}$ विशेषणमिन्नव्यावर्तकत्वेन सकृहीतम्। तावता च न तयोरवान्तरविशेषोऽपरापाईः । अत एव जगत्कारणत्वादिकमपीतरण्यावृत्त्युपलक्षितत्रक्नबुद्धावुपाघिरेख ${ }^{4}$ विशेषणं स्चलक्षणान्यव्यावर्तकत्वैनैकीकृत्य उपलक्षणत्वेन शासे व्यवहारः। अत एवाकाशापद्पयोगे शब्दाश्रयत्वमुपलक्षण मिति
${ }^{1}$ लक्ष्षणं स्व. ${ }^{2}$ अन स्व. ${ }^{3}$ विरोष. ${ }^{4}$ विदे़षषणस्वलक्षण-क. स. ग.

यथा पळ्कजराब्दप्रयोगे पब्मत्वम्, यथा वोतिदादिशब्दप्रयोगे यागत्वावान्तरजातिविशेषः। अत्र हि पद्मत्वयागत्वावान्तरधर्मौं पङ्कजनिकर्तारे फलोन्नेदनकर्तरिरें च धर्मान्तर: मुपस्थापयतः, अप्रतीतेः; न वा स्वोपरक्तां बुर्द्धि जनयतः; समुदाये शाक्तयन्तरानम्युपगमात्। अथ च कुमुद्ज्योतिष्टोमादिभ्यो व्यावर्तकावित्युपाधी एव। इदं च प्राभाकराणां भादानां शबन्दमण्युक्त ${ }^{1} म$ प्यविरुद्धमिति भावः। यथा पङ्कजराबद्वेति। उक्षं हि शब्दमणौ —" यथा सर्वनाम"त्वमहंपदेषु बुद्धिस्यत्वसम्योध्यत्वोच्चारयितृत्वानि प्रयोगेपाधयः ; तेन बुद्धिस्थादिकमेव तैबोध्यते, न तु बु|द्दिस्त्वादिकं शक्यम् ; तेन रूपेण ज्ञानाभावात्, तथा पद्मत्वमपि प्रयोगोपाधि:" इति । उपस्थापयतः उपस्थापकर्षविषयौ । जनयतः जनकधीविपयौ। समुदाये। पक्कर्जति उद्रिद्विति वर्णसमुदाये। शाक्तचन्तरेति। अवगवशक्तयन्यश़क्तीत्यर्थः। व्यावर्तका-
 प्रति तादाइं्येन ${ }^{8} 4$ द्मत्वादिना हेतुत्शकर्पनात्, कुमुदा|दिम्य उक्तबोषतिषयस्य व्यावर्तकावित्यर्य: : तथाच प्रयोगजन्यबंधेडनुपरकत्वे, तद्विषयक्यावर्तकधर्मानुप₹्ध्रापकंत्वं च सति तादृईाबाधविषयठ्यावर्तकत्वं प्रयोगोपाधित्वम्। तत्तत्पद्मन्यक्तितवं तु ताद्धशबोधविषयसामान्यक्य न ब्यावर्तकम्, अन्यतमष्वादिकमापि गुरु, पद्मत्वादे़: प्योगनियामकत्वज्ञाने सत्येवं वयावर्तकत्वन ज्ञेयं चेति पद्मत्वादिकमेव पयोगेपाधित्वेन ब्यवह्डियत इति भावः :i

एतेन-पद्मत्वादिना नावयवशाक्रयधिनं ज्ञानं कुमदाऔौ
1 मर्थावฤ-गा. ${ }^{2}$ तववम-ग. ${ }^{3}$ स्यव्वायझशक्यम्. ${ }^{4}$ श्रि: 4 पम्यल्लादिंहुतुव.

Advaita. Vol. II

प्रतिबध्यते ; श्रक्तयाकांक्षातात्पर्यादिधीसत्त्वे तत्राप्वन्वयोोषाइ। नापि पयोगः प्रतिबघ्यते ; सामम्रीसत्वे तस्यावइयकर्वात्। अहमादिददे ख्वातममाप्रशके शंक्तिमहसहकारितयोच्चरायितृत्वादि स्वरूपसदेव धीनि-यामकम्-इति मण्युक्तदूषणमपास्तम् ; याबदवयवशक्तिज्ञानविशिष्टशाब्यदोधे पद्मत्वादिना हेतुत्वे बाषकाभावात्। कुमुदादौ बोषस्य लक्षणयैवोपपतेत्।। अतएव पद्माधन्वयानुपपत्तिज्ञाने सलेख कुमुदाब्वन्वयधीः ॥ यदपि -" सर्वनाप्रां बुद्धिविषयत्वेपलरक्षेत्रकरावाच्छिने शाक्ति:, घटव्वादिना ईक्यत्वे तु तदानन्य्यापत्तिः। न च तेषां मिथ: पर्यायताऽsपाया; उंद्रयतावच्छेदक्ुद्धिविषययावद्धर्मावच्छिन्ने सर्वपदस्य, प्रश्नोपकमबुद्धिविकयत्वावच्छिने किंपदस्य, ततपदोद्देशयबु|द्दे'विषयत्ववावच्छिने यत्पदस्य, अवान्तरवाक्योद्देगयकु/द्धिविषयत्वावच्छिने तत्पदस्य, प्रत्यक्षविषयत्वावच्छिन्ने इदेमेत्वपयोः, व्यवहितनुद्धिविषयत्वा-. बच्छिन्ने अदः पदन्यं 'ञ्ताक्तिश्वीकारात् एवं व्वमहंपदयोरव्यात्ममात्रशक्तले पर्यायतापते:, त्वमहं वेति विकल्पानुपपतेश्र; उच्चारयितृत्वाबच्छेदकत्वपकारकविषयत्वोंपलक्षितधर्मावच्छचन्नेइहंपदस्य, सम्बोध्यतावच्छेदकत्वपकारकतुद्धिविषयव्वावच्छिन्नं त्वंपदस्य शाक्तिः। स्वरूपसदित्यु क्तमणिवाष्यम्थपद्रुपरक्षणविधया शाक्यतावच्छेदकानन्तर्गतवरम्। तथा च छृान्ताभावाप्पद्वत्वादि न प्रयोगोपाधिः " इति पक्षघरैरुक्तम्, तद़ि न युत्तम् ; बुद्धिविषयत्वेपएक्षितरूपेण अक्तिर्वीकारेडपि हि घटत्वादिरूपेण बोध्यं ${ }^{3}$ प्रति बुद्धिविषयव्बेन घटत्वादिपकारकड़क्तिज्ञानव्वेन कारणता ${ }^{4}$ वाचौनै ; अन्यथा कदाचिद्धरलेन, कदाचिदन्येन रूपेण बोध इल्यत्र नियामकाभावात्। तथाच तत्पदजन्याँव्दबोधे तत्तहुद्धिविषयत्वेन हेतुताकल्पनया पयोगोपाधित्वैनैव निर्वाहे श्निज्ञानकारणता-

[^121]
## च सम्मतमुदाहरणणयुगळम्। तार्किकाणां तु आकाइाइब्द्र्रयोगे

वच्छेदककोटौ तत्तहुद्धिविषयत्वानिवेश़ो न युक्तः, घटत्वादिप्रकारकशक्ति: ज्ञानीयानन्तहेतुतावच्छेदकेषु गौरवापत्तेः । पर्यायत्वं नानार्थत्वं च सर्वनाम्नस्तत्वाद्युक्त ${ }^{1}$ मेब। अन्गथा पुऩस्सर्वनामत्वमेव वयाहतं स्याप् । सर्ववाचकं हि सर्वनाम; न तु बुद्धेतिरोषविषयरूपाकिश्यिद्धाचकम्। अतएवेनरादिशब्दानों सर्वनामत्वासम्भवातन्तर्टणाय, सकलादिशब्दानों तत्सम्भवात्तद्यावर्तनाय गणपाठः। स इदं वा त्वमहं बेत्यादिविकल्पास्तु तत्त्त्पदबोध्यविषयकत्वेनोपवादन्नयायाः

तार्किकाणामिति। यद्याकाझझब्दादाकाशानिष्टानवच्छिन्नविषयताकशाबदबोधः, 'अन्तु वा पदादपि निर्विकल्पकम्' इति मणानुक्तत्वात्तदा आकाशशाब्द्रयोगे इत्यम्य आकाशपदजन्यशाब्दबोधे इत्यर्थः। शाब्दबोधे शबदा श्रयत्वस्यानुपरागात् उयावर्तकधर्मानुपस्थापकत्वाच्चोपाघित्वमिति भावः। यदिच शब्दाॅ्रयत्वादिना कदाचित् अप्रद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिना च शाब्दबोघ:, उक्षं हि मणौ ' शब्दाश्रयत्वादिना नियतोपस्थितिरेव नांध्ति' इति ; तदाकाशापद्दन्यायां शबदाश्रयत्वन्यरुपेण शाब्दबुद्धाावित्यर्थ:। अथवा55काशपदशक्यत्व इति बदर्थ:। तादृश शक्यत्वे नुपरक्तत्वाद्वघावर्तक्तधर्मानुपस्थापकत्वात्तदाश्रयन्यावर्तक त्वाच्चोपाधित्वमिति भावः । ग़न्द्राश्रयत्वांशाडपी यद्धि ज़क्ति:, 'अन्तु वा तदपि श़क्यं यदि तेन रूपेण नियतोपस्यितिः, इति पक्षान्तर₹यापि मणावुक्तत्वात्तदा आब्दाश्रयत्वं विशेषणमेन, नोपाधिः। अथाराक्यस्य शब्दाश्रयत्वादेः कभं शाब्दानुभवः ? स्वनिष्ठवृत्त्या शब्दोपस्थापितस्यैव ${ }^{3}$ तन्म्वीकारार्दिति चेत्तदुक्त मणौ -। यद्धर्मवत्वेन नियमत उपस्थिते यत्र शक्तिम्मह:, त₹स्मरणजनकसंक्कारस्य तद्धर्मविषयता-

[^122]झब्द्वाभयत्वमुदाहरणम्। अतएत्राविद्यादिकं साक्षित्वादावुपाधि－ रिति सिद्बान्तो वेदान्तिनाम्। अतो यत्र विषयस्य तिरोषणत्वं न सम्भवति，तत्कालासत्वात्，तत्रोपाधित्वाभ्युपगमान्नाप－

नियमेन तदुद्वोधकांदव तदूंशड $ऽ$ य्युद्वोध（क）नियमेनाशक्यस्यापि तस्य भानात्＇इति；तदेंश शर्क्ति विनापि तदुपहिते शक्कि＇भहशाक्यस्मृ－ त्योस्तेन रूपेण शाब्दानुभवे कारणव्वं सम्भवतीति भावः। एषैव रीति： पदमात्रस्येति तु नचयतार्किकाः ॥

सा广क्षित्वेति । अनावृतविषयप्रकाइत्वरूपसाक्षित्वादावनुपरक्तं तदाश्रय亏ज्यावर्तकानुपस्थापकमविद्यादिकमुपाधिरेवेति भावः। तत्रोपा－ धित्वेति। यद्यपि गद़धिकरणकाले यद़विद्यमानं तत्र तन्न तिशेषणं， न वोपाघिः，तदुधिकरणकालं विद्यमानस्यैन 干्वाश्रयान्विते तत्रोपरागा－ नुपरागौ विंझषणत्वोपाघित्ने इति कल्पतर्वाद्वावुक्तव्वात्। तथापि तन्मते प्रतियोग्यादेर्घ्चेसाढिन्याबृत्तिवुद्धावुपलक्षणत्वमेव स्वीाईययते，उपलक्षण－ लक्षणे व्याघतरकान्तरापस्थापकत्वानुपादानात्，अविद्यमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम्यैन तल्रक्षणत्वात्। सर्वथाऽपं ${ }^{2}$ च्यावर्तकं｜नुपस्थापकमवि－ शेषणमपि ठ्यावर्तकं सर्वसम्मतम् ॥

वस्तुतो विशेप्यन्यावर्तकधर्मोपन्थापकमेबोपरक्षणमिति पराभ्युप－ गमेनेदमुक्तम्। न त्वै्रैनाचार्याणां श्रद्धा। ₹वविशेष्यान्वितोपरक्षं व्यावर्तक विईोषणम् । उन्तापरकान्याद्विद्यमानं ठ्यावर्तकमुपाधिः। उक्तान्यदवविद्यमानं व्यावर्तकमुपलक्षणम्। न तु व्यावर्तकाःतरोपस्थाप－ कत्वघटितम् ！यत्र धर्मान्तग्स्यैव व्यावृत्तिव्याव्यंव्वन धर्न तूपलक्षण－ स्यैव，तन्रैव तस्य तदुपन्थापकत्वमावर्यकम् ；यथा काकादे़श्चैत्रगृहे－ तर ${ }^{3}$ व्यावृत्तिठ्याप्यंत्वे＇न न धीः；वृक्षादिषु ठ्यभिचारज्ञानात्，कदापि ${ }^{1}$ तदुपाहितराक्ति－क．ग．${ }^{2}$ सर्वस्स्याजि．${ }^{3}$ गुहे इतर．${ }^{4}$ व्वेन धी：．
 च्चवत्रृहाः' इत्यादौौ न तस्य व्यावर्तकता। यत्र तूपएक्षणस्य व्यातृत्तिवयाप्यव्वेन धी:, वयावर्त्यमाः्रनिहता च, यभा स्वध्वंसज्ञानादौ प्रतियोगिविषयदेे, तत्र न तदावइयकम् ; मानाभावात् । न द्वनुलितिकाला-
 च्यामुक्तखाव् ॥

यनु-‘ दण्ड्ययमासीदित्याढ़ौ उ्यावृत्तिवुद्धिकालासतोडपि दण्डादेर्विशेषणत्वण्यवहारो न क्यात्, द्रिडनं भोजयय्यादौ दण्डदारेविरोषणत्वक्यवहारश्र अ्यात्, इति तन्नात्र मूले दूषणम् ; आंद हि व्यावृत्तिबुद्धौ दण्डादेरविशोषणत्वमिप्टमेव। अतीनसतासमम्ध'न्धांग़ं एव तस्य

 एव प्रत्याग्यंच्यावृत्याधिं.करणतावच्छक्कलंब स्वंत्रुकातुमितिविषयीभूता
 कारूयापककालवृत्तित्वाद्विर्पय习सितम् । ह्वकाइनियतम्य उ्याृृत्ति-


 योक्ताक्ये निशेषणनयाडट्य उक्षणामिल्यनंन उ्यातृत्तिनुद्यचुपर्तत्वघटि-
 प्यस्यैच उक्ष्ष्यत्वं ज्ञापिनम्। तन्मात्व्वबिंशाव्यान्चिते गत्र तक्काहीनमु.


$$
1 \text { सत्तासु सम्ब. } 2 \text { अच्या }
$$

लक्ष्पत्वनिबन्धनदोषानकाशः, सन्द्हेहे तु विशोषणत्वमेबाग्यहिंतत्वादुपंयते। तस्माद्विषय एव सर्वत्र ज्ञाने व्यावर्तकः। एकविषयकस्मृत्यनुभवयोः परोक्षापरोक्षयोंश्य विषयमनपेक्ष्य जात्या परस्परव्यावृत्तिद्शर्शात् सर्वत्र त्रिषयनिरपेक्षा जातिरेव व्यावर्तिकेति न युक्तम्; भिन्नविपयके समानजातीये तद्सम्भवात्। न च-तत्रापि जातिरस्ति क्षीरादिमाधुर्यवदिति चाच्यम्; चाक्षुषत्वादिना स़छ्कर्योकत्वत्व। न च तन मते तत्तद्रत्तेस्तत्रदाकारत्वेन चैंतन्यस्य तत्र्रतिब्विम्बितत्वेन (तदमिव्यक्तत्वेन)

स्थापकं, तत्र तटुपलक्षणम्, ताद्छो ${ }^{1}$ यत्र तादृघां व्यावर्तकोपस्थापनं विनापि ठ्यावर्तकम्, तत्र तदुपाधिरिति प्रकृतग्रन्थामिप्रतमपि युक्तमव॥ परमार्थतम्ववविद्यमानस्य धर्मान्तरोपस्थितिं विनापि छ्यावर्तकम्यो पलक्षणत्वं कल्पतर्वाद्युक्तं यथाश्रुतं परिभाषामांत्रे पर्यवसन्नं स्यात्। विशोषणत्वादिनिर्वचनं हि मुख्यामुख्यत्वविवेचनाय विशेषणत्व्मम्भवे नोपाधित्वं, तत्सम्भवे च नोपलक्षणत्वं क्वीकियत इति. फलकाय। तथा च यदि धर्मान्तरोपस्थापकमेवोपलक्षणम्, तदा तस्य स्वतो च्यावर्तकत्वाभावेनोपाध्यपेक्षया जघन्यत्वमुपपद्यंत । स्वतो व्यावर्तकत्व तु ${ }^{2}$ नाविद्यमानतामात्रेण जघन्यतापपद्घंत। अतएव विशिष्टवृत्तिज्ञानक्य विशेष्यान्वय्यंश्रं विशोषणयोग्यताज्ञानसहकारंणैव शाब्दधीजनकत्वाद्विशेषणक्योपाधिव्वेनान्वयनोधो लक्षणँचयवेत्याद्युक्तमित्युपाधेरि विशोषणापेक्षया जघन्यतोपपद्यत इति प्रकृतम्रन्थार्थ एव साधीयान्। तन्रैव च कल्पतर्वादिग्रन्थस्यापि तात्पर्य बोध्यम् ॥

सङ्रस्येति पूर्वो्कदोषगणस्योपलक्षणम् । तत्तदाकारत्वेनेत्यादितृतीयानामभेदोऽर्थम्तक्य वैलक्षण्यमित्यत्र|न्वयः। स्वत एव ${ }^{1}$ यत्रा-ख. ग. ${ }^{2}$ तु विद्य. ${ }^{3}$ विशेश्यत्वांशे.

वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्तभावत्वेन तत्तघ्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यमिति वाच्यम् ; १़षयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन स्वभावव्यवहारयोः परिचायकत्वेन च तनैर्रपेक्ष्येण व्यावर्तकताया वत्तुमशक्यत्वात्। (अस्माभिश्य तुचछे जनकत्वस्यानुक्तत्वात्) विरोपणत्वोपाघित्वयोः सम्भवे च नोपलक्षणत्वमित्युक्तम्। न च 'कथमसतः सज्जायेत' इति शुत्या 'नासतोडदृष्त्वाव्' इति स्त्रेण शराविषणणादिम्यः सदुत्पत्यदर्रानादित्यादिभाष्येण च विरोघः ; तेषां तुच्छे जनकत्वनिपेधपरत्वात्, अस्माभिथ्ध तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात् । तस्मात् सद्विविक्रत्वं साधनमिति सिद्दम् ॥

इृ्यद्यैनससद्दी। असनस्साधकत्वाभांव बाधकम्.

विषयाघटित तत्वाकारवं तत्वद्विपयितारूपोडतिरिक्तधमें यद्यपि; तथापि तस्य प़़्यक्षज्ञाने ठ्यावर्तंके विषययघटितरुपैँगव भानमिति विपयस्य उयावर्तकत्वमावइयकम् । विषयिताविश्रेषसम्बन्धेन विषय स्यापि उयवहारादिकारणतादाववच्छेदकलं ${ }^{1}$ सम्मवर्ताति न किशयिताविशेष एव तदवच्छेदको न वा तत्चेनातिरिर्तशक्तेम्सिद्यिरित्याशये-नाह- विषयस्यैवेति । आकाग्र्रमर्पकत्वेन विपयिताविशेषरूपाकारापेक्षणीयत्वनन, तच्चोकररत्या बोध्यम् । ठ्यनहागेति। च्यचहारजनकेत्यर्थः। परिचायकत्वेन इतरम्माद्वयावर्तकव्वेन। ज्ञानक्वभावानामनुगत्वाभावात् तथामेव न तेपु उ्यावर्तकरत्वम्, न बा उ्यवहदाराद्जजनकताविशिप्षष्यावर्तकर्वम्। अतो विभग्यम्य घ्यावर्तकर्नं जनकव्वादाववच्छेदकवं चाव३्यकमिति भावः ॥

## अथ चकूश्र्यसम्बन्धभड्ग:

ननु-मिथ्यात्वानुमानमश्रयोजकं, सत्यत्वेऽपि हृइयत्वो-पपत्तेरिति-चेन्न ; दृ्ट्टयसम्बन्धानुपपत्तेः। नहि ज्ञांं ज्ञेयासम्बद्बमेव प्रकाशकम् ; अतिप्रसङ्नात् । नापि सम्बद्धम्; आत्मस्वरूपस्य तद्रुणस्य वा ज्ञानस्य ज्रेयेन संयोगसमवाययोर-

तर्कै: सारम्बतै रबैन्थन्द्रिकाचन्द्रभूषणै:
असतोऽसाधकत्वोक्तौ बाधकं ध्वान्तभज्ञनम् ॥


## अथ द्टग्टइगसम्बन्धभङ్.:

संयोगसमनायगोरभावादिति । गुणादौं नात्मनस्संयोगस्सम्भवतीत्यविवाद्यम् । द्रठ्येऽपि तद्तरितताद्शायां तदुत्पत्तिकाले च तदसम्भवः। न चोत्प्तिकाले तद्ववयनसंयागजन्यक्तन्संयोगः, अतीताद्रौ च तदीग्रसूक्ष्मावम्थासंयोगद्वारकः सम्बन्धः, ए़ं गुणाद्दानपि द्रव्यद्वारेतिवाच्यम्; त्रुख्यादे' जन्यत्वेऽट्यवयवाभावम्येाक्तवेन तत्र तदूरणादौ च तदसम्भवात् ; गुणगुरिनोयुयुगपदुत्वत्तः पैरैरम्बीकाराच्च। संयेगग््य सावयव² एव हृप्टत्वेन ग्यापकविरुद्धं|पलबंधश्ध। अम्मन्मते त्रुटे :संयोगानकीकारात्, चतुरणुकंखन परोक्तद्रन्ग्यग्य सावयवत्त मानाभावात् । भावे वा त्रुंटे: संगागं विना ${ }^{3}$ किययैंव तब्सम्मवात्, त्रुख्यादौ ${ }^{4}$ गुणादौौ चैकजातीयत्वेनानुभूयमानक्य ज्ञानसम्बन्धम्य तावता प्यनुपपत्तेश्य अत्मगुणत्वं" तु ज्ञानम्य न सम्भवत्यंa; तत्र मनस एवोपाद़ानत्वादन्यथा ज्ञानादौ मनसों निमित्त्वमात्मन उपाद्दानत्वमित्यत्र गौरवान्, कार्यत्वे-

[^123]भानात्, अन्यस्य चानाध्यासिकस्य सम्बन्धस्याभावात्। नच त्विषयतिपयिभावः सः; तस्य न्रिषमित्त्वनिषयत्वरूपस्यैकैकमात्रनिष्टत्वेन द्विष्टसम्बन्धात्मकत्वासम्भवात्, दुर्निरूपत्वाच। तथा हि (१) विषयत्वं फैं झानजन्यफलाधारतंभम्, (२) किं वा ज्ञानजन्यहानादिबुद्यिगोचरत्त्यम्, (३) उत ज्ञानकर्मत्वं, (४) ज्ञानाकारार्पकत्वं वा, (५) द्रयमानत्त्व सति तत्त्वं वा, (६) ज्ञानजन्पत्यवहारयोगयत्त्रं ना, (७) गस्सन्निक्रकरणन यज्ञानपुत्पाद्यते तत्रं वा, (८) यस्गां संनिदि ये $ऽ र ् थ ं ड च भ ा स त े ~ स ~$
 द्रव्यत्वात् । परेण तु आह्मगुणंत्वन स्र्वक्कृतғ्य ज्ञानत्य्य (न) संयोगF्संभवति : गुणत्वादेवे। तत एव नानल्मॅसमवायः। आत्मनम्तु






 सम्बंधन तयार्विंग्रा विशिप्टर्धांनयम.। यथा सयंगमसमायाँ। न





तस्या विषयः, तथाच संविदि भासमानत्त्रमिति वा, (९) -सम्बन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्वं वा। आट्ये फलं न ताव ज्ञातता, अनड़ीकारात् ; अरीतादावत्वभावाच्च। नापि हानादि:;

सत्वे्वे 'चैत्राद्दिनिष्ठम्वामित्वादिनिरूपितत्वं विशेष इति चेन्न; पटादेरपि घटादिसामानाधिकरण्याद्सेत्त्वात्। चैत्रीयं धऩमित्यादिध्धरेव विशेष इति चेन्न; युक्तिविरोधे तस्या मिथ्याविषयकत्वात्। अन्यथा शुक्तिरूप्ययोंरपि संम्बन्धं रोचयेत्। धससत्त्वा ${ }^{2}$ त्रत्र ठ्यवहारकारु एव बाधोऽसित प्रकृते तु तादृशविचारकार इति चेत् ; तावता पकृते सम्बन्धो ठ्यावहारिकोऽस्तु न तान्त्वकः। तस्मादकैकमात्रनिष्ठा न सम्बन्ध इति विषयच्वं विषयिस्नं वा न त्रिषयविषयिणो: सम्बन्धः। तदुभयनिष्ठ तादाइ्यं तु विप्रकर्षादिना मिथ्यत्वेन स्थापयिष्यंत । अनझ्नीकारादिति । ज्ञात इति ह्यवहारम्य ज्ञानसम्बन्धेनतोपपत्तः । अज्ञानस्य अंमोंपादानत्वादानुमविकत्वाचावइयकत्वेन तन्निवृत्वरेव ${ }^{4}$ फलत्वेन ज्ञातता नाछीकियते । न चाज्ञानरिवृतितेरेव फलं निवे-इयमिति- वाच्यम् ; प्रातीतिकेष्वनुचा/्येपु चाँ्याप्तः 1 अतीतादाविति । अतीतादे़ेपुपदानम्येद्यानीममावात्तत्र ज्ञातबा नोप्पयेते। नापि तम्याँमातैमैवंपादानम्, विषये तु तादाइम्यान्यक्सम्बन्ध:; विषयғ्योपाद्धानत्वेडव्यात्मनि सम्नन्धान्तरस्यावइयकत्वात् । अन्यथा पुरुषान्तरज्ञाननिमित्तक्जाततानुभवापत्तेरिति - -...वाच्यम् ; तादात्य्यसम्बन्धस्य सामननाधिकरण्यप्रतीतिनियामकत्वात्, घटज्ञानेनाह्मा ज्ञात इति ठ्यवहारापत्तः: । कुत्रचिद्विषये कंनाचिज्जानेन ज्ञाततेत्यत्र विषय-

1 स्वत्वे-ग. - रोंचयेयाः। असत्व्वात्. 3 अज्ञानक्रमे।-क. 4 निश्रृते-रेव-क. ${ }^{5}$ तस्या-आ. ग.

गगनादौ तदभावाप्, करधौतमलादेरपि तज्ज़ानविषयत्व्वसछ्ञाच । नाप्यभिज्ञाभिलपने : तयोर्शयावृत्तित्वात्। नच विषयविषयिभावेन ते तन्र स्त इति- वाच्यम् ; तस्यैव विचार्यमाणत्वात्। अत एव न द्वितीयोगपि। न तरतीयः ; ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेन निर्विषयत्व्र्रस्जात्। न चतुर्थ; ज्ञानतदाकारयोरमेदेन संर्रेषां ज्ञानहेतूनां विपगत्वापातात्, अनुमित्यादिशिषये तद्भावा(पाता) ज। न पश्नमः ; ह₹यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयात् । न पह: ; योग्यतायां योग्यतन्त्राभावात्। न च योग्यता योग्गतां विनैंच योग्या, यथा दइगत्वं हइयत्वान्तरं विनैव द्रझ्यमिति-वाच्यम्; अवचेछेदकरूपापरिचये योग्यताया एन गुहीतुमशक्यत्वात्। न च -ज्ञानविषयत्वं तदवच्छेदकम्; आत्माश्रयात् । न सप्रमः; नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विपयत्त्र्रसङ्गात्। नाप्रमः ; संविदीति न विभगिमावन्यैन तियामकत्वादाटमाश्रयापत्तेश्य। गगनादाविति। सदा सम्बन्धापेक्षाम्यां तत्र हानोंप्षयोरमम्मवानुपादानम्य च पूर्वसिद्यत्वान्न
 द्वारा 'तद्यानजननात्वम्य तद्विषयल्वापात्तिर्शन भावः। न द्वितीय इति।
 पूर्वस्द्बव्वाद्धानादिर्धीर्न फर्र्जमत्यर्थ:। तदाकार्रान। तस्स्वरूपात्मकाकारपदार्येत्यर्य। हेतूनामिति। अर्थकंवक्य हेतुत्वरूपष्येव वाच्यव्वाद्दिति ऐोष । यथा हइगत्त्रमिति। यथा दृम्मम्न्ध: म्वरूप-
 जन्यतापि गृहीतुमझक्या। तबद्धिपयकत्वसूपं ववचच्छेदक्मात्ममश्रय-

$$
1 \text { तज्ञांन-क. ग. } 2 \text { गगनाद़ं।. }
$$

तावदघिकरणसस्तमी; ज्ञानस्य ज्ञेयानधिकरणत्वात् । नापि विषयसस्तमी ; तस्स्यैन निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य च विषंयित्व्वमति चैपरीत्यापातांच । नापि सतिसप्रमी ; भासमानत्वस्य विपयताघटितत्वेनात्माश्रयात्। नापि नवमः; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानसमवायस्य सम्बन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदक्स्य 'इददं रूप' मिति ज्ञानेऽपि विषयत्वापातात् । ननु-ज्ञानविपय इत्यभियुक्त्र्योग एव ज्ञानविषययोः सम्बन्धः ; यथा अभियुक्तस्य मन्त्र इति प्रयोगविषयत्वमेव मन्न्रलक्षणम्, न चन्न्येन्याश्रयः ; पूर्नपूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरोत्तर-प्रयोगादिति-चेन्न। एतावता हि ज्ञेयत्वमान्रं सामान्यतः स्यात्
भ्रस्तमिल्यवि बोध्यम्। संविद इति। घटे ज्ञानमिल्यादौ़ विषयसपमीस्थंल्य पकृत्यर्थन्य विषयता लम्यत इति पकृते डारे तथा स्यादिति भावः। विषयताघटितल्बेन । ििभयताश्रयव्वरूपवल्वेन। मत्समवेतों मत्समवायवत्। अन्य्यान्याश्रय इति। प्रयोगे ज्ञातंत तंन सम्बन्धेन विषये ज्ञानस्य विशिप्रपभया अय ज्ञानविषय छत्यमियुक्तमयांगः, तस्मिन्सति च सेत्यन्योन्वाश्रयः। अभियुक्तव्वस्य इंत्रे एव मन्रश़्द्वपयोकृत्वस्य


 रखण्डातिरिक्तपइएयंल्नन र्रक्याघटितिंवादनुग्रमम्भवात् ; तथापि ताहु-

 नाह। एतावता हीति। ननु --ततद्विषयनिष्टवूर्वूर्वूपयोग एवंांतरो-

न व्वेतन्ज्ञानविपयत्वम् । न चास्मिन् सदौौ पूर्व्रयोगमपेक्ष्योत्ररोत्तर्र्योगां वस्तुं शक्यते, तस्यानादिमात्रविश्रान्तत्वात्।

चरज्ञानम्य विषय्वं तत्रह् । न चास्मिन् सादाविति। तस्य पूर्वप्रयोगस्य। पभभ सादिपदार्थ ज्ञानविष्योऽ्यमिति प्ययोगा न न्यात्, पूर्वपयोगामावात्। न च--ज्ञानम्येव पयोगम्यापि पूर्वोंपन्स्येदानीमुत्पन्नविषये सम्बन्धसत्वात्वृ्ज्ञानादे़िद़ानीं पयोग इति—आच्यम; तद्विषयठ्यक्तिमात्रपयोंगस्म पूर्व संत्चे मानाभावात्। न च-भाविप्रयोगमादाय सोडांस्त्वति बाच्चम्य ; यत्र संडापि न प्रामाणिकस्तत्र तदसम्मवात्, भूतभान्यर्भे निध्धगासम्भवंन वाकयार्भधीपपमाववनिश्रयाघीनोक्तपयोगासम्भवात्। अत प्व तत्पयोगमम्वन्धंन तज्ञानविषययोर्विशिष्टज्ञानं तत्प्रयोगणशेतुर्रियपान्तम् ; नज्ञा़ानाल्पत्तिकांक तज्ञानविषयोडयमिति ठ्ववहारानापत्तेश्र। विपयताम्मम्नन्धंन चाक्षुणाद्युपतौ
 त्पत्तिस्सम्मवति। गत्र विपये कम्मार्या पयांगां न जातम्तत्राज्यापेश्च।



 तत्तवपयेगग्य कुत्रचिद्विपयं सम्नन्धता कुर्खाचन्नल्यत्र र्वानगमकाभावः। तत्र सरवविषयसम्न्धाभाअम्याविकिष्तव्वात् । अथ पयंगान्नरं तत्र सम्बन्ध इी़ि चत्, न; तर्रापि रिर्विगमकाभावात्। अथ म्वयमेव स्वस्य सम्नन्घम्तनद्विपयम्रूपूं चंतिं चंत, न; आत्ममश्रयात्वस्य

$$
1 \text { नत्तांद्व-ग. } 2 \text { घंन्न-क. ग. }
$$

किश्न प्रयोगोऽपि स्वविषये सम्बन्ध इत्यात्माश्रयोऽपि। ननुयज्दानं यदभिलुपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः ; करणपाटवाद्यभावेन ं्यवहारानुदयेडपि सहकारिविरह्रयुत्तकार्याभाववच्चरूपं कारणत्वमस्त्येन। न च निर्तिकल्पकविषये अन्यातिः ; तस्या ${ }^{1}$ द्भीकारात् । न च-यत्तद्रचामननुगमों दोषः ; कस्य को विषय इत्यननुगतस्स्यैं प्रश्नविपयत्वेन तस्यादोपत्वात्। न चघटज्ञानानन्तरं प्रमादाव्यत्र पट इति व्यवहारसतत्र घटज्ञानस्य पटाभिलपनरूपन्यवहारजनकत्वेन पटविपयत्वापत्तिः ; समानविषयाभिलापं प्रत्यंच ज्ञानस्य जनकतया भिन्नविपयतया तत्राजनकत्वादिति -चन्न; अभिलपनरूपव्यनहारजननयोग्यत्वं न प्रातिस्विकरूपण निर्णयम्; अचच्छेदकत्वस्य फलनिर्णेयत्वात्, प्रतिस्वं च फलादर्गीनात्, अजनितफले प्रातिस्विकयोग्गतायां मानाभावाव्, किंतु तत्र तत्रानुगततत्तद्धृत्तिविषयत्त्रे। तथा चात्माश्रयः। अत एव ज्ञानकर्मत्वं निपयत्वम्, कर्मत्वं च न कारकविऐोप: ; येातीतादौ तदभावो मचेत्: किं तु क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयवच्चम् । अन्गथा घटं करोतीत्यादावसिद्धं घटादि "जनकं सिद्धं च न कुतिकर्मेति द्वितीया-

स्वपतियोग्यनुयोगिकत्वस्मम्भवादिलाइशयेनाह -किश्चेति। यतु श़्नद्नरूपम्य प्रयोगस्यासम्नच्धत्वात् प्रयुज्यत इति प्योग इति क्युन्पत्रर्रंम्यैव सम्बन्ध्व्वात् सम्बन्ध्वेनेनपवेश़ाच्च न दोाष् इति. ततुच्छम् ; अर्थस्य सम्बन्धल्वेड्यातमाश्रयम्योंक्तत्वात् । सम्बन्ध्वेनाप्रवेशम्नु नात्रोपयुक्तः। तत्र तत्रेति। घटादिव्यवहार इस्यर्थ:। तत्तढ़्तित्तिपयत्त्रेनि । घटादिनिष्ठं यद्ध़तिविषयत्वं तद्धटितेनेन घटादिविषयक्जानत्वेनेत्थर्थः।

$$
1 \text { नद्ञाकारात्. } \quad 2 \text { न जनकं. }
$$

विभक्रिरनार्थिका स्यादिति निरस्तम् । व्यवहारयोग्यत्वं न व्यवहाररूपफलोपहितत्वम् ; कुत्रचित्प्रतिरुद्धे व्यवहारेऽठयाप्तेः। नापि तत्स्वरूपयोग्गत्वम् ; विषयत्वादन्यस्य तस्यासम्भवादिति पूर्वो्तदोषात्। न चावच्छेदकान्भिन्नं सहकारिविरह्रयुक्तकार्याभाववच्वं तदिति वाच्यम् ; अनुगताचच्छेदकधर्म विना तस्यापि गृहीतुमशक्यत्वात् । घटं करोतीत्यत्र सिद्दूस्यैव कपालादे: कृतिकर्मता ; व्यापारकार्यतया ${ }^{1}$ सिद्धस्यैव कुतिकर्मताए्भीकाराप। अत एव निष्पादनवाचिधातुसमभिव्याह्तकरमपदे शक्यावयवे

विषयत्वादिति। कारणतावच्छेदकरूपं स्वरूपयोग्यव्वं विषयताघटितमिल्यर्थः। तस्यापीति । कारणतावच्चछदकोपहितम्य कार्याभाववत्त्वं

 सहकार्ययावपयुक्तं कार्याभाववत्वं निर्णेयम्। तचावच्छददकं विषयत्वघटितमिम्याट्माश्रयन्तदवस्थ्थ इति भावः। क्षणिकविशेषस्य तद्यक्तिलेनेन कारणस्य सहकार्यावप्युत्कं न कार्याभाववत्त्मम्". सह़कारिकूटसम्पन्न्वादत उळं अनुगतंति। कार्यानुपषायकमृत्तील्यर्थः । तेन. कायोंपधायकमात्रवृतिरूपुण कारणम्य सहकार्यभावप्रयुत्तकार्याभावाभावेऽपि न क्षतिः। शक्यानगवे व्वशक्यार्धसम्बन्धिवे⿹\zh26ंष। तेन रूपं करोति सुखं करोतीत्यादौौ रूपादेससमवायिनि, घ्वंसं करांतीव्याह़ी़ ध्वंसादिपतियोगिनि लक्षणा लम्यते'।

यतु-" ज्ञाने व्यवहारजनकतावच्छेदकं न घटाद्विविषयकत्वम्, येनाल्मश्र्रय:; किंतु संशयान्यज़ानववम्। न चातिपसळ:; विशेषषसामभीसहिताया पव सामान्यसामगयाः फलोपधायकत्वात्। श़क्यावयने 1 व्यापारत्या. ${ }^{2}$ अप्ययात्. ${ }^{3}$ भाब्वम्-क. ${ }^{4}$ अभ्श्शत-क. ग.

निरूहलक्षणामाहुरमत्कार्यवादिनः। सत्कार्यवादिनां तु पूर्वसतोऽप्यभिव्यज्ञनीयतया न कारकत्वकुतिकम्वत्वयोरनुपपात्तिः। एतेन' यस्यां संचिदेदीत्यादिपूर्ोोंनेडपि न दोपः, संगिदीति सति सप्रमी, भासमानत्र च व्यवहारयोग्यत्वम्, तच सति कारणान्तरे लक्षणेत्यपि न युक्तम् ; पटाजित्याद्वाववयवक्यापार्यंव्वन्यन्य पटादिकर्मर्वंस्यानुभवात्। अतप्व सिद्धवृत्ययिद्यूविपग्र'कत्वन्य कृतौ नियम इति मणिकारादयः। अन्यभा यागन ः्वर्ग कुयाददेत्यत्र स्वर्वसाधनयागादिरक्षणायामननव्वय: स्यान , कियाधीन ${ }^{2}$ न्यवहारयो|ग्यत्वरुपातिशयेने ${ }^{3}$ पयोगोपपतौ ऊक्षणायां मानाभावात् . इति तन्न; संश्यवव्वक्य ततहिर्दुद्धविषयकव्वरूपपेत्वनात्माश्रयानपіयात् । अथ संशयत्वनसखणुम्, तार्हि निश्रयत्वमेवाखण्डम्, ज्ञानत्वं वानच्छेदकं कुतां नोंक्तमिति छयक्तं ते मैब्बम्।
 कृलाIि नानिप्रसक़नारणं वक़ं शक्यम् ; तत्तद्यक्तीनां तत्तद्विपयीयव्वनियाम ${ }^{4}$ काभागात्। न हि तत्तद्यचहाराणां तत्तद्विपओर्येव्वियत्वन्वन्यस्सम्ब-
 तद्धटितरतक्ष्षगे कथं नाटमाश्रयः ॥

अपिच ज्ञान`भमिळापे हेतु:, अर्थबोधादेरूपेप्टसाधनताज्ञानाघ्यधीनपवृत्र्या तस्सम्भवात् । पटामेम्याद़ों। पटादेरकारक(व)च्चेडपि कर्मत्वं


 कर्मववाघ्यसम्मवः। अथ गौणं करंत्वार्टि कियाजन्युग्यवहारयोग्यत्व्वादि न भात्-क. ग. ${ }^{5}$ न ज्ञान-ग

व्यवहारावइयम्भात्र इत्येतदपि निरस्तम् । ननु—य: सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ञानावच्छेदको यज्जानानवच्छिन्नस्वभावश्य स तस्य विषयः ; यद्यट्यात्मा स्वत्रिषयकज्ञानसमवायवान् ; तथाथिं न तस्य ज्ञानावच्छेदे समवायापेक्षा, ज्ञानासमत्रायिनोऽपि घटादेस्तदवच्छेदकत्वदर्शानात्, यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतं ध्वस्तमिष्टमित्यादौं रूपज्ञानाविषया अप्यात्मस मवायेच्छाध्वंसादयस्सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य ज्ञानावच्छेदकाः ; तथापि समवेतेष्यमाणप्रतियोग्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावा एव; सम्बन्धेकारकत्वव्याप्यमिति चेन्न; पटं करोतीत्याद्दै। प्रधानीभूतम्पत्यये गैण कर्मत्वे लक्षणाया अन्याग्यत्वेन पकृतावेव ःक्यावयवे लक्षणाया युक्तत्वात्। अत एवेत्यादिकं तु मौढ्यमूलकम्। न हि वयमसिद्धक्कियां -पटाद्यनुकूलां सिद्धतन्व्वादिवृत्तिं कृतिविषयं नाईीकुर्म:। पटमुर्द्इय तन्तुश्वाल्यत इत्यादौ तथा प्रतीतिम्बीकाराच. परें त्वसिद्धम्य कर्मत्वम् । यागेन स्वर्गमित्यादौ तु म्वर्गादिपदलक्षिते क्वर्गादिसाधंन यागादंरभेदसतृतीयया बोध्यतं इति 'नान्वयः॥

यः सम्बन्धेत्यादि । स्वान्यसम्बन्धाघटिनम्य" ज्ञानसम्बन्छित्वम्याश्रय इत्यवच्छेद्दकान्तार्थ: । स्वािपयकज्ञानसमवायित्वादात्मन्यव्याप्तिमाशाक्षय प्रत्याह-यद्यव्यार्म्मति। ज्ञानावच्छेदे ज्ञातत्वे। समवायापेक्षा समवायधटितत्वम् । यद्ज्ञानानवच्छचन्नत्यम्य कृत्यमाहृ-. यद्यपि चेति। समवेतेत्यादि । आत्मसमवायक्य म्वभावः समंवतात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नः, इ्च्छाया इट्यमाणाइ्मकेन धंसक्य प्रतियोग्या-

 इल्यषिक: पाठः.

Advaita. Vol. Il

च्छादीनां सम्बन्धीष्यामाणाद्यवच्छिन्नस्वभावच्वादिति नातिव्याप्तिः। ज्ञाऩविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः ज्ञानस्य घटाद्यवच्छिन्न्वभावत्ववत् घटादेर्जानावच्छिन्नस्वभावत्वादर्शानात्। यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयीभूतं ज्ञानविपयिकानुमित्यनुव्यवसायादिकं ज्ञानं ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम् ; तथापि स्वयं यत् ज्ञांं प्रति विषयस्तदवच्छिन्वस्वानं नेति नाठ्यासिरिति चेन्न ; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवायविषयकत्वाभावश्रसङ्नात् ; आत्मसमवायस्य मम्नन्धत्वेन सम्बन्धिभूतस्वज्ञानाउचिल्छृत्वत्वत्, घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटावच्छिन्नस्वभावत्वं यथा ज्ञानस्य, तथा ज्ञातो घट ड़ित त्मकेन रूपज्ञानेनावच्छिन्नः ₹वभाव इलसर्थः। घटाद्यवच्छिन्धाति। ज्ञानं स्वगाहकेण साक्षिणा विषयावच्चिन्नरूपणैव गृह्हत इति तदेव तस्वभावः। विषयन्बु न ज्ञानावच्छिन्नरूवेणैच गृद्यत इति स न तंथति भावः। यद्ज्ञानानवच्छिन्नेल्यत्र घत्पदक्रत्यमाह - यद्यपि स्गग्राहकेति। सर्वं ज्ञानं वाच्यंत्वेन जानामील्युन्य्यवसायः स्वं प्रति ${ }^{1}$ विषयः स्वेनावच्छिन्नस्वभावश्ष्रत्यव्यापिः, अथ येन रूपेण विषयता, तेन रूपेण तज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता वच्या ; पकृते च येन सर्वज्ञान(लेनेन) विषयता, तेन स्वरूपेण न ज़ानावच्छिन्नता ; ${ }^{2}$ किंतु ज्ञानत्वमान्रेणाति चेत्, तथापि ज्ञानं वाच्चत्वेन जानामीत्यनुन्यवसायं म्वविष्यकेड्याप्तिरित्यसส्तेयं परोक्तिरिति ध्येयम्। सम्बन्धिभूतस्वज्ञानेति। न च यज्ञानं प्रति समवायो त्विषय:. तेनानवच्छिन्नत्वमक्षतं तत्रेति बाच्यम् ; समवायस्यैक्तेन रूपज्ञानसमवायम्य रूपज्ञानज़ानीयत्वात, रूपज्ञानं मस्समबते "घीविषय इति ज्ञानावच्छिन्नत्वम्य समवाये सत्त्वाश ।

[^124]प्रतीत्या घटस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेनासम्भवाच । अथयज्ञानं यदीयस्वभावं स तस्य त्रिषयः ; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावो न तु रूपज्ञानं तदवच्छिन्नस्तभावम्; इदं च ज्ञानस्यैच विषयत्वमुक्तम्; न त्विच्छादिसाधारणमिति नाव्यापितिरिति चेन्न ; यदीयस्वभाव-

असम्भवादिति। न च यज्ज्ञानपत्यक्षत्वं यद्विपयसम्बन्धव्याव्यं स तद्विषय इति वाच्यम्; यज्ञानपत्यक्षेत्यत्र यज्ज्ञानғ्य विषयतानिवेशे आत्माश्रयात् , सम्बन्धसामनन्यनिनेको आत्मादे़र्धीमात्रविषयत्वापत्तेः ॥

यत्तु-‘अत्मसमवायम्य ${ }^{1}$ स्वविषयकज्ञानं सम्बन्घित्वेनावच्छेदकम्, न तु ज्ञानत्वेनेति तथा निवेशान्न दोषष:, विषयम्तु न केनापि रूपेण ज्ञानावच्छिन्नः ; ज्ञानं विनापि घटोऽयमित्यादिना निरूव्यत्वात्’ इति, तत्तुच्छम् ; ज्ञानत्वेनावच्छेदकतार्नवेशो तज्ञानानवच्छिन्नव्वदळकृत्यस्यैवासम्भवात् । न ह्टि ध्वंसेच्छाद्दौौ ज़ानत्वेन ज्ञानमवच्छेद़कम् ; किंतु प्रतियागित्वविषयत्वादिना। अथ-येन रूपेण सम्घन्धिताधी:, तेनावच्छेदकत्वं निवेवइयम्. तथा च ज्ञानं नप्रमित्यादौं। ज्ञानत्वेन नाशादौ सम्बन्घित्वप्ययात्त'द्वारणम् ; तर्ह पकृतंडरि ज्ञानत्वेन ससम्बन्धताप्रतीतिद्दोषःः विषयक्त्वित्यादिक तूक्तं्याप्तिनिरासेन निरम्तम्, ज्ञानं गुण इत्यादौं विषयं विनापि ज्ञानानरुूपणाच्च ॥

न त्विच्छादीति। ज्ञानत्वघटितत्वाद्दित्यादिः। ननु- यद़ीयत्वं यस्सम्बन्धस्तच्त्वेन निवेश्यंत, न तु विषायेतांत्चन ; येनाह्माश्रयः, नच घटज्ञानस्यापि कालिकादिसम्बनंधन पट्रीयतया पटविषग्रत्वापात्तिरिति वाच्यम्; यज्ज्ञानं यत्सम्चन्धिरूपेणैव प्रत्यक्षाविषयः. स तम्य विषय इत्यम्य वाच्यत्वात् । न चापनयादिना पटादिसम्बन्धिनया प्रत्यक्षविषयाँ

मिति तद्वितस्य यद्विषयकत्वार्थकत्वे आत्माभ्यात्, अर्थान्तरस्य निरूपयितुमशाक्यत्वात्, रूपज्ञानाभावाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेन रूपज्ञानस्याप्यभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेः। ननु—ज्ञानजनककरणसन्निकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वम्, न च रूपज्ञानकरणमनस्सनिकर्षा्र्यस्यात्मनस्तद्विषयत्वापत्ति: करणपदेनासाधारणज्ञानकरणस्सैच विवक्षितत्वात्, न चासाधारणज्ञानकरणचक्षुस्सन्निकर्षाश्रयस्य मनसोऽपि रूपज्ञानविषयत्वापत्तिः; सन्निकर्षपंदेनाप्यसाधारणज्ञानजनकसन्निकर्षस्यैतोक्तत्वादिति चेष्न; घटादिज़ान ${ }^{1}$ पटादि ${ }^{2}$ विषयम्स्या।दिति वाच्यम् ; सम्बन्धान्तराघटितत्वेन ${ }^{3}$ सम्बन्धिविशोषणात्। प्रत्यक्षविषगत्वं तु तद्विषय(क) ज्ञानविषयत्वा'दन्यदिति नात्माश्रय इत्यत अह——रूपज्ञानाभावेति। बटज्ञानं पटज्ञानत्वेन दोषाद्ऩद्यमाणं पटई|वेषयकं स्यात् । प्रत्यक्षविषयताया अपि प्रत्यक्षान्तरविषयताघटितत्वेनानवक्था चेत्यपि बोध्यम् ॥

यत्तु—" प्रकाइश्य सतम्तदीयतामात्रनिबन्धनः म्वभावविशेषो विषयतेत्युद्यनवाक्यं बौद्धाधिकारम्थम्: तद़ीयता तत्संम्घन्धिता स्वभावः स्वरूपम्, तथाच ज्ञानरूं ${ }^{6}$ तन्यार्थन सम्बन्चः, सम्बन्धसम्बन्धिनोश्रामेदो न दोषाय, सर्वत्र स्वरूपसम्बन्धे तथैच कल्पनात्, सामान्यतों विषगता ज्ञानमेव, घटादिविषयता तु घटादेसम्बन्धित्वे अनुगता ज्ञानविशेषाः, ${ }^{8}$ सम्बन्घच्यवहारनिमित्तं च ज्ञाननिष्ठमर्थसम्बन्धित्वम्, न त्वर्थनिष्ठं ज्ञानसम्बन्धित्वम्, ${ }^{9}$ अतीतानागतविषये तद्यवहारानुरोघत् " इति शिरोमणिना उयारूयातम्; ततेनैव दूषितम् ! तथाहि --यदि ज्ञानमेव विषयता, तदा घटपटाविति समूहालम्बनस्य घटत्वाद्यभाव-
 ${ }^{5}$ घट. ${ }^{0}$ स्ररूपं-ग. ${ }^{7}$ कत्पना, तत्सामान्यतो-स. ${ }^{*}$ च्धित्वेनानुगतो ज्ञानविरोष:. धन त्वर्थनिबन्धनं ज्ञानमेव विषयितासम्बन्धित्वम्.

## चक्षुर्मनस्सयोगस्यापि चाक्षुपज्ञानासाधारणकारणत्वेन मन-

 सोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्तेः, परोक्षत्रिषयेडठ्याप्तेश्न । न च—तत्र लिङ्ज्ञानं करणम्, तत्र च लिङ्जनस्तझ्यापत्तवं बति पटादौ घटत्वादि़विषयकत्वान्र्रमत्वावत्तिः। यैच हि घटविषयता तज्ज्ञानस्वरूपा घटत्वविषयता'निरूपिता वाच्या, सेंच पटविषयता। आपे च यदि ज़ानं स्वरूपेण ${ }^{2}$ घटादौ। ठ्यवह्हारहेतु:, तदा स्वस्मिन् काले ${ }^{\text {भ }}$ ावादौ च चथा स्यात्; तैरपि सह तस्य स्वरूपेण सम्घन्धत्वात्। किश्च विषयता तत्ष्व्व ${ }^{4}$ वा यद्दि नातिरिच्यते, तद्ञा तद्विषयकेच्छादिसामान्ये नद्विषयकज्ञानत्वादिना कथं हेतुत्वम्! अननुगतत्वात्, सम्बच्त्वेनानुगमे तद्दविषयकात्तदीयसम्चन्धान्तरशालिज्ञानादपि तद्दापत्तिः। तस्मानद्दारिरिक्कैन विषयता। तद्विशेषाद्तु प्रकारत्वाद्यः। एवं विषयताव्वादिकमपि। एतेन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वादयंयां न्यास्त्याताः। अथंनंन सम्बन्धानन्येडनवक्था स्यादिति चेत्, स्यादेवंत यदि कचिदापि स्वरूपसम्बन्धेन न प्रतीकारः, अन्यथानुपपप्तेर्टुर्वारत्वाध्रित्याधि तेनांक्तम्। तत्रानवस्थाया अप्रामाणिकत्गम्। सम्बन्छिविप्रकषंद्देरतिरिकविषयताया: सत्यसम्बन्धत्ने बाघकम्याSडचर्येर्यंश्झ््यमाणत्वाद्दिति बेध्यम् ॥चक्षुम्मन इ़ति। प्रत्यक्षमात्रे इन्द्रियमनागंगगम्गेव चाक्षुष-
 चिछठन्नं प्रति हि विजातीयव्वेन चक्षुस्स्संयोंगम्य हेतुत्वेऽपि चाक्षुपत्वन कार्यत्व्ववइयं वाच्च्यम. जन्यमात्रतृत्तिजात्या कार्गत्वम्यावइयकत्वात्। तत्र ${ }^{5}$ चक्षुष्ट्रन संयोगत्वेन वा कारणत्वमित्यम्यार्वानिगम्यव्वात् चक्षुमनोयागताऽवि चाक्षुपमांत्र कारणामिति भावः । लिख्नज्ञानं लिद्नादिज़ानम् । तद्याप्तन्वं म्वविषयलिक्जन्यापकत्वम् ।
 -ग. ${ }^{5}$ तन्र चक्षुमनस्संयोगलन्वन. 0 प्यल्लं.

सम्बन्धोऽस्तीति—चाच्यम् ; लिड्जस्यापि स्वज्ञानसम्बन्धित्वेनानुमितिविषयत्व[पत्ते:। न चनुमितौ तन्झाप्रतारूपसम्बन्ध एव विषयतानियामकः ; ठ्यापकतावच्छेदकव्यापकसम्बन्धादीनाम-

## आपत्तेरिति ।।

ननु—ठयाप्तिघटकसम्बन्धत्वरूँपणानुमितिम्थल्लयससन्निकर्षो निवेइयः, उ्यापकतावच्छंद्कधर्मसम्बन्धयोम्तद्बटकत्वान्न दोष इति-चेन्न ; ठ्याप्तिघटकंवं हि 亏्याप्तिविषयिता亏्यापकविषयिताऋत्वमित्यात्मशश्रयादि: व्याप्ति'घटकवस्तुमात्र्रतिजयाप्तिश्र ॥

अथ--तज्ञानकरणक्य याद्दशयादृशसम्बन्धाश्रये वस्तुगत्या विषयत्वव्यवहारः, ताद्वासम्बन्धानामन्यतमवत्वं ${ }^{2}$ तज्ञानविषयत्वलक्षणम्। धूमाभासादि.श्रमजन्यानुमित्यादिविषयवन्द्य।दावपि धूमाभासादिव्यापकत्वादिसम्नन्ध/सत्वेडापी ताद्टशसम्बन्धधीविषयत्वादिरासि। गुक्तयादिविशो‘यकभ्रमविषये रूप्याद्ववि करणसम्बन्धिदोपंशयुक्तत्वादिरस्तीति ${ }^{3}$ नाष्याप्पिरिति - चेन्न ; तज्ज्ञानकारण ${ }^{4}$ ताबद़न्यतमसम्बन्धवत्त्वम्य तज्ज्ञानविषयतारूपत्वे घटविषयकज्ञानत्वादेरननु गगमात्तेन रूपेण हैतुताद्यसम्भवात्। कारणसंयोगादेस्तज्ज्ञानोतपत्त्यादिक्षणे विनाशेन तक्ग्य तद्विषयतात्वासम्भवात्, सम्बन्धान्तरम्य चानतिप्रसक्तस्य तंज्ञानकालमात्रवृत्तेः सर्वत्राभावात् । तज्ञानकारणसम्बन्धिदोषपपयुक्तत्वादिरपि परमते न रूप्यादौ, किं तु तद्रम इति तत्राव्याप्तिताद़वक्ज्याच्च। परमते तस्यासत्त्वेन तत्र करणसम्बन्धाभावाच ॥

यतु--' गुक्तिरूप्यादिअ्रमसम्बन्धोपि' न अ्रमविषय इति न
1 घटितपम्परासम्बन्धमादायवस्तु-ग. ${ }^{2}$ नमवंबं. ${ }^{3}$ तत्वादिना निर-
स्तेति. 'करण-क. ग. र रु. "सम्बन्धमाप-क. ख. ग.

विषयत्वापत्तेः। न च ज्ञानकरणसन्किकर्षसमानाधिकरणो ज्ञानाव－ च्छेदकत्वसाक्षाद्याप्यधर्मो विषयत्वम्，इदं च ऩित्यपरोक्षसाधा－

तत्रान्यात्तिः इति，ततुच्छम्；ज्ञानविषययोंर्य इच्छादिपयांजक： सम्बन्धः स एव हि विषयतेट्युच्यते। स चेन्न भ्रमझ्धले सीीकियते， तर्हि कथं तत्रेच्छादिः। सम्बन्धन्तरस्य तंत्रेच्छादिप्रयोजकस्य स्वीकारे गौख़्यम् $\mid$ गुन्तौ रूप्यादिविषयकज्ञानवानहामिति व्यवहारानुपपतिश्य। अन्यथा भ्रम एव सविषयको न प्रमंति ${ }^{2}$ किं न स्यात्। अतएव अग्रिमानन्तर उंक्षण्रणाजी गुक्तिरूप्यादावक्यांप्षरिति घ्येयम्। यदपि ‘लिझाभासादिज्ञानजन्यानुमिम्यादिविवेये करणीभूतज़ानविष्यगलिद्धाभासा－ देससत्चेन तदीयठ्यापकत्वादिसम्न्ध्धामाबेडपी तढ़ीयच्यापकताविषयक－ घीविपयत्वं सम्न्नः：। यद्यापि ताहृघधीविषयत्वं न नन्हाभासाद्रिरूप－ साध्यम्य सम्भवति．तम्यासत्त्रेन ताहृ⿹勹巳ी करणसम्बन्धाभावात् ；तथापि
 विष्वत्वम्＇इति：तदपि तुच्छम् ；बह्विविषयकानुमितिमानहामिलाए़ि． सार्वजनानपतीतिचाधान पक्षाढ़क्रमनुमिनाममीत्याहिपदतीत्यापंत्तश्ध，ताह－

 दिक्॥






रणमिति—चाच्यम्; वस्तुत्वादिकमेव विषयत्वमित्यापत्तेः, ज्ञानावच्छेद्कत्वस्य रूपज्ञानाविषये समवायेऽपि सत्वेनातिव्यापेशथ। न च ज्ञानक्ञययोस्स्वरूपसम्बन्ध एत्र विषयत्वमिति वाच्यम्; असिद्दू: । तथाहि स्तरूपसम्बन्ध इत्यस्य स्वरूपं सम्न्न्ध इत्यर्थत्वे संयोगादावतिव्याप्तिः, न च तदुभयान्यत्वं विशोषणम् ; हिमवद्विन्ध्ययेरापि स्ररूपस्बन्बन्धपत्ते:; सम्बन्धा-

ठ्याव्यधर्मो मनआदावपि, अतः साश्षान्सम्बन्धेन ठयाट्यतालाभाय साक्षात्पदम् ! वस्तुत्त्रादीति। सामान्यतो ज्ञानकारण 'त्वादिनिवेशे वस्तुमात्र एवोंकमलक्षणसत्च्वे" वम्तुत्वादेरेव लाघवाल्रक्षणत्वमुचितम्। अथ-तज्ञानकरणत्वादिघटितज्ञानविषयत्वं वाच्यम्, तथापि सान्निकर्षो न न्वविषगन्यापकत्वादिरूप:, त्यापकतावच्छछदकाद्यन्याप्तेः। सन्निकर्षपदेन सम्बन्धमांत्र निवेशे ${ }^{3}$ च तत्परिहारेडपि वस्तुमात्रे यक्किश्चिस्सम्बन्धल्य ज्ञानसम्बन्धित्वरूपज्ञानावच्छेदक夭वक्य च सत्त्वादतित्याप्तिर्दुर्वरोति बम्तुत्वादिकमेव लक्षण कुतो न कृतमिति भावः। संयोगादाविति। संयेगगसमवाययोारित्यर्थः। ज्ञानज़ेययेः न्वरूपं सामन्यतो विषयतेय्युक्तानुक्तातित्याप्तिः। तदुभयान्यत्वं संयोगसमवायान्यत्वम्। हिमवदिति तत्तज्ञानज्ञययाः म्वरूपं तत्तज्ज्ञानज्ञययोर्विषयतेत्युक्तावप्ययं दोष: । स्वस्यैव स्वक्मिन् सम्बन्धत्वस्वीकागे हिमवद्विन्ध्ययोरपि मिथो विशिप्रर्धीः प्रमा म्यात् . स्वरूपसम्बन्धसम्भवात्। अथतत्र बाधात्वरूपं न सम्बन्धः, तर्हि ज्ञानं ज्ञेयाभाववदिति बाधः प्रकृते.ऽपि । अथ सम्बच्धान्तरेण ज्ञेयस्याभावो बाधर्धीविषयः, तर्हि तत्रापि तथा किमिति न रोचये:, तथा च अ्रममात्रोच्छेदः। संयो-

1 करण-क ग. ${ }^{2}$ सत्वेन-ग. "मान्रनिवेवो-ग. 4 स्येव बचित्तवं प्रति स्वस्मिन्-ग.

न्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं स्वरूपसम्बन्ध इति चेन्न ; आत्मानं जानामीत्यत्राव्यापेः ; तत्र सम्बन्धान्तरस्य समवायस्यैन सत्वात्, अतीन्द्रियाभावादावव्याप्रेश्र; न हि तस्यं विशिष्टप्रत्ततिजननयोग्यत्वे मानमस्ति। अन्यथा तेन विशिष्टप्रत्ययजननापत्तेः। किश्र विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा सम्बन्धः, ताहहरास्वरूपद्वयमेव वा। आद्ये स्वरूपस्य सम्बन्धत्वव्याघातः, प्रतीतिघटितस्याप्य ${ }^{1}$ चाक्षुषादिज्ञानागोचरत्वप्रमङ्ञश्य। न द्वितीयः, अननुगमात्। किस्त्ववमभावभ्रमानुपपत्तिः ; तत्रापि विशिष्टप्रतितितम्भवे स्गरूपसम्बन्धस्य सत्वात् । न च -प्रमात्वघटितं तह्ठक्षणम् ; वास्तवसम्बन्धसंच्च प्रमात्वस्याप्यापाघ्यत्वात्। अन्यथा तत्र तस्याप्रमात्वे सम्बन्धाभावः, तस्सिश्य तस्य प्रमात्वमित्यन्योन्याश्रयात् । ननु—सम्बन्धान्तरमन्तरंण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्गतात्रच्छेदकानच्छिन्नस्वरूपस्य मम्बन्धतवं संयोगत्वावच्छिन्नसंय दण्डीत्याद़ीं सम्बन्धत्ववत्, विशिएवुनुद्विश्धावच्छेदकाविषयिण्येवावच्छेद्याविपया, अतो न स्वरूपसम्ब-
 रपि प्रमात्वसम्भवात्, स्वस्य स्वं प्रति न सम्वन्धत्वम्, स्वर्पत्वयोंगिकत्वस्वानुयोगिकत्वाभावात् । अत, एव ष्वं न न्वीयमित्यनुभवः, तद्यक्तिस्तद्यक्तिमतीति ${ }^{2}$ चाननुभव इत्य|य्युक्तम्। सम्बन्धान्तग्स्यति। सम्बन्धान्तराविषयकधीनिंनों त्वनवस्थादी|ति ${ }^{3}$ मावः। स्वरूपस्येति। सम्बन्धिस्वरूपस्येत्यर्थः। अभावभ्रमेति । यम्ग म्वरूपं सम्बन्ध््तन्द्रमत्यर्थः। अचच्छेद्काविषयिणीति। सम्बन्धताबच्छंद़ंकं यत्संयोगत्वादि उक्तयोग्यताबच्छेदकं बा तदाविषयिणीत्यर्थः। अवच्छह्यद्यनिपगेति।

[^125]न्धगोचरविशिष्ट्रुद्देश्याक्षुषत्ववविरोधः ; न च—तर्घ्यभावग्रमाअ्रमयोस्स्तरूपद्वय्यमात्रविषयत्वाविशोषात् प्रमाभ्रमव्यवस्थानुपपत्तिरिति वाच्यम् ; घटाभाववति घटाभानज्ञानत्वेन तान्भ्रिन्नानत्वेन च वयवस्थोपपत्तेः। ननु-अतिरिकाविषयत्वे तस्सैयानुपपात्तिः न हि भव्र्रीत्या तस्योभयात्मकत्वेन तदुभयसत्त्रेन व्यधिकरणप्रकारत्वरूपश्रमत्वस्यंयाभावे भ्रमतद्न्यत्वाभ्यां ठ्यवस्था सम्भवतीति चेन्न; घटाभावाभावस्य घटत्वनन तद्वरित घटाभानज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वसम्भवात्। किश्न अ्रमस्य वस्तुगत्या यत् घटवत्स विषयः, न तु प्रमाया इत्यतिरिक्कविपयत्वमस्त्येन्न; न चातीान्द्रियाभाने अव्यापिः; अत्यन्ताभावे प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम्, प्रागभावादौौ प्रतियोगिदेशत्ते सति प्रतियोागिकालान्यकालत्वम्, अनंन्याभावे प्रतिगेगितानच्छेदकदेशान्यदेशत्वम्, विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतावच्छेदकम् । तद्वच्छिन्मत्वं च विशिष्टप्रतीत्यजनकेडप्यतीन्द्रियाभावे सुलमम्, न ह्यरण्यस्थो द्णड्डों घटजननयोग्यतावच्छेदकानच्छिन्न इ्तिचेत्, मैन्रम्; नित्यस्यातीन्द्रियस्याकाशात्यन्ताभावादे बिशिशप्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छित्नत्वे अवरयं विशिप्टप्रत्ययजनकत्वश्रसङ्ञात्। नित्यस्य स्वरूपयोग्गस्य सहकारिसमचधाननिगमात्। संयोगादिम्वरूपमात्रनिष्ठसांसर्गिकविषयताकेत्यर्थः । तस्ग घटाभानवतः । उमयात्मकत्वेन म्वरूपसम्बन्धेन घटाभाबविश़प्टरूपतयोभयह्मकसम्बच्धघटितत्वेन। घटत्वेनेति। तथाच तद्विन्नेत्यम्य घटवद्विशेप्यक, रूपतद्विलक्षणेत्यर्थ इति भावः। तेन ${ }^{1}$ तस्यैंवानुपपातिरिति यदुक्षं, तत्तै्यैबोपपत्त्या समाहितं भवति। समवधाननियमादिति।

किश्न विशिष्टस्य प्रत्यय इत्यत्र स्वरूपसम्धन्धस्य पष्ययथैत्वे आत्माश्रयः, सम्बन्धमात्रस्य तदर्थत्वे आत्मत्वादिविशिष्टात्मसम्बन्धिसमूहालम्बनविषये घटपटादावतिब्यापिः; तयोरपि विशिप्टसम्बन्ध्यविशिस्टविषयज्ञानजनकत्वात् । ज्ञान-

पताहद्य ${ }^{1}$ नित्यस्य स्वरूपंयांग्यव्वे सहकारिसमवधानमावर्यकम्, अन्यथा तस्साधारणरूपेण तदकीकारे मानाभावः। अतीन्द्रियघटितधमांवच्छिन्नाभावमेद येग्यानुपलबध्यादेर्विशिप्य हेतुव्वावइयकत्वेन तैैैव निर्वाद्टान्, अभावत्वादिनापि ख्वरूपयोग्यव्वसम्मवेनोक्तगुरूूपैर्नानाएवरूपयाग्यव्वोंकेरुन्नत्वर्र|प्वात् । न ह्युक्त"विशेषणेन कश्रूाभावो व्यावर्ल्यत।

 विशिष्टतनद्वावस्वरूपसम्बन्धम्य विशिप्रधिम्वरूपयांग्य(त्व) म्बीकांर्डाप प्रतियोग्यधिकरणदेशादौं ज़ायमाना धीः प्रमा कुतां न न्यार्द्धात यद़ापादितम्, तत्र मूढेन किं समाहितम्! तत्म्वरूपम्य तत्रापि सम्बन्धत्वसम्भवात्। न च—-घटादिमति घटाह्यभावज़ानं भ्रमः, तदन्यत्र तत्पमेश्युक्तं (युक्तम्); तद्वृति तद्वदन्यन्वम्वरूपसम्बन्धघ्यानिवारित्त्वात्।
 रूपभेव सम्बन्ध:, प्रतियोग्यधिकरणसम्बुन्धिरूपवारणायार्वंच्चन्नान्तर्मिंत परास्तम्। अपि चोत्ररूँ": स्वरुपयाग्यता विवपयतासम्बन्धन धिशिश्टबुर्द्धि प्रति वाच्या। तथाच विषयता'घटर्तर्विशगृष्धीम्वसूप्यं|ग्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नज्ञानज़्यादिस्वरूपम्य विषयतादिरुपत्लेडनवस्थादि दुर्वरमिति भावः। तयोः घटपटाद्योः। विशिश्रम्नम्बन्ध्रा आट्मसमबेतः। अविशिष्टविषषयेति। स्वविषयकसमूहाहुन्बनल्यर्य:। अवि-

$$
{ }^{1} \text { एताद्टरामि-क. ख. } 2 \text { बांधे -ग. }{ }^{3} \text { न नयु़्त. } 4 \text { विर्वयना. }
$$ भावयांरुमयोरेोोभगत्र स्रूपूसम्बन्धत्वे विषयकृतिशोषाभावाद। अत एव-विशिप्टप्रतीतिजननयोग्यत्ं ज्ञानंज्रयादिस्थले अतिरिक्तमेव सम्बन्ध इति-निरस्तम् ; अतीन्द्रिये नित्याभावेऽव्यापेंः। न हि , तत्र विशिष्पतीतितजननयोग्यता ; फलोपधाना-

शिष्टेत्यनेन घटपटाबोंबैंशिष्ट्यसामान्यशून्ययोः ¥्वरूपसम्बन्धर्व्वकारानौ1चित्यं ज्ञापितम्। यदुभयं मिथो विशिष्टस्य स्वस्य ${ }^{2}$ तनुभयं ख्वस्य ₹वरूपसम्बच्ध इंयुक्ताबपि, आटममनो ${ }^{3}$ रूपोभयस्म्मन्नतिव्यास्ति;, ${ }^{4}$ तस्यापि संयोगसम्बन्धेन मिथो विशिष्स्य स्वसम्बन्धिघटादिभ्र्य्ययजनकव्वा््। सम्बन्धान्तरं विना मिथां विशिष्ष्त्वोक्तावपि आहमतज्ज़नयोः ख्वरूपसम्बन्धाव्यांप्तः। विषयतासम्बन्धेन ताह्दईप्पयं प्रति तादात्येन जनकल्वादिकमप्यनवस्थादिजु डृष्प्र्, स्वरूपसम्बःधविशेशरूूपविषयताघटितत्वादिल्यादि बोध्यम्। विषयक़तेति। न च ज्ञानक्याभाव इल्यत्र या ज्ञानव्यक्तिर्विषय:, ज्ञातेाऽभाव इल्यत्र न सेति विषयमेद ईति वाच्चयम ; विषयतावच्छेदकरूपन्य विशिष्टविषयम्य भेदो हि प्रक्तेडवएयंयं वाच्य: अन्यथा ${ }^{7}$ स्वामावविषयकज्ञानविषयकयोरक्काकारज्ञानयेार्विषयन्यक्तिमेदम्य वत्रुमशक्यंत्वात्। न च ज्ञानस्याभाव इत्यत्र ज्ञानविराँधित्वविशिष्टभाव ${ }^{8}$ वररूपं सम्बन्ध: ; ज्ञातोडभाव इल्यत्र तु कृललं तत्वर्वरूपमिति वाच्यम् ; तथा कत्पने मानाभावात्, अन्यथा घटीयन्वादिविशिष्तदविग्रिप्टतम्वर्वू"वाग्यां भंद़: किमिति न कल्प्यत इति मावः। अतिरिकेति। ज्ञानजेखयादिम्वरूपनन्यो धर्मविशेष इत्यर्थः। फलोपधानेति।




पत्तेः ; प्रतीतिघटितस्य चाक्षुधादिग्रतातावविषयत्व्रसङ्नाच । तस्मात्सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव द्वग्हइययो: सम्बन्ध इति ।।

इल्यद्वैतसिद्द्री प्रपश्नस्यत्वे हग्ट्र इयसम्बन्धभछ्भः ॥

## अवनुक्लतर्कनिरूपणम्

स्यादेतत् — सवेर्स्यापि दृयस्य अह्मात्मकट्रगध्यस्तत्वेऽपे कस्यचित् कदाचित् किश्चित् प्रति प्रकाशाय त्वयापि तत्तत्सकिकृेप्ट्र्र्यजन्यतत्तदाकारदृत्तिद्धारक एवानावृतद्वक्सम्बन्धः स्वीकुतः, तथाच सत्यत्वेऽपि तद्नारक एव मम्बन्धंड्सतु, किमा-

यत्तु-... ' इॅद्यरेच्छायाः प्रभावेन म्वरुपयोग्यम्यापि नोपधायकत्वम्, अनुपधायकम्यापि स्वरूपयोग्यत्तं ईंशम्येशत्वमेव मानम्’ इति, तदृहो पाणिड्यं दर्शितम् । शिलादावव्यक्नुरादिम्वरुपयंग्गत्वे तन्मानं किमिति नावे|चः ॥

तर्के: सारम्वतँ रबैस्रन्द्रिकाचन्द्रभूपणँ:।
दुरन्तध्वान्तभझाय दृग्दइययोंगमझ्चनम् ॥


अथानुक्रूलतक्रनिरूपणम्
वृत्तिद्वारक इ़ति। वृत्तिसापक्ष इत्यर्थः। तह़ारक एवेति । म्वावच्छेदकताहृहवृत्तिविषयत्व्वमंवेत्यर्थः। ननु न वृतिद्वारकः सम्वन्धो नियामकः, किंतु ततत्पुरुषीयज्ञाने तत्तंज्ञयानामाध्यासिकः सम्बन्ध

ध्यासिकसम्बन्धदुर्व्यसनेन, न हि भवतां विज्ञानवादिनामिव तत्तज्ज्ञाने तत्तद्र्थाध्यासस्वीकारः, शुद्धूद्वशः स्ततो भेदाभावात्, उपाधिविशिष्टाया मेदेऽपि घटादिवत्तस्या अपि मिथ्यात्वेनाधिप्रानत्वायोगादिति—चेन्न ; श्रकारास्य साक्षात् स्वसंसृष्टप्रकाराकत्वनियमेन चैतन्यस्य परम्परासम्बन्धेन विषयग्रकाराकत्वायोगात् । न हि प्रदीपः परम्परासम्बद्धं प्रकारायति; इत्याशक्क्य जन्येषु तत्तत्पुरुविज्ञानेषु तत्तद्विषयरूपाकाराध्यासवादिनां योगाचाराणामिदं सम्भवति, न त्वौपनिषदानां भवताम। सर्वपुरुषसाधारणचैतन्यरूपज्ञानम्यैकत्वात्। वृत्त्यनपेक्षायां सर्वपुरुषं प्रति सर्वस्य सर्वदा भानापत्तेरित्याह -न हीत्यादि । अधिष्ठानत्वायोगादिति । अधिष्ठानत्वेड१ी वृत्तिद्वारकः सम्बन्ध आवर्यकः । अन्यथा वृत्तेः पूर्वमपि विषयभानं क्यादित्यपि बोध्यम्। द्वष्टिस्टष्ट्टमते अन्तःकरणोपहिते यस्मिंश्रैतन्ये यो विषयोऽध्यम्तः, स तेन भास्यत इति न वृत्त्यपेक्षा। किश्चोपहितस्याधिष्ठानत्वेऽपि न क्षतिः, यद्भिन्नमुपहितं הस्य शुद्धचैतन्यम्य सत्यत्वात् । अज्ञानविषयरूपाधिष्ठानकेंटावनिवेशो डव्युपाधेरधिष्टानोपाधित्वसम्भवाच्च । अन्यथा शुक्तयाद्यवच्छिन्न चैतन्यं रूपाद्यधिष्ठानं न स्यादिति ${ }^{1}$ नायं दोष इत्यपि बोध्यम्। प्रकाशास्यआलोकचैतन्यान्यतरस्य। साक्षात् स्वसंसृष्टप्रकाराकत्वेति । स्वकीयसाक्षात्सम्बन्धाश्रये कार्यविशेषप्रयोजकत्वेत्यर्थः। परम्परेति। वृत्तिविशेषद्वारकेत्यर्थः। प्रकाशायति व्वप्रयाज्यकार्यविशेषभाजं करोति। तथाच चैतन्यं. साक्षाह्मम्बन्धे ${ }^{2}$ कार्यविशेषषप्रये।जकम्, प्रकाशत्वात्, दीपवत्, इत्यनुमानाइ्छाइघवतर्कसाचिवात् चैतन्यम्य विषये साक्षादेव सम्बन्ध:। यथा हि दीपः संगोगरूपसाक्षात्सम्बन्धेन घटादौ विद्यमानो

$$
1 \text { रूपाघ्यधिष्रानं स्यारिति-क. } 2 \text { सम्बन्धेन-ग. }
$$

अतो विषयाांघष्ठानचैतन्यमनावृतमंव प्रकाशकम्, आवरणभङ्धश्य बृत्या ; अतो वृत्तेः पूर्ज्रमाध्यासिकसम्बन्धे विद्यमानेनेजपि छइग्याऽ-
दीवेवेन घट: प्रकाझत इल्यादिव्यवहारे विषयतया प्रयोजकोडन्धकारनिवृत्त्यादिकार्य जनयति च, न तु स्वक्कियाजन्यसंयोगादिरुपपस्प्परासम्बन्धेन, गौरवात्; तथा चैतन्यं तादात्म्यूरूपाक्षात्सम्बन्धेन घटो भातीत्यादिव्यवहारे विषयतया प्रयेजकम्, पवृत्च्यादिकार्य जनयति च, न तु तृत्तिविशेषद्वारकसम्बन्घेन, गौरखादिति भावः। ननु -- चैतन्यम्य तादात्म्यं बुत्ते: पूर्वमप्यम्तीतित तदाव्युक्तकार्यापत्तिः। अथ आवरणनाइविशिष्टे तादास्मं प्रयोजकं वाच्यम्, तर्हि वृत्तिरवावरणनाइस्तद्द्धवर्येति सैव प्रयोजिकोच्यतां किं तादाल्येंनेल्यत आह— अतो विपयेति । प्रकाशम् उक्तकार्यपयांजकम्। आवरणभङ -ड़ति। बचिद्धिषय इल्यादिः। तथाच भातीति व्यवहारवृृत्यादिकार्येपु वृत्तिमान्रं न प्ययोजकम्, अनुमिल्यादेस्तल्बासम्भवात्। नापीन्द्रियजन्या बृत्तिरभानापादकावरणनारादिरूपा तथा; त्य्या अनैन्द्रियकाविघ्यामनस्सुखादावभावात्। न घविद्यादौ संसकाराघर्थ स्वीक्रियमाणापि बृत्तिरिन्द्रियजन्या; चभ्षुराघयोग्ये साक्षिमात्रभम्य्यवसम्भवेन मनसाडप्यपृृते:, किंत्वविद्यापरिणामरूपा।।

न च चाक्षुपादिवृताविव तम्यामपि साक्षातकारत्वमझ़कृत्य साक्षातकारृृत्तिः प्रयो|जकोच्यताम्, अविद्यादँ| बृत्यन्बीकारपक्षे सााक्षिण्यपि साक्षात्कारस्वमझ़क्रूल्य तदाश्रय एव तथेच्यतामितिवाच्यम् ; साक्षाहकार्त्वजातावेव मानाभावात्। आघ्वक्षे कार्यमात्रबृत्तिताद्धशजात्यवाच्छन्नेडनुगतकारणासम्भवात। नानाकारणकह्पन गौरबात्। द्विताये पक्षे तु साक्षिणों विषये तादा़ास्यं सम्बन्ध:, चाक्षुपादि-


भातीत्यनुगतब्यबहारो भानस्यैकत्र तादास्म्येन।न्यत्रान्यसम्बन्धेनेति युक्तम्। न वाऽविद्यादौौ तक्य तादात्म्यमन्यत्रान्यसम्नन्ध: प्रवृत्यादिप्रयोजक इत्यपि युक्तम् ॥

अतो लाघवाद्विषयनिष्ठ ${ }^{1}$ स्फुरणमेवोक्तकार्ये प्रयोजकम्। विषयतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयप्रवृत्यादिकं प्रति तादात्येन तत्पुरुषीयस्फुरणक्य हेतुँवसम्भवात्। उक्कस्फुरणं च वृत्तेरावरणनाशार्थर्वपक्षे तत्पुरुषीयाज्ञानस्य विषयतावच्छेदकत्वाभाववद्विषयतादात्यवचैतन्यम् । यदि चैकमेवाज्ञानमिति वृत्या न तन्नाशः किंतु तस्य स्वकार्याक्षमत्वम्, तदा तंपुरुषीयवृत्र्यविषगनिष्ठं यदज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं तदभाववद्विषयतादात्म्यवच्चैतन्यं तत्। यदि च वृत्तर्जीवेपपरागार्थत्वं जीवाभेदाभिठ्यक्तयर्थत्वं वा, तदा तन्मनोऽवच्छिन्नचिदमिन्नं सत्तन्मनोऽवच्छिन्नजीवोपरक्तविषयतादात्म्यवचैतन्यं तन्मनंऽऽच्छिन्नरीवस्य क्फुरणम् 1 . उपरक्तत्वं च सुखादिविषये प्रतिबिम्बवत्त्वम्, घटादि विषये ${ }^{2}$ प्रतिबिम्बवद्वात्तिविषयत्वम्, अन्यतरत्वेनाखण्डेन तयोर्निवेशान्नाननुगमगौरवे । परोक्षवृत्तिमात्रेण रूपादे : स्फुरणवारणायाभिन्नमित्यन्तम्। रूपादिमात्रविषयकापरोक्षवृत्त्या रसादिचैतन्यक्यापि तन्मनोऽवच्छिन्नचिदभेद्सम्पादनात्तदानीं रसादेरपि क्फुरणं स्यात्, अतोऽन्त्यदळम्। सर्वत्राभावस्य म्वरूपतो निवेशान्न गौरवम्। उक्कफ्फुरणं च भात्यादेरर्थः, तत्प्रयोजकं चैतन्यं साक्षात्कारार्थः, तत्पुरुषीयस्यासत्वापादकाज्ञानस्य विषयतानवच्छेदकत्वप्रयोजकं चैतन्यं जानात्यर्थ:। तच्च वृत्त्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमुक्तप्रयोज्यरूवं फलमादाय विषयम्य त₹कर्मता बोध्या । विस्तरेण चेद्मेतत्रक्ररणसमाप्तिस्थले वक्ष्यतेडस्माभिः ॥

यदि चैकमेवाज्ञानमतस्तस्य न वृत्त्या नाशः, सुखादावस्य ${ }^{3}$

$$
1 \text { निम्रस्फुरणमेव-ग. " स्त्रश्रताबम्ब. } \quad \text { "मुखादावप्य-ग. }
$$

## 

 कत्व आध्यासिकसम्बन्धस्पातन्त्रतापतः, घटाभिग्यक्तनैत-

 अविधावृतेश्र स्वविपयावच्चिनलं स्बकाराष्धीनम्; विनिगमका-


 न्यतरामावे निवेखय:, तेन बृत्यमाबकाले अद्वाणि जानामीति न



 भातीयस्प नापविः। एवं च भातीवायादियवदारसमान्येडुनुनतियम
 सा न, न غ्षेकविषयकले सम्भहति फकजानियकल्लमुनिनम । " यस्ताक्षादपरोक्षाद्रह्म" -_"विज्ञानमानन्द्र, त्रह्म" :" अयमाह्मा ब्रह्म सर्वानुभू: इत्यादिश्रुतित्रोपपद्यते। ग़ाखा चलतीत्याद्वाविच गाएवा। Sक्ति
 तिषयत्वक्य तल्वकल्पने ${ }^{4}$ तु गौरखवमिति भावः। अत एंत्रति। अनावृताषिप्रानचित: प्रकाशकत्वादेनेत्यर्थः। अतन्त्रतापान ड़ति। प्रति-

[^126]न्यस्य घटप्रकाराकत्वे आवइयकेन वृत्तिप्रतिबिम्वितचैतन्येनैव घटप्रकाइकत्वोपपर्तौ तदाधिप्ठानचिद्मिष्यक्तिकल्पनायोग इति निरस्तम् ; परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहाराथं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनाया युक्तत्तात्। नच—युद्धैचैतन्यस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्व नाभिन्यक्तिः ; अभिव्यक्तस्य च घटाद्यवच्छिन्मचैतन्यस्य न तदाधिप्टानत्वम्, आत्माश्रयादिति-चाच्यम्; चरमसाक्षात्कारात्पूर्वमपि शुद्धचैंतन्यस्याविद्यावशादाधिष्ठानभूतस्य मूलाज़ाननिवृत्तिलक्षणाभि॰्य क्तनांचंऽपि तदवस्थाविशेषादिनिवृत्तिलक्षणाभिठयक्नचा विपयम्रकाशकत्वापपत्ते:। न चघटप्रकाशिकाया दृो मिथ्यत्ते नाधिप्ठानत्चम्, मत्यत्चं दोषाबिम्घितम्यानधिष्ठानत्वाद्दिति ग़ेषप:। घटाभिव्गक्तिति। घटावच्छेदेनामिठ्यंक्तत्यर्यः। आवइ्यकेनेति। वृत्ते: स्वच्छतया तन्र चित्प्रतिबिम्ब आवइयक: । तम्य च स्वानच्छेदकवृ|त्तियिपयत्वसम्बन्धन' प्रकाइकत्वामित्त ${ }^{2}$ भावः। नन्व्रमिव्यर्कि विनापि परेक्षज्ञानक्य प्रकाशकत्वात्तत्र न तस्या उपयोगम्नत्राह्- परोक्षेति ; क्फुटतरा भातीत्यादिरुपः। युक्तत्वादिति । अन्यथा चिच्पनिणिम्बम्योक्तसम्बनंधन परोक्षम्थलेऽपि सत्वादुक्तन्यवह़ारापत्तेररिति रोष: । तदधिष्ठानत्वं तदुपादानत्वम्। तथा च स्वापहितचैतन्यम्य घटादावर्वधिष्वानत्त्न म्वम्य स्वस्मिन् प्रयोजकख्वादातमाश्रय इति भावः। श्रुद्धरति। घटाद्यनुपहितेत्यर्थः। अविद्याचशादधिप्रानेति । ब्रह्मण उपादानत्वपक्षंडनिद्यालहिततयोपादोनेल्यर्थः। सहितत्वं चाविद्याय। अव्युपादानत्वादविय्योपाहितम्य ज्हम्मण एन्वेपपादानत्वादविद्योपहितजीवैचतन्यक्योपादानत्वाद्वेति
 चिन्निष्ठमेदम्य ग्रहृणम्। ताथाच मूल्याज्ञानसत्वेऽपि घटाद्विविषये तद-

$$
{ }^{1} \text { सम्बन्धे-क. - प्रकाशर्त्व्वमित-क. ख. मनं|वच्छेद-ग. }
$$

जन्यत्वेन प्रमात्वात् सत्यं स्वतिषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयत स्पाशा रजुरिति——चच्यम् ; यतो दोषाजन्यत्वं न प्रमात्वप्रयोजकम्, चैतन्यस्य सर्वत्र दोपाजन्यत्त्रत्; किंतु दोपाजन्यवृत्यत्रच्छिन्नत्वम् ; प्रकृते च तदभावान्न त्रिपयस्य सत्यत्वम्। अतो मिथ्याभूतविषयं अत्यधिपानतंत्वं सत्याया हृश़ो गुक्तम्। ननु तात्विकसम्बन्धासम्मने अгध्यासिकमम्बन्धकल्पनम् ; स एव तु कुतः ? क्रम्रमयोगबाधे गुणगुणिनोः समवायवतनुद्भयबाधे तृतीयस्य सम्भवात्, नच तत्र मानाभावः ; समवागवदनुमाध्यक्षयो:

वच्छेदकत्वाभावादुक्तरीत्या चित्पकाशिकति मावः। प्रमात्वादिति।
 .तदभावादिति। अविद्याया घटाईद्वययेजकत्नात्तदानारवृत्ताव्वपे दोष विधया निमिम्तकारणः्वम्। अत एव अद्कणा द्वापाप्रयुक्तेत्वन तदाकारवृत्तिर्नांविद्यादे।पनिमित्तिका । दोपाप्रुक्तविपयकत्वमनाधितविषयकत्वपर्यवसन्नं वा प्रेंत वृत्तदर्दाषाजन्यत्वर्मर्मात भायः।।
 व्यझ्ञकत्वं वाच्यम. तथाच तंदें प्रकाशकमन्तु, तैनैन च न्फुटनरत्व亏्ववद्वाराइक्तिति. तन्न; तृत्तंरवावरणं प्रति नाझकत्वन्नाजत्वाद्वा। यथाच तम्याः प्रकाजकल्याघ्यमन्मवम्तथा fवत्वृतत्वात्। यद़ापि मूलन ज्ञानं चैंतन्यमावृणांति न वा, अन्त्य न तर्ताद्ध्धः ; अवरणार्थमव तब्न्वीकारात्। आंद्य अवम्याज़ानम्य्य वृत्त्या निनृत्तार्वाप मूलाज्ञानसंत्वे कथं घटांद्य: प्रकाश ईनि, नद़ि ममाह़िनम् । मूलाज़ानम्य

 अविद्याया दोषत्वे विवादात्, सम्भावितदांषान्तराणां च तदजनकत्वा-

सच्वात्। तथाहि परस्परासंयुक्तासमवेतविशोषणाविरोष्यकविशिषृधीः, विशेषणविशोष्यसम्बन्ध(विशिष्ट)विषया, विशिष्टधीत्वात्, द्ण्डतित विशिप्टधीवत् ; उक्ता जन्यप्रमा, विशेषणविशोष्यसम्बन्धनिमिनिका, अनाधितजन्गविशिष्टधीत्वात्, सग्मतवत् ; विमता धी:, अवाधितविशोषणविझोष्यसम्बन्धविषया, अबाधि-

दिति, तद्वपि तुच्छम् ; यत्र हि मिध्यात्वं सम्भावितं तदाकारवृत्तेरपि जनकां दोष: सम्भावित एवंति मिथ्यात्वेन विपतिवन्न घटादौ वृत्तिद्दोषजन्योति ${ }^{1}$ कथं त्वया निरणायि। तद्निण्णये च ताद्टराप्रमाविषयत्वेन कथं सत्यत्वमनुमीयते। दोषाजन्यत्वं च तद्योग्यतारूपं दोषाप्रयुक्तविषयकत्वाद़ीत्युक्तम् ॥

विशिप्टधीरिति । ज्ञातंत घट इत्याद्याकारिकां धीरित्यर्थः। विशोपणविशोष्यसम्बन्धविशिप्टत्रिपयेति । ज्ञानघटार्यार्विषयताम्यां निरुपिता गा किश्चिन्निष्ठतिषयता तद्वतीत्यर्थः । तेन ज्ञानघटादिसम्बन्धम्यानुमानात्पूर्वमसिद्धत्वेडपि न क्षतिः । न वा ज्ञानज्ञानत्वादिसम्बन्धविषयकत्वमाद्धाय सिद्धसाधनम् । संयोगसमवायविषयकव्वमादायार्थान्तरवारणाय विशेप्यकान्तम्। परसपरमसंयुक्तमसमवेतं ${ }^{2}$ च यद्विशेषणविशेप्यं तद्विषयक्रत्यर्थ: । संयोगसमवायनिष्ठा या ज्ञाननिष्ठविषयतानिरुपितसांस्सरगकविषयता तच्छून्येति पर्यवसितम् । ताहदशसांसर्सीकविषयता च संयोगादिना ज्ञानभ्रमे प्रसिद्धा। एवं च परम्परासंगुक्तत्वादिनिर्णयस्य संयोगादिविषयकत्वसिद्धघनिवारकत्वेडपि न क्षतिः । न चैबं-ज्ञानघटाभिसरूूपस्य पक्षीमूतबुद्धचविषयस्य कम्यचिद्वा संसर्गतामादायार्थान्तरामिति वाच्यम् ; स्वस्य स्वप्रतियोगिकत्वासम्भवन ${ }^{3}$ तत्तदुद्धद्धविषयम्य च तत्वैनैव तन्निष्ठसांसर्गिकविषयत्वस्य

[^127]तविशिष्टधीत्वात्, द्णीति विशिष्टधीवत् ; गोमांख्थैत्र इत्यादेरपि पक्षकुक्ष्षिनिन्रेश ${ }^{1}$ एवेति न तत्र व्यभिचाराश्का! तथाच संगोग-समवायातिरिक्तसम्नन्धसिद्बिरिति-चेन्न; प्रथमे द्वितीये चार्थान्तरम्; आध्यासिकसम्बन्धस्यैंन विषयत्वेन निमित्तत्वेन चोपपत्ते:। द्वितीये परोक्षधीषु क्यमिचारश्य। तृतीये ब्रह्नज्ञानपर्गन्ताबाधितत्वेन सिद्धसाधनमेव। सर्वथा अबाधितधीविषयत्वे

बाघात्। विशिष्टधत्वात् सप्रकारकव्वात्, निर्विकल्पानक्ञकारे घीत्वात्। दण्डीति। द्ण्डज्ञानयेरार्विशिष्टधीपक्षतायां संयोगेन द्वण्डविशिष्टज्ञानमिति अमो दृष्टन्तः। यत्वतत्वग्रेरनुगतंत्त तु यदुभयविशेष्यविषेणकं यत् तत्तदुभयविषयताम्यां निरूपितकिश्चिल्निष्ठसांसगिकविषयताकमिति सामान्यतो इयाष्तौ, दण्डा पुरुष इति प्रमापि दृृ्टन्तः सम्भवति । विशेपणविशाष्यम्व्वन्धनिमित्तिका स्वीय विशेष्यविशेषणताश्रयानिरुपितसम्बन्धंन विषयविधया जन्बा। तेन संयोगज्ञानयोर्विझिष्टबुद्धौ संयोगाद्धिजन्यत्वान्न सिद्यसाधनम्, न वा कालोपाधिविषया ${ }^{2}$ जन्यत्वमाद्दायार्थान्तरम । अत्र अत्वाननुगमा-




 द्वितीये चंति। व्यभिचागंर्वनि। न च लंगिकापंशक्षत्वम्य हृतै। निवेइयत्वान्न उ्यभिच्चार इति वाच्यम्य ; मम्बन्धांग नर्निनंश़ ज़ाता घट इति चाक्षुषाद्विपमायां म्वरूपामिद्धियाधयारापते:। किश्चिदंगे तन्नि-

$$
1 \text { निक्षेप. } 2 \text { विधगा-ग. }{ }^{3} \text { त्व-क. }
$$

साध्ये साध्यनैकल्यम्। न च—तात्तिकसम्बन्धनाधे आध्यासिकसम्बन्धामिद्वि:, तथाच संयोगसमवायातिरिक्ततात्विकसम्बन्धनाधपर्यन्तं नाध्यासिकमम्बन्धसम्मानना, तथाच कथमर्था-न्तरामिद्बसाधनसाध्यैैैकल्यानीति-वाच्यम् ; तात्विकसम्बन्ध-
वेंो च सम्बन्धंशे परोक्षे व्यमिचारस्तक्ववस्थः, पक्षतावच्छेदके हौकिकमानसापरोक्षत्वनिवेशो च चाक्षुषादिप्रमाया साध्यासिद्धि:, ${ }^{1}$ अक्मन्मते अश्रयासिद्विश्चाति बेश्य्यम्। कथं तात्विक इति। ननुस्वसम्बन्धिसमसत्ताकसम्बन्धविपयत्वं ${ }^{2}$ साध्यम्, अतो बाधितसम्बन्धमादाय नार्थान्तरादी़ित चन्न ; यत्किश्चिंब्बसम्बन्धिसमसत्ताकत्व ${ }^{3}$ निवे अर्थान्तरादितनाद्द्वक्ज्यात् । ज़ेग्यम्य व्यावहारिक्वानीनिकान्यतरत्वात् । अथ यावत्व्वसम्बन्धि4 समसताऋत्वं निवेश्यम्, ज़ानम्य सम्बन्धिनः सत्यंत्वन सत्यः सम्बन्धः सिप्यतीतित चन्न ; ज्ञानज्ञयंभयसमसत्ताकाप्रसिद्धे:, उपाहतनैनैनन्यम्य ज्ञानत्वेनासत्यंव्वाद्र्धान्नराद्यनुद्धाराच । स्वपद्धार्थम्याननुगतत्लेन दृ्टन्तीयसम्बन्धरूपंत्व बाधात् . पक्षीयसम्बन्धरूपत्व साध्यंजैकल्यात् ॥

यत्तु अनिप्रकष्षम्य सम्बन्धः्यापकत्व निश्चिंत तन्निबुत्या पक्षे साध्याभावर्साद्दी: तम्यां च सत्यां त्यमिचारश़्काविरहसिद्धघा तक्य तद्यापकत्वर्नंश्यग्र इंयन्योंन्याश्रयाइदविपकृष्टानामपि सपत्नीनां सम्बन्धामावाद्यिमकृष्टनार्मप गोगगामद्धादीनां स्घन्धसत्वाच. तर्काभावात्तम्य तद्यापकत्वं न निश्रातुं शक्यत इति-तन्न ; सम्बन्धो यदि विप्रकृष्टयाः क्यात्. तदा हिमवद्विन्ध्ययोरापि क्यात्। तथाच भ्रममात्रोच्छेद इत्याद्यनुकूलतर्केण पूर्बांक्तेनाचिप्रकर्षम्य सम्बन्धन्यापकतानिश्ध्येय ट्यमिचारसंश्रयेया" प्रयोजकवेवनान्येन्याश्रयानवकाशात् । ' अर्मम्मतं ख. ? iवपगफ्वं-ग. "सम्बन्ध्धसत्ताक-क.ख. + ससम्बन्द्न-ख. डंसंशयस्य-क.ग.

अन्यथा जलादौ गन्धादिसंशये तद्यापकतया पृथिवीव्वादेरनिश्रयेन तद्भावेन तत्र गन्धाघभाबसिद्दिर्न स्यात् । सपल़ानां सम्बन्धस्य संयोगम्य सते विपकर्षाभावाडस्येन'। गोगोमेददादीनां च सम्बन्धो नास्येन। अत एव घंसादे़े: प्रतियोग्यादिना न सम्बन्ष इल्यादि वक्ष्यते । न चाविमकर्षसलवेेडी़ सम्बन्धाभावात् सम्वन्धाि 'पकर्षयोवैक्ष्यमाणं समन्यापकत्वं च्याहतामिति--वाच्यम् ; अविककर्षे सति सम्बन्धस्यावस्यकत्वात्। न हि समानदंशत्वाद्दिकमविभकर्षः; एकद्दीपवर्तिनां भिन्नकालीनानां मिथः सम्चन्धापतेः ॥

नन्वंबं-सम्धन्धसामान्यं नाडविक्कर्षः; परस्परासम्बन्धस्य निश्चयात्, साक्षात्सम्बन्धस्य सन्द्दाघव्वात्वद्वावेनानिश्वितेन सम्नन्धाभावसिद्धघसम्भवात् ; अन एव साक्षास्सम्बच्धाडपि न सः। तथाच तदमावेनासम्बन्धसिद्दयुग्तिरयुयेति -- चंन्न ; तद्दीयायां कारिकसम्बन्धे-
 पक:, तद्भावश्व ज़ानज़्ज़ादिभ्थंक निश्रिनः। तथाहि —यद्वच्च्चेदन कालिकसम्बन्धंन. यद्वत्ताऽनुभूयंत तंग्रब नम्य दैंशिकसाक्षास्सम्बन्धोऽ-


 किं न रोचये:। यथा च तयंरकाव्रच्छेंदनापरम्य न काधिकाधिकरणत्वम्, तथा अर्तातादिविवियावच्छेदे़न ज्ञानम्य परियेगाग्यचच्छेदेन


 तथा अतीतादिनिक्षम्य ज्ञानादिसम्बन्धन्य ज्ञानाद्दिमककालं नावच्छेदकः,

$$
\text { I प्यस्येव-गा }{ }^{2} \text { सम्बन्न्धांवप-क्र.ग. }
$$

स्य व्यापकानुपलबध्या बाधात्। तथा हि--तात्विकसम्बन्धस्य ठ्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः। स चातीतादिविषयकज्ञानादीजां नास्त्येवेतित कथं तात्विकस्तेषां सम्बन्ध:। न चसमवायवत् सम्बन्ध्यभाववि प्रकर्षाद्यविरुद्धत्त्रेनैव तत्सिद्धि-
अतीताद्यसम्बन्धात् । न द्यवच्छेद्याधिकरणासम्बद्धमप्यवच्छेदकम्, न वा घटत्वादिसम्बन्ध इव स कालान ${ }^{1}$ वच्छिन्नः ; इदानीमेव तज्ञानमिति प्रतीतोः। ज्ञानत्वाज्ञानवं ${ }^{2}$ योर्विरुद्धयोः कालभेदावच्छेदैनैवैवापपाद्यत्वाच । तथाच ज्ञानादिमत्कालावच्छिन्नसम्बन्धसामान्याभावेन ज्ञानादिसम्बन्धाभावः सिध्याते। यो हि यत्सम्बन्धवान् स तद्वत्कालावचिछछन्नसम्बन्घवान्, यथा भूतलादिकं घटादिसंयुक्तं घटादिकालानच्छिन्नघटादिसम्बन्धकम्। भिन्नकालीनयोर्जानज़ेयाई़्रिभिन्नयोराप सम्बन्धापत्तिर्विपक्ष बाधिका। न च-विषयताद्यन्यसम्बन्धमन्तर्भावैयैनोकनियम:, अन्यथा उ्यभिचारापत्तिरिति--वाच्यम्; विषयतादिसम्बन्धस्य विप्रतिपन्नत्वेन ठ्यभिचाइसंशयक्य सम्भवव्युक्तन्यापकताग्राहकतर्केण तदुच्छेढा़्। न चातीतादे: सूक्ष्मरूपेण सत्वात्तत्र ज्ञानादिसम्बन्धसम्भच इति-वाच्यम् ; सूक्ष्मावस्थाया अतीतादिन्यक्तयत्यन्ताभेदे ज्ञानादिसमकालीनत्वासम्भवातद्रेदस्यापि वाच्यत्वेन अतीतादेर्जानभिन्नकालीनत्वं तदवम्थमेव, ज्ञानज़्जययोरापि सम्बन्धासम्भवात्। न चविषयीमूतसूक्ष्मरूपतादात्यादतीतक्यापि विषयत्वकांयंभिति—वाच्यम्। विद्यमानघटादिज्ञानान्न" घंसप्रागवस्थासु विषयत्वकार्यापत्तेः। सूक्ष्म्स्थूलावस्थयोरापि भिन्नकालीनत्वेन मिथ्यातादात्म्यम्यैन वाच्यव्वेन ज्ञाना तीतादिज्ञययोरें साक्षातस्य वरत्वादिति दिक् ॥

समवायवदिति। यथा समवायस्यैकत्वपक्षं इयामत्वाघभाव-
${ }^{1}$ सकलान-ख.ग. ${ }^{2}$ ज्ञातत्वाज्ञात्वयो:-क.ख.ग. ${ }^{3}$ जानात्तलंस-ग.

रिति- वाच्यम् ; समवायस्यापि देशकालविग्रकृष्टयोः सम्बन्धव्यवहाराप्रयोजकत्वात्। नहि सम्बन्ध्यभावेइपि सन् समवायोऽद्य नष्टं घटं श्वस्तनेन रूपेण विशिनष्टि। न चाध्यासिकत्वे सम्बन्धस्य साध्ये धर्मिग्रहकमानबाधः। विशिष्टबुद्धित्वेन प्रथमं तात्विकातात्किकसाधारणसम्बन्धत्वस्यैत्र सिद्धैः। किं च सम्ब-

कालेडपि इयामत्वादितो' विप्रकृष्टेडापे घटादौ तह्ध़ायः समवायः तथा ज्ञाने तदीया विषयतेत्यर्थः। अपिसन्नित्यनेन नानासमवायपक्ष एव श्रेयानिति सूचितम्। अन्यथा नष्टम्यापि वर्तमानकाले सम्बन्धसत्वेन विशिष्टप्रमा स्यात्, वाख्वादौ च रूपादिप्रमा म्यात्, तत्र तत्पतियोगिकसम्बन्धानुयुागित्वस्यंन्न तन्नियामकत्वात्। अथ - यत्र समवार्यीयया रूपनिघर्मतियोगितया निरु|पताइनुयांगिता तत्र रूपपमा, सा चानुयोगिता न चाच्वादााविति, न तत्र लत्प्रमा; अन ए़न रूपे रूपसमवाये सत्यफि न सेति चन्न ; उत्कर्प्रतियांगतानुयागितयेः प्रति-
 पतियोगिताया एंव समवायीयत्वात्. तान्नुरूपितनुनांगिता।यां बायुम्नरूपत्वादातिरिक्तंव समवायः्यैव नानार्ताईचित्यान, रुपम्य तु म्वस्मिन्न प्रमापर्ति:, स्वंभदसामानाधिकरण्यसम्बन्चम्यंय प्रमानियामंकत्वादिति
 विशिष्टष्यनहारभाजं करातीत्यर्थः '। तथाच समवायम्यकत्वपक्षडपि यदा यम्य यत्र सम्बन्धम्तादृछाम्नदा तयांरविप्रकर्ष इनि निग्रमा न व्याहत इति भावः। ननु सम्बन्धमात्रसिद्धयुत्वरं स्वं्रापकाभावेन सत्यसम्बन्धम्याभावसाषं अर्तातादांवव ज्ञानम्यासत्यमम्बच्ध: म्यात्, न तु विद्यमान, तत्र तम्याविप्रकर्षरूपन्यापकमत्वातत्राह्ट -- किंख्रेति।

$$
1 \text { श्राम़्वादिना-ग }{ }^{2} \text { साया-ग. अभेदाभेनानुमान-क.ग. }
$$

न्घग्राहक एव तात्विकसम्बन्धठ्यापकानुपलब्घिरूपबाधसहक्रतः आध्यासिकसम्बन्धे पर्यनस्त्यति। अतो न धर्मिग्राहकचाधगाङ्कापि। न चैवं-चुतसिद्धयोरेव संयोगरूपसम्बन्धदर्शानादयुतसिद्धिरापि ${ }^{1}$ संयोगस्य बाधिका स्यादिति--चाच्यम् ; (अ)युतमिद्बयोरपि कचित्सम्बन्धादईनेन युतसिद्वत्वस्य सम्बन्धाप्रयोजकत्वात्, यस्मिन् सत्यवइयं सम्बन्धः स एव सम्बन्धस्य प्रयोजक इति समव्याप्पत्वाभावेन युतसिद्धुचनुपलब्धेरबाधकत्वात्, यत्र सम्बन्धस्तत्रावइयं युतमिद्दिरिति विषमव्यासिकल्पनेऽपि मानाभावात्, अनुकूलतर्कादर्शानात्, देशकालविग्रकर्भमानवतां तु सर्वेषां सम्नन्धदर्शानेन विग्रकर्षे तददर्शनेन च म्यव्याप्ततया प्रयोजकस्य देशकालविग्रकर्षामावस्यानुपलबंधः मम्दन्धनाधकल्वस्यावइयम-
 धंसादेरतीतादिना, मिध्यात्वलक्ष्णान्तर्गतस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियांगिना, राक्तः शाक्येन, अझानस्यांश्येन, इच्छाया इष्यमाणेन, व्यवहारस्य ठ्यनहर्तच्यन, वाक्यस्यार्थन, दृत्तिरूपविशिष्टबुद्धित्वाद्युक्तहेतुरिति शेप: । ठ्यापक्रानुपलबिधरूपनाधंति। व्यापक्य्याविपऋर्षानुपलविध्रमाणगम्याभावज़ानाद्यो वधः सत्यसम्नन्धाभावनिश्चयः स इत्यर्थः । ज्ञातं घट इत्याददिविशिष्टनुद्यिनिष्टोक्तपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सम्बन्धच्याव्यवत्तानिश्ययादु क्ताभाव². निश्रयसहक्तनाटुक्रपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सत्तान्ग्यसम्बन्ध्रसिद्धि: । अतो विद्यमानेऽापि ज़ानम्यासत्यसम्बन्धसिाद्धि:। न च.-यद्दर्मावच्छेदेन साध्यांसांद्येम्नद्धमावच्छद्ननाक्ताभावनिश्र्ययापक्षति -- वाच्यम् । नीलपर्वतो वद्धयभाववानिनि निश्ययानीकान्य वर्वो वाह्दिमाऩत्य-

ज्ञानस्य ज्ञेयेन, सम्बन्धो नेति तनद्वाक्योक्तसम्बन्धाभावस्य ज्ञानेनासम्बन्धात् स्वन्यायस्वक्रियास्ववचननिरोधाः स्युः। न हि ज्ञाने ज्ञेयमिन्र प्रतियोग्यादिकमभातादागध्यस्तमितिचेन्न; यद्यव्युक्तन्यायसाम्येन धंसंसीनां ₹्रप्रतियोग्यादिभिस्तात्विकः सम्बन्धो नास्त्ये习, अध्यासोऽपि न ज्ञानज्रेयन्यायेन, उभयोरपि मिथ्यात्वात् ; तथापि प्रतीयमानं ग्रतियोग्यनुयोगिभावादिकं सर्वथा न निराकुर्मः, किंतु तात्विकाध्यासाभ्यं। भिन्नमेव ज्ञेयकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् मिथ्याभूतमङ्गीकुर्मः। स च संयोगादिव्वदतिरिक्रो चा स्ररूपं वा पराङ्ज़क्तेपदार्थन्तर्गतो वा तदतिरिक्तो वेत्यस्यां काकदन्तपरीक्षायां न ना निन्नेन्धः। न च—मिध्यात्वसिद्दे: ग्राक् तदासिद्वंचा अन्यान्यांन्रगः ; दक्दृइयसम्बन्धननुपपच्या ज्ञेगमात्रस्याध्यासिकंत्व मिन्द्य तन्मध्यपतितस्य ग्रतियोग्यभावादिसम्बन्धम्याषि मिध्यन्व्वम्, न तु प्रतियोग्यभावादिसम्बन्धमिध्यात्वरसिद्व, चनन्तरं हइयामिथ्यात्व-
 दृइयमात्रम्य मिञ्यात्वसिद्धश्रेति भावः। ऊध्यायंगइपीति.। अधिष्ठानारेप्ययोम्तादात्म्यमवील्यर्थः । अतिरिक्ता ंत्रति । सम्ननि्धिम्यां भिन्नो बेत्यर्यः। पदार्थान्तर्गत इ़्ति । मन'कागणसम्ब-

 मप्यनुपपतौ मिथ्यात्वक्य समाधायकत्वाद्वित्याश़ंयनाए - -्त्यक्यामिति न तु प्रतियोगीति। न च प्रतियोग्यनुयूर्यागभाचादिसम्बनंध मिः्गा-


[^128]सिद्धिरिति व्यवहारोपयुक्तसम्बन्धसामान्यस्याप्रतिक्षेपाब्न स्ववचनादिविरोधः L. तदुक्तं खण्डनकृन्भि:-

> बाधेऽद्दछेऽन्यसाम्यात् किं
> दृढे तदपि बाध्यताम् ।

क्र ममत्वं सुमुक्षूणा-
मानिर्वचनवांदेनाम् ॥ इंति ।

## न चादृढत्व बाधस्य; ठ्यापकानुपलाब्धरूपतकस्याक्तत्वात्, स्वक्रियादिनिरोधरूपप्रतिकूलतर्कस्य परिह्ततत्वाच । अत एव न

शाकग्र ${ }^{1}$ इति --वाच्यम् ; उक्तानुकूलुतर्केण उ्यापकतानिश्चयात् । अन्यथा पक्षातृत्युपाधौ साध्यव्यापकता न निश्रीयेतेते भावः। बाधे इति । विप्रकर्षहेतुकतात्विकसम्बन्धाभावानुमितेः सामग्रयामित्यर्थ:। अदृंन इति। अविप्रकर्ष तात्विकसम्बन्ध亏यापकतानिश्रायकतर्कानवतांरगासम्पन्नायामित्यर्थः। अन्यसांक्यार्किमिति। ज्ञानज्ञये, तात्विसम्नन्धयुक्त, विशिष्टधीविपयत्वात्, प्रतियोंग्ग्भावादिवदिति, सत्पतिपक्षपर्यवसन्नादन्यमान्यघट्यतप्रतिप्रयागाव्रेंषां किं फलं, न किमपीत्यर्थः । सम्पन्नायां ह्यनुमानसामग्रयां प्रत्यनुमानसासग्री सत्रतिपक्षरूपा सफला। हों -उक्तर्काचतारेण तक्यां सम्पन्नायां। तदापि साम्बपतियाग्यपि । वाध्यतां —प्रतिग्रोग्यभावाद|चधि सत्यसम्बन्चाभावस्तयैव${ }^{2}$ सामम्रया अनुमीयताम् । तर्कयुक्तायां तम्यां निम्तर्कोक्तसामग्रया न्यूनबलचत्वेन सत्पतिपक्षत्वासम्भवादिति भावः। बाधे दृढइत्यत्र न्यायेऽटृढ ${ }^{3}$ ड़ति पाठकल्पनमहततुकं, ${ }^{4}$ खण्डनग्रन्थे तत्पाठाभावात्। हेयं ग.

जातिवादिसाम्यम् ; तेन हि नियमसापेक्षानित्यत्वसाधककृतत्वादौौ नियमानपेक्ष्येण दर्शानमात्रेण रूपवच्वादिकमापाद्यते। न त्वस्माभिस्तथानियमनिरपेष्षेण साहचर्यमात्रेण किंचिदापाद्यते। न चैंनं-ज्ञानज़ेययेरपि प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य एव सम्बनियमेति नियममाहकतरेलर्थः । दर्शनेति। सहचारदर्भानेल्यर्यः। रूपवत्वादिकं--रूपादिसाधकत्वम्। समकक्ष्य इति। अधिष्टानारोप्ययोर्यः सम्बन्धस्तदन्य इल्यर्थः। विशेष्यविश़ेषणजातीययोर्विभकर्षाभावो विशिष्टर्पाप्रमाववव्यापक: स्वाभावेन तस्यां प्रमात्वाभववं साधयति. स च विनिगमकाभावाघघ्यवि विगे़ेषाविजेग्यसम्बन्धानां मि४्यात्वमादाय पर्यसस्सति, तथा१ि ज्ञानजेयययोर्बिशिष्वुद्धौ ज्ञानस्य स्वरूपेणानु-
 घटः घटः सन्. ज्ञातां घटः घटः्य ज्ञानम्, घटः क्फुरति घटस्य स्फुरणमिति द्वूचाकारानुभवैः पस्परावच्छेंेेन ज्ञानजेयविपयीकरणात्
 भावात् घटतन्नाशाघोः स्वरूपेणापि मिध्या:वम्, परम्प्पावच्छेदेनाध्यासाभावश्ष । न हि घटादिकं नाशाघनुतृत्तत्वादिमदिल्यत्र माऩमन्ति। न वा परस्पराबच्छेदेन घटतन्नाझादिकं गांतस्वाम्यादिकं वानुभूयते। अपि तु प्रतियोग्युपलक्षिते चैनन्ये नारादिक्रम्, गवाबचच्छेशेन चैच्रादिस्वत्वम्। अथावच्छेदकीभूतृत्य चिच्चैल्यसम्वन्धम्य विशेप्यव्वम्या-
 ल्बस्य ताद्धशस्य तत्राभावेडपि तृतिविशेष्यत्व्वावात्, उपकक्षणीभूतचिच्चै्यसम्बन्धस्यापि विशेप्यतारूपव्वाद्वा, घटाघवचछछदेनेन घंसादेरनध्यासेऽवि प्रतियोगितादिरूपसम्बन्धाध्यासाद्वा। अत एव घटोंत्यन्ता-

न्धोऽस्त्विति वाच्यम् ; परस्पराध्यासात्मकसम्बन्धासम्भवेनैव सम्बन्धान्तरकल्प्यनात्, तत्सम्भवे तस्यैव सम्बन्धत्वात्। न चाज्ञाऩविषयस्य व्रक्सणो विषयिण्यज्ञानेऽनध्यासेन विषयस्य विषयिण्यध्यासनियमो न सिद्ध इति वाच्यम्; एवं नियमानभ्युपगमात्, किंतु ज्ञानाज्ञानयोरध्यास एव विषयेण सम्बन्धः। स च ज्ञाने ज्ञय₹्य अज्ञेये चाज्ञानस्याध्यासादुपपद्यते। अत एवाध्यासिकसम्बन्धठ्यतिरेकग्रदर्शने अज्ञानस्याज्ञेयेनेत्यनुदाहरणम्। ननु भवणादीनां चरमसाक्षात्कारान्तानां स्वविषयेण ब्रह्मणा सम्बन्धानुपपत्ति:, न हि श्रवणादौं साक्षात्कारे वा ब्रह्याऽध्यस्त-मिति-चेन्न; साक्षात्कारो हि वृत्तिर्वा, तदृभिव्यक्तचैतन्यं वा।
भावीयः, चैत्रो गोमान्, इत्यादावपि घटचैत्रादार्विऐेष्यत्वम्, तदवच्छे देन प्रतियोगितास्वामित्वाद्यध्यासारदेत्याभंप्रेत्याह—परस्पराध्यासात्मकेति। विशेव्यविंशेषणयो: परम्परावच्चिछन्नमिध्यातादात्य्यात्मकेन्यर्थः ॥ ज्ञानाज्ञानयोरिति। इच्छान्देर्विषयेऽध्यासो न सम्बन्ध इति विषये विषयिणोडध्यास: सम्बन्ध इति नोक्तम्। अध्यास इति। अधिष्ठानारोप्यगतः सम्बन्ध इस्यर्यः, स च तादात्यं घटो ज्ञातो घटः अ्फुरतीत्यादिसामानाधिकरण्यानुभवात् ज्ञानाज्ञानयोर्विषयं प्रत्यधिप्ठानारोप्यान्यतरवव्वमिति पर्यवसितार्थ: । अज्ञानतद्विषयझुद्धाचितोर्न परस्परावच्छेदेन।ध्यासोऽननुमवात्। कार्याध्यासक्थल एव तथा व्वीकारात् । अन्यथा अवच्छे ؛्रीमूतचिस्सम्बन्बरूपविशेप्यताशालित्वेनाज्ञानाध्यासम्य सविकल्पकतापत्त्या सुपुप्तनुमवत्वहान्यापत्ते:, अते। ज्ञानाज्ञानयों: परस्पराध्यासं ${ }^{1}$ नोक्तमिति धेयेयम्। स्वप्रकाशचैतन्ये आवरकाज्ञानस्यानुपपन्नष्वात् ज्ञयान्तर इवाज्ञानेऽपि दृइयत्वे तत्रापी दृइयत्वमित्येवमनवस्थ।। 'अतथ्राज्ञाने दृईयत्वानुपपत्तेरज्ञानचित्सम्बन्धोऽ-

$$
1 \text { ंवषयेगेति -ग. }{ }^{2} \text { ततथा-ग. }
$$

आद्ये तस्या: ज्नह्मण्यध्यस्तत्वेनाज्ञानाज्ञययेंरिव सम्बन्धोपयतेः। अत एव अवणादिनापि मानसक्रियारूपेण न सम्नन्धानुपपत्तिः। द्वितीये तु अभंदेन सम्नन्धानुपयोगात्तत्सम्बन्धनुुपपत्तिर्न दोषाय। अत एव—चरमसाक्षात्कारस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् यदि तद्विषयत्वम्, तदा घटसाक्षात्कारस्यापि बह्नण्यध्यस्तत्वात् तद्विषयत्वापत्तिरिति-निरस्तम् ; घटसाक्षात्कारस्य घटाभिव्यकैचतन्यरूपत्ते बह्मण्यनध्यासात्, वृत्तिरूपत्रे तस्यः: व्रह्मण्यध्यासेऽपि नाधिष्ठानभूतत्रह्मणो विपयत्वम् ; बह्नविषयताप्रयोजकस्याध्यासनिशेपस्य तत्राभावात्, तस्य च फलबलकलप्यत्वात् । न हिं चरमवृत्तां घद्सक्कागतानद्रत्राइपि साडनुभूयते। इच्छेष्यमाणयोस्तु ज्ञानद्वारक एव गम्बन्ध ड़ति न पृथक्सम्ब-
 त्यध्यक्तत्वा द्वह्म जानामीत्याददिध्यवहार इर्त्याप बॉध्यम्। अभिंच्यक्तयुपलक्षताखण्डचिता श्रह्मणा|ऽत्यन्तांभद़ाजानामीत्याद्यद्यव्यहाराविषयत्वाचासम्बन्धो न दोपपयत्याह द्वितीय ड़ति। अध्यासविशोषस्यअहुं न्रह्मत्यादिवाक्यर्धर्टनशाबन्दर्धासामर्य्र|जन्यवृत्तिनिष्ठम्य ब्रह्यतादात्यक्य। तथा च ताट़सामश्रंबन गुद्धद्नह्नाकारतायां वृनिनिम्वायां नियामिकेति भावः। फलबलति——याद्वशसामग्रीजन्यवृत्तेरज्ञानानितृत्त्यादिफलं द्वइयते तम्या एव तत्रं कलण्यत दर्न भावः। अनुभवबलमप्याहन हीत्यादि । ब्रह्म साक्षाहॅरार्मीत्यनुमवां घटादिवृतोंां नत्यर्थः। अविप्रकर्षस्य सम्बन्धव्यापकंत्व इच्छायाः म्वविषंयण सम्बन्धा न म्यात्ततो विप्रकृष्टापी विषये इच्छाया इव ज्ञानम्यापि सम्बन्ध इति परस्परपूर्वमाशक्कित प्रतियोंगिध्वंसादिन्यायंयन परिहृतमापि प्रकारन्तरेण पारे-। हरति-इच्छेष्यमाणयोरिति। ज्ञानद्वारक इति। स्वापघायक्ज्ञान-

न्धापेक्षा। न च—ज्ञाने सनिकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुमवाधीनस्येगेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषयसम्बन्धस्यान्तुभवात् सक्षिकर्षादिम्यो मिन्न इव ज्ञानान्र्रिन एव सम्बन्धो वक्रव्य इतिवाच्यम् ; सम्बन्धातुभवस्य ज्ञानद्वारकसम्बन्धेनान्युपपत्तेरतिरिक्तसम्बन्धकल्पने मानाभावात्, ज्ञानाधीनसम्बन्धान्तर्ग्र्यानतुभवाद्। ज्ञाने त्विन्द्रियसन्निकर्षादिना न सम्बन्धानुभवोपपत्तिः ; इन्द्रियसन्निकर्षादीनामतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिना उपस्थितिं विनैव घटज्ञानमित्यादिसम्बन्धानुभवात्। स्मृतौ तु अनुभवाधीनसम्बन्धस्य राक्कैव नास्ति; अनुभवस्य तदार्नाम-

विषयव्वरूप इत्यथेः। तथा च नेच्छासम्बन्छो दृष्टान्तो ज्ञानसम्बन्षस्यैव तत्वादिति भावः । ज्ञानार्द्रिनो ज्ञानाघटित।। नन्वेके-ज्ञानस्याव्युपधायकसन्निकर्षादिद्वारकः सम्बन्धोऽन्नु, नाध्यासिकतादाल्मं तत्राह-ज्ञाने त्वित्यादि। ज्ञानेन्द्रिय'सन्निकर्षादिघटितस्य विषयसम्बन्धस्यानुमवो न सम्भवत्ताल्यर्थः । इन्द्रियसन्निकर्षादिघटितस्य सम्बन्धस्य केबलन्य ${ }^{2}$ साक्षियोग्यत्वात् ज्ञात्वाज्ञातवव्वाम्यां ${ }^{3}$ साक्षिभास्यता सम्भवति: न तु घटसम्बन्धिज्ञानवानहमित्येवं रूपेण ताम्यां विनेल्याईयेनाह-इन्द्रियसन्निकर्षदीनामिति। अनुमित्यादिनेति। आदिना प्रत्क्षादेसक्ञूहः। प्र्यक्षणोपस्थिय्यमावे हुत् ${ }^{4}$ अर्तीन्द्रियत्वेनेति। ठ्यांतिज्ञानाघमावस्याव्युपरक्षणम् । उपस्थितिमिति । ज्ञाततामिल्यर्थः। अज्ञाततां विनेल्युपक्ष्ष्यते। सम्बन्धेति। घटादिसम्बनिज्ञानेन्यर्थ: । अनुभवाधीनसम्बन्धस्य अनुभवद्वारकसम्बन्घस्य स्वोपधायकानुभवविषयव्वस्येति यावत् । असत्वादिति ।
 हेता:-क. ख.

सत्वात् ; उभयोरपि ज्ञानत्वेन तुल्यवदेव सम्बत्धसंभवाच्च। न च-समूहालम्बनजन्यैकविषयेच्छायासुभयविषयत्वापतिः; जनकज्ञानस्योमयविषयत्वादिति— वाच्यम् ; अतिरिक्तसम्बन्धपक्षेऽपि तुल्यत्वात्। अथैकविषयावच्छेदेनैव ज्ञानस्य जनकत्वाप् नोभयविषयत्वं, समं ममाडपि ; जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्व-

तथा चानुभवस्य स्वोपधायकत्वमेव नास्तीत्यर्थः। स्वोपघायकसंस्कारोपघायकानुभवविषयं तु सन्निकर्षघटितसम्बन्धन्यायेन दुष्टमिति भाव: । ननु स्वेपषायकज्ञानघटितरूपेण न सम्बन्धता; उपघायकत्वस्य तत्तद्यक्तिविश्रान्तत्वेनाननुगतत्वात्, ऊैं तु स्वसमानाधिकरणीयं यद्धटत्वाद्यवच्छिन्नविषग्त्वं तत्वेन ; तथा चोपधायकतावच्छेदकस्य तत्तदाकारज्ञानरूपवृत्त्यवच्छिन्नत्वादेरभावेडापि इच्छोत्पन्य्यादिक्षणे समानाधिकरणं साक्षिचितन्यं यथेच्छायाः सम्बन्धघटकं तथा स्मृतेरप्यस्तु तत्राह— उमयोरिति। समूहालम्बनेति। घट इष्टसाघनं पटः प्रमेय इत्यादिज्ञानेत्यर्थः । एकृविषयकेति । घटादिविषयकेत्यर्थः। उमयेति। घटपटाद्युभयेत्यर्थः। तुल्यत्वादिति। ज्ञानविषयतामात्रस्येच्छाविषयताप्रयोजकत्वार्जीकारे तवापि तुल्यत्वादित्यर्थः । इष्टसाघनत्वप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया तज्ज्ञानमिच्छाविषयत्वे मम प्रयोजकमतो न दोष इति शक्षते — अथेति । जनकतावच्छेदकेति। इष्टसाघनत्वप्रकारतानिरूपिता तज्ज्ञानविशेष्यतयैव ${ }^{1}$ तदिच्छाया जनकतावच्छेदक्ष ${ }^{2}$ सम्बन्ष $^{\prime}$ इति तदाश्रयमादायैव तस्यां सविषयकत्वक्यवहारः, इच्छान्तरेडप्यवच्छिन्नमनोऽवच्छिन्नं ${ }^{3}$ वा यादृइं विषयत्वं जनकतावच्छेदकं ताहझामेव

1 घ्यतैव. 2 दिका-क. ख. ग. ${ }^{3}$ प्गबच्छिनं वा यादघं-क. प्यनचिछनममनवाच्छซं वा यादृरां-ग.
A.s.v.

तस्म सम्बन्ध इति, स्वप्रयोजकविषयतात्वेन सर्वस्या इच्छायाः ज्ञानीयं विषयत्वं स्वविषयत्व ${ }^{1}{ }^{\text {® }}$ वहारारनियामकम् ॥

न च तत्सम्बन्धेनेच्छां प्रति ज्ञानकारणता न सम्भवति², अत्मशश्रयादिति वाच्यम्; प्रयोजकतायाः कारणतावच्छेदकसाधारण्येन कारणतान्यत्वात्, तद्विषयकज्ञानस्य स्वसामानाधिकरण्यादिविशिष्टेच्छां प्रति समवायेन कारणत्वे दोषाभावाच्च। सर्वविषयेयिच्च्छाविरहेण विषयान्तर्भावापेक्षया पुरुषनिवेशे लाघवाभावात्। न चोक्ररूपेणेच्छाया: कार्यत्वे स्वप्रयोजकविषयतत्वेनेच्छायां सविषयकत्वष्यवहारनियामकत्वे च गौरवमिति-वाच्यम् ; तदेपेक्षयापि तब तत्तद्विषयकत्वादिविशिष्टज्ञानतेवेन ज्ञानस्य च्वकार्यानुमितीच्छादिहितुतायां महागौरात्, कारणतावच्छेदके ज्ञातत्वसमानाधिकरणं यावन्निविष्टं तावद्भिर्जानत्वस्य विशोष्यविझोषणभावे विनिगमकाभावात्। मम तु सविषयकत्वादिकमेव ज्ञानत्वाविशेषित तत्र हेतुतावच्छेदकमिति तद्भावात् ${ }^{3}$ । न च-तवापि विशोषणतावच्छेदकप्रकारकतेवेच्छादीनां हेतुत्वासम्मवाद्विषयोपहितेच्छादिम्रत्यक्षे पृथक् हेतुत्वे गौरवमिति-व!च्यम् ; विशिष्टवैशिष्टयप्रत्यक्षे सन्निकर्षादीनामेव हेतुत्वेनोंक्तरूपेण हेतुत्वस्यैवानक्ञीकाराप्, विशोषणतावच्छेदक्रकारताप्रयोज्यत्वेनेच्छादिसाधारण्येन मम हेतुत्वान्तरकल्पने ऽपि तदपेक्षया तवोक्तगौरवस्याधिकत्वात्। एवं ज्ञानत्वजातौं सविषयकत्वमात्रस्य ठ्यअ्अकख्वादिसम्भवादपि मे लाघवात्। न चेष्टसाधनत्वेऽपि स्वप्रयोजकविषयतासत्वादिच्छाविषयतापत्ति:, इष्टसाधनताव्यावृत्तविषयतानिवेशे यत्रेष्टसाघनत्वविशेषितघटादाविष्टसाघनत्वज्ञानादिच्छा तत्रेष्टसाषनत्वे तद्विषयता न स्यादिति-वाच्यम् ; यादृशविषयत्वस्याश्रये
${ }^{1}$ स्वविषयकत्व-ग. ${ }^{2}$ कारणता सम्भांत-ग. ${ }^{3}$ तइभावात्-क. ग. ${ }^{4}$ ज्ञानजातौ-क. ख.

## स्यैव सम्बन्धत्वात्। न च—नित्येश्वरेच्छाया विषयत्वसम्बन्धा-

यदिच्छाविषयत्वव्यवहारः स्वप्रयोजकतादृशाविषयत्वस्येच्छासम्बन्घत्वात्। एवं च जनकज्ञानं तद्विषयत्वं वा नेच्छाया विषयत्वम् ; समूहालम्बनालिनातिप्रसच्नात् ॥

अथ यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्येच्छोत्पादकत्वं तद्विषयकज्ञानं तद्विषयत्वम् ; तर्हीचच्छायाः सर्वविषयकत्वं न स्यात्, सर्वविषयकत्वेनेच्छानुत्पादकत्वात्स्याच्च सुखादीच्छाया अपि दु:खाभावादिविषयकत्वम्। अथ-यद्विषयकज्ञानस्य ईवसमानाधिकरणयद्विषयकत्वठ्यवहारविषयेच्छासमयाव्यवहितपूर्वसमये ताद्टशोच्छासमये वा नियमतः सत्वं तद्विषयकं ज्ञानमेव ${ }^{1}$ तादहरोच्छाविषयत्वम्, सुवचश्ध महाप्रलयाव्यवहितपूर्वक्षण एवेश्वरेच्छा|धिकरणसमयव्यवहितः पूर्वः समय इति चेत्, तर्हि पाकादीच्छाया इष्टसाधनत्वविषयंत्व ${ }^{2}$ स्यात्, न स्याच्च कूते: पाकादिविषयकर्वम्, तदुव्यवहितपूर्वक्षणे पाकादिज्ञानान्तरे मानाभावात्, कृत्याादिविषयत्वन्य तथैव निर्वाच्यत्वात्; क्याचेच्छायाः कृत्युस्पादसमये निर्विषयंत्वम्। अथ—इच्छानन्तरं ताद्यां ज्ञानं ${ }^{3}$ कृति₹तदनन्तरं तादृरां ज्ञानान्तरम्। अथवा युगपदात्मगुणद्वयमुत्पाद्यत इत्युपेत्य कृत्युत्पत्तिसमये नियमतस्ताहद्यां ज्ञानान्तरं कल्प्यमितिचेत्; तर्हि स्वतः सविषयकत्तमेवेच्छादानुचितम्, लाघवात्, बाधकाभावात्, संक्कारे गत्यन्तराभावार्चंति, बौद्धाधिकाराशिरोम०्युक्तम्, तन्मूलकमन्य ${ }^{4}$ पलपितं चानवकाशाम् । मन्मते हि वृत्त्यनवच्छिन्नादि ${ }^{5}$ चिद्रूपं यज्ञानं तदीयतादात्म्यरूपम्य विषयत्वम्य वृत्त्युपरमेऽपि सत्वेन यद्विषयकज्ञानस्येत्यादिरीज्या 5 भीच्छासंसकाराद्दिषिषयतारूपत्वं सम्भवत्येव।
 ${ }^{3}$ ताहरा ज्ञानं-ग. ${ }^{4}$ मन्ग्रत्र-ग. ${ }^{6}$ गु्यववचिछछछन-ग.

तुपपात्तिः ; तस्या अस्माभिरनङ्जीकारात् । तार्किकाणामपि तत्साधकमानबलेन • त्रिलक्षणसम्बन्धकल्पनेऽपि जन्यज्ञानजन्येच्छयोरुक्रक्रकरणँव विषगताभ्युपगमात्। न च-पुत्रादिधीजन्यसुखादेः पुत्रादिविषयत्वापत्ति:, इच्छान्यायादिति-वाच्यम्;

लाघवबाधकाभावौ चोक्तगौरवेण परिह्तावेव। अनद्भीकारादिति। 'सोऽकामयत' इस्यादिश्रुतेच्छांक्रीकारेऽपि वीक्षणवत्तस्या मायापरिणामत्वाद्यिति शेषः। विलक्षणेति। जन्येच्छाविषयतातो विलक्षणेत्यर्थः। तस्या इत्यनुषज्यते। सम्बन्धेति। विषयसम्बन्घेत्यर्थः। अन्यमात्रे ${ }^{1}$ ज्ञानेच्छाकृतिमत्वरूपकर्तृताया अनुमानादिबलेन सिद्दौं। लघघवाज्ञानादीनां नित्यत्वस्यापि सिद्धिश्वीकारात् । ज्ञानीयविषयत्वस्येच्छादिप्रयोजकत्वासम्भवात्, स्वसमानाधिकरणज्ञानीयं घटत्वावचिच्छनत्वत्वादिविषयत्वमिच्छाया विषयसम्बन्धोडकीकियते। अत एव क्षिति:, सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्, इत्यनुमाने स्वविषयकज्ञानं तत्सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन स्वविशिष्टेच्छाकृतिमत्वं चेति त्रयविशिष्टजन्यत्वमेव साध्यम्। न च—घटज्ञानघटेच्छार्दिमत्यप्युक्तविषयत्वसत्वा²त्राद्रास्यापि कुलालादेधटादिहेतुत्वापत्तिरिति-वाच्यम् ; जन्यजनकभावापन्नज्ञानादिमत्वेन हेतुत्वेऽपि साध्ये तदूपेणाविनिवेशेऽपि क्षत्यभावात्, जन्यजनकभावापन्नं यज्जन्यं तदन्यज्ञानादेः साध्ये ${ }^{3}$ निवेशादीश्व्र्साधारण्याय तद्दत्वेनैव हेतुत्वाद्वा । उक्तम्रकारेणैवेति । प्रकाशाम्य सतस्तदी|यतामात्रनिबन्धनः स्वभावविशेषो विषयतेति विषयतालक्षणे बौद्धाधिकारीये हि स्वत इच्छादीनां विषयतानिरासाय प्रकाशस्येत्युक्तमिति वर्षमानादयः। उक्षं चन्यत्रापि तार्किकैः 'याचितमण्डनन्यायेन विषयत्वमिच्छादे ' रिति ॥

[^129]वैषम्याव् । ज्ञानस्य समानतेवेडिि इच्छादावेव सविषयत्वप्रतीतिने तु सुखादौ वस्तुस्ताभाव्यात्, त्वयाप्यस्यैवार्थस्य वक्तन्य. ख्वात्। अन्यथा ₹फटिके जपाक़ुसुमसत्विधानाल्द्यौहित्यवलोष्टेडप्यापद्येत। अथ धरें तात्पर्यस्यानध्यासात्तात्पर्यसम्बन्धो न स्यात्, न; तात्पर्यं है तत्रतीत्युद्देइयकत्वम्, प्रतीतेश्र क्ञेयान्तरेणेव धर्मेणापि सम्बन्धोडध्यास एव, प्रतीतिद्वारा च धर्मतात्पर्ययोः सम्बन्ध इत्यनुपपत्त्यभावात्। न च-ज्ञानस्य

वस्तुतन्तु पयोजकव्वमनिवेशय स्वसम्बन्धिघटत्वावच्छिन्नादिविषयत्व निल्येच्छादिसाघारणं सम्भवतीचछछदोर्विषयेण सम्बन्षः। गथा हि संयोगत्वादिना रूपेण संयोगादि: ₹वसमवेत एव द्रव्यादे: सम्बन्धो न तु कालिकादिना ₹वप्यत्यन्नोडपी स्वासमवेतः ${ }^{1}$, न वा -समवायेन प्रत्यासन्नोडापं विभागादिः, तथा स्वसंम्बन्छिघटांघवच्छिबादिविषयत्वं तच्छालिज्ञानजन्येच्छादेरेव सम्बन्ध इति नातिपसॠः, न वा पयोजकत्वादिनिवेशभयुक्तोक्तदोषः। ₹्वसम्बन्धि्वं च स्ससमानकालीनत्वं विषयत्वे स्वप्यासन्नतालभाय बचच्येंब। अतएवं ‘किश्चिदेव विषयत्वं कस्पचिदिच्छादे: सम्बन्धः किं सर्वेच्छादिसाप्षारणानुगतसम्ब्नच्धतावच्छेदकानुरूपणेने ' ‘्युक्तरिरोमणिवाक्योत्तरमाशक्तितमिति ध्येयम् ॥

आपघ्घेतेति। अनुभूयेतेतर्यर्थ। लौहिल्यामित्यादिः। लोट्टे लौहित्याननुभवात्तनिष्धः स्वश्रयंसोगो न बौहितसस्य सम्बन्ध इति त्वया वाच्यं चेत्, तहिं मन्मतेऽपीचच्छादेरोबोक्तः सम्ब:घो न सुखादेरननुभवात्। यन्मते सफटिके लौहिल्यभ्रमसत्मतेडपी लोंट्टे तदनुुभवाद्यथा न तस्सामग्री कल्व्यते तथा सुखादौ सविपयक्वव्वनहारा-

प्रकाशात्वेन प्रदीपसाक्येऽप्यान्तरत्वेन तंद्वैलक्षण्यमङ्भीकर्तव्यम्, अत इच्छादिवद्विप्रक्टष्टेनापि सम्बन्धः स्यात्, अन्यथा पदीपबदेवाध्यासिकसम्बन्धोऽपि न स्गात्, परोक्षतृत्तौ विप्रकृष्टसम्ब-न्धदर्ईानाचेति-वाच्यम् ; देशाकालविप्रकषर्षमावस्य सम्बन्धसामान्यप्रयोजकत्वे सम्मवत्यान्तरर्रतियोगिकसम्बन्धभिब्मसम्बन्ध एवास्य प्रयोजकत्वमिति कल्पनाबीजाभावात्। इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्सम्बन्धः, किंतु ज्ञानद्वारकः परम्परासम्बन्ध एवेत्युक्तम् । परोक्षस्थले तु यद्यप्यधिष्ठानचैतन्येन साक्षादेव सम्बन्धः ; तथाप् विषयाकारवृत्त्या साक्षात्सम्बन्धाभावात् वृन्यवच्छिम्नचैतन्येन विषयस्य परम्परासम्बन्ध एव। ननु-
भावात्तावृदाव्यवहारसामग्री न कल्प्यते। तथाच सुखादौ ताद्दाज्ञानजन्यतासत्वेऽपि न तस्याः सविषयकत्वपदार्थता कल्प्यते। ताहृशाजन्यताश्रयः सुखमिति व्यवहारस्त्विष्ट इति भावः। यदि च ज्ञानस्येवेच्छादेरपि स्वत एव विषयत्वमिति परस्याय्यह, तथापि न नः क्षतिः; ध्वंसादेरिव तस्यापि ताद्टरासम्बन्धस्य सत्यत्वाभावाच्तद्धप्टन्तन ज्ञानसम्बन्धसत्यंव्वस्य चक्तुमशाक्यत्वादिति ध्येयम्। साक्षादेवेति। एतेनयत्र चैंतन्य विषयोऽध्यस्तस्तदेव वृत्त्यवचिच्छन्नं सत् ज्ञानामिति ज्ञानस्य विषयेऽध्यास एव सम्बन्ध इति नियमो न च्याहत इति वक्ष्यमाणं सूचितम्। वृच्या साक्षादित्यादि । पत्यक्षवृत्त्या विषयस्यावच्छेदकतारूपसाक्षा।्सम्बन्धात् तदवचिछन्नचैतन्यन्यापि साक्षात्सम्बन्बः। परोक्षवृत्या तद्भावात्तदवाच्छिन्नचैतन्यक्यापि न स इति स्वावच्छेदकवृत्त्याकाररूपपरम्परासम्बन्ध पव वाच्य इति भावः ॥

न च वृत्तिविषयतादात्म्यापन्नचैतन्यमेव ज्ञानमस्तु, तथा च तस्याधिष्ठानत्वाद्विषये साक्षास्सम्बन्ध एव लुम्यत इति-वाच्यम्;

तवापि मते क्ञेयस्य न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः; .. अनध्यस्तस्य तुच्छस्य पश्रमप्रकारत्वपक्षे अविद्यानिवृत्ते: भावाद्वैतपक्षे अभावस्य द्यूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासात्, अपरोक्षैकरसे बह्नसप्यध्यस्तस्य व्यावहारिकस्यातितादेन्नित्यातीन्द्रियस्य च परोक्षातुभवरूपे स्ज्ञानेऽनध्यासात्, स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे स्वज्ञानेड्नध्यासात, . प्रातिभासिकस्य च प्रातिभासिके ₹चझानेडनध्यासात, त्वन्मते अ्रमरूपज्ञानस्यापि कल्पितत्वादिति-चेत्, मैवम्; तुच्छस्याझेयत्वेन ज्ञाने अध्यासाभावात्, क्ञेयस्य हि तथा सति पुरुषन्तरीयवृत्तिमादायापि घटे निर्वृंत्तिकपुरुषस्य अहं घटं जानामीति ठ्यवहारापतेः । स्वतादात्म्याश्रयविषयकवृतिसम्बन्धेन ज्ञानस्योक्तव्यवहारविषयत्वे परम्परासम्बन्धद्वयनिवेशे गौरवात्। चैतन्ये. नाविशोषिता विशोषिता वा $1^{1}$ बृतिस्तु न ज्ञानमननुगतत्वादित्युक्तम् । ज्ञानविषययोरध्याससम्बन्धानुरोधादुक्तण्यवहोरे परम्परासम्बन्घद्वययानमपि युक्तम् । इच्छाद्दिकारणतादिकं तु घटाद्याकारवृत्तर्घटाद्यवच्छिन्नस्याज्ञानाभावस्य वेति नोत्तसम्बन्धद्वयप्रवेरो गौरवमिति तु विभावनीयम्। न चैवम् —कालिकसम्बन्धेन वृतिनिष्ठचैतन्यमेव ज्ञाधन्तुवच्यमस्तु लाघवादिति वाच्यम्, येन हि घटाद्याकारवृतिर्न ज्ञायते तेन घटो ज्ञात इति पुरुषानन्तर्भावेनापि न ठ्यवह्यियते। यदि त्वसत्वापादकाज्ञानविषयतानवच्छेदकतादास्यापन्नं चैतन्यं ज्ञानं, यस्य प्रमातुर्धटादिवृत्तिन्न जाता तत्र्भातरिर्र ${ }^{2}$ ताद्धाविशिष्टचैतन्यं नाम्ति, उक्तानवच्छेदकत्वरूपविशोषणाभावादित्युच्यते ; तदा प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्याध्यासरूपः साक्षादेव ज्ञानस्य सम्बन्ध इति घयेयम् ॥

ज्ञेयस्य हीति। ज्ञेयत्वं चैतन्यरूपज्ञानतादात्ययोग्यत्वं सद-

- 1 चैतन्येनाविरोषता वा.-क. ग. ${ }^{2}$ प्रमानुरेताहशा-ग.

क्ञानेऽघ्यासः, तुच्छस्य तु न क्षेयतेत्यग्रे वक्ष्यते। पंश्रम्रकाराविद्यानिवृत्तेरपि.प्रतियोग्यधिकरणे छन्वंसस्यापि' तत्र वृत्तेरवइयन्मावादध्यास एव सम्बन्धः । वस्तुतस्तु अविद्यानिवृत्तेः पश्रमप्रकारत्वं च भ।वाद्वैतं चानभ्युपगमपराहतम्। यथा चाविद्यानिषृत्तेर्जद्मरूपत्वं सर्वाद्वैतं च तथेपरिष्टाद्वक्ष्यते। अपरोक्षैकरसे ब्रक्षण्यध्यस्तस्यातीतादेरनुमित्यादिरूपज्ञाने अनध्यासेऽपि यस्मि-汮तन्ये तद्ध्यस्तं तदेव चैतन्यमनुमित्यादिरूपवृन्यवच्छिन्ममिति सद्विलक्ष्षणत्वम्। प्रतियोग्यधिकरण इति। सतीति शेषः। तत्रप्रतियोग्यधिकरणे। कपालनाशजन्यघटादिनारो व्यभिचारात्सत्यन्तम्। अध्यास एवेति। न च विशेषणतारूयसम्बन्धेन धंसैस्र्वतन्ये वर्तते न तादास्म्येनेति-वाच्यम्; भट्टमते ह्यभावस्य तादास्म्यमेवाधिकरणे सम्बन्ष इति कुसुमान्ञलिवाक्ये ज्ञापितं मिथ्यात्वानुमान इत्यस्मन्मतेऽपि तथा स्वीकारात्, दृक्तादात्म्यं विना स्फुरत्यविद्यावृत्तिरिति ${ }^{2}$ उ्यवहारासम्भवाच्च। अविद्याध्वंसस्य तादाल्म्यरूपाध्यास एव चैतन्ये सम्बन्ष इति भावः। वस्तुतस्तु अविद्याध्वंसः स्वरूपेण पश्चमप्रकारोऽनघ्यस्तोऽपि ज्ञानाविषयत्वान्न ज्ञेयः, तथा भावाद्वैतमते प्रपश्चाभावोऽपि स्वरूपेण चैतन्येऽनध्यस्तोऽापि न ज्ञेयः, कार्यत्वाद्देशसम्बन्धाच तुच्छविलक्षणः। अविद्यानिवृत्तित्वप्रपश्चाभावत्वादिमिध्याघटितरूपेण त्वविध्याद्शायामविद्याध्वंसादयो ज्ञेया अध्यस्ताश्वं। अथ ₹वरूपेण ज्ञेयत्वं विना व्यवहार्य न स्यादिति--चैन्न ; चैतन्यसम्बन्धरूपज्ञेयत्वं विनाभी तदाकारवृत्तिमात्रेण तुच्छवद्वयवहारोपपत्तेः ॥

तदेवेति। ब्रह्मणि घटादिविषयाणां वृत्तेश्चाध्यासाद्धटाद्यधिप्ठानस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वं, जीवचैतन्यस्य जगदुपादानत्वपक्षेडप्येवम् । 1 घंसस्येव. 2 नितृत्तिरिति-क. ख. ग.

नाध्यासानुपपात्तःः। अतिग्रसस्वपरिहारार्थ चैतन्पस्य विषयसम्बन्धे वृच्युपरागापेक्षायामपि नाधिष्ठानत्वेन तदपेक्षा। एवमेव नित्यपरोक्षस्थले स्मृतिस्थेल्रजपि प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिक्यां वृत्तावनध्यासे sप्यघिष्टानविषयकवृत्य भिव्यक्तचैतन्य एवाध्यास इति न काप्यनुपपत्तिः । न च-रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्षचैतन्येऽध्यस्तम्, भास्यते च अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनेति विषयिणि ज्ञाने विषयस्पाष्यासः कथमिति-वाच्यम् ; एकाव-

तथाच यत्र विषयोड्य्यस्त्तस्य ज्ञानत्वनियमो न तु ज्ञानव्वोपहितस्य विषया(धिष्ठानत्वनियमः ; प्र्यक्ष्श्येे(Sî) तदभावाव्। यद्यापि जीवस्यैवन्तः:करणतद्दरोपपादानत्वं अह्मणस्तु घटायुपादानल्वमिति पक्षे बद्षणो (' $\begin{gathered}\text { वृत्तितादात्म्यरूपावच्छिन्वन्वाभावात्। परोक्षभ्रमविषयीभूत- }\end{gathered}$ रजतादुपादानग्रुक्साघ्यवच्छिन्नैतन त्ये ताद्धशरजतादिविषयकाविद्या)वृत्तितादास्यरूपाविच्छनत्नवस्याभावाव् । तद्धावे साक्षिसम्बन्बेन ताहशरजतादेपपरोक्षल्क्रापातान्वोक्तोडाषे नियम:, तथापि यन्र विषयोडध्यस्तस्तस्य वृत्य्यवच्छिन्नचैतन्यामेदनियमो न ं्याहतः, व्रहणो वृत्तितादा-
 णामबृत्तितादाल्यवजीवाभिन्नल्वात्)। वृतिविषयतादात्म्यवचैचन्यस्यासत्वापादकाज्रानानवच्छेदकविषयतादात्य्यवचैतन्यस्य वा ज्ञानरूपल्वे त्वषिष्ठानस्य ज्ञानत्वनियमे नानुपातिः। प्रमातरि तस्सम्बन्षन्ठ यथासम्मवं वाच्य इति दिक् ।।

अतिप्रसफ़्भेति। वृत्य्यावकालेडपि घटं जानामीति क्यवहाराधापतीत्यर्थः । चैतन्यस्य वृत्तात्यन्र सम्बन्धः। विषयसम्बन्ध

12 अय दुण्छलितः पाठः ख पुस्तके न दुयते.

# च्छिष एवापरावच्छेदेन निरपेक्षोपाधेरिवात्र मेदकत्वाभावात्। 

 अतएवाभियुक्तैः फलैक्यादैक्यं ज्ञानस्योच्यते। नच-रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वे रूप्यज्ञानस्याज्ञाने भ्रमोत्पत्तिः तज्ञानेन तबिबृत्तिरिति च स्यात्, अधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासस्य जन्मनियृत्योर्नियतत्वात्, ज्ञानं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाचेति-इति। ज्ञानविषयसम्बन्धक्यवहारादावित्यर्थः। निरेक्षोपाधेरिवेति। तावेवोप|धी स्वोपहितभिन्नौ यावन्योन्य्यनैरपेक्ष्येण ₹्वेपहितमुपधत्त इति वृद्धोक्तेर्मिलितोपाध्योर्नात्यन्तभेदकत्वम्, मठावच्छिन्नं नभस्तद्बात्तिघटाध्चच्छिन्नमित्यभेदस्यािि प्रतीतेः। न चैवमत्यन्ताभेद् ः स्ग्रादितिवाच्यम् ; औपाधिकमेदक्य दुर्वारत्वात्। अतएव अविरुद्धविशेषणद्धयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टरूपयोः।
घटते न यदैकत। तदा सुतरां तद्विपरीतरूपयोः :i
इति संक्षेपशारीरकम् । किंच मिळितयों 'घटाबच्छिन्नं नभ: पटावच्छिन्नमित्यभेदाप्रतातेः। तथा चाधिष्ठानस्य ज्ञानात्यन्तभेदाभावनियमो न व्याहत इति भावः। अभियुत्तै:-पश्चपादीविवरणकारादिभिः। फलैक्यादिति। अभियुक्तरु ${ }^{2}$ पफलत्वाश्रयस्य चैतन्यस्यैकत्वादेकतापनाभ्यां शुक्तयादिरजतादिम्यामवच्छिन्नत्वादित्यर्थः। ज्ञानस्येति । शुर्तीदमंशरजताद्याकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरित्यर्थः। उच्यत इति। उपचर्यत इत्यर्थः। तथाच विषययोरेकचैतन्यावच्छेद कत्वरूपान्मिलना ${ }^{3}$ त्पत्यक्षतज्ञानयोरपि मिळिते ${ }^{4}$ वृत्त्युपाधिकत्वेनात्यन्तभेदाभावादैक्यमत्यन्ताभिन्नत्वमुपचर्यत इति भावः। उक्तं हि पझ्चपा|द्यां "एकमेव" ${ }^{5}$ ज्ञानमेकमेव फल ${ }^{6}$ मि" ति तद्याख्यातं च विवगणे "विषयावच्छिन्नं फलं
${ }^{1}$ किंत्वमिलितयोः-क.ख.ग. ${ }^{2}$ अभिव्यक्नल-क.ग. अभिव्यक्त-ख. 3 मेलनात्-ग. ${ }^{4}$ मिलित-ग. ${ }^{5}$ एकवेदज्ञान-ग. ${ }^{6}$ एकफर-क.गं.

वाच्यम्; रजताकारवृत्यवांच्छनन्नचतन्यस्य रजतभ्रमांधेष्ठानत्वान• म्युपगमात्, इदमंशावच्छिन्नचैतन्यमेव तु रजतभ्रमाधिष्ठानम्, तच्च दैवाद्रजताकारवृच्यवच्छिन्नचैतन्यमपि, नैतावता भ्रमाधिष्षानत्वे तदपपक्षा। तस्य च अ्रमविरोधिश्रुक्तित्वाद्याकारणाज्ञानं अ्रमकारणम्। तेनांकारेण ज्ञानं भ्रमनिवर्तकम्। अतएव न ज्ञांन रजतमिति भ्रमाकारापत्तिः; वृत्यवच्छिन्नस्यैन्न ज्ञानत्वात्तस्य चाधिष्ठानत्वाभावात् । अधिष्ठानतादात्म्येन चारोप्यप्रतीतिरितीदं रजतमित्येव अ्रमाकारः । ननु—घटादेः स्वसनन्निक्टष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात्पूर्व सत्वेन तत्राध्यासो न युक्तः। न च—या घटेन्द्रियसन्निकर्षजा वृत्तिस्तया घटो न प्रकाइयः। येन च प्रकाइयो घटाधिष्ठानचैतन्येन न तत्सन्निकर्षजमिति-वाच्यम्; वृत्यतिरिक्ताने मानाभावात् । अज्ञाननिवृत्तेरपि तत एव भावादिति-- चेन्न ; वृत्युद्यात्रागज्ञातार्थसिद्धचर्थ वृत्यतिरिक्तज्ञानस्यावइयमभ्युपेयत्वात्। अन्यथा तस्य साधकाभावेन शाराशृङ्गतुल्यतया 'समिकर्षतजन्यज्ञानहेतुत्वेन प्राक् सत्चकल्पना
विषयश्न सत्यमिथ्यावस्तुनेरन्योन्यात्मकतँयकतामापन्नः, तैंनैक्रविषयावच्छिन्नफलैकत्वोपाधौ सत्यमिश्याज्ञानद्वयमव्येकमित्युपचर्यते इति । तथाच सापेक्षेपाध्योरत्यन्तभेदकत्वे, नेदं युज्यत इति भावः। इदमंशेति। इदमंशो विशेष: श्रुक्तित्वाद्दीत्यर्थः। अधिष्ठानतादात्म्येनेति। आधारतादाल्येनेनेत्यर्थः। अ्रमे' भासमानोऽधिष्ठानस्य सामान्यांश आधारो विशेषांशोऽघिष्ठानमिति स्थितेर्वक्ष्यमाणत्वान् । कारणाप्रवृत्तेरिति। अज्ञातो घट इत्याकारा न प्रमाणवृत्तिः सम्मवति, प्रमाणवृत्तेरज्ञानविरोधित्वात्तूरहणासम्भवात्। स्वभिन्नकालीनाज्ञाततगा घटादिविषयिण्या

निष्प्रामाणिकी स्यात् । तस्माद्याद्छास्य घटादेरिन्द्रियसन्रिकर्षाभयत्वेन ज्ञानकारणत्वं ताह्छास्य साधकं किश्चिन्मानमवरयमम्युपेयम्। अन्यथाड्न्वयव्यतिरेकयोरग्रहेण कार्यकारणभावाग्रहात् सर्वमानमेयादिव्यवस्थोच्छिघेत। तच मानं न बृच्चिरूपम् ; तदानीं वृत्तिकारणाप्रवृतेतरिति तद्विलक्षणं नित्यं स्वप्रकाइमेकमेव लाघवात्, वृत्तिगतोत्पत्तिविनाशजडत्वादि मिस्तद्संस्पर्शात्। तदेव च नानाविधोपाधिसम्बन्धान्नानाविधन्यकस्तस्याः सम्मेवऽपि स्वसमानकाली़ीनाज्ञाततया घटाद्दिप्यक्षमिदानीं घटं न जानामील्याकारकम्, तदुत्तरं ताद्राघटादिकारणताज्ञानादिरूपं तट्फलं च नापलवितुं शक्यमनुभविकत्वात्। किस्चाज्ञान' कालीनघटज्ञानं विना तादृघघटेन्द्रियसंयोगानुकूलेन्द्रिव्यापारादौौ तक्कारीनपवृत्यसम्भवः । नच-स्मरणंसशयाबपमाणवृत्या तत्सम्भव इति-वाच्यम्, अज्ञातत्वांश़े तदसम्मवेनाज्ञातषटसंयोगानुकूळुणापारे पवृत्यसम्भवाप् । पूर्वननु. भूते स्मरणासम्मवान:ंशयवृत्त्या संशयस्यैनैचित्यावर्जितत्बेनोक्तसंयोगरूपेष्टसाघनत्वे निश्षयासम्भवात्। निल्यं स्वप्रकाइामेकमिति। तस्य तादगज्ञानरूपप्वाभावे जानामीति व्य习हारस्यैकविषयकवंवं न स्यात्। सम्भवत्येकविषयत्वे ${ }^{2}$ चैकजातीयविषयकत्वं न युक्तमिल्यायुक्तम्। घटादेवृत्तेश्र जडत्वेन ज्ञानान्तरे तत्रकाइके वाच्ये तस्यात्मान्यत्वे मानाभावः। आत्मस्वर्वपल्ले चैकब्यक्तिरेव सर्वपुरुषसाधारणी निल्या, तस्याः ज्ञानान्तरविषयत्वे च कदाचिद्देहादि स्फुरति न वेल्यादिसंशयः स्यात्, अतः स्वशकाशा। अन्यथा कैवल्यस्य भासमानता न स्यादिति भावः । नानाविधिति। ब्रझ्षणो ज्ञानादिगुणकत्वं परेणाव्युच्यते। तत्र ज्ञानादे-

मिन्वत्वे ज्रममिन्वे जीवमिन्ने च मानाभावादुपाधिमेदादेव

$$
1 \text { अज्ञात-ग. } 2 \text { विषयकत्वे-ग. }
$$

हारभाक् भवति नभ इव घटमणिमाह्धिकाहुपापाषिमेदेन ; तचाज्ञानसाधकत्वाप् स्रूपतो नाज्ञाननिवर्तकम् 'वृत्युपरक्तं त्वज्ञाननिवर्तकमिति न वृत्तेरतुपयोगः। तथाच

नानाविधजीवेक्षरव्वादिठ्यवहारसम्मवाद्टृत्य्यन्यज्ञानं दुर्वारमिति भावः। वृत्तुपरक्तमिति। निवर्तकवृत्तुपर्तत्वान्निवर्तकत्वेन व्यवह्दियते, न तु वृत्तुपस्केन निवर्तकता, स्षषं चेदमावरणभक्रश्र वृत्येति पूर्वपन्ये। न वृत्तेरनुपयोग इति। तथा चाज्ञाननिवृत्यादर्धर्येव वृत्त्यसकीकास्युखादौ बृत्यनकीकरेणासत्वापादकाज्ञानाभावविशिष्टचैतन्यमेव तत्र ज्ञानमिति, घटादाबपि तदेव ज्ञानम्। न च-छुखादौ वृत्ययावे वृत्विसूक्ष्मपरिणामरूपसंक्कारो न स्यादिति-वाच्यम् ; सुखाद्युपहितचैतन्यस्पैव नाशस्य संस्कारत्वसम्भवात्, संस्काररूपमनःपरिणामविशेषस्थावरयकव्वेऽापे वृत्तिज्ञानानाव३यकल्वाच्च। पल्खानाज्ञानानक्रीवारपक्षे तूक्ताज्ञानविषयताबच्छेदकत्वस्य वृत्त्यभावविशिप्षस्याभावविशिष्ट चैतन्यमेव ज्ञानम् प्रतियोग्यनघिकरणकालोड्यन्ताभाव इव घटादिरेव मूलाज्ञानविषयत्वे ${ }^{1}$ कादाचिक्कोडप्यवच्छेदकोऽर्ञीकियते, घटं न जानामीति प्रतीतेर्न सुखादिरिति बृतिविषयघटादौ विशेषणस्य सुखादौ विशेष्यस्स्याभावादुक्ताभाव इति न तसक्षेडवि वृत्त्येक्षा सुखादिज्ञारार्थमिति भावः। न च-घटो जानातील्यादिप्पयोगापतिरिति-बाच्चम्ं ; जीवेश्राघन्यंत्तरल्वस्य जानातीत्यादिपयोगोपाधित्वार्त् ॥

वस्तुतस्तु यदवच्छिन्नविषयकत्वयद्विषयकत्वान्यतखवतोडसत्वापादकाज्ञानस्पानवच्छेदकं यन्मनोऽविधान्यतरत्तदवच्छन्नचैनन्यं तदीयं ज्ञानम् । श्रावाच्छिन्नविषयकस्य व्रझान्यविषयकस्य चाज्ञानस्यापसिद्यल्वातयोरैकैकमनिवेइयान्यतरन्निवेशितम् । मनोमात्रे निवेशिते ईशो

$$
1 \text { विषये-ग. } 2 \text { ज़ीवेश्वरान्य. }
$$

जानातीति न स्यात्, अविद्यामात्रे च निवेशिते जीवो जानातीति न स्मात् , अतस्तदन्यतरन्निबेशितम्। यदवच्छिन्नविषयकव्वयद्विषयकल्वान्यतखवतोऽज्ञानस्यानिरूपकं यन्मनोऽविध्यान्यतरतव़्वच्छिन्नं चैतन्यं तस्साक्षात्कारः । उक्षणद्ववेडपि प्रथमयय्पदाम्यां चरमतसददार्य्य्य विषयन्य अहृणम् । घटादौ वृत्त्यावकाले तदवच्छिन्नचिद्विषयकमसत्वापादकमज्ञानं मनोऽवच्छिन्नचिदाश्रितमिति तदा न तस्य ज्ञानम्। तत्र प्रत्यक्षवृत्यमावकाले तदवच्छिन्नविषयकमभानापादकमज्ञानं मनोनिखूपितमिति तदा न तम्य साक्षाटकारः। पल्लबाज्ञानाए्वीकारे स्वपरिणामवृत्तिज्ञानाविषयस्वसमानाधिकरणस्य स्वतादास्म्यददज्ञानावच्छेदकववस्याभाववत् यत्तस्सम्बन्धिनावच्छिन्न चैतन्यं तस्य ज्ञानम्। सम्बन्षिशब्देन यदूाब्बं तदेव स्वपदाम्यां भाक्मम्। तच्च जीवज्ञानस्थले मनः, ईशज्ञानस्थ्ये त्वविद्या। वृतिज्ञान ${ }^{1}$ विषयव्वस्यले वृत्युनवच्छेदकल्वं निवेश्य साक्षात्कारो रिर्वाच्च:। इन्द्रियकरणकवृत्तिरेव विषयावच्छिन्नेति परोक्षवृत्तिमादाय न रक्षणणसमन्वयः। अज्ञानावच्छेदकत्वं चाज्ञानविषयत्वतदवच्छेदकल्वान्यतरवत्र्वम् । तेन श्र्मण्यत्ञानावच्छेदफल्वाभावेडपी
 त्वमतेडपि शाब्दवृत्यवच्छेशकक्वस्यापि ज्रक्षणि पूर्वमुक्तव्वात्तदनली़ीकरोरेव्युक्तान्यतररूपविरोष्याभावसत्वाच नह्स साक्षाकरोमीम्यादौन नानुपपत्तिः। एकमनोवृत्र्यविषयस्यापि मनोन्तरवृत्तिविषयत्वेन वृत्य्यविषयत्वा-
 सम्पत्तै स्वतादाम्म्यदिति। न च—उद्वच्छिन्नचितो ज्ञानत्वं साक्षाक्कारलं चोक्तम्, तस्यैंब तनुच्यतामिति -वाच्चम् ; यथाहि आकारां मेयं, घटाकाशं मेयं, पटाकाईं मेये, इल्यादावनुगताकाशव्याक्तिविषयक-

[^130]सर्वाज्ञानसाधके साक्षिचैतन्ये तास्मिन्घटादेरध्यास इति काडनुपपत्ति:? तदुक्तं सुरेश्वराचाैैंः-

सर्वतीर्थद्धशां सिद्यिः स्वामिप्रेतस्य वस्तुनः।
यदम्युपगमदेव, तत्सिद्विर्चार्यते कुतः ॥ सर्वतार्थट्हां तावत्सामान्यं मानलक्षणम् । अज्ञतार्थावगमनं त्वदुक्ते तन्न युज्यते ॥ स्वतास्सिद्धोऽथनासिद्धो देहादिस्ते भवन् भवेत्। प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभगत्रापि लम्यते।। प्रमाणन्यन्त्रेणापि देहादिंश्रेप्रासिध्यति। चद प्रमाणैः को न्वर्थो न हि सिद्धूस्य साधनम् ॥ स्वतोऽसिद्दे प्रमेये तु नासतो व्यझिका प्रमा। नाभिव्यनक्ति संविता शशाषृळ्भं स्फुर्नपि ॥ इति॥

त्वम्, तथा 干फफुरणं ज्ञानं, घटम्य स्फुरणं ज्ञानं, पटस्फुरणं ज्ञानमिल्यादावप्येकम्या एव फुररणज़्ञनव्यक्तर्शिपयत्वमिल्यादेरुकत्कादिति दिक् ॥ सर्वांज़ानसाधक इति । यद्यव्यज्ञनाकाराविद्यावृत्विर्युपगम्यंते, तथापि सा न ज्ञानमापि तूक्तरील्या चैचतन्यमिति भावः।. ननुप्रमोपपत्त: पूर्वमपतीतमप्यज्ञातघटादिकं पश्चाद्दनुमानादिना प्रतीयमानत्वान्नासत्, अन्यथा कदाचिक्केनचिदप्रतितम्यासत्वे सर्वमसत्स्यात्; नंच—सन्निकर्षतजन्यज़ानाद्रौ हेतुतात्राहृकान्वयव्यतिरेकज्ञानमज्ञातताकालीनघटान्वयज्ञानं विना न सम्मवतीाति वाच्यम् ; ताहछज़्ञानस्यानुमिल्यादिरूप्य्याभानापादकाज़ानकाले सम्भवादत आह-नाभिव्यनकीति। शशग्वृष्धामिण्यक्तिमुद्दिएय न यतत इल्यर्थ:। तथान ${ }^{1}$ जगदमिव्यन्तिमुद्दिएय पवृतौ सवितुर्जगतनोज्ञानमिव पमेयाभिष्यक्तिमुद्दिश्य

[^131]प्रवृत्तौ प्रमातु: प्रमेयाज़ानज्ञानमावरयकम्। अन्यथा तन्निवृत्चीच्छाया असम्भवादिति भावृः ॥

यतु-परोक्षज्ञानस्घले यत्र विषयोडध्यस्तः तदेव चैतन्यमनुमित्यादिवृत्त्यवच्छिन्नमतो ज्ञान एवाध्यास इति न युक्तम् ; तावता स्वज्ञानेऽध्यासालाभादिति; तत्समाहितमेव। न हि प्रत्यक्षस्थलेऽपि ज्ञानत्वेनोपहितेऽध्यासः; तस्यानघिष्ठानत्वात्, किंतु ज्ञानत्वोपलुक्षिते। तथाच स्वज्ञानाभिन्न ${ }^{1}$ एवाध्यास इति नियमो न व्याहतः। यदपि घटादेरज्ञाततया साक्षिभास्यत्वे सदा सर्वस्य सर्व भायात्। किज्चाज्ञातताकालेडपि घटादिकं योगिना प्रमीयत इति न तदा तस्य भानासिद्धत्वेनासत्त्वमिति साक्षिज्ञानत्वं ठ्यर्थमिति, तदपि न; अज्ञाततया सर्वस्याज्ञात'भ${ }^{2}$ मनस्येप्टत्वात् । उंक्षं हि विवरणे-'ज्ञाततया अज्ञाततया च सर्व साक्षिभास्य' मिति। न चैवं-घटो भाति, अज्ञातघटो भातीत्यादिव्यवहारः स्यादिति-वाच्यम् ; यथा ह्यज्ञाते $5 प ि$ घटादावनुमितत्वादिना भातीति व्यवहारस्तथा अज्ञातत्वेन भातीति व्यवद़ार इष्ट एव । अथानुमितत्वादिना भातीत्यपलुम्यते अपलुप्यतां तर्हि सः। तथापि यथा तार्किकादिमते मानसज्ञानस्य ज्ञानादौ लौकिकविषयत्वस्य तद्विषये घटादौ तदन्यविषयत्वस्य च स्वीकारः, तथा मन्मतेऽप्यज्ञानज्ञानयोरनावृतस्याज्ञातपरोक्षज्ञानविषययोरावृतस्य साक्षितादाल्म्यस्य ₹वीकारः। तन्मते तादृशविषयताया इव मन्मते ताद्धशातादास्म्यस्य कार्यकारणभावादिग्रहपयोजकत्वस्य सम्भवः। घटो भातीति उयवहारस्य तु नापत्चिः; शुद्धघटस्य ताद्टशतादाल्यानक्रीकारान, घटं न जानामीत्याकारकानुभवकालोत्तरं तार्किकादिभिरपि घटज्ञानकार्यमत्राक्रियत एव अभावः परं तत्र विषय उच्यते। न च-त्वन्मते घटाज्ञान-

अनुकूस्तर्कनिल्पणाम

## न च-

'घटोऽ्यमित्यसौ बृत्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्वस्कानुभवतो भवेत् ।।
इति वदता बृत्तिप्रतिविम्बितस्य घटानधिष्ठानचैतन्यस्य घटानुभवत्वोक्तिविरोध इति-चच्यम् ; बृतिप्रतिविम्वितचैचन्यस्य घटाधिष्टानचैतन्येन सह भेदाभावात, चैतन्यस्यैकत्वात्। यथा चैकस्यैव चैतन्यस्य सर्वभासकत्वं तथा विस्तरेणोपपादितं 'नाभाव उपलब्ध' रित्यस्मिनघिकरणे भाष्यकृन्दिः। ननु— कालसामान्ये तथानुभवसत्वात् घटज्ञानकार्य स्यात्, नन्मते तु न तस्सामान्ये स इति न तदापतिरितित-वाच्यम् ; मन्मेडडापि सर्वमज्ञान सर्वदा नावृणेतीति स्वीकारेणाइ्ञानसम्मन्धन्य तनिर्वर्तकपमिल्यव्यवहितपूर्वमेव स्वीकारात् । 'योगिनां कारणंवान्देमहादानुपनुज्यत इस्ययों गिनं प्रत्यसत्वं ते न दुर्वर्रम्। किंच योगिनामज़ातकारणत्वाद्दिमहेडज्ञातामिव्यक्तयर्थ प्रवृत्तौ वा साक्ष्येन शरणामिति दिक् ॥

आभासस्यंति। चृत्पिप्रतिविम्वितैैतनन्मम्यूल्यर्थः। ब्रह्सानुभवतः छह्याभिन्नसाक्षिणः। अज्ञातत्वेनेव ज्ञातलेनापि सर्वस्य - साांक्ष-

' घटैकाकारधीतथा चिद्धटमेगेशावभासयंत्।
घटस्य ज्ञातता व्रह्मैचन्येयावभाए्यंतें।। इति।
भेदाभावांदोंते। अत्यन्तभदाभावांद्यलः। चतन्यस्य शुद्धनिद्युपहितचितोः। एकत्वात् तादास्म्यात्। तथाच घटादि-
 पृथब्निर्देश इति भावः। नाभाव उपलन्धेरित्यास्मिन्निति। विज्ञानम्य

- 1 योगिनां तु नार्योांगनां-स्न.ग. 2 कारणल्त्वम्य-ग.

Advaita. Vol. II

स्वभिन्नार्थप्राहकत्वे प्रत्यक्षीकृतं तदर्थम्राहकं वाच्यम्। नहि तचक्षुरादिकमिवार्थे कझ्चत्नातिशायं प्रत्यक्षतरारूपमाधत्ते, अपितु तत्रत्यक्षतैवार्थप्रत्यक्षता। तनुक्तम् 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्धद्टष्टि: प्रसिघ्यती' ति। उपलम्भा यदि प्रत्यक्षो न स्यात्तदा चक्षुरिवान्यामर्धद्धार्ट्टं जनयेत्, सा च न सम्भवत्यनवस्थानात्। किश्व ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनियमाभावे ज्ञानस्य विद्यमानस्याभावभ्रम: संशयो वा कदाचिक्स्यात् ॥।

अथ-- ज्ञानान्तरेण प्रत्यक्षीकृतं ज्ञानमर्थप्रकाशा इति वाच्यम् ; तथापि तस्य ज्ञानान्तरस्य ज्ञानान्तरेण प्रत्यक्षता, तस्यापि ज्ञानान्तरेणेत्येबमनवस्था। ${ }^{1}$ तस्मात् ₹वंनैव विषयीक्टतत्वेन प्रत्यक्षीकृतं ज्ञानमर्थग्राहकमिति बौद्धश席|यां, मैवम् ; यथा हि पक्का पाक्य ${ }^{2}$ पाकेन व्याझोति, न तु पांक पाकान्तरेण, किंतु स्वयमेव पक्ता पाकंक प्रापेतति, न वा पाक एव पक्य: ${ }^{3}$ एवं साक्षी प्रमेयं प्रमया व्यामोति, न तु प्रमां प्रमन्तरेण, किंतु स्वयमेव साक्षी प्रमां ठयामोति, नवा प्रमैव प्रमात्री। मनःपरिणामस्य हि ज्ञानयुखादे: स्वच्छत्वेन साक्षिम्रतिबिम्बच्त्तया ${ }^{4}$ मनःपरिणामान्तररूपज्ञाननैरपेक्ष्येगैवापरोक्षता। अन्यथा विद्यमानोडापि स दैवास्व्व"कारमनंवृत्त्ग्गुत्पादे कदाचिन्न प्रकाशेत सन्दिघ्येत वा, तद्वति तदमावभ्रमो वा स्यात्। नियमेन तदाकारतृत्तिकल्पनमप्यनवस्थादुष्टम्। उयथ्थ च, साक्षिणैन तत्पत्यक्षत्तस्मम्भवात्। तस्मास्वतः साक्ष्यमिठ्यक्तावक्षमस्य घटादे: स्वाकारवृत्त्यपेक्षप्रत्यक्षताकत्वेड|पि स्वतः साक्षि०्यअंकक्य मनोवृत्त्यदेनेन तथेति साक्षिणैव प्रत्यक्षता। साक्षी तु नानुमधान्तरविषयां येनानवस्था स्यात्; अपितु स्वपकाशः। तत्वं चाज्रेयत्वे सति ज्ञानत्वोपलक्षितम्वरूपत्वं, तच नित्यापऱक्षत्व्वोपलक्षित-
${ }^{1}$ तत्त्वैनैव-ख. 2 पक्तयं-क. वच्यं-ग- 3 पक्ता-ग. 4 सiध्रेप्रात-बिम्बतया-क. ${ }^{5}$ सदेव स्वा-ग.

हृयत्वान्यथाज्रपपत्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता, किं वा सत्यत्वे दृइयत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम् $1 \cdot न ा द ् य ः ; ~ त त ् स ा-~$ मग्रश्यावात्। तथा हि आक्षेप्यस्योपपादकत्वम्, प्रमाणाविरुद्वात्वम्, आक्षेपक़स्यानुपपद्यमानत्वम्, प्रमितत्वम्, चेत्यर्थापत्तिसामग्री। प्रकुते ${ }^{1}$ चाक्षेप्यसम्बन्धिनो मिथ्यात्वं नाक्षेपकस्य

स्वरूपत्वात्, तदपि नित्यमसन्द्विधध्वात्, व्यतिरेकेण घटादिर्देष्टान्तः। साक्षी ह्यन्यं सन्दिहानोऽपि न सन्दिह्यते, विपर्यम्यन्नपि न विपर्यम्यते, परोक्षतया जानानोऽपि स्फुरतीिति सर्वानुभविकम्। न चैतद्न्न्याधीनवेदनत्वे साक्षिणो घटत इति 'नाभाव उपलठठंध’ रित्य घिकरणीयभाव्यादितत्पर्यंसिद्धं समाधानम् ॥

आक्षेप्यस्येति । अर्थापत्तिकल्प्यम्येत्यर्थः। उपपादकत्वं -यद्विनाऽऽक्षेपकमनुपपन्नं तत्वम्। अक्ष्षेपकस्येति। यत्रानुपपन्नत्वधीः करणं तस्येत्यर्थः। अर्थापत्तीति। अनुपपत्तिर्धीकरणकार्थापत्तीस्यर्थः। अथवा यः संशयः ${ }^{2}$ कारणं सोऽप्याक्षेपकः। तथान्च संशयकाराणकाऽप्यर्थापत्तिः पकृते ग्राद्या। यथा हि जीविनो देवद्तम्य गृद्धासत्वं बहि: सत्वं विनानुपपन्नमिति धरुपूपाद्दकम्य बहिस्सत्वम्य द्वेवद्वंत्र्थापतौ करणम्, तथा जीविनो देवदत्त्त्य गृहासत्वज्ञानं पूर्वनिश्धितर्जीवनगुहसत्वनियमयोः संशयाहितजीवनृसंशायद्वारा करणम्, उऋानियम संशायो वा जीवनसंशायद्वारा करणम्, करणम्य संत्यापारत्वानियमात् । जीवनसंशय एव वा करणम्, दंवद्तो बहिरहतीतीय्यांपत्यन्वयन्यनिरकानुविधानस्याविशेषात् तद्रिनानुपपन्नत्वं नु तद्भमावन्यापकामावपतियोगित्वमिल्याद्याकरे विवेचितम्। पकृते तु द्वग्टृरयंयेरनन्यतरमिध्यात्रं विना सम्बन्धोडनुपपन्न इति धीः पूर्वनिश्चितयोह्टग्दरंय मम्चद्ये एव, तयेः

$$
1 \text { चक्ष्रण्यं संव. }{ }^{2} \text { यन्संशागः-क. ग. }
$$

सम्बन्धस्योपयादकम्, प्रत्युत प्रतिकूलमेव। न चाध्यस्तत्वरूपसम्बन्धस्य • न तत्प्रतिकूलम् ; तस्याद्याप्यसिद्धेरनाक्षेपकत्वात्। प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेद्माक्ष्प्यम्। नाप्येकस्य हृरत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकस्य त्यागो युक्तः। आक्षेपकं च न द्वगध्यस्तत्वम्; तस्यैव फलत आक्षेप्यत्वात्। नापि दृग्विषयत्वरूपो दृक्सम्बन्धः ; तवासिद्धे:। न दुगधीनसिद्विकत्वम्; द्वाग्विषयत्वातिरिक्य तस्यासिद्धेः। नान्त्य: ; सत्वेऽप्युक्तरीत्या सम्बन्धान्तरेणैव द्रयत्वस्योपपन्शतया अनुपपत्तेरेवाभावादिति-चेक ; अनुकूलतर्कस्यैव प्रक्रान्तत्वेनार्थापत्तिर्वेत्यादिविकल्पानवकाशात् ;

सम्बन्ध: सत्य एवेति नियमयोः संशायाहितं हृग्दईये सम्बद्धे न वेति संशयं द्वारीक्टत्य विप्रक्षहेतुकस्तयोः सत्यसम्बन्धाभावनिश्ययः ताद्धशसंशयो वा करणमुक्तान्यतरान्मिश्येत्यर्थापत्ताविति द्रष्टव्यम् ॥

प्रतिकूलमिति। सम्बन्धिमिथ्यात्वे सम्बन्धस्य मिथ्यात्वनियमात्, मिथ्यात्वस्य च तुच्छत्वरूपत्वात्सम्बन्धस्वरूपस्यं कालादिसम्बन्धिनः ${ }^{1}$ प्रतिकूलसम्घन्धैध्वमिति पराभिमानः। परमते च शुक्तिरूप्ये मिथ्यात्वसम्बन्धस्य शुक्किरुप्याभ।वस्य च सत्यस्याज्ञीकारात्तत्र मिथ्यानुयोगिकत्वस्य मिध्यापतियोंगिकव्वल्य च मिथ्यात्वासाधकत्ववंद्द्हांमसम्बन्धे मिथ्यात्वेन परेणाप्यक्जीकृते सत्यप्रतियागिकत्वस्य सत्यत्वासाधकत्ववच्च मिध्यासम्बन्धिपतियोगिकत्वसग सम्बन्धे मिथ्यात्वसाधकत्वं नेति तु बंध्यम् । मन्मतेऽपि तन्न तथा, श्रह्मस्वरूपाभावे ठ्यमिचारादिति ध्येयम्। उक्तरीत्या—इच्छादाविव ज्ञानेऽापि विषयस्य सत्य: सम्बन्ष इति रीत्या। सम्बन्धान्तरेण- ${ }^{2}$ अध्यासान्यसम्बन्धेन। आक्षेव्यं

$$
1 \text { प्रतिकूलं-ख. } 2 \text { सामान्यसम्बन्धेन-क. }
$$

उमयथाप्यदोषाच । तथाहि—सत्यत्वे दृग्टइयसम्बन्धानुपपत्तिः। मिथ्यात्वं च तदुपपादकम्, न तत्सम्बन्धग्रतिकूलम् ; मिथ्यात्वेडपि श्रुक्तिरूप्यस्येद्यंशोडध्यस्तत्वरूपसम्बन्धदर्शननेन सम्बन्धसामान्ये प्रतिकूलत्वाभावात्। आक्षेपकोऽपि द्वरिवषयत्वरूपो दृकभम्बन्ध एव, अध्यासरूपस्य दृगित्रषयत्वस्य ममापि संभ्रतिपत्तेः, तात्विकस्यैव तस्य निंषधात्। न चाध्यस्तत्वस्याद्याप्यसिद्धि: ; द्स्सम्बन्धसामान्यस्यक्षेप्कस्य प्रसक्तनिशेषनिषेधेडप्यध्यस्तत्वरूपविशोषपर्यवानेनासिद्धग्यमावात्। न हि अध्यस्तसम्बन्धत्र्शेनक्ष्पफकता, कि तु सम्नन्धत्वेन । स चाध्य-

विना आक्षेपक््य|नुपपत्तिमाह-सत्यत्न इति। दग्टद्यसत्यत्वे इत्यर्थ:। न च—यथा सम्बन्धिसत्यत्वेडापि मुखादौ दर्पणादिसम्बन्धमात्रं मिध्या
 विप्रकर्षादिना तत्सम्बन्धसंसर्गकपतीतेश्र्रमत्वसिद्धौ सम्बन्धम्येव ह₹यस्यापि मिथ्यात्वं सिध्यतीति विनिगमकागावादित्यद्वे रुक्तव्वादनध्यस्तसम्बन्धस्य त्वयानध्रीकारादध्यस्तरूपविशेषपर्यवसन्नः सम्बन्ध आक्षेपक: । तृप्पर्यवसन्नता च नाक्षेपात्वूर्वं सम्भवति; अक्षेपकस्यैव ${ }^{1}$ सर्वदृइयमिध्यात्वसाधकत्वादित्याङ़ाद्कच निषेपति-न-न चाध्यंसतत्वस्येति। सामान्यस्येति। आक्षेपकत्वावच्छदक्केन विपकृष्टयोः सम्बन्षत्वेनक्षेपकं निश्चितत्वाद्दर्माणि नासिद्धम्, अक्षेपान्पूर्वमुक्तावशेषानिश्रयेडपि तत्सम्भावन/सत्वान्न तदभावनिश्ययों येन सत्यत्ववविशेषाभाव²स्यापि निश्षयेने यावद्बिं।ाषाभावनिश्चयात्सम्नन्धयामान्याभावनिश्र्यं ज्ञूया इति समाधानाभिपायः। प्रसक्तेति सत्यत्वरुपेप्यर्थः। सम्बन्धत्वेन विभकृष्टयोः सम्बन्धत्वेन । यत्तु—मिण्याभूतम्य सम्बन्धस्यानुप-


स्तत्र्त्वम्बन्धसंभाव्रनयाप्यबाधित एवेति।न च—घटस्य ज्ञानमिति धीसिद्बसम्बन्धसामान्यस्याध्यस्तत्वं न विशेषः, न हि रूप्यस्य श्रुक्किरिति प्रतीतिरस्तीति—वाच्यम्; रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभात्रेऽपि रूप्यस्य श्रुक्तिराधिष्टानमिति प्रतीत्या अध्यस्तत्वस्य सम्बन्धविशेषत्वसिद्धेः, चैत्रस्य मैत्र इति प्रतीत्यभावेपि चैन्रस्य पिता मैत्र इति प्रतीतितत् । आक्षेप्यमत्र श्रमाणा-

पत्त्या दइयामिष्यात्वसिद्धि:, तन्यां च सत्यां मिध्याप्रतियोगिकत्वेन सम्बन्धक्य मिञ्य।त्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति, तन्न ; विप्रकृष्टसम्बन्षस्यानुपपत्तैयैव द्रइगतन्सम्बन्धयोर्मिध्यात्वसिद्धेरक्तर्वात्। प्रतीत्यभावेऽपीति। अपिनाडध्यासकाले शुक्तित्वस्यावृतत्वान्न तथा ${ }^{1}$ प्रति।तिर्ज्ञानत्वोपहितं तु न दृरयाधिप्ठानमित्यध्यासकालेऽपि ज्ञानं घटल्येति धीर्बाधकाले तु रूप्यक्य गुक्तिरिति धीर्भवत्येव। अतएव इदं रूप्यम्य स्वरूपमिद्वमे रूपग्यं च्वरूपमित्यध्यासकाले रूप्यम्य क्वरूपं शुक्तिरिति बाघकाले प्रत्रीयत इति सूचितम्। किश्चंदुं रूप्यस्याधिष्ठानं ² शुक्तिरूप्यस्याधिष्ठानामिति सार्वजनीनननुमवेन रूप्यादेर्म्रमविशव्यत्वरूपाधिष्ठानत्वस्य शुक्तयदौौ सिद्धर्वन्मन्मते विशेष्यावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य भ्रमविषयाध्याससम्बन्धस्वीकारादधिष्ठानारोप्ययोरघ्यास: सर्वत्र सम्बन्ष इत्याशयेनाह-रूप्यस्येत्यादि। एतेन-घटक्य सम्बन्धो घटғ्य संयोग इति सामान्यविशेषरूपाभ्यां पदान्तरं विनैव यथा ठयवहारो न तथा प्रकृते। न वा चैन्रस्य पिता मैत्र इत्यादौ चैन्रमैन्रयो: सम्बन्ध: षष्ठचथ्थोडपि तु जनकत्वरूपपितृपदार्थेकदे हो चैत्रम्य निरूपितत्वम्। तथा च रूप्याधिष्ठान${ }^{3}$ मित्यत्रापि भ्रमेऽधिष्ठानत्वघटके रूप्यसम्बन्धो भाति न

1 प्रतीतिश्ञानब्बो-ग. ${ }^{2}$ एवमंव सर्वन्र द्इयते ञुकांख्गयस्येति तु भवित्दुपु चिंत. उर्रुप्यस्याधिष्धन-क. ग.

विरुद्वमेव; अध्यक्षादिविरोधस्य प्रागेत परिह्ततत्वात्। आक्षेपक्षे च प्रमितत्व्वनपेक्षितमेव ; अप्रमितेनापि प्रतिबिम्नेन बिम्बाक्षेपदर्शानात्। तर्कपरतायामपि नाप्रयोजकता; सत्यत्वे संबन्धानुपपत्तर्भवदुक्तन्यायखण्डनेन प्रथमत एवोपपादितत्वात्। द्धइयत्ताभावस्यापादकमत्र सत्वमनिर्वाच्यत्वाभानो वा त्रिकालाबाध्यत्वं चा। उमयथापि न दोषः। न चानिर्वाच्यत्वाभावस्य तुच्छे परोक्षधीवेद्यतया हृइयेऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः ; कारणसामर्थ्येन तत्र तदाकारवृत्तिसमुल्धासेऽपि दक्सम्बन्धरूपस्य दृइगत्वस्य तुच्छविरोधिनस्तज्राभावात्। तुच्छाकारताया वृत्ति-
त्वधिष्ठान इत्यादि--प्रत्युक्त्त् ; पदार्थैकदेशान्वयास्वीकर्तृमते पितरीवाधिष्ठानेऽपि सम्बन्धम्य भानात्, गथाश्रुतम्यापि चैत्रक्येत्यादेरदो'षत्वाच, पद्दान्तरसत्वेऽव्यधिष्टानारोप्ययोः सम्बन्धभानाविघातान्च। अप्रमितेनापीति । येन रूपेणाक्षेपकता तेन रूपेणाप्रमितेनापीत्यर्थः।
 यत्तु-प्रतिबिम्बं नाक्षेपकम्, किंतु तद्धीः, सा च प्रमितेति रोद्ननम्,
 झास्त अक्षेपकत्वव्यवहाराच्च। तुच्छे ${ }^{4}$ चिरोधिन इति। सत्ज्नेन धीयोग्यत्वरूपस्य दृक्तादा|त्यतत्वान्यतरस्याभावरूपं तुच्छत्वं हक्तादात्व्यविरांधीति भावः। वृत्तिगतत्वेर्पीति। अपिना तुच्छाकारतापि न वृत्तिगता मानाभावात्। ।ाहि तगा तुच्छे कश्चन च्यवहारो जन्यते, तुच्छम्याव्यवहार्यंत्वात्। अह्ट्ययवाचामह्द्ययमुत्तरमिति न्यांयन तुच्छशब्द्पयोगस्यास्माभिम्तुच्छवादिनं प्रति क्रियमागत्वान्, ठ्यनहारविशेषं भति तादृरावृत्ते: सामभ्रीविशोषजन्यवृतित्वेन हृतुत्वसम्मनात्। अतएव,

[^132]गवत्वेऽपि वृत्तिसम्बन्धस्य तुच्छगतत्वाभावोपपत्तेः। नापियथा सतो जद्नणः स्वव्यवहृत्या सम्बन्धः, तथा घटादेरपि सत एव स्वक्ञानेन सम्बन्धोऽस्त्वति वाच्यम् ; दृान्ते ब्रह्वण्यध्यासस्यैन व्यहहतिसम्बन्धत्वात् $\mid$ तथा च उभयसम्बन्घिसत्वे विषयविषषयिभावन्तुपपत्तिर्नाप्रयोजकत्वादिना परिभूयते। एतेन आध्यासिकः सम्बन्धो नाम अध्यस्तसम्बन्धो' वा, अध्यस्तत्वमेढ़ वा, आघ्ये सम्बन्धन्य मिथ्यात्वेजपि सम्बन्धिनो हइयस्य छछा ईव मिथ्यात्वानुपपत्तिः। द्वितीये ज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्र अध्यासानुपपत्तिः स्वस्त्रज्ञानपरम्परायामध्यासस्त्रीकारेडनवस्था चेति-निरस्तम् ; ज्ञां हि वृच्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, तत्रावच्छेदिकाया बृत्तेर्जडाया अध्यन्तत्वेल्यवच्छेघस्य चैतन्यस्य प्रकाराूपस्य अनध्यस्तत्वेन तत्र हइयस्याध्यासाप् ह़इयमिथ्या-

सदसतोर्न सम्बन्ध इति वृद्धाः। विस्तरेण च वृत्तेस्तुच्छविषयकखं बौद्धाधिकारादौ प्यद्युक्तमुद्वयनाचार्याधैरिति सूचितम्। अथापि ताह्दावृत्ते: कालसम्नन्धात्कालविशेषावच्छेदेन तुच्छाकारतां वक्तुं शक्तया, तुच्छस्य तु कालासम्बन्धातद्वच्छेदेन तत्र वृत्विसम्बन्धो न तथा। न घहिकरणससम्बन्षपप्यचच्छेदकम्। अतएव धंसादीनां प्रतियोग्यादिषु न सम्बन्ध:, किं तु धंबादौ प्रतियोग्यादिसम्बन्ष इति परेडप्याचक्षते। नच-तुच्छनिष्वा वृतिविषयता न तत्रकालंवच्छिनेति--वाच्चम्; तस्याः सार्वदिकख्वापातादिल्याशयेनाह-वृत्तिसम्बन्धस्येति। एतेनतुच्छाकारताया वृत्तवर्नीकरे तुच्छे वृत्तिसम्बन्धोडप्यवजनीय इत्यपाहतमम । नच-वृत्तिनिष्ठाकारतानिरूंवकत्वं कालववेशेषावच्छिन्नं विना ताह्राकारतापि वृत्तौ न सम्भवतीति--वाच्यम् ; न हि निरूपकलं

त्वेडप्यनवस्थाविरहस्योपपत्तेः। अत एव शाब्दृृत्तिविषयो ब्रह्ब न चृत्तौ कल्पितमविद्याविषयो ज्रह्माविद्यायां न कल्पितं यथा, तथा दृरयं न द्वाशी कल्पितम्; तथा च दुग्हइयादेस्तात्विक एव सम्बन्घः, सामान्यसम्बन्धनैवानिप्रसझ्झ निरस्ते विशेषजिज्ञासा विशोषोक्तिश्य त्रिशोषजिज्ञासादिवद्नर्थिकैन्रेति निरस्तम्; वृष्यविद्ययोर्शब्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासात्सम्बन्धोपपत्तेः। अतस्तत्र तात्तिसम्बन्धाभावात् कथं तहृष्टान्तेन द्वग्हइययोरपि तात्विकसम्बन्ध इत्युच्यते? तथा च प्रसिद्धविशोषे बाधिते सामान्यस्यैव बाधराङ्क्या अतिग्रस़क्ञ प्राप्ते विशेषजिज्ञासाया विशोषेक्तेश्र साफल्यान्न ते निरर्थिके। एतेन- सम्बन्धस्य

नाम वस्तवन्तरं ताहद्धरमर्कीक्रियते ; अननुभवेन सम्बन्धमात्रस्य सम्बन्धा--नक्रीकारात्, अपित्वाकारमात्रं वृत्तौ तुच्छायताप्रयोंजकमनिर्व|च्यम् ।
 दिति भावः ॥

सामान्यसम्नन्धेनेति । सम्बन्धसामन्येंनत्यर्यः। इति सत्येनेत्यादिः। प्रसिद्धविशोष-सत्यसम्धन्ध । मामान्यस्य—सम्बन्धसामन्यक्य। बाधराक्येत्यादि । यदि सत्यमम्बन्ध एव विशेषस्तदाविपकृष्टयोः सम्बन्धिनोम्तद़सम्भवाल्सम्नन्धसामान्यं न स्यात् । न चन्ययो: सम्बन्धों विप्रकृष्टयोर्विशिप्टवुद्धौं भाति ; अन्यथाक्यात्यनकीकारात्, द्वग्टरयादिविशिश्टवुद्धे: प्रमात्वेनान्यथाए्यात्यसम्भचाच्च सम्बन्धविषयक ${ }^{1}$ एव विप्रकृष्टयोर्विशिष्टचंध इति म्वीकारे च सन्निकृष्टयोरपि स तथा स्यादित्यतिप्रस末ः। अथवा विंशाषम्ग बांधडपि² यदि सम्बन्षसामनन्यं स्यात्तदा घटादिसामनन्यन्तरमपि तथा स्यादित्यिति-
${ }^{1}$ सम्बन्धाविषयक-क. ग. 2 विडोषस्गाबांधर्डाँ-ख. ग.

प्रामाणिकत्वे गथाकथंचन लक्षणं मविष्यति । तथाहि-संयोगसमवायान्तर्भावे तह्डक्षणमेत्र लक्ष्षण भविष्यति, तदनन्तर्भावे तु तदुमयमिन्नसम्नन्धत्त्रमेव लक्ष्नणमस्त्त्वति-निरस्तम् ; उक्तयुक्तया प्रामाणिकम्चन्धह्य संयोगसमवायन्तर्भावस्ग च दूपितत्वात्। तदुभयनहिर्भूतसम्बन्धत्वं तु व्यमपि न निराकुर्मः, किंतु तस्य प्रामाणिकत्वम् | किश्व दुग्टइययोर्न तातिवकसम्बन्धः ; सम्ब्रत्धिभिन्नत्तेडनचस्थानात्। न च-दृइयत्तन्तरहीनस्य दृइयत्वादेरिन सम्बन्धस्यापि स्तनिर्वहहकत्नं क्रचित् भत्रिष्यतीतिवाच्यम्; दइयत्वमति हकसम्नन्ध एव। तस्य च स्वनिर्वाहकत्वं न मायिक्तं विनेति नास्माकं प्रतिकूल्यम्गधायि देवानांप्रियेण; अभिन्नत्रे सम्बन्धत्त्रायोगात्। न चैचनमाध्यासिकसम्न्धत्वेडऽ्येतद्दोपश्रसङ゙ः ; तस्ग मागिकत्वेन मायायाश्याघटि-

प्रसङ्नः। तस्मान्द्रिशेषन्तरं मिश्ग्यसम्बन्धरूपं वाच्यम् । तच कशमुपपद्यत इति जिज्ञासा तनुपवान्दनं च न ठग्रर्थम् । सम्बन्धसामान्यस्थापनद्वारा उकातिप्रसख्ञनिरासस्य फलत्वादित्यर्थः। सम्वन्धिभिन्नत्वे इति।
 नादिति। घटतल़्रोशोः ₹वमिन्नसम्बन्धे दृक्सम्बन्धन्तरं तत्रापि तदन्तरमित्येवननवस्थानादित्यर्थ: स्ञनिर्चाहकत्रं स्वपत्रति सम्बन्धत्वम्। दइयत्डेडनुपपत्तिपरिहाराग्र तंदेव दृष्टान्तीक्रुर्वन्ं पशुरस्तीत्याह देवानामिति । नन्वन्यत्र दृक्सम्घन्षः संबन्धिम्यां मिन्नोडपि स्वस्मिन् सम्बन्धितायं न तथात्वमपेक्षत इति स्वाभाठ्यान्न मायिकत्वमित्याशाक्याह—अभिन्नत्ते इति । सम्बन्धायेगात् सम्बन्धत्वायोगात्। सं न ${ }^{2}$ ₹स्य न वा स्वस्मिन् प्रतीतेः ₹वपतियोगिकत्वस्वनुनु1 संत्रं प्रति-ख. ग. " स्वेन स्वर्य-ग. ${ }^{3}$ स्वस्मिमित्रि क, ग.

तघटनापटीयस्त्वेन सर्वानुपपत्तेर्भूपणत्वात्। न चातिप्रसङ़निराकरणार्थ दग्टर्ययोः सम्बन्धनिवर्वनं प्रकुतम्, न तु विषयत्वनिर्वचनम्, अतो विषयत्वंवण्डनमनुक्तोपालग्भनमितिवाच्यम् ; विषयत्व्वण्डनेन निरुच्यमानक्रकृत्यम्नन्धस्यैव सण्डनात् । न च-विषयित्वानिर्कावापि विपयिणः सत्यत्ववत् विषयत्वानिरुक्तावपि विषयः सत्यः स्यादिति-वाच्यम्; विषयित्वानिरुक्ताइपि विषयाध्यासेनैन्त तद्दुपप्त्या विपयिण: सत्यत्वं युक्तम्; विषयत्वानिरुकौं तु विपयक्र सत्यत्नं न युक्तम्; विपयिणोडनध्यस्तत्वेन विपयाध्यानमन्तरेणान्यस्योपपादकस्याभावात्। यत्र तु विषयिण एवाध्यांसः, नत्र विपयः सत्य एव, यथा ज्ञान'विष्यो गत्म। न चंभभाध्यामी: ; शून्ययोगिकत्वयोः स्वस्मिन्नमावान्न स्वंसम्बन्ध्वम् : अन्यथा धराद्वावपि
 सदसद्विक्षणो मायिक: सम्बन्धा दृआः *्बीर्कगनं. न नु नन्र तदन्तरमननुभवादिति भावंः। भूपणत्बादिति। उंन्न हिं म्वण्डनेन

अनवस्थादयों दोपाः सखां निभन्ति चत्तुजः।
अद्वैतिनां ते युद्ध : पपच्चे तट्पसअकाः ॥ ह़ित ॥




 भावः। अन्तोरणेति। विनिगमकाभाबाद्दिपयनत्तम्न्ध्धयार्मिं्यात्वमुप-

$$
1 \text { अज़ान. } 2 \text { स्वं प्रांन-ண. ग. }
$$

वादग्रसक्नात् । अन्यतराध्यासे च विनिगमकमनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वप्रकाशत्वज़डत्वादिकमेव। तस्माद्विषयिणो निल्यद्धझोऽनध्यासाद्विषयस्स्येवात्राध्यासः। न च—" र्रमाणजात $^{1}$ स्वविषयावरणे " त्यादियुक्तथा द्वग्निषयत्वरूपदृशयत्वस्य हेतूकरणेन च त्वयापि विषयत्वं निर्वाच्यमेवेति—वाच्यम्; तत्वतोऽनिर्वाच्यत्वेऽप्यध्यस्तत्वेन घटादिसमकक्षनिर्वाच्यत्तस्य सम्भवात् । ननु—कथं प्रमाणज्ञानविषयोगध्यस्त इति—चेत्नं ; प्रपश्नविषयकज्ञाने तत्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावादिति गृहाण। अत एव' याद्दरां विषयत्वं ते वृर्ति ग्रति चिदात्मनः।

पादकं न तु तब्सम्बन्धमात्रस्येत्यर्थः। अन्यतराध्यासे। विषयविषयिणोरन्यतराध्यंसे आवइयके। अनुवृत्तत्वे इत्यादि। यद्यवि यद्द्रमान्तरानुवृत्तं तदवइयं तदेतद्रमाधिष्ठानमेतन्द्रमेऽनारोपितामिति वा न व्या|पिः; शुक्तिरूप्याद्यवच्छिन्ने चैतन्ये अ्रमान्तरोदयेन शुक्तिरूप्यादे: स्वभ्रमानधिष्ठानत्वादिना व्यमिचारात्। नापि सर्वभ्रमानुवृत्त• त्वमनारोपितत्वे व्यातिरेकी हेतुः ; ताबतापि शुक्तयाद्यदच्छिन्नचैतन्यस्याधिष्ठानत्वासिद्धयादितादवक्ज्यात्। तथापि यद्घन्दमबाधानुवृतं तत्तद्रमाधिष्ठानमित्यादिव्या।प्तिर्बोध्या। ज्ञानस्वरूूं च सर्वञ्रमबाधे विषयतयानुवृत्तं श़ुक्किरूव्यादिभ्रमं प्रत्यपि शुक्तयचच्छिन्नसदूवेण तत्तथ। शुद्धव्नक्सरूपणापि तह्वाधनम्वरूपयोग्ये अखण्डाकारज्ञाने तत्तथा। यत्क्वपकाइं तन्न मिश्या ; तद्बाधन्य तेन भास्यत्वासम्भवात्तन्र भासकान्तरकल्पने च गौरवात्। आदिना विनाशित्वाविनाशित्वसक्ञ्रहः। यद्विनाशि तन्न सर्व्रभ्रमधिष्ठानं ; तद्विनाशो तम्याधिष्ठानत्वासम्भवादित्यादि बोध्यम्। तत्वेति—त्रिकालाबाध्येत्यर्थः। सत्ता—त्रिकालाबाध्यता।

## ताद्दशं विषयत्वं मे दइयस्यापि दृशां प्रति' 1 इति

 निरस्तम्; चिदात्मनोऽनध्यासेपि वृत्तेस्तत्राध्यस्तत्वेन तदृष्टान्तेन प्रकृतेऽट्यनध्यासस्य वक्तुमशाक्यत्वात्। स्यादेतत्-मिथ्यात्वनिर्वचनात्तत्साधनं दृयत्वादिकं निर्वक्तठ्यमेव, न हि घटाद्यसहीणाकारज्ञानं विना तद्विलक्ष्रणच्यवहारः। ${ }^{1}$ अथ निरुक्तासक्कीर्णाकारझानमात्रेण तदुपपात्तिः, तर्हि तुल्यं ममापि। इयांस्तु विश्रोष: ; यत्तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु त्वन्मतसिद्बप्रातिभासिकवैलक्षण्यसाधकमानसिद्धसत्ताकः । न हि लक्षणोकयनुक्तिम्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहानिलाभौ ; ज्नह्मप्यपि औतस्यपि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य खण्डनरीत्या अम्म्भवात्, त्वयैव-> कीट्तत्र्रत्यगिति चेत्ताद्दर्गीद्टगिति द्वधभम्।
> यत्र न प्रसरत्येतर्रत्यगित्यवधारय ॥ इति

नद्कणोऽपि दुर्निरूपत्वोक्तेश्र, प्रपश्चेडपि त्वदुक्तानिर्वाच्यत्वसमकक्षलक्षणसम्भवाच्च, 'यत्कठिनं सा पृथिन्र' त्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामपि लक्षणत्बंक्तथ्र। तस्मादनिर्वाच्यत्वं न. सत्वविरोधि। सत्वेऽव्यनुनूतत्वादेवानिर्वर्यत्वांपपत्तः। न च निर्योच्यत्वमपि सत्वप्रयोजकम् ; न, हि गुक्किरूप्यस्यापीतरमेद्साधकं रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुनचमपि सत्यम्। किश्ध

ताद्कक्-परोक्षम्। ईद्टक् अपरोक्षम्। यत्र न प्रसरति। यम्य प्रतीचो न समसत्ताकलक्षणम्, यथाश्रुते मूलुज्ञानविषयत्वतेदेलक्षणत्वसम्भवादसक्रतेः। दुर्निरुपत्वोक्ते:-अनिर्वाच्यस्येंन रक्षगम्योंक्तेः। अनिर्वर-

जह्नण आनन्द्रत्वज्ञानत्वसत्यत्वस्त्रक्रकात्त्वादि खण्डनोक्तरीत्या दुर्शचमिति अत्र तत्वतोडऽनानन्द्वाद्यात्मकं स्यात्। तस्मादिक्षुक्षीरादिमाधुर्यंगदनिर्वाच्यमपि विषयत्वं सदेवेति, अत्रोच्यतेदइगत्वादेरनिर्वचनीयत्वं किं सत्वेन, उत स्तरूपेण। नाद्यः, सत्वेनानिर्वेचनीयत्वेडपि तत्तदाभासलक्षणनालिङ्जितत्वमात्रेण हेतुत्वोपपत्तेस्तान्निर्चचनानपेक्षणात् । न द्वितीयः, तात्विकातात्विकमाधारणेन दृक्सम्बन्धित्वादिना रूंपेण दृगिगषयत्वस्य ${ }^{1}$ निर्नक्रुमशक्तत्वत् । लक्षणोकचनुक्तयोर्न सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वच्च्यत्व्तानिलाभकरत्वमिति यद्वोचः, तद्पि न; पूर्वोक््यापकानुपलिध्धिहिताया लक्षणानिरुकेरुक्तरूपानिर्त्रचनीयत्वप्रयोजकत्वत्। यत्त्रानन्द्त्वादिना घर्मेण कीद्दगित्यादिना स्गरूपेण च दुर्निरूपत्ताद्बह्नणोडप्यनिर्वचनीयत्त्रम्न इति, तन्न ; अनन्दत्वादिधर्मचत्तया दुर्निरूपत्वेऽपि दुःखश्रत्यनीकत्वाद्युपलक्षितस्वरूपस्य सत्वेन निर्वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं

## च्यत्वं सत्यम्य ऊक्षणादेदेर्निन्चंचनाभावः। खण्डनोक्ररीत्येति।।

 अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा। तत्तानि कम्मान्नु ${ }^{2}$ यथावदेव सैद्धान्तिकेडप्यध्वनि योजयध्वम् ॥ इति ॥ स्वरूपेण—सत्वान्यरुपेण । तन्निर्शचनानपेक्षणात् सत्वेन निर्वचनानपेक्षणात् । व्यापकानुपलब्धीति। सत्यत्वन्यापकाविप्रकषाद्यनुपल विधरूपविप्रकर्षान्दिग्राइकमानेत्यर्थ: । मिः्यात्वसाधकमानेति यावत् । लक्षणानिरुकेः —सत्यरक्षणननुक्तेः कीदृगित्यादिना समसत्ताकलक्षणार्मकेन। सत्त्रेन निर्वतुं शाकपत्वात्। तत्सदित्यस्यानन्दत्वसत्यत्वाद्युपलक्षितस्वरुपवमापकशब्दस्य प्रयोन्तुं शक्यत्वात् । 1 निर्वर्कुं इाक्यत्त्रात्. $\quad 2$ कस्मान्न-ग.प्रपश्चे सत्वं शक्यंयूर्वचनम्; बाधकसन्रावाव्। अतएवकठिनस्पर्शवच्चादिना ' पृथिवीत्वाद्दीनां निर्वचनमस्येव, ${ }^{2}$ सत्वेड च्युन्नूत्वादिना ${ }^{3}$ निवर्वच्यत्वोपपत्तिरिति-निरस्तम् ; न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्शाच्यन्ंन घूमः, किंतु सत्वादिना निरुक्तिविरहेण। स च प्रपश्वे बाधकादस्त्येन। नच-ज्ञाने विषयस्याध्यस्तत्वे तदज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वं तदन्गुविद्धतया प्रतीत्यभावश्यं न सम्भवतीतिवाच्यम् ; चैतन्यमात्राज्ञानजन्यव्वात्, तज्ज्राननिकर्त्यत्वाच्च घटादिप्रपश्वस्येत्युक्तव्वात्। सदिति प्रतीयमानाधिपानचैतन्यानुविद्धतया प्रतीयमानत्वमप्यक्लेत। तस्मात्सत्यत्वे दग्हइयसम्बन्धानुपपत्तिर्हैहैव।।

इत्यद्वेतसिद्री प्रपश्चमिथ्गत्वानुक्रलनर्कनिरूपणम् ॥

प्रतीत्यभागश्येति त्रंयं विषयम्य घच्यं, तचेति ऐेष:, तरज़ानकार्याध्यासविषयन्ं तंज्ञाननिवर्ल्याडध्यासविपयल्वं तदनुतिद्दूतया प्रतीत्यभावश्थंति त्रयं न सम्मनतत्यत्यर्थ: । ज्ञानम्य स्फुरणकाले विषयाध्याससत्वादाघद्वितीययोरसम्भवः । अधिछानम्ग्यातृत्वेन तदनुविद्धतगाइsरोप्याडपरतातिर्वाच्या, साापि न सम्भवति; घटं जानार्मीति

 अवि तु गुद्धनिन्मार्तं, तद्धुतिविद्धतया चापतीतिः सम्मनलेयेनेति मावः॥

ननु प्रपश्वमिध्यात्वसिद्वयनुकूखतका माहत्रो: प्र्याहुणनुमशक्ये्वेडवि. कुरैलैर्नैः भ्यसारुमान्यन्त इति चेत्, नूनं बलवतः


ताडितानां मक्कुले जनिष्यमाणा बलुवन्तस्तांस्ताडकां ${ }^{1}$ स्ताडयिष्यनीति बदतां वक्तजानां आतरो भवन्तः। नहि प्रत्याख्यानासामथ्थ्ये भवतामेवेति ज्रूम: ; किंतु सर्वेषामतो विषयस्यानिर्वाच्यत्वस्वाभाव्यम्। उक्षं हि खण्डने "न हि प्रमातृणामसामर्थ्यादनिर्वचनमपि तु विषयस्वाभान्या’दिति । यतु निर्वचनाभावेन विषयस्यानिर्वाच्यत्वकथनं न युक्तम्; नहि स एव तत्, रिंतु सदसद्विलक्षणत्वादिरूपं, अन्यथा मुखादिसंस्थानस्यानिर्वचनमात्रादनिर्वाच्यता स्यादिति, ततुच्छम् । युक्तं वि ${ }^{2}$ रुद्धत्वज्ञापनद्वारा केन रूपण निर्वचनामावेन सद्विउक्षणत्वज्ञापनात् मुखादिसंस्थानेडपि तस्य तथात्वमिष्टमेव। तदेवं रोदने न वो निस्तारः, ${ }^{3}$ किंतु चिरसश्चितपातकै: पात एवाषः । श्रूयते हि-
'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः '।।
स्मर्मते च-
योऽन्यथा सन्तमाह्मानमन्यथा प्रतिपद्यते"।
कि तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ इति ॥
तर्कै: सारस्वतै रतनैश्धन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्वान्तभजोऽयं मिध्यात्वे तर्कनिर्णयः ॥
इल्यनुक्लत्तर्कनिख्पणम् ॥
${ }^{1}$ स्वां ताडकं- ऊ. ग. ${ }^{2}$ युन्तिविह-क. ग. ${ }^{3}$ रेंदनेन न वो न निस्तार:-ग. ${ }^{4}$ पादते-ग.

## अथ पतिकमंक्षवस्थोप्वति:,

ननु—विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकंस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्षाधीनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थाया अन्गुपपत्तिरितिचेन्न ; वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येडछगयेसेन भ्रातिभासिकस्थलापेक्षया वैऊक्षण्यात् । तथा हि-अन्तःकरणं चक्षुर्वत्तेजोवयवि । तचेन्द्रियद्धारेण तत्संयुक्तं विषगं व्याप्य तदाकारं भवति । यथा नद्याद्युदकं प्रणाज्या निस्टृत्य केदाराद्याकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते। तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत्सर्त्रगतमन्तःकरणोपाधिकं सत्परिच्छिनमिति मतद्वयम् । तत्राद्ये विषयप्रकारांं जीवचैतन्यम्। द्वितीये ब्रह्नचैतन्यम् । अद्ये पक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्यानावृतमावृतं अथ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्ति:.
प्रतिकर्मण्यवस्थाया इति। कम्यचित्पुरुषस्यैव कश्चिदेव विषयो ज्ञानकर्मेति प्रतिनियतज्ञानकर्मक्यवस्थाया इस्यर्थः। चक्षुर्वद्रिति। तथाच यथा चक्षुस्तेजस्त्वात्रभाव ${ }^{1} च ् छ ी घ ं ~ स ू र ् य म ण ् ड ल ा द ि स ं य ु क ् त र ू प े ण ~$ परिणमते, तथा मनोडपीति भावः। देहान्तम्तिष्ठदेव विषयेण संयुज्यते, न तु देहाद्विभक्तम् ; यथा नद्यां तिष्ठत्तदुद्दकमन्येनापि संयुज्यन इत्याइायेनाह-यथा नदीति। सर्वगतमिति। यथा गोत्वादिजातेरुदयनाद्युंक्त सर्वगतत्वं स्वरुपसम्बन्धेन, तथा जीवस्यापि सर्वसम्बन्ध्यविद्यापतिबिम्बत्वरूपं (वा) तस्य सर्वगतत्वं अविद्याकार्यगत्र परिच्छेदाभावो वेति भावः। अनावृतमावृतं चेति। जीवस्य जगदुपादानत्वपक्षे घटादिना तादास्म्यान्मनआदेखिव घटादेरपि सर्वदा भातीति

- ${ }^{1}$ सूर्यादिप्रभाव-ग. ${ }^{2}$ कृत-क. ख्र. ग.

Advaita. Vol. II

व्यवहार्यता स्यांत्, अतो मनआद्यवच्छेदेनानावृतमपि घटाद्यवच्छेदेनावृतं जीवचैतन्यमुच्यते। तन्य जगदनुपादानत्वपक्षे तु घटादिना तादास्म्याभावात्सर्वसम्बन्ध्यविद्याप्रतिबिम्बत्वस्य ${ }^{1}$ भासकतानियामकत्वे सर्वदा तद्भानापतेवेर्ष्ष्यमाणस्य भासकतानियामकसम्बन्धस्य कादाचिक्रत्वादेव कादाचित्कभानसम्भवादनावृतमेव तदिति भावः। उपरागार्थेति। ₹वप्रतिबिम्बाधारृत्तेः संख्लेषो विषयत्वं ${ }^{2}$ चेत्युभयसूपोपरागार्येत्यर्थः। रूपाद्याकारवृत्विमात्रेण रसादेरपि भानं स्यात्, रसादावपि रूपाधाकारवृत्तिसंश्रुषसत्व्वादतो विषयत्वेति। परोक्षवृत्विमात्रेण रूपादेर्भानं स्यादतः संश्रेषेति। अविद्यामनस्तत्परिणामानां सर्वदा भानात्सार्वदिकं ₹वप्रतिबिम्बाधारत्वमेवोपरागस्तन्नियामकः। घटादौ स्वच्छत्वाभावेन तदसम्भवात्तद्धाटितोक्तोपरांगकाल एव तद्भानाच स एव तन्चियामक इति भावः ॥

ननु—मनस्त्वसुखत्वादौ न प्रतिबिम्बाधारत्वं न वा तद्वद्वृत्तिसंश्रेष इति तद्रां न स्यात्, न हि जातिगुणादे: प्रतिबिम्बोपाषितास्ति। अथ स्वपतिबिम्बवत्वादास्यतद्वत्तादास्यतद्वचादास्यादेरपि ${ }^{4}$ भासकतानियामकोपरागत्वं वाच्यम्; तथावि घर्मादेद्रद्नणशश्व भानं स्यात्, स्वप्रतिबिम्बाश्रय ${ }^{5}$ मनस्तादाल्म्यसत्वादिति-चेन्न ; मनस्तादावपि वक्ष्यमाणेन ${ }^{6}$ स्वच्छत्वस्य प्रतिबिम्बवत्वस्य च कल्पनासम्भवात्, तस्याप्यविधापरिणामत्वपयुक्तसत्वगुणान्वयान्मनआदेरिव सर्वदा भानाच, चित्पतिबिम्बयोग्यतारूपस्वच्छताकल्पनौचित्यात्, प्रतिबिम्बवचादाल्या-

1 प्रतिबिम्बवत्वस्य-क. ग. ${ }^{2}$ संस्रेषावेषयत्वं-ग. ${ }^{3}$ तोपरागकाल-ग. ${ }^{4}$ स्वप्रतिबिम्ब्बक्तादात्म्यदेरपि-ग. ${ }^{6}$ बिम्बक्षयम-क. स्वप्रतिबिम्बमन-ग. ${ }^{6}$ वक्ष्य-माणमानेन-क. ख. ग.

द्वितीये त्वावरणाभिमवार्था। परिच्छिन्त्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकारक्तद्विष्टानचैतन्याभेदाभिव्यक्तयर्था। अनावृतत्वपक्षे
धुपरागस्य भासकतानियामकस्बेडपि धर्मादौ त्रद्साणि चावरणसत्वादनावृतोक्कोपरागस्यैव त्रथात्वेनाोषाच्च । अत एव ₹वतो मनउपरक्तस्यापि घर्म्र्मादेने सर्बदा भानम् ; आवरणेन चैतन्यस्य तदाकारवाभावादिति, विवरणसिद्दान्तबिन्द्धादावुक्तम् । एवं च घरादावुपरागो घक्षाणि लावरणामिमव एव वृत्ठः प्रयोजनमिति ध्येयम् ॥

द्वितीये त्विति। तु शब्दाजीवोपरागार्थल्वक्यवच्छेद:। जीवस्योपादानले तादास्मरूपोपरागस्य सिद्धत्वादिति शेषः। अभेदाभिव्यक्तयर्येति। मनोऽनवच्छेदपयुक्तं जीवाद्देदं मनःपरिणाम: स्वा'वचेछेदादूघणि वृत्तिर्नाशयति। स्वत एव मनोवच्छिन्नस्य सुखाघ्वच्छिन्नअघसैचतन्यस्य तु सुखादिभासनाय न वृत्र्येक्षा। अह्मणो घर्मदेश्र मनोडवच्छिन्स्याप्यातृतल्वारे़व न भानम्। अतएव घ्लाणि न जीवाभेदाभिव्यक्तर्था बृत्ति:; किं त्वावरणाभिभवार्था। उत्कं च सिद्धान्त-बिन्दौ-जीवस्यं जगदुपादानत्वे आवरणाभिभवार्था। अह्लणस्तत्वे त्वावरणामिभवार्था प्रमातृचैतन्योंपरागार्था चेति। यद्यव्यंभदार्थेत्येत वकु-
 ब्यक्ति:; रूपादिमात्राकारवृत्या रसाघवच्छिन्नचैन्यस्य प्रमान्रभदससम्पताबपि मया रसो विदित इत्यादिंग्यवहाराभावात्। अतोऽमेदठव्यवहारसम्पादकृृणिविषयत्वरूपममेदाभिव्यअकं वृत्विपयोजकं ज्ञापयितुममिव्यक्तीयुक्तम्। च्युंद्ध ज्रक नोपादानं जगतः; किं ल्वविद्ययोपहित विशिष्टं बेति पक्षे तु श्युद्दन्रसणि मनस्तादास्माभावेन जीवानुपरागादेवाभानोपपत्तावप्यावरणस्य शुर्दं जक्स न जानामील्यनुभवसिद्धत्वाप् :

$$
1 \text { परिणामस्वा-क. ग. } 2 \text { ठ्यर्थत्वात्-ख. } 3 \text { प्रयोजन्न-ग. }
$$

घनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः; असझत्वत्वत्, यथा गोत्वं सर्वगतमपि सास्नादिमघ्यक्तथाऽभिव्यज्यते, न तु केसरादिमझ्यक्तया; यथा वा भ्रदीपप्रभा आकारागन्धरसादिव्यापिन्यपि ताष्न प्रकाशायन्ती रूपसंसर्गितया रूपमेव प्रकाशायति तद्बत्;

जगदुपादानाच्छुद्धव्रक्मणो ${ }^{1}$ मनस्तादास्येन जीवोपरकत्वात्रावरणावइयकत्वाच्च तदभिभवार्थत्वं वृत्तेरक्षतमिति दिक्। वृत्रैये पररज्यत इति। भासकतानियामकः सम्बन्षो वृत्त्यैवेत्यर्थः। तेन सम्बन्धन्तरस्य घटादौ सत्वेऽपि न क्षतिः। एवकारेण घटादिभिकुकोपरागो व्यवच्छिद्यते, न त्वविद्यादिनेति स्फुटयति-न तु विषयैरिति। वृर्तिं विनेति शोषः। वृतिविषयैर्वृत्विद्वारैवोपरज्यते, न तु सप्रतिबिम्बत्वादि ${ }^{2}$ सम्बन्घेनेति फलितोर्थः। असङ्ञत्वादिति। असको ह्ययं पुरुष इत्यादिश्रुत्या सक्रबोधकमानाभावेन च जीवस्य प्रपश्चसम्बन्धराहित्यादित्यर्थः। ननु— तर्बविद्याध्यनादिष्वविद्यावृत्तिमनस्तः्परिणामसुखादिषु चापि जीवस्य सक्रो न स्यात्तर्राह—यथा गोत्वमित्यादि । स्वरूपसम्बन्धेन स्वसमवायिसंयोगादिसम्बन्धेन वा सर्वगतमपि गोत्वादि सास्रादिमघ्यकावेवाभिव्यक्तं तथा स्वप्रतिबिम्बाश्रय/विद्यासम्बन्धित्वादिरूपसम्बन्धेन सर्वगतमपि जीवचैतन्यमविद्यादिव्वेव प्रतिबिम्वितत्वादिरूपामि व्यक्कियुक्तमित्यर्थः। ठ्यापिनी—संयोग ${ }^{3}$ समवायादिना संबद्धा। अप्रकाशायन्ती—तमोनिवृत्विद्धारा चाक्षुषविषयानकुर्वती । प्रकाइायति—तमोनिवृच्विद्वारा चाक्षुषविषयं करोति। तद्वदिति। यथा गोत्वादिचाक्षुषे सास्याब्यवच्छिन्न एव चक्षु:सन्निकर्ष: कारणम्, रूपचाक्षुषं प्रत्येव प्रभाषीना
${ }^{1}$ जगुुपादानव्रद्मणो-ख. जगुदापादानझुद्धवह्मणो-ग. ${ }^{2}$ प्रतिबिम्बवत्त्वा-दि-ख. ग. ${ }^{3}$ संयोगसंयुक्तसम-क. ख. ग.

तमोनिवृतिः कारणमिति प्रत्यक्षादिसिद्धम्, तथा जीवस्यान्यत्रासकस्याप्यविद्यामन आदिषु प्रतिबिम्बितत्वादिरूपः सक्ञ: श्रुत्रिप्यक्षादिरुपमानसिद्धः। 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च ₹बंयमेव भवति' इति श्रुतिहिं जीवस्याविद्याप्रतिबिम्बत्वमाह। ईशास्यापि प्रतिबिम्बत्वे आभासेनेति तृतीयाया अभेदोडर्थः। बिम्बत्वे तु ज्ञाप्यत्वमर्थः। तादाल्म्येन जीवस्यवापेक्षणीयतयेशास्यापि प्रतिबिम्बज्ञाप्यत्वात्।' यथा। छ्येको ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोडनुगच्छन्। उपाधिनां कियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेण्वेवमजोऽयमात्मा' इति।'रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेम्य' इत्यादिश्रुतिरपि जीवस्याविद्या ${ }^{1}$ प्रतिबिम्बत्वमाह ।।

यद्यपि भूतेन्द्रियादिकमपि क्षेत्रवदार्थः ठ्यवहाररूपाय जीवस्य प्रतिचक्षणाय यत्र प्रतिबिम्बः सोऽपि वीप्सितरूपपदार्थः, क्षेत्रे ${ }^{2}$ आनखाসरूपावधिप्रतियोगीन्यपि क्षेत्राणि पूर्वश्रुत्यैकवाक्यत्वानुरोषात्, तथापि भूतादिषु जीवस्य प्रतिबिम्बरूपोपरागसत्व्वे सदा भानापत्तेस्तदन्यक्षेत्रमविद्यादिरूपं प्रकृते गृधते। एवं ‘अभास एव च'। 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादिसूत्र्णण्यापि तथा बोघयनित। अज्ञोऽहं नेशः घुखी दुःखी इत्यादिभत्यक्षमप्यन्यथानुपपत्तिसहकृतं तद्बोधकम्। जीवस्याविद्यामनआदावनुपादानस्य तादात्याभावेन प्रतिबिम्बरूपोवरागं विना तद्वानासम्भवात्। वार्तिकमतेऽविद्यादौ स्मरणानजीकारात्न तंत्र वृत्त्यावइयकता। विवरणमते तु नावेदिषमित्यादिस्म्मरणार्थमविद्यादिविषयिका वृच्चिराबइयकी। जीवेशभेदस्यानादित्वे तु तत्र न प्रतिबिम्बोडन्यथा सुषुप्तावपि तद्भानापत्तेः ; किंतु तद्नोचरा सविकल्पकवृतिरह क्षारजन्या। न हि सुपुप्तय्तुत्रमज्ञानमिव स स्मर्यते; अभावस्य तस्य्

$$
1 \text { स्यावियार्य-ग. } 2 \text { क्षेत्रं-ग. }
$$

केत्रलाम्नयदाहस्याप्ययःपिण्डादिसमारूढाम्रिदाद्कत्ववच, केवल-
 इयत्वं गुक्तम् । एवं चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्यस्य तत्तदुपरागे तत्तदर्थम्रकाशः । अवृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृच्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्यावरणाभिभवेन तत्तदर्थग्रकाइः । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्व जीवस्यावच्छेद्कान्तःकरणतत्तद्विषयाकारवृत्या तत्तद्विषयावचिछ्छनचैतन्याभिव्यक्तौ तत्तत्रकाशः। यद्यपि प्रकाराकमधिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं जीवचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम्, तथापि चैतन्याभेदेनाभिठयक्तत्वाद्यवस्थोपपत्तिः ॥

निर्विकल्पकावेधत्वाच। तस्य सादित्वं तु वक्ष्यते ॥
नन्वेवमविद्यादौ भासकतानियामकत्वेन क्लप्तस्य प्रतिबिम्वसम्बन्धस्याभावाद्धरादिकं जीवस्य नैव भायाच्तत्राह -क्केवलामीत्यादि । यथा आमि: सर्वगोऽपि तृणायःपिण्डादिनाऽमिव्यक्तो दहति; न त्वनमिठ्यक्तः ; तथा वृत्त्यभिठयक्त एव जीवः पंकाशायतीत्यं्वय्यउयतिरेकाम्यां स्वप्रतिबिम्बवद्न्न्युपरायोऽपि भासकतानियामक इति भावः। चैतन्याभेदेनेति। अधिष्ठानीमूतस्य ज्रसचैतन्यस्य मनोडनः वच्छेदफ्युक्तो यो जीवाद्देदस्तद्रदावेनेत्यर्थः ॥

यत्तु जीवस्य सर्तगतत्वपक्षे स एव त्विषयपकाशक इत्यत्र विणयघिष्ठानत्वं हेतुरुक्तः, तन्मौब्यात् ; सर्वगतत्वपक्षे आवृतत्वपक्षे ${ }^{1}$ उपः दानत्वेडप्यनावृतत्वपक्षे जीवस्यानघिष्ठानत्वात्। यदुपि सर्वगतो जीवों वृत्येव तद्विषयेणाप्युपरज्यताम् , गोल्वदृष्टन्तस्तु विषम: ; गोस्वं हिं सात्षांदिमद्यक्रया ज्ञायते, व्रद्स तु वृत्त्या न ज्ञायते, किंतु ज्ञानस्वमापयेत्वें

[^133]प्रभापि न दृष्टान्तः ; तस्यास्तमो ${ }^{1}$ निवर्तकत्वरूपस्य प्रकाशकत्वस्याकाझेऽपि तुल्यत्वात्। नहि सा आकाशांदिसंसृष्टं.तमो न निवर्तयतीति, तदपि मौन्यात् ; उक्तमानबलेन वृत्त्यादौ ${ }^{2}$ जीवस्य प्रतिबिम्बितत्वेऽपि विषये तत्सत्वे मानाभावात्। न च-सुखं साक्षात्करोमीति व्यवहार इव घटं साक्षात्करोमीति व्यवहारस्तत्र मानम्, सर्वदा तत्रसक्रवारणाय चक्षुरादिसन्निकर्ष एवास्तु घटादिपतिबिम्बितत्वहेतुः, अविध्यागतसत्वगुणान्वयाद्धटादेरपि प्रतिबिम्बोपाघितायेग्यस्वच्छतासम्भव:, जीवेशभेदमनस्त्वादाविव रूपादावपि प्रतिबिम्बसम्भव इतिवाच्यम्; चक्षुरादेरेव विनिगमकाभावातत्संगुक्तमनसोऽपि सम्पयोगो विजातीयत्वेन घटादिगते चित्पतिबिम्बे हेतुर्वाच्य:, तथाच घटादिसंप्रयुत्तमनस एव जीवप्रतिबिम्बत्वेन ${ }^{3}$ क्लप्तस्य घटादिभासकतोपपत्तौ घटादेर्जीवप्रतिबिम्बत्जे मानाभावः, रूपपरिमाणाह्यनन्त ${ }^{4}$ गुणादिएव्वनन्तप्रतिबिम्बकल्पने गौरवं च। न च—यथा त्वन्मते द्रव्यरूपपरिमाणा ${ }^{5}$ दिष्वेका मनेवृत्तिस्तथा तेष्वेकमेव मम प्रतिबिम्बमिति-वाच्यम्; अनेकेषु दर्पेणुण मुखस्येवानेकेषु द्रत्यरूपादिषु कल्पितसंसर्गरूपस्य प्रतिबिम्बस्यानेकत्वावइयकत्वात्, समवायस्येवाड5श्रयभेदेन कल्पितसम्बन्बस्य भेदावइयकत्वात्, रूपं पइयामीत्याद्यनुभवसिद्द्धचाक्षुषादिवृत्त्यावइयकत्वेन तयैव रूपादिप्रतिबिम्बस्यान्यथासिद्धेश्र। विषयगतप्रतिबिम्बहेतुत्वेन त्वया वाच्यस्य विषयसंयुक्तंन्द्रियस्य मन्मते विषयाबच्छेदेन मनःसंयुक्तत्वात्, तस्यैव वृत्चिरुपत्वेन चक्षुराद्दिमनःपरिणामल्वेन च मया स्वीकाराच्च। तथा च सम्प्रयोगरूपा वृचिर्न तु तरकार्येति भावः। गोत्वादिद्टष्टन्तस्तु युक्त एव; यथा गोत्वादिम्त्यक्षे व्यक्ति-

[^134]नन्वियं प्रतिकर्मव्यन्नस्था नोपपद्यते, तथाहि-स्वसबिकेष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात्पूर्व घटादे: सत्वे प्रतीतिमात्रशरारत्वव्याप्तकाल्पनिकत्वायोगः। न च—काल्पनिकत्वविशोषः प्रातिभासिकत्वादिरेव तब्ग्याप्तः ; गौरवात्। न च—प्रतीतिमात्रशारीएत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्यत्वादिनैव कल्पितत्वं भविष्यति; प्रतीति मात्रशरीरत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्याप्यापाद्यत्वात, प्रतीते-

विगेष: प्रयोजकस्तथा जीवस्य प्रतिबिम्बितत्वे वृत्तिरिति साम्यात्, यथा प्रभा तमोनिवृत्तिद्वारा रूपस्यैव भानठ्यवहारे प्रयोजिका न त्वाकाशादेस्तथा ₹वप्रतिबिम्बद्वारा जीवो मनसतत्परिणामादावेव तत्रयोजको न घटादाविति साम्याच । गौरवादिति । कल्पितत्वं मिथ्यात्वं, प्रातीतिकत्वं चावरणशून्यस्वव्याप्यस्वकालकत्वम् । तयोश्च समशरीरत्वान्नैकस्यान्यापेक्षया गुरुत्वम्, प्रत्युत मिथ्यात्वमेव स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियेगित्वादिघटितत्वाद्नुरु। प्रातीतिकत्वस्य गुरुत्वेऽपि स्वसमानाििकरणन्याप्यतावच्छेदकान्तराघटितत्वात्तदुकिश्चित्करमिति गौरवेक्ति: परस्य अर्न्यैवेति ध्येयम् ॥

यतु कर्तृजन्यत्वक्याप्यं यथा न शरीरजन्यत्वम् ; रिंतु जन्यत्वम्, तथा कल्पितत्वं ₹वप्रतीतिव्याप्यस्वकालुकत्वरूपस्श प्रतीतिमान्रशरीरत्वस्य व्याप्यम्, न तूक्तप्रातीतिकत्वम्; सति सम्भवेऽधिकवृत्तितावच्छेदकरूपैणैव ठ्याप्यत्वस्वीकारादिति, तन्न; दृष्टन्ते नीलधूम इव व्यर्थत्वेनैवाव्याप्यत्वात्। न्यूनवृत्तितावच्छेदकरूपेण ठयाप्यत्वास्वीकारे गन्बादेर्द्रव्यत्वादिव्याप्यत्वस्य तत्र तत्रोकस्योचछेदापत्तः:। उक्षपाती• तिकत्वस्य चिन्मान्रेऽपि सत्वेन कल्पितत्वाधिकवृतित्वाच ॥

नन्विन्द्रियसन्निकर्ष विना प्रत्यक्षवृत्त्यसम्भवात्रपश्चो न भायाचत्राह—प्रतीतेरिति । भानस्येत्यर्थः। तावता प्रपश्चः रात्योडस्तु

विंश्रतत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि ख्वमादिवदिन्द्रियसकिकर्षोनिरेक्षतया बोपपत्ते:, व्यावहारिकत्वस्यापि भ्रान्ति-दैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्येति-चेत्, मैवम्; प्रतितिमात्रशरीरत्वस्य कल्पितत्वं न व्याप्यम्; हुग्हरयसम्बन्धानुपपच्यादिसहकतोकानुमानात्र्पप्नें कल्पितत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाबलाच स्थायित्वे तैर्रैव ठ्यभिचारात्। न च-श्रुत्तिरूप्याद्दित्रत्यमिज्ञासाम्यं प्रकृतप्रत्यभिज्ञाया इति-वाच्यम् ; प्रतीत्यविरेषेडपि वािग्रीथीस्थशुन्तिरूप्ययोः परीक्षितत्वापरीक्षितव्वाम्यां स्थायित्वास्थायित्वरूपविशेषसम्भवात् । तथापि वा परोक्षवृतेतेवापापरोक्षृृत्तेरपि प्रकाशत्वमस्तु, किं तदुपरक्तचतन्येनेति-चेन्न ; परोक्षस्थलेऽपि परोक्षवृत्युपरक्तचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वाव् । अथ तत्राप्यपरोक्षैकरसचैतन्योपरागे विषयापरोक्ष्य्रसङः, न; विषयचैतन्यामिव्यक्तावेव विपयस्यापरोक्ष्यम्। न च परोक्षस्थले तदस्ति; विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विपयपर्यन्तं बृत्तेरगमनात् अन्तरेव तत्र धीसमुस्डासात्। अपरोक्षस्थले तु प्रमातचैतन्याभेदाभिव्यक्ताधिष्टानचैतन्योपरागो त्विपगेजस्ति, तत्र विषयस्य कर्मकारकत्वात्। न च-चृत्तिगतविशेपादापरोक्ष्यम्; तत्र हि विशेषो विषयकुतश्येदोंमिति हूमः। जातिक्तन्तु विशेषो न सम्भवति; सोऽ्यमिति प्रत्यभिज्ञायां परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः सङ्कर्रसझ्नात्, अव्याप्यवृत्तित्वाव्, प्रमत्वार्विना सक्रप्रसइन्द्रियजमनोवृत्ति विनापि स्वपवन्पत्यक्षो वास्विति भावः। परीक्षितत्वेति। मानन्तरसंवादाविसंवादेल्यर्थः। उ्यावहारिकम्य उ्यवहारकालीनताहरीपरीक्षितत्वेन व्यवहारकाले स्थायित्वसिद्यिः। प्राहीतिकस्य' ठु न मानन्तरेण संबादः। नात्र रूप्यमिल्यादिबाधकेन विसंवादक्षेति

आण्च। किश्र चृत्तेर्जडत्वादेव न प्रकाराकत्वम्। न च-चृत्तावन्तः ${ }^{1}$ करणवृत्यापि स्वप्रकाशत्वं ज्ञातत्ववदिति-वाच्यम् ; स्वप्रकाशात्मसम्बन्धैनैव तस्याः प्रकाशत्वोपपत्तौ तत्स्वप्रकाशत्वे मानाभावात्। किश्च घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मकचृत्यन्या संवित् घटग्रकाशरूपा घटः ध्रकाशत ह्त्याकारकानुभवसिद्धैव। न च--करोति, यतते, चलति, गच्छतीत्यादावेकार्थत्वेऽपि सकम्साकम्मकस्वभावत्तदर्शानादत्राप्येकार्थत्वेऽपि तथा स्यादिति-वाच्यम् ; तश्राप्येकार्थत्वाभावात्। अनुकूलयतो हि कुञ्धात्वर्थः, यत्यर्थस्तु यतनमां्रम्, एवं गम्यर्थ उत्तरसंयोगफलकः स्पन्दः, चलत्यर्थस्तु स्पन्द्मात्रम् ; तथाचैकार्थकत्वे कुण्रापि न सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्था। न च—वन्मते

भावः। स्त्रकाशात्मेति। आत्मस्वपकाशत्वं चक्ष्यते। भाष्यादिसिद्धा युक्तिश्र दर्शिता। किश्च सुखादौ वृत्त्यकल्पनलाघवात्स्वप्रकाशात्मैव त习्रपरोक्षता। तथा च घटादावपि स एव सेत्यादि प्रपश्चितमस्मामिः पूर्वम् । सकर्मकतृत्तीति। घटकर्मकवृतीत्यर्थः। घटप्रकाऐोति। घटकर्तृक्रकाओोत्यर्थः। तथा चैकस्यां कियायामेकस्य कर्तृत्वकर्मत्वयोरेकस्याः क्रियायाः सकर्मकत्वाकर्मकत्वयोंश्र विरेषादनावृतचिद्रूपा क्रिया घटकर्तृका स $स^{2}$ त्वापादकाज्ञानशून्या ${ }^{3}$ चिद्रूपा ज्ञानकिया। तंत्राज्ञानांशो घटस्य निरूपकतया विशेषणत्वाह्गौण: कर्मत्वव्यवहार इति मन्मतम्। ख्वन्मते तु वृत्तिरेव घटकर्मिका वाच्येति तद्न्या क्रिया घटफतृकावशयं बाच्या। सा चानावृतचिद्वृपा, आत्मा सदा प्रकाहत इत्याबौ तथा क्लृप्तत्वादिति भावः। अनुकूलयतः कालसम्बन्षप्रयेजकयन्नः। कुत्रापि नेति। नन्विद्मयुक्तम् ; आख्यातपद्भावना${ }^{1}$ करणाहृत्यपि. ${ }^{2}$ घटकर्तृका अस-ख. ग. ${ }^{3}$ शून्यनिद्यूा-क. ख. ग:

पदयोरोकार्यत्वेऽवि सकर्मकाकर्मकत्वादिव्यवस्थादर्शनात्, न हि यजेतेत्ये्नेव यागेन भावनेल्यत्र यागकरणिका भावना परतीयते। एवं तृतीयदिविभक्किकारकशब्दयोः कारकार्थकलेलेपि कारकशब्दार्थस्य तृतीयाबर्घकारकान्तरान्वयो न तु तुतीयाहर्धस्य । न हि कारकं कारकेण गच्छतीत्यादौ द्वितीयाघर्थकारके कारकपदार्थस्येव तृतीयायर्थान्वयोऽस्ति। करोतियतत्योरपि न मिन्नार्थकत्वम् ; कृताकृतविभागेनेल्यादिकुसुमाब्ञलौ कृतो यबाहर्यन्वातेन चाऊ्यातविवरणात, तस्यापि यदोर्र्थ इत्यादिमणौ च तथोक्रत्वादिति, चेन्न ; भावनादिपदस्य सिद्धावस्थभाव'नादिबोधकत्वेनाए्ब्यातादिसमानार्थव्वाभावात् कारकादिपदस्य शक्किविशिष्वोषकत्वेन शक्रिमात्र्वाचकतृतीयानिसमानार्थल्वाभाबत्.। उत्कं हि हरिणा-

साछ्घभावस्तु ${ }^{2}$ यस्तस्याः स आऊ्यातनिन्धनः।
सिद्भभावस्तु यस्तस्याः सन्पबसदे ${ }^{3}$ निक््धनः ॥
उतं च बार्तिके 'कृदन्तेन हि ${ }^{4}$ कारकविशिट्टं द्रव्यम्नुच्यते न तु विभक्रथेव निष्कृष्टा शक्किः। तथा च कारकं कारकेणेति स्यादि 'ति। किध्धारुसातपदेनैवैव कारकवाचिपदानां भद्वमते साकोंक्षत्वास्वार्थमका: रकविभन्तयर्थकारकविशेष्यकवोध विभक्तोर्निराकांक्षत्वाच यागेन भातनेल्यादौ नोक्कान्वयोोषः। घटं यतत इल्यादौ तु न निराकांक्षत्वम्, गमत्रादौ यतिउक्षणाकात तस्य साकांक्षत्वात्। एवं च यबममास्य्य यस्पर्भवे तत्र कर्मानन्वयः, तस्प घात्वर्थतावच्छेदकफलत्वाभावा-


${ }^{1}$ वस्थाभावना-क. ${ }^{2}$ सध्याभावस्तु-ग. ${ }^{3}$ साधनादि, सयलाँदि ग. 4 कृष्तेन न हि-ग.

वाचित्वाट्रलवाचकत्वं वैय्याकरणसम्मतम् ॥
अपि च केरोतययन्नमात्रवाचित्वे सकर्मकता न स्यात्, धात्वर्थतावच्छेदकफलरालित्वं हि कर्मत्वम्, तदन्वयिस्वार्थकत्वं सकर्मकत्वमिति तार्किकाः । स्ववाच्यव्यापारव्यधिकरणफलबाचित्वं सकर्मकत्वमिति शाब्दिकाः । क्रियाजन्यफलमात्रस्य कर्मतात्वे तदन्वयिस्वार्थकस्य सकर्मकत्वे च यत्यादेराप सकर्मकतापत्तेः । अन्यथा गम्यादेरपि कियामात्रवाचितां किं न रोचये: । अत एव पाकारम्भात्पूर्व पाकाय ${ }^{1}$ यत इति स्यान्न तु पाकं करोतीति; काइसम्बन्धोपधायककृतेः कुजर्थत्वात्तदा।नीं पाकनिष्ठकालसम्बन्धानुपधानात् । कृताकृतेत्यादौ तु यबत्वमात्रेणार्यातकरोतिवाच्यता नामिप्रेता किं त्वनुकूलयबत्वेन । तत्र हि फलानुकूलुत्वेन करोतिवाच्यता न तु यनत्वेन; यनार्थकपदसमानार्थत्वापत्तेः। रथो गच्छतीत्यादौ करोत्यर्थकाख्यातस्य मुख्यत्वे बाषकाभावाचेत्याशाक्यं

कृताकृतविभागेन कर्तृरुपष्यवस्थया।
यन्न एव कृतिः पूर्वापरस्मिन् सैव भावना ॥
यनपूर्वकत्वस्य प्रतिसन्धानात्पदादौ कृतत्वव्यवहारात्रदप्रतिसन्धाने स. डहेतुकत्वप्रतिसन्षानप्यक्करादावकृतत्वव्यवहारादाश्रयाथकतृजन्तर्कतृपदस्य कृत्याश्रय एव प्रयोगाद्यन एव कृतिर्नानुकूलमात्रम् । सा च परस्मिन् स्वकार्ये पूर्वा कारणीमूनेति भावना भावयतीति ठ्युत्पते:। तथा च तदर्थककृजा विवरणादाख्यातमपि तदर्थकमेव। अनुकूलयन्नरूपे समुदिते प्रवृत्तमारूयातं रथो गच्छतीत्यादावेकदेशोऽनुकूले प्रयुज्यते, सान्रवेदाध्येतृब्राक्षणपवृत्तश्रोत्रियपदामिव ज्राक्षणमात्रे, इत्यादिकं मूलटीकाम्यां प्रतिपादितम् ॥

एवं मणावप्युक्तम्-' तण्डुलक्रयणादिदशायां पचतीति स्यादिल्य़ाराक्बय यादृशोऽनुकूलताविशोषाश्रयो ब्यापारः परेषामर्थः, ताद्होो यबो ममापीत्याद्यपि चोक्रम् ॥

यतु यबत्वमेव शक्यतावच्छेदकमनुकूलत्वं तु सम्बन्षतया भातीति पक्षधरादिमिरुक्तम्, तन्न ; तथा सति वर्तमानत्वसमानाधिकरणनुकूलत्वस्यैव सम्बन्धत्वापत्या वर्तमानत्वादेर्लडाद्यवाच्यतापतेः। समवायादीनामेव सम्बन्धत्वेन भानम्, न वर्तमानत्वादेरिय्युक्तौ त्वनुकूल. त्वादेरपि वाच्यत्वौचित्यात् ; करोतेः सकर्मकत्वानुरोधेनानुकूल्यलार्थतावइयकत्वे आख्यातम्यापि तदावइयकत्वाच्च। अन्यथा ग्रामं गच्छतीत्यादावपि संयोगादेः सम्बन्घतापत्तेः। अतएव 'भूवादयो धातव’ इति सूत्रे कृज उत्पादनार्थकत्वमन्यथा यतिवदकर्मकतापत्तेरिति महाभाष्यादावुक्तम् 1 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय' इति सूत्रे चान्यै-रुक्तम्-

अस्यायमर्थ:, यतः सकर्मकतानुरोधनोत्वादं कृओ $ऽ र ् थ:, ~ अ त: ~$ कर्मवदित्यादिस्त्रेण यगादेर्विहितत्वाक्कियते कटः स्वयमेवेति स्यात्। यन्नमात्रार्थकख्वे तु यन्नस्य कर्मस्थत्वाभावाचन्न स्याद्दरयते घटः स्वयमेवेतिवत्। यद्यपि द्वशयादिधातुः कर्मस्थफलं वक्कि सकर्मकत्वात्, तथापि प्राप्य कर्मणि न कर्मवद्धावः। तदुक्तम्-
' निर्वर्ले च विकार्ये च कर्मवद्धाव इव्यते।
न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तो डयं व्यवस्थित' इति ॥
प्राप्यत्तं त्डा क्रियाकृतविशेषेणनुपलुम्यमानत्वम् । न घयं घट:

परिणतेरकर्मकत्वात्परिणतिविशेषभूताया बृत्तेः कथं सकर्मकत्व-मिति-वाच्यम्; एकस्य हि सकमकत्वाकर्मकत्वे एकरूपेण विरुद्धे न तु रूपान्तरेणापि; मानाभावात्, यथा स्थितेरकर्मिंकाया अप्यगमनत्वेन रूपेण सकर्मकत्वम्; तथा परिणतित्वेन

केन चिहृष्ट इति ग्रामोऽयं केनचिद्नत इति वा शक्यं कर्मदई्शनेन ज्ञातुम्, शक्यते तु घटं करोतीत्यादौ निर्वर्ले, सोमं सुनोतीत्यादौ विकार्ये च तथा ज्ञातुमिति। किश्च विशिष्टयनत्त ${ }^{1}$ न शक्यतावच्छेदकम्; येन गौरवम्। कितु बीजादिनाऽन्तुरः कृत इत्यादौ करोतेः, रथो गच्छतीत्यादावाख्यातस्य चानुकूले निरूढऊक्षणायः क्लपत्वात्। घटं करोतीत्यादौ पचतीत्यादौ च यल्रतीतेस्तयोयन्नशक्तत्वास्सकर्मकत्वानुरोधेन तत्र करोतेसतत्समानार्थकत्वेनाख्यातस्य चानुकूलयत्नबोषकत्वस्य संभवादिति दिक् । वृत्तेः वृत्त्यवच्छिन्नचितः । वृत्त्युपहितरूपेण वृत्तिप्रयुक्ताज्ञानाभावोपहितरूपेण वा चितोडप्युत्पत्तिस्वीकरेण परिणामत्वं बोध्यम्। यथाश्रुतं तु वृतेर्मन्म्ते ज्ञानत्वाभावेन सकर्मकत्वे मानाभावादसक्नतम्। स्थिते: गतिनिवृतेः। अगमनत्वेन गमनसंसर्गाभावत्वेन। यद्यपि ग्रामं न गच्छत़ि ग्रामस्यागमनमित्यादौ गमनस्यैव सकर्मकत्वम्, तथापि गच्छ गच्छसि चेद्दूरमित्यादौ गम्यर्थस्यागमनस्यापि सकर्मकत्वमक्षतम्। अभावविशेषणीमूते गमने विशेषणीमूतोच्तरसंयोगान्वयित्वेन दूरदेशास्य कर्मत्वम्। यद्वा संयोगाभावानुकूलक्रियात्वमगमनत्वमिह विवक्षितं संयोगाभावरूपफलशालित्वेन तस्य कर्मत्वमिति बोध्यम्। यतु स्थितेरगमनत्वेनेव प्रकाइस्यापि ज्ञानत्वेन सकर्मकत्वम्। प्रकाशत्वं च न ज्ञानत्वम् ; किंतु तेजोज्ञानान्यतरत्वमिति,

> : विशिष्धं यकलं-क.

प्रतिकर्कम्व्ववस्पोपपति:
रूपेणाकर्मिकाया अपि बृत्तेर्ञानत्वेन सकर्मकत्वं भविष्यतीत्यदोषः। ननु— तर्घतीतः प्रकाशत इति धीर्न स्यात्, न; इष्टप्ते:, तत्रापि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यसत्वेन प्रकाशत इत्यादिप्रयोगसम्भवाच । ननु—यथा अज्ञानविरोधिष्त्तावतुभवत्वं नार्स्त किन्त्वन्यत्र ; तथा द्वेषविरोधिवृत्तेरन्यत्नेच्छात्वमित्यपि स्या-दिति-चेन्न ; बाधकसत्वासत्वाभ्यां विशोषात्, अत्रेव तत्र सकमिकाकर्मकविलक्षणक्रियानतुभवाच। यथाच वृच्यतिरिक्तमानसिद्धिस्तथा स्वयंज्योतिष्द्र्वस्तावे विस्तरेण वक्ष्यामः ।

तन्न; अन्धकरोरे घटत्वाचप्त्यक्षवतामिदानीं घटो मे प्रकाशते न प्रभेति व्यवहारादुक्तान्यतरस्य प्रकाशत्यर्थ्रकाशरूपत्व प्रभायां तादाल्येन तजोSन्नरसत्वेन तदभावन्यवहारानुपवत्तेः। इश्टापत्तेरिति। आवरणंगून्यचित्तादास्यस्योक्तथीविषयत्वाद्दिति रोषः। यत्र भाट्टमते पाकखं, तार्किकादिमते च लैकिकम्यक्षं, तौै्रैव मन्मते तद्धीस्वीकारादिति भावः। अम्युपेप्याह--तत्रापीति। अज्ञातत्वेन साक्षिभास्यतामात्रेण ताद्धबुद्धचभावादांह-चृत्तिप्रतिबिम्ब्नेतेति । वक्ष्याम इति । ' तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, अत्राडयं पुरुषः स्ववंज्योति:,, ₹वपकाशमहानन्दमातैमैवैतदि ' ल्यादिश्रुत्यादिना अत्मा स्वपकाशज्ञानरूप इति बक्ष्यते ॥

ननु-तमेवेत्यादिश्रुते: सूर्यादिप्रकाश ईशार्घान इल्यर्य:, सर्वशब्दस्य प्रकृपरत्वात्, सर्वेम्यो दर्ईपूर्णमासौ, इतिवत्। पक्कतं ं सूर्यादि, च्वन्मते निल्यातीन्द्रियस्य चिदभास्यंत्वेन सर्वपदसक्षोचावइयकत्बाव्। प्रकृतपेदेंशब्द्यमभिष्याहारादेतद्वाक्यार्थनिर्णायके 'अपि च समर्यते' इति सूत्रे लद्वाष्येडपि 'यदादिल्यगतम्' इत्यादिस्स्तेरेवा-। हतत्वात् $b$ लन्मते ब्रझ्षणो भानलेन भान्तमिति शतृभ्त्ययस्य तस्येति

नन्वस्तु चैतन्यस्य विषयप्रकाशकत्वम्, तथाप्यन्तःकरण स्य देहाबिर्गतिर्न क्रल्या; परोक्षवैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यकापरोक्षचिदुपराग एव वक्तः्य, चिदुपरागादौ चापरोक्षतृत्तेस्तदाकारत्वमेव तन्त्रम्; तस्य च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्तें रिव तत्सकिकृष्टकरणजन्यत्वेनैवोपपत्ति:, न तु भ्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्रेषस्तन्त्रम् ; नेत्राबिर्गच्छज्रुवाद्याकारष्टृ्येव स्वसंश्रिष्टनेत्रस्थकजलादे

षष्ठयाः प्रपश्चे अह्सान्यभानाभावेनानुशब्दम्य चानुपपतेरिति-चेन्न ; अत्र हीदंशब्दस्यापरोक्षार्थवाचकत्वात्, सर्वशबदेनापि ताहग़यावदर्थो बोध्यते। अथ वेश्वरं प्रति नित्यातीन्द्रिस्यापि भासमानत्वादिदंशब्दो बुद्धिस्थमात्रपरः। उमयथापि सर्वशब्दो न प्रकृतूर्यादिपरः; इदंशब्देनैव तस्लाभे नैद्वैय्यर्थ्यापत्तेः। तस्मादिदंशब्दस्य प्रकृतसूर्यादिपरत्वशक्कानिरासाय सर्वपद्विति भासमानं यावनुभाभ्यां ${ }^{1}$ लम्यते। 'अपि च स्मर्यत' इति सूत्रे तु 'न तद़ासयत' इूत्याद्किकं 'यदादित्यगतमि' त्यादिकं चोदाह्तम्। तच न प्रकृतविरुद्धम् ; आघेन श्रहणोऽन्याभास्यत्वम्, अन्त्येन ब्रक्नण एव भासकत्ं प्रतिपादितमिति, भामत्यां व्यर्यातत्वात्। शतृत्रत्ययादिकमापि न विरुद्धम् ; प्रभां भान्तीमनुभाति घटादिकम्, तस्या भासा घटादि भातीतिवद्मिं दहन्तमनुदहत्यय इत्यादिवच्चोपपत्तेः। उक्षं च-व्रह्मास्ति भातीत्यदौ लकारः साघुत्वार्थ इति ध्येयम्

तस्यास्तदाकारापरोक्षवृत्तेः। संश्रेषस्तन्त्रमिति। संश्रेषः संश्रेषमान्रं मात्रपदाद्विषयत्वव्यवच्छिन्नसंश्रूषलाभ: । तेन कजलादौ

$$
1 \text { उभाभ्यां पदाम्यां-ग. }
$$

परमाण्वादे थापरोक्षत्त्रपातादिति चेत्, न ; त्रिषयेष्अभिठ्यक्तचिदुपरागे न तदाकारत्वमात्रं तन्त्रम् ; परोक्षस्थलेऽपि प्रसक्ञात्, किन्तु तत्संश्लेषः ; प्रभाया विषयसनिक्ठष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वदर्शनात्तैजसस्य मनसोडप्यज्ञानरूपावरणाभिभवाय तत्संश्रेष आवरयकः, भुरुचादिदेहमध्यवर्तिपरमाण्वादाउतिप्रसझ्नस्तु "तदाकारत्वप्रयोजकसामग्रीविग्हादेत परिहरण्णयः, अन्यथा इन्द्रियसबिकर्षादे न्विद्यमानत्वात्परमाण्वाद्यक्कारताया नुर्निधारत्वापत्तेः। तस्मात्र्रभा (वद) विशेषान्वयक्यतिरेकाभ्यां यत्कृषंत्रं सबिकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वम्, तस्य नदाकारत्वरूपविशोषापेवृत्त्यविषयेऽप्यापतिर्तुज्यंत । अपरोक्षत्वर्वपातादिति। ध्रुवाद्याकारवृत्तेः संयोगादिरुपसंश्रेषम्य तत्रापि सत्वादिति रोषः । उक्तवृते: -कजलादिसंयोगे मानाभावास्संगुक्तंयोगादे: संश्रेषम्यावरणानिवर्तकत्वादयुक्तमेतत्परोक्तम् । पर्न्तु घटाय्याकारवृत्तेः रूपादाविव रसादाववि संयुक्तसमवायादिसत्वादापरोक्ष्यापतिः। न च--विषयत्वसमानाधिकरण: संश्लेषो निवर्तक: ${ }^{\bullet}$ सम्बन्ध इति--- वाच्यम् ; अपरोक्षवृत्तिविशेषत्वस्यैव नितृतितन्त्र्तौचित्यादिति घ्येयम् । प्रसङ्गादिति । अपरोक्षवृत्तिविषयता नावरणनिवृतौ तन्त्रम् ; वृत्तावपरोक्षत्वजात्यन \{्रीकारस्योक्तत्वात्, शाब्दापरोक्षवृतौ तद्सम्भवाद्वरोक्षविषयकत्वक्य चावरणनिवृत्ते: ${ }^{2}$ पूर्वमसत्वात्। ननु विषयत्वसं श्रेषाभयसम्बन्धेन निवर्तकत्व विशेषणविश़प्यभावस्याविनिगमत्वान्नौरवाच लाघवादपरंक्षत्वजार्ति प्रकल्प्य तया वृत्तिर्बिषयत्व"मात्रसम्बन्धेन निर्वर्निकाम्तु. अपरोक्ष. विषयकशाब्दवृतावपि ताद्टशजजातिरननुगतकारणनियम्यान्तु. तन्राह— तस्मादिति। सक्किक्रुष्टतजस्त्वनेति। सान्निक्षसम्बन्धन तंम्त्वे-

[^135]
# क्षायामपि न त्यागः। न हि पृथिवीत्त्रन्बत्वादिना कार्य- 

 कारणभावे आव्नइयके अनित्यगुणत्वद्रठ्यत्वादिना तन्यागःनेत्यर्थ:। न त्याग इति। यद्विशोषयोः कार्यकारणता तस्सामान्ययोरपीति न्यायात्तमोधज्ञानान्यतरनिवृत्तौ संयोगादिसम्बन्घेन तेजस्त्वेन हेतुत्वम् । न चैवमालोकसंयोगे सरीन्द्रियसन्निकर्ष चासति शाब्दादिवृत्या। घटादा ${ }^{1}$ वप्यज्ञानसामान्यनिवृत्तिः स्यात्, चक्षु:सन्निकर्ष सत्यालोकसंयोगे चासति तमोनिवृत्तिः स्यादिति—वाच्यम्; विषयत्वं संयोगाधन्यतमं चेन्युभयसम्बन्घेन वृत्तिज्ञानमज्ञाननाशाकं संयोगाद्यन्यतम सम्बन्धेन प्रभा तमोनाशिकेत्यस्यापि स्वीकारात्। अन्यतमान्ञं चाखण्डं स्वरूपत एव निवेरयत इति न गौरवम्। एवं चापरोक्षविर्षियकशाब्दवृत्तावपरोक्षत्वजातिनियामककल्पनं ताहृशजातिकल्पनं चाप्रामाणिकगौरवपराहतम् । नाड्यादिगोचर शाब्दादिवृतेर्नाड्यादौ संयोगसत्वे मानाभावः ; तक्य फलुबलकल्प्यत्वान्नाड्यादिविषयकवृत्तिकालेडन्यत्र मन:स्थितिकल्पनात्। वस्तुतन्तु ऐन्द्रियकवृतेर्योत्र विषयत्वं तत्रावच्छेदकत्वमपि र्वीकियते, विनिगमनाविरहेण द्वयोरपि सन्निकर्षाविकार्यतावच्छेदकसम्बन्घत्वादित्यादेरुकत्तत्वत् परोक्षवृत्तेश्र स्वविषयावच्छिन्नत्वे मानाभावात्। स्वावच्छेदकावच्छिनविषयकाज्ञानत्वसम्बन्घेन वृत्तिज्ञनं हेतुस्तूलाज्ञानवृत्तिप्रतियोगितासम्बन्धेन नाइं प्रत्युच्यते। मूलाज्ञानवृत्तिप्रतियोगितासम्बन्धेन नारां प्रति तु स्वपरिणामिमनःपरिणामित्वसम्बन्धेन विजातीयवृत्विहेतुरुरित्युक्तम्। न चापरोक्षवृतेर्घटादिविषयकत्वं विनेच्छादिहेतुत्वासम्भवो विषयतादि सम्बन्घेन सन्निकर्षादिकार्यत्वे विनिगमक इति वाच्यम्; असत्वापाद काज्ञानाभावस्यैव तद्यक्तित्वेनचच्छादिहेतुत्वात्, अन्यथा सुखादौ वृत्त्य-

> वज्ञान-ग.

अतएव तदितरहेतुसाकल्ये सति घटचक्षुःसकिकर्षस्यैव घटा तुभवजनकत्वम्, न तु घटमनःसबिकर्षस्य, तद्विलम्बेन तद्वि: लम्बाभावादिति निरस्तम् ; आवरणमत्ञे सबिकृतेजः:करण त्वावधारणेन तस्याप्यावइ्यकत्वत्। न च-खार्शन्रत्यक्षे चक्षु-रादिवन्नियतगोलकद्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्ययोगादावरणाभि-

विषये इच्छाघसम्भवात् । घटचक्षुरिति। घटेन्द्रियेल्यर्थ। घटानुभवेति। घटप्रत्यक्षेत्यर्थः। जनकत्वं प्रयोजकल्वम्। करणत्वावधारणेन सामत्र्येतः स सन्निकघषसम्बन्धेन तेजस्वेन, विशेषत उत्कसम्बन्बेन वृतिज्ञानत्वेन कारणत्वावधारणेन। यद्वि चाक्षुषवृत्तिस्यले आलोकादितेजः सम्मेंबति, तथापि रासनादितृत्तिम्थलं तदभावात्, कार्यान्यथानुपपत्त्या तेजस्रसेणवादिसन्निक्षकल्पनायाध्धनुगतनियामकाभावेनासम्भवात्, तावतापि वृतिसं श्रेषरूपविशेषपयोंजकानिर्वाहादिद्द्वियसन्निकर्षरूपानुगतकारणन्मियम्यो वृत्तिज्ञानरूपतेज:सन्निकर्ष एवावरणाभिभवद्वारा साक्ष्युपरागघटनद्दारा वा विषयसाक्षात्कारे प्रयोजजक इति भावः। वम्बुतस्ठ मनसोऽणुत्वमते विषये संश्रेषा यद्यापे न सम्भवति ; मरणपर्यन्तं तन्य देहात्यागात्, तथापि तस्य महत्वमते तत्सम्मवांच्चाधुषादिबृत्तौ चक्रुरादेमनसो वा सन्निकरों विजातीयत्वेन हेतुरिर्यन्न विनिगमकाभावाद्विषयमनःसन्निकर्षश्चाक्षुपादिम्बले आव₹यकः, विषयंन्द्रियसन्निकषंक्य च तत्र न हेतुता ; मानाभावात्। न चैवेंप्र्यक्षाद्विसिद्धमन:सान्निकर्षैणैव चाक्षुपाद्दिनिवांह तदन्यथानुपप्त्या कारणल्बेन चक्जुरादि न कर्प्येतेति-वाच्यम्, तद़न्यथानुपष्त्या तक्कल्पनाभावेऽपि श्रुन्यादिसिद्द्यस्य चक्षुादेर्मेनस छव करणत्बस्य विनिगमका-

$$
1 \text { कारण-ग. }
$$

भवानुपपतिरिति वाच्यम्; सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाघिष्ठानस्यैव द्वारत्त्रसंभवात् -। न चान्तःकरणवृत्तित्वाविशेषादिच्छाद्वेषादिरूपद्त्तयोऽपि देहान्निर्गल्य विषयसंसृष्टा भवन्तीति कथं न स्वीक्रियत इति—वाच्यम् ; आवरणामिभावकतेजस्त्वस्य तत्प्रमापकस्य ज्ञानवत्तत्राभावात् । ननु घटप्रकाशकं चैतन्य-

भावेन स्वीफारात्। अतएव विवरणे चाक्षुषादिकरण 'ल्वेन चक्षूरादेरनुमानं दूषयित्वा श्रुत्यादिना तस्सिद्धिरक्ता। तत्तदिन्द्रियेति । अवाधिष्वानगोऐखकमेव तत्रदिन्द्र्राणां स्वकरण ${ }^{2}$ मनोवृत्तिनिर्गमे द्वारमिति ल्वगिन्द्रियस्य 'ओषधिवन्पतयाँ ऐोगमानि भूत्वा त्वचं प्राविएान्’ इति श्रुतेस्त्वगवाधिष्टानम, तक्करणकमनोबततौ द्वारामिल्यर्थः। 'त्वगिन्द्रियम्य साक्षादाधारो देह ' इति विवरणे देहुक्षणोकेके ेंहठ्यापक: पवनविशेषस्त्वगिन्द्रियमिति तार्किका|चुक्तेश्न देह एव वा तदनिक्षिनं, तथेति बोघ्यम्। संभवादिति। ततदिन्द्रियकरण"वृत्तौ तत्रदिन्द्रिय-
 विषयसंयुक्तेन्द्रिभागावच्छेदेनापि मनोमहत्वमते वंबिगमकाभावेनाव₹यकल्वात्, त्वाचवृत्ति प्रति त्वगिन्द्रियस्येव मनसोऽपि सन्निकर्षस्य विनिगमकाभावेन हेतुत्वादिन्द्र्येंयक्तविषयभागावच्छिन्नसंयोग एव मनसो विषये निर्गम इति न्थिते: ल्लगिन्द्रियगेलकक्दारा मनोनिर्गम: सम्भवरतीति भावः । आवरणाभिभावकतेजस्त्वेनेति । विषयसंयुक्तेन्द्रियसंयुक्तमनस्व्वस्येल्यपि बोध्घम्। तत्र्रमापकस्य। विषयसंसृष्तव्वमापकस्य। ज्ञानवदिति। चाक्षुषादिवृतिज्ञानरूपेण परिणतमनसीवेव्यर्थ:। अंत्वंद बोध्यम्-विषयतासम्बन्घेन चाक्षुषादौ चक्षुरादेः सन्निकर्षो हेतुर्न बु मनस इति पररीय्यक्रीकरेडरि नास्माकं क्षति:;

$$
\text { । कारण-ग. } \quad 23 \text { करणक-ग. }
$$

सुपदेदेशसाहस्तथनुसारेण घटाकारधीस्था चिद्या, परागर्थप्रमेयेष्वित्यादिवार्तिकोक्तरीत्या धीप्रतिविबम्बितचैतन्यायेदामिव्यक्तविषयाघिष्टनचैतन्यं वा, नाद्यः; आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापाताव्। न द्वितीयः; आवइ्येन विषयसंश्रिष्टथृत्तिप्रतिबिम्बितचैचतन्येनैन तदज्ञाननिषृत्तिकत्तत्रकारास्याप्युपपर्तौ कि विषयाधिष्टानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनेनेति-चेष्ष ; प्रकाशकं तावदघिष्ठानचैतन्यम् । तचाध्यासेन विषर्यःः सह

इन्दियमनोयोगस्य चाध्षुषादिहतुत्वावइ्यक्वात् । अन्यावच्छेदेनेव विषयसंयुक्तभागावच्छेदेनापीन्द्रिये मन:संयोगगम्य विनिगमकाभावेन
 उपदेश्शसाहस्रीति।

घटैकाकारषीस्था चित् घटंमवावभासयेंत।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्नैँतन्येनावभास्यते ॥
इति रीतीीर्यर्थः। परागर्येति।
‘परागर्थपमैंयु या फकल्वेन संमता।
संविस्सैवेह मेयोधों वेदन्तोंक्तिपमाणतः ॥
इति वार्तिकम्। प्रकाइस्य भातीत्यादिन्यवहागफ्य। सरवगतजाबम्या- . नविष्ठानत्वपक्षे आवरणाभावस्य म्वतः रिद्बलवादा|वरणाभिभवं विनाईप
 वा ; प्रकाशस्य दीपांदेरावृत्याप्रकाशकव्वर्श्शनादानृतचितः पकाग़-कर्वासम्भवादिल्याझयेंनाह-न प्रकाशकमिल्यादि। प्रकाशकं प्रकाशात इति उ्यवहारपयोजकम्। अधिष्रानर्चतन्यम् अधिष्वाभिन्नचैतन्यम्। तच्च अधिछानं च। अध्यामेनेति। साक्षास्सम्बन्धान्वयक्घ्यसततावृत्येन सम्बद्धमिल्यर्थः। तथाचाघपक्षे प्रकाशकस्य जववस्य

साक्षात्सम्बद्धं, प्रकाशास्य च स्वयं भासमानस्य स्वसम्बद्ध.सर्वभासकत्वमपि क्लुपमेव ; एतदनभ्युपगमे कल्पनान्तरगै।रवापत्ते: 1 तच्चानभिव्यक्षं निर्विकल्पकरूपमाच्छादितदीपवन्न प्रकाराकमिति तदभिव्यक्तिरपेक्षिता। तच्च परोक्षस्थेल वृच्यवच्छेदेनैन्वभिव्यज्यते। अपरोक्षस्थले तु वृत्तिसम्पर्कादावरणाज्ञानाभिभवे विषयोंड ${ }^{1}$ भिव्यज्यते ; वृत्तिर्विषयपर्यन्तत्वात्। न च परोक्षस्थलेऽप्येवं प्रसङ্ञः ; द्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्यभावात्। ननु-वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयत्वम्; त्वयैन निरासात्,
विषयेष्वाध्यासिकसम्बन्धाभावेडपि न क्षतिः; यत्र विषयोऽध्यम्तस्तस्य प्रकाराकाभेद इत्युक्तनियमापच्यवार्द्वतीय ${ }^{2}$ पक्षोडपि युक्त इत्याहप्रकाशास्येति। भातीतिठ्यवहारविरो|धिनाशकस्येत्यर्थः। तत्वं च तमोनाराकत्वादालोकस्येवाज्ञानाभिभावकवृत्त्यवच्छिन्नत्वान्चितोऽपीति भावः। स्त्रं भासमानस्योक्तविरोधिशून्यस्य। एवकारः शोषः। कल्पनान्तरेति। प्ययुक्तेति शोषः। भातीति व्यवह़ारे विषयंसरक्रुष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचितः प्रयोजकत्वे घटादौ तत्सम्भवति न तु सुखादावित्यनावृतचितोऽपि तद्वाच्यमिति कल्पनान्तराद्नौरवम्। अथ चातृतप्रकाशस्य ${ }^{3}$ भासकत्वेडपूर्वकल्पनाद्गौरवमिति भावः । नन्बमिव्यक्तचितः प्रकाशकत्वे घटादेरज्ञातत्वेन साक्षिभास्यता न स्यात्तत्राह्ट-तचेति। प्रकाशकचैतन्यं चेत्यर्थः। निर्विकल्पकरूपमिति। तार्किकादि,सिद्धनिर्विकल्पकतुल्यमित्यर्थ: । तुल्यता च जानामीति व्यवहाराराविषयत्वेन। आच्छादितेति। यथा सूक्ष्मवस्राच्छादितो दीपोऽन्धतमसविरोध्यव्यवतमसाविरोधित्वाद्वं्यत्वादिरूपेण ंयवहारस्य प्रयोजकं न तु रूपपरिमाणविशोषवत्त्वेन ठयवहारस्य, तथा चैतन्यमावृतमज्ञातत्वेन व्यवह्हारं

[^136]नापि तस्मिंस्यैत्योपरागयोग्यतापाद्कत्वं, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा; उभयोरपि तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात्, नापि: घटादिवत् प्टथुबुधोदराद्याकारत्वम्; साकारवादापातात्, संस्थान-* हीनजातिगुणादिवृत्तेन्निराकारत्वप्रसन्भाच, घटपटाविति समूहालम्बेन विरुद्बनानांकारत्वापत्तेश्रेति चेक्न; अस्तीत्यादितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्य

प्रयोजयति न ज्ञातत्वेनेति भावः। आपन्नजाङ्येति। प्रमातृचैतन्यानुपरागेत्यर्थः। आपादकेति। सम्पादकेत्यर्थः। तस्मिमश्चैनन्यन्य भासकतानियामको यः सम्बन्धम्तद्धटकत्वम् । अभिभावकत्वम् अभिभवप्रयोजकतावच्छेदकरूपवत्त्वम् । प्रयाज्यत्वेन घटितत्वेन । क्वप्रतिबिम्बवद्वर्त्याकारत्वस्यै 1 वोक्ताभिभवप्रयोजकतावच्छेद्रत्वात्तदाकारत्वम्योक्तरूपत्वे आत्माश्रय इति भावः । अस्तीत्यादिना सान्निति व्यवहारोो ग्राद्यः।. प्रतिबन्धकेति। अनुत्पतिनियतेत्यर्थः । तेनाज्ञानाभावत्वेन कारणत्वाभावान्नासक्नतिः। अस्तीत्यादिव्यवहारेडसत्वापादकाज्ञानाभावविखिष्टचैतन्यम्य विषयतया ताहृराज्ञान््योक्तव्यवह़ारानुत्पान्तिनियतत्वमिति भावः । असत्वापादकाज्ञाननिवृतिप्रयोजकतावच्छेदकं यद्धतिनिष्ठं विषयप्रतियोगिकं रूपं तद्वर्वमिति पर्यवसितम् 1 . तत्सकिकृष्टेति । पराक्षम्थलेड़ि धूमादिज़ानेन बह्रयादिनिरूपितव्याप्यत्वसम्बन्धिज्ञानत्वादिकं वह्दयादिसन्निकृष्त्वम् । यद्यपि सम्बन्घित्वं सामान्यतोऽतिप्रसक्तम् ; व्याप्यत्वाद्यप्रकारकज़ानेऽपि कम्यचित्सम्बन्धस्य सत्वात्, तथा ठ्याप्यत्वप्रकारकथीनिष्ठतत्तदसाधारणसम्बन्धानामन्यतमत्वेनाखण्डेन निवेशान्न दोषःः। अतएव रूपाद्याकारचाक्षुषादे

## वा तदाकारत्वरूपत्त्रात्। तदुमयं च स्वकारणाधीनस्तभावविशेषात्।

रसादिसन्निकृष्टकरणणन्यत्वेऽपि न क्षतिः। रूपाद्ध ${ }^{1}$ सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्यैव चाक्षुषादौ रुपाद्याकारत्वक्य विशिष्य निर्वाच्यत्वेन रूपादि सन्निकर्षाणामेवान्यतमत्वेन निंबशात् । एवमसत्वापादकाज्ञाननिवर्तकतावच्छेदकमपि तत्तद्विषयसन्निकृष्टकरणजन्यत्वानामन्यतममेव । जन्यत्वं च जन्यतावच्छदद्रीमूतं तत्ताद्विघयसानिकृष्टकऱणावेशिष्टव्त्तिज्ञानत्वम्। तेन तस्य फलोंपधानरूपत्वेन नाननुगमः ${ }^{2}$ । अवच्छेदकक्य तदाकारत्वघटितत्वेन च नात्माश्रय्य:। यम्य यक्य विषयक्य येन येन ज्ञानेनासाधारणठयवहारः तत्तज्ज़ानमात्रनिष्ठानां तत्तद्विषयीयसंबन्धानामन्यतममेव तत्तज्जानेषु तत्तद्विधयाकारकत्वमिति रक्षणयोः पर्यवसितेऽऽर्थः। वस्तुतो 'वृत्तिज्ञानविषययोराकारताख्यः कश्चिदानिर्वाच्यः सम्बन्धोऽखीकियतें इत्याचर्यैरेव वक्ष्यमाणत्वास्स एवात्राभिपेप्रः। तन्य च तत्रत्कारण"सन्निकर्धजन्यतावच्छेदकत्वेनेक्राज्ञाननिवर्तकतावच्छेद़ंत्वन च सिद्धिरिति ज्ञापायितुं द्वैविध्येनोक्किरिति ध्येयम् ॥

ननु—जन्यत्वस्य योग्यत्वस्य च फलोपधानँरूपत्वे'sननुगमात₹त्वरूपयेग्यतावच्छेदकरूपत्वं ${ }^{5}$ पकृते वाच्यम्, तम्य चान्यम्यापरिचया/ुुक्तजन्यत्वयोग्यत्वे एव तथा वाच्ये इत्यात्माश्रयः, तत्राहतदुभयं चेति। स्वकारणाधीनस्वभावविशोषात्। स्वकारणीमूतो यः तत्वद्विषयकरणसम्बन्धन्तद्वटितस्वभावविशेषनिरूप्यं तत्रद्यिषयकरणसम्बन्धविशिष्ट्जानत्वमेवोक्तनिवृत्तियोग्यतावच्छदकमुक्तजन्यतावच्छेदकं च। ज्ञाने उक्कसम्बन्धम्य बैशिष्टयमव्यवहितोत्तरत्वादिरूपार्मति भावः। द्वितीयव्याखुयायंं तदुभयाइ्मक आकाराह्यः सम्बन्ध: ख्ववृत्तिज़ानरूपं

1 सूप्यादि-ग. ${ }^{2}$ नानुगमः-क. ग. ${ }^{3}$ करण-ग. ${ }^{4}$ सूपत्वेना-ग. 5 हूपवव्वं-ग.

न चात्माश्रयः ; निषृत्तिजननस्वरूपयोग्यतया फलोपधानस्य साध्यत्वेन स्वानपेक्षणात् 1. ननु—दृशि विषयाध्यासश्वीकर्तुर्जीवचैचतन्यं वा विषयदृक्, न्रह्मचैतन्यं वा। नाद्यः; जीवेऽचच्छिन्नचित्स्तरूपे कल्पितेऽध्यासायोगात्। न च-- विषयहंक् जीवचैंतन्यमेश, अध्यासस्तु बह्नंचितन्य इति-वाच्यम् ; द्इययोरेनाध्यासिकसम्बन्धापत्ते:, अध्यस्ताधिष्ठानयोरुभयोरपि दृतिभन्नत्वात् । अतएव न द्वितीयोडपि; ब्रह्मणोऽषि कल्पितत्वेन तत्राध्यासायोगाच । न चशुर्दूचैतन्यमेकमेव, तदेवाधिष्ठानम्, तत्रावच्छेदकमविद्यादिकं यंक्कार्य तद्धर्धनस्वभावववंशेषात्तक्कारणाधीनम्वभाव'बिशेषाचेत्यर्यं:
 ंम्याप्ययं स्वभावो यद्नुगतधर्मं म्वकारणतावच्छेदकं कल्पयतीति तद्बलादुक्ताकारसिद्धिरिति भाव: । ननुक्तनिचृत्तिजनकतावच्छेदकात्मक,तदाकारकत्वेनोक्तनिवृत्तिजनकंवं आत्माश्रय: ; उक्तजनकतायास्त"द्धरितम्यावचंछंदकत्वादुक्तनिवृत्तौं तद्धरितम्य प्रयं|जकत्वाच्चेत्याशक्क्य निरम्यति--न चेति। स्वरूपयोग्यतया विषयक्रणसम्बचधानामुक्तान्यतमरूपणणकारारुयविषयसम्बन्धविशिष्टवृत्तिज्ञानत्वन वा।. फलोपधानस्य निवृत्तिजनकत्वम्य । साध्यत्वेन अवच्छेघत्वेन । फलोपधानस्य निवृतिरूपफल्सम्चन्धम्य साध्यं्बन पयेज्यत्वंनेति वा। स्वानपेक्षणात्। उक्तजनकतायां म्वघरितम्यावंच्छंदकतयानंपक्षणात् । उक्तनिवृतौँ स्वघटितम्य प्रयंजकंत्वनानेंक्षणांच । श्रद्सण इभ्वर₹्य । अविद्यादिकं अविद्याप्रतिबिम्बत्वादिकम '। 1 स्वस्य कारणम्वभावविरोषाधंबनस्य कार्यस्य स्वभाव-ग. 2 धर्मः - ग. ${ }^{3}$ जनकतागं- त. ग. 4 अवयाप्रतिविम्बबिम्बिन्वारिक्रम्-ख. ग.

नाधिष्ठानकोटौ प्रविशाति, तदेव च जीवराब्देन च व्यपदिइयते उपाधिविरोषात्, तथाच जीवचैतन्यस्य दृत्केऽपि हृइयाध्यासो नानुपपन्भ इति—वाच्यम् ; श्रुद्धचैतन्यस्यासंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्य प्रसङ्जादिति - चेन्न ; मूलाविद्यानिवृत्यभावेन सर्वत आवरणभिभवाभावेऽपि घटाद्यवच्छेदेनावरणाभिभवादान्ध्यविरहोपपत्ते:। ननु तर्हीदानीमपि ज्रह्मस्फुरणे चरमवृत्तिवैग्यर्थम् ; अधिकमागेऽप्र ${ }^{1}$ तस्य स्फुरणात्, न ह्यखण्डार्थवेदान्तजन्यायां वृत्तौ भावोऽभावो वा विशेषणमुपलक्षणं वा प्रकारः प्रकाशत इति—चेन्न ; उपाध्यविषयक्नह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रगुक्तव्वेन तस्याः साफल्यात्, प्रकारास्फुरणं तु तस्या भूषणमेत्व ; इदानन्तनस्फुरणस्य सप्रकारकत्वेनोपाधित्रिषयकत्वात्। ' एकधैचानुद्रष्टव्यम् ' इत्यादिश्रुतिबलात् स्वसमानविषयज्ञानादेव चाज्ञाननिवृत्तेरखण्डचिन्मात्रज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वावधारणात्। न चान्तःकरणावच्छिन्नैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्तिदशायां तदभावेन हेतुत्वावधारणादिति। नन्विदमयुक्तें, सप्रकारकज्ञानग्यैव संशयादिविरोधित्व ${ }_{\text {IX, एक }}$ एधैवेत्यादि श्रुतिर्ज्ञानानन्दादिविरोध्यज्ञानदुःखादिमत्तया ब्रह्मज्ञानं न मोक्षहेतुरिर्येतत्परा। अन्यथा प्रकारार्थधाप्रत्ययासक्रते। निर्वकतत्वे तु निवर्त्याज्ञानसमानविषयकत्वमपंक्ष्यते, न तु तदनातिरिक्तविषयकत्वम् ; घटपटाविति समूहालम्बनम्य घटाज्ञानानिवर्तकतापप्तेरिति चेत्, अन्तोऽसि ; निप्पकारकस्यापि व्यावृत्ताकारतया संशायादिविरोधित्वम्। सा च द्वेधा विशोषणादुपरक्षणाद्वेल्यादिकं हि पूर्वमाचार्यैरुक्तम्, उपपादित च नितरामस्माभिः। एकधेत्यादिश्रुतिन्तु नोक्तार्थपरा; ताद्टशज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वापसक्ते: किंतु न्यायसिद्धक्याज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानमोक्षहेतुत्वस्यानुवादरुपा सती विधेयाखण्डात्मक्तुतिपरा। अन्यथा 1 भांनेडाप.

कुतहान्याद्यापत्तिरिति-वाच्यम् ; तदाप्यस्य कारणात्मनावस्थानात्, स्थूलसूक्ष्मसाधारणस्यान्तःकरणस्योपाधित्वात्। 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ' इत्यस्मिन् सूत्रे चायमर्थ: स्पष्टतरः। न च वृच्युपरकत्वं चैतन्यस्य न तत्र्रतिबिम्बितत्वम्; दर्पणे मुखस्येवानुन्दूतरूपे $न ् त ः क र ण े ~ श ब ् द ा न ् य प ् र त ि ब ि म ् ब न ो प ा ध ि-~$ ताया अचाधुषचैतन्यस्य प्रतिरिबिम्बतायाश्यायोगादितिवाच्यम् ; उन्मूतरूपवत्त्वं न प्रतिबिम्बितो ${ }^{1}$ पाधिताप्रयोजकम् ; अस्वच्छेडपि लोष्टादौ प्रतिबिम्बापत्तेः ; किन्तु स्वच्छत्वम्, 'तमेव विद्दित्वाSतिमृत्युमेति, अन्यवहार्यमकक्षणं प्रपश्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज़यःः' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः। धाप्रत्ययन्तु विषयरूपप्रकारार्थः। नट्टि विशेषणरूपपकारे धा इति -नियमः । निवर्त्याज्ञानाद्यविषयकत्वं तु ज्ञानेऽपंक्षत एव्त, अन्यथाऽहै मित्यादीनामशि निवर्तकतापंत्तरित्याद्यि विंचचितमेन मिध्यत्वहेतुविवचनने। समूहालम्बनं तु घटाज्ञाननिवर्तकम्. निवर्त्याज्ञानतत्कार्याविषयकत्वस्यैव तदनतिरिक्तविषगकत्वरूपत्वात् । विजातियत्वेन मूलाज्ञाननिवर्तकत्वाच्चरमवृत्तिरेव तथेत्यादिकमव्यसकृनुक्तम । कारणात्मना कारणीमूताविद्यागतसंक्काराह्मना। एतेनाविद्यात्मनाऽबस्थाने अविध्यैवोपाधिरित्यागतमिति——रास्तम् ; यथा हि तार्किकादिमते सूक्ष्मरूपं मनः सुषुप्तौ ' तिष्ठति, तथा मन्मतेडरि ज्ञानचच्छादि़्स्थूलावस्थाप्रच्यवात्। ननु चृंत्तः प्रकाराकर्जवचिच्दुपरागार्थकत्वपक्षे वृत्त्या चिता न तादाइन्म्यं सम्बन्धो जीवस्यानुपाददानत्वात्, नापि प्रतिबिम्बसम्बन्ध इत्याद्याइएक्य निरस्यति—न च वृत्तीत्यादि । उद्शुतरूपहीनेऽपि गुहाकाशादौ मुखाद्यवच्छिन्नराब्दादिप्रतिबिम्बापाधित्वात्। शब्दान्येति। स्वच्छत्व़ं

$$
1 \text { प्रीतिबिम्बनो. अ अन्यथाहमज़ इल्या-ग. }
$$

तन्च प्रकाशास्तभावत्वेन मनसस्तत्परिणामभूताया वृत्तेश्यास्त्येव ; त्रिगुणात्मकस्याप्यज्ञानस्य स्चच्छसत्वात्मकताया अपि सत्वेन तत्रापि प्रतिबिम्बितोपाधिताय $: 0^{1}$ सत्त्वात् । नापि चाक्षुषत्वं प्रतिबिम्बितत्वप्रयोजकम् ; अचाक्भुषस्याप्याकाशादेः प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात्। ननु-चाक्षुववृच्युपारूढचितः कथं रूपमात्र-
प्रतिबिम्बोपाघितायोग्यत्वम् । प्रकारास्वभावत्वेन उत्कोपाधिताविरेाधिरूपहीनत्वेंन। तच फलबलकल्प्यम्। न हि प्रतिबिम्बश्रममात्रेडनुगतरूपणोपार्धनां हतुत्वमाक्ति; किंतु दृष्टतत्तःप्रतिबिम्बभ्रमे तत्तदुपार्धीनां हेतुत्वर्मिति भावः। उत्क हि सिद्धान्तबिन्दौ—" विश्रमहेतूनां विचित्रत्वान्न प्रतिबिम्बानुपपातिरिति। मत्चत्रत्मकताया अपीत्यपिना सत्वाह्मकत्वमपि प्रतिबिम्बापाधितायां न प्रयोजकम्। अता जीवेशाभेदाविद्याचित्सम्बन्धादिपव्वनाविद्यकेप्वपि प्रतिबिम्बापाधितासम्भवेन प्रकाइयत्वसम्भव इति घंययम्। दर्शनादित्यनेन यत्र प्रतिबिम्बोपाधिता बिम्बत्वं च दृइयेत, तत्र नापलपितुं शक्यतें अन्यथा सर्वैत्रैवनुमवापलाप्रसक्नात्। एवं चाकाशास्य बिम्बत्त्र चेद्दुष्टं तदा नापलापार्हम् । अथादृष्टम्, तथाव्यविद्यान्त:करणादौ चित्पतिबिम्बं पूर्वो्तरीत्या - जीवेशावाभासेन करोति, इत्यादिश्रुतिम्रत्यक्षादिमानदृष्टत्वादविद्यादे रुद्युतरूपाभांवऽपि चितोंडचाक्षुबत्वेडपि च नापल्|पर्हमिति सूचितभ्। एतेनोद्द्रतरुपान्यस्वच्छत्वे मानाभावः, आकाशम्य तु प्रतिबिम्बं नास्त्येव; साभ्रप्रभामण्डलादेये प्रतिंबिम्न अकाशीयत्वअ्रमात् , अन्यथा वाख्वांदरपि प्रतिबिम्बापतेरित्यादिमूर्खम्रलापोऽपाF्तः । वृतेश्विदुपरागार्थत्वपक्षे प्रकारान्तरेण दोषं शक्षते-ननु चाक्षुषेति। कथमिति। स्वप्रतिबिम्बवद्वत्तिसंगुक्तसमवायरूपस्योपरागस्य रूप इव

[^137]प्रकाराकत्वम् ? न च प्रभावान्नियमः ; वैषम्यात्, तथाहिप्रभायां तमोविरोधित्वं रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यपि समम्; न हि सा गन्धदेश्र्थं तमो न निवर्तयति, न चाज्ञाननिरोधित्वलक्षणं प्रकाशत्वं रूपं प्रत्येव, न तु रसादीन् प्रतीतिवाच्यम् ; अज्ञाननिवर्तकत्वस्य वृत्तिभिश्धेडनङीकारात्, प्रभाया रूपग्राहकचक्षुःसहकारित्त्वत् गन्धादिग्राहिघ्राणादिसहकारित्वाभावेงपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन तद्वत्सहकारि-

रसादावपि सत्वादिति भावः। रूपं ग्रत्येबेति। रूपावच्छिन्नमज्ञानं चाक्षुपवृत्त्यारूढाचिन्निवर्तर्गति: न तु रसाद्यवच्छिन्नमज़ानमित्यर्थ: तथाच चिदुपरागसत्वेडपि रसादावज्ञानसत्व्वन्न प्रकाञ़ इति भावः। ंवृतिमिन्ने इति। न च—यद्दी|याज्ञाननिवर्तकवृत्त्युपारूढा चित्तदेव प्रकाशयतीति - वाच्यम् ; तथा सति गन्धाकारघाणजवृतेरिव रूपाद्याकारचाक्षुषादिवृत्तेरप्यज्ञाननिवर्तकत्वं वाच्यम्. चाक्षुषादिकाले गन्धा⿳े़ेरिव घ्रणणजादिकाले रूपदेद्रकागक्ग्र तुल्यत्वात्। तथा च वृंत्तः सर्वत्राज्ञाननिवृृत्त्यर्थत्वम्नीकोर । द्वितीये च्वावरणामिमवार्था. वृतिरिति सिद्धान्तन्याघातः । आध्येडपि पक्ष आवरणामिभवाध्यंत्वन द्वितीयेत्वित्यवधारणासख्नते: । अतएव ,ृृ्यवच्छिन्नचितोऽज्ञाननिवर्वकत्वाजीकारऽपि न निम्तारः। नचाद्यपक्षे यथा त्रह्मणि वृत्तेरज्ञाननिवृत्त्यर्यकता, तथा प्रतिनियतेन्द्रियम्राद्यरूपादावपि: सताद्वन्यत्वगुणत्वाद्दाँ तु न तंथति ब्र््यातिरिक्ते सर्वत्र चिनुपरागार्थत्वाद्दितीयपक्ष च जीवस्यंपपादानत्वे तदभावान्नोक्तासक्रतिरिति- वाच्यम् ; तथापि यद़्ीयाज़ाननिवर्तकेत्याद्युक्त्रकारम्बीकरे गौरवात्। ननु-यथा प्रभा चक्षु:सहकारित्वाचद्गाः ब्यस्यैव भास्सिका तथा चिदपि स्यात्तन्राह-प्रभाया इति। सहकारित्वेति

विलग्बेन विलम्बस्य वत्कुमशक्यत्वात्। तथाच चितः सर्वगतत्वेन सर्वसम्बन्धानूपादि वतुरुत्वादेरप्याश्रयद्वारा साक्षाद्वा सम्बन्धित्वात्र्रकाशापत्ति: ; वृत्त्युपरकचित्सम्बन्धस्यैव प्रकाशकत्वात्, ' असझ्रो ह्यगं पुरुष: ' इति श्रुतिस्तु तरक्रुतलेपाभावपरा, न तु सम्बन्धनिषेधिका; ' स यत्तत्र यक्तिश्रित्पइयत्यनन्वागतस्तेन भवति' इति पूर्वनाक्यात्, 'यथाडऽकाशस्थितो निल्यं वायु: सर्वत्रगों महान्' इत्यदिस्मृतेंचेति-चेन्न ; प्रभाया रूपरसादिदेशागततमोनाराकत्वं ततसम्बन्धाद्युज्यते, चैतन्यस्य तु स्व.मावतोऽसम्बद्धत्वात्तदाकारवृर्या तदेकसम्बन्धस्योपादानात्कथमन्यावभासकत्वप्रसझ्नः ? स्तभावतो घ्यसझत्वे 'असङ्भो ह्ययं पुरुष: ' इति श्रुतिः प्रमाणम् । नचैषा लेपाभावपरा ; अकर्तृत्वप्रतिपादनाय सम्बन्धाभात्रपरत्वात्। यथा चैतत्तथा व्यक्तमाकरे।

भाबभासकत्वेत्यर्थः । विलम्बेन अभावेन । विलम्बस्य गन्घाघभासकत्वम्य। यदि स्वपतिबिम्बवद्वांतिसंश्रेष एव चितो भासकतानियामकः सम्बन्धः तदाह-आश्रयद्धारेति । यदि तत्संसृष्टवृत्त्युपारूढचितः सर्वगतत्वनियामकसम्बन्धो भासकम्तदाह-साक्षाद्वेति। अश्रयाद्वारा वेत्यर्थः। तेन जीवस्य गुरुत्वादौ तादास्म्यभावेऽपि नासज्ञतिः। आकरे बृहदारण्यकभाव्यादौ। उत्क हि तन्रयदि स्वाभाविकं कर्तृत्वं स्यात्तदा आत्मनो मोक्ष एव न स्यात्, अतो 'दृध्र्र्व पुण्यं च पापं चे ' त्यारिना कर्तृत्वाभावप्रतिपादनेन स्वभावतोऽकप्र्तिति ज्ञापितम् ‘ध्यायतीव लेलायतीव' इति च पूर्वमकर्र्वत्वमुक्तम्, "तन्र चासकत्वं हेतु:, कारकसत्रिनो हि मूर्तक्य कर्तृत्वं नान्यस्येति। अत एव ठ्यासः —
' शरीरस्थेऽपि कौन्तेय न करेति न लिप्यते।' इजि ।

एवं स्मृतिरप्येतच्छ्रुत्यनुरोधेन नेया । अतः सैैंः सह सम्बन्धाभावान्न सर्वावभासः, किंतु यदाकारा वृत्तिस्तस्यैव। अतएव इदं रजतमिति अ्रमे इदमाकारवृत्यवच्छिम्धचैतन्येन रजतभानानुपपत्ते: रजताकाराप्यविद्यावृत्तिरम्युपयेते। स्वतश्यिए्म्बाग्राहके (बृत्तिमन्तरेण) चैतन्यस्य तदाकारत्वायोगात्, स्वतश्रिद्विम्बग्राहके त्वन्त:करणवृच्यादौं न वृत्येपेक्षति नानवस्था। न चाश्रयसम्बन्धाविशेषेडपि रूपाकारा बृत्तिर्न गन्धाद्याकरोति कुत इति-वाच्यम् ; यथा तव नाध्रुषज़ाने आश्रयसम्बन्धाउत्कं च वार्तिके -

आत्मा कर्त्रादिरुपश्चन्माकांक्षीस्तर्हिं मुक्तताम् ।
न हि म्वभावो भावानां उयावरेतेतौण्यदद्रवेः ॥ इल्यादि।
 श्रय:, अत एव 'न च मस्थ्थानि भूतानि' इल्यपि स्मृतिः सक्चच्छत इति भावः। अत् एव जीवस्य स्वपतिविम्बवद्धृतिविषयय्वसम्बन्बेनैव ' भासकल्वादेव। त्रिंम्बाग्राहक इति। रजतादाविति शेषः। ननु-घटादे:
 तादेम्तु तद्दाषाभावद्वांत्तिकल्पनागौरचाच्च म्वच्छत्वमेव युक्तमिति--चेन्न अम्वच्छरजताय्यर्थिवृत्त्यनुरोधेन प्रातितिकरजतादेर्य्यस्वच्छस्यैव कल्पनात्, रजतत्वाघवच्छेदेनाष्चच्छत्व्वम्य क्टपत्वाच । अन्यथा रजतादिदर्शनोद्देशेन चक्षुरादिंग्यापरः सार्वजनीनो न क्यात् । यғ्य रजतादे: क्वोल्वातिद्दितीयक्षणे प्रत्तातिम्तन्नाइकाले च नाशम्तत्र व्यवहोरडपि ${ }^{3}$ वृर्तिन कर्प्येत; म्वात्पत्तिक्षणेऽपि लाघवेन तत्रतीतीवर्वकुं
 3 क्यानहारिभौडाि-क. ग.

विशेषेऽपि न गन्धो विषयः, तथास्माकमति चक्षुर्द्रारकवृत्तां न गन्ध्रद्याकारत्तम्, इन्द्रियविषयसम्बन्धानां स्वभावस्य नियामकस्य समानत्वात्। ननु-आध्यासिकमूम्बन्धो

शक्यत्वास्म्वच्छत्वकल्पनया तम्य चित्प्रनिबिम्बवत्वसम्भवात्। स्वभावस्य गन्धादिभेदसामानाधिकरण्यम्य। द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति गन्धादिव्यावृत्तात्या रूपादे: कारणत्वम्, रूपादिव्यातृत्तात्या गन्धादे: प्रतिबन्धकत्वं वंति गन्धाद्धिभिन्ननिष्ठ इन्द्रियसन्निकर्ष एव चाक्षुषाद्युपधायक इति भावः ॥

यतूदू तरुपाभावाद्रूतौ न प्रतिबिम्घ इति रोदनं तदपास्तमेव। ननु ‘असक्षो ह्यय' मित्यादिश्रुतिरीशक्य पुण्यपापलेपपरा, 'स वा एष एतभ्मिन् सम्प्रसांद्ध रत्वा चशित्वा दृष्ट्रंव पुणयं च पावं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति, स यत्तन्र किस्क्तिप्पयत्यनन्वागतक्तेन भवत्यसको बयम्,' एवं •स वा एव एतम्मिन् क्वमे रत्वा चरित्वा' इत्यादि 'स वा ए母 एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्ने' त्यादिपर्यायत्रये सुषुप्तिस्वमजाप्रस्सु जींतु रमयितुश्धारयितु: पुण्यवापे दर्ग़र्यतुश्षेश्वरम्य तत्तएकर्मलेपों नाम्तीत्यस्मिन्नर्थ • अनन्वागतम्तेन भवती'त्यन्तेनाक्ते कमेलेपसामान्याभावरूपम्यासकत्वम्य हैतुत्वेन प्रतिपादनात् .

- स्वमेन शारीरममिप्रहल्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । गुक्मादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंस: ॥' इति पूर्वोक्तरोंके इ्शस्य पक्टतत्वाचेति -.. चेन्न ; तत्वजत्बेनेशाम्य पुण्यपापलेपाप्रसक्तया तन्निषेधवैयर्प्याज्जीवनिष्टस्याकतृत्वाद्यज्ञातस्यैव तच्च्हुत्यर्घत्वौचित्यात्। अन्यथा तत्वान्तबु ${ }^{1}$ पइयति इत्यत्र पर्यायन्नयेऽट्यश्रुतस्य णिजर्थन्य कल्पनापतेः। अयमित्यपरोक्षवाक्यस्येश्वरे विरुद्ध-

त्वात्। सझेंनेल्यायुक्तवाक्ये तु स्वमेन सह छारीरं पहल्य ${ }^{1}$ विलाप्य सुप्तान् विशेषज्ञानशून्यान् जीवानलि रक्षीकल्य हिर०मय: स्वपकाशः साष्षी चाकशीति कासते ${ }^{2}$ पुनः कर्मोदोषे शुर्कमिन्द्वियाणमादाय स्थानमेतीत्यर्थाजीव एव प्रकृतः। अत एव तदेते स्रोका भवन्ति स्वमेन शरारीरमित्यादिश्रुतिर्माष्ये इल्थ क्याइ्याता। ह्यायतीव हेलायतीवेव्यायुक्तार्ये एते स्कोका:, स्वमेन स्वमभावेन जारीरंर शरीरममि
 स्रतान् सर्वान् भावानमिचाकशीति, जुकं ज्योतिष्मदिन्द्रियगणमादाब पुनः कर्मणे एति जागरितस्थानं हिरणमयाक्कित्वरसूप एक एव जामस्व्वप्वपरलोकादीन् हन्ति गच्छतीत्येकहंस: पाणेन कुलायं देहमवरं बीभस्सं रक्षन् स्वयं कुलायाद्बहिश्वरित्वा तवनभिमानात् ई्यते गच्छति यत्र कामं यत्र विषयं कामना तं बासनारूपेणादूरंत्वं समान्ते स्वसस्थाने
 नवान् बहनि रूपाणि बासनोद्दूताने कुरते, उत अपि सीभिः सह मोदमान इव जक्षत् हसन् बयद्यैरिव उतेव भयानि उयामादीनि पइयन्, आराममाकीछामस्पानननो वासनोद्रूतां परयन्ति सेे, तं डु
 देवानांपियः शोभते। तष्माजीव एव पकृतः उत्रवाक्येक्।। अन्यथा
 आदायेत्येनेनाभिमान एव वाच्यः, सम्बन्षनात्रस्य शुक्ष पूर्वमपि सत्वात्, तथा च तस्येशे सक्रत्यमावाव् स्थाने तबदोलके पूर्वमीीशस्य स्बेन स्थानमेरात्यस्याव्यसक्रतेश्र। जीवस्य बु मनउपाधिकस्य स्याने पूर्वमसत्बातत्र तस्सक्तत्वाव । सर्वाणि भूनानि मत्लानीतिति तूपपादितमिति ध्येयम्।।

> i भान्तार घहल

Advaita. Vol. II

वृत्तेः पूर्वमप्यस्त्येव, अन्यस्तूपरागो न दृइयत्वे तन्त्रमिति किं तदर्थया वृच्येति-चेक्न ; जीवचैतन्यस्यधिष्टानचैतन्यस्य ${ }^{1}$ वाडमेदाभिक्यक्यर्थत्वाहृतेः । अन्यथा मयेदं विदितामिति सम्बन्धांवभासो न स्याव्। ननु -जीवचैतन्यस्यासझत्वे व्रक्षचैतन्न्यं सुतरामसक्ञम् ; तथाच मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतः सार्वज्यं न स्याप्, न च—्नह्न सर्वोपादानत्वादुपारिं विनैव स्त्वरूपवत्स्वाभिन्नं जगदवभासयतीति—वाच्यम्; उपादानत्वं न तावद्विशिष्टनिष्टं परिणामित्वम् ; आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापत्ते:, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच । नापि श्रुद्धनिष्ठमधिष्ठ|नत्वम् ; श्रुद्धस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादेर-भावादिति-चेक्ष; श्रह्मणोऽसङ्नत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधि तिनैनै तस्य सर्वप्रकाश(क)तया सार्वज्ञयोपपते: i न च-शुद्धनिष्टमधिष्ठानत्वं नोपादानत्तम्, सार्वज्ञयाभावादि-

अन्यः स्वपतिबिम्बद्धृत्तिर्विषयव्वसंसुपोभयरूपः । ह़इयत्वे अध्यक्ततादात्म्यरूपे हक्सम्बन्धं। यद्यवि जीवामिन्नव्रह्नचित आध्यासिकतादात्म्यरूपं हइयत्वं वृत्तिपूर्वमस्ति तथापि तदर्थ न वृत्तिः ; किंतु मयेदं विदितमिति ठयवहारोपयुक्तोपरागायेत्याशयेनाह-न जीवेति। मायोपाधिकेति । मायावृत्तिरूपोपाघिघटितेत्यर्थः । अधिष्ठानत्वम् कल्पितप्रतियोगिकमकल्पितानिष्ठं तादात्यम् । असङ़झ्वेडपीति। याहशः सकः ₹वप्रतिबिम्बरूपो जीवस्याविद्यादौ ताहृशास्य ब्रह्नघटाघोरभावेऽर्पात्यर्थः। अध्यासेन अध्यक्ततादात्म्येन। नोपादानत्वम् न सर्वावभासकतापयोजकोपाद्दानत्वशब्दार्थः । गुद्धस्येति शोषः ।

[^138]त्युक्तमिति-वाच्यम् ; अविद्याकल्पितांनां सर्वशत्वादीनां शुँ्दे सत्वात्। अन्यथा तेषां तटस्थलुक्षुणत्वमपि न स्यात्। ननुआवरणाभिभवार्थत्वपक्षो न गुक्तः ; विवर्ताधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनात्, अन्यस्याश्रानकल्पि-तस्यावरणस्याभावादिति-चेन्न ; अझ्ञानादिसाक्षित्वेन स्वप्रकाऐडाप्यरानायाद्यतीतत्वादिना प्रकाशाभावादावरणस्यावइयत्वात्। नन्वज्ञानस्य नयनपटलवत्पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननारोऽपि मैत्रस्य तदनाशाद्रकारों युक्तः। विषयगतत्वे तु चैत्रार्जितया घृष्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यादितिचेन्न; चैन्रावरणशाकेरेवाज्ञानगतायाध्यैत्रार्जितवृच्या नाशितत्वेन स पइयति, न मैत्र: ; तत्रतियोगिकावरणशक्तेरनाशात्, आवरणशाक्तीनां द्रष्टविषगभेदाभ्यां भिन्नत्वात्, तमस्तु न तथेल्येकानीतग्रदीपेनाप्यन्यान्प्रति अ्रकाशो युज्यते। एतेन-एकाज्ञानपक्षे श्रुक्तिज्ञानेन तद्ञाननिवृतौं। सद्य एव मोक्षापातः, अनिवृतौ रूप्यादे: सविलासंविद्यानिष्टृत्तिरूपवाधायोग इति—निरस्तम्; आवरणशक्तिनाशोऽपि मूलाज्ञाननाशाभावेन सद्यो मोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासशक्तिमदव्विद्यानिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तः। नजु-एकाज्ञानपक्षे रूप्यादे: श्रुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलय-

कल्पितानामिति। परमार्थतः गुद्धमव्यविद्ययेन तत्परिणामसर्वरूपेण सार्व₹यादिनापि कल्पितेन सम्बध्यत इति भावः। तेषामिति। शुद्धं प्रतीति शेषः। उंक्तं हि विचरणादौ तेषां शुद्धं प्रति तदिति भावः। अन्यस्याज्ञानकल्पितस्येति । अन्यत्मिन्नज्ञानकल्पिते इत्यर्थ:। कल्पितत्वाच्छुद्यान्यद्नावृतमित्यर्थ: । अझ्ञानादिसाक्षीत्यादि । शज्ञानाद्युपाध्यवचछछेदेन प्रकारोऽप्यशनायाधतततवत्वोपलक्षितपूर्णानन्दू-

मात्रं क्रियते पुद्रग्रहारोणेव घटस्य, न त्वक्षानं निवर्त्यत इति ते मतं न युक्तम् ; यतो ज्ञानमझ्ञानस्यैय निवर्तकमिति उ्यासिबलाज्द्धानस्याइाननितृीत्तद्वौरवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्य रुव्यांदिनिवर्तकत्वायोगात्, च्युंक्तिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तावमिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धांमवेन भ्रान्तावित्र बाधेडपि शुन्तेर्रकाशापत्ते-श्रेति-चेक्र यतो ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात, स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थाने तदनस्कीकारात् ; श्रुक्तिज्ञान₹याचानवच्छिषचैतन्या वरणरूपमूलाज्ञानानिवर्तकत्वेड्यव-चिछ्छैसचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धाबाघदशायां रूप्यनिवृत्तित्युक्तिप्रकाशयोरम्युपपत्तेः । न चोपादेयभूतया बृत्योपादानभूताविद्याभिभवो न घटते; उपा-देयेनोपादानामिभवादर्शनादिति-वाच्यम् ; बृश्यिकादिना गोमयदेरुपादानस्याप्यभिभवदर्शनात् । अरम्भवादानम्युपगमाच न गोमयावयवानामुपादानत्वशक्षा। ननु चक्षुरादिजन्यन्युक्तथादिछृत्ते: सप्रकारिकाया निष्प्रकारकचुद्वैचनन्याविषयतया तदावरणरूपमूलाज्ञानाभिभवाभावेऽप्यवच्छिमविषयया तयाऽवच्छिकचैतन्यावरणरूपतूलाइ्ञानाभिभवो युज्यत इति ते मतमयुकम्; अवच्छिषे अविद्याकल्पितेऽप्रसक्रक्राशे मूलाविद्याया
रूपेणापकाशादावरणमावझ्यकमिति भावः। उच्छेदविषयत्वादिति। ज्ञानमज्ञानान्यस्य नोच्छेदकमिलेयंवं रूपत्वात्। उच्छेदश्षावस्थितिसामन्यविएहः पूर्बोक्तरीव्या बोष्यः। ननु-तूलाज्ञानानर्गीकारपक्षे वृत्या मूलाज्ञानं कार्याध्षमीक्रियत इति शुक्तिरूप्यादेर्न बाध:, किंतु रुमात्रमिति बाच्यम्, तः न सम्भवति; उपदादेयोोपादानलयादर्शनादित्याशः्रय निस्यति—न चोपादेयेत्यादि। अनम्युपगमादिति।

इव तदावरणझक्रेरयोगाप्, त्तयानम्युपगतत्वाश्च, जडविशिध्रत्मानं प्रति तदम्युपगमे च विशेषणानावारक़विश़िष्टावारकशाक्तयमिमचस्य विशेष्यावारकइत्रयाभिमनं विनाऽयोगेन गुक्तथाकारवृन्यैव ग्युद्धात्मप्रकाशापातादिति-चेक् अनवबोधत्। न बविद्याकल्पितेऽवच्छिने अस्माभिरविद्या वा तच्छक्तिर्वाभ्युपयते, किंतु चैतन्यमात्र एव ; तरिमस्तु सर्वे जडमध्यस्तमस्तीत्येकाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध।जडावच्छिक्षचैतन्यमावृतमिति च्यपदेशः। घटाद्याकारवृत्या तु तदघिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदबच्छेदैनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति न श्रुद्दात्मग्रकाशापत्तिः। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—
'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्थिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः'।।
प्रभादिद्वव्यस्य तत्वदवयवोल्पतिकमेणोोप्यतिस्बीकोरेड्नुभवविरोषान्मानाभाबाच । उत्कं हि भाष्यादौं-‘ द्रच्यारम्मोडपि न सर्वत्रारम्मकसंयोगादेवेति शेष:। आवरणशक्तेः तूलझज्ञानस्य। चैतन्यािम्यक्ताविति । प्रयेजज्यायामिति रेषः । तथाच यद्धपि चुद्दनिष्ठमावरणमात्रम् ; घटादेरेपाघित्वेनाश्रयकोटावपवेशात्, तथापि घटाघाकारवृत्ता कियमाणोडभिभवो घटाघवच्छिन्न एव। अभिभबन्याभिभावकावच्छेदकावच्छिनत्वं हि मण्यादेरुतेजकाधीनाभियवे दृष्म्। अतोऽनवच्छिन्नस्या' वरणा|भिभवस्यापात्वि: पर्यवसिता, शुद्दपकाशापतिर्नेत्यर्थः। आवरणामिमबो हि यधज्ञानस्य नाशस्तदा स बृत्विस्रूपूो वृत्विपयुक्तोडतिरिक्तो वा ; उभयथापि पत्यक्षघटादिवृतेर्षटाघ्यावरणस्य च घटाघवच्छिन्त्वास्तोडपि तथा। यदि तु वृत्त्यभावविशिष्टो योऽज्ञानसम्बन्धस्तद्वावोडमिमवो न नाश-

[^139]
## 'बहु निगद्य किमत्र वदाक्यहं भृणुत सज्रूहमद्वगश्शासने । <br> सकलवाब्लऩसातिगता चितिः सकलवाब्भनसव्यवहारमाक’ ॥

 इति च-तस्मादविद्यायां सत्यामपि शक्तथभिभवाद्वा, तूलाज्ञाननाशाद्वा, अवस्थाविशोषप्रच्यन्वाद्वा, एकदेशनाशाद्वा, मीरुभटवद्पसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वा, आवरणभङ्गानिर्मोक्षबाधानाम्तुपपत्तिः। नन्ववस्थात्रिशोषाणामज्ञानाभिन्नत्वे एकाज्ञानपक्षक्षतिः, अज्ञानभिन्नत्वे च साक्षाज्ञानेन निवृत्तिर्भ्रमाद्युपादानत्रं च न स्यात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननाशां विना नाइप्रसझश्य, श्रुक्तथज्ञां नष्टमित्यनुमवविरोधश्येति -चेक्ष ; यतोऽचस्था ताव-
रूप: अज़ानैक्यात् तदापि घटादिवृत्त्या सम्वद्यमानः स तत्स्वरूप इति घटाघवच्छिन्न एवेति भावः। शक्तशभिभवाद्वेत्यादि। शर्तिरावरणशक्ति: तुलाज़ानमावरणविक्षेपशक्तियुक्त नह्नान्यज्ञाननाइयं मूलाज्ञानतादात्यानापन्नमज्ञानम्। ${ }^{1}$ मूलाज्ञानतादात्म्यापन्नं तु ताहृशाज्ञानमवस्थ।विशोषः । एकदेशनाशस्तु वृत्तौ सत्यामज्ञान₹य 'खवकार्यक्षमत्वम्। तत्र वृत्तिकालाभावविशिष्टमज़ानं भानविरोर्षाति स्वीकारादुपान्त्यपक्षः। वृत्त्युत्पत्तिक्षणोत्वरवृत्तिकालाभावविशिष्टमज्ञानं भानविरेघीति स्वीकारादन्त्यपक्षः। अत एव हस्तसंयोगोत्पत्त्युत्तरं यथा कटस्य वेष्टनम्, तथा वृत्त्युत्पत्त्युत्तरमज्ञानाभिभवः। यथा च प्रतिभटागमनक्षण एव भीरुभटापसरणम्, तथा वृत्युत्पच्तिक्षण एवाज्ञानाभिमव इत्यभिप्रायेण दृष्टन्तौ सक्ञच्छेते। एवं च नानाज्ञानपक्षे यथा वृत्त्या वृत्तिरेव वाऽज्ञाननाश इति पक्षौ, तथैकाज्ञानपक्षेऽपि वृत्तिकाले वृत्युत्पत्त्युत्तरकाले वाऽज्ञानाभिभव इति पक्षाविति ध्येयम्। वक्ष्यमाणरीत्या चरमपक्षाम्यां

दवस्थावतोऽमिधैव, अझानैक्यं तु सर्वावस्थानुस्यूतैकाकारमादाय। एवं चाज्ञानावस्थाया अज्ञानत्वेन न ज्ञानसाक्षाध्रिवंत्यत्वाद्यनुपपत्तिः। यत्ववस्थाविशोषाणामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना निवृत्यापादनं, तद्युक्तम्; अज्ञान एव ज्ञानस्य . साक्षाद्विरोधावधारणेनाज्ञानावस्थायास्तदभिन्नाया ज्ञानसाक्षाचिवर्त्यत्वाह्तव्वात्, न तु रूप्यादीनाम्; अनीद्धक्तात्। अनेकाज्ञानपक्षे तु राक्कापि नोदेति। नतु-अस्मिन् पक्षे एकया वृत्या सर्वतदज्ञानस्य निवृत्तिः, उत एकतदज्ञानस्य ; आघ्ये पुनः भिन्नो वैकदेशानाशपक्षः । एकाकारं अवस्थावद्ज्ञानरूकैकाकारम्। यथा घटादिरुपावस्थास्वनुगतमप्यज्ञानं घटादिनाोो न नइयति, तथा अज्ञानरूपनानावस्थास्वनुगतमज्ञानं तासां नागेऽपि न नइयति । इयांस्तु विशोषः-यदा धटाद्यवस्था सादिरज्ञानोच्छेदं विना नोच्छिद्यते च, अज्ञानावस्था ${ }^{1}$ त्वनादिरवस्थावदज्ञानोच्छेदं विनाव्युच्छियदे चेति। न चावस्थावदभेदस्यावस्थास्त्रक्ञकारो ठयर्थ:, अवस्थानामप्यज्ञानत्वादेव ज्ञाननाइयत्वादिसम्भवादिति—वाच्यम् ; अवस्थास्वज्ञानत्वरूपाखण्डधर्मानक्जीकारादवस्थावदज्ञानताद|स्म्यं विना ज्ञाननाइयत्वाद्यसम्भवादज्ञानाभिन्नावरकस्यैव ज्ञाननाइयत्वादिस्वीकारात् । नच—कुब्यादिरूपावरकस्यापि तथात्वाज्ज्ञाननाइयत्वाद्यापत्तिरिति--वाच्यम् ; चृत्तिसाक्षाद्विरोधितायोग्यत्वरूपस्य सविषयकत्वस्यावरकत्वम्य निवेशात्। नचैवमपि ताहृशावरकस्यैव ज्ञान ${ }^{2}$ विरोधिष्वमिति नियमसम्भवेनाज्ञानाभेद्रोऽवस्थासु वयर्थ इति वाच्यम् ; ताद्हशावरकस्याज्ञानाभिन्नत्वनियम इत्यत्र तात्पर्यात् नीहारेण प्रावृता जल्प्या ${ }^{3}$ । 'अजामेकाम् ' इत्यादिश्रुतावज्ञातोऽयमिति घटाद्यनुगतबयवहारे चैकाज्ञानस्य प्रतीतेश्वेति


शुक्तेः कदाप्यप्रकाशो न स्यात्, अन्त्ये वृत्तिकालेऽपि प्रकाशो न स्यात्, एकस्यावरणस्य निषृत्तावप्यावरणन्तरानिषृत्तेरितिचेच्च ; एकयां वृष्या एकाझ्राननाओोडपि तौैवावारणान्तराणां प्रतिरुद्धत्वात्, यावत्सा तिष्ठति तावत्रकाइः, तस्यामपगतायां पुनरत्रकाइश्योपपद्यते ; अझ्ञानस्य ज्ञानप्रागमावस्थानीयत्वात् । यथा तैंकैं ज्ञानमेकमेव प्रागभावं नाशायति, तब्नाशरूपेणोदयात्रागमावान्तरनिबन्घनमझ्ञातत्वादिठ्यवहारं च प्रतिबधाति, तथा ममाप्यें ज्ञानमेकमेवाज्ञानं निवर्तयति, अज्ञानान्तरनिब-

भावः। नाइरुपेणेति। ज्ञानमेव तत्रागभावनाशः। इत्थं च नाइयतीति भाक्तमिति भावः। निवर्तयतीति। पूर्वयन्निवृत्तेज्ञानातिरिक्तत्वे यथाश्रुतम् 1 वस्तुतो ज्ञानानतिरकेऽपि नाशत्वज्ञानत्वाभ्यां भेदेन प्रयोज्यप्रयोजकमावस्य श्रुत्यादिसिद्धस्य पूर्वमुक्तत्वाद्यथाश्रुतं रम्यमिति ध्येयम्। प्रागभावान्तरनिबन्धनमित्यादि । अज्ञातो मे घट इति प्रत्यक्षं परमते तत्पुरुषायज्ञानाविषयकवृतित्वविशिष्ट्ट ${ }^{1}$ तत्पुरुषीयज़ानस्य संसर्गाभावं गाहते। तत्र यथा तत्पुरुषीयकिच्चिज्ञानविषये घटे ताद्धशा-
 प्रत्यक्षाभावं, तथा मन्मते वृत्तिज्ञानमेकाज्ञाननिवर्तकमन्याज्ञाननिबन्षनस्य घटो न भातीत्यादिवयवहारस्यानुत्पतौ प्रयोजकम्। तत्वं च तादृशव्यवहारं प्रति घटाकारृृत्तेः प्रतिबन्छकत्वात्, वृत्तिविषयत्वाभावकालोपहित एव घटे आवृतत्वम्वीकारात्, वृत्त्यविषयत्वविशिष्टं यद्ज्ञानं तदभाववच्चितो भानत्वर्वीकारेण तस्या वृत्तिकाले घटादौ सत्वाद्वा, सर्वथापि ताहझव्यवहाररूपकार्यानुंप्तित्याप्यार्थक प्रतिबन्षकपदं चृत्तावस्मदीौयै: प्रयुज्यमानं न विरुद्धमिति प्रघट्टकार्थः।

न्धनं च प्रयोजनं प्रतिबधातीति किमु वक्षव्यम्। अत्र च प्रतिबन्धपढ़ेन कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्वं कारणाभावप्नतिबन्धकसाधारणममिहितम् । एवमवस्थाविशोषपक्षेडपि प्रकाशाप्रकाशावुपपादनीयौ। एवममूर्तस्याज्ञानस्य यद्यपि द्णादिना गवादीनामिवापसरणं करादिना कटाद्दिनामित संवेष्टनं च न सम्भवति; तथापि कार्याक्षमत्वसाम्येनापसरणसंवेष्टनपक्षौं योजनीयौ । यथा ह्युत्तेजकाभावसहकुतस्य मणेः प्रतिबन्धकतायामुत्तेजकसत्वे प्रतिबन्धकार्यक्षमत्वम् ; तथा वृत्यभावसहकुतस्याज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायां वृत्तौ सत्यां तत्कार्यानुद्य इति द्रष्टव्यम्। नतुचैतन्यस्य निरवयवत्वात्तस्यैकदेशेन प्रकाखों न युज्यते; अथाकारा इव तत्तदर्थावच्छिन्नत्वमेकदेशाबाब्दार्थ:, तर्हि नागन्तुकपदार्थावच्छिन्नचैतन्यमनाद्यज़ानस्य विषयः ; निर्विषयस्यावरणस्यायोगात्, प्रागनवच्छिम्नावरणमेवेदानीमवच्छिन्नावरणं जात-

प्रतिबन्धकपदेन प्रतिबन्धंकबोघकपदेन। एव्रमिति। एकगा वृत्या एकस्या अवस्थाया नाशोडन्यासां कार्ये च प्रतिबन्ध इत्यादिरीत्येत्यर्थः । एकदेशनागपक्षीयं पक्षद्वयमुपपाद्यति --एवममूर्तेति । प्रतिबन्धकार्येति । कार्गनुत्पादरूपकार्येत्यर्थ: प्रतितन्धकतायों घटो भातीत्यादिव्यवहाररूपकार्योत्पतिप्रयोजकाभावप्रतियोगितायाम् । सा च भातीत्यादिव्यवहांर वृत्त्यभावर्विशिष्टाज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाद्वा वक्ष्यमाणरीत्या वा बोध्या।।

ननुक्तंन्यवहारेडज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वे वृत्ययावविशिप्टाज्ञानाभावविगिष्टचितो भानरुपत्वे च गौरवाद्दितिविशोषस्यैव भानत्वं युक्त-मिति-चेन्न ; सुखादौ वृत्यनझ्नीकारलाघवादे रुत्तत्वात्। अत एव प्रवृत्यादावुत्छाज्ञानाभावस्य हेतुत्वेऽपि न गौरवम्, तद्यकित्वेन तत्र तस्य

मिल्यषि न; अवच्छिब्नैतन्यज्ञानेनैवानवच्छिम्नावरणनाश्रापत्तेः ; एतेन ठ्यकितः पूर्व जातिरिव विषयात्पूर्वमझ्ञानमस्तीति निरस्तमिति - चेन्न ; अनाद्यज्ञानविषयेडनादि चैतन्ये तत्रदागन्तुक्कपदार्थावव्छेदाभ्युपगमात्, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी

हेतुतासम्भवाक । तस्माद्रत्ययवच्छेदकत्वसमानाधिकरणो योऽज्ञानसम्बन्षस्तस्य भानाश्रयत्वन्यवहारे ${ }^{1}$ प्रतिबन्धकंखात् घटादौ वृत्त्यवच्छेद्कत्वकाले तथा व्यवहारः । उक्कसम्बन्धाभावाश्रयतादात्य्यापन्नचिदेव वा भानम्, ंननोक्तकालेडज्ञानसम्बन्धसत्वेडपि तथा व्यवहारः। वृत्त्यविषयत्वसमानाधिकरणस्य|सत्वापाद काज्ञानसम्बन्धस्यास्तित्वाश्रय ठ्यवहारा ${ }^{2}$ नुपपत्तौ* प्रयोजकत्वं बोध्यम्। अज्ञानस्य सम्बन्धस्तु सर्वत्र विषयतावच्छेदकल्ं, तच्च घटादावेव न सुखादाविति वृत्त्यभावेऽपि घुखादौ भानादिव्यवहारः । नाशापत्तेरिति । यदिदानीमवच्छिन्नं तदेव प्रागनवच्छिन्नव्वाच्छुद्रविषयकमावरणामिति तन्नाशापत्तिरिति भावः । अवच्छेदाम्युपगमादिति यद्यपि चिन्मात्रमेवाज्ञानविषयस्तथापि तत्वावच्छेदकत्वं कादाचिक्कपकाशोषु ₹्वीक्रियते, यथा घटाघ्घत्यन्ताभावस्य देशाविशेषसम्बन्धेडनादौौ परमते कालविशेषम्यावच्छेदक्वंवं तद्बदंव च तत्र न नियामकापेक्षा। अन्तु वा स्वावच्छिन्नविषयताकत्वसम्बन्धेन कादाचिट्कप्रकाशकार्य प्रत्यविद्यायाः कारणत्वम्। अनादीध्वरादि. निष्ठा च ताद्धशावच्छेदकता न हेतुनियम्या। अथवा अवच्छेदाम्युपगमादित्यस्याज्ञानविषयता घटाघ्यवच्छिन्नेत्यत्र न तार्पर्यम् ; परं त्वज्ञानविषये शुद्धचिति तत्पदार्थस्बन्बन्ध इत्यत्र । नचैचम्-सुखादै। सर्वदा भातीति न स्यात्, वृत्त्यनवच्छेदकवृत्तेरज्ञानतादात्य्यादेरेव प्रतिबन्धकत्वादि ₹वीकार्यामिति तस्य सदा सत्वादिति--वाच्यम् ; सुखादावेकस्या

[^140]निर्निभागचितिरेव केवला' इत्युक्तवात् । यदवच्छिमगोचरा च धृत्तिस्तदवच्छेदैनैनावरणापसरण़ान्भानवच्छिकचैतन्यावरणभ⿸्ग्रस ${ }^{\prime}$ ः। अतएव बृत्तिविषयादवच्छिन्मचैतन्या-
अविद्यातृत्तेरनादेः स्वीकारमम्भवात्। यदवच्छिकगोचरेति। यदवचिछ्छन्ना यत्संस्रिष्टा यद्धोचरा यदाकारा चेत्यर्थः। प्रत्यक्षवृत्यमिप्रायेणेदम्। तदवच्छेदेनैवावरणापसरणादिति। तस्यैवोक्ताज्ञानसम्बच्छाभाववत्व्व ${ }^{1}$ दित्यर्थः। अवरणमभानापादकं ग्रा्बम्, तेन परोक्षवृते: प्रमान्रो|चरायास्तद्वच्छेदेनावरणनिवर्तकल्वेऽपि न क्षतिः। भ下्ञाप्रसङ्भ इति। अज्ञाननाशं प्रति व्रहाकारतृतेंरंव हेतुत्वाद्धटादिवृत्या न तदापतिरिति भव:। तदेवमेकदेशपक्षन्तर्भविंन चरमपक्षयोग्र्यांर्यानम् II

अथवा चरमपक्षयोः पूर्वमुपाददनम्, ननु ${ }^{2}$ चैतन्यस्य निखखयवत्वादिल्यादिना एकदेशनाइपक्षस्ताम्यां मिब्न एव स्वीकृत्योपाघधने। तत्र यदवच्छिन्नेत्यादेरयमर्थ: - यल्कालावच्छिल्नषटादिविषयगोचरा वृत्तिस्त्क्कालाबच्चेदेन घटा|दिविषयेुु नाज्ञानविपयतावच्छेदकत्वरूपमावरणम्; किं त्वन्यकालवच्छेदेनेति। तथाचात्र पक्षे घटादावुक्तावच्छेदकत्वं वृत्त्यभावकाले, तत्पक्षयोस्तु घटादिकाउमात्र इति मेदः। एवं चास्मिम्न्षक्षेड्ञानविषयतानवच्छेदकर्वविशिस्टघटादिचिदेवेव घटादिभानम्, असत्वापादकाज्ञानविषयतानवच्छे़ककषटादिचिद्धटाघास्तित्व्रििति लाघवभवि बोध्यत् ॥

यचु ग्युक्तयादिज्ञानस्याज्ञानशक्तघमिभावकतं न युक्तम्। श्रेर्जानान्यत्वे आवरणत्वायोगात्, अज्ञानरूपत्वे चाज्ञननारं विना तन्नाशायोगात्, तस्या भमोपादानलेवेड्ञानत्वापटे: तस्यैवाज्ञानरक्षणत्वात्, अमानुपादानले अभोपादानमूल्जाइकाननिवार्ति बिना रूप्यादि-

$$
1 \text { भाबला-न. थन्न-क. }
$$

श्रपनिवृत्त्ययोगात्, शक्तयैवावरणविक्षेपकार्यसिद्धेरज्ञानवैम्यर्यार्यात्, शुक्तयादाविव श्रसण्यपि शक्तेरावइयकत्वेन विपरीतगौरवापत्त्या नानाज्ञानचादस्यैव युक्तत्वाच्चेनि, तन्न; अवस्थास्विव शक्किष्वद्य ज्ञानाभेदम्वीकारेणावरणत्वाद्विसम्भवात्, भेदन्यापि सत्वेनाज्ञाननिवृत्तिं विना निवृत्तिसम्भवाच। अ्रमोपादानत्वेऽपि तासां नाज्ञानत्वम् ; तदाश्रयशाक्तिविशिष्टत्त्यस्यैवाज्ञानलक्षणत्वात् । अथवा शुक्तयादिज्ञाननिवृत्त्या ${ }^{1}$ शक्तिर्न रूप्यादिश्रमोपादानम्; किंतु तत्वावच्छेदिका। उपादानस्य त्वज्ञानस्य ज्रक्षजानेनैव नाशः प्रयोजकशक्तिनाशादुपहिताज्ञानरूपोपादाननाशसम्पत्त्या रूप्यदिरुच्छेद: । न च—शक्तैयव निर्वाहे उयर्थमज्ञानमिति - वाच्यम् ; कार्यानुकूलज्ञाक्तिमत एव कार्योपघायकत्वम्य बद्वघादौ दृष्टत्वात्। न च-शक्तयवस्थापक्षयोरविशेष इति—वाच्यम्, अवस्थास्वावरणविक्षेपशक्किस्वीकारात्, राक्तीनामज्ञानवृत्तित्वं न त्ववस्थानाम् ; अहुराद्यवस्थानां वृक्षादिवृत्तित्वादर्शनादिति भेदाच्च। यदप्येकाज्ञानस्वीकारपक्षो न युक्तः; एकदेशनाशादिपक्षे रूप्यादिनिवृत्तिर्न स्यादुपादानानितृतेरिति, तदपि न; घाधे ह्युपादाननिवृत्त्येेक्षा न तु निवृत्तिमात्रे; तां विनापि घटादेर्विभुविशेषगुणस्य च निवृत्ते: ॥

यत्तु—अवस्थास्वीकारपक्षे सर्वावस्थानुस्यूतैकाकारेण/ज्ञानैक्यसमर्थनं न युक्तम् ; नानाज्ञानवादापत्ते:, नानाघटानुस्यूतैकघटत्वाकारे ऽपि नानाघटवदिति, ततुच्छम् ; अवस्थास्वज्ञानतादात्याएज़कारेऽप्यज्ञानत्वरूपाखण्डधर्मानक्नीकारात् । न हि बीजावस्थायाम हुरादौ बीजत्वादिनियमः, दृष्टन्ते तु घटत्वाश्रयाभिन्न${ }^{2}$ त्वेन घटनानात्वक्य युक्तत्वात्। न चाज्ञाननिवृष्वि विना तदुपादेयावस्था न निवर्तैतेतिवाच्यम् ; अवस्थानामनादित्वेनाज्ञानानुपादेयत्वात्तासामुपादेयत्वस्वी1 निबर्या-ग. ${ }^{2}$ घटत्वाभ्रयाणां भिल-ख ग.

त्रागझ्ञानमस्तीत्यमिप्रायेण विषयात्र्रागझ्ञानमस्तीति सतथूक्तय्। तस्मादधिष्ठानचैतन्यं स्ताध्यस्तं भासयतीति सिद्धम्। तदयमत्र

कोरेऽपि दण्डादिना घटादीनामिव ज्ञानेन निवृच्तिसम्भवात्। तासामंज्ञानाभेदादज्ञानं नष्टमित्यादिव्यवहार इति न तासां कश्पना व्यर्था। यदपि नोपहिते चैतन्येडज्ञानम् ; त₹ग्र जडत्वात्, किंतु शुद्धे, तस्य च घटाइघवच्छेद्रोऽवीत्यवच्छिन्नमावृतमुच्यते इत्ययुक्तम् ; तथा सति तमोघटाम्यां युक्ते भूतले प्रकाशसम्बद्धे भूतलम्येव, अज्ञानघटाम्यां युक्ते शुद्धचैतन्ये प्रकाशसम्बन्धे तस्यापि प्रकाशः स्यादिति, ततुच्छम्; घटावच्छेदेन हि भूतलें आलोकसम्बद्धे तदवच्छेदेनैव तत्रकाशो न त्वन्यावच्छेदेनेति, त्वदृष्टन्तेनैन त्वन्मुखपिघानात् । ननु—नानाज्ञानपक्षो न युक्तः; एकाज्ञाननाशकरगुक्तयादिज्ञानेनान्येषामज्ञानानामिव शुक्तयाद्यज्ञानमात्रस्य प्रतिरुद्धत्वसम्मवेन ब्रह्मान्यज्ञानमात्रस्याज्ञाननाश कत्व ${ }^{1}$ प्रसकादिति--चेन्न; शुक्तयज्ञानं युक्तिज्ञानेन नष्टमित्याधनुभूतिपालनाय श्युक्तयादिज्ञानस्याप्यज्ञाननाशकत्वस्वीकारात् ॥

यतु-यदवच्छिन्नगोचरा वृत्तिस्तदवच्छेदेनावरणापसारणान्नानवच्छिन्नचिदावरणभङ इत्ययुक्तम्; शाखावच्छेदेन संयोगाधारास्य वृक्षत्ववद्यटाध्यवच्छेदेन भमावरणस्यापि श्रुद्धचित्वान्मोक्षापतेरितिततुच्छम्; एकदेशनाशपक्षे हीदमुक्तम्, एकदेश़नाशश्ष घटादिनिष्ठस्याज्ञानविषयतावच्छेदकत्वस्य वृंतिकाले वृत्त्यभावविशिष्टत्वेनाव्याव्यवृत्तितया बा विरहः, न च तावता ब्रह्साज्ञाननिवृत्तिरापघ्यत इति व्यारु्यातम्। तस्मादबोधमूलकः पर्रलाप: ॥

तस्मादिति। उक्तदोषाणामुद्धारादित्यर्थः। घटादै। जीवन्यानुपादानत्वे सर्वगतस्यापि तस्यासक्तस्योपरागार्था वृचिरिति पक्षेऽपि

निष्कर्ष!-यद्यपि विषयम्रकाराकं विषयाधिष्ठानभूतं प्रमेयचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिसचैतन्यं तुं प्रमात, अन्तःकरणवृत्यवच्छिक्णचैतन्यं तु प्रमाणम् ; तथापि यदीयान्तःकरणवृत्या विषयपर्यन्तं चक्षुरादिद्वारा निस्सृतया यत्रकाशां चैतन्यं यत्रमाबचैतन्या-
धटाद्रेरघिष्ठानी मूतं ब्रद्षँचैतन्यमेव प्रकाशकम्, प्रकाशस्य साक्षाह₹्वसम्बद्धभासकत्वस्यालोकादौ दृष्टत्वात्। वृच्चिद्वारा ताहहाचैतन्ये जीवस्योपरागं विना ममेदं भातीत्यादिव्यवहाराभावार्जिवस्य प्रकाशकत्वं पूर्वमुक्तम्, तत्पर्यात्रोचनाच्चोक्तपक्षेडपि वृत्त्यादिघटितसम्बन्धेन जीवोपरक्रमधिष्ठानचैतन्यं प्रकाइकामिति पर्यवसितम्। स्वप्रतिबिम्बवत्सुखादितादास्म्येन जीवोपरक्तमधिष्ठानचैतन्यं सुखादौ भासकम्। एवं चोक्तपक्षे वृत्रेरावरणाभिभवर्थथ्वपक्षे चापि प्रमेयचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्योपरागनिष्पादनन्मयेदं साक्षाक्कियत इत्यादिव्यवहारनिर्वाहिका वृत्तिरिति, पूर्वोक्तपक्षत्रयेपि प्रमातृपमे वचितोरुपरागार्थत्वं वृतेरित्यादि पूर्वानुकं प्रकटयति —यद्यपीत्यादि। प्रमेयचैतन्यमिति। चैतन्य ${ }^{1}$ स्यैवाज्ञातत्वान्मुरूयं प्रमाविषयत्वम ज्ञा नत्वाबच्छेदकत्वाद्धटोदरिति भाव: प्रमात्रिति। मनोविशिष्टैतनन्यस्य चक्षुरादिप्रेरणद्वारकवृत्यवच्छिन्नविषयचैतन्यरूपप्रानिष्पादकत्वेन प्रमातृत्वमिति भावः। प्रमाणमिति। वृष्तेर्बिषयसंश्रेषं प्रत्युपधायकत्वेन तज्जनकक्रियादिजनकत्वेन वा वृत्तिसंश्रिष्टविष्यचिद्रूपां प्रमां प्रति वृत्यवच्छिन्नचैतन्यं करणमिति भावः। केवलवृत्तेर्जड्वेन चिदुपरक्रा विषयसंश्रिष्टा वृत्ति: पमा। तन्र च चिदुपरकैक्रवृतिरुपधायेकोक्तजनकत्ववती वेति सैव पमाणम्। केषलस्य मनसो जडत्वेन केवलचितश्र निठर्यापारत्वेन प्रमां प्रति स्वातन्रयाभावाच्चेटुपरफ्巾 मनः प्रमात्रिति त्रयाणां चिद्धटितत्वमावइयकमिति भावः। तथापि

[^141]मेदेनामिव्पज्पते तमेश स एग जानाति नन्न्यं नान्यो वा। अत एवैकृृत्युपारूबत्वरक्ष्षणैकलोलीयावापषं प्रमावप्रमाणप्रमेयजैतन्यं भवति। ततस्तद चच्छेदेनाज्ञाननिवृत्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते। तंत्त्वर्यं भासमानं सत्त्वाष्यस्तं त्रयाणामौप|धिकमेदसत्वेडवि। जानाति साक्षाॅकरोति। नान्यमिति सुखादिमिन्नमिति शेषः। तेन सुखादिसाक्षाएकरणे वृत्यनगेक्षगेडपि न क्षतिः। नान्य इति। जीव इति ईेष:। तेंशेस्य मनोवृत्यनपेक्षसाक्षाएकर्वृत्वेडपि न क्षतिःः। कथं मिन्नोपाधिकले डव्येमेदामिठ्यक्तिस्त त्राह-अत एवेति। वृत्तिनिस्सरणादेवेलयर्थः। भावापन्ममिति। तथाचेपाषीनं मिलनादमिलन 'घयुक्तो भेदो नइयतील्यमेदादाभिव्यक्तिरिति भावः। फलवयाप्यतारूपं साक्षाहक्करकर्मल्वं घटादे $\mathbf{q q ा द ् य त ि - त त ~ इ त ि । ~}$ एकलोलीभावादिलर्यर्थः। तदवच्छेदेन घटादिविषयावच्छेदेन। निबृत्या भासमानं निबृत्यमिन्नस्य भासमानल्वस्स्यश्रय:। नृत्रेर्ञाननिवृत्यर्थत्वपक्षन्यपषक्षयोराप़ जीवचिद्दिपयचितोरहुपरागनिवृत्रिरूपो वृत्यादिद्वारकोपरागः प्रमातृपमेयचितोरमेदश्चाज्ञाननिवृतिशान्दार्थो बोध्यः। ताद्धानुपरागभेदयोर्भातीतित्वयहारविरोधिव्वात् । अपरोश्षं अपरेक्षशब्बबोोघ्यम।
 एकदेशनाशादिपक्षे 5 प्युक्तविशिष्टाजनसंबचध्धस्याज्ञानविषयतावच्छेदक त्वस्य वा विरोडज्ञाननिवृतिबोध्या। तस्य च वृत्रियुक्तव्वास्मलत्वम्।
 करणमेव घंसो ज्ञानमेव ₹्वमागमावनिचृतिरित्यादिमतेकु ज्ञाने नाझानं नष्टमिल्यादिपत्रतितेस्तथावश्यं वाच्यमिल्याचुक्तम्। वृतेर्जीवचिदुपुरागर्थत्थवक्षे जीवचिदेमेदाभिव्यक्यर्थल्बवक्षे च बृत्यादिद्वारकोप-

[^142]घटाद्यपि भासयतीति तत्फलव्याप्यमित्युपेयते । यकिष्ठा च यदाकारा वृत्तिर्भवति तबिष्ठं तदाकारमझ्नानं सा नाइायतीति नियमात्रमातप्रमेयोभयव्यापिन्यपरोक्षवृति: स्वावच्छेदेनावरणमपसारयति ; प्रकाशस्य स्राचच्छेदेनावरणापसारकत्वदर्शनात् । अतः प्रमात्रवच्छिष्मस्यासत्वावरणस्य श्रमेयावच्छिक्षस्याभानावरणस्य चापसरणात् घटोऽयं मे स्कुरतीत्याद्यपरोक्षउ्यवहारः। परोक्षस्थले तु इन्द्रियसचिकर्षलक्षणद्वारामावादन्तः-करणनिस्सरणाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन सह प्रमावचैतन्यस्यैकवृच्युपारूहत्व्शभावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्तयभावेपि प्रातृभ्रमाणचैतन्ययोरेकलालीभा-

रागः प्रमात्रभेद和 विषयचिति फलम्। ताह्दशफलसテन्धाच्च विषयचैतन्यं फलम्, ताहछशचिदेव भात्यादेर्थर्त्तत्र्योजकाचेदेव साक्षाहकरोत्यदेरर्थ:। एवंच घटं साक्षाइकरोमीत्यादौ फलीभूतम्य धात्वर्थतावचछछेदकोक्तचैतन्यस्याश्रयत्वाद्वरादे: कर्मत्वमिति भावः। ठ्याव्यं आश्रयः ननु —परोक्षवृत्तिस्थलेडप्यज्ञानं नष्टमित्यनुमवातपरोक्षभ्रमोच्छेददर्शानाचाज्ञाननाशो वाच्य:, तथाच वन्हिर्मे न भातीति व्यवहारों न स्यादपरोक्षभ्रमोच्छेदश्वश्व स्याद्वित्यत आह-यभिष्ठेति । उक्तंश्रेषसंबन्छेनेत्याब्विः तनिष्ठं तदवच्छिन्नाश्रयतकम्। तदाकारं तदवच्छिन्नविषयताकम् । स्वावच्छेदेन स्वावच्छेदकावच्छेदेन। न्फुरतीत्यादीत्यादिना घटं साक्षात्करोरात्यादिसंम्रहः। घटो मे स्फुरतीत्यादावुक्ताज्ञाननिवृचिसंबन्घिाचिद्रूपस्य स्फुरणम्याश्रयत्वं घटादौ विशेषणम्। प्रमातुस्तु ताह्धशिनिवृत्विप्रतियोगिन्यज्ञानादौ। निरुपितत्वादिसंबन्धन विशेषणत्वम्। सुखं मे स्फुरतीत्यादावपि सुखादावज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वरूपोक्रनिवृतिसत्वात्नानुपप|तिः। घटं साक्षात्करोमीत्याद्वौ तूक्तभानरूपफलेग्रयोजक-

प्रतिक कमेम्यवस्थोपवाती:
वापंल्य' प्रमात्रवच्छिन्ममसत्वावरणमात्रं निवर्तेते ; तावन्मात्रस्य वृत्यवच्छिकत्वाव । इदमेव सुषुप्तिव्याब्टत्तेशब्देन विवरणाचाँैयर्व्याख्यातम् | विषयावच्छिन्नाभानावरणतत्कार्यसन्र्रावेपि श्रमात्रबच्छिक्षासत्वावरणनिवृत्याज्नुमानादौ व्यनहारोपपात्तिः। अत एव जानाम्यहं पर्वेते वन्हिरस्तीति, स तु कीद्रा इति मे न भातीत्यादिव्यवहारः। त्रयाणामेकलोलीभावेडपरोक्षत्वम्। द्वयोरेकलोलीभाने तु परोक्षत्वमिति न सक्कः। बृत्तेश्न विषयेण

चितो बृत्यवच्छिन्नल्वेन प्रमाणचिद्दुप्लादाश्रयंव्वन प्रमातारि विशेषण-
 फले चाधेयतया घटादेविंशेणन्वम्, सुखं साक्षातकरोमील्यादौं त्वज्ञा.नविषयतानवच्छे६कव्वसमानाधिकरण|चिद्दूं फलं प्रति मनउपहितं चैतन्यं पयोजकमेव; उन्कसामना|धिकरण्यषटकं सुखादिके प्रत्यधिछ्वानत्वान्युखादिपरिणामिकारणमनोवच्छिन्नव्वाद्वा, ताह़ग़ैचैतन्यम्य च צुसा|्युपहितरूपण. प्रमाच्चाश्रितत्वमविहद्दम्र ${ }^{2}$ । अवियां साक्षात्करोमील्यादावपि नानुपपातिः; अविदादिनिम्ठेड्जानविषयतानवच्छेदकलेलनुपहितनिद्दूपेण चैतन्यम्याधिष्टानत्बाद्दिना प्रयाजकत्वाताहाह्यवितः प्रातारा तादाल्मेंन विर्रेषणत्वसम्मयान्च। अथवा आश्रयस्याश्रित पति क्षेमसाघारणजनकतया च्वातन=्युरूपकतृत्वेवाएँ्यातेनोल्लिए्यते Fफुरतीत्यादाविति भावः ॥

जानाम्यहामिल्यादि । अज्ञानाभावश्रयनिज्ज्ञानं बन्नि जाना-
 ल्यादौ सुखादिनिरूपितमज्ञानं पुरुषन्तरंर परिद्दम्। प्रमातरि चावन्छेदकतासंबन्घेन ज्ञानं ज्ञानावच्छेदकल्ं वा विशेषणम्। असत्वापादका-
 advaita. Vol. II

ज्ञानाभावं प्रति प्रमातुखच्छेदक्त्वानद्विशिष्टचितं पत्यप्यवच्छेद्कसंव्। अत एव घटो जानातीति न स्यात् । घटादावसत्वापादकाज्ञानएभावावच्छेदकत्वे मानाभावात्। असत्वापादकाज्ञानाभावपयोजकचिद्या ज्ञानम्। तत्वं च पयोजकीभूतृृत्यवच्छिन्त्वेन । प्रमाणाचित एप प्रयोजकतावच्छेढक्रमातृनिषतादास्येन तस्य विशेषणश्वनियमान्न घटो जानातीत्यादिव्यवहारः । घुखं जानामीत्यादौ च सुखादिनिरूपितासत्वापादकाज्ञानाभावस्य तत्तन्मनउपहितनित्येव कल्पितत्वास्सैवाधिहानल्वेन प्योजिका। जानातिश्रार्मक एवं अतएवं परोक्षज्ञानस्य विवरणादावकर्मकव्वमुक्तम्। तस्य सकर्मकलेवे त्वसत्वापादका((ज्ञांनविरोषि) ज्ञाननिरूपकत्वस्ये यद्विकरणतं त्प्रयोजकाचेदेव जानाततिर्यर्थ। उत्काषिकरणत्वरूपफलवल्वेन ${ }^{3}$ घटादेर्ज्ञानकर्मता। सुखादिनिह्हे ताहशाविकरणत्बेडपि स्युखाद्युपिततरूपण चित्रयोजिका, सुखादेरसत्वदशायां ताहछशचिद्भावे उत्ताधिकरणत्वाभावात्तद्रावे तद्रावाच्च। उत्रनिरूपकत्वाभावपयोजकचितो जानात्यर्थत्वे घटाकारृृतिदशायां प्रमततारं जानामीति स्यात् ; ताहशवृत्तिपयुक्त्योक्तनिरूपकत्वाभावस्य प्रमातरि सत्वात्। उत्काषिकरणत्वोल्कौ तु प्रमातृनिष्ठस्य तस्य स्वतः सिद्धावेन घटादौ विभाभावाधिकरणत्वस्य मक्रलगपयुक्तत्ववत् वृत्यवच्छिन्नादिचिद4पयोज्यत्वान्नोक्तापषिः। एवं च वृत्यवच्छिन्नरूपण सुखाद्युपहितादिरूपेण 'च ताद्शताहछघपयोजकत्वाद्वत्ययच्छिन्नचितो जानाल्यर्थतोक्किरिति ${ }^{6}$ तः्र तत्राचार्याणां नासक्षता Ii

यत्यु—आवरणभः्जनकज्ञानं ज्ञानानुक्रूलम्यापारो वा जानातेशिच्छाद्वेषाघनुक्रूऊक्यापार इच्छतिद्देषचयदेर्थ इति ज़ानात्यादेः सकर्म-

1 कर्मत्वे-ग. 2 ज्ञानादिर्पकत्वस्य-स. 3 फलत्वेन-क. 4 ग्रृत्यव-च्छिचिद्-ग. 5 कि:-ग.

पर्रीकीयुयवस्प्यपपात्ति:
समं साक्षादेवापरोक्षस्यले संबन्धः। परोष्ष्स्थले त्वन्गुमितेरनु मेयेन तद्भाप्यक्षनजन्यत्वम्, शाब्दाः संसर्गेंण सह तदाश्रयबाचकपदजन्यत्वम्, समृतेः स्मर्तन्येन सह तद्विषयात्रुभवजन्य-
कतोपपादनं वैय्याकरणानंगं, तब्न ; आवरणमक्रूपस्य फलस्य परोक्षछ्चानविषयनिष्त्वाभावात्, प्रमातृमात्रनिष्षृत्त्या पमातृनिहै्यैयावरणभर्ञस्य सम्पादनात्, परम्प्रया फलसम्बन्षमादाय सकर्मकल्लोकावकर्मसस्यापि तदापते:, 'फरुव्यापाययोर्षुतुर'ग्यांद्विजा तस्यापि त्वया स्ववाच्चव्यापारसमानाषिकरणफलवाच्कल्वोक्ते:, उुखादिस्पले आवरणस्पैवाप्रसिद्वत्वाच । अत एव ज्ञानमपि न फलम् ; चैतन्यस्य तदृ़ित्जिानस्य परोक्षस्य विषयनिघ्वच्चाभावाद्विघयतासम्बन्षस्य वृत्य.नियामकल्वात्युखादिस्थले तदसम्गवाच। यदपि विषयताजनकज्ञानादिक जानात्यादेरर्य हति, तदपि न; विषयताया ज्ञानाघतिरिक्तलेड़ि ज्ञानादिजन्यले मानामावात्, ${ }^{1}$ स्वोपवतिंक्षणे स्वविषयकक्वाभावात्। तस्माजानातेक्र्तरीयैयैव सकर्मकलव्वम्। इच्छल्यद्येन्तु फलमययोजकेच्छादिरवार्थः। फलं चेच्छायाः सुखादौ़ पमातृसम्बन्षादिः, गबदौ स्वत्तादि:, द्विपेश्च शत्त्रादौौ तत्तदनिह्हम, सुखाबनुपचतावपीच्छादेक्तस्सम्बन्ष्व्वरूपयोग्यल्वानपायात् । सुखमिच्चतीत्यादिपयोगो प्रामप्रापचचुपानेऽपि पामं गच्छतीव्यादिपयोगवदिति दिक्। साक्षाल्कारोतिजाना-
 कतमस्मािः पूर्र्म ॥

साक्षादेवेति। गन्षादिभिन्ननिष्ह: ₹वसंयुक्तसमवायो रूपादौ, बद्दसमबाबादी रूप्लादौ। स च यद्यपि परम्परारूप:, तथापि द्रव्ये

[^143]
# त्वम् । एवमन्यत्रापि परंपरासंबन्ध एवेति परोक्षापरोक्षविभागः। 

 विस्तरेण व्युत्पादितास्माभिरियं प्रक्रिया सिद्धान्तबिन्द्रै। तस्माद्विषयस्य मिथ्यात्वेपि प्रतिकर्मव्यवस्थोपपनेति दिक् ।।इल्यद्वतसिद्धौं प्रतिकर्मष्यवस्थोपपतिः ॥
संयोगः साक्षात्सम्बन्घ इति कचित्साक्षात्सम्बन्धसत्वात्साक्षादेवेल्युक्तम्। निष्ठान्तस्थले आकारारू्यवक्ष्यमाणविषयताविशेषेषेतेति वा वाच्यम्। अवच्छेदकत्वसम्बन्धो वा साक्षात्सम्बन्धो ग्राह्यः। स च चाक्षुषादिप्रतियोगिको यथा गन्घादिव्यावृत्तस्तथा प्रतिपादितमस्मामिरन्यत्र। अयमित्यादिस्थलेडपि ${ }^{1}$ गोसादृहइयादिविशिष्टविशेष्यकस्वप्रकारकज्ञानजन्यत्वं गवयपदवाच्यत्वादे रूपमित्यादाविति ोोषः । अनुमित्यादौ वन्बादार्विछेयतारूपस्य सम्बन्घस्य निर्वचनमिदम् । वन्हित्वादौ तु तद्धाटितः सम्बन्धो बोध्यः। यावद्भिः सह यन्य ज्ञानस्य यावन्तोऽसाषारणाः सम्बन्धाहतावदन्यतमत्वं तेषां तन्र सम्बन्धतावच्छेदकमनुगतमाकाराख्यः संबन्धो वा अनुगतो बोध्यः । सिद्धान्तबिन्दाविति । "शरीरं .क्याव्य तस्य मध्यस्थः सत्त्वप्राषन्नेय पश्चीकृतपक्षभूतपरिणामोऽतिस्वच्छो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य घटादिसंसृष्टस्तदाकारो भवति। स च सौरालोकचक्षुरादिवत्सक्षेचविकासशाली। तस्य च देहावचिछनन्नो भागोऽहछाराख्य: कर्ता, देहघटादिमध्यवर्ती दण्डायमानो भागो वृत्तिज्ञानाख्य: किया, विषयस्थभागस्तु विषयस्य ज़ानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वम्रुच्यते। तत्र च मनसो भागत्रयेऽतिक्वच्छे चिद्रिव्यक्ता भवति। तत्र कर्तृभागावच्छिन्ना सा प्रमात्री, कियाभागावच्छिन्ना प्रमाणम्, विषयगतभागावच्छिन्ना प्रमितिः, प्रमेयं तु विषयगतं ज्नह्नचैतन्यम्, तदेव ज्ञातं ${ }^{2}$ सत्रलम् " इत्यादि प्रकिया सिद्धान्तबिन्दूका।।

$$
{ }^{1} \text { उपामेल्यादिस्थलेडपि-ग. } \quad 2 \text { ज्ञानं-ग. }
$$

## अथ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्.

ननु-मिथ्यात्वानुमानं प्रतिकूलतर्कपराहतंम्। तथाहि विशं यदि कल्पितं स्यात्, साधिष्टानं स्यात्, न चैवम् ; सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्वस्याघिष्ठानत्वप्रयोजकस्य निर्विरोषे निस्सामान्ये च ज्रद्नण्यसम्भवादिति—चेक्ष; स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विरोषेणाज्ञातत्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वेन ज्ञात ${ }^{1}$ विशेषवत्वस्याप्रयोजकत्वात्। पुरुषो न वेति संशयर्धर्मिणः स्थाणोरप्यन्यत्र ज्ञातस्थाणुत्वरूपविशेषवत्वात्रत्रातविशेषवत्वमपि न प्रयोजकम् ; विशेषवत्रेनाज्ञातत्वस्यैव लधुत्वेन प्रयेजकत्वात्।

तर्कै: सारस्वतै रतैै्थन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्नध्वान्तभक्ञाय प्रतिकर्मव्यवस्थितिः ॥
इति प्रतिकर्मव्यवस्था।

## अथ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्.

स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विरोषेणाज्ञातत्वस्येति। ज्ञात्वे सत्यज्ञातव्वस्येल्यर्थ:। ज्ञातस्याव्यज्ञातलं न विरुघ्यते; ज्ञातसामान्य रूपष्याप्यज्ञातविशेषरूपकत्वसम्मवादी़्यमिम्मे्य स्वरूपेण बिरोषेणेत्युपातम्। यद्यपि सद्वृपवर्वूर्णनन्दानदेरुपयोर्न न्यूनाधिकृृतित्वरक्षणः सामान्यविशेषभावः, तथापि भ्रमकाले भासमानं सामन्यं बाछकाले भासमानं विशेषर्दपमिति बोध्यम्। तत्राज्ञातेति। यद्यापि स्थाणुत्वमन्यत्र ज्ञातमपि स्थाणावज्ञातमिल्यज्ञातविशेषवत्वमक्षतम्, तथापि भ्रमधर्मिणि ज्ञातविकेस्स्यान्यचाज्ञात्वसम्मवात्तदानीं च भ्रमानुपचेस्तत्राज़ाते-

तथाच निस्सामान्ये निविंऐेषे च श्रद्सणि स्वप्रकाइात्वेन ज्ञानात् परिपूर्णत्वानन्दत्वादिना चाज्ञानादिष्टानत्वम्युपपत्मम्। वस्तुतस्तु कल्पितसामान्यविशोषवत्वं च्रह्कण्यपि सुलममेव; अकल्पितसामान्यविशोषवत्वं चाप्रसिद्धम्। नच तत्कल्पनेऽन्योन्याश्रयः ;

त्यवरयं वांच्यम्, तथाच गौरवमिति भावः। स्वप्रकाशत्वेन झानात् स्वपकाशचिद्रूपज्ञानात् पऱपूर्णानन्द्तत्वादिना चाज्ञानात् परिपूर्णानन्द्स्वरूपविषयकाज्ञानाच्च। उपपन्नमिति। यद्यव्युक्तरूपद्वयं वस्तुत एकं: तथापि तयोराविद्यकालाद्धिभेद्स्य स्वीकारेण पूर्णानन्दादिरुपमेवावृतम् न तु चिद्दूपम् । अत एव पूर्णानन्दो नास्ति न भातीत्यादिध्यवहारो न तु चिद्र्षं नास्ति न भारीतिभ वृः। एवमज्ञातत्वस्यैवाधिष्ठानत्वे प्रयोजकत्वं, रूप्यादिआ्रमे शुक्तयाद्यवच्छेदेनेव जगद्नूमे किज्चिद्वच्छेदं विनैव चिद्ञाता सत्यधिष्ठानमित्युपपाद्य ${ }^{1}$ । यद्घज्ञानविषयविशोषवत्वं प्रयोजकम्, तथापि न क्षतिरित्याशयेनाह——स्तुतस्त्वित्यादि । अथाज्ञान ${ }^{2}$ विषयविशेषवत्रस्य नाधिष्ठानत्वे प्रयोजकत्वम्; रूप्यादिग्रमस्थते तदभावात्, पूर्णानन्दादिरुपस्य ताहृशविशेषवत्वस्य नेदं रूप्यमित्यादिबाषकालेपि सत्वात्, कि त्वज्ञानविषयतावच्छेदकविशेषावच्छिन्नत्वस्य प्रयेजकत्वम् ; $\therefore$ तच्च चुस्रयाध्चवच्छिन्नवर्वरूं रूप्यादिभ्रमेष्वेवास्ति, न तु गगनाघध्यासस्थले इति-चेन्न ; यस्य भ्रमस्येपादानाज्ञानविषयता किश्चिबवच्छिन्ना तत्रोक्तावच्छिन्नत्वस्य प्रयोजकत्वेऽपि, गत्र साऽनत्वच्छिन्ना-
 च भ्रमान्तरे क्लहत्वाभावेन गगनाध्यासेऽपि न तत्कल्पनं युक्तम्; किं त्वज्ञान'स्वरूपकत्वमेवाधिष्ठानत्वे पूर्वोंक्त प्रयोजकं युक्तमिल्यावेदयि-तुमाह-- सुलभमिति। कल्पितसामान्येति। संसृष्टतया कल्पितत्व-

$$
{ }^{1} \text { त्गुपपाया-ग. } \quad 2 \text { अथाज्ञात-ग. } \quad 3 \text { वाप्ययाजक-क. }{ }^{4} \text { अक्षात-ग. }
$$

कल्यितसामान्यविशोषाणां ग्रवाहानादित्वास्, सत्यत्वानन्द्वत्वाबीं: नामेव कल्पितव्यक्तिमेदेन सामान्यत्वात्, परिपूर्णननन्दत्वादींनों च विशेषत्वात्। अतएव सामान्याकारझानं विंना संस्कारात्डुदोधात्कथमध्यास इति न वाच्यं, सदात्मना स्वरूपझ्ञानस्यैव सामान्यज्ञानत्वात्। न ह्य वानेव विशेषः-यद्धिष्ठानं स्वत एव सदात्मना भाति, अध्यसनीयं तु तत्संबन्धात्। नन्वधिष्ठानतिरोधानं विना अ्रमासंभवः; प्यकारूपतिरोधाने तु तद्यस्ताविद्यादे: प्रकाशानुपपत्तिरिति-

मत्र बोध्यम्। प्रवाहेति। सर्वदा संसृष्टतया प्रतीत्यभावेन सादिप्रातीतिकत्वादिल्यादि:। तेषामानन्दत्वादिरुपेण सदा प्रतीतिस्वीकारेण पूर्णानन्दत्वादिरूपेणावृतत्वात्सदा प्रतीत्यभावापपचेरसंसृष्टरूपेण मिथो--मिन्नरूपेणं चानादित्वे तु नान्योन्यशश्रयत्वशाक्षा। कशमिति। इदं रजतमित्याकारसंककारो यथा साद्हइयादिविशिष्टधर्मिज्ञानेनोद्धुद्धस्ताद्धशअ्रमे हेतुस्तथा सदाकाइमित्यादिसं₹कारोऽपि तदुद्नद्धस्ताहृश्रमे हेतुरिति तं विना कथं स इति भावः। ननु-सद्रूपं नाजिष्ठानम, अध्यसनीयानुविद्धल्वेनाप्रतीयमानत्वात्तत्राह—न हीति। विशोषाज्ञानमध्यासकारणामिति सिद्धान्तवाक्ये विशेषाज्ञानपदं न विशेषाविषयंका- ज्ञानपरम् ; शुक्तिरूव्यादिश्रमस्थले शुक्तित्वादिविषयकाज्ञानप्रसिद्धे: किंतु भ्रमविषयन्यावृत्ताकारकज्ञानस्याभावपरम् । ताद्दशस्य शुक्तित्वादिप्रकारकज्ञानस्य शुक्तिरूप्यादिश्रमं प्रति मूलीमूताज्ञानोच्छेदकत्वेन तद्भावस्य तत्र प्रयोजकत्वेन क्रपप्तत्वात्। उद्रनिर्विकल्पकप्रमाया यधपि न विशोषणविषया ठ्यावृत्ताकारकत्वम्, तथाव्युपलक्षणविषया द्वैताभावाधाकारकत्वस्य प्रागुपपादितत्वान्नानुपपतिरित्याइये-

चेत्, न; एकसैयवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकारासंभवात्। तदुक़ं वार्तिककारपादै:-

यत्र्रसादादविद्यादि सिद्धघतीव दिवानिशम्।
तदप्यपन्द्रुते ऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुक्करम् ॥ इति।
न च—बाधकालेउपि सद्वि 1 शेषज्ञानमस्तीति-वाच्यम्; परिपूर्णानन्दत्वादे: ${ }^{2}$ सत एव विशेषत्वेन तदा तदज्ञानाभावात्। धर्मत्वमात्रस्यैन कल्पितत्वात्। यद्वा अ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्न्रं, न तु विशोषाजानम् ; विश्शोपादानगोचराझानस्य श्रवणादिजन्यमात्ममात्रविषयकं वृत्तिरूपं ज्ञानं विरोधि, न तु चिद्नूषं स्वतः सिद्धं ज्ञानम्; भ्रमविरोधिनश्य वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्येदानीमभावोऽन्त्येत । नन्वात्मानात्मनोर्द्रण्टृद्हयत्वात्मानात्मत्वादिना भेद्ञानात्कथमध्यस्ताधिष्ठानभात्र इति-चन्न। इद्मनिदं न भवतीतित पुरोवर्त्यपुरोवर्तिनेनेर्मेदग्रहे ऽपीदं रजतमित्यध्यासवत् सन् घट इत्याद्यध्यासो भविष्यति । न है रूपान्त

नाह-यद्वा अ्रमेति। भविष्यतीति। सन् घटो नेति भेदग्रहाभावादिति शोष:।

यत्तु सत्वपूर्णानन्दत्वाद्दीनां मिथो धर्मिणश्ष कङ्पितभेदसत्वात्साम।न्यविशोषत्वमित्यम्मदाचार्योन्कि श्रुत्वापि निर्विशेष्रद्मवादे त्रस्सण: सामान्यविशोषासंभव इत्यादि कूजितम्, तत्स्वकुलवराभवपयुक्तमूच्छछामाहांम्म्यम्। यदपि यद्वेल्यादि न युक्तम्; मुख्याज़ानविरोघित्वे वृत्तेर्मुख्यज्ञानत्वापति:, चिद्रूपमुरुयज्ञाना ${ }^{3}$ विरोधित्वेनाज्ञानस्य मुरुयाज्ञानत्वाभावावत्तिश्येत्यादि, तदपि तथा ; वृर्ति विनापि सुखादौ ज्ञानव्यवहारादिना वृत्तौ मुरुय्ञानान्यत्वस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामज्ञानविरोधित्वस्य च

$$
1 \text { असद्वि. } \quad 2 \text { स्वत. } \quad 3 \text { मुर्यज्ञान-क. }
$$

रेण मेदग्रहो रूपान्तरेणाध्यासविरोधि; सन् घट हत्यादिप्रत्यये च सद्ूूपस्यात्मनो घटाद्यनुविद्धतया भानान्न तस्य़ घटाद्यध्यासाघिष्ठानतानुपपत्तिः। सदूपेण च सर्वज्ञानविषयतोपपत्तेर्न रूपादिहीनस्याप्यात्मनः कालस्येव चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः। ननुविश्वं यदि कल्पितं स्यात्तदा सम्रधानं स्यात्। न चैवम्; तस्मान्न कल्पितमिति चेन्न ; अत्रापि प्रधानस्य सजातीयस्य सत्वात्, पूर्वप्रपश्वसजातीयस्यैवोत्तरप्रपश्वस्याध्यसनात्।

मानसिद्धत्वात् । चिन्मात्राविरोधित्वेऽपि वृत्युपारूढचिद्नूपमुरूयज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानस्य मुरुयत्वसंभवात् । न ह्यनभिव्यक्ताम्मयदाबत्वेऽऽपि तृणाद्युपारुढाम्मिदाध्घक्य न मुरुयममिदाब्यत्वम् । तस्मादमुरूयत्वं स्वीयंय नाज्ञाने त्वमारुरुरुप: ${ }^{1}$ । सर्वज्ञानत्रिषयतेति । उपपादितमेततपूर्व मिथ्यात्वहेतुविवेचने । यतु—सद्विषयकघटादिचाक्षुषादेव मोक्ष: स्यादिति, तन्न ; श्रवणादिप्रयुक्तवृतिरेव मूलाज्ञाननिवर्तिका, तस्या एवाज्ञानतत्कार्यविषयकत्वेनाज्ञानसमानविषयकत्वादिल्यादे रुक्तत्वाद्धटा दिवृत्त्यावरणे निवर्तिते सद्रूपं च्व्रफ्रकातया भाति न तु वृत्त्यविष्य ${ }^{2}$ इत्यादेरव्युक्तत्वाच्च। यदपि घट: ₹फुरतीत्यत्र सफुरणानुविद्धतया घटो न प्रतीयते ; किंतु घटकर्तृकं स्फुरणमिति, तदुपि न; अशाब्दबोधे स्फुरणस्य घटांशेनाभात्ं। शाठदबोंधेइपि तादाँन्यमाख्यातार्थ इति घटस्य स्फुरणतादात्यं प्रतीत्या फफुरणाधिष्ठानकत्वाविरोधत्। अत्रापीति। प्रधानपदेन यदि देशान्तरे कालन्तरं वा विद्यमानमध्यक्तजातीयमुच्यते, तदा जगद्यासस्य तद्वत्वव्याव्यत्वमिष्टमिति भावः । यदि ताहदशं सत्यं तत्पदेनोच्यते, तदा तादृशां्याव्यत्वे मानाभाव इत्याझायेनाह-

$$
\text { - }{ }^{1} \text { माप:-ग. } \quad 2 \text { तृत्तिविषग-ग. } \quad 3 \text { भानात्-ग. }
$$

अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते न तु संस्कारविषयस्य सत्यताम्; अनुपयोगात् । नच-प्रमाजन्य एव संस्कारो अ्रमहेतुः। अतो विषयसत्यत्वमावइयकमिति-चाच्यम् ; मानामावाव, विपरीते लाघवाश्च । अत एवाध्यस्तसजातीयं पूर्व-मध्यस्तापेक्षयाऽधिकंसत्ताकमपेक्षणीयमित्यपि-मिरस्तम्; सत्यतावद्धिकसत्ताया अप्यनुपयोगात्। पूर्व तु ज्ञानमात्रमपेक्षते, तचास्त्येव। नन्वेवमधिष्ठानस्यापि ज्ञानमात्रमेव हेतुः, न तु तदिति न सदधिष्ठानापेक्षा स्यादिति शून्यवादापत्तिरितिचेन्न ; अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा अ्रमाहेतुत्वेऽप्यझ्ञानद्वारा अ्रमहेतुत्वेन सत्वनियमात् । अ्रमोपादानाज्ञानविषयो हधिछ्ठानमित्युुण्यते, तच सत्यमेव ; असत्यस्य सर्वस्याप्यज्ञानकल्पितत्वेनाज्ञानाविषयत्वात्, तदसत्यत्वे तदूझ्ञानस्य.

अध्यासो हीति। विपरीत इंति। अ्रमजन्यसाघारणेन संस्कारत्वेन हेतुत्वे इत्यर्थः। हेतुः प्रयोजक:। न तु तदिति। न तु प्रमाघटकतयाऽघिष्ठानसत्वं ${ }^{1}$ प्रयोजकमित्यर्थ:। शून्यवादापच्तिरिति। तथा च. यथाऽधिष्ठानप्रमाहेतुत्वेनाधिष्ठानं सत्यमपेक्षते, ${ }^{2}$ तथा प्रमाजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वेन प्रधानं सत्यमिति शोष: । नाघिष्ठानप्रमात्वेन हेतुत्वम्; येन दृष्टन्तेन ${ }^{3}$ प्रधानप्रमाजन्यः संककारो हेतुरुच्येत, किंत्वज्ञानविषयक ${ }^{4}$ त्वेनाधिष्ठानसत्यत्वापेक्षणान्न शून्यवादापतिरित्याशयेनाह—नाधिष्टानेति । ज्ञानद्वारा कारणीमूतप्रमाघटकतया अ्रमाहेतुत्वे भ्रमाप्रयोजकत्वे। अज्ञानद्वरा कारणीमूताज्ञानविषयतया। अ्रमहेतुत्वेन भ्रमोपादानत्वेन । अज्ञानकल्पितत्वेन अज्ञानप्रयुक्तलेन। तदवच्छेदकीमूतास्वप्रकाशत्वेनेति यावत्। तथा च जडғय ${ }^{1}$ पिष्ठानं-क. ग. ${ }^{2}$ मपेक्ष्यते-ब. ग. ${ }^{3}$ तब़ध्तन्तेन-ग. ${ }^{4}$ विषय-ग.

च्रमावाधकत्वप्रसकात्, जगति भ्रमबाधठ्यवस्था च न स्यात्। बाधेन हि किचिद्विरुद्धं तत्वमुपदर्शययता आरोपितमतत्वं बाधनीयम् । उभयाध्यासे तु किं केन बाध्यते। अत एव

प्रकाशाप्रसक्तया नाज्ञानविषयत्वम्ं। स्वप्रकाशस्य तु चैतन्यस्य मोक्षकालेडऽ्यन्वयान्नासत्यतेति भावः । अ्रमाबाधकत्वेति। ब्यावहारिकश्रमांबांधकत्वैंस्यर्थ: । तेन प्रासीतिकश्रमे मिथ्याभूतगुक्तयादिज्ञानस्य बाधकत्वेऽपि न क्षतिः। ननु-मिथ्याविषयकज्ञानमपि बाषकमस्तु तत्राह-जगतीति। विरूद्धं ठयावृत्तरूपम्। तच्वं चध्यापेक्षयाडधिकसत्राकम् । उपदर्शययता विषयीक्रुर्वता। एवकारः शेष:। उत्कं हि भामत्याम्-'तत्वपक्षवातो हि षियां स्वभावः। यदाहुर्बाष्या अपि-

निरुपद्रवमूतर्थर्वस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यब्नवत्वेऽपि ${ }^{1}$ बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ इति ॥ बाध्यापेक्षयाधिकसत्सांविषयकधीरेव बाधिका स्वभावात्, न तु न्यूनसत्ताकविषयकषीरिति तत्र पर्यवसितार्थः। यत्तु-स्वामस्यगजाब्यभावज्ञानस्य स्वामगजादिधीःाघकत्व'माचार्यैः पूर्वरुक्तम्। त्रत्र बाधो मिध्यात्वनिश्ययः। तथा च मिथ्यात्वस्य स्वान्यूनसत्ताकस्य स्वसमानाधिकरणाभावस्य प्रतियोगित्वरूपतयाऽधिकसत्ताकाभावज्ञानं विनापि तनुपपद्यत एवेति ध्येयम्॥

यत्त्वबाधितविषयकज्ञानस्य बाधकत्वेऽन्योन्याश्रयात् त्रिचतुरकक्षास्वबाषितविषया स्वमर्षवत्पश्षाद्धाध्य ${ }^{3}$ स्याप्यधिष्ठानस्य धीर्बाषिका संभ-, वति, अथाषिछ्ठानस्य बाधानुपलम्भात्सत्यता बाच्या; तर्हि प्रषानः: स्यापि तत एव साऽस्तिति-तन ; यद्दि बबाधितविषयकत्वेन ज्ञाय-

$$
1 \text { बाथापुषवतेडपि-ग. }{ }^{2} \text { बाषक-क. }{ }^{3} \text { धीवल्यध्याषाध्य-ग. }
$$

भगवता भाष्यकारेण 'सत्यानृते मिथुनीकुत्य' त्युक्तम्।. नन्वेतत्त्रपश्नसाध्यार्थक्रियाकारिणः प्रपश्र्रान्तरस्याभावेन स्तोचितार्थक्रियाकारिणोस्य न मिथ्यात्वमिति-चेन्न ; स्राममायादौ ठ्यभिचारात् स्तोचितक्रियाकारित्वस्य पारमार्थिकसत्वाप्रयोजकत्वात्। नापि-श्रुत्यादिसिद्वोत्पन्यादिमच्नं सत्त्रे तन्त्रम्; स्ञ्रमप्रपश्वे ठ्यभिचारात्, तस्यापि 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः स्रृजत' इत्यादि श्रुत्योत्पत्यादि प्रतिपाद्नात् । न च-कल्पाद्यभ्रमायोगः ; कल्पान्तरीयसंस्कारस्य तत्र हेतुत्वात्। न च—जन्मान्तरीयसंस्कारस्य कार्यजनकत्वेऽतिम्रसङ्नः ; अदृष्टादिवरोन क्रचिदुबोधेडप्यन्यत्रानुद्रोधोपपत्ते:, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुष्षयनात् 1 अन्यथा जातस्य स्तन्यपानादों प्रथृत्तिर्न स्यात्। नजु-चैत्रण मैत्र संस्काराध्यासेऽपि मैत्रस्य अ्रमादर्शानात् जगब्बमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं दुर्वारम्। न च—स्त्रेनाध्यस्ता-

मानप्रमा बाधिकोच्यते, तदा प्रमायां तथा ज्ञातायां स्रमो बाधितः सन् बाषितविषयकत्वेन ज्ञेयः । ततो अमस्याबाधकर्वज्ञानात् तेन। बाधितविषयकत्वं प्रमायां ज्ञेयमित्यन्योन्याश्रयः स्यात् । अबाधितविषयकधीत्वेन बाधकंत्वे नु नासौ। वस्तुतस्तेन ज्ञायमानत्वरूपेण बाधकत्वे डपि सर्वसााक्षित्वादिनाधिष्ठानस्याबाध्यत्वनिश्र्ययस्य पागुक्तत्वान्न श्रमस्याबाघकत्वनिश्थयस्तत्रापेक्ष्यत इति नान्योन्याश्रयः। अत एवाघिष्टानवत्प्रघानस्यापि बाधनुपलम्म इत्ययुक्तम् स साक्षित्वादिनाधिष्ठानस्य बाष|सम्भवेऽपि प्रषानस्य संसृष्टत्वद्टर्त्वत्वादिना बाघसम्भवात्। कल्पाद्यभ्रमति। तककल्पीयज्ञानजन्यसंसकारस्य पूर्वमभावानित्यादि: । स्तन्यपानाद्गविति । इष्टसाषनत्वस्टृत्यसम्भवेनेति

स्संस्काराद्धमः; अ्रमात्पूर्व स्उस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यास-नियमाभावादिति-चेक्न ; धुक्तिरुप्यस्य कुण्डलाजनकत्ववचैत्राध्यस्तसंस्कारस्य मैन्रभ्रमाजनकत्वेऽपी वणिग्वीधीस्थरूप्यस्य कुण्डलजनकत्ववत्त्वेनाफ़्यस्तस संस्कारस्य वियदाद्यघ्यासजनकत्वोपपत्तेसत्र्र्तात्यमावेजपि तदध्यासस्य पूर्व सत्वाव्, कुत्लसापि ठ्यावहारिकपदार्थस्याज्ञातसत्वाभ्युपगमात् । ननु— प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य व्वन्मते व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववझ्यावहारिकग्रप्रेडपि 'नेह नाने’ ति ग्रैकालिकनि-

श्रेष:। कार्यानुमेयसंस्काराध्यासनियमाभावादिति। यतः सं₹कार: कार्यरूपलिकैक्कगम्योइतः प्रतीत्यभावात्यूर्व त्सस्वे मानाभावादिलर्यः। आगन्तुकदोधजन्यत्वाच्तुत्तिरूप्यादिकमिव चैच्राध्यत्तैप्रसंस्कारो न कार्यविशेषेजनकः ; अध्यमततवेडपि वणिग्रीधीरूप्वमिवोक्तजन्यत्वाभावात् स्वभ्मिन्मैर्रेण कल्पितः संक्कारः कार्यविशेषजनक इल्या-शयेनाह--न शुर्त्रीति। पूर्व सत्वादिति। न च-वियदादेरध्यासत्त्वाभावैनैवैपपतेत्न संककारो वियदादिकार्यकल्प्य इति-वाच्यम् ; हछइयत्वादिना वियदादिमिथ्यत्वनिश्चयोत्तरं तदन्यथनुपपत्या तक्कह्पनात्। वियदादिसत्यत्वमतेडपी जन्यव्वेन विनाशिल्वेन च भ्रुत्यादिसिद्धस्य पूर्व'कल्पीयस्य सूक्ष्भावस्थारूूो नाइश ' एवोत्रककल्पीयस्य प्रागभाव इल्यइएं वाच्यम्। 'तद्देदें तर्बठव्याकृतमासीत्' भूतगामः स एवायं भूल्वा मूल्वा पहीयत, इत्यादि श्रूतिस्हृतिम्यो निरन्वयनाशाससकार्यवादायोगात्, तथा च स एव नाशः संस्कारशब्देनाष्माभिरुच्यमानः स्थूलावस्थवियदादिरुपेण जायत इति संककाहहेतुवव्व दुर्वार्ताच।

षेघस्य पारमार्थिकग्रपअ्रान्तरविषयताऽवइयं वाच्येति-चेण ; अ्रमबाधवैय्यधिकरण्यापातेनास्य पक्षस्यानझीकारपराहतत्वात् । अन्गीकारेपि व्यावहारिकनिषेछे पारमार्थिकनिषेघत्वं न सम्मवति ; अभ्रतीतस्य निषेधायोगात्। प्रतीत्या सहाध्यासातिरिक्तसम्बत्धाभावेन पारमार्थिके प्रतीतत्वामावात् । नतुप्रधानाधिष्ठानयोः सादृइयामावात्कथमध्यासः? अथ निर्गुणयोरपि गुणयोः साद्धइयवदत्रापि किश्रित्साहइयं भविष्यतीति, तब्न ; निर्धर्मके त्रह्मणि तस्याप्यध्यासाधीनत्वेनान्योन्याश्यात्। यद्यपि साद्धइयं सोपाधिकाध्यासे न कारणम्, व्यभिचारात्। तथापि निर्रपाधिकाध्यासेऽन्वयव्यतिरेकाग्यां तस्यावइयमपेक्षपीयत्वात्, सोपाधिकेपि 'रक्तः स्फटिक' इत्यादौ द्रण्यत्वादिना सादृइयस्य सत्वाचेति-चेक्म ; अविद्याध्यासस्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य साहृइयानपेक्षत्वात्, अन्तःकरणाध्यासेऽव्य विद्यासम्बन्घित्वस्चैव साहइयस्य विद्यमानत्वात्। वस्तुतस्तुन अमे साद्छइयस्यापेक्षानियमः, निरुपाधिकेऽपि 'पीतः शा

प्रपझ्जान्तरविषयकेति। उक्कनिषेषप्रतियोगित्वेन प्रपश्चान्तरंविषयकेत्यर्थः। निरुपाधिकेऽपीति। न च-पीतः शा इत्बा इत्यादौ नेत्रररिमसंस्पृष्टपित्तद्वव्यस्य शख्वादौ संसर्गाचदीयं पतित्वमनुभूयमानमारोप्यत इति सोपाधिकाध्यास पवायमिति-वाच्यम् ; एतत्कल्पनायां मानाभावात् । परम्परासम्बन्घेन गोलकावच्छिन्ननेत्रस्थपितादिदोषाणामेव श्रादौ स्मर्यमाणवीतत्वादिश्रमहेतुत्वस्यैव प्रयुक्तत्वात्। अन्यथा पुरु-
 ततेनैव गृघ्य इति नियमकल्पने गौरवात्। आदिपदग्राझ्ये रूप्य3.-

$$
1 \text { से त्वाव. } 2 \text { प्रपश्वान्तरे-ख. ग. } 3 \text { प्राव्यरुप्य-ग. }
$$

इत्यादौ व्यभिचारात्। 'रक्तः स्फटिक' इत्यादावपि द्रव्यत्वादिना साद्टईयमस्तीत्यपि न; प्रधानमात्रपृन्तितया प्रागवगतमध्याससमये चाधिष्ठानवृत्तितया गृहीतं यत्तदेव हि सादृरयं विपर्ययप्रयोजक मिति त्वयापि वाच्यम्, न तु प्रागेन प्रधानाघिष्ठानोभयषृत्तितया गृहीतम्; तस्य संशायकत्वात्। द्रण्यत्वादि च लोहितालोहितवृत्तितया प्राग्गृहीतमिति न विपर्ययप्रयोजक्। । किश्व साद्हरयं न स्वतो भ्रमकारणम्; मानाभावात्, किन्तु संस्कारोद्दोधेन सामग्रीसम्पादकतया, संस्कारोदोधश्थ सृत्रागतशुक्नजलादौ नीकरववदिभ्रमे सोपाधिकत्वस्य शा्तितुमशक्यत्वात् 1 तत्र जपाकुसुमादिवत्त्वधर्मसब्ब्रामकरूपस्योपाधेरसम्भवात् । शुक्तयादौ रूप्यादिसाद्धइयाज्ञानकाले नीलभागावच्छिन्नसन्निकर्षादिरूपाया विशोषदर्शनसामग्रयाः सत्वेन तयैव प्रतिबन्धादूप्य|द्यध्यासानुत्पत्तिसम्भवेन कापि अमे सादृरयज्ञानहेतुत्वे मानाभावाच्च। प्रागवगतमिति । प्रघननसम्बन्धितिया यत्कदाचिदवगतं तस्यैव साद्वइयस्य शुक्कृवादे : प्रघानसंसकारोहोधकत्वमिति तथावगतत्वमावइ्यकं बोध्यम्। अध्याससमये अध्यासेत्पत्यं्यवहितपूर्वसमये। प्रागेव अध्यासोत्पत्त्यउयवंहितपूर्वसमय एव। संशायकत्वादिति। प्रधानस्य लौहित्यादिमत्तयाऽघिष्ठानस्य स्फटिकादेल्लौहित्याद्यभाववष्चया गृद्समाणत्वादुभयतृत्तित्वरूपसाधारणधर्मत्वरूपत्वत्साधारणधरर्मीविधया तज्जानस्य ${ }^{1}$ संशयंजनकत्वादित्यर्थ:। तथा च—संशयसामझघां सत्यां न निश्चयरूपो अम इति भावः। साद्धइयं साद्टइयज्ञानम्। संस्कारोबोधेनेति। उद्वोधश्थ शक्तयुत्पाद्नादिरूप इति भावः। अथवा न स्वतो अ्रमकारणमिति। स्वतः साहछइयघीत्वेन अ्रममात्रें कारणं नेत्यर्थ: । संस्कारोदोधेन संसकारचरमसहकारित्वेन । सामग्रीति काचित्कभ्रमसामग्रीत्यर्थः। एंव च

[^144]न साद्टइयैकनियतः ; अद्टष्टादिनापि तत्सम्मवात् । तदुकम्—'सद्यातदृ्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति । चिन्तादिकं च. भ्रणिधानस्तत्रे क्याख्यातम् । तथाचान्यतः संस्कारोद्धोधे सति सादृइयमनुपयोगि । तदुक्तं विवरणे-

नब्यमते संस्कारचरमसहकारिण एवोद्बोधकरुपत्वेऽपि न क्षतिः । प्रणिधानसूत्र गौतमोक्तपश्चाध्यायगित तृतीयाध्यायीयद्वितीयाह्द्वसस्थे " प्रणिषान निबन्धाम्यासलिक्नलक्षणसादृयपरिप्रहाश्रयााश्रितसम्बन्घा-नन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशायभाप्तिव्यवधनसडुखदु:खेच्छाद्धेषभयार्थित्वकियारागधर्माधर्मनिमित्वेम्य" इति सूत्रे। प्रणिधानं चिन्ताधारा यस्मिन्विषये तद्नताविशोषाणां ${ }^{1}$ स्मारिका, निबन्धः एकवाक्योक्ताः प्रमाणपमेयादयो मिथः ₹मारकाः । अम्यासः ज्ञानावृत्तिकृतः संसकारः शीमश्मारकः, लिक्ञ ठ्याव्यम्, लक्षणं उ्यावर्तकम्, साद्इयं सद्टरौ मिथ: स्मारकौ, एवं परिग्रहः स्वस्वामिनौ, अश्र्रयाश्रितौ पोषकपोष्यौ, संबन्धा: शिष्याचार्यादिभावापन्नाः, आनन्तर्य पूर्वापरकालानुष्ठेयाः ₹नानतर्पणादयः, वियोगां वियुक्ताः, एककार्य एककार्या:, अतिशयो न्यूनाधिकतामापन्नःः, ${ }^{2}$ विरोधि विरुद्धाः, प्रात्तिः प्रव्यप्रापकाः, व्यवधानं अच्छाद्याच्छादकाः असिकाषादयः ${ }^{3}$ सुखदुःःे अनुभूयमाने मूलक्य स्मारके, इच्छा, न्नेहो यत्र जातम्तम्य, एवं द्वेषः भयं यतस्तस्य मुहुः स्मारकम्, एवं अर्धित्वं अप्रास्त्छा ${ }^{4}$ यत्र तस्य, क्रिया रथाधिशिएं, कर्तु: रागो लबषविषये बुभुक्षा तन्य, धर्मो गतजन्भादे:, अधर्मो दु:खहेतुः धीविषयस्य, निमितं कार्यकारणादिभावापन्ना मिथ: स्मारकाः, सर्वेषां स्मारकाणामुपलक्षण-

1 यास्मनन विझाषाणो-क. ${ }^{2}$ न्यूनाधिकतापनाः-क. स. ग.. ${ }^{3}$ कोशा -दयः-ग. 4 अप्राप्रासीच्छा-ख. ग.
 गन्बसहघः सर्गग््ध दतिन्त्साहरयान्तरं बा गड्पीतिमादाबिव कारणान्तरं बा कल्यपती'ति । ननु-दोपं विना ध्रमस्वीकारे तदप्रामाण्यस्य स्तरस्त्वापत्तिः, दोष्जन्यत्वस्तीकारे उु दोषस्याप्यध्यसनीयंत्वेनानबस्थापात्तिरिति-चेक्ष; अनाखविधाष्यासस्य दोषानोष्षत्वा् । साब्यध्यसस्य चाविधादिदोषजन्यन्वानाश्रमाण्यस्प स्वतस्तमा ; नाप्यनसस्था। अन्यया वार्किकणांमप्यनादिप्रमा गुणं विनापीति प्रामाणपयरतस्वं भन्पेत। जन्गप्यमामात्रस्य गुणनन्यत्वं तु जन्याध्यासममत्रस्य दोषजन्यत्तेन समम् । ननु—्लाषवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रं प्रति संसर्गंधिय छव धूममान्रं प्रति बन्हेरिक जाष्यासमान्ं प्रति दोषादीनां जनकत्तादविद्याष्यासोडरपि करं क्टसमकारणेन विना भबतु! अन्पथा संतर्गर्रिपिप्रृृत्तिविंगेवे बन्हिरीप धूमविशोपे हेडारसंति स्पाद; तथाचाख्यातिवादभानुमानमात्रों्छेदभापघेयाताम् । किचालिदारूपतिपयस्पनादिल्बेगपि तत्रतीतोर्दोषोजन्यल्व प्रामाण्यापतः अभामाण्य्रयोजकस्प दोषजन्प्वस्याभागव, अथ भेदबदविद्याख्यदोषस्य
 मझ्ञात" मिति व्यबहारो भचतु ; प्रीतिमान्र习ररार्व स्रवि-
 चेक; अध्यासत्वस्म लगुल्वेगपे प्रभमोपस्थितत्वेडवि न दोष-


 Advaita. Vol. II

जन्यतायां तन्त्रत्वम् ; दोषस्यापि हृतत्वेनाज्यसनीयतयाड्नवस्थापत्तेः। यथा नित्यझ्ञानवादिनां ज्ञानत्वस्य न शरीरजन्यतादाववच्छेदकत्वम्, नवा गुणजन्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजनकत्वम्, बाधक्कलांत, तद्वंजन्याध्यासं प्रत्येन दोषादीनां कारणत्वम्; गुणाजन्यत्वेऽप्यवाधितविषयतयानित्यज्ञानप्रामाण्यवत् दोषाजन्यत्वेऽपि बाधितविषयतयानाघ्यध्यासस्याप्यग्रामाण्योपपतिः। बाधितविषयत्वेऽपि न दोषजन्यत्वमवच्छेदकम् ; दोषजन्यत्वे5व्यवच्छेदकान्तरान्वेषणेडनवस्थापातात् 1 बाधितविषयत्वस्य दोषाजन्यषृत्तित्वेऽपि दोषजन्यत्वस्य तद्वयाप्यत्वोपपत्ते: । अंत एवं शंबरस्वामिना 'यस्य दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनो नान्य' इति वदता दुष्टकरणजन्यत्वमन्तरेणाप्यर्थान्यथात्वमप्रामाण्यप्रेयाजकमुक्तम् । अविद्याध्यासरूपस्य साक्षिचैतन्यस्याविद्याजन्यत्वान म्युपगमाब प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याघातः ; अहमझ्न इत्याद्यभिलापकारणभितषृत्तिरूपाध्यासं प्रति त्वविद्यायाः कारणत्वमस्त्येव, घटादीनामिव स्वप्रत्यक्षं प्रति।

त्वोक्तिर्न युक्ता; प्रातीतिकस्य तुच्छत्वेन स्वरूपेण निषेषसंभवेऽपि व्यावहारिकस्य तदसंभवादिति रोदनम्, तत्त्वरूपेण निषेछेडपि व्यावहारिकस्य सत्वेन प्रतीत्यहत्वादिना तुच्छैवैलक्षण्यात्परिद्दृतम् । यच्तु संशायकस्यापि द्रव्यत्वादे: संस्कारोद्वोषकत्वेन विपर्ययजनकत्वमिति, तब्न ; संशयसामपयां सत्यां निश्रयासंभवात्। संशायनिश्रय: त्वाभ्यां कार्यत्वास्व्वीकारेडपि कोटिद्वयस्यैब भासकसत्वे भानावइयकत्वात्। घटादीनामिवेति। तथाच विषयविषयाइविघाजन्यत्वादेवा ${ }^{1}$ विद्यादोषजन्यत्वमपामाण्यपयोजकं स्थितमेव। नहि अमत्वेन दोषजन्यत्वमप्रमात्व-

$$
1 \text { वानग. }
$$

वडिविशिशिष्टधियोस्तु बाधकामावात्सामान्येनैन धूमग्रवृत्ती प्रति हेतुतेति न पूर्वोकदोषापातः। नन्वविद्याध्यासस्यानादित्वेन दोषाद्यनपेक्षावदधिष्ठानानपेक्षापि स्यादिति चेक्ष ; जनकत्वेनाघिष्ठानानपेक्षायामप्याश्रयत्वेन तदपेक्षानियमात्, परममहत्वादेराश्रययेक्षावत् अध्यासस्य साधिष्ठानत्वनियमेनात्रापि परतन्त्रत्वस्य समत्वात्, मास्यस्याविद्याध्यासस्य भासकतयाप्यधिछ्ठानापेक्षणाच। अविद्यावच्छिक्नचैतन्यस्याविद्यादिसकलद्वैतद्रष्ट्रत्वात्तस्यैन चान्तःकरणावच्छेदेन प्रमातृत्वात्, अ्रमश्यमो: सामानाधिकरण्योपपत्तेर्भमस्य समानाधिकरणग्रमानिवर्त्यत्वम्युपपद्यते। ननु-देहेन्द्रियादिकं त्रिना कथमन्तःकरणाध्यासः ? कात्रानुपपत्तिः ? अधिष्ठानापरोक्षत्वं ध्वपरोक्षभ्रमे कारणम्, प्नयोजकम् ; तत्तद्धनुगतदोषकार्यत्वस्य अ्रमत्वाविशोषेऽपि ${ }^{1}$ तच्तद्वघक्कित्वेनैवावच्छेदात्। अपितु अमत्वव्याप्यरूपेण़ दोषजन्यत्वं तत्रयोजकम्। तथाच विषयजन्यवृत्तिज्ञानमात्रनिष्ठधर्मस्यापि तथात्वात्तत्प्रयोजकत्वमक्षतम् । न चाविधाविषयकतृतेः प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियसान्निकर्षजन्यत्वापत्तिरिति—वच्यम् ; संयुक्ततादात्य्यदिसनिकर्षस्यविद्यायां सत्वेनेष्टत्वात्, चाक्षुषत्वाघ्यवच्छिन्नं प्रति चक्षुरादिसन्निकवहेतुतावरयकत्वेन सामन्न्यत: प्रत्यक्षे तद्धेतुत्वे -मानाभावाच्च। नव्यमते मानसत्रत्यक्षे सन्निकर्षस्याहेतुल्वाच साधिष्ठानकत्वनियमेनाविध्याविक्रयतादास्यनियमेनाविध्धाध्यासो यद्युक्ततादात्म्ययुक्तो न स्यात्तदाऽविधासमानविषयकधीनिवर्लों न स्यात्, ब्रह्सबतुच्छवद्वेति तर्केण तथा नियम इति भावः। अ्रमश्रमयोः भ्रमतब्निवर्तकममयोः। ननु—नित्यक्ञानस्याबाघितविषयकत्वेन प्रमात्वमिव बाधितविषयकत्वेन अ्रमत्वमित्ययुक्तम्; न घ्यावयोः प्रात्वं गुणप्रयोज्यं कितु स्वतः, तथाच गुणापयुक्तत्वेन प्रमात्वमिव दोषापयुक्त-

तद्यत्राधिष्ठानं स्वतो नापरोक्षम्, यथा गुक्तयाद्यवच्छिषचैतन्यम् ; तत्र .तदपरोक्षाथे देहेन्द्रियाद्यपेक्षा, प्कके चाविद्याबच्छिषं चैतन्यमघिष्टनम्, तत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेनाविद्यायाश्य तद्ध्यस्तत्वेन तेनैव साक्षिणापरोक्षत्तात्कुत्र देहेन्द्रियाद्यपेक्षाः अथैवं प्रलये देहेन्द्रियाद्यभावे ऽ्यझ्ञानसन्दावेनान्तःकरणाध्यासग्रसकः, न; तदा देहेन्द्रियादिसर्जनविलम्बहेतु-

त्वेन अ्रमत्वं ते स्वतः स्यात्, अतएव शाबरवाक्ये दुष्टकरणजन्यत्वं *.मिध्यात्वेन ज्ञेयत्वं च समुच्चितमपमात्वप्रयोजकमित्यर्थ इति-चेन्न; भावानवबोषात्। यथाहि तार्किकमते जन्यताघटितं प्रमात्वं गुणजन्यतावच्छेदकं नित्यसाषारणस्यातत्वात्, तथा मन्मते भ्रमत्वमपि ताद्दशदोषजन्यतावच्छेदकं तत एव। नच--तावता तस्य ₹वतस्त्वम्। शाबरवाक्यं तु नोभयस्याप्रमात्वपयोजकत्वपरम्; चरमस्यैब तस्सम्भवादाघयैयुर्थापत्तेरनादिसाघारणत्वाच । दुष्टकरणजन्यत्वं तु भ्रमत्वस्य जन्यत्वघटितस्य दोष ${ }^{1}$ पयुक्तत्वज्ञापनद्वारा बौद्धसम्मतस्य भ्रमत्वस्वतस्त्वस्य निरासाय। यत्व्वविद्याकारवृंत्ररविधारूपविषयजन्यत्वे प्रमाव्वापत्विरिति, तन्न! अनुमूयमानरकत्वादे: ₹फटिकादावारोपे व्यभिचारेण विषयजन्यत्वस्य पमात्वाव्याव्यत्वात्। कुत्र हेहोति। न च—अधिष्ठानान्य एव भ्रन्तो वाच्य:, स च देहेन्द्रियादिमानेव, अविद्यावच्छिन्नचैतन्यं तु नाधिष्ठानान्यदिति देहेन्द्रियादि विना कथमन्तःकरणाध्यास इति —वाच्यम् ; कौन्तेयम्य च्वस्मिन् राधेयत्वभ्रमेऽन्तःकरणावच्छिन्नचित्येव स्वपाध्यासपक्षे चाधिष्ठानस्यैव भान्तत्वस्वीकारादविद्यावच्छिन्नचैतन्यमाधिष्ठानमित्यत्राधिष्ठानपदक्याधारपरत्वाच्छक्काडनुत्थानाच। मूलीभूताविद्यविषयो मुरुयाधिष्ठानम्, तच्च पूर्जानन्दरूपमेव । यतु तम:-

$$
1 \text { घटितदोष-क. ग. }
$$

# नैव तद्विलम्बसम्मवात्, अन्यथा तदा देहेन्द्रियादिकमपि 

 कुतो नोत्पघ्येत? नच-दोषादीनामध्यस्तत्वेन तदभावस्यप्रकाशबदविद्याचितोर्नाश्रयाश्रयित्वमिति-तन्न; चितो वृत्तुपहिताया एव प्रकाशस्थानीयत्वात्। कुतो नेति। नच-भूतादिविकम्बेन देहादेविलम्बो युज्यते, अविद्याम|त्रमूलकन्ु मनोध्यासः कथं विलम्बत्रतिवाच्यम् ; देहादेरिव मनसोडपि भौतिकव्वाव् ॥

ननु-भूतेत्पतिवितम्बोडपि कुतः ; ईक्षणाभावादिति चेस्सोऽपि कुत इति चेत्, कस्तवाभिपाय:? वस्तुगत्या यस्साक्षिण ${ }^{1}$ इक्षणं जायते तत्वूर्वक्षणेण्वपि तक्कारणाविधादिसत्वात्तदापातिरिति चेल्कोडयं क्षणः ? न हीक्षणस्याश्रयत्तत्पूर्वृत्तिमान्य मन्मते कश्चन क्षण: प्रसिद्ध:, किंतु ईक्षणोत्पतिकालोतरं क्षणादिव्यवहारः। तर्हिं खखाषि-
 यदधिकरणकाइसामान्ये यक्काहवृत्विघ्घंसापतियोगित्वम्, तस्य तकालसंबन्ष उत्पर्तिर्महाप्रुमम्येयेति ग्राण । सामयीमक्ष्षणं विना कथरीक्षणरूपकार्योल्यतिरिति चेचद्रन्तोस्स ; सामर्भीमक्क्षणोत्रक्षणत्वं हि कार्यय्य व्याप्यम्, न तु व्यापकम्, ठ्याव्यमपि न कार्यमान्रस्य, किंत्वीक्षणान्यस्य। ननु-क्षणो नातिरिक्त: पदार्थ:, न वा च्वजन्यविभागप्रागभावावच्चिन्नकियामात्रम् ; किंतु स्वृतिष्वसस्रतियोग्यनाधारो वा स्वषृत्तिस्वपूव्वृवृतियाक्पददार्थविशिष्टो वा । तथांक्षणपूर्वावस्थाया जग-
 जगक्कामनास्ष्क्षावस्थायां सच्वात् । तद्वरी सा क्षणःः ${ }^{5}$ एवमुक्तसूक्ष्मावस्थादियावद्धर्शिशिस्टरूपणेक्षणं ${ }^{6}$ स्वाश्र्य इति चेदेवममपीक्षणपूर्व



तात्विकत्वाद्तात्विकेन तात्विककार्यप्रतिबन्घस्यायुक्तत्वात् बौद्धेन दुप्टतया कल्पितस्य वेद्जन्यज्ञानस्येव कल्पितदोषजन्यस्य द्वैतविज्ञानस्य प्रामाण्यापात इति वाच्यम् ; बौद्धकल्पितस्य प्राति मासिक-

तस्सामप्यवव्यवहितोतरक्षणाऽप्रसिद्धिः। यदि च श्रुतिस्मृतिपुराणाद्युकस्य प्रल्रयकालपरिमाणस्यानुरोषात्तार्किकादिमते परमाणुक्किया इव मन्मतेऽपि सूक्ष्माविद्यावृत्तयः सुषुप्ताविव प्रलये स्वीक्रियन्ते ; अन्यथा प्रलयकाल एतावानिति परिमाणोक्तेरसंभवात्, अतएवाविधावृत्विरपि प्रामाणिकी; अन्यथाऽविद्धादेः साक्षिभास्यं्वसम्भवेन तन्राविधायाः कारणत्वे मानाभावात्, सुखमहमस्वाप्समित्यादि干मृतिमूलसौषुप्ता|ििधावृत्तौ वार्तिककृताऽनक्तीकारात्, प्रलये तदावश्यकत्वेन ताहछाकारणत्वस्य क्लपत्वे तु तत एव सृत्टिकाले तस्सम्भवादविद्याकाराविद्यावृत्तेरेवाह क्यारसुखादिरुपविषयसहकृत ${ }^{1}$ विद्याह क्ञरादिविषयकत्वस्यासम्भवः, अविवादश्र वादिनां प्रलयकालीने मुलकारणगतास्थिरकार्येकु; सात्रयाभ्यां क्ष्रणिकानां सत्वादिपरिणामानां तार्किकाभ्यां च परमाणुंक्रयाणां स्वीकारात्, मीमांसकन्तु न प्रलयमनुमन्तेति ${ }^{2}$ नात्र पुरस्कियते इति विभाठ्यते, तदा न कोऽपि शाक्हावकाशः। परुयीयपूर्वहतेतुकाविद्यावृतीनामेव चरमाया घृत्तेरीक्षणहेतुत्वसम्भवादिति ध्येयम् ॥

तात्विकत्वादिति । द्वैतविज्ञानपामाण्यापात इत्ययेणान्वयः। प्रामाण्यं तात्विकप्रामाण्यम् । ननु—दोषाणां तात्विकपामाण्याश्रयप्रतिबन्घकानामपि सत्वाहकथं तदापच्चिस्तत्राह—अतात्विकेनेति । तात्विककार्येति । तत्विकविषयक्जानत्वरूप"तात्विकपामाण्याश्रयेल्यर्थः। तेन तस्यायुक्तत्वे दृष्टन्तमाह— बौद्वेनेति। दुष्टतया
${ }^{1}$ विधाया अर्करारि-ग. ${ }^{2}$ प्रलयमनुमन्यते-ग. प्रलयमन्तेति-क. $3^{3}$ क्रारूप-T.

दोषस्य ब्यावहारिकवेदापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वेन तदग्रामाण्या－ प्रयोजकत्वे प्पविद्याख्यदो पद्दैतप्रपंत्रयोः समसत़ाकत्वेन कार्य－ कारणभावनियमेन च कारणीभूताविद्याख्यदोषाभावे कार्यभूत－ द्वैतभपश्रतदिज्ञानयोरमावनियमेन नाविद्यामिथ्यात्वेन कैतश्ञान－ सत्यतापातः；कारणमिथ्यात्वे कार्यमिथ्यात्वस्यावइयकत्वाप्－
दोषजन्यतया। समसत्ताकत्वेनेति। ननु—₹वसमसतांकेऽपि च्ल－ ज्ञानेऽविधादोषो नापा｜माण्यपयोजक：；मिध्यात्वात्，अतो द्दैतज्ञानेऽपि तथा। न च ह्रहज्ञानेऽविधाया उपादानलेडेवि भमत्वेन नाविधा－ दोषनिमि्रकल्बमिति स न तत्र तथेति बाच्यम्；न हि द्वैतश्रम－ त्वेनाप्यविधादोषनिमिक्रकता，किं तु कार्यत्वेनाविघ्योपादानकत्वमेबेत्यत आह—कार्यकारणभावनियमेनेति । तथा च यत्र विषयेऽविधा ककरणं तस्यैव ज्ञानाप्रामाणेये पयोजिकेति न घ्नस्ञाने सा तथेति भावः। सत्यतापातः तात्विकपामाण्यादिरूपस्य अमैवैलक्षण्यस्यापातः। ननु— विधमानस्याप्यविद्यादोषस्य मिथ्यात्वेन तात्विकस्य तदभावस्य सख्वा－ क्कतो न तात्विकपामाण्यापातः？ताल्किकस्य दोषाभावस्य ज्रमझाने तात्विकमामाण्यपयोजकत्वेन क्रहत्वत्वात्राह－कारणीभूतेति। दोषा－ भावे प्रतियोगिठ्यधिकरणदोषषाभावे। तथा च नोक्काभावो ब्रसझाने उत्रमयोजकत्वेन क्रहः ；आवयोः पामाण्यस्य स्वतस्वात्，घ्सण－ स्ताल्विक्वाचद्दीप्रामाण्यम्योक्कपयोजकं＇विनापि तात्विकत्वसंभवात्， उक्ताभावमान्रस्य तात्विकभामाण्य्ययोजकते कानादिदोषस्यापि मिध्या－ ल्लेन तात्विकाभावस्य तक्कालेडपि सत्बेन तात्विकपामण्यपयोजकला－ प्रेश्र । अव एव भमले दोषस्य पयोजकत्वाचदावा⿳亠二口丿 तात्विक－ दोषामावः ${ }^{1}$ पयोजक इत्यपास्तम्। अय प्रतियोगिण्यषिफरणो दोषा－

$$
{ }^{1} \text { ताल्विको दोषाभाव:-ग. }
$$

घह्सझानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य बाध्याबाध्यसाधारणस्य मिथ्यात्वस़द्धचनपेक्षत्वाष्ष सत्वविभागासिद्धि: । नजुदोषादीनां रूप्यादिध्रमहेतूनां पारमार्थिकसत्वमौत्सर्गिकग्रामाण्येन सिद्धमिति परमार्थसतामेन तेषां हेतुत्वमिति-चेब; ठ्यावहारिकग्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेडपि त्रिकालाबाध्यत्वरूपतात्विकग्र्माण्यं न केनापि गृद्यत इति प्रत्यक्षबाधोद्धारे प्रागेवाभिहितत्वात्। न च-रूप्याद्यध्यासे दोषादीनामधिष्ठान

भावो श्रमत्वाभावे प्रयोजक उच्चेत ; तद़पि न; तावता काचनदिदोषाभावस्य तादृशाम्य तत्प्रयोजकत्वसम्भवेडप्यविद्यादोषाभावस्य ताहशास्य तदसम्भवात्तककाले द्वैततद्विज्ञानयोरेवाभावात। द्वैताज्ञाने भ्रमत्वाभावप्रयोजकत्वस्य दूरनिरस्तत्वादिति। अ्रमवैलक्षण्यं द्वैतज्ञाने नापादयिनुं शाक्यत इति भावः। ननु-वियदादिज्ञानस्य प्रमात्वेनेव घ्रमत्वेनापि न कार्यता ; मानाभावन्मयाऽविद्याया दोषत्वानम्युपगमाच्च । तथा च तम्य अ्रमवैलक्षण्यमिव अ्रमत्वमवि निर्मूलकम्, तत्राह--कारणमिथ्यात्व इति । कारणस्याविध्यारूपपयोजकस्य, •मिध्यत्ते ज्ञाननिवर्त्यत्वे, कार्यस्याविद्याप्युक्तद्बैतमात्रस्य, मिथ्यात्वावइयकत्वादविद्यानिवृचिद्वारा ज्ञाननिवर्ष्य त्वावरयकत्वात। तथा च अ्रमत्वेन कार्यत्वाभावेऽपि द्वैतस्याविद्याप्रयुक्तत्वेनज्ञाननिबर्त्यतायेग्यत्वरूपामिथ्यात्वाद्हैतज्ञानस्य मिथ्याविषयकत्वरूपं भ्रमत्वमर्थवशसम्पन्नमिति भावः। नन्वेवम्--बौद्धदुष्ठवेदजज्ञानस्य द्वैतज्ञानस्य च कल्पितदोषषप्रयुक्तत्वाविशोषेडप्यविधादोषम्य द्वैतज्ञानसमसत्चाकत्वात्त्रमत्वादिपरोजकत्वमिति पर्यवसितम्, तच्च न युक्तम्, अ्रमत्वनिश्षयात्पूर्व समसत्तकत्वस्य नह्बज्ञानबाध्यत्वादिरुपस्य तयोरनिश्वयादित्यत आह— नद्कज्ञानेतरेति। तथाच पूर्व ज्रह्सज़ानेतराबाध्यत्वरूपस्ताया ब्रद्षणीव प्रपष्चेऽपि निक्षयसम्भवात्, द्वैतं यद्धि मिश्या

समसत्ताक्तं दृ्टमितीहापि तथेति-वाच्यम् ; साधर्म्यसमजात्युत्रत्वात्। वस्तुतस्तु सर्वत्र चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेन कुत्रापि दोषादीनामघिष्ठानसमसत्ताकत्वाभावात्। न च-बाधकज्ञांं सत्यमेव वक्तव्यम्, अन्पथा बाधपरम्परया अनवस्थापत्तेरिति वाच्यम् ; वेदान्त्वाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तेः कतकरजोन्यायेन स्वपरवाधकतयाडनवस्थाया अभावात् । हइयत्वमात्रेण युगपत्कृत्तबाधसंभवात् । नहि गुहायां न शब्द् इति शब्द: खं

न स्यात्तदा ₹वसमानसताकाविघापयुक्तं न स्यादिति तर्केण मिथ्यात्वनिश्यय:। तदिदमुक्तं कारणमिध्यात्व इति । वेदजज्ञाने तु न तथा ; औौद्रकल्पित ${ }^{1}$ दाषस्य प्रातीतिकतया ғ्वसमानसताकतत्पयुक्तं न स्याद्धिल्यापतेरिष्त्वादिति भावः। साधर्म्यसमेति। तर्क विना दोष्त्वादिसाघर्म्यमांत्रणावादनबोषकवाक्यत्वात् । कुत्रापीति । ननु—युद्रचिति रूप्याघध्यासे तस्य ज्नफज्ञानेतराबाध्यंत्वरूपक्यावहारिकत्वापात्ति-रिति--चेन्न; शुद्धचितो रूप्याद्युपादानाविद्याविषयत्वेऽवि तदवच्छेदकल्लस्य गुक्तयादौ स्वीकोरेण तदाकारृृत्या ताहछारावच्छेदकत्वनाघेन रूम्यादिवाधात् ${ }^{2}$ ॥

ननु-र्रस्ञातेन ब्रहाज्ञानकार्यस्यैव बाध्येव्वेन घद्साज्ञानसम्बन्धस्य जीवेशेदेदादेश्षानादिवर्णस्स्य ${ }^{3}$ वाधासम्मवेन तस्यैवाधिघछानसमसताकल्वेन कुश्रापीयादिकमयुक्तम्, त्रकजाने स्वाधकवव्वमप्युकम्, , तस्य दोषाजन्यत्वेनाबाध्यत्वात, दोषस्य च सत्यव्वनियमेनावियाया अदोषल्लेन घह्लज्ञाने तदजन्यत्वात्, एकन्य बाध्यवाधकववयोंार्वरोघाच। गुहायों न शब्द इल्यत्य तु शब्दमात्रिंषंष अनुभविकत्वान्नविरद्ध:,

[^145]न निषेघति; अन्यथा स्वस्य स्वेनानिषेषे तत्राप्यनवस्थापचिः, शब्द्यमात्रनिषेधानुमवविरोधश्र। यद्यपि बाघकझानं घृत्युपरक्तचैतन्यरूपं स्वतः सत्यमेव ; तथापि तदवच्छेदिकाया चृत्ते ह्छइयत्वेन मिध्यात्वादाधोपपतिः। ननु बन्धस्यात्यन्ताभावग्रतियो गित्वरूपमिथ्यात्वे तदमावार्थ यलो न स्याव् ; अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वाव्। अतएव न तत्रतीत्यभावार्थमपि यबः, तस्या अपि मिथ्यात्वात्, अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धग्रतीत्या तद्द्शायामपि प्रातिमासिकबन्बापातात्। अथ पारमर्थिकत्वाकोरेण मिथ्यात्वम्,
शबद़्वस्य निषेध्यतावच्छेदकत्वेन प्रतीयमानस्य शब्दमात्रे सत्वा-च्छेति-चेन्न; शुक्तयाधज्ञानतत्कार्ययोरिव शुक्तय|घज्ञानाचित्सम्बन्षस्यापि शुक्तयादिज्ञानबाध्यत्वेनाज्ञानप्रयुक्तत्वस्यैवाज्ञाननाइय ${ }^{1}$ तावच्छेदकत्वस्याझानतत्र्रयुक्तयोयुगपन्नाो तु शुक्तयाद्याज्ञात्रत्युक्तन्यतर खेन शात्तयादिधीनारयत्ववत् दृइयत्वेन त्रह्सज्ञाननाइयत्वस्यावइयकत्वात् । दोषस्य च सत्यत्वं न नः सम्मतम् ; मानाभावादित्युक्तम् । एकस्यापि भिन्नरूपाभ्यां बाध्यबाषकत्वे प्रामाणिकें को विरोष: ? यथाहि शब्दलंवं शब्दमात्रवृत्ति; तथाडज्ञानप्रयुक्तल्वाढिकं ब्रबज्ञानवृर्तीत्यलं मूढोक्तिचिन्तया। तदभावार्थ तदत्यन्ताभावार्थम्। असाध्यत्वादिति। निवृत्तित्तु ज्ञानसम्बन्घस्य सम्भवति; शशविषाणवन्मिथ्यात्वेनासत्वत्। मिथ्यात्वादिति। तथाच तस्या नितृत्यसम्भवेनाल्यन्ताभावार्थमेव यन्नो वाच्यः। तत्र चाध्यस्तत्व ${ }^{2}$ दोष उक्क इति भावः । ननु—क्षेमसाधारणं साध्यत्वमत्यन्तामावेऽप्यस्ति तत्राह—अन्यथेति । अनिवर्त्यस्यापि मिथ्यामूतस्य सम्बन्घत्व ${ }^{3}$ इत्यर्थ: 1 पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वं पारमार्थिकत्वा${ }^{1}$ नाशनाइय-स. ग. ${ }^{2}$ चासाध्यव्ल-ख्य. ग. ${ }^{3}$ बन्धत्व ग. ग.

स्वरूपेण तु निवृतिरेव，न ；तस्या：स्वरूपाबाधेनाप्युपपत्तेरिति－ चेब；सत्यस्य ब्रह्सणो निवृत्यदर्शानेन स्वरूपतो मिथ्यात्वा－ भावे निषृत्त्ययोगान्मिथ्यात्वं निषृत्यनुकूलमेव। नच－तदर्थं प्रषृत्यनुपपत्तिः ；अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं तथैन，ततः पूर्व तु कण्ठगतविस्मृतचामीकरग्राप्तय इव अ्रमबाधकझ्ञानोत्पत्तये प्रघृत्युपपत्तेः। अत्यन्ताभावाधिकरणे च प्रतियोगिवत्तिक्टत्तिर－ प्युपपादितैव। नच－त्रैकालिकनिषधप्रतियोगिनि तुच्छे निष्टृत्चिन्न दृष्टेति कथं ताद्याश प्रपश्चे सा स्यादिति－वाच्यम् ；यथाकथं－ चित्सजातीये ऽदर्शानस्याप्रयोजकत्वात् 1 अन्यथा अनुत्पब्षे निवृत्तिर्न दृष्टेति प्रागभावोपि न निवर्तेत । तस्मात्ख－ भावविशोष एव तुच्छानिल्यविलक्षणो निवृत्तिप्रयोजक इति घाच्यम्। सा च निवृत्तिरधिकरणस्तरूपेति पक्षे घटनाशार्थ सुद्ररपातादाविव मननादौ प्रवृत्तिरूहनीया। अतिरिकेति पक्षे，
वच्छिनं स्व ${ }^{1}$ समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगेत्वम् । निवृतिरेरेव ननु मिथ्यात्वम्। यध्धपि बन्वात्यन्ताभावे प्रतियोगिमत्कालाइनवच्छिन्नत्व－ विशिष्टे क्षेमसाषारणं साध्यत्वं सम्भवति ；तथापि तादृशात्यन्ताभावस्सैव पकृते नाशरूपत्वात् ।＂क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्द्टष्टे परा－ वरे＂＂तरति शोकमात्मवित्＂इत्यादौ तरत्यादे र्नाशयत्याध्ये्ये निरूढत्वात्，ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमिल्यादिस्मृतेश्र，बन्धना－ शार्थत्वं ज्ञानस्याह—सत्यस्येति। तथैवेति। तदा बन्घस्य मिष्यत्वेन निस्थितत्वेना⿳亠二口्येप्यत्वान्चन्निवृताविच्छाविरहादिति शोषः। चामीकरग्राप्तये चामीकरासत्वभ्रमबाषकज्ञानोत्पत्वये। ऊहनीयेति। यधपि तत्तदधिकरणं सिद्वत्वेन झातम्，तथापि निवृतित्वेन रूपेण न तथा；निवृतित्वस्य

त्वनिर्वचनीया, पश्रमप्रकारा चरमषृत्तिरूपा वा सा; सर्वथा जन्नैयैति न कात्यानुपपत्ति: । ननु-बन्धस्य श्रक्यण्यस्तत्वे तकिदि छ्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं अव्तणादिनियमाद्टष्टसापेक्षन्रद्मज्ञानानवर्र्यंत्वं च न स्याव ; नहि देवतानिदिछ्यासनसाछ्यतत्साक्षात्कारनिवर्श्य दुारंतं तत्राध्यस्तम्, न वा दूरागमनादिनियमादृष्टसापेश्षसेतुदर्शननिवश्य दुरितं तन्राध्यस्तमिति-चेश ;

मुद्ररपाताच्युत्तरकालावच्छेदैनैव तत्चदधिकरणे संबन्घस्वीकारात्। अनिवचनीयेति। अनिर्वाच्यत्वेऽc्यज्ञानकालीनाज्ञानप्रयुक्तत्वेनैव ज्ञाननाइयत्व叉्वीकारान्न ज्ञाननिवर्त्या सा। एवं पश्चमप्रकारापि बोध्या। वृत्तिरुपेति । एवं च घटादिनाशोऽपि मुद्ररपातादिरूपस्तस्य घटादिरूपद्वेव्यविरोधित्येनेष्टत्वम्। विरोषित्वं च यत्र यत्क्षणे मुद्नरवातादिस्तत्र तत्क्षणेऽवइयं घटाद्धभाव इत्यदिरूपं सुखविरोधित्वेन द्वेष्यत्वबत् द्वेष्यविरोधित्वेनेष्टत्वं सर्वानुभविकम्। अतएव सुखादीष्टविरोधितया पिशाचादिकं द्विशन्ति। तद्विरोधितया च ${ }^{1}$ न सिद्कनामेच्छन्ति 1 स्पष्टश्षायमर्थो बौद्वाधिकारतट्टीकादौ। संभवति च निवृतेमुद्नरपातदिरुपत्वेऽपि निवृचित्वेन रूपेण स्वस्यापि स्वसाध्यता। ₹वोप्पतिद्वितीयक्षण|वच्छेदनेक्तनिषृतित्वसंबन्घन्य स्वस्मिन् स्वीकरेण द्वेमसाघारणजन्यत्वसंभवादित्यादि मुहुरुक्तम्॥

ननु-निवृत्ते रुत्पत्त्यमावपक्षे घटादिर्मुद्ररपाताद्युत्तरं क गत इति पर्यनुयोग इति चेतर्हि निवृत्तेरुत्पतिपक्षेडपि पर्यनुयोगः स कि न ह्याष्। अथ तार्किकादिमते तस्या अत्यन्तप्रतियोगिभिन्नत्वाच्चाहशपर्यनुयोगो नतु सारूयादिमते ; तस्याः प्रतियोंग्यभेदस्यापि स्वीकारान्नाशरूपेण पतियोगी परिणत इत्युत्तरसंभवादिति—चेन्न; तत्रापि प्रतियोग्यवस्था क

$$
1 \text { न नृसिम्मा. }
$$

गतेति पर्यनुयोगस्य संभवान्न नाशावस्था पूर्व स्थिता कारणध्यापारैयैय्यथर्यादिति कुत आगता सेति पर्यनुयोगाच। अथ स्थितैंव सा, कारणव्यापारस्तु तदभिव्यक्तय इति चेतर्बभिव्यक्तिर्न स्थितेति तत्रैव तदापतिः। अत एव प्रतियोगयवस्था तिष्ठत्येवाग्रे, परन्तु नाभिव्यज्यत इत्यपास्तम्। अथ पूर्वमंसत्यप्यभिष्यक्तिस्तत्तत्काले संबद्धचते साममीब्यापेः; तहि पूँ सदपि प्रतियोगि मुद्ररपाताद्युत्तरकाले न संबध्यते मुद्ररपातादिधटितसामभीमत्क्षणत्वस्य घटादिक्षणाठ्यवहितपूर्वान्यत्वव्याप्यत्वादिति कुत अगत इत्यस्येव क गत इत्यस्यापि नावकाश इति सुचिरं विभावनीयम्। एवं चाज्ञानतत्कार्ययोर्नाशास्तयोश्र्यमक्षण एव प्रथमक्षण उत्पत्तिरिव नाशाव्यवहारानुरोधातत्रैच नाशत्वरूपोऽखण्डषर्म: स्वीक्रियते। स च क्षणश्ररमवृत्तिरेव, न तु चरमवृतेतुत्पत्तिद्वितायक्षण:; अज्ञानादिनाशाद्युगपदेव द्वैतमात्रोच्छेदे बाधकाभावादिति मुरुयपक्षोऽयं चरममुक्त इति ध्येयम्। "निवृत्तिराह्मा मोहस्य ज्ञातत्वेंनोपलक्षित" इत्यादिवार्तिंकं तु ज्ञानजेयान्यस्या मोहनिवृत्तरप्रामाणिकत्वाभिप्रायकम्। मुक्षे: पूर्व ${ }^{1}$ जायमानस्य मोहनाशाव्यवहारस्याक्तरीत्योपपतेराइ्मना नाशत्वे मानाभावात्। मुक्किकाले च तन्नाशो अतीतत्वमेव व्यवाह्रियंत। अवएव मुद्नरपातानन्तरं घटो नष्ट इति चयवहारः ॥

यनु तत्र नाशोत्पत्तावतीतत्ं व्यवह्दियते ; उत्पत्वे: प्रत्ययार्थत्वात्, अतएव पूर्वनष्ट्मघ नइयरीति म प्रयोगः ; उत्पताववच्छेदकत्वेनाधादेरन्वयादिति मणिद्दीधित्यादावुक्तम्, तन्न ; उक्तरीत्या घटादिनाशस्य क्षणिकत्वेनोपपत्तावुत्पत्वे: प्रत्ययार्थत्वे मानाभावात्, अध्यथृचि ${ }^{2} \dot{\text { ®a }}$ सप्रतियोगि चिरनष्टमित्यस्याप्यननुभवपराहतत्वात्। अन्यथोत्पत्तरवि स्थैर्यमस्तीकृत्य चिरोत्पन्नमद्योत्पघत इत्यस्योक्ररीत्यावारणापतेः।

अथ चिरनष्टेडतीतत्वादि कथम्, वर्तमाननाइाप्रतियोगित्वाभावादिति चेद्दर्तमाननाशप्पतियोगी यो नाइास्तत्रतियोगित्वस्याप्यतीततारूपत्वात् । यथाहि घटसत्ताकाले घटप्रागभावेऽतीतत्वधीस्तथा घटनाशकालेडपि सा। तच्चतीतत्वं वर्तमाननाशप्रतियोगिनो घटरूपनाशस्य प्रतियोगित्वमेब। घटस्येव तन्नाशास्य घटप्रागभाबनाशत्वे तु घटनाइाकाले .घटप्रागभावो नइयतीति प्रत्ययापतिः। न च—भवन्मतेऽपि तद्धटस्योत्पत्चिदिनाद्वितीयदिने तद्धटपागभावो नइयतीति घीः स्यात्, तद्धटरूपस्य नाशा्य वर्तमानत्वादिति —वाच्यम् ; मन्मते प्रागभावाघिकरणचरमक्षणस्यैव प्रागभावनाशत्वात्। अथैवमपि घटनाशाकाले घटेडतीतत्वं न प्रतीयेत ; विद्यमाननाशप्रतियोगिनो घटरूपनाशास्य यत्रतियोगित्वं तस्य घटेऽस्वीकारात्, घटीयचरमक्षणे स्वीकाराच्चेति—चेन्न; विधमाननाशप्रतियोगिनाशप्रतियोगिनाशप्रतियोगित्वस्याप्यतीतारूपत्वात्, तवापि मते विद्यमानत्वस्य तत्रतकालरूपस्य वाच्यतया एकरूपत्वाभावात्, घटे नाइोत्पत्यवषिकस्यानतिप्रसक्तकालसैयैव विद्यमानत्वरूपतया निवेशेन विध्यमाननाशप्रतियोगित्वस्यैव मन्मतेऽपि सर्वत्रातीततारूपत्वसंभवाश्च ॥

वस्तुतस्तु रारदि पुप्य्यन्ते सप्रच्छदा इत्यादौ सप्रमीविभक्षेरुत्पत्यर्थकत्वस्य क्षमत्रतय तत एवोत्पात्तिलाभेन विवक्षितार्थनिर्वाहेण नाख्यातः्योत्पचिरर्थ इति ध्येयम्। (कालवृत्तिनाशाप्रतियागिकत्वादिकमेव तदुच्यताम्, स च कालः ₹थूल एवेति दिक्र)। यत्त्वषिकरणत्रक्षरूपाया निवृतेर्न क्षेमसाघारणं साध्यत्वम्; तस्या उत्तरावध्यभावेन यद्यतिरेक इत्यस्यासंभवात्, अतएवात्यन्ताभावस्य साध्यत्वं पूर्व दूषितामिति, ततुच्छम् ; यत्सत्वेऽय्रिमक्षणेडवइयं यत्सत्वं ${ }^{2}$ तद्वघतिरेके

$$
1 \text { अयं कुण्डल्तिः पाठ:-स. पुस्तके नास्ति. } \quad 2 \text { यब्यतिथा. }
$$

आत्माध्यस्तगौरत्वादे: शुक्तयाद्यध्यस्तरूप्यादेश्य तत्तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शीनेन प्रपश्वस्यापि श्रद्षण्यध्यस्ततया. तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वस्यावइयकत्वात् । नहि भुक्तयाद्यध्यस्तं रूप्यादि

चाप्रिमक्षणेऽवइयं यद्यतिरेक इलेयतन्मान्रं हि न; तत्पयादेरपि दण्डादिसाध्यतापतेः, दण्डादिसख्वासत्वयो: कानिद्देर्रयिमक्षणावच्छेदेन पटादेरवइयं सत्वाऽसत्वसंभवात्, किंतु यद्वद्देशावच्छेदेन यद्वत्ष्षणस्योचरक्षणे तदवच्छेदेनावइयं यस्सत्वं यद्यतिरेकस्याश्रय देशावच्छेदेन तद्बत्क्षणस्योत्ररक्षणे तदवच्छेदेन यद्यतिरेकस्तस्य तत्साध्यत्यम्। अतहतत्वज्ञान ठ्यतिरेकस्याश्रयदेशावच्छेदेन तद्वक्ष्षणस्योंतरक्षणे ताद्रादेशावचेछेदेन द्वैतनिषृचित्वविशिष्टस्य न्रक्षणः साध्यतावच्छेदकतादाएम्यसंबन्धेन नानुपपत्तिः। नहि तत्वज्ञानशून्यपुरुषावच्छेदेन कदापि द्वैतनिवृत्तिधीरस्तीति ध्येयम् ॥

तत्तस्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शनेनेति । गौर्वादावात्मने निदिध्यासनजन्यसाक्षात्कारनिबर्य्यत्वस्य रूप्यादौ शुक्तचादेन्निदिध्यासनजन्यसाक्षाहकारानिवर्यंत्वस्य च दर्ईनेनेन्यर्थः। विपरीतभावनासले गुक्तयादावपि निदिष्यासनापेक्षेति बोध्यम्। तथाच यधन्निदिध्यासनजन्यसाक्षात्कारनिबर्ल्य तचत्र न क巨्पितमिति ठ्यात्रिनेति भावः। यनु यधत्र काश्पतं तचल्निद्दिध्यासनाजन्यसाक्षाल्कारनिकल्य नेति ब्याप्रिरिति न दोष इति—तचुच्छम् ; उक्सन्थले एवं ${ }^{1}$ ब्यमिचाराए नुद्धारात् । नम्वघिष्हानसाक्षात्कारं विनाप्युक्तसाक्षात्काराहुरित्येयेव.

एवं-क. ब.

गुक्तथादिज्ञानं विना निवर्तते। देवतादर्शानादिना तु प्रायथित्तसमकक्ष्येण दुरितस्य कारणात्मनावस्थानमात्रं क्रियते, न तु शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव निष्टृत्तिः ; अधिष्ठानाज्ञानरुपोपादानकस्यारेपितस्य तब्मितृत्ति विना निवृत्ययोगात्। अज्ञाननिवृत्तिश्वाधिष्ठानझ्ञानादेवेत्युक्तं प्राक्। श्रवणादिनियमादृष्टं च न मुर्कि प्रति कारणम्, किंतु इ्रक्षापरोक्ष्यं प्रति। नन्ववघातसाध्यवैतुष्यान्यापूर्वस्येन श्रवणादिसाध्यापरोक्ष्यान्यमुत्तेरेव तत्साध्यत्वम्; अन्यथा श्रणादिनियमादृष्टसाधये साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तरस्याप्रसक्तथा तत्रसक्तयधीननियमविध्ययोगात् ।

तत्वेन ; तत्राह देवतादर्शानादिनेति। निषृष्तिरिति। बाघरूपेत्यादि:। निवृत्ययोगात् बाधायंगात्। श्रणादिनियमादृष्टमिति । श्रवण/घाश्रितनियमेन जन्यादृष्टमित्यर्थः। अवघातादिमात्रस्य विषेयत्वे आक्षेपादेव तक्य वैतुष्यादिसाघनत्वक्य प्रापत्वादवघाताद्याश्रितनियमस्यानृष्टर्थतया विघेयत्वात्। अतएव दृष्टफलकावघातादे : कृष्णलाद्दौ बाधातदाधाश्रितनियमननुष्ठानलोप: । अथवा नियमतात्पर्यकविघिविषयश्रवणादिजन्यादृष्टमित्यर्थ: । यद्यपि हि वैतुष्यादिफलसाषनत्वमवघातादेराक्षेपादेव लब्बुं शक्यम्, तथाप्यक्षेपप्रवृतेः पूर्व शीप्रप्रवृतया प्रत्यक्षश्रुत्योक्तफलार्थतगाऽवघातादि विधीयते । तेनाक्षेपप्रवृत्तिप्रतिबन्धाद्द्रनादिनिवृत्तिफलकावघातादिनियमधीरूपफलसिद्धिः। ताहशनियमधीरूपफलकस्याप्यवघातादेर्यदि बैतुष्यादिद्धारकपदेयनिष्पत्यघीनयागनिष्पतिमात्रद्वारा यागीयापूर्वसिद्धि: फलम् ; तदा ताहृशावघातादिविधिर्रर्थ: द्रनादिनाव्युक्तयागनिष्पत्तिरूपद्धारसम्भवात् । अतोऽटृष्टद्वारापि यागीयापूर्वसिाद्धि: फलमिति कल्य्यते ; तथापि यागीयापूर्वप्रयोजकवैठुष्यादिदृष्टफलवीशिष्टोद्देशेन प्रथमतोऽवषताादिविषि-

नच-परोक्षझ्ञानं अ्रणात्, अपरोक्षं तु नियमादृष्टदितियुक्तम् ; श्रणादिविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिद्धिध्यासनसाध्यापरोक्षस्यैव द्रानोहेइ्यत्वात्, त्वन्मते परोक्षझांने प्रवृत्तेस्तादृशादृष्टफले वावघातादिप्रयोजकम् ; न तूक्तापूर्वजनकापूर्वविशिष्टोद्देशोन पश्षात्कल्प्यमानस्यावघातादिविषेर्विषय भूतमछृष्टफलमित्युक्तम् । दृष्ट ${ }^{1}$ फलबाषात्कृष्णलादाववघातादिबाषः। यतु नियमादृष्टेति नियमजन्याद्हष्टत्यर्थ इति ठ्याख्याय नियमप्रयोजनापेक्षया कर्वस्वान्नियमजन्यमुच्यत इत्युक्ति:, तच्छोमते ; नियमश्रयोजनापेक्षया कल्पेत्यर्थय इत्येव व्यारु्यातुमुचितत्वात्।। अपूर्वस्येवेति। आमेयाद्युत्पत्यपूर्वस्येकेत्यर्थ: 1 यत्तु परमापूर्वे यथावधातादिजन्यनियमादृष्टसाध्यत्वं न तु वैतुष्यादौ, तथा मुत्तौ श्रवणादिनियमादृष्टसाध्यता न तु साक्षात्कार इति ठ्याख्यानम्, तन्न अवघतांदेरामेयदिजन्यपरमापूर्वाथत्वादाज्यादिषु सकर इत्याश्रय अमेयामीषोमीयैन्द्रामीयोत्पत्यपूर्वार्थत्वादाज्यादेराभेयादिद्रव्यत्वाभावान्न तेपु तस्य सक्र इति तृतीयप्रथमीये "तेषामर्थेन सम्बन्ध" इत्यधिकरणे सिद्धान्तितत्वात्। अवघातादिनियमापूर्वस्याव्याम्येयाद्युत्पत्यपूर्वार्थत्वादिति ध्येक्रम्। विध्ययोगादिति। मुत्तौ तु ताह्हशोपायन्तरं प्रसक्रमिति पराभिमानः। वस्तुतो मुक्तिः श्रवणाद्यधीनीसाक्षात्करेणैव साध्यत इति तस्यामपि श्रवणादिनिरोक्षोपायान्तरमपसक्तम् । हुःखोच्छेदपयोजकत्वादिसामन्यरूपेण मुत्तौ तर्कशार्लादिश्रवणसाध्यात्मज्ञानमिव वक्ष्यमाणरीत्या सामान्यरूपेण साक्षात्कारेऽपि तत्रसक्तमिति न सम्भवदुकिकमिदं परवक्यमिति बोध्यम् । द्धशिनेति। साक्षात्कारत्यैव निदिध्यासनफलत्वाचनुद्छेनैवैव निदिध्यासनविघानात् श्रवणमनने अपि

1 ع्वुक्तहष-क. ख. ${ }^{2}$ कल्प्येल्यर्थ इनि भवितुमुचितम्.
Advaita. Vol. II

तदुद्देरोनैव विधेये ; अन्यथा परोक्षज्ञानस्य श्रवणमनने प्रत्युद्देइयतय। सर्मपणाय होेसवृत्ति: स्यात् । सकृत्पतिसंहितद्वशिनार्थद्बयबोघनासम्मवादिति भावः ॥

वस्तुतस्तु "श्रोतव्यो मन्तब्यो निद्धिध्यासितव्य" इति पृथ्युपाप्तानां श्रवणादीनां विधेयानां भेदाद्वाक्यभेदावइयकत्वादुकावृत्तिर्न दोषाय। विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादौ तु एकेनैवाएयातेनोपात्ता नाना भावना विषेया इति वाक्याभेद:। अथ सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदायोगात्, "मनननिदिध्यासनाक्यां फलोपकार्यक्तम्यां सहितं श्रवणं नामाकी विषीयत" इति विवरणाद्युक्तेश्ष, त्रितयविशिष्टा एैकैव भावना विषेया; मनननिदिध्यासनसहितेन श्रवणेन पइयेदिति विषिविपरिणामसंभवादित्युच्येत तथापि पन्बवेक्षितमाज्यमित्यादावीक्षतेत्राक्षुषवाचकत्वनिर्णयात् द्धचिर् प्रेक्षण इति स्मृत्या दृरोर्वीक्षणवाचकत्वात्साक्षात्कारे दृशिर्लोक्षणिक एव वाच्य इति निश्रयात्मकज्ञानेऽपि लक्ष्षणिकत्वसम्भवाचदुद्देशेन ताहृशश्रवणविधौ को दोषः। प्रमेयगतासम्भावनाया विपरीतभावनायाश्व निवृच्विद्वारा ताहृईफले मनननिदिध्यासनयोरुपकारकत्वसम्भवात्। अतएव त्रयाणां प्राधन्येन विधावपि न क्षतिः; निश्वयत्वेनैव त्रितयफलत्वसम्भवात् । नहि निदिध्यासनस्य साक्षाकारो दृष्ट फलम् ; नित्यपरोक्षविषये तदसम्भवात्, कचिदेव कामिन्यादिसाक्षात्कारे निद्विध्यासनसहितोक्कटरागादिदोषविषया परं कारणम्, किंतु विपरीतसंस्कारनिवृत्चिद्वारा निक्षयः। अतएव "मननानिदिध्यासनाभावे' जातोऽपि ब्रद्ससाक्षात्कारोऽसम्भावनाविपरीतभावनादोबाभ्यां परोक्षकल्प इति" विवरणादावुक्तम्। उक्तदोषाहितापामाण्यसंशयविषयत्वेनानिश्षयरूपत्वान्नाविद्यानिवर्तक इति तदर्थः ॥

[^146]
## कामनायाअयोगेन तस्योद्देइयत्वायोगाचेतिचेंकं; तत्र क्रत्वर्थस नियमापूर्वस्य परमापूर्वसाधकत्वे डपि पुरुषार्थहिरण्यधारणादिनियमा-

कामनाया इति। त्रह्सज्ञानं भवत्विति कामनापूर्वकाले ज्ञानविशोषणतया ब्रह्मणोडपि - ज्ञातव्यत्वेन परोक्षज्ञानस्य सिद्धत्वेन न ताहृशकामना सम्भवतीति भावः। सोपाधित्रक्सज्ञानस्यापातज्र्जज्ञानस्य च सिद्धत्वेन ब्रह्नान्या ${ }^{1}$ विषयकनिश्रयो भवत्विति कामनाया एव वाच्यत्वादापातज्ञानैनैव तदुत्पत्तिसंभवाच नेयमनुपपत्तिरिति तु विभावनीयम्। क्रत्वर्थनियमापूर्वस्येति । कनुं तर्कारकं वोद्दिरय विहितं यत्जन्यनियमाहृष्ट्येत्यर्थः । परमार्पूर्वेति। उत्तराब्नजन्यानेयमादृष्टाभिपायेणेदम। अवघातादिजन्यनियमादृष्टस्योक्तरीत्याम्मेयाद्युत्पस्यपूर्वसाघनत्वात्। अथवोत्पत्यपूर्वस्यापि चैनुष्यादिद्यारावघाताद्विप्रयोज्यत्वात्परमापूर्वसाघनत्वमेव तज्जन्यनियमादृष्टस्य परेण वाच्यम् । अन्यथावधातादिफलान्यदेव तदीयनियमादृष्टफलमिति स्वकल्पितनियमभञापत्तेः। तथास्विकारेऽपि पुरुषार्थनियमादृष्टस्य दृष्टफलसाधनत्वमवरयं परेण वाच्यमित्यमिप्रायकमिदम् । पुरुषार्थहिरण्यधारणादीति । तृतायचतुर्थे त्थितम्। 'सुवर्ण हिरण्यं भार्यम्, मुवर्ण एव भवति, दुर्वणोस्य भ्रातृव्यो भवती' इत्यनारम्य श्रुते वाक्ये शोभनवर्णहिरण्यधारणं कत्वर्थमुत पुरुषार्थमिति संशाये, फलकल्पने गौरवात्कत्कत्वर्थम् , दुर्वर्ण इत्यादिकं तु न फलपरम् ; कामशब्दाभावात्। नच-२ात्रिसत्रवत्तदभावेऽप्यार्थवादिकं फलमस्तितिवाच्यम् ; कत्वक्तेनेन गतिसम्भवात्। तथाच वैदिककर्मत्वसामान्यादमिहोत्रादिकमसु निवेशः । तत्र सूत्रम् ' अद्रण्यत्वातु शेषः स्यादि 'ति। द्रव्यदेवतासम्बन्धश्रवणान्न म्वतन्रं कर्म किंतु कतुझेष इत्यर्थ:। सिद्धान्तसूत्रं तु 'अप्रकरण तु तद्धर्मस्ततो तिशोषादि' ति ।

[^147]हिरण्यधारणाबितद्धर्म: पुरुषार्थम् ; यतोऽपकरणे आम्नातत्वेन प्रकरणाघीताद्विशिष्यते।। नहि कत्वनुवादेन धारणं विहितम् ; येन आहवनीये जुहोताति होमानुवांदेन विहिताहवनीयवत्कत्वक्न भवेत्, नाप्यव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धशश्रयणं प्रकृते सम्भवति; हिरण्यधारणस्य लोकेऽपि सत्बेन क्वव्यमिचाराभावात् ; तस्माद्रातृर्यदुर्वर्णतादिरूपपुरुषपोक्षेतफलाय हिरण्यषारणं विषीयते, विनियोगमझोडव्यगत्या सक्तून् जुहोतीतिवदिति। तथाच हिरण्यषारणादिफलक्य भ्रातृव्यदुर्वर्ण ${ }^{1}$ तादेल्लोकसिद्धत्वादुक्तिबेः साघनान्तरन्यवच्छेदफलकनियमतात्पर्यकत्वेन नियमादृष्टस्याप्युक्तरीत्या स्वीकारात्, तक्य च यथादृष्टन्तरस्य साघ्यस्यासग्भवाद्द्रातृव्यद़र्वर्णतादिरूपं हिरण्यधारणफलं प्रति साधनत्वम्, तथा श्रवणादिनियमादृष्टस्यापि तत्फलसाक्षात्कारं प्रतीति भावः ॥

ननु आ आतृव्यदुर्वर्णतादिकं न नियमादृष्टफलम् ; तस्य हिरण्यधारणादिकं प्रति •दृष्टफलत्वात्, किंतु दुरितोत्पनिप्रबन्ब:, ${ }^{2}$ असति हि नियमादृष्टे दुर्वर्णतादिफलोत्पादनं दुरितोत्पादकमिति कल्प्यतेउक्षं हि भाष्यादौ चतुर्थे—द्रव्यार्जनोद्दोन प्रतिमहादिनियमविषिस्थले प्रतिप्रहाबन्योपायेन द्रव्यार्जनं प्रत्यवायजनकमिति तुल्यं तत्पुरुषार्थनियमात्रे। तथाच कथं तद्दृष्टन्तेन साक्षार्कारस्य नियमादृष्टफलत्वोक्तिरिति—चेन्न; दुरितानुत्पादकत्वविशिष्टतया द्रव्यार्जनदुर्वर्णतोत्पादनादेर्नियमादृष्टसाध्यत्वत् । अनुत्पादकत्वं चोत्पत्यनुकूलशक्तिनाशवत्वम् । प्रतिबन्धकेन हि कार्यनुकूलशक्तिर्नाइयत इति मीमांसकाः। यदि तु प्रतिबन्छककार्लने कारणेऽव्याप्यवृतित्वाच्छक्तिर्नास्तीति मतम् ; तथापि शक्तघत्यन्ताभावे क्षेमसाधारणसाध्यत्वसम्भवाच्चद्विशिष्टतया तस्य तदन्याहतम् । अत एवोंकं नियमादृष्टमव्य-

$$
1 \text { श्रतृठ्गस्य टुर्वर्ण-क. ग. } 2 \text { प्रतिबन्ध:-ग. }
$$

दृृ्ट्य तदभाववच्छूवणादिनियमापूर्वस्य श्रणादिसाध्यसाक्षाखंारान्यफलाभावेऽपि तेंनैव फलवत्वोपपते:, ' सर्वापेक्षा च यक्षादिश्रुतेरश्वव' दिति न्यायात्, 'सवं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मृतेश्न। अत्र सर्वाखिलपदाक्यां कर्मशब्द्वाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने समाप्रिद्दर्शिता; मोक्षस्याविद्यानिषृत्तिरूपस्य ज्ञानातिरिक्रांसाध्यत्वनियमाच । ज्ञाने त्वसंभावनादिनिष्टत्या प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्या च दृष्टादृष्टांशोपयोगः। सामान्यपुरस्कारेण च ग्रसक्कस्य साधनान्तरस्य निवृत्तिः सर्वत्र निय-

जनाक्रमि "ति । यतु—हिरण्यधारणादिविघिरपूर्वंवेधिरेव; सत्यपि हिरण्यधारणादौ आतृष्यस्य ढुर्वर्णतानुत्पचेः, दूस्थभ्रातृव्ये तदनुत्पच्तेश्रेति—ततुुच्छम्; तद्धारणादेरनिष्टसाधनत्वधीद्वेषादिद्धौरैव भ्रातृव्ये ढुर्वर्णतोत्पादकत्वेन ताद्टशसहकारिसत्वे दु:खविशोषरूपदुर्वर्णतानुत्पत्वे. रभावात्, सुवर्णतारूपफलांशोड़पूर्वविधित्वस्य शंकितुमशक्यत्वाच ॥ सर्वापक्षेति। मुकौ तत्वसाक्षाएकारान्यस्य नापेक्षा ; तत्वसाक्षात्कारे सर्वधर्मजन्यादृष्टापेक्षा, "विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतेः, कषाये कर्मभिः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तत" इत्यादिस्मृतेश्र। यथाश्षो रशचालनादौ विनियुज्यते योंग्यत्वान्न तु लाक्रलाकर्षणादावयोग्यत्वात्, तथा तत्वसाक्षात्कारे कमाणि न तु मोक्षे इति सूत्रार्थ•। ज्ञाने समातिः । ज्ञानसाध्याजनकत्वे सति ज्ञानजनकत्वम् । दृष्टाद्टेति । दृष्टस्य श्रवणादेरसंभावनादिनिवृतावदृष्टम्य श्रवणादिनियमादृष्टस्य ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितनिवृतावुपयोग इत्यर्थः । सामान्यपुरस्कारेणेति । नियमविध्यभावे हि सामान्यधर्मावच्छिन्नं प्रतेव बैकिकसाधनं प्राप्तम् ; लौकिकम्रमाणस्य यागीयवीहिँवैतुप्यमात्रगतविशेषावच्छिन्नं प्रति साघनत्वाग्राहक्लव्वात्। तथा च ताहछालौकिकसाघनान्तरनिवृतिरेव विधि-
"जन्माद्यस्य यत" इति स्त्रे, "यतो वा इमानी"स्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः, 'ईक्षतेर्नाशब्दमि'ति स्रत्रे‘तदैक्षते" त्यादिध्रुतौ सामान्यतः प्रसक्के:। यत्तु—सामान्यषर्मपुरक्कारेणेत्याघ्ययुक्त् ; अपूरीयद्रीहिनिष्ठे बैतुष्ये येन रूपेणावघातस्य प्रापिस्तेन रूपेण दलनादेऱि प्राप्तरुभयोरपि वैतुष्यत्वावच्छिन्ने हेतुत्वात्, न हि प्राप्तिर्निष्पत्चिरपि तु स्वरूपयोग्यता? सा च दलनादेरप्यस्ति, एतावानेव विशोषो यद्वघातसाध्यवैनुप्ये पूर्वीयत्वे न दलनाढिसाध्ये इति, श्रवणादेस्तु त्रद्सात्माऽमेदसाक्षातकारत्वावच्छिन्न एव हेतुता, तत्र च नोपायान्तरप्रास्तिं, तथाच श्रवणादितन्नियमादृष्टयोरुक्तसाक्षात्कारहेतुत्वे नियमविध्यनुपपतेत्मोक्षं प्रत्येव नियमादृृ्टहेतुतेति-तक्न ; दलनादेर्घपूर्वीयव्रीहिवैतुप्ये कारणत्वं न विशेषतः ; न हि दलनसाध्यक्रियाव्यक्तेस्तद्वघक्तित्वेनोक्तवैतुष्ये हेतुत्वमपि तु तद्वयक्तिविशिट्टे वैतुष्ये, नवां द्रनादेनिशेषान्तररूपेण ताद्छशौवैतुष्ये हेतुत्वमक्ति; मानाभावात्, अतएव वैतुष्यत्वावच्छिने हेतुत्वादिति मौन्बमेव ; तत्सत्वे वा तदप्यवघातजन्यक्रियाविशेषहेतुत्वापेक्षया सामान्गत एव, अवघातक्कियायास्तु तचद्वयाक्तित्वेन तचद्वर्यक्तक ${ }^{1}$ विशिष्टविभागरूपे बैतुष्ये हेतुत्वाद्विशेषत एव तत्स्वरूपयोग्यताप्राप्तिरिति तु मौब्यमात्रम् ; नहि विधिः स्वरूपयोग्यतां निवर्तयत्यपि तु दलनाघनुष्ठानभ्रान्तिम् । तस्माचन्द्रान्तिरेव प्रात्ति: । तथाच बैतुष्य इव साक्षात्कारेऽप्युपायान्तरम्य सामन्यतः प्राप्तत्वात्विचृत्वेर्विधिफलत्वे नानुपपात्तिरिति गम्भीरार्थों न मन्दर्घगगम्य इति ध्येयम् II

जन्माद्यस्य संत्रे जन्माद्यस्य यत इति स्त्रे। जन्माद्युक्ति: जगजन्मादिकारणत्वरूपत्रसलक्षणोकिः। ईक्षतेरिति। यतो वा इमानि

[^148]च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्वत्वोक्ति：，＇लोकवत्तु लीलाकैवल्य＇मिति सूत्रे＇आप्रकामस्य का स्पृहे＇त्यादिश्रुतौ च प्र्योजनाभावेऽपि लीलया सृष्टधाद्युक्तिः，＇बैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वा＇दिति सूत्रे＇पुण्येन पुण्यं लोकं नयती＇स्यादिश्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेना－ वैषम्योक्ति：，＇तेजोऽतंस्तथा ह्याहे＇तिसूत्रे＇वायोरम्मि＇रित्यादि－ श्रुतौ च तेजआदेर्वाय्वादिजन्यत्तोक्तिः，＇विपर्ययेण तु क्रमोऽ－ त उपपद्यते चेति＇सूत्रे＇पृथिव्यप्सु प्रलीयत＇इत्यादि स्मृतौ च पृथिठ्यादीनामबादौ प्रलयोकिरित्याद्ययुक्तं स्यात् ；न हि कल्पिते तत्तद्विरोधराक्क तनिराकरणं च युुक्तमिति－चेन ；

मूतानि जायन्ते＇इत्यादिवाक्यम ；न प्रघानबोषकम् ；यतोऽइबब्दम्， प्रषानबोषकशबन्द्रून्यम्। उक्तऽर्थे हेतुमाह－－ईक्षतेरिति। तदैक्षतेती－ क्षधातुसममिव्याहारविशेषादिति सूत्रशब्दार्थः। लोकवदिति। तु－ शब्दात्पयोजनाभावे सष्टृत्वानुपपत्चिरूपपूर्वपक्षत्यवच्छेदः। यथा लोके प्रयोजनमप्रतिसन्षायापि राजादीनां हीलारूपा प्राणिमात्रस्य निभ्वासादि－ रूपा वा चेष्टा दृईयते，तथा जगस्ट्टष्टिरीशस्येत्यर्थः। वैषम्येति। कस्यचिदुत्तमं，कस्यचिन्मध्यमं，कस्यचिद्धममैभ्वर्य विदघातीति वैषम्यम्， दु：खं संहारं च जनयतीति नैै्घृष्यं च स्यादीशस्येति चेन्न ？पुण्यापुण्ये सहकारिणी अपेक्ष्य तथा करणदित्यर्य；। तेजोडत इति। अतो बायोरेव तेजो जायते，हि यम्माद्वायोरमिरिति श्रुतिक्तथा आह। विपर्ययेणेति। अतः पूर्वोक्तास्ट्टि्टिकमाद्विर्ययेण विपरीततयैव लयस्य कम：। टइयते हि लोके घटादेर्मृदादौं लय：，तन्मात्कार्यस्य कारणे ऊय इत्यर्थ：। ततद्विरोघरा⿳亠二口𧰨刂领। तचद्विरोधघटितपूर्वक्षेत्यर्थः। इ्रश्नणो लक्षणासंभवो विरुद्ध इति जन्मादिसूत्रे पूर्वपक्षो न युक्त：； लक्षणस्य कल्पितत्वेन तदसम्भवस्याविरुद्धत्वात्।（एवमीक्षतिस्त्रे

प्रपअस्यस्य कल्पितस्पापि व्यावहारिकसत्वाम्युपगमेन तद्दशायां विरोधशक्षातत्परिहारयोरुचितत्वाद, इन्द्रजालादावध्यस्ते ड्यै्द्र्रजालिकादेरीक्षापूर्वकं स्रहृत्वादेर्दर्शनाच्च। यथा च कल्पितस्यापि जन्माद्युपपात्तिस्तथाडनिर्वचनीयवादे बक्ष्यते। खमेऽपि सृष्ट्यादेः शुत्या प्रतिपादनाच । अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्वबत् वाग्रादीनां तेजआादिजनकत्वमप्युपपक्षम् ।'तदाभिध्यानादेव तु तह्क्रित्तार्स' इति सूत्रे च तत्तन्रावापन्नस्य घह्मण एव कारणत्वाभिधानात्। अबादौ पृथिन्यादिलयोक्तिरपि तत्तज्रावापषचैतन्ये व्याख्येयेति नाघिष्ठानातिरिके लयोक्तिः । पूर्वपक्षो न युक्तः ; ऊक्षणस्य कल्पितल्वेन तदसम्मबस्याविरुद्धत्वात् ${ }^{1}$ ) एवमीक्षतिस्तन्रे परिणामेल्वादिना प्रघानमेव कारणत्वादिमन्न अह्देति लोकवदिल्यादिसूत्रे प्रयोजनमननुसन्बाय न स्लह्देति कारण्वादिस्ट्टं त्वविरोषपूर्वपक्ष: बैषम्येत्यादिस्त्रेष्वपि त्तद्दूरोंधेन पूर्वपक्षो न सम्भवति ; कल्पिते विरोषासम्भवादिति भावः। व्यावहारिकसत्वेति। ठ्यवहारकालवाबध्यत्वेत्यर्थः। नतुरु—तथापि कल्पिते ईक्षा पूर्वकस्टष्टादि न युक्तम्; स्वमसृष्चर्थमीक्षणादर्शनात, सदन्यस्य च प्रपघस्य जन्मादि वाग्वद्सेत्तेजआदिदेहुत्वं च न युक्तम् ; शशविषाणादौ तददर्र्नात्, कल्पितस्य कल्पितन्न्रलयाधारत्व च न युक्तम्ं अधिष्ठान एव कल्पितस्य लयदर्शनादिल्यत आहइन्द्रेल्यादि। परमसमाधानमाह—तदभिघ्यानादिति। स ईश एव तचत्कर्यममिप्यायन्नाकाशादिभावापन्नः सन् स्वाति, अचेतनस्य कारणत्वसंभवाल्केवलाकाशादेः कारणत्वाभावात्, "य आकाशे तिछनाकागमन्तरो यमयति, सोडकामयत बहु स्यामि' ति प्रम्तुल्य 'सच

त्यच्चाभवत्, तदात्मानं स्वयमकुरुंत! त्यादि श्रुतिलिक्षत् । अत एवं ‘तच्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्ते’ ति ईशावेशादचेतनस्येक्षितृत्वम्। ठ्यवहारदशामाश्रित्य त्रैषम्यादिशाक्षातत्परिहाराविति समाधानं सूत्रारूढतया भाष्यादावुक्तमित्याशयेनाह-वैषक्यनैैर्घृण्यप्रयोजनादीत्यादि। उपासनावस्थायामिति। कर्मावश्थायामित्यपि बोध्यम्। उत्षं हि शारीरकसंक्षेपे-

आरम्भसंहतिविकारविवर्तवादा
नाश्रित्य वादिजनता खलु वावदीति ।
आरम्भसंहतिमते परिद्दलय वादौ
द्वावत्र सक्र्रहपदं नमते ${ }^{1}$ मुनीन्द्र: ॥
तत्रापि पूर्वमुपगम्य विकारवादं
भोक्रादिसूत्रमवतार्य विरोघनुत्यै।
प्रावर्तत वयवह्दतेः परिरक्षणाय
कर्मदियेगचरविषावुपयोगहेतोः ॥
विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि-
वेदान्नवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेडस्मिन् परिणामवादे,
स्वयं समायाति विवर्तवादः ॥
अभंदिनः सावयवम्य सत्य-
विचित्र रूपान्तरदर्शकत्वम् ।
बदन्ति बीरा: परिणाममसस्या
वस्रुंघराया इव सस्यस्ट्टिम् ॥

$$
1 \text { नपते-ग तपते क. }
$$

मोक्रापत्तेरविभागश्षेत्स्यास्टोकवदि ल्यापाततः परिणामवादाक्युपगमेन, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दार्दिम्य' इति तु विवर्तवादे

अभेदिनो निर्विक्टतेर्विवर्तो
मृषास्वरूपान्तरदर्शकत्वम् ॥
इत्यादि। यद्रोपासनायां नियुज्यते पुरुषस्तदा न मिथ्यात्वानिश्चयस्तस्य। विधिषु श्राद्धस्यैवाधिकारित्वादिति भावः। मोकत्रापत्तेरिति। भोग्यजातम्य भोक्टमावापत्तिः ; भोश्रभिन्नव्रद्नाभिन्नत्वात्, एवं भोक్करपि भोग्यभावापचिर्मोग्गाभिन्न्रज्नामिन्नत्वात्, अतो भोक्षृभोग्यविभागो न स्यादिति-चेन्न; यतो लोके समुद्रामिन्नत्वेडपि तरक्रफेनादीनां यथा मिथो नाभेदः, तथा कारणीमूतन्रह्सांदेदेडवि भोक्कृभोग्ययार्न स इति सूत्रार्थः। अभ्गुपगमेनेति। उक्तं हि तदनन्यत्वमित्यादिसूत्रे भाष्येअम्युपगम्य चेमं ब्यावहारिकं भोक्टभोग्यरक्ष्षणं विभागं स्याल्डोकव• दिति परिहार उक्तो न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्तीति। भामत्या-मप्युक्तम्-इमां शंकामावाततो लोकसिद्धदृष्टन्तेन निराकरोति सूत्रकारः ' "स्याल्लोकवदिति"। परिहाररहस्यमाह——तदनन्यत्वमिल्यादीति। विस्तरेण चायमर्थ:भोश्रादिसूत्रे परिणामवाद-

माश्रित्य तद्धादिमिरुक्तदोषम् ।
समादधानो मुनिराह तस्मा-
स्सिद्धान्तसिद्दिं पुनरुत्तरत्र॥
प्रत्यासन्ना परिणतिरियं विप्रकृष्टस्तु पूर्व:
संघातादिः सकल उदितों वेदसिद्धान्तापिद्धः।
एतावत्वादियमभिमता सूत्रकारस्य भाति
आन्तिस्पष्टस्फुटनिजमनःकौशलानां नराणाम् ॥ .

परमसिद्दान्तदशायां न शब्का न चोत्ररम् ; मायाविन इवेश्रस्य स्वप्रतिबिम्बभूतजीवभ्रमयितृत्वेन सर्वविरोधनिरासोपप्ते।। नन्वी-

इत्यादि शारीरकसंक्षेपादौ विवेचितः। तदनन्यत्वमित्यादि । तन्य अ््कणोडनन्यत्वं नाह्ययन्यस्वमिन्नं यत्र तत्वं "वाचार्भणं विकारो नामघेयं मृतिकेतेयेव सत्यमि "ल्यादि श्रुतिम्यः। आदिना हृगध्यसंकन्धानुपपल्याद्दिपपस्घसल्यताखण्डनयुक्तिम्यः। स्वप्रतिबिम्बेत्यादि। यतो जीवः स्वपतिबिम्ब्मतस्तम्न्रमयितृत्वमीशस्येत्यर्थ:। विरोघनिरासेति । कल्पितसृट्टौ न वैषम्यादि; जीवानामीशार्षननसुखा|्युत्कर्षापकष्षभ्रमेण तदसंभवात्। नहि मायाविनः स्वमायानिर्मितेनोलक्कृष्टापकृष्ट मनुष्यादियुय्तनगरेण बैषम्यादिकं रागट्देषादिरूपं संभव-
 सम्भबतीति भावः। मायाविन इवेति। यथा मायाविनः उत्कर्षापकर्षविशिस्टेन्द्धजालादेर्निर्मातृत्वे संहतृत्वे बा न वैषम्यनैैघृण्ये तथेशस्यांप्युत्कप्रापकृष्रमघटितसृष्टिसंहारयोर्न ते इतर्थः । आन्तानां जीवानां भ्रमयितुरीशस्य च मिध्यात्बं ज्ञापायुतुमाह—स्वप्रतिविम्बेति। तथा
 धश्ञा। न हि स्वमे कस्प चिन्दुत्र चित्पुखे वैषम्यादि यद्द्हछयते तत्र विरोषः प्रोोषकाले शब्ययते इति भावः । विरोषनिरासेति। वैष म्यादिपयुक्ताविरोषशक्षांििहेत्यर्थः। उत्तविरहे अ्रमयिवृत्वेनेति तृरायार्घस्य ज्ञाव्यल्वस्पान्वयः। गनु परिणामवादा म्युपगमेन शक्रापरिदारौ न युक्षै; वस्तुगत्या त्वस्सिद्यान्ते तद्वादानम्युपगमादिति, तब्न परिणामवादस्यानादिश्रान्तिसिद्धलेन शिष्युदुद्रचारूबतेते प्रथमं तद्वादमाश्रिल्यैव समाघानौचित्यादन्यया शिप्यं्याकुलतापचेः। तद्वादाम्युपगमेनापि सभाषानसम्भबे तदनुक्तौ न्यूततापषेश्र। अत्र आ्रामयिवृत्वेति

शंशस्यापि सपरिकरस्य जीवेनाध्यस्तत्वात्कथं अ्रमयित्वत्वम्, न; अविद्योपहितंचित एवानादेरीश्षरत्वेनान्तःकरणोपहितजीवकल्पितत्वायोगात, जीवकल्पितत्वपक्षेडपि ताद्धर्मविशिष्टतयैव कल्प-

परग्रन्थे प्रयुक्तं तदसाध्विति ज्ञापयितुमाचर्यैर्म्रमयितृत्वेत्युक्तम्। न च"मितां ह्वस्व" इति सूत्रे "वा चित्तविराग" इत्यतो वेत्यनुवृत्तेस्तदीवि साध्विति-वच्यम् ; लोके तथा प्रयोगाभावात्। संकामयतीत्यादिकं कम एव स्वार्थिकतद्धितान्तत्वेन कामस्तस्मान्नाम्नो णिजन्तादुपपघते। भामयन् सर्वभूतानीत्यादावपि तथैव छान्दसाद्वोपपातेः । उन्नामयतीत्यादावपि नामणिजन्तत्वेनोपपात्तिः। अत एव "केचिदत्र वेत्यनुबर्तयन्ति, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेनान्यत्र ${ }^{1}$ सब्ल्रामयेत्यादि सिद्धमिति" काशिकावाक्ये केचिदित्यस्वारस्यं सूचितम्। सद्धारयेत्यादावेव व्यवस्थितविभाषाया दीर्घत्वमिति चोक्कम्। जीवेनेति। मनोऽबच्छिन्नेनेत्र्थ: । मनोध्यासपूर्वमीध्वरो न जीवकल्पितः; तत्कल्पितत्वस्य तदीयाघिष्ठानषीसाध्यत्वात्, तादृशधियश्न देहेन्द्रियादिसाध्यत्वात्, मनोध्यासोत्तरमपि न स तत्कलितः; मनोभ्रमस्यावीध्वराधीनत्वादित्यमिमानः। वस्तुतस्तु—आन्तिमात्रे देहेन्द्रियाधपेक्षाविरहस्योक्तत्वाव्, नित्यपरोक्षस्येशस्य संसकारादेरिव जीवीयाधिछ्ठानज्ञानेनोत्पचिसम्भवात्, स्वेतरसर्वअ्रमे ईशस्य हेतुत्वसम्भवात्, मनोध्यास पूर्वमीशास्य कल्पनं सम्भवत्येव, तथापि जन्यभ्रममात्रस्येशाषीनत्वं सकारणम् । कारणं तु 'ध ध्येयं नारायणात्सर्वमत"स्र्व प्रवर्तते। मयाध्य. क्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धं उ्यवस्थापयितुमाहनाविद्योपहितचित इति। जीवकल्पितत्वपक्ष इति। ईभ्वरादिसर्व कार्य जीवकल्पितं प्रातिभासिकमिति द्यह्टिसूट्टिपक्ष इत्यर्थ:। तन्तर्दोंति।

$$
1 \text { संक्कामयतील्या-ग. } 2 \text { मत्त:-ख. }
$$

नेन तस्य अ्रमयित्वत्वाद्युपपते: 'परिकल्पितोडपि मरणांय मवेदुरगो यथा न तु नभो मलिनमि' ति न्यायाप्।ननतु—जीवानां वाग्वादिम्योड्मयाद्युत्पत्तिरिति अ्रमोजस्ति, यः खासभ्रम इव श्युतेरालम्बनं स्यास्, न च भर्नित्ति विना कल्पितमस्ति ; न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिकल्पितमेव एतद्वाक्यालम्बनम् ; वेदस्य अ्रमजनकत्वप्रसझात्र्, अनुबादे तु न दोष:, न चेश्षर एव तत्कल्पकः तस्य भ्रान्तत्वप्रसक्नाव्, तदम्युपगमेऽपि न निस्तारः ; अ्रान्तेदेंहेन्द्रियादिकार्यत्वात्तेषां च पृथिव्यादिकार्यंत्वात्पथिव्याद्युत्प्तेः प्राक् भ्रान्त्ययोगादिति-चेक्न ; भ्रान्तिमात्रे देहेन्द्रियायदेक्षायाः प्रागेव निरासात्, ईश्राष्यस्तवाग्वादिहेतुकाम्रथाद्युत्पज्यालम्बनत्वेन वेदस्य भ्रमाजनकत्वात्, अध्यस्तस्य चाध्यस्तछ्वेन स्फुरणान्न मायाविन इव ईंश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसकः। सर्वकार्यहठतुत्वेश्यर्वादीत्यर्थः । न्यायादिति । यथा प्रातीतिकत्वाविशेषेडवि सरों मरणेहुर्भयविशेषोत्वविद्धारा न तु नभोमालिन्यं तथा ख्वमिन्न्वादिना परोक्षतया कर्पित ईश एव स्वोचर्ण सर्वंसारुपमे हेत्निंगन्तृव्वाद्दिमान्नान्य इत्यर्थ। अ्रमाजनकत्वादिति।


 कथमुक्तम् ? अनुवादाभावेइवि श्रुतेरद्दैततात्वर्थकत्वेन अमजनकत्वस्यादोष्व्वस्भवात्, मानान्तरकृतबाषासम्भवेन श्रुल्या ताहचभ्रमजनन-
 ध्येयम् ॥

न चाध्यस्तत्वे उत्पत्त्याद्यनुपपत्तिः ; अनघ्यस्तस्य क्काप्युत्पत्त्याघदर्शनेनाध्यस्तत्वस्यैन तदुपपादकत्वात्, सत्कार्यवादासत्कार्यवादनिषेघेनानिर्वचनीयकार्यवादमात्रे कार्यकारणभावपर्यवसानात्। तदेवं कृत्सस्य प्रपश्रस्यद्वये ब्रद्नणि कल्पनोपपतेर्न प्रतिकूलतर्कपराहतिः ॥

> इत्यद्वैतसिद्धौं घ्र््वणि प्रपश्रकल्पनोपपानेनेन
> प्रतिक्कलतर्कनिराकरणम् ॥

तविषयकज्ञानस्य अ्रमपदार्थत्वादीभ्वरीयप्रपश्चज्ञाने च निश्षयत्वस्य बाधितविषयकत्वेनेश्ररेण ज्ञातत्वस्य च सत्वान्न अ्रमपदार्थत्वमिति मावः। सत्कार्यवादासत्कार्यवादानिषेघेनेति । उत्पते: पूर्व कार्यस्य सत्वे कारणव्यापारैैय्यर्थ्यममिष्यक्तचर्धंत्वे सैवासतीति कार्यमेवासदास्ताम्, असत्वे चेत्पत्तिपूर्वकालस्य कार्यासम्बन्घित्वेनावच्छेद कत्वासम्भवाक्कालनवच्छिन्नासत्वम्य सत्वविरुद्धस्यापत्तिः। अत उत्पत्त्यादिकं प्रतीयमानं विचारासहत्वादनिन्वाच्यमित्यनिर्वाच्चवाद एव पर्यवसानम्। उत्कं हिका तदस्तु गतिस्तचत्रत्रतीतिव्यवहारयोः। उपपादुयितुं तैस्तैमैतैराशंक ${ }^{1}$ नीययोः। अनिर्वक्तन्यतावादपादसेवागतिस्तयोरिति। तैैक्री सारस्वतै रतै*्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः। मिश्यानुमितौ ध्वान्तमक्नो दुस्तर्कभझ्ञनः। इंत प्रतिकूललतर्कनिराकरणम्.
¹ राक-क. ख.

## अथ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः

एतदनुमानमेकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिंर्यन्युगृषाति ।. ननु-क्रुत्या स्वस्वरूपस्वप्रामाण्यस्वयोग्यतादेर्मिं्यात्वाबोघनेन प्रत्यक्षादिसिद्धत्तत्तत्वोपजावनेन च घ्लेतरसकलमिथ्यात्वासिद्दि:, 'सबिपातुक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये' ति न्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धिश्य, योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने च भ्रुत्यर्थस्यातात्विकत्वापत्तिः; शाब्दवोधस्प शब्दतत्र्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्वनियमात्, न चसदर्थस्वायदेवतावाक्ये न्यभिचार: आप्तत्वापौखेषेत्वायोगेन तस्य शब्दव्वेन प्रामाण्यायोगान्, कि तूपश्रुतिवत्ताहछाशाब्दज्ञानं लिक्ञत्वेन आ्रमाणमिति-चेक; निर्दोषशाब्दत्वेन तस्प शब्दविधयैव भ्रामाण्यसंभवान्, आपत्वत्वापौरुयत्वयोद्दोषाभाव एवोपक्षयाव्व व्याप्षयाहुपस्थितिकल्पने गौराव्, वक्तुः कल्प-

## अथ मिथ्यात्वश्षुत्युपपतिः

योग्यतादीति । बाषाभावरूपयोग्यतायास्त्ववीरिशिषूपेण मिष्यात्वबोषकशत्तिरूपा इब्दनिष्षा वा सेति भावः। आदिनाड-
 योगादिति । तथाच प्रमाणशब्दवोध्घलेन सवोषकराब्दादिसम सताकल्ं साध्यमिति भावः। उपभुतिवदिति। एतक्कर्तव्यं न बेति सन्द्विहानेन श्रूयमाणस्यन्यक्यार्यव्वपस्स्यावइयमेत्कार्यमित्यस्यान्यं प्रल्यन्येोोक्तस्य बाक्क्यस्योपश्रुतित्वम्। तस्य सन्दिख्वपक्रककार्यकर्तन्यतायां शब्दतया यथा न पामाण्यम् ; अतवपर्वादाप्त्ताघयावाच किंत्वनुमापकतयाग्मेन तथा बोषनात्, तथोक्तवाक्यस्य सदर्थ इलर्यर्।

Advaita. Vol. II

तत्वेजपि तद्भदोषस्यार्थसंवादेन कल्पयितुमशक्यत्वाच्च। तथाच शब्दसमसत्ताकत्वस्य व्यभिचारात् योग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमसिद्द्रेप्रयोजकत्वाच परोक्षत्वानित्यत्ताद्युपाधिसंसवाच श्रुत्या योग्यतादिसकलमिथ्यात्वबोधनेऽपि तदर्थस्य न मिथ्या-

शब्दसमसत्ताकत्वस्य स्वबोघकग़ब्दसमसताकत्वम्य। व्यभिचारात् प्रमाणशब्दबाध्यत्वं प्रत्यक्यापकत्वात्। नियमसिद्धेः ठ्याप्तिज्ञानस्य। अप्रयोजकत्वात् निश्षायकतर्का ${ }^{1}$ भावेन सन्देहरूपत्वेनानुमित्यनुपषायकत्वात्। परोक्षत्वेति। यथाश्रुतं घटादौ साध्याव्यापकमतः साक्षिस्वरूपान्यत्वरूपं परोक्षत्वं बोध्यम् । न च पक्षेतरत्वतुल्यतेतिवाच्यम् ; उक्तोपाधिर्यदि साध्यक्यापकं न स्यात्तदा साक्षिणः ₹्वबोषकयोग्यतादिसमसत्राकतंव स्यात्, तथाच तस्य बाध्यव्वं निःसाक्षिकं स्यादिति तर्केण ठ्यापकतानिश्चयाद्बाधेन्नीतपक्षेतरत्वतुर्यत्वात्। आत्म-' गुरुत्वान्यतरत्वाद्यवच्छिन्नसाध्यन्यापकं यथाश्रुतं वा परोक्षत्वम्। अनित्यत्वेति। नाशित्वेत्यर्थः। "अतोन्यदार्तमि"त्यादि श्रुत्या "यावद्विकारं तु विभागो लोकवदि"ति न्यायेन च गगनादेरपि नाशित्वान्न साध्याव्यापकत्वम्। यत्तु—शब्दमामाण्यासाधारणप्रयोजकवत्वं प्रकृते प्रमाणशब्दत्वम्, तच्च न विषयाबाषमात्रम् ; तस्य प्रामाण्यमात्रे प्रयोजकत्वात्, शुकादिवाक्यसाधरण्याच, किंतु वाक्यार्थप्रमात्वबो जविषयादिमदुकत्वमिति न स्वाम्मवाक्यार्थे उ्यभिचार इति—तत्तुच्छम् ; प्रमासामान्य इव प्रमाविशोषेऽपि विषयाबाधस्यैव लाधवेन हेतुत्वैचित्यात्। श्रुकादिवाक्ये प्रमापकत्वस्येष्टत्वात्। सन्निपातेत्यादेः सन्निपातः संबन्घः स लक्षणं निमितं यस्य ताद्धशो विधिस्तद्विघातस्य स्वानिमितभितूतसन्निपातविघातस्य निमितं नेत्यर्थः। तथाच यथा शतानत्यादौ शि सन्निपातं

$$
1 \text { तर्क-ख. }
$$

त्वम् ; मिथ्यात्वप्रयोजकरूपाभावात्। महाभाष्योक्तन्यायोदाहरणमपि न गुक्तम्; विषयवैषम्यात्। तथाहि - शतानि सहत्राणतित्यत्र सर्वनामस्थानसंज्ञकरिसकिपातेन विहितो जुमू " ब्णान्ता बडि " ति षद्संज्ञाद्वारा "षद्भ्यो तुगि" ति शिस्वरूपसर्वनामस्थानस्य पश्रेत्यादाविव त्रु्न्निमितं न भवति; तत्सकिपातेनैव विहितत्वात्, तत्सन्रार्वनेयमेनैव त्रिहितत्वादित्यर्थः। अनुम्त-

निमित्रीकृत्य प्रवर्तमानो नुम्विधिर्नान्तत्वद्वारकषट्संज्ञया शिलोपेन तद्विघातस्य न निमित्रम्, तथा मिध्यात्वघर्मिम्राहकत्रत्यक्षादिपामाण्यसन्निपातं निमितीकृत्य प्रवर्तमाना विश्वमिथ्यात्यविषायकश्रुतिर्नोक्तसन्निपातविघातस्य निमित्तमित्याशयेन सन्निपातेत्याद्युक्तम्। तदयुक्तम्; दृष्टान्ते शिसद्धावरूपसम्बन्घस्य निमितस्य विघातासम्भवेऽवि दार्ष्टन्तिके तात्विकप्रामाण्यसम्बन्घस्यातादृशास्य विघातसम्भवात् 1 ठ्यावहारिकप्रामाण्यसम्बन्धस्य ताहृशत्वेऽपि तदविघातादित्याभिप्रेत्याह-महाभाष्येत्यादि। सर्वनामस्थानसंजकेति । "शि सर्वनामस्थानमि"त्यनेन विहितोक्तसंज्ञकेत्यर्थः । विहित इति । सर्वनामस्थाने इत्यनुवृत्तौ "नपुंसकस्य झहच" इत्यनेन विहित इत्यर्थ: । विहितत्वादिति। न चोपदेशकाले यत् ष्णान्तं तस्यैव षट्संज्ञा ${ }^{1}$ विर्धयते, अन्यथा येन विध्स्तदन्तन्य प्रहणमित्यनेनैवान्तराभादन्तमहणं ${ }^{2}$ व्यर्थ स्यात्, तथाच शानानीत्यादौ सा न प्रसक्तेति——वंच्यम ; अन्तम्रहणे ${ }^{3}$ संख्याया इत्यस्यानुवृत्तौ मानाभावाद्विपुष्यमान इत्यादावपि पट्संज्ञास्यादन्ते गृहीते तु सीलिस्निर्देशाइन्यथानुपपत्त्या स त्रूयानुवृच्तिः। तथाच तंत्रैवार्थापतेरुपक्षयात्व्वभावनान्तत्वाक्षेपाभावत्सन्निपातेत्यादि न्यायैनैव स्वभावनान्त-

1 संज्ञा-ग. 2 येन विधिस्तदन्तस्येल्यन्तपहणांसद्वावन्त्वहणांमात स्यात्. ${ }^{3}$ ताहृग्रहणेल्ग.

स्यैव सर्वनामस्थानस्य जुस्निमित्तत्वात्, न " लुमता不स्ये" ति लुमता लुप्तेड्झकार्यनिषेधात् । तथाचातुप्तप्रत्ययत्वेन यत्र निमित्तता तत्र सबिपातलक्षणन्यायावतार:, गत्र तु "ग्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि "ति न्यायन लुस्तेऽपि प्रत्यये कार्य भवति, तत्रालुप्तत्वविऐोषणनैरपेक्ष्येण प्रत्ययत्वमात्रेणैव निमित्तत्वाश्न सन्निपातलक्षणन्यायावतारः ; अ्रत्यसनन्दावस्य तत्रानुपजीव्यत्वात्। एवं स्थिते यद्यमिथ्याभूतत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमित्तता स्यात्तदा प्रत्ययस्यालुप्तत्वेन निमित्ततायामिव मवेदेतध्यायावतारः। प्रत्यक्षादेस्तु स्वरूपेणैव निमित्तता स्वमार्द्यथस्याप्यर्थक्रियाकारित्वदर्शनेन प्रागेवोपपादिता । अतो यद्वाध्यते तात्विकत्वं तन्नोपजीव्यम्; यच्चोपजीव्यमर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणव्यावहारिकप्रामाण्यं तच्च न
त्यागसम्भवेन स्वभाबनान्तत्वक्षेपवैैय्यर्थ्याच। लुखापते। ${ }^{1}$ लुराब्दयुक्तेन ${ }^{2}$ उुक्शुकुलुपित्येषामन्यतमेनेत्यर्थः। अङ्जस्य "यन्मात्रत्ययविधिस्तद मि"त्यनेन ${ }^{3}$ विहिताॠ्जसंज्ञाकस्य प्रकृतेरिति यावत्। बुप्ते विहितलोपयोगये । तेन लोपात्पूर्वमपि नाक्रकार्यमिति ध्येयम्। बुपेत्पीति। अमिविदित्यादौ डुप्तेडपी किबादौ लुगादि ${ }^{4}$ कार्यमित्यर्थः । यद्यपि ' स्थानिवदादेशः इत्यादिनैव लुप्तप्रत्ययस्य निमित्तता, 'प्रत्ययलोप इत्यादिकं तु प्रत्ययमात्रनिमित्तकमेव कार्य प्रत्ययलोप इति नियमार्थम्। तेन बोभवीतीत्यादौ बुप्तप्रत्ययमात्रनिमित्तक्यों Гॅँ्वेऽपि नात्मनेपदमित्यादि वैर्याकरणुरुक्तम्, तथापि नियमबोषकवाक्येन नियम्यप्रापक्ष ${ }^{6}$ स्थानीत्याधेवामिप्रतममिति न दोषः। अर्थक्रियासामर्थ्येति। प्रवृत्यादिकार्य सामर्थेयत्यर्थ: । ठ्यावहारिकेति। व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व-
${ }^{1}$ बुर्वर्णयुकेन-ग. ${ }^{2}$ बुक्ष क्कुर्डुबल्ये. डति भवितुमुचितम्, ${ }^{3}$ यस्मा-
 6 नियम्याप्रापकम्-क. ख.

## बाध्यत इति किं केन सझ़्गत् ? तदुक्त टीकाकृन्भि:-"उत्पा-

रूपेत्यर्थः। न बाध्यत इति। विचारकाले प्रपश्चस्यं बाधेऽपि क्यवहारकालाबाध्यत्वं न विहन्यत इत्यर्थः ॥

वस्तुतस्तु तात्विकत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमितत्वेऽपि न पकूते उक्तन्यायावतारः; सामान्यविषयकोक्तन्यायस्य विशोषविषयकेनाद्वैतश्रुतिताइपर्यान्यथानुपपत्त्यादिना ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य’ इत्यादिन्यायेन, 'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु समृतमि' त्यादिस्मृत्या च बाघसम्भवात्। अतएव महाभाष्ये नदि ज्राह्मणीत्यादौ तन्नयायानवतारात् तन्नयायानादरमाराक्कय तन्नयाय आवस्यको दोषेषु तु प्रतिविषातन्यमित्युक्तम्। तत्र च 'एङ्द्वस्वात्सम्बुद्दे:' इति सूत्रे गुणादित्यकृत्वा एङ्न्द्व्वादिति करणं ज्ञापयति, यदेत्तदन्यविषय एवोकन्यायावतारः, यदि हि नदि ज्राह्मणीत्यादौ सन्निपातन्यायेन सम्बुद्धिलोपबाधः, तदा गुणात्सम्बुद्धेरित्येव सूत्रं कियेय, एकार, ओकार, अकाररूपाद्नुणत्सम्बुद्धिलोपसम्भवात् । ${ }^{1}$ न हि झाह्मणीत्यादाविकारादिरूप|दूूस्वात्सम्बुद्यिलेपम्योक्तन्यायबाध्यत्वष्वीकारात्। एवं 'हलिसवर्षोम् ' 'कष्टाय कमणे' इत्यादि सूत्रण्यपि तन्नयायामवृतिज्ञापकानीत्यर्थ इति कैग्र्यटः। तथा चोक्तसूत्रान्यथानुपपत्तिरिव विशेषविषयकन्यायान्तरमप्युक्तन्यायं बाधत एव। किंचापजीवकं नेपजण्यविघातमिलेयोकोक्तन्याय:, तम्य च बाघ: क्फुट एव। लोके उपजीवकेन वन्द्यादिना तृणाद्देर्विघातात्। अतएव अचि ह्व्वश्च वा हत्यकृत्वा ' ङिति ह्वस्वश्र, वामि,'ति सूत्रद्वयकरणं सन्निपातेत्यादिपरिभाषाया ज्ञापकामिति कौस्तुभे उक्षम्। तन्नयायस्य व्यभिचारत्वेऽपि पद्निष्पत्यर्थ कचिदादर इति तत्र भावः। अन्यथा ज्ञापकानुसरणैवैय्यर्ध्यात् ।

दकाग्रतिद्वन्द्वित्वादि " ति। अतएव ज्योतिष्टोमादिविधेरुपजीठ्याम्निविद्यावद्विषयत्त्रेनेव द्दैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन सक्षेचस्य वा सृष्ट्यादिध्रुतेरिव कल्पितविषय-

तस्मात्कल़प्यमानेऽर्थ उपजीव्यविरोधो दोषः, कल्पनाया उपजीव्याविरोधेनैव प्रवृत्तेः। यथानुभवकारण ${ }^{1}$ त्वमुपजीक्य संस्कासस्य कारणत्वेन कल्पनं नानुमवकारण ${ }^{2}$ ल्वं विहन्ति । यत्र तूपजीव्यविघातकत्वं मानाः न्तरेण क्नुप्रम्, यथा नन्हादेस्तृणादिविघातकत्वं प्रत्यक्षेण, अद्वैतश्रुतेप्रत्यक्षादिविघातकत्वमुक्तमानन क्रुप्त्, तत्र तन्न दोषः। तथा च 'न तौ पशाविति' शास्सस्य पशावाज्यभागभापकत्वेनोपजीठ्यातिदेशं प्रति विघातकत्बेऽपि यथा सर्वरा न तत्र विघातकत्वम्, तथा पत्यक्षादे: सत्यत्वविघातिकाव्यद्वैतश्रुतिर्य्यावहारिकसत्यतां न विहन्तीति ध्येयम् II

विद्यावदिति। यथा ज्योतिष्टोमादिविधेः सामान्यतः स्वर्गकामाधिकारिकत्वेन श्रुतस्यापि वेदार्थविज्ञसामिकविषयकत्वम्; अन्यथा तदर्थानुष्ठानासम्भवात, आहवनीये जुहोतीत्यादिनामिविषानाद्विधयार्थस्यानुषाने ${ }^{3}$ तेन ज्ञानहेतुत्वाच्च, तथाद्वैतश्रुतेयोग्यताद्यन्यविषयकत्वम्। योग्यतादिमिथ्यात्वे स्वस्यैवाप्रामण्यापत्तेः। शब्दार्थस्य योग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमादित्यर्थः। षष्ठस्य प्रधमे स्थितम्-अम्मिहोत्रादिबैदिककर्मसु चतुर्णामपि वर्णानामघिकारः शूद्धामिन्नानां वेति संशये, चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' इति सूत्र्र विषिषु विशेषाश्रवणात् चतुर्णामिति पूर्वः पक्षः। अमिहोत्रान्दीनाममिविद्यापेक्षिण। ${ }^{5}$ माघानोपनयनसिद्धयोराम्मेविधयोर्लाभसम्भवे ‘निषाद₹थपत्तिं याजेत्, इस्यादाविव रदने तदाक्षेपे

[^149] क.ख. ${ }^{5}$ वियापेप्षणा-क.

त्वस्य वोपपत्तौ न तात्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्वकल्पनं युक्तमिल्यपास्तम् ; दृष्टान्ते अप्रिविद्यादेरिव दार्ष्टान्निके योग्यतादेस्तात्विकस्यानुपजीव्यत्वात्। न हि योग्यता तात्विकयोग्यतात्वेन निमित्त्रम्, किंतु योग्यतात्वेनैन । सकलंद्वैताभावस्याधिकरणसरूपप्वेन तदाधिकरणस्य च अद्सणः ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं बह्म' 'तत्सत्यं स अत्मा' इत्यादिश्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनान्न सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वोपपत्तिः । तस्माद्योग्यतादेमिंथ्या-

मानाभावादाधानोपनयनयोश्र' बसन्ते ज्ञाद्वणोडमानिादर्धात ‘भध्मे राजन्य:, शरादि वैर्य:, वसन्ते घाह्सणनुपनयीत, मीज्मे राजन्यम्, शरदि वैसमम्' इति विहितयोररूद्धाणामेव सिद्देस्तेषामेवाधिकारसेेव्विति सिद्धान्तः। तात्विकसर्वमिथ्यात्वेति। तात्विको यः स्वसमानाषिकरणामावस्तत्पतियोगित्वेलर्थः। अत एवेल्यम्यार्य विवृणोतिदृ्टान्त इति। ननु -विर्षीनां स्वार्थसमसताकामिविधापेक्षादहैतुतनिषेश्रुतेरवि ताह्द्रयोग्यतापेक्षाम्तु ; निषेषश्रुल्या च न ताल्विकाभावो बोध्यते ; ‘परास्य शक्तिर्विविध’ ति श्रुल्या विचित्रत्श्श्ककारणविचित्रशत्रिरूपस्य द्वैतस्य अ्रसरूपताबोषनेन तात्विकत्वात, द्वैतसामान्याभावस्य तात्विकत्वासम्भवादिति-चेत्त ; आन्तोऽसि ; विषीनामुक्तापेक्षा हि युक्ता: तदर्थस्प्यावम्मेरापि ठ्यावहा|रिकस्पैच विहितत्वातंज्जानरूपविद्याया अपि तथात्वात्। वस्तुतस्तस्यामपि न नियमः ; 'शाणिछब्याय स्वशं निवेदयेत्, ‘नेक्षेत बारिस्थमादिल्यमित्यादौ च्वपवारिस्थादित्यादिज्ञानस्य बेद्दजन्यम्यापि श्रमसमानविषयकत्वेन पातीतिकत्वात्, निषेषश्रुतेत्तु तालिकार्थकत्वेडपि तात्विकयोग्यतादिकते मानाभाव इट्युक्तम् । अह्मणोडऽ्यन्तामिन्ना तच्छक्तिश्रेतदा तताल्किकलं न द्वैतमिय्याल्वे बाषकम्। अथ सा तद्रिना, अन्यथा नानाविषल्व-

त्वेऽपि वेदान्तबोध्यं सत्यमेवेति स्थितम्। यथा चाविद्यातत्कार्यस्य स्वरूपतो . निषेधेऽपि तुच्छचैलैलक्षण्यम्, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे वा पारमार्थिकत्वर्धमून्यस्यापि जह्मणः स्वरूपेण सत्वम्, तथेपपादितमधस्ताव् । ननु—तत्वमस्यादिवाक्येन प्रत्यक्षाद्यविरोधाय तत्वंपद्लक्षितयोरैक्यमिन मिध्यात्वश्रुत्याि तदविरोधाय प्रत्यक्षादिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यम्; अन्यथा प्रत्यक्षाद्यनुग्रहाय व्यावह्रारिकमपि सत्वं न कल्प्येत। "नेह नाने" त्यादिनिषेधेनात्यन्तासत्वबोधनादिति-चन्म; विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन सर्वत्र विशिष्टाभेदप-

ब्याधातातदा मिथ्यैव द्वग्टरयसम्बन्धनुपपत्यादित्युक्तेरुकत्वात् ${ }^{1}$ तस्मात्परास्येत्यादिश्रुतिः स्टष्टिवाक्यवद्दूतश्रुतित्वाद्यावहारिकशक्तिबोधिका न तु ब्रह्माणि तदत्यन्ताभेदपरा। न च शब्दस्वरूपादे: शब्दाथस्य च समसत्ताकत्वनियमल्यागे सति बाघकाभावादँद्देतश्रुत्यर्थतात्विकतासिद्धि:, तस्यां चोक्तनियमत्याग इत्यन्येन्याश्रय इति-वाछ्यम् ; अद्वैतश्रुत्यर्थतात्विकत्वसन्देहोपि तर्काभावेन ठ्यमिचारसन्देहादुक्तनियमानिश्रयात् ॥

ननु प्रपश्चः स्वर्पपेण निषिद्धस्तुच्छः स्यात्, पारमार्थिकत्वेन निषिद्धश्रद्नद्वापि तथास्तु, ${ }^{2}$ अथ त्रस्न तेन रूपेण मिथ्यैव स्वरूपैणैव सनिर्षमरकत्वार्तर्हि प्रपश्चोऽपि ${ }^{3}$ ब्रक्सवस्त्वरूपेण सन्नस्तु तत्राह——याचेति। वैलक्षण्यं सत्वप्रतीत्यहत्वादिति शेषः । शक्षण इति । एवकारः शेषः। एकेन घह्मणा सता सर्वंत्र सदाकारधीसम्भवात्; तदन्यस्य सद्रूपतायां मानाभाव इत्याद्युक्तमित्यर्थः । विशिष्टाभेद्यरेति ।
${ }^{1}$ जुपपत्तेरित्युक्तत्वादिति स्यात्त. $\quad 2$ अथ तेन रूपेण व्रह्मापि-ग. 3 पि तथास्ब तश्राह—यथान्चेति-ग.

रवाक्यस्य लक्षितविशोष्यैक्यपरत्तनियमेन तत्त्वमसंत्यित्राषि तथाम्युपगमात् 1 तदुक्तम्-
"अविरुद्वविरोषणद्वयम्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः ॥
घटते न यदैकता तदा न तरां तद्विपरीतरूपयोः ॥ इति। मिथ्यात्वबोधकश्रुतौ तु नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः ;

विशिष्टद्वयोपस्थापकपदद्वयघटितेत्यर्थः। लक्षितेत्यादि । द्रव्यत्वषटत्वाधुपहितयोरभेदपरत्वेडपि लक्षणास्त्येव ; विशिष्टान्वयस्यौस्सर्गिकत्वात्। परंतु विशिष्टान्वयाभावावइयकत्वे उपहितलक्षणायां न मानम् । यत्र तु 'तेन घटेन जलमाहर' इत्यादावुपहितान्वये तात्पर्यम्, तत्र 'एकहायन्या पिक्ञक्ष्या कीणाति' इत्य।दाविव करणत्वे उपहितान्वयानुरोंधादुपाहितरक्षणासतु। द्रव्यं घट इत्यादौ तु न तस्यां मानमिति तद्वदेव तत्त्वमसीत्यादावपि तात्पर्यनुरोघधाद्विशेप्यस्वरूपयेारत्यन्ताभेदरूपव्यक्तिमात्रस्वरूपैक्यबोध इति भावः। अविरुद्धेति। द्रव्यत्वघटत्रादिरुपेत्यर्थः। प्रभत्त्वे घटितत्वे। एकता अत्यन्ताभेदः॥

ननु-न वयमुपजीव्यविरोषं पकृते वदामः, किंतु प्रत्यक्षश्घविरोधेनापि मिथ्यात्वश्रुल्युपपत्तौ तद्विरोषित्वं तस्या न युक्तमितातिचेन्न ; प्रत्यक्षस्येव मानान्तराणामप्यनुरोषे , मिश्यात्वश्रुत्तिषयालाभादतात्विकभामाण्यस्य प्रत्यक्षादाववरयं वाच्यत्वाष्। यतु-प्रत्यक्षाद्यननुरोधे तत्त्वमसीत्यादावपि विशेषणयोरैक्यपरत्वं स्यात् ; तदनुरांधे तु मिध्यात्वश्रुतावपि प्रत्यक्षाधासिद्धवस्तुमिथ्यात्वपरत्वं युक्तमिति, तन्न; नहि तत्त्वमसीत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षाधनुरोषेन विशेषणयोरैक्गरत्वाभाव इति वदामः, किंतु सोऽयमित्यादिवाक्यक्य; तस्यास्तु तदनुरोषेडपि व्यक्किस्वरूपवात्रतात्पर्यम्पहकानुरोषेन सोऽयमित्यादाविवाखण्डार्थत्वा-

तात्विकत्वांशास्याजुपजीव्यत्वात्, व्यावहारिकसत्त्रस्य चोपजीव्यत्वान्मात्यन्तासत्वकल्पनामित्यस्याप्युक्तम्रायत्वात्। नजु श्रुतेस्तात्पर्य चैतन्यमात्रे वा, द्वितीयाभावविशिष्टे वा, तदुपलाक्षेते वा। नाद्यः ; विश्वमिथ्यात्वासिद्धेरिष्टापत्ते:, तस्य स्वप्रकाशातया नित्यसिद्धत्वेन श्रुतिवैग्यथ्यांच । न द्वितीय: ; अखण्डार्थत्वहानात्। अतएव न तृतीयः ; काकवदितिवद्दितीयाभाववदित्यनेनापि सम्रकारकज्ञानजननेनाखण्डार्थत्वायोगात्, चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेन तदन्यस्य च मुसुक्ष्वज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीयाभावेनोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावातस्योपलक्षणत्वायोगाचेति—चेन्नं काकस्य संस्थानविशेष इव द्वितीयाभावस्य स्वरूपमेवोपलक्ष्यमित्युपलक्ष्याभावनिबन्धनोप-

हीकारात् ${ }^{1}$ मिश्यात्वश्रुतौ तु ‘नेह नानास्ति किंचन' 'नेति नेति’ इत्यादौ। सर्वनाम्ना सर्वमानोपस्थितानां हि निषेधतात्पर्यस्य सफुटत्वादलीकनिषेधम्य प्रापत्वादप्रयोजनकत्वाच न प्रत्यक्षार्यसिद्धालीकमिथ्यात्वपरत्वमिति विशोषात् ॥

ननु-श्रुतेः प्रत्यक्षाद्यननुरोधे विश्षम्य एग्यात्यन्यथनुपपत्त्य ${ }^{2}$ गम्यमसंद्वैऊक्षण्यमपि बाध्येतेत्यत्यन्तासत्वं क्यात्तत्रह——व्यावहारिकसत्वस्येति। उक्रग्रायत्तादिति। यचोपजीक्यमित्यादिनेत्यादिः। व्यावहारिकत्वोपजी ${ }^{3} य^{3}$ तोक्तया अत्यन्तासत्वं नेत्यर्थानुक्तमित्यर्थ:॥

काकवदिति। यथा काकवन्तो देवदत्तगृहा इत्युक्ते उत्तृणत्वरूपोपलक्ष्यतावच्छेदकप्रकारेण बोधः, तथा द्वितीयाभाववदित्येेनापि किंचिदुपलक्ष्ष्यतावच्छेदकरूपेण स इति भावः। संस्थानविशेषस्य
${ }^{1}$ कारः-ग. ${ }^{2}$ ख्याल्यन्यथानुपपत्ति-क. ग. ${ }^{3}$ ब्यावहारेसत्बोफ जाव्य-क. ग.

लक्षणत्वानुपपत्तेरमावाव्। उपलक्षणत्वे हुपुलक्ष्यसत्वमात्रं तन्त्रम्, न तु तस्य स्वरूपातिरिक्तत्वमपि; गौरवात्, उपलक्ष्यतावच्छेदकरूपाभावेऽपि स्ततोव्यावृत्तजातिवदुपलक्ष्यत्वसम्भवात्। अतएव न सप्रकारकव्वापत्तिः ; काकवदित्यन्राप्युपलक्षणस्याप्रकारत्वाव्, किंतु स्वरूपातिरिक्तधर्मस्य तत्रोपलक्षणत्वेन सप्रकारकटव्, इह तु तनेति वैपम्यम्। नचोपरक्षणवैग्य्यर्थ्यम्; अनर्थनिवृत्तिहततुत्वेन दितीयाभावद्वारकस्वरूपज्ञानस्योछेशयत्वाद, तस्य प्रागसिद्धत्वाद् । न च मिथ्यात्वासिद्धथेष्टापत्तिः ; अवान्तरउतृणण्वदेः । स्वतो ठ्यावृत्तेति। घट इल्यादिजाने इतराविशेविताखण्डरूपेण भातघटत्वादीतर्थर्थः उपलक्ष्यत्वसम्भवात् सद्वितीयत्मकस्वधीविरोधिविषयतासम्भवात् । तथाच उ्यावृत्ताकारता हि द्वेध्य्यादिना द्वितायागावकत्व्वाहुपस्थितिद्वारकस्य निप्पकारकज्ञातस्यापि सद्वितीयात्मकल्वादिधीविरोघिन्वेन व्यवस्थापितत्वात्, पकृते अखण्डार्थकव्वमष्याहतमिति भावः। इह त्विति। स्वरूपनिर्विकल्पकस्यैव सद्वितीयात्मकल्वर्धाविरोधितया तजननद्वारा द्वितियायावज्ञानस्य सद्वितीयव्याबर्तकत्वस्य पर्यवसन्नवेनाद्वितीयत्वे उपउक्षणत्वस्य सम्भवादिति शेष:। अनर्थेति। सद्वितीयत्वज्ञानेल्यर्थः। द्वितीयाभावझारकेति। द्वितीयाभाववत्वेन उस्सोपस्थितिद्वारकलक्षणा|ज्ञानाधीनेलेलर्थः। अवान्तरेति। उत्क हि शरीरककसंक्षेपसामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागान्वय:

पः्घदेव विऐोषणेतरतया पश्चाद्विरोधोद्रवाः ${ }^{1}$ उत्पने च विरोष एकरसके वस्तुन्यख्यण्डाइमके

वृतिर्रिक्षणया भबत्ययमिह ज्ञेयः कम: सूरिरिःः ॥

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोज्जेयं तदीयार्थयोः संकन्घन्तु विशोषणेतरतया ताम्यां सहास्यात्मनः। सम्बन्घोडप्यथ लक्ष्यकक्षणतया विज्ञेय एवं बुषै-

रेतन्मर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु i। इति ॥
अन्र पदार्थानां विशिष्टानामभेदबोधोत्तरं विरोध干फूर्य्या लक्षणाज्ञानेनाखण्डार्थबोघस्योक्तत्वाद्दितीयाभेदेन ब्रह्गणो बोषेडव।न्तरवाक्यतात्पर्यम् ${ }^{1}$ । अथवाडद्वितीयत्वेनाद्यितीयपदाद्रद्योपस्थितिरक्षणाज्ञानाऽपूर्वमवइयमपेक्षिता। तथाचावान्तरवाक्यार्थानुभवरूपायां तस्यामेवावान्तरतात्पर्यस्वीकारेण जह्माण्ण ${ }^{2}$ द्वितीयाभावानुभवसम्भवेन मिश्यात्वसिद्धि:। एतेन प्रथम ${ }^{3}$ पदयेंरेकार्थकत्वं समानविभक्तिकसाकांक्षत्वादिमत्पदयोर्भिन्नार्थत्वासम्भवादित्यधिकारिणननुसन्धीयते, पश्चान्तदर्थयोरत्यन्तामेद : अन्यथो $ै$ ैकार्थ्यासम्भवादित्यनुसन्धीयते, पश्चाद्विरोधादिकमित्युक्तश्होकयोरमिप्रेतार्थ इत्याचर्यैरपि ठ्याखूयानात्। तत्र पदार्थत्वेन शक्यलक्ष्यसाघारण्येन ${ }^{4}$ पदार्थयोरमेद इति प्रतिसन्धानस्योक्तत्वादुक्तप्रतिसन्षानस्य तर्करूपत्वाच पदार्थतावच्छेदकरूपेण पदार्थयोरमेदप्रमायं कथमवान्तरतात्पर्योक्किरित्यपास्तम् ; सत्यज्ञानादिरुढपदार्थनां संसर्गप्रमाया: पूर्वमनसीकारेडप्यद्वितीयादियौगिकपदार्थप्रमाया आवइयकत्वात्, अवान्तरवाक्यार्थबोधं विना महावाक्यार्थनोधासम्भवात्। अन्यथा ज्रह्मणि सद्वितीयत्वादिसंशयानिष्टतावद्वितीयादिपद्दार्थषीपूर्क्कवाक्यार्थबोधे संशायत्वझ्यौचित्यावर्जितत्वेन निश्षयंव्वासम्भवात्, तर्करुपाद्वितीयत्वज्ञानस्यानिश्ययत्वातत्पत्पदुस्यार्थतावच्छेदकरूपेण निश्ययं विना तद्विशिष्टसम्बन्धरूपरक्षणा ${ }^{2}$ ज्ञानासम्भवानुक्तफ्रतिसन्धानस्यार्थापत्त्यादिरूपत्वसम्भ-

[^150] ग. ${ }^{4}$ साधारोन-क. ख. ${ }^{5}$ लक्षण-ख.

तात्पर्यस्य तन्रापि सत्त्वात्, तद्दांरैत स्वरूपचैतन्ये महातात्पर्यात्। अतएव श्रुतिबोध्यस्य त्रिशोषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्वेद्दैतहानिः, असत्वे चादण्डे दण्डीति चाक्यवत् काकहीने काकवंदिति वाक्यवनाब्दैतवाक्यस्यातत्वावेदकत्वापनिरिति निरस्तम् ; आघ्ये द्वितायिंभावसत्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापादनस्यानुचितत्वात्, अभावस्याधिकरणातिरेकानभ्युपगमाच। इ्वितीये तु सुष्ट्यादिवाक्यवदुपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वमादाय तत्वावेदकत्वात् मुखु्यतात्पर्यविषयस्यासत्यत। यमेवातच्चावेदकत्वाभ्युपगमात् अतएव महातात्पर्पाभिप्रायेण चैतन्यमात्रे तात्पर्यमित्याद्यपक्षेऽपि न दोषः; अवान्तरतात्पर्येण मिथ्यात्वसिद्देरापे स्वीकारेणेप्टापत्तेरप्यसम्भवात् । ननु—द्वितीयाभाने महातात्पर्याभावः किं

वेंन शाब्दल्वानकीकरोरेडपि क्षतिविरहाच, धूमोऽस्तीत्यादिवाक्यस्य नन्बनुमिताविवाहद्दितीयत्वाद्दिं वाक्यस्योक्तार्थापत्य्यदौ तात्र्पससम्भवाच्च, तदिदमुक्तम्- तद्वारैवेति। अद्वितीयव्वेन बह्यधीरुपमिध्यात्वसि|्देतात्पर्यद्वारैवेल्यर्यः। सत्वे ताल्विकते। द्वितीयाभावासिद्धीति।
 तात्पर्यविषयेप्वतत्वावेदफले डपि मुख्यतात्पर्यविषये तत्वावेदक्व्वमिल्यर्यः ॥

यतु अवन्तरतात्यर्य तत्रैवाकीकियते यत्र तद्विषयघटितो म"हावाक्यार्थ; द्वितीयाभावादिम्नु नाखण्डमहावाक्यार्थषटक इति, तन्र न तदिति-तन्न ; भूतार्थचादानां न्नुतिद्दारमूतदेवतताविपहादौ धूमो डस्तात्यद्देनेन्बनुमित्यादिद्वारमूतधूमास्तित्वादाविव महातात्रर्यविषयाघटकेऽऽ्यवान्तरताז्रर्यसम्भवात् । न च--द्वितीयाभावद्वारकमेव स्वरूपज्ञानमनर्थनिर्वकमिति न युक्तम् ; न हि द्वारविशेषाजन्य:

$$
1 \text { तार्भार्दि-क. } 2 \text { हितम-ग. }
$$

प्रमाणन्तरप्राप्तया, यथा वायुक्षेपिष्ठत्वादौ, उत तक्विरोघित्तेन ; यथा आत्मवपोत्खननादौ, उतोछेइगविशोषणत्वादिना ; यथा ग्रहैक

शुक्तिसाक्षात्कारो न रुप्यभ्रमानिवर्तक इति--वाच्यम् ; श्रवणाद्यजन्यस्यापातज्ञानस्याद्वितययत्वादिपरामर्शशून्यक्य वा द्वितीयत्बाद्युपलक्षितस्वरूपज्ञानस्याप्रम|त्वेनाशक्षयमानत्वाद/निश्ययेन ${ }^{1}$ सद्वितीयत्वादिभ्रमानिवर्तकत्वात्, पैररप्यद्वितीयत्वादिनिश्वयस्योक्तभ्रमनिवृत्तिप्रयोजकत्वाहीकारात्। अखण्डवाक्यार्थानुकूलत्वेन महातात्पर्पस्य परं तत्रायुक्तत्वात्। अतएव दूरस्थसन्निकर्षादिजन्य: श्रुक्तयादिसाक्षात्कारो न अमनिवर्तकः ; सद्वितीयत्वादिभ्रमानिवृतौ च विरुद्धघर्मयोगेन जीवन्नद्मणोरैक्यानिर्णय इति तन्निवृत्त्यावर्यकत्वादिति ध्ययेम्॥

तद्दिरोधेन प्रमाणन्तरविरोधेन। क्षेपिष्टत्वेति। क्षिप्रकारित्वेत्यर्थः। वैपात्खननादौं शरीरान्तरस्थद्रव्यविशेषरूपवपानिष्कासना कौ। उक्षं बर्थवादाधिकरणे--वायुँैं क्षेपिष्ट्ट्यादे:, स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददित्यादेश्ष, न स्वार्थता ${ }^{2}$ प्पर्यमिति । ग्रहैकत्वादाविति । ज्योतिष्टोमे श्रुते "दशापवित्रेण प्रहं सम्मर्शि" इत्यादौ प्रहकत्वादि विवक्षितं न वेति संशये, श्रुतस्याविवक्षाबीजाभाद्विवक्षितमिति प्राते प्रहस्य कर्मत्वादपूर्वसाधनत्वेन तमुद्दिएय सम्मार्गरूपसंस्कारविषानात् प्रतिमधानं संशकारावगमास्सर्वे प्रहाः सम्मार्जनीयाः। यदि हि यागे पश्युरिव सम्मार्गे ग्रहो गुणः स्यात्तदा प्रयोजनाभावात्पतिगुणं न प्रषानमावर्तनीयमिति सछ्वयापेक्षायां पश्षेकत्ववद्र््रहैंत्वं विवक्षेत। प्रयोजनानुरोषेन तु प्रतिम्रहं गुणीमूतसम्मार्गावृत्तिसिद्धौ न परिच्छेदकतेतन स न्बूयापेक्षेति नानाकांक्षितमुद्देशयविशेषणसंरू्यादि विवाक्षितम्। किचै. केत्वादेरुदेरये विधिये वा निवेशः । नाह:; ग्रहमेकत्वं चोद्दिश्य

1 दनिश्वयत्वेन-क. ख. 2 स्वार्य ता-ग.

त्वादौ, नाद्यः ; त्वयैव क्वितीयभावस्य ग्रमाणान्तरप्राप्रथनभ्युपगमात् । द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न तावत्र्रत्यक्षादि ब्वैतग्राहि; त्वन्मते तस्यैन श्रुतिबाध्यत्वात् ; नाछ्छैतवाक्यान्तरम् ; तस्यात्ममात्रपरत्वे द्वितीयाभावाविरोधित्वात्, न हि विशोธ्यविषयं 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति वाक्यं विशि विषयेण 'दभा• जुहोति' इति वाक्येन विरुध्यते, द्वेताभावपरत्वे त्वेकविषयत्वेन सुतरामविरोधात्। नापि तृतीय: 'ग्नहं सम्मार्टि' इत्यत्र सम्मार्जनस्येवाखण्डार्थपरे वाक्ये विधेयान्तरस्याभावेन विरो-

सम्मार्गविषौ प्रत्युद्देइयं वाक्यसमाप्तया वाक्यभेदापतेत्तः, प्रत्येकं ग्रहाणामेकत्व|स्सम्मार्गवारणालाभाच । अतएँवैकत्वविशिष्टम्रहोद्देशनापि न सम्मार्गविधि:; युगपत्सङ्बयकारके विभक्तया बोध्येते न तु सछ्बुयां बोधयित्वा तद्विशिष्टन्य कर्मख्वादिकारकम्। नान्त्य ; एकत्वस्म्मार्गयोर्विधने वाक्यभेदात्सर्वयहेषु. सम्मार्गस्य वारयितुमशक्यत्वन्स्सम्मार्गस्य विघेयत्वेन एकत्वोद्देरयम्महे विझ़े ${ }^{1}$ गत्वायोगात् । समानश्रुत्युपातयो: सङ्खुयाकारकयोर्मिथ एवान्वयान्नामार्थे सङ्बयान्वयासम्भवात् । त₹्मास्साधुत्वार्थमेकवचनामिति तृतीयपथमे निथतम् । तथाच तद्वदुद्देरयविशेषणत्वाद्दितीयाभावो न विवक्षित इत्यर्थ:। यतु—प्रहैकत्वदृष्टन्तेनााद्वितयिस्वम्य वाक्यार्थापवेशोड ${ }^{2}$ पि प्रहैकत्रत्वस्येव तस्याबाघितमतीतिर्दुर्वरेति - ततुच्छम् ; ताहपर्यविषयवाक्यार्थप्रविष्टेरर्थ शब्दस्याप्रमाणत्वेन प्रतीयियानम्याप्यद्वितायत्वस्य द्वितीयत्वेन तत्रतीतरत्बाधसम्भवात्। अखण्डार्थबोधे सामग्रयभावं"नाद्वितीयत्वभानासम्भराच । त्वयेति । अद्वैतश्रुतेरननुवादित्ववादिंनल्याद्विः। निशिष्टनिषयेणेति। होममुद्द्श्य

[^151]ष्यस्य शास्बगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्तवेनोद्देरयत्वोयोगाण्य रितीयाभाबस्योंछेइयविशेषणत्वानुपपत्तेः, अविनक्षाहेतोररत्रुवाद्य-त्वस्याप्यभावाकेति-चेक्ष; स्वयमेब स्वबोधितमपि द्रितीयाभावं व्वितीयत्वादेश निषेधतीति स्वविरोधादेव श्रुतेस्तत्रातात्पयात् । मानविरोधिव्वमात्रस्य तात्पर्यामावे प्रयोजकत्वात्स्वविरोघेडपि न क्षतिः। नन्देकेनैव प्रमाणेनैकस्य प्राप्तिनिषेघावतुपपबौ, न; रूपमेदेनाविरोधाव्। द्वितीयाभावस्वरूपं हि शास्बेण प्राप्यते। दविविधायकेनेल्यर्थः। न क्षतिः। न मान' ${ }^{1}$ रिरोषक्षतिः। तथाच वपोस्वननादिवाक्यवदद्दैतवाक्यम्, न ववुुख्यार्धमहाँतात्र्यकामिति भावः। अनुपपव्वाविति। महणात्रहणवाक्याम्यामेकस्य विषिनेषषसत्वेड ${ }^{4}$ नैकेन तस्सव्वम्, निषेधवाक्येन निषेषस्य विधिर्निषेध्यस्य निवेषश्चेत्यसीकारेडपि नैकस्य तेन विधिनिषधै। एकस्यैकेन विषने निषेषे चच वाच्चे कमेण तयोरखीकारे विरम्मच्यापारापत्ति:, युगपदक्रीकारे विषेयस्य निषेषार्थमनुवादायोगोडनुवादस्य प्रामिपूर्वक्वात्। सकृनुचर्चित्योगयतात्पर्यासम्भवात्। आवृत्तिकइ्पने वाक्येेदापतिश्र। किंचैकन्य विषिनिवेषयो: स्वतज्रतात्पर्याभावे तयोंैैंच्यर्र्यम् । न हि निषेषार्यमेव कनिर्तिकानिद्धिधीयत इति दृषमिति भावः 1 रूपमेदेनेति । भूतार्थवादादीनां देवताविमहादि विषाय तद्दारा स्तुल्यादितात्रर्याज्रीकारात् स्वतम्रतात्वर्येदे एव विरम्मक्यापरादेदोषषष्वम् । ₹वत्रतात्पर्याभावेऽपि प्रकेते विधिनिषेावेकस्य न ठ्यर्थौ ; एकरूपेण विधिनिषषस्थल एव हि तथा, तत्र हि विषेयस्यैव निषेषो निषेषार्थमेव विषानम्; प्रकेते तु द्वितीयमाँ्रस्य निषेषो द्वितीयाभावमान्रस्य विधेयतेति। तद्विघानं विनासण्डार्थविषयकनिषेषवाक्यार्थासिद्देरुक्तल्वान्न तयोंनैप्युर्थ्यमिति भावः॥

[^152]तस्य च प्राप्यतावच्छेदकरूपं वितीयाभावत्वम्; तच्च न निषेध्यतावच्छेदकम्, किंतु द्वितीयत्वमेव निषेध्युमात्रानुगतम्। तत्र तदनभ्युपगमे तु न तस्य निषेध्यत्वम्, न वा तेनात्मनः सघ्वितीयत्वापत्तिरिति न कोऽपि दोषः। यत्र तु प्राप्यतावच्छेदकमेव निषेध्यतावच्छेदकम्, तत्र प्राप्तिनिषेधशास्त्रयोरतुल्यविषयत्वेजपि विशोषशास्त्रविषयपरित्यागेन सामान्यशास्त्रभ्टवृत्तिः, तुल्यविषयत्वे त्वगत्या विकल्प इति न निषेधस्यासङ्कोचन प्रवृत्तिः; यथा 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति निषेधशास्त्रस्य 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिप्राप्तिशास्त्रविषयेतरविषयत्वम्' 'अतिरात्रे षोडरिनं गृळ्बाति' 'नातिरात्र षोडरिनं गृक्षती' इत्यादिप्राप्तिनिषधरास्त्रयोस्तु विकल्पेनैकविषयत्वम् ; एकसैयव

- निपेध्यमात्रेति। द्वितीयाभावादिसर्वनिषेध्येत्यर्थ:। ननुद्वितीयाभावस्य ब्रह्मरूपतापक्षे द्रितीयत्वं न तदनुगतमिति कथं तेन तान्निषेघस्तत्राह- तत्र तदंनम्युपगम इति। द्वितीयाभावे द्वितीयत्वानक्रीकार इत्यर्थः। ननु—यथा न हिंस्यादित्यस्य विहितेतरहिंसानिषेधकर्वम्, यथा वा ग्रह्टणायम्रणवाक्ययोः स्वार्थ स्वतत्रतात्पर्यम्रहण्त् , ${ }^{1}$ तथाद्यैतवाक्यं म्वविहितादद्वितीयत्वादन्यस्यैब द्वितीयक्य निषेधकम्, द्वितीयाभावविधाने द्वितीयनिषेधे च म्वतन्रताइपर्यकं किं न स्यात्तत्राह यत्र त्विति। अतुल्यन्विपयत्ने सार्मान्यविशेषभावाद्यापन्नविषत्व । तुल्यविषगत्त्वे सामान्यविशशपभावाद्यनापन्नविषयत्त्व।।

अगत्या विकल्प इति। अतिरात्रे महणाम्पहणवाक्ययोर्दश्दमएष्टमे चिन्तितम्। विधिपतिषेधयंार्विराधानातिराा्रेत्यांदि पर्युदास इति प्रासे, अतिरान्रभिन्ने षोडडिनं गृढ्रातीत्यғ्य बोडाशिमिन्नमतिरांत्रे गृह्नातीत्यस्य वा

$$
1 \text { स्वतन्न्रतात्पर्य }-\pi \text {. }
$$

हिंसात्वस्य घोडहिग्रहत्वस्य च ध्रापिनिषेघयोरवच्छेदकत्वाय, तत्र निषेघशास्स्स्यसक्षुचदृत्तित्वे भ्राप्तिशास्त्यस्य सवार्मना
पर्युदासस्य स्वीकारे पर्युदस्तत्वादननुष्षेयत्वस्य विहितत्वादनुष्ठेयत्वस्य च सिद्धघा विकल्पापरिहारान्न पर्युदासोऽर्थः, रक्षणायां मानाभावात् , किंतु प्रतिषेधः। तत्र यद्यपि ' नानृतं वदेत्' इत्यादावनृतवदनादेरिव षोडाशेग्रहणादे: फतुवैगुण्यजनकत्वं न निषेधवाक्येनाक्षिप्येते; 'समिषो यजती' स्यदिनेनेव ' ोडाशिनं गृह्ताती' त्यादिना विधिना तस्य कतुसाद्नुण्यजनकत्वक्षेपेण विरोधात्, तथापि धोडशिप्रहणाद्यावे $प$ पीतराऔैः कनुसाद्लुण्यमित्येवाक्ष्षिव्यते। पहणस्य च फलमूम्रयोजकत्वकल्पनान्न तन्र प्रवृत्त्यनुपपतिः । यद्यपि च-
': प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपरित्यागप्रकल्पनात् ।
तदुर्जावनहानाम्यां विकल्पेप्वष्टदोषता "॥
वीषादिप्रयोगे यवादिशासे प्रतीतप्रामाण्यत्यागः, निर्दोषत्ते प्रामाण्यबीजे सत्यप्यप्रामाण्यकल्पनम्, यवादिप्रयोंगे च तच्छासो त्यक्तस्वीकृतयोः ${ }^{1}$ पामाण्याप्रामाण्ययो: स्वीकारत्यागाविति, यवादिशारे दोषचतुष्ट्यम्। एवं यवादिप्रयोगे वीद्यादिशास्तो प्रतीतप्रामाण्यत्यागोऽपामाण्यकल्पनं च वीदिप्रयोगे ${ }^{2}$ तच्छास्त्र तयोः प्रामाण्याप्रामाण्ययो: स्वीकारत्यागावित्यष्टदोषतेत्यर्थः, सथाव्यगत्या सा ₹वीक्रियते। तदुकंक्तं वार्तिके-
" पबमेकत्र चत्वारो दोषा वाक्ये पदार्शिताः।
त एव च पसज्येरन् द्वितीयेऽपि प्रकल्पिते ॥"
" एवमेषोडष्टदोषोऽपि यद्द्रीहियवशासयोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विघते ॥" इति॥

$$
1 \text { बेत्युक्त्वीक्हतयो:-ख. ग. } 2 \text { पूर्वहीहि प्रयोगे-ग. }
$$

वैग्यथ्र्यापतिः ; प्रकृते च द्वितीयत्वेन रूपेण निषेघस्यैंब शालाथर्वाद् न कस्यापि वैयर्थ्याइाक्क। अतएव द्वितीयाभावनिषेधे पुनर्दितीयोन्मअनापत्तिरिति-निरस्तम्। उपपादितमेतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वसाधने। यथा प्रतियोग्यभावयोर्निषेध्यतावच्छेदकैक्ये नैकनिषेधेऽपरसच्वापत्तिरिति। न च स्तेनैव निषिद्धस्य द्वितीया-
 यत्र विहिते निषेषे च बाक्यस्य स्वतध्रतात्पर्य निर्णीतम्, तत्रन्यथानुपपच्या विहितेतरस्य निषेषे ताल्पर्य कल्ल्यते। पकृते तु विहिते तन्न तथा ; किंतु निषेधे इत्यसक्षोचैनैव तत्र तत्। न च—द्वितीयाभावस्यापि निबेघे निषेषस्वरूपासिद्धिरिति--वाच्यम् । द्वितीयसामान्यवैशिष्यर्षीविरोधिदुद्धावेच हि महातात्लर्यमद्देतबाक्यस्य कर्प्यते । 'द्वितायांद्दे भयं भवति, स मृट्युमामोति, य इह् नानेब पइयति, इति निन्दार्थवादात् । उत्कविरोषित्वं च चिन्मात्रुद्देरवि, उपलक्षणविधया द्वितययाभाबरूप ${ }^{1}$ व्यावृताकारत्वात् । तथा च निषेघ्त्वविशिए्टे महातात्पर्यामावातस्य तात्विकत्वेनासिद्दिर्न दोष: । एवमेकरूपेण विषिनिषेघस्यले विधिवैय्यर्यान्नुरोधेन निषेघसकोचेन विहिते स्वत्रतात्पर्यकल्पनेडपि पक्छते निषेषऐोषतया द्वितीयाभावविषायकस्याव्यद्यैतवाक्यस्य निषेषमहा? तांपर्थकत्वेनावैवैय्यर्यांन्न विघेये स्वत्रत्रताप्रर्यम्,
 भावः। अतएव द्वितायल्वेन द्वितीयसामन्यनिषषघादेव। निरस्तमिति। द्वितायायावस्य तल्वेन निषेष एव द्वितीयोन्मजनं स च पकृते नान्सीति तदनापचिरिति भावः। निपिद्धस्स-निविध्यमानस्य।

भावस्य द्वितीयस्येव विशोषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा पुनरुपादानं न युक्तमिति-वाच्यम् । अभावबुद्धौं निषिद्धस्यापि प्रतियोगिनः 'सा श्युक्कि' रित्यत्र प्रतिषिद्धस्याि पूर्वम्रतीतरजतस्योपलक्षणतयोपादानदर्शनात्, असझीर्णाजानप्रयोजकत्वस्य

उपादानम्-निषेषकप्रमाणं न विषरीकरणम्। प्रतियोगिन इत्युपलक्षणतयोपादानदर्शनादित्यत्रान्चेति। उपलक्षणतया—अभावविशोष्यानन्विततया। ज्ञानान्तरोपापं स्वाविषग्र ${ }^{1}$ काधिष्टानबुद्धगुपकारकं सुसद्रां दृष्टान्तमाह -सेत्यादि। प्रसिद्धस्यापि पूर्वप्रतीतरजतस्य सा शुक्तिरित्यत्रोपलक्षणतयेत्यन्वयः । यतः पूर्वपतीतमतः प्रसिद्धं तत्पदबोध्यत्वरुपयोग्यतारूपं प्राप्तस्य रजतक्य स्वोपलक्षितशुक्तिस्वरूपमिदंत्वेन लक्षणयोपस्थ।प्य सा शुक्तिरिति वाक्यजन्यबुद्धचुपकारकत्वं दृप्टमित्यर्थः। ननु—पतियोग्युपादानं विनाभावविशेषष्य रजतोपादानं विना धर्मिविशोषस्य चालाभाचद्युक्तम्; निषधधबुर्द्धि तु विघटयत्पतियोग्युपादानमेवायुत्तं निषेधकम्रमाणस्येत्यत आह——असकीर्णेति। व्यावृत्चाकारकेत्यर्थः। प्रकृतेऽपि द्वितीयाभावत्वेनोपादानं निषेध ${ }^{2}$ बुद्धेविधटकमिल्युक्तम्। अत₹्तनुपकारकत्वेन तनुपादानमपि न दोषः । यतु-अभावबुद्धावभावांशे घटादि: प्रतियोगी नोपरक्षणम्, किंतु घटादिपतियोगिकत्वं प्रकार इति--तत्तुच्छम् ; घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन घटादेरभावांशो प्रकारत्वस्यानुभाविकत्वात्। घटो नास्तीत्यादिशब्दजन्यबुद्धावन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्धे भाना ${ }^{3}$ वइयकत्वात्. लाघवेन ताहृशुद्धेरेव प्रतिबन्धकत्वात्, त्वदुक्तविषयकत्वे तस्या घटवत्तादिबुद्धघविरोंधित्वापत्तेश्ष॥

[^153]प्रकेतेऽपि तुल्यत्वात्। तस्माप् 'एकमेवाद्दितीय' मित्याढ़श्रुतिर्विश्शमिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम् ।।

हल्यद्यैतसिद्दौ मिथ्यात्वश्रुन्युपपत्तःः॥

ननु-द्वितीयाभावे स्वतन्र्रतात्पर्यमेव ; उ१कमोपसंहाययोरक्रत्वेन सुषुपौौ फलवत्त्वदर्शनेन चानन्योषेप्वेनाबान्तरतात्रूर्यासम्भवात्, अन्यथा द्वितीयाभावस्य च्यावहारिकत्वे तहोोधकश्शुत्या ठ्यावहारिकद्ढैतभाहिप्रत्यक्षादिशाबासम्मबचेचेल्यत आह—तस्मादिति। द्वितीयत्वेन द्वितीयाभावस्य स्वतन्त्रतात्वर्यायोगय्व्वादितर्लः।। 'स मृयुमामोति य इह नानेब पइयति, 'द्वितीयद्द्ध भय' मिल्यादिश्रुतिमिर्द्धितीयय्व--सामन्यनिन्दया तद्धीविरोध्यखण्ड्डुद्धावेवेपकमादिनिष्: न द्वितीयाभाबदुद्धौ । 'तमादेशममाष्ध्यो येनाश्रुत ${ }^{1}$ कस्मिनुनु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्' इल्यायुंफक्कमाया:, "तस्सत्यं स आत्मा तत्वमसि, येनाक्षंर पुरूं वेद्द सल्यं प्रोवाच तां तत्वतो प्रद्सविद्याम, इत्युपसंहाराया: श्रुतेजगयुपादानाखण्ड्रद्सण्येव पवृत्वात्। यधपि कं्टं कमें, त्युनु
 कयोगेन लोके सुखमस्वाव्समिति स्मृतिमृत्रनुमवेन ' सुपुतिकाले सकले विहीने तमोभिभूतः : सुखरूपमेति, इल्यादिश्रुल्या "मुखमस्पात्मनो रूपं सर्वेछापवतिसजनु" रिस्यादिस्पूत्या च साक्षिपुखयेगोोलेख:, तथाि न द्वितीयाभावो निरतिशयपुखयुक्तः ; आविघकखेन दुःखबीजाविधायुक्तल्वात् "पेयोड्च्यम्मान्सर्वस्मादेष एव परम आान्द्य" इत्यादिश्रुत्या गुद्वात्मन एवोत्तमुखत्वाचेति गुद्धातैवै स्वातन्त्रयेण

## अथ अहैतश्रुतेर्बाधोद्दारः

नन्वापांत्रतिपष्ब एव न ताबच्छुत्युर्थः ; करछन्दसां योगमावेद धीर' इत्यादिभ्रुत्या 'बिभेत्यल्पभुताद्वेद' इति स्टृत्या च वेदार्थस्यातिगहनतोक्तः, मीमांसावैयर्थ्य्पसक्राच, किंतु मानान्तरेण पूर्वोत्तरेण चाविरुद्द एवार्थः ; अविरोधग्रहणार्थ च मीमांसासाफल्यम्, अतएव 'आज्यैः स्तुवते' 'आकाझादेव

च्चास्रार्थ:, तन्यते ठ्यज्यतेडनयेति तनूरात्मरूपुुख़्यझ्जिकेति यावत्। ब्यावहारिकोडायभावोडद्देत ${ }^{1}$ स्यामिष्याव्वं घटयत्येव, स्वान्यूनसताकाभावस्य तथालेनेन्तव्वात्। बाघस्तु तस्याख्खण्डािष्ठानपमैंयेंति नानुपपत्तिरिति भावः। हल्यादी्यादिपदान्नेह नानास्तीत्यीदिश्रुतयोपि परमतालंत्येणाखण्डर्थमवान्तरतातपर्येण द्वैतमिथ्यात्वं बोघयन्तीत्यर्थः ॥

तर्कै: सारसतै रतैस्थन्द्रिकाचन्द्रभूणैः।
दुरन्तध्वन्तभक्राय मिध्यात्वश्रुतिसकतिःः ॥
इति मििथ्याव्र्युवुपवात्त:

## अथ अद्दैतथुतेवाधाद्द्यारः

करछन्दसामित्यादि । छन्दसां बेदवाक्यानाम्, योगं तार्तर्यम्, घीरोऽपि को वेदेत्यर्थ:। छन्दसां गायन्मादीनां योगें स्तुतघस्तात्मना विनियोंग को बेदेति माषवीयभाष्यव्याछूयानस्यापि बेदतातरर्यदुर्जेयल्बे तात्वर्यम् । अल्पभुताव्, अल्पविय्याकातुरुषात् । आज्यैरित्यादि । आज्यैरित्यादौ घृतादित्यागेन सामपरतं पूर्वमीमोंसायां चित्राषिकरणे स्थापितम्। आकाशादित्यदौौं गगनादि-

$$
1 \text { द्रेत्स्या-क. ग, }
$$

स्युत्पघन्त्र इत्यादावापातप्रतीतघृतगगनादिपरित्यागेनाज्याकाशादिपदानां सामपरमात्माद्यर्थत्वं स्थापितं .पूर्वोच्चरममांस-

त्यागेन परमात्मपरत्वमुत्तरमीमांसायामाकाशाषिकरणे च्थापितमित्यर्थः। 'चित्रया यजेत पश्गुकामः' 'पश्चदशान्याज्यानि' 'सपद्शानि पृष्ठानि' 'त्रिवृद्बहिष्पवमान' मित्यादौ चित्राज्यपृष्ठबहिष्पवमानशब्दानां गुणवाचित्वं कर्मनामत्वं वेति संशये, द्रव्य एव रूढानां कर्मनामत्वासम्भवाद्लुणवाचकत्वमेव; तत्र ${ }^{1}$ चित्रापदेन चित्रत्वस्रीत्वयोरुक्ते: साहित्येनावगतयोस्तयो: सामर्थ्यत्राणिव्रव्यक्यागमुद्दिइय विधानावगमात्रकृतानां ${ }^{2}$ दाध मधु घृंत पये धाना उदकं तण्डुलास्तसंसृष्टं प्राजापत्यमित्युक्तयागानामुद्देइयत्वेनाप्यमीषोमीयाद्युद्हेशे तयोर्विषिः, ‘छेनुर्द्रक्षिणे ’तिवदुभयविशिष्टकरणत्वविषानान्न वाक्यभेद्; पश्गुकाम इति तु यागसाघनपशुकामनानुवादः। एवमाज्यपृष्टे अपि द्रग्ये संख्याविशिष्टे पवनक्रियाविशिष्टं त्रिवृच्छब्दितत्रिभण्डीद्रव्यं च प्रक्टतस्तोत्रमुद्दिशग विधेगम् ; तेषां च द्रव्याणां स्तोत्रं प्रत्युपकारकलं तद्देशस्थापनेनादृष्टर्थकेन सामर्थ्यात्, अतः-

नावान्तरक्कियायोगाहते वाक्योपकल्पितात्।
गुणद्रव्ये कथंभावैर्ट्टल्नि प्रकृता: ${ }^{3}$ क्रियाः ॥
इति वार्तिकोक्तया न विरोध इति बोध्यम्। 'आज्यैः स्तुवते पृष्ठै: स्तुवते' इत्याद्युत्पत्चिवाक्येषु तु स्तोत्रमान्रं विधीयते ; आज्यादिपदं तु गुणवाक्यप्राप्ताज्याधनुवाद इति प्रासे प्राप्तयागानुवाढ़ेन चित्रत्वय्बीत्वरूपानेकविषाने वाक्यभेदात्प्युगतस्य करणत्वस्यापि प्रापत्वेन तस्य तदुभयविशिष्टतया विघ्यसम्भवात्, 'अजोऽ्मीषोमीय' इत्यनेन .

$$
{ }^{1} \text { गुणब्बचित्वम्, कर्मैंव तत्र-ग. }{ }^{2} \text { प्राकृतानां-ग, }{ }^{3} \text { प्राक्कृताः-ग. }
$$

योशित्राकाशाद्यधिकरणेषु ; अन्यथा तत्तत्पूर्वपक्षाम्युपगमापत्तेः,
विहितप्राफरणिकपुस्त्वावरुद्धे स्सत्वविध्ययोगान्न गुणविघिः; किंतु प्राकरणिकानामेव दध्यादियागानां चित्रापद़ं नामघेयं विचित्रद्रव्यकत्वरूपचित्रत्व ${ }^{1}$ रुढम्। इष्टच्येति विशेष्याध्याहारात्सीलिक्नता। एवमाज्यादिबाक्येष्वपि संख्याद्रठ्याद्दिपदानामसमशतत्वेन तदर्थानां मिथोऽनन्वयात्, प्राप्तस्तोत्रानुवादेन द्रठ्यसंश्याद्यनेकविधाने वाक्यभेदात्, एकविभक़र्थकारके नामार्थद्वयानन्वयेन तद्दूग्रिशिष्टकारकविध्ययोगात, स्तोत्रे आज्यादिद्रव्यम्य करणत्वासम्भवेनोत्रचित्वाकं द्रव्यविशिष्ट्तीत्रविषि-
 स्तोत्रदेशास्थापनस्य चाश्रुतत्वाच्चद्द्रारकादृष्टर्थत्य ${ }^{2}$ कल्पने गौरवात्, स्तुतिगतऋक्सझ्खयारूपस्तोमवाचितद्धितन्तम्य पश्चदशानीत्यादेरनुपपत्तेरुत्पत्विवाक्यगुणवाक्ययोराज्यादिपदं ₹तोत्रनामधेयम्। अतएव 'यदाजिमायंस्तदाज्यस्याज्यत्वं स इन्द्रोडवेत अभिर्वा इदमम्र उद्धोप्यतीति अस्मिन् यंज्ञे काष्ठां गच्छत' इत्यर्यवादे यानि ₹तेत्राणि काष्ठां कृत्वा यस्माद्देवा आर्जि गतास्तानि तस्मादाज्ज्यात्नित्वन्वारग्यानमुक्तम्। पश्चदशानीव्यादिकं स्ख्बयामात्रविधिरिति प्रथमचतुर्थे स्थितम् ॥ आकाशाधिकरणेति । ' आकाश इति होवाच' इति श्रुते प्रथमत्वात्प्रधानत्वादाकाशं मुरुयमेव नः।
तदानुगुण्येनान्यानि ठ्यार्येयानीति निश्चयः ॥
'अस्य लोकस्य का गति' रिति प्रश्नोत्तररूपे आकाशा इत्यत्र गतित्वेन प्रतिपाद्यतया प्राधान्यात्, 'सर्वाणि ह वा एतानि भूतनन्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती ' त्यादीनां तु तद्विशेषणतया गुणत्वात्, गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायेन प्रघानानुसारेण गुणो

$$
1 \text { रूपचिग्त्वर्वपचित्र्व्व-क, } 2 \text { थकत्व-ग, }
$$

नेय: ; प्रथमावगतत्वेनानुपजातविरोध्याकाशपदस्य भूताकाशो मुखूयोऽर्थ इति तदानुगुण्येनोपजातविरोधि चरमप्रतातं पदान्तरं नेयम, तस्माद्भूताकाइमेवोद्गीथे सम्पाद्योपासयं न ज्रल्मेति प्राप्ते॥

## साम/नाधिकरण्णेयन पश्नतत्र्रतिवाक्ययोः। <br> पौर्वापर्यपरामर्शात्पधानत्वेडपि गौणता।

सर्वलोककारणस्य पृष्टत्वातदेवाकाशशबद्दार्थो न मूताकाशः; तस्य च्वस्मिन्नकारणत्वात्। न चाकाशपदानुसारेण प्रश्नस्थं लोकपद-माकाशाकार्यपरमिति-वाच्यम् ; अनुपजातविरोधिलोकपद्य उपजातविरोधिनाकाशपदेनासझ्केचत्। अपि च सर्वांगे है वेत्यन्र सर्वपदं सक्षोच्यम्, एवकारोडप्यसमब्ञस:, न खल्वाकारमेव कारणं मूलकारणपरिम्ये तु ब्रहैन मूलकारणामिति स समखसः। एवम् 'आकाश एँवैतेम्यः सर्वेम्यं ज्यायानाकाशः परायणं स ए母 परोंवरीयानुद्गीथ' इत्यादिकं घह्मण्येव समक्नसमिति तढ़ेवाकाशशाव्द्रार्थं: । यद्यवि शालावत्यादीनां संवादं छान्द़्ग़्गे 'का सामो गतिरि'त्यादिप्रकृत्य 'अपां का गतिरित्यसैं ऐंक इति, न म्वर्ग लोकमतिनये दिति शिलक्रश्नशालावत्यम्न्युत्तरोत्तरं अमुष्य लोंकस्य का गतिरिति•अयं लोक इति अस्य लोकम्य का गतिरिति न प्रतिष्टां लंकमतिनये'दिति प्रवाहणप्रश्नशालावत्यम्रत्युत्तरे तनुत्तरं 'अन्तवद्धे किङ तं शालाबत्य सामेति प्रवाहणेनोंक्त 'अम्य लेलक्य का गति'रिति शालाबत्येन पृष्ट ' आकाश इति हांवाच सर्वाणि ह्ट वा इमानि भूतनान्याकाशादेव समुल्पद्यन्ते आकाशां प्रत्यम्तं यन्ति आकाशों होनैवैतेम्यः सैैम्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' स एष परोबरीयानुद्दांथः स एघोऽनन्तः, परोवरीयो हास्य भवति, परोंरीयसां ह लोंकान् जयति, य एतमेवं विद्धान् परोबरीयांसमुद्रीथमुपास्त' इति श्रुतम्, तत्रातिनयेददित्य-

# तथाचोत्त वार्तिककारैं शास्रं शब्दाविज्ञानादसनिक्ठष्टेर्ये विज्ञा- 

 नमित्यत्र-
## असबिकुष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।

स्यातिक्रमेदित्यर्थः। प्रतिष्ठामित्यस्य पृथिवीमित्यर्थः। तथा च स्वर्गलोकस्यान्या गतिर्न मृग्येति तात्पर्यार्थ:। एवं चास्य लोकस्येत्यनेन पृथिवीमात्रस्य प्रकृतस्योक्तव्वात्तरकारणत्नं भूताकाशास्य परम्परया सम्भवत्येव, तथापि प्रवाहणोक्का'वेवास्येति पदं पृथिवीपरम्; न प्रतिष्ठामित्यस्य तदुत्तर पव श्रवणात्, शालावत्योक्तौ व्वस्येति पदं सर्वकार्यपरम् ; सर्वनामश्रुते सक्कोंचे मानाभावात्, प्रकरणापेक्षया प्राबल्यात्, अन्तवत्च्चदोषापनिनीपया पनृत्तयोः प्रश्नोत्ररयोरस्येति पदेन पृथिवीमात्रकारणोक्तयसम्भवाचेति ध्येग्रम् ॥

इत्यत्रेति। शाबरभाष्यवाक्य इति शेषः । ‘चोदनाइक्षणोऽथो धर्म, इति द्वितीयसूत्रोक्तचोदनाइब्दितविधिनाक्यरूपस्य शास्तस्यासन्निकृष्टर्थज्ञानजनकविधिवाक्यत्वं शास्रत्वमिति भाष्याभिप्राय:। तदुक्तं काशिकाकृत ‘ प्रत्यक्षवदत्रापि शब्दतज्ज्ञानादिपामाणयं ज्ञात亏यम् ; न त्वर्थज्ञानं शारूमित्यभिनिवेष्टृंयम् । वस्तुतस्तु वृचिरुपसात्नुयस्य वृत्य्यवच्छिन्नचैतन्यरूपमौपनिषदन्य संमतं ${ }^{3}$ ज्ञानप्रमाणमत्र भाष्याभिप्रेतम्, यद्यपि 'ज्ञानसम्बन्धस्यैकदे शदर्शानादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टार्थ बुद्धिरनुमानम्’ इत्यनुमानलक्षणभाष्यव्या巨्यानावसंर वार्तिके असनिकृष्टवाचेत्यादिकमुक्तम्; न तु शास्रलक्षणस्योक्तस्य ठयाख्यानाबसरें तथाप्येकशक्तः ${ }^{4}$ शब्दार्थोडन्यत्राप्युक्त एवे ${ }^{5}$ ल्याशायेन शार्लरक्षणे

1 दार्भ्योक्ता-ग. 2 पदे सर्वकार्यपरे-ग. 3 रूपज्ञानमेव सांखुयमौ-निषदसमंतं-ग. 4 प्येकत्रोक्त:-ग. 5 इेवे-क, ग.

तादूप्येण परिच्छेद्स्तद्विपर्ययतोऽपि च ॥
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोतसर्गापवादयोः।
बाधाबाधौ तिवेक्तण्यौ न तु सामान्यदर्शानात् ॥
अन्य एवैकदेशेन शास्तर्यार्थः प्रतीयते।
अन्यस्तु परिपूर्णेन समस्ताङ्जोपसंहृतौ ॥ इति ॥
उक्तमित्युक्तम् । तानूप्येणेत्यादि । येन रूपेण चोदनाबोध्यत्वं तेन रूपेण प्रमितत्वं तद्विपरीतरूपेण प्रमितत्वं च जिहासितमभाबविशे－ षणतया लक्षणे घटकमिस्यर्थः। तथाच मानान्तरेण।प्रमितमबाधितं च यत्तद्विषयकविधिवाक्यत्वं विधिवाक्यजन्यं तज्ज़ानं वा शास्रमिति फलितार्थः । धर्माघर्मचोदनानामेव लक्ष्त्य天्नाद्विधीति । शब्दप्रमाण－ मात्रस्य लक्ष्यत्वे तु तन्न देगम्। एतदुत्तरवार्तिकेडव्युक्तम्－
＇ताद्रूप्येण परिच्छिन्ने प्रमणं निफ्फलं परम् ।
विपरीतपरिच्छिन्ने नावकाशः परम्य तु ।। इति॥
अथ घटः सन्नित्यादि विशिष्ग सत्यताग्राहकं यत्पत्यक्ष्कादि तदविषये मिथ्यात्वमद्यैतश्रुतिर्टृद्बातीत्याशयेन स्मृतिपाद्दी｜यवार्तिकमाह－ विषयेत्यादि । ननु－द्दुतवाक्यम्य विरुद्धम्योपस्थितेः पूर्वमेवाद्दैत－ वाक्यं सर्वमिथ्यात्वं बोधयत्वित्याइाक्क्य तथा सति नञ्पद़ं विह्हाय निषेध्यस्य कर्तठ्यतां निषेधवाक्यं बोधथेदित्युत्तरं ह्वदि निधाय कर्तधि－ करणवार्तिकोक्तं वृद्धवाक्यमाहु－अन्य एवेत्यादि । एकदेग़मात्र－ पर्यालोचनान्न वाक्यार्थनिर्णयः अतिप्रस末ादिति भावः । अ末्देति यत्सापेक्षतया वाक्यार्थनिर्णयस्तदित्यथःः। उत्कं चं｜क्तवार्तिकात्राग्वा－ तिके－यदि शाखैकेदेशालोचनेन विरुद्धार्थोपगमेन श़ास्र्रविरोष उद्धा－ ब्यते，तदा＇स़ुरा न पातन्या＇इत्यम्याव्येकदेशेन पानं विहितं कुर्यात्，＇यौवज्जविममिहोत्रं जुहोती＇ति वाक्यमात्रपर्यालोचनेन दीक्षि－

अन्यत्राप्युक्तम्-

## विरुद्वचत्रतीयन्त अगमा यत्र ये मिथः। तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्था विचक्षिताः ॥ इति ॥

तथाच प्रत्यक्षादिविरोधात्पूर्वोत्तराविरोधाच नाद्वैतपरत्व-मेकमेवेत्यादिवाक्यानामिति-चेन्म ; द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रग्रादेशिकत्वम्रत्यक्षवत्सम्भाविताप्रामाण्यतया अद्वैतश्रुतिविरोधित्वाभावात्। यथाच श्रुत्या प्रत्यक्षं चाध्यते, तथा प्रपश्वितमधस्तात् । किश्न प्रत्यक्षं निग्रतविषयम्। श्रुतिः सर्त्रतिषया ! तथाच यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृद्टीतः, तत्रैवाभेदश्रुतेरवकाशः। ननुययोरैक्यं श्रुत्या बोध्यते तयांर्भेद्: प्रसक्तो न वा । नान्त्यः अप्रसकग्रतिषेधापातात्। नाद्यः ; प्रसझ्ञक्रमाणविरोधेनैक्यस्य

ताऽट्यजुद्बत्रत्यवंयादि 'ति । दृष्टानुसारणण—प्रमणत्वंन ंनांश्चेतमानान्तरानुसारेण । यत्र प्रत्यक्षेणेति । तथाच प्रत्यक्षादिविषय: सर्वोडपि श्रुतिबाधित:, श्रुतिविषयम्तु सर्वोडवि न प्रत्यक्षादिबाधित, इति श्रुतिः प्रबला। सामान्यविषगतानकाशविषयत्वादिना श्रुतेर्तुर्बलता तु पूर्वमेव निर干ता ; सामान्यविछेषन्यायम्य निश्चितप्रामाण्योभयविषयकतवात्, श्रुतेर्विषयान्तर इव प्रत्यक्षादेरवि स्वविषय एव व्यावहारिकभेदाविषकत्वेन सावकाशंत्वाद्दित्यादिना। किंच घटपटौ मिन्नाविति ज्ञानेन बाधकत्वाभिमतात्वस्माद्बाध्यत्वाभिमतस्य श्रौतैक्य ज्ञानस्य भिन्नत्तेनाग्रहणात्तत्र लबधपदा 'सर्व खल्विदं ब्रझे'त्याबैक्यश्रुतिम्तयोरैक्ं गृद्नाति। एवं चोक्तमत्यक्षं स्वामिन्नस्योकैक्यज्ञानस्य न बाधकमिति निर्बाधोक्तश्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीत्यादि वक्ष्यमाणं बोध्यम्। आद्यक्षे प्रसक्ञकं प्रत्यक्षादिमानं श्रुल्या बाध्यत

बोधयितुमशक्यत्वादिति—चेन्न ; अन्त्यपक्षाम्युपगमे दोषाभावात्। अग्रसक्तप्रतिषध इति च किमश्रसिद्धग्रतियोगिकरत्वम्, किं वा निष्प्रयोजनत्व्वमिति तिशेचनीयम्। नाद्यः ; अन्यत्र प्रसिद्धस्यैन भेद्स्य मेदत्तेनोपस्थितस्य परस्परग्रतियोग्यनुयोगिभावेनान्यत्र निषेंधसम्भवात्। न च तंत्रैव प्रसिद्धिस्तन्त्रम्; निषेघप्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्नात् । न द्वितीय: ; अनर्थनिवृत्तेतेव प्रयोजनत्वात्, 'नान्तरिक्षेडम्निश्येतब्य' इत्यादौ स्तुतिमात्रप्रयोजनेनाप्यप्रयोजनेनाप्यत्रसकत्तनिषेधदर्शनाच्च । अथ श्रुत्या
इति समाघानसम्भवेऽपि तक्य पूर्वमुक्तवादाह-- अन्त्यपक्षेति । अन्यत्रेत्यादि । ययोरैक्यं बोधनीयं तयंरकतरपतियोगिकमेदत्वेन बस्त्वन्तरे प्रसिद्धम्य तयोरन्यतरत्र प्रतिषंध ${ }^{1} स म ् भ व ा द ि त ् य र ् थ ः । ~ त ं त ् र न — ~$ निषेषाधिकरण एव। प्रसिद्दि: प्रमा। निषधप्रमामात्रति। न हि यत्रातिरात्रादिव्यक्कौ बोडाराস्रहणांद्वर्निषेधम्तन्र नत्रमाक्ति ; विराषात्। यथा चातिरात्रे भ्रमरूपा प्रसंक्तिस्तथा प्रकृतेड\{ि संशयरूपा सम्भवतीति तद्बाधेऽपि न प्रमाणबाध इति भावः। अथना निपेधमान्र प्रतियोगिप्रसक्त्यभावस्थलीयनिषेधो ‘नान्तरिक्षेड\{िश्धेतंत्य' इत्यादिरुपः ॥.

ननु-नान्तरिक्ष इत्यादर्थ्याद्द्य • हिरण्यं निघाय चततठ्य, मिति विहितहिरण्यस्तुतिपरत्वम् ; न निपेधपरत्वम्. तथा च प्रमारूप-
 न च तत्संशयरूपम् ; निश्ययस्यैव कल्पनंiचित्यात्, तत्र नातिरात्र
 वाक्ये तु पसझ्ञस्य प्रत्यक्षादेः सर्वात्मना चाध इल्युक्तम्, तत्राहृनान्तरिक्ष इति। यद्यपि म्तुतौं हक्षुणया तार्पर्यम्, तथावि तनुप-

$$
1 \text { तयं|रन्यतरव्वर्पातंबंध-ग. }
$$

गयोरभेदो बोध्यते तयोरुपस्थितिरास्ति, न वा, नान्त्यः ; अनुपस्थितयोरभेदब़ोधनायोगात्। आद्ये सा कि श्रुतिजन्या, प्रत्यक्षादिजन्या वा, नादः ; श्रुतेर्मानान्तरागोचराभेद्यात्रपरत्वेन घटाद्युपस्थितेस्तअन्यत्वाभावेन सर्वद्वैतासिद्बे:, श्रुतिस्थाकिख्रनेत्यादिपदानामनुवादकत्वाम्युपगमात्। द्वितीये तु तयोर्मेदोडपि प्रत्यक्षादिसिद्ध इति छाद्वैतश्रुत्यवकाराः मैवम्; यत् प्रत्यक्षादिना गृह्यते, तन्देदोडपि तेन गृद्यत एवेति नियमाभावात्। तथा हि—न तावत्पदार्थस्वरूपज्ञानमेव भेदञ्ञानम्; अभेद्रभोच्छेदग्रसङ्जात्। स्रूपभेदवादिनामपि स्ररूपज्ञानाद्धटत्वादिग्रकारकानेंद्त्वक्रकारकं भेदज्ञानं विलक्षणमेव ; अन्यथा नेदाग्रहानिबन्धनव्यवहारानुद्यग्रसझ्नात्। अतएव स्वरूपझ्ञानोत्तरकालमवइयं भेद्ञानमित्यपि न; अनवस्थाप्रसङ्नाच । तथाहि-' घटपटौ भिन्नाँ जानामी 'ति घटपटभेदधी: स्वप्रकाशा वा, अनुष्यवसायसिद्बा गा, साक्षिसिद्धा वा, न स्वप्रतियोगिकभेद्विषया ; भेदाधियः प्रतियोगिधीजन्यत्वनियमेन प्रतियोगिधीव्यक्तिभिन्नव्यक्तित्वावइयकत्ता-
पादको वाक्यार्थवाधो वाच्य एव। अतएवार्थवादाधिकरणे ‘अन्त्ययोर्यथोक्त 'मिति सूंत्रे तथन्कम्। 'गुणवादनतु' इति सूत्रेण च गौण्या वृत्त्या बाधितार्थकार्थवादानां वाक्यार्थधी: स्तुत्युपपादिकोक्केति, तन्रेव प्रकृतेडप्यप्रसक्तप्रतिषेषः। यथाच स्तुतिधीः प्रयोजनम्, तथा प्रकृतऽपि सर्वाभिन्नत्रह्मधोधन्य भेद्दभ्रमसंशायसामान्यनिवृत्तिरिति भावः। न स्वप्रतियोगिकभेद्विषयेति। स्वविषयेषु घटपटतद्देदेषु ${ }^{1}$ ज्ञातान्तरषषु च च्वभेद्मनवगाहमानेत्यर्थः। भिन्नव्यक्तित्वेति। उत्तरवृष̃-

त्त्वस्या एव स्तजन्यत्वानुपपत्तेः। ज्ञानान्तरेण च तन्देदग्रहे कचिन्भेदधीधाराविश्नान्तिरवइं चाच्या; अन्यथा सुषुत्तिविषयान्तरसः्वारादिकं न स्यात्। अतस्तत्रापि चरमभेदधीरोोोदाहरणम् । तथाच बाधकत्वाभिमता या घटपटमेदर्धीः स्वभेदाविषया भासते, तया सह बाध्यत्वाभिमताया ऐक्याधिय ऐक्यं बोधायित्वा निर्बाधा सती श्रुतिः सर्वाभेदे पर्गवस्यति। न ह्यमेदेडपि

बेलेय्यर्थः तेनानुण्यवसायसिद्धत्वादिपक्षयोंठ्यंक्तिभेदक्य पराम्युपगतल्वेऽपि न क्षतिः। स्वस्याः—स्वकीयायाः प्रतियोगिषीप्रूर्कालीनाया: प्रतियोगिषीसमानकाल्लीनायाश्च स्वजन्यत्वन्वुपपत्तेः प्रतियोगिधीजन्यत्वानुपपतेः । उदाहरणमिति। चरमधीर्यत्र यदेदंद गाहते ताम्यां तद्रेदेन च सह त₹्या अभेदमद्द्वैतश्रुतियोधयतीाति, सा घीस्ताट्दाभादें गाहितें नेंटे। एवं च पूर्वपूर्वघियामपि स्वविषयेण सह भेदासिद्धचा श्रुतिः सर्वाभेदे पर्यबस्पति । प्रकारान्तेणापि श्रुतेः सर्वांदेदे पर्यनसानमाहु—तथा चेति। चरमघिया अवमेदेम्य कुचाव्यमहणं चेत्यर्यः। न ब्यभेदे इत्यादि। ययंार्मेदश्ररमधीविषयस्ताम्यां तद्देदेनेन च तस्या अमेदेंबाघ्यत्वतिमितज्ञानेन सह तस्या अभेदें ${ }^{1}$ च चाध्यवाघकवं न हीत्यर्थः। बाधकन्य स्वविषयेण सह मेदेापमेंदें भेदबिश्रोषविषयकखव-
 यस्य बाधकधिविषयमेदोापमर्द्धात् बाधकधिया न म्वविपयचाधनसम्भवः। उत्क हि पूर्व्वाधकस्य ${ }^{4}$ स्ववाध्यविषयकत्वमिति मावः । एतेनाभेंदे बाध्यवाषकत्वास्वीकारे व्रहज़ानं स्वस्वरूपवाधकं न स्यादिलयपास्तम्।

${ }^{1}$ तस्समेम-क. ग. ${ }^{2}$ साषक-ग. ${ }^{3}$ मईः वाघन-ग. ${ }^{4}$ पूरं बाघक-ग. ${ }^{5}$ याबा-क. ग.

बाध्यनाधकमावः ; स्वस्यापि स्वनाधकतापत्तेः 1 तदुक्तां खण्डनक्रान्भ:-

## 'सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा। निवृत्तावद्धयाम्नायै: पार्षित्रिहैर्विजीयते ॥ इति

विषयकव्वांशो यथा 'एकमेवाद्वितीगयमि’ति श्रुतिः स्वमपि बाघते, तंथैक्यविषयकঞ्वांशेडपि स्ं बाधतामिनि- वाच्यम् ; च्पपिपाद्याशेषीमूतविषयाबाधकत्वझ्ग बाधके स्वीकारत्, द्वितीयाभावस्य स्वप्रतिपाद्याखण्डार्थझेपत्वात्, अंद्वेतबाक्यक्य द्वितीयाभावविषग्यकत्वेऽपि ${ }^{1}$ तज्जन्याखण्डाद्दैतज्ञानक्य तदमावात्, बाधकज़ानक्य्य स्वविषयाबाषकत्वनियमाक्षतेश्र्य। अथाद्वैतज़ानेन ै्द्रैतमपि न बाध्यताम्; द्वैतस्य स्वविषयैक्येन बोधितत्वiःम्वविषयेनाद्दैतेन स्वस्याभेदबोधनेनाद्वैतमपि
 क्षणे एक्यबोधनेऽपि भेद्दानुपमद्दांत्। पश्धाद्व तनुपमर्दे सिद्धे च न बाध्यं न वा बाधकमसीतित बाध्यखाघकभावो मयापि नोच्यते। तब व्वद्वैनज़ानोन्तरं भेद़ज़ानस्य तह्वाधकम्य न 干्वीकारः सम्भवति । पूर्व जातमपि भद्जज्ञानं न चरमधीभददाविषयकामिति चरमर्धालन्पदाSद्वैतश्रुतिर्मेद्जानमात्रमाभासीकरोतीति धेयम् ॥

स्त्रबाधकतापत्ते: -- स्वविषयनाधकतापत्तेः । सुदूरधावनश्रान्ता—चरमर्धभिन्नज्ञानेपु सुदूरेदशोषु भेदावगाहनरूपं धावनं कृतबत्यपि सुपुप्तिलोपाद्यापत्तिरूपश्रन्त्या चरमधीरूपदेशो भेदावगाहनरूपधावनं कर्तुमशक्ता, बाधबुद्ध:-भेदज्ञान₹य परम्परा श्रणी, निवृत्तौ तस्या अद्वयश्रुतिबाधकत्वायोग्यत्वपातौ, पार्षिणुाहै: बाधबुद्दिपरम्पराविरो।घिविषयकत्वरूपबाधकतावच्छेदक्युक्तै:, अद्वयाडSद्नायै:

$$
{ }^{1} \text { विषयम्व्वडयि-ख. चनद्दितािषयकत्व-ग. }
$$

न च-सिद्धान्ते घटतद्धीभेदग्राहिणा स्वग्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिब्भितरमेद्स्यापि ग्रहणान्नानवस्था, अन्यश्रा स्वस्य घटादिग्योऽमेदसंशयः स्यादिति -वाच्यम् ; साक्षिणः स्वग्रकाशात्वेऽपि स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेद्यह्रे इतरप्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षत्वाव् । अन्यथा स्वस्यान्तःकरणाद्यभेद अ्रमो न स्यात् । स्वग्रकाशेन भेदाग्रहेडपि मानान्तरेण भेदग्रहान्न घटाद्यभेद्यंशय इति न किश्विदेतत्। स्यादेतत्- घटपटौ भिन्ना'विति प्रत्यक्षं
विजीयते बाध्यते । इतरप्रतियोगिकमेदेति। स्वविषयाज्ज्ञानान्तराच्च मेदेत्यर्थः। इतरप्रतियोगी—इतरात्मकप्रतियोगी। सप्रतियोगिकत्वेन भेद्स्फुरणस्यैवाभेदधीविरोषित्वाचदेव प्रकृते वाच्यम्, तच्च न सम्भवति, ज्ञानान्तररूपपतियोग्गुपस्थित्यमावकालीनस्य साक्षिनिष्ठभेदद्यावृतत्वस्वीकंरेण ताद्हशोपस्थितिसापेक्षत्वात्। अभावमात्रस्यानुपलबघत्वे तु न मेंदे केवलसाक्षिवेद्यत्वशक्कापीत्यनुपलबछर्वकारक ${ }^{1}$ वृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिवेद्य एव स इति भाव:। अन्यथा-साक्षिण इतरनैरपेक्ष्पेण स्वनिष्ठमेदग्राहकत्वे। अन्तःकरणाद्यभेदभ्रमः—अन्तःकरणादे े्भेदाविषयकोऽहमिति भ्रमो न स्यात्। इतरसापेक्षतया भेदग्राहकत्वे तु विपरीतसंक्काररूपदोषाभावह्यान्तःकरणभेद्क्फुरणापेक्षणीयत्वात्तदभावान्न ताद्धशक्फुरणम्। न च मम मन छति भेदक्फुरणं सर्वदाइस्ल्येवेति-वाच्यम् ; तस्य तादास्यरूपसम्बन्धविषयकत्वेऽपि भेदाविषयकख्वात्, शरीरत्वादिनेने मनस्चेन तादास्य्याध्यासाभाबात्, मम शरीरमितिवन्मम मन इत्यस्य सम्भवेऽपि मम मनुप्य इतिवन्ममाहमित्यस्याभाबातदापादनसम्भथाच्च। एतेनेदादानींतनम्य दंहात्मनोरिव मनआत्मनोर्मेद्जानस्य सत्वेऽपि विपरीतभाबनारूपदेषाषाचयोरमेदअ्रमः सम्भवतींति तद्भावापादनं न युक्तामिति पराम्तम् ॥

$$
1 \text { स्वाकार-ग. }
$$

स्वस्याद्वैतज्ञानादिना भेदं विनानुपपत्तेस्तमप्याक्षिपतीति सर्वत्र भेदस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि नाद्वैतश्रुतेरवकाशः—अत्रोच्यते ; आक्षेपो धनुमानमर्थपत्तिर्वा । तत्र विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतो मिक्षेति नानुमानं संभवति; स्वतोऽपि भेदसाधने बाधात्, हृष्टान्तस्य च साध्यविकलत्वात् । यतःकुतश्विन्द्रददसाधने त्वनुमानाविषये ल०धावकाशा श्रुतिरमेदं बोधयिष्यति । न च स्वव्यतिरिकात्सर्वतो भिब्नेति साध्यम्; अद्वतवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशोषणत्वात्। एतेन-सवृ सर्वस्माद्भिस्ममिति वाक्य-

यतु-पदार्थस्वरूपस्य भेदत्वेन ज्ञानं प्रति दोषस्य प्रतिबन्घकत्वादभेदअभ्रमसम्भवादभेदभ्रमोन्छेदप्रसक्नादिति पूर्वोक्तमयुक्तम् । न च-ताहृशअ्रमसथले श्रुत्याप्यभेदो बोधनीग इति—वाच्यम् ; दोष-
 त्वापते:, चरमज्ञाने श्रुत्यवकारोक्तिरपि न युक्ता; तस्य प्रत्यक्षेण श्रुत्या वा विषयीकृतत्वे तत्र ${ }^{2}$ श्रुतिवृत्त्युक्तययोगादिति-तन्न ; श्रौतस्याभेदज्ञानस्य दोषाजन्यत्वेन श्रौतत्वेन चाभ्रमत्वात्, दोषपयुक्ते भेदग्रहम्लककत्वस्य भ्रमत्वव्याप्यत्वे मानाभावात्, भेदग्रहस्य दोष्रयुक्ततानियमेन दोषम्राध्येदययोर्वस्तुनोररेदम्रहम्य प्रमात्वनियमाच। चरमज्ञाने श्रुत्यवकाझोतिर्तियुक्तैव; चरमत्त्वं हि प्रकृते भेदेनागृद्यमाणत्वम्। न त्वगृब्षमाणत्वम्न त तथाचागृहीतमेदेदपि साक्षिसिद्धे तत्र श्रुतिः प्रवर्तत इत्यत्र न दोषः॥

ज्ञानादिनेत्यादिना खविषयोपग्रहः। तं ऐेक्यज्ञानात्वविषयाच्च स्वस्य भेदम् । सर्वतो भिनेति । बुद्धित्वात् बुद्धघन्तरवदिति शेषः। अनुमानाविषये अनुमेयभेदाप्रातियोगिनि। वाक्यमपीत्यपिकारेणा-

## मपि-निरस्तम्; तदुक्तम्-

## ‘हेत्वाद्यभावसार्वइये सर्वे पक्षयताज्डस्थिते'। <br> किंचित्तु ल्यजता दत्ता सैव द्वारद्यभ्रुतेः ॥ इति।

नुभानसुुन्चयः । हेत्वादीत्यादि। सर्वस्मिन्पक्षीकृते हेतोरमाव: ; हेतोरापि पक्षल्बेन तस्मिम्तस्य्यासिद्धखाव्। अद्दैंतमते साध्यहेल्बेरविशेषेण साध्याविशेषश्ष, तयेःः पक्षम्य चैक्याह्वाधस्वरूपासिद्बिव्याव्यव्वासिद्धचादिश्श ; हृष्तन्तस्यापि पक्षत्वाद्धृष्टन्तासिद्यिश्र, सर्वस्य भेदप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्य तत्तदूपेण साध्ये निवेखये; सन्यथा केनचिद्वूपेण ते आदाय सिद्धसाधनार्थान्तरयोरापतेः। तथाच तत्वदूपेण ज्ञाने आवइयके सार्वज्ञयापतिः। एवं च हेत्वाधभावे सार्वजये चाद्वैतवादिना आस्थित आपाіदेत ${ }^{1}$ सति सर्व पक्षयता पक्षवितु ूूर्व पवर्तमानेन ल्वया पश्थार्किंचिच् कानिचित्यक्तव्याने पक्षाह्दहिक्कार्याणि। तथाच लया सैव त्यक्ता ${ }^{2}$ तत्तससुपैवद्वयश्रूते: सर्वाद्दैतबोधनरूपगमनाय चरमोपायरूवा द्वाः दत्तैव । तुशब्दादनुमानापयोगग्यचच्छेदः। तथाच शब्दमात्रे ल्वयानुमानपयोगे कृतेडपि श्रुतेखकाशः सिद्वघय्येवेति लक़ष्षपदा सा सर्वाद्वैतें बोधयतीति भावः ॥

ननूक्तमप्यक्षं यद्वैतज्ञानात्वविषया|च भिन्न न स्यात्वदा भेदविषयकं न स्वात्; ययोर्मेदो विषयंस्तयोंकैयवविषयकत्वात् भेदप्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वविषयीभूतयोः ₹्वभिन्नव्वाभावे तयोंमेदानुपपते: । न हि स्वाल्यन्तामिन्नुपयं मिथो मिन्नमिति सम्भवति, विरोषादिति युक्तेरुक्तभ्यक्षम्य स्वविषयादह्देत्ञानाच्च भेदं विना भेदविषयकत्वमनुपपन्नमित्यनुपपतिधिकरणिकार्र्थपतितास्तों भेदभाहिका

$$
1 \text { आपांदे-स. } 4 \text { त्यक-ग. }
$$

नाप्यर्थापत्ति: सर्वभेदविषया; स्राविषयत्वात्। ययोर्हिं मेदं विना यत्राजुपयत्तिर्गुहीता, तयोस्तत्र भेदग्रहे Sप्यनुपपत्तावजुपप₹्यन्तराग्रहणात् । सर्वत्र तव्रूहणे तु धाराविश्रान्तौ चरमधीरुदाहरणम्। तदुक्तम्-

अव्यधीवेद्यभेदायाप्यन्यथानुपपषता।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वरयक्रुतिम् ॥ इति ॥
ननु-यावदुपपादकं तत्सर्वमर्थापत्तेर्विषयः । न तु
तत्राह—नाप्यर्थति । स्वविषयत्वं विवृणोति । ययोरित्यादि। ययोरद्वैतज्ञानाद्युक्तप्रत्यक्षयोर्मेदं विना यत्रोक्तम्रत्यक्षस्य घटपटभेदविषयकत्वेडनुपपत्विर्गृहीता, तत्रोक्तमत्यक्षताह्टाविषयकत्वे निमित्ते तदुपपत्चय इति यावत्। तयोः अद्वैतज्ञानाद्युक्तप्यक्षयोः। भेदग्रहेऽपि अनुपपत्तावर्थापत्रिप्रमायामनुपपत्त्यन्तरस्याद्वैतज्ञानादितो भेदं विना किंचिदनुपपन्नमित्यस्याग्महणात् । तथाचोक्तार्थापत्तावद्वैतज्ञानादिभेदाग्रहान्नार्थापत्तिः सर्वभेदविषयेति भावः। सर्वत्रोक्तार्थापत्त्याद्दौ। धारेति। सुषुप्तादिलोपापत्येत्यादिः। चरमधी: चरमार्थापचिः। अद्वैतज्ञानादिभेदं विना यस्याः किंचिदनुपपन्नमिति गृहीतं ${ }^{1}$ सार्थापच्तिरिति यावत्। आद्येत्यादि। आघर्रर्घटपटभेदरी: तद्वेघभेदीया तस्या धियस्तादाभेदाविषयकत्वमद्यैतज्ञानादेकतस्यां भेदं विनानुपपन्नमित्याकारानुपपन्नता अनुपपत्तिररिद्वयश्रुर्तिं न बाधते। स्वज्ञानापेक्षणात् स्वस्मिन् ताहशानुपपत्तिज्ञाने अद्वैतज्ञानादिभेदज्ञानमपेक्ष्यैन तस्यास्तद्वाधकत्वसम्भवात्, स्वस्मिन्नुक्तभेदज्ञानाभावे तंत्रैव श्रुतेरवकाशेन सर्वाद्वैतपर्यवसानात्। अथ तस्यामपि तादृशभेदें विना स्वविषयभेद्विरोषविषयकत्वमनुपवन्नामिति ज्ञानाताहदहाभेदम्रहः ; तथाव्यन्ते धाराविश्रान्तौ तां न

यत्किचिद्युपपादकम्; तथाचार्थापत्तेरितरस्मान्द्रेदाभावे तत्रैवाभेदभुतुल्ल०्धावकाइत्वाद्वटपटभेद सिद्धधापत्तररर्थापत्तिविषयत्वं बाच्यम् ; अन्पथा दृहइयसम्बन्बन्तुपपत्तार्काननिवर्त्यत्वन्तुपपत्तिश्य स्वमिथ्यात्वकिषया न स्याव्; सर्व खल्विदं जब' इति श्रुतिः 'नेह नाना, इति घ्रद्नणि भेदमात्रनिषेधनुपपत्तिश्य स्वाभेदविषया न स्याव् ; तथा च तत्रापि श्रुत्यन्तरमर्थापत्य्यन्तरं का वाच्यमिति तवाप्यनवस्थापत्तिरिति। मैवं बोचः; वस्तुत उपपादकत्वं नार्थापत्तिविषयत्वे तन्त्रम्, कितूपपादकत्वेन ज्ञातव्वम् ; अन्यथार्थापत्तिश्रमानुपप्तेः। तथा च येन

बाघत इत्यर्थः। उपपादकमिति। यद्विनानुपपन्नत्वमन्यत्र ज्ञायते बदित्यर्थः । इतरस्माप् अद्वैतज्ञानादितः । नेह नानेतीति । निषेघददार्थे निषेघबोधकवाक्ये चेति। भेदमात्रेति। भेदसामन्येल्यर्थः । 'नात्र काचन मिद्दास्ती'’्यादिल्यादिश्रुलेकवाक्यतया नानाशब्दस्य भेदार्थकत्वम्' भिदाशब्दस्यापि भिनार्थकतया मिनार्थकत्वं
 यद्वप्ययं प्र्ययः स्वार्थिकतया महाभाष्यादावुक्तः, तथापि नज्पदस्थैवाधटवदित्यादाविव भिननिरुछठबसम्मवात् । तथाच मिन्ननिषेछेडपि भेदस्य विशेषणस्य निषेष इव्याभेपायेगेदम्। नानापदस्यानेकार्थकत्वे तु ूू वोंक्तरीत्या भेदस्याप्यनेकत्वेन निषेष इति बोध्यम्। स्वाभेदेति। अभेद्स्याबण्डन्रसरूपत्वेन बक्ष्यमाणत्वाद्धेदाभावातिरेकेण भेदनिषेघनुपपतिगम्यत्वमिति भावः॥

अर्थापतिभ्रमेति। अर्थापतिरूपभम्रमेल्थः। येन येनोपपाद-
1 नस़प्रत्यया-ग.

रूपेणोपपादकत्वं गृहीतम्, तदूपावच्छिन्नुपपादकमर्था-
 मेक्क भवेव, बढ़ा सोडपि भायदेव। नचैवमस्ति ; तदनिरूपजाव। तथाई——टपटभिक्वमुपपाघम्, तदुपपादकं च न सर्वभिक्वत्वम्; सबतोडपि भेदापत्या तदसम्मवाव् । नापि स्वातिरिक्तसर्तीमिन्नलम् ; अद्धतबादिनं प्रति स्वातिरकविरेष-
 त्वमेव उपपादकमुपयम्। अत उपपादकतावच्छेक्रनानात्वाफ सर्बपपपादकमर्थापतेर्विषय इति पृथक्पथगतुपपत्त्जानानोपेक्षायों
 बकाशा भुतिः सर्वांद्धेते पर्यवस्यतीति किमुपपपन्न् । छृान्ते

कत्वं गृहीतमिति। घद्पुपवच्चिन्नं विननुपपन्बं गृहातनिलर्यःः। सोडपि अर्यापचिगतो मेदोडऽवि। उपपाद्यमिति। विपयितसंक्न्बेने-
 मेषः। स्वातिरिक्तसर्वामिन्व्वम्, सर्वक्च स्वातिरिक्ताह्तर्वस्माद्देवः। अद्बैतवादिनामिति। अहेदेने विभतिपचमिलर्थः। तथाचद्धेते विपतिपतिकाले ख्वातिरिरक्रूब्व्वस्य निण्णयो नेति मावः। खल्लेति। तथाच
 तथचानक्ञानें प्यक्षार्थाप्त्यादिसपमनन्तमिल्युगतनरूं बिना पष्षतया






च सर्वत्र स्वसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकमेवेति तद्वच्छिषतया स्वस्यापि भानमिति वेषम्यम्। तथाहि-दृ़्यत्वावच्छिक्णमिथ्यात्वं विना दृक्सम्बन्धानुपपत्तिग्रहात्तद्वच्छिन्नमिथ्यात्वमर्थापत्तेर्विषय इति स्वमिथ्यात्वमपि स्वविषयः। एवमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम् ; तत्रापि दृइयत्वादेरकस्यैवावच्छेदकत्वात्। एवं च जह्माणि सर्वाभेदबोधिकायाः श्रुतेमेंद्मान्रनिषेधान्यथानुपपत्तेश्र स्ताभेदाविषयत्वमाविरुद्धम्। न हि सर्वभेदे स्वभेदापत्तिरित सर्वामेदे स्वाभेदो दोषाय। तस्मादद्वैतभुतिर्बाध्यबाधकयोरैक्यबोधनेन निराबाधा सर्वाद्वतंतं प्रतिपादयति। ननु— शब्दब्बुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावात्कथमादावल्पविषया बुद्धि: पश्याद्बहुविषयापि भवतीत्युच्यत इतिच्रेन्म; श्रुतितो द्रागेव जाताया: सर्वविषयाया अथ्रैतबुद्धे: प्रामाण्यं ठ्यवस्थापयन्तीनामस्मद्नुद्धीनामेव कमेण जायमानत्वात्।

भेदानां नुर्जेयत्वात्कचिक्कस्यचिद्भेदज्ञानासम्भवे इत्यपि बोध्यम् । तथाहीति। प्रपश्चस्येति रोषः। सर्वभेदे उक्तार्थापातिविषये सति। स्वाभेदः स्वाभेदापत्तिः। कथमित्यादि । चरमज्ञाने अदौ लबछपदा पश्धात्सर्वद्वैतविषयेति कथमित्यर्थ: । द्रागेव युगपदेव । प्रामाण्यमित्यादि । यत्र प्रत्यक्षादिना भेदोग न गृहीतः, तत्र श्रुतेरबाधितविषयकत्वम् । प्रत्यक्षादिविपये तु सर्वत्र श्रुतेः पवृतिरिति पत्यक्षदिकं नाबाधितकिश्चिद्विपयकम् । अतः प्रत्यक्षाादितः श्रुति: पबला। एवं बध्यत्वाभिमतश्रौतज्ञानक्य द्वैतमात्रोच्छेदकत्बेन बाधकत्वाभिमतपत्यक्षादिस्वरूपोच्छेदकत्वाद्वपि सा पबला। बाध्यकालंलडनुच्छिन्नस्वरूपं हि बाघकं स्यात । अतएव सर्वकथंतामूलेच्छेदकत्वेनापि सा तथा। तदुक्त खण्डने-

अयोग्यताइ्ञांं च न शाब्द्बोधे प्रतिबन्धकम्, न वा योग्यताज्ञानं हेतुः ; येन प्रथमं सर्वाद्वैतबुद्धिर्न स्यात्। तढुक्तम्अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थ शब्द्: करोति हि। अबाधातु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्यलाम्ं ॥ इति ।

## प्रवृत्तेनाव्यनौचित्यमूलं येन न लूयते। <br> तत्रानौचित्यसाप्राज्यं वैपरीत्यातु नात्र तत् ॥ इति।

अन्राद्वैतश्रुतावित्यादिरीत्या श्रुतेर्बाध्यत्वशंकानिरासेन प्रामाण्यठ्यवस्थापकानामस्मदीयज्ञानानां श्रुतिपाबल्यविषयकानामेव कमेणोत्पत्तिः। श्रुत्या तु सकृदेव सर्वाद्वैतं बोध्यते। न तु प्रत्यक्षाह्यगृहीतभेदके चरमज्ञाने वा आदावद्वैतं बोधयित्वा पश्षादन्यत्र बोध्यत इति भाव: । न स्यादिति। प्रत्यक्षादिरुपेणायोग्यताज्ञानेन प्रतिबन्घादिति शोषः। अत्यन्तासति। विपरीततया निश्चिते कल्हादिंस्थल इति शेषः । अबाधादिति । कहहादिस्थलेऽनाप्तत्वादिना वाक्यार्थज्ञानस्य अ्रमत्वेऽपि श्रौतज्ञानस्योक्करीत्या अ्रमत्वज्ञानरूपबाषासंभवादित्यर्थः। स्वतः प्रामाण्यनिश्रलाम्, स्वतःसिद्रप्रमात्वान्निशांकापामाण्यं विपरीतज्ञानरुपस्यायोग्यताज्ञानस्य प्रतिबध्यत्वं न परोक्षा परोक्षसाधारणरूपेण ; प्रत्यक्षस्थले इच्छाविषयक्याप्रतिबध्य'त्वेन तद्वयावृत्तरूभैगैव प्रतिबध्यत्वात् । अतएन्रोक्तं मणिकृता 'प्रत्यक्षादावुत्पन्ने ज्ञानेऽप्रामाण्यमासज्यते बाधेन अनुतितौ तूत्पतिंरेंव प्रतिबध्यत' इति । एवंच परोक्षम्यानुमितित्वेनैव प्रतिबध्यत्वम् ; विपरीतधीसत्वे उह्बोधकसत्वे मानाभावेन तदभावादेव समृत्यभावोपपत्रेरनुगते।द्बोघके मानाभावात्। भावे वा परोक्षत्वजातौ मानाभावेनाक्नृत्वात् । बाघस्थले शाबढ़बोधस्य निस्थितत्वात्। अन्यथा करहादिस्थले शाब्दान्य-

[^154]बेदान्तकल्पलुतिकायामस्यार्थस्य प्रपश्रो द्रष्टन्यः। एतेनचरमझ्कानमिथ्यात्वेऽपि न तद्विषयस्य मिथ्यत्वम्; ज्ञानमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वासाधकर्वाज्। अद्दैतज्ञाने व्यमि-चारादिति-निरस्तम् ; श्रुत्यैव द्वैत्रमात्रनिषेघ्यत्वबोधनात्। अद्दैतज्ञानविषये च मिथ्यात्वबोधकाभावादेव सत्यत्वम्, न तु ज्ञानमिथ्यात्वादिति न किंचिदेतत्। नतु-द्वैतश्ञानाद्यैतज्ञानयोरमेदे कथं बाध्यबाधकमावः? न च ब्यावहारिकमेदमात्रेण स: ; दैंतब्ञानस्यापि बाधकत्तापत्तेरिति-चेन्न ; व्यावहारिकभेदमात्रस्य बाघकत्वाप्रयोजकत्वात् । यद्धि परीक्षितप्रमाणभाव-

विशिष्टरीसाममीकल्पने गौरवाच्छाब्दव्यावृत्तरूपैगैव पतिबध्यत्वम्। योोग्यताज्ञानहेतुले च न मानम् ; इतरकारणसले तद्विलम्बेन शब्दधीबिलम्बस्यद्दृृत्वादिति भावः। एतेन द्रागेव श्रुत्या सर्वाद्दैतबाधनेन। श्रुल्येवेत्येककारार्थो विवक्षितः, स च ज्ञानमिथ्याव्वस्य विष्यमिथ्याव्वसाषकत्बव्यवच्छेदः। श्रुतेवोोध'कखं तु नात्र विवक्षितम् ; तैनैतेनेन्यनेन न पौनरुक्तचम् । ज्ञानमिथ्यात्वादिति। विषयमिध्यात्वमिति शेषः। ब्यावहारिकमेदमात्रस्येत्यादि। यघ्यव्यद्युतज्ञानोप्रतिद्वितीयक्षणे द्वैतमात्रोच्छेद: ; जीवन्नुक्तानामपि मेद्रतिभासो अ्रमंब्वन निश्रीयमानत्वान्न बाध्यवाधकभावादितद्द्यापयोजक:'; न हि विरोधिविषयकत्वा-
 भ्रमत्बज्ञानोल्पादकरवं तद्धीर्वा कम्याचिस्संभवति, तथापि द्वैतवादिनां बिचाददशायां पापासंभावनादिदोषेण द्वैत² ज्ञानस्यैव अम्रमत्वरंकास्पदत्वात्, तेषां द्वैतजानस्यातथात्वादतथामूतमेदज्ञानसंभवात्, तान्पल्य

$$
1 \text { बोधु-ा. } 2 \text { पाहैत-ा० }
$$

त्वेन बलवत्, तद्धाधकम्, यत्तु सन्द्यिग्धप्रमाणभावत्वेन दुर्बलं तदाध्यमिति व्यवस्थायां द्वैतज्ञानस्य दुर्शलत्वनाबाधकत्वस्याद्वैतझानस्य च बलवत्वेन बाधकत्वस्य शब्दप्रत्यक्षबलाबलविचारे दर्शितत्तात्। गत्तु 'आपो चा इं सर्व भूत' मित्यादिश्रुतिः, 'विमतम्, जलाभिन्नम्' प्रतीतत्वाझलवदि' त्यनुमानं वा स्वबाधकस्य जलाभेदं गृहीत्वा निर्बाधं सत्वदुक्तन्यायेन सर्वस्य जलाभेदं बोधयेदिति तन्न ; जलाभेदबोधनेऽपि
द्वैतज्ञानं बाघकत्वेनोपन्य+य, बाधकत्वाभिमतपत्यक्षादिस्वरूपोच्छेदकत्वादिरूपश्रुतिपाब₹येपन्यासेन श्रौताद्धैतज़ाने अ्रमत्वशांकाया अनवकारां चोपन्यस्य, तेषामद्दैतज्ञाने बाधकत्वज्ञानमद्वैतज्ञानवता कारायितुं शाक्यते। न च-तदा द्वैतवादिभिरद्धैतज्ञानिनं प्रति ठ्यवहारव्याघातोऽद्वैतज्ञानेन।पादनीयः, यदि त्वमद्बैतज्ञानवान् सदा ठयाहतैद्वैत०यवहारः स्या इतीति वाच्यम् ; बधकाद्वैतज्ञाने सत्यपि द्वैतसंसकाराषीनप्रतिभासस्य प्रारब्धकर्मकृतपतिबन्धेनानुच्छेदाँद्दैतवादिकृतापाद्दनस्याद्वैतज्ञानिनं प्रति निण्फलत्वात् । न हि तस्य द्वैतधी|र्भ्रमत्वेनानिश्रीयमाना संभवति, न वापाद्धापादकादिभदे ${ }^{1}$ श्रद्धास्ति येन तत्तत्पराभूतये प्रभवेत्। तदुक्षं खण्डने -

नानात्वमवलम्ब्यापि बदत्यद्यदतवादिनि ।
असिद्धभेदाद्वचाघातः पतेदापादकाल्कुतः ॥ इति॥ अत एवाद्यैतज्ञानिनं प्रति पक्षादौौ बाधकत्वोपन्यासो व्यर्थ इति भावः । सन्द्विग्धग्रमाणभावत्वेन अनिश्चितप्रामाण्यकत्वेन प्रामाण्यानिश्रायकरून्यत्वेन। दर्शितत्वादिति । अत्राप्युक्तरीत्यद्वैतदर्शिनं प्रति प्रत्यक्षादेर्बाधकत्वेनोपन्यासासम्भवादि ${ }^{2}$ प्ययोजकेन सर्वाद्वैतबोधकत्वेन

$$
\text { मेदे श्र. श्र. } \quad \text { स सम्भवादि-ग. }
$$

बध्यवाधकयोरैक्याबोधनात् बाधकस्य बाधकत्वोपपतेः। ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयोर्बोध्यबाधकमावस्य जलाभेदझ्ञनेनानपायाव् । बाधकाभेदो हि बाधकत्वाभावे प्रयोजकः ; बाधकस्य स्वबाघकत्वादर्शीनात्। अतो न बाध्यवाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदश्ञानसाम्यम्। एतेन-संवे सर्वस्मान्द्रिन्ममिति मद्वाक्यमद्यैतवाक्यतन्ञानतद्विषयाणां तेग्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत्सर्वभेदे पर्यवस्यतीति-निरस्तम् ; बाध्यबाधकयोरभेदे बाधकत्वाभाववत् मेदेंडपि बाधकत्वं न स्यादित्यत्र हेत्वभावात् पूर्वोकदोषाप्राबल्यमद्वैतश्रुतेरित्युक्तत्वादिति रोषः। तथा च पूर्व बलाबल ${ }^{1}$ विचारे संभावितदोष्वत्वेन प्रत्यक्षस्याबलत्वं, तदभावेन श्रुर्तर्बतत्वं ${ }^{2}$ दर्शितम्, अत्राप्युक्तं बलाबलम्, बलाबलेनैव बाध्यबाघकत्वण्यवस्थेत्यपि तत्रै--बोक्तम्। अतो न सा भेदमात्रेणेति भावः। बाध्यबाधकयोरिति । आप: सर्वमिति ज्ञानपृथिठ्यादयोनापइति ज्ञानयोरिर्यर्थः। ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयो:। उक्तज्ञानयोः। बाधकाभेद: बाधके बाध्याभेदः। बाध्यबाधकैक्येति। सर्वाद्वैतेत्यर्थ:। तद्धान ${ }^{3} त द ् व ि ष य ा ण ा ं ~ अ द ् व ै त-~$ ज्ञानाद्वैतानाम् । तेभ्यः अद्दैतनाक्यमद्वैतज्ञानमद्बैतं चेत्येतेम्यः। निर्बाधं सदिति। बाघकत्वाभिमतंद्वैतज्ञानं तद्विन्न्वेन निश्यितमतस्तेन भेदज्ञानं न बाध्यतया निश्रेतुं शाक्यत इत्यर्थः। हेत्वभावादिति। अद्वैतज्ञानं तत्वेन साक्षिगृत्यमाणं तद्विन्नंत्वेन गृह्तीतुमशक्यम्। शक्यत्वे वा तदुभिन्नत्वेनाप्यद्वैतश्रुस्यैव तक्य गृद्यमाणत्वाच्वद्किचिक्करम् । शाब्द्बोषे च विपरीतर्धार्न विरोधिनीति भावः। पूर्वोकेति। अद्दैतज्ञानिनं प्रति ताहृशवाक्यस्य सश्रद्धभेदज्ञानाजनकत्वाधतुपन्यासो व्यर्थः, भेदज्ञानस्य स्वस्मादपि भेदसिद्सया .वाधकत्वाभावापत्त्या स्वातिरिके ${ }^{4}$

[^155]
## चेति दिक् । सर्वासच्नं सर्वमिथ्यात्वान्मातिरिच्यते; अतः

सर्वभेददिषिषयक्त्वं वाच्यम्; तथाच स्वान्यस्मिन्सर्वस्मिन्सर्वेयदरूपे वाक्यार्थे वाच्येडद्दैतज्ञानिनं प्रति पदार्थाप्रसिद्धश्येत्यादीत्यर्थः। अत्रापो बेत्यादिनारायणीयोपानिषद्वाक्यस्य स्तुतिपरत्वेनाभेदपरत्वाभावाद्रेदप्रत्यक्षापेक्षया दुर्बलत्वम्। सव्व न सर्वमित्यादिवाक्यस्याप्यनाप्पवाक्यत्वेन घटो न घट इत्यादिबदपार्थकत्वेन च दुबलरुवमित्यपि बोध्यम्। ननु 'इदं वा अम्रे नैव किंचनासीत्' इति श्रुतिः, विमतम्, असत्, प्रतीतत्वादि' त्यनुमानं वा त्वबाधकत्वाभिमतस्य सत्यज्ञानादिवाक्यस्यासत्वमादौौ गृहत्वा, सर्वासत्व बोषयेदिल्यत आह——सर्वासत्वमिति। अपरोक्षतया ज्ञायमानानां पृथिठ्यादीनामलीकत्वासंभवेन सर्वस्य मिथ्यात्वरूपासत्वमेव वाच्यम् ; तथाच मिथ्याभूतस्याव्यर्थक्रियकारित्वेन पूर्वोकत्वात्, मिथ्यात्वेन ज्ञायमानस्यापि सत्यादिवाक्यस्य प्रमाजनकत्वज्ञानसंभवात्, अतथावज्ञानाधीनाप्रमात्वज्ञानस्य सत्यादिवाक्यजन्यज्ञाने ${ }^{1}$ वक़ुमगक्यव्वात्, अन्यथसत्व ${ }^{2}$ वाक्यादावव्यसत्वज्ञानेन तज्जन्यज्ञानेडप्यप्रमात्वधीसंभवात्, अद्दैतज्ञानिनं प्रति स्वान्यदसदित्युपन्यासस्ग विशेषणाप्रसिद्धघा कर्तुमशक्यत्वात्, द्वैतमात्रोच्छेदकत्वादिना 'सत्यं ज्ञानमद्वितीयमि' त्यादिवाक्यस्य सर्वासत्वादिवाक्याघपेक्षयोक्तरीत्या प्राबएयाच्छून्यवादापतेत्षथ नोक्तापतिरित्यर्थः ॥

ननु साक्षिणान्तःकरणाद्यभेदभ्रमो न स्यादिति पूर्वोक्तापत्तिर्नयुक्ता; इष्टत्वात्, अत एव मम मन इति भेदप्रत्यक्षमिति—चेन्न; सुखाबौौ मनो निमित्रमाह्मोपादानमित्यत्र गौरवान्मन एवापादानमिति तद्धर्मसुखादे राइ्मधर्मव्वस्यानुभूयमानस्य मनआट्मतादात्याध्यासं विनाजुपपत्तेः साक्षितादात्म्यं विना मम मन इति प्रत्यक्षस्याप्यसंभवात्।

$$
1 \text { शानेन-ख. } 2 \text { सर्वासम्व-ख. ग. }
$$

दृग्हरययो: सम्बन्घस्याध्यस्ततादाल्यरूपत्वेनोक्रत्वात्। अन्यथा बक्कत् जातीयसम्बन्धकल्वने गौरवम् ; कार्यमात्रे निमित्त्वस्येवोपादानत्वस्याप्यात्मन्यविनिगम्यत्वेन न्वीकारात्, प्रकृतिश्चेत्यादिन्यायात्। मम मन इत्यत्र तु गतिरुक्तसाक्षि ${ }^{1}$ वृत्वित्वेनाध्यस्ते मनःपारिणामसंकल्पादौ धी: साक्षिभेदविषया चेति नं दोष:। यतु-साक्षिणा स्वस्मिन् च्वेतरभेदप्रह:, तत्र च स्वेतरत्वेन यर्ंकचिदितरज्ञानमपेक्ष्यते ${ }^{2}$ इतरत्वं च भावरूपं सत्व्वपातिद्दंद्यि, न तु भेदरूपम् ; येनानवस्था स्याद्वितितन्न ; भावरूपेतरत्वे मानाभावात्, तेन रूपेण भेदग्रहेऽपि तदन्यरूपेण मेदाप्रहादभेदस्य श्रुत्या प्रहे बाघकाभावाच ॥।

ननु—अर्थपतिसाधारणमेकं घटपटभेदोपपादकं नास्तीत्युक्तमयुक्तम्; घटपटभेदसिद्दिविरोर्धी यो भेदाभावस्तद्विरहम्य तत्वसंभवात्, -यथा हि घटपटभेदज्ञानस्याद्वैतज्ञानेन भेदाभावे घटपटभेदासिद्धिस्तथार्थापत्तेरद्बैतज्ञानादभेदे प्युक्तरीत्या सेत्यर्थापतिभेदोडपि तदुपपादक इति चेत्, अन्तोसि ; न ब्युक्तभेदसिद्धिविरोधितावच्छेदकमेकमसित; येनानुगतरुपेण निवेशः। नच—भेदज्ञाननिंहं यद्दबाधकत्वं तदनुमापकत्वरूपं तदेकं भेदज्ञानमैक्यज्ञानं प्रत्यबाधकम्, तदैक्यात, यबदैक्यवत्तचदबाषकम्, यथा संप्रतिपन्नमिति ठ्याप्षेंभ्रद्ज्ञानरूपपक्षधर्मतायाश्र्व ज्ञानविषयत्वरूपस्ये|क्तानुमापकत्वस्यैकंय सत्वादिति-वाच्यम् ; भेदज्ञाने सैक्यस्यापि ताहौौक्यतया तद्द्धद्यापि तदभावत्वेन रूपेण भेदज्ञाने सिद्धघापते: भेदमात्रस्य तादृहत्वेन विशोषणस्याव्या|वर्तकख्वापत्ते:, ताहौौक्यस्य सिद्धघसिद्धिभ्यां व्याघाताच। तस्मादिदं भेदज्ञानमद्वैतज्ञानाबाधकत्वक्याप्यद्वैतज्ञानैक्यवादित्यादिज़ानविषयत्वरूपं तत्तज्ञाननिष्ठाबाषकत्वानुमापकत्वं तत्तानमेदेनाननुगतमेव विरोषिशेषि-

[^156]'सर्वमसदि 'ति प्रत्यवस्थानमनवकाराम् । ननु श्रुत्या सर्वस्य मिथ्यात्वं वा बोध्यते, ज्रह्माभिमत्वं वा । आदे 'सर्वे खल्विदं न्नह्ने 'ति सामानाधिकरण्यं न स्यात्; सत्यानृतयोरैक्यायोगात्। द्वितीये 'इढं रजतम् 'गौरोऽह' मित्यादिअ्रमाणां प्रमात्वं स्यात्; अत्मनि देहादिभेदस्यानृता द्धथाबृतेश्र बोघकानां वेदान्तानां 'नेदं रजत’मित्यादि बाघकस्य चाप्रामाण्यं स्यात्, घटज्ञानेनैव तदमिच्नत्रक्षतद्मेदादेः

ताव'च्छेदकमिति कानुगम:? एवंच 'घटो न पट' इत्यदिज्ञानस्य भेद्विषयकत्वं प्रति तादृशज्ञानस्यांद्वैतज्ञानाद्रेदत्वेन ${ }^{2}$ तादृशभेदग्राहकार्थापत्तेरद्धैतज्ञानाद्भेदत्वेन एवमन्येषामपि तस्माद्रेदत्वेनोपपादकत्वमेव युक्तम्; अननुगमस्याविशिष्टत्वात्। तदिदमुक्तं उपपादकतावच्छेदकनानात्वादित्यादि। यदपि सर्वाद्यैतज्ञाने श्रैते बाधविषया प्रतिबन्छकत्वासंभवेऽपि भेदज्ञानं तत्र अ्रमत्वं कल्पयत्विति तन्मौब्यम् ; भ्रमत्वकल्पकत्वरूपबाघकत्वस्यैवेक्कदौर्बल्येन निरस्तत्वात् ॥

श्रुत्या "एकमेवाद्वितीयमि"त्यादिश्रुत्या। मिथ्यात्वमिति। अद्वितीयादिपद⿸्य द्वितीयाभाववत्वेन ब्रद्नणोऽवान्तरतात्पर्येण बोषकत्वमित्युक्तत्वादित्यादि: 1 ज्रह्माभिซत्वमिति । सर्वस्येत्यनुषज्यते। अद्वितायादिपदस्य द्वितीयत्वादिरूपविशोषेण निषेघपरत्वादित्यादि: । ब्रद्नभिन्नत्वं व्रह्सणि प्रसक्तस्य भेदसामन्यस्य निषेषः। भेदसामान्ये च सत्तास्फूर्तिरूपेण व्रद्नणोडनुगमात्तर्र तत्पसक्ति: । इ्रह्सद्वितीयत्वस्य तन्भ्रेदठ्यापकतया तन्निषेषातानिषेषो बोघ्यः। एकादिपदस्य तु भेदशून्यरूपकेवल़वाचकस्य सक्षोचाभावात्साक्षादेव सर्वेभवरून्यबोषकत्व-

$$
1 \text { विरोधिताव-ग. } 2 \text { दकत्वेन-ग. }
$$

सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वइयम्, वेदान्तानां वैय्यथ्यम्, सद्यो मोक्षश्र स्यात, सुखदुःखबन्धमोक्षभेदाभेदनूषणभूषणजयपराजयभ्रन्तिभ्रमादेरपि वस्तुतो भेदाभावेन सर्वसक्करापत्यां स्वक्रियास्वब्मयायस्ववचनविरोधाश्य स्युरिति चेत्म; आघे मृद्धटः' इदं रजत' मित्यादाविव उपादानोपादेयभावेनाषि सामानाधिकरण्योपपत्तेः। द्वितीये वस्तुतो भेदाभावेऽप्याविद्यकभेदमादाय सर्वष्यवस्थोपपत्ते:। न च-भेदस्याप्यनाविद्यकत्रह्नाभिन्मत्वेनाविद्यकत्वायोग इति—वाच्यम् ; आविद्यकत्वस्याप्याविद्यकस्यैवाहीकारात् , अथाविद्यकत्वस्यापि ब्रह्सामिक्षत्वात्कथमाविद्यकत्वमिति चेत् तस्मिश्नपि तस्य कल्पितत्वादिति गृहाण । नतु — मुक्तावाविद्यकस्यापि मेद्स्याभावेनानन्द्स्य -दुःखाभिब्मत्वेनापुरुषार्थत्वापातः' तत्तदसाधारणरवभावस्य तत्र तत्राभावेऽपि तत्तदभेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येत्।

मिति ध्येयम्। ऐक्यायोगादिति। तथाच श्रुतीनां पूर्वापरविरोष इति भावः। प्रमात्वमिति । सर्वस्य ज्रद्नणा सर्वाभिनेनाभेदात्सर्वाभिन्भत्वादित्यादिः। द्वितयपषक्षेडपि ‘नेह नाना,' 'अनिन्द्रियमविषयम्' इत्यादिश्रुतिमिर्मिथ्यात्वेन बोधिते प्रपश्चे ' सर्व खल्विदं न्रहं 'ति वाक्येन ब्रहाभेदबोधानुपपतिर्बोध्या। उपादानोप्रादेययो: सामानाधिकरण्ये पराभ्युपगतं दृष्टन्तमाह - मृदट इति। सत्यमिथ्यासामानाधिकरण्ये पराभ्युपगतं तमाह - इद्मित्यादि। भेदाभावेऽपीति। च्यवहारकाले तदनिश्रयादिति शेष: 1 तत्तद्साधारणेति । अपुरुषार्थत्वादिरूपतु:खादिमात्रधर्मेत्यर्थः। तत्र तत्र मोक्षानन्दादौ। तत्तद्मेदे तत्र तत्र ${ }^{1}$

[^157]असाधारणरूपेण भेदमभ्युपेत्य सहूपेण मेदनिषेचेडपीष्टापत्तिर-प्रसक्तनिषेधथ्येति-चेक्ष ; एकस्यामेव क्ञद्नव्यक्तौ तत्तदसाधारणस्तभावानां कल्पितत्वेनासत्वात्सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितघर्मावच्छिन्मेदाभेदादिग्रसक्तेरयोगात्। अत एव नाप्रसक्तम्रतिषेध इष्टापच्तिर्वा; 'सहूठयं', 'सन् गुण' इत्यादिप्रतीत्या प्रसकानां तत्तद्धर्माणां बद्षणि भ्रतिषेघात्। अत: सर्वधर्मयून्याया एकस्या एव सक्झक्तेश्रिदानन्दरूपायाः प्रतिपादनाब परिभाषिकोऽयमभेद् इति सिद्धम्। तद्वंवं 'सर्व ब्रद्साभिन्न' मिति मते

दुःखाघभेदे। सडूपेण भेदनिषेधे सद्रेदस्य निषेधे ब्रद्नणीत्यादिः। तत्तदसाधारणस्वभावानां दु:खत्वापुरुषार्थत्वादीनां द्वैतानां असत्वात् निषेषयोग्यत्वात्। भेदाभेदार्दीति। भेदो हृष्टन्तत्वेनोक्तः। उक्तश्रुतेमेंदसामन्ग्यिषेषकर्बपक्षे द्वितीयमात्रस्य भेदुव्याव्यत्वेनार्थनिषेषेषः। 'नेह नाना,' ‘अस्थूल’मित्यादिश्रुत्यन्तरेण वा स इति भावः। अतएव द्वैतसामनन्यस्यैकस्यां ब्रक्यव्यक्तौ कल्पितत्वादेव। तत्तद्धमर्ाणामिति। द्रव्यगुणादीनां भेदसामान्यस्य चेत्यर्थ:। यत्र यत्र भेदप्रसक्तिस्तस्य सद्रूपतादात्म्यावगमाद्रसाणे सदू़ूपे भेदभेद्यसामान्ययोः प्रसक्तिरिति भावः। सर्वधर्मशून्याया इति। भेदमेद्यसामान्यामाववत्वरूपष्यवृत्वाकारेणोपलक्षिताया इत्यर्थः। न पारिभाषिक इति। याद्टाभेद्ज्ञानं यद्विषयकप्रमोच्छेघम्, तादृछाभेद₹्य विरोरी अभेद्: स एव । भेदमान्रज्ञानं
 वृत्ताकारोरलक्षितत्वाच तदुतरं सत् द्रवयं गुणो नेत्यादिदुद्देरुच्छेद्धै।चित्यात्, सदन्यमिन्नं नेत्यादिशबन्दजन्यनुद्धे: परेणापि तदुच्छेदकत्वस्वीकारादिति, सेव व्यक्तिर्मेदसामन्यविरोष्यभेद इति भावः । सर्व ब्रद्काभि⿻मिति मते। द्रठ्यगुणादिकं द्रव्यत्वादिनावाच्छिक्षा या
 न प्रत्यक्षादिविरोघः। नापि पूर्वोत्तरविरोघः ॥ -

## इत्यद्देतश्रुतेर्बाधोसार:.

व्रद्सभेदाभावानुयोगिता तद्वच्छुत्यापि ताह्हाभेदो बोध्यत इति मते। मतन्तरमाह—मिथ्येति। 'एकमेवे' त्यादिश्रुत्या मिथ्यात्वेन बोधितेत्यर्थः। प्रपश्चस्येत्यादिः। सन्मात्रमेन ब्रह्नाभिनं सत्त्नेन सदेव ज्रस्मभेदाभावनुयोगि न द्रच्यत्तादिना द्रह्यादि ; द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नानुयोगिताकभेदन्य सत्वावच्छेदेनेनापि प्रसकेतुक्तत्वात्सत्वावच्छेदेनापि भेदनिषेधः श्रुत्या बोध्यते । भेदस्थ मिश्गाव्वेन तदभावस्य द्रठ्यादौ सत्वेऽपि तदनुयोगिता न द्रहयत्वादिना ; कितु सत्वेन, सैव 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'ति श्रुतिविषय:; द्रव्यत्वाद्विसर्वधर्मविशिष्टस्य कल्पितभावरूपसत्तादात्य्यादिभिन्नसत्तादांम्य रूपं सामानाधिकरण्यमेव बन्सणो द्रव्ग्रदौ भातीति स्वीकारात् । अथवा प्रपश्वे श्रद्मणः कल्पितं यद्गास्यतानियामकं भावरूपं तादात्र्यं तदेवोक्तश्रुतिविषय इति भावः। न प्रत्यक्षेत्यादि । अद्यमते उक्करीत्या'नेदें रजतमि'त्यदिप्र्पत्यक्षस्य द्वितीयमते'सर्वे खल्विद्मित्यादिश्रुतिविरेषत्पूर्वोचरश्रुतीनां विरोधो नेत्यर्थ:। अथवा-तथाच प्रत्यक्षाद्विविरोषात्पूर्वोचराविरोधाचेत्यादिना श्रुतेरद्टैतपरत्वामावशक्षा कृता पूर्वम्, तत्र प्रत्यक्षाद्यविरोधमुपसंहृत्य पूर्वापरविरोधं श्रुतौ वक्ष्यमाणं निरसितुं प्रतिजानीते-नापीति ।।

यतु—पमेयत्वादिरूपेग मेंद ${ }^{1}$ भ्रुतिर्वक्तीति—तन उत्क हि खण्डने -- एकपदमुक्वा यंदवकारमादत्ते श्रुतिस्तेन सात्यन्तिकाभेद-

$$
1 \text { ๆाभे६-क. ग. }
$$

Advaita Vol. II.

## अथ एकमेवेत्यानिश्रुत्यर्थविच्चार:

नजु-यद्यपि 'सलिल एकों द्रष्टा अद्दैत' इत्यत्र सलिलशब्दस्य तत्सादृइयात्स्वच्छत्वमात्रपरत्वात् तस्य च सर्वमलासंसर्गित्वस्वरूपस्याद्दैतेऽप्युपपत्तेः 'सदेत्र सोम्येदमग्र आसी-
परा'स चाखण्डाचिदेव, किंचिद्विशिष्टस्य विवक्षितत्वे गौणाभेद एव तथा स्याद्विशिष्टकेवलयोंभ्मेदत्वेन तस्य भेदसामान्याधिरोषित्वात्। यतु-संव वसतु स्वस्मादामिन्नमित्यद्वैतवाक्यार्थः, एवं ‘नेह नाने’त्याह्यो्थोऽपि स एव; घटादिव्यक्तौ क्षणिकवादेन नानात्वप्रसेतरित्यादि —तन्न ज्रह्नाद्वैतस्यैव प्रकरणत्वात् ${ }^{1}$ उक्काभेदस्य भेदसामान्याविरोषित्वात्, भेदेभेघ्यसामान्यनिषेधेन मुरूयाभेदबोघने बाघकाभावाच्च ॥ इलद्यैतथुतेतर्बाधोद्वारः

## अथ एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः

सलिलशब्दस्य सलिख्याचकशब्दम्य। तेन तत्साद्टइयेत्यन्र तत्पदन्य प्रकान्तसलितबोषकख्वम्। स्वच्छत्वेति। त्वंपदार्थशोधकप्रकरणे जररूपमुखुयार्थस्यान्वयासंभवाद्द्प्टृदेन ब्रह्योक्षुा तत्र सपम्यन्तत्वं सलिलपदस्य कल्पयित्वा जलाधेयत्वन्व्वयकल्पनस्यायुकत्तव्वमिति भावः। एतेन-सलिलवस्व्वच्छीमूत इति वृहदारण्यकमाण्यक्यार्या न युका; लाक्षणिकत्वेडपि सरिलपपदस्य क्कीबत्वात्, 'आप एवेदमम्र आसंस्ता आपः सत्यमसृजन्ते ' त्यादिबृहदारण्यकात् 'आपो वा द्दमम्र आसन्सलिलमेनेवे ' त्यादिश्रुत्यन्तराच पकृते सलिलपदस्य सप्तम्यन्तत्वौचित्य।-च्चेति-परास्तम् ; सृष्टिवाक्ये जलन्वयसंभवेऽपि प्रकृते तदसम्भवात्।

दि' स्यत्र चाग्रपदस्य 'तदैक्षत नामरूपे ठ्याकरोदि' स्यदबेख्य कालेक्षणनामरूपात्मकग्रपंश्रम्रापकस्याविद्यकद्रैतविषयकत्वेन वास्तवाद्वैतविरोघित्वाभावः ; तथापि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि' 'त्यनेन इदंशब्दोदितस्य विश्वस्य सदभेदेन सत्वसुक्ता पुनरद्वितीयपदेन तबिषेषें ठ्याघातः, न हि 'सदासी' दित्यस्या• सदासीदित्यर्थ इति—चेक्ष; सघ्घतिरेकेण नासीदिल्यर्थस्यैव

क्नीवव्वत्यांगस्तु छान्दसत्त्रत्। सहिरुपदस्य साद्रइग्रूपसंबन्धार्थकार्शआद्यच्पत्ययन्तस्य पुंक्त्वसंभवाच्च 1 'सर्वप्रतिपदिकेम्य: किब्वकव्य' इत्यनुशासनादाचारार्थंकाकिन्तसलिलइबबन्दात्पचाद्यच्पत्ययेन पुंस्त्वसम्भवेन सलिलमिवाचरतीत्यर्थकम्य सलिल इत्यम्य सम्भवाच्च न्निरोधित्वाभाव इति । नचाद्वैतस्याप्रसत्वादिद्धैतसंबन्धासंभवरूपविरोधासंभवेडापे एकमेव सदद्विर्तागामित्यादिपदैरखण्डस्वरूपस्य बोधो विरोघिविषयताशालिद्वितीयबोधत्मको न संभवतीति -वाच्यम् ; द्वितायसंबन्घज्ञानं भति महावाक्यजन्यज्ञानस्यैन मूलोच्छेदकत्वेन विरेधित्वात्। मूलोच्छेदकज्ञान एवारोपितभावना ${ }^{1}$ नख्रीकारात्। স्राद्याभावाकारज्ञानविषया तूक्ताखण्डज्ञानं न तद्विरों日ि; द्वितीयम्य तत्वेनाभानांत्। एकरूपेण तत्रद्भावाकारकस्यैन ‘घटो न घट' इत्यादेर्विरुद्धत्वाघ्बाधितस्यापि शाब्दत्वकक्षे तस्याप्यक्वीकाराँच। सदभेढ़नेत्यादि। सद्दमेदविशिष्टपपश्च असीदित्यर्थ प्रतिपाद्येत्यर्थ:। तचिदेधे प्रपश्चनिषषे। ब्याघातः सत्त्रम्य प्रश्चे प्रतीतम्य उग्याघातः। ननु—सदभिन्नस्य सत्वमिवाद्वितीयत्वं न विरुद्धम् ; सदात्मनोगभग्रः संभवात्तत्राह— न हि सदासीदित्यादि। असदासीदित्यर्य इति। सदूवपमान्रस्य न

$$
{ }^{1} \text { भाना-क. ग. }
$$

निपेषार्थस्वात्। विवृत "चैतन्दाष्यकारादिमिरारम्भणाधिकरणे। न च-सद्यतिरेकेणात्वोक्तौ सदात्मना सत्यत्वमागच्छतीतिवाच्यम् ; आगच्छतु नाम, को हि बह्याभिनस्यासत्वसाधनाय

सत्वमुच्यते, किंतु सदभिन्नप्रप््वम्य। तथाच तन्निषघेनासत्वरूपमिच्यात्वलाभास्सत्वस्य चासीदित्यनेन लाभाद्विरोष इत्यर्थः ॥

घटादिकं स्वेत्पत्तिपूर्न मृद्वासीदित्यदौौ यथा घटाद्यमेदोपहक्षितमृदेवारीतिलित्यर्थस्तथा प्रकृतेड़ीद्यमेदोपलक्षितं सदे वात्र आसीदिति सदेवेत्यादरर्थ इत्याश़येनाह——सज्यतिरेकेणेति । सदन्यत्वरूपणेत्यर्थः। सदन्यदिति ${ }^{1}$ शेषः। निषेधार्थत्वात् सदेवेत्येवकारार्थत्वादद्वितीयादिपदार्थत्वाच्च। एवंच प्रपश्चे सत्वसंबन्धो बुध्यत एव। नेति न विरोषराका ; विशोष्यसक्ञतैवकारस्यन्ययोगव्यवच्छेदकत्वं च युक्तमिति सदन्यसामान्येड्रकालसत्वाभावो बुध्यत् इति भावः। एतत् सदेवेत्यादि वाक्यम्। आरम्भणाषिकरण इति। 'सत्वाच्च।वरस्ये' ल्यादिसूत्रेष्विति शेषः। तत्र हि प्रागुःपत्ते: कारणात्मनैव सत्वं कार्यस्य ; 'संदेव सोम्येद्मप्र आसीदि ' त्यादाविदेंशब्दगृहीतस्य कार्यक्य कारणे ${ }^{2}$ सामानाधिकरण्यादित्यादिकमुक्तम्। असत्तोक्तौ अप्रकालासत्वोक्तौ अद्वितीयादिपदै: सदन्यसामान्यस्य निषेधोकौ च। सदात्मना सदाभिन्नत्वेन। बह्नाभिन्नस्येति। ब्रह्माभिनत्वंनेति शेषः। उक्तश्रुत्येल्यादि:। तथाचे|क्तश्रुत्या सदन्यत्वेन श्रुत्यन्तरेणानुमानादिना च सदाभन्नत्वेनापि मिथ्यात्वसिद्धि: । सर्वस्य दृ्यस्य केनचिद्दूपेणोक्तश्रुत्या मिथ्यात्वसिद्धयै${ }^{3}$ वास्मदिष्टसिद्धिरिति भावः। नन्व््रकालासत्वस्याप्रकालीनानिषेधपतियोगित्वस्य वा सदन्यसामान्ये बोधेऽपी न मिश्यात्वसिद्धि: ; व्याकृत-

$$
1 \text { सदन्य इति-ग. } \quad 2 \text { कारणेन-ग. }{ }^{3} \text { सिद्धीँ-ग. }
$$

प्रपच्चस्य स्वकाले स्वसमानाषिकरणनिषेंप्रतियोगित्वासिद्देरिति - चेंक्ष; उक्तसत्व ${ }^{1}$ प्रतियोगित्वयोर्न प्रकृते घी:, किंचु ददममिन्नममे यद्वासीतित्सदेव एकमेवाद्वितीयमिल्येवमदद्देश्यविषेययावस्य विवक्षित्वात्। अम्रें सदनुवदेनाखण्डसदद्वितीयविधानेनाओेससले्वानूयमानस्याख्बण्डसदद्विती यम्यैव। तथाचावान्तरतात्पर्येणाद्वितीयादिपदैःः सदन्यसामान्यमिथ्याा्वबोषो न ब्याह्तः ; सदन्यनिषेषेडद्वितीयपदेन बोध्यमानेऽयकाताननन्वयात्, यदमे इदममिन्नमार्सीदिलेव काहान्वयात्। इलं च सद्यतिरेकेण नासीदिलेत्यसैयेव निषेषार्थ्ववादिल्यन्र मूलकाक्येडापे यदासनित्सदन्यन्नेल्यस्य सदेवसीदिदेलेतद्धत्वात् तस्सदन्चशून्यमित्यस्याद्वितीयादिपदार्यव्वादिल्यर्थः। एवंचाप्र आसीदिदामिति पदानि न व्यर्थानि। अम्रेऽसदेव कार्यस्य ₹वरूपमिति शून्यवादन्य निरासाय तेषामनुवादल्वास्सद्देकमेवाद्वितायमित्युक्ते तच्च्रवणमानेण मूदानां ठ्युप्पायानां सन् घट इल्यादि प्रस्यक्ष${ }^{3}$ विरोध्रमेण ठ्यामोहातन्विरासार्थमवान्तरताल्पर्यविषये द्वितीयाभवेऽनन्वितार्थकस्भम्मह इं्यादे रुक्तंबात्। न चैवमापि द्वितीयाभावस्य व्याव्यतृतित्वालाभान्न मिध्यात्वसिद्दिरिति -वाच्चम् ; सदूपेपे पतीतस्य तस्य परिच्छेदकाकाब्क्षायां संकोचकाभावादेव सर्वकालस्थैव परिच्छेदकतया कल्पनात् .। एवकारस्यावृत्या द्वितीयाभानायोगव्यवच्छेदवोधकरवेन यदा यदा सद्रूपं तदा द्वितीयाभाव इति व्यापकत्वल्याभाद्वा विशेण्यतावच्छेदकविशिष्टस्यैकन्यक्तिमात्रत्वे यत्र यत्र विशेष्यतावच्छेक्कं तः तत्रायंगव्यचच्छेद इति दैरिकव्याप कत्वधियो वैच्यर्थ्यात्। अन्याकृतनामरूपावसैथैवाप्रशब्देन कालरूपाभिषीयत इति कालन्नरस्य तदानीममावेजपी न क्षतिः । यदि च इदमिति सामानाधिकरणं बाधायाम्, अप असीदिति च न विवक्षित-

[^158]प्रवृत्तो यो विभीयात्। अंद्य तवाक्यन्य च षड्विधतात्पर्यलिकवत्तया बलव्व्शेनाविद्यकद्धैत्र्रतिपादकत्वं सृष्ट्यादिवाक्यानामिति श्रवणस्वरूपनिरूपणे वेदान्तकल्पलतिकायामभिहितमस्माभिः । इहाप्यमिधास्यते घड्विधतात्पर्यलिड्दानि प्रदर्शयन्निः । अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानग्रतिज्ञयोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा तश्वमसी' त्युपसंहाराचाँतस्यैव महाप्राकरणणकतया तदनुसारेण तदाक्यस्थपदानां ठ्याख्येयत्वावमिति न कालसंसर्गधी:, तथाचाखण्डसढ़ेव सदेवें्यादेरर्थ इत्यैतरेयकभाष्यरीतिराश्रीयते तदा नाग्रादिपदप्रयुक्ताशक्षेति ध्येयम् ॥।

ननु--अतातिका ${ }^{1}$ द्वैतमद्वै तवाक्यस्य तात्विकद्धैतं द्वैतवाक्यस्यार्थोडस्तु ; स्वतः प्रांमाण्याविशोषात्, द्वैतवाक्यमध्यस्थाद्वैतवाक्यस्योपांगुयाजवाक्यमध्यस्थविष्णवादिवाक्यवत्त्तुत्यादिपरतया नेतुं शाक्यत्वाचेत्यत आह——अद्वैतवाक्यस्येत्यादि । आविद्यकेति । फलवत्सन्निषावफलं तदक्ञामति न्यायेन द्वैतवाक्यानामद्वैतवाक्यशेषत्वा्चदनुसारेण कारणव्यतिरेकेण कार्य नास्तीत्यादिज्ञापनद्वाराडद्वैतब्रद्मण्येव सृष्टयादिवाक्यानां तावर्पय् । तदुक्तं शारीरकसंक्षेपेअसयैव तत्वविनिवेद्नशाक्तिभाज: संसारमूलविनिवृृतिफलम्पसूतौ। सामर्थ्यमक्ति पट्रुमः परिबंहितत्वाद्वेदान्तभूमिगतपश्चविधर्थधनदैद्य सृष्टिस्थितिप्रलयंयमनपवेशाव्यापारजातकथनच्छलत: प्रवृतैः ।
सानुम्रहादवगतिः खल్ुु तत्वमादेवाक्यात्परस्य घटते न ततोऽपरस्मात्॥ इति ॥

$$
1 \text { ताविका-क. ग. }
$$

घारणाती । नानार्थपदानामर्थन्तरोपस्थापकतवसंभवेऽपि प्रकृतवाक्यार्थानन्वयितया तत्परित्यागेन पक्ठतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितिपरत्वमेवास्थेयम् 1 तत्र न द्वितीयमद्वितीयमिति तर्षुरुषाम्युपगमे न द्वितीयम्, कितु प्रथमं ततीयं चेत्यर्थः स्यात्, स च न संभवति; तयोराप किंचिद्पेक्ष्य द्वितीयत्वात्, अतो न विद्यते द्वितियं यत्रेति बहुत्रीहिरेवांदरणीयः। न च एकैनैवाव्वितीयपदेन भेदत्र्यनिषेधसंभने एकाव-धारणपद्योरैंय्यर्यमिति-वाच्यम्; विजातीयं किचिदेपक्ष्य द्वितीयत्वावच्छिछनिषे धस्याद्वितीयशब्द्वार्थत्वात् । अयं चात्र संकोचो बलीवर्दपददस्निधानाद्गोपद इव सजातियस्वगतभेदनिषेधकैकावधारणपदसभ्निधिग्रयुक्त एव। तदुक्तम्-

वृक्षस्य खगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिनिः।
चृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥ तथा सव्वस्तुनो भेद़त्रयं प्राषं निवार्यते ।
एकावधारण教ग्रतिषेधैख्निभि: क्रमात् ॥ इति ।
अपरम्मात् अस्थूलमित्यादितः। पदानां अद्वितीयादिपदानाम् । प्रक्ठतेति। एकमे वाद्वितीयमित्येतदित्यर्थः। वाक्यार्थेति। अखण्डव्रह्मरूपेत्यर्थः। प्रथमादि त्वम्, कि त्वसंभवादपि निरास इत्याह-तत्रेत्यादि । द्वितीयत्वादिति। तयेः प्रथमत्वादिना नाद्वितीयपदबेध्यता किंतु द्वितीयभिन्नत्वेन सा च न संभवति ; द्वितीयत्वादिति भावः। भेदत्र्येति। भेदभेद्यमात्रस्य द्वितीयत्वादद्वितीयपदेन हृइयमात्रनिषेधसंभव इति भावः। अपेक्ष्येति। विजातीयद्वितीयत्वावच्छिन्नपतियोगिताकनिषेघोरर्थ इति भावः। संकोचः द्वितीयपदस्य विजाती।यद्वितीययवत्वम् । एकावधारणद्वैतभ्रतिषेधैरिति।

सगतमेदो नानात्वरूपजीवेश्वरमेदः। सजातीयमेदोडत्र द्रव्यत्वादिना सजातीयपृथिव्यादिभेदः । विजातीयभेदो गुणादिभेदः 1 अथवा जडमेदो विजातीयभेदः 1 चैतन्यभेद:

एकपदेन एवकारेण द्वैतार्थकद्वितीयपद्युक्तेन प्रतिषदार्थकनजा चेत्यर्थ: 1 अन्र द्वितीयपदक्य विजातीयद्वितीयलक्षणया तच्छून्यबोषादर्थात्ताहृशाद्वितीयस्य भेदो निषिध्यते । 'आत्मा वा इदमेक एवाप्र असीन्नान्यर्तिकचन मिषदि 'त्यत्र घातूनामनेकार्थत्वात्, मिषदिति आसीदित्यर्थ ${ }^{1}$ मित्यैतरेयभाष्ये ठ्यारुयानात्तेदेकवाक्यतया प्रकृते द्वितीयपदस्यान्यार्थकत्वात् । लक्षणावइयकत्वे दित्वसक्कयापूरकत्वादित्यागेनात्मान्यविजातीयत्वेन लक्षणाया एव युक्तत्वात्ताद्टशत्वेन निषेषे बाधकाभावादविनिगम्यत्वाच । विशोप्यस्य भेदद्येव विशेषणस्य भेदस्यापि शाब्द एव वा निषेघः । एकपदस्य केवलार्थकत्वेन कैवल्यस्ग च स्वान्यहून्यत्वरूपतया प्रकृते संकोचेन जीवेश्वरादिरुपस्वान्यमून्यबोधकत्वोद्रदनिनेघबोधकत्वम् । एवकारस्याप्यन्यतादात्यव्यवच्छेदबोधकत्वेऽपि प्रकृते पृथिठ्यादि रुपसजातीयस्वान्यतादास्म्यशून्यत्वबोधक. त्वेन विशेषणीमूतानां सजातीयतद्नतभेदानामुक्तरीत्या निषेधबोधकत्वम्। एवंच भेदत्र्यस्य पदत्रयेण निषेधोक्कित्रह्मभिन्नसामान्यमिध्यात्वे प्रकृतश्रुते: ${ }^{2}$ पर्यवसानोक्तिश्र न व्याहता। यदि च भेदत्रयमात्रस्य प्रक्टते शाबदो निषेधो मेद्यानां त्वार्थ इल्युच्यते, तदा द्वितीयाभाने श्रुतेरवान्तरतात्पर्यस त्ञतावपि भेदमात्रपरतया सक्षोचे मानाभावः। विजा११यादिभेघानामपि द्वितीयादिशब्दैबेधधनसंभवदितिति ध्येयम् ॥

ननु—पृथिठ्यादि न सजातीयम् ; शुद्रव्नद्मणो द्रव्यत्वाद्यनः्रीकारपक्षे तदसंभवादित्यत्राह—अथवेति । चैतन्यभेद् इति।

[^159]सजातीयमेदः। ज्ञानानन्दादिधर्मभेदः खगतभेदः । यदि च 'अस्य गोर्दितीयोडन्वेष्टठ्य इत्युक्त गैरेव द्रितीयोऽन्विष्यते नाश्रो न गर्दम' इति महाभाष्यानुसारात्समानजातीयद्वितीयपरत्वं द्वितीयशाब्द्स्य, तदा अद्वितीयशब्द्स्य सजातीयभेदनिेषेपरत्वम् ; विजातीयस्वगतभेदनिषेधपरत्वं तु एकाव-

स्वमिन्नत्व सति चिदात्मकत्वं साजात्यं जीवादौः वर्तत इति तकिष्ठभेदः सजारीयभेद:, स च स्वस्मिन्नपि प्रसक्तः, स्वस्य सर्वानुगतत्वादिति भावः । स्रगतभेद इति । ज्ञानानन्दादौ स्वरूपे ज्रद्सर्मत्वस्य कस्पितत्वाच्वद्वतमेद: स्वगत इति भावः । ठ्यावर्तकपदान्तरयुक्तस्य यद्धर्मविशिष्टवाचकपद्ग्य सन्निहितं द्वितीयपदं तद्धर्मविशिष्टं द्वितीयमभिधते । तथाचास्य गोर्द्दितीय इत्यादौ ठ्यावर्तकेनास्येति पदेन -युक्तस्य गोपदस्य सन्निहितेन द्वितीयपदेन गोरूपद्वितीयनोधनेऽपि प्रकृते ठ्यावर्तकपदान्तराभावान्न सजातीयद्वितीयबोधकत्वम् । अतएव ' द्वितीयगामी न हि शब्द ${ }^{1}$ एष नः' इल्यादौ द्वितीयसामान्यपरत्वम्। सजातीयव्यक्तघन्तराभावादपि तस्य न सजातीयपरत्वम्। यद्भर्मविशिष्टविषयकबोधे तात्पर्य तद्धर्मैणैव हि साजात्यं वाच्यम्; न चात्र किंचिद्रर्मविशिष्टतात्पर्यंक सत्पद़मित्याइयेनेन यदि चेत्यनेनाम्बारस्यं सूचितम्। जीवेशादेरिव प्रपश्चस्यापि कल्पितं चिदात्मकत्वमाद्याय सजातीयत्वसंभवः। चित्त्वरूपत्वं तु न; जीवादेरदप्युपहितादिरूपेण मिथ्यात्वात्, ज्ञानानन्दादेरापि सजातीयत्वम्; कल्पितभेदचिदात्मकत्वयोः सत्वात्, तथाच सजातीयनिष्ठमेदेपवहितरूपेण ज्ञानानन्दादेर्जडानां च निषेषसंभवाद्रूपान्तरेण स व्यर्थः। किंच सजातीयस्वान्यत्वादिना पदत्रयस्य लक्षणणन वाच्या ; द्वितीयगामीत्यादौ खवान्यत्वेन लघुरूपेणाप्याजानिक-

धारणपदयोयेयेंट्टं व्यारुयेयम्। अथवा क्रितीयपदेनैनैव भेदत्रयनिषेघः, एकावधारणपदे तु सक्षेचशक्कापरिहाराय। यत्तु केन-चित्प्र्रपितम्-क्वितीयशब्दः सहायवाची; 'असिदि्तितोयोजनुससार पाण्डनमिति प्रयोगाप्, असिसित्तियः असिसहायः' इति महाभाष्योक्तेश्य; तथाचाद्वितीयमसहायमित्यर्योडस्तु । एवमेकशब्दस्यापि नानार्थत्वेनाविरद्धार्थमादायोपपत्तौ न मिथ्यात्वपर्यवसायिताडडन्थेया। तथा च-'एके मुख्यान्यकेवला' इल्यमरः, एकशब्दोड्यमन्यप्रधानासहायसंख्याप्रथमसमानवारीति 'एको गोत्र' इति स्बूत्रे कैयटः। 'ब्णान्ता
प्रयोगाताह्दगगुरुूपेण श्रकचसंभवात् । तथाच पदत्त्यरक्षणापेक्षया मुस्यवृत्यं स्वान्यत्वेन द्वितीयपदाद्योष:, पदान्तरं तु तदसक्षोचतात्रयकमिति युक्तम्। न च पदान्तरादेव तेन रूपण बोघोस्तु, द्वितीयपदं. डु तदस्क्षोचतात्रर्यकमिति किं न स्यदिति--वाच्यम् ; तथा सत्यक्षरच्रयात्मकद्धितीयपदनब्पदयोः च्वार्थयर्वाभावकल्पनापातात्। एकादिपदानां मुख्यसंब तु न विनिगमकं 'विपतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्वा्सघर्मत्वमि'ति न्यायेन बहुषु मुर्व्यवृत्त्यवाधस्योचितत्वात् । अद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मीत्यादिश्रत्यन्त्रेष्वद्वयपदस्या१ि मुरूयत्वा-बेत्याशयेनाह-अथवा द्वितीयेति। अन्प्रधानेत्यादि। 'प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका' इल्यादावन्यार्थ:, 'एकपुुषो धनुष्मा' नित्यादौ प्रषानार्थ:, 'एकहल्मध्येडनादेशादे ' रित्यादावसहायार्य:, 'एको दूवित्यादौ सर्ल्ययार्थः, 'एकेऽल्पपाणा' इत्यादौ प्रमार्थ:, अल्पप्राणा लसुपयबनोच्चारणीया वर्णाः। 'तैंनैकदिं'गित्यादौ समानार्थ:, 'एतावेकधना' विल्यादौ साघारणार्योडपी' 'ति पदमझ्ञरी। ष्णान्तेत्यादि। अष्टानामिल्यत्र 'अष्टन आ विभक्रा' किल्यात्वे कृते नान्त-

षडि'ति सूत्रे महाभाप्यकारोऽपि एकराब्दोऽयं बह़र्थ:, अस्तिसंखुयार्थ:, असत्यसहायवाची, असत्यन्यार्थ इत्यादि व्याखुयातवान् । तथाच जीवादिभ्योडन्यत्वं प्राधान्यं वा एकसब्दाल्वाभावात् षट्स्संज्ञा न स्याततक्र ' बट्चतुर्म्येक्षे' ति नुडपि न स्यादित्याशब्य बट्स्संज्ञायामुपदेशवचनं शताघष्टनार्थमिति समाधाय, अथवा

 खब्दोडयं नानर्थ इल्यायुक्ता योड्याए्रे बर्तते तस्यैवायं पयोगतइति समाहितम् । प्राधान्यं वेति । यद्यपि भाथम्यादि${ }^{2}$ कमाव तदर्थः परेणाशक्फितम्, तथापि सर्षकार्यमूलकारणत्वेनोंक्तैनैव तल्खाभात् अविद्याहृ्टादिसहायापेक्षल्वेनासहायत्वासंभवात् अद्वितीयय्वविरोंधन सस़्या घसंभवादेकवचनेनैव प्राििसंभवाच सर्वहीलाविमहाणां नाना विधतत्रकार्यकारित्वेन कार्यतः साम्यासंभबात्। सर्वशरीराबच्छिनेशठ्यक्तेकेकल्नैनैव गुणतः सम्याभावात् तद्विन्त्वे सति तर्रुणजातीयगुणवत्वस्यैव गुणतः साम्यत्वात् असहागत्वं कैवश्यम्, तर्कैकहश्मध्य इल्यदौौ संत्रोचकपमाणवशाद्बकन्तरायुक्तत्वादिरुपम् । पकृते सो्योचकाभावात्त्वान्यसामन्यशून्यत्वेमेवेति तदर्थकमेकपदमस्मदिष्ट्य । प्राथम्यं तु प्राषन्यमेव। ‘तेनैकदिगि’ति सूत्रेषु घुदाक्षा पर्वतेन सहैका समाना दिगस्या इति सौदामनत्रुत्युत्रा समानार्थकत्वकल्पनं तु न युक्तम्; एकजातीयत्वेन समाने गौणपयोगसंभवात्। एकषनाविल्यत्राण्येकजातीयययेष्टविनियोगाहेवेन गौणमयोगः। तथाच सुदान्तः सदशरिक्सौदामनी घुदामाइयपर्वतयुक्तदिक्सहशदिम्युत्तेति यावत् । चैत्रैमौन्रौ सहछाषनौ चैत्रो मैन्रीययेष्टविनियोगाहघने यथेट्टं विनियोक्केति यावत्। अत एवामरः प्रथमाधर्थ नोक्तवनिल्यतथ्थान्यलं

$$
\text { . }{ }^{1} \text { नकारआकाकारन्ता-ब्ब. ग. }{ }^{2} \text { प्राधान्यादि-ग. }
$$

र्थोडस्तु। एवमन्यान्यपि श्रुतिपदानि ठ्याखगेयानीति, तत्पूवोक्तयुत्तिभिरपास्तम्। विस्तरेण च छक्ष्पते तात्पर्यनिस्पपे।


प्राधान्यं चेति द्वयमेवाचार्येरुक्तम् । तटुभयमपि यद्यप्यद्वितीयपदविरुद्धत्वेन सछ्खूयतुल्यं, तथाप्येकवचनात्सा प्राप्षा। तत्तु स्रष्टृत्वादिना प्रा्तमपि न शब्दा|दित्यतः सा नोक्तेति ध्येयम्। एवमन्यानीति। 'नेह् नाने' ल्यादी़िनि अद्मणः प्रपश्चे पृथग्मावनिषेधकानि। अथवा 'महान्तं विभुमि' ल्यादिनोक्तानां धर्मादीनां नानात्वेंन निषेष: । श्रद्मणि विभुत्वादिरूपं धर्मादिक नानासन्नास्तीत्यर्थ: ${ }^{1}$ । पूर्वोक्तेति। अद्वैतन्रक्सणः प्राकरणिकतया तदनुसारेण नानाभूतस्य क्रिंचनेति पदोपस्थापितदृइयमात्रस्य निषौधैचित्यात्, अन्यथा विभुत्वादिधर्मादीनां निषेधे किंचनेल्यस्य संकोचापतेत्। । नानापदोक्तस्य पार्थक्यस्य निषेधे श्रह्सण्येव पार्थक्यनिषेधाद्रह्म नाना न किंत्वेकमित्यर्थ: स्यान्नतु प्रपश्चो न न्नद्मणः पृथगित्यर्थः। त्रह्मण्युक्तनिषेधन्तु ‘यद्वेंवेह तदमुत्रे’ त्यादिपूर्ववाक्ये कठवल्यां सिद्ध एव ॥

अथ—यदेवेत्याद्युक्तमपश्चमात्रं । नेह नानेत्यन्रत्येहपदेनोच्यत इति तत्र य इह नानेवेत्यत्रत्येहराब्दे|क्तव्रह्मण: पार्थक्यं निषिध्यत इति—चेन्न ; पूर्वोक्तेहशब्दसमानार्थकत्वे इहशब्दो हि न प्रपश्चमात्रं बदे़ित्यमुन्रेत्यव्युच्येत, य इहेत्यत्रत्येन. च इहशब्देन पार्थक्यवतियोगितया न ज्रह्सेपस्स्थतिसंभव इति, प्रतियोगिविशेषानुपाद।नात्पार्थक्यसामान्यस्य प्रपश्चे निषेधेऽस्मदिष्टसिद्धि:, किंच नेति पदैवैय्यर्थ्य च। अथगुणगुण्याद्यवयवावगवीत्यादिप्रयुत्कं यद्रह्मणः प्रपश्चे पार्थक्यं तन्नानाविषं किमपि नास्तीत्यर्थेन तत्सार्थक्यमिति—चेन्न; 'नानाविष्णुं मोक्षदो

[^160]नान्यदेव' इत्यादिप्रयोगेषु वार्थक्यार्थकस्य नानाशब्दस्य विनाशब्दवन्विपतत्वेन स्वार्धिकनज्भ्थल्ययन्तनज्न्न्ररूपल्वेन ‘विनक्क्या’ मिल्यादिसूत्रे महाभाव्याद्युक्तवेन च तत्र किंचनेति नामार्थस्यामेदान्वयस्वा? व्युपत्त्त्वात्। न हि विष्णुं किंचन विना देव इति घटं किंचन विना पट इति च प्रयुक्षते। यतु-विभुत्वादेः क्रकृत्वात् 'एवं धर्मान् पृथซ्पइयन्' इल्यादिवाक्योेषाच किंचनेति विभुत्वादिधर्मशरीरादि'-परमिति-ंतन्न;
' यथेदकं हुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विभावति ॥
एवं धर्मान् पृथॠ्झयंस्तानेवानुविघावति॥
यथोदकं शुद्दे शुद्धमासिक्कं ताहगेव भवति ॥
एवं मुन्नेर्विजानत आहमा भवती’ति वाक्ये-

 द्छसमात्रार्थकत्वात्, पूर्व 'पराचः कामाननुयन्ति,' जुवसमघुवेकु,' 'स्वमान्तं जागरितन्तं च,' 'मूतेभिर्यर्यजायते 'ति हइयमात्रस्य मक्कतत्वात् ‘ईरानो भूतभम्यस्ये'ति पर्राव्युक्तव्वात्, 'तदु नाल्येति कश्बने'ति पूर्वोकर्किग़ब्दोपात्तस्य तस्व किंचनेत्यनेन भहणौचिंल्यात् ।
 वक्ष्यमाणे प्रपश्चनिषेधे सत्यप्यन्यत्र पक्श्चसत्वशक्षां निरस्य एतद्दै तदिति पूर्ई ईशानो भूतभष्यस्येति पश्चाच सन्निहित बह्ल छहेलनूब, किचनेत्येनेनोक्रस्य हछयमाः्रस्य निंघःः । नानेति नञ्शब्द्रकृतिक भेदरूपपार्थक्यार्थकम् ; मेदे च च्रतियोगिलं निषेषाधिकरणल्बेनोपस्थितस्यैव न तु निषध्यस्य्यसंभवादिति त्रह्नमिन्नं किमपि त्रह्नणि नास्तीतिकठवल्झीवाकार्थः। एवं बृृद्वरण्यकादिस्यले इह ${ }^{2}$ नानेल्यत्रापि बोध्यम्।

$$
1 \text { रारीरत्वादि- ग. } 2 \text { स्थनेह-ग. }
$$

यदेवेढेत्यादौ इह जीवोषाधावमुत्र ईध्रोपाधौ यदे़ेवासुत्र ईभ्रोपाषावपि तदेव नानेव स्वल्पभेदमपि 'इवोपमायां स्वल्पत्वे' इत्यमरात्, इदगुक्तं जीवन्नसैक्यम्, मनसा आगमाचार्योक्तिसंस्कृतेन। एकत्वोपयोगिपदार्थ शुद्धिमाह—नेह नानेति । इह उत्कोपाधिसंबन्षे चैतन्ये इति भाष्यानुसारिययारुगानमविरुद्धम्। ननु —नानाशब्दस्य भिन्नार्थकत्वेऽपि 'न जीर्णमकवद्वासाः स्रातकः स्या'दित्यादाविव विशेषणस्य नानात्वस्य निषेषोऽस्तु 'विशेष्यं नाभिषा गच्छेत् क्षीणशर्किर्विशेषणे' इल्युक्तेरिति-चेन्न ; अपापत्ते विधेरिव बाधकाभावे निषेषस्यापि विझोष्ये संभावाद्विनिगमकाभावाच क्षीणशक्तित्वाभावात् । अन्यथा विशिष्टविधिनिषेषयोरुच्छेदापतेः बाषकाभावध्योक्त एव। दृ्टान्तेतु वासोनिषेधे नमतानिषेध एव बाधक: 1 किंच भेद्रतूपस्य विशोषणस्य निषेषोऽपि त्वद्वनिष्ट:। न हि त्वया त्रद्सप्रपश्चयोरत्यन्तामेद:स्वीक्रियते। त्वदस्तीकृतो विशोषाडपि भेदस्यैव नामान्तरम् ॥।

यु़ नेह नानास्तीत्यस्य ब्रह्सणि विनामूतं किमपि नास्तीत्यर्थ:; ‘विनज्म्यां नानाऔ न सह’ इति सूत्रेण न सहेत्यर्थकाम्यां नानाओोर्विजनात्, तथाचाविनामूत ${ }^{1}$ सर्वे तत्रास्तीति ऊम्येते। न हि वह्दिं विना धूमो नास्तत्युक्ते धूममिथ्यात्तं लम्यत इति तन ; ' पृथविनान्तरेणर्ते हिरु्दाना च वर्जने' इत्यमरोक्तेर्वजनं विनाशाब्दार्थ: । तच नर्ञथस्यात्यन्तामावम्य भेदस्य वाधिकरणसंबन्ष: वड्हिं विना धूम इत्यादौ वड्डयत्यन्ताभाववस्संबन्धः। नीलं विना तेजोरूपवत्, विना बायु: स्वरूपं विना किमपि नास्तीत्यादौ, नीलाबिभिचतदास्म्यं प्रतीयते, नानाशब्दस्य तु भिन्नसंबन्ध एवार्थः। तत्रापि भेबंशामात्रं शक्यम्, अषिकरणसंबन्धस्त्वषिकरणनिष्ठसंबन्धरूपो विझे-

[^161]एकमंवेल्यादिंश्रुल्यर्थविचार:
षणतात्वादिरूपेण वाक्यार्थः।' अन्यथा नन्पदस्य तत्र शक्रयभावेन नानाज्प्रत्यययोः स्वार्थकत्वेन भाष्यादावुक्तत्वेन च नानापदार्थंविषया तल्राभासंभवात्। नानाविष्णुं मोक्षदो नेत्यदावपि मोक्षदो विष्णुमिब्नों नेत्यर्थः। उक्तसूत्रस्याव्यंत्रैव तात्पर्य, उक्तामरोक्तिमात्रेण नानाशब्दस्य विनाइब्दसमानार्थकत्वे पृथक्छब्दस्यापि तदापत्तेः। मन्मते त्वभाववस्संबन्धस्व वर्जनशब्देनोक्तत्वात् । पृथक्षदस्य तहोंघकत्वेप्युक्तरीत्या मिन्नत्वरूपेण पृथक्तागुण ${ }^{1}$ रूपेण वाऽमाववच्छक्यम् । विनाशब्दार्थ प्रयोगाभावस्तु नानाशब्देडपि तुल्यः; तस्य तथा प्रयोगसत्वेडपि विनाइब्दस्येव भिन्नतादात्य्यार्थकत्वस्यापि संभवात् भिन्नात्मकं किमपि नास्तीत्यर्थ बाधकाभावात् । ननु—्रह्सणि निषिद्धमपि द्रइयमन्यत्र सत्वसंभवान्न मिथ्या ; 'यस्मिन्धौः पृथिवी' त्यादिना त्रद्साण प्राप्तस्य तत्र निषिद्धत्वेन मिथ्यात्वेक्त्या तु तस्यैव शास्यस्य निरोध इतितन्न ${ }^{2}$ कारणत्वान्यथानुपपत्तिप्राप्तव्रद्ससंबन्धस्योक्तरासेणानुवादाद्दूर्मादि शासस्येव तच्छास्सस्यापि निषेषशास्सेण बाध्यत्वाच। ननु-सर्वद्धइयानां घ्रझ्सण: रारीरत्वेन विशोषणत्वाद्विशिष्टं ब्रहाद्वितीयमित्यद्यैतश्रुत्यर्थः। अविम।न $न^{3}$ मद्द्वैतमुपासनार्थ वैराग्यार्थ बोक्षामिति बेति-चेन्न ; एकमेवाद्वितीयमित्याददे: गुद्धव्नद्नप्रकरणस्थत्वात् विशिष्टाद्वैतस्याशब्दार्थत्ञात् 'तमेव विदित्वेत्यादिश्रुत्या शुद्यस्यैव ज्ञेयत्वेनोक्तत्वात् इहेत्यदेरपि डुद्धन्रसबोषकख्वात् उपासनादेरश्रूयर्माणत्वाच्च । अथाद्वितीयशब्देन दृइयमात्रनिषेष इत्ययुक्तम् ${ }^{5}$; 'आत्मा वा इदमेक एवाप्र आसीन्नान्यत्किचन मिष' दित्यादौ टृरयस्य मिषत्वेन निषेषादत्रापि तथा वाच्यत्वात् ‘छागो वा मझ्रवर्णा, दितिन्यायात्प्धादिसामान्यशबदस्य विशेषपरत्वत्। किंच द्वितीयशब्द: समद्वितीये व्युत्पन्न इति न तस्य तद${ }^{1}$ पृथन्तू-ग. 2 चेन्न-ग. ${ }^{3}$ अवियमान-क. ग. ${ }^{4}$ कालिति--चेल-ग. ${ }^{5}$ इत्युक्तम्-ग.

र्थत्वे सक्षोचः। 'एक एवाद्वितीयोसाइभ्वमेषे कतुष्वपीत्या ${ }^{1}$ दिस्मृतौ लोके च तथा प्रयोगेवि ' 'एक एवाद्वितीयो भगवांस्तत्सद्टशः परो नास्तीिति श्रुते:

ज्ञानानन्दाध्याभिन्नत्वादेक: सर्वोचमत्वतः।
अद्वितीयो महाविष्णु: पूर्णत्वात्पुरुष: स्मृतः।
भेदाॅ्मेदनिवृत्यर्थमेवशब्दोडडवषारकः।
इति स्मृत्युक्तव्याख्यानमपि तत्र मानमिति-चेन्न। आत्मा वेत्यादौ घातूनामनेकार्थत्वात् Гमषदित्यस्यासीदित्यर्थ इति भाष्ये ठयारूयानात् अद्वितीय इति पदोपसंहारस्य मिषदित्यम्योन्मिषदित्यर्थकतया व्याकृतं किंचनान्यदम्रे नासीदित्यर्थस्य च सम्भवेनाविरोधाच। अत एवासदेवेदमम्र आसी' दिति श्रुत्यन्तरे ' असद्यपदेशा' दित्यादिसूत्रे उयाकृतमेवासीदित्यर्थ उक्तः। द्वितीयशब्दस्य तु सक्षोचेनैव सजातीयान्यबोधकव्वोपपत्तौ तन्र पृथर्युत्पत्तिकल्पने मानाभावः। सजातीये सक्कोचोडपि यत्र किंचित्रकारेण बोधे स्वतन्र्रतात्पर्य साधारणधर्मोपादानं वा तन्रैव, यथा 'अयं राजा अद्वितीयः ' ‘अश्वमेघेडद्वितीयः' इत्यादौ, प्रकृते तु न तथेति तत्र मानाभावः। सर्वोचमत्वादेरद्धितीय इति स्मार्तः ग्रार्यानं त्वविरुद्धम्; अथवा जउभेद इंत्याद्युक्तकक्षे सर्वजडाधिष्ठानत्वस्यै व सर्वोच्चमत्वरूपत्वात् भेद्दाभेदानिवृत्विशब्देन ब्रसमेदाभेदयुक्तजीवेश्वरादिनिषेघस्योक्तत्वात् विशिष्टकेशलयोर्मिन्नसताकमेन्दभेद्ययो: स्वीकारात्। उकस्मार्तव्यार्यानाद्येकददादेरन्याह्धर्थकत्वमपान्तम्। यतु—नानाशब्दस्यानेकवाचकत्वाद्रावप्रघानत्वादनेकत्वमर्थ:, तथा च अझ्मण्यनेकल्बं नेति नानेत्यस्यार्थ इति, तल्डक्षणापत्त्या एकवचनप्रापत्वस्म््मवादिना च निरसतं ज्ञेयम्। अनेकाश्रये ब्रह्मण्यनेकनिषेषे चानेकमिश्यात्वं सिद्धमेवेत्यास्तां विस्तरः ॥

$$
1 \text { ¹ वश्वमेधक्कतुष्वपीया-ग. } 2 \text { प्रयोगोडापे-ग. }
$$



- एवमन्या अपीति। ' यत्र त्वक्य सर्वमात्मैबामू ' दिति श्रुतिरापे सर्विमिय्यांबे मानम् ; अғ्य प्रमातुः यत्र तव्वदर्श्शकाले सर्वाभेदोपषलक्षित आत्मैवामूत् आत्मन्यन्नाभूदित्यर्थात्पमातृस्वरूप आत्मान्यसंबन्धिन्याहमान्याभाइसंबन्धलाभात्। अथवा सर्वमाहमेति बाधावां सामानाधिकरण्यम् ; तभाच सर्वाभावोपलक्षित आट्मा यन्राभूदिट्यर्धः। सर्ववदस्वाद्मान्यसर्वपरखेनेनासक्षेचलाभार्थमेवकारः। तथानोक्तोपलक्षेताखण्डा्मार्धकस्यावान्तरताइपर्येणाइममि तदन्यसर्वाभावबोधनान्मिध्या₹ववर्यवसायित्वम् । यन्किम् सर्वाणण भूतन्वात्मैवामूद्दिजांतत’
 सैन्धवस्वउस्य समुद्र द्व विज्ञानघनғ्य जीवस्य घक्षाणि स्थिथितिमोक्षो न लैक्यमिति सिद्धान्त उक्तः। न ब्नत्र समुद्रो जल्राश्रः किंतु जलखातो वरुणा वा ; पूर्र्वाक्ये सर्वासामपां समुद्र एकायनमिल्युके:, नचायमेवा'ापायनम्, नचेक्धर्स्थानीयाग्थां खातवरुणाम्यां सैन्धฐखिल्यन्य जीवस्थानीयम्यामेद ; न च"वाभिल्येनेनोक्तानां मुक्तभथानायनामपां च${ }^{3} स म ु द ् द ज ल म ् थ ा न ी य ा ~ ब ह व ो ~ म ु क ् त ा ~ ए क म ् व म ा व ा ः, ~ व र ु ण-~$
 वा अरेड्यमात्ममुच्छितिधर्मा' इल्यन्राविनाइीव्यनेनात्मनाशो मोक्ष
AdVirte Vol. II.

इति बौद्दमतं अनुच्छितिषर्षेल्येनेनाऐोष'गुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकमतं च निरस्य, 'यत्र है ह्टैत' मिल्यादिना हैले सति रूपादेरीशस्य चेस्टस्य ज्ञातसंभव इत्युक्वा, यक्रत्वस्ये' व्यादिनाडद्दैतमते तदसंभव उक्तः 1 प्रहतशुरुतेद्दैतमतपरते नास्त्युच्छितिर्येषां तेड्नुच्चितयस्ताह्रा धर्मा यस्यासावनुच्छितिषर्मेव्यर्शे विरोधादनुच्छितिधर्मे यस्येय्यर्थे अविनाइत्यत्यनेन पौनरुक्तम्,
 त्राहमनः सर्वे वेदे ' त्यत्राहननः सर्वाघारब्नोक्तिः, यथा दुन्दुभेरित्यादि यथार्देद्यामेशेरिय्यादिदृष्न्ताश्वासक्रताः । न हि दुन्दुम्यादो तचक्छब्दादिरध्यस्त:, किंतु तन्निमितक इति—चेन्न। यथा सैन्घेतेति वाक्ये असैक्यं मोक्ष इन्यस्पैव सिद्धान्तस्योंक्तत्वात्, यथा सर्वासामपामित्यादौ प्राकृतलयदृष्तन्तपरवाक्ये समुद्रपदद्य जल जामान्यपरत्वेन सैन्घववाक्येडपि तथात्वात्, सैन्धवाखिल्य उदके प्रास्त इल्येव श्रुतिपाठात्समुद्रपदस्पैव पक्रते विरहाच। न च—पूर्व मुक्तानां ${ }^{3}$ अद्सणि स्थितौ सर्वासामपामित्यादिना दृष्तन्तयोक्तंवा|दिदार्नं मुक्तस्य ${ }^{4}$ घ्नाणि स्थितौ दृषान्तपरे सैन्धववाक्ये प्युद्यकपदं समुद्रपद्देन वूर्बोंकार्थकमितिवाच्यम् ; सर्वासामिल्यादौ प्राकृतलये सैन्घववाक्ये ज्ञानपयुक्तरये दृ्टान्तोक्या तयोरेकार्थकत्वानावई्यकत्वात् ॥
"यथा नघः स्यन्दमानास्समुद्रेऽन्तं गचछछन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विप्रक्तः परावृरं पुरुपनुपैति"
हति श्रुतौ नदाद्धान्तोंकेः सैन्धवद्टान्त्वकृतवाक्यसमानार्थकत्बासंभवात्रत्यसमुद्पपदसमानार्थकमुदकपदमिल्यस्य वक्रुमशक्यत्बात् । 'ब्न वेद बहैव भवती ' ल्यादिश्रुतिमिर्बहैक्यस्य मोक्षत्बोक्तेः। 'यत्र 1नेनारोषबेरोष-क. ग. ${ }^{2}$ वर्देवें-क. ग. ${ }^{3}$ दूर्वुक्ताना-क. ग. 4 दूवानीनलन

ही 'त्यदिना 'न प्रेत्य संज्ञास्ती ‘त्यत्रोके विशेषविज्ञानाभावे हेतुकथनेनाद्दैतवादस्य स्फुटत्वात्। त्वटुक्तार्थे च ह्टैतमिवेतीवशब्दवैयर्ध्यम्। मन्मते तु व्यवहारकालेडव्याभासरूपत्वेना₹पं द्वैतमित्यर्थस्य 'यत्रं वस्ये‘ति वाक्यार्थोपयोगः। रुवादिज्ञानाभावेपि नित्यानिर्दुःखनिरतिशयानन्दष्याद्वैतमोक्षस्यांनावृतस्य परमपुरुषार्थत्वेन श्रुत्या हेयत्वोक्तयसंभवश्ष त्वन्मते स्फुटः। मन्मते अविनाशीत्यिस्य न पौनरुक्तघम्; अविकिगार्थकत्वेन भाव्ये/तत्वात्, उच्चित्चिरत्यन्तोच्छेदो धर्म: प्रतियोगितयां यस्यास्ति तनन्यस्यानुच्छि|त्ते ${ }^{1}$ 'र्मशबन्देन बोघनात्, यथासन्निवेशो घर्मपदावैयथ्यर्यात्। अथना न विद्यते उचिछचितर्विरोषगुणगणोच्छेदरुपो धर्मो गत्रेति विम्रहः। तथाच 'न प्रेल्य संज्ञाहती 'त्यस्यातमनाशेऽरोषविशोषगुणोच्छेदे वा मोक्षे तात्पर्यमिति मुद्यान्तीं मैन्रेयें। .पत्यविनारीत्यनेनाय्यस्यानुच्छित्तिधर्मेत्येनेन्यह्ग मोक्षत्वं निरस्तम्। तत्र धर्मम्पहणमुच्छेदधर्मकःवमГहमनो न संभवति; निर्द्धर्मकत्वातध्योति ज्ञापनाय, तथाच ' तनन्गेत्नानुविनइमती' 'त्यनेने।क्तायां तत्वज़ानप्रयुक्तभर्वद्वैतनिवृत्तौ 'न प्रेय्य संज्ञे' ल्यनेन रूपादिविशोषज्ञानाभावे चोके सामान्याविज़ानमात्रूूस्य मोक्षतंत्ं ल亏ंचम्। तॄ्र च पुरुषार्थत्वं न संभवति; लोके रुपात्दिज्ञानजन्यडुखः्यैन पुरार्थत्वदर्शनादित्याराक्रायां यत्र हीत्याटिना द्वैते सति लैकिकं क्षुद्रमुबमेव रूपाद्विज्ञान
 'अथ तम्य भगन्' इत्यादिश्रुतेरिट्युक्तम्। अत्ममात्रस्य तु मोक्षष्य परमानन्द्वत्वाव्वरमपुरुार्थँ्वमिति यत्र व्वस्येत्यादिनोक्तम्। त₹्य चानावृतम्वपकाशत्वान्नित्यत्वाच न ${ }^{2}$ ज्ञानस्वरूपयोरुप्पत्तौ साधनापेक्षेति तरकेनेल्यादिनोक्तम्। द्वितीयाभावादेव तदा तस्य सुप्वस्य निर्भयंत्वं सूचितम्।.

अतएव -' आत्मैवायूर्द्रिजानत' इति समानार्थकश्रुट्युतरं 'तत्र को
 द्वैतारीकारः ${ }^{1}$ श्रुलैयानक्षित्त इति तदरीकारिणो अन्ता पव। 'सर्व तं
 परम् ;
'नान्यः प्रतिबलो लोके तबार्जुन भाविष्यति।
अन्यत्र भीष्मात्' इल्यादौ ‘अहिंसन्नन्यन्न तीर्थेम्यः' इत्यादिश्रुतौ चन्यव्रेल्यस्पाव्यगपथमानत्वाद्दिदर्रानात् । तीर्थैम्यो याज़ियेभ्योऽन्यत्र अन्यम् । दुन्दुभेरिस्यादिकं बु यथा दुन्दुभेस्तदीयशब्दसा-
 तथा श्रहणः सदूपस्याप्रहणकाले न द्वैतमहृणमिति तत्र तदध्यस्तम्। यथाऽड्देन्धनविशिष्टांन्युपादानको धूमस्तादशााम्मिं विना न तिष्षतितथा सद्रूप्नह्न विना न द्वैतं तिषतताति तबदुपादानकमित्यर्भकम्। तथा च 'सके तमि' त्यालि़िकाक्यं 'इदं सर्वं यद्यमात्मा’ द्यस्य प्रतिज्ञातर्थस्योपपाइककम्। आद्रेन्धनम्योपादानव्वातद्विशिष्टस्योपादानत्वोक्कि-
 न युक्तः ; 'घर्मादनिच्छेवलारि ' त्यनेन केवलोपपदयुक्ताद्दर्मशब्दादनिच्चल्ययविधानादिति—तन्न; अनुच्छितिशब्दस्य पदान्तरायुक्तवेन केक़लत्वानपायात्रिपद्वनुद्रीहिव्यात्तूत्तय एव केवलम्रहणात्, अन्यथा
 वा विपरिप्य श्रन्तः संहल्य पक्षौ संखययैगैन प्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यन्र पुप्रों न कंचन कामं कामयते न कंचन ғ्वघ่ पइयति, ता वा अहैप्यैता हिता नाम नाब्यो यथा केशः सहस्रघा

मिन्नम्तावताणिम्नां तिष्ठनित शुक्नम्य नीक्य पिक्रळन्य हरितस्य लोहितन् पूर्णाः, अथ यन्नैनं घन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यद्बेव जाग्रद्रयं पइयति तदत्राविद्यया मन्यतेडथ यत्र. देव इव राजेवाहमेनेदें सर्वाऽङमीति मन्यते सोऽःय परमो लोक: तद्वा असयैतदतिच्छन्दा अपंहृतपाट्माऽभयं रूपम्, तद्यथा प्रियया ज्रिया संपरिण्नक्तो न बालं किंचन नेद नन्तरम, एवमेत्रायं पुरुष: प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बांडं क्रिचन वेद् नान्तरम्, तद्वाऽस्यैतद्दाप्तकाममाइ्मंकाममकामं रूपं शोकान्तरामि 'त्यादि, • यद्दै तन्न परयति, पइयन्वै तन्न परयति न हि दर्षुर्देर्टावपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्दितीयमक्ति ततोडन्यद्विभक्तं यत्पइये’दित्यादिश्रुतेरपि ह्वैतं मिथ्या। ' तद्धा अस्यैत'दित्यादि 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसी 'ति पूर्वत्रा्मणे .यदुक्तमागमपाधान्येनेह च तर्केण प्रवश्चितं दार्ब्याय' तद्दै प्रसिद्धमस्य विघोत्कर्षद्ञायामहमेव सर्व इति सर्वझाधेनाखण्डत्मतत्वरूपपर्रह्सरूपेण जाभद्वद्वासनया ख्वसे भासमानतये।क्तस्य रूपमेतत। । न कंचन कामं कामयते न कंचन चवमं पइयती’’्यनेनेनेच्यमानमतिच्छन्दा निएक्काममपह्तपा।्मा पापहीनमभयं द्वैतसामान्येन जाय्रद्रयं पर्यति तदत्राविद्या मन्यत इत्यत्र भयह्टेतुत्वेनोंक्तेन शून्यंमित्यर्थ:। तथाच यत: स्वभावत एतदभय ${ }^{2}$ मतः सुपुपौ देहान्तःकरणादिभयवियोगसंभवात्तददर्शनमविद्यायास्तदा दई्शानेवि देहादिदृष्टन्तेनैवन दृइयत्वाद्वियोगसंभवज्ञानेन हृरयमात्रादर्शानरूपमुक्तिद्शापि निश्रेतुं शक्यत द्दति भावः। नचास्यैतदित्यै्रैतच्छब्देन सौषुप्तजीवसैयाभयत्वेनोक्तत्वाजीवस्वरूपमात्रस्याभयत्वालम इति—वाच्यम् ; एतदभयमित्यस्याखण्डार्थत्वेन सौषुप्तत्वोपलक्षितस्याभयत्वेपलक्षिताभेदे|क्ता अवान्तरतात्पर्यण द्वैत-

$$
1 \text { प्रंचितार्थाग-ग. } 2 \text { एनदुभय-ग. }
$$

मिथ्यात्वलाभात् । 'स वा एष महानज अत्मा अजरोऽमृतोऽभय' इत्यादौ सौषुप्तमात्रानिर्देशाच । आह्मकाममित्यादि — आत्मस्वरूपमेव काम: काम्यसामान्यं यस्य तदात्मकामं अात्माकाम्य ${ }^{1}$ बाधायां सामान।धिकरण्यमत एव अकामं कामनाशून्यमत एव शोकान्तरं शोकच्छिद्रमनु:खमित्यर्थ:॥

न बाब्ं किंचन वेद नान्तरमिति यदुक्तं तन्न दृष्टिलोपास्, किंतु हृयरयादित्यलुपद्टष्टिरूप आत्मेत्याह-यद्वै तन्न पइयतीत्यादि। तत्तदा सुषुसौ यन्न पइयतीत्याद्युक्तं तत्पइयन्नेव न पइयतीत्यादिरूपम्। पाइज्ञेनाइमना संपरिप्वक्त इत्यनेनोको लयो द्रयमात्रस्येत्याशयेयाहन तु तदूद्वितीयमित्यादि। तते द्वष्टुरून्याद्विकक्षणं जडं ${ }^{2}$ द्वितीयं विभकं स्थूलं यन्नास्ति ${ }^{3}$ यद्येन चक्षुरादिना यद्रूपादिकं च पइयेत्, कित्वविभकं संस्काररूपं सर्वमस्तीति ऐोषः। अतएव 'सुषुप्तिकाले सकले. विलीने', ‘स्वमपीतो भवर्ग’त्यादिश्रुत्यन्तराणि। तथाच संसकाररूपेण द्वैतावस्थानस्य लयस्य ज्रह्मण्युकत्तवाहसंसकारस्य चोपादान एव ₹वीकारादुपादानत्वस्य च त्रश्मण्यपरिणामिनि परिणाम्यविद्योपरागेण वाच्यत्वाजडयोरुपादानोपादेयत्वनिर्वाहकतादात्य्यम्य कल्पितः्वाद्विनिगमकाभावेन द्दैतसामान्यस्य कल्पितत्वसिद्धिरिति भावः। यत्र वा अन्यदिव स्यादित्यादि $\mid$ अन्यदिवाभासत्वरूपान्यत्वयुक्तमन्यत्, अतएव स्वमे भन्तीवेत्याद्युक्ता अविद्यया मन्यत इत्यम्र अविद्यकवेनाभासत्वमुपपादितम्। लोकेऽपि सद्वितीयचन्द्र: ${ }^{4}$ प्रसिद्धोऽस्तित यक्य साद्धइयं बुध्येत। त天्मानुक्तः श्रुतिसन्दर्भो द्वैतमिथ्यात्वपरः ॥

> ननु-शुकुस्येस्यादिना नाडीसथभगवन्मूर्तीनां ग्रुक्नत्वादिवैल-
${ }^{1}$ आत्मान्यक.ाम्य-क. ग. ${ }^{2}$ न जडं-ग ${ }^{3}$ तबास्ति-क. ग. ${ }^{4}$ लोकेऽपि सद्वितीयचन्द्र इ्वेति प्रयोग:, नहि सद्वितीयचन्द्र: प्रसिद्धोडस्ति-का ग.

क्षण्यमुक्तमिति तासां भेद：पाश्तः，तद्वा अस्यैतदित्यचापि भगवतो
 रूपाच्च घघणो भेंद प्राषं निरस्यति－यद्यै तदित्यादि। हृद्य干्य．
 पइयति तह्डितीयं सन्नासित द्वितीयव्वेन यन्न पइयसि तद्दितीयत्बे＇ नाा्तीलील्यर्ः। आकांक्षया न तु तदिति क्यवहितेनापि संबन्धः। वै यस्मापपयन् सर्वज्ञ एव सन् तन्नपइयति，न हि तन्य द्वस्टुर्दोर्टाव－ रिलोपोडविनाशिल्वात्，यनु जीवजडात्मकं विमक्तं पइयेत् पइयति तत्त－ स्मादन्यदित्यर्थः। अंद्दैतमेत यद्विभकंत तन्नास्तीवलस्यैैव पूर्णत्वेन 习ेष－
 नीडयोः स्रापुरपयोो्य मिन्नसत्वयो र्हृष्ननत्त्वस्य पाज्ञेनात्मना संपरि－
 इयतील्यस्यसिद्यूतेन तदन्वुवादेन निषेधासंभवात्। न तु द्वितीयमस्ती－
 सन्निहितान्वयसंमबे व्यवहितान्वयस्पायुक्तल्वात्। द्व्वयशब्देन ‘ एतस्सबे मनः कामा येडस्थ हृदि श्रिता＇इल्यादिपर्यांलोचनेन तास्स्युकक्ष－
 शोकान् तीर्ण इति ल्वदभिमतार्थासंभवात् ।）न च－－द्वयमारणय इत्यस्योपासनापस्वेऽपि अहैन ते द्रति वाक्योोपेण ते उददहढये
 तस्य पल्ययदार्बपरस्लेन रूब्बपर्वांत्।＇स वा एव आट्भा हादि तस्पैददेव निरन्तं छ्दयमि＇ति योगार्थस्तु रूहिमूलकक及क्षणततो

1 त्वेन नास्ती－क．ग．${ }^{2}$ द्रप्टमात्राभि－क．ग．${ }^{3}$ द्वितीयल्वे－ग． ${ }^{4}$ त₹मादुत्त－ग．${ }^{5}$ तस्थलक्षण्या－ग．

दुर्बलः पइयन् वै तन्न परयतीति हेतोरसिद्धेश्ध। न हीशः स्वभिन्नत्वेन ₹बमूर्ल्यादि न पइयतीति मानान्तरेण निश्वितम्, प्रत्युतायं हि कृष्णो यो हि ${ }^{1}$ पृष्ट: शरीरद्धयकारणमित्यादिश्रुत्या मूर्त्यदिभिन्नत्वेनेशो |क्तया विपरीतमेव निश्चितम्। अद्वैतमते च नोक्तवैग्यर्थ्यम्, न हि न तु तद्दितीयमित्यन्र द्वितीयसामान्यनिषेध: तथा सति तस्य द्वैतसत्वेडपि संभवेन न किंचन वेदेल्यस्योपपादनासंभबात्, किन्तु स्थूलद्वैतस्य निषेध: सूक्ष्मक्य स्थिथिश्र प्रतिपाहचते। दृष्टिद्रम्ट्र|द्योगः संबन्धो ${ }^{2}$ वयावहारिक एवोंक्त इति नाद्वैतविरोधः । इयेननीडाद्योः स्वसमसत्ताकभेद्वत्त्वेःपि जीवत्रह्मणोर्न तद्वत्त्वलाभः, सर्वाशसाम्यक्याविवक्षणात्राज्ञेनात्मनेति च्वरूपार्थकात्मपदेन तयोरमेदोतेक्च। यद्यपि सुपुतौ चाक्षुषादिवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपं दृष्टयादिकं नासित, तथापि ताद्टशावच्छिन्नत्वयोग्यतामाद्धाय याचकादिपदस्येव दृष्टयादिपद्स्य प्रयोग. इत्यदोषः। त्वन्मते तु दृष्टयादेरीशो कथमव्यसंभव इति । न हि द्रहुरित्यादि पइयन्नित्यादि चानुपपन्नम्। शुक्कस्येत्यादिंकं तु न शुक्कादिभगवद्वूँ: पूर्णा नाज्य इत्यर्थकम् ; शुक्कायन्नरसपूर्णा इत्यर्थस्य मानान्तरसिद्धस्य संभवेन तादृशार्थकत्वे मानाभावात्, सस्माच्छोकोती।र्णव्वेन पकृतो जीव एव न पइयतीत्यादौँ कर्तोति नास्मतुक्तार्थ विरोध इति। यथा इयेनो वेत्यादि श्रुत्यर्यः ।।
' वाचारम्भणं विकारो नामधेय 'मित्यादिश्रुतेराप दृ₹ं मिश्या।। ननु वाचारम्भणझब्दो न मिथ्यात्वे रूढ:, नापि यौगिक:; वाचा निष्पाद्यकाव्योर्दोम्मिथ्यात्वांस्रतिपत्ते:, वागालम्ननमात्रमिति भाष्यव्यारुयानमयुक्तम् ; वाचया. ${ }^{3}$ अरम्मणं यन्रेति व्युत्पत्या वागालम्बनत्वलाभेऽपि मात्रार्थालाभात्, नामघेयमित्यस्य नाममात्रार्थकत्वोक्तया-

[^162]तेन पौनरुक्तघं च, 'मृत्तिकेत्येव सत्य 'मित्यत्रेतिशब्दों। ठ्यर्थ:, अर्थविपयासे हीतिशब्द्: प्रयुज्यते, उंक्ष हि महाभाष्ये 'न वेति विभाषा' इत्यत्र-इतिकरणः कियते सोऽर्थनिर्देशार्यक्तघ्यथा गौरित्याहेत्युकेत गोशब्द: अ्वार्थ त्वक्त्वा स्वस्यैव बोधकः, तथा न वेत्युक्ते प्रकरणसिद्धं स्वपरत्वं त्यक्त्वा न वेतिशब्द्र: ₹वार्थपरः। तथाचार्थपकरणे इतिशबन्द: शब्दपरः, शब्दपकरणे च व्याकरणादावर्थपरः, पकृते चार्थप्रकरणादेवार्थपरत्वसंभवेन नार्थपर इति ठ्यर्थः। किश्व विवर्तवादे मृत्पिण्डमृंन्मयादिदृष्टन्तानुपपत्तिः । न चाविद्याविशिष्टरूपंण ब्रद्सणोडपष परिणामित्वात्तदुपपतिरिति वाच्यम् ; शुद्धन्रद्नण एव ज्ञेयत्वेन तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात्, अनाघवियाद्धान्पति ब्रक्सणोडनुपादानख्वात्तज्जानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञाविरोषश्र, यथा सौम्य मृदा मृष्मंय .ज्ञातमित्यस्यैव पूर्णत्वेन एकपिण्डसर्वपदानां चैग्गुर्र्ग्यम्, नखानिक्टन्तनस्यन्त्यावयवित्वेन।नुपादानत्वान्मृत्त्वेन निश्रितेतपि घटादौ संशायन्मृद इव घटादेरपि ठ्यावद्दारिक४त्वेन द्वयोरपि मिथ्यात्वान्मृत्तिकैव सत्यमित्याघनुपपत्ते:, शुक्तयादिज्ञानेऽ\{ि रूप्याद्यज्ञानादधिष्ठानीभूतत्रह्मज्ञानास्सर्वज्ञानासंभवाच्चासज्रतिः। यत्तु-जुकत़त ज्ञातायां रूप्यं ज्ञातं भवति, सा हि तक्य तत्त्वम्, एवं व्रह्ञज्ञानात्सर्वे ज्ञातम्, तद्धि तस्य तर्त्वमिति भामस्युक्तम्, तन्न; तथासति व्रह्सज्ञाह्ब्ल ${ }^{1}$ ज्ञातमित्यंर्थ लबछेऽवि मृद्धटादिदृष्टन्तेन कारणज्ञानाइकार्यज्ञावस्य प्रकृतन्यालाभात्। अधिप्रानस्यारोप्यतत्वरूपत्वाभावाच्च। तत्वं हि असाधारणं स्वरूपं धर्मो वा। नच|धिष्ठानमारेप्यस्यासाधारणं स्वरूपं धर्मो वा, आरोप्यान्तरसाधारणत्वात्। अषिष्ठानमात्रस्य तद्रूपत्वे ब्रह्सशुक्तयोदरानन्दशुक्तित्वादि तत्वं न स्यात्। तस्माद्धाचा वागिन्द्रियमात्रेणार्म्मणं यस्य तनामघंय

निकारः संसक्कतापंश्रशरूपेपण विक्रियमाणत्वात्, ठ्यक्रणसापेक्षेण बागिन्द्रियेण निष्पांध मृतिकेलेव सलं निल्यं प्रवाहरूपेगानादीतिर्यः। न वघेनास्य हन्यते एतस्सलं अद्षपुरिल्यन्र सत्यपदस्य निले
 ब्रम्नणो ज्ञानेन तस्सहचघस्य सर्वस्य ज्ञाने मृतिण्डमृन्मया हृ्टन्ताः, प्रधानस्य तस्य ज्ञानेन तद्रुणामूतस्य सर्वस्य ज्ञाने संरकृतापप्रंशदृ्टन्तः। अपभंशज्ञाना|द्धि यट्फलं तच्चाधिकं च सार्वत्रिकष्यवहारादिक संस्कृतज्ञानाद्रवतीति संस्कृतं प्रघानम्। ताहद्धागुणपषानदृष्नन्ततालाभार्थ च वाचारम्भणमित्यादावशि 'यथा सौम्यैकेने' ल्यादिकं 'तनूर्तर्बषें ' ल्यादिचदनुषझ्जनीयमिति-चेन्न; वाचारम्भणशब्दस्य हि वागालम्बनमात्रमित्यादिभाष्यव्याख्यानेडयं भावः-‘ येनाश्रुतं श्रुत 'मिल्यादिसामानाधिकरण्यं बाधायाम्, अश्रुतमन्य्स्तवे यदमिन्नं श्रुतस्वरूपन व्यतिरेकेण नास्तील्यर्थ:, तथाचैकं सर्वस्याधिष्ठानमिल्यर्थ: प्रतिज्ञात:, तत्र मृत्पिणठठ्यतिरेकेण तद्विकारो यथा नास्तीत्यादि हृष्टन्ताः यथा सौम्यैकेनेल्यादिना परतिपाघन्ते । मृत्पिण्डपदं च मुखुवार्थकैकपदयोगाइूूमिरूपपिण्डार्थकम्, पिण्डपदं च स्थैल्यबिशेषबोधकं मृण्मयमात्रोपादानतायोग्यतालाभाय, मृण्मयपदं च भूमिविकारमात्रार्थकम्, तथाच भूमिविकारः सर्वो यथा भूर्मिं विना नास्तीत्यर्थः। भूमिविकारंवं च साक्षादेव वृक्षादावक्षतमिति भूमेर्विभक्तपिण्डस्य नानाविकारानुपादानल्वेडपि न क्षतिः। यघपि भूमिर्नाघिष्ठानं तथाप्यधिष्ठानावच्छेदकघुक्तयादिव्यतिरेकेण रूप्यादि नान्तीति व्यवहारखत् भूमिविकारादिस्वरूपविचारदशायामाधारतावच्छेदकमूम्यादिव्यतिरेकेण तद्विकारो नास्तीति उयवहाराच्छ्त्या तथोक्तम् । एवं च सर्वमृण्मयमेकमृ-

त्पिण्डाभिन्नविज्ञातस्वरूपमित्यपि बाधायां सामानाधिकरण्यम् । तत्र हेतुर्मृत्रिकेत्येन सत्यमिति, मृत्तिका भूमिरिति गृस्षमाणं यत्तदव सत्यम्। मृत्तिकास्वरूपस्य सत्यत्वाभावाच्चदवच्छिन्नसद्रूपन्य हृष्टान्तत्वषीदआयां मृदो विबिच्याज्ञानादूरूमित्वेन ज्ञायमानत्वेन सद्रूपलाभार्थमितिशब्द: ; मनो ज्रझेतीत्यादौौ ज्ञायमानस्येतिशब्दार्थत्वात् । आध्धर्थको वा इतिशब्द:, 'इतिहेतुपकरणप्रकारादिसमाशिष्चित्यमरात् । तथाच भूमिविकारस习रूपस्य विचारदशायां तत्स्वरूपमिव भूमिस्वरूपविचारदशायां सापि मिथ्या, तडकारणापश्चीकृतभूतनंयेय सत्यानि, तेषामपि स्वरूपविचारदशायां तन्यपि मिध्या, तत्कारणमेव सत्यमित्याघर्थल्गभः । नखनिकृन्तनपदं चायःसामन्यपरम्, लोहमणिपदमपि सुवर्णार्थकम्, तयोविशेषणमेकपदं चैकजारीयार्थकम्, तदुपादानं चैकजातीयत्वेन सर्वत्र स्वविकारे उपादानत्वसंभवलाभाय, इतिशब्दन्तु तत्राव्युक्तरीत्या व्यारुयेयः। 'मृतिकेतेयेव सत्य' मित्यादौ हेतु: वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति, आरम्भणमसमवायिकारणजन्यत्वमुत्पत्विर्वा वाचा वाब्भान्रं विचारासहमिति यावत्, तथाचोत्पातिः सतोऽसतो वेति निरूपायुतुमशक्यत्वादुत्पन्नसामान्यं विचारासहमिति भावः । तावताप्यनाद्यविद्यादिसाधारण्येन हेत्वलाभादाह-विकारो नामधेयमिति। नाशादिविकृतियुक्तं नाममान्रं विचारासहमिति यावत्, अर्थे नामाभेदासंभवात् 'अब्क्ष्य इत्यादाविव मात्रार्थान्तर्भावेन विचारासहत्वलाभः । तथाचोत्पत्त्यादिविकृतेम्तद्युक्तस्य च संसर्गदुर्निरुपत्तान्दिना विचारासहत्वान्मिध्यात्वामिति निर्विकारं बहैव सत्यामिति हृष्टान्तापपादक्वेनोक्तमपि दार्ट्टन्तिकस्याव्युपपादक्मिति ध्येयम् । एवं च भामट्याक्किरपि युक्कैब, अनारोपितरूपस्यैव तत्वरूपत्वेनासाधारणम्वरूपधर्मयोरिवाधिष्षानस्यापि तत्त्वरूपत्वाच्छुक्तिरेव रूप्यस्य तत्व्वमिजि लोके छ्यवहाराच्च। अत एव बत्वज्ञानान्निइश्रेयसाधिगम इति भाध्ये तत्वमनारोपितं

रूप ${ }^{1}$ मिस्युदयनाचार्यः। अत पव नयवहारदशायां शुक्तयादावनारोपितत्वभ्रमेण रूव्यदितादाल्म्योपलक्षेतत्वेन च रूप्यादे: ₹वरूपतत्वं शुक्तिरिति ठयवहारः, शुक्तयाने़्धर्मतच्चं शुक्तित्वाद्दिरिति च ठ्यवहार:, विवेकद्शायां तु न्नहैनानारोपितत्वेन ज्ञायत इति वस्तुगत्या तदेव सर्वेषां स्वरूपतत्र्वमित्यागयेन ‘ व्नद्म तर्त्वं तपो वेदा़' इत्यमरेणोक्तम् । 'तत्त्वत्रद्ममार्गे सम्यक् सम्पन्न' इति जाबालश्रुति", 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाये' ति श्रेताध्वतरश्रुति।। 'मगवन् नाहमात्मवित् स्वतत्त्ववि' 'दिति मैन्रायणय यश्रुतिश्र। तन्त्वं परमाहमनि वाद्यमेद ${ }^{8}$ स्वरूपे चेति हैमः। तननं तत् सम्पद्वदित्वात् किप, तद््यास्तीिति वप्रकरणे अन्यत्रापीति व:, 'तसौ मत्वर्थ' इति भत्वान्न जस्त्वमिति बोध्यम् ॥

अहो ते पाणिड्यम्, येन स्वमापि प््मरसि, तव हि तत्त्ववादिववं नासाधारणस्वरुपधर्मवादित्वम् ; किंत्वनारोपितप्रप््ववादित्वम्, तस्म|न्नॉद्दैतमते उक्षण्याख्याने उक्षदूषणावकाशः। त्वर्दीयव्याख्यानं त्वयुक्तम् ; तथाहि—-वाचापदेन वागिन्द्रियमान्रं लक्षणी|यम् ; अन्यथा ठ्याकरणानिष्पाधत्वाललाभेनापं्रंशालाभापते: । मन्मते वाब्यात्रलक्षणा त्वाजानकी; अर्थासत्वविवक्षायां लोके वागादिशब्दपयोगात्। सत्यपदस्य नित्यार्थकत्वमयुक्तम् ; तस्याबाध्यरुढत्वात् । संस्कृतस्य मुरूयनित्यत्वाभावेन सदाशबन्द्माद्दाय योगासंभवेन ठ्याकरणनिष्पाघत्वरूपगौगनित्यव्वे ऊक्षणापतेश्रं। सदाशब्दन्य त्वनन्तत्वमपि ठ्याकरणापसिद्धम्, विकारराब्दस्य मुरुयविकारार्थकत्वे त्वदिष्टासिद्धया संस्ृतोचारणाशाक्तयोचार्यमाणार्थकत्वं लक्षणयैन, नामपद्द्यापिशब्दार्थकत्वं लक्षणयैन, अपभ्रंशास्य सेक्षेतवत्पातिपदिकरूपरूब्यर्थत्वाभावात् 1 तनूर्वर्षिष्ठत्यादिवद्यथेत्यादेरनुषक्तोऽपि

$$
1 \text { अनारोपितूप-ग. } \quad 2 \text { त्वंत्ववि ग. }{ }^{3} \text { भेदे }-ग_{1}
$$

न युक्तः ; 'अनुषझ्रो वाक्यपरिसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्' इत्यधिकरणे हि 'याते अमेऽयाशया तनूर्षर्षिष्ठा गद्वर्रेष्ठा, उम्रं बचोपावर्धीं ब्वेषं बचोपावर्धाँ स्वाहा' इति मन्त्रपाठोत्वरं पठितयो: , याते अमे रजाइाया याते अमे हराशया' इति मन्त्रभागयो: पश्थातनुरित्य। द्दिकमनुषअ्जनीयम्, बुद्धिविपरिवृत्तिमात्रेण साकांक्षाभ्यां ताम्यां तस्संबन्धसंभवेनानुषछन्य वक्यपरिसमापकत्वादित्युक्तम् । तथाच पूर्ववाक्यप्रविष्ट्यागस्योत्रवाक्यघटकत्वेन प्रतिसन्धानरूपस्यानुषञ्तस्योक्तसथले संभवेऽपि न पकृते संभवः । प्रकृते हि 'मृत्तिकेत्येव सत्य 'मित्यादे: पश्चात् यथा सौम्यैकेन मृत्तिकेत्यनेन सर्वस्तद्विकारो विज्ञातो मवतीत्यादि कल्पनीयम्, नचैतत्रूर्वचाक्ये प्रविष्टम् । किंच यथा वाचारम्मणमित्यादिना गुणप्रधानभावः श्रुत्या ज्ञापितः, सथा मृत्पि्डतद्विकारगोः सादृइयमपि ज्ञाप्येत। अथ मृत्पिण्डज्ञानेऽपि तद्विकाराणां घटत्वादिना ज्ञानासंभवान्मृत्त्वेन रूपंणैव घटादिज्ञानं मृत्पिण्डज्ञानादिति पर्यालोचनात्तस्सद्टाज्ञानं तज्ज्ञानाधीनमिति लभ्यते, तर्हि संम्कृतज्ञानादपभ्रंशज्ञानासंभवात्संक्कृतक्य प्राकृतकार्यकारित्वतात्पर्यकं मृत्तिकेत्यनेन सर्वस्ताद्विकारो। विज्ञातो भखतीति वाकं संभवताति तदेव श्रुत्योच्चेत, किं बाचारम्भणमित्यादिना गुणपधानभावज्ञापकेनेति श्रुतिस्वारस्यहानिः ॥

अपि च कार्ण्णायसान्तानां सद्टहदृष्टान्तानां पश्रादेत्व वाचारम्भणं नामधेयं विकार इतिबत् संसकृतं सत्यूमति सामान्यत एवोचयेत, न नु ${ }^{1}$ मृत्पिण्डादिदृष्टन्तम्यैयैकस्यन्ते विशिप्य मृत्तिकेत्यंधैंकैकम् । शब्दान्तराणामपि संख्कृतानां सत्ने मृतिकेत्यांदेखे किमित्युपाद्दानम्, अयसमित्येव सत्यमित्यस्यैव पूर्णत्वसंभवे कार्ण्णति किमित्युक्तम्।

मन्मते तु कार्ण्णायसाबिवाचकलमुशब्दान्तरसंभवेंऽपि न देाषः। म हि घटादिशाब्द्रा एव तदर्थविवक्षया ${ }^{1}$ प्रयुज्यन्ते न कलग़ादिशब्दाः ॥। ' को भवानिति निर्देशो वाचारम्भो बनर्धकः।
शिबिकादारुस ज्धातो वचनात्थिथिसंस्थितिः ॥ अनिष्यतii नृपश्रेष्ठ तद्रेदे शिबिका त्वया। एवं छत्रशलाकानां पृथग्मावो बिमृग्यताम् ॥
क यातं छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि ॥'
इत्यादिस्टृतिवाक्यानि चास्द्दूचारूयान एव समझ्ञसानि। 'यदेमे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्षं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागददमेरमित्वं वाचारम्भणं विकारेा नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येन सत्य 'मित्यादिवाक्येषु त्रिवृक्कृताम्मयदिस्वरूपस्यात्रिवृत्कृततेजो बन्नस्वरूपन्यतिरेकेण विचारासहत्वमग्वित्वमित्यन्तेन हेतूकृत्य वाचारम्भणामित्यादिना त्रिवृत्कूत* मात्रमसत्यमित्यादिरुपेण विकारो नामधेयमिति प्रपय्चितम्। 『बन्मते तु सर्वमसक्रम्; एकज्ञानातत्सद्टं तदर्धीनं च सर्वमन्यद्ज्ञायत इत्यनियतम्; न हि गोज्ञाने गवयादे राजज्ञाने प्रजादेवर्व नियमेन ज्ञानम्, अनियतज्ञाने च सदृशादेरेव किमिल्युपादानम्। किश्च संस्कृतज्ञानस्यापभ्रंशकार्यकारित्वं कथं दृष्टान्तः ; न हि शुद्दस्य सगुणस्य वा त्रह्मणो ज्ञानं घटादिज्ञानकार्यकारि, येन तत्त्व तत्त्वदा ${ }^{3}$ घ्धान्तिकं स्यात्। तथा स्वीकारेडापि ‘येनाश्रुतं श्रुत'मित्यादि न मुख्यार्थकं स्यात्। अत' एव-प्रझ्योपासना सर्वोपासनाफल द्रेत्येव दार्ट्टन्तिकमिति परास्तम्; तत्रापि मानाभावात् श्रतेः पीडनाचच । 'यावानर्थ उदपान 'इत्यादि तु नोर्तार्थकम्; किन्तु सर्वसुखानां ${ }^{4}$ ब्रहसुखान्तर्भावार्धकम्। सोऽपि मोक्षसुखमेव ₹वर्गादिरूपमनोवृत्त्यवच्छिन्नसुखाभिन्नम्, विशिष्टकेवल-

[^163]योरमेबादिलियेंरूप इति मदिश्टरिद्यिरिति-चेन ; तथाडपि त习्र हष्ट-
 तु सर्वाषम्रोशादिकार्यजातीयकार्यकारिबवमिनि़। मन्मते ठु शिकिकेटा-घुक्तकाक्योत्ररम्-

वस्तु राजेति यल्झोके यच्च राजमटात्मकम्।
तथन्यच्च नृपृट्येतन्न सस्स क्लवपतामयम् ॥
एकमयं हि यत्।
विज्ञानं परमार्थाडसौ द्वैतिनोऽतथयदर्शिनः ॥
एवमेवमिदें विश्ध न मेदि सकहं जगत्।
वासुदेवावभिधानस्य स्वरूं परमात्मनः ॥
इत्यादिविष्णुपुरणादिविवक्यसहस्समवयवादि०्यतिंरेकावयण्यादेविचारास हल्वोतिपूर्वकमद्वैतवे|षकमुष्टम्भकमिति । चाचारम्भणमित्यादिस्रुव्युपपत्तिः ॥
'इदं सर्व यदयमत्मा' इत्यादिश्रितिरपि मिध्यात्वे मानम्; बाधायां सामानाषिकरण्येन सर्व्रपश्नाभावोपष्रक्षितात्मम्वरूपबोधकतया अवान्तरतात्र्येात्मनि सर्वाभावबोधात्। ननु—'संवेंgु भूतेव्बोत’ मिति श्रुतेः सर्व जलं हवणमितिवस्सर्व्वयाप्तया वा, 'सहि सरवक्य
 निमित्रत्वेन वा, 'यस्मिन् बौः पृथिनसस्यादिश्रुतेः ‘ वाह्मणो वै सर्वा देवता' इतिवस्तर्वाश्रयत्वेन वा, 'न ॠते त्वक्कियते किश्घने' त्यादिश्रुतेः 'यजमानः प्स्तर' इतिवचत्सिद्धया वा, 'आदित्यो यूप ' इल्यादिवक्सारूप्येण वा सामानाधिकरण्योपपतौ यः पुरुष: स * स्थाणुरितिवत् यंस्षर्वेवेन प्रतीतं तदालमय्यध्यम्तमिति पदद्धयरख्षणा

न युक्ता ; 'पुरुष एवेदं सर्व', ‘पुरुषँणैवेदें सर्वे ठ्याप्तमातृणाद्धाकरिषा’ दिति श्रुतौ-

असतश्र सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययः।
सर्वस्य च सदा ज्ञानात्सर्वमेनं प्रचक्षते ॥
पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
इत्युच्यते तदीयत्वान्न तु सर्वस्वरूपतः ॥
सर्वे समाप्रोषि ततोऽसि सर्वः।
इति भारते ठ्यारुगनात्। 'इनंद सर्व'मित्यक्य 'सर्व तं परादाघोडन्यत्राह्मनः सर्व वेदे 'ति पूर्वेण, 'यथा नुन्दुभे' रित्याद्युत्तरण, 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यस्य 'स भूर्मिं विश्वतो वृत्वे'ति पूर्बेण 'उतामृतत्वस्येशान' इत्युत्तरेण विरेधात्। 'अयमेव स योऽयमत्मेदममृत• मिदं बह्सेदं सर्व'मिति श्रुतिर्योडयमिदं सर्व यदयमात्मेति प्रतिज्ञातः पूर्वे सोऽयं तेजोमयत्वादिनोक्त एव, इदममृतममृतत्वसाधनरीविषयत्वेन मैन्रेयैय उक्तमिदं ज्रह्स ब्रह्न ते ज्रवाणीति पूर्बोक्तमिदं सर्व चायमेवेति त्वद्धाष्ये ठ्याहुयाता, तस्या अपि 'अन्यां पृथिठ्यां तेजोमयोऽमृतमय' इत्यादिपूर्वेण, 'सर्व खल्विदं ब्रह्से' त्यस्य 'ज्यायान्पृथिज्या' इत्याध्युत्तरण, "यस्मिन् सर्वाणि मूतन्याहैमैवाभूद्विजानतः" इत्यस्य 'यस्大ुसर्वाणि भूतान्याइ्मन्येवानुपरयति। सर्वभ्त्तेषु चाहमान' मिति पूर्वेण, याथातध्यतोऽर्थान् व्यद्धादित्युतरेण च, विरोधाचेति-चेन्न; सर्वपदस्य सर्वाभावोपलक्षितार्थकत्वेडप्याहमपदस्य स्वमुरूयार्थैकदेशाखण्डात्मनि लक्षकर्वाभावात् अखण्डात्मन एव प्रकरणिखेना ${ }^{1}$ तात्पर्यविषयसर्वठ्याप्तयादिलाक्षणिकार्थसंभवात्सवे श्नक्नणः ₹वमसाधारणं रूप-

[^164]मिट्यर्थमादाय तस्सर्वमिति नोच्यते, किंतु तदीयत्वस्सर्वर्स्य उ्रहसंबच्मात्, संबन्षश्वासतथ्थेत्यादिस्रोके विखिष्योक्तः, प्रमवाप्यययोर्मासकरायां च नियामकं ताव़ाल्यं संबन्ध इत्यर्थ: ; तथाच तस्य
 ध्यासे बाधायां बा सामानाधिकरण्यं न त्वमेद इस्यत्रोक्तव्यारूयानबाक्यतावपर्थात् ' पतावदरे खल्वमृतत्व' मिल्याविवाक्यशेषादियुक्तस्य

 करण्यसंमेनावाविोषात्, 'सर्व तं परादा 'दिल्यत्रान्यत्रेत्यस्यान्यदित्यर्थकत्वात्, यथश्रुतार्थल्वेड्व्यात्मनि सर्वमष्यह्तमित्यर्थपर्यवसानात्, दुन्दु-

 रप्याहमनि सदूपे सर्व सर्वत्र ्ुुरण रूप आत्मेति कथनेन व्यावृतर्तर्वमनु-

 पूर्वस्टिस्तथेत्यर्थर्द्वा विरोघाभावात् । इदं सर्वमिल्यादिभुत्युपपत्तिः ॥
"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विधतेडयनाय'
 वृक्ष इव सतठछो दिवि तिष्टेकसतंनेदंद पूर्ण पुरुषण सर्वम,' 'ततो यदुतरतरं तदरूपमनामयंय एतद्विदुसमतास्ते भवन्यथेतरे दुखखमेवापियन्ति' इति श्रेताध्वतरश्रुन्यापि हइयमिध्यान्वम्। अत्र हि तमेवे-
 मुकिहिछुरीरिति मतागासेन विरोघनिरासाय यम्मादिन्यादिकम्तम्, परमिति तुशान्दस्मानानार्यकम्, यस्मादपरं तु नास्ति परशब्देनापरसानस्य

$$
\text { Advaita Vol. II. } 19
$$

मुकिहितुत्वव्यवच्छेद:, जीवोडणुरीशो महानिति तयोरख्वण्डैक्यज्ञानं न मोक्षहेतुरिति कग्रमुक्तमताविरोधो नेति अ्रार्नित निरस्यति-' गस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चि'दिति। किस्चिदपि व天तुस्वरूपं य₹्मादाहमनो न ज्यायो न वाणीयोऽस्ति यदात्मस्वरूपं मुमुक्षुमिर्जेयें तस्य ज्यायस्त्वमणीयस्तं बौपाधिकं न स्वाभाविकमिति तस्मादणु ज्यायो वा घस्तुतो नास्तीति भावः। ईशज्ञानांद्व मेंक्ष इति पाशुपतादयस्तान्तिरस्यति --चृक्ष इबें्यादि। तत ईशरूपाद्यदुत्तरतरमधिष्ठानतयाडSनन्द्धनसदूप्वता च श्रेष्ठतरम्। अस्मिन्नर्थ चोपद्यमणानि-
'सितनीलादिभेदेन यथैकं दृ₹यते नभः।
अन्नित्हाप्टिभिराष्मापि तथैकः सन् पृथक् पृथक् ॥
एक: सम+तं यदिहास्ति किश्चि-
चदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मक्वरूपं ंयज भेष्मोहम् ।।
इस्याविविप्णुपुराणादिवाक्यानि। यतु-यस्मात्परं श्रेष्ठं नास्ति अपरं त्वस्ति तच किस्चिद्वल्पमित्यर्यः; ' पुरुषान्न परं किश्चित्' 'पादो 5 स्य विध्या भूतानी 'स्यादिश्रुंत:, 'वासुदेवात्परं नास्ती 'त्यादिस्मृतेश्ष, परमपरं च नास्तीत्येे तु नञनुषक्रापत्तिः, ‘तेनेदं पूर्ण’मित्यादिवियोघश्ष, विश्यस्याभावे हि किं पूर्ण स्यादिति तन्न; अस्तिकियानुषज्ञ干्य त्रिधा बाक्यमेदस्य चापत्तेरुत्कृष्त्वनिषधादेरशे्रेत्वेन ज्ञेयत्वेनोक्रशुद्ध ${ }^{1}$ पतीत्यननुकूलत्वादनाकांक्षिताभिधानापत्तेश्र पूर्णत्वस्ये|त्रतरत्वस्य चाविद्यकस्याविद्घादशायां शुद्रव्रस्तुत्यथ्यमु कत्वेनादोषाचच । तमेवेत्यादिश्रुत्युपपत्चिः ॥

[^165]"अन्यथागृह्नतः स्वमो निद्रा तत्व्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्कुते।।
अनादिमायया सुष्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्वमद्वैतं बुध्यते तदा ॥
प्रपश्चो यदि विंचेत निवर्तेत न संशयः।
मायामान्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं बादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते "॥
इति माण्डूक्योपनिषद्वचाऱ्यारूपगौ।डवादाचार्यमन्थस्थप्रथमप्रकरणोक्त र्डोकेम्य: श्रुतित्वेन वैदिकप्रसिद्बेम्यः परकीयेऽपि माण्ड्डक्यभाष्यादै। ठ्यारूयतेन्योऽपपि द्वैतमिश्यात्वम् ।
‘ निवृत्ते: सर्वनु:खानामीशानः प्रभुरुर्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देन्त्तुर्यो विभु: स्मृतः ॥
इति श्रोंके तुर्य आह्मा ज्ञातः सन् निद्वतैजसभाजरूपसर्वभाचरूपाणं टुःखानां निवृत्तेरीशानः यतोऽद्वैत इत्युक्षा-
'न निद्रां नैव च ₹ंख्रं तुर्ये प३यन्ति निश्चिता: '। .
इत्युक्तम् । तत्र कद्दा तुरीये निश्चिता इत्याकांक्षायामन्यथागृढ्नत इत्यादिश्रोंकावुक्तौ । तत्र न त्वं संसारी किंतु तर्त्वमसीति गुरुण। बोधितो मायया सुसो गदा़ प्रबुध्यते तदाद्वैतं बुध्यते। ततश्र विपयाँसे क्षीणे तुरीयं स्वप्रकाइमनुभवतीजपर्थः। विपर्यसे नரे चेतुरीयानुंभवस्तार्हि कथं स्ञाभाविकमद्वेतं तत्राह — प्रपश्चो यदीत्यादि । प्रपश्चो यदि विद्येत यद्दे सन् स्यात्तैदैव तव्वनो नििर्तेत, न सन्निति न तत्वतो निवर्तते किंतु मिध्यात्वात् ज्ञाताधिष्ठानकर्न शून्य पंवेति मिष्या द्वेतं न स्ञामाविकाद्वेतविरोरोधित्यर्थः। ननु-प्रत्यक्षादिकं भवतु मिध्या,

शासान्दिकं तु कथं स्वबाध्यम् ? तत्राह—विकल्प हंति। शाए्रतज्जन्यत₹्वज्ञानादिराप विकल्पो यद्यर्यविधादशायामुपदेशात् ज़ानन्मोक्ष इति बेद़ोपदे़ें निमित्तीकृत्य केनचिद्वन्धनिवृत्त्यादिकार्यहेतुत्त्वरूपेण कल्पितः तथापि हृइयत्वाविशोषत्सोडवि निजर्तेत, बाधयेतैवेत्यर्थः । ननुज्ञानस्य बन्षनिवर्तकत्बं वेदोपदिष्टत्वास्सत्यं तत्राह्ट-अयं वाद इति। 'तराति शोकमात्मवि' दित्याद्युपदेशो लोकसिद्धव्यावहारिकहेतुत्वस्यानुवाद:, अतो ज्ञाते द्वैत सव्व न विधते किंतु बाधितमेवेत्यर्थः। ननुप्रपश्व इत्यादिश्रोके भेदरूपस्य प्रपश्चस्य भा₹करादिमतपापं सत्योपाधिकृत्वं निरस्य विकल्प इत्यादिश्रोंके मायावादपाप्रमारेपितलवं निरस्यानादिसत्यत्वमेवोच्यने। भेदप्पपश्चो यदि विद्घते उत्पघेत तर्हि निवर्तैत, न च निवर्तते ; मोक्षेडपि परमं साम्यमुपैतीति भेदश्रुतेः, तक्मान्नोत्पधत इत्यर्थ:। विदसतायामिति हि धानुप, उत्पत्तिरपि हि सतायेग एव,. विदूल्लूभ इति वा धतुः, तथाच स्वं हमत इत्यर्थः । उत्पात्तिरपि घ्यात्मलाभ ${ }^{1}$ एव; असितत्वार्थकते तु यघ्घद्ति तन्निवर्तेतेति ${ }^{2}$ ठ्यात्तयभावादसक्नतिः। ननुपाधिकृतो न चेद्भेद्त्तार्हैं कि स्वन्तत्रः, नेत्याहमायामात्रमिति। ईध्यरेच्छाधीनमित्यर्थः ।
' विष्णोरिच्छावशत्वातु मायामात्रमिति स्मृतेः।
स्वम्वमायास्वरूपेति स्टद्टिरन्यैर्विकल्पिता'।।
इत्यैन्द्रजालिकवं मतान्तरत्वेनोक्तम् 'इच्छामान्नं पभोः सृष्ट्ट ' ${ }^{3}$ रितीध्वरार्षनत्वस्य गौडपादैः ₹वमतत्वेन पूर्वमुक्तत्वात्, 'प्रभवः सर्वभावानां सता' मिति पूर्व 'कल्पितो यदि केनाचि' दिति पश्रात्पपक्षसत्यत्वस्य तैरुक्तवाच्च। निवर्वेतेति तर्कविपर्ययपर्यवसानलुबानिवर्स्यत्वाविरुद्धार्थस्यैव मायामात्रमित्यत्र वक्तं्यत्वाच ।।

$$
{ }^{1} \text { खात्मलाभ-क. }{ }^{2} \text { निवर्तत झांत-ग. }{ }^{3} \text { रितिच्छाष्धीन }
$$

अथैवम्-‘' अद्वैतः सर्वभावाना 'मिति पूर्व कथमुक्तम् ? तत्राह—‘अअद्वैत परमार्थत' इति। उक्षमिति शेषः। अद्दैत इति यदुकंत तत्परमार्थतः परमार्थ स्वतत्रमपेक्ष्येत्यर्थः। सर्वभावानां मध्यें ईझोऽद्दैत इत्युक्तया स्वातस्रघमीशास्य न त्वन्यद्येति लम्यते न त्वन्यस्य मिथ्यत्व्वमिति भावः । नच--सत्ये रुढत्वात्परमार्थशब्दःः सत्यार्थक एवेति-—चच्यम् ; मिश्यावस्त्वपेक्ष्या परमत्वादेव सत्यस्य योगलम्यत्वेन रूब्यकल्पनात् । अत एव प्रोक्षण्यधिकरणे पोक्षण्यादिशब्दन्य जलादौ योग एव न रूदिरित्युक्तम्। उंक्तं च वार्तिके-
'भवेतां यदि वृक्षम्य वाजिकर्णौ कथंचन।
अदृष्टां समुदायस्य शार्कि जातु (न) कल्पयेत् ${ }^{1}$, ॥ इति ।
तथाच-
अक्षैरैरेव बुद्धघन्ते समुदायप्रसिद्दितः।
अर्थभागोपसंहारादितरा विपक्रष्यते ॥
इति रथकाराधिकरणायवार्तिकोक्तस्य योगापेक्षया रूनिनलतन्नत्वस्य क्लप्त• रूढिविषयत्वात्: चव्वतन्रं परमार्थमिति समृत्युक्तपरिभाषायाः कार्यार्थत्वेन यथा नदा इत्यादौं 'यू स्ययखुयौ नदी ' ति परिभाषिता ईऊइत्यन्ताः स्थली वनीत्यादिरूपा गृध्बन्ते नदीशाब्देन नतु गऊायमुनाघ्या:, कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्पत्यय इति न्यायात्, तथा सत्ये रुढक्यापि परमार्थशबदस्य सवतन्ररूपार्थम्रहणौचिल्यात्। यववराहाधिकरणे शार्मीयरूढेलैकौकिकरूब्यपेक्षग्रा बलनच्त्वस्य स्थितत्वात्, योगेन परिभाषोपपादले सत्येऽपि योगसंभवस्योक्तत्वाच, परमार्थशबन्द्: स्वतन्रार्थकः। अथवा 'परमार्थोडविनाझी'ति विष्णुपुराणोक्तः सर्वभावानां मध्ये न्रसाविनारीत्यर्थः। एवं 'विकल्प' इत्यादेरपि तर्कत्वात् न च निवर्तते,

तस्मान्न कल्पित इति विपर्येये पर्यवसानं कार्यम् । 'वादो ज्ञात' इत्यत्र नज्पश्रेषादज़ाते तत्त्वे द्वैतं न विद्यत इत्यर्थ:। उक्तश्रोकयोरतर्कपरत्वे यदिशबन्दौ लिड्पदानि च ठयर्थानि स्यु:, स्पष्टश्षायमर्थः शुर्यन्तरे--
' सोऽयं सत्यो ब्बनादिश्र सादिश्चेन्नाशमामुयात् ।
न च नाशं प्रयात्येष न चासौ अ्रान्तिकल्पितः ॥
कर्पितश्रेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते।
द्वैतं न विद्यत इति तस्माद्ञानिनां मतम् ॥'
इत्यत्रेति-चेन्न ; उक्तठ्यार्याने हि प्रपश्वपदस्य भेदे सक्षोचः, विद्यत इत्यत्र विदेरुत्पत्त्यर्थकत्वे डप्रसिद्धार्थकत्वम्, लाभार्थकत्वे लमते इति ठ्याख्यानमयुक्तम्; विन्देतेत्यस्यैव कर्त्राश्यातस्य युक्तव्वात्। अथ—कर्माख्यातेन विद्येतेति साधु, तथाच लम्येतेत्येव पाठ इति, तदृप्ययुक्तम् ; लाभमात्रस्योत्पत्वित्वाभावात्, अघल्याभार्थकत्वे च लक्षणा, सत्तायोगमात्रमपि नोत्पत्तिः ; द्यित $1^{1}$ याददेक्षणेडव्युत्पत्विक्यवहारापतेः, आघक्षणावच्छिन्नसतायोगार्थकत्वे तुं लक्षणा, म।याशब्द€्यापि नेशेच्छाधीनमर्थः ; अनिर्वाच्य एव तस्य रुढत्वात्, 'नासदासीन्नो सदासी़त्वम अरी'दित्यन्र सदसदन्यत्पेनोक्राविद्यायाम् -
'तरत्यविद्यां विततां ह्ददि यक्मिन्निवेशिते।
योगी माया' मित्यादिक्मृतेः ' मायां तु प्रकृति ' मित्यादिश्रुतेश्थ प्रयोगात्, 'अन्या माया ${ }^{3}$ पुनः सृष्टे'ति संवरयुद्धादौ हरिवंशादौ। ' व्वपमायागन्धर्वनगरवद्व 'ति गौतमीयपूर्वक्षसूत्रादौ चानिर्वाच्य एव मयाराब्द्वप्रयोग।च्च । न हि तत्रापीशेच्छारीनमर्थ: त तथासत्यन्यस्स्टष्ट्येमित्येव हरिवंशो उक्तं स्यात्, मायापदस्याज्यावर्तकत्वात्। उक्त-

[^166]सूत्रेडपि सिद्धान्ताविशेषापत्तेः। 'मायामात्रं तु कास्स्येनानभिठ्यक्त₹ ₹रूपत्वा'दिति शारीरकसूत्रेडपि मायापदमुस्रार्थकम् ; अन्यथोक्तहेत्वसकतः । 'विष्णोरिच्छावशत्वातु मायामान्रमि’ ति ₹मृतावपि मायापदमनिर्वाच्योपादानकत्वेनानिर्वाच्याभिन्नपरम् । अनिर्वाच्यम्याचेतनस्याप्युपादानत्वमुपपद्यते, ईश्वराध़्ठ्ठनादित्याइयेन विष्णोरित्यादिहेतूक्तिः। अन्यथा मायाशब्दन्य त्वन्मते ईशेच्छाया एवार्थत्वेन (तदर्थत्वेन) तदात्मकष्वस्य प्रपश्चे बाधात्तजन्ये लक्षणापत्ते:। इच्छामात्रमित्यादावप्युक्त एव मार्गः। वस्तुतस्तु-
‘ विभूर्ति प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः। स्वममायास्वरूपेति स्टृ्टिरन्यैर्विकल्पिता।। इच्छामात्रं प्रभोः सूप्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः । कालात्रस्तिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ भोगार्थ साष्टिरित्यन्ये कीडार्थमिति चापरे ।
देवस्सैष स्वभावो ${ }^{1}$ ड्यमाप्तकामस्य का स्पृहा'।।
इति श्रोकानां विभूतिं स्वीयैयैश्वर्यख्गापनम्। ₹्वममायास्वरूभेति। स्वसस्य जाग्रद्दृष्टत्रमरूपस्य मायागा अपि द्रत्यविऐोषादौं अ्रमविशेषरूपायाः स्वरूपा अनिस्यत्व्वयुक्तिविरुद्धत्वादिना सद्हशी, न तु किड्या, इच्छामान्र्ं ईध्वरीयसत्यसक्षल्पमात्रम्, न तु सळ्लल्पातिरिक्ति केचित्। स्टाष्टिचिन्तकाः सृष्टौ विनिश्चिता दत्पाम्यां नैते तत्व्वचिन्तका इति परमतं सूचितम् । तेषामेन प्रयोजनं सृष्टेराह—भोगार्भ कीકार्थ वेति। स्वमतमाह——देवस्येत्यादि। सृष्टिर्द्रेवस्यात्मन: ج्वभावः स्वाभाविकाविद्यातत्परिणाम इति यावत्। अवरूपतोडनादित्व प्रवाहरूपेणानादिअमजनकत्न चाविद्यादोषस्य स्वाभाविकत्वम्, तटुकचैव सृे्रेन्निप्पयो-

जनत्वं सूचितम्। न धनाघ्यविद्यामूलस्वमादिश्रमस्य किंचित्पयोजनमुद्दिइय केनचित्करणीयत्वमिति बोध्यम् 1 भोगकीडाप्रयोजनकोक्तपक्षान् दूषयति-आप्तकामस्येत्यादि । तथाचापकामत्वस्य स्वाभाविकत्वादैभ्वर्यखूयापनमतं दुष्टम्। कामित्वसुखदुःखादि मिथ्येति सत्यस्वम्वमायादितुल्यत्वमतं दुष्टम्। अत एव सत्येच्छामात्रत्वादिमतमपि तथेति भाप्यानन्दगिर्याद्यनुसारिव्याख्यानादिच्छामात्रमिति न ख्वमतम्; परं तु तनैव तथा अ्रान्तिः। अहो तव पइयतोहरचोरत्वं यत्पतिश्रोंकं युक्तिजालेन द्रयमिध्यात्वं प्रतिपादय्यैद्वैतथ्यारूयं प्रकरणं कुर्वतां गौडपादभगवतां हृ₹यसत्यव्वं सम्मतामिति ब्रूषे। तथाहि--
' अदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथ।
वितथै: सदृशाः सन्तो वितथा ₹व लक्षिताः ॥
सप्रयोजनता तेषां ख्वमे विप्रतिपघते।
तम्मादाघन्तवत्वेन मिथ्यैव खनु ते स्मृताः ॥
कल्पयत्याइ्मनात्मानमात्मा देव: ₹वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥
अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु सफुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियन्तरे।।
इत्यादि स्रोका वैतथ्यप्रकरणन्थःः यतु-'प्रमवः सर्वभावानां सता 'मिति हृइयसत्वसाधकमुक्तम्, तन्न ; सतामित्यम्यानभिव्यक्तनामरूवाइ्मकानामित्यर्थकत्वात्, असत्कार्यवादनिरासाय तथोक्तत्वात्। स्पष्टं चैतदद्याप्यादौ। कल्पितो यदीत्याद्युतरवाक्यं तु न तेडनुकूलम् ; विकल्पपदेनोक्तस्य शास्राचार्यादिकल्पनम्य यदिशब्देनानावशयकत्वघ्योतनात्, ईश्वरादेराचार्यादिनैरपेक्ष्येण तपसा ज्ञानाप्तेर्व भाव्यादानु ${ }^{1}$ कत्वात्, हिरण्यगर्भस्यापि बृहदारण्यकमाष्ये तथे|क्तवात्। 1 बासिष्टादावु-ग.

यधपि कल्पित इल्याधर्थस्य भाष्योक्कव्वाश्पपश्षो यदील्यादेस्तूकोर्थस्वव्र्पतिकूल:, अथवा यदिशब्दस्य निमितताबोधकत्वातस्याध्र स्वान्वयन्यतिरेकष्यापकान्वयन्यतिरेकशाकित्वरूपत्वात् यथा 'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाप्रान् ग्रहान् गृह्हाया ' दित्यादौ रथन्तरस्यान्वयव्यापकान्वयंत्वैमनन्द्रवायवाप्त्वे पाठादेव प्राप्तमतो व्यतिरेकव्यापकठ्यतिरेकत्वे तात्पर्यमिति कल्प्यते तथा सत्व्वस्यान्वयव्यापकान्वयकत्वं निवर्त्यत्वे बाधितमतो यत्र शुकिरूप्यादौ सत्त्वाभावस्तत्रानिवर्त्यत्वमिति व्यतिरेकठ्यापकष्यतिरेककत्वपरत्वं कल्प्यते, एवं च तर्कपरत्वानुसारण मायामात्रमित्यत्र त्वदी़ायाथेवर्णनमनवकाराम्, अत एव 'यदि क्षुधा तदा भुङ्क्ष्व्वें त्यादौ लोकेऽपि क्षुधाद्यभावव्यापकत्वमभोजनादौँ बुध्यते, परमार्थपदं तु यदि .स्वतन्त्ररूढम्, तथापि तस्याधिष्ठानसापेक्षत्वरूपपारतन्त्र्याभावरूपत्वेन सर्वमावानां मध्येऽयमद्वैत इन्युक्के: ${ }^{1}$ सर्वभावानां मध्येडयमधिष्ठाननिरपेक्ष इत्यर्थद्वेतदन्यत्सर्म्नमधिष्ठानसापेक्षमित्यर्थलाभात्तवानिष्टम् । ज्ञानानिवर्त्यव्वादि रूपं वा स्वातन्ड्यम्, यद्वि|निवर्तते तन्निवर्तकाभावाधीनस्थितिकस्वात्परतन्रम्। अन्यादृशामेव स्वातन्न्यं प्रकृते यास्यमित्यत्र नु न विनिगमकम्। अत एव परमार्थस्तु भूपालेल्यादि-(एकंमयं हि यत् ‘विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यद़र्शिन' इति विष्णुपुराणे मिध्यापतिद्वन्द्विशुद्धनित्त्वरूपस्य परमार्थशब्दार्थत्व्व मुक्तम् । 'तत्याज भेदं परमार्थद्टाष्टे ' रित्युपसंहारे च भेदमात्रक्य परमार्थपतिद्वान्द्वित्वमुक्तम्। लोकेड\{ि सत्यत्वेन ज्ञाते परमार्थपदप्रयोगः। परमाथ्थोऽविनाशीति तु वाक्यं परमार्धस्याविनाशित्वं प्रतिपाद्यानात्मनि परमार्थपदप्योगो भ्रान्त्यैव लोकानामिति सूचकम्। अत एव परमार्थे

[^167]न भेद़वानिति पश्वादद्वितीयत्वं परमार्थस्य प्रतिपादितम्। अविनाशिनः परमार्थशठन्दार्थत्वमुक्तवाक्यं बोघयतीति व्वयुक्तम् ; परमार्थपदस्य पूर्वव्वेनोद्देइयबोघकत्वात्पूर्ववाक्यानां तथासत्यननुकूलत्वाचच, अविनाशित्वेन ज्ञाते परमार्थपदापयोगाच । अविनाशित्वेन परमार्थपदार्थतास्वीकोरापी दृइयत्वेनैब तत्त्वर्धानिकर्त्यत्वात्, 'विद्वान्नामरूपाद्दिमुक्तः' ड़ति श्रुतेश्र श्रुद्धचिदेवानाशिनीति सैव तथा। एवं च ' वादो ज्ञात' इत्यत्र नज्कल्पने मानाभावाद्विरोषाचात्मटुक्तार्थ एव श्रेयान्।'सोऽयं सत्य' इत्याद्विवाक्यं तु न श्रुतिः ; अप्रसिद्धत्वात्, प्रसिद्धत्वेडवि द्वैते न विद्यत इति हैंतोर्विनिवर्तत इत्यन्तमज्ञानिनां मतामित्यर्थो बोध्यः। किंच-

तन्वा ${ }^{1}$ स्वस्वामिसंचन्ध: प्रपश्चोडस्य शररीरिणः।
व₹तुतोऽसौ न चैवास्ति परमक्य वशे यतः।
तर्त्वादिकस्तथाप्येष ब्यभिमानात्रदृइयते।।
अतः स विद्यत इत्यक्सीकारो भवेद्यदि ।
तथापि भगवद्धयानात्स निवर्तेदसंशायः ॥
इत्यादिनोक्तश्रोकयोस₹कदाचर्गैर्माण्डूक्यभाष्ये च्याख्यातत्वात् अहमिदें ममेदमिल्यादिस्वस्वामिभावरूपः प्रपश्चो जीवस्य यद्यवि विद्येत, तथापि भगवत्प्रलादान्निवर्तेत। अद्वैतं महा|द्धिर्द्वितीयेन प्रकारेणाज्ञातं परद्रद्मादि द्वैतं द्विधा ज्ञातमजैः, तत्र हेतुः परमार्थंतः परमेश्वरान्मागामात्रं तदिच्छछाकृतं तदिच्छौयैन निवर्तत द्रति । अतो विकल्प: शरीरादिसंबन्ध: केनचिद्जानादिना कारणेन कल्पितोऽव्युपेदशान्निवर्तेते। अतो ब्रह्माणि ज्ञाते सति द्वैतमन्यथाज्ञातं ${ }^{2}$ निवर्तरत इत्ययं वादः सतामिति भाष्ये त्वर्दीयानां ठ्यारूयानाच देहादिसंबन्ध अזत्म-

$$
1 \text { तत्ष्वं-ग. } \quad 2 \text { ज्ञानं-ग. }
$$

नोऽज़ानकल्पित इति त्वयाप्युच्यते । तथाचाइमनि देहादिसंबन्धो देहादिर्वारज्ञानकल्पित इत्यनयोर्विनिगमकाभाव इत्यम्य एतनून्थादावेव विस्तरेणास्माभिरुकत्वाद्दे्हादिमिथ्याल्वं त्वन्मते चलादापततीति कथं तब भेदसामान्यस्य सत्यतोक्ति: ? देहादिमद्रिन्नभेदғ्य द्वेहादिरुपस्य मिथ्यात्वावरयकत्वात् कथं वा त्वद्याख्या त्वद्भाष्यादिविरुद्देति व्यक्तमेव भ्रान्तपतरकोडसि । श्रीगौडपाद्मगवतां श्रोकोपपतिः ॥
'सत्यं ज्ञानमनन्त ' मित्यादिश्रुतावनन्तपदादपि हृइयमान्रं मिश्या। नन्वन्तपदं न पारीच्छिन्ने ठयुत्पन्नम्; येन परिच्छिन्नरून्यवोधकनञุपदेन बहुर्वीहिणा दृ₹यमात्रमिथ्यात्वलाभः, किंतु परिच्छेदे, तथाच यथा गगनाढ़ेदेश्शकालापरिच्छेद्ववीकारेड१ी दे इाकालयोर्न मिष्यांवलाम:, तथा ब्रह्सणो देशानिष्टात्यन्ताभावं कालनिष्ठध्वंसप्रागभावौ वस्तुनिष्ठभेदें च प्रति प्रतियोगित्वरूपणां देश़कालवस्तुपरिच्छेदानामभावेऽपि न दृइग. मिश्यात्वासि|द्धि:। यथा ब्रद्मणो जीवनिष्ठेदापापतियोगित्बेडाप जीवस्य स्वरूपेण न मिध्यात्वम् ; कि त्वैपपाधिकरूपेण, तावतैव विरुद्धांशत्यागेनात्यन्तिकाभेद्दनिवाहात्, तथा प्रपश्चनिष्ठभेदापतियोगित्वेडपि प्रपश्चो न स्वरूपेण मिथ्या ; किंतु औपाधिकरूपेण । किचापरिच्छेदोों न मेद्दाभावः ; तथासति परिच्छिन्नाद्धेदाभावे श्रह्मणोऽपरिच्छिन्नशब्दार्थ-
 परिच्छिन्ने गगनादो पृथिЂयादिमेदेदमात्रेग परिच्छेद्म्याइग्यनहारात्, अनन्तपदेन त्वयैव परिच्छिन्नभेदस्योक्तत्वेन विरोधात्, भिन्न इस्यर्थे परिच्छिन्न इत्यप्रयोगाच्च। तस्माद्देश़कालगुणपरिच्छेद्रशून्य एवानन्तश़न्द्वार्थ इतिचेन्न; जीवम्वरूपस्य ब्रद्सम्वरूपाविरुद्धत्वेन अह्लैक्यसंभवात्, तद्भेद-

मात्रनिषेषाचद्धमिय्यात्वेडपि दृइयस्वरूपाणां परेणामित्वादिना ब्रद्सस्वरूपविरुद्धत्वेनैक्यासंभवात्, व्रद्नाणि तद्रेदनिषेषे ${ }^{1}$ भेदठ्याप्यानां ${ }^{2}$ टइयस्वरूवाण।मपि निषेधस्यार्थिकत्वात्, भेद्सामान्यस्येव हृइयसामान्यस्यापि मिथ्यात्वसिद्दे:, ठ्यापकनिषेषे ठ्याप्यनिषेषस्यावईयकत्वात् ${ }^{3}$ । गगनादौ तु देशादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिषेधेडपि न देशादि|निषेषः; उक्तप्रतियोगित्वस्य देशादिसंबन्घिषु वस्वन्तरेप्वसत्त्वेन देशादिध्यापकत्वस्यैवाभावात्, भेदप्रतियोगित्वस्येन भेद्यदृइयसामान्यस्यापि निषेषमाद|य दइयभेदप्रतियोगिष्वनिषेघस्य पर्यवसानसमवेन बाघकाभावादविनिगम्यत्वाच दृइयमात्रस्यैव निषेघसंभवात् । न च—भेदत्वैनैव भेदोडननन्तपदेन निषिध्यत इति न दृइयनिषेघपर्यवसानमिति - वाच्यम् ; देशकालवस्तुघटितत्वेनैव परिच्छेदानां त्रैविध्यन्यवहारारत्रपश्चस्या। बस्तुगत्या पारेच्छेदशून्यत्वेनानन्तत्वापत्र्या स्वसमानसताकपरिच्छेद. विशिष्टत्वानां द्रयेप्वेव प्रासिद्धानामन्त ${ }^{4}$ ददार्थतया तच्छून्यमनन्तपदबोध्यमिति तत्तद्ट्टरयसमसताकानां भेदा|दैप्रतियोगित्वानां ताहहात्वेनैव निषेध्यत्वात्। किश्विद्वस्तुनिष्ठतादाःम्याव|चिछचन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैन5 भेदत्वेन सामान्यतस्तादाएम्यत्वस्य।नुगतस्याभावेन दृईयतादात्यमादायैव प्रकृते निषेधात्। तादात्य्यत्वस्य भेदत्वस्य वातिरिकत्वेडापि दृइयमात्र एव ₹वशश्रयानिन्नभेदत्वसत्त्वात्तन्निषेधः सिघ्यत्येव । अघिकरणमेव भेद इति मते तु सुतराम् । किचापरिच्छेद्ध इत्यादिकं तु न युक्तम् ; भेदपपियोगित्वरूपपरिच्छेदाभावे डiि परिच्छिन्नभेदानुयोगित्वसंभवात्, मिथ्यात्वाभावोपलक्षिते सत्यपदई्येव मेदोपलक्षिते भिन्नार्थकपद्स्य लक्षणय। प्रयोगसंभवान्य। गगनादिकं
${ }^{1}$ तद्देदमात्रनिषेछे-ग. $\quad 2$ भेदे ठ्याप्यानां-क. 3 क्याफकानिबेधस्यावश्य-कत्वात्-ग. ${ }^{4}$ मनन्त-ग. ${ }^{5}$ भावलस्यैव-ग.

देशकालवपरिच्छिन्नमिति तु भ्रमः ; गुणादौ संयोगादिना त₹्याभावात्। अथ—तत्रापि संबन्धान्तरेण तस्सत्वाल्केनचिसंबन्षेन तस्संबन्चिने न तदभाव इति मते तथा वाच्यम्, तथा च मेद्रपियोगित्वरूपपरिच्छेदस्य तत्र कुतो न घीः ? अनन्तवदेन मया परिच्छन्नमिन्नमुच्यत इस्यपि अमः। भेदप्रतियोगित्वशत्यस्यैव् बहुर्वीटिणा तत्पदेनोच्यमानत्वात्। मिन्न इलल्ये तु परिछिन्नपदं प्रयुज्यत एव ; एकहायन्याद्दिद्रव्यमारुण्यादिना इतरभिन्नमिलये्य ततेन परिच्छिन्नमिल्यस्यामूर्त्य मूत्तभेदकत्वेन कियाकारकत्वमित्यर्थे तस्य तत्परिच्छेदकवेन क्रियां प्रति कारकव्वमिन्यस्य च बार्तिकादै। व्यवहारस्य स्पष्वत्वात् ॥
> 'तस्मादन्त्तः परिच्छितिः सा चाभार्वायतैव हि। निषेष्यं प्रतियोगित्वमभावीयमतेडखिलम् ’॥

अति अदि बन्धन इति धाठुसिद्धान्तपदस्य बन्धनार्थकतया बन्धनस्य च किस्घिद्शकालसंसर्गविरोधिस्वरूपतया संसर्गाभाव्रतियो-
 रूपत्वं संभवतीति तदृ्यन्तवदार्थः प्रकृते निबिध्यते। अत एव-
 इति मेदिनी। संसर्गाभाववत इव भेदवतोऽवि प्रतियोंगिनं प्रत्यवधित्वात्। अत एव काइयदेयसीवरणास्थानाधवषिकत्वव्यवहारः। यतुदेशकालगुणापरीच्छिन्नमनन्तशब्दार्थ इंच्युक्तम्--तन ; गुणापरिचछछेदोडसब्बयचगुणकत्वं देशकालापरिच्छिन्नगुणकलं बा, नाघः ; ‘सलं ज्ञान'मिल्यादिनिग्गुणपकरणे तस्य प्रतिपादनासंभवात्, ‘केखहो निर्गुण’ इल्यादिश्रुतिवियोषात्। अत एव नान्य्यः ‘मथ्यनन्तगुणेडनन्ते गुणतोऽऽनन्तविम्' इत्यादौौ गुणानन्त्यम्य पृथगुक्तिवैयर्ण्यात्, देश्

$$
1 \text { तस्मादतः--ग. } \quad 2 \text { नन्तगुण-ग. }
$$

काल्रवरिच्छिन्ने परिच्छेदा ${ }^{1}$ वयवहारस्य त्वयैवोकत्वेन गुणतः परिच्छेदस्य सुतरामष्यवहार्यंत्वाच। 'पृथिठ्येतावती 'त्यादिश्रुतौ देशकाला'परिच्छिन्नऽपि पृथिठ्यान्दौ गुणतः परिच्छेदो व्यवह्वियत इस्युक्तिस्तु मौब्यात्, पृथिठ्यदंदेंदेगादिपरिच्छेदात् । तस्माद्रुण।नन्त्यस्यानन्तपदाथर्वे मानाभावादुकरूपमेवानन्त्यम्। अनन्तश्रुत्युपपत्तिः ।।
'तदे़ेतन्मधु दध्यङार्वणोऽश्विक्यामुवाच ‘रूपं रूपं प्रतिरूपो बमूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते युक्ता द्यक्य हरयः शतादशेत्ययं वै ह्रयोऽयं वै दशा च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि तदेतद्वह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रद्स सर्वनुमू'रूति श्रुत्यापि दृयं मिश्गा। यक्कक्ष्यं मधु पर्वनुक्तं तदिदे, कि तत्? रूपमिल्यादि सर्वनुमूरित्यन्तं यद्रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपो रुपान्तरम्, नानारूपमिति यावत्। किमथ्थ नानारूपत्वं तत्राह —तन्नानारूपमस्यात्मनः प्रतिचक्षूणाग्र प्रतिख्यापनाय, प्रज्ञानघनस्य हि निरुगाधिकस्वभावन्य नानारूपतंवनैन संस।रिरूपेगाचार्यादिज्ञयन्नहुरूपेण वा प्रतिएग्यावनं नान्यथा, अतोऽयं नानारूपच्वादिन्द्रः परमेध्धर एकरूपाऽपि मायामिर्मिध्य।मूतैरभिन्न: पुरुरूप: ईयते ज्ञायते। कुतो नानारूपा माया? तत्राह——हि यस्मादस्याह्मनोा रधिस्थानीयन्य हरये|ऽभ्धा इन्द्र्रियरूपा रथन्थानीये शरोरे विषगरूपदेशाप्राप्तये आगन्तुकतया युक्राः संबद्धाः । तथाहि काठकश्रुति:
' आट्मानं रशिनं विद्धि रारारं रधमेव तु । बुर्द्धि तु साराथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांक्तेषु गोचरान्। इति।

- ततश्र हर्यादीनामागन्तुकत्वादयमार्मैव हरयोऽयमेव च वक्ष्यमाण-

$$
1 \text { परिच्छे₹-ग. } \quad 2 \text { देशाकाऊ-क. }
$$

दशादिरूपा विषया नात्मान्यदस्ति तत्तस्माद्बर्याध्युपाधिगून्यय्वादेतदाइ्मस्वरूपं ज्रह्झेल्याधेतावन्मधुग्वरूपं प्रत्यग्र्बणोरैक्य' मिति भाष्यवार्तिकानुसारिव्यार्यानात् ॥।

ननु-मायामिर्विचित्राक्तिभिर्मस्स्याघनेकरुपत्वमिन्द्र इल्यादावुच्यते, ‘रूपं रूपं पतिरुपो बम्वे’ त्यु्रापि बिम्बभूतेश्रर्रीयरुपाणां प्रतिरूपशब्द्वतपतिविम्बभूतजीवोषास्यानां रूपं रूपमिल्यनेनोक्तव्वात्, तेषामेव पुरुरूपेत्यत्र रूपqदे़ प्रत्यमिज्ञानात्, 'अयं वै हरय' इलच्यापि हरिशब्देन विण्णुरूपाणां दशः्वादिनोक्रवाव्। अन्यथा अध्दैतमते चिन्मान्रस्यैव नानारूपा|घिषानलेनेनेद्द्रपदाख्वारस्यात्। मायांतु पकृत्ति विद्यादि ' स्वर्तरापे मावया संनिरुद्ध इति पूर्तोका या माया सा प्रकित प्रधानमित्यर्यो न तु या प्रकृतिः सा माया मिध्येति पूर्वोकमायाशब्दार्थर्य जिज्ञासितत्वात्, प्राथम्येन मायाया एवोद्देइयत्वास्रकृतिशब्दस्य प्रधाने प्रसिद्बत्वल्मायाश़्बद्दस्य सले मौौ्रैपधादावापि प्रयोगा|चेति—चेन्न। 'पुनः स पक्षीमूत्वा पुरः पुरुष आविश’ दित्यनेन हि यद्पुरावेशनमुक्तम्, 'रूपं रूप'मित्यादिना प्रतिलिएशरीरं प्रतिकिम्वीभवनरूप्वेन तदेव ठ्याएँवातं जिज्ञासितल्वान्न तु जीवोपास्यमस्स्यादिरुपुक्तम् ; अजिज्ञासिताभिधानापप्तेत्तन्याएककान्तत्वात्। पुरुरूपपदेन पक्रमिष्यमाणस्य तस्य घहणमवि न युक्तम्; न हि जीवन्पति मस्स्यादिरूपं बिच्वम् ; किंव्वीध्वरः, तस्य च नोक्तिसंभवः ; रूपं रूपमिति बर्स्साया असक्तेंः। इररीरेद्र्रयोरलयन्ताभेद स्तु बाधितो दूषितश्च। अथ—पतिरूप: प्रतिविम्वभूतो जावः रूपं रूपं बभूव पाप्तवान् सेवत इति यावत्, भू— पात्तानिल्यस्य छान्दसं पदम्, तथाव्यध्याहमपकरणे उपाम्यरूपोक्तयसक्रतिः। लिक्ञशरीरपतिबिम्बत्वोक्तचा तु जीवस्य बिवेचनं सक्रमम । मावाशब्दस्य च शक्तिपरले ऊक्षणापातिः। ‘माया प्रज्ञा वयुन' मिति नैघण्टुकोत्कया ज्ञाने

यौगिकस्यापि तस्य मिश्यारूढत्वात्। मिश्यामूतस्य कारणे मझ्रादावपि प्रयोगो लक्षण्पैयंवं। अस्येत्यस्या०यवहितेन्द्रपरामर्शकरेे षष्ठचर्धासकतिः, ठयवहितजीवपरामईंकत्वे स एव दोष:। अवतार्यावतारभावस्य षष्ठचथैत्वेऽपि 'अयं वै हरव'इत्यादि 'इन्द्र' इत्यादि च व्यर्थ्यम्। न हीदमुपासनापरम्, निर्गुणप्रकरणस्येदें वै तन्मध्वित्यादौ स्फुटत्वात्, युक्ता ध्यस्येत्यादावस्मदुक्तार्थस्य श्रुत्यन्तरसंवादस्योक्तत्वात् ॥
'वायुर्यैथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपे बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तराहमा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥'
'सूर्यो यथे 'स्यादि 'न लिप्यते लोकदु:खेन बाद्य' इत्यादिश्रुतौ मदुक्तार्थस्य स्फुटखवात्। न ह्यत्र प्रतिरूपो जीवोऽणुत्वेन ${ }^{1}$ तदकीकृतो मत्त्यादिरुपोपासक इत्युच्यते ; बहिष्टिस्य सर्वमूतनन्तराइमत्वस्यैकर्वस्य दुःखालेपस्य चान्वयापत्ते:, किंतु प्रतिदेहं प्रवेशोन विविच्चमानरीवानु.वादेन तस्य बहिश्रादिकमज्ञातं ज्ञाप्यते। न च--' रूपं रूप 'मित्यनेनोक्केषु मस्स्यादिंदेहुणु प्रविष्ट इशः प्रतिरुपपदेनोच्यत इतिबाच्गम् ; 'स एष इह प्रविष्ट ’इत्यादिवाजसनेयाद्युक्तप्रतिरूपशब्दितजीवप्रत्यभिज्ञाविरेोधात्, न लिप्यत इत्यप्रसक्तप्रतिषेधापतेः, प्रतिरूपबहिरनुतादेन एकपदेनाद्द्वितायस्वरूपविधानविरोधात्, ' भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्र सृष्टा प्रविइयामूढो मूढ इव व्यवह्रन्नास्ते माययैवे’ति तापनीये 'स एष इह प्रविष्ट आनखााभ्रे्य: प्राणनेन्नव प्राणो भवति वदन् वाक् पइंश्धद्धु’रित्यत्र चोक्रपविष्ट्जीवप्रत्यभिज्ञाविरोधाच्च। '‘रूपं रूपं ²मघवानो भवती’त्यादिमन्त्रस्तु ईशास्तुतिपरोा न त्वैद्वैतारमपर्रकृतवाक्यसमानार्थकः। ' मायां तु प्रकृति'मित्यदेस्तु या प्रकृतिः सा माया मिथ्येत्येवंर्थः ; माया च तमोरूपनुमूतेत्रे 'तदेतजडं मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूप'मित्यादि ‘तुच्छंयनाम्बपिहितं

यदासीदन्तेन हि पर्यूढा' इत्यादिश्रुतिम्यः। अतो. मिख्यापक्षतिकल्बेन ${ }^{1}$ जगन्मिथ्येयुस्यकाकाक्यादपि सिद्धरति । यघपि मायाशब्द्:ः पथमस्तथापि तदर्थो न जिज्ञासितः ; मिध्यारूपत्लेन लोके ज्ञात्वात्, अतस्तमुद्दिएय पषानत्वरूपविशेषो नोक्ताक्येन बोध्यते, किंतु ' मा़यया संनिरद्ध' इति पूर्ववाक्ये बंन्घस्योको मायारूपो हेत्रः भकृतिर्न उु निमित्रमिति मायामिल्यादिनोच्यते। अन्यथा मिध्यानिमितकक्यापि मिथ्यात्वासम्पतिपन्त्या प्रपझ्चमिध्यात्वासिद्देः। तदेतन्मधु इत्यादिभुत्यर्थः॥ 'अतोड्नयदार्त 'मिल्यादिश्शुश्यापि हइयमान्रं मिथ्या; आत्मान्यस्य सर्वस्य नाशित्वरूपार्तलबोधनेन तेन हेतुना मिध्यात्वानुमाने
 मानल्वम्, तथानान्गस्सर्वमत आरातमेतज्ञाननिवर्ल्यमिल्यर्थ:, ‘स्वात्मजन्धहर: सर्वद्वा द्वैररहित भानन्दरूपः सर्वाधिष्टानं सन्मात्र' इति तापनीययदिश्रुते। अथचात एतस्संचन्धादन्यदाते पीडितं वितथीकृं हक्संबन्धादृइयं मिध्या; संबन्धानिरूपणादिति भावः । ननु— ' श्राषणादन्यमानये '’्युके यथा सजातीयहाद्रादिरानीयते 'समानमितरचज्घेनेने ’्यादिश्रुतौ पक्रतमितरद्रजातं ${ }^{2}$ इयेनयागेन समं बुध्यते न तु काष्ठादि, तथा जीवरूपं सजातीयं पक्कृतं चान्यशव्दार्थं, तस्य च नारिल्वासंभवादार्ते दु:खतीय्यर्य इति--चेन्न; 'एप त आहमा,' ' नान्योडतोस्ति श्रोते ’ल्यादिमिभीवैवैद्यामन्नक्षकण एव प्रकतलेनातः:
 संभवात्, छृृत्ते तु बाषकाभावाव्, सक्षोचावर्यकर्वाश्च शद्वादिपकृतमात्रर्व्वमितरपदस्य युक्तम्। अथान्यपेनेतामान्यल्लेन मनस एव




$$
\text { Anvaita Vol. II. } 20
$$

ईशामेबैनैब तल्काभादन्यपदसहोने मानाभावात्, 'हविरार्तिमार्छें'दिल्यादौ नाशस्याप्यत्यर्थल्वात्। अतोडन्यदार्तमिति श्रुत्यर्थः ।।

श्रुतिस्मृत्यादिष्डु छइयमसदवस्त्वपरमार्थ मिथ्या अतात्विकमविध्यमानं स्वमसमं मायामयमिल्यादिनिर्देशादपि हृयं मिथ्या। तत्र सच्छब्द्यस्य साध्वादिरुपनानार्थकत्वेऽपि ' अद्वयमात्मा सन्मात्र ' इत्यादि ${ }^{1}$ ' असद़न्य 'दित्यन्ततापनीयादौौ तस्याद्वयादिपद्योगात्सत्यार्थकत्वेनासच्छब्दस्य मिथ्यार्थकत्वम्। न हि साधुत्वसंसृष्टस्याद्वयत्वादिसंभवः ॥ 'तस्माद्धिंढ़ं जगदशेषमसत्त्वरूपं

स्वमाभमस्तधिषणं पुरुदु:खदु:खम् ॥
त्वय्येव नित्यसुखोोषतनावनन्ते
मायात उद्घदपि यस्सदिवाव²भाति॥
इति भागवते मायिकत्वेनासदपि सदघिष्ठनत्वेन सदिव भाती: .्युक्तत्वाव् II
"सत्व्व स्वातक्रघमुद्दिष्टं तच्च कृष्णो न चापरः।
अस्वात⿻्र्रयाचत्नद्येषामसत्त्वं विद्धि भारत ॥
इति भारते तु स्वातघ्रघं तत्त्वज्ञानाभावप्रयुक्तस्थितिकर्वरूपवारतन्रघघल्यत्वं सत्यत्वपर्यवसितम्, विम्बपनिबिम्बत्वाम्यां कृष्णजीवयोः साधुत्वासाधुत्वे इत्यर्थो वेति तद्द्वान्तेनान्यत्रासच्छब्दस्यान्यादृशास्वातन्त्र्यार्थकत्वकल्पनं स्रान्तिः;

सत्ये साषौ विध्घमाने प्रशस्तेऽम्यहिते च सत्।
इत्यमरे, 'सन् साधौ धीरहास्तयोः । मान्ये सत्ये विद्यमाने त्रिजु साध्जुभयो: सियाम्' इति मेदिन्यादौ च स्वातन्त्र्यस्य सत्यत्वादिमिन्नस्यार्थस्यानुकेस्तदर्थकत्ले मानाभावात्। नन्ववम्तुपदं परिणाम्यर्थकम्, अपरमार्थपदं च नाइयर्थकम् ॥

यतु कालान्तरणापि नान्यसंज्ञातुौति वै।
परिणामादिसंभूतां तद्बस्तु नृष तच्च किम् ॥
परमार्थोडविनाशीति पा औैरम्युपगम्येते।
इृति वैण्णवात्। मिर्येति च वृथेत्यर्थकम्; ‘मिथ्यैष क्यवसायस्त’ इति प्रयोगात्। दुट्टेल्यर्थक वा; 'मिभ्योपपदात्कृजोड्यास' इति सूत्रे 'पदं मिथ्या कारयते स्वरादिदुद्प्ससकुदुच्चारयतीत्यर्य' इति काशिकोक्तौ 'एतेन मिध्याशब्दस्यार्यमाच्ट' इहति न्यसे क्याइुयानात्। अताल्विकेति च विकारील्यर्यकम् ;

तद्वदेव स्थितं यनु तालिकं तत्वचक्षते।
इति कौर्मात् । अविधमानेति जीवसंचन्विल्वेनाविधमानेलर्थकम्; 'अविघमानं जीवस्य प्रतिभाती’ति ₹कान्दात्। स्वशादिसमेति चानिल्य:्वादिमदितर्यर्थः;

अनिल्यग्वविकारित्ववारतन्न्ययादिरूपतः।
स्वमादिसाम्यं जगतो न ठु बोषनिवर्यता।।
इति वचनात्। मायामयेति च प्राक्टतेत्यर्थ: ;
त्रिगुणा प्रकृतिर्माया तज़्वाद्विध्रमीद्राम्।
अनाघनन्तकालेषु मायेल्याहुर्विपश्चितः ॥
इति स्टृतेरिति चेन्न; तद्वस्वित्यस्य बदेव बस्वित्यर्थाद्वस्तुवस्वस्यापरिणामिल्वन्याप्यताया लाभेन ठ्यापकस्यापरिणामित्वस्वाभाठ्येनादस्तु ${ }^{1}$ त्वस्य लामेडवि वन्तुत्वस्यापरिणामिंत्वस्वरूपत्वालाभात्त। 'पराार्थ न पृच्छही' परमार्थो न भेद्वान्, 'परमार्थोऽविनाझी' ल्यादि 'विज्ञाने परमार्योऽसी द्वैतिनोऽतध्यदार्शिन' इत्यन्तेनाद्धैतचिन्म|भरूपपरमार्थनिरूपणस्पैव पक्रतलेन प्राघन्येनापरिणाम्युकेतेरुपयोगात्।

[^168]' न्योतीषि विष्णुर्मुवनानि विष्णु'रित्यादिना घ्मणः सार्वास्यपुक्स्वा'ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोडसावेष मूत्ती: 1 न तु वस्तुभूत' इत्यत्र ज्ञाररूपलेन तदन्यरूपस्यावस्तुत्वोकेः। न हि परिणामित्यरूपावस्तुले उत्कहेवुसंभवः । 'त₹मान्न विज्ञानमूतेडस्ति किंने'दिल्युपसंहाराच

 देव परमार्यपतिपादनपरतिज्ञानेन पूर्व नाशित्वाघ्यावपातिपादनमात्रस्य परमार्ये कृतत्वाल्परमार्थसारभूतं यद्वद्दैतमशेषतः ‘तत्याज भेदे परमार्यदृट्टि'रिस्युपसंहारे परमार्थस्यद्धैतलेनेनोक्ते: परमार्थसारेत्यस्य कर्मषारयत्वादन्यपरमार्थल्वराक्ताविरहात् । मिथ्यापदं तु वितथे रूढम् ; मृषा मिथ्या च वितथे इल्यमरात्। मिथ्यैष ठ्यवसाय इल्यत्रापि निश्वय एप वितथ इत्यर्थात्पदं स्वरादिदुद्धमित्यस्यापि चवरादिदोपेण पदमाभासीकृतामिल्यर्थात । अन्पथा दुष्वजलादौौ मिध्याजलादिक्ववहाापवेत्वृथाघर्थकक्वे मानाभावाच। अतवेल्यस्यापि मृषार्थन्वमेव; तर्वशश्द्दस्य सत्यखुछत्वस्य वाचारम्भणश्रुतिव्याख्याने पूर्वमुक्तत्वात्। तद्देदेवेयादावेवकारस्यानुकत्रचद्वदेव स्थितं यतदेव तात्विकमित्यर्थादविकारिवक्याव्यत्वस्य तत्व्वरूपतायामुक्तेलनाविरोषात्। तद्वादिति बत्यर्थस्ववविचक्षितः ; अन्यथा भेदघटितसाहछइये सत्यपरिणामित्वस्याप्यसंभवात् ॥

अविधमानोड्य्यवभासतेडर्रो
ध्यातुर्षिया ₹्वपमनोरथौ यथा।
अर्थ बविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवते।
छायापल्याइ्या भासा खसन्तोडप्पर्थकारिणः ॥
इत्यादौ चाविघमानासदादिपदं पतिपनोपाषावविघमानरूपमिष्याताल्पर्यकम् ; स्वभावकालीनविदमानसामान्यस्य भेद्बोषनान्न तु जीवसंब-

न्विलेनाविधमानबोधकम् ; उक्षणापतेः। अत एवाविधमाने जीवस्य प्रतिभातीति जीवस्य मूबस्याविधमानमेव भाति, अमूढस्य तु तत्त्वमील्यर्थकम्। अत एवासन्त इल्यनेन मिथ्याम्बतमर्थक्रियाकारे हृ्टान्तलेनोग्रम्। अत एव च ₹घमदिसाम्बं मिध्यात्वेन ; तर्त्वनित्यय्वादिना तस्य भ्त्यक्षादिसिद्धत्वेन तदुकिवैयैर्थात् । अनित्यक्बेत्यादिवचनं ल्वपामाणिकम् ; पामाणिकतेवडीप पारतन्ग्यमुक्तरूपम्। बोषपदं च व्यवहारकालीनजाम्रदोषपरम्; अत एव 'वैषर्म्याच न च्वमादिवत्'। इति सूत्रे तथोक्तम--‘ इन्द्रजाइमिव मायामयं स्वप्र इव मिथ्यादर्शनं कदळीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेशं चित्रभितिरिव मिष्यामनोरम' मिति । मैत्रापण्यादिश्रुतौ तु मिथ्यादर्शनविषयव्बेन स्वमसाहखं क्फुटम्। तेन च ज्ञानमिध्याल्वे लन्बेडपि ज्ञेयमिय्याव्वलाभायेन्द्रजालहघान्तेन मिध्यापकृतिकलं मायामयशब्देनोक्रम्। प्राकृतं तु प्रकृते न मायामयशब्दार्थः ; इन्द्धजालहछ्टन्तासक्ने: । न हि प्रपश्चे प्राकृतल्वसाध्यताकाले इन्द्रजाले प्राकृतत्वं सिद्यम् । मिष्याप्रकृतिकत्वस्य भपश्चे साध्यताकांते तु तदिन्द्रजाले सिद्धम्; मिष्यात्वेनानुमूयमानस्य जुक्तिरूप्यादेर्मिध्याभूताज्ञानोपादानकत्वेन छुप्रत्वात्। मायाशब्दो लोके मिथ्यारूढ इति तूक्तमेव। अत एव 'सेयंय माया भगबतो यन्नेयेन विरुध्यत' दूति भागबतादौै युक्तिविरद्दस्य मायत्वमुक्तम्। भगवत इति बहुर्धर्त्तु नियम्यत्वादिः। युक्तिविरुद्धस्यापि सत्यस्वे धुक्तिरूप्यदेरेपि तदापत्तिः ${ }^{1}$ त्रिगुणेत्यादौ नु मिध्याश्वरूप ${ }^{2}$ मायाशब्दरूब्बर्थस्य मिध्यापकृतिकलेने जगत्युपादनं कृतम्। या मूलुकृतिः सा मिध्या तदुपादानकक्वात्कार्यमान्रं मिथ्येत्यर्थात। न ुु प्कतौ मायाशब्वरूबहिक्ता; लोककहत्तमिथ्यारूबैव तस्यां श्रैतपयोगसंभवात्, रूबन्तरकल्ये मानाभावात् । मायाववयामेदेमते ल्ववियाग्या${ }^{1}$ तदापतेत:-ग. 2 मिय्यात्वरू-क. ग.

त्वरुप्रेण मायापदप्पयोगो नायुक्तः ${ }^{1}$, यथा हि ज्ञानमात्रस्य बिधाज्ञानादिपदमुरुखार्थल्लेडपि तत्त्वज्ञानमात्रवृत्तिना मुरु्यज्ञानत्वादिना 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन' इत्यादौ लाक्षणिकः प्रयोग आजानिकस्तथा सर्वमिथ्यमामूल्तश्रेष्तव्वादिना भगवदुपाघिमात्रवृतिरूपेण मायापदस्य ताद्धगपयोगसंभवात् । अत एवं 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविधा च स्वयमेब भवती ' ल्यादिश्रुतिरपि ब्याख्याता। न हि धार्मिक एव मनुष्य इत्यदिपयोगानुरोधेन धार्मिकादै। मनुष्यादिक्त्स्य रूहि: कर्प्यते। अतएव-

ऋतेडर्थ यत्रतीयेत न पतीयेत चान्मनि।
तद्विधादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥
दति भागवतमे। अर्थस्य पतीयमानस्य स्वस्याभावेऽरी यस्पतीयते, खाधिकरणे वर्तमानाभावपतियोगीति यावत्, तन्मायापदार्थ विधात्, तस्यचालैसैवावच्छिन्नानवच्छिन्नरूपेणाधिष्टानमू, अन्यस्य सर्वस्यापि कल्पित-त्वाबित्याइयेन-आत्मन इत्युक्तम्। नन्वेवम्-स्वप्रकाशस्याधिष्टानस्य सर्वदा भौनालकंकंय तत्रारापस्तश्राह-न प्रतीयेत चात्मनीति। आत्मनि परमानन्दरूपेण प्रतीयत इति यत्तदपि माया, पूर्णानन्दस्वप्राइस्क्रुणरूपपतत्यिभावत्ववत् भावरूपमश्ञानं जगदुपादानमपि तादशमायेति यावत्। तथा च ₹वपकारेडप्प्यकाशस्य कल्पितत्वातन्मूरकोड्न्यस्य सर्षस्यारोप इति भावः। अर्थाभावे पतीयमानते हछ्वान्तमाह— यथामास इति। यथा गुत्तथादौौ रूप्याधाभास इल्यर्थः। प्रकाशस्वलपे तदभावत्वेन कस्प्यमानले हृान्तमाह-यथा तम इति। यथा मध्यान्हसूर्यलोके तदसावत्वेनोलक्कैः कल्प्यमानं तम इल्यर्यः ॥

किंच तार्किकधुर्धर्यौतनससूत्रैरपि प्रपष्षो मिध्या; तथाहि' एकस्मिन्भेदाभावाद्शेदशब्दपयोगानुपप तेरपभ्:ः (१), बुद्धया विवेचनातु

भावानां याधार्थ्यानुपलबिषस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्रावानुपलव्बिबत् (२), ₹वभविषयमिमानवदयं प्रमाणपमेयाभिमानः (३), मायागन्षर्वनगरमृगतृष्णावद्वा (8), मिथ्योपलळ्षेर्विनाशः 1 स्वमविषयोपलब्षप्रणाशवत्पवोषे

 दोपनिमिचं रूपादये विषयाः सक्षल्पकृताः (९), तन्निमिचं ख्ववयं्यमिमान्क्; (?०), निध्यावििघद्वैविध्यात्संघयः (??), इति तत्त्वनिर्णयनार्मिकचतुर्थाध्यायसूत्राणि गैतमीयानि । अय पूर्वप्षसूत्राणीमानि 'आरम्भवादरूपतस्सिद्यान्तविरुद्धत्वादिति चेन्न बुद्धघा विवेचना’दिलादिना 'यदे रो रोहित रूपं तेजसस्तदूप्, अपागादमेरमित्व'मिल्याबिश्रुन्युक्तस्य तर्कस्यो क्रत्वात्। अत एवो कसूत्रार्यझ्बोटकाचार्यें: श्रुत्यर्य.ल्वेनोक्तः ॥
" प्रदिद्शयियुर्वुसनस्य यथा वितथत्वमयास्यति तन्तुगुणम्। अपकृष्य तु तन्वुसमं त्रितयं ज्वरहनम्रुखस्य तथोक्तवती " ॥ इति। यदेमरिल्यादिश्रुतिरिति शेष: । मायेत्यादिना '₹न्द्रजाएमिव मायामयं स्वश् इव मिथ्यादई्श'मित्यादिश्रुत्युक्तस्य, मिथ्येत्यादिना 'यत्र हि द्वैतमिव भवती’य्यादि श्रुन्युक्तस्य, मक्षल्पक्कता इत्यादिना 'एतस्सर्व मन पवे’ल्यादि श्रुत्युक्तस्य तर्कस्यापरिहार्यस्योक्त्वात्, आरम्भादिप्रकियाया अवैदिकनिरासमात्राभिपोयेगोक्तत्वाच्च। अन्यथा चतुर्थाध्यायान्ते ताहचपक्रियाया हेयत्वमद्रैतमतस्य च भाष्बतं सूत्रभाष्ययोनोच्येत। तथाहि—' तदर्थ यमनियमाम्यामातमसंसक्करो योगाचात्मविध्युपायैः (१)। तस्यापवर्वस्याधिगमाय यमनियमाम्यामात्मसंस्कार:

कर्तव्य:, यमः समानमाश्रमिणां धर्मसाघनम्, नियम: प्रतिविशिष्टमात्मसंक्कारः पुनरषर्महानं धर्मोपचयश्न, योगशाखाचचाध्यात्मविधि: प्रतिपत्वब्य:, स पुनस्तप: प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति, इन्द्रियविषयेषु च प्रसछ्बयानाम्यासो रागद्वेषनिघातार्थः। उपायस्तु योगाचारविधानमिति, ज्ञानप्रहणाम्यासक्तद्विघैश्च सह संवादः (२) तदर्थमिति प्रकृतं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमाइमविद्याशास्रम् , तस्य प्रहणमध्ययनषारणे, अम्यासः सततं तक्रिया, अध्ययनानुबन्धश्रवणाचिन्तनानि, तद्विधैश्र सह संवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थम्, प्रज्ञापरिपाकस्तु संश्यच्छेदनं विज्ञा ${ }^{1}$ तार्थावबोधोड"ध्यवसितार्थाम्यनुज्ञानमिति, समायवाद: ${ }^{3}$ संवादस्तद्विधिश्व सह संवाद इत्यविविक्रार्थ वचनं तद्विभजते —तं शिष्यगुरुस习ंसचरिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनुसूयिभिरभ्युपेयात् (३), एतन्निगद्व्यारूयानैनैव नीतार्थमिति। यदि च मन्येत पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः. परस्येति, प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे (8)। तमम्युपेयादिति वर्तते परतः प्रज्ञामुपाद्विसमानस्तत्वबुभुत्साप्रज्ञापनेन ₹वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेत्, अन्येन्यप्रत्यनीकानि च प्रवादुकानां दर्शनानि स्वपक्षरागेण चैके न्यायमतिवर्तन्ते ${ }^{4}$ । तत्र तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ जल्पवितण्डे' बीजप्ररोहरक्षणार्थ' कण्टकशाखावरणवत् ('4)। अनुत्पन्नतर्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थ घटमानानामेतदिति, विध्यानिर्वेदादिभिश्र परेणावज्ञायमानस्य ताभ्यां विगृद्य कथनम् (६)। ताम्यां जल्पवितण्डाम्यां विगृड्येति विजिगीषया न तत्व्वनुमुत्सयेति। तदेतद्विधापालनार्थ न लाभपूजाख्यात्यर्थमि'ति। एवमन्या अपि श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिकोटयो दृयमात्रमिथ्यात्वबोधिकाः सत्योऽपि भन्थगौरवभिया न लिख्यन्तन इति। तस्मान्मूढमतिर्नैव ${ }^{7}$ श्रद्धेयोडयं प्रलापकृत् ।।

1 नविश्ञा-ग. 2 बोधा-ग. ${ }^{3}$ समयवाइः-ग. 4 मतिवदन्ते-क. ${ }^{5}$ विदप्डे-क. ग. $\quad 6$ संरक्षणार्थ-ग. $\quad 7$ मतिनैव-ग.
परिच्छे:]

अथ ज्ञाननिवर्श्यत्वान्पथानुपपत्तिः.
' तरति शोकमात्मवित्' 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः'
'भिद्यते हुदयग्रन्थिरिछद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'।। इत्यादिध्रुतिस्मृतिबोधितज्ञाननिवर्ल्यत्वान्यथानुपपत्तिरपि इन्धमिथ्यात्वे प्रमाणम् ; सत्यत्वे ब्रवदनिवर्य्यव्वापतेः। तथाहि-श्रुक्तिरूप्यरजुसर्पदौ ज्ञाननिवर्त्ये' न तावत्तत्रूपवत्त्ं ज्ञाननिवर्य्यतावच्छेदकम् ; अननुगमात्, किंतु सर्वानुगतं मिथ्यात्वमेवाज्ञानकल्पितत्वापरपर्यायमवच्छेदकम् । एवं ज्ञानस्यापि तनिवर्तकत्वे न

तर्कै: सारस्वतै रतलन्थन्द्रिकाचन्द्रभूषणै: ॥
श्रुतिस्मृतिमहातर्ककेटिरिर्जगता मृषा ॥
 ใंतारास्यंक्लन्वन्णायः ॥

## अथ ज्ञाननिवर्ल्यत्वान्यथानुपपत्तिः.

तरति शोकमात्मविदिति । तरति अतिकामति अल्यन्तं नाशयताति याबत्। शोकं भीढेतुं द्दैतमिति यावत्। मिबते नाइयते। ह्वय्रन्यि: अहक्षारः। छिघन्ते कारणीमूताज्ञानोच्छेदान्नोष्वादन्ते, ${ }^{2}$ श्रुतिबोघितेति। आल्मविदित्लादीनां हेतुगभविशेषणणव्वात् ज्ञानात्पूर्व शोकाबनिवृतेलोंकसिद्धलेन ज्ञानकाले तदुक्तया च ज्ञानस्य तद्देतुतालाभाच द्रयस्य ज्ञाननिवर्यल्लं श्रुतिबोधितमिति भावः। बन्धमिथ्यात्वे द₹यमान्रमिध्यात्वे। अज्ञानकल्पितत्वेति। अज्ञानरूपदोष-

1 निबर्लंजे ${ }^{2}$ नोलपबन्ते-ग.

शुक्तयादिविषयत्वमवच्छेदकम् ; अनतुगमात्, किंतु सर्वानुगतमधिष्ठानग्रमात्वमेव। तथाच यत्र ज्ञानस्याधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता तत्र मिथ्यात्वेनैव निवर्लतेति नियमः सिध्यति। एतादृशानियमानम्गुपगमे चानन्तानियमकल्पनागौरवरूपो बाधकस्तर्कः। तथाहि-यन्बिष्ठा यदाकारा ग्रमारूपान्तःकरणषृत्तिरुदेति, तबिष्टं तदाकारमज्ञानं नारायतीति नियमस्य सिद्धत्वात्, उपiदाननाशास्य चोपादेयनिवर्तकः्वात् श्रुक्तयादिज्ञानेन तत्तदाकाराज्ञाननारे तदुपादेयानां रजतादीनां निवृत्तिरौचित्यावर्जितैवैति नियमान्तराकल्पनेन लाघवमनुकूलस्तर्कोडस्मत्पक्षे । अज्ञानोपादेयत्वं च श्रुक्तिरजतादीनामन्वयन्यतिरेकसिद्धमश्रे स्थास्यति। एवं स्थिते

प्रयुक्तधीविषयत्वयोग्गत्वं ₹वाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोगितारूपमित्यर्थः ।. अधिष्ठानप्रमात्वमिति। मिध्यानिष्ठप्रतियोगितया नारां प्रति ₹्वविषयविषयाज्ञानतत्रयुक्तान्यतरत्वसंबन्धेन प्रमात्वेन हेतुतेति भावः ॥।

ननु-दृइयनिष्ठपतियेगितया नारां प्रति प्रमात्वेन हेतुत्वमन्तु ; यनिष्ठेत्यादिवक्ष्यमाणनियममूलहेतुत्वानां मयापि स्वीकारान्न घटादिप्रमया पटाद्यज्ञाननाश•। तथाचाकाशादेरज्ञानानुपादानकत्वेऽपि ठ्याव• हारिकद्छयनाशे मूलाज्ञाननिवृतेतेहेतुत्वकल्पनादाकाशादेराह्मज्ञाननिवर्स्यत्वस्य श्रौतस्योपपात्तिः। शुक्तयादिप्रमाया अपि शुक्तय। ${ }^{\text {ज्ञाननिवृत्तौ }}$ शुक्तिरूप्यादिनिनृत्ति प्रति विशिप्य हेतुव्वेन क्लमायां हेतुत्वम्, न तु शुक्तिरूप्यादेरज्ञानप्रयुकत्वत्वादज्ञाननाशानाइयत्वम् ; येन तत्र कुससामान्यहेतुत्वेनैवाकाशादिनाशसिद्धि:, शुक्तिरूप्यादेर्भाइकरादिमते सत्य एव मिथ्यात्वादानन्दतीर्थादिमते तुच्छत्वाद्ज्ञानाप्रयुक्तत्वत् । एवं चाकाशादेर ज्ञानप्रयुक्तव्वासिद्धया मिध्यात्वासिद्धिरित्यत अह—एताद्शानियमानभ्युपगम इति । नियमान्तराकल्पनेनेति। श्रुक्तिरूप्यदिनिवृत्तौ शुक्तथज्ञानादिनाशास्य विशिष्य हेतुत्वकल्पनामूलक-

कृत्नस्यापि प्रपश्रस्यात्मप्रमानिवर्यत्वे तदश्ञानकल्पितत्वमेव तत्रावच्छेदकं कल्प्यते, न त्वनलुगतमाकाशात्वादि; न वा ब्रद्नमिघत्वं सन्भिभत्वं वा सर्वानुगतमपि, तुच्छेडतिप्रसक्ते:, तद्धारकविशोषणप्रक्षेपे तु सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमेव निवर्ल्यताप्रयोजकं पर्यवसितम् ; अन्यथा नियमान्तरकल्पनागौरवानियमाकल्पनेनेल्यर्थः । आत्मप्रमानिवर्त्यत्वे आत्मप्रमाजन्येनात्माज्ञाननाोोन निवर्ल्यत्वे । तदज्ञानकल्पितत्वं तदज्ञानपयुक्तव्वम्। सामन्यतो मिथ्यामूतप्रतियेगिकनाइे प्रमाल्वेनोकहतेतुत्वेडवि प्रमाविशेषस्यैव मिध्याविशेषनिवर्तकख्वाय यन्निष्ठत्याद्युक्तनियममूलहेतुत्वविशेषस्येव स्वविशिष्टे प्ययेज्यनाशो प्रयोजकनाशस्यापि हेतुत्वस्य कूसत्वादात्माज्ञाननाइात्पपष्चनाशानिर्वाहाय प्रपश्चस्योक्तमयुक्तत्व कल्प्यते। जीवेशभेदादेरनोदरप्यज्ञानपयुकत्वत्वाश्नात्पत्तिः। प्रयोजकीमूतद्डण्डादेर्नाशोऽपि घटाद्यनाशा।स्वविशिप्टत्वस्य नाइयतावच्छेदके निवेशः। निमित्तनाशोपादाननाशोभयसाधारण्येनैकहेतुत्वत्राभायोपादानत्वादि विहाय प्रयोजकत्वनिवेशः । तच निमित्तोपादानसाधारणोऽखण्डधर्मविशेष: । स्व(प्रतियोगिप्रयुक्त) पतियोगिकत्वसंबन्धेन नाइशिशिष्टं नाशं प्र:्युक्तपयुफत्वसंबन्धेन नाशो हेतुः प्रतियोगितांबन्धेन कार्यत्वमिति भावः। तंत्रावच्छेदकं कल्प्यत इति। अवच्छेदकत्वेन कृषंत तत्र कल्प्यत दृत्यर्थः। आकाइात्वादीति। अनन्तकार्यकारणत्वमूलकानन्तनियमापतेरिति शेषः। तुच्छ इति । शुक्तिरुप्यद्यौ चेति शेषः। अतिप्रसक्षेरिति। तुच्छस्यानिवर्त्यस्वाच्छुक्तिरूप्यादेर्मूलाज्ञाननाशानाइयत्वानुक्तरूपं मूलनज्ञाननाइयत्वाति ${ }^{1}$ पसक्तमिति भावः । निवर्त्यताप्रयोजकं प्रमाणमात्रनिवर्य्यतावच्छेदकम् । अन्यशेति । आकाशादौ सत्यत्वा${ }^{2}$ जीकारेणाज्ञानप्रयुक्तत्वमस्वीकृत्य स्वकालीनदृरयत्वरूपष्यावहारिकदृइयत्वस्य मूल्गज्ञाननारुं प्रति नाइयतावच्छेदकत्वस्वीकारे इत्यर्थः। नियमान्तरेति।

पत्तेः। तथाच ग्युक्तथादिश्ञानस्य येन रूपेण निवर्तकत्वम्, तेन रूपेणात्मज्ञानस्य निवर्तकत्वम् । रूप्यादौ येन रूपेण निवर्त्यत्वम्, प्रपश्चे तदूपं विनानुपपद्यमानं स्वोपपादकतया तत्र तत्कल्पयतीति सिद्बं मिथगात्वम्। ननु—भवेदेतदेवम्; यद्यात्मज्ञानस्य प्रपश्चे निवर्त्ये शुक्तयादिज्ञानसाधारणमधिष्टानप्रमात्वमेवावच्छेदक्कमित्यत्र किंचिन्मानं भनेत् ; रूपान्तरेणापि निवर्तकत्त्वसंभवात्, श्रुतिस्तु द्वैतप्रपं्नस्याद्वितीयात्मज्ञां निवर्तकमित्येतात्न्मात्रे प्रमाणम्, न त्ववच्छेदकविशोषेऽपि। न च ज्ञाननिवर्त्यतामात्रान्मिथ्यात्वसिद्धिः ; सेतुदर्रानादिनिवर्यदुरितादिषु ठ्यभिचारात्। तन्र तिहितक्रियात्वाद्दिना निवर्तकर्तान्न व्यभिचार इति-चेत्, प्रकुतेऽपि रूपान्तरं नावच्छेद्कमिति कुतो निरणायि। ज्ञानस्य हि स्गप्रागभांं प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता, पूर्वज्ञानादिकं प्रति तू त्तरवर्तिंविरोधिगुणतेवन, संस्कारं प्रति फल-

उक्तनाइयताकल्पनमूलकनियमेत्यर्थः 1 येन रूपेण निवर्तकत्वमिति । येन प्रमां्वेन धर्मेण येन स्वसमानविषयकाज्ञानतत्पयुक्तान्यतरत्वसंबन्धेन निवर्तकत्वं मिश्यामात्रनिवर्तकत्वं येन प्रयोजकीभूताज़ाननाशाद्वारा रूप्यादिनिवर्तिकत्वं चेत्यर्थः। येन रूपेण निवर्त्यत्वमिति । येन मिध्यात्वेन प्रमासामान्यनिवर्स्यत्वं येनाज्ञानपयुक्तंवेन धर्मेणाज्ञानरूपप्रयोजकनाशानाइयत्वं चेत्यर्थ: । तदूपं विनेति । उक्तसंबन्धं विना तेन संबन्धेनोक्तद्वारं च निवर्तकत्वमनुपपन्नं ; मिथ्यात्वं विना प्रमासामान्यनिवर्त्यव्वमज्ञानप्रयुकत्व विना तेन रूपेणोक्तनाइयत्वं चानुपपन्नमित्यर्थः। अधिप्ठानप्रमात्वमेवेति। उक्तान्यतरववसंबन्धेन प्रमात्वेन प्रयोजकीभूताज्ञाननाशद्धारा निवर्तकत्वं न प्रपश्चेऽसित ; येन तत्रोक्तसंबन्धो मिध्यात्वं वा

ज्ञाननिबर्लंख्वान्यथानुपपत्ति:
त्वेन, रागादिकं प्रति विषयदोषदर्शननत्रेन, विषं प्रति गरुडध्यानत्वेन, सेत्वादिदर्शनस्य दुरितं प्रति विहितक्रियात्वेन। एवं च मिथ्यात्वं विनापि ज्ञाननिवत्त्यत्वदर्शनान्न तन्मिथ्यात्वस्य साधकम्। उदाहहतेष्वपि सत्यत्वासम्प्रतिपत्या मिथ्यात्वमेवास्तीति चेत्, अस्तु वा मास्तुं ; ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रं तु न तस्य साधकमिति ज्रूमः। हेत्वन्तरेण सिद्धौ चैतदुपन्यासो व्यर्थः। श्रुक्तिरूप्यादौ कथमिति चेच्हृणु। अधिष्ठानज्ञानत्वेन तत्र ज्ञानस्य निवर्तकत्वात् । अधिप्ठानज्ञानत्वं हि अज्ञाननाराकज्ञानत्वं वा, अश्ञनसमानविषयकप्रमात्वं नेति तेन रूपेण निवर्तकत्वे तविवर्यस्य नज्ज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वं सिद्धयतीति युक्तं ग्युक्तचादिज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादेर्मिध्यात्वम् । संत्वादिदर्शनादिनितर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्वकज्ञानसमनवविपयका ज्ञानोपादानकत्व्वमिति न मिथ्यात्वम्। एवं चात्मज्ञानस्यापि निहितक्रियात्वेन निवर्तकत्वसंभवादधिछ्रानज्ञातत्वेन च निवर्तकत्ने मानाभावान्नात्माज्ञानोपादानकत्वरूपामिथ्यात्वसिद्वि: प्रपश्नस्येति प्राप्तम्। अत्रोच्यते—आत्मकर्प्यमिती ${ }^{1}$ भावः । दोपदर्शनत्वेनेति । रम्यव्वसंस्कारस्या-
 निश्ययोपि तथेति भावः। एवास्तीति। अभ्येवेत्यर्थ:। तथाच मिष्याव्वं विनेलयुक्तमसिद्धलिति भावः। हेत्वन्त्रेण द्रयव्वादिना। अज्ञाननाशकेति। तनुपादानाज़ाननाखकेलर्यर्। तेन रूपेणेति। तद्वपष्याप्ये"ल्यर्थ:। यद्यि विहिताक्कियांचेनति परेणान्तम्, तथापि प्रतियोगित्वादिनापि निवर्वकंवश्कासंभवत्तामवि निरस्यति तन्रेत्यादि।

ज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेनैव प्रपंश्रं प्रति निवर्तकत्वम्, प्रका रान्तरासंभवाव्। तथाहि-प्रतियोगित्वं तावन निवर्तकतावच्छेदकम् ; प्रपशस्थस्य भावरूपत्वार्, ज्ञानस्य प्रागभावनिषृत्तिरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन प्रागभावनिवर्तकत्वासिद्धश्य। नाप्युक्तरगुणत्वम्; आकाशादेरात्मविशोषगुणत्वाभावात्, इच्छादेरपि प्रपश्चनिवर्तकत्वापाताच । नापि फलत्वम्; संस्कारस्य स्मरणजनकत्ववदाकाशादेरात्मझ्ञानजनकत्वाभावात्, संस्कारस्य स्मृत्यनाइयत्वेनोदाहरणासिद्धेश्न। विषयदोषदर्शनस्य तु रागादि निवर्तकत्वं रागादिकारणीभूतबलवदनिष्टननतुबन्धीष्टसाधनत्वअ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनेति न प्रकृतोदाहरणादतिरिच्यते, श्युक्तिरूप्यतुल्यत्वात्। गर्डध्यानं तु न प्रत्युदाहरणम् ; ध्यानस रागादेरिव ज्ञानत्वानम्युपगमात्, ज्ञानस्येच्छानधीनत्वेन तद-, धीनध्यानापेक्षय $1^{1}$ वैलक्षण्यात्। स्पष्टं चैतदाकरे। ज्ञानत्वेऽपि तस्य सेतुदर्शानपक्षान्नातिरेकः ; शास्रविहितत्वाविशेषाप्। केवलं सेत्वादिदर्शनवद्विहितक्रियात्वमवरिष्यते। तच न संभवति; ज्ञानस्य कर्तुमकत्तुमशक्यत्त्रेन विधेयत्वायोगात् । विस्तरेण च ज्ञाने विधिराकरेषु निराकृतः, निराकरिष्यते चेहापि। सेतुरूपत्वादिति। आकाशादेराधिकवृचित्वादिना न ज्ञानप्रागभावत्वमिल्यपि बोध्यम्। ननु-द्टष्टिस्ट्टिपक्षे अकाशादेर्मनःपरिणामत्वाचादास्येन पृथिव्याघसंबन्षत्वेन।नधिकवृत्तित्वात् ज्ञानप्रागभावत्वमस्तु ; भावस्यापि तस्य स्वध्वंसरूपज्ञानप्रागभावत्वे बाधकाभावात्ताह —्ज्ञानस्येति। असिद्धेरिति। ज्ञानस्य स्वनिवर्तकत्वासंभवोऽपि बोध्यः। जनकत्वाभावादिति। मनआद्देज्जनत्वेडव्यसंस्कारत्वात् । न हि जनकमान्रं फलनाइयमिति शेष:। दोषदर्शननस्य बहुविधदुःखप्रयोजकत्वादिदर्शनस्य। आकरेष्डु

$$
{ }^{1} \text { ज्ञानापेक्षया. }
$$

दर्ईने कथमिति चेत्? विशिष्टाकरेण विछेयत्वोपपत्त्त: । न हि सेतुदर्शनमात्रस्य दुरितनाशकत्वम् ; तत्रत्यम्लेच्छानामपि दुरितनाझभ्रसक्नाव, कितु परराह्टादुपस्थानादिप्रूर्वकव्रतकलापविशिप्टस्य; तथाच छत्रपादुकादिवर्जनदो पोदोषोषणदूयदेशगामित्वमिक्षाभोजित्वादिनियमानां कृतिसाछयत्वात्तद्विशिष्ट सेतुदर्शनमपि कुतिसाध्यमिति विशिष्रूपेण विधानोपपत्तिः। आत्मज्ञाने तु नास्ति किंचिद्विशेषणमपि कतिसाष्यम्, येन तद्विशिष्टत्वेनापि विधेयत्वं स्यात्, कर्मसमुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वात्, बन्धस्याज्ञानमात्रहेतुकत्वेन ज्ञानातिरिक्तनिर्वरकानपेक्षणाच । बन्धस्याज्ञानहेतुकत्वं च 'मायां तु प्रक्रिति विद्यात्', 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुद्यन्ति जन्तवः' .इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्दम्। वक्ष्यते चात्रे। अज्ञाननिवर्तकज्ञानस्य चोत्पत्तिमन्तरेणान्यापेक्षा नास्तीति ग्रुत्तथादिश्ञाने दृष्यू | तथाचोक्तं वार्तिकहुन्भि:--

तत्व्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धजजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्पति ॥ इति ॥
समन्वयमुत्रभाष्यादेषु। विरोषणयपि कृतिसाध्यमिति। श्रवणादेरह्ञवे मानाभावादिति भावः । बन्ध天्य मनआदेः। अज्ञानमात्रहेतुत्वेन ${ }^{2}$ अज्ञानात्मकमात्रपरिणरमिकत्वात् । निवर्तकानपेक्षणाद निवृत्तिजनकानेक्षणात्। असंभावनादिरूपदोषापावस्य प्रतिबन्धकाभावव्वेनालमनिश्रयनिष्टायां निवर्तकरा कौ उ्याव्यस्वेनापेक्षायामपि न जनकल्वम्। अदृष्टं न निष्तौता कारणम् ; सुखनुःखतजनकेष्बेव तस्य तत्वादिति द्रव्यर्धमानादौ स्पषम्। काहस्य हेगुत्वे तु मानस्याभाव:, भावे वा ज्ञानमपि कार इति तदन्यमात्रवृत्रिरूपावच्छिन्नस्पैव

[^169]
## प्रत्यग्याथातम्यधीरेव प्रत्यगझ्नानहानिक्ुत् ।

सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद्वान्तध्वस्तावपेक्षते।। इति च॥
अत एव 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं परयति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवभूत्त्केन कं पइयेत्' इत्यादिश्रुतिः,

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पइयतो गुनेः ।। इत्यादिस्मृतिश्राविद्यावस्थायां संसारोपलम्भं विद्यावस्थायां च तदनुपलग्मं दर्शयति। तस्मादधिष्टानप्रमात्वेनात्मझ्ञाननिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिष्विव बन्धेडपि मिथ्यात्वं सिद्धम्।
प्रक्टते ठ्यवच्छेदान्न दोषः। साधारणकारणं हि निवृत्तौ प्रतियोग्यवीति तन्न व्यवच्छिघते । ${ }^{1}$ यतु 'तदा विद्वान्नामरूपाद्दिमुक्र' इति श्रुतेः कालोडव्यज्ञानकार्यनिवर्तक इति--तचित्रम्; यथा नघ इत्यदि तथाविद्वानित्यन्तस्यैव मुण्डकपाठत्वात्, श्रुत्यन्तरर तदापदसत्वेऽपि तेन ज्ञानसामय्यीकाहस्यैदो कत्तवेन तद्धेतुत्वालाभात्। इत्यादिभ्रुतिस्मृतीति। आदिना ठयवहरन्नासे, माययैव मायया ब्यन्यदिव, तम आसीत्, मायामयमिदं द्वैतम्, विभेदजनकेऽज्ञाने इत्यदिश्रुतिस्मृतयो बोध्याः। दर्शायतीति। यद्यन्यदपेक्ष्येत, तदा विय्यासत्वेऽपि तद्विलम्च्रेन कार्य विलम्बेत; विद्यासत्वे कार्याविलम्बे तु तदन्येतुत्वे न मानमिति भावः। तस्मादिति। शुक्तिरूप्यादेर्जाननिवर्त्यत्वं वद्ता त्वयापि झुक्तयादिप्रमात्वेन तन्निवर्तकता न वाच्या ; गौखात्, कि तूक्तरीत्या प्योजकीभूताज्ञाननाशद्दारा प्रमामात्रस्य ; तथाचात्माज्ञाने प्रपश्चपयोजकत्वस्य श्रुल्यादिना लाघवाच सिद्धेरात्मज्ञाने प्रपश्चनिवर्तकवं लोकसिद्धत्वादुक्तदोषाच्च न विधिविषयः 1 डुक्तिरूप्यादेर्जाननिवर्त्यत्वं

1 न हि प्रकृते कालादिकं विधेयम्, न वानुष्रातुं योग्यम्; येन तद्विशिष्ट तया ज्ञानं कृतिस।ध्यांमति भाव: । यतु-ग.

यत्वीश्ररद्नानेन सत्यं घटादि निवर्तत इति प्रत्युदाहरणम्, तब ; ईंश्रश्ञानस्य तार्किकमते ड्युपादानगोचरापरोक्षक्षानत्वेनैव कारणत्वात्, अभावस्य च निरुपादानत्वात्, अभावं प्रति कारणत्वे मानाभावाव्, सोपादानत्वे तु समवेतत्वेन तस्यापि भावत्वापते:, अत्यन्ताभावादिवच तदजन्यत्वेऽपि घंसस्य तद्विषयत्वोपपत्ते:। न च ताहगीक्षरश्ञाने सम्र्रतिपत्चिरण्यन्यषामिति न काप्यतुपपत्तिः। यथा च शुक्तथादिश्ञानस्य

तु श्युक्तयादिप्रमया तदज्ञानतवव्रयुक्तं नष्टिमियन्नुभवादोषापादिनिमित सत्वेडपि तन्नाहғ्य जायमानत्वेन निमितनाशनाइय्वेनान्यथा सिद्धयितुमझक्यत्वादिति भावः । तद्विषयत्वोपपत्तेरिति। किंचिद्दिषयकले त़ियामकाभावेन न बाधकामावाच्छुत्या|दिना सर्वाषषयकत्वमिति भावः। अन्येषाम् औपनिषदादीनाम्। ईक्षणाकाशाघोः पाठालमलामेडपि न हेठुतद्वत्वम्, घटादौ तु कर्ठुखे हेतुत्वे न मानम्, नतरां तज्ञानादिछेठुत्वे इति तदृध्रान्तेनापि न तस्सिद्धि:। यतु सोपादानं प्रल्युपादानज्ञानादिसत्वर्वरूपकरृत्वेनेव' कार्यमान्रं प्रत्युपादानाघटितरूपेणेशज्ञानादेहैठुत्वविमि - ततुच्छम् ; उक्तकतृत्वविशिश्टस्य हि हेठुत्वमाहकं भानं बाषकाभावाद्दिऐघषणस्यो्तज्ञानादेरापि हेतुव्वं गृद्याति; विशिं्ट पवर्तनमानस्य ${ }^{2}$ बिशोषणेडवि प्रवृत्रोत्सर्गिकर्वातू। तथाचोपादानघटितरूपणैव ज्ञानादेंदेंत्वे मानम्, न त्नन्यरूपेपेति भावः॥

ननु-यथा सेतुदर्शनमुक्तविशिष्टरूपण विषेयम्, तथातमप्रमाप्वध्ययनादिनियमाद्धादिविशिष्टतया विधेया; अन्यथा अन्धीतवेदाः न्तादिजन्यापि सा निवर्तिका स्यात्त्राह-यथा च गुक्तयादीति।
Advaita Vol. II.

रूप्यादिनिवर्तकत्वमश्रामाण्यज्ञानाविरहमपेक्ष्यैव, एवमात्मज्ञानस्यापि श्रवणादिनिर्टृत्तासंभावनादिनिवृत्तिरूपाप्रामाण्यज्ञानविरहापेक्षत्वमिति न किंचिद्व्याधिकं कल्पितम्। आत्मज्ञानस्य सर्वसुक्ठतसाध्यत्वं श्युक्तयादिज्ञानापेक्षया विलक्षणमिति तु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोंचैंधर्म्यमात्रोन्भावनात् वैधर्ग्यसमा जातिः निवृत्तिरुपेति। निवृत्विप्रयोज्येत्यर्थः। वाक्यार्थेडसंभावितत्वज़ानेन ${ }^{1}$ प्रपश्वसत्यत्वदेहाहम्म"संक्काररूपविपरीतभावनया च दोषेण बाधितविषयकत्वरूपाप्रमात्वं वाक्यार्थज्ञाने ज्ञाप्यते ; ताहहाभ्रमोपादानाज्ञानावृतत्वात्, तन्नाज्ञाननिवर्तकम् ; अनावृतप्रमात्वाश्रयस्यैव शुक्तयादिज्ञानस्य तत्त्शेन क्रमत्वात् । तथाचाध्ययनश्रवणादिनियमादृष्टादेरुक्रम्रमत्वाज्ञाननिवृतौ ताहहाइज्ञानशून्यप्रमाप्रतिबन्धकपापनिवृत्तौ वा जनकत्वम् । असंभावनादिनिवृत्तौ श्रवणादेर्जनकत्वमनावृतप्रमात्वमात्रेण ज्ञानस्म निवर्तकत्वं क्न्रमिति न विधेयम्। न वाध्ययनश्रवणादिनियमविशिष्टरूपेण विछेयत्वावकाशः ; साऊप्रधानस्य हि कृतिसाध्यता प्रयोगविधिना बोध्यते। न वाध्ययनश्रवणादिनियमो ज्ञानाइन्ं ; येन तद्विशिष्टं ज्ञानं कृतिसाध्यतया बोध्येत, उक्कफलविशिष्ट्ज्ञानादिस्वतज्रफलकत्बेन पघानत्वात्। न च विधेयजन्यफलजन्यफलं प्रत्येव नियमादृष्टं हेतुरिति नियम:; येन ज्ञानफलहेतुत्वं ंियमादृस्टस्योच्येत, पुरुषार्थनियम₹थले व्यभिचारस्योक्तत्वादिति भावः ॥

ननु—लोके शुक्तयादिप्रमा पापनाशनिरेपेक्षैवाज्ञानकार्यनिवर्तिकेति, कल्पित ${ }^{3}$ व्वस्योक्तनिरपेक्षप्रमानिवर्त्यत्वक्याप्यत्वात्त्यमावात्रपश्चे कल्पितत्वाभावस्तश्रह - आत्मंज्ञानस्येति। साध्यत्वं पापनाशद्वारा जन्यत्वम्। वैधर्म्यमात्रेति। अधिष्ठानप्रमांव्वेन निवर्तेकव्वं शुक्तय|दाi ज्ञानेन प्रपकसल्यव्वजानेन-ग. च द्देहासन्व-क. देहात्मत्व-ग. 3 निवर्वरेक कलिपत-क. ग्न.

परिच्छेदं: ज्ञानतिवर्लंख्बान्यथानुपात्ति:
वात्माने च ज्ञानयोन्तुल्यम् । गुक्तयादिज्ञानं प्रति काचादिदोष: आत्मज्ञानं प्रति तु पापविशेषः प्रतिनन्पकः। तयोंनैंर्र्म्यमात्रमपयोजकम्। अन्पथा काचादी $\mid$ ां मिथो वैधर्म्यमपि दोषः स्यात्, अत उक्कव्याव्यत्वमेवासिद्धामिति भावः। एतेन-Пरुडादिध्यानस्य सं₹कारसापेक्षस्य निवर्य्यविषादिकमिव श्रवणादिजन्यसंसकरापेक्षत्ममषीनिवर््यमपि सल्यमिल्यपास्तम् ; असंभावनादि'विषये लोके प्रमायाश्चा ${ }^{2}$ संमावनादिदोषनिवृत्तये संस्कारापेक्षणेडप्यधिछानपमात्वेनैवाहम्मज्ञानस्य निवर्तकर्वादिति भावः ॥

ननु--लोके निवृत्तिनिवर्ल्ययोः सता समा, न हि रूप्यस्य निवृत्विः श्रुक्तिव्वरूपा; तथासति शुक्तिरूप्यभेदामेदयेरिव तयोरविरोधः स्यात्, एवमज्ञानाजेययोदोोषाधिष्ठानयोः सत्ता समैव; स्तथा च निवृत्ययिप्वानरूप ${ }^{3}$ घघ्षेवाज्ञानं सल्यं स्याद्दिति-चेन्न; अधिकरणस्म छ्वंसत्वमतेऽवि ययावि प्रतियोगिकालेऽवि ध्वंसस्तथापि नाशकर्वाभिमतसामयघुपहितस्यैवाधिकरणस्य घंसंस्यवहारनियामकववान्नाति-
 उ्यवहारविषयत्वान्न सः। अडेयाधिछाने बु नान्यसमसते ; चिद्दूप्लात्पातिभासिकस्यापि दोषस्यो्तक्वाच्च। यतु—यथानादिभावस्या़्ञानस्य निवृत्वररदृष्टापि श्रुतिवलाक्कल्प्यते, तथा सत्यस्यांवि तस्य ज्ञाननाइयत्व तत एवेति-तन्न ; न हि तस्य लोंके शुर्यादिज्ञाननाइयता न हष्टा, न वा विदुषा तन्नाशो नानुमूयते; येन श्रुतिबलादेव तन्नाशकर्पना, न वा संक्कारादन्यस्य ज्ञाननाइयस्य सल्यता युक्ता; मिध्यात्वादिना ज्ञाननाइयताया उत्कव्वा्, श्रुत्यापि हि लोकसिद्धमेवाज़ानस्य ज्ञाननिवर्ल्यव्वमुक्तं तच्वपूर्वम्, ${ }^{4}$ अत एवाज्ञानसमान-

[^170]अज्ञानस्य च समानाधिकरणसमानाकारज्ञाननिवर्ल्यत्वम्। जीवन्मुक्तौ च प्रारबधकर्मप्रतिबन्बेन बन्धनाशात्रिलम्ब इत्यादि सर्व-

विषयज्ञानत्वेन ज्ञाननिकर्योडपवि ${ }^{1}$ प्रपश्चोडज्ञानवदज्ञानानुपादानक इत्यपास्तम् । अज्ञाननितृच्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्यव्वस्याज्ञानप्रयुक्तत्व०्याव्यत्वात् , अन्यथा लोकाक्लृपहेतुत्वकल्पनागौरवात् ॥।

ननु-ज्ञानमज्ञानात्मकस्यैव निवर्तकमित्यत्र ज्ञानं वृतिः, तत्पतिबिम्बितचिद्धा, नाद्यः; तस्या अज़त्तित्वात्, नान्य्यः; मुक्तानन्दन्य ज्ञप्रघभावापत्त्या तस्याव्यज्ञपत्वित्, साक्षिभास्यमुखादौ तदभावाक्षेत्यॠह—अज्ञानक्य चेति। यद्यव्यनानृतचिदेव ज्ञातिः, तथाप्यनावृतत्वप्रयोजकतया वृत्तावपि ज्ञानपदपयोगात्तामादायोक्रनियम इति भावः। ननु—लोकेडधिष्ठानतत्वे साक्षात्कृते कर्मादिना न अ्रमानुषृतिरिति जीवन्मुक्तावनुवृतं जगत्सत्यम्, तश्राह—जीवदिति। यथः सोपाधिकभ्रमे नोक्तनियमः ; उपाधिना प्रतिइन्धस्य दृष्टत्वात्, तथा निरुपाधिकभ्रमेऽपि भुज्यमानकर्मणा प्रतिन्धष्य दृष्टत्वात्। न हि शतादिवर्षावच्छिन्नमोगहेतुत्वेन श्रुय्युक्तं कर्म दशादिवर्षमात्रावच्छिन्नभोगेऽपि हेतुरिति कर्पना युक्ता; अनन्तहेतुत्वापतेः, अज्ञानकार्यनारो भुज्यमानकर्मत्वेन प्रतिबन्धकत्वस्य तदपेक्षया लधुत्वात्, ज्ञानमेवाज्ञानतत्पयुक्तनाश इति पक्षे प्रारवधभोगकालीनत्वेन श्रुत्यादिसिद्धं यत्तदन्यज्ञानमेव तथेति कल्पनंस्य ततोऽपि लघुत्वाच्च। ज्ञानस्याज्ञाननाशस्य वानु ${ }^{2}$ मूयमानत्वान्नोक्रकम्मपतिबध्यता। तच्च ज्ञानं सत्यं मिथया वा। आघे, तदुपादानकव्वेन मिष्यात्वं न सिध्येत्। नान्त्यः ; गुक्तयाघज्ञानस्य सत्यत्वात्। न हि गुक्तयादौ ज्ञाते तदज्ञानं मिथ्येति घी:; प्रत्युत तदज्ञानमासीदिति सत्यत्वधीरेव । एवं ज्ञानेनाज्ञानकार्यःय

सुपरिष्टाुपपादयिष्यते । सत्यस्य ज्ञाननिवर्य्यव्वे त्वाश्रयविषयोभयसंबन्धित्वादिनातिप्रसक्षो विवरणकरैर्वर्णितः ।
न नाघः; न हि रूप्यादेश्शाननाइयव्वमनुभूयते, नापि पतिपनोपाषौ निषेषः; 'क्षीयन्ते चास्ये' ल्यदि श्रुल्यादिविरे|घात्रत्रह—इत्यादि सर्वमिति। बाधकाले ज्ञाननिवर्लयख्वरूपमिध्याइ्बस्य रूप्यतदुपादाना-
 स्वपकाश़चित्रकारारूपाज्ञानस्यानुपपन्वत्वाच्च। अत एव ऋतेर्र्रमिल्यादिनानुपप्नस्य मायाशब्दितमिध्याव्वमुक्तम्। आसीदिति घीन्तु रूप्यादाविवाइञाने sc्यनृतेते नायुकेत्याघमे उपादनीयमित्यर्थ:। आश्र-- यविषयेत्यादि। ज्ञानेन सत्यस्य निवृत्तिश्रेक्कीहशः्य ज्ञाननाइयत्वनियम: किं ज्ञानस्याश्रयेणाप्यथविषयेण अयोमयेन संबद्धह्य, नाघः; - आह्मझानेने घर्माधनाशात्। न द्वितीयः ; नीलपीतावयविनो नीखतेतने ज्ञानात्ीतिंमनिवृतेः। न तृतीय:; देहज्ञानेन देहात्मतादाल्यानितृत्वेः। मिष्यामूतस्यैव ज्ञाननाइयत्वपक्षे तु ज्ञानात्तस्तानश्र्रविचयकाज्ञानस्यैव निवृत्तिः। तथा च ${ }^{1}$ ₹्वपतियोग्वज्ञानमयुत्तस्पेव निवृतिरिंति भावः। यतु -ईशपसादादेवे बन्धनाशः ; ‘ यस्य पूसादस्यरसार्तिरूपादम्मास्संसारान्मुच्यते नापेणे’ ल्यादिश्रुते: ‘मस्पसादावरिष्यसी ' त्यादिस्म्टेतेश्र। ज्ञानं तु प्रसादद्रारा हेतुः। तनुक्तम्-
' यथा दृचा प्रसनःः सन् र्रंजा बन्धापनोदकृत् ।
एवं दृष्: स भगवान् कुर्याहन्षविमेदनम् ॥.'
इति। 'हध्द्वैव तं मुच्यत' इसि श्रुताववधारणं अवयोगगयवच्छेदपरम्, मोक्षहुप्रसादे $\begin{aligned} & \text { न्ययोगम्यवच्छे प्परं वा। अत एव- }\end{aligned}$
' पवं ज्ञाते तु भगवाननादि: पुरुषांतमः।

तस्मादधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्तं मिथ्यात्वे श्रमाणमिति सिद्धम्।

इत्यद्देतसिद्धौ क्षाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्ति:.

प्रसीदत्यच्युतस्तास्मिन् प्रसने क्केशसंक्षयः ॥'
इति विष्णुपुराणमित्यत्राह—तस्मादिति । अधिष्ठानप्रमात्वेन मिश्यानिवर्तकत्वस्य लोके क्लप्तस्य 'तरति शोकमि'त्यादिशास्रोक्तत्वादित्यर्थ:। नहि ज्ञानं प्रसादहेतुंवेन लोके क्रप्तम्, कितुतु सेवा; तथाच ‘यस्य प्रसादा 'दित्यादेरीशभ्वरसेवाजन्यप्रसादो ज्ञानद्वारा मोक्षप्रयोजक इत्यर्थ: ; 'यस्य देवे परा भाक्ति'रित्यादिश्रुतेः । 'यथा दृष्टये 'त्यादेस्तु प्रसन्नो राजा पश्वादृष्टे यथा मोचकस्तथेशा इत्यर्थः।. न हि राजा बद्धं प्रति दृष्टिमान्रेण प्रसन्नः, प्रस्युत सापराधं ${ }^{1}$ बद्ध प्रति भूयो निग्राह़कः। 'तमेवे 'त्यादिश्रुत्या शुद्धात्मज्ञानस्य सर्वद्दैतनिवर्त कत्वेन प्रादहेतुत्वासंभवाच । 'दृष्ट्रैवे ' वेत्यादे: प्रसादे 5 न्ययोगव्यवच्छेदपरत्वोक्ति: शोभते; अदृष्टा न मुच्यते इत्यस्यैव प्रतीतेः प्रसादस्याश्रुतंत्वाच्च । एवं 'ज्ञाते ति 'त्यादिविप्णुपुराणे तु ज्ञानं न तत्व्वद्शईनम् ; किंतु सर्वर्र विण्णुरूपत्वदर्शनरूपं समत्वम्-
> 'यतित०यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता।
> देवा मनुष्याः पशावः पक्षिवृक्षसरीसृवाः ॥
> रूपमेतदनन्ऩस्य विष्णार्मिन्नमिव स्थितम् । एतद्विजानता सर्व जगत्थावरजन्ञमम् ॥
> द्रष्टठ्यमाइ्मवद्विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृत् ।'

इति पूर्ववाक्यात्। अत एवात्मतुल्यत्वस्य रागद्वेषविषयत्वँयोग्यत्वरूपस्य ज्ञानं तत्फलमुक्कम्। अत एव च-
' सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराघनमच्युतस्य । तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं घर्मार्थकामैरहमल्पकास्ते'। 'समाश्रिताद्बह्मतरीरनन्तान्हिस्संशयं प्राप्वयथ वै महत्फल 'मित्यत्र विष्णुपुराण एव समत्चरूपाराधनजन्यप्रसादस्य तर्वाश्रयणदृष्टन्तेन परम्परया मोक्षफलप्रयोजकत्वमुक्तम्। न हि सफलतर्वाश्रयणस्याब्यचघनेन फलम्रापकत्वनियमः ; ऊँचु लोष्टादिव्यापारव्यवधानेनेति भावः॥ 'तस्योपपनिषत्, सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः। अथ नामधेयम्, सत्यम्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य' इति बृहदारण्यकाक्किम्यां बह्मसत्तातोऽपकृष्टत्वेन प्रपश्वसत्ताप्रतीत्यापि प्रपश्चो मिश्या। न च—राजराजो देवेदेवो मन्मथमन्मथ इत्यादौ देवत्वादी़ीनामिव प्रपझ्चसत्यत्वस्यापकृष्टत्वं न तु बाध्यवृतित्वमिति—वाच्यम् ; देवत्वादिजातेर्हि नापकृष्टत्व संभवतीति आराध्याह्यपेक्षयोत्टृष्टमाराध्यत्वादिकं बुध्यते। तथाच तद्रद्यवहारकालाबाध्यत्वरूपप्रपश्चसत्वापेक्षयोलक्टृंटं सत्त्वं त्रिकालावाध्यत्व्वव। सर्वाराध्यत्वरूपत्वस्येन सर्वंकालाधाध्यत्वरुपन्वम्यैवोतकर्षस्योकृृप्यमाणम्बरूपघटकत्वात्। अविनाशिवृ|त्तित्वादिक तु तदाश्रयोहकर्षमात्रपयवसन्नम्। किश्च देबवेवेत्यादौ न निर्धारणम् ; समासत्वात्। 'सत्यम्य सत्य 'मित्यत्र तु सत्यब्रहभेदेन प्रतीयमानानां मध्ये ब्रह्मव सत्यमित्यर्धसंभवार्चिर्धारणम्। अत एव 'क्षत्रियो मनुप्येणु शूरूतम' इत्यादौौ क्षत्रियगतमनुष्यं्वं मनुष्याणामिव त्रह्सगतसत्त्वं प्राणानां निर्धारणोपवादकं ' प्राणा है सत्य' मिल्यनेनोक्तम्। एक ब्रस्सरूपसतासंनन्ध: पनीतिधिषयो लाघवाहसर्वंत्रति ज्ञापयितुमेकवचनम्। अन्यथा सत्यमिति प्राणाः सत्या इति ए母 तत्सत्यमिति च त्रूयात्। ठाघवेन समासस्यौत्मर्गिकत्वेन विशेष्यविशेषणयोरेकविभक्ति-

कव्वस्य च चयुक्वात्। तथाच क्षत्रियस्यैन्त शूरतमत्वामिव ब्रह्सण एव सत्यत्वं राब्दार्थः। अथ न निर्धारणमित्यत्र तुष्यसि, तुष्य ; तथापि देवदेवेवे्यादावाराध्यंत्वमिव प्रकृतेऽधिष्ठानत्वं षष्ठयर्थः ; रूप्यादेः सत्यं शुक्तयादीत्यादौ तथा प्रतीतेः। शुक्तिरुप्यमित्यादाविवारोप्यत्वं तु न तदर्थः; त्वयाप्यनकीकारात्। त्रक्षणः सत्यस्वरूपत्वस्य लोके सन्दिग्वत्वेन तस्यैन लोकमिद्धवयावहारिकपपश्चसत्वानुवादेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन तद्विरोषाँ्ँ ॥

## 'सत्यं ज्ञान'मिति सत्यस्वरूपस्य ब्रक्सरक्ष्तणस्येक्तयापि दृयं

 मिथ्या ; अन्यथा तत्रातिठ्ययेत्तः। ननु — बृददारण्यके 'तस्य ह वा एतस्य त्रछ्सणे। नाम सत्य'मिति, 'तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षरााणि. सत्ताय ${ }^{1}$ मिति 'तघ्सत्सत्तद्तमथ यत्नन्मर्त्यमथ यद्यन्तेनोभे यच्छती' त्यनेनामृतमर्त्यशण्द्द्तमुक्तामुक्तनियन्तृत्वं सत्यत्वं ब्र्मणीत्युक्ते: प्रपश्च: सत्यत्वेडापि न दोष:;> ‘सले प्रतिह्टितः कृष्णः सत्यमस्मिन् प्रतिहितिम् ।
> सत्चासते च गोविन्दस्तस्मास्सलं सतां मते ॥

इति भारतोक्केश्च! न च--रूब्नर्थ योगल्यागः; ‘यदाजिमीयुस्तदाज्यानामाज्यत्व ' मिल्यादाविक निरकाशश्रौतयोगवाषायोगात् । 'शास्स्था वा तन्निमित्त्वात्' इति जैमिनिसून्ने यवमयश्षरूरिल्यादौ प्रियन्षादिकं दीर्षरूक्रादिकं वा गवशब्दार्थ इति संशये, 'यदान्या ओषघयो म्हायन्ते अथैते मेदमानास्तिघ्नती’'्यादिवाक्यघोषेण दीर्घरूकादिकमेव, न तु पृथजजनपसिद्धघन्यत्। शाखार्थसन्देहे शास्थथा प्रसिद्बिर्हि निर्णायिका ; तस्या लेकपसिद्धयेक्षया बतबत्त्वेन

शाखार्थर्थनर्णयस्य तन्निमितकत्वादिति हि स्थितम् । उक्त"च स्सृति-पादवातिंके-

गौणं लाक्षणिकं वापि वाक्यमेंढ़न वा स्वयम्।
बेदोडयमाश्रयत्यर्थ को नु तं प्रतिकूलयेत् ॥ इति ॥
गौणं इयेनादिशब्दन्य यागविशेषादिरूपं 'यथा वै इयेनो निप्यादत्ते एवमयं द्विप्तं आ आतृव्य'मिल्यर्थवादोक्तम्। लाक्षणिकं तु पुरोजाशानल हुरु' इल्यादौ पुरोडाशशब्दस्य धानाः, करम्भः, पुरोडाशः, परीवाप:, पयस्या, इति सवनीयहृवि:पश्घकरूपम्। वाक्यमेंदेन 'अभ्धवाहः पभ्तर' इल्यादौौ काशानामभ्ववालराब्दवाच्यवं पस्तरकार्ये विषानं चेति वाक्येवेदेनेति-चेन्न; बृृदारण्यके तस्येल्यादेरन्मषप्रल्राप्वात् । छान्दोग्ये हि तस्येल्यादिवाक्यम्; तच्च ज्रस्ननाँचन्तुतिद्वारा दहग्रद्सण उपास्यस्य न्वुतिपरत्वेन सावकाशात्वान्न योगव्यवस्थापकम्! उक्तं है भाष्ये-सहसाडमृतवाचकखात् सकारोशामृतः तिकारो मर्य्यस्तयोरन्तरस्वात्, ${ }^{1}$ यमिति नियामकम्, एवं रसनामाक्षरस्याव्यमृतव्वं नियन्तृवं च किमुत अक्षण इन्युपास्यं व्रस्स स्तूयत' इति। तिकारो मर्ल्य इत्यनेनापि सकारस्य न हि निन्दान्यायेन स्तुतिर्वोध्या। तथाच 'एकमेवाद्वितीयं तस्सलं स आत्मे' ल्यादिना सर्वैद्वैतनिषपपूर्वक इल्लण एव सत्यशब्देनोक्तस्वात्,
 कत्वात्, 'सद्राव एप भवतो मयोाक्रो ज्ञाने यथा सत्यमसत्यमन्व' दित्यादि विज्णुपुराणांच, शास्यपसिद्धया त्रझण एव सत्यशब्दरूदिविषयव्वात्, 'सल्यं ज्ञान'मिल्यादिवाक्यमवाध्यत्बोपवक्षितस्वरूपऊक्षणपरमेव। 'सत्ये प्रतिहित' इल्यदेदेत्तु सले स्वृवरूपे प्रतिहितः

[^171]'स्वे महिम्नी' ति श्रुतें। सत्यमस्मिन्नैक्येन प्रतिष्टितं काष्ठां प्राप्तम्; 'सत्यस्य सत्यमि' ति श्रुतेः । सत्तासते इयावहारिकं सत्यमनृतं च गोविन्दः ; 'सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दिति श्रुतेः। सतासते मुक्तामुक्तौ गोविन्दार्धनावित्यर्थस्तु न युक्तः ; आधुनिकलक्षणापतेः। तस्मात्सर्वापेक्षया सत्यत्वात्सर्वाधिष्ठानत्वाच कृष्णः सत्य इति व्याख्यानम् । यत्त्वन्यानधीनसत्यत्वं लक्षणमपरिच्छिन्नाऩन्दत्वादिवदिति, तन्न ; आनन्दखरूपस्येव सत्यख्वरूपस्यैवास्मन्मते लक्षणत्वसंभवात्। बवद्रीत्या धर्मस्य लक्षणत्वेऽपि सत्यादिपदलक्षणायां मानाभावेन त्रक्षणेये सत्यत्वानन्दत्वादिस्वीकारौचित्याच। ‘विमुक्तः विमुच्यत’ इति श्रुत्यर्थापाचिरपि तत्र मानम्। न चासत्सङात्सतां दोषस्येव संसारम्य सत्यव्वेडव्यस्वाभाविकत्वात्सज्जनः सज्जनो जात इत्यस्येवोक्तश्रुतेरुपपतिरिति-वाच्यम्; पूर्व दौजन्यत्यागेन सज्जनः्ववत्संसारित्वत्यागेन पूर्व विमुक्तत्वासंभवा-. द्विमुक्कपदस्य व्वभावतोऽसंसारिलाक्षणिकत्वं वाच्यम्। तत्र च मानाभावात्, ' $\operatorname{\gamma }$ न्म वा ददमग्र असीत्तदात्मानमेवावेदहं न्रह्मास्मीति, ब्रसैवसन् ्रह्माप्येति ' $\qquad$
निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोडमलः।
दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेतुु न चात्मनः॥
इति श्रुतिसमृतिम्यश्र। धृतराष्ट्र उवाच-
सनत्सुजात यदिदं श्रृणामि
मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदेशः ।
देवाम्सरा आचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ॥
सनस्सुजात उवाच अमृत्युं कर्मणा केचित् मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शูणु मे ज्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशार्किथाः ॥.

# उभे सत्ये क्षत्रियाघ्यवृृते <br> मोंहो मृत्युः सम्मतोऽऽयं कवीनाम्। <br> प्रमादं मृत्युमहं ंर्वीमि 

सदाप्रमादममृतन्वं ज्रर्वामि ॥
प्रमादद्धा अस्रुरःः पराभव-
न्नप्रमादाद्नछ्नमूताः सुराश्र ।
न वै मृत्युर्व्या्र इवाच्ति जन्तू-
न्नाप्यस्य रूपमुपलक्यते।।
इति भारतोक्तिरपि मानम्। मृश्युर्नाम्तीति तवेपदेशां देवासुरा अमृ.त्ये ब्नह्मचर्यमाचरान्निति च यदिदें शृणोमि तत्तयोर्मधेय कतरत्सत्यम् ? उभयं न हि सत्यम्; विरोधात्। मृत्योन्नास्तित्वे, तदभावाय ब्रह्मचर्य म युक्तम्। अस्तित्व तु न नास्तित्वमिति भावः। केचिद्देदोक्तेन कर्मणाऽमृत्युर्मेक्षो भवतीत्याहुः । अपरे व्वात्मठ्यतिरेकेण द्वितीयमपइयन्तो मृत्युर्नास्तीत्याहुः। तत्राय्यपक्षो मृत्योस्तात्विकत्वपक्षस्वीकारेणेति स न युक्त इत्याइयेनाह--उभे इति। उभे सत्ये प्रवृत्ते सत्यतया पवृते, नच विरोधः; यतो मृत्युः संसारः सत्य इति मूढानां संमतम् ; कवीनां तु मृत्युर्मोहो मिथ्याज्ञानमनात्मन्याहमाभिमान इत्यादि संमतम्। तथाच मिश्याज्ञानं भ्रम इत्यमृत्तुरेव सत्यः, तेषां कवीनां मध्येडहं प्रमादं व्वाभाविक ’त्रह्मभावाट्नच्यन्यरूपामनवधानतां न्रझात्मैक्यरूपावधानविरोधिम्वरूपमुक्तमोहस्यापि मूलं भावरूपमज्ञानं मृत्युं ज्रवीमि । अभ्रमादमुक्तप्रमादशून्यमात्मस्वरूपं सदातनमुक्तभपादस्य मिध्यात्वादमृतबवं ज्रवीामि।'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्यदेते' 'नीहारेण प्रातृता जल्प्या ' इत्यादिश्रुतेंः। तथा च मृत्युरूप:

[^172]
## अथ हृष्टिसृष्ट्युपपति:,

शुक्तिरूप्यस्वमादिवकृृष्टिसृष्थन्यथानुपपत्यापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः। अथ केंयं दृष्टिसृष्टिः ? (?) दृष्टिरेव सृष्टि-
संसारो ज्ञानामेदादवघानरूपज्ञाननिवर्ल्यव्वरूपविरोघिव्वात्रमादात्मकसंसारवति सदा तदभावोक्तेश्ष मथथ्येति भावः। प्रादापमादयोर्टृंख्यवृत्युत्व मानमाह-प्रमादादीति। देहात्रधीरूपेण परिणतादज्ञानादपुरा विरोचनाद्यः परामूताः ‘अनुपलम्यात्मान’ मिल्यादि ‘पराभविष्यन्ती' ल्यन्तश्रुतेः। अप्रमादात्पमादात्ककद्दैतविरोधि स्वस्वरूपं निर्णीय सुरा ब्रम्ताः 'तं देवा आत्मानमुपासते तन्मात्तेषां सेे लोका आपा' इति श्रुतेः। अथवा असुछु रमन्त इत्ययुरा मूढाः, स्वस्मिम् ब्रम्साभिन्नें रमन्त इति सुरा बह्संविदः। तदुक्तम्-
'अत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् अ््याणि चामले ते सुरा' इति। मृत्युर्मो क्याप इव साक्षानाति कि ब्वज्ञानतन्कार्यद्वारा दुःखदातृतेलेाहीव अस्य व्याप इवादताँ यमस्य रूपं नोपलम्यते न प्रामाणिकम्। तथा चाज्ञानतत्कार्यस्य साक्षाहुःखदलेनोपलम्भात्दे़ेव मृयुरज्ञानकार्यकर्मफलन्यवस्थापकत्वाघमोडपी मृं्युरुपचर्यते। अत एव 'न चेदिछावेद्दीर्महती विनश्टिरे'ति श्रुतिरज्ञानं मृत्युपर्याय'विनलट्टिशब्देनाह । 'मृल्युर्वै तमा ज्योतिरमृतम्' इति च श्रुतिः । यतु मोहोडज्ञानहेतुकः प्रमादोडस्वाभाविक इति च्याख्यानं तन्न शोमते; आधुनुकिकर्षणापेतः। 'सत्यस्य सत्य 'मिल्यादिश्रुत्यादिना मिथ्यात्वसिद्दि: ॥

३ति ज्ञाननिब्लर्लब्बान्यथानुपत्तिः ॥

$$
1 \text { पर्ग्रां -ग. }
$$

रिति वा, (२) दष्टिठ्यतिरिक्तसृष्टयभावो वा, (३) दृष्टि व्यतिरेकेण सृज्याभावो वा, (४) दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा, (५) द्टिसमानकालीनसृष्टिर्वा, (६) दृष्टिसमानसत्ताकस्टिर्टिर्व, (७) सद्सद्विलक्षणंतंत्र वा, (८) त्रिविघसच्त्वहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं वा, (९) अज्ञातसत्त्वाभावो वा, (१०) ज्ञातैकसच्वं वा। अद्ये वृत्तिरूपा चैतन्यरूपा वा दृष्टिरमिमता। प्रथमे चरमवृत्तिविषयझ्रह्मणोऽपि दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः । द्वितीये सर्वदापि सृष्ट्यापतिः। न द्वितीयः ; चैत्रेण सृष्टो मया दृष्ट इति वैलक्षण्येन व्यवहारानुपपत्तेः। न वृतीयः : ज्ञातो घटो न ज्ञानमित्यनुभवविरोधात्। न चतुर्थः; एकसामश्रीप्रसूतत्वेन घटादे द्टृष्ट्यभिन्नत्वेनानन्तरोक्तदोषात्। न पश्नमः ; शाब्दादिइानसमकालोत्पन्नघटादौ सिद्धसाधनात्तद्वदन्यत्रार्थन्तरतापत्तेश्य। न बष्ठः ; उमगसत्चेड्य्युपपतेः सिद्धसाधनात् । न सप्रमः; असँचव मिध्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः। नाष्टमः ; त्रिविधसन्वमध्ये प्रातिभासिकसच्वस्याप्यन्तर्भावेन द्वष्टिस्टृष्टिपक्षे तद्बति जगति तद्इहिर्भावानुपपत्तेः। न नवमः; तुच्छसाधारण्यत् । न दामः ; सुखादौौ सिद्धसाधनात्तंद्वदन्यत्रार्थान्तराचेति --चन्न ; दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य क्ञात्तक-

अथ दृष्टिसृष्धुपपत्ति:.
दृष्ट्यभिन्नत्न इति। दृष्टिभिन्नत्वे मानाभावास्सिद्धे इत्यादि:
न चोक्तदोष एव मेदे मानमिति--वाच्यम्; एकसामर्भीजत्वस्या भेदच्याव्यतयोक्तदोाषवारणाय सामर्पीभेनद्दस्यावरयकत्वात् । तदहि भावेति। तच्छृन्यत्वेत्यर्थ:। दोषेत्यादि । दोपत्वं तावदन्यतमत्वं

$$
1 \text { जन्गत्व-ग. }
$$

सत्वस्याज्ञातसत्त्वाभावस्य वा, प्रतिपश्षोपाधिदृष्टिजन्यझ्ञतैकसत्वस्य वा, द्रह्टन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसच्वस्य वा विवक्षितत्वात् । तथा च न सुखाद्यंश्रो सिद्धूसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा। ननु-

# 'जीव ईझो विज्युद्धा चित्तथा जीवेशायोर्मिदा। अविद्या ताचितोर्योगः षडस्माकमनाद्यः ॥' 

इति भाचां वचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यमिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकेन च स्रत्रभाष्यविवरणादिग्रन्थेन विरोध इति—चेत्म ; अनाद्यतिरिक्तसृष्टिविषय एव दृष्टिस्टृष्टिस्वीकारात्, कारणात्मना स्थायित्च्र्वीकाराच । तावतैव बौद्धाभिमतक्षणणि-. कत्वनिराकरणोपपत्तेर्नाकरविरोध:, प्रत्युताकरेषु बहुखो द्टष्टिस्सिष्टि-

अतो नाननुगमः। अ्रमत्वजातिमद्धीविषयत्वं वा दोषप्रयुक्तत्वम्, अ्रमत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातिरविद्यात्वं वा दोषष्वं ग्राब्यम् । तथाच दोषप्रयुक्तत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वं रक्षणम् । परमते सत्यस्य भ्रमार्कीकारेण सिद्यसाधनाद्यूमप्रागभावददवैयर्थ्याच विशेप्यदळम्। स्वज्ञानज्याप्यत्वं तदर्थः। व्याव्यत्वठ्यापकत्वे कालिके न भाष्ये। ज्ञानमज्ञानरूूच्यचिद्रूपपेक्ष्य लाघवादाह- अज्ञातसत्त्वाभावस्येति। ₹वीयेनाज्ञानाभावेन व्याव्यत्वस्येत्यर्थः। निबन्धनस्येत्यन्तमनुषज्यते। तस्य च पूर्वेत्रेवात्रापि दोषप्रयुक्तवृत्तोरित्यर्थ:। पुरुषान्तरवेछे च नाज्ञानम्; मानाभावात्। यत्र हि यं पुरुषं प्रति प्रकाशाप्रसक्तिस्तत्र तस्याज्ञानं युक्तं ${ }^{1}$ तत्ततुरुषीयायाज्ञानावावय्याप्यत्तं तत्पुरुं प्रति द्वाष्टिस्ट्टिरिति घोध्यम्। परोक्षविषयस क्जूहायासत्त्वापादकाज्ञानमेव लक्षणद्वयेऽपि निवेइयम् । प्रतिपक्षेत्यादि । स्वपतिपचिविशेष्य-

रुपपादितैव। नन्चेवं-प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थ ज्योतिष्टेमादिविधेर्रह्मसाक्षात्कारार्थ श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहततुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेति-चेन्न ; स्तामकार्यकारणभावबोधकवाक्यवनुपपत्तेः। न चैवं वेदान्तवाक्यस्य तन्मीमांसायाश्य ₹ंमवाक्यतन्मीमांसातुल्यतापत्तिः ; विषयबाधाबाधाम्यां विशेषोपपत्तेः । अत एव-तप्तय्थ भोजने परप्रत्यायनार्थ शब्दादौ च घवृत्तेरयोगेन स्वक्रियाष्याघात इति—निंरस्तम्; स्वामच्यवहारवदुपपत्तेः 1 अथैनं-घटादे: स्वज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः ; अधिप्ठानस्यापि शुक्तीदमंशास्य रूप्यादिवत् इदं रजतमिति ज्ञानात्रागसन्च्चेन सम्प्रयोगादिहेतुत्र्यजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इत्यस्य स्वरूपलक्षणस्य चायोग इति—चेन्न ; प्रतिकर्मष्यवस्थायाः सम्पयोगा-

दृष्टिजन्यवृतेर्जातैकसत्त्वस्येत्यंथः। अधिप्ठानसामान्यांशदृष्टेरारोप्यमान्रहेतुत्वादुक्तद्टष्टिजन्यत्वं जन्यमात्रक्यक्ष्षत्। द्रण्र्तन्तरेत्य।दि। दाष्टिस्ट्पषपक्षे पुरुषान्तरीयसुखादि न ज्ञायते, किंतु पुरुषान्तरीयत्वेन स्वस्मिन्नेव कल्प्यत इति भावः । सृष्टिविषये स्तुज्यमान एव या दृष्टि: सा अनाद्यन्यत्र, न त्वनादौ स्वीकियते। अनादौ मिध्यात्वसिद्धिन्तु दृइयत्वादिैनैव न तु दृष्ट्रिस्टष्टथेति मावः। विषयबाधेतिं। यत्तु-स्वमाविछोषे बाधाभावेऽप्यनुपवन्न इति—तन्न; दोषप्रयुक्तापयुक्तत्वाम्यां बाधाबाधयो रुपपतेः, अन्यथा ‘अहमेवेदं सर्वोडम्मी ’ति श्रुत्युक्तम्वम्म'तत्त्वविद्याया अपि बाषापच्चेः। उक्षं च शाबरमाध्ये -...' यक्य दुपं करणं यत्र च मिध्येति प्रत्ययन्तद्रूान्तिः, अन्यन्समीचीन ’मिनि। सत्यस्य वस्तुन:

[^173]दिहेतुक्रजन्यत्वरूपाः्यासतटस्थरक्ष्षणस्य च मन्द्वाधिकारिविषयत्वात् । सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेडप्यविरुद्वम्। न हीदमंशावच्छिभं चैतन्यं न वस्तु; न वा मिथ्यारूप्यस्य तेन सह न संभेदावभासः। न च-इंदं रूप्यमिति ज्ञानकाले ज्युक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदश्नानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोध इति-वाच्यम्; इदं रूप्यमिति ज्ञानकाले श्युक्तिव्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्यविरोषात्। न हि सत्ताकाल इव सत्ताविरहकालेऽप्यज्ञानं विरुघ्यते। न च-इदं रूप्यं नेदं रूप्यमिति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यवाध-कभावानुपपात्तिरिति-वाच्यम् ; भिनविषयत्वेऽपि विषययोः सारूr इदमवच्छिन्नचितः । मन्दाघिकारीति। अधिकारिमेदकल्पिता हि प्रकियायेदाः श्रास्ाचार्यैस्नूदिता इति भावः । यधवीदं रजतमिल्यादावषिष्टानरूपेदमाकारा वृत्तिः पूर्व संभवति, सृष्टह्टिपक्ष इव पूर्वजातायास्तन्या रूप्याकारृृ्तिकालानुवृत्विसमवात्त तथापीवं रूप्यमिल्याकारैकैव विशिष्टगोचरा ${ }^{1}$ बृत्तिर्लाषवाए्, अधिघानज्ञानहेडुत्वपक्षे तु वृत्दिद्रयव्वीकारादेव न दोषः। चैतन्यं न बस्तिवति। उपाधेर्मिध्यात्वेट्युपहितस्य च्बरूपं सत्यमिति भावः। स्थित्यविरोधादिति। भाविनि सृद्टृ्टिपक्षे ज्ञानविषयत्वस्येयाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वस्यापि स्वीकारादृष्टिसुट्टिपक्षे आघस्यास्वीकरोेपि द्वितीयाविरोषादिति भावः। सत्ताकाल इति। हृट्टिस्टृ्टिपक्ष इत्यादिः। सताकाके ज्ञानाज्ञानयोत्विरोषेडपि तत्वूर्वकाले तज्ज्ञानामावातदज्ञानें न विरद्दम्;
 थानुपपत्तिकर्व्यत्वान्चेति भावः। मिक्षविषयत्वेड्पीत्यादि। पूर्वझाने

प्याव स्वमबाध्यबाधकयोरिव बाध्यनाधकमावोपपत्तेः। न च रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिस्टृष्टित्वे तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धि-रिति-वाच्यम् ; बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजक्रम्. न त्वधिकसत्ताकत्वमित्यस्योपपादितत्वेन ठ्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधत्वत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिका धाविरोधात् । न च-सुषुस्तिप्रलयादौ जीवब्नद्सविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रतिसुषुप्ति प्रतिग्रलयं च मुक्तस्य पुनरावृत्र्यापत्तिरितिवाच्यम् ; जीवत्रध्षविभागादेरनादित्वेन दृष्टिस्रुष्टित्वान म्युपगमस्योक्तत्वाव्। न च सुषुतं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनः

रूप्यमिद्माइ्मकम्, द्वितीयज्ञाने तु प्रतियोगितासंबन्धेनाभावगतं ज्ञायते ; यथाज्ञानं सृट्टिस्वीकारात्। अतो भिन्नविषयकत्वेडपि स्व्वमवत्सारूप्यानुक्तरूप्ययोः रूप्यत्वरुपानादिधर्मवत्तया ज्ञायमानत्वाद्बाध्यबाधकत्वोपपत्तेरित्यर्थ:। अथवा सारूप्याद्विरोधिर्धीिियत्वेन समानत्वादित्यर्थः। यथा सृष्टद्टद्विपक्षे बाध्यप्रतियेगिकाभावर्धर्बंधिका तथा हृ्टिसृत्टौ तत्तव्रतियोगिकाभावर्षस्तत्र ${ }^{1}$ बाधिका। न चापूर्बकल्पनेति वाच्यम्; अनादिशक्तिविशेषस्य बाघकतावच्छेद्कत्वात् । एवं. च रूप्यत्वादे: प्रतिरूप्यं दृष्टिभेदेडापे ${ }^{2}$ न क्षतिरिति ध्येयम्। ठ्यावहारिकेण द्वैतभागेन ${ }^{3}$ । व्यावहारिकश्राधवत् पूर्वोकच्यावहारिकद्वैतबाधवत्। उत्रत्वादिति। वस्तुत ईशास्येव तस्माजीवे भेदस्यापि स्थूलमनःपरिणामत्वमेब; सुषुप्यन्यद्शायामेव तस्य हइयत्वात्। अज्ञानोपाधेर्विद्यमानत्वादेव सुषुप्तिप्रळययोर्न मुक्ततापत्तिरिति ध्येयम् । संस्कारादेरिति । अज्ञायमानकार्यननत्रीकारेण ताहघसंसकाराधसंभव ${ }^{4}$ ${ }^{1}$ सतं्र तत्र-ग. ${ }^{2}$ स्राष्टमेदेडवि-ग. ${ }^{3}$ द्येताभवेन-ग. 4 संस्काराबे $\begin{aligned} & \text { सेंभब-ग. } \\ & \text {. }\end{aligned}$

प्रवोधायोगः ; कारणात्मना संस्कारादेः सक्वात्। न चमोक्षस्य धगन्यत्वेन स्वापमोक्षवत् द्टष्टिसृष्ट्यापतिः ; मोक्षस्य घ्बस्वरूपत्वेन द्रिभ्भिक्वत्वासिद्धे।। न च-चततन्यमात्ररूपा दष्टिर्न सृष्टि:, किंतु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा वा, चृत्तिरूपा वा दृष्टिः सृष्टिरिति वाच्यम्, तथा च तस्या अपि दृृ्यन्तरं सृष्टिरित्यनवस्थेति-वाच्यम् ; चैतन्यमात्रस्य इति भावः । कारणात्मनेति । कारणीभूताज्ञानगतसूक्ष्मावस्थासूपोणेत्यर्थ: । ताद्हराूपस्य तु न हृट्टिस्युष्टि:। अत एव धर्माघर्मयोरपीध्रयप्रसादकोपरूपयोर्विहितनिीविद्रक्कियोत्वरं परोक्षतया छइयमानयोः संस्कारूपेण पश्थादवस्थानान्न दोषः। अथवा—कारणीभूतसाक्षिवीक्ष्यमाणमूक्ष्मावस्थारूपेणेत्यर्थ: । तथा च यथाज्ञानाकारा निर्विकल्पकवृत्तिस्तथा संभकाराकारापि सुषुप्तौ स्वीकियते, अनुपपतेस्तुल्यक्वात्। एकस्या एव साक्षिसुखाज्ञानसंसकाराकारत्वकल्पनात्र गौरवम्। एवमशी प्रसादकोपाकारवृत्युत्तं प्रसादसं' $\times$ काराकारा वृतिर्वार्चा, ईशतत्रसादकोपानां साक्षिनिष्तन्तन्मनोनिष्टानामेब साक्षिणा हइयत्वाचस्संक्काराणामपि तबन्मनोनिष्ठानामेव द्वृ्ट्टिस्टेस्ततन्निष्ठोगगजनकल्लोपपािःः। नचाहं ंुखीतिवदहं त्त्संक्कारवानित्यादिण्यवहारापनिरितिवाच्चम्; सं₹कराकारवृतिविशेषस्यैव ताहशव्यवहारद्टि्टिसूप्टिपयोजक-
 कस्पनाच न तत: स्मृतिरित्यादि बोध्यम्। अथवा सौतुपसंस्काराणामिव पसादकोषसंस्काराणामपि साक्षिण्येन निर्विकल्पिका वृतिर्न तु मनस्तादास्म्यविषयिकेति नो क्तण्यवहाराः ${ }^{2}$ तेषामिव तेषामपि स्वपरिणामिमनःघवाहे स्वकार्यजनकख्वम्। वस्तुतः श्रुल्यादिसिद्रपसाबकोपयोः

$$
1 \text { कोपसं•ग. } 2 \text { व्यवहारः-T. }
$$

दृष्टिव्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादेः सदातनत्वापत्तिः, तथापि वृन्युपहितचैचनन्यमेव दृष्टिख्याब्दार्थः। चृत्तावपि चृत्तिरेव स्वस्वरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था। अत एवदोषाबानादृध्देहेन्द्रियादीनामभावे न अ्रम इति तेषामपि
 णाप्युपपत्तेः। अन्ब्यव्यतिरकानुनुनिधानं च तद्ददेव। न चदृ्टिसृष्टेराि दृष्टिस्टिध्टित्वेन घटादेरद्टप्टिस्टृत्टित्वापत्तिरिति -
शवेपलक्षिततत्तन्मनःपवाहसंबन्घेन मोगहेडुत्वसंभवानस्संक्करानभ्युपगमेडपि न क्षतिः। एवं सुप्रापवि पपश्चसंसकारे मानाभावः, ‘अस--दवेदेमम आसी 'दित्यादि श्रुतिरपि दृथिविशेषानुवादिका; मनःप्रवाहघटकतया मनःसंक्कारमात्रकल्पनात् । तस्संक्धेन पूर्वपूर्व'भ1 ${ }^{1}$ स्स्स्याविधाविरोषाणां वा पघोधे तनन्मन:परिणामहेतुत्वसंभवादिति घ्येयम्। सदातनत्वेति। अनादनन्तत्बेत्यर्थः। खखरूपेति। ₹चच्छे सुखादौ चित्र्पतिविम्बसंभवाद्वृत्च्यन्तरानम्युपगम:, तदम्युपगनेडापे ${ }^{2}$ पस्प्परविषयकवृत्तिद्दयस्बीकारान्नानवस्थादि। यदि तु ततदुइयावच्छिन्ना चिदेदे ${ }^{3}$ तह्हद्यससत्वेति न सदातनव्वापतिरिते विभाव्यूते, तथाप्यविधावृत्तनम्युपगमेडपि चाक्षुषत्वादिधर्मविशिष्टविषयन्वविशिष्टस्यैव घटादेरुरूप्तिर्वाच्या ; घटं पइयामीत्या|दनुभक््यन्यथथनुपपतेः। अत पव स्वमे तथा स्वीक्रियत इति भावः। अद्वप्टिस्दृस्टित्वापत्तिरिति। द्वाट्टिसेंस्तत्वेन मिथ्यात्वे घटादौ तदभावासेद्धिरिति भावः ॥ तत्र तत्सिद्धावपि घटादे: स्वसमसताकहृष्टिसिद्दिरव्याहता ; यथा ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेडा१ तद्विषयस्य नांजेयत्वम्, तथा हाहित्रृष्ट: स्वसमसताकह्टिए्टिसिद्यावपि तद्विपयघटादेरपि स्वसमसत्ताकछट्टि-

[^174]बाच्यम् ; ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेडपि विषयस्पाज्रेयत्वाभावबत् दृष्टिसूष्ट्टर्हि्टिसुष्टिव्वेजपि घटादेर्द्टि्टिस्टिष्टिव्वोपपत्तेः। नन्बैक्यप्रत्यमिक्षार्रोषः ; पूर्वकालप्रतीतस्येदानमिभावात्, न चैषा ध्रान्तिः; दीपादौ परिणतम'भेदस्येवेह बाधकस्याभावाद, तदभावेगफी ध्रान्तित्वे घटादेरप्येकस्मिन् क्षणे भेदस्यात्मनोडपि प्रतिक्षणं भेदन्य प्रसझ इति - चेन्न ; 'नेह नाने 'त्यादिश्रुतिभिः प्रपश्चस्य मिथ्यात्वे ऽधधृते रज्जुसर्पादिवत्र्रतिभासमात्रशररीत्वमेव प्रतिमासकालातिरिक्तकालसच्चे बाधकमू, अतो भिव्षकालानामात्मभिष्णनां प्रत्यभिज्ञा भ्रत्तिः। आत्मन्येकप्रतीतिरेककालावच्छेदेन घटादौ चैक्यप्रत्यभिज्ञा न भ्रान्तिः। एककालावच्छिक्मघटादावात्मनि चाभेदे बाधकाभावात् । पुरुषान्तरप्रतीतेन संहैककालावच्छेदेनापि घटादौौ प्रत्यमिज्ञानं भ्रम एव; प्रतिभासस्य भेदात् । यथा एकस्यामेव रज़ां मन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां युगपत्सर्पश्रमेण पलायमानानां परस्परसंवदेनैनैक एव सर्षः स सैरैरतुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा अ्रमः; अन्य्र्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञातुमशक्यत्वात्। नन्बत्र कथममेदश्रमः तर्कारणस्य साहृईयदेः कस्याप्यभावादिति-चेन्म; स्वमाभेदभ्रमवत् हृष्टिसृष्टिसिद्धसाह्ययादिसंभवात्। न चैवममेद एवोत्पद्यतामिति-वाच्यम्; इषापत्ते:, रज्जुसर्पादिबदुत्पषस्यैव ग्रहणनियमात्। न च कचिदुत्पद्यते कचिकेत्यत्र नियामकाभावः ; मायाया विचिच्रशक्तिकत्वाम्युपगमाद्।

रख्याहतेत्याह--ज्ञानस्येत्यादिना । अन्यश्रमसिद्धस्य अन्यदीयाज्ञानावस्थोपादानकस्य । विचित्रशत्तिकत्वेति । विचित्रका-

## न च-‘सोऽयं देवद्त' इति दृष्टन्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये

 जहदजहह्टक्षण्यैक्यपरत्वोक्त्ययोग इति वाच्यम्; यद्यपि धर्मवद्धर्म्यभेदोऽपि बाधित एवेति जहदजहह्धक्षणापि न युज्यते; तथापि यदा धर्माभेदो बाधाब्ष गृहीतः, किंतु धर्म्यभेद् एव, तदा सोऽयमित्यादौं जहदजहह्ठक्षणासंभवेन दृष्टान्तत्वोपपाषिः। न चाभेद्स्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तज्जानझ्य बाधकत्वायोगः; आत्माभेद्स्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावात्, अन्यूनसत्ताकत्वमात्रेण बाधकत्वोपपत्तेश्य। न च-साक्षात्कारस्यापि दृष्टिसूष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्त्रमावात्त्त्रज्ननत्वाभावेऩ ततो मुक्तिर्न .स्यदिति—वाच्यम्; अबाधितविषयत्वेनैव तच्वज्ञानत्वेपपत्तेः, तस्य च द्टष्टिस्टित्टेड्यक्षतेः। न च 'धुरा द्यौर्धुवा पृथिवी - धुरासः पर्वता इमे ध्रुं विश्वमिदं जग'दित्यादिश्रुतिविरोषः ; अनित्यतावादिभिरपि धुवेत्यस्यान्यथानयने आवइयके दृष्टिसुष्टिप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन आकल्पं सन्तानाविच्छेदपरत्वस्यैवर्यानुकूलविचित्राज्ञानावस्थावत्व्वेत्यर्थः। जगदिति। ' ध्रुवें राजा विशामय 'मिति शेषः। अन्यथानयन इति। नित्यरूपमुरूयार्थमिन्नक ${ }^{1}$ व्वक्वन इत्यर्थः। सन्तानातिच्छेदेति। सृष्टद्टष्टिपक्षे यावक्कालं पृथिठयादि तिष्ठति तावदित्यादिः। सुषुत्तौ संक्कारान क्रीकारे तु तदन्यकाल इत्यप्यादिः। एवं च सझ्रू|मोद्यतक्य राज्ञ. सन्नाहने पुरोधसा कर्तबये विनियुक्त ' अा त्वा हर्षमन्तरेधी 'त्यादिसूक्तान्तर्गत्यय राजस्थैर्याशासने विनियुक्तस्य 'घवे' त्यादेर्यथा पृथिठ्यादि त्विथरं तथा त्वं राजा सिथरो भवेत्यर्थ इति माघवीयभाव्याद्युक्तिर्न विरुध्यते; सन्तान ${ }^{2}$ विच्छेदस्यैव

$$
1 \text { भिष्नार्थक-ग. } 2 \text { सन्ताना-ग. }
$$

गुक्तर्वात्, अन्यथा 'धुवो राजे' त्यादावगतेः। दृष्टिस्टृष्टौ च 'एव्रमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदा: सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ती' ति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात्राणादिस्टृष्टि प्रतिपाद्यन्ती प्रमाणम्। न च सुषुप्तै। प्राणादिपश्रकस्य ${ }^{1}$ सत्वात्किमर्थ पुनः सृष्टिरिति वाच्यम्; 'न तु तह्रितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभकंत यत्पइयेदि' त्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्यप्रपश्रलयश्रवणात्। न च सुषुप्तौ हिता नाम नाब्य इति नाडीसत्वप्रतिपादकवाक्यविरेघः ; केन क्रमेण सुषुप्तौ भवतीत्यपेक्षायां 'हिता नाम नाइ्यो हुद्यात्पुरीततममिप्रतिष्ठन्ते ताभि: प्रत्यवस्त्य पुरीतति शोते' इत्यादिना सुषु-. प्रथव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसच्वं प्रतिपाद्यते, न तु स्थैर्यूपत्वादिति भावः। अगतेरिति। राजत्वश्रयम्य देहस्य मरणपर्यन्तं नाविचेछेदः; बाल्ययौवनादिषु ह्वासवृद्धयादिना विच्छेदात्। अतश्रैत्रत्वाधशश्रयदेहसन्तान ${ }^{2}$ विच्छेद एव सैर्थम्य । चैत्रत्वादिक तु कारणीभूताज्ञानावस्थाविशेषरूपत्वादनादित्वेन सुप्तिकालसत्व्वेडपि देहसन्तानवृर्तीति भावः। काल इति। नाडीसत्व्वमित्यत्रन्वेति। 'यदा घुषुप्तो भवति, न कस्यचन वेद, हिता नाम नाब्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि ताभि: प्रत्यवसृव्य पुरीतति शोते, स यथा कुमारो महाराजो वा महात्राद्सणे। वाइतिद्मीम।नन्दस्य गत्वा शयीत: एवमेवैष एतच्छेते' इति वाक्ये 'यदा सुषुप्तः शोते' तदा एष एवमेतच्छेते। एतदिति पूर्ववाक्यो्राकाकाशशब्दितब्रद्याधारकार्थकं रायनकियाविशोषणम् । कीद्वशां शयनं तन्चाह- यथेत्यादि शयीतेत्यन्तम्। गत्वा शयीतेति मुखं ठयादाय ₹्वपितीत्यादाविव शायित्वा गच्छेदित्यर्थ: ; अन्वथा शायनेत्वर-

$$
1 \text { प्राणादिप्रपष्धस्य. } \quad 2 \text { सन्ताना-ग. }
$$

सुषुस्तिकालेऽपि, वाक्यान्तरविरोधात् ; प्राक् सत्वमात्रेण च क्रमाभिधानपर्यापे:। नजु-‘यत्रैष एतत्सुप्तोऽभू’ दिति यच्छब्देन सुपाधारत्वेनोक्तस्य ज्रह्मण एव 'अस्मादात्मन' इत्यनेन परामर्शात्त्कर्तक्कैन प्राणादिस्टृष्टिर्न तु सुपोत्थितजोवकर्वा; अन्यथाऽग्नूर्णनाम्यदेस्तन्तुवि स्फुलिड्जादिजननोक्तिरत्रापि वाक्ये सर्वलोकसृष्टुत्तिश्यालकिर्था स्यात्, न हि दप्टिसृष्टिपक्षे अग्न्यूर्णनाम्यादेस्तन्त्वादिजनकत्वं सर्वलोकसूष्टिर्वास्तीति-चेत्, न; यत्रेत्यस्य कालपरत्वेन यच्छब्देन बह्मणो निर्देशाभावत्। न च यत्रेत्यस्य ब्रह्नरूपाधिकरणपरत्वं कालपरव्वं वेत्यत्र विनिगमनाविरहः ; अनन्तरवाक्ये ‘क्कैष तदाभू’ दित्यत्र क तदेति पदद्व-

मेवानन्दप्र|पेर्यथ|श्रुतासक्रतेः । तथा च यथा कुमारादि: शयित्वानन्दातिशयं गच्छति एवमस्य विज्ञानमयक्ग शयित्वानन्दातिशयरूपत्रस्सपापिरूपं शयनमित्यर्थ दृष्टान्तदार्ष्टन्तिकयोः पर्यवसानम्। आनन्दातिशयप्राप्तिरूपशायनात्पूर्वं शयंन विवेचयन्ती श्रुतिराकाङ्दिक्षतं कम-माह-- हिता नामेत्यादि । एवं च पुरीतदाधारिका सुषुप्तिरिति पलापो वाक्यार्थाज्ञानादेव; पुरीतत्र्राप्युत्तरं मनआद्युपाधिलयेन मनअद्युपाधिकृतभेदाभावरूपप्रद्मप्रांपरेव सुणुप्तित्वस्य श्रितिसिद्धत्वात्। अत एव ‘ तदभावो नाडीषु तच्छूतेराहममनि चे 'ति सूत्रे नाडीपुरीतहूसमां स्रुष्षौौ कमसमुच्चयः सिद्धान्नितः। वाक्यान्तरेति। 'न तु तद्वि. तीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त'मित्यादिवाक्येत्यर्थः 1 सर्गलोकसृष्टि: सर्वलोककर्मिकैका स्टृ्टिः। अनन्तरताक्येति । गार्ग्र प्रति त्रः्ष ज्ञापयन्नजातशात्रुर्गाग्येस्य ब्रह्मस्ररूपशश्नडप्यसामध्यांस्व्वयंव प्रश्नपूर्वकं
 एतदागा ’द़िति प्रभ्भः ‘ यत्रैष एतस्सुप्तोऽमूद्ध एष विज्ञानमयः पुरुष-

योपादानस्यैव विनिगमकत्वात्, यत्रेत्यनेन देश्शनिर्देशो छ्केति देशग्रश्नाजुपपत्ते:, कालानिर्देशे च तदेति प्रतिनिर्देशानुपपत्ते:

स्तदेषां प्राणानों विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोडन्तह्हृद्य आकाशस्तस्मिं छेते ' इति प्रत्युत्तरम्। तत्र केत्यनेन देशस्यैव प्रश्न:, अन्यथाकाशारूपदेशेशत्वरासकतेः। तथाच यत्रेति कालुसैय निर्देश इति भावः। ननु-यत्रेति केत्यम्य विशेषणं तत्राह—कालानिर्देशा इति। यच्छछदेन कालनििदेदो प्रश्नवाक्ये तद्रेति निर्देशो न स्यात्; यच्छब्देनोद्दिष्टस्यैव तच्छबेदेन प्रतिनिर्देशौचित्यात्, प्रसिद्धार्थकत्वस्य प्रकृते तच्छब्द्य्यासंभवादित्याशायेनाह-कालानिर्देशा इत्यादि ॥

ननु-तथाव्याकाशशब्दित घँँ्सैवैस्मादात्मन इत्यत्रोक्त|मितिचेन्न ; 'एवमेवैष एतच्छेत' इत्यत्रावयवहितपूर्ववाक्ये जीवस्यैव प्राषान्येनोक्तलेन तत्पदबेध्यत्वौचित्यात् 'पुरत्रये कीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्र'मित्यादिश्रुत्यन्तराच । तत्र
 कीडतीत्यन्तम् । अत एव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश ' इत्यदौौ एतस्मादात्मन इति सार्थकम् ; व्क्माभिन्नजीवकारणत्वपरत्वात् । अत एव च वाक्यान्तरे ब्नहेहुत्वोर्कित्रष्सािन्नजीवपरा 1 अत एव च 'असतोऽधि मनोऽसृज्यत मनः प्रजापतिमसृजत्चेदें मनस्येव पतिष्टितं यदिदं किंचे इत्यादिश्रुतिजगतो मनःपरिणामत्वमाह । ' एतस्स्व मन एवे 'ति श्रुतिव्याख्याने-

ड्राक्षु कृष्णमणु स्थू欠मिति घी: कर्मणो वशात्।
द्वैताधिकारमापन्ना वैभ्वरूप्यं नियच्छति ॥

$$
1 \text { य:-ग. }{ }^{2} \text { कारण-ग. }
$$

## धीर्विपर्यय रूपेयं यतः श्रुभादिरूपिणी। मन एवेल्यतः प्राज्ञाः सर्वे रूपं प्रचक्षते ॥

इति वार्तिकामृतमवि तथाह। यतो घीः मनःपारिणामोऽतस्तद्विषयोऽपि सुषुषौतौ मनोऽभावे दृइयदर्शनयोरमावास्सुप्तोत्थितस्य मनोन्वये कार्यमात्र|न्वय|च्च । गौडपाादायभाष्यतदानन्द गिर्याद्दौ चायमर्थ: प्रपश्चितः। शारीरकसंक्षेपे च-

तस्ममहू्बाइविद्धया जीवभावं प्राप्यासिल्वा तावके तु स्वरूपे। व्वचितिते स्पन्दितं जीवजातमाकाझादि क्ष्मावसानं च पसेःः। विधाविधे बद्रमुत्तौ ख्वदन्यावाकाशादि क्षमावसानं च विश्षम्। स्वाविघोड्यस्वन्तविक्पन्द्धितं तद्विज्ञातव्यं माप्रहीरन्यथैतत् ॥ .वासिद्धेऽपि-

## मनेमयमिदं विध्धं यन्नाम परिहुयते।

इत्यादिपपश्चः। तस्मादविद्यापाधिकस्य जीवस्य मनउपादानलंत्रं ${ }^{1}$ मनउपाषिकस्य तस्यैयेतेतरकार्यमात्रोपादानत्वर्मिति सर्वमानसिद्यान्तसिद्यम्। 'आकाशाद्वायु' रित्यादिश्रितिस्तु कश्चिद्वाख्वादिराकाशादिजन्यल्बेन छ₹यमान आकाशादिजन्य इल्यमिपाया। अत एव छान्दोगये तेजआदिस्ट्टिर्ता । वियदा|दिस्ट्टिकमपरस्तुत्राण्यवि हृथिविशेषाभिपायकाणि। अत पव सृट्टौ श्रुतितार्पर्यमम्युपेत्यादत्वं तेषामाकरे उक्रम् अद्दिन्रह्सणेयेव तचातपर्याँ्ञ। अत एव 'कुत पतदागा' दिति संसारेत्वरूपागमनं जावस्य किमुपादानाभिन्नकर्तृकमिति पश्सम्य अस्मादात्मन इति जीवरूपोपादानाभिन्नकर्तृकमिल्यर्थकमुत्रंर्रक्तिष्पम्। आत्मपद्स्य

माष्यकारादिमिश्य स्थूलाधिकारिणं प्रति तथा ठ्याख्यानात्, ऊर्णनाम्यादेस्तन्त्वादिजन्मोत्पत्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्धकार्यकाएणभावप्रसिद्धिमनुरुद्थय। सर्वलोकादिस्टृष्टिंश्य तत्तद्धृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य ; यदा यत्पइयति तत्समॠकालं तत्सूजतीत्यत्र तात्पर्यात्। न चाविद्यासहकुतजीवकारणकत्वे जगद्वैचित्रयानुपपतिः; जगदुपादानस्याज्ञानस्य विचित्रशक्तिकत्वात्। उपपत्त्यन्तरं चात्र

चेश्ररपरत्वे प्रसिद्धिविरोषः; ' क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष' इति प्रत्यगत्मन्येव तत्पसिद्धे:। स्थूलाधिकारिणमिति। उत्तं हि शारीरकसंक्षेपे-

> तत्वावेदकमानद्टाष्टिरघमा तच्चक्षतिर्मध्यमा
> तत्व्वप्रच्युतिविश्रमक्षतिकरी तन्रन्त्यद्टष्टिर्मता। जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितो उ्यामिश्रद्वाष्ट्द्द्विधा

भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोडर्घ्वलचिधर्भवेत् ॥ इति । प्रत्यक्षादिमानानां तत्रववेदकरववद्टष्टिराध्या. तेषां व्यावहारिकमानत्वह्ट्टिर्द्वितीया, तत्त्वपच्युतेव्व्यावहारिकमानत्वक्य प्रत्यक्षादौ शुक्तिरूप्यादिबुद्धाविव विद्रमत्वद्टष्टया क्षतिकरी जन्यद्टइयमात्रे प्रातीतिकत्वदृष्टिपर्यवसिता तृतीया, सापि जीवैकत्वे मुमुक्षुभेदान्नमनाद्विविषा व्यावहारिकत्वाभावभ्रमत्वविषयकत्वेन व्यामिश्रा दृष्टिः। पूर्वपूर्वविलयादिति। मुमुक्षुभेदृृ्टे: पश्रादुक्तावव्यार्थिक पूंव्वत्वं बोध्यम्। उपपत्यन्तरमिति । अज्ञायमानतादशायां पृथिव्यादावनन्तसंयोगादिकमिन्द्रियतल्कियासंयोगादिकं तस्य प्रत्यक्षहेतुत्व प्रातातिकव्यावहारिकयोर्मिथो ठयावृत्तरूपेणन्यत्र हेतुत्वादिकं च न कल्प्यते । ज्ञानहेतुत्वस्थले विषयस्यैव हेतुत्वं जन्यज्ञानाकह्पनं चेति लाघवभ्। 'घटं पइयामी' ल्यादिप्रत्यये च धटाभिन्नचाक्षुषादिर्विषयो घटादावेव

सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकादावस्माभिरमिहितम् । वासिष्ववार्तिंकामृतादावाकरे च स्पष्टमेवोक्तम् । यथा-

अविद्यायोनयों भावः सर्वेड्मी बुद्धुदा इव।
क्षणमुद्रूय गच्छान्ति श्ञानैंकजलधौ लयम् ॥
इत्यादि। तस्माक्रक्नातिरित्तं कृस्तं द्वैतजातं ज्ञानक्षेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसचं सर्वस्येति सिद्धम्॥

# रज्जुसर्पदिवद्विश्षं नाज्ञातं सदिति स्थितम्। <br> प्रदुद्धद्टिस्टृष्टित्वार्तुषुप्तौ च लयभुतेःः। 

हल्यद्दैतसिद्दौं हृिप्टस्चुपपत्ति:.

## अथ एकर्जावाज्ञानकल्पिनत्वोपपत्तिः ॥

स च द्रैंक्त एव; तन्भानात्वे मानाभावाव्। नतु कथमेक एव जीवः? प्रतिशरीरं 'अहं सुखी अहं दुःखी अहं संसारी अहमस्वाप्स'मित्याद्यनुभवविरोधादिति-चेक्न; अविद्यावशान्दबैैैैं संसरति। स एव जीवः। तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिबुद्धिः। स्वामझीरीर 'अयं सुखी अयं दुःखीत्येव चाक्षुषत्वादिधर्मम्वीकारादित्यादिरुपमिति' शेष: । द्वैतजातम् जातं द्वैतम् ॥

दुर्न्नध्वन्तनाशाय दृिस्टस्टुपपादनश् ॥


यत्र बुद्धिर्न त्वहं सुखीत्यादि' तचु निर्जीवम्। यत्र त्वहमित्यादि तत्सजीवम्। जाग्रच्छरीरान्तरे अहमिति प्रतीत्यवच्छेदके सजीवतोक्किर्न द्वितीयेन जीवेन सजीवत्वमित्यमिप्रेत्य ; तत्र मानामावात् । उबन्धमोक्षाद्वि््यवस्थानुपपत्तिस्तत्र मानमिति चेन ; बन्धमोक्षगुरुरिष्यादिठ्यवस्थाया: स्वमवद्यावद्विद्यमुपपत्ते:। न चैंवं तस्मिक्षेकस्मिक्षेव जीवे सुते समस्तजगदप्रतील्यापातः ; समष्टयभिमानिनो प्रुख्यजीवस्यासुप्तत्वात्। तस्मिन् लयकाले प्रसुते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति ; तदुपाधीनामप्रलीनत्वात्। संस्कारस्य कारणात्मना स्थितेर्न सुत्तस्य . प्रुनरुत्थानानुपपरितित्युक्तम् 1 एतेन-मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थ प्रवृत्त्ययोगः ; तव कल्पकत्वे त्वत्कल्पितास्मद्वादिबोघार्थ तव शब्दप्रयोगाद्यनुपपात्तिः, न च स्वपवत्पर्यनुयोगायोगः; एवमपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारग्रसङ्ञादितिनिरस्तम् ; चैत्रमैत्रादिसर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन तव ममेत्यादिविकल्पानुपपत्ते:। नापि स्वक्रियादिविरोधः; सक्रियाया: कल्पितत्वादिनिश्ययविएहकालनित्वेन पर्यनुयोगायोगात्।

## अथ एकजीवाइ्ञानकल्पितत्वोपपात्तिः ॥

निर्जीवम् जीवावच्छेदकमनःसुखाघनवच्छेदकम् । सजीवम् उफ्फान्यत्। समष्टधाभिमानिनः ततन्मनोवच्छिन्नानांतचद्देहाघ्यभिमानानामाश्रयस्य । लयकाले प्रळयकाले। तमेव-तन्मनोबच्छिनमेव तदुपाधीनों तत्तन्मनसाम्। कल्पकत्वेन मनस्तत्परिणाममान्रद्रष्टृत्वेन। स्वक्रियेति। उकशाबद्रयोगादीत्यर्थः । कल्पितत्वादीत्यादिना-

अथ ब्रद्षण एव जीवत्वेन तस्यैन बन्धमोक्षाविति तर्य नित्यमुक्तत्वादिभ्रुतिविरोधः, न; मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तदविरोघः। न हि मृगत्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावसुष्का मरुभूमिरार्दा भवति। एतेन-कल्पितस्य जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगः ; तेन कल्पकेन प्रत्यक्त्वेनाज्ञानतत, अन्यस्यानुभवितुरभाशत्र, तथानुभवापलापे एकजीवाद्वैतभ्रुत्यादेरप्यासिद्यिरिति-निरस्तम् ; अनेकशरारे एकजीववादस्याङ्रीकारात्। न च—तर्हि तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्वयोरयोगः मैंत्र प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रति अहमितिधीविषयत्वायोगश्थेति—वाच्यम् ; भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाह ${ }^{1}$ मित्यादिबुद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्ते: । न च चैत्रसुखदु:खदीनां मैत्रणानुसन्धानापन्ति: ; अन्तःकरणावच्छिबेनाविद्यावच्छिन्नेन वा-। नाद्यः ; तत्र परसररं भेदात्। न

एकर्जावेन सर्वप्रमात्रादि कल्विततमित्यादि স्रहणम्। तथाच जीवभेदज्ञानादेकबोधनार्थमपरन्य प्रवृत्तिः (एकजीवकल्पितं सर्वमिति निश्षयेडपि मनोवाच्छिन्नानां भिन्नत्वत्। एकस्य बोषनार्थमपरस्य प्रवृतिः) युक्ता; न होकमनोवच्छिन्नेनापरमनोवच्छिन्नं कल्पितम्। न चैकस्य मोक्षार्थ प्रवृर्तिं जानतोऽपरस्य तद्रीर्थ प्रवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्; परपवृत्त्या मोक्षावरघम्भावानिश्ययान्मुमुक्षुतत् प्रतारकाणामपि दृष्टत्वात्, विवेकिनां मोक्षाथ्थ प्रवृतेरेव रोचमानत्वास्सांसारिकमवृत्तेर्दु:खबहुत्वनिक्षयादिति मावः। तथानुमवति। नानाशरीरेषु जीवन्य प्रत्यक्त्वेनानु. भवेत्यर्यः। श्रुत्यदेदेरिति। तदनुमवस्याप्यपलापसंभवादिति शोष:।

द्वितीयः; इष्टपत्तेः। अत एव—ुन्चर्रस शुक्तिसाक्षात्कारेण रजतभ्नमनिषृत्तावन्येषामपि तबिषृत्ति: स्यादिति-निरस्तम् ; अन्तःकरणभेदेन ठ्यत्रस्थापपत्तेः। नन्वेवम्-म्युक्रावपि चैत्राघन्यतमान्तःकरणावच्छेदेन साक्षात्कारे उत्पन्ने तदवच्छेदेनैव संसारनिवृतिः स्यात्, न तु तदितरान्तः करणावच्छेदेनेतिचेनः तत्साक्षात्कारस्य सविलासमूलाज्ञाननिवृत्तिरूपतया तत्कालेडन्तःकरण स्याभावेन वैषम्यात्। ननु — श्रुतिषु 'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना' इत्यादावविद्या, 'रमणयचरणा' इत्यादौं कर्मबन्धः, 'सति सम्पद्य न विदु' रित्यादौ सति सुषुतिः, 'वेदान्तविश्ञानसुनिश्यितार्था' इत्यादौ तच्चज्ञानं 'परामृतात्परिएमुच्यन्ति सर्व' इत्यादौौ सुक्तिश्र चेतनधर्मः कथमनेकेषूच्यत इति-

वैषम्यादिति। पल्लवाज्ञान ${ }^{1}$ तन्नन्मनोडवच्छिन्नत्वेन तत्तन्मनःपरिणामज्ञानेन नितृत्तिः, मूलाज्ञानस्य त्वनवच्छिन्नत्वेन किचिन्मनःपारणणामज्ञानेन निवृतौ सर्वद्टइयनिवृत्त्या मनोन्तरमेव दुर्लम्, दूरतस्तत्र संसारापति:, प्रारबधकर्मसत्त्वे तु मने।sन्तरे संसार इष्टसतत्वज्ञानावच्छेदकमनसीवेति भावः ॥

यचु - सर्वाभिमानिनो हिरण्यगर्भर्य जीवस्य स्वीकारे तस्य कल्पन्ते मुक्रयापत्तिः ${ }^{2}$ तदन्यजीवस्वीकारे तु नानाजीववादापत्तिः, तत्तन्मनोवच्छिन्नानां तु चित्वे नानाजीवत्वापविः, अचित्वे जगदान्ध्यापाचिरीति -- तन ; सकलस्थूलूस्क्ष्मसमष्ट्यभिमानाश्रयस्यैकस्यैव जीवस्योक्तव्वेन हिरण्यगर्भस्य च सूक्ष्मसमष्टिमात्राभिमानिनो जीवत्वाभावात्, कल्पन्ते तन्मुक्तयस्वीकाराच । सगुणन्रक्षाहज्रहोपापनाया ग्रमलोकपाप्तिजनकमदृष्टं चिचैकाप्रयं च फलम्, तस्य च सर्वमुक्कि

चेष्ण ; 'अनादिमायया सुप्रो यदा जीवः प्रबुछयते' इत्यादिभुतिष्वेकवचनप्रस्तैकत्वविरोधेनोदाहत्तभ्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात् । सार्वजनीनअ्रमसिद्धतदनुतादेनाविरोधात् । न चोदाहदत्रुति-

जनकघीप्रयोजकवैरक्षण्यं स्वीकियते, न तु कस्यचिदेव कममुक्तिभयोजकवैलक्षण्यम्। तथाच कदाचिक्कुत्रचिन्मनसि तत्त्वरीः सर्वमुक्तिपयोजिका श्रवणादिना ताह्हादृष्टार्दिना च मिकित्वा पयुज्यते ; वामदेवमुक्तत्वादिश्रुतेरिव ' वह््नणा सहे 'त्यादेरुपासनास्तावकत्वेन कल्पान्ते मुक्तिबोषकत्वाभावात्, उक्तलाघवानुगृहीतैकजीवश्रुत्यनुरोषात्, मनोवच्छिन्नानां (चित्वे नानाजीवत्वे हम्तपादाद्यवच्छिन्नानां) चित्त्वेनापि तेषां तदापत्ते।। यदपि बन्धतत्त्वज्ञानमोक्षावच्छेद्कत्वेन मनसां जीवभेदकत्वमिति, तदपि न ; अविद्यातन्नाशायोर्बन्घमोक्षयोर्मनोऽनवच्छिनत्वात् । ज्ञानावच्छेदकभेद⿸्तु न जीवभेदपयोजक:; हस्तादिरूपावच्छेदकभेदғ्य्यापि तत्त्वापत्चेर्मानाभावाच्च । एकवचनेति ।'साक्षी चेतेल्यादिवाक्यशोषाद्वेवपदं पुरत्रये ऊडिकपरम्। अज्ञानावृतवास्तवस्वरूपकत्वेन गूढ इति भावः । इत्यादिश्रुतीत्यादिपदेन 'पुरत्रये कीढति यस्तु जीवः' 'प्रविइयामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते,' 'स -एष इह प्रविष्ट आनखायेभ्य:,' 'मायया सन्निरुद्ध:' इत्यादिश्रुति:, ' देही कर्मानुगोऽबशः,' 'विहाय जीर्णन्यन्यानि गृद्नाति नवारी' त्यादिम्मृतिश्य प्राद्या। अनेकत्वपरत्वेति। जीवानेकत्वपरत्वेत्यर्यः। तदत्रुवादेन जीवानेकत्वानुवादेन। वस्तुतोऽविद्यान्तरे वर्तमानत्वमविष्षाप्रयुक्तसुखदु:खाभिमानत्वम्| अत एव ' पण्डितं मन्यमाना' इत्यादि शेषः। तथाचाविधान्तरे वर्तमानत्वं रमणीयचरणत्वं सति लीनोपाषिकस्वं चैतत्रयं मनोवच्छिन्नस्यैव। 'सति सम्पद्य न विद्यु: सति सम्पध्यामह' इति वेत्तुत्वाभावस्तु ताह्दास्मर्तृत्वाभावरूप:, अन्यथा सम्पब्यमाना

विरोधेन 'इति सृष्टौ विनिश्रिता'. इति पूर्वेण 'स पूज्य: सर्वभूत्वाना' मित्युत्तरेण च विरोघेनेदमेकनचनं 'यदा नीतिपरो राजा' 'स्रर्गकामो यजेते ' त्यादिवै्ञैकत्वपरमित्येव कि न स्या-दिति-वाच्यम्; प्रत्यक्त्वपराक्त्वमहामित्यादिव्यवहारग्रयोजकान्तःकरणणमेदाध्यासबलादहुत्वस्य प्राप्तत्वेन पूर्नोत्तरवाक्योदाहृतभ्रुत्यदीनामतत्परत्वात् । न च- मुक्तबहुत्वंत्वं नान्यतः भ्रात्र-मिति-वाच्यम् ; जीवबद्रुत्वस्य प्राप्तत्वेन मुक्त्यंश एवाप्रापत्वपर्यवसानात् । न चैकस्यैव जीवस्य सर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणतंवं निषिछ्य ईश्वरकारणत्वविधायकैः श्रुत्यादिमिविरोधः, अविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादने निरासिष्यमाणत्तात्। न चैवम्—सर्वज्ञत्वसर्वकर्तत्गादिबोधकश्रुतीनां निर्निषयत्वम्; कुद्धनैचन्ये सत्र ${ }^{1}$ सैयैवाभातात, ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावात्, जीवे सार्वइ्यस्यानुमवबाधितत्वादिति-वाच्यम् ;

इस्युच्येत। तथाच मनोवच्छिन्नताकाल एव साक्षिणस्तदुकिः । एवं सुनिश्चितार्थत्वं मनोऽवच्छिन्नस्य परिमुक्तिरपि दु:खादिशून्यत्वरूवा दुःखादिशून्यडुद्धाभेदविवक्षया तस्यैवेति तस्यैव नानात्वमुक्तवाक्यैरुक्तम्, न तु जीवस्याविधेपहितस्येति ध्येयम्। गौडपादीये 'अनादिमायये’ त्यादिवाक्ये स्वर्गकाम इति यजेतेत्याएयातैकबचनस्योपादेयकैन्रक्य परत्वेडपि स्वर्गकाम इट्युद्देशाचाचकपदोत्रं सुत्रेकवचनमविवक्षितार्थकमेव। अत एव पुंस्त्वस्यविवक्षितत्वात् रिया अप्यषिकारः घष्ठे उक्तः ॥

अतत्परत्वात्। एकत्वश्रुत्यादिकं तु तत्परम्; एकत्वस्या-
1 सर्वश्ल.

समष्ट्यमिमानिनो जीवस्य सर्वश्ञत्वसर्वकर्तृवादिए्वीकारात्। न चानुभवविरोघः ; अन्तःक्करणाभेदाध्यासबलात्तद्ननुमवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः। सर्वाभिमानिनस्तु सार्वेज्ञथानुमवोऽस्त्येव। अत एव 'तान्यहं वेद् सर्वाणि न वंं वेत्थ परंतपे' ल्याद्युपपद्यते। नच—' अचार्यवान् पुरुषो वेदे 'तिश्रुतेरुपद्देशं विना जीवस्य तश्वज्ञानमनुपपब्मम्, उपदेष्टव्यादन्यस्य चैतन्यस्याभावाच नोपदेशो गुज्यत इति-वाच्यम्; स्वम इवोपदेष्टु: कल्पितस्य संभवात्। ननूपदेष्टृत्वं न कल्पितमात्रस्य, किंतु तत्ववित्वेन कल्पितस्य, तथा चोपदेशात्र्राक्रचज्ञाने तदैव मोक्षापत्तिः, उपदेशबवैयथ्य च, न चैवं ख्वमेऽपि तुल्यम्; तदा हि शब्दविशोषवकृत्वेनैव गुरुकल्पना, न तूपदेशासाध्यझ्ञानविषयविशोषविच्वेनेति विशेषादिति—चेन्न; अत्रापि तद्वदेव वाक्यविशोषवकृत्वेनैव तत्कल्पनसंभवात्। ननु—तर्हि 'यदेव भगवान् वेद् तदेव मे बूही'त्यादिश्रुतिः 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्त₹्वदर्शीन' इत्यादिस्मृतिश्यायुक्ता स्यादिति—चेक; सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयविच्वेनाज्ञाततत्त्वविच्वेन त₹्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्य उपदेष्टृत्वसंभवेनोदां-

प्रापत्वात्, लाघवानुम्रहाख्ध । समष्टयभिमानिन इति। तत्तन्मनोवच्छिन्नतत्तदमिमानवतोऽविद्योपहितस्येत्यर्थ:। सर्गाभिमानिन इति। स्वकाल्पितसर्वात्मकर्नसर्वज्ञत्वाद्दिविशिस्टेभ्वराभेदोपासनाषीनसर्वाभिमानयुक्तस्ये्यर्थः। उपपद्यत इति। ताह्हाभिमानयुक्तममान्रैव तथोक्कमिति भावः। ननु-भेदस्यापि ताहशज्ञानविषयत्वसंभावनाया भेद्वादिनोऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वसंभावनायाक्ष संभवाद्विशिष्य तर्वज्ञत्वेनैव

$$
\text { Advaita Vol. II. } 23
$$

हृतवाक्याविरोधाव्। अन्यथा तवापि मते तच्वविन्वेन प्रमित एवाचार्यत्वेनानुसरणीय इति प्रथमत एव तभ्वज़ाने तत्कालमोक्षापन्युपदेशत्रैयथ्यादिकं च स्यात्। एतेन-' स्वाध्यायप्रवचनाम्यां न प्रमदितठ्य'मित्यादिविधिरणि भावितक्त्नज्ञानिकल्पकचेतनं प्रत्येत, नच तस्य शिष्यः स्ताज्ञानकल्पित इति ज्ञानत ${ }^{1}$ स्तन्मोक्षार्थ प्रवचने प्रवृत्तिर्युका ; नच स्तमवत् कल्पितत्वाइानात्प्रवृत्तिः ; तष्ष्वविद्स्तद्ञानानुपपत्तेरिति-निरस्तम् ; स्वम्सगुर्वत् कल्पितत्वेन गुरोरपर्यनुयोज्यत्वात्। न च—तन्वज्ञानहेतुत्वेन वेद्स्य मीमांस्यत्ववत् गुरोरपि पर्यनुन्योज्यत्वमितिवाच्यम्; तर्केण वेद् इव तत्तदूपकल्पनया गुरावपि तत्परिहारात्। न च—कथास्तपि सदुत्तरापारिस्फूर्तावहं व्वक्कल्पितो न पर्यनुयोज्य इन्युत्तरं स्यादिति-वाच्यम्; कथायाः कल्पि-, तत्वानिश्ययकालीनत्वेन समयबन्धविशोषनिबन्धनत्वेन च ताद्ध-

गुरुः कल्प्यः; तत्राह-अन्यथा तवापीति। तथाच भेद्वादिमते स्वसिद्धान्तश्रवणाधथा नाद्दैतेते तस्संभावना, तथैवाद्वैतमतेऽपि मेदे न तस्संभावना। यथा च तव भेदानिर्णयेडपि मेदनिर्णयवानिति कल्पना, तथैवाद्वैतानिर्णयेऽपि ममाद्दैतनिर्णयवानिति कल्पना। अन्यथा तत्त्वनिर्णयात्पूर्व तत्र मोक्षसाधनत्वेन ज्ञानासंभवादिच्छापि न ₹्यात्। यथा तवेदानीं भेदानिश्रयसत्त्वेऽपि बिचारादियुक्तशास्तजन्यं भेदज्ञानमेव मोक्षहेतु:, तथा ममापि ताहइमदद्दैतज्ञानमेव तथेति भावः। भावितन्त्वज्ञानिकल्पकचतनमिति। सर्वमोक्षकारणतत्वज्ञानयुत्को ${ }^{2}$ मावी शिष्यशासादिकल्पकक्षेतनः तमित्यर्थः । प्रवचने-अध्यापने । समयबन्घेति। नियमबन्धेत्यर्थ:। ताद्धशताहशाक्षेपपर्यनुयोगषटित-

$$
1 \text { जानत. } 2 \text { भाविशिष्य-ग. }
$$

# गुष्षरानवकाशान्य । तस्माच्छिष्यवत्लुरोरपि कल्पितंत्वात्स्वमवत्सर्वव्यवस्थोपपतिः । अथ-कल्पको न निश्यिताद्वैतः; 

 शास्तप्रणयनवैयंथ्यात्, नाप्यनिश्रिताद्वैतः ; शास्तरस्य प्रमामूल्कत्वामावप्रसक्ञादिति - चेक्न ; प्रमामूलकत्वाभावेडप्यबाधितविषयत्वेन शास्त्रामाण्योपपतेरन्त्यपक्षाभ्युपगमात् न चामुकः स इत्यनिश्रये बह्बायाससाध्यमोक्षार्थम्रवृत्त्ययोगः; प्रतिशरीरमहमहमिकया बद्धोऽहमिति निश्रयस्य स्वानुभवसाक्षिकत्वेन प्रवृत्तिसंभवाव, एकेनैव जीतेन चैत्रमैत्रादिशरीराणां सजीवत्वसंभवस्य प्रागेवोकत्तत्वत्। किंच चैत्रमैत्रादिषु कोऽसाविति प्रश्नस्य किं केनचित् कोडीकतं चैतन्यं विषयः, किं वा निरस्तसमस्तभेदम्। नाद्य: ; तस्य कल्पितत्वेनाकल्पकत्वात्। न द्वितायः ; तस्यैकत्वेन तद्निश्ययासिद्बेः। श्रुद्धचित एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारित्वेऽप्यावरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वाश्रिताविद्या वशात्ससारित्वकल्पकर्वमेक्षार्थयतमानत्वाद्युपपतिः । :ननुअनादौ संसारे कस्यचित्तन्वज्ञानं पुक्तिश्याभून्न वा, आद्यें इदार्नीकथाया एव तत्त्वनिर्णयहेतुत्वेन साम्पदायिकत्वामिति भावः। प्रमामूलकत्वेति। निश्षयमूलकत्वेत्यर्थः। अन्त्यपक्ष इति। आघवक्षेडपि न दोष:; चैत्रो ज्रघ्षेत्यादिवाक्यजन्यनिर्विकल्पकानिश्ययस्य मोक्षजनकत्वेन विजातीयनिश्षयस्यैव मोक्षजनकत्वांदताहा ${ }^{1}$ निश्वयेन शार्रभणयनसंम्भबात । मोक्षजनकज्ञानमूलकत्वं तु शासे नापेक्षत ${ }^{2}$ इति ध्येयम्। केनचित्-मनआदिना । कोडीकृतम्-विशिष्ट प्रमत्वरूपम् । एकत्वेनेति। न च-तनन्मनउपहितेषु क इत्यनिश्यय ईतिबाच्यम् ; अविद्योपहितस्यैव मनउपहितत्वेन सर्वमनउपहितानां कश्प-

$$
{ }^{1} \text { ल्वास्ताधशा-ग. } \quad 2 \text { राब्ब्रणापेक्षत-ग. }
$$

संसारोपलन्धिर्न स्यात् ; जीवस्यैकत्वात्, अन्त्ये सम्प्रदायसंभवेन तत्त्वज्ञानासंभव इति-चेन्म; न ह्यसाम्पद्यायिकत्वमुत्पत्तिविरोधि ; अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्जात्। कित्तु कारणासच्त्वम्, तब्केदानीम्; उपदेष्ट्रत्वादिकारणस्य कल्पनासुद्टढस्य सक्वात्। जीवैक्यस्य प्रमाणसिद्धत्वे संसारोपलम्भ एवातः पूर्व तत्वज्ञानानुत्पतौ ग्रमाणम्। न च-तश्ववित्वेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्माभूत्, मम तु भविष्यतीति कथं शद्ध्यादिति —वच्यम् ; शास्र्रामाण्यदार्द्यादिति गृहाण। अन्यथा तेषां महानुभावानां मुकत्त्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शब्कापिशाच्या प्रवृचिप्रतिबन्धापतेः । ननु—तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो ${ }^{1}$ जीवभेदः; पृ्वमपि केषांचिन्मेाक्षश्याक्युपे-

कत्वनिश्रयात् । सम्पद्रदायेति। अनादितन्वज्ञानप्रवाहेत्यर्थः। अपूर्वजातीयेति। पूर्वन्नुपलब्षचैत्रत्वादिजातीयेत्यर्थ:॥

ननु—कर्मणां तत्तजातीगापूर्वाणां तटफलानां च प्रवाहरूपेणानादित्वान्न पूर्वानुपलब्धजातीयमुत्पद्यत इति-चेत्, भ्रान्तेनोपदिष्टोऽसि; न हि यद्जजातीयमिदानीं जायते तज्जातीयोपषायक कर्मूपूर्वपि केनचिताद्धां कर्मानुष्ठितमित्यत्र मानमस्ति, येन कर्मादीनामुक्तानादित्वनियम: स्यात्। आस्तां वा तथा, तथापि चैत्रत्वादिकं न विहिताकियाकार्यताबच्छेदकम् ; चैत्रशरीरकामोऽमुकं कुर्यादित्यादिविध्यमावात्, किंतु ब्राद्सणादिदेढेजनककर्मष्याव्यदृष्टकारणकार्यतावच्छेदकम्। न च दृष्टकारणपयोज्यजातीयानामव्युक्तानाद्वित्वनियम: ; मानाभावात् आस्तां वा सोऽपि, तथापि तत्र्वज्ञानस्य ताहछानादित्वमिष्टमेव; अधीतवाक्यातत्र्पवाहानादित्वसंभवात् ! असंभावनादिशून्यज्ञानत्वम-

यताम्। श्रूयते हि 'तद्यो यो देवानां प्रत्यनुध्यत स एव तदमवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ' 'अजो ह्येको जुषमाणोडनुशेते जहाल्येनां भुक्तभोगामजोडन्य:' 'नित्यो निल्यानां चेतनश्रेतनाना' मित्यादि । स्मर्यते च-
'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्ञावमाश्रिताः।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:'।।
इत्यादीति-चेन्न ; उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकश्रमसिद्ध्रेदानुवादकत्वेंन तत्परत्वामावात्, जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्राप्तस्तार्थपरत्वात्, स्वम्मन्यायेन भेदस्य कल्पितत्बोपपत्तेश्र, ज्ञासस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातुं श्यान्तुवन्ति; तात्पर्यवद्वाक्याविरोधेनातत्पर्यवन्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः ॥ अतीतानागताथ्यैव यावन्तः सहिताः क्षणाः। ततोऽर्यनन्तगुणिता जीवानां राइाय: पृथक् ॥ इत्यादि स्मृतिरणि जीवोपाधिभेदानुवादकतया ठ्याख्येया। तस्मादविद्योपाधिको जाव एक एवेति सिद्धम् ॥

इत्यद्वससिद्द्रौ प.करीवाक्षानकलिपनत्बापपात्ति:

नावृत ${ }^{1}$ पमात्वं वा न कार्यतावच्छेदकम् । न चासंभावनानिष्त्त्य्यदिक-मेवानादीति--चाच्यम् ; तद्धटप्रागभानत्वनिवृतेरेप्यनादित्वापातात् । न च—विजातीयतत्त्वज्ञानस्यैव हेतुत्वेन तदनादीति—वाच्यम् ; एकजीववादे तद्वयक्तित्वस्यैव विजारीगत्वरूपत्वाप् ॥

तर्कै: सारस्वतै रत्जै ै्रन्द्रकाचन्द्रमूषणैः।
दुरन्तध्वान्तनाशार्थमेकर्जीवोपपादनम् ॥
इलेक.जीवा़़ानक्कल्येतल्वेपपाज़:-

## अथाज्ञानवादे डत्विद्यालक्षणोपपत्ति:.

अथ-केयमविद्या! न ताबदनादिभाकरपप्ते सति ज्ञाननिवर्ल्या सा; सादिक्युक्याघवाच्छिषचैतैन्यावरकाझ्तानेब्यासे:, सस्थनाद्वित्वाभावात्। अभावोपादानाज्काने च माबत्वाभावात्तत्राव्याप्सि, अभाबस्य भावोपदानकक्ते असल्यस्वापि सल्योपादानकत्ब स्पाए, अज्ञानानुपादानकत्ते बस्य ज्ञानानिश्थित्तिर्न स्यादिति; अत्र जूम:, रूप्पोपदानाष्तानमप्पनादिचैन्न्याशितत्वादनाघेव, उदीच्चं गुक्यादिक तु तदवच्छेदकमिति न तत्राण्यातिः। भाबत्वं चात्रामावविरक्षणत्वमांत्रं विवक्षितमु, अतः आरोपितामाबोपादानाइ़ानेग्प्यभाबवितक्षणत्वस्वीकाराषाव्यात्तः। न च-सजातीयोपादनकत्वनियम:, अन्पथा असत्यस्यापि सल्यमपपादानं स्यादिति -वाच्यम ; सर्वथा साजाले सर्वथा बैजालये बोपादानोपदेयमावादर्शनेन तथा साजाल्यम्य वैजात्यस्य बा आपादयित्वमशक्षयत्वाद् । न हि कार्याकारकारणाकारतोग्प्येंदे कार्यकारणभाव:; सल्यस्प ल्वसल्योपदानत्वे सल्यस्य निवृत्व्यंभंशेन तदुपदेयस्पासल्यस्यापि निवृत्तिर्न स्यात, उपदाननिवृत्तिमन्तरोगोपदेयायानृषेते, अतो न सत्यमसल्यस्योपदानम्; सत्यस्प्पपरीणामित्वाक । विक-

अथाज्ञानवादे गविद्यालक्षोपपपत्ति:-
सत्योपादानकत्वं स्यादिति। तथानेति शेषः। तदवच्छेदकामिति। अनाधलन्तामाबस्य वार्किकादिमते यथा वृल्कालदिखच्छेकक इति शेष:। न स्यमिति। निमिननाघातैैैवासतस्स्प
 सिद्बलेपोपादानाश्ञानस्प नाशावसक्ताव। सल्यस्पापरिप़ामिल्वा-

# ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव। न च—्रह्षाज्ञाने ब्रक्षणो 

 वृच्यव्याप्यत्वपक्षेऽण्यासि:, तस्य ज्ञानानिवत्यत्वादितिवाच्यम् ; स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तन्मतेऽपि . भावात् । उपपादितं चैतत् दृइयत्वहेतूपपादने। अथैपधिक अ्रमोपादानाज्ञाने ब्रह्कसाक्षात्कारानन्तरविद्यमानजीवन्म्तुकाज्ञाने च ज्ञाननिवर्ल्यत्वाभावाद्व्याप्तिः त तयोर्ञाननिवर्यत्वे उपाधिकालनीवन्मुक्तिकालयोरेव ज्ञानप्रागभाववत्तबिष्टच्यापत्तिरिति चेन्ज ; उपाधिग्रारब्धकर्मणो: प्रतिबन्धकयोरभावविलम्बेन निष्टत्तिविलम्बेऽपि तयोज्ञाननिवर्त्यत्वानपायात्। न हि कचिदविलम्बेन जनकस्य कचित्रातिबन्धेन विलम्बे जनकताडपैति । न च तर्हि ज्ञातेऽपि तत्राज्ञात इति व्यवहारापत्तिः ; ताहुण्यव-- होरे आवरणशक्तिमदझ्ञानस्य कारणत्वेन तदावरणशक्तयमावादेवेद्वर्यवहारानापत्ते: । यथा चैतत्तथेपपादायिष्यते । न चाविद्याचैतन्यसंबन्धेडतिव्याप्तिः ; साक्षाज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, तस्याप्यविद्यात्मकत्वाद्वा। न चिशेषणान्तरवैयर्थ्यम् ; अनादिपदस्योत्तरज्ञानानिवर्त्ये पूर्वज्ञाने भावपदस्य ज्ञानफ्रागभावे ज्ञानजन्यकार्यआ्रागभावे चातिव्यासिवारकत्वेन दिति। परिच्छिन्नत्वस्य मिध्यात्वक्याप्यत्वाद्धग्रादिसत्यत्वस्य विपतिपन्नत्वात्।'परमार्थोडविनाशी ’ति, '"यतु कालान्तरेणापि नान्य. संज्ञामुपैति वै। परिणामादिसंभूतां तद्वस्ति "त्यदिद्म्मूतेश्षेति रोषः। स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकेति । उपधध्यविषयकत्वे सत्गुपहितत्रह्नविषयकेत्यर्थः। कारणत्वेन विषयत्वेन। यथा चैचदिति। शक्षेरज्ञानान्यत्वेऽपि न तस्यामतिव्यापि:; निवर्त्यशक्तिमत्त्वम्य्यव लक्षणत्वसंभवादित्याध्यूपपादनामिति भावः। अविद्यात्मकत्वादिति। अविद्या-सार्थकत्वात् । झ्ञानत्वेन साक्षात्तबिवर्यत्वं तु मवति लक्षणान्तरम् । नन्वसंभवः ; कल्पितत्वेन दोषजन्यधमित्रशारारस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याऽभावविलक्षणस्य च रूप्यवदनादित्वा-योगादिति-चेत्म ; कल्पितत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम्, किंतु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वम्, सादिकल्पकवत्त्वम्, विद्याडनिवृत्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वम्, प्रागमावप्रतियोगित्वं वा तन्त्रम्। न च तत्प्रकृतेऽस्ति 1 ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविध्याया: सादित्वसाधने 'अजामेकाम्' 'अनादिमायये'त्यादिशासनिरोघः, अनादित्वसाधकेन ज्ञाननिवर्तत्वे सति भाव-

चिदुभयमेव तत्संबन्धो नातिरिक्क इत्रर्थः। प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्वं ₹वविषयकजन्यधीकालत्वक्याप्यस्वद्रष्ट्रकत्वम् ।. अविघ्याविषयकाविद्यावृतेः प्रळयादिकालेडनकीकारान्नाविद्यायां तदिति भावः । सादिकल्पकेति। अविद्योपहितचिद्रूपेडऽविद्याकल्पकोऽनादिः, शुक्तिरुप्यदद्वत्वधिष्ठानज्ञानवान् कल्पकः सादिः। अथवा सादिकल्पनायां ${ }^{1}$ विषयत्वमर्थ: अविद्यायास्तु कल्पना स्वोपहितचिद्रूपा न वृत्चिरूपेत्यनाधिरिति भावः। प्रलयादावप्यन्यद्यैव वा अविद्यावृत्तरविद्याविषयिवयाः स्वीकारमतेडप्याह --विद्याऽनिवृत्तीत्यादि । विद्याया अनिष्टृत्ति: संबन्षस्तदप्रयुक्ता निवृत्तिर्नाज्ञानस्य, किंतु त₹कार्यस्य। जीवेशभेदादिनिवृतिरिपि तत्पयुक्तेति भावः। यदि च सापि तदप्रयुक्ता तदाव्याहप्रागभावेति । कल्पितत्वेनाज्ञाने प्रागभावप्रतियोगित्वाद्यनुमेयमिति तु न युक्तम् ; व्याप्तित्राहकतर्काभावात् । प्रागभावानर्रीकारे कार्यत्वादि तथा बोध्यम्। भक्ठते अज्ञाने। अनादित्वसाघकेनेति। ज्ञानजन्य-

[^175]विलक्षणत्वेन सत्र्रतिपक्षश्र, भावत्वस्योपाधित्वं च। न चाभावविलक्षणाविद्यादौं भावविलक्षणत्वमसंभवि, परस्परविरोधादिति वाच्यम्; भावत्वाभावत्वयोर्बाघकसत्तेन तृतीयप्रकारत्वसिद्धौ पर ${ }^{1}$ स्परविरहव्यापकत्वरूपविरोधासिद्धः, परस्परविरहव्याप्यत्वरूपस्तु विरोधो नैकविरहेणापरमाक्षिपति । न हि गोत्वविरहोऽश्वत्वमाक्ष्षिपतीत्युक्तम् 1 न चातमवद्नादेरमावविलक्षणस्यानिवर्त्यत्वम् ; आत्मत्वस्यैवोपाधित्वात्। न चात्यन्ताभावान्योन्याभावयो: साध्याव्यापि:; अधिकरणातिरिक्तस्यानिवर्त्यस्यात्यन्ताभावादेरेनभ्युप्गमात्। न च तुच्छे साध्याव्यापिः; अभावविलक्षणत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोप-

कार्यस्य प्रागभावेडनादित्व०्याप्यत्या गृहीतेनेत्यादिः। अजामेकामित्या--दिकं प्रकृतिपरम् , अनादिमाययेत्यादि चेश्वरेच्छापरम्, अतोा न शास्त• विरोध इति तु न युक्तम्; मन्मते दृइयमात्रस्यैव ज्ञाननिवर्त्यत्वेन प्रकृत्यादावपि सादित्वस्य ंत्वयानुमेयतापतेः । बाधकसत्वेनेति । विनाशिभावस्य साद्दित्वनियमो भावत्वे उपादानत्वादिकमभावत्वे बाघकमिति भावः। वस्तुतो भावत्वाभावत्वे सदसद्रूपत्वे। आघ्ये बाध्यत्वृादि द्वितीये जनकः्वादि बाधकम्। अत एवाभावविक्क्षणत्वस्य तुच्छष्यावृत्तत्वं बक्ष्यते । अभावत्वधर्मश्र्रयविलक्षणतं तु तुच्छेडप्यस्तीित तदसक्ञतिः। अत एव च सद्विलक्षणयोरज्ञानभ्रमयोरित्यादि वक्ष्यते। यतु— तृतीयप्रकारसिद्धौरा सत्यां विराधासिद्धि:, तस्यां च सत्यंं सेत्यन्योन्याश्रय इति—तन्न ; तृतीयपकारसिद्धेर्बाघकसत्वाधीनत्वेन विरेषासिद्धघनपेक्षत्वात्, अन्यथा कर्मादावपि द्वव्यगुणापेक्षया तृतीयपकारासिद्धिर्न ₹यादिति भावः। अनादेरमावविलक्षणस्येति।
${ }^{1}$ परस्पर्यावेरहलपपत्वपर.

पत्ते:। किंच सादित्वमनादित्वं का न निवर्लयत्वानिवर्ल्यत्वयो: प्रयोजकम् ; घंसग्रागभावयोस्तदभावाप्। नापि भावत्वविशेषितं तत्तथा; अभावे तदसत्वेन मिबमिम्नप्रयोजककल्पनापते:, भावनिवृत्यनिवृत्तयोरेव तयोः प्रयोजकत्वे च भावविलक्षणाचिद्यादौ ताक्यां तयोरनापादनात्। तस्माब्बाशसागग्रीसक्षिपतासबिपातावेव निवर्त्यत्वानिवर्लयत्वयोः प्रयोजकाविति मन्तव्यम्। तौ च फलबलकल्प्याविति न कोजपि दोषः। अपि च यद्यविद्यादेरभावविलक्षणत्वसमानाधिकरणानादित्वेनात्मवदनिवर्त्यत्वं साध्यते, तहिं भावविलक्षणत्वेन प्रागभाववव्विवर्त्यत्वमेव कि न साध्यते? न च छंसात्यन्तान्योन्याभावेषु ठ्यभिचारः ; अधिकरणातिरंके तेषामपि निवर्त्यत्वाम्युपगमाव्। न चाज्ञानस्य यावत्त्वविषयधीरूपसाक्षिसन्वमतुतृत्तिनियमेन निवृत्ययोग इति बाच्यम् ; दुःखश्युक्तिरूप्यदेः स्वभासके साक्षिणि सत्येव निष्टक्यम्युपगमेन साक्षिभास्यानां यावत्साक्षिसच्च्ववस्थाननियमानम्युपगमाप्। किंच केवलचिन्मात्रं न साक्षि किंत्वविद्यावृत्युपहितम् ; तथाचास्थिराविद्यावृन्युपहितस्य साक्षिणोड्प्यस्थिरत्वेन वत्सन्तपर्यन्तमवस्थाने डप्यविद्यादेर्निबृत्रिरपपद्यते। नं च वृत्यतुपघानदशायामविद्यादेः भुक्तिरूप्यवद्सक्वापत्तिः; सादिपदार्थ एवैवाद्धब्नियमाव, धारावाहिकाविद्यावृत्तिपरम्पराया अतिसक्ष्माया अन्युपगमाचेति शिवम् ॥

अनादिले सल्यसद्दिळक्षणत्वं हेठुः, पागभाववारणाय विशेप्यम्, अभाबमान्रं उु तुच्छत्वान्नासद्विलक्षणम्, अभावस्य तुच्छत्वानकीकारेडपि वुच्छवारणायैव विशेष्यमिति भाव:। साक्षिणि अविधेपहितचिति। वृत्पुपहितस्य साहित्व्वतेsप्याह-किंचेति । धाराकृाहिकेति ।

यद्वा अ्रमोपादानत्वमश्ञानलक्षणम् । इंदं च लक्षणं विश्रभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं अं्केति पक्षे, न तु घबमात्रोपादानत्वपक्षे, घ्रहसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा; अतो अ्रझणि नातिव्यातिः, ६तरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा अ्रमोपादानं विशेषणीयमिति न दोषः; न वा अमा-

सर्वदोत्यघमानेत्यर्थः। अविष्घाविषयिकाया एकस्या एव वृष्तेः स्वीकारे तु संसकारानुपपतिः, संस्कारोत्पचिपूर्वमेका वृतिरिति स्वीकारे संसकारोत्यतिकालेऽनाघविद्घादेरसत्वापचि:, यावत्कालमेकषृच्तिस्वीकोरे न दोषस्तावरकालमध्ये पकैव वृत्तिरिति स्वीक्रियते, नाशकविशोषकल्पनान्नोत्तर--ृृत्विमात्रेण तान्नवृतिः ; अन्यथानन्तवृत्तिकल्पने गौरवादिति ध्येयम् ॥

यत्त्वधिकरणातिरिक्तस्येत्याघयुक्तम् ; नेतीत्यादिश्रुत्या धुद्नचिद्योषने ${ }^{\prime}$ नाधिकरणस्वरूपाभावबोधने तस्या बोषकख्वासिद्धिरिति तन्न ; यतो नेतीत्यादिश्रुतिर्मिथ्यात्वबोधिका न तु चिन्मात्रबोधिका। यतु प्रतीतिसत्त्वे सुखादेर्निषृत्त्यसंभवः प्रतीतिनाशकस्यैव तन्नाशकत्वात्, वृत्तुपहितचितः सुखादिसाक्षित्वे सुखादिर्षीर्व्यावहारिकप्रमा न स्यात्; अविद्यावृत्देदोषजन्यत्वात्, वृत्त्यभावकाले चाविद्यादि न स्य्यत्; सादिपदार्थ एव तथा नियम इल्यत्र तु न मानमिति-तन्न ; प्रतीतिनाशकासत्वे निमित्रनाशादेरपि नाशकत्वात्, विषयंबन्धनाशावेव घुखादिनाइसंभवात् । सुखाघ्याकारवृतिस्तु प्रैव; अविद्यारूपदोषजन्यत्वेडप्यागन्ठुकढ़ाषाजन्यत्वाप् । वृत्यभावकालेडप्यविद्यादि तिष्ठलेख ; निमिचनाशादिरूपनाशकाभावादविघादेरेनाबित्वेनानिमिष्तकल्वादिति भाव: ॥

इ्रमण: परिणामित्ववादिनं प्रत्यव्याह-अचेतनत्वेनेति

$$
1 \text { चिद्योंबने-क. }
$$

वारोपनिवर्तरक्रमानिवर्लेयक्याप्तिः ; तस्यापि अ्रमोपादानत्वात्। नतु-अ्रमे भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्वं न घटते; अ्रमस्स्य; भावविलक्षणत्वे उपादेयत्वायोगात्, भाबत्वे च आवोपादानकत्वनियमादिति—चेत्न ; अज्ञानस्य अ्रमस्य च भावति़लक्षण़त्वेऽप्युपादानोपादेयभावोपपत्तेः। न हि भावत्वमुपादानत्वे उपादेयत्वे वा प्रयोजकम्; अत्मनि तददर्शानात्, किंत्वन्वयिकाएणत्वम्तुपादानत्वे तन्त्रम्; सादित्वमुपादेयत्वे, तदुभयं च न भावत्वनियतम्। अत उपादानोपादेयभावोऽपि न भाबंत्वनियतः । न चैवं ध्रंसस्याप्युपादेयत्वापत्तिः ; इस्टपत्तेः। न चैवं- ज्ञानप्रागभावस्यैव अ्रमोपादानत्वमस्तु, किमभावविलक्षणाइ्ञानोपादानकल्पनेनेति——चच्यम्; प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन अ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धे:, तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैन द्रानिरस्तत्वात्। अतः संद्विलक्षणयोरश्ञानभ्रमयोर्युक्त उपादानोपादेयभावः। अ्रमस्य च संद्विलक्ष्रणत्वमुक्त वक्ष्यते च । न चैवमज्ञानानुविद्धतया अ्रमस्य प्रतीत्यापात्तिः, मृदनुविद्धतया घटस्येवेति--वाच्यम् ; यद्यदुपा-

निवर्व्य इति--अज्ञान इति शेषः। तस्यापीति। अभावविरक्षणस्याप्यज्ञानस्याभावोपादानत्वसंभवस्योकत्रत्वेनेत्यादि: । आत्मनीति।। गुद्धाइ्मनोऽडनुपादानत्वपक्षे शुद्धे इत्यादि: । अन्वयिकाएणत्वंकार्यत्मककारणत्तम्। ज्ञानप्रागभावस्स-अ्रमनिवृत्तिस्वरूपयोग्यम्र, माप्रागभावะ्य। निरस्तत्वादिति :। पागभावे मानाभाव्रः, , भावे क्षा परोक्षप्रमानिवर्त्यअ्रमसयो ${ }^{1}$ पादानत्वं मनोनिष्ठे प्रमाप्रागभावे नः सिभः वति। प्रत्यक्षप्रमा यत्र विषये कदापि न जायते , तत्र तत्र्राग्भावस्या-

$$
1 \text { श्रमत्वस्यो-ग. }
$$

 घटोपादानकं रूपं घट इति प्रतीयते ; प्रक्ठति व्यणुकाद्यनुविद्धतया प्रतीतेः परैरप्यनभ्युपगमात, केनचिद्धर्मेण तदनुवेधस्तु प्रकेतेऽपीष्ट एव।न च यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षे अ्रमापूर्वकग्रमानिवंर्सेयड्ञानेऽठ्यापि: ; अ्रमोपादानतायोग्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, सहकारिवैकल्यात्कार्यानुद्ये ऽपि योग्यता-

लीकत्वेन अ्रमोपादानत्वासंभवः। यत्र विषगे प्रत्यक्षप्रभा जनिष्यते, तत्रापि अ्रमोपादानत्वेन सिद्धस्य प्रतियोगिज्ञानसापेक्षप्घकत्वकल्वने गौरवान्नाभावत्वम् । भावरूपस्यापि तस्य प्रमाप्रागभावत्वमविरुद्धम्; जऩ्यभावमात्रस्य स्वध्वंसमागभावत्वादित्यपि बोध्यम्। यत्तूत्पन्नपुनरुप्पत्तिवारणाय प्रागभावस्याभावरूपस्य कल्पनमिति ततुच्छम् ; अभावरूपत्वे मानभावात्, गौरवक्येाक्तवात्, सामम्रयुत्तरक्षणत्वं कार्येण व्याव्य ${ }^{1}$ न तु तदुत्पत्येति पुनरूपष्त्यापाद्नासंभवाच्च ॥

एव प्रतीयते- पतीयत एव। ननु -' शुक्को घटः ' 'मृद्धट' इस्यादिश्रुकृत्वमृत्त्वादिना रूपपकृत्यादितादात्म्यं घटे पर्तर्तयत एवेत्यत आह-केनेति। यथा शुक्रत्वादिना रूपाघनुवेष्तथा जडत्वादिमाऽज्ञानानुवेषः। अज्ञानत्वेनाननुवेधन्तु अ्रमस्य भ्रमत्वाज्ञानात् बाधकाले तु नेदं रूव्यं रूप्यतया यदभात्तदज्ञानमित्यनुभूयत एव । किंच विशेषद्दर्शिनामज्ञानं सर्वकार्यमिति धीरस्त्येव ; अत एव-

यतु दृष्टिपथः प्रांत्रं तन्मायैवाम्तु तुछचकम्, ।
इति भाष्योदाहृतं साख्रूयवाक्षयम्। अविशेषदार्शिनां तु मृद्धट इत्याद्व ${ }^{2}$ घर्नाद्तीति भावः। योग्यतेति। कारणतावच्छेद कीमूताज्ञानत्वजातीत्यर्थः।

$$
1 \text { व्याप्यत्वं-ग. } \quad 2 \text { इल्यवि-ग. }
$$

नपायात्। अथ्य योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये कथं त्रूहण्या ? प्रथमलक्षणस्पैव योग्यतावच्छेदकत्वाव। एकमेवाश्रानमिति पश्षे
 मोष्षापचिः, तस्यावस्थाविशेषनाशकत्वाज्रीकाराब्। न्युत्पादितं चैवदस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ। ज्ञातत्वेन रूपेण साक्षाजक्षाननिवर्ल्यत्वं वा तस्लक्षणमिति च प्रागुत्तमेव। तस्माश्राविद्यालक्षणासंभव इृति सर्वमचत्रदात् ॥

हल्यम्देतसिद्धावविद्यालक्षणोपपत्ति:

अवच्छेदकरूपेति। व्याप्येल्यर्थः। लक्षणस्येति। साष्ष्यादिना तद्रूहणं बोध्यम्। अवस्थाविशेषानरीकारपक्षेड्याह- च्युत्पादितामिति। भमाविरहविशिष्टाज्ञानं न भातीव्यादिव्यवहारनियामकमित्याधिनेति शेषः। नब्यमेत उतरश्ञानादेरपि ज्ञानल्वादिना निवर्तकत्वादाह— साक्षादिति। समानविषयकल्बसंबन्बेनेत्यर्यः। ज्ञातस्य स्वपागभावं प्रति प्रतियोगित्बेन ${ }^{1}$ नाशकल्बमिति तत्रातिव्यार्तिर्द्रापस्ता । बस्तुतो झानलेने ${ }^{2}$ प्रमाल्बेन; पूर्व प्रामांत्बेताज्ञाननिवर्तकस्स्पोकत्मात् । तथाच साक्षादित्यपि न देयम् ; अज्ञानपयुक्तनाशस्य पमात्बेन च्चननन्यत्वाभावादेवा ज्ञानमयुक्तवारणादिति ध्येयम् ॥
' तर्कैः सारस्वतै रतै *्वन्द्रिकाचन्द्रूप्षणैः।
दुन्त्बष्बन्तनाशार्र्यमिष्वारक्षणोदयःः ॥
हलविबालअभोपपपति:


## अथ अक्षानपत्यक्षोपपत्ति:

तत्र चाब्बाने ‘अहमझो मामन्यं च न जानामी 'ति प्रत्यक्षम्, 'त्वदुक्तमथ्थ न जानामी'ति विशेषतः प्रत्यक्षम्, 'एताबन्तं कालं ंुख़महमस्ताप्सं न किंचिदेवेदिष 'मिति परामर्शसिद्ध सौतुत्र्रत्यक्षं च प्रमामणम् । न चाहमर्थस्याब्नानानाश्रयत्वेन कशमयं प्रत्ययो भावरूपाज्ञानपक्षे उपपद्यत इति-वाच्यम्; अज्ञाताश्रयीयुतचैतन्ये अन्त:करणतादात्म्याध्यासेनैकाश्रयत्वसंबन्धेनोपपत्तेः। अत एव—जडे आवरणक्त्याभावात् 'घटं न जानामी ल्यादिप्रतित्र्शानाभावविषयत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्वितिनिरस्तम् ; तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेन तत्रापि तद्धयनहारोपपत्तेः। न च साक्षिवेद्ये, सुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च. भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र न जानामीति घ्रतीतिः कथमुपपद्यत इति-वाच्यम्; स्वस्मिन्विद्यमाने साक्षिवेदे सुखादौं स्वभ्रमसिद्दे रूप्यादौं च 'न जानामी 'ति व्यवहारासंमवावे, परसुखादौौ 'न जानामी'ति व्यवहारस्य परोक्षक्षाननि-

अथ अज्ञानप्रत्यक्षोपपात्ति:
उपपत्तेरीति । चुद्धचितोऽज्ञानाश्रयत्वविषयकम्ययान्तराभावादयं प्रत्ययोडहमरेंड्ञानबत्व्वापकारकल्वेन ${ }^{1}$ न निर्णुतुं घक्यत इति न युक्तम्; 'रूर्वसिद्धतमसो हि पर्विमो नाश्रय' इत्यादियुयेत्रेखानाश्रयकोटौ चिदन्यनिवेशे गौराख्च तथा निर्णयात्, सौपुसस्य ताइशभत्ययान्तरस्य सत्व्वाच । स्वस्मिभिति विधमानव्वन्वायि। परहुखादावित्यादिना अतीतानागतस्व स्वपुखस्य स्वभ्रमसिद्वश्रुक्किरूप्यादेश्व

[^176]वर्येन प्रमातगताछानेनैवोपपसेः। अत एव परोक्षज्ञानेन प्रमावगताइ्ञाने नाशितेऽपि विषयगताश्ञानसक्वेन 'न जानामी'ति व्यवहारापत्तिरिति—निरस्तम्; प्रमातूगताज्ञानकार्यस्य 'न' जानामी 'ति ठ्यवहारस्य विषयगताइ्ञानेनापाद्यितुमशक्यत्वात्। ननु-भववरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्य ‘अहमज्ञ' इति प्रत्ययस्य 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति ज्ञानाभावविषयात्पत्ययात् 'अघटं भूतल 'मिति प्रत्ययस्य 'घटो नास्ती' ति प्रत्ययादिव विशोषणविशेष्यभावठ्यत्यासं विना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदाप्रतातिरिति — चेत्, सत्यम् ; धर्मिंप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाक्यां ज्ञानसामान्याभावझ्ञानस्य ठ्याहतत्वेन 'मयि ज्ञानं नास्ती'त्य-

सक्र्र्हः। प्रमातृगतेति। न जानामीत्यत्र हि ज्ञानसामन्यविरोध्य ${ }^{1-}$ ज्ञानं विषय:, तच्च न विषय²गतम् ; तस्य ${ }^{3}$ परोक्षज्ञानाविरोधित्वात्। अत एव प्रत्यक्षधीविरोध्यज्ञानविषयको न भातीति ठ्यवहारो विषयगताज्ञानमात्रेण भवत्येव। न च-विषयगताज्ञानस्य प्रमतरि निरूपकत्वसंबन्घसत्व्वोतनैव न जानामीति घीरिति--वाच्यम् ; परोक्षज्ञानेनापरोक्षप्रमोपादानाज्ञाननिवृत्त्यंसवात् । न च—परोक्षं नाज्ञाननिवर्तकम्, किंतु अ्रमविषये मिथ्यात्वनिश्षायकामिति-वाच्य्यम् ; अपरोक्षेडषी तथापत्ते:, परोक्षज्ञाने साति न जानामीति ठ्यवहारापेच्च:, ज्ञानादज्ञानं नष्टमित्यनुमवस्य परोक्षस्थलेऽपि तुल्यत्वाच्च। ज्ञानाभावविषयात् ज्ञानाभावविषयकत्वेनाभिमतात् 1 तेन सत्यमित्यभ्रिमस्य न विरोषः। इच्छेत्यादि। इच्छामि न द्वेष्मांति ज्ञानयोर्यथा मिन्नो विषयः प्रतीयते तथा प्रकृते नेत्यर्थः। नन्ववचछेदकत्व नानतिरिक्क-

1 परोक्षापरेक्षसाधारण्ञानमात्रविरेध्य-ख. ${ }^{2}$ तन्ण प्रमातरि न तु. विषयग. ${ }^{8}$ विषयताझ्तानस्य-ख्य.

स्यापि भावरूपाब्ञानविषयत्वेन विषयमेंदाशतीतेर्तुक्तत्वाप् । तथाहि-' मयिं ज्ञानं नास्ती'ति प्रतीतिः ' वायौ रूपं नास्ती' ति प्रतीतिवद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभानविषया, सामान्याबच्छिम्रप्रतियोगिताकयावद्विश्रेषाभावविषया वा अम्युपेया। तथाच तत्कारणमियूतथर्मिर्रतियोगिज्ञानाब्रानाम्यां कथं न ठ्याघातः १ यत्किचिद्विशेषमाबस्य सामान्यावच्छिकप्रतियोगिताकत्वाभावाद्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। अन्यथा सामान्याभावसिद्दिर्न स्यात्। यात्वद्विशेषाभावान्यसामान्याभावानम्मुपगमेऽ्प्ययं दोषः । य.तिंकचिद्विशेषाभावस्य सामान्याबच्छिन्नत्रतियोगितांकत्वे घटन-

बतित्वाद्विकम् ; ${ }^{1 \text { ' } क म ् न ु म ी व ा द ि म ा न ् न ा स ् त ि ' ~ ' प म े य घ ट ो ~ न ा स ् त ी ~ ' ~ त ् य ा द े-~}$ रवि प्रमाल्वापतेः, किंबख्वण्डो धर्मविशेष:, स च सामान्यर्षम्य किंचिद्दिऐघाभावपतियोगितां मरत्यप्यम्नु, तत्राह--अभावज्ञान इति। धर्मस्यैवेति। अन्पथा घटो नास्तीत्यादौ। पटबचधचच्छिन्नपतियोगिवन ₹्यापि भानापतेरितिति मावः। ननु—पतियोग्यंशे फ्रकारीमूतं तब्यापक वा अवच्छेयकतयाऽभावनुद्धौ भाति ; अत एव कम्बुरीवावादिमान्नास्तींस्यादाबपि घटलादेरेखच्छेदकतया भानत्र्ममात्वेव, पूर्वस्पावच्छेदकखासंभवे सलेयोचरम्य तथा भानान्नातिपसक्ञ इल्यत आह -अन्यथेति। सामान्यावच्चिन्नपतियोगिताकल्वबुद्धौ बिशेषाभावस्यापि भाने इत्यर्यः। ताहशबुद्विमाने तथा संभवादिति रोषः। अयं पतियोग्यंशे प्रकारान्यस्यावच्छेदकव्वासंभभरूप:। न च प्रतियोग्यंशेडवि सामान्यर्षर्म: प्रकार इति-बाच्यम्; तथा सति विनिगमकाभांबन सामन्य्यषर्माश्रयाणां

> ¹ चुत्तिलाद्ना.
advaita Vol. II.24

ल्यपि भूतले 'निर्षें भूतल' मिति प्रतीतिः स्यात्' 'वायौ रूपं नास्ति' 'पुरो देशे रजतं नास्ती' त्याद्याप्तवाक्यजन्यप्रतीत्यनन्तरमपि तत्तत्संश्रयनिवृत्तिर्न ₹्याप्; एकविशेषाभावबोघनेऽपि विशेषान्तरमादाय संरायोपपत्ते: । अथ-अभावबोषे
सर्वेषामेव प्रतियोगितया भानापत्त्या विशेषाभावभानोक्तिविरोषादिति भावः । प्रतीति: प्रमा ॥

संशयोपपतेशरिति । नच- रूपत्व्ववच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविषयकाभावरीत्वेन विशोषाभावधीरपि सामन्यसंशायविरोधिनीति वाच्यम्; घट्रत्वेन पटो नास्त्यत्रेति ज्ञानस्य घटवदिदमिति ज्ञाने विरोघित्वापत्त्याऽभावांशो प्रकारता येन रूपेण तदवच्छिन्नपतियोगिता-* कत्वर्षीत्वेनैन तद्रूपविशिष्टवत्ताधीविरोधित्वस्य त्वया वाच्यत्वात्। यत्रु'अपशावो वान्ये गोडंश्वक्य' इत्यस्येव वायौ न रूपमित्यस्यापि सामा-' न्यरूपेण विशोषाभावपरत्वधीकाले विशेषान्तरसंशायाविरोषिल्वेऽपि तस्य सकलुूपाभावपरत्वर्धीकाले तजन्यज्ञानं सकहरूपसंशयविरोध्येवेतितन्न ; विपरीतव्युत्पन्नस्य घटः कर्मत्ववमित्यादिवाक्याह्बाघविशेषस्यैवोक्त ${ }^{1}$ वाक्याद्रिशेषाभावबोषेऽपि सद्वचुत्पन्नस्य तदभावाह्सद्वयुत्पन्नमधिक्टल्यैव पकृतोक्तः प्रवृत्त्वात् प्रतियोग्यंशे प्रकारस्यैवावच्छेदकतया शाब्द्बोधे भानस्य व्युत्पतिसिद्धव्वात् । अपशव इत्यत्र तु पशुपदेन पशसतपगुत्वेन बोध्यत इति गौण्या वृतेनेर्युत्पादनपस्तावे तस्सिद्यिपेटिकायां स्थितम्। पशुत्वेन पश्रास्तपश्रुभेदबोघने तु गौण्या व्युत्पादनं ठ्यर्थम् ; पझुत्वस्वामन्यम्यैव तदाश्रयविशोषे प्रतियोगिनि प्रकारत्वसंभवत्। प्रशस्तपशुत्वस्य प्रतियोंग्यंक्षे प्रकारत्वे तु तस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया भानम् । न हि शुद्धपशुत्वं त्वर्कुलुषर्म:, येन तत्र भक्तोऽसि ॥

प्रकारीभूतधर्मस्यावच्छेदकत्वं पूर्वानुपस्थितममपे संसर्गमर्यादया शाब्दबोधे अन्यत्र च भासते, न ह्यच्छेदकत्वस्य स्ररूपसंबन्धविशोषस्य ग्रहे अन्या सामग्री क्रूत्ता ; तथाच तत्तद्विशेषाभावानां तत्तद्विशेषात्वच्छिन्रतियेगिताकत्तात्सामान्यानच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यातद्विशेषाभात कूटे वा व्यासज्यधृत्ति तदतिरिक्रसामान्याभावे वा प्रत्यकविश्रन्तमिति ताद्धगभावप्रतीतेर्यावद्विरोषप्रतीतिविरोधित्वातक्कुतो विशोषसंशायादिरिति चेत्, सत्यम् ; प्रकेतेऽपि ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतिर्यावज्ञानविशोषविरोधिनीति कथं तत्तत्कारणत्वाभिमतज्ञा-

संशयनिवर्तकत्वमुक्तवाक्यम्य ठ्युप्पादयन् तद्द्टान्तेन न जानामीत्यस्यापि ज्ञानसामान्याभावविषयकत्वावइयकत्वेन विरोधमाह—-अथेत्यादिना ब्याहन्यत इत्यन्तेन। अवच्छदकत्वमिति। प्रतियोग्यंशो प्रकारसैयावाभावांशेडप्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंसर्गेण प्रकारता, न तु संसर्गमध्येडवच्छेदकीभूतधर्मंस्य निवेशः: तथा च प्रतियोग्यंशो प्रकारादन्यस्यावच्छेककत्वभानं दूगपास्तमिति साम्पदायिकमतं ज्ञापयितुमदच्छेदकाविशेषितमवच्छेदकत्वं संसर्गत्वेनोक्रम्। अचच्छेदकत्वं प्रतियोगितावच्छेदकत्वम्। अवच्छेदकत्वस्य प्रतियोगितावच्छेद्रक्वस्य। तेन प्रतियोगित्वस्यापि स्वरूपसंचन्धस्यानुपाश्श्यत्य संसर्गतया भानोक्तिलम्यते। अन्येति। अवच्छेदकस्य पहे तु प्रतियोग्र्यंश प्रकारतया भासकसामप्रचेव सामप्रीव्वेन कल्टेतेति भावः । ज्ञानविशेषविरोधिनीति। ज्ञानादिमति तदभावज्ञानानुदयात्वर्किकादिमंत स्वरूपसत् ज्ञानादिक स्वाभावधीविरेशि, तस्य साक्षिभास्यत्वमते तु ज्ञानानि विद्यमाने स्वाश्रये ज्ञायत एवेत्युभयथापि ज्ञानादिसत्वे तत्सामान्याभावर्षीर्विरुध्यत इति भावः ! ननु—रूपाधभावबुद्धे रुपादिमत्वबुद्धिपतिबध्यत्वेपि न

नविशोषे सति सा न व्याहन्यते। तथाच क्रमाभावप्रतीतिवैलक्षण्येऽवइयकल्प्ये लाघवाद्विषयस्यैवाभाववैलक्षण्यं कल्पयितुसुचितम् ;
जानामीति बुद्रे(र्ञानादिमत्त्वधीप्रतिबध्यत्वम्। न च तथापि न जानामीति बुद्धे $)^{1 र ् न ~ ज ् ञ ा न ा द ि म त ् व ् व ष ् ष ी प ् र त ि ब ध ् य त ् व म ् ~ । ~ न ~ च-~ त थ ा प ि ~ न ~}$ जानामीति बुद्धेर्श्रमत्वापचिरिति-वाध्यम् ; इष्टत्वात्ताह-तथा चेति। न जानामीति बुद्धाविति शेषः। वैलक्ष्ये स्वविषयीमूताभावप्रतियोगेमताधीपतिबध्यत्वशून्यत्वे। लाघवादिति। अहमर्थान्यांशे ज्ञानाभाववत्ताबुद्धित्वेन ज्ञानवत्षापीपतिबध्यत्वं त्वयावइयं वाच्यम्, अन्यथा घटो ज्ञानाभाववानिति बुद्धेरपि घटो ज्ञानवानिति धीविरोघित्वं न स्यात्; तथाच लाघवाद्धर्मितावच्छेदकत्वसंबन्घेन ज्ञानतदभावदता• बुद्धयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्घकभावकल्पनाज्जानामीति धीकालीनायां न जानामीति बुद्दौ अ्रमत्वस्य दोषजन्यत्वस्य च क₹्पनागौरवाच तस्थां ज्ञानाभावत्वं न प्रकारः; कित्वहमर्थसमानाधिकरणाभावरूप|ज्ञानांशे ज्ञानविरोधित्वमिति स्वीकृत्याभावाविषयकत्वं कल्प्यताम्। न चघटो न जानाति न जानामी 'ति प्रतीत्येर्वैरूप्यं दोष इति-वाच्यम् ; इदमसुरं बलिरमुर ' छति बुद्धयोरिव तस्यादोषत्वादिति भावः ॥

ननु--व्यषिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्त्वयापि स्वीकियते, अन्यथा पारमार्थिकत्वेन दृयाभावघटितमिध्यात्वरक्षणोक्किर्विरुु्येत ; तथाच प्रतियोग्यंशो प्रकारस्यैवावच्छेकफत्वे मिथ्यात्वानुमानं श्रमः स्यादिति—चेत्, प्रान्तोऽसि ; न हि परमार्थः प्रपश्चो ब्रहणि नास्तीत्यादि मिथ्यात्वानुमानस्याकारः; येन अ्रमत्वं स्यात्, किंतु पारमार्थिकत्वावच्छछन्नप्रतियोगिताकस्वसमानाधिकरणाभावपतियोगितावान् प्रपश्ब इत्याकारः। न च-पारमार्थिकत्वेन प्रपष्षो नास्तीत्या-

विषयावैलक्षण्ये प्रतीतिवैलक्षण्यायोगात् । विषयाझानमत्डुभूय च पुरुषस्तथिवृत्यर्थ विचारे प्रवर्तत इति सर्वाजुमवसिद्धम्। तद्यदि ज्ञानविशोषाभावो 'न जानामी'ति प्रतीतेर्विषयः, तदा छातेऽपि तथा प्रतीत्यापातः ; ताद्विचारार्थ च प्रथृत्ति: स्याद्। सामान्याभावें च बाधकमुक्तमेव। तस्मादभावविल-
दिक्ठुद्धे: प्रतियोगिनि पारमार्थिकत्वभ्रमत्वादभावांशो तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वश्रमत्वमपि स्यादिति-वाच्यम् ; उक्तपतियोगिताकत्वांशे बाघकाभावादबाधितप्रतीत्याव्यधिकरण रूपेणावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धे: । न चैंब—विशेषाभावांशे सामान्यावच्च्हिन्नप्रतियोगिताकत्व. मपि धीबलास्त्वक्टत्य प्रतियोग्यंशो प्रकारस्यैवावच्छेदकत्वमिति निय-मस्त्यज्यतामिति- वाच्यम् ; वन्हित्वेन द्रव्यं नाहतीत्यादाविव द्रव्यत्वेन 'वन्हिर्नास्तीत्यत्रापि प्रतियोग्यंशो प्रकारवन्हित्वस्यैवववच्छेदकतया भानसंमवेन वन्हयादिम|त्रनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य द्रन्यत्वादावक्ल स्सस्य भाने मानाभावेन धीबलाभावात्। न ह्ववच्छेदकतया भासमानस्यैव प्रतियोग्यंशो प्रकारत्वमिति नियमः ; प्रमेयघटो नास्तीत्यादौ प्रमेयत्वादेरनवच्छेदफस्या।पि प्रतियोगिनि प्रकारत्वमिति मिश्रादिमिमुक्तत्वात्, ' प्रतियोग्रिताक्ष विशिप्योपादेया' इत्यादिदीधित्यादिग्नन्थेषु पारिभाषि-
 न च-घटो न पट दुत्यादिधीकालेऽपि 'पटत्वेन घटो नास्तीति बुद्धगुदयाबोक्तनियम इति-वाच्यम् ; उक्तषीकालेऽपि घटत्वपटत्वयो: ' एकत्र द्वयमिति' न्यायेन भानसंभवेनोक्तुद्धिसंभवात् ॥ विषयाइ्ञांन-विषयविझषिताज्ञानम्। ज्ञानविशेषामावःविषयविशेषित्ञानविशेषस्याभावः। ज्ञातेडपीति। विषय इति शेषः। विषयझ्ञानं विना विषयविशिष्टज्ञानस्य ज्ञानासंभवादिति भाव: ।

क्षणमेवाझानं 'मयि ज्ञानं नास्ति' 'अहमझ' इत्यादिधीविषय इति सिद्धम् । नन्वभावविलक्षणमप्यज्ञांं 'न जानामी'ति ज्ञानविरोधित्बेनैव भासते, मोहादिपदे $ऽ$ पि भकयादिपदवत्तद्नुक्टेखमात्रम्; उक्षं च विवरणे-'अज्ञानभिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानादि'ति। अन्यथा ज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वमग्रामाणिकं स्यात्; तथाच विरोधनिरूपकज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाक्यां तवापि कथं न व्याघातः? एवं निर्विषयाज्ञानाप्रतीतेर्विंषयज्ञानाज्ञानयोरपि ठ्याघात आपादनीयः; तथाच-

द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनेति। अज्ञानं भावरूपं स्वाश्रयविषयमित्युक्ता ज्ञानम्य न स्वविषयाश्रितत्वमत्रास्याज्ञान ${ }^{1}$ मिति विषय|श्रयभेदानुभवा-• दित्याशाक्रय नोक्तानुभवेऽस्येति अज्ञानाश्रयभानम् ; किंत्वस्यात्र यज्ज्ञानं तद्विरोधित्वेनाज्ञानभानमित्याशयेयोक्तमज्ञानमिति । द्वयेत्या: दि अश्रयविषयरूपद्वयसापेक्षं यज्ज्ञानं तत्पर्युदासेनाज्ञानमित्यमिधानादित्यर्थः। तवापीति । प्रमाणवृत्त्यभावकाले न जानामीति धरिर्वाच्या ; अन्यथाऽविद्यावृत्त्याद्दकाले सा न स्यात्। तथाच प्रमाणवृत्तिसामान्यविरोधित्वेनाज्ञानविषयकोक्तधीकालेडज्ञानाकारायाः प्रमाणवृचेरावइयकत्वात् ताटहास्मृतेः सर्वत्रासंभवात्, संभवेडापि तस्या विशेषणधीविधया हेतुत्वेडपी ज्ञानविरोषित्वप्रकारकप्रमाणवृतेरवइयं वाच्यत्वात्, अन्यथा अज्ञानमात्रस्य साक्षिभाक्यत्वेन ज्ञानविरोधित्वेन भानासंभवाद्वूयाघात इति भावः। ननु-ज्ञानविरोधिखेवेनाप्यज्ञानं साक्षिण। भास्यतां तत्राह--अन्यथा ज्ञानस्येति। अज्ञाने ज्ञानविरोधित्वपकारकषृर्तिं विना तत्र तदसिद्द्रे: सावइयं वाच्या। तस्याः सत्ते च तद्रटितज्ञानसामान्यविरोधित्वं न संभवतीिति भावः ॥

## यत्रोभयोः समे दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तण्यस्ताहुगर्थविचारणे ।। <br> इति न्योयेनोंभयपरिहरणीयस्य व्याषातस्य ज्ञानामावपक्ष एवा-

यधपि भावरूपाइ़ानस्यापि पमाणरूपविषयनिष्हता, तद्धृतिकायोोादानत्वात्। अत्रास्याज्ञानमिल्यत्र व्वस्येति निरूपितत्वं पह्षया निर्षिइयते, तत्पुरीपीज्ञाननिवर्ल्यल्वनियामकस्य तत्पुरुणनिरुपितत्वस्याइ्बानेऽवस्यं बाच्यत्वात्। तथा च न ज्ञानविरोधित्वं न जानामीति धीविबयः ; कि ल्वसण्डोऽज्ञानत्वाख्यो घर्मः। विवरणोक्तिस्तु संभवपातुर्येणाज्ञानाकारपमाणृृत्तिसत्वेड्रास्याज्ञानं स्थित़मिल्यादितुद्धिमादाय बोध्या। अत एवाभिषानादित्यनेन परोक्षल्वं मूचितम्। एवं चातीतमेतद्विषयाश्रितमज्ञानमेतद्विषयकपमाविरोह्घज्ञानसामान्यं स्वविषषयाश्रयविषयकपमाविरोधि बेल्यनुमानेऽपि न दोषः। न हि तबज्ञानस्याज्ञानसामन्यस्य वा स्थितिकाले उत्कानुमानम् ; येन विरोष:, तथाच न जानामीति प्रत्यक्षे तद्विषयकतेन कारणतावच्छेदकरेवेन च सिद्ममखण्डमझानलंब्वं भातित्यस्मन्मते न दोषः। न च न जानामीति वाक्येनोक्रमत्यक्षामिलापासंभवः ; उक्रवाक्यप्यक्षयोर्मिन्नविषयकत्वादिति-वाचचम् ; उक्षणये|क्तवाक्यस्योक्तमप्यक्षसमानविष्यकत्वात्ं, अन्यथां पाप-
 संभवात्। न चैवमप्यज्ञानविषयस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां क्याघात इति— वाच्यम् ; ज्ञानादिप्विवाजानेड़पि विऐोषणतया विषयस्य साक्षिभान्यत्वसंभवात्। विषय्व्वविशिश्टे विध्यमानेऽनावृतसाक्षिसंबन्परूपप्य सााक्षिभाल्यल्वस्य माध्वर्वरी स्वीकारेण तन्र संशयाघयोग्यत्वस्य सर्ववादिसम्मतल्वाप्, तथावि न जानामींति प्रक्षे पमाविरोधिल्वेनाज्ञानभानेडपि

पादनमनुचितमिति-चेब ; श्रमाणवृत्चिनिवर्त्यस्यापि भावरूपाश्रानस्य साक्षिवेद्यर्य विरोधिनिरूपकञ्ञानतघ्यावर्तकविषयग्राहकेण साक्षिणा तत्साघकेन तदनाश्याव्याहत्यनुपपतेंः। अज्ञानग्रहं विषयगोचरप्रमापेक्षायां ब्याहतिः स्यादेव, सा च नास्ति । तदुक्तं विवरणे -- $'$ सर्व वस्तु ज्ञाततया अञ्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे'ति। न चैंक्ज्ञानाभावपक्षेडपि विषयादिज्ञानं साक्षिरूपम्, 'न जानामी'ति धीस्तु श्रमाणवृत्यभावविषयेति न व्याहतिरिति—वाच्यम् ; भावरूपाज्ञानस्य साक्षात्साक्षिव्रेद्यत्वेन तद्वच्छेदकविषयादे स्तद्वारा साक्षिवद्यत्वसंभवेऽप्यभात्र्यानुपलब्धिगम्यत्वेन साक्षात्साक्षिवेद्यत्वाभावाब तड्रारा तदवच्छेदकविषयादेः साक्षिवेद्यत्वमिति वैषम्यात्। यद्यपि ज्ञांन साक्ष्वेद्यम्, तद्वारा तदवच्छेदको विषयश्न साक्षि-. वेद्यः, तथापि झ्ञानाभावे न साक्षिवद्यः; तस्यानुपलब्धत्वात् ।

न क्षतिरित्याशयेन समाधते-न प्रमाणवृतितिवर्त्यस्येत्यादि । तभ्यावर्तकेति। अज्ञानविशेषणे 1 त्यर्थः। तत्साधकेनेति । प्रमाविरेािष्वसविषयकत्वविशिष्टाज्ञानस्यानावृतसंबन्घवत्त्वरूपं साघकत्वं साक्षिणोऽज्ञाननाइकत्वेऽनुपपन्नमिति भावः। अज्ञानग्रहे अज्ञानं विषयीकर्तुम् । साक्षात्साक्षिवेद्यत्वाभावादिति । सविषयकत्वाविशेप्टस्य सर्वस्यानावृतसाक्षिसंबन्धतया क्लपत्वेन ज्ञानादिविषयीमूतस्याभावस्य साक्षिन्य्यत्वेऽव्यताहृहाभावस्य तदभावादिल्यर्थः। ननु यथा ज्ञानं प्रति विशेषणतया तद्विषयः साक्षिवेद्य:, तथा विशेष्यतयाभावो $5-$ पीत्यत्राह—यद्यपीति। अनुपलत्घत्वादिति। घटादौ ज्ञानामावस्यानुपलबधैय थीः । न हि स्वमनोमिन्नदेशावच्छिन्नतयाज्ञानस्य ${ }^{2}$

# उत्पनंं च ज्ञांं साक्षात्साक्षिवेद्यम्। तस्मिंमश्थेत्पष्षे तद्विषयोऽपि 

 स्फुरतीति कुतो ज्ञानाभावोऽपि? अज्ञानविशेषणतया त्वनुत्पन्नमपि ज्ञानं साक्षिवद्यमिति न दोषसाक्यम्। न चावच्छेदकर्यसाक्षिवेध्घं्वं संभवति। यादृशस्य हि तार्किकादिमते मानसपत्यक्षविषयता ताद्टास्यैव त्वया साक्षिवेद्यता वाच्या ; अन्यथाडनुभवविरोषत्, घटादौ ज्ञानाभावं साक्षाल्करोमीत्यापचेश्व। तथाच ज्ञानाभावस्यानुपलबधत्वेन क्लपत्वत्वादाह्मन्यपि तस्य तथत्व्वमिति भावः। ननुसाक्षिवद्यत्वेन ज्ञानं क्लरपम्, तदधिकरणे तदभावोऽपि तथा कल़्प्यताम् ; तथाच ज्ञानतद्भावयोः साक्षात्साक्षिब्यद्वेन न दोष्तत्राह— .उत्पन्भमिति । विद्यमानमित्यर्थः। अभान्रोऽपिति। साक्षाह्साक्षिवेद्य इत्यनुषज्यते। तथाच ज्ञानतदभावयोरेकतरक्य सत्त्वेडन्यतरस्यासत्त्वादविद्यमाने च साक्षिणन्तादात्त्यरूपसाक्षाद्वेघत्वासंभवान्न तयोः साक्षास्साक्षिवेद्यत्वमिति भावः। अनुत्पत्नं- अविद्यमानम्। विषयF्येव ज्ञानस्यावयविद्यमानस्याज्ञानविशेषणतया भानसंभवः। प्रमिणोगीत्यादौ प्रमाविशेषणतया पमात्वादेरिवाज्ञानविशोषणतया प्रमाविरोधस्या।पिभानसंभवात्। अविद्यमानत्वं च प्रमायामिव ${ }^{1}$ प्रमात्वघटकाज्ञातत्वेडपि सममिति भावः। अहं जानामीति धीसत्वेऽहंं न जानामीति ज्ञानाभाववदएं प्रमावानिति अ्रमकालेडहं प्रमाभाववानिति बुध्यभावादहमर्थे प्रमोपलब्ध्यभावरूपानुपलबंधरहमेवार्थ² प्रमाभावबुद्धिहैतुत्वावइयकर्वात् प्रमाभावस्य साक्षिवघ्यव्वे मानाभावः। न चानुपलबछे: प्रतियोगिज्ञानसहकारंणैवा भावपमापकत्वात्रकृते च तदनुपपत्ते: साक्षिव्वित्वं तस्योच्यत इति -.. वाच्यम्; साक्षिणोडप्यविद्यावृत्यवच्छिन्नस्य जन्यत्वात्। जन्याभावप्रत्यक्षे च प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वाचथाप्यनुपपत्तेः। न हि न

विषयादे: प्रागजाने कथं तद्विशिष्टाज्ञानझ्ञानम् ? विशेषण-ज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्ट्जानस्येति-वाच्यम्; विशोषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वे मानाभातात्, प्रतियोगित्वाभावत्वयोः पूर्वानुपस्थितयोरपि तार्किकैरेरावबोधे प्रकारीभूय मानाम्युपगमात्, तथाहि—विशेषणतावच्छेदकग्रकारकज्ञानं विना कथं विशिष्टैवैशिष्टयबुद्धिरिति-चेन्न ; विशिष्टवैशिष्टयबुद्धित्वेन विशेषणतावच्छेदकग्रकारकज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावे मानाभावात्, प्रत्यक्षत्वादिरूपेण पृथक् पृथक् क्रुप्तकार्यकारणमावेजानामीति प्रत्यक्षकाले प्रमारूपप्रतियोगिस्मृतिनियमः ; तथा सति हि त्वन्मते प्रतियोगिस्मृति०यक्तीनां तदा कल्पनायां महागौरवादित्यपि. बोध्यम् । अज्ञानज्ञानम्-अज्ञानाकाराविद्यातृत्त्यवच्छचन्नचिद्रूपम् । अविद्योपहितचिन्मात्रस्य साक्षित्वे तु नायं दोष:; जन्यविशिष्ट्वुद्धा: वेव विझोषणघीहेतुत्वात् 1 विशिष्युुद्धित्वेनैव जन्यत्वेऽरि विशिप्रबुद्धे: स्वाठ्यवहितभाक्क्षणाः यावन्तस्तत्तद्व ${ }^{1}$ च्छेदेने स्वाश्रये विद्घमानस्याभावस्याप्रतियागित्वस्य ${ }^{2}$ कारणतात्वेन ठ्यभिचारासंभवात्। यद्ध\{पाकालः प्रसिद्ध:, तदवच्छेदेन तद्दी $म$ ति विशेषणषीविरहो हि व्यभिचारः; न च नित्यसाक्षिणः प्राक्कालेडस्तीति ध्येयम्। प्रत्यक्षत्वादीति। रक्रदण्डवानिल्यादिम्रत्यक्षस्थले रक्रत्वादिनिष्ठलौकिकविषयतांसबन्धेन प्रत्यक्षं प्रति लौकिकसन्निकर्षस्य तन्निष्ठस्य हेतुत्वात्, तन्नि प्ठलैकिकान्यप्रकारताकपत्यक्षे लौकिकान्यसन्निकर्षस्य हेतुत्वात्, ताद्धाताद्धशविषयताकानुमित्यादौ ताहृशतानहापरामर्शादेहैतुत्वात्, रक्रदण्डत्वाधवच्छिन्नविषयताकधीत्वं न कार्यतावच्छेदकम् ; बाधाभावादिसहकृतेन्द्रियसन्निकर्षादिना दण्डादौ रक्तव्वाद्यवच्छिन्नपकारताकस्य पुरुषादौ दण्डत्वाघ्यवच्छिन्नपकारताकस्य चोत्पतिसंभवेन नीरुषटत्वाद्विवदर्थ${ }^{1}$ तदव-ग. 2 वच्छेदेन विद्यमानाभावश्रतियोगित्वस्य-ग.

नैवोपपत्तेर्विंशिष्टवैशिष्ट्टनुद्धित्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वाव्, इह च सामग्रीतुल्यत्वेन ‘विशोष्ये विशोषणं' तत्र च विशोषणान्तर'मिति

समाजप्रस्तत्वात्। रकदण्डत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकस्य च सर्घिताव• चेछछेदस्योक्तकारणेनोत्पत्तिसंभवात्, दण्डो रक्षो न वेति सन्देहेऽपि रक्तदण्डवानिति बुद्धौ जायमानायां 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशोषणान्तर’मित्यस्या इव ‘विशिष्टस्य वैशिष्टय'मित्यस्या अपि विषयताया वक्कुं शक्यत्वात्, द्वितीयायां मानाभावात्, पक्षधरमिश्रादिभिरस्वीकारात्, विशोषणस्य स्वविशेष्यान्विते विशोषणत्वस्थल एव विशिष्टवैशिष्टथव्यवह्टारसंभवाच्चेति भाव:। उत्कहेतुत्वमक्ञीकृत्याप्याह-इहचेति। विशोषणतावच्छेदकप्रकारकानिश्थयासंभवस्थले चेत्यर्थः। सामग्रीतुल्यत्वेनेति। यावन्ति विशिष्टैशिष्टयनुद्दौ कारणानि तावतां विशोष्ये विशेषणमित्यादिबुद्धगुपषायकत्वसंभवेनेत्यर्थः। न्यायेनेति। सर्वेषां विशेषणतावच्छेदकानामिति शेष:। अथवा-इह चेति। विशोषणतावच्छेदकांशो धर्मितावच्छेदक यत्र नास्तित तादृशास्थले चेत्यर्थः। विशिष्टस्य वैशिष्टयं विशोष्ये विशेषणं तत्रापि च विशोषणन्तरामित्येतयोरिति शेष:। घटवादिति बुद्धेरुक्तद्वैधिघ्येऽपि विशेषणतावच्छेदकार्निश्रयेो न तत्र हेतु:, किंतु रक्तदण्डवदित्यादिबुद्येर्विशिष्टैवैशिष्टचर्धरूपत्वेन तत्र; अन्यथा दण्डो रक्षो न वेति घीकालेडषि तदापत्तेः । तथाच ज्ञानविरोघित्वसविषयक्र्वविशिष्टाज्ञान ${ }^{2}$ बैश़स्टयतुद्धावपि न विषयादिनिश्वयो हेतु:। न हि तयोरेकांझोडपरस्य धर्मितावच्छेदकत्वमित्यत्र मानमस्ति, न वा ज्ञानविरोघिस्वेनाज्ञानस्य प्रत्यक्षे भाननियमस्वीकोरेऽज्ञानत्वार्याखण्डधर्म’भाने मानमस्ति ; येन स एव धर्मितावच्चेदको ${ }^{1}$ समानविषयक-ग. ${ }^{2}$ नस्य-ग. 3 धर्मड्य धर्मितावच्छेरकत्वनियम:; मानाभावादिति भावः-ग.

न्यायेन विशिष्टैनैशिष्ट्ट्जानसंभवात् । अन्यथा तार्किकाणा मपीक्षरस्य भ्रान्तिशत्वं न स्याप्। अ्रमविषयस्य स्वातन्ज्येण ग्रहे अ्रान्तत्वापत्या अ्रमावच्छेदकतयैव तव्र्रहणं वाच्यम् ; तथाच क प्राक्तदवच्छेद्कग्रहानियमः | प्रहणसामग्रीतुल्यत्वं च प्रक्ठ-

ज्ञानविरोषित्वादंको स्यात् । विशोष्ये इत्यादि । अज्ञाने विरोषो विशोषणम्, तत्रापि ज्ञानम्, रक्तदण्डं न जानामीत्यादावप्यज्ञाने दण्डादि:, तत्रापि रक्तत्वादिरिति ${ }^{1} भ ा व ः । ~ व ि श ि ष ् ट े त ि । ~ व ि र ो ध द ् ड ् ड ा द ि-~$ विशिष्टाज्ञानस्वरूपेत्यर्थः । एवं च विशिष्टैनिशिष्टचेत्यवि सार्थकम्; अन्यथा न्यायेन ज्ञानसंभवादित्येवोच्येत। ननु—ससंबन्धिकस्य प्रत्यक्षं विशिष्टғ्य वैशिष्टयमिति रीत्यैव, अन्यथा रक्तदण्डो नास्ती-त्यभावपत्यक्षेडवि तद्रीतिनियमः सर्वसम्मतो न स्यात्; तत्राहअन्यथेति। उक्षभत्यक्षस्योक्तरीतिनियम इत्यर्थ:। अ्रमविषयस्य अ्रमविशेष्यविशोषणयो: । स्वातन्ड्येण विशिष्टस्य वैशिष्टचमिति रीत्या गहे रजतेदं ज्ञानवानयमिति ग्रहे। अ्रमावच्छेदकतयाअ्रमांशो विशोषणतया । तवूहाणं अ्रमविशेष्यविशेषणयोर्प्रहणम् । तथाचेति। उळम्रत्यक्षे उक्करीत्यनियमे चेत्यर्थः। तदवच्छेदकेति। न जानामीति प्रत्यक्षे विशोषणतावच्छेदक्जानादित्यर्थ: ${ }^{2}$ । न चेदेंरजतयोर्भ्रमे विशेषणतया भानेऽपि तयोरेकविषयताबच्छिन्नस्यापरविषयत्वस्यामानेन श्रमज्ञत्वं समूहालम्बनज्ञानज्ञत्व ${ }^{3}$ साधारणामिति-वाच्यम् ; विशिष्टस्य वैशिष्टयमिति रीतावपि तदभानस्य तुल्यत्वात्। अथ रजतस्य विशेषणत्वेन स्वविशेष्येदमंशे विशेष्ये ज्ञानेऽपि विशोषणत्वात् ज्ञान₹य चेदंविषयताविशिष्टत्वेन विशेष्यत्वादिदंविषयतावच्छिन्नविषयतासंबन्धेन रजतस्य ज्ञाने भानम्, तर्हि रजतस्येदमंशो विशेषणत्वं विनापि तद्वोध्यम्। ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वमिति। विशिष्टस्य

[^177]तेडपी समप् । ननु-श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुत्रद्नज्ञानग्रागमावस्य सच्चेन तज्ज्बानं त्वयापि वाच्यम् झ्तथाच तत्रापि व्याहतिस्तु-ल्येति-चेच; श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुक्रद्यक्जानरूपस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाइ्ञानाम्यां व्याहत्यमावात्, न हि श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतुत्वादिप्रकारकनद्बज्ञानज्ञानं उह्सज़ानमपि सत् शवणादिसाष्यं, मोक्षहेतुर्वा; येन तस्मिन् सति ताहुग्जानप्रागभावो व्याहन्येत । नन्वें-ं'न जानामी’ति धियो ज्ञानाभानविषयत्वेजपि न प्रतियोगिश्नानादिना ठ्याहतिः ; सामान्यतो विषयप्रतियोगिश्ञानेऽपि विश्रेषतस्तदभावसंभवात्, अन्यथा प्रागभावधीर्न स्याव्; तत्र्रतियोगिविशेषस्य सामान्यधमं विना

घ्यमिति रीत्यंभवेऽपि भहुणस्य सामम्पसममपता तचद्विषयावगाहित्वरूपा अपलपानहल्बेन तुल्या, यथा विशिस्टस्य बैशिस्टचामिति बोधे नापलापनीया, तथा विरोष्ये विशेषणनिल्यादिरीत्या अ्रमझ्य ज्ञाने sवीति यावत् । प्रकृतेऽपि अज्ञानप्यक्षेडपि। सममिति। उक्तसमपता नापलापाहे यर्यं। यघाश्रुते ईईज्ञानस्य नित्यस्य कारणनूटरूपसामघयुत्तिरसक्नेति ध्येयम्। न जानामाति प्रत्यक्षे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या ज्ञानाभावविषयकत्वं न संभवति; अभावप्यक्षे विशिष्टस्य बैशिष्यमिति रीतेः सर्वसम्मतत्वादिल्यघंयम् - मन्मते विशिष्ट्य बैगिस्टय-
 भ्रमस्य भान्तत्वरूप्वव्वात, अन्यथा विशेषर्दर्शिनः सोपाधिक丬्रममादाय आन्तलव्व्यवहारापवेरतस्तार्किकाणामियुयूक्तम्। विऐोषतस्तदभावेति। ज्ञानल्वावच्छिन्नतया ज्ञानविदोषीयतया च भासमानपत्रियागिताका-

1 वृरोषार्श्रनकासीनस्सेव-ग.

विशोषतो झ्ञातुमराक्यत्वादिति—चेक; विशोषझानामावे हि विशोषझानत्वावच्छिन्नं प्रतियोगीति तस्य ज्ञाने स विशोषोऽपि ज्ञात एवेति विशोषज्ञानाभावच्याघातात् । यर्त्किचिद्विशेषाभावश्ष न सामान्यावच्छिन्नतियोगिताक इत्युक्तम्। प्रतियोगिताबच्छेदक्रकारकज्ञानाभावेन प्रागभावप्रतीतिरसिद्धैव । ननु—प्रतियोगितात्चच्छेदक्रकारकज्ञानं नाभावज्ञाने कारणम्, किंत्वभावजाने भासमानप्रतियोगिष्टत्तिधर्मप्रकारकं ज्ञानम् ; सामान्यलुक्षणाप्रत्यास₹्यभ्युपगमे तु प्रतियोगिविषयत्वमपि तस्याधिकम्, इतरथा तु तदेव, इष्टवृत्तिसामान्यधर्मग्रकारकज्ञानमिवासिद्धव्यक्तिविषयेच्छाक्रूय्यो: । न च-प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मेण कथं प्रतियोगिता गुद्यतामिति—वाच्यम् ; विशोषात्रच्छिक्नाया ब्याशेरिव सामान्येन ग्रहणसंभवात्। तथाहि" ' इदममिधेयवत्, प्रमेया'दित्यनुमाने ' यत्र प्रमेयं तत्राभिधेय'मिति ठ्याप्तिग्रहणसमये वृत्तिमत्र्रमेयत्वावच्छेदेनैव सामानाधिकरण्यरूपन्याप्तिसक्वेऽपि तस्या: प्रमेयत्वरूपेगैव ग्रहणम्, न तु धृत्तिमत्रमेयत्वेन ; गौरवात्, वृत्तिमत्वविशेषणस्य ठ्यभिचारावारकत्वेन वैयर्थर्यचं अष्टृत्तिकु साध्यसामानाधिकरण्यरूपठ्यापचभाववत् साध्याभावसामानाधिकरण्यरूपण्यभिचारस्याव्यभावत्त, ठ्यर्थविशेषणत्वरहितत्वे सति ठ्यभिचारिव्यावृत्तत्वमात्रेणैव ब्याप्यतावचछेदकत्वसंभव्वाच्च । तथाच यथा वृचिमत्र्रमेयगतापि ब्याप्तिः प्रमेयत्वेनैव गृद्यते तथा तत्रबीलादि-

भ|क्तेत्यर्थ: । विशेषतः तघ्यक्तित्वेन। प्रतियोगितावच्छेदकेति । तत्तद्यक्तित्र रूपेत्यादि:। प्रतियोगिविषयत्वं प्रागभावप्रतियोगिविषयकत्वम्। तदेवेति। अभावज्ञाने कारणमित्यनुषज्यते । संमवात्-

व्यक्तिगता प्रतियोगिता नीलत्वादिरूपेण गृद्यत इति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च ‘दहेदानीं घटो बास्ती’ति प्रतीतिरिक घटोपादानगततत्त्रागभावविषया 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति प्रीतिरापि प्रमातृगततत्त्रागभावविषयेति न काप्यनुपपत्तिरितिचेन्म; अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशो भासमानस्य धर्मस्यैव ध्रतियोगितावच्छेदकतया यत्किश्निद्रिशेषाभावस्य सामान्यावच्छिकप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निष्घटं भूतल'मिति घटज्ञानवत्यपि स्वस्मिन् 'मयि घटज्ञानं ना₹ती' ति च प्रतीतेरापत्तेः पूर्वोक्तदोषात्। यत्किस्ञिद्धट्ञानं घटाभावज्ञाने प्रतिबन्धकमिति तु ज्ञानज्ञानेऽपि तुल्यम्, उदाहततव्याप्रिएहणे तु बाधकाभावात्सामान्यावच्छेदेडपि न दोषः। अथैंतं प्रागभावग्रतीतिरेव न स्यात्, न स्यादेव ; 'घटो भविष्यती' ति प्रतीते: धात्वर्थभविष्यत्ताविषयत्वेन भागभावाविषयत्वात् । अन्यथा दिनान्तरोत्पत्स्यमानघटे एतदिनवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वेन 'अद्य घटो भविष्यती' ति धीप्रसङ्गः। भविष्यच्चं च प्रतियोगितर्भंसानाधारकालसंवन्धित्वम्। घंसत्वं च प्रागभावानकीकर्वूमते कादाचिक्काभावत्वमेन। तदझ्धीकर्तुमतेरपि प्रतियोग्यजनक-

घीसिंभवात् । तत्र्रागभावेति। पमाप्रत्रभांकेटर्यः । घटवतीति। सामन्य्पर्मस्पैव प्रतियोगितावच्छेककतया भासमानस्य प्रतियोग्यंशेडवि पकारस्वाइइयकव्बादित्यादिः। सामान्यावच्छेदेडपीत्यपिकरेण गगनादाववर्तमानाया व्यांत्तेः प्रमेय्वं नावच्छदकमतिपसक्तल्वाद, वृत्तिमन्त्वावच्छेदेनैव भहणसंभवेन उर्यविशेषपणत्वाभावात्, ฮृनिमत्रमेयल्वावच्छिक्वस्प क्यातौ सत्च्वे पहणेडप्यदोषाप्, असत्त्वे भहणस्यावि भ्रमत्वादिल्युादि सूचितम्। कादाचित्काभावत्वामिति। काऊत्वाइ्याप-

कादाचित्काभावत्वम् । जनकत्वं च स्ररूपसंबन्धविशेषः। न प्रागभावघटितः ; प्रागमावस्याजनकत्वापतेः, अन्यथात्माश्रयात्। अतः प्रागभारमझ्नीकुवतोडयि तत्रत्यक्षत्वं दुर्लभम्, तमनहीकर्तर्वतस्तु न कापि हानिः। 'इहेदानीं घटो नास्ती' ति प्रतीतिस्तु सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्कालावच्छिकयावद्विशेषाभावविषया; समयविशोषस्याप्यभावावच्छेदकत्वात्। अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूप' इत्यादिप्रतीतितने स्याज्। अथास्मिन् पक्षे सामान्याभावो न सिद्धयेदिति-चेत् ; प्रागभावाम्युपगमेऽपि तुल्यमेतत्, सामान्याभावप्रागभावयोः सुन्दोपसुन्दयोरिव परस्परपराहतत्वात्। तथाहि प्रागभावसिद्धौ. विशेषाभावस्यापि सामान्यावच्छिन्नग्रतियोगिताकत्वान्न तावन्मात्रश्रमाणकसामान्याभावसिद्धि:, सामान्याभावसिद्धौं चं

काभावत्वमित्यर्थः। अखण्डोपाधिरूपं वा न तु पागभावप्रतियोग्यभाव• त्वरूपत्वमिति रोषः। प्रागभावघटितः कार्यस्य प्रागभाववत्कालत्वरूपप्राक्कालत्वघटितः । आत्माश्रयेति । प्रतियोगिंजनकत्वेन च प्रागभावः कलुप्यते। उत्तजनकत्वं च प्रागभावकल्पनात्पूर्व ज्ञांतुमझक्यम्; प्रागभावघटितत्वादतः प्रागभावज्ञतिः स्वाधीनेति ज्ञषावाहमाश्रयेत्यर्थः। अन्यथेति-प्रतियोगिमत्यत्यन्ताभावानर्ष्शकार इत्यर्थः। न स्यादिति । प्रागभावस्यैव नीरूप इति धीविषयत्वे रूपवत्यपि पाकेन जनिष्यमाणरूपप्रागभावमादाय सा स्यादिति शेषः। यद्यपि सामान्याभावोऽप्युक्तर्षविषयः संभवति, तथापि विशेषाभावकूटोक्तिरथेत्यादिम्नन्थावतारणायेति बोध्यम्। तावन्मात्रश्रमाणकेति। उक्तप्रतियोगिताकत्वषीमात्रप्रमाणकेत्यर्थ: । ननु-विशेषाभावप्रतियोगितापि सामान्यरूपेण वाच्या; अन्यथा इदानीं कपाल घटो, नास्तीति

विशेषाभावस्प सामन्यावच्छिभप्रतियोगिताकत्वाभावत्, कादाचित्काभावस्य च सामान्याभावत्वायोगत्, न सामान्यधर्माबचिछ्छक्षतियोगिताकविरेषभ्रतीतिमात्रशरणभ्रागभावसिद्दि रिति न तदुभयमापि विपश्यितां चेतसि चमत्कारमावहति । नजु—याबद्विशेषाभार्वनिश्रयेंपि ‘रूपं वायुचृच्ति न वा वायू रूपवान्व वे'ति रूपाभाइसन्देहाव निश्यिते च संशययोगागाद्याबद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धि:, अत ${ }^{1}$ एताइन्त्येव रूपण्णीति निश्रयदशायामेताछछइसंशयस्याननुभूयमानत्वेन तदनिश्ययदशायामैंैताद्धशः संशयो वाच्य:, तथा च 'रूपत्वं, पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्तवृत्ति भविष्यती' ल्यधिकसंभावनया निश्चितेष्वेव संशाय:, उत्रसंभावनाविरहसहक्कतनिश्ययस्यैच प्रतितन्धक-

पतीतौ तद्वटाभावस्य घटरावच्छिन्नपतियोगिताकत्वेन भानं न स्यात्, न च-तत्र घटसामान्याभाबो भातीति --वाच्चम् ; सामान्याभाबस्य कालानवच्छिन्यैव सर्वत्र भानातत्राह-कादांचित्काभावस्येति। कालावच्छिन्नतया भासमानस्येय्यर्थ: । सामान्याभावत्वायोगात् सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकर्वाभावात् । सामनन्याभावानभ्युपगमे यावद्विशेषाभावेषूक्तभतियोगिताकस्वमुक्तष्धीविपय इत्युक्तम्। तद_ म्युपामेऽपि कदाचिस्संस्ट्वन्याकित्वावच्छिन्मपतियोगिताकों विशेषाभाव एवेत्रषीविषय इति भाबः। अथवा कादाचित्काभावस्य कदाचिदेव विधमानस्वरूपकाभावस्य। छंसभागभावत्वेनाभिमतस्य सामान्याभाबत्वाभाबात् सामान्यावच्छिन्नपतियोगिताकल्वभावात् । तत्र हेड़: प्रतियोगिताकर्वाभावादिल्यन्तः। चकारोडप्यर्थकः, विंशात्यन्ताभावस्येव कादाचिक्काभावस्यापि प्रतियोगिता न सामन्ग्यरूप²वच्छिन्नेति

$$
1 \text { अथ. } \quad 2 \text { मामान्ग्रस्तहृपा. }
$$

[^178]さंवादिति—चेन ; एवं प्रतिबन्धककल्पने मानाभावाढुक्तसंभावनाविरहदशायामप्येताहछासंशयदर्शनाच्च। ननु--यथा यावद्विशेषाभावेभ्योडतिरिक्ष सामान्याभात्रो रूपस्य संशयकोटिः, तथा रूपसामान्यमपि यावद्विशोषक्योडतिरिकंत संशायकोटिर्नाभ्युपगन्तुं शक्यते, तथा च कथं रूपस्य संशयकोटित्वम् ? सर्वरूपाभावनिश्रयात्। यदि तु नीलपीताद्यभावत्वेन निश्रयेऽपि रूपाभावत्वेनानिश्ययाद्रूपासंशय इति जूषे, तदा किं सामान्याभावेन; रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संरायसंभवात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वेन यावद्विशेषाभावानामेव रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वकल्पनात्, अतो न यर्तिकचिद्भावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ इति—चेन्न ; यावद्विशेषाभावेषु गद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तत्रत्यें विश्रान्तम्, व्यासज्यवृत्ति वा। आद्ये यत्तिकचिदमावमादाय ' घटो नीरूप' इति प्रतीति प्रसङ्नः। द्वितीये तत्तदूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याठ्यासज्यवृत्तिस्तभावत्त्नन तझ्यतिरिकंक रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्नं ठ्यासज्यवृत्ति कल्पनीयम् । तद्वरं रूपत्ववयच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभातः कल्प्यते। मौमकोऽमावः रूपत्वान्चच्छिम्नप्रतियोगिताकत्वं चेति वस्तुद्वयं कल्प्यम्, तत्र तु रूपत्वावच्छिम्नप्रतियेगिताकत्वं तस्य च ठ्यासज्यवृत्तित्वेन बहुष्नभावेषु प्रत्यें संबन्धा इति बहुक्रु ल्पनम्।'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया ल कल्पनीयाधिक्यापेक्ष:। किंच घटद्वये यावद्विशेषाभावसत्वेडपि

यावत्। विश्रषष्रतीतीति। विप्रतीतीत्यर्थः । विरहदशायामिति । विशोषाभावकूटनिश्चयेऽपीति शेष: । प्रत्यकं संबन्धा इति । प्रत्ये

रूपसामान्यामावबुद्धननुद्यात् ऐकाधिकरण्यावंच्छेदेनाध्यंभावां विंझोषणीया: ; तथाचातिगौरवम्। अपि च ब्यासज्यषृत्तिधर्म: ग्रहे यावदाश्रयग्रहस्तन्रेदग्रहश्र हेतुः ; अगृहीतेषु भिन्भंतया वागृहीवेष्ड वस्त्रादिष्यु द्वित्वादिबुद्धयनुदयात्। तथाच यावदमावतन्⿹्रेदाग्रहे प्रथमत एव नीरूप इ्ति धीर्न स्यात् ; व्यासज्यंवृत्तिसामान्यधर्मांवच्छिस्मप्रतियोगिताकत्तस्याग्रहणात् । अतः सामान्याभावस्य प्रामाणिकत्वात्कथं तर्पराहतिरिति-चेत्, अत्र ज्रूमः-एवं तर्हि सामान्यत्रकारेण विशेषाभावाप्रतीतेर्ज्ञानविशेषप्रागमावो न जानामीति धियो ज्ञानत्वावच्छिक्षपियोगिताको न विषय इति सिद्धं नः समीहितम् । न हि प्रागभावोऽपि कश्चित्सामान्याभावोऽस्ति ; येन तत्र्रतियोगिता . सामान्यर्घेमणावच्छिघ्येत ; विरोषाभावप्रतियोगिता तु तत्तद्यटत्वादिना विशोषेणावच्छिद्यते। न च तेन तेन रूपेण भविष्यद्धटादि ज्ञातुं शक्यम् ; तज्नन्मानन्तरं तु ततद्ऱ.पेण तज्ञानसंभवेऽपि न प्रागमावर्धः प्रत्यक्षा स्यात् ; तदानीं प्रागभावासत्चत्वत्, प्रत्यक्षस्य विषयजन्यत्वत्। भावज्ञाने हेतुरित्युक्तम् ; प्रतियiंगितावच्छेद्क्रप्रकारकप्रतियौगिज्ञानस्याभावत्त्वकारकाभावज्ञाने हेतुत्वात्, तस्यानुमानगम्यकावृत्तेः समुदायवृत्तित्वासंभवास्समवार्यवद्यहुप्वेकम्य संबन्धत्वासंभ_ वाँ्च नानापर्याप्तिसंबन्षा चाच्या इत्यर्थ:। समवायस्य प्रत्यकानुयोगिकत्वेन नानतवं पर्याष्तेक्तु तदभावेनैकव्वमित्याशंयन त्वम्रे सामान्याभावं सण्डयिप्यति। अवच्छेदेन-विशिप्टंवंन। विशेपणीया इति । अन्यथा पृथिठ्यां सर्व नीलरूपमितिवत् पृथिठ्यां रूपं नान्तीत्यपि स्यादिति शेषः । इदंत्वादिनाभावपत्यक्षतारणायाह-अभावत्त्रक्रकारकेति। अमावझ्नाने अभावप्रत्यक्षे। हेतुत्वादिति। अन्यथा नेत्येया.

त्वेऽपि 'न जानामी' ति घियः अपरोक्षायास्तद्विषयत्वायोगात्। अव्यमिचारिलिक्नाद्यमावात्तदनुमानमपि दूरनिरस्तमेव। ननु'इदं माभू' दितीच्छाविषयतया ततिसद्धिः, न; प्रागमावस्य स्तरूपतोऽसाध्यत्वेन प्रतियोगिजनकविघटनेन तत्संबन्धस्येवात्यन्ताभावसंबन्घस्यापि साध्यत्वात्तैनैवान्यथासिद्धे: । अथोत्पष्सस्य द्वितीयक्षणे पुनरुत्पत्त्यभावात्तत्पूर्क्षणे सामग्रयभावो वाच्य: ; स च प्रागभावाभावादेव, अन्यहेतूनां सत्वादिति चेन्न ; सामयिकात्यन्ताभावेनैवान्यथासिद्धे:, उत्पन्नस्यैव स्वोत्पत्तिविरोधित्वाच । अपि च सामग्री कार्यसत्वे प्रयोजिका न तु तस्याद्यकालसंबन्धरूपोत्पत्तावपि । आद्यकालसंबन्धो हि खसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधारकालाधारत्वम् । तत्र सामत्री कार्यस्य कालाधारत्वांश्रमात्रे प्रयोजिका न तु विशेषणांशेडपि;तस्य ताद्धक्पदार्थध्वंससामग्रीविरहादेव सिद्धे:। पाकजरूपादिभेदोडप्यम्मिसंयोगभेदात् पूर्वरूपादिध्नंसभेदाद्वा, न तु प्रागभाव-

कारकस्यापि प्रत्यक्षस्य दुर्वार₹च्दिति शोषः। साध्यत्वात्-क्षेमसाधारणसाध्यत्वात्। सामयिकेति। समयविशेषावचिछन्नेत्यर्थः। उत्पन्षस्येति। वस्तुतो द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कारणकूटस्याधिकरणीमूतो द्रव्यादिशून्यो य: क्षणसतदुत्तरक्षणत्वं द्रठ्याद्युत्पतित्याप्यमित्येव द्रव्यादेः स्वेत्पतिविरोधित्वमिति धगेयम्। ननु पाकजानां रूपरसगन्घर्पर्शानां भेद्द: कारणमेदं विनाडनुपपन्नः कारणनन्तराणां पाकादीनामभेदान्नानाप्रागभावरूपकारणं रूपादौ कल्पयतीत्यत आह—पाकजेति। न तु प्रागभावेति। तयोः क्लपत्वादित्यादिः। यद्यपि रूपाद्यत्यन्ताभावस्य रूपादिहेतुत्वं संभवति, तथापि रूपष्यक्रीनामेकेन तेजःसंयोगादिना जायमानानां मिथो भेदाय ततद्दूंसहेतुत्वमुक्तम्। एकस्य पूर्वरूपध्वंस-

भेदाव, प्रतियोगिभेदं विना प्रागभावभेदायोगाच। नाप्युपादानत्वव्यवस्था तत्र मानम् ; तन्तुंत्रादिैनैव तत्सिद्धे:। अन्यथा प्रागभावस्य संबन्धिविशेषोडपि कुतः सिद्धचेत् ? न च तदल्यन्ताभाववतः कथं तदुपादानत्वम् ! संबन्धान्तरेण त्वयाप्यम्युपगमात्समयावच्छेदतदनवच्छेदा म्यां बैलक्षण्याम्युपगमाच्चेत्यलमतिबिस्तरेण । एवं सामान्याभावोडपि गौरवपराहत एव। तथाहि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं अभावः तस्य च तत्रदघिकरणसंबन्घा इति त्रयं वा कल्प्पताम्, क्रम्तत्तद्धिकरणसंबन्धानामेकाधिकरणवृत्तित्वावच्छेदेन सिद्धानामभावानां सामान्यावच्छिन्मप्रतियोगिताकत्वं तस च व्यासज्यवृचित्वमिति द्वंयं वा कल्प्यताम्। तत्रोत्तरः पक्ष एव प्रेक्षावझ्यो *स्याश्रये बह्रनामुत्ररूपाणामुत्पात्तस्थले तु तेजस्संयोगादीनामेव बह्रनां हेतुव्वं कल्प्यत इति भावः। भेदं भेदलिद्दिम्। भेदायोगात् भेदसिद्धघयोगात्। वस्तुतः कारणाभेदेडपि प्रमाणसिद्दे कार्येमेदे न क्षतिरिति बोध्यम्। वैलक्षण्येति। प्रतियोग्यकिकरणानधिकरणवृतित्वेल्यर्। त्रयमिति। तत्तदधिकरणसंबन्घसमुदायत्लेन संबन्धानामेकर्वाश़्तित्वं बोध्यम्। रोचत इति। यधपि समवायः प्रत्यििकरणन्यक्ति विशिद्टपमानियामकत्वेन प्रत्यषिकरणन्यक्तिकं मिन्न:, तथापि पर्यात्तिः प्रलेकषिकरणन्यक्तौ विशिष्षवुद्धघनियामकलेवेन न प्रलेयकाषिकरणं मिन्ना। तथाच प्रलेयेकानिरिक्तममदायानुयेगिकपर्यात्तेः पल्येकानुयोगिकलेऽवि समुदितत्वावच्छिन्नाया एकस्या एव तस्याः स्वीकारात् सामान्यावच्छिन्नपातियोगिताकत्वस्य सर्वविझे़ाभावेव्केकैक पर्यात्तिः, सामान्याभाबस्य तु स्वाधिकरणेषु प्र्येके नानाविशेषणत। अतिरिक्ताः कर्प्याः। स्वरूपसंबन्षस्य निस्तत्वादिलिन्त्यपक्ष एव रोचत इति भावः ॥

रोचते ; आघ्यक्षणे 'घटो नीरूप' इंति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वात्, यावदाश्रयतन्भ्रेदग्रहस क्वित्वादिग्रहे हेतुत्वेड्प्युक्तग्रतियोगिताग्रहे हेतुत्वानम्युपगमात्, कार्योन्केयधर्माणां यथाकार्यम्तुक्नयनात्।

यतृक्तम्रतियोगितानिरूपकच्वमन्यासज्यवृत्विस्वभावतत्तदभावस्वरूपत्वान्न व्यासज्यवृत्तिक संभवताति दीवितावुक्तम्, तन्न युक्तम्; बौद्धांधिकारशिरोमणौ विषयताते़े: स्वरूपसंबन्धं्वनिरासेनाभावस्वरूपस्य स्वस्मिन्संकच्धव्वासंभवादतिरिक्तामान्याभावस्वीकरेऽपपि तदतिरेकस्योत्रनिरूपकलेवेडइइं वाच्यत्वात्। यदप्यैकाषिकरण्यावच्चिन्नलेनेामावा ‘रूपं नास्ती ’स्याद्दिधीविषया वाच्याः ; अन्यथा पृथिज्यां यावन्ति नीररूपाण्णत्यादिवत् पृथिठ्यां न रूपमिल्यादिकमपि बाक्यं योग्यं म्यादिति, तदपि न युक्तम् ; यावन्नीकत्वावच्छिन्नाषेयतायाः पृथिव्यनिरूपित्वात्, नीक्ववाघवच्छिन्नाघेयव्वस्यैव पृथिवीनिरुपि-
 रूपप्वाघवच्छिन्नपतियोगिताकत्वावच्छिन्नाघेयताबेध्यं ${ }^{1}$ पत्येव पृथिव्यां रूपं नेल्यादिवाषये ${ }^{2}$ साकंक्ष्वस्य कल्पनात्। सिद्धत्वादिति। तथाच सामान्यरूपेणात्यन्ताभावे समयविशेषावच्छिन्नवृत्तिक न विवादः; नञ: ख्वसममिठ्याहृतपदार्थतावच्छेदकरुपेणात्यन्ताभावबोधकत्वस्य व्युत्पन्नल्बेन नीरूपमित्यादिवाक्यस्य तदावइयकत्वात्, अन्यथा निर्षटं सघटमित्याघापतेः। एवं च सामन्यरूपेण विशेषस्य पागभावादि: समया'चच्चिन्वेनेह कपाले इदानीं घटो नास्तीत्यादौ विषय इति यत्पेणोंक तदपास्तमिति भावः । ग्रहे निरूपकत्वपहे । अनम्युपगमादिति। न चोक्रपातेयोगिताकल्वान्यं्यासज्यवृत्वित्य-
 वाया-ग.

नचैवमतिलाघवात् क्रृप्तानामधिकरणानामेवाभावधीहेतुत्वमस्तु, किं विशेषाभावैरपीति—वाच्यम् ; असाकमिष्टापत्ते:, घटाभावो नेत्यादावतिरिक्रामावस्स त्वयाप्यनभ्युपगमेन भावस्याप्यभावत्व्वक्रकारकम्रमाहेतुत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्। य़दपि कश्थिदाह ---प्रतियोगितावच्छेद्कभेद्स्याभावभेद्नियामकत्वाद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः ; अन्यथा अभावभेदासिद्धे:, प्रतियोगिमेद्साभावभेदकत्वे एकघटप्रतियोगिकस प्रागभावादिचतुष्टयस्याभेदप्रसङ्गात्, अवच्छेदकभेदात्तु तन्द्रेदे न कोऽपि दोषः ; कचित्तादात्म्यस्य क्रचित्संसर्गस्य क्रचित्पूर्वापरकालीनतद्धटत्वादेश्य मेदादिति, तन्न ; संसर्गप्रतियोगिविशोषणसाधारणस्यैकस्यावच्छेद्कत्वस्य दुर्चचत्वात्, तादात्म्यादेश्य प्रतियोगि.तावच्छेदकत्वे मानाभावात्। भेद्सिद्विस्तु भाववद्भावस्यापि विरुद्धधर्माध्यासादेव । अवच्छेदकभेद्स्याभावभेदनियामकत्वं

क्षत्वेन कार्यत्ने गौरवामिति-वाच्यम् ; अनन्तमामान्याभावकल्पनापेक्षया प्रतियोगितानिरूपकत्वान्यत्वनिवेशस्यैव लघुत्वात्, ठ्यासज्यवृत्तिकत्वस्यानुगतस्य दुर्वचत्वेन शाक्तिविशेषस्यैवावच्छेद्दककोटौ निवेशोनोंकान्यत्वानिवेशांच । संसर्गस्य-संयोगादेः। तद्धटत्वेति। तद्यक्तित्वेत्यर्थः। तत्परिचायकमाह—पर्वापरकालीनेनि। साधारणस्येति। विशोषणस्य न्यूनाधिकावृतेतेर्नावच्छेदकत्वम् ; संसर्गस्य तु ताहछास्यापि तदिति वैलक्षण्यातयोर्मेद इति भावः। तादार्म्यादेश्येति। तादाझ्म्यं भेद्य्य तच्चद्यक्तित्वं ध्वंसादेः प्रतिःशगितायां नावच्छेदकम्; मानाभावात्, संयोगाढिक्कमपि नावच्छेदकम् ; संयोगेन घटो नाम्तीत्यददौं संयोगाघ्यभावभानस्योक्तत्वात्। एवं प्रतियोगिबिशेषणमपि नावच्छेदकम् ;

लिड़िविधया तज्ञापकत्वमेव वाच्यम् ; न तु तझनकत्वम्, तच न ; विपक्षबाधकतर्काभावेन सामानाधिकरण्याभावेन च ठ्यासेरेवासिद्धे:। अत एव तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तदवच्छिक्षप्रतियोगिताकान्यत्वव्याप्यमित्यपि निरस्तम् । एवं चाष्टत्तीनां गगनादीनां समनियतानां वान्येषां धर्माणामेक एवात्यन्ताभावः ; युगपद्विनष्टानामुत्पन्नानiं वा समानदेशानामसति बाधके एक एव ध्यंस: प्रागभावो वा ; व्यधिकरणधर्मावच्छिषप्रतियोगिताकोडपि चेदभावः प्रामाणिकः, तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिता: सैवैरेव व्यधिकरणी: सर्वैश्य समानाधिकरणै: सबंघैरेवावच्छिद्यन्ताम्, अकाशाभाव एव वा तथास्ताम् ; एके-. नैवोपपत्तावभावभेदकल्पने मानाभावात्। न चैवमेक एव जगतीतले मवत्वभावः, स एव ततद्वच्छेदक्कदेशकालादिभेदेन तत्तअ्यवहारमेदं जनयिष्यतीति किमधिककल्पनयेति-वाच्यम् ; उपपद्यते चेन्द्सु। प्रकृते तु न बाधकं किचित्। अत एव वैशेषिकाणां खाम्युपगतकालपदार्थस्यैव सर्वण्यवहारहेतुत्वोपपत्तौ

प्रतियोगिताविशेषसंबन्धेन मण्यादिमदभावादे: कारणत्वादिसंभवादिति भाव:। सामानाधिकरण्याभावेनेति। यत्र यत्रावच्छेदकमेद: तत्राभावभेद इत्यत्राभावे ठयभिचारात्, यत्र यौत्रकावच्छेदकभिन्नन्यावचछछेदकत्वं तै्रैकाभावभिन्नापराभावत्व्वमिति वाच्यम्; तथाच साध्यहेत्वोरसामानाधिकरण्यमिति भावः । बाधके-मूलाग्रादिरुपावच्छेदकभेदादिरूपे। एक एवेति। अभावांशे प्रतीतेरतुगताकारत्वायेद्यम्, तदनवेक्षायां तु तत्तदधिकरणेष्वेवाभावत्वं पूर्बोक्तं युक्तम्। उपपघते चेदिति । रूपत्वाद्यवच्छिन्नत्नतियोगिताकत्वस्यावच्छेदकता बाधा-

न पदार्थान्तरसिद्धिरित्यद्बैतवादिनो वदन्ति। तदेवं 'अहमझ्न' इति ज्ञान स्याभावज्ञानसामग्रीविलक्षणसामग्रीजन्यत्वाद्भावविलक्षणविषयतवं सिद्धम् II

एवं 'त्वदुक्तमर्थ न जानामी' ति प्रत्यक्षस्यापि। नतु-साक्षात्वदुक्तार्थविषयं प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येतद्विषयकमुदाहत्तानम्। तच न साक्षादर्थविषयम् ; प्रमाणज्ञानावच्छेद्कतयार्थस्य भानात्, अतो न ठ्याघात इति चेक; साक्षात्वतुकुक्र्थमवेत्य हि तद्भावो ग्राह्यः । तज्ञानं च न साक्षिणा; स्वस्मिस्तादृक्र्म्राणज्ञानाभावात्, अन्यनिष्ठं तु शब्दादिना ग्राद्यम्। शब्दादिश्र त्वदुक्तार्थ बोधयक्षेव तद्विषयत्वं ज्ञाने बोधयेत् । तथाच प्रथमतस्त्वदुक्तार्थविषयकं साक्षादेव
-दा${ }^{1}$ ववइयं कलप्या ; तथाच किमपराद्धं वाय्वादिमात्रवृत्य्यावे। नच-तस्यातिरिक्तसंबन्धादिकल्पने गौरवमिति --वाच्यम् ; तस्यामपि तस्य तुल्यत्वादिति भावः। सिद्धि: तात्त्विकत्वम्। कालस्य तात्विकत्वेन सर्वदृइयसंशन्घित्वेन च पराभ्युपगतक्य (पराभ्युपगत) ज्ञानस्थानीयजेयानां प्रकार ${ }^{3}$ रूपतास्व्वीकारेणोपपत्त्या स्थिरतंत्विकज्ञेयपदार्थकल्पने मानाभाव इति भावः। सतक्षात्वदुकार्थविषयमिति। स्वविषयज्ञानं पत्यविशेषणीमूतः त्वदुक्तार्थो विषयितासंबन्छेन यत्र ज्ञाने तदित्यर्थः। तद्भावः उक्तज्ञानाभावः। तज्ञानं उक्तज्ञानस्य ज़ानं अर्थम्। त्वदुकार्था बोधयकिति। त्वदुक्तर्थज्ञानबानयमित्यादिवाक्यजन्यबोघोऽर्थस्तत्वदुक्त इत्यवान्तरवाक्यार्थबोघपूर्व को वाच्य:; अन्यथा तस्य विशिष्टैवैशिष्ट्यबोघत्वा ${ }^{4}$ संभवात् । न च—भावरूपाज्ञानप्रत्यक्षस्येवोक्तज्ञानाभावपत्यक्षस्यापि 'विशेष्ये विशोषण'मित्यादिरीत्या वाच्यत्वात्तन्मूलं शाब्द्ञानमपि

$$
1 \text { वाग्वादा-ग. } 2 \text { भावेन-ग. } 8 \text { घ्रकाशा-ग. } 4 \text { बोधकत्वा-ग. }
$$

ज्ञानमागतमिति तन्विषेधे न कुतो व्याघातः ? अत एव विशेषस्य स्वरूपतो ज्ञाने डपि विशेषप्रकारकज्ञानाभावो न ठ्याहत इत्यपास्तम्, करतलामलकज़ाने स्वविषयव्यार्वर्तकधर्मविषयत्वं प्रसिद्धामिह निपिघ्यत इत्यपि न; व्वदुक्तत्वस्यापि मदुक्ताछ्यापर्तकत्वेन सामान्यतो ठ्यावर्तकधर्मविषयत्वस्य निषेबुपमझक्यत्वात्। नन्वचच्छेदकतया विशोषज्ञाने जातेडपि न व्याहतिः। तथा हि-न हि विशेषज़ानाभावस्वनुक्तार्थविषयकज्ञानाभावो वात्र प्रतीयते ; किंतु त्वदुक्तार्थविशेष्यकविरोषप्रकारकज्ञानाभाव:, तत्र च व्वदुकार्थिविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानेऽपि ताह्द्रकारकतद्विशेष्यकज्ञानाभावसंभवः ; अस्स ज्ञानस ज्ञाने विशोष्ये विशेषप्रकारकत्वप्रकारकत्वात्, यत्रापि त्वदुक्तविरोषं न जानामीत्यभिलाष:, तत्राप्येवमेव ठ्याहत्यभावः कथंसमूहालम्बनभल्येकपदार्थोपस्थित्या तथैवास्तिति-वाच्यम्; अभावप्रल्यक्षस्य तद्रीय्या केनाव्यद्धीकारात्। न च—वद्वदुक्तार्थ्रमात्वादिना स्मरणात्तेन रूपेणाभावप्यलक्षमिति-वाच्यम् ; त्बदुक्तार्थल्वस्याननुभवे तद्विशिष्ट्रमात्वेन पूर्वानुभवायोंगात्। अत एव त्वदुक्तार्थस्मृत्या त्वदुकार्थममात्वेनानुमानोदेरप्यंभवः अ खनुत्कार्थे पूर्वाननुभूते तदसंभवात् । तजन्मान्तरीयंस्कारादिक₹्पनापेक्षयो क्तमत्यक्षस्य भावरूपाज्ञानविषयकृवस्यैव युक्तंवादिति भावः। अत एव-विशेषपकारकज्ञाने ज्ञेये विशेषपकारक्ञानस्यावइयकवंदेव। स्रूूपतो विरोष्यतया। अशक्यत्वादिति। श्वदुक्तान्यव्यावर्तकनिवेशेडपि ल्वदुक्त नीहिघटादिक न जानामील्यन्र नीकत्वघटत्वादिरुपष्यार्वर्तिविषयकत्वेन विरोषात्, तदन्यत्वस्यापि निवेशे नीलघटटत्वादिना निक्षयस्थल्डेपपि नीलघटादि न जानामीति स्यात्, इटापत्तावनुभवबिरोषात्, स्वपदार्थाननुगमेन स्वविषयंंच्यावर्तकषर्माज्ञानकले प्रतियोग्यपसिद्देश्राशक्यत्वमिति भावः।

चियुष्षेयः । न च-यत्रोक्रश्रतियोग्यप्रसिद्धिः, तत्र कथमभाव-प्रतीतिरिति-वाच्यम् ; समवेतवाच्यत्वं नास्तीत्यत्रेव विशेष्ये विशेषणाभावविषयत्वेन च्यधिकरणधर्मावच्छिसप्रतियोगिताकाभावविषयत्वेन बोपपत्तेरिति-चेक्न ; अनुभवविरोधाव्, विशेषज्ञानाभावस्य त्वतुत्तार्थज्ञानाभावस्य वा अनम्युपगमे तद्विषयज्ञानसक्चेन तघवहारापत्तेश्र। न चैवं हइयते। स्वतः प्रामाण्यमते तु तत्रकारकत्वे तद्विशोष्यकत्वे च गृह्यमाणे तइच्वग्रहणसावइयकतया तदंशो तत्र्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्स ताह्छशप्रतियोगिकथंचिदिति। विशेषनिष्हाज्ञानावच्छिन्न'विषयताकञे:नाभावो विपय:, प्रतियोगिज्ञाने उु विशेषत्वेन विशेषभानमिति भावः। विशेष्ये विशेषणाभावेति । वदुक्तार्थज्ञाने विशेष्रकारकत्वस्य विशेषपकारक. ज्ञानादौ ब्बदुक्तार्थविषयकत्वादेवाडऽमावेत्यर्थः। अनुभवविरोधात्। त्वदुक्तार्थविशेषविरोषिताइ्ञान²विरोघित्वेनानुभवस्यापखापापतेः । अनभ्युपगम इति। ल्बदुक्तार्थ न जानामीति घीकाल इल्यादिः। छछयत इति । ताहद्राभावस्याम्युपगमे तु प्रतियोग्यज्ञानादेव तव नोक्रनुभवः; मम हु निर्विमः स इति शेष:। तद्वत्त्व्रहस्येवि । तदंश इल्येड्वन्वः। । वदुक्तार्थोो विशेषपकारकमहस्येत्यर्थः। तत्पकारकतद्विशेष्यकत्वस्य विशेषपकारततनिरूपितस्य त्वदुकार्थविहेव्यत्व्व्य प्रतियोगिज्ञाने उत्कविशेव्यव्ववत्वेन ज्ञानस्य ज्ञाने संभवादिति । न च-विघमान एव ज्ञाने प्रमात्वस्य साक्षिणा मन्मते घहादविवियमानझ्ञानस्योक्षविछोष्यप्वत्वत्वेन घहे न तदंशे तत्पकारक इतिबाच्चम् ; अविद्यमानस्पाव्युक्तविशेष्ववल्वेनेब प्रमात्वेनापि पूर्वानुभवसत्चे स्थितिसंभवात्, विशेष्यविशेषणयोरुपस्थितिसत्वे विशिष्वुद्दे:

$$
1 \text { निष्ठानवच्छिष्ष-ग, } 2 \text { विझोषितज्ञान-ग, }
$$

ज्ञाने संभवात् स्पष्ट एव व्याघातः, भावरूपाज्ञानपक्षे तु सर्वस्यापि साक्षिवद्यतया न व्याघात इत्युक्तम्। तदेवं 'त्वदुक्तमथं न जानामी 'ति प्रत्यक्षं भावरूपज्ञानविषयमिति सिद्धम् ॥

एवं 'एतावन्तं कालं न किंचिदवेदिष' मिति परामर्शसिद्धं सौौुतं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव। नलु-परामर्शः: किमनुमानं, कि वा स्मरणम् । आद्ये ज्ञानाभाव एवानुमीयताम्, कि भावरूपाइानेन ; तथाहि-संप्रतिपन्षोद्यास्तमयकालवद्विवाद्पद्योरण्युद्यास्तमययोरन्तराककालमनुमाय तत्कालमहं ज्ञानाभाववान, अंस्याविशेषवत्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवच्वात्, तुल्ययोगक्षेम आत्मादौौ स्मर्यमाणेडपि तद्वत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वेति प्रयोगसंभवात्, द्वितीये तु नास्त्युपपत्ति:; संस्कारासंभवात्, विनइयदेव हि ज्ञानं संस्कारं जनयति; विना ठ्यापारं व्यवहितकार्यजननाक्षमत्वात्। अविनइयता तु संभवात्: प्रमत्वायहेडपि तदंशे तत्रकारकत्वे बाघकाभावादिति भावः। परतः प्रामाण्यमते कचित्रामाण्यसंशयस्योपपत्तये प्रथमानुठ्यवसायसामग्रचादेः प्रामाण्यग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पनात्त्वतः • प्रामाण्येत्युक्तम्। 'घटं जानामी' त्यन्नेव 'तनुक्षं ${ }^{1}$ घटं न जानामत्यत्र स्बरूपतो घटत्वं भाति, घटश्र तेन रूपेण विशोषणम्, तथाच तेन रूपेण ज्ञानस्य कारणㄹस्यवेक्षायां बवदुक्तार्थविशोषं न जानामीत्यत्रापि स्वरूपतो विशोषस्य भानात्वरूपतस्तज्ज्ञानस्यापेक्षायां च ठ्याघातो गूढ इति सूचयति-स्पष्ट इति। तत्कालमहं तत्कालावच्छिन्नोडहम्। तद्वत्तया ज्ञानवत्तया। नियमेन सर्वदा। स्मर्यमाणेऽपीत्यन्तं 'यदि तरकालमहं ज्ञानवानू स्यां तदा तद्धत्त्या ₹मर्यमाण: स्या' मित्यादितर्क-

[^179]तेन ख्वयमेव तर्कार्यस्य जनयितुं शक्यत्वात् किमिति संस्कारो जन्येत? न हि संस्कारोऽपि प्रत्यक्ष:, येन कार्यान्यथानुपपतिमन्तरेणाप्यम्युपेयते ; सौषुतुं चानाद्यक्जनोपरक्षं सार्ष्षिचतन्यरूंप ज्ञानं स्वतो वा उपाधितो वा न विनइ्यतीति संस्कारं कथं जनयेव्? तदभावात्कंथं स्मर्येत अ अस्मर्यमाणं वा कथं प्रमाणत्वेनोदाहियेयेति—ि-चेत्, न ताबदनुमानं तत्र संभबति; हेतोः पक्षविशेषणस्य चाज्ञानात् । न हि ज्ञानाभावमन्तरेणावस्यायां विशेषो वक्ठं शक्यः। ज्ञानसामग्रीविरहश्य ज्ञानाभावानुमेयत्वेनान्योन्याश्रय्रत्तः। न चेदानीन्तनेनेन्द्रियप्रसादेन पूर्वकालीनं तदुपरममनुमाय सामग्रीविरहानुमानम् ; इान्द्रियप्रसादस्य सुखान्तुभवंहतुकस्य तदुपरमहुतुकत्वासिद्धेः। नियज्ञापनाय, न तु हेतौ प्रविव्टम् । किमितीति । स्मृतेः स्मृतित्वादेवानुमबेन स्वयमेव' जनयितुमशक्यं्वात् संसकार: स्मृत्युपधायकतया सार्थक:, ज्ञापनस्य ${ }^{2}$ नारो सति तु सं एव संक्कारो लाघवादिति नेदे पुरोक्तं ${ }^{3}$ युक्तमिति घ्येयम्। स्मर्येतेति। अज्ञानमित्यादिः। बकुं शक्य इति। नच-प्राजपरिष्व्रकरूपा सुपुात्तिः श्रुल्यैव बोध्यत इति बाच्चम् ; सौपुप्तानुमवसिद्धस्यैव श्रुत्याडनुवादात् , श्रुल्यपतिसच्धानकालेडविं न किंचिदेवेदिपमिति प्रत्ययाच्च। सुखानुभवेति। सुपुपावि़ स्वरूपसुखानुभवोडस्तीति स एव प्रसादहेर्वु: । न च- स्वरूपपुखा-
 मिति-बाच्यम् ; स्वरूपपुखाकारवृत्ते: पसादहेतोः समाध्युच्रकाले चित्तावैयम्यकाले च सत्वेडवि पसादम्यापि तदा सत्वानुन्तनिशेषणादानात्कुखानुभवोठरकालीनत्बस्यैन प्रसादलेनेन तनेन्द्रियोपपमम्याप्रयो-

[^180]मेनास्मर्यमाणत्वं च यथासुतं वा सुषुसिकालाचच्छेदेनेति वा। अव्ये असिद्धिः। द्वितीये तूपेक्षणीयक्नानाभावो न सिद्धचेत, जकत्वाव, तन्मान्त्य प्योजकते तूक्तकाले प्रसादो न स्यात्, मरणकाले च स्वात्। न च—स्वरूपयुखाकारवृत्तावितरवृत्त्यभावस्य हेतुत्वास्सैव तत्रानुमाविकेति-वाच्चम्ं तस्या जागरे एकाभ्रमनोवृतिसत्व्वेडपि सत्व्वात्। एवं (च) बैैयिक्युखानुमादेवं ${ }^{1}$ पसाद इति आन्तिरिति भावः। सुषुप्तिकालावच्छेदेनेति। नियमेल्याधनुषज्यते, सुपुप्तिकालावच्छिन्नज्ञानलेना ${ }^{2}$ स्मर्यमाणत्वमिलर्थः । असिद्धिरिति। यघपि सुषुत्तिकालवच्छिन्नोडहं पक्ष:, तथापि तस्य ज्ञानवत्वेन भान्त्या स्मर्र्याणत्वमस्येयेति भावः। द्वितीयेत्विति ठु शब्दादसिद्धिर्यवचच्छिघते; सुषुत्विमात्रस्याव्यावर्तकतया पक्षी मूताहमर्थुु पुपेरेव निवेइएतया पक्षस्य तदीय पुपुष्तिकाहीनज्ञानवत्वेनानुभवितुमशक्यतया उक्रज्ञानवत्वेनाहार्ये्ञानस्यानुभवत्वस्वीकारेऽपि तस्याकारणतया च पुरुषान्वरस्यैव तेन रूपेण स्मर्यमाणत्वात्। नैचैंत- पुषुप्तिकाहीनाहमर्थस्पैव पक्षतया तस्य ज्ञानवत्तेनानुभवासंभवादा|घपष्षेडपि नासिद्धिरितिवाच्चम् ; सुछुत्तिकाऊस्य तघ्यक्तिलेनैव अक्षे निवेशात्। तथाच सुपुतेज्ञानसामान्याभावरूपतया स्वीयज्ञानाभावकालीनाहमर्थो ज्ञानवानिति ज्ञानस्यहार्यर्येडपि तद्याक्किमानहमर्थो ज्ञानवानिति घीरनाहार्यैव । हेतावपि तथा निवेशे द्वितीयेडप्यसिद्यिर्बोध्या। नच-जाग्रस्कालीनेऽहमर्थे ज्ञानामावासत्व्वाद्यमिचारोऽपि कुतो नोक्त इति—वाच्यम्; स्वसुपुस्तिकालीनज्ञानप्रतियोगिकाभावस्य साध्यत्वमिति भावात्। उपेक्षणीयेति। यः व्वकीयुुपुपयादिरुपयत्कारीनयद्विषयकज्ञानवत्वेन न स्मर्यते, स तकालीनतद्विषयकज्ञानपतियोगिकाभावस्याश्रय:, यथाइं

तंत्रैच व्यमिचारश्य। न च—तर्हि प्रातरनुभूतचत्वरे गजबानाभावज्ञानं कथमिति-वाच्यम्; ज्ञानातुपलबहैयैवेत्यवेहि। अनुपलत्धिज्ञानं च भावरूपाज्ञानेन लिन्देन। तथाहि-पूर्वकालेग्हम्, गजज्ञानाभाववान्, गजाज्ञानवच्चात्, यकैवं तबैचम्, यथा गजज्ञानवानहमिति, एवं सर्वत्राज्नानस्य ज्ञाताभावव्याप्यत्वेन तदनुमापकत्वम्। न च-सुषुप्तिकाले ज्ञानाभावानु मानार्थ भावरूपाज्ञानमिव रागाभावानुमानार्थ द्वेषोऽपि स्वीकरणीयः, तंद्विरोधिपदार्थन्नुमवं चिना तदभावानुमानायोगादितिवाच्यम्; भाचरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावेन वा रागाभावानुमानसंभवात्, तस्यापि तद्विरोधिव्वात्। अथापरोक्षतो ज्ञातेऽज्ञानाभावात्कथं परोक्षज्ञानाभावानुमानम्? सामग्रीविरहादिनेति .गृहाण। न चात्राप्यन्योन्याश्रयः श शब्दादीनां योग्यानां योग्यानुपलबछ्याभाबनिशयेन परोक्षज्ञानविरहज्ञां विनैव सामग्रीविरहानिश्ययाप्, सुषुम्तिकाले चेन्द्रियदिधिटितसामर्रीविरहस्य फलाभावं विना ज्ञातुमराक्यत्वेनान्योन्याश्रयांक्तः। न च स्मरणपक्षे संसकारानुपपत्तिः ; अज्ञानस्याज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिमास्यव्वेन शृत्तिनाशादेव संस्कारोपपत्ते:, अज्ञानवृत्रिप्रतिविम्बितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्। न च-जागरेड्प्यप्रातर्षट्ज्ञानबत्वेनास्तृतः प्रातर्षटज्ञानांभाववानिति सामान्यतो। ठ्याप्तिर्वाच्या; अन्यथा दृष्तनाभावात्, त习 चापक्षणीयज्ञानस्पैव निवेशे उपेषण्णायक्ञानस्याभावो न सिद्धघेदित्यर्थः। ज्ञानसामान्यनिवेशेडव्याहतत्रैवेति । उपेक्षणीयज्ञानघटित इत्यर्थ: । उपेक्षणीयज्ञानवत्वेनास्पृतेऽपि ताद्धा|ज्ञाना'भावस्यासत्वाद्यमिचार इति भावः। फलाभाव-

[^181]ज्ञानस्य चृत्तिवेद्यत्वे वृत्त्यमावदशायां संशयाद्यापत्तिरितिवाच्यम् ; अज्ञानविषयाज्ञानाभावेन तद्योगाव्, संशयादेस्तत्कारणीभूताज्ञानसमानविषयत्वनियमात्। मावत्वादिना संशये त्विष्टापत्तिरेव ; भावत्वादेः साक्षिवेद्यत्वाभावेनाज्ञानविषंयत्वात्, अज्ञानस्य स्वरूपेणिक साक्षित्वेद्यत्वात् । नदु—तदा ज्ञानाभावोऽपि स्तरूपेणैव भासताम्, सप्रतियोगिकत्वेनाभावझ्नान एव प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वाप्, अन्यथा ' प्रमेय' मिति ज्नानेऽ-七्यभावो न भासेतेति—चेन्न; साक्षिणा तावक्न स्वरूपेणाभावावगाहनम्; तस्य साक्षात्साक्ष्यवेद्यत्वात्। नापि शब्दादिना; तदानीं तेषामभावाव्। नाप्यनुपलबध्या; तस्याः प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षाया अजनकत्वात् । नच—दृष्टाभावान्तरविलक्षणस्वभाव एवायमभाव इति स्वरूपेण साक्षिवेद्योजस्तिति-. वान्यम् ; निर्विकल्पक्बुद्धिवद्यत्वे मावत्वस्यैवौचित्यात्, अन्यथा परिभाषामात्रापत्ते: 1 नजु ज्ञानविरोधित्वादेस्तदानतुभवेन 'नावेदिष' मिति तेनाकारेण कथं परामर्शः ? न; द्रह्टुर्यन्तःकरणतादात्म्येनाहम्गुल्धेखस्येव ज्ञानविरोधित्वादेरपि तदैवानुभूयमानत्वेन तदंशो परामर्शात्वानम्युपगमात्, सुषुप्तिकालीनस्य
मिति। हेतुमिति शेष: । अजनकत्वादिति। अन्यथा तया नेत्येवाकारकज्ञानस्य।पत्तिरिति ${ }^{1}$ भावः। तदैवेति। सविकल्पकवृतेरहहासारजन्यत्वेन ज्ञानविरोधित्वसविषयकर्वादिप्रकारकाविद्यावृर्चिर्न सुषुतौ
 ष्टवृति 'रिति । अज्ञानख्वरूपमात्रंशो स्तृैयैन ₹मृतित्वानुभवोपपतौ ज्ञानविरोषित्वाधंशो स्मृतितन्मूलवृत्विकल्पने मानाभावेनान्वयव्यतिरेका-

द्रष्छेरेव परामृष्टत्वात्। नन्वज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य जाग्रत्यपि विद्यमानत्वात्कथमज्ञानस्मरणम् ? न हि धारावाहिक्केष्वनुभवेषु तुल्यसामग्रीकेषुं स्मरणव्यवहारः; तथाच धरावाहिकोऽज्ञानानुभव इति वक्तन्यम्, न तु परामर्श इति, सत्यम् ; सुषुप्तयाख्यायास्तामस्या अज्ञानषृत्तेराशेन जाग्रति तद्विशिष्टाज्ञानस्य साक्षिणानुभूयमानत्वाभावेन संस्कारजन्याविद्यावृत्यैव सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानभानात्परामर्शत्वोपपत्तेः, केवलाज्ञानांशो तु तुल्यसामश्रीकत्वाद्धारावाहिकत्वमेव; अत एव कार्योपाधिविनारासंस्कुतमज्ञानमात्रमेव प्रलयोपमं सुषुस्सिरित्य-

- भ्यामहत्कारम्य सपकारकतृत्तिसामान्यह्तुता । वस्तुतो।इड्टा कारस्येव ज्ञानविरोधित्वसविषयकत्वादिरूपाणामज्ञानपरिणामानां सुषुपौत्तौं संक्कारतापन्न्वेन साक्षिभास्यत्वायोग्यत्व्वादेव तदा सप्रकारकृृत्त्यभाव इति नोकहेतुतावीति धेययम् । परामृष्टत्वात् स्मर्तृत्वात्। प्रमां प्रत्येव मनसः परिणामित्वेनाविद्यावृत्तिरूपन्मृतेरविद्यामात्रपरिणामित्वेनाविद्योपहितस्य साक्षिण एव तदाश्रयः्वामिति भावः। अविद्यास्टर्त्यैवेति । नच—जागरे बाधाभावादागन्तुकदोषाजन्यत्वाच सुषुंतिः समृतिवर्वा नावि-घ्यावृत्तिरिति-वाच्यम् ; अविद्यावृत्तिसामान्यस्य जागरे ब(ध्गत्वाद्धनियमात्। ब्रस्मज्ञानान्याबाध्यासु देहात्मैक्यादिगोचरासु चाविद्यावृत्तिषु च्थमिचारात्, सुषुप्तिपूर्वस्वमंदेंरेवगगन्तुकदे|शत्तसंभवाच । सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानेति । अज्ञानस्य विशिष्ट干वरूqमांत्रत्यर्भः । भानात् त्विषयीकरणत्र । केत्रलाज्ञानेति-विशिष्टद्वरूपान्याज्ञानस्वरूपेत्यर्थः 1 एकैंत निर्विकल्पकवृत्विर्विशिष्टकेवलाज्ञानख्वरूपद्वयविषयिका विशिष्टांश स्मृतिः केवलॉंशे त्वनुभव इति भावः । विनाशसंस्कृतं—विनाशरूपसूक्ष्प्रवस्थायुक्तम्। अज्ञानमान्रं तु न Abvaita Vol. II.

मिप्रेत्य वार्तिककारपादै: सौौुपाज्ञानस्मरणमपाकुतम्। तथा चोक्तम्-
'न सुपुलिसिविज्ञानं नाइ्ञासिषमिति स्मृतिः !
कालाद्यन्यवधानत्वान्न घत्मस्थमतीतभाक ॥।
न भूतकालस्पृक्पत्यक् न चागामिस्पृगक्षेते।
स्वार्थदेशः परार्थोर्थो विकल्पस्तेन स समृत:'।।
इत्याद्यव्याकृत्रक्रियायाम् । विवरणकारैस्तु - ' अभावप्रत्यया-

वृत्तिः ; सुषुप्तिकालमात्रगताया एकम्या वृत्तेः ₹्वीकार इति भावः। सुषुप्तिगेति-सुषुप्तिकालमात्रगतेत्यर्थः । एकेवाविद्यावृत्तिरविद्याविषयिणी सुषुप्तयादिकालं्थायिन $1^{1}$ न तु सुषुप्तिकालमात्रगता काचन बृत्तिः ; यन्नाशास्म्मरणमित्यर्थ:। अथवा प्रलये सुषुतौ च न वृत्ति० रित्याशयेन प्रलयोपममित्युक्तत्वाद्विज्ञानं जन्यज्ञानं सुषुप्तिगं नेत्यर्थः। कालाद्यव्यवधानत्वत् सुषुप्तिजाग्रक्कालयोः संस्कारकालं्यवधानाभावात्। ननु-सौौुप्तवृत्तिनाभाभावेऽपि सुखादाविव विषयनाशाद्विषयावच्छिन्नाननाशास्मृतिरस्तु, तत्राह—न हीति। आत्मस्थं अज्ञानम्। अतीतभाक् अतीतताभाक्। हेतुमाह—न भूतेति। प्रत्यक् अज्ञानोपहितसाक्षी। तेन उक्तहेतुना । विकल्प: न तु स्मृतिरुपो निर्विकल्प:। सः नावेदिषामिति प्रत्ययो विकल्पतां घटयति, यतक्तस्य प्रत्ययस्य स्वार्थदेशः सवार्थाधिकरणक: परार्थोऽर्थः विषयः अज्ञानरूपस्वविषयाधिकरणको ज्ञानविरोधित्वादिरूप: परार्थोऽज्ञानमिन्नार्थो विषय इति यावत्। अथवा विकल्पो अ्रमो यतः स्वार्थज्ञान ${ }^{2}$ दिनिस्ठतया परार्थ: स्मृतिविषयतायोग्योडतीतकालो विषय इत्यर्थः ॥

$$
1 \text { कालावस्थागिनी-ग } \quad 2 \text { स्वार्थाझ़्ना-ग. }
$$

अभ्ञान्रसभ्षलोपपत्ति:
लम्बना बृत्चिर्निद्रे' ति योगयूत्रानुसारेण तमोगुणात्मकावरणमात्रालम्बना काचिकृतिः सुपुझिरित्यमिप्रेत्य बदुपरक्तचैतन्पस्य तन्नोौैनैव नाशात्त्कालीनाज्ञानातुभवजनितसंस्कारवरोंन 'नं अभावपदं कार्यसामान्यध्बंसरूपसंसकारोपहितार्थकम्, प्रत्ययपदं च कारणपम्र। प्रतियन्ति लीयन्ते कार्याण्येतेति व्युत्वतेः; तथाच सर्वकार्यसंसकारोपहितं यत्रमोगुणरूपं स्वपरिणामिकारणं तद्विषयिका वृतिरिति सूत्रपदार्थः। अत एव स्वपितिनिरुक्तोपादने तमोगुणोद्रेक इतीक्षत्यधिकरणे भामत्यां सांख्यमते उतं प्रमाणविपर्र्यविकल्पस्मृतिरूपपूर्बस्त्रो क्तवृच्यन्तराभावकारणतमोगुणातुम्बनेति भामतीव्याए्यानमविरद्धमित्याशयेनाह - तमोगुणात्मककारणमात्रालम्बनेति । स्वमे बु नोक्तवृत्ति:, मिथ्यानाडीीमनःसंयोगमादाय तत्र निद्वां्यवहारः 'गाहमूढोडहमास 'मिति तमोगुणस्थैव म्मरणानद्विषयिकैक सा वृत्तिः। यत्त्वभावपदं प्रमृासामान्याभावार्थकम्, प्रत्ययवद्द साक्ष्वर्थकम्, तथाच प्रमाभावाकारा साक्ष्ष्पाकारा च वृतिरित्यर्थ इति,' तन्न; ताहृशवृत्तेजागरेरेपि संभवात् । अथाभावमात्राकरेति बाच्यम्, तदपि न; साक्षियुखाकारवस्य्यापि तत्र स्वीकारात्। अथाभावांडो सप्रतियोगिकत्वाविषयिक्केति वाच्यम्, तदपि न; अभावस्वरूपस्य निर्विकएप्पानुपदते:, अन्यथा अभाबत्वक्याघातात् । अथ प्रत्ययपेनाभावगतमिदंत्वादिषर्म विवक्षिल्वेदंल्वादिना प्रमाभावविषयिका बृचिर्वाच्या, तदवि न; निर्विकर्पकत्वन्याघातात्। न हि सुपुतौ साविकल्पं ${ }^{2}$ केनाव्वनुभुयूतें तदा सर्वस्य कार्यम्य लयेनाभावतद्यर्भद्ये: संस्कारतापन्वल्वेन साक्षिवेब्यत्वासंभबात्, अन्यथा जीवेशभेदादेरापि तदानीमनुभवापातात्। अभेदम्वरूपमात्रस्यानादिल्लेडपि सप्रतियोगिकत्वा-

किंचिदवेदिष' मिति स्मरणमभ्युपेतामिति वार्तिकविवरणयोरप्यविरोघः। अत एवोक्तं वार्तिककर्रुषस्तित्राब्बणे -

न चेदनुभवन्याप्तिः सुपुष्स्याम्युपेयते । नावेदिषं सुपुपोग्हामिति धीः किं बलान्नवेत् ।।

दीनामविघापरिणामित्वा|सीकाराव् सविकल्पवृत्तावह ह्नारस्य हेतुत्बाद्वा
 तेऽवि नुल्यमिल्याझयेन मात्रपदमुक्तम्। तमागुणस्वरूपमात्रगोचर्त्वमेव सूत्रार्थतया बक़ुं युक्तमिति भावः॥

इति धीः अज्ञानांशे म्मृतित्वेनानुभूयमाना घीः। सुषुपेति । धीरितन्व्वयः। सुषुपिस्वरूपुुखयेारिस्यर्थः। तेन सुषुप्ते नावेदिषमित्याकारखे सविकल्पकल्वेऽपि न क्षतिः। उन्कषियोऽज्ञानांशेडनुमवत्वं वक्तुं शक्वम्, न तु सुपुसचंशे स्वरूपपुखांशे वा; न हि विक्षेपबाहुब्यकाले जागेरे तदनुभवः संभबति। न च-कार्यसामन्यसंस्करेणोपहिते चैतन्याज्ञाने ₹्वरूपपुखसुपुपीत, तः्रफाइरूपचैतन्यस्योक्तसंसकारनाशरूपजामदवन्थायां नाशत्वस्वीकारात्तत एव तयोः स्पृतिरिति वाच्चम्; उत्कसंसकारस्य तनुभयाविषयकर्वातददात्मकजाम्रदवस्थायास्तदुभयविषयकसंसकारव्वासंभचात् । अथेत्तैैतन्यात्मकत्वस्यापि तस्यां स्वीकारात्तंभवंभति चेन्न ; चैवन्यवृंत्तिसाषररणविषयत्वस्याभाबादनुमिल्यादिचृतिनाशरूपसंसकाससाधारण्याय वृतिनिष्ठाकाररूपतुभयविषयताशालिसंस्कारस्य स्मृतिहेतुत्वस्य क्लम्त्वाहदुभयविषयकवृतेत्रावउ्यकत्वात् । किंच चैतन्यस्वरूपस्यैव सुखत्वात् जाय्यदादिकालेडापे तबनुभवपयुक्तनिरुपाघिकपेमदर्शनात् सुपुमयुत्तरमेव सुखमासमिति स्मरणमिल्यत्र बीजाभाव:, अतः सुखाकारसौपुपृृतिरावइयकी; सैवा-

इत्यादि । अभिश्रायस्तु वर्णितः। एवंच साक्ष्यज्ञानसुराकारास्तिस्रोजविद्यावृत्तयः, सुपुप्तयाखैयैंकैंत वा बृत्तिरित्यन्यदेतब्। निर्विंकल्पकस्यापि स्मरणजनकत्वम् । अहक्नरोपरागकालीनत्वाभावेन तत्तानुह्देख इत्यादि सर्वसुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दी। तस्मात्सौषुत्तातुभवोडपि भावरूपाज्ञानविषय इति सिद्दम् II

इल्यद्रैतसिद्दों अन्षानप्रत्यक्षत्वोपवात्तिः ॥

ज्ञानाकारा सुषा|़ः, तस्सूक्ष्मावस्थारूपा नाशश्ष तदविषयकोडाप 'तस्टृति-

 - विषयत्वं वा कर्व्यत इति नानवस्था। तथाचैताहछाधुपुपौ स्वरूपपुख चोक्कानुमवो न चेद्यम्युपयते, तदा नावेदिषमिति घंश्तनुभयविषयिका किनिबन्धनल्यनेन उनुभव्यविषयकख्वानुरोधेन साँपुत्तवृत्तिरावइयकी।



वार्णित इति। विवरणष्य योडमिप्राग उत्कः स एंन न चेल्यादिवार्तिकस्यापीत्यर्थः । जनकत्वमिति । अदृषदशररथव्वादिविशिद्टे शत्तिम्रहाघनुरोंेन पमृष्विशेषाणिकाया आकाशादिपदजन्यायाश्र स्मृतेः ₹ र्वीकारादिति शेषषः। तत्तानुल्द्येख इति। तंद्रशकालीनत्वरूपतचायाः सुपुतौ ल्रयंनाह छरक्राल एवानुभवात्तकारीनातुभवजन्यस्मृतेरेब तद्विषयकत्वमिति भाव:॥
 शक-ग.

## अथाज्ञानवादे अनुमानोपТचि:.

अनुमानमपि तन्र विवरणोत्तं प्रमाणम्।' 'विवादपदं प्रमाणश्ञनम्, स्त्रश्रागभावव्यतिरिक्तस्वाविषयावरणस्वनिवर्य्यखदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाइकत्वात्, अन्घकारे प्रथमोत्पब्रद्रदपप्रभाव ' दिति। अन्र प्रमाणपदं प्रमाणवृत्तेरेव पक्षत्वेन सुखादिप्रमायां साक्षिचैतन्यरूपायामज्ञानानिवर्तिकायां बाधवारणाय। धर्यंश्रम्रमाणवृतेरिदामित्याकाराया अज्ञानानिवर्तिकायाः पक्ष्रहिर्भावाय त्विवादपदामिति विशोषणम्। विछेषाकारग्रमाणवृत्तिरिति फलितोरर्थः। परोक्षप्रमाया अप्यसच्वावरणरुपप्रमातृगताज्ञाननिवर्तकत्वान तदंशेडपि बाधः।नन्निद्यिति प्रमाणवृत्तेरक्ञानानिवर्तकत्वे अज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रमात्वेन व्यवहारों न स्यात्, न; इदमाकारभ्रमसंशयादर्शनेन" तद्गोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन तत्र सुखादिज्ञानवद्यथार्थत्व-

तर्कै: सारस्वतै रलैक्षन्द्रिकाचन्द्रभूषणै:।.
दुरन्तध्वान्तनाशाय|्ञानाध्यक्षेपपादनम् ॥


## अथाइ़ानवादे अनुमानोपपत्तिः.

विशेषाकारश्रमाणेति । , वंत्वान्यम्य पमेल्यर्थः । भमालंब चोन्द्रियादिजन्यवृतिनिह्ठा जातिः। असच्वावरणेति। स्वविषयविषयकेल्यादि: । चथार्थत्वेति । ठ्यवहारकालावाध्यविषयकत्लेत्यर्थ: ।

मात्रेण प्रमात्वव्यवहारोपपत्तेः। यदाहुः्रु:

## 'धर्येंशे सवर्मभान्तं प्रकारे तु विपर्पय' इति ।

यदि तु अ्रमसंशयाजनकमपि तदाकारमज्ञानमनुभववलादासीयेत, तरिं सापि पक्षेडन्तर्भवतु, प्रमाणवृत्तित्वावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वानपायात्, तदा च विवादपद्मिति विशेषणमनादे यम्। एतस्मिन् पक्षे भ्रमोपादानत्व्योग्यत्व्वमविद्यालक्षणं द्रष्ट-
 घेयम् । धारावाहिकबुद्दीनां च तत्तत्कालावच्छिन्धार्थविषयत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमस्तेव ; कालस्य सर्वप्रमाणवेव्रत्वाभ्युपगमात् । अनात्माकारप्रमाणवृत्तीनiं च तत्तदवच्छिनर्नचतन्यविषयत्वेन

धर्म्यंशे— दंदंत्वांशे। प्रकारे ददंत्वान्यांशे। अ्रमोपादानत्वस्य— अ्रमोपषायकत्वस्य। कालावच्छिन्नेति। का लविशिष्टेत्यर्थः। न चततरक्षणानामतीन्द्रिय्त्वां •्यूलकालस्य च पथमज्ञानेन गृहीतत्वेन द्वितीयादिज्ञानानां तद्विषयकाज्ञाननिवत्रकववसंसव इति-बाच्यम् ; स्वोत्पत्तिकाओोस्पन्नस्थूलकाळम्यैय तत्तज्जानमाइ्यंव्वात्, क्षणानामतीन्द्रियत्वे मानाभावाच्च। न च--परोक्षापरोक्षयोंपटादिज्ञानयोंन्त्रल्यविपयकर्वानुभवादपरोक्षे कालो ${ }^{1}$ न विषय इति——ाच्चम् ; परोक्षस्यापि तद्विपयकत्वस्य परिच्छिनल्वेहतूपपादनेडम्माभिरुप्रादितत्वात्। धाराध्थेल वृत्यैक्य-
 संभवेन तार्किकादीन्भ्र्यपि प्रकृतानुमानसंभवात्। सर्वप्रमाणेति। परिच्छिन्नवहेतूपपादने विवेचितमेतत्। तत्तदवच्छिक्षेति। ज्ञानसामान्यसामघ्रचा एव ज्ञांबु तत्वदर्थोपहितचिद्वपसताविषयकत्वे प्रयोजकत्व-

$$
1 \text { अवरोक्ष कालं।-ग. }
$$

स्वविषयावरणनिवर्तकत्वमस्त्येव ; चिक्वेनैव प्रकाराग्रसक्तेः, न त्वनवच्छिन्मचिस्वेन ; गौरवात्, 'एतावन्तं कालं मय़ा न ज्ञातोऽयमिदानीं ज्ञात' इत्यनुभवाच । रूपादिहीनस्यापि तत्तद्वचिछछचचैतन्यस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वमुक्षं प्राक्। प्रतिकर्मव्यवस्थामम्युपगम्य चेद्मनुमानम्, न तु द्टष्टिस्टृष्टिपक्षे इति धयेयम्। साध्ये चाद्यं विरोषणं प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिष्टृतिरिति मते प्रागभावेनार्थान्तरवारणाय । तदुदीच्यध्वंसादिकमादाय नार्थन्तरम्रसकिः, कितु पूर्वषृत्यभावमादायेति वस्तुगतिमतुरुध्य प्राक्पदम् । अवैयथ्य च प्रतियोगिविशोषणत्वेनाखण्डाभावसंपादकतया। एतेन-यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति नियमस्तस्मात्स्वनिवर्त्यपदेनैन प्रागभावठ्युदासे किमाद्यविशोषणेनेतिनिरस्तम् ; प्रमावेन ज्ञाननिवर्य्यत्त्रमन्येषां नेत्यत्र तात्पर्यात् ।. न च स्वविषयावरणपदेनैन तद्यशुदासः; 'अस्ति प्रकाशत'

मित्यादि पूर्वोक्तं बोध्यम्। चिच्वेन-- चित्तबरूपकत्वेन ${ }^{1}$ । गौरवादिति। अन्यथा सुखाद्यवच्छिन्नचितः प्रकाईामावे सुखादेः परमतेऽपि साक्षिभास्यता न स्यादित्यपि बोध्यम् । न ज्ञातः। अं घटादि: अज्ञातचिद्वम्छेदकत्वाद्वटादावज्ञातत्वमिति भावः। प्रतियोग्यतिरिक्रेति। घटातत्र्रागभावो नष्ट इत्याघ्घनुभवाद्यथा घटजन्यस्तत्त्रागभावनाशः, तथा ज्ञानादज्ञानं नष्टमित्यतुभवाज्ञानजन्योऽज्ञान नाराः। प्रतियोग्येव प्रागभावनाश इति मते तु ज्ञानमेवाज्ञाननिवृत्तिरिति तदनुसार्येव साध्यम्, न तु यथेक्तमिति भावः। अवैयथर्यमिति। संभवपाचुर्येणदम्। साध्ये व्यर्थविशेषणत्वस्यादोषत्वाद्दोषत्वेऽपि प्रागभावत्वस्याखण्डोपाधे: प्रकृते निनेशोनाभावत्वानिवशात् शरीराजन्यत्वादाविव वैयर्य्यशाकाविरहादिति ध्येयम्।

$$
1 \text { चिस्स्वस्प्त्वेन-ग. }
$$

इति छनवहारतिरेधित्वरूपस्यावरणत्वस्य भावाभावसाधारणत्वाप्। वृत्तिजनकादृष्टनार्थान्तरवारणाय तु विशेषणमिदम् । न चावरणपदेनैन तद्वयुदासे स्वविषयेति ठ्यर्थम् ; यदृद्टष्टं स्वविषयज्ञानजनकं त्विषयान्तरज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावारकं ताद्यादृष्टपूर्वकत्वनार्थन्तरत्रारकत्वात्। न च—जडे अज्ञानस्यानड्गीकाराचितश्राज्ञानादिसाक्षितया भासमानत्वात्कावरणमिति - वाच्यम् ; अज्ञानादिसाक्षितया चितः प्रकाशमानत्वेऽपि 'अस्ति प्रकाशात' इति ठ्यवहाराभावेन तदंशोडज्ञानावरणस्यावइयकत्वात्। वक्ष्यते चैतत्। स्तनिवर्त्येति च विशोषणं वृत्तिविरोधित्वेति—प्रतिबन्धकत्वेत्यर्थः। चाक्षुषबृत्तिप्रतिबन्धद्वारा तमस इवाज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य चोक्तव्यवहारानुत्पादप्रयोजकत्वेन तत्पति"बन्धकत्वमिति भावः। इदं म्वविषयावरणेत्येवं रूपम् I' अदृष्टस्य चरमफलनाइयत्वेन म्वाह्मकचरमफलुजनकम्य स्वनिवर्त्यत्वाचद्वारणायेदामिति भाव:। वाचकत्वादिति। नच-तथापि स्वजनकं स्वसमानविषयकज्ञानान्तरप्रतिबन्धकादृष्टमादायार्थान्तरामिति --वाच्यम् ; आलंकविषयाप्रसिद्रघा व्वविषयविषयकोक्त ${ }^{1}$ न्यवहारनिवेशासंभवेन स्वप्युक्कोक्तव्यव़हारप्रतिबन्धकत्वनिवेशात्, ज्ञानान्तरप्रतिबन्धकम्य स्वप्रयुक्तोक्तन्यवहाराप्रतिघन्धकत्वात् । तमम्व्वालोकजन्यस्वनाशार्धनचाक्षुषपतिबन्षद्वारा चाक्षुछजन्ये आलोकपयुक्तोक्तंयवहांर प्रतिबन्धकमित्यालोके साध्यावैकल्यम्। अज्ञानमपि म्वनाशद्वारा वृत्तिपयुक्तोक्तन्यवहारे साक्षादेव प्रतिबन्ष्ठकमिति विवेचायेप्यते। तदंशो--जडांशो, तदंशे उ्यवहाराभांवन तदंशावचछछेदेन चित्यावरणेऽ干्या ${ }^{2}$ वइयकत्वादित्यर्थः। अज्ञानावच्छेदकत्वेन साक्षिभा₹्यस्य तेन रूपैणैव ' अम्ति भाती' ति व्यवहारो

$$
1 \text { स्वविष यकांक्त-ग. } 2 \text { चिल्यावरणF्य-ग. }
$$

प्रतिबन्धकाद्टेट्टनार्थन्तरवारणाय। न च-चरमसाक्षात्कारोत्प|त्षिप्रतिबन्धकादृष्टस्य तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धिः, तश्विवर्त्यत्वे तद्वधुद्सनमशाक्यमिति--वाच्यम् ; प्रतिबन्धकादृष्टे विद्यमाने न ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रथमं तन्मिबृतेः कारणात्मना स्थितस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाच मिथ्यात्वम्। न चैवमपि स्वनिवर्त्यत्वमव्याहतम् ; स्रनिवर्य स्वरूपत्त्वे तात्पयांत् । अन्धकारेणार्थन्तरवारणार्थमिद्यमिति केचित्, तन्न ; स्वदेशागतेत्यनैनैन तद्वधुदासात्। यथा च वृत्तिप्रतिब्बिम्बितरैतन्यस्य विषयावच्छिब्म-

न तु केवलघटत्वार्द्रिनेति भावः। तात्पर्यादिति। ज्ञानपयुक्तो। यद्वस्थासामान्याभाव+्तत्त्वं मिध्यात्वमित्याय्युक्तम्, पकृते तु खनजन्य-नाइप्रतियोगित्वरूपं स्वनाइयत्वं प्रविष्टमिति भावः। तद्वनुद्वासादिति। स्वदेशगतत्वं स्वाश्रयतावच्छेद्दान्यदेशानवच्छिन्नाश्रयताकत्वं वाच्यम् ; अन्यथा स्वाश्रयगतत्वमांत्रेण विषयगताज्ञातत्ववारणस्य वक्ष्यमाणस्यासंभवात्। स्वाश्रयत्वगतंत्व ${ }^{1}$ हि तादास्यसंबन्धेन निवेइये ${ }^{2}$ तादाअम्यैनैवालोकतमसोर्वृत्यज्ञानयोश्चैकचिति सत्वात्। तथाच विषयगते। ज्ञातत्वाभावोर\{प बृत्तितादाल्ये च" विषयचिति तादात्येंैनव संबद्धः। एवं च तमसो वृत्तितादात्म्यापन्नचितादास्म्येऽपि वृत्याश्रयतानवच्छेदकदेशावच्छिन्न्वेन व्युदासः। न हि तमो वृत्त्यवच्छेदकदेरौनैवावचिछछघते, मानाभावात् । अज्ञानं तु वृत्तिनाइयत्वानुरोधात्तथाभूतस्यैव वृत्तिनाइयं्वात् । नच—-तथाभूतम्तमोऽवयवः संभवतीति बाच्यम्; तमसः सावयवत्वे मानाभावात्। स्वल्पदेशक्थालोकेन च बहुदेदेशச्थतमसो नावयवनाशः, किंतु तस्यैव नाशो सति आलेकासंयुक्तदेशे तमोन्तरोत्पतिः। दृष्टन्तन्तु च्वन्यूनदेशावृतितमानाशका-

$$
1 \text { गतत्वं-ग. } \quad 2 \text { निवेइयं-ग. } \quad 3 \text { वृंत्तेतादाएक्यवल्यां-ग. }
$$

चैतन्येन सहैकलोलीभावादज्ञाननिवर्तकत्वं तथात्तं प्राक्। ₹ंद्येशगतेति च विशेषणं विषयगताज्ञातत्वेनार्थान्तरवारणाय। यद्यप्यविद्याविषयत्वरूपमक्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वाभावरूपं तु प्रथमविशेषणेनैव परास्तम् ; तथापि प्रथमेन प्रागभावन्युदासा दत्यन्ताभावव्युदासायं चतुर्थमिति - द्रष्वव्यम् । नतु-कयं ज्ञानाश्रयगतत्वमझ्नानस्य ? बृत्यादिरुपस्य ज्ञानस्याज्ञानाश्रयचिदनाश्रितत्वादिति --चेन ; अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तबृत्तेस्तत्र्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रितत्वसंभवाव्, लोक इति न साध्यैकल्यम् । विषयगतोऽज्ञात:वाभावस्तु बृत्ययवच्छेककदेशेनाप्यवच्छिघत इति तद्वारणमिति भावः। तथेन्कमिति। तथाच विषयचिद्रताज्ञानमवि प्रमाश्रयचिद्याश्रितमिति भावः। असिद्यम् विषयावृति। अविद्याविषयतावच्छेककत्ं त्ववियासिद्दे: पूर्वमसिद्धत्वेनोद्इइयसिद्विकरख्वान्नार्थन्नरंसंपादकमिल्यपि बोध्यम् । अत्यन्ताभावेति। सामयिकात्यन्तांभावम्य प्रतियोगिनाइयव्वमत इल्यादिः तेन मतन्तरे तस्य :्वनिवर्त्यदंकैनैव वारणेऽपि न क्षतिः । चिदनाश्रितत्वादिति । शुद्धस्याज्ञानोपहितस्य बाइज्ञानाश्रयत्वात्त्य च वृत्त्यादिर्वपज्ञानाश्रयत्वमिति भावः। चिदाश्रितत्वेन अज्ञानापहितचिदाश्रित्बेन। चिदाश्रितत्वेति—उन्तचिदाश्रितव्वेत्यर्ध:। अञ्ञानिंपहितािदेदव ज्ञानाज्ञानयंराश्रय इतिंभावः॥

ननु-चुद्द्या्याजानाश्रयंत्व तथापि दोष:, न चाझ्ञानपरिणाममनसोडपी तत्पक्षे खुद्धाश्रित्बेन तस्यरिणामवृत्तेरीि तद्वाश्रितव्वमितिवाच्यम् ; अज्ञानोपहिताश्रितम्य मनसः ग्युद्याश्रितखासंभवाप् , अन्यथा छइपत्वमिथ्यास्बद्रेपि शुद्याश्रितत्वापते:। अत एवाज्ञानम्य स्वोपहिताश्शितत्वपक्षेड्य्युपपतिः ; ज्ञानस्यापि स्वोपहिता|भ्रितत्वेनाइझानोप-

किचिद्वच्छिषतदाश्रितस्यापि तदाश्रितत्वानपायात्, कर्णशाधकुल्यवच्छिष्माकाशाश्रितस्य शब्दस्याकाशाभिश्रतत्व़वत् । एवं च भावाभावसाधारणमावरणमिति मतेन साध्यमुपपादितम्। अभावो नावारक इति सिद्धान्ते तु साध्यद्वये तात्पर्यम्।

हितनाश्रितत्वात्तन्ह —किंचिद्वच्छिन्नतदिति। अज्ञानोपहितचित एव वृत्त्युपहितत्वेन स्वोपहिताश्रितमपि ज्ञानमज्ञानोपहिताश्रितमिति द्वितीयपक्षे न दोष:। अज्ञानम्य शुद्धाश्रितत्वपक्षेडपि शुद्धस्यैवाधिछ्ठानत्बेन तत्तदुपाधिसंबन्धात्तदाश्रितत्वं ज्ञानस्याविरुद्धम्। आकाशाश्रितत्वेति। तार्किकादिमते गुद्धाकाशमिन्नत्वेनाम्युपगतस्य कर्णावच्छिन्नाकाशस्य धर्म: शबबदो यथा शुद्धाकाशास्यापि धर्म: ; अन्यथनशुद्धाकाशस्यातीन्द्रियम्य शब्दाश्रयत्वेनानुमानासंभवात्, तथा मन्मतेऽपि उपहितचिति शुद्धस्याधिष्ठानत्वेनानुगमात्त्रतीतौ प्रतीतेश्षं 'तमेव भान्तमनुभाति सर्ब'मित्यादिश्रुतेरुपहितचिद्दाश्रयस्यापि तदघिष्ठानचिदाशश्रितत्वम्। हृइयत्वं तु शुद्धचित्तादांम्यादिरूपत्वान्न शुद्धनिष्ठम् ; अभेदे संबन्धविरहात्, मिध्यात्वमपि न शुद्धनिष्टम् ; त₹साघकहृइयत्वादे: शुद्धनिष्षत्वाभावात्, श्रुत्यादिना शुद्धझ्य सत्यत्वप्रमितेश्च। तथाच बाषकं विनोपहिताश्रितस्य शुद्धचिदाश्रितत्व्वमिति भाव:। यथाश्रुतस्वदेशगतत्वानुसारेणेदुमुक्तम् । विवक्षितं तु स्वाचच्छेदकदेशान्यावच्छिन्नत्वम्वरूवं ${ }^{1}$ घटावच्छिन्नपल्लवाज्ञान इवानवच्छिन्नमूलाज्ञानेऽc्यस्तेब। न हि स्वोपहितचिन्मात्रगताया अपि ब्नद्माकारवृत्तेंघटाब्यवच्छिन्नत्वं न संभवतीति ध्येयम्। आवरणं अस्ति प्रकाशत इति व्यवह्रार्रतिबन्धकत्वम् । नावारकः नोक्तप्रतिबन्धकः। सिद्धान्ते अस्मस्सिद्धान्ते। अवइयाभ्युपेयस्याज्ञानस्यैवोक्कं्यवहारप्रतिबन्धकत्वम्,

$$
1 \text { च्छिघ्वर्वृं-गा. }
$$

## स्वप्रागभावातिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकामित्येकम्।

न तु ज्ञानाभावस्य ; तद्विधयकाज्ञानत्वापेक्षया तद्विषयक्ज्ञानाभावत्वस्य गुरुत्वात्, अज्ञानत्वस्याखण्डस्यावरणशक्तिरूपस्यैव निवेशात् ॥

नन्वज्ञानस्यापि ${ }^{1}$ प्रतिबन्धकत्वे मानाभावः ; असत्त्वापादकाज्ञानशन्यचिद्रूपस्यास्तित्वस्याज्ञानशून्यचिद्रूपस्य भानस्य च व्यवहारे उक्काज्ञानस्याज़ानसामान्यस्य चानुपलबधेहे तुत्वात्, उक्तँयवहारकाले उक्काज्ञानसत्त्वे तदनुपलबध्यसंभवेन तत एवंक्तन्यवहारानुत्पादेनाज्ञानपतिबन्धकत्वकल्पनावैयर्य्यमिति चेन्न ; यत्र हि प्रतियोगिसत्त्वेऽप्यभावक्यवहारकाले प्रतियोग्यनुपलकिधः, तंत्रव तस्या हेतुत्वम्; अज्ञानक्य तु सत्त्व मुषुप्तिसमाध्यादिकाले यद्यपि तद्वैशिष्टचानुपलबिष:, तथापि तद्भावठ्यवहारकाल न संति न तस्या उक्तन्यवहारहेतुत्वम् ; कितु लाघवादज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकत्वम्। न चाज्ञानाभावस्यानुपलबघत्वत्यागे साक्षिभास्यत्वमेवास्तु, अज्ञानसत्ते च तदभावासत्व्वान्नोक्तचयवहार इति—वाच्यम्ं ; मन्मतेऽत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसत्वेडापि नद्वति सत्त्वेनाज्ञानकालेडपि तद्वभावस्य साक्षिभास्यतापत्ते: अथैवं शुक्तिरूप्याह्यभावव्यवहारेऽपि शुक्तिरूप्यादेः प्रतिकन्षकत्वमव्यास्तामिति चेदास्त एव i तस्मानुक्तास्तित्तभानयोरविद्यावृतिरूपे ब्यदहारे उक्ष|ज्ञानप्रतिबन्घकत्वमावइयकम्, शब्दरूपमांत्र उयवहांर तत्रतिबन्षकत्वे तु तयोः न्फुरणं नुर्वारम्; य यद्घपि मन्मते प्रतिबन्बकाभावः कारणं नोच्यते, तरक्कारणत्वेडप्यज्ञानसंत्रेंडपि तद्वभाबसत्वेनोक्तव्यवहारापत्तिश्र, तथापि प्रतिबन्षकम्य सर्वत्र कारणनिष्ठशक्तिविषटनद्वारा कार्यनुत्पाद्रयोजकत्वात्रकृते विपयविधया अम्नित्वादे: स्वाकारवृचिकारणत्वात्तान्निष्ठशक्किविघटकत्वमज़ानम्यति ध्येयम् ॥

$$
1 \text { तन्वज्ञानस्यांप ग. } 2 \text { ब्वयभ्य चेति-ग. }
$$

स्वविषयावरणस्वनिवर्य्यस्वदेश्यतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्यपरमिति न किचिदसमअसम्। हेतौ च प्रकाशकत्वं प्रकाशकपद़वाच्यत्त्रम् , अग्रकाशविरोधित्वं वा ज्ञानाल़ोकयो: साधारणम् । यद्यपि प्रकाशकपदवाच्यत्वं नामकरणवशाव् कस्मिंभित्थिपुरुषेडप्यस्ति;


#### Abstract

अपरमिति। साध्यद्वयेऽपि वस्त्वन्तरपदं प्रमामात्रस्य अ्रमपूर्वंकर्वसिद्धिमादायार्थन्तरस्य वारणाय स्वनिवर्त्यजन्य ${ }^{1}$ अ्रमान्यार्थकम् । यद्धपि द्वितीयसाध्ये स्वदेशगतत्वं न विषयगताज्ञातत्ववारणाय ; प्रागभावस्येवात्यन्ताभावस्यापि ज्ञानीयम्य स्वॉवॉषयावरणपदेनैव वारणात्। तथापि जीवेशविभागपूर्वकत्वेन त्रह्मपमायां सिद्धसाघनवारणाय तत्, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्धेरयत्वेऽपि पमामात्रमैकैकं जीवेशविभां निवर्तयति; तस्यैव क्टप्तजातीयस्ग स्वविषयावरणत्व²भप्यास्ताम्, नाम्तां चावारकम्य तस्याभावत्वेन सौषुप्रनिर्विकल्पकविषयत्वम् ; नावेदिषमित्यस्यानुभवत्वसभंवादित्यर्थन्तरात्। नचैवं-विषयगताज्ञातत्वस्य सिद्धान्ते आवरणत्वानकीकारेऽपि कलट्तस्य तस्यैवोक्तस्वविषयावरणत्वमास्तामिति परेण वक्तुं शक्यत्वात्तदादायार्थान्त• रसंभवादेकमेव साध्यं कुतो न कृतमिति-वाच्यम्; परमते हि ज्ञानमात्रमास्तित्वं प्रत्यक्षं च भानं वाध्यम् ; तथाच कारणाभावतयेकष्यवहारस्यानुत्पादे विषयगताज्ञातत्वस्योक्तपयोजकत्वेऽपि कारणगतशक्तिविषटनद्वारोक्तप्रयोजकत्वरूपप्रतिबन्धकत्वस्य निवेशेडर्थान्तरासंभवः । जीवेशामेदादेन्तु मन्मतरीत्योक्रप्रतिबन्धकत्वमादायार्थान्तरं परेण वक्तुं शाक्यते। एकसाध्यवादिनां प्राचां तूक्तद्वारनिवेशम्य विषयाज्ञातत्वषारणमेव प्रयोजनम्, तच म्वदेशगतत्वपागभावान्यत्वाभ्यामेव सिध्यतीति स व्यर्थ इल्याशाय इति ध्येयम् ॥


$$
1 \text { नित्त्त्य जन्यु-ग. } \quad 2 \text { वरकत्व-ग. }
$$

तथापि प्रकाशकराब्द्नेन शास्त्रे सर्वदेशकालयोर्वा व्यवह्डियमाणत्बं तद्विवक्षितम्। अथवाऽस्तु साधारणम्। अप्रकाशितार्थगोचरेति विशोषणाब्यमिचारन्युदास: । अप्रकाशितत्वं च 'न प्रकाशत इति' व्यवहारगोचरत्वम्, तन्च स्वग्रकाशचैतन्ये $ऽ प ् य-~_{\text {- }}$ ₹तात्युपपादितम्। एवं निरुक्तार्रकाशाविरोधित्वभपि ज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्रम्। उतं च विवरणे-‘’्ञानप्रकाइयत्वादज्ञानविरोधित्वादन्यद्येवालोक्रकाइयव्वं तमोंश्रोषित्बं नामेंति । उत उमयोरेव साक्षाद्रकाशविरोंघित्वसंसवाबेन्न्रियसबिकर्षादौौौ व्यमिचारः। एवं चाप्रकाशितार्थोगचरत्वे सति

प्राइशब्देन हक्षणया ज्ञानालोकमिनेडवि व्यवहारादाह— सर्वरदेशकालयोरिति। सर्वदेशोणु वयवह्द्वियमाणत्वं व्यवहारयोग्यत्वम्, प्रकाशपदस्यानादिसकेतत्वमित्र ${ }^{1}$ यावत्। विशेषणादिति। अपकाशितार्थगोचरत्वं अप्रकाशितार्थे प्रकागत इति ठयवहारस्य प्रयोजकत्वम् ; तच्च अज्ञाननाराद्वारा ज्ञाने; तमोनाशार्धीनचाक्षुषद्वारा आलोके च बोध्यम् । तेनालोकम्य विषयरूपगोचराप्रसिद्धचा न साधनवैकल्यम्। चैतन्येडपीति । न प्रकाशत इति ठयवहारः प्रकाशविरोध्याश्रयविषयकः, ताहशाश्रयत्वं च यद्यपि तमोऽज्ञानयुक्ततयालोकज्ञानयो:, तथापि तदवच्छेदकत्वाद्धटादावपि न प्रकाशत इति च्यवहार इति भावः। निरुक्तेति। न प्राशात इति'व्यवहारगेचररूपेत्यर्थ:। ताहशोड्रकाश़्त्तद्विरोधित्वमित्यर्यः। ज्ञानप्रकाइयत्वाप् ज्ञानमयुक्तनाशावत्त्वात्। अज्ञानविरोधित्वात्। अज्ञानस्य नारयत्वरूपविरोघित्पघटिताज्ञानम्रयुक्ताज्ञाननाशावत्त्वपर्यवसितादिति याबत्। •तमोविरो-धितवं-तमसो नाइत्वेन घटितमालंकमयुक्तममोनाइवत्त्वपर्यवसित-

$$
1 \text { म्रेत्तवत्व्वमिति -ग. }
$$

प्रकाशाशब्दवाच्यत्वत्य अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वादिति वा हेतु: पर्यवसितः। विपर्ययविषयस्तु नाज्ञातः ; विपर्ययान्यकालासच्वेन तस्यानिर्वचनीयस्य मानगोचरत्वाभावेन प्रकाराप्राकालसक्चघटिताप्रकाशितत्वासंभवात्, अत एव स नाप्रकाशविरोषी; स्वविषये अभ्रकाशामावाव्, अधिष्ठानाप्रकाशास्तु तस्य जनक एव । स्मरण च ब्यमिचाराभातः स्पष्टः । अनुकूलतर्कश्न ' व्वदुक्तमर्थ न जानामी'ति प्रतीत्यन्यथानुपपत्यादिरूपः प्रागुक्त
मिति यावत् । वाच्यत्वात् अनादिसक्षेतविषयत्वात् । उक्तगोचरत्वस्याधुनिकप्रकाइपदसकेतविषयत्वस्य च सनिकर्षादौ ठ्यमिचारित्वे• नोक्रवाच्यत्वमेवोपसंह्हतम । प्रकाशत्वादिति । यद्यपि विरोधित्वन्त. एव हेतु:, तथापि विरोधित्वं नाशकतावच्छेदकरूपम् ; तच्च पमात्वमालोकत्वं चोक्तावच्छेदकत्वेनानुगतं हेतु: 1 ज्ञानत्वमालोकत्वं चं प्रकाशपद्वाच्यतावच्छेद कत्वेनाघहेतौ प्रविष्टमिति ज्ञापायतुं प्रकाशत्वादित्युक्तम् 1 तावता च पक्षीमूतप्रमादृष्टन्तीमूतालोकयोरन्यतरत्वं वा हेतुरित्यपि सूचितम् । सत्यन्तव्यावर्त्यमाह -- विपर्यंयेत्यादि । नाश्ञातः-नोक्ताप्रकाशितः । घटितेति व्याप्तेत्यर्थः । अत एवेल्यादि । तथाच सत्यंतं द्वितीयहेतौ न देयमिति भावः। जनक पवेति। न नाइय इति ऐोष:। स्पष्टः-द्वितीयहेतौ स्पष्टः। प्रमात्वस्य विरोधितावच्छेदकस्य स्मरण|वृत्तित्वात्पथमहेतावपि प्रत्यक्षाविगृहीतार्थकशब्दादिवृृतौ ठ्यमिचारवारणाय न प्रकाशत इति ठ्यवहारगोचरस्य नाशां द्वारीक्टत्य प्रकाशात इति क्यःहारप्रयोजकत्वस्य सत्यन्तेन वाच्यत्वादव्यमिचारः। विशोष्यद्वळं तु सलिकर्षदिवारणायेति ${ }^{1}$ बोध्यम्। न चासिद्धि: ; न प्रकाशत इति व्यवहारगोचरत्वेन
यैवेति-ग.

एव। एतेन गोराब्दवाच्यत्वेन पृथिक्या अपि शृक्रित्वानुमानापातोडपास्तः ; तत्रानुकूलतर्काभात्रात् । अज्ञानस्य स्वरूपेणाज्ञानाविषयत्वेऽपि तन्भावत्वादिकमज्ञानविषयो भवत्येव ; तस्याज्ञानग्राहकसाक्ष्यग्राद्यत्वात् । अन्यथा तत्र विवादो न स्यात् । एवं प्रमाया: स्वविषयावरणभावपूर्वकत्वमपि न प्रमास्तरूपग्राहकसाक्षिग्राह्यम्। तथाच तड्रूाहिकाया एतस्या अनुमितेः साध्यसाधनोभयाधिकरणत्वान्न कोऽपि दोषः। दृष्टान्ते चान्धकाराव्यवहितोत्पच्चिकत्वं विशेषणम्; तेन न प्रथमपदवैयथथ्यं

पराम्युपगतस्य प्रकाशपागभावस्य प्रकाशनिवर्ष्यत्वेन प्रकाशत इति亏ँयवहारप्रयोजके तन्नाशो प्रयोजकत्वक्य सत्यन्तपर्यवसितार्थंस्य पक्षे सत्त्वाप्। न चोक्तनाशो नोक्तव्यवहारप्रयोजकः, किंतु प्रकाश एवेतिवाच्यम्; कालादिविधयोक्तनारो ठ्यधिकरणप्रकाशम्यापि प्रयोजकत्वेनास|धारणस्य नाशाप्रयेजकत्वस्य लाभायैवाघ्यपोजकान्तस्योकत्वेन हेतावनिवेशात्। अन्यथा वैयर्थ्यात्। अत एव ${ }^{1}$ तमसो द्रव्यत्वानड्गीकारमते न साध्यसाधनवैकल्यम् ; आलोकभागभावम्यालोकनिवत्येत्वादिसत्त्वात् 1 अत एव द्वितीयहेतुरापि नासिद्ध इति ध्येयम् II

तद्राहिकाया: अज्ञाने भावत्वादि प्रमायामुक्तपूर्वकत्वं च गृहनंत्याः । साध्येति । भावत्वाद्यज्ञाननाशकत्वेत्यादि़: ${ }^{2}$ । दोष: प्रसि।द्धैब बाधौ। अन्धकारेत्यादि। स्वसमानाधिकरणतमःकालतृतित्व।मित्यर्थः। नेनोत्पत्य्यादर्वर्यर्थत्वेडपि न क्षतिः। वैगथग्य अर्थशून्यत्वम्। अन्धकारंत्यादिकमेव प्रथमपदार्थ इति भावः। उक्कविशेषण-

$$
1 \text { तमो-क. } \quad 2 \text { त्वेनःगाएँ:-ग. } \quad 3 \text { अस्धाज-ग. }
$$

Adovatra Vol.. II.

न वा द्वितीयादिप्रमायां साध्यसाधनवैकल्यम् 1 विस्तरेण चान्यत्र व्युत्पादितमिदमस्माभिः ॥

व्यावर्त्यमाह-न वेति। वैकल्यमिति। साध्यैवैकल्यं नेत्यपि बोध्यम्। साध्यसाघनयोरप्रकाशनाशोपघानं प्रविष्टम्। अन्यथेक्तपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन तदासिद्धचार्थन्तरापत्तेः । तथाचोक्तविशेषणाभाषे दोष इति भावः ॥

अश्रमस्वामिनस्तु—जन्यसविकर्पकाजन्या घटचाक्षुपप्रमा स्वविबयावरणस्वनिवर्त्यवस्तन्तरपूर्विकेत्येकम्। स्वविषयावरणत्वं स्वजननायोग्यत्वम्, स्वनिवर्त्यत्वं स्वजन्यनाशप्रतियोगित्वम्, वस्त्वन्तरं स्वभिन्नम् । तन्च स्वकालपूर्वकालवृत्तिस्वमादायार्थान्तरादुक्तम् । इच्छा॰ प्रागभावादिनार्थन्तरात्त्वनिवर्लेति। प्रतियोग्यन्या प्रागभावस्य निवृतिरिति मते इच्छाप्रागभावो न ज्ञाननिवर्व्य:; कित्विच्छानिवर्वयः i' स्वप्रागभावमादायार्थान्तरात् स्वविषयादरणेति । स्वंभागभावन्यस्वनिबर्स्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्यपरं साध्यम्। स्वसमानाधिकरणपागभावन्यार्थकमाद्यमिच्छाभ्रान्तिभागभावादिनार्थान्तरस्य वारणाय। आत्मत्वादिनार्थन्तराद्दूतीयम्। स्वजनकाद्टष्टादिनार्थन्तरात्ततीयं ₹्वसमानाघिकरणयेग्यार्थकम्। अथवा एकमेव साध्यम्। स्वदेशगतत्वं स्वाश्रये वर्तमानत्वम् ; तेनोपादानपत्यक्षविषया संयोगादे: पक्षीकृतप्रमाजन्यत्वेन संयोगादिप्रा।भावस्य स्वनिवर्त्यत्वादर्थान्तरस्य करण ${ }^{1}$ मित्याहुः ॥।

तत्र "यद्यपि यथाश्रुते पटचाक्जुषोचरघटचाक्कुषप्रमायां सिद्धसाघनम् ; भिन्नविषयकानुमित्यादिसामग्रीकालीनषटचाक्षुषच्छाजन्यत्वे ${ }^{3}$ तस्या: ${ }^{4}$ पटविषयकत्वेन पटसविकल्पकाजन्यत्वेन पक्षत्वसंभवात्, तथापि योग्यत्त्मगुणाठ्यवहितोत्चरान्यस्य सविकल्पाजन्यपदेनोक्त-

$$
1 \text { वारण-ग. }{ }^{2} \text { तब्न-ग. }{ }^{3} \text { जन्यत्वेन-क ग. }+4 \text { पाविषय-क. }
$$

# नन्वनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा न निब र्यनिष्ठम् ; अनादिभावमात्रत्टत्तिधर्मत्वात्, अनाद्यभावविलक्षण- 

त्वान्न ढ़ोषः। परमते निर्विकल्पकाव्यवहितोत्तरत्वस्य पक्षे सत्वाधोगयेति। सविकल्पकषीसुखादेद्योग्यगुणत्वान्न तेन सिद्धसाघनम्। अत एव अ्वप्रागभावपदं स्वप्रागभावार्थकं, स्वविषये संशयादिजनकं स्वविषयावरणं, स्वसत्ताक्षणनियतध्वंसप्रतियोग्येव म्वनिवर्त्यम् । तथाच प्रागभावो डपि परमते विशोषादर्शानतया संशयादिजनकः। तथाच स्वप्रागमाव₹्वजनकादृष्टमनःसंयोगतमसां वारणाय कमेण स्वप्रागभावेल्यादिचतुष्टय|मिति आश्रमोक्तन्याऱ्यानान्तरपक्षेऽपि घटसंशयपूर्ककत्वमादाय न सिद्धसाघनम्; धर्मिज्ञानविधया घटसंशयस्य घटसंशयन्तरजनकत्वेन विषया'वरणत्वेऽपि तत्पूर्वकचाक्षुषम्यापक्षत्वात् । न चमूलोत्के अश्रमोक्त च साध्ये तमोनाशकत्वमुपाधिरिति--वाच्यम्; आश्रमोंक्तसाध्यस्य सविकल्पकाद्युत्तरचाक्षुषे उक्तसंशयेत्तरचाक्षुषे च सत्त्वेन साध्यान्यापकत्वात् । मूलोक्तसाध्यम्यापि सौषुप्तुुखाकाराविद्यावृत्त्यादै। तस्सुखावरकस्वामनुद्धचादिनिवर्वके सत्त्वेन तदव्यापकत्वात्। नचोक्तवृत्यादेरक्ति भातीति ठ्यवहारापयोजकत्वेन म्वविषये स्वप्ययुक्तोक्तन्यवहारपतिबन्धकत्वरूपस्वविषयावरणत्वस्य स्वनिवर्त्यजन्यभ्रमन्यत्वरूपवस्त्वन्तरत्वम्य च 干वामनुद्धयादावभाव इति—वाच्यम् ; ' सुखमस्वाव्स 'मिति स्मृतिद्वारा सौौुप्तसुखमस्तीत्यादिव्यवहारे उक्कवृत्त्यदे : प्योजकत्वात्, स्वामसुखादिबुद्देर्भ्रमन्यत्वेनोक्तवस्तन्तरत्वत् अविध्यावृत्तित्वेन तस्याः स्वावच्छेद कान्यंद्याशचच्छिन्तवरूं स्वदेशगतत्वमप्युन्नेयम् । अनुकूलतर्केण साध्यव्याप्यतया गृहातंतेतेाएव्यापकत्वेनेंत्कोपाधे: साध्यव्यापकत्व"महाच्च।।

[^182]मात्रवृतित्वाद्वा, अत्मत्त्वत् । निवर्त्यत्वं वा, नानादिभावनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ड नेति ता, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। अनादित्वं चा, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृतित्वात्, प्रागभावत्ववत् । प्रमाणज्ञानं वा, अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञातत्वात्, भ्रमवदित्यादिना सत्र्रतिपक्षता; कुत्यभावमात्रेणाकुतस्य क्रतिवत् पूर्वप्रकाशाभावमाश्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशोपपत्तेरप्रयोजकत्वं चेति-चेन्न ; अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात् ; सिद्धान्तिहेतोश्रानुकूलतर्कसद्भावेन साध्यठ्याप्यत्वे निश्यित सत्र्रतिपक्षाप्रयोजकत्तादीनामनवकाशात् ।
 निवर्त्यत्वोपपत्तेराद्यानुमानेनात्विरोधश्व। द्वितीये त्वनाश्रितमात्रघृत्तित्वम्नुपाधिः। तृतीयचतुर्थयो: सकलनिन्र्यावृत्तित्वमुपाधिः।

अज्ञानस्य भावविरक्षणत्वस्वीकारेऽट्याह-अभावविलक्षणत्वं वेति । निवर्त्यत्वोपपत्तिरिति। न चाभावविलक्षणस्य निवर्य्यत्वे सादित्वं प्रयोजकमिति -वाच्यम् ; अज्ञानतत्पयुक्तान्यतरत्ववस्यैव ज्ञाननाइयताप्रयोजकत्वेनोकत्वात् । अनाश्रितमात्रेति । घंसत्वादौ साध्याइ्यापकत्व ${ }^{1}$ नाराक्कयम् ; प्रागभावध्वंसरूपघटाद्यवृत्तित्वस्याखण्डोपाधिरूपध्वंसत्वेडभावात्, जन्यत्वे सति भावान्यं्वस्यापि मन्मते Гनवस्यवृतित्वाच्वं। सकलनिवर्त्येति। न चाभावविलक्षणस्य निवर्स्यत्वे सादित्वस्य प्रयोजकत्वादनादिभावत्वेन निश्रिते नाइासामग्रीमत्त्वस्याभावेन नाशसामग्रीमत्त्वे साध्यवति उपाध्यमावेन साध्यन्या ${ }^{3} प क त ् व-~$ मिति-वाच्यम् ; उक्तपयोजकत्वश्य प्रत्युक्तत्वात्। न चोपाध्यभाववत्त्वेन निश्चिते नाइसामय्रीमत्वे साध्यसंशयेनोपाधौ साध्यव्यापकत्वं
${ }^{1}$ साध्यव्यापकत्वं-क. 2 नितृत्तित्वाच-ग. ${ }^{3}$ तत्र साध्या-ग.

# पश्रमे सकलानाद्यवृत्तित्वमुपाधिः । षष्ठे प्रतियोग्यप्रसिद्धगा 

 साध्याप्रसिद्विरिति च दूषणानि । तश्वप्रदीपिकोंक्त च-चैत्रप्रमा, चैत्रगतभ्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वाप्, मैत्रत्रमावत्। विरीतो विभ्रमः, एतजनकाबाध्यातिरिक्रोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवदिति । अत्राद्ये सुखादिज्ञानेषु न बाधः ; अन्तःकरणवृत्तेरेत्र प्रमापदेनोक्तेः। चैत्रगतत्तं च नानादेर्विशेषणम् ; मैत्रप्रमायाश्रैत्रनिष्टानादिनिवर्तकत्वाभावेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापा. तात्, किंतु प्रमातदभावयोरन्यतरस्य ; प्रमाया-न गुहीनुं शक्यम्, साध्ये उपाध्यभाववद्वात्तिंदरुपष्यभिचारसंशया-दिति-वाच्यम् ; मां प्रति हि प्रयुक्तक्य व्वदनुमानक्य मन्मते निर्दोषत्वमवेक्ष्यते, तच्च नाक्तयव ; मयेक्तसामप्रीमत्त्वेऽनाद्दिभावनिष्ठत्वस्व निंश्चितत्वेन ममोक्तसंशायायेगगात्। अत एव सकलानाद्यवृत्तित्वोपाधावव्यावरणावृत्तित्वरूपसाध्यव्य।पकत्वं मया निश्चितामिति प्रागभावपतियोगित्वादौ ब्वदीय उक्कसाध्यसंशयोऽप्रयंजजक इति भावः। प्रतियोग्यप्रसिद्धचेत़ि। न चावाम्यामप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावस्वीकारान दोप इति --- वाच्यम् ; न ह्यावाम्यामप्रसिद्धक्याभावः स्वीक्रियते, परं त्वलीकवादिनं त्वादरां प्रति मादृरौः प्रगुज्यते। 'अहृद्ययवाचामह्द्ययमेवोत्तर 'मिति न्यायात्। अत एव विमतम्, न चिदज्ञानकार्यम्, 'fचित्परोक्षायामप्यनिषेध्यत्वेन भासमानत्वादिति त्वदी।यानुमाने भावरूपाज्ञानाप्रसिद्दिन दोषः ; मत्पसिद्धात्वमादाय त्वया मां प्रति प्रयोक्तुं शक्यत्वादित्याचार्यैरुक्तम् । अत एव च मतद्वये sc्यपामाणिकस्य निषेघपतियोगित्वाभ्युपगमादित्यादित्वदीयपूरंवक्षम्य सत्यत्वानुमानखण्डनावसरे आचार्याभ्युपगमोडव्युक्ताभिप्रायेण। एतञनकावाध्यातिरिक्तेति। एतद्वमजनकं यद्वबाध्यं तदन्येत्यर्थ: । सम्मतवत्-पुरुषान्नरीयम्र-

[^183]श्यात्मगतत्वं प्राग्याख्यातम्, साध्ये तु प्रमापदम्गुपरञ्अकमेवं। यदि त्वभाने प्रागिति विशोषणं नास्ति, तदा भावरूपाज्ञानस्यापि स्वाभावाभावत्वेन तद्रतिरिकानादिनिवर्तकत्वे बाघवारणाय। चैच्र्रसमवेतत्वं चैच्रन्यसमवेतत्वं च नोपाधिः ; चैश्रसुखादौ प्रागभावनिवर्तकतया व्यमिचारेण साध्याव्यापकत्वात्। न च चैन्रश्रमा, चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रश्रमादिवदिति सत्र्रतिपक्षः ; प्रतियोगिप्रसिद्धुगप्रसिद्धिभ्यां ठ्याहतेः। चैत्रगतप्रमाभावातिरिकाभावनिवर्तकत्वं

मवत्। पुरुषन्तररूपोक्काबाध्योपादानकल्वं परेणपि दृष्टन्ते ख्वीक्रियते। जनकान्तानुपादाने तु साध्यवैकल्यमिति मावः। आत्मगतत्वमाध्या-सिकं चैत्राद्यात्म'तादास्म्यम्। तथाच मनस इव तदुपहिताहमनोऽपि वृत्युपादानत्वात्तत्रापि तत्र्रागभाव इति भावः । अज्ञानस्यापीति ।• प्रतियोगिजनकाभावत्वरूपपागभावत्वेऽखण्डोपाधिरूपाभावत्वस्य लाघवेन प्रवेशात्प्राक्पदल निवर्तकत्वे बाधवारणाय—निवर्तकत्वबाघस्य वारणाय । सुखादाविति। ₹वप्राיभावनिवर्तकत्वादिति ईेष:। व्याहतेरिति। उत्कनिवृत्तिहेतुत्वं कचिद्रृहीत्वैव तदमावोडनुमेयः, अन्यथा विशोषणज्ञानाभावेन साध्यठ्याप्तयक्रहात्, स चेक्तहेतुत्व्व्रहश्चैन्रप्रमायामेवेति बाधः। न चोत्रहेतुत्वज्ञाने चैत्र्रमायां जातेडपि अ्रमत्वं तत्र पश्यालकल्व्यत इति वाच्यम् ; एतदनुमानेनैव तन्र अ्रमत्वस्य कक्षप्यतयाऽन्योन्याश्रयात् । न चासतः प्रतियोगिनो मन्मते रू्यातिसमवात्तस्याश्र विकल्पत्वेना'नुमानवाध³कत्वमिति—वाच्यम्; मां प्रति हि त्वदीयोड्नुमानप्रयोगो मदीयप्रतियोगिज्ञानमपेक्षते, तच्च प्रमारूपं बाधकमेव, तस्य च अ्रमत्वमेतदनुमानैनैव त्वया ज्ञापनीयमिति भाव: 1 चैत्रगतग्रमाभावेति ।

[^184]तुं नोपाधिः ; चैत्रगतप्रमाभावातिरिकस्य स्वजन्यव्यवहारप्राग• भावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वात्। विपक्षबाधकसष्वाच्च नामांससाम्यम्। अत एव द्वितीयानुमानमपि सम्यक्। न च—विगीतो विभ्रमः, एतज्ञ्रानजनकसाध्यातिरिकोपादानकः, विभ्रमत्वाव्, सम्मतवदिति सत्र्रतिपक्ष इति—वाच्यम्; बाध्यस्य त्वन्मते अजनकत्वात्, साध्याप्रसिद्धेः, त्रह्नाविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधाच । नव्यास्तु विमता श्रमा, प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्नितर्तिका, कार्यत्त्वात्, घटवत् ; अ्रमानु-

चैत्रगतपमाया अभावेत्यर्थ:। निवर्तकतया-निवृत्तिरूपव्यवहारजनकतया। यद्यपि प्रतियोग्यन्या प्रागभावस्य निवृतितिति मतेनैवानुमानमिदम् ; तथाच व्यवहार एव तत्पागभावस्य निर्वर्तको न तु ज्ञानम्, - तथापि ज्ञानस्यापि वयवहारद्धारा तत्पागभावनिवर्तकर्वम्। प्रयोजकत्वमाॠ्रस्यैव साध्यव्यापकतासंभवेन जनकत्वानिवेशो वैयर्थ्यांत्, रारीराजन्यत्वोपाधौ शरीरनिवेवावत्। तात्विकभमात्वस्य हतुत्वे तूकनिवृत्तिजनकत्वमपि साघनउयापकम् ; ‘विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त’ इत्यादिश्रुत्या त्वयापि ब्रद्नप्रमाया घटाद्यभावनिवर्तकत्वेन वाच्यत्वादिति भावः॥ ननु—घटंच्चत्रेच्छा, चैत्रभ्रमो वा, स्व्र्रागभावन्यानादिनिवर्तक:, घटत्वादिच्छात्वाद्रमत्वाद्वा, पटवत् मैन्रेच्छावत् मैन्रश्रमवद्येत्यपि स्यातत्राह—विपक्षेति। पमापक्षकोक्षानुमान एवेत्यादिः। न जानामीत्याबनुभवो न ज्ञानाभावविषयक इत्युक्तम्। रूप्यदेश्श शुक्तयदिनिष्ठतया प्रतीयमानस्य शुक्तयादिनिष्ठमेव परिणामि वाच्यम् ; तच लघबवात् अनादिज्ञाननाज्ञानं नष्पमित्यनुभवादुपादाननाशं विनोपादेयनाशासंभवां ज्ञाननिवर्त्यमित्यस्मदनुमानमेव सर्कम्, न तु त्वदनुमानम् ; साध्यं विनापि हेतुसंभवादिति भावः। साध्याग्रसिद्धेः।

त्तरग्रमा, स्वाभावातिरिकस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्ं, अ्रमोत्तरग्रमावत्त ; ज्ञानत्वम्, स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वात्, आलोकत्ववत् ; अंनित्यज्ञानम्, अभावत्वानाधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम्, प्रयनान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वात्, अनित्येच्छावत्व सा हि
 बाधकतर्कस्योक्तत्वात् । एवमन्यदप्यूहनीयम् । ज्ञानविरोधित्वम्, अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधितृत्तित्वात्, हृइयत्ववत्। यद्वा अनाद्यभावविलक्षणत्वम्, ज्ञान-

एतश्र्रमजनकं यहाध्यं तदप्रसिद्धघा तदन्योपादानकत्वस्य साध्यक्या-प्रसिद्धे:। बाध्योपादानकं नेति साध्यकरणेऽपि स दोषः साध्यैवैकल्यं च। न चैतंद्रमजनकं यद्बाध्यन्यन्यदुपादानकत्वं साध्यमिति-वाच्यम् ; श्रह्साविद्योभयेत्याद्युक्तदोषतादवस्श्यात् , जनकान्तवैयथ्यांच्च। अःाध्योपादानकत्व भ्रमस्य बाध्यत्वानुपपत्ति: प्रतिकूलतर्कोडपि बोध्यः। अप्रकाशितार्थर्रकारोति। प्रमालोकान्यतरत्यर्थः। नित्यज्ञाने बाधात्अनित्येति। स्वविरोधीति। स्वनाइयत्वस्वप्रतिबध्यत्वान्यतरयुक्तत्यर्थः। निवृत्ति: घ्रवृत्तयभावो न तु यत्नविशेष इति मते प्रवृत्तौ उ्यामिचारात् प्रयनान्यत्वे सतीति। तादृग्द्वेषेति। उक्तविरोधिद्वेषत्यर्थः। समानविषययोः समानाधिकरणयंरिच्छाद्वेषयोर्मिथः प्रतिबन्धकत्वम् । अन्यथा तयोरेकसत्व्वे $\subseteq र ो ल ् प ा द ा प त े र ि त ि ~ भ ा व ः । ~ ज ् ञ ा न व ि र े श ि त ् व ं--~$ ज्ञानपयुक्तनाशप्रतियोगित्वम। तेनाज्ञानसिद्धिपूर्व हृयमाः्रस्य साक्षाज्ञाननाइयत्वासिद्धावपि न साध्यैवैकल्यम् । परमतेडप्यदृष्टाद्दानां ज्ञानप्रयुक्ताइशप्रतियोगित्वमावइयकमिति भांवः। अनादिभावत्वंअभावविलक्षण।नादत्त्वम् ॥

विरोषिट्टति, अनाद्यमावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, अमिधेयत्ववदिति। एवमभावविरक्षणाजाने डन्नुमानान्यूहनीयानि ॥

हल्यद्वैतसिद्धावविद्यान्गुमानोपपत्तिः ॥

## अथाविद्यावादे श्रुत्युपपत्ति:

एवं श्रुतयश्न। तत्र छान्दोग्ये अष्टमाध्याये- तद्यथा हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्पुपरि सश्रन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वा: प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं बछ्कलोकं न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढा' इति श्रुतिर्रह्नज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनानृतं ज्रुवाणा ताद्दगज्ञाने प्रमाणम् 1. न च-ऋताबदस्य 'ऋतं पिबन्ता' वित्यत्र सत्कर्मणि प्रयोगदर्शनात् ' ॠंत सत्यं तथा धर्म' इति स्मृतेश्र ऋतराब्द्स्य सत्कर्मपरत्वादनृतराब्दस्य दुष्कर्मयरत्वमिति—वच्यम् ; उत्तरत्र 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिना आत्मनोडपहतपाप्मत्वप्रतिपादंनेन

तकैः सारस्वतै रबैश्वन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्वान्तनाशायाज्ञानस्यानुमोदय: ॥


## अथाविद्यावादे श्रुत्युपपतिः

अनृतेन प्रत्यूहाः-अन्षीमूता अम्फुरद्रब्मस्वरूपकाः । घह्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन - प्रह्सक्फुरणाभावन्याप्यत्वेन । अपहतपाप्मत्वेति। पापशून्यस्वभावत्वेत्यर्थः। कादाचित्कपापसत्त्वे तच्छून्यस्वभाव•

दुष्कर्मप्रत्यूळत्वविरोधात्, सुषुप्तौ कर्ममात्रनाशे दुष्कर्मणोडप्य: भागात्, कारणात्मनावस्थाने चाझानस्यावइयकत्वात्, कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्र । ब्नह्नवेद्नप्रतिबन्धकतया ह्यनादिव्रद्सावारकं ज्ञाननिवर्त्य वाच्यम्। तथाच कर्मेव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम्; तयोर्शानानिवर्त्यत्वात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वे च 'भूयश्भान्ते विश्वमायानिवृत्ति' रित्यादिश्रुतिर्मानम् । न चात्र

ंवमात्मनोडनुपपन्नम्। न च—मिष्याभूतं पापं प्रतिबन्घकमास्ता-मिति--वाच्यम् ; अविद्यां विना तत्परिणामरूपस्य तस्यासंभवादिति भावः । कारणात्मना कारणगतसं₹काररूपेण । अनादीति। न च पापानों प्रवाहरुपेणानादित्वात्पापत्वेन प्रतिबन्धकत्वं संभव-तीति-वाच्यम्; पापस्य पुण्यस्य मिथ्याज्ञानजन्यसंक्कारस्य वा ' अस्ति भाती ' ति ठ्यवहारे प्रतिन्घ ${ }^{\prime}$ त्व 'मित्यत्र विनिगमकाभाबादना- दिपावादिमिन्नं प्रतिबन्घकत्वेन कल्यत इत्यस्यैयैचितत्वात् ${ }^{2}$ । न चानृतशबद्स्य पापे मुख्यवृत्तिसंभव एव विनिगमक इति—वाच्यम्; ऋतशब्दूम्य सत्यवाचकस्य सत्यन्नम्मपपकत्वेन पुण्यं हि गौणार्थो न मुख्यार्थ:, तथाच सत्यद्रद्मविरेधित्वेन पुण्यवासनयोरप्यनृतशबदगौणार्थता संमबत्येव।न चान्तु तथा, श्रुत्यैव तेषां प्रतिबन्धकत्वोक्तथा नानादेरज्ञानस्य प्रतिबन्धकताया युक्तया कल्पनामितिवाच्यम् ; पापादीनां श्रुत्यैव मिथ्यात्वोक्तेस्तन्निर्वाहार्थमनाद्यान्ज्यावरयकत्वादिति भावः । न चानादि ${ }^{3}$ प्रधानमस्तु प्रतिबन्धकम्; पापांदिकं तु नैकं प्रतिबन्धकं संभवतीति विनिगमकाभावः। ऋतश्रद्मविरोधिप्रपश्वभिन्नत्वादनृतपदेन तदेवोच्यतां तत्राह——तथाचेति । विश्धमायेति । असत्त्वापादकाभानापादकसर्वाज्ञानेत्यर्थः 1 आदि-

[^185]निषृत्तिस्तरणमाश्रम्, 'मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृते-रिति-वाच्यम् ; ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्यतिरिक्कस्यासंभवेनोभयोनाईामात्रार्थत्वात् । न च—्'तम असी'दित्यस्य सत्त्वप्रतिपादकस्य बाधकं विना पारमार्थिकसक्तपरत्वेन कथ-मात्रणस्यानृतत्वमिति-वाच्यम् ; 'नासदासीन्नो सदासी'दित्यनेन पारमार्थिकत्वतुच्छत्वयेार्नैषधेन ठ्यावहारिकसत्व्वपरत्वात्। न चानेन माया प्रतिपाद्यते ; मायाइब्दार्थश्र नाज्ञानम्, मायिनों जह्यणोऽज्ञानित्वे सर्वज्त्वनिरवद्यत्वादि श्रुतिविरोधादिति—वाच्यम् ; उपाधेः प्रतितिन्बपक्षपातित्वेनेश्वरासार्वज्ञग्यात्यापादनायोगात्, सार्वइयाब्यैश्वर्यस्य मायानिबन्धनत्वाच्च। न च—' मय ज्ञान' इति धात्वर्थानुम़ारान्माया कथमज्ञानमिति चाच्यम्; 'एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिकानि परिपूर्णानि क्षेत्र्णि दर्शयियत्वा 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भव्ती’ति श्रुत्या मायतिद्ययेरैरैक्यप्रतिपादनान्माया अज्ञानमेव । 'घट चेष्टाया' मिति धातुजस्यापि घटशबब्द्य

पदात्‘‘ररति गोकमात्मवि' दिल्यादिश्रुतिः, 'ज्ञानेन तु तदुज्ञानं येषां नाशितमि’त्यादद्मिम्मृतिश्च मानम्। नासदासीदिति। उक्तवाक्यपूर्ववर्तिनेत्यादिः । प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन पतिबिम्ब प्रत्ययावरकत्वादिना। एक्यप्रतिपादनादिति । गुद्धसत्व्वम लिनसत्वाभ्यामुपाधिम्यां मायाविद्ययोरेदेदेन मायागतः प्रतिबिम्बरूप आभास इंशः, अविद्यागतः स जीव इति जीवेशावित्यादिनेनक्ता, 'माया चाविद्या च स्व्यमेवे'त्यनेनेनैकर्यक्तिरूपत्वप्रतिपादनादित्यर्थः । वस्तु निर्वाच्यम् । विचित्रकार्यपरिणामित्वेन मायापद्य्यावरकत्वेनादिद्यापदन्य प्रयागः. मायायां बिम्बमीशः प्रतिबिम्बं जीव: ।. तथाचाँकोपाधिकृतभदम्याप्य-

चेष्टावाचकत्वामावनद श्रपि ज्ञानवाचकत्वाभावात् । माया ग्रज्ञा वयुनमिति ज्ञानपर्याये निघण्टुकारवचनं च ज्ञानाकारपरिणामित्वादझ्ञानस्योपपन्नम् । वृत्तिज्ञानस्याज्ञानाभिन्नत्वादझ्ञान-

नग्रीकारान्मायाविद्ययोरत्यन्ताभेद इति प्रतिपादनादित्येवार्थ:। परिणा मित्वादिति। मायापरिणामत्वेन ज्ञाने मायापदप्रयोगः । सुखादेर्मायापरिणामत्वेडपि वृत्तिज्ञान एव मूर्रिप्रयोगवशान्निरूढलक्षणेति भावः। वस्तुतः प्रमित्यर्थकस्य माधततोर्मायेति पदं ज्ञानार्थकं 'माच्छासासिसूभ्यो य' इत्यौणादिकसूत्रसिद्धयमत्ययान्तम्, 'मय ज्ञान' इति तु पाणिनीयषातुपाठे नास्स्येव; ‘अयवयपयमयचयतयणयगता 'वित्यस्यैव घातुपाठे सत्व्वात्। यत्तु-... चिन्तिपूजी’ल्यादौं चकारान्मयधातोरङ्•• प्रत्यय इति-तन्न; चकारातोलयंतरक्प्ययेन तुंलति हरदत्तादिभिरुक्तत्वातुलाराब्दस्याङ्म्पत्ययान्तत्वेडपि मायाशब्द्ग्य तथांवे मानाभावात्, दीर्घत्वासंभवान्मायापदस्योज्वलदत्तीयादिवृतिषु माच्छेत्यादिसूत्रोदाहरणत्वेनोक्तयनुपपतेश्र। तथा च 'मा मान' इति घातुपाठान्मानस्य च परिणामस्येव ज्ञानरूपस्यापि संभवेन योगेन ज्ञानार्थकत्वेडपि रुब्याऽज्ञानर्थ्यकं मायापदम् ॥
 दुर्षटकार्यकारित्वस्य रूद्यर्थगुणस्य छद्मन्यपि संभवात्। अत एव ' माया स्यात्साम्बरीबुद्धयोर्माय: पीताम्बेर सुरेर'इति मेदिन्यप्यांवरुद्धा; साम्बर्या' विद्यायामव्युक्तरूब्बर्थगुणसंभवात्। न च दुर्धटकारित्वमेव रूख्यर्थोऽस्तिति-वाच्यम् ; 'ऋतेऽर्थ यत्पतीयेते' ल्यादिसमृत्य। मृषात्वविशिष्टस्य मायापदशक्यत्वबोधनात् । एवं च दुर्घटकारिणि निरूठलक्ष्षणास्वीकाराद्भूरिप्रयोगः तिलरसमुख्यार्थकस्यापि तैलपद्ग्य
¹ इाम्बयां-ग.

स्सैवानिर्वचनीयविचिच्शाक्तियोगाष्ण विचिम्शाक्तिमति मायाशब्द्र्रयोगानुपपत्तिः क कचिन्मणिमन्ब्रदौ तत्र्रयोगस्तूपचारात्। न च-चुक्तिरूप्यादौ मायाशब्दाग्रयोगाष्ण मृषार्थोड-यमिति-वाच्यम् ; बज्नादौ पृथिवीत्वादिव्यवहाराभावेऽपि
${ }^{1}$ सर्षपरसे निरुबनौणन्वेन मूर्रिययेगवत्। वस्तुतोड्यथाभावेन ज्ञायमानक्कियाया एव छद्मत्वेन छद्मापि मायापदरूब्यर्थमिथ्याभूतमेवेति ध्येयम्। विचिन्रशन्तीति। विचित्रोपादानव्वेल्यर्ध, अर्निर्वचनीय-
 मत्रविशेषादिरूपमायाश्रयत्वेन पुरुषे मायाविपद्रपयोगादिल्यादिः। उप.चारात् मिध्यामूतार्थनिमितत्वात्। व्यवहाराभावेऽपीति। ब्यक्सकाभावदशायामिति ईेषः। उयअकदशायां तु बज्रादौं पृथिवतिवादेरिव - रूप्यादाबपि मायात्वं ठयवह्डियत एव। अत एव-
' यनु दृहिपथं प्राषं तन्मायेव सुतुच्छकम् ' ॥
इति साब्ब्बयवाक्येंन ह्रयमात्रे मायाल्वं ठ्यचदृतम्। किंच 'कष्टं कमें ' ल्यनुभवेन कियामात्रस्य दुःखजनकवेडपष ' ददानीं मे दुःख’ मिति सर्वदा न ठ्यवहारः ; पछछघदुुःखकाल एव तद्वघवहाऱात् , तथा चम₹कारविशेषाषघयकत्वेन प्रकृष्पमायायामेव मायापदपयोगः । अतप्व-
'माया ह्बेपा मया सृष्टा नैवं मां द्रह्टुमहसि ' ॥
इति नारदे प्रति भगवद्वाक्यें दछयमानस्य विभ्वरूपस्य पतिपलोपाधौ निषेघल्बे मायात्वं हेतूकृतम । यदचचस्तन्वा बाृृषानो बलानीन्द्रप्नुवाणो जनेछु। मiयेस्साते यानि युद्यान्याहुनांध शत्रुं ननु पुरा विवित्से' इलसम्यामृचि बेचसर्त्रॉनिषंध्यंज्ने मायाल्वं हेतूकृतम्। तथा

$$
1 \text { सार्षप-क. }
$$

पृथिवीत्ववत् व्यवहारोभावेऽपि मायात्तानपायात्, ऐन्द्रजालिकादौ बहुझो मायासब्द्रयोगदर्शनाच, 'मायाया अज्ञानान्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वविरोधाच्च 1) नहिारतम:राब्दावप्यस्मिन्मते अझ्ञानस्यावारकत्वाद्युज्येते नान्यमते । अनृतनीहारादि-

- भूतनीन्द्दियाणि विराजं दैवताः कोशांश्र सहष्ट्रा प्रविएयामूढो मूढ इव ठ्यवहरन्नास्ते माययैन त₹्मादद्वय एवायमात्मे ति तापनीये मूतेन्द्रियादीनां मायामयत्वेन तत्प्रविष्टस्याप्याह्मनस्तचछून्यत्वे नाद्वयस्वभावत्वमुक्तम्।'मयश्ष सम्बरक्षैव ${ }^{1}$ महामायाधरावुभौ। पर्जन्यवारुणी माये उयधत्ता' मिति हारेवंहो पर्जन्यवारुण|स्राम्यां मझ्रविशेषविशिशष्टाम्यां जनिते मिष्यामूते मायापदं प्रयुक्तभ्। भागवतादावपि मिथ्यामारीचस्य . ' मायामृंं दयितयेप्सित'मित्यादिना मायात्वमुक्तम्। रामशरवेध्यत्वादिकं तु न सत्यत्वे प्रयोजकम् ; यथानुभवमर्थक्रियाकारित्वस्य मिश्या- भूतेऽपि संभवात्, मिथ्यांत्वन ववुक्कैन्द्रजालिकादेरर्थक्कियकारित्वदर्शनात् । ऐन्द्रजालिकादौ मायाशब्दप्रयोगादपि तस्य मिथ्यारूढत्वम् ।
 योग इति -वाच्यम् ; मिः्यारूपमुरूर्याथजनकत्वेन शाक्तिविशेष एवेपचारात्, अन्यथेक्तम्मृत्यादिविरेधाधित्याशयेयनह—ऐन्द्रेति ! नीहारतमःराब्दाविति।'न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उकथशासश्चरन्ती' त्यत्र, ' सुषुप्तिकालु सकले विलीने तमोऽभिभूत' इत्यादौ चेत्यादिः। युज्येतेति। अज्ञान इत्यादिः। नान्यमत ड्ति। अज्ञानस्यैवावारकत्वादिसंभवस्योक्रत्वादिति ईोषः । अत एव माधवायभाप्ये व्यारु्यातं ' है नरास्तं न जानीथ य इमाः प्रजा जजान जानितवान् तत्र हेतु:

शब्दानां तुष्कर्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तजीवेशभेदकत्वोपादानत्वादिविरोघश्व। तस्मात् ' अनृतेन प्रत्यूढाः' ' नीहारेण प्राघृता:' 'तम आसीत्' 'मायां तु प्रकृति विद्यात्' 'अजामेकां लोहितश्रुल्ठ-
युष्माकामन्यदेवान्तरं व्यवषानं बभूव तढुच्यते नीहारसहोेनाज्ञानेन प्रावृता यूयं जल्प्या 'अहं मनुप्य ' इत्यादिजल्पनशीका असून् प्राणान् तर्पयन्ति उक्थं क्तोत्रविशोषार्दें शंसन्ति चरन्ति ऍहिकामुष्मिकमोगमात्रपरा' इति । दुष्कर्मपरत्त्रे आवरकपापपरत्वे । श्रुत्यन्तोरति । 'अनीशाया शोचति मुद्यमान' इत्यादिश्रुत्युक्तेत्यर्थः। आवरकस्येत्यादिः। मोहप्रयुक्तोनेशाया ईशत्वस्य विरोधिना ईशभेदेन शोचति संसरतीत्युक्तश्रत्यर्थः। एषा मायेत्याद्युक्तश्रुत्यािि जीवेशभेदकत्वं कार्यमात्रोपादानत्वमावरकादिरूपत्तं च मायाया उक्रम् । उपादानत्वादीत्यादिन। त्रिगुणГमकख्वादि স्राह्यम् । तथाच कर्मण आवरकत्वे तस्यैब मेहत्वाद्भेदकत्वादीति वाच्यम्। न च सादेस्तस्यानाद्विभेदप्रयेजकत्वं सकलकार्योपादानत्वादिकं बा संभवतीति भावः।
' विभेदजनकेऽज्ञाने नाइमात्यन्तिकं गंत।
मवत्यंभदों भेदश्य तस्याझ्ञानकृत '
इति विष्णुपुराणादौौ स्पष्टमज्ञानम्य भेदकत्वादा|ति' बोध्यम् । ' दे वादिेभदेमध्यास्ते नास्त्यवावरणाँ हि स:'
इति विष्णुपुराणे भेदनाम्तित्वे आवरकम्रगुक्तवक्य हेतूकृतत्वात्वम्य तत्रामाणिकमित्यादि बोध्यम्। तस्मादित्यादि। नीहारण जल्व्या असुतृप उक्थशासश्षरन्तीस्यन्वयाद्द्रयमात्रस्य नीद़ारारूपावरणपयोंज्यत्वं 'नासदासीन्ना सदातीत्तम असी' โद.त्यादौ सदसद्विलक्षणत्वं प्रोन्तं न पापस्य संभवतीत्यदि बोध्यम् ॥
1ं मद्क.त्वाद-क. ग. 'वगणे-ग.

ष्णाम्' 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' 'भ्यश्यान्ते विश्वमायानिषृत्च'रित्याद्याः भ्रुतयो वर्णिता अज्ञाने प्रमाणमिति स्थित्।। इल्यद्येनसिद्धावविद्यार्रतिपाद्दकश्रुत्युपपत्तिः ॥

- तर्कै: सारस्वतै रलैध्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः। दुरन्तध्वान्तनाशायाविय्याश्रुस्युपपादनम् ॥
॥ इति गुरचन्द्रिकायामवियाप्रतिपादक कथ्रन्युपवन्निः ॥


# मैद्बर राजकीयभ्राच्यकोशागारे परिफ्कुल्य देवनागराष्षरः संप्रद्रितानां कर्याणां भ्रबन्वानां 

## पसिद्धिपत्रिका.

## शौतस्त्वम् .



50 (4) गौतमधर्मसूं्रं मरकरिव्याष्यासहितम् 380 घर्मशास्बनिबन्ध:.
43 (5) स्मृतिचन्द्रिका (पथमसंपुटं संस्कार- 180 काण्ड:).
44 (6) स्मृतिचन्द्रिका (द्वितीयसंपुटं आढ्रिक- 280 काण्ड:).
45 (7) स्टृतिचन्द्रिका (वृतीयसंपुटं व्यवहार- 2 ) 0 काण्डः).
48 (8) स्मृतिचन्द्रिका (गतुर्थसंपुटं उ्यवहार- :3 00 काण्ड:).
52 (9) स्मृतिचन्द्रिका (पश्रमसंपुटं श्राद्धकाण्डः) 340
56 (10) स्टृतिचन्द्रिका (बष्टसंपुटं आशौच- 180 काण्ड:).

अर्थशास्त्रम्.


|  | अलक्ष⿸厂 |  |  |  |  |  |  |
| :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: |
| 51 | (16) | अलक्कारमणिद्हारः | संपुटं I |  | 3 | 0 | 0 |
| 58 | (17) | " | संपुटं II | ... | 3 | 8 | 0 |
| 62 | (18) | » | संपुटं III | .... | 2 | 8 | 0 |
| 72 | (19) | " | संपुटं IV | .... | 2 | 4 | 0 |
|  |  | काव्यप्रकाराः संक्षेत | ताल्यटीक | $\ldots$ | 3 | 8 |  |

## वैद्यशास्बम् .

71 (21) आयुर्वेदसूं्रं योगानन्द्रीयब्याख्योपेतम् .... 200

## ज्योतिइश्रास्रम् -

63 (22) विद्यामाधवीयं विष्णुरार्मविराचित-
मुछूर्तदीपिकाष्यव्याख्यायुतम् संपुटं I .... 200
$\begin{array}{llllllll}67 & \text { (23) } & \text { संपुटं II } & \text {.... } & 2 & 0 & 0 \\ 70 & \text { (24) } & \text { ", } & \text { संपुटं III } & \text {... } & 1 & 8 & 0\end{array}$

## अंद्रैतवेदान्तः.

75 (25) अंत्रैतसिस्दि:, गुर्बन्रिकोपेता संपुटं I 3120
78 (26) " संपुटं II

## विशिस्टाद्वतवेदान्तः.

76 (27) सर्वार्थसिद्ध्याब्यवृत्तियुत तत्त्वमुक्ताक- 400 लाप:-आनन्द्दायियी -भावप्रका-शा-ब्याख्याद्वयोपेतः-संपुटं I.

## द्वैतवेदान्त:.

53 (28) ज्रह्मस्तरत्रभाष्यं आनन्द्रतीर्थीयं तत्व्रका- 400 शिकातात्पर्यचन्द्रिकापकाशौ: सहि-तम्-संपुटं III.
59 (29) ब्रह्वसूत्रभाष्यं आनन्द्वतीर्थीयं तत्वप्रका- 380 रिका-तात्पर्यचन्द्रिका - प्रकाहा: सहितम्-संपुटं IV.
74 (30) तर्कनाण्डबं न्यायद्वीपाख्यव्याख्यायुतम्- :3 0 संपुटं I.
77 (31) तर्कताण्डवं न्यायद्दीपास्यव्यास्यायुतम्- 200 संपुटं II.

> प्रकीर्णकम् .

69 (32) अभिलषितार्थचन्तामणि:-संपुटं I. य~ 0 (नानाशास्रीयविषयसंम्रह्:).

## Iniversity of Rrysore

## Oriental Library Publications

## GENERAL EDITOR

M. S. BASAVALINGAYYA, m.A., Curator, Goot. Oriental Library, Mysore.

SANSKRIT SERIES No. 78
अक्द्तस सि द्धि:
गु रु च न्द्रि का खुय क्या ख्या स म ल हृ ता
वृतीयसम्पुटम्

## THE ADVAITASIDDHI

## WITH THE

## GURUCHANDRIKA

Yol. III<br>kditud my<br>Vidvan's. NARAYANASWAMI SASTRI

MYSORE:
PRINTED BI THE ASSM, SUPDT., GOVI. BRANCH PRRSS 1999

## भू मि का.

विदितमेवेदं समेषां यदद्दैतसिद्धचाख्यो मन्थो गुरुनन्द्रिकाख्यठ्याए्यया समलक्षृत्य महीशरूराजकीयमाए्यकोशागारात् प्रकाइयत इति। तत्र आगमबाधोद्दारान्तमागोड़्ञाओनवादान्तभागश्र सम्पुदद्वयाז्मना सम्मुद्रच बत्सरद्वयात्पूर्व बाचकमहाशयावक़़ात़ नी नीतौ। इदानीमवशिष्टपथमपरिच्छेदान्तभागोऽपि एकसम्पुटात्मना सम्मुद्दय" あकारितोबर्तते । अम्या गुरुचन्द्रिकाया अद्दैतसिद्दौ प्रथमपरिच्छेदपर्यन्तमेव उपलन्धतया ताववपर्पन्तमेव इयं प्रकाशिता। अवशिष्पपरिच्छेदानामपि कृतेरस्य। उपरुब्धौ तन्मुद्रणे वयं सन्नद्धा एव स्मः ॥

प्रथमसम्पुटोंोद्धाते अगमबाधाद्दाराच्छिटो भागः द्वितायसम्पुटात्मना प्रकाशयिष्यत इति लिखितमवि कालविलम्वमसहमानैरस्मामिर्वाचकानुकूल्यार्थ स एव सम्पुद्वद्यत्मना विभज्य प्रकाशितः ॥

एतत्सम्पुान्ते वाचकसौकर्याय सम्पुटत्र्येडी अन्थातरेम्यस्सकृहीतानां प्रमाणवचनानां आकरादिरकारादिकमेण निर्दिष्टः ॥

সन्थम्यान्य द्वितीयतृतीयसम्पुययोर्सुद्रणे त्रय आदर्शा उपयुक्ताः॥
तेषु प्रथमः 'क' संज्ञकः अन्मप्पाच्यकोशागारीय एव।
 घर्माधिकारिणां कुणिगल्-रामशास्खिणां सकाशादुपलळ्षः ॥

तृतीयो 'ग’ संज्ञकः श्रृकेरीवास्तव्यानां विदुपां वि. एस्. रामचन्द्रशास्तिणां सकाशादुपलळब्षः ॥

आदर्शाप्त्तकदानेन उपकृतवतामेषामुपकारं ₹मराम: ॥
प्रन्धस्यान्य द्वितायतृतीयसम्पुटयोः प्रकाइने बहूपक्तुत वतां श्रीमन्महाराजसंसक्छृतहापाठशालडड्द्वेतेवेदन्तपपानोवाध्यायानां आस्थानविदुषां पा. नारायणशास्खिमहोदयानामत्यन्तं कृतज्ञतां पदर्शयाम इति शम् ॥

M. S. BASAVALINGAYYA, General Editor.

## विषयाणामनुक्रमणिका

संख्या विषयः पुटम्
1 अक्षानवादे अर्थापत्य्युपपस्ति: ..... 1-6
2 ", तन्र्रतीत्युपपत्तिः ..... 6- ..... 8
3 अवि-चिन्मा-त्वोपपत्तिः ..... 8- 21
4 ", "सर्वझ्ञाश्रयत्वोपपत्ति: ..... 22-23
5 ", जीवाश्रयत्वोपपत्ति: ..... 23-26
6 ", "विषयनिरूपणम् ..... 26-47
7 अहमर्थानात्मत्वोपपाद्नम् ..... 47-78.
8 कर्तत्वाध्यासोपपाद्नम् ..... 79-92
9 देहात्मैक्याध्यासोपपाद्नम् ..... 93-106
10 अनिर्वाच्यत्वलक्षणोपपादनम् ..... 107-119
11 अविद्याद्यनिर्वाचयत्वे प्रत्यक्षानुमानप्रमाणनिरू- ..... 120-126
पणम्.
12
, अर्थापत्तिनिरूपणम् ..... 127--144
13 निषेधपति-र्या अनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ..... 144-153
14 भ्रुत्यर्थापत्त्युपपत्तिः .... 153-158
15 असत्ख्यातिभछ्गः .... 158-160
16 अन्यथाख्यातिभङ: .... 161-163
17 आविद्यकरजतोत्पत्तिः .... 163-173
18 अमस्य वृत्तिद्वयोपपत्ति: ..... 173-184
19 सत्तान्रैविध्योपपत्तिः .... 184-195
20 ग्रन्थान्तरेम्यः संग्रहोतानां वाक्यानामजुक- ..... 238-195 मणिका.

# सव्याख्या अंद्दैतसिद्धि: 

$$
\begin{aligned}
& \text { तृ ती य स न्पु ट मू } \\
& \text { अन्दैत सि द्दि: }
\end{aligned}
$$

## अयाज्ञानबादे अर्थापच्चुपवनिः

जीवस्यानवच्छिसन्न्कानन्दाप्रकाशान्यथानुपपत्तिश्न त्रत्र मानम्।.न च जीवस्य श्रब्म भेदैनैव ताहगग्रकाशोपपत्तिः; जीवश्रक्षभेद््याग्रे निरसिष्यमाणत्वाव्। न चानवच्छिक्षानन्दस्यापि प्रकाशामानप्रत्यब्यत्रत्वेनाप्रकारामानत्वानुपपत्ति: ; शरीरप्रतियोगिकस्यात्मनि 干्वरूपभेद्यात्माकारेण प्रकाशमानत्वेडपि मेदाकारेणा-

> गु रु च न्द्रि का

अथाइानवादे अर्थापन्युपपतिः
आत्माकारेण-आत्मम्वेन । भेदाकारेण-भेदत्वेन

प्रकाशामतत्ववद्यूपान्तरेण अद्सणः प्रकाशमानत्वेऽव्युक्ताकोरणाविद्यावशादग्रकाशमानत्वोपपत्तरेक्तत्वात् ॥

भ्रमस्य सोपदानत्वान्यथानुपपत्तिरप्यविद्यायां प्रमाणम्।
न चान्तःकरणगुपादानम्; अन्तःकरणस्य ज्ञानजनने प्रमाणब्यापारसापेक्षत्वेन प्रमाणाविषये श्रुक्तिरूप्यादौ ज्ञानाजनकरूपान्तरेण—अविद्योपहितरूपेण। उक्ताकारेण-अनवच्छिन्नानन्दरूपश्युद्नस्वरूपेण। गुद्रहुपमिदानीं न भातीति भावः । अथवा-रूपान्तरेण--श्युद्वैैन्यरूपेण । उक्ताकारेण-पूर्णानन्दरुपेण । शुद्धस्योपहितधीविषयत्वेऽट्युत्तरूपयोराविद्यकमेदान्न पूर्णानन्दन्य तह्विघयत्वामीति भावः। वन्तुत उपहितभाने श्रुद्दभाननियमेडपि चरमवृत्तेरेव विरोषित्वात्रकाशमानेऽपि चन्द्रादिस्वरूप इवात्मन्यविधा न विरद्धेति ध्येयम् ॥

प्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन-विषयगतप्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन। प्रमाणाविषये—प्रमाणन्यापारशून्ये। तथाच' श्रुक्तादौौ चक्षुरादिप्रमाणव्यापारस्य सम्प्ययोगादे: ${ }^{2}$ सत्वेऽपि रूप्यादौौ तदुत्पतिकालीनात्तज्ञानात्पूर्व तदसत्वात्तज्जानासंभवः। न च-सम्प्रयोगस्येव दोषस्यापि चक्षुरादिव्यापारत्वमिति -वाच्यम्; दोषस्य चक्षुरादिजन्यस्य रूप्यचाक्षुषमात्रे वकुकमझक्यत्वात्, चक्षुराधजन्यदोषेणापि रूप्यघाक्षुषभ्रमत्वोत्पतेः ${ }^{3}$ । ${ }^{4}$ अथ-मान्तु दोषो ठ्यापारः, तथापि चाक्षुषादिभ्रमजनने मनसश्रक्षुरादिपमाणन्यापारो न सहकारी ; किंतु दोष इतिचेन्न ; दोषो मनः श्युत्तचादिक वा अभपरिणामीत्यत्र विनिगमकाभावादतिरिक्ताज्ञानस्य परिणामित्वेन कह्पनौचिच्यात्, दोषादीनामनुच्छेदे अम्रमाघासंभवाच । एतेन-दोषाजाते ${ }^{5}$ रूप्यादौ चक्षुरादिप्रमाण5 ज्ञायते-क. ख.

त्वात्, सादित्वेनानादिग्रमपरम्परानुपादानत्वाश। नच घौनवोपादानम्; तस्यापरिणामित्वात् । नच विवर्ताधिष्ठनत्वेन गुक्तयादेरिवोपादानत्वम् ; अविद्यामन्तरणणाताच्विकान्यथाभावलक्षणस्य विवर्तस्यैवासंभवत्, ग्रुक्तादेराधिष्ठानावच्छेदकतया
व्यापरोत्पत्य्या पश्चात्तन्रमो मन.परिणामोऽस्तिल्यपाम्तम्त् ; दोषसमवघानोत्तरं भ्रमाविलम्बात् , उत्कव्यापरकल्पने गौरखाव्। सादित्वेनेति। पवाहरूपेणानादिभ्रमपर्प्पायां न मन डपादानम ; मनोभ्रमे उपादानमनाद्यदइयं बाच्यम्, अन्यथा तत्राप्युपादानापेक्षायामनवस्था गौरवं च। तथाच तदेव मनसीवाकाशादावव्युपादानम्। दृष्टिसृष्पिपक्षे तु मनस उपादानत्वेडवि विचित्रकार्ये विचित्जा ${ }^{1}$ नमप्युपादानम् ; कारण ${ }^{2}$ वैचिच्यं विना कार्ये तदसंभवात् कारणन्तरे बैचिक्यस्याव्यज्ञानरूपशक्तिविशेषरूपप्वात् शुक्तिरूप्यादिभमेष्चपि मनआदिसादीनामविनिगम्यत्वादनाधज्ञानमेवोपादानामेति भावः। असंभवादिति। अतात्विकत्वस्य तच्च्वप्रमानिवर्त्यवव्वठ्याव्यव्वेन रूव्यादौ महादुक्तनिवर्त्यव्वस्य च पपश्चे साक्षाल्कल्पने गौरखस्योक्तवेन तत्त्वीीनाइयतया श्रुल्यनुमवादिसिद्द⿸्यस्याज्ञानस्य नाशद्वौरैव तःकल्पनीयम् । तथाचाज्ञानस्यानुपादानत्वे तन्नाशोडपि पपपश्चनाशे हेतुः कल्व्य:, उपादानले तु करुप्त इत्युपादानत्वमावइयकम्। किंच ब्रक्षणो मिथ्यामूतोडन्यथा भावो विवर्तः। नच ज्रद्सान्यथा भवताति तदूताविद्याया अन्यथाभवने वाच्यम्, नच यस्य कारणस्य ${ }^{3}$ विषमसताकं यत्कार्य ततस्य विवर्त इति खक्षणात् विनाव्यविद्यां त्रद्सणि विवर्तो जायतामितिवाच्यम् ; विकारिणमुपादानं विना कार्यम्यादृष्त्वात्। न हि विकारि मृदाधनुपादाय घटादिकार्यजननाय कश्चित्र्वर्तते। तथाच कस्पनाया

[^186]विवर्ताधिष्ठानत्वाभावात् 1 न चोपादानापेक्षस्य विवर्तस्य ताष्विकातिरिक्रोपादानकल्पनवदविद्यादेराभ्रयसापेक्ष天्य ज्रद्सातिरिक्तमताच्विकमधिकरणं कल्प्यं स्यादिति—वाच्यम्; न्रद्सण एव विकारित्वेऽनित्यत्वादिप्रसक्तिवत् अक्षण एवाधिष्ठानत्वे बाधकाभावेन द्वितीयस्याधिकरणस्याकल्पनात्। न चासत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणपरिणाम्यनपेक्षत्वेन परिणामित्वेनापि नाविद्याकल्पनमिति —वाच्यम् ; परिणामस्य परिणामिसत्तासमानसत्ताकत्वनियमेनासत्यत्वस्यैवाभावात् । नच—घटादौ स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वदर्शानेन प्रपश्चेडपि ताद्हापादानकल्पने घटादेः स्वाधिकसत्ताकोपादानानपेक्षत्ववत् वियदादेरपि ब्रह्हानुपादानकत्वं स्यादिति--वाच्यम्; 'तद्भिध्यानादेव तु तध्डिस्गत्स' इत्यनेन न्यायेन घटादेराप मृदवस्थचैतन्योपादानकतया तादृरोपादानानपेक्षत्वासिद्धे: । अत एव-रूप्येऽपि स्वसमानसत्ताकस्य निमित्तस्यापि कल्पनापत्तिरिति-निरस्तम् ; निमित्तमात्रे वा इयं कल्पना, विरोषे वा। नाद्यः; अधिष्ठानरूपनिमित्तस्य सर्वश्राधिकसत्ताकत्वात्। द्वितीये तूतरोत्तरभ्रमे पूर्वपूर्वअ्रमस्य निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः। नच-त्रिगुणात्मकं प्रधा-

हृँ्टानुसारित्वेनाविय्यारूपविकारिसहकृतमेव ब्रह्म प्रपश्चं जनयतीति कर्व्यत इति भावः। सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणेति। सत्यसंसृष्टा सत्यस्वरूपेत्यर्थः। नाविद्याकल्पनमिति । घ््क्मण एव परिणामित्वसंभवादिति ऐोषः। अभावात्-विरोषात। मृद्वस्थेति। 'सन् घट' इत्यादिधिया सद्नस्नापादानकत्वं ‘मृद्धट' इत्यादिविषया $S^{1}$ न्वय-

सत्यत्वेऽपि सावयवं निरत्रयवं वा। आद्ये अनादित्वभझः। द्वितीये परिणामित्वायोगो अह्मवत्। न चाविद्यापक्षेडपि समः पर्यनुयोगः ; तस्याः काल्पनिकत्वेन पर्यनुयोगायोगात् । तस्मादर्थापत्तिरविद्यायां प्रमाणम् ।।

छ्ल्यद्दैतसिद्दावविद्यायामर्थापत्तिः ॥

व्यतिरेकाभ्यां च मृदोडप्युपाद्दानत्वं न तु मृद्वच्छिन्नचित्वेन हेतुत्वं येन गौरवमिति भाव: । पर्यनुयोगः-सावयवत्वादिविकल्प:
काल्पनिकत्वेन युक्तिविरुद्धत्वण्याप्यमिथ्यात्वेन।।
यतु—सत्यत्वपक्षेऽपीध्वरशाक्तित्वेन न युक्तिविरुद्धत्वं दोष इति——तन्न ; ईश्वरीयत्वेन सर्वत्र तदापत्तेर्विचारलोपापत्तेः। मिथ्याभूतस्य तु युक्तिविरुद्धस्य त्वयापि ₹वीकारात्। अविद्याया मिथ्यात्वे स्वीकृते दोषानवकाशः। वस्तुतोऽनवयवस्यापि परिणामित्वमठ्याहतम् । श्रक्नणस्तु श्रुतिविरोषान्न तत्। नच--मृदादिसावयवविलक्षणपरिणामिस्वीकारे दृष्टानुसारिकल्पनावरयकत्वे विकारि कारणं विनैव कार्य कल्प्य-तामिति-वाच्यम् ; यावत्संभवं हृष्टानुसारेण कल्पनात्। अन्यथा तवाप्यतीन्द्रियविकारिकल्पने दृष्टविरोषात्। न चैवमपि सत्यं तदस्तितिवाच्यम् ; हइयत्वादिना श्रुत्यादिसिद्धज्ञाननाइयत्वादिना च तस्य मिथ्यात्वात्। यदपि मृदाद्यवस्थचैतन्यस्य घटाद्युपादानत्वे नोक्तसूत्रं प्रमाणम् ; किंतु तस्य निमित्तत्व इति, तदपि न; 'तदाभिघ्यानात्' 'सोऽकामयत बहु स्या 'मिति सर्वकार्यात्मकतया स्वोलपत्त्यमिघानात्, 'य आकाशमन्तरो यमयती' त्यादिलिकाच, चेतनानधिष्ठितादचेतनात्कार्यसंभवेन कार्यमात्रं प्रति चेतने निमित्त्व्वस्यावइय्यं वाच्यत्वेन विनिगमकाभावास्सत्तादात्म्यप्रत्ययस्य कार्यमात्रे दर्शनाच्चोपादानत्वस्या-

## अथाज्ञानवादे तश्पतित्यपपर्ति.

सा चाविद्या साक्षिवेद्या, न तु शुद्धचित्रकाइया। साक्षी चाविद्यातृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम्। तेन निर्दोषचित्र्रकाइयत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः, मोक्षेऽपि तत्प्रकाशापत्तिः, न च तदानीमविद्याया निवृत्तत्वाल्प्रकाशाभातः ; प्रत्तितिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनुवृत्तौ निवृन्ययोगादित्यादिदोषानवकाशः। अत एवोच्यते राहुवत्स्वावृतचैतन्यप्रकाइयाविद्येति । न चैवं प्यावइयकत्वात्, स आत्मापि वाय्वादावुपादानं न त्वाकाशाइ्येवेत्यर्थस्योक्तसूत्रात् सफुटप्रत्ययात्, मृत्सहिततया अत्मनो घटाद्युपधायकत्वेन मृदवस्थचित्कारणत्वानपहारात् 1 'विश्वस्य योनि' मित्यादि श्रुतिः ' योनिश्र्य हि गीयते' इत्यादिसूत्रं च स्पष्टमुक्तार्थ प्रमाणम् । अत्रेदं बोध्यम्-विकारिण उपादानत्वास्वीकारिणापि 'इदं रजतमि' त्यादिश्रमेषु ‘नेदं रजत'मित्यादिनिश्रयाभावो हेतुरवईयं वाच्य:; अन्यथा उत्कनिश्रयसत्त्वे दोषात्तदापत्तेः। तथाचागृहीताप्रामाण्यकानाहार्यतादशनिश्वयत्वेनाभावः कारणमिति तद्वेक्षया लाघवात् ‘नेदे रजत' मित्याकारकाज्ञानत्वेनोपाद|नत्व्वमेव युक्तम्। गृहीताप्रामाण्यके आहार्ये वोक्तानिश्चये' सत्युक्ताज्ञानसत्त्वादतादृशोक्तनिश्रये सति चोक्काज्ञानासत्त्वा ${ }^{2}$ दुक्तम्रमोत्पादानुत्पादौ। विस्तरेणानिर्वचनीयरुयातिविकेचने विवेचितमिद्मक्माभिः ॥

तरैकैरियादि —अज्ञानार्थापत्तिरक्षणम् ।


अथाज्ञानवादे तत्प्रतीन्युपपत्तिः.
न चैवं न च कादाचित्काविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बभास्यत्वे ।

कदाचिदविद्याया अप्रतीत्यापत्तिः ; इष्टपत्तेः, समार्धौ तथाभ्युपगमात्। न चाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वादष्र कथमविद्यावृत्ति:? अविद्याया एव दोषत्वात्। न च वृत्तेरपि वृच्यन्तरप्रतिबिस्बितचिन्दास्यत्वेऽनवस्था। स्वस्या एव स्वभानोपाधित्वात्। ननुप्रमाण/गम्यायामविद्यायां प्रमाणोपन्यासवैयर्थ्यम्, न च-

अविद्याया एवेति। अ्रमत्वावचिछ̄न्नेऽविद्यायाः परिणामितया हेतुत्वादविद्यारूपसाधारणदोषजत्वमक्षतम्, असाधारणदोषजब्वं (तु) शुक्तिरूप्यादिभ्रमरूपायामविद्यावृत्तावेव; अमविषयहेतेारसाधारणदोषस्यैव अ्रमहेतुत्वात् । न हविद्यासुखादिकमसाधारणदोषजम्, येन तदाकारा वृत्तिस्तथा स्यात् । अथवा विषयविघया अविद्यादेः स्वाकाराविद्यावृत्तौ हेतुत्वस्वीकारात्स्वकालीनवृत्तित्वेनाविद्याद्यनादिविषयजन्यत्वात् सुखादिकालीनवृत्तित्वेनापि सुखादिजन्यत्वस्य ${ }^{1}$ स्वीकारादविद्यासुखाद्याकाराऽविद्यावृत्तिरप्यसाधारणदोषजा। व्यवहारकाले च न तदघिष्ठानज्ञानमिति न सा बाध्यते। न चाविद्यावृत्तिर्मनोवृत्तिविषयेऽपि स्यादिति-वाछयम्; प्रातीतिकत्वेपहितविषयकाविद्यावृत्तौ प्रातीतिकनिष्ठविषयतया ज्ञानस्य स्मरणरूपाविद्यावृत्तावुहो।घकादेश्र हेतुत्वा चादृशाविशेषहेतुद्वयाभावात् तत्र तदापत्त्यसंभवात् । स्वस्या एवेति। अविद्यादेः समाध्यादिकाले भानवारणाय संसकाराय च तत्र वृत्विरावरयकी । तस्यां संस्कारसतु तैयैव; ₹वस्वविषयकसं₹कारे ${ }^{2}$ तस्याहेतुत्वादिति, तस्यां सा नावरयकीति भावः। प्रमाणोपनीतेत्यादि। प्रमाणवृत्तिविषयीभूतमेवासद्वयाबृत्तिविशिष्टाज्ञानं साक्षिणा गृछ्घते न तु तदविषयीमूतमित्यर्थः। पक्षविशोषान्तर्भावेनैवानुमिति:, अन्यथा साध्यपक्षयोः संसर्गाज्ञानं तया न निवर्तेत । तथाचासद्वघावृत्तिविशिष्टरूपण प्रमाणगम्यत्वेडपि सविषयकत्वादिरुपेण साक्षिमात्रवद्यमज्ञानमिति सिद्धान्तो न विरुध्यत

1 सुखादिहेतुजन्यत्वस्य-ग. ${ }^{2}$ स्वस्वविषय विषयसंस्कारे-ख. स्वस्वविषयसंस्कारे-क.

प्रमाणैरसद्वचावृत्तिमाश्रं बोध्यत इति—वाच्यम्; अज्ञानमगृक्षतां तश्रासद्वयावृत्तिबोधेड्यसामर्यादिति-चेन्न ; प्रमाणोपनीवासद्वयाब्टात्तिविशिष्टाज्ञानं हि साक्षिणा गृद्यते। तथाचासद्वथावृत्युपनयने प्रमाणानां चरितार्थत्वान्न काप्यनुपपत्तिः ॥ हल्यद्वतसिद्धाबधिध्यापतीस्युपपश्तःः ॥

## अथाविद्यायाश्विन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः

अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं जह्नैव। तदुक्तम्-
' आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केनला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्भिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः'।।

इति ॥
दर्पणस्य मुख्वमात्रसंबन्धेडपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्नाणि ; उपाधे: प्रतिकिम्बपक्षपातित्वात्। ननु-कथं चैतन्यमज्ञानाश्रयः ? तस्य प्रकाशाइत्याशयेयाह—तथाचेति। व्यावृच्युपनयने ०.ाृृतिविशिश्टाज्ञानप्रमापणे । चरितार्थत्वादज्ञाननिवृतिरूपफलवस्वात् । तथाच विशिष्टकारजाने विशेष्यस्थाविशिष्टरूपेण भाननियमस्वीकरेडाषे ककृते विशिष्टरूपेण प्रमेयता, न त्वविशिष्टरूपेण ; तत्र प्रमाविषयत्वेडप्युक्तफलाभावादिति, तत्र पमाणं नाज्ञातज्ञापकमिति भावः ॥

तर्कैरित्यादि-अविध्याबुद्धगुपपादनम् ।


## अथाविद्यायाश्विन्मत्राश्रयत्वोपपतिः

प्रतिविम्बपक्षपातित्वात्-प्रतिबिम्ब एव कार्यविशोषजनक-

स्वरूपत्वात्, तयोश्र तमः्रकाशवश्रिद्यद्वस्वभावस्वादितिचेन्न ; अज्ञानविरेाधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम् ; किंतु वृत्तिप्रतिविम्वितम ; तच्च नाविद्याश्रय:, यच्चाविद्याश्रयः, तब्च नाज्ञानविरेाधि। न च तरिं धुद्धाचितोऽज्ञानविरोधित्वाभावे घटादिवदग्रकाइत्वापत्तिः ; बृच्यचच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्, स्वत्सृणतूलादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतुणतूलादिदाहकत्ववत्स्वतो डविद्यातक्कार्यभासकस्ग हैतन्यस्य बृत्यवच्छेदेन तद्दाहकत्वात्। नन्वहमझ्ञ इति धर्मिग्राहकेण साक्षिणा अहछाराश्रितत्वेनाज्ञानस्य ग्रहणाद्वाधः, न च-स्थौल्याश्रयदैहैक्याध्यासादहं ₹थूल इतिवद्जानाश्रयचिदैक्याध्यासात्

त्वात्। यथा मलिनदप्पणो मालिन्यं ₹वसंसर्ग च प्रतिबिम्ब एव जनयति, न तु बिम्बे ; तथैवानुभवात्, तथाइविद्यापि जीवं पत्येवावरकव्वेन श्रुत्युनुभवादिसिद्धाव्वादावरणपयुक्तव्यवहारं मनआदिकार्य जीवे जनयति, न त्वीए इति भावः। अज्ञानं प्रति ज्ञाने विरे|घित्वं नाशकत्वम्, तच न चिन्मात्रे ; तथाननुभवात्, किंतु प्रमाणबृच्तिप्रतिविम्विताचितीति नोक्तदोष इंयाह---नाज्ञानेति। स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्येति। यद्बृल्यवच्छिन्नस्य यदविद्यातत्कार्यनाशकत्वं तां वृर्ति विनैव तदविद्यातक्कार्यभासकस्येय्यर्थः। वृच्यवच्छेदेन तदघिषानगोचरवृत्त्यवच्छेदेन। स्थौल्येति। अहछ्वरावच्छिन्नचितीत्यादिः। चिंदैक्याध्यासात् चित्यह ह्वारस्यैक्येनाध्यासात् । यद्यप्यह्करोपापदानीमूतं मूलाज्ञानं नावच्छिन्नाश्रयताकम् ; अत इदमंशावच्छिन्नाश्रयताकतूलुज्ञानपरिणामरूप्यदेशिदं रूप्यमिति भ्रमरशत्या ' नाहमज़ ' इति अभः ; तथापि घटादे चितीवाह क्झारदेरज्ञानपरिणामत्वादज्ञानाव|च्छिन्नचिल्यैक्याध्यासादुक्तभ्रम

दग्धृत्वायसेरेकाग्रिसंबन्धादयो दहतीतिवदज्ञानाहछ्कारयोरेकचिंदैक्याध्यासद्वा 'अहमज्' इति धार्भान्तेति-वाच्यम् ; चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्धया अन्योन्याश्रयादिति — चेन्न; अहछारस्याविद्याधीनत्वेन तदनाभ्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे 'अहमझ्न' इति प्रतीतिंरैक्याध्यासनिबन्घनत्वेनाबाघकत्वात् । नचाविद्याश्रयत्वादेवहछ्कारोऽकल्पितोडस्तु, कल्पित एव वा तदाश्रयत्वमस्तु, अविद्यायामनुपपत्तेरलळ्कार-त्वादिति-वाच्यम्; अहमर्थस्य ज्ञाननिवर्यत्वेन हछइयत्वेनाकल्पितत्वायोगात्, चिन्मात्राश्भितत्वं विना तदोगरचरमवृच्यनिवर्त्यत्वापातात्, स्वकल्पितस्य स्वाश्रितत्वेन स्वाश्रयत्वायोगात्। नचाविद्यायामनुपपत्तिरलङ्कारः ; अनुपपत्तिमात्रं नाल-

इति भावः। अज्ञानं नोपादानमिति पक्षेडप्याह——द्धृत्वेत्यादि । यथाम्मावयसस्तादात्म्येनाध्यासादम्मिधर्मस्य दंगृत्वस्यायस्स 'अयोधर्मस्य विण्डव्वदेरेरमौ चाध्यास:, तथा चित्यह ह्कारस्य तादात्मेनाध्यासाचिद्धमिस्याज्ञानाश्रयव्वपेमास्पदत्वनित्यत्वादेरहल्करे तद्युर्मस्य कर्तृव्वादेश्ध चित्यध्यास इति भावः। भ्रान्तेति । न त्वहक्करस्य सत्यस्य सल्यो घर्मोडज्ञानमिति पररीत्या प्रमेति खोषः । अविद्याधीनत्वेनेति। 'जायते प्राणो मनः' 'मायां तु प्रकृतिम्' 'एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्रानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वे 'ल्यादिश्रुतिभिरित्यादिः । अकल्पितः —अविद्यानधीनः । उक्तश्रुतेर्जाननिवर्य्यल्वानुपपतेश्धाह—कल्पित एवेति। चिन्मात्रेति-अज्ञानस्येय्यादि:। आपातादिति। अभानापादकाज्ञानस्य स्वाश्रयविषयकजानैकनिवर्त्यत्वादिति रोषः । स्वकल्पितस्य अज्ञानकश्पितस्य। नालक्कार

1 दग्धृत्वादेरयसि-ग.

करः; किंतु सच्वादिप्रापकयुक्तावनुपपत्तिः; अन्यथा वादिवचसोडनवकाशापत्ते:। ननु- 'निरनिष्टो निरवद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्त' इति श्रुतिविरोधान्न शुद्धचितोऽविद्याश्रयत्वम् ; न हि मौढयं न दोषः, नाषि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः, न च तात्विकाविद्यादेरेव निषेधः ; त्वन्मते तस्यंप्रसक्तः, जीवेऽपि तदभावेन जीवत्रह्मणोः सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थाश्रुतिविरोध इति—चेन्न ; अवद्यस्य चिति कार्यकारित्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकरत्वाभ्यामेव सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थोपपत्ते ; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् । न च-चिन्मात्रस्याविद्याश्रयत्वे प्रमाणाभावः, जीवाश्रितत्वे च प्रमाणमस्तीति-बाच्यम् ; ' मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'โिति श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। न च 'ज्ञाज्ञावीशानीशा' विति जीवाज्ञानग्रतिपादकश्रुति-

इति । अनुपपत्तिस्वीकारा न कुलघर्म:, किंनु परिहर्तुमशक्याऽनुपपत्चिरनिर्वाच्यताएयापकत्वेन स्वीक्रियत इति भावः। युक्तौ अनुमानादितत्सहकारितर्केषु । अनुपपत्तिः-प्रतिकूलुतर्कः । अन्यथा—परिहारयोग्यानुपप्तेरपि स्वीकारे । दोषः—अवद्यम् । चिति-जीवान्यचिति। कार्यकारित्वेति। अहछ्कारतःकार्यरागादिकारिवेत्यर्थः। प्रमाणत्वात्- खुद्धस्याज्ञानवत्त्वे प्रमणत्वात् । केवलक्यामायित्वेऽपि महेश्वरत्वापहिताभेदादुक्तश्रुतिसज्ञतिः, जीवस्य मायाश्रयत्वे तु तस्योक्ताभेदाभावात्तदसक्नतिः। न चैवं-...केवलस्य जीवेनाप्यमेदाजीवस्यापि मायावत्त्वेन श्रुतिः स्यादिति-वाच्यम्; 'मायया सन्निरुद्ध:' 'मूढ इव च्यवहरन्नास्ते माययैवे'त्यदेरेव ताद्टराश्रुतित्वात्। न हि कुठारायुक्ते कुठारेण छिनतीति प्रयोगः, न वा निगडरून्ये

विरोधः ; तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगितया अज्ञत्वच्यपदेशोपपत्तेः । न च—च्रह्नणोऽपि जीवाश्रिताज्ञानविषयत्वेन मायित्वंपपत्तिरिति-वाच्यम् ; जीवत्वस्याश्रयतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयप्रसझ्नात् । ननु - गुक्तयाद्यज्ञानवज्ञातुरर्थाप्रकाशा-

निगडेन बद्ध इतीति भावः। योगितयेति। ज्ञपदस्य जीवव्यावृत्तसर्वज्तत्वरूपेण बोधकत्वाद्जपदस्यासर्वज्त्वरुपूँणव बोधकत्वामित्यपि बोध्यम्। यद्यप्यज्ञानवल्केवलामेदाज्जावस्याज्ञत्वाक्तिः संभवति, तथापीशोडपि तथा संभवाः्पकृते सा नादृता। ब्रह्सणोऽपीति । अज्ञानानाश्रयत्वेडपीति शोषः। उपपत्ति:-व्यपदेशोपपात्तिः। जीवत्वस्येत्यादि 1 मनोऽवच्छिन्नाचेत्त्वरूपं जीवत्वमाश्रयतावच्छेदकं परेण वाच्यम्; 'अहमज्ञ' इति प्रतीतेः प्रमाणत्वेनोपन्यासात्, तच्च जीवत्वमज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयः । अज्ञानावच्छिन्नचित्त्वरूपं जीवत्वं तु वाचस्पतिमतेऽज्ञानाश्रयतावच्छेदकं वक्ष्यत एव, परंतु तस्मिन् पक्षे अश्र्रयताया अवच्छिन्नत्वकल्पने गौरवादनवाच्छिन्नाश्रयतापक्ष एव युक्तः। यदि तु नाज्ञानाश्रयतायां जीवृ्वं संयोगादौ शाखादिकमिवावच्छेदकम्, कित्वाश्र्यीमूतजीवस्योपाधिमात्रम् ; गुद्धस्याश्रयत्वपक्षे ज्ञाविति ${ }^{1}$ श्रुतावज्ञपदक्याज्ञानकार्यविशोषाश्रय इव वाचस्पतिपक्षे मायिनमिति श्रुतिपदे मायाविषायेणि लक्षणा न दोष इत्यालोच्यते ; तथाप्युपहितचिद्पेक्षया शुद्धचितो लघुत्वात्तैवाश्रयव्वं युक्तम्। अहमर्थाश्रितमज्ञानमिति परपक्षस्तु सर्वथा न युक्तः; अहमर्थनुत्पत्तिद्शायां तदाश्रितत्वासंभवात्, खुद्धचिदाद्याश्रितत्वेऽवइयं वाच्चे तेनैवोक्तरीत्याऽहमज्ञ इति बुद्धगुपपत्ते:, अज्ञानकार्यत्वादहमर्थोडज्ञानाश्रितः अहमर्थाश्रितं चाज्ञानामिति स्थितावन्योन्याश्रयात् ${ }^{2}$

$$
1 \text { ज्ञाताविति-ग. } 2 \text { श्रयाम्च-ग. }
$$

रूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिना स्वनिवर्तकेन तच्चज्ञानादिना स्रसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामानाधिकरण्याय ज्ञात्रात्मानिष्ठम्, न तु चैतन्यरूपज्ञानाश्रितमिति-चेन्न ; चैतन्यस्यैव ज्ञातत्वेन ज्ञातुरर्थाप्रकारारूपत्वस्य सम्यक्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकरण्यस्य चोपपत्तेः । न चैवंज्ञातृत्वे सत्यविद्याश्रयत्वम्, अविद्यायां ज्ञातत्वमित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम् ; अविद्याया ज्ञातत्वानपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयाभावात्। न हि सामानाधिकरण्यमस्तीत्येतावतैव तदपेक्षया अनया भवितब्यम्। न च—रारीरेऽपि ज्ञातत्वाध्याससंभवेन तअ्राप्यज्ञानाश्रयत्वापत्तिरिति-वाच्यम् ; न हि ज्ञातुत्वाध्यासोऽज्ञानाश्रयत्त्रे प्रयोजकः, येन तन्माश्रेण तदापद्येत, किंतु प्रसक्तप्रकाशत्वमज्ञानानाश्रितत्वं च। न चैवमविद्याश्रयस्य

चैतन्यस्य— - ज्ञानाश्रयशुद्धचिदमिन्नसाक्षेण.। ज्ञातुर्थाप्रकाशोऽ. ज्ञानमित्यत्र ज्ञातृंसद्धमज्ञानमित्यर्थः, स चाक्षतः; साक्षिणि ज्ञातर्यज्ञानवदभेदात्, एवं अ्रमादिसामानाधिकरण्यमवीति भावः। वस्तुतो ज्ञातारं प्रत्यावरकत्वमेन षष्ठयोल्किरियते, न तु ज्ञातृनिष्ठत्वम् ; शुक्तयाद्यज्ञानस्येदमंशादौ कार्यजनकत्वानुरोघेन ₹वसमानाश्रयज्ञाननिवर्वय्त्वनियमानुरोधेन चेदमंशावच्छिन्नचित्यहमर्थे चाश्रयत्वावइयकत्वेडापे ;मूलाज्ञानғय शुद्धचित्येव ख्वकार्यजनकत्वात्; ₹वकार्यमनःपरिणामविशेषनिवर्त्यत्वनियमेनैवानतिैपसझ्ञाच, गुद्धचिदाश्रितत्वमव युक्तमिति ध्येयम् ॥

अनावृताचित्संबन्धादह ङ्करससयापि प्रसक्तप्रकाशत्वादाह --अज्ञानानाश्रितत्वं चेति । यद्यपि प्रसक्तप्रकाशत्वमज्ञानाविषयंत्व एव प्रयोजकम्, तथाप्यभानापादकाज्ञानस्य विषयाश्रितत्वात्तद्विषयत्वे तदा-

ज्ञातृत्वभोक्टत्वादिमत्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेरा इति-वाच्यम्; अविद्यावच्छिन्नस्य हि ज्ञातत्वम् ; अविद्या च नाविद्यावच्छेदेन ; सामानाधिकरण्यं चावच्छेद्यांरैक्यमादाय। यथेपपाधिसंबन्धो मुखमात्र एव, औपाधिकमालिन्यसंबन्धस्तूपाध्यवच्छिन्ने, बिम्बप्रतिविम्बयोरैक्यात्, तथा सामानाधिकरण्यमपि यथा प्रतिबिम्बो न वस्त्वन्तरम्, तथा चक्ष्यते। ननुशुक्त्यज्ञानमपि श्रुक्यवच्छिन्नचैतन्यगतं वाच्यम्, तथा च 'अहं जानामीच्छामी ' तिवत् ' अहं न जानामी ' ति ज्ञातस्थत्वानुमवविरोध इति-चेन्न ; अज्ञानद्वैविध्यात्। एकं हि शुकत्यवच्छिनचैतन्याश्रितं तद्नतापरोक्षभ्रमजनकं तद्विषयापरोक्षप्रमानाइयम्। अपरं च परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयप्रमामात्रनाइयं प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यशिश्रितमित्युक्तं प्राक्। तत्र प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानविषयकोऽयमनुमवः। तेन प्रमा तृनिष्ठत्तविषयतास्य न विरुध्यते। अत एव विषयगताज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रमातुगताज्ञाननाशोन न ज्ञानामीति ठ्यवहाराभावः। ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वान्म जह्मणः संसारित्वमित्युक्तं, तदयुक्तम् ; बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात् । तथाहि—अचाक्षुषस्य चैचतन्यस्य गन्धरसादिवत्प्रतिबिम्बतानहैत्वात्, प्रतिबिम्बत्वे जविस्य सादित्वापाताच, सूर्यस्य सरिअल इव मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलनेन चिद्समानसत्ताकश्रयत्वे च तत्रयोजकामिति भावः । सामानाधिकरण्यं च अज्ञो ज्ञातेत्यभेदोक्तिश्च। अवच्छेद्यांरैक्यं अविद्यावच्छिन्नेन शुद्धसयैक्यम् । ऐक्यात् तादात्म्यात्। सामानाधिकरण्यमपि बिम्बीभूतं अ्रीवास्थ. मुखं मलिनमित्येदोदोक्तिरपि । न वस्त्वन्तरमिति । किंतु बिम्बमेवोपाधिस्थत्वादिविशिष्टं सत्प्रतिबिम्ब इति रोष.। तथाचाभेदो

स्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगात्, अस्वच्छस्याज्ञानस्य प्रतिबिम्बितोपाधित्वायोगाच, अविद्यायाश्विन्मात्राभिमुख्यासंभवाच, अज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापाताचेति चेन्न ; रूपवत एव प्रतिबिम्ब इत्यस्या ठ्याप्ते रूपादौं व्यभिचाराद्यथा भङ्झः, एव्रमाकारादौ व्यभिचाराचाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्ब इत्यस्सा अपि व्याप्तेर्भङ्नः। वस्तुतस्तु श्रतिबलाचितः प्रतिबिम्बे सिद्धे तन्रैव ठ्यभिचारान्नेयं क्याप्तिः ; तथाच रसादिव्यावृत्तं फलैकोन्नेयं प्रतिबिम्बप्रयोजकम्। नापि जावस्य सादित्वापत्तिः ; उपाधिबिम्बसंबन्धानादित्वेनानादित्वोपपत्तेः। विस्तरस्तु सिद्धान्तबिन्द्रौ। यत्तूक्तं मरीचिकाजले सूयय्रतिबिम्बादर्शानाद्विम्बसमानसत्ताकत्वं प्रतिबिम्बोद्राहित्वे प्रयोजकमिति, तन्न ; अध्यस्तस्य सफटिकलौहित्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनात्। तस्मान्मरीचिकाजलन्यावृत्तं स्वच्छत्वं फलैलोन्नेयमननुगतमेव प्रतिबिम्बोद्र्राहित्वे प्रयोजकम् । तच्च प्रकृतेऽप्यस्ति। अत एव अज्ञा-
युज्यत इति भावः। वाच्यमिति। मूलाज्ञानवदित्यादिः। रूपादौौ सफटिकाद्युपाधिकजपालौहित्यादौ । आकाशादौौ जलप्रतिबिम्बिताकाशादौ। श्रुतिबलात् 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती ’ति ‘रूपं रूपं प्रतिरुव' इत्यादिश्रुतिबलात्। विस्तर इति। विभ्रमहेतूनां विचित्रत्वाद़चक्षुषस्सापि प्रतिबिम्बः ; 'अभास एव च, अत एव चोपमा सूर्यकादिव'दित्यादिसूत्राणि च तत्र मानमित्यादिविस्तर इत्यर्थः। अध्यस्तस्येति। स्फटिके साक्षास्संबन्धेन हौहित्यप्रत्ययस्यानुभविकत्वाद्वाधाच तत्र तद्ध्यस्तामिति भावः। मरीचिकाजलादे: प्रातीतिकस्य प्रतिबिम्बोपाधित्वस्याहृष्टत्वेडापे ठयावहारिकस्य दर्पणादेरिवाज्ञानादेरपि प्रतिबिम्बोपाधिंवं नायुक्तमित्यपि बोध्यम् । अत एव अननुगतस्ग प्रतिबिम्बोपाधितायोग्यत्वस्यैव स्वच्छत्व-

नस्यास्त्छत्त्वान्न प्रतिबिम्बोपाधित्व्वमिति निरस्तम्। यच्चोक्त चिन्मात्राभिमुख्याभावादिति, तर्श̃क सर्चर्तनना चिदाभिमुख्याभावाद्वा, अभिम्रुखूयात्राभावाद्धा। नाद्यः ; चैतन्यवद्विसुत्वपक्षे सवोतमनापि संभवत्र । न्यूनपरिमाणत्वेऽपि न दोषः; न्यूनपरिमाणस्याप्यधिकपरिमाणाकाशादिग्रतिबिम्बोदूग्र्राहित्वद र्शनात्। न द्वितीयः ; चैतन्यस्य सर्वतोऽपी प्रसृतत्वेन व्यवधानाभावेन च।भिमुख्यस्य सन्धावात् । न चाकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापत्तिः ; प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपाविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्ग्राविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानपायात्। न च मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्ररूपव्यक्तचन्तरस्येन जीवत्रद्मानुगतचिच्वातिरिक्तचिन्मात्ररूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोगय ठयक्तथन्तरस्याभावान्मुखमात्रसंबन्धयादर्शानचिन्मात्रसंबन्छय ज्ञानमिति कथमिति-वाच्यम् ; अपरामृष्टभेद्स्य मुखादेमात्रार्थत्वेनानुगतधर्म्यतिरेकसंभवात्। ननु—उपाधिः प्रतिबिम्ब${ }^{1}$ रूपत्वादेव। विसुत्वपक्षे अज्ञानस्य परममहत्त्वपक्षे। न्यूनेति जलादेरित्या/दि। सदात्रादिति। दे गविशेषसथत्वं त्विम्घोपाध्योराभिमुरूयं प्रतिबिम्ब ${ }^{2}$ प्रयाजकमिति तु न युक्तम्; अननुगतत्वात् । रूपाविरोधीति । नफटिकादेश्यूर्गादिरूपवारणामम्य प्रतिबिम्बविरोधित्वेऽपि पात्रविशेषादिरूप: परिणामो न तथेति परिणाममान्रं न तथेति भावः । मुखप्रतिमुखेत्यादि । बिम्बमुखपतिचिम्बमुखयोरनुगतस्य मुखत्वन्यन्य मुखमात्ररूपठ्यक्तयन्तरस्येत्यर्थः । अपरामृष्टभेद्स्येति। प्रतिबिम्जत्वोपहितमुखादितः परामृष्टो गृहीतो भेदो यत्र बिम्बत्वोपहितमुखादौ तदन्यस्येत्यर्थ: । मात्रार्थत्वेन—विम्बप्रतिबिम्बानुगतं मुख ${ }^{3}$ मात्र्रमिति वाक्यगतमात्रशबढार्थत्वेन। धर्म्यतिरेकेति। उपाघिभेदेनेन बिम्बपरति-

$$
1 \text { हूपत्वादे:-ग. } \quad 2 \text { प्रातिबिम्बे -ग. }{ }^{3} \text { नुगतमुख-ग. }
$$

पक्षपातीति सामान्यक्याप्तेरज्ञांं स्वाश्रय एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेषव्याप्तया बाध इति-चेन्न; विशेषच्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य -विवादविषयातिरिक्तेऽसंभवेन विझेषठ्यासचसंभवात्। न च बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यानुपपत्ति: ; अवच्छेद्यांशामादाय सामानाधिकरण्यस्सोक्तत्वात् । ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं तत्र ख्र्म्मप्रतिभासकत्वं वा, स्वकार्यप्रतिभासकत्तं वा, स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा, प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा। नाद्यः ; सुष्तुप्तयद्यनुवृत्तस्याविद्यारूपस्यविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य वा, तत्र्रतिबिम्नितत्वस्य वा, सुषुप्तादावननुवृत्तस्य कर्वत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्साज्ञाननिष्ठत्वाभावात, ज्ञानक्रियासंस्कारादीनां ₹वन्मते अञ्ञाननिष्ठत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि कदाडप्य-
बिम्बयोरिव ${ }^{1}$ केवलोपाहितयोर्मेढात्ताम्यां केवलमुखं भिन्नमवइयं वाच्यम्, तच तयोरनुगतम्, उपहितकेवलयोस्तादात्म्यम्यानुभवादिति भावः। विवाद्विषयातिरिक इति। न च—तूलाज्ञाने सहचारदर्शनेन ठ्यास्तिग्रहान्मूलाज्ञाने तथाडSपादनीयमिति——वाच्यम् ; अभानापादकस्य तूलाज्ञानस्य स्वानाश्रये प्रमातर्यवि ${ }^{2}$ भ्रान्तिजनकत्वादसत्व्वापादकस्य तस्यापि स्वानाश्रये विषय एव अ्रमविषयजनकत्वात्तूलाज्ञानेऽपि सहचारदर्शनात् । तत्र-प्रतिबिम्ब एव। नाद्य इति। स्वधर्मस्यैब प्रतिभासकत्वं स्वधर्मसामान्यस्य प्रति ${ }^{3}$ भासकत्वं वाऽभिप्रेत्य तमांघ ${ }^{4}$ सुषुप्तेत्यादिना प्रत्याख्याग द्वितीयं प्रत्याह— ज्ञानेति। ननु -कर्तृत्वादेरविद्यापरिणामत्वादविद्यानिष्ठत्वेनाद्यपक्ष एव युक्तस्तत्राह --

[^187]प्रतीतेः। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च चन्ध उदाहृतः' इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका बन्धो वा, न तु बद्दा, येन खनिष्ठबन्धरूपधर्मसक्क्रमकत्वं सात् । न द्वितीयः; विच्छेदादेरपाधिकार्यस्य विम्बे महाकारो च दर्शनात्, मुखस्स ${ }^{1}$ बिम्बत्वादेब्र्रद्सस्यसार्वज्ञयादेश्यनौपाधिकत्वापाताच । नापि तृीगयचतुर्थौ ; दर्पणघटादावदष्टे। एवं बुद्धिरूपोपाधिरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातीति चेन्न; अतिशयेन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम्। तथाच विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वस(म्येजपि स्थौल्याद्यबभासरूपकार्यकरत्वेन दर्पणादे: प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्त् त्वभोतृत्वादिसंसाररूपकार्यकरत्वेनाविद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्ष-

अविद्यास्तमय इति। बन्धो वा बन्षश्र। न तु बद्दा न तु कर्वृत्वादिबन्षाश्र्र्। तथाच कर्तृं्वादिक नाविद्यापरिणाम इत्याभि मानः । धर्मसक्क्रामकत्वं धर्मस्यैव सक्क्रामक्वम्। दर्शनादिति। प्रतिबिम्बमिन्ने स्वकार्यापतिभासकट्वं द्वितीयस्य पर्यवसितार्थ:, स च न संभवतीति भावः। ननु-विच्छेदो बिम्बभेदः ः्वनिह्ठो न स्वकार्य इति तस्म प्रतिविम्बे स स्र्|मकत्वे डवि क्रकृते न दोषस्तत्राह-पुखस्थेति। प्रतिबिम्बपक्षपातित्वामित्यत्र प्रतिबिम्बवदमुपाध्यन्तर्गतपरतयाइवच्चिन्नाकाशाधर्थकमपील्याशयेन पूर्व महाकाश इति अये घटादाविति चोो्तम् । अतिशयेनेति। यथा सर्वाभिमतदाताइपि भगवान् भक्तान्प्येवातिशयेन तद्वातृत्वात्तपक्षपतीत्युच्यते, तथा बिम्बपतिविम्वयोः कार्यकरो5प्युपाधिरतिशयेन प्रतिविम्ब एव कार्यकरत्वाप्वक्ष्वातीति भावः । स्थौल्यादीति। स्थूलुमिनदर्वादे : प्रतिविम्बे स्थौस्यादिधीजनकव्व-

[^188]पातित्वोपपत्तेः 1 यत्तूक्तं मुखादिगतं बिम्बत्वं इक्मगतं सार्वज्ञथादिकं चानौपाधिकं स्यादिति, तन्न ; उपाधौ बिम्बकार्यकरत्वमेव नेतीति न हूमः, किंतु प्रतिबिम्बे अतिशयोेनेति । यदपि बुद्धिरूपोपोघरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, त干य प्रतिबिम्बापक्षपाति जपाकुसुमस्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्यादर्शस्थानययत्वाभावादिति, तन्न; स्वनिष्ठस्थौल्यावभासकत्वेनादर्शास्येवामिति भावः। उपपत्तेरिति। यथानुभवचलार्द्पणादे: प्रतिविम्ब एव मालिन्यादिभ्रमहेतुव्वं तथा श्रुल्यनुभवादिबळार्जीव एवाविद्याया मनस्तच्वरिणामहेतुत्वम् ; ईरे तु सर्वज़्ञव्वाकाइादिहेतुत्वमिति भाव:। प्रतिबिम्बं प्रल्येव स्वविषया ${ }^{1}$ चछछादकत्वमिति चत्रुभपक्षोडवि युक्तः ; दर्पणादौ। स्वविषयाच्छादकान्यत्वे $<$ युक्तरूपस्येवाज्ञाने प्रतिबिम्नं प्रत्येवानतिशया। नन्द्वर्वरूपावरकत्वरूपस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वस्य संभवात् । न हि सर्वत्रोपाधावेकजातीयं तद्वाच्यमिति कुलुर्घमः। एवं च ‘अनृतेन हि प्र्यूढाः ' 'मूढ इव o्यवहरन्नास्ते' इत्यादिश्रुल्यादिना जीवं पत्यावरकमझ्ञानं नेखों पतील्येव जीवेइयोर्विंगेष्षंभवेनेगे मनसतत्वारिणामसंबन्धस्वीकारेडवि न क्षतिः। ईईशस्य रागादिशून्यत्वश्रुतिस्तु जीवन्मुक्तस्याशरीरव्वादिश्रुतिरिक तदीयदृष्टिमाश्रिल्य नेया।

अथैवमीशस्यैव सार्वज्वयसर्वकर्तृव्वादिजनकवेनाज्ञानस्य बिम्ब-पक्षवातित्वमप्यनिवार्यामिति-चेत्, अन्तु तथा; तथाव्युक्तस्य प्रतिबिम्बवक्षपातित्वस्यानवाय एव। न च सावरज्ञयदेर्जीवेऽप्यापत्तिः ; मनावृर्तिं विनाडsवरणानभिभवेन सर्वज्ञानेच्छाकृत्यंभवात्। आवरणमेव तन्तदैद्धर्यतिरोधायकमित्यम्य ‘पराभिध्यानातु तिरोहितं ततो घ्यन्य बन्ष-


1 अनतिशाय।नन्ईम्वत्विषग्रा-ग:

स्यापि स्वनिष्धधर्मावभासकत्वेन तद्वत्पक्षपातित्वसंभवात्। तस्मादविद्याकृतविच्छेदेन जद्नण्येन नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्तत्वार्किचिज्ञत्वादिन्यवस्थोपपत्त्ःः। एतेनासर्वज्ञत्वादिनाइन्नुभवसिद्धाजीवादन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वज्ञयादिश्रुतिर्निर्विषया स्यात्, एकजीववादे संसार्यसंसारिण्यवस्थायोगात्-
'द्वा सुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिभिः,
'अन्यश्र परमो राजन् तथाइन्यः पश्रविंशकः।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप '।।
इत्यादिस्मृतिभि:, 'शारीरश्योभयेऽपि हि भेदेनैनमषधा-
प्पैर्वर्यमस्ति, परंतु तिरोहितम् अज्ञानकृतावरणादेहाभिमानाएँ, ईशग्रसादादाविर्भवति' इल्यदिभाष्येणोक्तव्वाच । एवं चेशास्य कार्यमात्रोपादानत्वपक्षोडपि सझ्नच्छते। एतेन--अतिशयेन प्रातिविच्वे कार्यकरत्वं ईशनिष्ठकार्यापेक्षया|घिकसड्ब्याककार्यकरववं वा विरक्षणकर्यकरत्वं वा । नाद्यः; ईशनिष्ठाकाशाघेक्षया जीवनिष्टानामाहिक्यानिर्णयात् । न च-जीवमेदे डc्याकाशादेरैकैक्वात्तशा निर्णय इति—वाच्यम् ; तथापि जीवमेदेद प्रपश्चभेदपक्षे तदनिर्णयात्। नान्त्य:; ईंशेडपि जीवनिष्ठकार्यापेक्षया विउक्षणकार्यजनकव्वेनेशपक्षपातित्वस्यापि वन्तुं राक्यत्वादिति परास्तम्; ईशकार्यविउक्षणकार्याणां जीवे जनकत्वानवायात्, जावं प्रत्यावरणस्यैज जीवनिषकार्येडतिशयरुपप्वसंभवाच्चेत्याशयेनाह - तस्मादिति। अविद्याक्ठतविच्छेदेन अविद्याप्रयुक्तमेदेन । नित्यमुक्तव्वेति । सत्यत्वेन ज्ञायमानद्इयसंबन्धरूपबन्षाश्रयान्यत्वेत्यर्थः। आत्मनि जीवे। तिष्ठन्मिति। 'अात्मानमन्तरो यमयति' इति श्रुतिशेषः। शारीरश्षेति। वक्षणोडन्य इति शेषः। उभये काण्वा माध्यन्दिनाश्ध ‘यो विज्ञाने

$$
\text { परिचछछद:] अविद्यायाईंश्वन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः } 21
$$

यते' 'भेद्व्यपदेशाच' इत्यादिस्सत्रः, 'तसाच्छारीरादन्य एवेश्वरः। आत्मानौ तावेतौ चेतनौ एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरातोडपहतपाप्मत्वादिगुणः' इत्यादि भाष्यै:, 'तच्वज्ञानसंसरणे चावदातत्वइयामत्वादिवन्मेतरेतरत्रावतिष्ठेते ' इत्यादिविवरणग्रन्थैश्र विरोध इति निरस्तम् । ननु—चिन्मात्रस्याज्ञानं खाभाविकमौपाधिकं वा, नाद्यः ; आत्मनद्निवृत्तिप्रसक्ञात्। नान्त्यः ; स्वसैयदोपाधित्वे आत्माश्रयात्, एतदेपक्षान्यापेक्षत्वेडन्योन्याश्रयात्, तदन्यान्यापेक्षत्वे चानवस्थानादिति—चेन्न ; स्वस्यैवाश्रयत्वोपाधित्वात्। न चात्माश्रयः ; भेद्स्य स्वभेदकत्त्ववदुपपत्तेः, स्वाभाविकस्यापि घटरूपस्य तत्रागभावस्य च नि वृत्तिदर्शानात् ।।

इत्यद्वैतसिद्दावविद्यायाश्चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ॥

तिष्ठन् ' 'य आहमनि तिष्ठन् ' इति च नियम्यनियन्तृभावरूपेण भेदेन हि यस्मादर्धीयते पठन्ति । तश्चज्ञानसंसरणे—अनावरणावरणे ।
तर्कैरित्यादि —अज्ञानझुद्धचित्त्थितिः ॥

इलयद्वैतसिद्विव्याख्यायां गुरचन्द्रकाग्रामझ्ञानस्य \{चन्मात्राश्रयव्वोपपात्तेः ॥

## अथाज्ञानवादेऽविद्याया: सर्वज्ञाश्रयन्वोपपत्तिः॥

ननु-ख्युद्वश्रक्सणश्थिन्मात्रस्याज्ञानाश्रयत्वे सार्वज्नयविरोधः। न च—विशिष्ट एव सार्वज्ञयम् ; 'तुरीयं सर्वद्दक्सदा' इति शुर्दस्यैव सर्वज्ञत्वोक्तेरिति-चेन्न ; सर्वद्व्पदेन सर्वेषां हृग्भूतं चैतन्यमित्युच्यते, न तु सर्वज्ं तुरीयम्; तसाद्विशिष्ट एव सार्वज्ञथम् । तचाविद्यां विना न संभवतील्यविद्यासिद्धिः। तथाहि - सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, सरूपज्तप्रा वा। तत्र प्रमाणस्य भन्त्तेशाविद्यामूलत्वात्, असक्जस्वरूपज्ञेश्याविद्यां विना विषयासक्गतेः। तदुक्तम्-
"स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्त्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विनाउविद्यासंबन्धं नैव सिध्यति"। इति॥
न च—स्वरूपजत्तेः स्वतः कालाद्यसंबन्धेडसच्वापातेन स्वतः संबन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन चाविद्ययेव स्वत एवान्येन संबन्धो बक्तन्य इति—वाच्यम् ; अविद्यासंबन्धस्याप्याविद्य-

अथाज्ञानवादेऽविद्यायाः सर्वज्ञाभ्रयत्वोपपत्तिः ॥
सर्वेषां हक् सर्वभासकाभिन्नम् ${ }^{1}$ । चैतन्यं गुद्धम् । अविद्यामिति । गुद्दे इल्यादिः । प्रमाणतः—वृत्तिज्ञानेन । प्रमाणस्य भाविगोचरानुमितिरुपायाः अविद्यातृत्तेः। भ्रान्तेः विद्यमानगोचरप्र्यक्षरूपाया नष्टगोचचस्मृतिरूपायाश्ध प्रमाणजन्याया अविघावृत्तेः । प्रमाणै:—अविद्यावृत्तिभिः । वस्दुस्थिथिरियिमुक्ता । वस्तुतोऽऽविद्याश्रयत्वं न सार्वज्ञचेन विरुध्यते, यं प्र्यावारिकाऽविद्या तंत्रैव हि सावज्ञयासंभव:, न च सा जीवान्यं भ्यल्यावारिकेति ध्येयम्।

कत्वेनाविद्ययेवेतिति दृष्टान्तानुपपच्तेः। स्वतः परतो वा कालादिसंबन्धेन सर्वसंबन्धेन चासद्वैलक्षण्यसर्वगतत्वयोरुपपत्तेर्न तयोरर्थे स्वतः कालसंबन्धसर्वंसंबन्धापेक्षा। असझल्वभ्षुतिरपि स्वतः सड़ाभावविषयत्वेनोपपद्यते । अत एव-'अज्ञताइखिलसंवेतुर्घटते न कुतथन ' इति-निरस्तम्। तस्माच्चिन्मात्राश्रितैवाविद्या ।। हल्यक्षानवादे सर्वस्षस्याक्षानाश्रयत्वोपपात्तिः ॥

## अथाज्ञान वादे ऽविय्याया वाचस्पतिसममतजीवाश्रयत्रोपपतिः ॥

वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितैवाविद्या निगद्यते। नतु— जीवाश्रिताविद्या तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यं वा, तदवच्छिबनैतन्यं

संवेत्तुरिति—तृजन्तम् । यतु--ताच्छीलिकतृन्ननमिति--तन्न; मानाभावात्, कैवश्ये बेतृत्वाभावेन विषयेेदनस्वभावत्वाभावात्। वस्तुतो ज्ञातृपरतया परेण प्युत्त्वाद्देतृपदमसाध्वेव; ज्ञानार्थकविदे: सेट्व्वेन बेदितृपदस्यैव ज्ञार्र्थत्वात् । विचारार्थंकविदेरनिट्व्वेऽवि प्रकृते विचारार्थकत्वमसझ्रतमेव; परोक्षज्ञानेनापि संभवतो विचारस्याज़्वाविरोषित्वादिति ध्येयम् ॥

> तर्कैरित्यादि-सार्वेश्येडप्पज्ञात्रा चितः

इलयद्येतसिद्धिव्याख्यायां गुर्चन्न्न कागं सर्वझझ्याज्ञानाश्रयव्वोपपत्तिः ॥

वा, तत्कल्पितभेदं वा जीवः। तथाचान्योन्याश्रय छति चेत्न; किमयमन्योन्यशश्रय उत्पत्तौ, ज्ञसी, स्थितौ वा, नाघः ; अनादित्वादुभयो:। न द्वितीयः ; अज्ञानस्य चिन्द्रास्यत्वेऽपि चिते: स्वप्रकाशात्वेन तदभास्यत्वात्। न तृतीयः; स कि परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात्। तन्म; उभयस्याप्यसिद्धे: । अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चित्यविद्याश्रितत्वतद्धीनस्थितिकत्वयोरभावात्। नचैवमन्योन्याधीनताक्षतिः ; समानकालीनयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदक-

## अथाज्ञानवादे ऽविद्याया वांचस्पतिसंमतजीवाश्रयत्वोपपचिः ॥।

तत्कल्पितभेदं-तया कल्पित ईशस्य भेदो यन्र तचैतन्यम्। चिन्दास्यत्वेऽपि-साक्षिरूपरीवभास्यत्वेऽपि । चिते:—जीवस्य । तद भास्यत्वात् -अविद्याभानरूपसाक्षिजन्यभानाविषयत्वात्। चिदा-श्रयत्वे-जीवाश्रितत्वे । चिद्धीनस्थितिकत्वे-जजीवनियमितस्थितिकत्वे, जीवान्यावृतित्वे इति यावत्। तदधीनस्थितिकत्वयो:तबन्यावृत्तित्वयोः । जीवस्य शुद्धचिद्धितित्वान्नाविद्यान्यावृतित्वमिति भाव: । अन्योन्याधीनता—अविद्यानाशास्य जीवनाशाठ्यापकव्वेनाविद्याया जीवोपाघित्वेन वा अन्योन्याहीनता । तत्राद्यमाहसमानकालीनयेरिति । ठयाप्यठ्यापकभावापन्नयोरित्यर्थः। यदा ${ }^{1}$ यदाऽविद्या तदाइऽवइयं जीव इति ठ्याप्तावपि जीवनाइस्याविद्यानाशव्याप्यता संभवति, सा च न क्षतिकरीति भाव: । द्वितीयेऽपि न क्षतिरित्याइायेनाह-अवच्छेद्यावच्छेदक्केति—उपहितोपाघीत्यर्थः। स्वेपहितेऽपि जीवेऽविद्याया अश्रयत्वं संभवति; विद्यमानत्वे सति

भावमात्रेण तदुपपत्तेः, घटतद्वच्छिन्नाकारायोरिव प्रमाणप्रमेययोरिव च। तदुक्तम्-
"स्वेनैव कल्पिते देशो व्योम्नि यद्वद्वटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदा: "॥ इति ॥
एतेन-यद्युत्पत्तिज्ञपिमात्रश्रतिबन्धकत्वेनान्योन्यापेक्षताया अदोषत्वम्, तदा चैत्रमैत्रादेरन्योन्यारोहणाद्यापत्तिः — इति निरस्तम् ; परस्परमाश्रयाश्रयिभावस्यानड्नीकारात्। न चेश्वरजावयोरीश्वरजीवकल्पितत्वे आत्माश्रयः, जीवेशकल्पित्वे चान्योन्याश्रयः, न च गुद्धा चित् कल्पिका, तस्या अज्ञानामावा-दिति-वाच्यम् ; जीवाश्रिताया अविद्याया एव जीवेशाकल्पकत्वेनै तद्विकल्पानवकाशात्। तस्माजीवाश्रयत्वेडप्यदोषः ॥।

इत्यद्दननसिद्वावक्षानस्य जीत्राश्रयत्बेपपर्तिः ॥

ठ्यावर्तकत्वरूपस्योपाघित्वस्य स्वाश्रयं प्रति स्वीकारेडपि स्वस्मिन्नविय्याय। अश्र्रयत्वास्वीकारादिति भावः। देशे-पदेशे, सवावच्छिन्न इति यावत्। अविद्याया एवेत्येवकारो हेत्वर्थः । नैतदिति । जीवेशौ प्रति कल्पकत्वं कल्पनाजनकत्वम्, जनकत्वमात्रम्, द्रष्टृत्वं वा। आघ्ये अविद्यावृत्तिरूपकश्पनां प्रत्यविद्याया एव दोषतया उपादानतया च हेतुत्वम्। द्वितीयं तु नाम्युपेयते ; जीवेशयोरनादित्वात् । तृतीये तूमयेरपि स्वरुपतः स्वप्रकाशत्वम्, न तु हर्तत्वम् ; अविद्याविषयंत्वेन स्वस्याविद्याश्रयत्वादिन। जीवादेद्र्रष्ट्वंवं त्वीशे स्वरूपचैतन्येन (न) त्वविद्यावृत्येति ईशस्याविद्यानाश्र्त्वेऽपि तदुपपद्यते। जीवे त्वविद्या•

## अथाज्ञानवादे Sज्ञानविषयनिरूपणमू ॥

अविद्याया विषयोऽपि सुचचः। तथाहि-चिन्मात्रमेवाविद्याविषय: ; तस्याकल्पितत्वेनान्येन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तः, स्वप्रकाशात्वेन प्रसक्तम्रकाशे तस्मिन्नावरणकुत्यसंभवाच, नान्यत्;

विषयत्वाश्रयत्वादिना, ईश ${ }^{1}$ जीवादिद्रष्टृत्वमविद्यावृत्त्यादिनैनैवेति नानुपपत्तिरिति भावः । विषयतासंबन्घेनाविद्या प्रपश्चं प्रति निमित्तम्, न तूपादानम्; येन ब्रह्मणः प्रपश्चाधारत्वं न स्यात् । जीव एव वा प्रपश्चाधारो न ब्रह्म, अतो जीवाविद्ययोरेव पपश्चेपादानत्तम् । जीवब्रह्मणोर्वासतवाभेदाद्रह्मणो जगद्देतुत्वश्रुतिः । जगत्कारणाविद्याविषयत्वादिकमेव श्रक्म ${ }^{2}$ क्षणं यतो वेत्यादिश्रुत्यर्थः। अत एवाविध्यैव शुद्धश्रह्माश्रिता जगनुपादानं; न तु श्नह्म जीवो वेति पक्षे जगदुपादानाविद्यावत्व्वमेवोक्तश्रुत्यर्थ इत्यादि बोध्यम् ॥

## तरैकैरित्यादि--अज्ञाने जीवनिष्ठता ।

इल्यद्दैतासद्धिव्याख्यायां गुरुचन्द्रकायामज्ञानस्य जiवनिप्रतोपपात्तिः ॥

## अथाज्ञानवादे ज्ञानविषयनिरूपणम्.

अन्योन्याश्रयादीति । अज्ञानजन्यानां मध्ये यद्विपयकेनाज्ञानेन यज्जन्यते तस्यापि तद्विषयकेनाज्ञानेन जनने डन्योन्यश्र्यः, तद्विषयकेनैवाज्ञानेन तक्य जनने अहमाश्रयः, अज्ञानावच्छिन्न ${ }^{3}$ चिदादेरज्ञानविषयत्वे तत्रकाशानुपपत्त्यादिरिति भावः ।

$$
1 \text { ईशो-ग. } \quad 2 \text { व्रह्मणो-ग. } \quad 3 \text { आत्माश्रय•, अज्ञानजन्यस्याज्ञानाश्रय }
$$ त्वेऽन्यं।न्याश्रयः, मनावचिछन्न-ग,

तस्याज्ञानकल्पितत्वात्, अप्रसक्तं्रकारात्वेनावरणकृत्याभावाच्च । ननु—किमावरणकृत्यं (१) सिद्धप्रकाशालोपो वा, (२) असिद्वप्रकाशानुत्पत्तिर्वा, (३) सतः प्रकाशास्य विषयासंबन्धो वा, (४) प्राकट्याख्यकार्यप्रतिबन्धो वा, (५) नास्ति न प्रकारात इति ठ्यवहारो वा, •(६) अस्ति प्रकाइात इति ठ्यवहाराभावो वा, (७) नास्तीत्यादि व्यवहारयोग्यत्वं वा, (८) अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा। नाद्यद्वितीयौं स्वरूपप्रकारास्य नित्यसिद्धत्वेन तह्टोपानुत्पश्योरसंभवात्, तदन्यस्य च स्वप्रकारो तस्मिन्ननपेक्षितत्वात् । न तृतायः ; ज्ञानस्य विषयसंबन्धैकस्वभावत्वात, स्वयं ज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते संबन्धानपेक्षणाच्च । नापि चतुर्थः ; त्वन्मते चैचतन्यातिरिक्रस्य तस्याभावात्। नापि पश्वमः ; सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापातात्। नापि षष्टः; ठ्यवहारस्गाभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सन्वात्, वृत्तेश्र मोक्षेड्यसच्चात् । अभिलपनरूपत्वे मोक्षेऽप्यावरणप्रसज्ञात्। नापि सप्रमाष्टमौं ; तयेरप्यारोपितत्वेनावरणं विनायोगा-

अज्ञानकल्पितत्वात् अज्ञानपयुक्तत्वात्, अज्ञाननाशनाइयत्वादिति यावत्। तथाचाज्ञानस्यामिथ्याविषयकज्ञाननिवर्त्यत्वेनामिथ्याविषयकत्वमावइयकमिति भावः । एतेन-अज्ञानम्याश्रयत्वमिव विषयत्वमपि जीवे आस्तामप्येतस्य सदा प्रकाशामानव्वान्न तत्र तत्, तर्हि स एव हेतुर्वाच्य:, नाज्ञानकल्पितत्वमित्यादि-परास्तम् ; 'तमेव विदित्वाडतिमृत्युमेति ' इत्यादिश्रुतेः शुद्धजाननिवर्त्यत्वेनावगताज्ञानस्य शुद्धविषयकत्वैचित्ये प्रकृते तात्पर्यात्। तह्रोपानुत्पन्योः —तल्कोपतदुत्पत्प्यभावयोः। असंभवात् अप्रसिद्धेः। त्वन्मते त्वदभ्युपगते शुद्धचैतन्ये । क्यवहाराभावेन त्यवहाररूपकृत्यस्याभावेन । आवरणग्रसङ्भादिति।

# दिति-चेत्म; नास्ति न प्रकाइत इति व्यवहार एवाभिज्ञादिसाधारणः, अस्ति प्रकाशत इल्येतव्यवहाराभावो वा आवरणक्यत्यम्। 

${ }^{1}$ कृत्यसच्वादित्यादिः। अभिज्ञादीति। बृत्तिज्ञानामिलापादी त्यर्थः। असत्व्वापादकाज्ञानावच्छिन्नचिद्वूंं नास्तित्वं अभानापादकाज्ञानावच्छिन्नचिद्दूपोड्पकाशश्र नास्ति न प्रकांगत इत्याकारकाविधाृत्तिविषयः। अस्ति प्रकाइत इतीति । उत्राज्ञानाभावविशिष्टचिद्वुपमास्तित्वं प्रकाशाश्वास्ति प्रकाशात इत्याकारवृत्तेर्विषयः• सा चोक्ताश्जनविशिष्टचिदुपुरुध्ध्यभाककरणणिका। तत्रास्मन्मते यघपि प्रतियोग्युपळब्धिस्त्वेडपि तदभावसत्व्वादभावस्य ${ }^{2}$ घीप्रसक्षेन प्रतियोग्युपलब्षे: कारणगतशक्तिविषटकत्वरूपप्रतिबन्धकत्वस्य स्वीकाराद्वराद्यभावविशिष्टबोषे घटायुपलब्छेरुत्तप्रतिबन्धकत्वम् ; तथापि प्रातीतिकस्थाज्ञानादेरमावविशिष्टबोषेड्जानादिसंबन्धन्यैवोक्तपतिबन्षकव्वसं भवात् अज्ञानाभावेपषहितचिदाकारवृतावज्ञानोपहितचित उक्तपतिबन्षकत्वात् उत्कृृत्यमावस्था|ज्ञानचित्संबच्धरुपावरणपयुक्तव्वादुक्तावरणकृत्यत्वमव्याहतम् ॥

न चोक्तवृतेर्नाविद्यावृत्तिव्वम् ; अह्म भातीति च्यवहारकालेऽविधाया अभावात्, नाव्यनुपलक्षत्वम् ; पतियोग्यनुपहळछेघटेतुत्वत्यस्यानुपदमुत्रत्वात्, प्रतिबन्षकस्य सिद्दान्ते विघटितशक्तिकान्न जायते विपरीताच्च जायत इति कार्याभावप्रयोजकत्वव्वीकरेडपि प्रतिबन्धकाभावस्स हेतुत्वास्वीकारादिति --वाच्यम् ; प्रतियेग्युपलुध्य्यावाजन्याइपि मनोवृतिरुक्ताभावकालीनकारणजन्येय्यन्नुपलुक्त्वरुपवैजात्यस्य तत्र संभवाच्ताह्हावैजजात्यावच्छिन्नं प्रट्युपलक्ध्यविघटितकारणशकेः प्ययोजकत्वेनानुपलब्विहेतुल्वेन ${ }^{3}$ तद्यवहारस्यापि संभवात्। उक्तवृते:

[^189]आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसम्बन्धरूपा सुषुप्तयादिसाधारणी आव्रद्मज्ञानमवतिष्ठते। तेन सुषुप्तिकाले नानावरणम्, मोक्षकाले च नावरणम् । घदुक्तमस्याप्यारोपितत्वेनावरणसापेक्षत्वमिति,
प्रमात्वस्थापनायेदमुक्तम् । वस्तुतोऽविद्यावृतित्वमपि प्रतियोग्युपलबिषप्रतिबद्धवृत्तेः संभवत्येव; न्नक्म न भातीत्याकारवृत्तेरपि जीवन्मुक्तानुवर्तमानविक्षेपशक्तचाऽविद्यालेगेन वा संभवादिति धयेयम् ॥

नन्वस्तीतिठयवहारे चिन्मत्रामेव विषयोऽन्तु, भातीति ठयवहारे तु तस्य विषयत्वे अस्तीतिठ्यवहारस्यापि तत्समानविषयकतया तत्राप्यभानापादकाज्ञानसंबन्धह्य प्रतिबन्घकर्वापत्तेः, भातीतिठ्यवहारे उक्तज्ञानाभावविशिष्टा चिदेव विषयोडस्तिवति-चेन्न; तथासत्यक्लपप्तस्यासत्त्वापादकाज्ञान' प्रतिबन्घकत्वस्य कल्पनायां गौरवापत्ते:, उक्तज्ञानाभाव²विशिष्टचितस्तद्विषयत्वे तु प्रातीतिके ${ }^{3}$ स्वाभावविशिष्टविषयकानुपरुष्जाने प्रतिबन्धकत्वस्य क्लपत्वेनागौरवमिति ध्येयम् । अत एव नासतीत्यादिव्यवहारेऽव्युक्ताज्ञानमेव विषयः, ${ }^{4}$ न त्वदन्यत्; उक्ताज्ञानविषयकापरोक्षवृतावुक्ताज्ञानहेतुत्वस्य क्लप्तत्वात्, अन्यविषयकत्वे तत्र तद्धेतुःवस्य कल्व्यत्वात्। एवं च ठ्यवहाराभावो वेत्यत्र वाराब्दः समुच्चयार्थः। तूलाज्ञानास्वीकारपक्षे तु वृत्त्यविषयत्वसमानाधिकरणं यदज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं तद्भाववन्निष्ठा चिदेवास्तित्वादिरूपेति प्रतिकर्मठयवस्थेक्करीत्याडवसेयम् ॥

नानावरणमिति। सुषुप्तौ नाहतीत्यादिवृत्त्यभावस्तु विशिष्टविषयकवृत्तिसामान्यकारणाहल्हसस्याभावादिति भावः 1 मोक्षकाले चेति। अस्तीत्यादिवृत्त्यभावस्तदा ${ }^{5}$ नावरणात्, किंत्वहलाराभावात्, अत एव जीवन्मुक्तस्योक्तवृत्तिर्मवत्येव; बाधिताहक्षारानुवृतेः। अस्यापि

[^190]तबः अज्ञानसंबन्धरूपस्यावरणस्यानादित्वेन चित्रकाइयत्वेन चोत्पत्तौ ज्ञतौ स्थितौ वा स्वानपेक्षणात् । नन्वद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा ठ्यवहारेऽपि अवस्थात्रयेऽप्यसन्द्दिधाविपर्यस्तत्वेन
 तद्भावेन तत्कल्प्ययोर्योग्यत्वायोग्यत्वयोरभाव इति-चेन्न ; गुद्धरूपायाश्यितः प्रकारामानत्वेऽपि तस्या एव परिपूर्णाद्याकारेणाप्रकारामानत्वात्, तदर्थ तस्या एवावरणकल्पनात्, परिपूर्णाद्याकारस्य मोक्षदशानुवृत्तत्वेन शुद्धचिन्मात्रत्वात्। न चनिर्विभागचितः कथमें घटत इति-चाच्यम्; आवरणमहिग्रैव परिपूर्ण जह्म नास्ति न प्रकारात इति व्यवहारः, अस्ति प्रकाशत इति ठ्यवहारप्रतिबन्धश्व, अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानता चाविरुद्धेति। अत एव-अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षच्यवहारयोग्यत्वरूप-

आवरणस्यापि । चित्प्रकाइयत्वेन । चिन्निष्ठत्वेन। ज्ञप्ताविति। चिद्रूपा ज्ञातिर्न कारणसापेक्षा, अविद्यावृत्तिरूपा तु विषयविधयाडविद्यासंबन्धसापेक्षाऽपि न क्षतिकरीति भावः। योग्यत्वायोग्यत्वयोः । नास्तीत्यादिठ्यवहारयोगयत्वास्तीत्यादिच्यवहाराभावयो।ग्यत्वयोः। निर्विभागेति। पूर्णापूर्णभेद्रान्येत्यर्थः। महिम्ना अनुभवबलेन। प्रतिबन्धोऽमाकः। अविरुद्धेति। आवरणानुभवान्यथा ${ }^{1}$ नुपपत्त्या पूर्णानन्दचिद्रूपयोर्वस्तुतोऽभिन्नयोरपि कल्पितानादिभेदस्य ₹वीकारादाविरोध इति भावः। इदं च परलालनम्। वसतुतः पकाशामानेऽव्यत्मन्युक्तरीत्याऽज्ञानतदभावविषयकयोरुक्तण्यनहारयोर्भावाभाबौ न विरुद्धौ, अखण्डाकारचरमवृतेरेवाज्ञानविरोधित्वादित्यसकृदुक्तम्। अपरोक्षण्यवहोरोति। भा-

[^191]स्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वायोग्यत्वे कथमिदानीमपि बन्दणि स्यातामू! न चाज्ञानादिमत्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण च तद्योग्यत्वमित्यविरोध इति-चाच्यम् ; स्वरूपस्याप्रकाशत्वापातादिति—निरस्तम् 1 परिपूणाद्याकारेणेदानीं ठ्यवहाराभावेऽपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानपायात्। न चैवं-सुखादेरज्ञानावच्छिन्नचित्रकाइयत्वे 'सुखादिकं न प्रकाइते' इत्यनुमवापातेन सुखादिंकं प्रकाशत इत्यनुमवार्थ चितोsज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशोडड्डीकरणीय इति—वाच्यम् ; इष्टापत्ते:, अनुक्तोपालन्मनत्वात्। न ह्यज्ञानावच्छेदेन चित् प्रकाशात इति ब्रूमः। अत एव च—नित्यातीन्द्रियेऽप्यज्ञानावचछछेदकतया अपरोक्षव्यवहारेण तत्रापि स्वग्रकाशापत्तिरितिनिरस्तम् ; अज्ञानानवच्छेदेन ताद्धशास्य ठ्यवहारस्योक्तेः। ननु—प्रदीपावारकघटादिवचैतन्यावारकाविद्या चैतन्यस्यान्य-

तीति ठ्यवहारेत्यर्थः। ठ्यवहाराभावेऽपि-भातीतिठ्यवहाराभावेऽपि । योग्यत्वानपायादिति। योग्यत्वं चाभानापादकाज्ञाननाशाकवृर्ति प्रति कदाரचिद्विषयत्वामिति भावः। अज्ञानानवच्छेदेन अज्ञानान्यावच्छेदेनापि । तश्रापि--नित्यातीन्द्रियेऽपि । परमाण्वज्ञानं भातीति ठयवहारयोग्यत्वस्य फलुठ्याप्यत्वाभावरूपावेद्यत्वस्य च सत्वात्तन्रापि स्वपकाशत्वापत्तिरिति भावः। अज्ञानानवच्छेदेनेति-अज्ञानादिविषयतया भातीतिव्यवहारयोग्यत्वव्यावृत्यस्येत्यर्थ: । ताद्हराव्यवहारस्य भातीति व्यवहारयोग्यत्वस्य। उक्तवृत्तिविषयत्वरूपयोग्यत्वस्येति समुदायार्थः। यथाश्रुतं फलठ्याप्यत्वाभावविशिष्टस्याज्ञानानवच्छेदेन भातीति व्यवहारयोग्यत्वस्य सुखादावपि सत्त्वात्तत्रापि स्वप्रकाइत्वापत्तेरसक्नम् । अत एव मिथ्यात्वानुमानहेत्वस्वप्रकाइत्वविवेचने योग्यत्वमुक्तरूपमेवो-

संबन्ं प्रतिबधातु अन्यं प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव चैचन्ये उक्तयोग्यत्वरूपप्रकाशविरोधिनी सा, न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशाते; तमःसंबन्धापातात्, न च-कल्पितमेदं जीवचैतन्यं प्रति श्रुद्धैचतन्य-माच्छाद्यतीति-वाच्यम् ; आवरणं विना भेदकल्पनस्यैवायोगात्, यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाचेति—चेन्न ; कल्पितभेदं जीवं प्रति झ्युद्युचतन्यस्यावृतत्वात्। न च-भेदकल्प-नस्यावरणोत्तरकालीनत्गादिद्मयुक्तमिति-वाच्यम् ; भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परमानन्तर्याभावात्। यच्चोक्तं यो मोक्षे भावी चैतन्यं प्रति प्रकारास्तद माव इदानीमज्ञानसाध्य इति तन्न ; मोक्षे जन्यस्य चैचन्यप्रकाशस्याभावात्, कल्पितभेदापगमे श्रुद्धैचतन्यं प्रतीव प्रकाशास्य जीवं प्रत्यपि संभवात्। यच्चोक्तं- प्रकारास्वरूपे चैचतन्ये कथमज्ञानम् न ह्यालोके तम इति, तन्न ; अज्ञानतमसोर्विरोधितायामनुमचसिद्धविशोषात्। तथाहि - 'त्वदुक्तमर्थ न जानामि' इति प्रकारामाने वस्तुन्यज्ञानस्यानुमवात्व्वरूपचैतन्यं साक्षी वा अज्ञानाविरोधि ${ }^{1}$, तमसस्त्वालोके सत्यननुभवादालोकमात्रं तद्विरोधि। वस्तुतस्तु
कमिति ध्येयम्। तदभावस्येति। चिन्मात्रं प्रतीत्याद्धि । ननुनित्यप्रकाशो न जीवं प्रति प्रसकः ; भेदापगमे शुद्धं प्रत्येव तस्य दृष्टत्वात्, तथाच जीवं प्रत्यावरणकल्पना च्यर्था, तत्राह कल्पितभेदापगम इति। जीवं प्रत्यपीति। इदानी़ित्यादिः। तथाच शुद्धं प्रति प्रसक्तया तदमिन्नमीशं प्रतीव जीवं प्रत्यपि प्रसक्तिरिति भावः । स्वरूपचैतन्यं साक्षी वेति। साक्षी शुद्धचिदपि नाज्ञानविरोषी,

अवतमसे विषयप्रकाशकालेकसहभावदर्शनेन तमस्यपि नालोकमाश्रं विरोधि। न च—' तवदुकार्थो न प्रकाशत' इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमानेऽज्ञानम्, सुखादिस्फुरणे भासमाने न प्रकाशात इत्यननुमवात्कथं तन्राज्ञानमिति-वाच्यम्; सुखादिस्फुरणं न प्रकाशात इत्यनुमनाभावेड्यनवच्छिन्माकारेण न प्रकाइात इत्यनुभवात्, आवारकाज्ञानस्य तत्राप्यावरयकत्वात्। यद्पि-'त्वदुक्तमर्थ न जानामी 'त्यत्र भासमाने नाज्ञानम्, किंतु गुहास्थं तमरछन्नमितिवत् त्वदुक्तं न जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैव विशोषाज्ञानमनुभूयते, न हि पराचित्तस्थमज्ञानं प्रातिस्विकरूपेणानूद्यते, एवं च तद्विशोषसंशयं प्रति तत्सामन्यनिश्यय इन तद्विरोषावच्छिन्नाज्ञानज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः ; तथा दर्शानात्, न हि विशोषे ज्ञाते तदज्ञानरीर्द्टष्टा; अवच्छेदक्जानस्य ह्यवच्छिन्नज्ञानहेतुतापि दर्शनादेव कल्या, न चातिप्रसङ्जः ; सामान्यविशेषभावर्यैय नियामकत्वादिति, तन्न ; अज्ञानं हि विशेषावच्छिन्नतया भासते, सामान्याबचिछ्छन्नतया वा। आद्ये विशोषे भासमानत्वमागतमेत्र। न हि विशोषमभासयन्विशेषाज्ञानमित्यवभासयति । तथाच सामान्यनिश्नयजनितेऽऽपि संशयो विशेषमवगाहते यथा, तथा सामान्यज्ञानजनितोऽc्यज्ञानप्रत्ययो विशेषं विषयीकरिष्यतीति कुतो भासमाने नाज्ञानमिति । न द्वितीयः; सामान्यझानेन तद्वच्छिन्नतयैव गृहीतस्याज्ञानस्य विशेषसंब-

किंतु प्रमाणवृत्त्यव्च्छनन्नचिदेव, तथा च शुद्धे प्रकारामानेऽप्यज्ञानं संभवत्येव । पूर्णानन्दाकारेणावृतववं न तु चिन्मात्ररूपेणेति तु तव लालनमात्रं पूर्व कृतमिति भावः। अनवच्छिन्नाकारेणसुखाद्धनवछिन्नशुद्धरूपेण । प्रातिस्विकरूपेण -- विश़ेबरूपेण ।

निधत्वे मानाभावेन भासमाने सामान्य एवाज्ञानमवगतम्, वस्तुनः प्रतीतिप्रमाणकत्वात् । तथा च परचित्तस्थं यथा अनूद्यते, तथा ज्ञात ${ }^{1}$ तथैवाज्ञातं ${ }^{1}$ चेति सिद्धम् । ननु यथा द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य नेष्टत्वम्, ईश्वरस्य अ्रान्तिज्ञत्रेऽपि न भ्रमविषयज्ञत्वम्, अस्मदादनिामीश्वरसार्वज्ञचज्ञानेऽपि न सर्वघत्वम्, एवमज़ातज्ञानाभावेऽप्यज्ञानज्ञानमिति-चेन्न ; टृष्टान्तासंग्रतिपत्तेः । तथाहि-इच्छा तावज्ञानसमानविषया, ज्ञानं चावच्छेदकतया द्विष्टमपि विषयीकरोतीतीच्छाया अप्यवच्छेदकतया तद्विषयत्वाव् । नहीच्छा इष्टतावच्छेदकाविषया भवति। एतावानेव विशेषः। किंचित्साध्यतया विषयीकरोति,

मानाभावेनेति। विशेषप्रमानिवर्त्यत्वानुपपतिन्तु न मानम् ; सामान्यज्ञानस्यैव विशेषाज़ानरीहेतुत्ववद्विऐोषज्ञानस्यैव सामन्याज्ञान ${ }^{2}$ नाशकत्वसंभवात्। सामान्यावच्छिन्नतया विशेषाज्ञानावगाहिबुद्धे: प्रमात्वानुरोधेन सामान्यमवच्छेदकमवइयं वाच्यम् ; तथाच विशोषस्य विषयताबच्छेदकत्बेनाक्रुप्तत्वात्सामान्यमेव तथा कल्प्यते, न त्वज्ञानं प्रति सामान्यम;श्रयतावच्छेदकं विशोषस्तु विषयताबच्छेदक इति। एवं च विझोषावच्छिन्नविषयताकाज्ञानस्याप्रसिद्धया सामान्यावच्छिन्नविषयताकाज्ञानं प्रत्येव विशेषप्रमाया नाराकत्वसंभवान्नोक्तानुपवत्तिः ${ }^{3}$ । किं च सामनन्यावाच्छिन्नतया विशोषाज्ञानस्यानुभवे धूमाद्यात्रानमिि वन्घ्याद्यवच्छिन्नत्वेनानुभूयेत । न हि सामनन्यविशोषभावो ठयापकठ्याप्यभावान्य इति भावः। अवच्छेदकतया द्वेषविशोषणतया। तद्विषयत्वात् विशिष्टविषयकत्वात् । किश्रित्साध्यतया द्रेषादिकमुद्देशयतया । अवच्छेद्कतया उद्देशयतावच्छेदकतया। विषयीकरोतीत्यत्र

किंचिद्वच्छेदकतया। ईश्वरोऽपि अ्रमविषयमगृहीत्वा अ्रमं न गुबाति। अ्रमो हि अ्रमत्वेन ग्राह्यः। अ्रमत्वं च रजताभाववति रजतख्यातित्वं वा, असत्खयातित्वं वा, अनिर्वचनीयरुयातित्वं वा । तस्मिन् गृह्यमाणे सर्वेथा विषयग्रहः । इयांस्तु विशोषः। यत् भ्रान्तः स्वातन्त्येण गृबाति, ईश्वरस्तु तज्ज्ञानावच्छेदकतयेति । ईध्चरसार्वज्ञयज्ञानमक्मांक तु सर्वज्ञपदेन । तत्र सर्वपदप्रतिपाद्यं जानन्नेवास्मदादिस्तत्र ज्ञानसंबन्ध गृन्बातीतीद्वरं सार्वज्ञयमिप्टमेव। विशेषस्त्वीश्वरस्य न कुत्राप्यज्ञानम्, अस्माद्रां तु विझेपेष्वज्ञानमिति कुत्वा । एवं च ज्ञात एव विझोेपड्जानज्ञानमिति। नच-घटादेरज्ञानाबच्छेदकतया भानेऽपि घटायज्ञाननिवृत्ति विना तदवच्छिन्न-

विषयतायामुद्देइयतातदवच्छेदकववयोः तृतीयार्थामेदान्वयः । ख्वात-न्त्रेण-ज्युक्तयाघंरो रजतादिकम्। ज्ञानावच्छेदकतया ज्ञानविरोषणीमूतवविषयतांशो विऐेषणतया। एवं चेति। हृष्तन्तासंपतिपत्तौ चेल्यर्थः। ननु--यथा द्वेषादौौ स्ववृत्तित्वमगृहीत्वाडवीच्छयां स्ववृत्तित्वेन द्रेषादिर्भाति, सत्यत्वेनाए्माम्मिर्गृद्यमाणोडपि भ्रमविषयो नेरेन सल्यतया गुद्बते, विशेषखरूपेणेशस्य सर्वज्ञानं विशेषविषयकत्वरूपेण नास्माभिर्गृद्बते, तथा विऐोषमगृहीत्वा सामान्यावच्छिन्नतयैवाज्ञानं गृद्बतामिति-चेन्न ; विषयाविषयके विषयिये हृष्टान्ताभावात्। न हि यस्य ज्ञानादेरेप्र्पत्यक्षं तद्विषयाविषककं तदिति कचिद्धुष्टम । तदुक्तमू-‘विषषनिरूप्यं हि ज्ञानम्, अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषय' इाते। तथाच कंचिद्विषयं विषयक्रुर्वन् कंचिदविषरीकुर्वन् भमस्य भह ई ईस्य जायताम्, विशेषमात्रविषयकत्वज्ञानं कथं विशेषाविषयकेन साक्षिणा गृब्तामिति ध्येयम् ॥

संयोगादिज्ञानादर्शनेने प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थ तद्वच्छेद्कविषयाज्ञाननिवृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधिज्ञानवत् अज्ञानानिरोधिन्यज्ञाननिवृत्तिरणि स्तीकार्या स्यादितिवाच्यम्; संयोगादिसच्वस्यावच्छेद़कघटादिसच्चसापेक्षत्वेऽपि यथा अभावे न स्वाधिकरणीयप्रतियोगिरूपावच्छेद्कसच्वापेक्षा, विरोधात् ; तथा अज्ञानज्ञानस्यापि न स्वविषयाज्ञाननिवृत्यपेक्षा, विरोधात्। न चैचं-तद्विषयकज्ञानापेक्षापि मास्तु; विरोधस्य समानत्वात्, अविरोधकल्पनाबीजस्य ज्ञान इवाज्ञानानिवृत्तावपि समानत्वात् । तथाच विषयेडज्ञात एवाज्ञानं ज्ञायते, विषयविशेषावच्छिन्नबुद्धिस्तु तमसीव विशेषज्ञानानन्तरं ' एतावत्काल. मस्रुमर्थ नाज्ञासिषम 'त्येवंरूपा जायत इति वाच्यम्;

विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं-विषयावच्छिन्नत्वेनाज्ञानप्रकाशार्थम्। वक्तव्यत्वेनेति। अज्ञानस्याज्ञातंवाभावेन प्रकाइसंभवेऽपि तद्वच्छेदकस्याज्ञातव्वेनोक्तपकाइसंभवेऩ तदज्ञाननिवृत्तिर्वाच्येति भावः । अवच्छेद्कघटादिसन्वेति। सवाधिकरणसंयुक्तघटादिसत्त्वेत्यर्थः। ननु—तर्हि विशेषावच्छिन्नत्वस्याज्ञाने भानासंभवात्तत्र तद-सिद्धिस्तत्राह—-विषयविशोषावच्छिन्नेति । तमसीवेति। तमसि नष्टे घटादितम एतावत्कालं स्थितमिति धीरिबेत्यर्थः । 'घटं न जानामी’ति प्रत्यक्षे मन्मते घटादिज्ञानं कारणतया नापेक्ष्यत एव, विशिष्टवुद्धचादौ विशेषणज्ञानादेहेतुत्वास्त्वीकारात् ; परंतु जातेऽपि प्रमाज्ञाने दोषात्तत्र प्रमाव्वायहे तद्विषये त्वदुक्तार्थ न जानामीति प्रत्यक्षम्, त्वन्मते तु तस्य ज्ञानाभावविषयकत्वेन त्वदुक्तार्थज्ञानत्वेन भतियोगिज्ञानापेक्षत्वमावश्यकम्, अन्यथा नेत्याकारकप्रत्यक्षापत्तेरित्युक्तज्ञानाभावे उक्तमत्यक्षासंभवः । अथात्र विरोघान्नोक्तज्ञानसंभव:;

हन्तैवमभावस्षमाविरोोधिप्रतियोगिज्ञाननिरेपेक्षज्नाविषयत्वम भाबैंउक्षण्यसाधकमज़ाने उपपादितमायुष्मता। किंच यख्रज्ञानं खकाले विपयावच्छिभतया न भासयेत्, तदा तु 'व्वदु. तमथं न जानामी'ति विपयावच्छिम्बत्तनस वर्तमानार्थप्रत्ययो विरुषंटेत। तसाद्विपयाज्ञानसाधकत्वात्साश्षिरूपविपयप्रकाशोडपि नाज्ञानबिरोधी, किंतु प्रमाणचृत्तेः। एकविषयत्वेशपि प्रमाणवृत्तितद्विरिर्तवृच्योरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयोः सौरालोकज्ञानयोः सौरचचलुपुप्रकाशयोर्वा तमोवरोधित्वाबिरोधिल्वबदुपपघेते। नच-चृत्थित्वन्यस विषयोपरागाॠंति मतेऽ्सा अज्ञाननिवर्तक्त्वाभातादिदमयुक्तिमिति-वाच्यम्; अज्ञाननित्र्तकत्वेन निवृत्तिप्र्योजकत्वसैयोक्तव्वात्। तच संब-
तर्हि क्लपकारणबाधान्नोक्तप्रत्यक्षममावविषयकम्, किं तु भावरुपाज्ञानविषयकमित्येव कल्पनीयम् । न तु क्लृप्तकारणबाधे कार्यमित्यादि पूर्वमुक्तम् ; तथा च ₹वमतहानाय ख्वयेव यतते इत्याइयेनाह-हन्तेति। हर्षे हन्तराबद:, वर्तमानार्थप्रत्यय :'। स्थूलकालमादाय तदुपपादनं तु न युक्तम् ; न जानामीति लटा स्वप्रयोगाधिकरणस्वशक्यतत्तक्कालो्लेखात्, अन्यथाऽज्ञाननारकालेडपि नष्टक्षणाव²च्छेदेनानज्ञानाधिकरणस्थूलकालमादाय न जानामीति बुद्धयापत्तेः। इदमुपलक्षणम्-एतावгकालं नाज्ञासिषमिति धी: ₹मृतिरनुमितिरर्थपपत्तिर्वा। नाद्यः; विशोषविषयकत्वेन पूर्वमननुमवात्। नेतरौ; विशेषज्ञानत्वस्य विछोषाज्ञाननाइाकत्वाठ्यापत्वात् । विशोषप्रमात्वस्याज्ञानसिद्ध: पूर्वमसिद्धत्वाद्विशोषज्ञानत्वादेदेहैतुत्वासंभवादित्याद्यपि बोध्यम्। प्रकाझोऽपीत्यपिना प्रमात्वेनगगृद्यमाणवृत्तेः समुच्चयः। प्रमाणवृत्तिः प्रमात्वेन भासमानवृत्तिः। चाक्षुषप्रकारायेः चक्षु:परिणामतेजसोः । अज्ञाननिवर्तकत्वेन

[^192]धसंपादनद्वाराउसिन्पक्षेऽप्यस्त्येव। न चाज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेडप्यज्ञानापात इति—-वाच्यम् ; मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तिश्रवणेन स्वविरोधिज्ञानप्रागभावमात्रठ्यापकत्वात्। न च—कथं अ्रमाणवृत्तिमात्रविरोधित्वेऽज्ञानस्य ज्ञानमात्रविरोधित्वेनैव न जानामीत्याकारेण प्रत्यय इति—-वाच्यम् ; घटादिमात्राविरोधिनो घटाभावादेर्भावसामान्यविरोधित्वेनाभावत्वेन प्रतीतिवत् ज्ञानविझोषविरोधिनोऽप्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधिंवेन प्रतीतिसंभवात्। न ह्यभावपदादिनाभावप्रतीतै। घटाभावो न भासते। अथ सा विरोधिता तत्र विशेषमात्रपर्यवसन्ना, समं प्रकृतेऽपि ; अन्यत्राभिनिवेशात्। न च—'न जानामी 'ति ज्ञापिविरोधित्वस्यैवानुमवात्कथं वृतिविरोधित्वम् ? त्वन्मते चैतन्यस्यैव ज्ञातित्वात, चैतन्याज्ञानयोराविरोधे ज्ञान-त्वाज्ञानत्वायोगादिति-वाच्यम् ; मन्मते वृत्तिप्रतिबिम्बितचै-

अज्ञानविरोधित्वपदेन। अस्त्येवेति। उपरागस्य स्वप्रागभावादिनिवर्तकत्वमस्त्येवत्यर्थः। यत्तु निवृत्तिप्रयोजकत्वेत्यस्याज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वेत्यर्थ:, स चायुक्तः; चैतन्यस्यैव तदौचित्यादिति, तच्छोमते ; न हि बृत्तेश्चिदुपरागार्थत्वपक्षेडव्यज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वम्, न वा चैतन्यस्य $^{1}$ तदापत्तिः संभवति, वृत्त्यभावकाले तदापत्तेः । तद्विशोषमात्रपर्यवसन्नेति । अभावपदस्य घटादिभावविशोषाधिकरणावृत्तित्वरूपेण लक्षणयेति ऐोषः। सममिति। अज्ञानपद्स्य ज्ञाननाइयत्वरुपेण ज्ञानविशोषनाइयपरत्वम्। न हि बलिबाणादौ हरिहरादिभक्तेडप्यसुरादिपदं सुरविशोषद्वेषिपरतया न प्रयुज्यत इति भावः। यृत्तिप्रतिबिम्बितेति। सुखादावपि स्वाह्मकवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदस्स्येवेति भावः।

तन्यं जानामीति व्यवहारविषयः। तथा च न जानामीत्यनेन वृत्तिचितोरुमयोरप्यज्ञानविरोधित्वं विषयीक्रियते। एवं च न चैतन्येडज्ञानविरोधित्वम् ; नापि वृत्तौ ; वृत्युपारूढचित एवार्थप्रकाराकत्वेन तथात्वात्। ननु-वृत्तेरप्यर्थम्रकाइाकत्वं विना जातिदिरोषणैणवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छादिनिवर्त्यद्वेषा दिवत्सच्चापत्या गुक्तयादिज्ञानवद्र्थम्रकाराकत्वेन तन्भिवर्तकत्वे वक्तण्ये चैतन्यक्यापि तत्सच्वेन तभिवर्तकत्वावइयन्भावेन तन्निवृर्त्यप्यातः ; नित्यातिन्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामप्यज्ञानानिवृत्या सुखादावपरोक्षवृत्त्यभावेऽपि ₹फुरणमात्रेणाज्ञानादर्रोनेन चान्वयव्यतिरेकाक्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानविरोधित्वा-दिति-चेन्न; प्रमाणवृत्युपारूढप्रकाइात्वेन निवर्तकत्वं ब्रूमः, न तु जातिविशोषेण, प्रकाशत्वमात्रेण वा। अतो नेच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवदेतन्निवर्त्यानां सत्वापत्ति:, न वा चैतन्यमात्रस्य निवर्तकत्वापत्तिः। अत एव -शाब्दादिवृतौ सत्यामप्यज्ञाना-

उभयो: मिळितयो: । अर्थप्रकाराकत्वेनेति। अर्थेडस्तित भातीति व्यवहागप्रयोजकत्वेनेत्यर्थः। प्रमाणवृत्युपारुढप्रकाराकत्वेन। प्रमाणवृत्त्यवचिच्छिन्नचित्व्वसमनियतप्रमात्वजात्या। अर्थप्रकाशके प्रमात्व亏्यवहारेण वृत्त्यवच्छिन्नाचित्येव तत्₹्वीक्कियते, न तु केवलवृत्ताविति भावः । जातिविरोषेण चक्षुरादिजन्यतावच्छेदकीमूतेन वृत्विमात्रनिष्ठचाक्षुषबवादिजातिविशोषेण । सत्वापत्तिरिति । प्रमात्वेन प्रमानिवर्त्यक्य सत्यत्वेनासम्प्रतिपत्तोरिति शोष: 1 वस्तुतो वृत्ते: प्रमात्वेन निवर्तकर्वेऽपि न सत्त्वापत्तिः । न हि प्रमात्वेन प्रमानिवर्त्यस्य सत्त्वं कचिद्धुष्टम्। एवं चाज्ञानानुमाने वृत्तिरेव प्रमात्वेनाज्ञाननिवर्तिकेति यदुक्तम्, तदवि युक्तमेव; तदभेदान्चैतन्येऽपि प्रमात्वत्यवहरोपपत्तेः,

निवृच्या सुखादौौ प्रमाणवृच्यभावेऽपि स्फ़रणणात्रेणाज्ञानादर्शानेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानादौ विरोधित्वमितिनिरस्तम्; परोक्षवृत्तेर्तिषयपर्यन्तत्वाभावेन न विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वम्, सुखादौं च ज्ञातैकसच्चादज्ञाननिवृत्ति विनैवाज्ञानादर्शनम् । अतोडन्वयन्यतिरेकयोरन्यथासिद्धया स्फुरणमात्रं नाज्ञानविरोधि। न चात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वे स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन स्व्रकाशत्वसाधनायोगः ; परिपूर्णत्वादिनाइप्रकाशविधुरत्वाभांते 5 प्य ध्यासाधिष्टानत्वादिना प्रकाशमानतयाइप्रकाइविधुरत्वसंभचत्। न च—वृत्तिचितोंबैंधम्योंक्तिरयुक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि समानविषयतया अज्ञानविरोधित्वानुभवात्, अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखादौ मैन्रस्येव चैत्रस्याप्यज्ञानं स्यात्, नो चेन्मैत्रस्याप्यज्ञांन न स्यादिति-वाच्यम् ; साक्ष्षिणि यदज्ञानविरोधित्वमनुभूयते, तन्नाज्ञानविरोधित्व'निबन्धनम् किंतु स्चविषय इच्छादौ यावत्सत्वं प्रकाशाद्ञानाप्रसक्तिनिबन्धनम्। वृत्तेश्र स्वविषये प्रसक्ताज्ञाननिवृत्तिनिबन्धनमेवेत्युभयोंरैपम्योक्तिर्युक्तैव। अज्ञानाप्रसक्तेरेव चैत्रेच्छादौ चैच्श्य नाज्ञानव्यवहारः, मैत्रस्य तु प्रमात्रज्ञानादेव तद्धचवहारः । अन्यथा चाक्षुष्वद्वेरपि चिद्नुतववापत्तिरिति ध्येयम् । परिपूर्णत्वादिनेति। ग्रुद्धचिद्रूपणावृतव्वस्वीकारेऽपि तदूपसंबन्चितया अभ्ञा5हमित्यादिव्यवहारात्तदूपचयवहारे प्रमाणवृत्यनपेक्षत्वरूपं स्वपकाशत्वं प्रमाणवृर्तिं विनाव्यनुभूयमानतद्रूपच्यवहारकत्ववर्यवसन्नेनोक्तहेतुना साध्यत इत्यवि बोध्यम् । उक्षं च पूर्व ख्वंयवहारे स्वातिरिकसंविदन्तरानपेक्षत्वं स्वपकाशत्वमिति। वृत्तिचितोः प्रमाकेवरचितोः। बृत्ते:

[^193]नच-तर्यात्मन्यपि तत एव तदग्रसक्तिरिति---वाच्यम् ; द्तोत्ररत्वात्। किंच साक्षिवेद्यत्वं तद्रसकौ तन्त्रम्, आत्मा तु न तद्वेद्यः ; चिद्रूपत्वात्र्रकाश एवेति। न च—तर्हि सुतरामज्ञानानुपपत्तिस्तेजसीव तमसः, अन्यथा घटादिरालोकमिवात्मापि स्त्रव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेतेति-वाच्यम् ; अज्ञानावृतत्वाद्वटनद्ञाननिवर्तकान्तरापेक्षा चेत्तर्हींट्यापत्तिः ; वृत्तेरवापेक्षणात्, प्रकाशान्तरापेक्षायां जडत्वस्योपाधित्वात्, प्रकाइत्वेडप्यज्ञानाविरोधित्वस्योपपादितत्वात्। अत एव सर्व वस्तु ज्ञाततयाज्ञाततया च साक्षिचैचन्यस्य विषयः, ज्ञानाज्ञानयोः स्वविषयावचिछ़न्नयोरेव भानात्। एतेनान्धकारावृतनज्ञानाभावावच्छेदकविषयवन्चाज्ञानावृतस्याप्यम्रकाशोन साक्षिवेद्यत्वायोग इति—निरस्तम् ; विषयावच्छेदेनानुभवविरोधात्। ननु -- वृत्तेर्ञानविरोधित्वेडप्यात्मविषया वृत्तिरिदानीमप्यस्त्येतेति कथं तत्राज्ञानम्; किंच त्वन्मते घटाद्यपरोक्षवृत्तेरपि घटाद्यवचिछ्छन्नचिद्विषयत्वेन सुतरां चित्यज्ञानासंभवः, न च—विशिष्ट्चैतन्यरूपजीवविषया वा घटावप्रमायाः । अज्ञाननिवर्तकान्तरापेक्षेति । अज्ञाननिवर्तकपमायं घटकान्तरापेक्षेत्यर्थः । जडत्वस्येति । 'यद्यद्ज्ञातं तत्स्व०्यवहारे स्वान्यप्रकाशापेक्ष ${ }^{1}$ मिति ' ठयात्तौ जडत्वमुपाधि:, तच न चिदन्यत्वम् ; येन पक्षेतरत्वरुपता स्यात्, किंतु मिथ्यात्वादिरूपम्। वस्तुतोडज्ञातत्वं यद्यज्ञानविषयत्वं तदा घटादौ साधनैवैकल्यम्, यदि तदवच्छेदकत्वं तदा स्वरूपासिद्धिराि, एतेयोरन्यतरवंवं ${ }^{2}$ तत्तथाप्रयोजकत्वम् ${ }^{3}$, अज्ञानविषयतावच्छेदकत्वादेरुपाधित्वं चेति ध्येयम् । अनुमवविरोधात् अज्ञानानुभवविरोधात्। आत्मविषया तृच्चिरिति । अहमिल्याकरेरि

$$
1 \text { पेक्ष्य-क. ग. } \quad 2 \text { तरवत्वं-क. ग. } \quad 3 \text { तथाप्यप्रोजकत्वं-क. ग. }
$$

चिछछन्ऩनैतन्यविषया वा शृत्तिरज्ञानविषयीभूतकेवलाचिद्विषयत्वादज्ञानविरोधिनी न स्यादिति-वाच्यम् ; 'दप्डी चैच्र' इति वृँत्या चैच्राज्ञानानभिभवापातात्। घटाकाशज्ञाने महाकाशाज्ञानस्य महत्वाज्ञाने पर्यवसानम् । अत एवाकाशो ज्ञात इति प्रतीतिः । न च श्रवणादिजन्यैव चृत्तिरज्ञानविरोधिनी; अ्रमकालीनापरोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनाप्यज्ञाननिबृत्ता'वतिप्रसङ्जात्, अनधिकविषयत्वे श्रणादिवैयथ्यार्यत्, सत्यत्वापाताचेति-चेन्न ; यावन्ति ज्ञानानि तावन्ग्यज्ञानानीति मतेऽज्ञानविरोषः एकाज्ञानपक्षेडवस्याविशेष: शाक्तिविशोषो वा अविद्यागतो विशिष्टगोचरहृत्या निवर्तत एव। प्रपश्वानिदानभूतंत्र्व्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डार्थगोचरवृत्तितिवर्य्यमज्ञानं परमवशिष्यते ; भेद भ्रमस्यानुभूयमानत्वात् । यथा अयमिति ज्ञानात्तत्राज्ञाने निवृत्तेऽपि सोऽयमित्यमेदगोचरृत्तिनिवर्त्याज्ञानमवशिष्यते । तथा च विषयकृतविशेषाभावेऽपि

शेषः। न स्यत्--न भवति। अतिप्रसङ्नादिति । शुत्तौ रूप्यं ना₹्तीति बाधकोलेडपि भ्रमोडनुव्वेत, कारणविशेषजन्येने|क्ताधेन पश्षान्विवरेंतेति प्रसझक्जादित्यर्थ:। सत्यत्वापातात् अधिष्टानप्रमासामान्यनिवर्ल्यव्वाभावेन प्रपश्चस्य सल्यत्वापातात् । विशिष्टगांचरतृच्या अहमित्याकारकृृत्त्या।।

ननु-सोऽयमिति वाक्जजज्ञानं ${ }^{2}$ तत्तेपपहिते इदन्व्वेपहिततादास्यविषयकत्वेन ताद्धशविषयकाज्ञाननिवर्तेकम्, अयमिति ज्ञानं तु नोक्तविषयकम ; अतो न तथेल्याशक्षयाखण्डार्थ्वेनोक्तवाक्यस्वाकर्तृमतेऽयमिति ज्ञानसमानविषयकमेव सोऽयमिति वाक्यजज्ञानमिल्याशयेनाह—तथा चेति । न चोा्रमतमेवाप्रामाणिकमिति--वाच्यम्;

## कारणविशेषजन्यत्वेन विझोषेण निवर्तकत्वे भ्रवणनैयथ्थ्य सस्यताप-

एकस्यां शुद्धण्यस्तौ मेदकछपकाइ्झानस्य तनेदेंत्वविषयकत्वे मानाभावेन व्यक्षिस्ररुपाखण्डैफ्यविषयकत्वेन तन्निवर्तकज्ञानस्यापि तदौचिल्यात्। न चोक्तभेदस्य तत्तेदंव्वोपहितपर्रतियोग्यनुयोगिकत्वात्तजनकाज्ञानमप्युपहितयोरैरैक्यविषयकम्, न तु व्यक्तिमान्रूूपाखण्डैभ्यविषयकामितिवाच्यम् ; उपहितयोर्हिं भेदसहिण्णुतादात्म्यमाप नास्ति दूरे भेदासहिטण्वैध्यम्। न हि घटाकाशं पटाकाइामिति तादात्य्यमा, किंतु घटाकाशमाकाशामिति। उक्ततादात्म्यम्बीकारेडपि तस्य भेदाविरोधित्वेन न भेदजनकाज्ञानविषयव्वम्। न छत्यन्तांभेदे तादात्म्यादिसंसर्गप्रमा। घटो घटः तद्वूघक्तिसतदूर्यीकरिति संसर्गबुद्युननुभवात्। तथाचोक्तभेद: शुद्बठ्यत्तिपतियोग्यनुयोगिक: ; नायं स इल्याकारस्तु तंत्तेंद्वयोरुपरक्षणव्वमान्रेण, न चु भेदध्धिविययव्वेन। न चैं--प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकराहितेनेन भेदघीरेव न संभवतीति—वाच्यम् ; प्रतियोग्यंशे द्वपकारस्य न प्रतियेगितावच्छेदकतेनेन भानम् । तथाच प्रतियोग्यंश इव प्रतियोगितारूपसंबन्धांशेड्य्यवच्छेदकस्योपरक्षणंवम् ; न तु तदवच्छिन्नेन प्रतियोगिताभानम्। अत एव श्रुद्दन्रह्मण्या नन्दचिद्वृपेद्द: कल्पितः संगच्छते। एवं च श्रुद्धव्यक्तिरुकैक्य विषयकाज्ञाननाशकमुक्तवाक्यजज्ञानमुत्रविषयकमेवेति सामभ्रीविशेषजन्यव्वम्जानविश्रोषनाइकव्वे प्रयोजकम् । न च— गौरवमितिवाच्यम् ; न हुत्तजन्यत्वेन नाशकता, किंतु शक्तिविछेषेणेत्याश-येनाह-कारणेति । चैत्रो ज्रह्मेति वाक्यजबुद्धया डज्ञानानिवृत्ते: शान्तिविऐोेषण मूलाज्ञाननाशकव्वावइयकत्वाक्करणविशेषादिनिनेवेश गौरंखं नेति भावः । सत्यतापत्तिश्येति । इक्किविशोषतो'नाइकत्वेडपि

त्तिश्य निरस्ता ; अन्यथा सोऽयमित्यत्राप्यगतेः । किंच जीवविषया सृत्तिरविधाष्वृत्तिः, न तु प्रमाणश्तुत्तिः ; तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्। तदुक्षं विवरणे—' जीवाकाराहंब्नत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यत' इति। अस्यार्थः—जीवाकाराहंत्वप्रकारिकाश्विद्यावृत्तिः, तया परिणतान्तःकरणेनान्तःकरणपरिणामभूतज्ञानरूपवृत्तिसंसर्गेण जीवोऽभिव्यज्यत इति । न च—घटोऽयमिति ज्ञानेन चरमवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमपि निवर्त-तामिति-वाच्यम् ; तदन्छच्छिभाज्ञातत्वप्रयोजकाज्ञानविझोषादेप्रमत्वेन सामनच्यतो नाराक₹वस्यापि स्वकिारादाधिष्ठानप्रमासामान्यनिवर्त्यत्वयोग्यत्वस्य प्रपश्चेडनपायन्न सत्यतापत्तिरिति भावः। विशोषनिवर्तकत्वेडापि इक्किविशेषानादरे दोषमाह-अन्यथेति। अगतेरिति। तत्तेदंत्वोपहितयोस्तादात्म्यस्योक्ररीत्यधिष्ठानत्वासंभवात्तत्रमात्वे ${ }^{1}$ नाशाकठ्वे गौरवाच शाक्तिविशोषेणैव विशोषतो नाशकत्वं युक्त मिति भावः। यथाश्रुते मनोवृतेरहमाकारत्वप्रतीतेर्ब्याचष्टे-अस्यार्थ इति। तयेति। अभिव्यज्यत इति। कियायां कर्तृपदं ठ्यक्नय-ताबच्छेदकमहमर्थत्वमाह-परिणतान्तःकरणेनेति। सौसुप्तसूक्ष्म्वावस्थया परिणतमनःसंसृष्टस्याव्यङ्नयत्वाज्ज्ञानरूपेत्युक्तम् । तथाचोक्तवृत्विश्व परिणतान्तःकरणं च तत्तथा तदभेदेनाभिष्यज्यत इति शब्दार्थः। अहमाकारवृत्रिरविद्यावृत्तिरेव; अप्रमायामविद्याया एव परिणामित्वेन क्लपत्त्वात्, प्रमायां प्रमाणव्यापारसहकृतः्ैैव मनसः पंरिणामितया क्लपत्वादहमर्थे चक्षुरादिसर्वप्रमाणच्यापारासंभवात् । तसाद्दृच्यन्तमवविघावृात्तिरूपठ्यझ्अकानर्देशः, अन्तःकरणेत्यन्तं तु ठ्यक्नयस्य मनो वचिछ्छन्नचिदूपस्य प्रमाणसामान्यठ्यापारशून्यतारूयापनद्वारा च्यझ्जकवृत्ते-

रेव तदवच्छिम्नज्ञाननिवर्व्यत्वस्य फलबलेन स्वीकारात्। अवतमस इव विषयप्रकाशकालोकस्य सर्वतमोडनिवर्तकत्वेडपि किंचित्तमोनिवर्तकत्वम्। तसातिसद्यमाश्रयत्वविषयत्वभागिनी गुद्धचिदिति। एतेन-देहादिभेदो वा अभोक्तृत्वाद्यभेदो वा शह्काभेदो वा अद्वितीयमात्राभेदो वा तद्विशिष्टात्मा वा न तद्विषयः ;

रविद्यापरिणामववख्यापनायोक्तमिति तात्पर्यार्थ इति भावः। वस्तुतो वृत्तीय्यन्तममिष्यक्तिक्कियाविशषेणेग्। जीवाकारा अहंवृत्तिर्यस्यं ताहइयाः साक्षिरुपाामेठ्यक्षोर्विषयो बृत्तिज्ञानरूपेण परिणतमनसा संस्टंट्टा चैतन्यमिति वाक्यार्थ इस्याझयेन तयेति तृतीया सहार्थिकोक्का। यदि चाहंबृतिरुपेण परिणतमनसेति यथाश्रुतार्थे अग्यहः, तथापि सा वृत्तिरुक्तगुक्तया न पमेति नाविद्यानिवर्तिकेति ध्येयम्। उक्तवृत्तावविद्यान्यदोषश्थेदेक्षते तदाडहमर्थ एव तथा बोध्यः। तदवच्छिन्षेति । घटाद्यवच्छिन्नचिदिल्यर्थः। अवतमस इवेति। क्षीणतमोगतेत्यर्थः। आलोकस्येति। घटाबच्छिन्न'चिज्ज्ञानस्येति रोषः। यथाइबतमसस्थघटादावालोकन्य गाढतमोरूपसर्वतमोनाशकत्व नाश्ति, गाढतमस एवाभावात्, तथावच्छिन्नचिदाकारज्ञानस्य न मूलाज्ञानरूपसर्वतमो निवर्तकत्वम् ; शुद्धाकारचरमवृतेरेव मूलाज्ञानसमानविषयकत्वात् । उपाध्यविषयकत्वे सति चिद्धिषयकत्वं हि तयोः समानविषयकत्वमित्याघुत्कं मिथ्यात्वानुमान इति भावः ॥

अभोकृत्वाद्यभेदः-भो कृत्वाद्यभावत्वविशिष्टचिदमेदः। अभा वस्याधिकरण रुपव्वेन चिच्युक्तविशिष्टव्वोक्तिः । तद्विषयः मूलाज्ञान-

[^194]तेषामात्ममात्रत्वे उत्कदोषाप्, भिम्बत्वेव्द्वैतक्षतेः, आविघकत्वेन्योन्याश्रयादित्यनुक्तोपालम्भनमपास्तम् ; चह्नाभेदादेरात्ममाश्रतापक्षे तस्याज्ञानविषयत्वमेव, दोषस्य परिह्तत्वाप् । यतु प्रसङ़ादुक्तम्- द्वितीयाभावोपलक्षितात्मनोऽज्ञानविषयत्वे ताद्धरास्यैव चरमवृत्तिविषयत्वं वाच्यम्; तथाच बेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तोक्तात्मपरत्वेडखण्डार्थताहानिः ; अकाके काकवदित्यस्येवास्याप्य्रामाण्यापत्तिः, उपरक्षणस्य मिथ्यात्वादिति ; तत्रखण्डार्थवादे वक्ष्यामः। न च-न्यूनाप्यक्तुलिरघिकमाच्छादयति; अविषयसंबन्धित्वात्, इयं हि विषयसंबन्धिनी कथमधिकमाच्छादगेदिति-वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वात्। तस्मादविद्या स्वरूपत आश्रयतो विषयतश सुनिरूपा।।

इल्यद्दैतसिद्धावविद्याया विषयोपपत्तिःः

विषयः। उत्कदोषात् घटाघ्यवच्छिन्नचिज्ञानादवि तन्नाशापत्यादिदोषात् । अद्यैतक्षतेः उत्काज्ञाननाशिकाया उत्रमेदादि़िघोो5प्रमाव्ववारणायोंक्तमेदादेः स्वाधिकत्वेन ${ }^{1}$ बाच्यतयाडद्दैतहानेः। अन्योन्याश्रयात् भेदादिसिद्धौ तद्दिषयकाज्ञानसिद्धि:, तस्सिद्धौ च तज्ञन्यमेदादिसिस्द्यिरित्याभिमानः। वस्तुतो मेदादेरनादित्वेऽप्यविद्यानारानाइयत्वेनाविद्यकत्वसंभवान्नान्वोन्याश्रयः । अकाके काकरून्ये। वक्ष्याम इति। उपउक्ष्यस्य उयक्तिमात्ररूपत्वे तज्ञानस्य न स्रफारकवव्वम्, तथा शब्दाश्रयव्वाद्युपलक्ष्याकाशादेर्जान ${ }^{2}$ स्येत्यायुक्तमित्यपि बोध्यम्। इयं हि—इयं तु। दत्तोत्तरत्वादिति। अविद्याया अप्यात्मवद्विभुत्वपक्षे न्यूनत्वमेव नास्ति, अविभुत्वपक्षेडप्यनुभवबलादाच्छादकव्वम्,

$$
{ }^{1} \text { तात्तिकसमेवन-ग. } \quad{ }^{2} \text { रज्ञान-ग. }
$$

## अयाहमर्थानात्मत्वोगपत्तिः

ततश्थाहंकारादिस्टृस्टिः। नन्वहमर्थ आत्मैव, तस्य कथमविघ्यातः सृष्टिः, न च-सुपुप्रौ स्वयं प्रकाशमानस्यात्मनः संभवेऽप्यनेवंविधन्याहमर्थस्याभावः, यदि च सुपुप्तावहमर्थः प्रकाशेत, तर्हि स्मर्येत ह्यस्तन इ्ववहंकारः, अनुभूते स्मरणनियमाभावेऽपि स्मर्यमाणात्ममात्रत्वादिति-वाच्यम् ; होतोरसिद्देश्तर्के इपापत्तेः। न घ्यद्यापि स्वप्रकाशात्मान्यत्वमहमर्थ सिद्द्रमस्ति। आत्मान्यत्वेनाप्रकाइत्वसाधने तेन च तदन्यत्वसाधनेऽन्योन्याश्रयः। न चाहमर्थस्यापरामर्शः, सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदनेदिषमिति तस्सैव परामर्शादितित--चेन्न; अहंकारस्तावदिच्छादिविशिश्ट एव गृद्यत इत्यावयोः समम्। सुपुष्तौ च नेच्छाद्य इति कथं तदाऽहमथर्नुभवः? न चेच्छादिगुणनिशिश्ट एवा丁्हमर्थो गृद्यत इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिरिति वाच्यम् ; गुणिग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वात्, अन्यथा रूपादिहीनोडपि घटः प्रथेत। न च न घ्यविद्यायास्तद्वघ्बादेशिव, येन न्यूनवं तद्विरोधि स्यात्, किंतु नास्ति न भातीति ठयवहारजनकत्वमिल्युत्तरम|विघायां विभुत्वस्यो्कव्यवहारहेतुत्वस्य चोक्तया दत्तमिति भावः॥

तर्कैरित्यादि——वविद्याविषयस्थितिः।
इलंत्तैतसेद्धिव्याए्यायामवियाया। विषयनिस्पणम् ॥
अथाहमर्थानात्मत्वोपपत्तिः
अभाव इति । तथाचाहंकारोडनात्मा, आट्म्रकाशकाले प्रकाशमानत्वाभावादेत्यनुमानं मानमे, अहंकारत्वं चाहमिति धीविषयताश्रयत्वम्, खुद्धात्मा च नोक्तधीविषयः ; सव्रकाशतयैव तद्रानादिति न बाष इति भावः। हेतौ उत्तापकारमानत्वे । व्याप्तत्वादिति।

रूपादिराहितानां तेषामसच्वं तत्र बीजामिति वाच्यम्; पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपातुत्पत्तिक्षणाद्यक्षणादौ तद्विनापि सत्त्वात्। एवं च गुणाग्रहणे कथं गुणिग्रहणम्? तथाच निर्गुण एवात्मा गृद्यत इति स्वीकर्त्व्यम् । अनुभवाभावे च न तस्य जागरे परामर्शः। तथाचाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्रावनुभूयमानादात्मनोगहंकारो भिन्नः। एवमेवत्मान्यत्वे सिद्धे अस्त्रकाशत्वसाधने नान्योन्याश्रयः। न च तर्हि 'अहमस्वाप्स’ मित्यहमर्थस्य परामर्शानुप्रवेशानुपपत्तिः ; तदंरे परामर्शत्वासिद्देः। एवं सत्यपि यथाऽज्ञानंशे तस्य परामर्शत्वं तथोपपादितमधच्तात् । यद्यव्यहमस्वाप्समित्यादिज्ञानान्नान्य आत्मपरामर्शः, तथाव्यहमर्थस्य सुषुप्ति-

न च अहमर्थ एकववगुणाविशिष्टतया सुपुप्तौ गुद्तने पश्घात्मर्म्यते चेति न व्यास्तिभक्ग इति वाच्यम् ; सुपुपौ विशिष्टधीस्वीकारे सुपुस्तित्वम्नात्, अहमर्यैकत्वम्रह्य तार्किकादिविप्रतिपन्नव्वात्, विशेषगुणग्मस्य गुणिअहन्यापकत्वभजाच्च। न हि रुपाद्यविपयको घटादिग्हो मानसिद्धः। अनुत्पत्तिक्षणे इति। यन्क्षणे पाकजरुपादि घटादौ जायते, तदठ्यवहितपूर्वक्षणे तस्य नीरूपतावइयं वाच्या ; अन्यथा रुपादिकारणस्य रूपाद्यभावस्यासम्पत्तेरिति भावः। अद्यक्षणादाविति। तथाच द्वितीयक्षणादौ घटादिरुपाद्यविषयकप्यक्षापात्तिः ; आघक्षणे संयोगसन्निकर्षाभावेऽपि संयुक्तसमवायसन्निकर्षंमवात्, द्वितीयक्षणे रूपादिसत्वेऽप्याद्धक्षणे तत्र सन्निकर्षाभावेन द्दितीयक्षणजायमान्रप्यक्षे रूपदेराविषयत्व'संभवादिति भावः। निर्गुण एवात्मेति। एवकारास्सगुणत्मनि भाक्षत्वन्यवच्छेदः, सगुणात्मा चाहंकार एवंवति बोध्यम्। तस्य अहंकारस्य। अज्ञानाश्रयत्वेन अज्ञानेन सह। अनुभूयमानादिति।

कालाननुभूतत्वेन तत्काले अज्ञानाश्रयत्वेन चानुभूतात्मन्येव परामर्शत्वपर्यत्रसानम् । अत एव चिद्स्तपत्ति्चयमस्तपतीदीति परामर्शाकारतापात्तिर्निरस्ता ; तत्कालानुमूतान्तःकरणसंसर्गेऽहमित्याकारोपपत्ते: । गत्तूक्त विवरणे-अ अन्तःकरणनिशिष्ट एवात्मनि प्रत्याभिज्ञां जूमः, न निष्कलङ्कैतन्ये, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रसममधिगम्यत्वा' दिति, तदत्र न विरोधाय। मोक्षावस्थायिनः शास्कैकसमधिगम्यत्वादिति हेतूक्रया न निष्कलङ इत्युपाधिमात्रविरहिणि प्रत्यभिज्ञाननिषधेन चान्तःकरणपदस्योपाधिमात्रपरत्वात्। तथा च सुपुप्तावप्यज्ञानोपहित एवात्मा

अविद्यावृत्तिरविद्यात्मोभयविषयिका, न तु संसर्गविषयिका; साविकल्पवृत्तिः सुषुप्तौ न संभवतीति पूर्बोक्तत्वात्। स्वगं अहमर्थाधिष्ठानरूपमविद्योपहितचैतन्यम् । यद्यप्यविय्योपहितंवेन स्मृतिर्नापादायितुं शक्या, सुपुतौ तथाननु ${ }^{1}$ भवात्; तथापि वस्तुगत्या यदविद्योपहितं साक्षिस्वरूपं तदाकारवृतेत्र सुषुप्तौ सत्त्वातथैव ₹मृत्यापत्तिर्बोध्या। साक्ष्यंशे समृतिरूपा अहमर्थांशे स्मृतिश्वशून्या एकैवाविद्यावृ|त्तिं, सामम्रीसत्वेनाहमर्थविषयकत्वम्य प्रत्यारुयन्तुमशक्यत्वादित्याइयेनाह-तत्कालेति। यतूक्तमिति। सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञा न स्यात् ; आत्मनः ${ }^{2}$ 干वपकाशचिद्दूपत्तेन ज्ञाननाशरूप संसकारासंभवादित्याशक्रयेत्यादि: । विशिष्ट एवेति। तथाच तत्र वृत्तिज्ञानसत्त्वातन्नाश एव संक्कार इति भावः। निषेधेनेति । अविद्योपहितेडवय्यविद्यानृत्तेर्विनरणकारसमतत्वेन संसकारा धीिनप्रत्यमिज्ञा ${ }^{-1}$ समवात्तद्रनुक्तया न्यूनव्वेनेति रोषः। उपाधिमात्रेति । नचैवं-मनसः प्रतिसुपुषुप्तिकालं नाशान्तथापि प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरित्या-

[^195][^196]गृह्यते। किंचान्तःकरणाविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाननिषेधो नाभिज्ञानिषधेऽऽपितित न विरोधः ; सुषुप्तावभिज्ञाया एवोक्तत्रात्। न चयद्यहमर्थो न परामृइयेत, तर्हि 'एतानन्तं कालं सुप्तोऽह्हमन्यो वे' ति संरायः स्या I, न त्वहमेवेति निश्नय इति वाच्यम् ; सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासादिति गृहाण। यथा पूर्वदिनानुमूतदेवद्तादभिन्नतयानुभूते चैच्रे सोऽयं न वेति न संशायः, किंतु स एवेति निश्रयः। किंच निश्नये सति संशायाभावनियम:, न तु निश्रयाभावे संशायनियमः । तदुक्तम्-‘अरोपे सति निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप ' इति । न चैतावन्तं कालमहं स्वमं पइयअासं जाग्रदासमित्यन्रेवाहमस्ताप्समित्यत्राप्यहमंशो परामईीत्वानुभवात्कथं तत्रापरामरात्वमिति-वाच्यम् ; परामृइयमानतत्मैक्यारोपात्त्र्दानांरो परामर्शात्वाभिमानात्। न चापरामरों परामर्शात्वारोपो न दृष्ट इति-वाच्यम्; तादिन्ने तच्चेनानुभूयमाने परामर्शा-
शा क्कय संसारावस्थायां मनसोऽत्यन्तानुच्छेदेन प्रत्यमिज्ञोपपात्तिरिति यत्समाहितं तत्प्रतिपादकोत्तरम्रन्थरूपवविवरणविरोध इति वाच्यम्; अन्तःकरणपद्श्य पूर्व्यन्थे उपाहिमात्रपरत्वेप्यन्तःकरणमात्रांश एवोकानुपपत्तेक्तच्छक्कासमाधानयोरौचित्यात् । अभिज्ञाया इति। जागरेऽपि स्मृतेरेवोक्कत्वादिल्य्यि बोध्यम् । नियम इति। कादाचितकसंशायस्तु ₹्यादेव ; अहमर्थक्षणिकत्ववादिविप्रतिपत्त्यादिना तत्संभवादिति भावः । तद्भिनेन स्मर्यमाणमिन्ने । तत्वेन स्मर्यमाणाभेदेन ${ }^{1}$ । अनुभूयमान इति। अनुभवे इति रोषः। परामर्शत्वेति। ₹मृतित्वेत्यर्थः। तथाचानुनूयमानत्वविशिष्टे स्मर्यमाणाभेदारोपस्थले अनुभवे स्मृतित्वमाराॅ्य तद्वद्विषयस्याभेदारोप इति भावः। स्वरूपतो विषयतश्शा-

$$
1 \text { स्मर्यमाणभेदेन-ग. }
$$

त्वारोपद्र्शनात्। अत एवाहमर्थस्यात्मान्यत्वे यः पूर्व दुःखी, सोऽधुना सुखी जात इतिवत् यः पूर्व मद्न्यः सुषुतः सोऽधुना अहं जात इति धीः स्गादिति-निरस्तम्; यथा दुःखित्वेन प्राक् ज्ञानं तथा मद्नत्यत्वेन प्राक् ज्ञानाभावात् । सुषुप्रावहमर्थप्रकाशवत्तदन्यत्वस्याव्यप्रकाशा एव। एवंच प्रागस₹्चग्रम्रणात्वूर्वकालगृहीतेनाभिन्नतया गृद्यमाणत्वाच नाहंकारे जन्मप्रत्ययः । विनेकिनां चैताद्वग्बुद्वाविष्टापतेः । नचसिद्धेऽ्हमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृरयमानात्मैक्यारोपः, सिद्धे च तस्मिन् सुप्तावप्रकारोनाहमर्थस्यात्मान्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम् ; आत्मान्यत्वसिद्धे: प्रागेवाहमर्थापरामर्शस्य साधनात्। अहमझगाप्समित्यस्यैवात्मपरामर्शत्वाङ्भीकारेण न हष्टहानाद्टक्टल्पनापत्तिः। अत एव च सुपुप्तावहमर्थप्रकाशे ह्यस्तन इव समर्येतेत्यत्र नेष्टापच्यत्रकाशः। फिंच ' एतावन्तं कालमहमित्याभिमन्यमान अस 'मिति परामर्श: स्यात्। न चाहमर्थप्रकारो तद भिमानापादनं कर्णस्पर्शो कटिचालनामिति ---ाएच्यम् ; तौवन हि तत् । अहमर्थमात्रसापेक्षतया तदाभिमानप्रकारायोरुभयोः
 সुणे ₹मृतिव्वारोपदईईनादित्यवि बोध्यम् । अत एव—अहमर्थे पूर्वज्ञाना ${ }^{1}$ भावादेव । प्रागसत्चाग्रहणात् — उत्पत्त्यम्रहणात् । पूर्वकालगृहीतेन——पूर्कालीनतया गृहीनेन । तथाचोल्पद्यमानत्वाभावावच्छेदकत्वेन गृहीतपूर्वकालीनत्वस्य সहान्नोत्पद्यमानत्वेन ग्रह इति भावः । यत्त्वहमस्वाप्समिति खवापक्कियाकर्तृंवेनाहमर्थपरामर्शो न स्यादिति, तन्न; पूर्वदिने ऽकार्षमितिवदहंकाररुपानुगम'स्योंक्तव्वात् । तदभिमानापादनम्-तदभिमानपरामशांपादनम् । तदभिमान-

$$
1 \text { पूर्व ज्ञाना-ग. } 2 \text { स्वरूपनुगम-ग. }
$$

समव्याप्ततया परस्परप्रकाशेन परस्परपरामशापापदनस्याष्यधिकरणत्वात्।न च तवापि 'अत्मेत्यभिमन्यमान अस'मिति परामशापात्तिः ; अहंकारस्य तत्र तन्न्रतया तदभावे तत्रापादयितुमशाक्यत्वात् । यतु—सुपुप्तावहमर्थो भासत एव' 'न किंचिदहमवेद्वि' मित्यज्ञानपरामर्शस्यात्माद्यज्ञानादन्यदिवाहमर्थाज्ञानादन्गदेवाज्ञानं विषयः; अन्यथा विरे।धादिति, प्रकाशयो:-अहमर्थाभिमानस्याहमर्थप्रकाशास्य चेत्यर्थ-। परस्परप्रकाशोन —अहमर्थतदुभिमानयोरन्यतरप्रकाशेन। अहमर्थाभिमानस्याहमाकारवृत्तिरूपत्वे डपातरवृृत्तिवन्न प्रमाणन्यापारादिसापेक्षत्वम्, किंतु मनःस्थूलुवस्थोपहितचिद्रू गहहमर्थमात्रसापेक्ष त्वम् । एवमहमर्थपका शस्याप्यहमर्थवचच्छिन्नसाक्षिरूपत्वादहमर्थमात्रसापेक्षत्वम् । एवं चोक्राभिमानस्य साक्षिमात्रभास्यत्वस्य त्वयापि ₹वीकारास्सुपुप्तौ तं्रकाशावइयफंवेन पश्रात्परामर्शापादनं युक्तमेवेति भावः। नन्वहमर्थस्याणुजीवरूपत्वास्पुपुप्तावपि तत्सत्त्वादहमाकारृत्तौ न तन्मात्रसापेक्षता ; किंतु तस्या मनःपरिणामत्वेन मनआदिसापेक्षता, तथाच सुपुप्तौ मनोलयेन छ्वस्मनोयोगरूपकारणाभावेन वा न सेति न तत्परामर्शापादनं युक्तमिति -चेन्न; अहमर्थस्याहमाकारवृत्यवच्छिन्नसाक्षिणा तदनवच्छिन्नसाक्षिणा परामरान्यथानुपपत्त्या वा सुषुत्तौ सिद्धि:। नाद्यं ; त्वयाप्यनजीकारात्। नेतरौ; परामर्शस्य साक्षिमात्रांश एव वयवस्थापितत्वात्, सुणुप्तावहमर्थस्य त्वयाव्यभ्युपगतसाक्षिस्वरूपादन्यस्याप्रामाणिकत्वात्, अहमाकारवृर्ति विनाप्यहमर्थस्य साक्षिवेद्घत्वे तन्यां त्वन्मते मानाभावात्, सुपुतौ तदभावस्य कारणाभावपयुकत्वाक्तघसझतेत्र । तन्त्रतयेति। अइंमेत्यभिमानोऽपि द्यहमाकारवृत्तिरेच केवलाइ्मनो वेदान्तैकवेघत्वे नाभिमानासंभवात् । आत्माद्यज्ञानादिति । यथा तव चिद्रूपत्मांशो नाज्ञानम् ; तस्य भासमानत्वात्, किंतु पूर्णा

तद्ञानविजृंक्मितम् ; न हि साक्षिवेद्नमज्ञानविरोधि। सुषुप्तौ च यथाहमर्थानवभासस्तथोक्तम्। 'न विजानात्ययमहमस्मी' ति ${ }^{1}$ सुषुप्तिविपया श्रुतिरपि तदानींतनाहमर्थाज्ञाने प्रमाणम् । न चेयंय श्रुतिः 'नात्मानं न परांश्य'ति सुषुप्रावात्माज्ञानश्रुतिवाद्विशेषाज्ञानपरा, 'अहरहर्वह्न गच्छन्ति सति संपद्य न विदु 'रित्यात्मवेदननोधकभ्रुतिविरोधेन विशेपाज्ञानपरत्वं युक्तम्, न च प्रकेते तथा ; विरोधाभावात् । यत्तु-अहमर्थस्तावत्स्मतर्ट, स चाविद्यावच्छिन्नचैतन्यं चा, अन्तःकरणा-

नन्दांशो, तथा मन्मतेडहमर्थारोऽपि नाज्ञानामिति भावः। न हीत्यादि। तथाच चिन्मात्रस्य स्वप्रकाराम्याव्यज्ञातत्वसंभवालसाक्ष्षिवेद्यम्यापि त्वदभ्युपगताहमर्थम्याज्ञाततवसंभवाच दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकावयुक्ताविति भावः। न विजानातीति ।'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहम₹मीति नो एवेमानि भूतानी’ति छान्द्|गयश्रुतेररर्थतो ग्रहणमिद़म् । नाहेति हराब्द: प्रसिद्धौ, दीर्घत्वं छान्द्सम्, नाशाबद्द एव निषेधार्थे (वा) ‘अमानेनाः प्रतिपेधार्था' इति शाबिद्कोक्तेः । नात्मानमित्यादि ।
' नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किंचन संवेतित तुरीयं सर्वद्दक् सदा'।।
इति गाँडवादे़क्षश्रुतिर्यथाइ्मनः परान्यत्वेनाज्ञानं बोधयति । तथा नाहु खल्न्यमित्यादिश्रुतिरपि परान्यत्वेनाहमर्थाज्ञांन बोधयतीत्यर्थः।
 पजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा'इति श्रुतरर्भतो। ग्रहणम्। वेद्नबोधकेति। ब्रह्मगमनसत्सम्पत्त्योः कार्योपाधिरून्यदाक्षेरूपेण प्रकारामानत्वरूपतयेाक्तश्रुतरतात्मवेदनबोधकत्वम् ॥

[^197]वच्छिम्मचैतन्यं वा। आद्ये योऽड्हकार्ष सोऽहं सौषुप्रिकाज्ञानादि स्मरामीत्यनुमवविरोधः। अन्त्ये त्वहमर्थस्यैन तदनुमवितृत्वं वाच्यम् ; स्मृतिसंस्कारानुमवानामेकाश्रयाणामेव कार्यकारणभावात्, 'येऽऽह्हमन्वभूनं सोऽहृं स्मरामी’ति प्रत्यमिज्ञाना-च्चेति-तन्न; दत्तोत्तरत्वात् । उक्षं ह्यविद्यावच्छिन्नचैतन्यमनुभवितृ, तदेव चान्तःकरणावच्छेदेनानुमूयमानं स्मर्त्रिति न तयंर्वैरूप्यम् । नचाविद्यावाच्छिन्नाचिताऽपि नैक्यमास्ति, अन्तःक्रणरूपापाधिभेदेन भेदादिति — वाच्यम् ; अविद्यावच्छिन्न एवान्तःकरणावच्छेदात् । न च—तथाप्यविद्यान्तःकरणरूपोपाधिमेदेन मठाकारातद्न्तःस्थघटाकारायोगिनोपहितभेदः स्यादिति—वाच्यम् ; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः । तयो-

न चात्मानि प्रकारामानेऽप्यज्ञानसंभवान्नोक्तश्रुतिविरोध हति-वाच्यम् ; शुद्धात्मनि ह्यज्ञानं सरर्कमानासिद्धत्वेनोक्तम्, न तु साक्षिणि ; तथाच प्राज्ञो नात्मानं वेत्तीत्येनेन साक्षिस्वरूपे प्राज्ञात्मन्यज्ञानबोधने उक्कश्रुतिर्बिरध्यत एव। न च- श्रुतिबलादेव प्रकारामाने गुद्धात्मनीव साक्षिण्यज्ञानमुच्यतामिति--वाच्यम्; नात्मानमित्यादि श्रुति: परामृइय ${ }^{2}$ मानत्वान्यथननुपपत्त्या लोकसिद्धपतीतिकाज्ञानस्यानुतादिका ; साक्ष्यंशा|ज्ञानं तु परामृरयत ${ }^{3}$ इति न तल्ल्डोकासिद्धप्रतीतिकामिति नोक्त श्रुत्याव्यनूद्यते । न चैवमत्यात्मवेदनश्रुतिविरोधो न विऐाषाज्ञानवरत्वे हेतु:, किंतु प्राज्ञाविषयकत्वेनाज्ञानपरामर्शास्याभाव इति स एव वक्तुं युक्त इति—वाच्यम् ; परामर्शाभावात् । प्राज्ञाज्ञानाभावासेद्धी ${ }^{4}$ चात्मवे. दनबोधकश्रुतिरनावृतप्राजप्रकाशं बोघयतीति कलट्यते । अत एव
${ }^{1}$ नात्मानं बेतील्यादि-ग. ${ }^{2}$ श्रुंतिपरामृदय-क. ग. ${ }^{3}$ न पराम्सृस्यत-ग. 4 सिद्धा-क.

रेवोषाध्योः परस्परमुपहितभेदकत्वम्, यौ परस्परानुपहितमुपधत्तः । अन्गथा कम्बवच्छिन्नग्रीवावच्छिन्नाकाशदन्य एव घटाकाशः स्यात्। न चैवं सुपुप्तावहमर्थाभाने अहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुपुप्रचर्थ प्रवृच्ययोगः; 'क्रोोऽहं स्थूलोभवामी'तिवत् प्रवृच्चुपपत्तेः। न च-तत्र काइर्यादिनिष्कृष्टस्य शरारस्यैव स्थौल्याधिकरणतया विवेकिनामुद्देगयत्वमितिवाच्यम् ; प्रकृतेडप्यन्त:करणादिनिषकृष्स्यैन तदुदेशविषयत्वात्। गच्छन्त्य इत्यन्तं सति संपघेल्यन्तं चोक्तश्रुल्योः सार्थकम् ; प्राज़्वरुपस्यानावृत्रकाओत्वेऽधि शुद्धात्मनो न तदिल्यर्थकव्वात् । अत एव—कार्योपाधिसंसृष्टत्वेनाभानमेव सस्संपत्त्यादिश़ब्दार्थ इति-
 यथोक्तससंपपत्या|घादरे तु गुद्धाटमन्येवाज्ञानम्, न तु प्राज्र इति ज्ञापयन्ती श्रुति: प्राज्ञान्यातमम्वरूपपरोति ध्येयम् ॥

अन्य एव घटाकाशः स्यादिति। नन्वेत्रापात्ति: ; अन्यथा साक्षिण एव मनस्तद्तिपटावच्छिन्नतया प्रमातृपमाणपमेयाघभेदः स्यादिति--चेत्, भ्रान्तोंडसि ; मनआदिकं हि यघ्यिे न साक्षिचैतन्यासवावाच्छिन्नं भिनति, तथापि वृत्यायद्यच्छिन्नचितः ₹वावच्छिन्नाचितं भिनत्येवेवि कथं प्रमात्रदी़ीनामभेदः ? न च—मनसो बृताव्य्यनुगमाזकथं तदवच्च्छन्नात्वावच्छिन्नेदकक्वमिति-वाच्यम्; मनोभागः शरीराबचिच्छन्नः प्रमानु:, गरीरविषयाम्यामनवच्छिन्नम्नु प्रमाणन्य, विषयावच्छिन्नस्तु प्रमितेरुपाधि: मनोविषयसंबन्धोल्पत्तिकाइ़ीना चित्रमितिः, उन्कोत्पत्पिर्वकालीनाइज्ञातत्वोपहिता चित्व्मेयम, उत्को-
 ख्वात् । निष्कृष्टस्येति । साक्षिगतिन्दुःखच्वमान्रमद्दे्यम्, अह-

ननु—'योऽहं सुपः सोऽहं जागर्मि' 'योऽहं पूर्वैद्युरकाष्ष सोऽहमद्य करोमी'ति प्रत्यमिज्ञानुपपत्तिः ; अहमर्थस्य भेदात्, कृतहान्यकृतां्ग्यागमप्रसङ्ञश्र; कर्तुर्भोक्तुश्राहमर्थस्य मिन्नत्वात्, अभिन्ने चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभात्रात्, तदारोपस्याप्यभावात्, देहादावतिप्रसझ्गानेति—चेन्न ; सुषुप्तौ कारणाॅ्मना स्थितस्यैवोत्पत्यद्धीकारेण सर्वोपपत्तेः। नच-6 अथ हैतन्पुरुषः स्वपिती’त्यारम्य 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मन' इत्यादिश्रुतौ मनआदानामेतोपरमोक्तेरहंकारोपरम इति वाच्यम् ; मनस उपरमे तैनैनावांकारोपरमस्यापि प्रापेः । अहंकारों ह्यनुमवामीत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहं कर्तेत्यचिद्ननुबन्धकर्तृत्वादेश्याश्रयः

मंशस्य त्ववर्जनीयेच्छाविषयत्वम्, परस्यायं ग्रामो मे भवतिव्यादौ परसंबन्धांशस्येवेति भावः । न च—चिन्मान्रं निर्दु:खमस्तिवतीच्छापत्तिरिति -- वाच्यम् ; चिन्मात्रत्वेनाज्ञानात् । निर्दु:खानुमवेऽSस्त्वितीच्छा तु जायत एवेति घंयेयम् ॥

कर्तृत्त्वद्यभावादिति। तन्मतेऽहंकारस्यैन कर्तृत्वादिस्वीकारादिति शेष:। तदारोपस्याप्यभावादिति। अहं करामीत्यादिप्रतीत्या अहंकार एव कर्तृत्वादिसिद्धया मानाभावेन चैतन्ये कर्तृत्वाद्यारेपस्याप्यभावादित्यर्थः। स्थितझ्येति। अहंकारस्वरूपस्य तत्तहपरिणामेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावेन तत्परिणामावस्थानुगतत्वादैक्यप्रत्यभिज्ञा|दिकं यु. ज्यत इति भावः। आत्मानुछन्धीति। अत्माभिन्नेत्यर्थः। यद्यव्यह मर्थस्य चिद्धटितत्वेऽपि घटः ₹फुरतीत्यादाविवानुभवाश्रयत्वं संभवति, तथाप्यहमिति प्रत्ययेऽवच्छिन्नानुभवरूपणाहमर्थमानात्, अवच्छिन्नानुभवन्य चानवच्छिन्नात्मानुगतत्वात्, आत्मानुबन्धित्वेनात्मानुबन्ध्यनुभवावच्छेदकमनसन्तादृशानुमवाश्रयत्वेनोक्तिरिति बोध्यम् । अचिदनु-

चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः। तस्य चाचितोडन्तःकरणस्योपरमे उपरतिः। 'अथातोगहंकारादेशः अथात आत्मादेश' इति श्रुतिरपि पृथगुपदेरोन पार्थक्ये प्रमाणम्। नन्वत्मनस्त्वन्मते 'स एवाधस्ता' दित्युपदिप्टेन भृम्रेवाहंकारेणाप्यैक्येऽपि पृथगुपदेशो युक्तः। नच—भूमात्मनोर्भिन्न्वेन प्रत्यक्षसिद्धगो: पृथगुपदेश ऐक्यार्थः, द्वयोः सार्वाट्म्यायोगात्, अहंकारस्य
बन्धीति । अचिच्परिणामेल्यर्यः। तथाचाहमर्थस्यावच्चिन्नचिद्रूपेण कर्तृत्वादिपरिणामाश्रयव्वेन चातुभवाचिदचिद्धाटितत्वामिति भावः । उपरतिरिति ॥
 हंकार:, तथाच मनोलयोक्तया नाहंकारखयलाभ इति—चेन्न ; 'काम: सङ्कल्पो विचिकिस्से' ल्यादिना वृत्विमात्रमुक्ता, 'एतस्सर्व मन एवे'ल्यनेन श्रुतौ सर्वृवृत्चुपहितें' मनस्वोंक्तया, 'गृहीतं मन' इल्यादिभ्रुतावपि मनःसर्बवृृ्युपहितोोक्ने:, अन्यथा ‘ सुषुप्तिकाले सकेले विलीन’ इत्यादिश्रुतानां सुपुषेः स्रुप्तित्वस्य च व्यापातत्। न हि सुपुप्ताबहमाकारृृ्तररध्यवसायादिवृतित्वा केनाप्यनुभूयंत। गतु वृत्तिसामान्याभाव एवोपरातिः प्रकृतभ्रुल्यर्थ:, न तु लय इति-ततुच्छम्? मनसो वृत्र्यवस्थारूपस्यौल्यत्याते सूक्ष्मतैवावाश़ष्यते, सैव च तस्य रयः;
 मन आहृकारिकं न त्वहंकार इति-तन्न ; उत्रसाद्बवयभवियाया ‘अणवश्थे'ति सुत्रभाव्याद्धिदूपित्वाव्॥

प्रत्यक्षसिद्धयोरिति। भेदस्य ज्ञातत्वेन श्रुतितत्पर्याविषयत्वमित्यर्थः। पृथगुपदेशः सार्वास्येन पृथगुपदेशः। ऐक्यार्थः अत्य न्ताभेदतात्पर्ग्रक। सार्वाक्त्यायोगादिति । सर्शाक्यं हि बाधाया-

त्वात्मैकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य पृथगुपदेशो भेदार्थ इति-वाच्यम् ; अह्रमर्थदन्यस्यात्मनो भूमाख्यन्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षासिद्धत्वाचयोरप्युपदेशो भेदार्थः, अहमर्थस्य तु अद्समिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोरुपदेश ऐक्यार्थ एव किं न स्यादिति—चेन्म; अहंकारान्ज्रिन्नात्मनो भूमरूपत्रह्नभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षासिद्वृत्वेऽपि तदाभिन्नत्त्र्यापि तदासिद्बतया उभयो: सार्वर्क्योपदेशानुपपत्तिसहकारेणास्याः श्रुतेस्तयोरभेदपरत्वमुचितम्, प्रकृते चाभेदपरत्वे विरोधः ; जडाजडयोरैक्यायोगात् । नच-त्वन्मते भूमा-

मध्यासे वा सामानाधिकरण्यात् भूता 1 हमान्यन्नास्तीत्येवंरूपम् , भूताइमा ${ }^{1}$ नौ सर्वाइमकावित्येवंरूपं वा। तत्र द्वयोरधिष्ठानत्वे मानाभावादेकसैयेवानादिसाधारणर्सवद्ध.इयानुगतसच्चिद्नूपतया प्रतीयमानत्वसंभवाच्च पृथगुपदिएयमानयोरत्यन्ताभेदं विना उक्कसार्वर्वम्यमनुपपन्नमिति प्रतिसन्धानद्वारात्यन्तामेंदे द्वयेःः सार्वास्य्योपदेशतात्पर्यमिति भावः । पृथगुपदेशो भेदार्थ इति। परिच्छिन्नस्याहंकारस्य स्वरूपेण न सार्वात्क्यम्, किं तु सर्वात्मकचिदाइ्मघटितंवेनेत्येतज्जापायितुं ‘अथात आत्मादेशा’ इत्यादिकमुक्तम्। न चैवं 'अथातोऽहंकारे'त्यादिकमनुक्त्वा 'अथतत अत्मे' त्याद्येवोच्यताम्, तावतैव न्रद्मात्मनोरैक्यसंभवादिति-वाच्यम् ; आत्मपदғ्य लोकेऽहमर्थ एव प्रयोगात्, शुद्धाहिनः सार्वाल्यबोधनासंभवात्। अहंकारादे शवाक्येत्तरमात्मादेशवाक्योक्कौ तु पौनरुक्तयपतिसन्धानद्वाराइ्मपद्स्य शुद्धाइमपरत्वनिश्चयेन शुद्धात्मनः सार्वास्ये उत्षे तद्धटितंत्वेनाहंकारस्य सार्वाँ्म्योक्तिरिति निश्चयसंभवः, तथा चोक्तरीत्याहंकारातिरिक्तात्मन्यात्मपदताइपर्यनिणायकवेन पृथगुपदेशो भेदार्थ: इति भावः। जडाजडयोः अहमर्थत्रक्मणोः। ऐक्यायोगात् अत्यन्ता-

हंकारात्मनां बिम्बप्रतिबिम्बमुखस्थानीयाविद्योपाधिकव्रद्नजीवचित्मात्रत्वसंभवेनाहंकारस्य जीवत्पाथ्थक्यासिद्धिरिति-वाच्यम् ; 'यत्र नान्यत्पर्यति' 'स एवाधस्ता'दित्यादिना भूमस्वरूपोक्तथनन्तरं यत्रेल्याद्यधिकरणाधिकर्तन्यनिर्देशात्स इति पारोक्ष्यानेर्देशाच द्रहुर्जीवादन्यत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थ ‘अथातोऽहंक रादेश' इत्यहंकारेण भूम्रि निर्दिष्टेऽहंकारस्य देहादिसङ्धातेऽवितेकिप्रयोगदर्शनात्चद भेदप्रसकौत्रौष्कृष्टहंकारकेचलात्मस्वरूपमादाय ‘अथात आत्मादेश’ इति द्रष्टृभेद उच्यत इत्येताद्धार्थभेदायोगात्। जडवं चात्र परीच्छचन्नंवाद्दिज्ञापनायो|कम्, तेन परमतेऽहमधस्यानु' रूपस्याजडत्वस्वाकरोडपि परिच्छिन्नव्वादिस्वाकारावरयकत्वाद्रहैक्यासंभव इति भावः। अविद्योपाधिकन्नह्नजीवेति। अवियाबिम्बप्रतिबिम्बरूपवह्नजीवेत्यर्थ: । पार्थक्यासिद्धिरिति। तथाचाहमर्थस्य गुद्धावमभेदेडपि सुषुतौ तदभानाहुल्तिरसक्ञतेति भावः। यत्र नान्यादित्यादि। यत्र बह्ञणि अन्यद्र्यं अन्यो द्रष्टा पश्यतीत्यादिरूपा त्रिपुटी नास्तीर्यर्थः। द्रहुरिति। भूम्मीत्याद्विः। भूस्ति निर्दिष्ट इति । अहंकारोदेशवाष्ये यस्य सार्वास्ये ताॅपर्य तद्यूमामिन्नम्; दूयोः सार्वास्म्यायोगासिति ज्ञाविते सतीत्यर्भ:। अविवेकीति। अहं क्षरेलयम्योचारयितृशक्तेडपि चिदचित्संवलितम्योचारयितुरविवेकेनैव ग्रः । गुद्धात्मनि प्रयोगो यद्यव्युक्तार्थरूपशक्यसंबन्धज्ञानाव्, तथापि ग्रुद्धांमम्वरूपज्ञानस्य प्रमां्वान्नाविवेकार्षीनत्वम्। अहमर्धम्यावियापघुुक्तंवेन गृहीतुरविवेकिक्वमुक्तमिति बोध्यम्। द्रष्ट्र भेद इति। आז्मादेशवाक्यं गुद्धामसार्वात्म्योधनद्वाराहंकारादेशवाक्यस्य सर्वात्मकचिद्धटिताहंकारे तात्पर्यमुक्तरीत्या भ्याहयतीत्यहंकारशुद्धा।मनोर्मेदे पर्यवसन्नम् ${ }^{2}$ । यदि चाहंकारवाक्यस्थाहंकाराहमादिपदा-

$$
1 \text { अणु-ग. चपर्यंस्सानमू-क. ग. }
$$

परत्रेन बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाया अत्रासंभवात् । संभवे वा अविद्योपाधिकजीवस्याहंकारत्वोक्तिः स्थूलारुन्धतीन्यायेन। अत
नामपरोक्षैकरसझुद्धचिति उक्षणातात्पर्य्याहकत्वमाइमादेशावाक्यस्येच्येत, तथाप्यहंकाररूपराक्यार्थसार्वात्य्यानुपप|त्तिधीपूर्वकं तद्विविक्तशुद्धे लक्षणया तात्पर्यস्राह्टकत्वेनोनफ मेदपर्यवसानमक्षतामिति बोध्यम् ॥

नन्वहेंकारशबद्दे नाविद्याप्रतित्रिम्बितचिद्रूपजीवोक्तावव्युक्तरीत्या पसक्तमेदवारणम्, पश्चादात्मादेशवाक्येन शुद्धमादाय द्र्ट्रेदोन्किश्व संभवतीत्यत आह-संभव इति। स्थूलारुन्धतीति। यथा अरुन्धतीनिकटस्था स्थूला ताराऽरुन्धतीयमित्गुक्ता पदरर्यते ; सूक्ष्मत्वेनारुनघत्याः प्रथमतो दर्शननासंभवात्, पश्चान्नेयमरुनघती किंतु तन्निकटस्था सूक्ष्मतारेत्युक्षा अरुन्धतीपपदर्शनात्पूर्ववाक्यस्यारुन्धतीज्ञाने तातपर्यनिक्धयाप्रदार्शाततारयोर्मेदपर्यवसावम् , तथाहंकारशबेदेनाविद्याप्रतिबिम्बमहंकाराश्रयचैतन्यमुच्यताम् । अपरोक्षचैतन्यध्याहंकारशबनेदैनैव लोके व्यवहारादविघापतिबिम्बादिशबदानामलौकिकत्वात्तेन शबदेन निर्देष्टुमशक्यत्वात्, पश्चादाहमादेशावाक्येन तस्योक्तरीत्या शुद्धसार्वास्यतात्पर्यनिश्रय' इत्यहंकारशबदलक्षिताविद्याप्रतिचिम्बस्य झुद्धातममेदे वाक्यपर्यवसानमप्युच्यताम्, तथापि नान्माकं क्षतिरिति भावः। न चैचमहंकारशाब्दवाच्यतैवाविद्याप्रतिबिम्बे स्यादिति-वाच्यम् ; । तथासति सुपुत्षौ विशेषगुणराहित्येनाहंकारपदवाच्यमानानुपपाच्त्ताद्वस्थ्यात् । नचश्रुतिः पार्थक्ये प्रमाणमिति प्रतिज्ञाहानिरिति-वाच्यम् ; अहंकारपढ़वाच्यस्य श्रुतावनुकत्वेऽप्यहंकारशब्देनोक्तस्य निरुवाधिकाइमपार्थक्ये श्रुतिः प्रमाणमिति प्रतिज्ञातार्थस्य हानाभावादिति ध्येयम् ॥

अत एव-'स एवाधन्ता'दित्यादिवाक्यस्य भूमतनैकत्वपरत्वा-

एव-'स एवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्व'मित्याद्युपसंहाराणां 'स एवाधस्तादहमेवाधस्तादारैमैनाधस्ता'दित्युपक्रमै: 'सर्वं समामोषि ततोऽसि सर्व' इत्यादिस्मृतिमिश्र सर्वगतत्वपरत्वेन न सार्वात्क्यपरत्त्रम्, येनाहंपद़स्य निष्कुष्टाहंकारचैतन्यपरत्वं स्यात्। सर्वगतत्वं चानेकेष्वपि संभवत्येव। भूमात्मोपदेशाभ्यामेव ब्रह्मात्मैक्यसिद्धया मधयेऽहंकारोपदेशवैयथ्थर्य चेति-निरस्तम्। 'स मगतः कस्मिन् प्रतिष्टित' इति प्रश्नानन्तरं किं क्कचिदाधिष्टानत्वमात्रं पृष्टम्, परमार्थतः क्राचिदाधिष्टितत्वं वा। आद्ये स्वे महिम्नीत्युक्त्वा द्वितीये भूमातिरिक्तमेव

देव। सर्वगततवं चेति। वाच्यः्वज़यत्वादिव्विवेति रोष:। स्वे महिम्नत्युक्तेति। स्वकीये प्रवश्चरुपे महिम्नि स्थित इत्यर्थकं स्वे महिम्मि प्रतिष्ठित इत्युक्तेत्यर्थः। ननु यदि स्वे महिम्नि स्थितस्तर्हि 'राजा गजाश्वादिमहिमस्थ, इत्यादौ स्वसमानसत्ताके भोगसाधने महिमपद्दप्रयोगात् प्रपश्चक्य वह्मसमसत्ताकंवप्राप्तया सद्वित्तिभेद्रतियोगित्वादिरूपस्य वस्तुपरिच्छेदादे: प्रास्तय ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वरुपभूमत्वक्याघात इत्याशक्कायां ${ }^{1}$ गोऽश्रमाहिमेत्याचक्षत इत्यादिना कृतायां, नात्र महिमशबनद उक्तार्थकः ; उक्तदोषात् ' किंतु ₹वशबददस्य सवाध्यस्तरूपस्वीयार्थकत्वात्तदन्वययोग्यत्वात् सक्केचकाभावाच्च हुयमात्रमेव तदर्थः, महिमझाबद़ो ह्युतकर्षवाची, स च राजादौं स्वामित्वादिद्धारा गोऽऽ्व्वदिकमिव ब्रह्मणि भासकत्वादिद्वारा दृइयमात्रमपीत्याइयेन 'नाहमेवं ब्रवीमीति होवाचे'ल्यनेन निरक्तायामिति रोषः । द्वितीय इति। द्वितीयकोटिनिषेधे 'यदि वा नो महिमीति' वाक्येनोक्त इत्यर्थः। हेत्वा-

[^198]
# नास्तीत्येतदर्थवर‘अन्यो घ्यन्यस्मिम् प्रतिष्टित' इति पूर्ववाक्यानुसारेण 'स एवाधस्ता'दित्यादेरपि सार्वात्म्यपरत्वे निश्यिते 

काउुक्षायामिति शेषः। अन्यो ह्वन्यस्मित्निति। सत्यद्वयंयं चेत्वदा भूमस्वमेव ठ्याहतम्। उत्कं च पूर्वेमेव 'यत्र नान्यववरयती ' ल्यादिना वाक्यनाद्दितव्रहणो भूमस्वरूपत्वम्। अतः सत्यस्य भूमान्यस्यामावानूहो नान्यप्रतिष्टितत्व परमार्थत इति श्रुत्याइय इति भावः। पूर्र्वाक्यानुसरेणेत्यादि। पूर्ववाक्यादद्वितथियतया ज्ञसाणे प्रमिते तच्छेषीयंत भूमात्मनेरैक्यं स एवेत्यादिनोच्यत द्त्यवश्यं वाच्यम् ; अन्यथा पूर्वापरवाक्यैवयर्ध्यांत्। न हि पूर्वापरवाक्ये उपान्यत्वेन भूमानं आह्माभिन्नभूमानं वा प्रतिपादयतः, येनोवासनापरत्वेन तत्सार्थक्यमुच्चेत। तल्लक्षणास्वीकोरेडीप्री ${ }^{1}$ श्रुतकल्पनाहृषार्थत्वसंभवेवदृष्टर्थकोपससापरत्वे गौरवम्। द्वैतसामान्यविरोध्यद्दैतस्य ज्ञाने उपासनाया असंभवश्थेति मावः। निश्यित इति। 'स एवाधस्ता'दित्यादावधस्तादित्यस्याधरमिति, उपरिष्टादित्यम्योर्ध्वंमिति, पश्थादिल्यस्यापरामिति, पुर्तादिल्यस्य पूर्वमिति, दक्षिणत इल्यस्य दक्षिणमिति, उत्तरत इस्यस्योत्वरमिन्यर्थः ॥

यद्यापि ‘दिक्छब्देग्यः स समीपश्चमापथमाम्यो दिये्देश कालेष्वस्ताति'रिति मून्ने समम्याद्यन्तेम्यो दिशि रूढेम्यो दिग्देशकालेषु वर्तमानेम्यो अस्तातिप्रल्ययः स्वार्थे विहितः, 'पूर्वाघरावराणामसिपुरधवध्धैपा'मिति सूत्रेण च पूर्वादिम्योऽसिप्यययाडसतादर्थे विहितः, त्योगे तेषां कमेण पुरादय अदेशाश्च विहिताः, ‘अस्ताति चे'ति सूत्रेण चास्तातियोगोगेडपि तेषां पुरादय आदेशा विहिताः, तत एव ज्ञापकाच नासिम्यय्यस्यास्तातिप्ययवाधकत्वम् , 'पश्चा' दिति सूत्रे चापरगब्दन्य पश्रभावोडस्तात्यर्य आतिपप्ययश्न विहितः, ‘दाक्षेणोत्रराम्यामतसु’जिति सूत्रे

$$
1 \text { श्रुतहान्यश्रुत-क. ग. }
$$

अहमर्थोनात्मत्वापवस्ति:

## पकन्रैव वाक्ये उपक्रमादिकल्पनेनार्थान्तराकल्पनात्, कल्प्य.

 मानस्य च भकृतार्थानुपपादकत्वात्, सर्वगता जातिरितिचास्ताल्यपवादकोऽतसुच्चल्ययो विहितः, 'उपर्युपरिश्टा'दिति सूत्रे चोर्ध्जशब्द््य्योपादेशो रिब्रिस्टातितौौ च प्रत्ययावसतार्तर्विषये विहिताः,
 सारेग परकृते सार्वात्म्यपरत्वनिश्ष्ययादधररमित्याधर्धकत्वम्, तथाचाघरो देशः कालो दिक् स एवेत्याधर्थपर्यावसनम्। अत्र निश्चितापकमस्सेवोपसंहारस्थार्थनियामकत्वात्, परमते पूर्ववाक्यानुसरणानादरेडपि सनिद्दुधार्थकोपक्रमस्य नोपसंहारनियामकत्वम्, कितुवाक्यहोषेण 'स एवेदें सर्व'मित्यंनैनैव निण्णीतार्थकेनापकमस्पार्थनिर्णय इत्याि बोध्यम् ॥ एकन्रैव—'स एवाघस्ता’ दित्यादाबेव। पूर्वाक्यमननुतृत्यंत्येककारार्थः। 'तरति शोकमात्मवित' 'एव तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' 'सुखं भगवो विजिज्ञासे भूमैव सुखं नालेप सुखम्, यत्र नान्यंप्प्यति स भूमे ' ल्यादिपूर्ववाक्यपर्याल्रोचनेनाज़ाते सत्युखुखावरीचिछ्छन्न्द्वितायालनन्येव स्तमपवाठकतात्पर्यानिश्यम इति भावः । अर्थान्तराकल्पनात् सर्वगतत्वमात्रस्यार्थस्य कल्पनाया असंभवात् । प्रकृतार्थेति—अद्वितीयभु्मत्मैक्येत्यर्थः। 'स एवा-
 स एवाहमेचातैमैवल्येकारत्रयेणाधारादिषु भूमाघन्ययोगण्यचच्छेदबाधनें भूमादित्यैम्यस्य पर्थवसानादिल्यपि बोध्यम् ननु --‘अन्यो ब्यन्यस्मिन्पतिष्ठित' इति वाक्यं नोक्तरीत्या भूप्मि प्रतिष्ठतल्वनिष्धअंहेतु भूत्तम्य ह्वेतभावस्य ${ }^{4}$ बोषकम्, किंतु भूमा नान्यप्रतिह्हितः; अनादिजु साक्षादसंचन्धात्कार्येकु तादाल्म्यात् यो हि यस्मादल्यन्तभिन्नः ${ }^{5}$ स तत्र प्रतिष्ठित उच्यते, यथा राजा गजादाविलेत्यदर्धपरम् ; तत्राह-सर्वेति।

[^199]पक्षे ठ्यापकजातेरिव भूम्रोऽप्यन्याधिष्टितत्वसंभवात्, 'सर्वे समांमाष्षी' त्यादिश्रतेः सार्वत्क्यपरत्वस्येपपादितत्वात्। नापि मधयेऽहंकारोपदेशानैयथ्थ्यम् ; नह्मण आपरेक्ष्यायाहंकरैक्योेकेः।

सर्वजातीयसर्ने्यर्थः । घटत्वादिजातिस्तादात्येन घटादौ स्वरूपसंबन्धेन चान्यत्र यथा संबद्धा, तथा परमते भूमा कार्यमात्रे तादाइंस्येनानादिषु स्वज्ञानविषयत्वादिसंबंधेन संबद्ध इति जातेरिव भूम्नः सर्वप्रतिष्ठितत्वं न विरुद्धम्। कार्यरूपान्यपतिष्ठितत्वं तु नतरां विरुद्धमिति नोक्षार्थपरमुक्तवाक्यमिति भावः। अथवा—भूमान्य एवान्यत्र प्रतिष्ठितो न तु भूमा ; व्यापकत्वात्, यद्धि कचिदेव संबद्धं तत्परित्ठितमुच्यते इत्येतःपरा - यदि वा नो मटिम्नी' त्याद्य ‘न्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित' इत्यन्तश्रुतिः ' ₹वे माहिम्नि प्रतिष्ठित' इति तु सर्वन्यापकत्वपरमित्याशयेन स एवेत्यादिना चयापकत्वमुपपादितम्। तथाच सार्वांक्यपरत्वोक्तिने युका, 'यत्र नान्यः्पइयती' त्यादिकं तु यत्र विषये नन्यत्कर्तृ पइयतीत्याद्यर्थकतया भूम्नो दुर्ज़यतापरम्, तत्राह- सर्वगतेति। सथाच जात्यादौ सर्वप्रति।प्ठतत्व亏्यवहारात् कचिदेव संबद्धं प्रतिष्टितशाबदार्थ इत्यासिद्धम्। रिंच ' स्वे महिम्मि प्रतिष्ठित' इत्यनेन सर्वच्यापकत्वोक्तौ 'यदि वा नो महिम्मी त्यनेन सर्वाव्यापकत्वमुच्यत इति वाच्यम् ; भावाभावयोरेव ताम्यां प्रतीयमानत्वात्, अन्यथा यदि वेत्यनेन कचिदेव संबन्धत्वाभावस्य सर्वं्यापकर्वपर्यवसन्नस्य बोधने पौनरुक्तयापाताच्च। तथाच परमते सर्वठ्यापकर्वतद्मावयोर्विरोंजेन बोध्यंत्वं न संभवति, निप्प्रयोजनं चेति भावः। उपपादितत्रादिति। सम्यक् अभेदान्यसंबन्धविलक्षणेन तादात्येन आमोषि संबध्यसे ततो हेतोः सर्वोडसीत्यर्थस्योपपादितत्वादित्यर्थः । श्रुतिविरोधेन उक्तरीत्या भूमात्मैक्यभ्रुतिविरोधेन। सार्वात्म्यपरत्वमिति। ठ्यापीत्यस्य सर्वतादात्य्यपरत्वात्सर्व-

न च-त्वन्मते प्रत्यगर्थरूपस्यात्मन एवापरोक्षैकरसत्वेन तंदैक्योकैसैवपरोक्ष्यएसिद्धचा अहंकारेऽविद्यमानसार्वर्न्योक्तयोग इति वाच्यम् ; आत्मसंबन्धेनैवाहंकारोडप्यपरोक्ष इत्यात्मैक्यादेवापरोक्ष्यं यद्यपि सिद्धम्, तथाप्यहंकारे अपरोक्ष्यस्य सुग्रसिद्धत्वादहंकारोक्तिर्नायुक्ता। यत्तु-

भूमा नारायणाख्यः स्यात्स एवाहंकुतिः स्मृतः।
जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः ।। अणुरूपोडपि भगवान्वासुदेवः परो विसुः।
आत्मेत्युक्तः स च ठ्यापी
इत्यादिस्मृत्या श्रुतेः सार्वात्म्यं नार्थः ; किंतु सर्वगतत्वम्इति। तन्म; श्रुतिविरोधेन स्मृतेरेव सार्वात्क्यपरत्वम्, न तु समृत्या श्रुतेरन्यथानयनम्। न च-मोक्षधर्मे-
'अनिरुद्बो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ॥
मूर्तसंग्रोगिरूपविभुपरत्वे विभुपदवैयर्श्यात्, उ्यापकत्वस्य सक्षोचका
 ज्ञानविषयत्वादिसंबन्धेन तदुक्तयये।गात्। यद्यपि सिद्धान्ते न सर्वमूर्तसंयोगित्वं भूम्मि, तथाव्यपरिच्छिन्नव्वादियुक्तमेव विभुपदार्थः। अणुरूपोऽपि । उपास्यरूपेण परिच्छिन्नोऽपि ज्ञैयरूपेणापरिच्छिन्न इत्यर्थ:। जीवस्थः अविद्यापतिबिम्बरुपजीवाश्रितः, अनिरुद्वः अविद्याकामकर्ममिरिएामुत्रसश्चारित्वेन न निरुद्ध: स सोऽहंकार इति। तथाच तदुपलकक्षितापरोक्षचिद्भेदतातपर्येण स एवाहंकृतिरित्युक्तम् । एवं च सर्वजीवप्रत्यक्चैतन्यरूपश्रुद्धाह्मैव भूमेत्याह । अणुरूप इत्यादि । वासुदेवः वसति सर्वभूतेषु दी०्यति चेति वासुदेदेव इत्यर्थः
A. VOL. III.

सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि स:'।।
इत्यनेन 'सैच हि सत्यादय' इति सूत्रेण चाहंकारस्यात्मत्वम्, अन्यथा व्यात्तयुक्तिरयुक्ता ₹यादिति-वाच्यम्;

अहंकारस्यात्मत्वमिति। अनिरुद्धो हीत्यादिस्मृतौ पितामहादिजगन्निर्मातृत्वेन ‘आठ्मन एवेदें सर्व'मित्यादिश्रुश्युक्ताइमन्यहंकारपदप्रयोगात् 'सैव हि सत्यादय' इति सूत्रैंजैकस्याः सत्यविद्यायाः प्रतिपादकतया निर्णीते 'स यो हैतन्महघक्षं प्रथमजं वेद सल्यं न्रह्ये ’ ल्यादि ‘तस्सत्यमसौ स आदिल्यो य पतस्मिन्मण्डले यक्षायं दाक्षिणेडक्षन् पुरुष्तन्योपनिषदह' मिति बृहदारण्यंक दक्षिणाक्षिगतपुखेवेहंपदन्नामत्वोफेश्राहंकारस्यात्मस्वमित्यर्थः । व्यापयुक्तिः अपरिच्छिन्न्वोक्तिः। महदादिपदैरिति शेष:। वस्तुतः --
‘परमत्मेति यं पाहुः साछ्लघयोगविशारदाः।
तस्माव्पसूतमठ्यक्तं प्रघानं तद्विद्जुर्जाः ॥ अव्यक्काद्वघक्तमुत्पन्नं लोकसृष्यर्थमीध्वरात्। अनिरद्धो हि लोकेषु महानाटमा परावपरः॥ योऽसौ व्यक्तव्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्। सोडहंकार इति प्रोक्त: सर्वेतेजोमयो हि सः ॥ पृथिथी वायुराकाईामापो ज्योतिश्र पश्च्नम् । अहंकारप्रसूतानि महा|मूतानि पश्च च’।।
इति मोक्षर्षमवाक्ये महदहह्रारपदयोः साङ्चययसिद्धमहदहक्रारावर्थ:, तौ च मन्मते भगवद्वीक्षणचिकीर्षं; तथा चोक्तवाक्येडहंकारस्यातमत्वोक्तेमैंबचादेव। अत एव-
‘तस्य चिन्तयतः सृत्टिं महानात्मगुणः स्मृतः। अहंकारस्तत’ इत्यवि मोक्षष्घर्मे स्थानान्तरे उढ्रम्। ‘महा-
'अहंकारश्यांहं कर्तन्यं चे’ति श्रुतेः ‘महाभूतान्यहंकार' इति स्मृतेरहंकारस्य च्यापकत्वासंभवात् ‘अहं मतुरभव’मित्यादाविवाहंपदस्य निष्ठृष्टांकारचैतन्यपरत्वाप् । ननु-अनयोः श्रुतिस्मृत्योर्महत्तच्चकार्थं मनअदी त्रिविधमहंकारादिपदवाच्यं विषयः, न त्वहमर्थः; तथा च स्मृतिः-

महत्तत्वाद्विकुकर्णणान्रगवद्दीयर्योदितात् ।
क्रियाइक्तिरहंकारास्रिविधः समपय्यत।
इत्यादेरविरुद्धार्थमादायोपपत्तेः। विरुद्धार्थत्वकल्पनायां ' बुद्धिर्यक्तमेव चे' त्यत्र क्षेत्रे प्रयुक्तबुद्धिशब्देन संविद् उत्रौ नात्मे’ति मोक्ष्पर्मोक्तमहत्त्वस्य मायावृत्विरूपवीक्षणरूपत्वं तद्विरिाष्ट स्वरूप्त्ं ${ }^{1}$ वा विवक्षितं बोध्यम्। ' यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं संपतिहन्ते एवं ह वै तस्सर्व परे आत्मनि संपतिहते इ इल्यादि 'मनश्र मन्तवं च बुद्दिश्र बोद्दूव्यं च अहंकारश्धाहंकर्तव्यं च चितं च चेतयितब्यं चे ' ल्यादि पश्नोपनिघघातमाश्रितल्वेनोच्यमानमनआयन्तरिन्द्रियचत्रत्टयमध्ये ‘महाभूतान्यहंकार' इत्यादि 'एतत् क्षेत्रमि 'ग्यन्तगीतावाक्ये च क्षेत्रमधये चाहंकारस्य पाठान्न तस्यातमत्वमि-त्याशयेनाह-अहंकारश्येत्यादि । ठ्यापकत्वासंभवत् इन्द्रियक्षेज्ररूपाहंकारादेग्गापकात्मस्वरूप्वासंभवात्। अहं पद्स्येति। अनिरुद्धो ही' ल्यादिस्मृतौ 'स यो हैत' मिल्यादिश्रुतौ चाहंकाराहंपदयोरित्यर्थः। रक्षणगयेति शेष:। तथाच श्रुद्धात्मा नाहंकारादिपदमुख्यार्थ इति भावः । मनआदीनां मनइन्द्रियमूतानाम् । कौरणं यथाकमं हेठः। वैकारिकादिभेदेन सात्विकराजसतामसमेदेन।

$$
1 \text { तद्विशिषष्टेश्वरहूपत्वं-ग. }
$$

संविद्दोऽपि क्षेत्रत्वापतिः । न च-बुद्धिशब्द्स्य नानार्थत्वम्, न त्वहंकारस्यात्मातिरिक्तार्थकत्वमिति --- वाच्यम् ; 'दम्भाहंकारसंयुक्ता' इत्यादौ देहेऽहंबुद्वौ गर्ने च प्रयोंगेण 'गर्वोऽभिमानोऽहंकार ' इत्यमिधानेन चाहमर्थवाचित्वनियमाभावात्, तथाचात्मवाच्यहंशब्द्रोऽस्मच्छब्द्सिद्धः। अहंकारशब्दोऽनात्मवार्ची। तः्पर्यायस्त्वहंशब्दो मान्ताव्ययमिति -- चेन्न ; मान्तदान्तत्व मेदेनार्थभेदकल्पनमयुक्तम् 1 सर्वेषामेव तेषामहमिति प्रतायमानाहंकारंविषयत्वमेव ; पर्यायतयैव प्रयोगदर्शानात्। अहंकारातिरिकात्रानि प्रयोगस्तु लक्षणया ; मान्तदान्त天वेनानिधर्धारिताहंराब्द्स्याहंकारे प्रयेगगद्र्शनस्य नियामकत्वात्। यथा-

प्रतीयमानेति। चिदचिद्र्रि्थिरूपेति रोषः । यथा 'अहंकारश्राहंकर्तब्यं चे’ति श्रुतौ 'महाभूतनन्यहंकार' इति ғमृतौ चाहंकारपद्म्य चिदचिद्रन्थिविषयत्वम्। तथा ‘दम्भाहंकारसंयुक्ता’ इस्यादावव्यहंकारगते घनित्वाभिजातत्वादिरूपोक्कर्षे अहंकाराभेद ${ }^{1}$ विवक्षया तद्विषयत्वम् । उक्तস्रन्थिश्नाहामिति शाबेदेन प्रतीयत इति मान्तदान्तयोरर्भमेदे मानाभावः। अत एवाहन्ताऽहंभाव इत्यादिना उक्तग्रन्थिभावः प्रतीयते । न हि दान्तशब्दादहंभावादिपदं सिघ्यति, अत एवाविद्याऽहंमतिरिय्युक्तप्रन्थिर्बुद्धे: पर्याय इति भावः । नन्वहंकाराहंपदयोरुक्तग्रन्थौ प्रयोगो नैकरुपेण बोघक इति भिन्नार्थकत्वमास्ताम्, तत्राह—पर्यायतयँवेति। एकरूपेण बोधकेत्यर्थः। प्रयोगस्तु अहं त्रह्मास्मीत्यादिप्रयोगस्तु। प्रयोग दर्शनस्य लौकिकौैदिकभूरिप्रयेगगदर्शानस्य । नियामकत्वादिति। शुद्धात्मलक्षणायामिति रोषः। अहंकारराबदोडननात्मवाचीति बदतस्तव

# 'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ। वयक्तत्वमापन्को निर्ममे च पितामहम् ॥ इति । 'सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि स:'। 

इत्यत्र लक्षणयाऽहंकारशबब्द् आत्मनीति । यत्तु—अहमर्थे आत्मानात्मधर्मदर्शनमसिद्धम् ; कर्तृत्वादेरात्मधमत्त्वादिति, तत्र कर्तृत्वादेरनात्मधर्मत्वं यथा तथा वक्ष्यामः। ननु —अनात्म

मतेऽऽ्यहंकारशबद आत्मनि लाक्षणिक:, तथाच तद्वदहंशबदो डवयहंकारवाची मान्तदान्तसाधारण आत्मनि लाक्षणिक इत्याह—य यथेति ॥

नन्वहंकाराहंपदयोरुक्तग्रन्थिवाचित्वे परकीयोक्तम्थन्थावपि तत्र्प-योगापश्तिरिति---चेन्न ; ₹न्मतेऽव्यहंकारमान्ताहंपदयो परकीये क्षेत्रे प्रयोगापत्तेः । अथ जातिविशोषपुरककारेण परकीयक्षेत्रेऽहंकारोसित अहमझ्मीति प्रयोग इष्ट एवंति त्रूषे, तर्हि ममापिष्ट एव। एतावांस्तु भेद:--तव शक्तया मम तु रक्षणया। मम ह्युचारयितृतावच्छेदकवत्त्वेनाहंकारदान्तमान्ताहंपदानां स्वोचारयितरि शक्तता ${ }^{1}$. तव दान्ताहंपदस्यैवेति। एवं च मम शुद्धात्मनोऽनुच्चारयेतृत्वेन लक्ष्यत्वम् 'महचत्वं भगवतो वीक्षणम्, तक्माद्विकुर्वणान्तदवस्थमायापरिणामः सिसृक्षारूपोऽहंकारस्तिगुणात्मकमायापरिणामत्वात्सार्त्वकादिरुपेण त्रिविधः। पूर्वपूर्वपरिणामावस्थमायाया एवोतरोत्तरपारेणामं प्रति परिणामित्वेनाहंकारस्य सा|चिचकाघंंशेन मनआदिसात्तिकादिपरिणामसंभवात्सात्त्विकादेर्मनआदिहेतुत्वेक्ति: । तक्य च कियाशक्कित्वेनाहंकारपद्वाच्योचारयितृसाम्यादहंकारपदेन गौण्या वृत्त्या बोध्यते इत्याइायेन कियाशाक्तिरिर्युक्तमिति बोध्यम् ॥

धर्मत्वेऽपि कर्तृत्वादेस्तदाश्रयस्याभानेऽपि कर्तृत्वादिकमात्मनि भासताम्, 'गौंरोड्ह' मित्यत्र शरारिगतगौरत्वमिमेति-चेन्म ; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, तत्रापि देहत्वेनाभानेऽपि गौरत्वमनुष्यत्वादिना तत्रतीतेः। अनुमानं च—अहमर्थः, अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, रारीरवत् । न चाहमर्थन्तर्गताधिष्ठानभूतचितोऽपि तत्र्रत्ययविषयत्वात्तत्र व्यभिचारः ; येन रूपेणाहंग्रत्ययविषयता तेन रूपेण तस्याप्यनात्मत्वात् स्तरूपेणाहंप्रत्ययविषयत्वाभावाष्न व्यभिचारः । अहमर्थः, आत्मान्यः, अहंशाब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारराब्दाभिधेयवत्। नचात्रासिद्धि: पर्यायताया दर्शितत्वात्। न च—त्वयाप्यात्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मा न भूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पद्ववमहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारेणात्मनः स्वप्रकाशात्वं चोक्तम्, तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वे न युक्तं स्यादितितत्रापि गौरोऽहमिल्यत्रापि । तत्र्रतीते: गौरत्वाद्यश्रयप्रतीतेः । तथा चानुभूयमानारोपस्थले ${ }^{1}$ धर्माध्यासस्य प्रतिबिम्बरूपत्वं धर्म्यध्यासठ्याप्यत्वं वेति नियमेन प्रकृते प्रतिबिम्बरूपत्वाभावे धर्म्यध्यास आवरयकः । अन एव 'सुराभि जल’मित्याद्यनुमूयमानारोपे धर्म्यध्यासावइयकत्वम् । ₹्मर्यमाणसौरभाद्यारापे तु कचित्तदभावेऽपि ग क्षतिरिति भावः । विषयत्वादिति। विशिष्टबुद्धेः शुद्धविशोष्यकत्वनियमाङीकारेऽपि विषयत्वं किचिद्दूपावच्छिन्नं निवेरयम्। शुद्धे तु विषयं्वं न केनापि रूपेणावच्छिन्नमिति भावः। अहंशब्दाभिधेयत्वात् मान्ताहंपदवाच्यत्वात् । वाच्यंत्वमात्रं परमते क्यभिचारीति विशोषणम्--अहंकारशब्देति। परमते मान्ताहंपदाहंकारपदवाच्ययो-

वाच्यम् ; इदम इवाधिष्ठानावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वेक्ते: । परमप्रेमास्पदत्वमहमर्थ आत्मैक्यारेपात्। न चैवमन्योन्याश्रयः; सुषुप्तिकालीनप्रकाशाप्रकाशाम्यां वैधर्म्येण भेदसाधनात् । न चाहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्य श्रेम्णोऽननुमवः ; परामर्शासिद्धसुषुप्तिकालीनताहराप्रेमानुमवस्य सत्त्वात् । न चाहिते हितबुद्धया प्रेमोत्पत्तिद्राने ऽप्यप्रेमास्पदे प्रेमास्पद्तारोपो न दृष्ट इति—वाच्यम् ; अहमर्थे अत्मैक्यारोपनिबन्धनं प्रेमास्पदत्वम्, न तु स्वाभाविकमिति ज्रूमः, न तु प्रेमास्पद्त्वारोपम् । अहमर्थात्मनोर्मेदे डप्यहमर्थस्य प्रकाशाव्यभिचारः स्वप्रकाशात्मसंबन्धं विना न घटत इति सोऽपि तत्र ग्रमाणमिति नायुक्तिलेशोऽपि। न च—

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान्मवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥'
इति वाचस्पत्युक्तेरन्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैचात्मनि प्रतीत्या-
रनात्मत्वात्साध्यसाधनावैकइ्यम्। अधिष्ठानावच्छेद्कत्वेन आधार तावच्छेदकत्वेन ${ }^{1}$ । यथाश्रुते $5 न व च ् छ ि न ् न च ि त ~ ए व ~ म ू ल ् र ा व ि द ् य ा व ि ष य त ् व र ू प े ण ~$ गौरत्वाद्यध्यासाघिष्ठानत्वेनासत्रतिः। सुषुप्तिकालीनेति। सुषुप्तौ निर्बिकश्पकसुखरीरेव प्रेमोत्पादिका, प्रेम च नेच्छा; येन सिद्धसुखे न स्यात्, किंतु सेहर रूपवृत्तिविशेषः। अथवा सुषुप्तीत्यादेः सुषुप्तिकालीनस्य प्रेममूलानुमवस्येत्यर्थः। तथा च सुषुतौ सप्रकारकज्ञानेच्छयेएएसंभवेऽपि सुषुप्त।नुभवजन्यस्मृत्या सौषुप्तसुखे उत्तरकालसत्वेनेच्छा अहमर्थविषयिका ${ }^{2}$ नेत्यर्थः। नायुक्तिलेराः न किमव्ययुक्तम्। रूपेण-धर्मेण। विषयः-अधिष्ठानम्। रूपवान्-घर्मवान्। अप्रेमास्पदत्वस्तैयैवेति। एव-

[^200]पत्तिरिति-वाच्यम् ; किमधिष्ठानगतधर्मस्यारोप्येऽभानमापाद्यते, अरोप्यगतधर्मस्याधिष्ठाने भानं वा। नाद्यः; यद्धर्मबत्तया ज्ञायमानेऽधिष्टाने अरेप्यनिवृत्तिस्तस्यैवारोप्येऽभाननियमेन प्रकृते तद्भावात्। न द्वितीय ; अधिष्ठानगतधर्मप्रतीत्यविरोधिन आरोप्यगतस्याधिष्ठाने भानेऽपि प्रकेतेऽविरोधात्। आत्मैक्याध्यासकाल एव प्रेमास्पदत्त्वसंभवेनारोप्येडप्यप्रेमास्पदत्वाप्रतीतेः कुतो विषये तश्र्रतीतिः? यथा इदमिति
कारादात्मगतस्य प्रेमास्पदत्वस्यान्तःकरणे प्रतीति०्यवच्छेदः। अधिष्ठानगतधर्मस्य—अधिष्ठानघर्मसामान्यस्य। तस्यैवेति । अधिष्ठानघर्मसामान्यम्यारोप्ये ${ }^{1}$ भानाभावे तु इदंत्वादे: रूप्यादौ भानं न स्यात् । परस्परधर्माध्यासो भाष्ययुक्तयादिसिद्धो विरुध्येतेति भाव:। प्रतीत्यविरोधिनः—्रतीतिप्रतिबध्यर्धविषयान्यक्य । आरोप्यगतक्य रज्वाद्यारोप्यसर्पादिगत₹्य भीषणत्वादेः । अविरोधादिति यदुक्तं तद्विवेचयति— अत्मैक्येति। प्रेमास्पदत्वेन भासमानात्मैक्येत्यर्थः। प्रेमास्पदत्वसंभवेन आरोप्ये भासमानप्रेमास्पदत्वसंभवेन। प्रेमास्पदत्वं हि प्रेमविषयतायोग्यत्वं सुखत्वेन भासमानत्वरूपं, तस्य च मनआधध्यासपूर्वमेवात्मनि प्रर्तातेस्तद्भावविशिष्टतया मनआदेरात्मन्यध्यास:, नतरामुक्ताभावस्यात्मन्यध्यास इति भावः। यथेति। यत्तिवदंत्वादिनाधिष्ठानज़ानस्य रजताद्यध्यासहेतुत्वादिंदत्वादिना रजतादिकं भायात्, प्रेमास्पदत्वादिना तु नाघिष्ठानज्ञानं किल कारणमिति, तच्छोभते ; येन रूपेणधिष्ठानस्य अ्रमे भानं तेन रूपेण तज्ज्ञानस्य अ्रमे हेतुत्वेन प्रेमास्पदत्वेन ज्ञानस्यापि हेतुत्वात्, पूर्णसुखरूपेणावृतत्वेऽपि साक्षिसुख干्येदानीमनावृतत्वात्, उक्तपेमास्पद-

[^201]रजताध्यासकाल एव रजते अनिदन्त्वाप्रतीतिः। यत्तु कैश्थित्प-रिहियते- सुखान्नुमवरूपस्यात्मनोऽहमथींदे देदैनैव सुखमतनुभवामील्यादौ प्रतीतिरिति, तन्न ; वैपयिकसुखानुमवस्यात्मान्यत्वात्। न च-मोक्षेडहमर्थाभावेनात्ममाशो मोक्ष इति बाद्यमतापत्ति:, प्रेमास्पद्य्याहमर्थस्य त्नन्मतेऽपि नारात्, तदन्यस्य भून्यस्य तन्मतेऽ्य्यनाशादिति-वाच्यम् ; औपाधिकग्रेमा₹पदनारोन बाह्यमतप्रवेशापत्तौ शरीरनारेऽपि तदापत्तेः। एतावताहमर्थस्य मुत्तचनन्न्येऽपि 'माममृतं कुधि' 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयास'मिति श्रुतिरपि चैतन्यगतमेवामृतत्वं विषयीकरोति' 'अहं पुष्टः स्यामि' तीच्छेच स्त्रमयविद्यमानशरीरृृच्चिपुष्टिम्। न च-' शरीरं पुष्टें स्या 'दिति शरीरमात्रे पुष्चेच्छावत्

व्वस्याध्यासपूवं भानसंभवात्। कैश्रित्-परमतानुयायिभिः । भेदेनैवैति । तथा चाहंकासस्य नाहमन्यैक्यारोप इति तस्य प्रेमाश्पदत्वासंभव दृति भावः। वैषयिकेति। यद्यव्याहैमैव सुखक्वरूपम्, तशापि सुखमनुभवामील्यादौ विषयसंबन्धजन्यतृत्यवच्छचन्नामैैव मुखपदवाच्य इति स एव तत्र विषय इति भावः । आत्मान्यत्वात् याहोे अविद्योपहितात्मन्यहंकरैक्याध्यासस्तद्दैऊक्षण्यात्तदवृत्तेरहमर्थभेदस्य प्तीयमानस्याश्रयव्वात् । वैषयिक्रुखाखानुभवेडहमर्थ'भेदर्धीः, अहमर्थाघग्र ${ }^{2}$ अविद्योपदिते व्वैक्यधीरेवेति भावः । चवभावतः सुखरूपेण भासमानं यत्त干्य न मन्मते नाशः, मन干्तु शरीरमिव न तथेति तन्नाओो मोक्षे न दोष इत्याह-औपाधिकेति। माममृतं कुधीति। 'यत्रानन्दाश्थ मोदाश्र मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्रापःः कामास्तत्र मामृते कृर्षी'ति

## 1 नुमवेรर्थ-क. ग.

2 र्थाधिष्ठाने-ग.
' आत्ममात्रं मुक्तं स्या 'दितीच्छाया अदर्शानेन मुत्केरनिष्टत्वा-पत्तिरिति-वाच्यम्; इच्छासमयेऽन्तःकरणाध्याससंभवेन यद्यपि नात्ममाश्रगतमुक्तीच्छा, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छाया एव विवक्षितविवेकेन विशेष्यमात्रगतमुक्तिविषयत्वपर्य़्रसानात्तस्यामिष्टत्वोपपत्तेः। न चाहमर्थस्यान्तःकरणग्रन्थित्वे मम मन इति धीर्न ₹्यात् ; चिद्चिद्रान्थिरहकारः, अचिन्मात्रमन्तःकरणमिति भेदेन षष्ठचुपपत्तेः। न चैवं-' मनः स्फुरति मनोऽस्ती 'त्यादिज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुमवो न स्यात् ; चिद्वित्संवल-नविषयत्वाविशोषादिति--चाच्यम् ; संवलनं हि न संबन्धमात्रम्, किंतु तादात्म्येन प्रतिभासः। स च तत्र नास्तीति विशेषात्। ननु—सर्वापि भ्रान्तिर्झ्याविषया, अन्यथा निरधिष्ठानकभ्रमापत्ते:, नचाह्ममिति बुद्देंद्यंशात्वमनुभूयते ; कल्प्यते

श्रुतिः। अनिष्टत्वापत्तिरिति । अहमर्थर्मत्वेन नाशित्वापत्त्या परमपुरुषार्थत्वाभावापत्तिरित्यर्थः। विशेष्यमात्रेति। इच्छाभासकसाक्षिणाहमर्थमासनादि च्छोल्झेखकालेडहमर्थोल्लेखेडपि विवेकिनामहमर्थविवि क्रात्मगतत्वेनैव मुक्ताविच्छा। अविवेकिनामपि यस्य दु:खमूलवत्वं तत्र तदुच्छेदोऽस्त्वितीच्छायाः शुद्धाइ्मनि तदुच्छेदरूपमुक्तिविषयकत्वेन पर्यवसानम् ; तस्यैव दु:खमूलाज्ञानवत्ष्वात्। शरीरं पुष्टं क्यादितिएच्छोल्लेखस्तु युक्त एव; शरीरंवेनात्मनि शरीरस्याध्यासाभावात्, अत्मतादात्याविशेषितशरीरत्वैनैवेच्छाभासकसाक्षिणा भासनादिति भावः। नास्तीति । सफुरतीत्यादौ स्फुरणादेराश्रयत्वमाख्यातेनोल्किखयते, न तु तादात्म्यमिति भावः। स्फुरणत्वाध्यवच्छिन्नस्य तादाइत्यमवच्छेदकतवं वा तत्रोल्किखयते, 干फुरणत्वादि त्वनावृतचित्वादिकम्। अहमित्यादौ \वविद्योपहितचित्वावच्छिन्नस्य तादात्म्यमुल्क्रिख्यत इति वा विशोषो

चेत्, आत्मेति बुद्द्रारपि घंख्रात्वं कल्प्यतामिति-चेक; किमिदं घंशविषयत्वम् ? अधिष्ठनारोप्यविषयत्वं चेत्तर्हीपृरात्तः ; अहमर्थमिथ्यात्वस्यैन द्वितीयांशविषयत्वे प्रमाणत्वात। आत्मेत्यत्र तु द्वूंशाविषयत्वे नैंं भ्रमाणमस्ति, येन तथा कल्प्यते । न च दूवयंशाविषयत्वं भिन्नभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्यविषयत्वम् ; रजतत्वसंसर्गारोपनिबन्धनेदंरजतमिति प्रतीतौ व्यभिचारात् । न हि-रजतत्वेऽपि तत्र कश्भन बोध्य: । इष्टापत्तिः अहमिति प्रतीतेद्रूंश़त्वे इस्टापत्तिः । रजतत्वसंसर्गारोपेति । यत्रानुभूयमानरोपष्धले गुक्तौ रजतस्य भेदमहान्नारोप:, किंनु रजतववन्य ; तत्रोक्तभेदम्रहस्याप्वतिनन्धकर्वात् समानाकारज्ञानस्यैव नव्यमते प्रतिनन्धकत्वात्, तत्रेद्ध बोध्यम् । बस्तुतो रजतादितादात्म्यारोपस्थलेडपि रजतत्वादे: शुक्तयादौ प्रकारत्वेनारोपसामप्रीसत्व्वद्धजत्वादेश्चानुपस्थितत्वादेवाभानाद्रजतववसंसर्गा रोपे न विप्रतिपतिरिति ध्येयम् । निबन्धनेति। घटितेत्त्यर्थ:। इदं रजतमिति प्रीतेत्वृतित्द्वयावच्छिन्नसाक्षिरूपत्वेनारेपवृृत्चिघटितत्वं बोध्यम् II

मिन्न 1 पकाराबच्छिन्नयोर्मानानियमो वस्तुगतिमनुऊुध्योक्तम् । अहमर्थाध्यासे तु मिन्न्नकारावच्छिन्नयोर्भानमस्येय; अझोऽहं सुकराम्यहमिल्यविद्योपहितचिच्वानावृतचित्व्वादिनैन चितो भानात् । अहमित्येव कदाचिदुल्झेखस्तु रजतमिल्येवोल्ड्रेख इव तावन्मात्रस्येप्टसाधनत्वज्ञानात् । न चैवं-ं'मनः ₹फुरति' 'अहं स्फुरामी'ति वियोरवैैकक्षण्यापतितादववस्थ्यमिति-वाच्यम् ; मनःइब्देन मनस्वमात्रस्य अहंशब्देन मनोदेहावच्छिन्नचित्व्वरूपस्योच्चारयितृतावच्छेदक-

$$
1 \text { अभिन-ग. }
$$

प्रकारो भासते ; रजतादेसत्तर्र प्रकारत्वकल्पने मानाभावात्। तत्कल्पनां विनैवोपपत्तेः, तथा कल्पनायामतिप्रसझाद्र्योजकत्वाच्च। यद्वा-अन्राप्य ‘हं स्फुरामि’ ‘अहमस्मी’ ति द्वूचंशता भात्येव 'रूप्यं स्फुरति' 'रूप्यमस्ती' त्यत्रेव। इयांस्तु विशेषः一यत्तर्नेदंत्वावच्छिन्नस्फ़रणमघिष्ठानसितीददं रूप्यमिति धी:, इह तु स्फुरणमात्रमधिष्णनमिति स्फुरामीत्येव बुद्दिः। न च-अ्रमस्याप्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानत्वायोगः, भ्रान्तोडसि । स्फुरणं चैतन्यं ग्रूमः, न त्वविद्यावृच्यादिकम्। एवं च न प्रत्यक्षमहमर्थस्यात्मत्वे प्रमाणम्। नाप्यनुमानम्। तथा हिअहमर्थो मोक्षान्वयी, तत्साधनकुत्याश्रयत्वात्, संमतवत, इत्यत्र विशेषण्यास्तौ हृ्टान्ताभावः। न हि कुत्याश्रये मोक्षान्वयिव्वं काचित्संप्रतिपन्नमस्ति; सामान्यठ्यात्तेः स्वर्गसाधनकुत्याश्रये क्रित्विजि स्वर्गानन्वयेन व्यभिचारात्। अहमर्थः, अनर्थनिवृच्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, संमतवत्, इत्यत्र शरीरे

स्योल्लेखादित्याशयेनाह-यद्वेति । द्वयंशता भिन्नपकारावच्छिन्नाघिष्ठानरोवाव्योभयक्फुरणम्। सफुरणन्वरूपमधिष्ठानम्। सफुरणत्वविशिष्टस्याध्यनत्वे्वेपि नाधिष्टानत्वम्, किंत्वाधारव्वम्; पूर्णाननद्दम्वरूपस्यैवाविद्याविषयत्वेनाघिष्ठानत्वात् । अहमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचितु नाघारोडवीति तत्राघिष्ठानत्वोक्तिमौंब्यादेव। न च—ज्ञानस्य ज्ञयाधि घ्ठानत्वेन सा तथेति- वाच्यम् ; यदधिषानं तस्यारोाप्यज्ञानख्वरूपत्वम्, न त्वरोोप्यज्ञानवेेनाधिष्ठानव्वमित्यस्यासकृदुक्तर्वात् । विशेषठ्या प्राविति । मोक्षन्वयित्वमोक्षसाधनकृतित्वाभ्यां ठयाप्पावित्यर्थ: सामान्यव्यापेः यद्यस्साधनकृतिमत्त्त्तन्वर्यीति ठ्यात्तःः। अ्रत्विजीति । अपरिर्कातत्वे सतीति विशेषणेऽपि जातेष्द्यादिक्हल्याश्रये

ठ्यमिचारः। न च तत्रानर्थाश्रयत्वमसिद्बम्; 'अहमज्ञ' इति प्रतीत्या अहमीव 'स्थूलोऽहमज्ञ' इति प्रतीत्या शरीरेऽपि तत्स₹्चात्, अन्यथा असिद्दिप्रसड्नात्। अनात्मत्वं, नाहमर्थवृत्ति, अनात्ममात्रवृत्तित्वात्, घटत्तवनित्यत्र कुत्याश्रयावृत्तित्वमुपाधिः । नापि 'कस्मिन्वहमुरक्रान्ते उत्कान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्षिते प्रतिष्टास्यामि' 'स प्राणमस्तृजत हन्ताहमिमास्तस्रो देवता' इत्यादौ जगत्कारणे सति प्राणमनःस्टेष्टे पूर्वमहंत्वेनेः: 'तदात्मानमेवावेदहं चह्मास्मी' त्यवधारणेन झुद्धात्मनोऽहंत्वोंकेरनवद्यक्य ब्रह्नणोऽह्हमुह्रेखोक्तः, अहमित्येन यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः

पित्रादौ पुत्रगनपूतत्वादिफलाभावेन व्यभिचारः । तत्सत्वात् अज्ञानसंबन्धरूपानर्थसत्त्वात् । नन्वज्ञानस्यानादिसंबन्ध एव हेतु:, शरीरे त्वाधिष्ठानगताज्ञानस्य संबन्धश्च शरीराध्यासकाले जातस्तत्राह-अन्यथेति। उक्तहेतूकरणे इत्यर्थ:। नन्वबाधितमज्ञानाश्रयत्वं हेतुरनतु; शरीरे तु तद्बाितमिति चेत् . अ्रान्तोडसि ; अहमर्थेऽपि मन्मते तस्य बाधितत्वेनासिद्धेहेतुत्वप्रसिद्धेश्व ${ }^{1}$ मां प्रति दुष्टस्य हेतोस्त्वया प्रयोक्तुमशक्यत्वात्। उपाधिरिति । न च मुक्तौ साध्याठ्यापकत्वम् ; तस्यां साध्यतावच्छेदकविशिष्टस्य सन्दिग्वत्वेन पक्षसमत्वात्, ${ }^{2}$ निश्चितसाध्यवत्युपाध्यसन्देहात्। न चाहं करामत्यहमर्थान्तर्गताघिष्ठानचितोऽपि कृत्याश्रयत्वात्तत्र मुक्तेर्वर्तमानतवात् त्वन्मते मुक्तेरहमर्थावृत्तित्वानिश्धयात्त्वां प्रत्युपाधेः साध्यार्यापकत्वेनोक्तहेत्रुर्निर्दोष इति -वाच्यम्; उक्तचित एव मुक्तिस्वरुपत्वेन तत्र तस्या अवर्तमानत्वात् । 'स प्राणमसूजते' ति । 'प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं

$$
1 \text { हेत्वप्रसिद्वेश्व-ग. } \quad \text { - पक्षसर्वात्-ग. }
$$

## स दुंःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥

इत्यादौ मोक्षान्वयोंत्रैं्यैताः श्रुतयः प्रमाणम्, विशिष्टवाचकस्यैवाहंपदस्य लक्षणया निष्कुष्टहंकारचैतन्ये प्रयोगात्। लक्षणाबीजभूताइन्नुपपत्तिरुक्ता। एतेन-‘मामेव ये प्रपद्यन्त' इत्यादिस्मृतयोऽपि व्याख्याताः। अत एव 'तद्योऽहं सोऽसा' वित्यादावपि लक्षणाऽऽश्रयणीया; विशिष्टवाचकत्वेन क्रुप्तस्य विशेष्ये लक्षणाया आवइयकत्वात् ।।

इल्यद्वैतसिद्वावहमर्थस्यानात्मत्वेपपत्ति:.

मन' इत्यादिप्रश्नेपनिषत् । इत्याद्वविति । 'अन्नमशितं त्रेषा विधीयते योऽणिष्ठक्तन्मनः आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते योऽणिष्ठ: स प्राण इत्यन्तोऽयं छान्दे|ग्यश्रुतिः। त्रिशिष्टवाचकस्य उचारायितृतावच्छेदकविशिश्टवाचकस्य। प्राणादिस्रष्टरि ज्रह्मैक्येन ज्ञेयाह्मनि चाहंपदोचारयितृत्वाभावाल्डक्षणाऽSवरयकी। न हि त्वन्मतेऽपि प्राणादिस्टष्टे: पूर्वमुचारायितृ ब्रह्मोते सम्प्रतिपन्नम् । यो यदा स्वोचारायिता ${ }^{1}$ तमेव घुच्चरायितृतावच्छेद कत्वेपराक्षेतचैच्रत्वादिना अहंपदें बोघयति शाक्तयेति भावः। एतेन वाच्यार्थईन्वयासंभवे लक्षणावइयकत्वेन। ठ्याख्याता इति । मां चिन्मात्रमेव पपद्यन्ते तत्र्वमस्यादिश्रुत्या साक्षालकुर्वन्तीत्याघर्थकत्वेनेत्यादिः ॥

तरैकै: सारस्वतै रतैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणः।
दुरन्तध्वान्तनाशायाहमर्थस्य नात्मता।।
इल्यद्वैतसिद्धिव्याख्यायां गुरुनन्द्रिकायामहमर्धस्यानात्मत्वोपपपत्तः.

1 चोचारयिता - ग.

## अथ कर्तृत्वाध्यासोपवत्चिः.

ननु-कर्तृत्वं यद्यनात्मधर्मः स्यात् कथमात्मनि भासेत? न च—जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिक इवन्तःकरणगतं कर्त्त्वमात्मन्यध्यस्यते, न तु तात्विकम् ; निर्विकारत्वश्रुतिविरोघात्, सुषुषौौ बुद्दूयभावेऽकर्तृत्वदर्शनाच्चेति-वाच्यम् ; एवं हि 'रक्षं कुसुम'मितिवत् कदाचचिन्मनः कर्निति प्रत्यक्षप्रमा 'लोहितः स्फटिक' इतिवत् चैतन्यं कर्तिति भ्रमश्य स्यादितिचेन्न; कर्त्त्वविशिश्टन्तःकरणस्य चैतन्यात्मनाध्यासेन न तथा प्रतीतिः। कुसुमस्य तु स्फटिकात्मना नाध्यास इति वैषम्यात्। न च-अधिष्टानात्मनानध्यस्तजपाकुसुमस्थानीयमुपाधि विना भीषणत्वादियुक्तसर्पस्य रज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तबुद्धोश्यिदात्मनाध्यासे रजौ भीपणत्वान्तरस्येवत्ममनि कर्तृत्वन्तरस्यानध्यासेन सोपाधिकत्वं न स्यादिति-वाच्यम् ; अत्मनि कर्त्त्वान्तरसैयैवाध्यासात्। न च तर्हिं कर्तृव्वद्वयस्य विविच्यप्रतीतिः स्यात् ; आत्ममन्तःकरणयोरैक्याध्यासात्। रज़ुसर्पोदावध्यस्यमानक्रूरत्वादिविशिष्टसर्पापेक्षया अधिकसत्ताकस्य सर्पान्तरस्य संभव्वेन नायम्पुपाधिः, अतो निरुपाधिकत्वम्। अत्र त्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्त्वत्वादिधर्मविशिश्टमन्यदधिकसत्ताकं नास्त्येवेत्यन्तःकरणमत्रोपाधिरिति न सोपाधिकत्वानुपपत्तिः। न चैवमपि-मनो न स्फुरणम्, किंतु स्फुरतीति

अथ कर्त्वृ्वाध्यासोपपत्तिः.
विरोधादिति। धर्माधर्मिणोस्तादातम्येन धर्मात्पर्च्या धर्मिणोऽप्युन्पत्ति:, घर्मस्य मिथ्यात्वे तु न तथा ; तादात्म्यस्यापि मिध्यात्वादिति

तयोर्मैदधीद्शायां प्रत्येकं 'रक्षं कुसुमं' 'सफटिको रक्त' इति वत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्त्रि 'ति प्रतीत्यापत्तिरितिवाच्यम्; तादाॅम्यारोपतिरोधिभेदग्रहस्यैव तत्प्रयोजकत्वात् ; प्रकेते च तद्भावात्। यच्चभेदग्रहदशायामपि 'अयं भीषणः सर्पो भीषणः' 'अहं गौरः शरीरं गौर 'मितिवत् 'मनः कर्त' 'चैतन्यं कर्त्रि’ति प्रतीतिः स्यादिति, तन्न; तादात्म्यप्महस्यैव प्रतितन्धकस्य सत्चेन दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपत्ते: । यदपि सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनाधिष्ठानसमसत्ताकत्वमुपाधेस्तदूर्मस्य वा, अध्यस्पमानोपेक्षयाधिकसत्ताकत्वं बा तयोरिति पक्षद्वयुप्र्राव्य प्रकृते तदूं न संभवतिति द्वषणाभिभावः। तादात्म्यारोपविरोधीति । मम मनः पाठे प्रवर्तते न तु कार्यन्तर इति धीर्जायत एव। अहं करोमीत्यत्र चिति कर्तृत्वमपि प्रतीयते। तथाच तादात्म्यारोपाभाव एव फलत आपादनीय:, तदापादनं च न संभवति। तादात्म्येन मनोध्यासे हि तः्पूर्व विद्यमानो भेदग्रह् प्रतिबन्धको वाच्यः ; स च नान्त्येव, भेदधीमात्रस्य मनोध्यासव्याव्यत्वादिति भावः। तादात्म्यग्रहस्येति। 'अयं भोषणः, सर्वो भीषण' इति पृथगुल्द्धेखम्यात्यन्तिकमेदम्रहठ्याव्यत्वात्तादृशु्महस्य च तादात्म्यधीप्रतिबध्यत्वात्तादाइ्म्यारोपकाले न ताह्हाग्रह इति मावः। वस्तुतस्तु भीषणत्वादिना नात्यन्तिकभेदम्रहः, तेन रूपेण तादाई्य्याध्यासात् ; ईरीरत्वमनस्ववाद्विना तु तादाई्यं नाध्यन्यते, कितु मनुष्यत्व्वगौरत्वकर्कतृत्वादिनेति। 'अहं गौरः' 'शरारं गौरे' 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कार्न्रि’ति ठ्यवहार अत्यन्तिकमेदर्धीव्याप्योडपीष्ट एवेति ध्येयम्। यदपि सोपाधिकत्व इत्यादि इति पक्षद्वयं सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनोद्वात्य पकृते तत्पक्षद्वयं न संभवतीति यदुपि दूषणाभिघान-

धानम्, तदनुकोपालम्भनम्, यद्न्वयव्यतिरेकानुविधायितया यत्रतीयते तदपेक्षया अधिकसत्ताकतद्धर्मश्रयान्तराभावस्यैन सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वात् । नचैवं क्षीरसंपृक्तनीरैक्याध्यास-

मित्यर्थ: ${ }^{1}$ । यदन्वयव्यतिरेकानुविधायितयेति । यस्योपाघिरूपन्य धर्मिणः सन्निधिकाल एवेत्यर्थः । यत्र्रतीयते तद़ीयो यो धर्म: प्रतीयते। तदंपेक्षया तद्धर्म्येेक्षया। अधिकसत्ताकतद्धमर्गश्रयान्तराभावस्य—अधिकसत्तांकं तद्बर्मस्य यदाश्रयान्तरं तदभावस्य । सोपाधिकत्व इति। यद्यपि तद्बर्मसोपाधिकत्वे इति वक्तुमुचितम्, तथापि नात्मनि कर्तृत्वाद्यन्तरमुत्पद्यते ; किंतु कर्तृत्वादिविशिष्टस्य मनस: अГ्मन्यारोपाद्विशोषणीमूतकत्र्त्वादे मेनस्यात्मनि च संबन्धौ स्वीक्रियेते। तथा च कर्तृव्वादिसंनन्घ आट्मन्यैपाधिको न तु कर्तृतादिरित्यस्यापि पक्षान्तरस्य विवरणाद्युक्तस्य सझ्ञ्रहाय सामान्यतः सोपाघिकत्वे इत्युक्तम्। कर्तृत्वाह्यन्तरस्यात्मनि स्वीकार एव युक्तः; अन्यथा लौहित्याद्यन्तरस्यापि एफटिकादाव़स्वाकारः क्यात् । एफाटिकलौहिस्यस्य प्रतिबिम्बत्ववादिभिर्वाचस्पत्यादिभिरेव हि एफटिके लौहित्यान्तरं न स्वीक्रियते। पश्चवादीकृद्धिस्तु तत्र तत्वीक्रियत एव। अथ—लौहित्याद्याश्रयजपादौ चक्षुरसन्निकर्षस्थले नफटिकादौ लैहित्यस्यानुत्वादे तदापरोक्ष्यं न स्यादिति—चेत्, तथापि यत्रोक्तजपादौ। चक्षु:सन्निकर्षस्तत्र ₹फटिकादौ लौहित्याद्युप्पादो न स्यात्। अथए्फटिको लोहित इति प्रर्तातौ एफटिकावच्छिन्नचिति लौहित्यभान। बौहित्यं तस्संबन्धो वा जायते इत्यत्र विनिगमकाभावात्, संबन्धस्येन लौहित्यस्यापि ₹वरूपसंबन्धसंभवात्, सर्वत्र लौहित्यं तत्संबन्धश्ध

1 भिधान इल्यर्थ:-ग.

A. VOL. III.

निबन्धनक्षीरधर्मप्रतीतिः सोपाधिकी स्याव् ；तस्याः सोपाधि－ कत्वे इष्टापत्तेः।।

ननु－बुद्धिगतं कर्तृव्ंं किमहमर्थे，अहमर्थगतं वात्मन्य－ ध्यस्यते। आं्ये आरोपितस्याप्यनर्थस्यात्मन्यभावे तस्य बन्ध－ मोक्षानधिकरणत्वापत्तिः ；द्वितीयेऽनध्यासैनैन＇अहं कर्ते＇ति प्रतीत्युपपतौ किमध्यासेनेति－चेन्न ；अहंकारस्तु चिदचिम्रू－ न्थिरूपतया द्यंशः। तत्राचिदेंशे बुद्दौ कर्त्त्वसश्चेडपि तद्विशि－ प्टाया बुद्देश्धित्यैक्याष्यासं विना अहं कर्तेति प्रतीतेरयोगेना－ ध्यासस्यावइयकत्वात् 1 एतेन－आरोपितकर्तृत्वस्याप्यभावे आत्मनो बन्धमोक्षानधिकरणत्वं स्यादिति－निरस्तम्। न च－ ＇कर्ता शास्त्रार्थवच्चा＇दित्यधिकरणे त्वयापि साद्वयरीत्या बुद्दे： कर्वृत्वे प्राप्ते，जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन विरोधः ？न चा－ विवेकनिबन्धनं जीवनिम्ठत्वम् ；अविवेकस्य साख्बयमतेऽपि

जायत इति－－－वाच्यम् ；तर्हि पकृते कर्तृव्वादिद्दयं युक्तमित्याशयेन स एव पक्ष：कण्ठत उक्त इति बोध्यम् ॥

इश्टपत्तिरिति। उपध्यधिष्ठानयोरमिकितव्वेन गहणं नु न सोपाधिकत्वे प्रयोजकम् ；अयो दहतीत्यादिश्रमे तदभावादिति भावः॥

न बुद्धिगतमहमेश्येधघ्यवते，अहमर्थस्य घ्यंशत्वात् ；बुद्धघधि－ छान एव बुद्दिगतस्याध्यासात्，नाव्यहमर्थगतमात्मनि ；अहमर्थे कर्तृत्वद्वेर्स्वाभाविकख्वात्，यत्त्वनध्यासेनैवाहं कर्तेति बुद्धुपुपतिरि－ व्युक्तम्，तन्न；अध्यासं विनाहमिय्युल्खेखासंभवादित्याइयेनाह－ नाह⿸厂⿱二小刂心रस्त्विति। ऐक्याध्यासं विनेति। कर्तृववादिविशिष्टतया ऐक्याध्यासस्यावइयकत्वे तु विनिगमनाविरहाबकर्तृव्वादिधर्माध्यासोऽ－ प्यावइयक इति भावः। पतेन－बुद्धितादात्म्याध्यासादेवाह्मनि कर्तृत्वादि－

सच्वादिति-वाच्यम् ; बुद्धेरेव कर्तृत्वम्, भोक्तृत्वं तु चैतन्यस्येति पूर्वपक्षं कृत्वा कर्त्वत्वभोतृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमेन भोकृत्ववत्व् कर्त्वत्वम्यङ्गीकर्तन्यमित्युक्तम्, न तु बुद्धेरकर्तव्वमात्मनो वा स्वाभाविकं कर्तृत्वमिति । 'यथाच तक्षोभयथा' इत्युत्तराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तस्य आत्मकर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वपूर्वपक्षे औपाधिकत्वस्य स्थापितत्वात् 1 अतो न तद्धिकरणविरोधः। यदपि बुद्धे: कर्तृत्वे करणत्वं कथमिति? तद्प्ययुक्तम् ; अन्यत्र कर्या एव बुद्धेरुपलर्बिंध प्रति करणत्वोपपत्ते:। न च—कर्तुत्वाद्यनर्थरूपबन्धस्य बुद्धिगतत्वेन मोक्षस्यापि तद्न्वयापातिः, अनर्थतन्निवृत्योरैकाधिकरण्यनियमादिति-वाच्यम् ; कर्तृत्वा-

बुद्धघुपपत्तेः कर्तृत्वादेः सोपाधिकत्वमात्रसिद्धचर्थमात्माने साक्षात्संबन्धो न युक्त—इत्यपास्तम् । किं च साक्षात्संबन्धेनात्मनि कर्तृत्वादेरनुभवस्तार्किकादिसर्वसिद्ध: स्वाश्रयतादात्ग्यमात्रेण कश्रमुपपाद्यः? कथं वा . . . . ₹मृत्यादिगीयमानं कर्तृत्वादेरैपाधिकत्वमपलपनीयामिति ध्ययम्। भोत्रृत्वं तु चैतन्यस्येति। सुखदुःखानुभवरूपं भोक्कृत्वं चित एव युक्रमिति भावः। नियमेन करोमि भुक्जे इति धीसिद्द्धन । कर्तत्वमपीति। असंसर्गाय्रहम्य विशिष्षण्यवहारहेतुत्वे गौरवाद्विशिष्टबुद्वेरेव तद्देतुत्वादहं कर्तेत्यादिकम ${ }^{1}$ प्यात्मानि वाच्यम्। न च—कर्तृत्वभोकृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमादरे बुद्धेराि भोक्तृवापत्तिरिति - वाच्यम् ; सुखाद्यनुमव ${ }^{2}$ तादात्य्यारोपस्य बुद्धौ सत्वेनेष्टापत्तेः। अन्यत्र लौकिकवैदिकाक्रियामात्रे । कर्ग्या: 'विज्ञानं यज्ञ तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि चे’ति श्रुत्युक्तकर्तृत्वयुक्तायाः । उपलबबंधि वृत्तिप्रतिबिम्बितां भमावरणां वा चितं प्रति । करणत्वोपपत्ते: वृात्त-

[^202]देश्शेतनगततयैवानर्थतया बुद्देरनर्थानाश्रयत्वाप् । न च चैतन्यगतस्यानर्थत्वे चैतन्यस्याप्यनर्थकोटौ निनेशापतिः; आत्मसंबन्धित्वेनैवानार्थस्य हेयत्वेनात्मनोงपि हेयत्वं सर्वमतेडपि स्यात् । आरोपितत्वपुरस्कारेणानर्थत्वाभावान्नान्योन्याश्रयः । न च-गुद्धत्मनः कदापि नानर्थाश्रयत्वेन प्रतीतिः, अ्रमकालेऽहं मोक्ता प्रमाकाले बुद्धिर्मोन्कीतित प्रतीतेरिति—वाच्यम् ; शुद्धस्य भोक्तृत्वाद्यनर्थानाश्रयत्वे भेदाभावेन बन्धमोक्षसामानाधिकरण्योपपत्तेः। एतेन-बुद्धि:

द्वारा हेतुत्वोपपते: । चेतनगततया चिन्निष्कतृत्वात्वादिना। अनर्थतया द्वेषोद्देययतया। अनर्थानगश्रयत्वात् द्वेषोद्देइयतावच्छेदकविशिष्टानाश्रयत्वात्। स्वसंबन्धिल्लेन यस्य तत्र द्वेषष्तन्य स्वसंबन्बिल्लेन तदभावे इच्छेति नियमः; इदं मे मास्तिवित द्वेशादेतद्भावो मेडस्तिति वाडनुमवात्, तथाच स्वसंबन्घित्वेन कर्तृव्वादिकं द्विषता ₹वसंबन्धित्वेन तद्वभाबस्येण्यमाणत्वात् कर्तृत्वादिवन्षाभावश्चिन्निष्ठ एव युय्तो न तु बुद्दिनिष्षतया आपादनाईः। न च प्रतियोगिमति सर्वत्र छ्वंसावइंयावः ; आश्रयनाशजन्यनाशे व्यभिचारादिति भावः। ननुबुद्दे: कर्तृव्वादिकं न बन्ध:, कित्वात्मनो मिथ्याकर्तृत्वादिकमिति कल्पना मिथ्यात्वसिद्धयरनिा, मिथ्यात्वसिद्यिश्रोक्तकल्पनाएधनेत्यन्योन्याश्रयस्तत्राह—आरोपितत्वेति। बुद्धिर्यदि बन्षस्याश्रयः स्यातदा। मोक्षम्यापि स्यादिति त्वयोक्के तरेके विवर्ययानुमानमस्मदभिमतामिति समाधानं कर्तृव्वादेरत्यादिदोनोक्तम्, न नु मिथ्याभूतस्य बन्षत्वकल्पनया किंचिस्साषितमिति भावः। स्वाभाविकभेदाभावेन तादात्म्यकिरोषिभेदाभावेन, भेदस्येव तादाल्म्यस्यापि सत्वेनेते यावत् । एतेन उपहितनिन्निष्ठकर्तृव्वादे: च्युद्धा|भिन्ननिष्वेनेन । अत्रोपाहितषर्माणं

श्रणणादिकर्न्रींति तस्या एव फलं मेक्षोऽपि स्यादिति वाच्यम् ; 'शास्कफलं प्योक्तरी 'ति न्यायात्, अन्यथाงतिप्रसङ़्गदिति निरस्तम् ; नातेष्टिपितृयज्ञयोर्ब्यमिचारात्। न च पूतपुत्रकत्वं स्वर्गभागिपित्कत्वं वा कर्तृगतमेव फलम् ; तस्य फलत्वेनाश्रवणात् । न च—ताद्वपुत्रकत्वं फलेन संबन्धः, न तु फलमिति-वाच्यम् ; एवं हि संयुक्तसमवायादिना पित्रन्यस्यापि तत्फलं स्यात्, अशास्बीयत्वाविशेषात् । न च-

हइयत्वादीनां श्रुद्धेडप्यापतिर्मौब्यादेव ; न द्यत्र भोक्तृत्वादेरुपहितघमस्य श्युद्धनिह्षतोक्ता, न वा तदुक्तावापी शुद्धचित्तादात्म्यरूपहइयय्वादे: गुद्रचिन्निष्त्वं संभबति ; एकस्यैव संबन्ध्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरसंभवादित्यसकृदुन्क्रम्। बस्तुता बन्धन्याविद्यारूपत्वेन भोक्तृत्वादे: ग्रुद्ननिष्वेंडपि न क्षतिरिति बोध्यम् । दूषणान्तरमाह-जातेष्टयादीति । ननु-यत्र प्रयोकृतिम्नगतत्वेन शास्खेणैव फलं बोधितम्, तत्र सन्देहाभाबान्नो कन्यायः पवर्तते, किंवन्यत्रेति-चेताहि यागादिफलस्वर्वादे़ुद्धिगतत्वसंभवातत्रोक्तन्यायसंभवेऽपि मोक्षस्याविद्यातल्कार्यसामान्येच्छेदकत्वेन प्रयो कृानिष्हव्वासंभवान्न तत्रोकन्यन्ययपवृत्तिरित्यपि गृहाण। वस्तुतो मोक्षो न शास्रफलगब्दार्थः ; गत्फलसाधनत्वं शास्तात्पर्यविषयस्तस्यैव तत्वात्, श्रवणादेस्त्वान्मसाक्षाक्कारादिफलसाघनत्वस्यातथात्वेडपि न क्षति; साक्षात्कारादेकुद्धिनिष्वत्वानपायादिति ध्येयम्। संयुक्तसमवायादिनेति। विवृसंयुक्तगुक्कादिसमवायादिघटितस्य जाते घयादिसंबन्धस्य विच्न्यस्मिन् पुत्रेडपि सत्व्वेनेत्यर्थः। स्यात् ${ }^{1}-$ भवत्येव। अशास्दीयत्वेति। पुत्गतं फलं झाह्रेण बोध्यम्, कार्य-

[^203]पित्रर्पुप्रगतं पूतत्वादिकं तदनुष्ठतुः पितुरेव फलम्, तेन तदुद्रेशात् ; न चेहात्मा अन्तःकरणार्थः, येनात्मगतो मोक्षस्तस्योछेइयः स्यादिति-वाच्यम् ; अत्मा यद्यपि नान्तःकरणार्थः, अहमर्थगततया तथापि फलस्योद्देशयत्वन्तुभवादहमर्थस्य चात्मानात्मरूपत्वेनात्मन्यपि फले उंछेइयगतत्वानपायात् । यद्वा-आरोपितानारोपितसाधारणं कर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तचातमन्यस्येव। न च-शरीरेडप्यारोपितकर्त्वे्वेन फलभाक्वापत्तिः ; फलपर्यन्तमसच्चेन फलभाक्व्वासंभवात् । न हि कर्तुः फल-

कारणयोः सामानाधिकरण्यं तु शास्बरोाधित'मपि कर्प्यमानं पितरीव पुत्रेऽपि संभवति; कार्यन्य कारणन्य वा परम्परासंबन्ध इत्यस्याविनिगम्यत्वात्, तथाच पयोक्तर्येवेति नियमो भम एव। न च—प्रयो करील्येवोच्यते न तु प्रयो क्तर्येतेतीति-वाच्चम्, ऋतिजां फलंसंबन्धवारणाय प्रयो क्तर्येवेय्यम्यावइयं वाच्यय्वात्, वितृयज्ञादि कृर्वा मृतस्य पुतादेः शास्योक्तफलासंबन्धेन प्रयोक्तरील्येताबदुक्तावपि ठ्यमिचाराच्त। पित्रर्थपुत्रेति। सुखादियोगित्वेन पितुरिच्छाविषयपुत्रेत्यर्थः। तेन-वित्रा। तदुद्देशात् पुत्रगतत्वेन फलस्य काम्य्यव्वात्। यथा गामादेः स्वनिक्षित्वाभावेऽपि स्वसुखसाधनव्वेन गृहीतस्वत्वादिमत्वेनेष्ट्व्वम्, तथा पुत्रपूतत्वादेः ₹वसुखपयोजकत्वेनेप्टतेति भावः । आत्मा-श्रुद्धाट्मा। अन्तःकरणार्थः सुखक्रुरणं भबतु फ्फुरणं सुखस्य भवतु स्फुरणं निर्दुःखं भवत्वितीच्छानुभवात्पुत्रादिददात्माव्यन्त:करणार्थ एवेति यद्यी़्यनेन सूचितम्। अहमर्थंगततया तथापि तथाव्यहमर्थगततया। आत्मन्यपि फले मोक्षरूपे केवलाट्मगतेडवि फले। उद्देरयगतत्वानपायाप् अन्तःकरणार्थाहमर्थामिन्नात्मगतत्वस्यानपायात्। असंभवादिति। यनु-

भाक्त्वनियमं ं्रूमः, किंतु फलभाजः कर्त्वत्वनियमम् ; अजनितफलकर्मकर्तरि व्यभिचारात् अप्रयोजकत्वाश्च। ननु—मनसः कर्तृत्वं न घटते ; कुतिकर्मत्वस्य करणत्वस्य च तद्विरोधिन: शुर्यादिसिद्धत्वात्, बुद्दधभानेडपि कर्तृत्वस्य भ्रूयमाणत्वाच। तथाहि ' तन्मनोऽकुरुते' ' त्यादौौ मनसः कुतिकर्मत्वम्, ' शृणन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसे ' त्यादिश्रुतौ 'शरीरवाध्यनेभिर्यत् कर्म प्रारभते नर' इत्यादिस्मृतौ च करणत्वम्, 'मन उदकामन्मीलित इवाश्नन् पिकन्नास्तेवे' त्यादिश्रुतौ मनउत्क्रणेड्यात्मनः कर्तृत्वम्, तथा 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् कीडन् रममाण' इत्यदौ़ स्वरूपाविर्भावरूपपरममुक्तावपि कर्वृत्वं 'कर्ता विज्ञानात्मा' 'यो वेदेदें जिघ्राणीति स आत्मा' 'अनन्दभुक्तथा प्राज्ञ' इत्यादिश्रुतितश्र कर्त्व्वम्, तथा च बुद्दिन कर्त्रींति-चेन्न; 'विज्ञानं यज्ञ तनुत' इत्यादिश्रुत्या मनसः कर्तृत्वेन स्वकु-

फलमाक्ववन्यथानुपपन्त्या सूक्ष्मरूपेण स्थितन्य देहस्य भोगकाले पुनरुपचयोऽदृष्टद्वारा फलपर्यन्तं सत्त्वं वा कल्प्यत इति--ततुच्छम्; पुनरुपचितन्याकर्तृव्वेन कर्तृदे फलानिर्वाहात्, कतृद्वेहजन्यादृष्टसत्च्वेडपि कर्तृदेहाभावाच। ठ्यभिचारादिति। बाधकाभावे सतीति विशेषणे तु शरीरादावपि नापत्तिरिति भावः। कर्ता विज्ञानात्मेतिप्रश्नोपनिषत्। यो वेदेदं जिश्रणीति स आत्मेति-छान्दोग्यम्। आनन्द भुगिति-
' विश्षो हि स्थूलभुङ्निल्यं तैजस: प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्र|ज्ञखिघा भोगं निबोधत '।।

तिकर्मत्वविरोधेगपी तत्रेश्वरकृतिकर्मत्वस्योपलब्निंघ प्रति करणत्वस्य चाविरोधात् ईश्वरे अविद्याषृत्तिरूपज्ञानेच्छावत्तदूपकतिसंभवात्। न च--विज्ञानपदं त्रद्मपरम्, 'विज्ञांं जह्म चेद्वेद। तस्माचेन्न प्रमाद्यति। इरीरे पाव्मनो हित्वा। सर्वान्कामान् समश्नुत' इत्यादि वाक्यशेषादिति—वाच्यम् ; वाक्यशोषोकमुमुक्षुज्ञेयश्युद्धन्नह्मणो यज्ञकर्त्वत्वासंभवेन कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यमाने विज्ञाने ततोऽर्थन्तरत्वनिश्ययात, 'अन्नं बक्षेत्युपास्त' इत्येतद्वाक्यस मानयोगक्षेमत्वाच ॥
'तंत्रें सति कर्तारमात्मानं केवलं तु य:। पइयत्यकुतर्बुद्यूत्वान्न स पश्यति '।।
इत्यादिस्मृतेः, ' प्रक्ठतेः क्रियमाणानी ' त्यादिस्मृतेश्र। न चात्मनि स्वातन्न्येण कर्तृत्वनिषेधबोधकत्वमनयो:, सामान्यतो निषेधे बाधकाभावात्। अत एव 'ध्यायतीव लेलायतीवे’'्यादाविवराब्द़ः।
इति गौडपादीयोक्तमाण्ट्रक्यम् ${ }^{1}$ । उपलब्ंिंध प्रतीति ${ }^{2}$ । तथाच
 सः करणत्वमुक्रमिति भावः। एतद्वाक्येति। एतदर्थक 'सर्व वै तेडन्नमाप्गुवन्ति। येडन्न ब्रह्मोपासत' इति वाक्येत्यर्थः। समानयोगेति। उक्तवाक्योोषे सत्यपि 'ओषर्धभ्योडन्नम्। अन्नात्पुरुष' इत्यादावन्नपदं न अह्मपरम् ; अनन्वयापत्तेः, एवं ‘विज्ञानं त्रह्म चे’दित्यादि शोषे सत्यपि ‘विज्ञानं यज्ञ’मित्यादौ विज्ञानपदें न त्रक्षार्थकम्; ' अ्रह्मविदा।मेतीी 'त्यादौ प्रकृतं न्नह्म हि विज्ञानादावुपास्यमुच्यते, तच शुद्धमेवेति न क्रियासामान्यकत्तृत्वन्वययोग्यमिति भावः 1 निषेषे बाधकाभावादिति । 'पस्चैते तस्य हेतव' इति पूर्ववाक्ये किया-

$$
\text { ¹ क्यमुक्तर्मिति-ग. } \quad \text { प्रर्ततितिम्. }
$$

न चेवशब्द्: परतन्त्रप्रभौ पस्रुरिवेतिवत् जीवकर्तृत्वे परतन्न्रतामात्रपर: त तद्वदत्र बाधकाभावात् । न च—बुद्धधभावेऽप्यात्मनः कर्तत्वश्रवणाद्दुध्दे: कर्तत्वासंभव इति-वाच्यम्, बुद्ये: कर्तत्वे जनकत्वमात्रे वा सर्वथा तस्या जीवनिष्ठत्वेनाभिमतायां कृतावपेक्षणीयत्वेन तदमावे कर्तत्वबोधकस्य तवापि मते उपचरितार्थत्वात्, निर्धर्मकत्वनिर्विकारत्वनिष्क्रियत्वादिबेधकभ्रुतिविरोधाच्च । न च—निर्धर्मकत्वरूपधर्मभातामावाक्यां ठ्याघटतात् ज्ञानत्वसाक्षित्वादिवत्सत्यक्यासत्यस्य वा ज्ञातत्वादेपप्यात्मन्येव संभवाच निर्धर्मकत्वश्रुतिर्न श्रूय-माणार्थपरेति-वाच्यम् ; निर्धर्मकत्वस्य धर्माभावरूपस्य ब्नद्ष-

सामान्ये आंमान्यपश्वानामेव हेतुत्वमित्युक्त्वा एवं सकि केवलं कर्तृत्वादिशून्यमात्मानं तु यः कर्तारं पइयति स दुर्मतिरित्रर्थस्य नफुटमुक्तत्वेनाहल्कारविमूढत्वस्य कर्ताहामिति बुद्धौ हेतुतयोकत्वेन च स्वातन्ड्याभावो नार्थ इति भावः। इवशाब्द् इति । 'इवोपमायामल्पत्व' इत्यादिकोषादामासत्वरूपाल्पत्वेन कर्तृत्वादिघोधक इति शेषः। उपचरितार्थत्वादिति। प्राणसंवादवाक्ये मनउत्कमणे कर्तृत्वादिकथनम्, वपोत्खननादिवाक्यवद्गौणार्थकम्, ' 'मनो होचक्चाम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाचे’त्यादे लाधितितार्थकत्वात्। परममुक्ताबपि कर्तृत्वं तु जीवन्मुक्तस्य मनःस्थितावेव। विज्ञानात्मनः कर्तृत्वं तु बुद्धितादात्म्यात्। प्राज्ञस्यानन्दभुक्तं चानन्दानुभवस्याश्रयत्वमनुकूलष्यापारवंत्वं वा मनोलयेऽप्यसित, कृतेरेव मनोमात्रनिष्ठत्वात् । श्रुतिविरोधात्—' केवलो निर्गुणः' ' कूटस्थोऽद्वितीयः' 'निष्कलं निष्क्रय 'मित्यादि श्रुतिविरोषात् ।

$$
1 \text { गौणार्थंमनो-ग. } \quad 2 \text { खवत्व्वं-क. }
$$

स्वरूपानातिरकेण धर्मत्वाभात्वेन ठ्याहत्यभावात्। यच्वसत्यस्य सत्यस्य वा ज्ञातृत्वस्यात्मन्यपि संभव इत्युक्तम्, तदिष्टमेव; न ह्यारोपितमपि कर्तृत्वमात्मनि प्रतिषेधाम: । न चनिर्विकारत्वं द्रव्यान्तररूपतया परिणामाभावपरम्, न तु विशेषाकाराभावपरम्, तचात्मनः कर्तृत्वादिसच्वेड्यविरूूद्बमिति—वाच्यम् ; द्रव्यान्तररूपतया परिणामनिषेधकमपीदं वाक्यं निर्धमक्रश्रुत्यनुसारेण विशेषाकारमात्रस्यंत निषेधपरम्, सामान्यनिषेधेनैन विशोषनिषेधप्राप्तः। नापि—निष्क्रितत्वे क्रिया परिस्पन्दो वा धात्वर्थो वा। आद्ये इष्टापतिः, द्वितीये अत्मन्यप्यसत्यादिधात्वर्थरूपसत्तादेः सन्चेनासिद्धिरिति-वाच्यम् ; ब्रह्मण एव सदूपत्वेन तत्र सत्तादेरप्यभावात्, क्रियापद्स्य कतिपरत्वाच । अत एव मनसोऽभावे सुषुप्तौ कत्तित्वाद्यदर्शननम्। न

धर्मत्वाभावेनेति। धर्माभावत्वविशिष्टरूपेण धात्वर्थस्य ${ }^{1}$ कल्विपत्वेन घर्माभावसाधारणधर्मसामान्यम्याभावबोधनद्वारोक्तश्रुतेरखण्डबोघकत्वेनाव्याहतिरिति भावः । प्रतिषेधामः नाङ्कीकरम ः । तदिष्टमिति । न चासत्यपदं ठयावहारिकार्थकमतो नेष्टमिति—वाच्यम् ; सुखादेरिव ज्ञातृंवादेरापि ठयावहारिकस्यैब ममेष्टत्वात् । सामान्यनिषेधेनपरिणामसामान्यनिषेषेन। निशोषनिषेधेति। द्रव्यान्तररूपेण रूपान्तरेण च परिणामसय निषेघेत्यर्थः। ब्रह्मण एव—अत्मन एव, ${ }^{2}$ पारमार्थिकी सत्ता ₹वरूपभूता न तु घर्म इति भाव:। नन्वात्मस्वरुपसत्व न घात्वर्थ: ; मायावच्छिन्नचित्वेना ${ }^{3}$ बाध्यत्वेन वा घातुराक्यतावच्छेदकेनेापहिता सत्ता शुद्धात्मन्यस्त्येव; तत्राह—क्रियापद्स्येति । अदर्शानमिति। अन्वयन्यतिरेकदर्ईानेन मनसः कर्तृत्वादावुपादानत्व-

[^204]च-तदापि श्वासादिकर्तृत्वं हइयत एव, सुषुप्तौ 'भूर्भूरित्येव प्रश्वसिती'ति श्रुतेरिति-वाच्यम् ; 'न तु तद्वितीयमस्ती 'त्यादिश्रुत्या तं प्रति श्वाससैयैवाभावेन तत्कर्तृत्वक्य सुतरामसंभवात्। यद्वा-क्रियाशाक्तिप्राधान्येन प्राणात्मकस्यान्तःकरणस्य तदापि सच्वेन तदुपाधिककर्तृत्वस्य तदापि सच्वात्। तथाच श्रुतिरन्यपरा । दर्शानं च द्रष्र्रविद्याकल्पितश्वासादिविषयम् । इदं च दृष्टिस्टृष्टिवाद एव समार्थितम् । 'कामः सक्कल्प' इत्यारम्य 'हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एवे' त्यन्ता श्रुतिरपि मनसः कर्तृत्वपरा, न तु मनसो निमित्तत्वपरा। न च-'मनसा वा अग्रे सङ్कल्पयती'त्यादिश्रुत्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुुमनीषिण' इत्यादिश्रुत्या च मनसः करणत्वमिति—वाच्यम्; मनोठ्यतितिक्तस्य सङ्फल्पानाश्रयत्वेन 'मनसा वे'ति श्रुतेरुपचरितार्थत्वात्। नापि॥ १॥ अत्मा, मोक्षसाधनविषयकृतिमान् , मेव कल्प्यते, ${ }^{1}$ कार्यश्रयनिष्ठत्वेनान्तरझत्वात्, न तु निमित्त्वम् ; आत्मा तु कार्यमांत्र विवर्तोपादानमेव; परेणापि ज्ञेयमात्रक्य ज्ञानसंबन्धो वाच्य एवं तथा च मनसो निमित्त̃व्वमात्मन उपादानत्वं चेति कर्तृत्वादावुभयं परेण वाच्यम्, मया तु मनस उपादानत्वमेवेति मे लाघवमिति भावः। अन्यपरेति। 'देवाः परमात्मानं भूरित्युपासांचकु:, तम्माद्वै वैतर्हि सुप्तः पुरुषो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिती'ति श्रुतौ त天मादित्याद्युपासनासतुतिपरमित्यर्थः। ह्ट्टिसृप्टिपक्षे तेन पमात्रा अज्ञाततत्प्रमाणाद्यसंभवेऽपि पक्षान्तरे तत्संभव इत्याइयेनाह --यद्वेति । उपचरितार्थत्त्रादिति। उपलबघौ मनस: करणत्वेडपि सङ्कल्पादौ तदभावान्मनःपदं मनोगतायाः सङ्कल्पादिसामप्रचा बोघकमिति भावः। वस्तुतो मनसः सक्कर्पादौौ तत्सामग्रचुपहितरूपेण करणत्वं प्रकृतेऽर्थः। अत एव ‘मनसैव मनो जये'दिल्यादावपि नानुपपत्तिः ; साम्ययुपहित${ }^{1}$ कार्याश्रयानिष्ष्वेन-क.

तत्फलान्वयित्वात्, संमतवत् ॥ २ ॥ अज्ञानम्, ज्ञानसमानाधिकरणम्, ज्ञाननिवर्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत् ॥३॥ दुःखादिभोगः, मोक्षसमानाधधिकरणः, बन्धत्वात्, संमतवदित्याद्यनुमानैरात्मनः कर्तृत्वसिाद्दिरिति-चाच्यम् ; अद्यानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणकृतिमच्चं वा साध्यम्, अनारोपितकृतिम₹ंच वा। आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये जातेष्टिपितृयझ्ञन्यफलान्वयिनि ठ्यभिचारः। द्वितीयानुमानेऽट्यारोपितानारोपितसाधारणज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा, अनारेपितज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा। अत्राव्याद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये अनादिभावभिन्नत्वस्योपाधित्वम् 1 तृतीयानुमाने अरोपितानारोपितसाधारणसंबन्धेन मोक्षसामानाधिकरण्ये इष्टापत्तिः, अनारेपितसंबन्धेन सामानाधिकरण्ये साधयाप्रसिद्धिः। तस्मात्सिद्धं मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति ।।

इत्यद्वैतसिद्दूर कर्तृत्वाध्यासोपपात्तिः ॥
रूपेण करणत्वसंभवात्, सामझ्रयाः करणघटितत्वात्। फलान्वयित्वादिति। यो यत्फलवान् स तत्साधनकृतिमानिति ठ्याप्तिरोध्या। अनारोपितेति। धर्मिसमानसत्ताकेत्यर्थ: । द्वितीये—द्वितीयेऽपि । साध्याप्रासीद्धिरिति । धर्मिसमानसत्ताकसंबन्धनिवेशे $5 व ि ~ स ि द ् ध स ा ध-~$ नम् ; अहमर्थरूपधर्मेसमानसत्ताकत्वस्य ${ }^{1}$ सिद्धावात्, आत्मसमानसत्ताकसंबन्धनिवेशो त्वप्रसिद्धिरिति भावः ॥

तर्कै: सारस्वतै रैलैश्वन्द्रिकाचन्द्रभूषणै:।
दुरन्तध्वान्तमझाय कर्तृव्वाद्यात्मनोऽस्वतः ॥
इल्यद्वैतसिंद्धव्याख्याग्यां गुरचन्द्रिकायां करृत्वाध्यासापपात्तिः ॥

## अंथ देह्रान्मैक्याध्यासोपपत्तिः ॥

नन्वहमर्थस्यानात्मत्वे 'त्राद्मणोऽहं काण' इत्यादिप्रत्यक्षं देहेन्द्रियादावात्मैक्याध्यासे प्रमाणं न स्यात् ; ऐक्यनुद्धा-वात्मनोऽविषयत्वादिति-चेन्न; अहामित्यस्य द्वूचंशत्वेन चिदेंशे कर्तत्वादिविशिष्टन्तः करण क्याः्यासवत् ज्राक्षणत्वकाणत्वादिविशिष्टदेहोन्द्रियाद्यैक्याध्यासेनात्मैक्यविषयत्वसंभवात् । तथा चात्मनि देहेन्द्र्रयाद्यैक्याध्यासो गुज्यत एव। नचैंव-देहात्मैक्यस्य प्रत्यक्षत्वे तद्विरोध्यनुमानागमयोरश्रामाण्यप्रसङ̈ः; वह्द्विशौत्यानुमानवत्, श्रूयमाणार्थे 'यजमानः प्रस्तर' इत्यागमवच, तथा चन देहात्मनोर्भेदसिद्धि: स्यादिति-चाच्यम्; चन्द्रपरिमाणग्रत्यक्षविरो ध्यनुमानागमादि दृष्टन्तेन प्रत्यक्षविरोधिनः परीक्षितागमानुमानादे: प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वेन तथापि तयोर्मेद्यसिद्यिसंभवात्। न च-परस्परभिन्कत्वेन निश्रितानां देहेन्द्रियादीनां गुगपदेकात्मैक्याध्यासायोगः, न हि भिन्नत्वेन निश्यितयो रजतरद्धयोरेकदैकश्गुक्तिकायामैक्याध्यास इतिवाच्यम्; 'देहादिन्द्रियमन्यत्' 'इन्द्रियाद्देहोऽन्य' इति भेद-

## अथ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः

चिदंशें-अज्ञानेपहितचिति। ननु--तथापि न श्रुद्धात्मैक्याध्यासे तर्प्ममाणं तत्राह-- तथाचात्मनीति। उपहितातमन्यैक्याध्यासे सिद्दे श्रुद्धस्योपहिततनुस्यूतत्वेन भानाइ्रासमानेऽप्याबरणस्योक्तत्वादुपहितनिष्ठं च्रुद्धतादात्र्यं देहादाबरोराप्यत इति भावः। छृष्टन्तेनेति । चन्द्रम्यक्षे दूरत्वादिरिव प्रकृतेऽप्यविधातन्मूलक्रकासनादिर्दोष इति

बुद्धया ‘देहोग्हमिन्द्रिय’ मित्यैक्याध्यासासंभवेऽपि त्राद्सणादन्यः काणः काणादन्यो श्राद्सण इति भेदबुद्रूचभावेन ज्राद्सणोग्हं काण इत्येकदा ऐक्याष्याससंभवात्, समानप्रकारकभेदधिय एव विरोधित्वात् । ननु-भेदमत्रस्याप्य $य_{स ् त त ् व-~}^{\text {- }}$ वादिनस्तव देहात्मनोर्मेदस्याप्यध्यस्तव्वेन जीवव्रद्नणोरिक तदभेदस्तात्विकः स्यात्, मिथ्यात्वं ह्यधिष्टानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। तद्वाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य सत्वेजपि (अ)संभवात्। अभेदश्र भेदात्यन्ताभाव इति कथं भेद्मिथ्यात्वे अभेदः सत्यो न स्याप्? न च-देहस्याप्यघ्यस्तत्वेन तेन सहात्मनो न भेदो नाव्यभेद इति—वाच्यम्; अध्यस्तादपि रूप्याच्छुत्ते: स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति-चेन्न भेद्स्य मिथ्यात्वेड्यभेदो न ताच्विकः, भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात्। इयांस्तु विरोष: यद्त्राभेदो व्यवहारकालीनेन परीक्षित्रमाणभावेनननुमानादिना बाध्यते, भेदस्तु

भावः । समानप्रकारकेति । ‘习्रा्दणस्याक्षि काण’मिल्यादौ ज्राब्षणमेदाविरिष्टेड ${ }^{1}$ क्षिणि काणत्वादि विशेषणम्, न तु काणत्वादिविशिष्टे चाह्वणमेदः। अक्षित्वाविशिष्टस्य तु नाह्सणत्वादिविशिष्टेऽध्यासेत नाह्येव। ज्रास्मणदेहो न काणः काणं चक्षुर्न त्राह्गण इत्यादिधीम्तु काणो त्राघ्षण इति बुद्धौ। न विरोधिनी। काणभेदाबंशे हैं ${ }^{2}$ विदोष्यतावच्छेदकें देहत्वादिकमेब, ज्राह्मणत्वादिक नु तद्विशिष्टे विशेषणमिति भावः । सत्त्वेऽपि—₹वाश्र्यसत्यव्वेऽपि। प्रागेवेति। ₹वसमानाषिकरणन्य ₹वन्यूनससाकाल्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वं मिध्याव्वम् । प्रातीतिकाल्यन्ताभावमादाय सिद्दसाधनस्य वारणाय स्वान्यूनसत्ताकेति।

देहात्मनोर्न तेन, कितु चरमृृच्येति । न चैंतं- गेहीतिवदेहीति प्रतीतिर्न स्यात्, किंतु देहोण्हमितीति-वाच्यम् ; देहतेन भेदग्रहाद्वाद्वणत्वादिना भेदाप्रहाच जाह्वणोगहं देघहम मित्युभयप्रतीत्युपपतेः। देवद्ताघब्तदत्तोऽन्य इति भेदन्द्धावपि तचेनोन पस्थिताछेबदत्ताघज़दते ‘सोऽय’मिल्यमेद भ्रमदर्श्राइ। ननु-
 ज्राब्नणन्वदेः श्ररीरविशिषात्मवृत्तित्वेन प्रमाव्वस्यैव संभवाव । तदुक्तम्-

जा्द्वणोडहं मनुष्योज्मिय्यादिस्त् प्रमंच नः।
देहमेदयुतो यस्माद्वाब्वणादिपदेदितःः ॥
 न स्याव्, देही़िशिषात्मनधभुरगम्पत्वाव् । न चैकदेशस्य चक्षुग्गम्पत्वाद्विशिष्णता जातिभभ्रुपा गृहत इसि—वाच्चम्; ब्यासज्ययहत्रेरुमययोग्यतागामेव योग्यत्वनियमात्। अन्यथा। ऐन्द्रियकानैन्द्रियकृतन्तिसंयोगद्बित्वादेः प्रत्यक्षता स्याव् । व्यासज्यृृत्तित्वस्य जातावृृचर्वात् पृथिवीत्वादिना सक्षरा-

एवं च मिथ्यात्वघटकाभावोऽघिष्ठानरूपत्वेन तात्विकझ्तदतिरिक्तत्वेन करिपतो वोभयथापि न क्षतिरित्यादिकं तु मिथ्यात्वानुमाने पूर्वमुक्तमित्यर्थः। तत्चेन—तद्देशकालवृत्तित्वेन । उपस्थितात्-देवदत्तादभेदक्रमस्य सोऽयमित्याकारकस्य यज्ञदत्ते दर्शानात्। भेदयुतः--अभेदान्यसंसर्गयुक्तः। विशिष्टं न विशेषषणिश्रेष्याम्यामतिरिक्तम् ; तथनचोभयपर्य|्तत्वेऽपि योग्यवृत्तित्वन्मनुष्यत्वादिकं चक्षुषा गृद्यतामिति शाङते --न चेति । ननु—विशिष्टस्यातिरिक्तत्वपक्ष एवालम्बनीय:; केवलात्मन एव चक्षुराद्ययोग्यत्वेन देहविशिष्टक्य तद्योग्यतासंभव-

## पत्तेः, तव मते आत्मनोऽणुत्वेन तब्तित्तित्वेऽतीन्द्रियत्वप्रसक्भाव्।

स्तत्राह ${ }^{1}$ —तवेति । आत्मन इति। देहादिविशिष्टत्मनोऽपीत्यर्थः। मन्मते सद्रूपन्यात्मनश्रक्षुरादियोग्यत्वाद्देहविशिष्टरूपेणापि तत्संभवति । परं तु वक्ष्यमाणरीत्याडऽत्मनि कश्पिततानाल्यान्यस्य देहवैशिष्ट्यस्य वक्जमशक्यतया गौरेऽहं कृशोऽहमित्यादौ देहैक्याध्यासावश्यकत्वाच देहम्यैव मनुष्यत्वादिकं ₹वाभाविकमुच्यते। त्वन्मते तु पार्थिवाधणोरिवाइ्मनोऽपि विशिष्टरूपेणापि चक्षुराद्ययोग्यत्वम् ; विशिष्टपरमाणुं परयामीत्यादेरिव विरिष्टात्मानं पईयामीत्यादेरपि प्रत्ययस्याभावादिति भावः ॥ ननु-त्राद्मणात्मानं पइयामीत्यादिप्रत्यय इष्ट एव, अथवा आत्मत्वं न विशिष्टवृत्तीति नोक्कम्रत्ययः; विशिष्टत्मेति वयवहारस्तु विशिष्टस्य केवल्वत्मतादाल्म्यात्, विशिष्टपरमाणौ त्विमं पइयामीत्यादिप्रत्ययरूपफलाभावाचक्षुराह्ययोग्यत्वकर्पनं युक्तमेव, विशिष्टत्मानि तु ज्राक्सणं पईयामीत्यादिप्रत्ययरूपफलबलाद्विजातीयश्रक्षुरादिसंयोगः ${ }^{2}$ कर्प्यतामिति—चेन्न; आऽमवृत्तिजातिविषयकत्वेनोक्रप्रत्ययस्य सन्दिग्बतया क्लत्षेर्देहचक्षु:संयोगैरेव तन्निर्वाहेऽनन्तानां विजातीयसंयोगानां बिशिष्टात्मनि कल्पने मानाभाबात्। अथ—साक्षिणैवास्तु त्राई्कण्यादिकं पत्यक्षं न चक्षुरादिनेति-चेन्न ; परकीयात्मनि साक्षिणोऽसंबन्घात्, विशिष्टपरमाणोरिव विशिष्टस्य पराम्युपगतस्यैवात्मनोडपि साक्ष्ययेग्यत्वात्। अथ—परमात्मनि ब्रादणत्वमनुष्यत्वादिकं विशुद्धयदिलिक्नगम्यं न प्रत्यक्षम् ; ₹वाह्मनि त्वणावपि साक्षियोग्यत्वमापरोक्ष्यच्यवहारबलात्कल्प्यमिति चेन्न; गोत्वाद्यपि सास्तादिलिक्नगम्यं न प्रत्यक्षमित्यापचेः । प्रत्यक्षज्यवहारस्य साक्षिण्येव स्वीकारेणापरात्मनि ${ }^{3}$ तद्भावात्। एतेन${ }^{1}$ संभवात्तत्राह-क. ग. ${ }^{2}$ चक्षुराबयोग्गत्वसंयोगः-क. ${ }^{3}$ स्वीकारेगे-वात्मनि-क. ख. ग.

न चैवं 'देहो त्राद्मणो मनुष्य' इत्यादिप्रतीत्यापातिः ; अहंत्वसामानाधिकरण्यभ्रमजनकदोषस्यैन ताद्वझ्रतीतिप्रतिबन्धकत्वादुक्तबाधैर्केर्देहृत्तित्वेऽनन्यगतिकत्वेन तथा कल्पनात्, ‘कहोडहं

कर्तृत्वादिद्वयन्येव श्राह्मणत्वादिद्वयक्यापि ₹वया वाच्यत्वेनात्मनिष्ठमेच श्राह्मणत्वादि म्बीक्रियताम्, न तु देहनिष्ठमिति—पराम्तम् । यत्त्व. तीन्द्रियघटितस्य ठयाए्तयादेरिवातीन्द्रियात्मवृत्तेर्राह्मणत्वादेरपि चाक्षुषत्वम्, आत्मनश्धक्षुराद्ययोग्यत्वेऽप्युपनयसन्निकर्षेण चाक्षुषविषयत्वसंभवाजातेः स्वाश्रयाविषयकम्रत्यक्षाविषयत्वनियमो न भग्न इति, तच्छोभते ; उयाप्तयादेल्लैकिकचाक्षुषासिद्धगा हृष्टन्टा|सिद्धे: । अश्रयलौकिकचाक्षुषं विना जातिलौकिकचाक्षुषक्यासंभवाच्च ॥

अथ स्वदेहे उक्तधीरापाद्यते, परदेहे वा। नान्त्यः; ₹ष्टत्वात्, चक्षुषा दृइयमानोऽवयवी जाह्मण इतिवदयं देहो बाह्मण इत्यम्यापि संभवादित्यभिप्रेत्य नाद्य इत्याह्ट--अहंत्त्रेति । दोषस्य अहृं ज्राह्मण इत्यादिभ्रमजन्यवासनादेः। न्राह्मणत्वविश्रिष्टपत्यक्षकालेडहं श्हाम इत्येव धीर्जायते न तु देहो व्राह्मण इत्यतस्तत्सामग्रयास्तत्र्पतिबन्धकत्वमगत्या कल्प्यत इल्याह—उुक्तेति । यदि च परदेहे अयं देहों घह्मण इति न प्रत्ययः, तदा तत्रापीयं रीतिरिति भावः; वस्तुते देहः्वावचिछनन्नभेदावच्छेदकतया गृहीताहंत्वादेर्ज्राह्मणत्वाद्यवच्छेदेन अभ्रमा देहत्वाद्यवच्छेदेन ज्रात्मणत्वाद्यवच्छिन्नभेदभ्रमश्ष देहो ज्राह्मण इत्यादिधीप्रतिबन्धकतया क्लप्तः, तज्जनकत्वेन वासनादेस्तत्पतिबन्धकत्वमपि क्लपपमेव, देहत्वानवच्छिन्नदेहविशाष्यताकं ब्राह्मणत्वादिप्रत्यक्षं तूक्तविशोषदर्शनाप्रतिबध्यं जायत एव । न च देहो न ब्राह्मण इति धीरेव देहो ब्राह्मण

> A. VOL III.
₹थूलोऽ्ह'मित्यादौ काईर्यदि विशिष्टैक्या‘्यास₹्यावइयकत्त्वाच्च । न च—अयमौपचारिकम्रयोगः पुत्रे करो अहं करा इतिवत्, तदुक्तम्-
'करोगें कृष्ण इत्यादौौ काइर्यादिर्देहसंस्थितः।
पुत्रादिस्थितकाइर्यादिवदात्मन्युपचर्यते ।।
दति—चाच्यम् ; एवं सति देहादिमिन्नात्मास्तित्वप्रतिपादिकाया 'अस्तीत्योवोपलब्धठ्य' इति श्रुतेरनुवाद्कतापत्तेः, मम देह इत्यनौपचारिकः, अहं गौर इत्याद्यौपचारिक इत्यत्र विनिगमका-
इति धीसामग्रया प्रतिबध्यतामिति ${ }^{1}$ वाच्यम्; दोषघटितसामग्रया बलवत्त्वेन क्हपत्वत्वादिनि घयेयम् ॥

आवइयकत्वादिति । तथाच देहमयैन्द्रियकत्वेन ब्राह्मणत्वादेरैन्द्रियकत्वसिद्धेर्विशिष्टात्मन्यनन्तान्द्रियसंयोगकर्पने गौरखमिति भावः । औपचारिकम्रयोग इति। कृशादिदेहस्वामित्वादिनाट्मविषयक: प्रयोग इत्यर्थः। एवं सति अत्मनि गौरत्वाद्यवच्छिन्नमेदबुद्धया व्याप्ये उत्कौपचारिकत्वे सति। देहादिमिन्नेति। गौरत्वाद्यवच्छिन्नभिन्नेत्यर्थः। अनुवादकतापत्तेरिति। 'येयं प्रेंत विचिकित्सा मनुष्ये आम्तीत्येके नायमस्तीति चेके' इति श्रुत्यनूद्दितस्य गौरत्वाद्यवच्छिन्नमिन्नात्मनि लौकिकसन्देहम्यानुपपत्तेरहं गौर इत्यादिबुद्धिसत्त्वेड़हं गौराद्यन्य इत्यादिबुद्धयापत्तेश्चेत्यपि बोध्यम्। ननु—देहत्वादिना मेदस्य त्वयाप्यात्मनि घीस्वीकारात्तत एव लिख्नाहौरत्वादिना भेदस्याव्यात्मनि निश्चयसंभवात् त्वन्मतेऽव्युक्तश्रुतिरनुवादिकेत्यत्राह-मम देह इति । तथाचाहं गौर इत्यादितादाल्यबुद्धचा मम देह इत्यस्यौपचारिकत्वसंभवेन न गौरत्वादिना भेदनिश्चयः। किंच पुत्रे कृो अहं कृरा इत्यादिबुद्धेगौणत्वं युक्तम् ; नाऽहं कृरा इति प्रत्यक्षात्, अहं गौर इत्यस्य तु न

भावाच्च। नन्विदं विनिगमकम्, जातमात्रस्य पश्वादे: प्रवृ₹्यादिहेतोरिष्टसाधनताद्यनुमितेर्हेतुर्यत्स्तन्यपानम्, तदिष्टसाधनम्, यथा पूर्वदेहीयं स्तन्यपानमित्यादिव्याप्तिस्मृतिस्तावन्न देहान्तरास्मृतौ युक्ता, न च 'मम प्रागदेहान्तरमभू 'दिति स्मरतस्तस्यैक्यधी: संभवति, किंत्वनेकमण्यनुस्यूतसूत्रमिवानेकदेहेष्वनुस्यूतमात्मानं पइयतः स्वतो भेदधीरत्रेति-चेन्न ; पूर्वदेहस्मृतिं विनाप्यनुमितिहेतुण्याप्तिस्मृतेः संभवात् । न हि ठ्याप्त्यनुभव इव व्याप्तिस्मरणसमयेऽपि दृष्टान्तज्ञानापेक्षा। येन तद्र्थ तद्देहस्मृतिरपेक्ष्येत। न च—तथापि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूं सोऽहं स्थाविरे प्रणपृननुभवामे' 'योऽहं स्वमे ठ्याघदेहः सोऽहामिदानीं मनुष्यदेह इति देहभेदधीपूर्वंकं स्वस्यैक्यमनुसन्दधानः कथं ततो भेदं न जानीयादितिचाच्यम् ; विरुद्धधर्मरूपलिङ्धधीजन्यभेद्धीसंभवेडप्यपरोक्षाभेद-

गौणत्वम् ; नाहं गौर इाति बुद्धघभावात् । मम देह इति बुद्दिस्व्वहं देह इति बुद्धेरेव गौणत्वापादिका न त्वहं गौर इति बुद्धे ; भिन्नाम्यां रूपाम्यां भेदाभेदयोरुभयोरपि संभवादिति भावः। ठ्याप्तयनुभव इवेत्यादि । ठ्याप्तयनुभवकाले मदीये देहे स्तन्यपानमिति हृष्टान्तज्ञानमात्मनि देहत्वावच्छिन्नभेदाविषयकं दैवादस्ति । ठ्याप्तिस्मृतिसमये तु नोक्तविषयकधरिपेक्षते ; प्रवृत्र्यन्यथानुपपच्त्या इष्टसाघनत्वानुमितिप्रयोजकव्याप्तिमात्रक्मृते: कल्पनादितरांशे जन्मान्तरीयसंसकारोहोधे मानाभावात्य। उ्याप्तिघटकेनाधिकरणत्वेन स्तन्यपानस्य स्मृतिस्तिव्वैवंव न हि तावता परेष्टसिद्धिरिति भाव:। विरुद्धधर्मेति । ठ्याप्तयात्मनि तद्देहानुवृतत्वेन हेतुना तद्देहाननुवृतदेहमेद्वनुमितिरिरत्यर्थः।

अ्रमेऽविरोधात्। न च—प्रत्यक्षे धर्मिणि भेदकसाक्षात्कारो भेदसाक्षात्कारण्यापः, इह च व्यावृत्तत्वेन बुद्धिस्थदेहादितो भेदकस्यानुवृत्तत्वस्यात्मनि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षसिद्वत्वात् व्यार्वक्तसाक्षात्कारस्यैवैक्यापरोक्षभ्रमविरोपित्वात् निरुपाधिकत्वेन विशेषदर्शानाप्रतिबध्यत्वस्य वक्तुमराक्यत्वात् कथमैक्यभ्रम इति वाच्यम् ; भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षात्कारेण ठ्याप्रेरैक्यारोपेण सह विरोधस्य चासिद्धेः। 'नीला बलाके' त्यत्र नीलान्दे दकस्य बलाकात्वस्य ग्रहेऽपि नीलभेदसाक्षात्काराभावस्य तद्भेदसाक्षात्कारस्य च दर्शनात्। न च तत्र दोषप्राबल्यात्तथा; प्रकृतेऽपि दोषप्राबल्यान्नेति केन तुभ्यमभ्यधायि ?
व्यावर्तकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षाहकारठ्याप्यक्य मेद कसाक्षारकारस्य । ननु-भेदसाक्षाहकाराभावेऽपि भेदकसाक्षातकार एव विरोध्यन्तु, तत्राहऐक्यारोपेणेति। देहान्तरानुवृत्तंवं विद्यमानदेहभेदव्याप्यत्वेन यद्यपि गृहीतम्, तथाव्याइ्मानि तद्ध्धार्नापरोक्षेति निद्यमानदेहाभेदारोपाऽविरोधिनीति भावः। ननु-भेदके प्रत्यक्षे भेदोंडपि प्रत्यक्षोऽनतु, सामग्रीसत्त्वादित्याशक्कयाभेद्रत्यक्षहेतुदोषस्य प्रतिबन्षकत्वेन सामग्रचभावं सहृष्टान्तमाह —नीलेति। दोषप्राबल्यात् रात्रिकालरूपदो|षक्य भेद्धीप्रतिबन्धकत्वरूपात्र्राबर्यात् । तथा मेदाप्रत्यक्षम् । दोषप्राबल्यं वासनाविशेषादिदोषप्राबल्यम्। • शख्बो न पीत' इत्याद्यनुमानसत्त्वेऽपि पित्तादिदोषेण ताटहापत्यक्षप्रतिबन्घकेन शख्वः पीत इत्यादिम्रत्यक्षदर्शनेन भेदғ्य परेक्षर्षसत्त्वेऽपि वासनादिदोषान्तदभेदप्रत्यश्षमिति भावः। यत्तु यदा यदा भेदकप्रत्यक्षं तदा तदा भेदप्रत्यक्षमिति कालिकठ्याप्तयभावेडपि यत्र यत्र भेदकस्य प्रत्यक्षं तत्र भेदस्यापीिति दैशिकठ्याप्तिः प्रकृते वाच्या; बलाकायामपि दिवा भेदो गृद्यत एवेति,

एवं 'ब्राह्मणो यजेते' त्यादिश्रुतिरपि बाह्मणत्वाश्रयशरीरस्य जडत्वेनानियोज्यतया तदैक्याध्यासापन्नमात्मानं नियुज्ञाना तत्र प्रमाणम् । न च न्राद्मणत्वाश्रयदेहेन संजन्धान्तरमादायैच नियोज्यत्वोपपत्तिः ; तस्यानतिप्रसक्तस्य वक़ुमशक्यत्वात्। तथा हि-न तावत्संयोगः ; आत्मनो विभुत्वेन सर्वद्वसाधारण्यात् । नापि स्ञस्त्रामिभावः संबन्धः ; पश्वादिसाधारणत्वात्। नापि साक्षात्स्वस्वामिभावः संबन्धः ; पश्वादिठ्यावृत्तस्य देहादिगतस्वस्वामिभावे साक्षाच्चस्य वक्तुमशक्यत्वात्। नापीच्छानुविधायित्वम्; अमवातजडीकुते तद्भावात। नापि तदिन्द्रियाश्रयत्वम्; तद्धि तत्संबद्द्रेन्द्रियाश्रयत्वं वा, तज्ज्ञानजनकेन्द्रियाश्रयत्वं वा। नाद्यः ; अतिप्रसड्गात्। न द्वितीयः ; ज्ञानपदेन स्वरूपचैतन्योक्तावसंभव:, अन्तःकरणवृत्युक्तौ तेनापि संबन्धार्थमध्यास स्यावइयकत्वात्, तद्वरं देहस्यैवाध्यासिकः संबन्ध इत्युच्यताम् । अत एव-साक्षात्प्रयनजन्यक्रियाश्रयत्नं वा, तद्रोगायतनत्वं वा, तत्कर्मार्जितत्वं वा संबन्ध इति निरस्तम्। तत्कर्मारिितत्रस्य पुत्रादिसाधारणत्वाच्च । न च-तत्रादृष्टेन स्वत्त्वमेवोत्पाद्यते, न तु पुत्रादिरिति--वाच्यम् ; ग्रामादिवत्पुत्रस्य सिद्धत्वाभावेन स्वच्वोत्पादनार्थमपि तदुत्पादनस्यावइयकत्वात् अन्यथा स्वदेहसुखादिष्वप्यस्यादृष्टेन स्वच्वमेवोत्पाद्यते, न तु

तच्छोमते ; तथासत्यात्मन्यपि तंद्द्हनाशकाले तद्भेदग्रहस्य सिद्धावपि तद्देहकाले तदैक्यारोपसंभवेनाष्मदिष्टसिद्धे: । अनियोज्यतया अपर्तरनीयतया । नियुझ्जाना प्रवर्तयन्ती । अतिप्रसङ्गादिति । इन्द्रियेषु सर्वाह्मसंयोगादिसंबन्घसत्त्वादित्यादि:। अत एव घटकस्य तादात्यसंबन्धन्याध्यासिकत्वादेव । तत्पयत्नजन्य|क्रया घटादावपीति

स्वदेहादिरित्यपि स्यात्। तथा च पूर्वानुत्पन्नमद्धेन स्वत्चसहितमेवोत्पाद्यते, पूर्वोट्पने तु ख्वच्वमात्रमिति विभागः। एतेन-श्रुतिस्थं ज्राह्लणपदं किं लक्षणया देहविरुषैक्याध्यासवत्परम्, देहविशेषसंबन्धपरं वा, संबन्धस्तन््यस्याभावादैंक्याध्यास एव; यद्वा-देहविशोपपरम्, आत्मा तदैक्याध्यासात्प्रवर्तत इति । नाद्यः; विधौ लक्षणाया अयोगात्, पुत्रमित्रादिषु विकलेषु सकलेष्पु वा अहमेव विकलः सकलो वेत्यध्यासस्वीकारेण ज्राह्यणमित्रस्य शूद्रस्याधिकारग्रसङात्, शूद्रमित्रस्य च्राह्गणस्यानाधिकारप्रसङ्ञाच्च। न द्वितीयः; तदिन्द्रियाश्रयत्वादे: संबन्धान्तरस्यैव संभवात् । न तृतीयः ; तस्य जडत्वेन नियोज्यत्वासंभवादितिनिरस्तम् ; चरमपक्षे दूषणमनुक्तोपालंभनम् ; प्रथमाद्वितीयपक्षयोरेव क्षेदसहत्वेनाझ्झीकारविषगत्वात्, विधौ लक्षणायाः ‘गोमिः

साक्षात्र्वयत्नजन्यत्वमुक्रमृ। ₹च्च्चसहितमिति। सति स्वामिनीत्यादिः। असति स्वामिनि तु तस्यैव स्वत्च्वकारणम्याभाबत्त्वत्त्वासहितमेवोल्पाघते। अत एव पुत्रोपपत्तेः प्राब्यृतम्यादृ्टेन जानिते पुत्रे एवत्व्वस्संभास्ववत्वमान्र न फलम्, किंतु पुत्रादिकमवीति भाबः । वस्तुतः पुत्रादौ पित्रादेः स्वत्वं प्रति पुत्रादेरे हेतुत्वम्, आवइयकत्वात्; न त्वहृष्विशोषस्य । न हि स्वत्वाश्रयुत्रादिकं फल्ख्वेन विधिर्बोधयति। गोािभित्यादि। गोविकरैः पयोभिः मत्सरं सोमरसं श्रीणीत पचतेल्यर्थ: ॥

यद्यव्ययं पयसा श्रीणीतेति विधिविहितश्रपणप्रकाशको मत्र:, तथापि 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुनूही 'ति मन्र्यम्य ‘अमीषोमीयं पग्गुमालमेते ’ति विधिस्थफ्युपदे छागतक्षकव्वमिवोक्रमन्रस्य वाक्यशेषतयोक्रविघिस्थपयःपदे गोपयोतक्षकव्वमित्यभिपेप्येद्यमुक्तम् ।

भीणीत मत्सर ' मित्यादौं दर्शानात् स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धाननिबन्धनस्य पुत्रमित्रादिव्यावृत्स्यैव सर्वानुभवसाक्षिकस्याध्यासस्य प्रयोजकतया नोक्तस्थलेडतिप्रसङ्गग्रसझौ। कादाचित्कस्य ताद्धशाध्यास्यैवै त्राह्लणपद्र्योगनिमित्तत्वेन ‘व्राह्नणो न हन्तव्य' इत्यदेः सुपुप्तविषयत्वादिकमपि सझचच्छते। तथा

आदिपदात् ‘उचैर्भचच क्रियत' इत्यादौ ऋगादिपद़म्य ऋखेवादादि-
 घ्राद्षणत्वादिवैरिश्टयं च देहे स्वाभाविकमात्मन्यौपाधिकम्, तदुभयमपि व्यावहारिकत्वाच्छक्यशरीरप्रविष्टम् ; अजानिकठ्यवहारस्य शक्तिग्माहकस्योभयत्राप्यविशिप्ट्वात्, तदुभयोरेकर्वेनैवेव ठ्यवहारकाले निश्रयाच्च। तथाच क लक्षणादोप इति धेयेयम् ॥

स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धाननिबन्धनस्येति। ख्वीयत्वादिबुद्धघप्रयुक्तत्वयोग्यस्येत्यर्थ:। पुत्रमित्रादौ ₹वीयत्वादिवुद्धचा तत्साकर्यादिधर्माणां ₹वस्मिन्नध्यासात्सकलत्वादिना पुत्रदेरापि स्वस्मिन् तादाताल्याध्यासः ; धर्माध्यासस्यापतिवनच्ष रूपष्य धर्म्यघ्यासव्याव्य्यव्वात्। तथाच श्रास्वणमित्रादेरावि सकळत्वादिनैव रहदादौौ तादाल्म्याध्यासो न तु व्राद्यणत्वादिनेति ज्राह्सणत्वाच्चवच्छिन्नपतियोगिताकतादात्याध्यास: स्वीयत्वादिबुद्धचपयुक्त्वयोग्य इति भावः। प्रयोजकतया उक्रश्रुतिबविषयत्वेन नियोज्यप्रयोजकतया। कादााचित्कस्येति। 'न रूद्ययाजिनः श्राद्धे भोजनीया। इत्यादौ कदाचिच्छूद्याज्यादौ रूद्नयाज्यादिपदस्येव कदाचिद्बांसणादिदेहतादात्म्याध्यासवति ब्राह्सणादिपद्रयोग इति भावः। वस्तुतो हननस्य सुपुप्तपुरुषे कृतस्मापि पवुद्दतदीयदेहपाणवियोगानुकूळुन्यापाररूप्व्वानपायात्, प्रबुद्धतादशायां च ज्राह्स-

जीवन्मुक्तविषयत्व मपि ; तस्यावरणशाक्तिनिबन्धनाध्यासाभावेऽपि विक्षेपराकिनिबन्धनाध्याससंभवात् । न चैंन कदाचिद्ध्यासस्य प्रयोजकत्वे महापातकेन नष्टत्राह्मण्यस्याप्यधिकारप्रसङ्नः: तत्र महापातकस्यैवानधिकारप्रयोजकत्वम्, न तु बाह्मण्यरभावस्य ; 'पतितो त्राह्मण' इति चयवहारेण तद्भानस्यैवाभावात् । तथाचोकंत भाष्ये-'सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्रण्यध्यासमूलानी’ति। प्रमातुत्वाद्यन्यथानुपपत्तिरप्यध्यासे मानम्। कदाचिद्ध्यासस्यैन प्रयोजकत्वेन सुषुप्तौ तदभावेऽपि

णोऽहॉमित्यध्यासानियमेऽपि न्राह्मणदेहप्राणवियोगानुकूरक्यापाररूपब्राह्मणहननत्वस्य सुपुप्तहननेऽपि सत्त्वात्, ‘र्राह्मणो न हन्तंय’ इत्यादे: सुपुप्त्रवह्मणह्नननिषेधकत्वमच्याहतम्। एवं जीवन्मुक्तशरीरादाबपि ब्राह्मणत्वानपायाद्यनननिषेधादिश्रुतिविषग्वव्वमिति ध्येयम्॥ आवरणशक्तिनिवन्धनेति। पूर्णानन्द्दरूपं मे नास्ति न भातीत्यादिरुपेति ईोषः। विक्षेपशक्तिनिबन्धनेति। प्रारबधकर्माधीन त्रान्मव्याद्घध्यासरूपेति शोष:। अधिकारप्रसङ्ञ इति। तथाच ब्राहमण्याभावस्यैवानधिकारप्रयोजकंज्र हननादिनिषेधाविवयत्वेऽपि स प्रयोजक: स्यादिति भावः। न तु ज्राह्मण्याभावस्सेति। वस्तुस्थितिरियमुक्ता। व्राह्मण्याभावस्यानषिकारप्रयोजकत्वेऽपि निषेधाविष्यत्वे तक्य कादाचित्कस्य न प्रयोजकत्वम् ; सुषुप्तौ हननादे: शिष्टविगीत्म्येव बाधकव्वाद्दिति ध्येयम् । तथाचोक्रमिति। विधिनिषेघश्रुतिम्थज्ञाद्मणादिपदमुक्ररीत्याध्यासार्थकमुक्तं चत्यर्थः । प्रमातृत्वादीत्यादि ना ज्ञातृत्वादि गृद्यते। अध्यासे—देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमाने । प्रयोजकत्वेनेति । सुषुप्तावित्यादि निरम्तमिति योजना । तद्भाव इति। यद्यपि ज्ञातृत्वं सुपुप्तावविद्यावृत्तिघटितत्वान्न देहेन्द्रियाध्यासमपेक्षते, अविद्या-

ज्ञातृत्वस्य घटादिप्रमाकाले तद्भावेऽपि प्रमातृत्वस्य दर्शानात्कथमैक्याध्यासस्तत्र प्रयोजक इति-निरस्तम् । तदुक्तं भाष्ये- प्रमातृत्वादिकमध्यासमूर्लंमति। अत एव चार्वाकादीनामनभिसंहितप्रचलागमानुमानादीनां देह एवात्मेति प्रवादः। अन्यथा प्रत्यक्षम्रामाण्यवादिनस्तस्य ताहछछव्यवहारानुपपत्तेः। न च-चार्वाकादेरन्नुमानाभासाज्जाते देहात्मैक्यभ्रमे प्रत्यक्षत्वाभिमान इति—वाच्यम् ; प्रत्यक्षेण भेदे गुहीते अनुमानाभासादिनाऽभेद्स्य बोधयितुमशक्यत्वात् । तथाच प्रत्यक्ष

ध्यसस्तु सुपुपावक्ल्येन; एवं घटादिप्रमाकालडर्डप मनुष्योडहमित्यादिसाक्षिरूपाध्यासो बर्तत एव; तद्नामिलापस्वभिलापपयो।जनाभाबात्। न हि सुजुपयन्यसंसारकालेडद्धमित्यध्यासो नान्ति, न वा दैहैक्याविषयकः, अन्यथा 'नाहं मनुप्य' इत्यवि कदाचित्य्यात्; तथापि समाधिप्रानुर्यमदर्शनाय कादाचिक्काध्यासप्रयोजकत्वमुक्तम्। 'आह्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरक्कृत्य सर्व्रमाणानि पवर्तन्ते। देहेन्द्रियादावहं ममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणपवृत्त्यनुपवंत्तः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रल्यक्षादिसंभवः । न चाघिष्टनमन्तरेणेन्द्रिय'ठ्यापारः। न चानध्यस्ताट्मभावेन देहेने कश्चिद्वयाप्रियते। न चाध्यासं विनाडSडमनोऽसङ़स्य प्रमातृत्वम् । न च तद्विना प्रमाणपवृत्ति ’रिति भाष्यार्थं संक्षेपेणाह- प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलमितीति। प्रत्यक्षेण भेदे गुहीत इति। एक्यप्यक्षक्षूपविरोध्यमावादित्यादिः। अशक्यत्वादिति । ननु—घटः सन्नित्यादिसत्यंव्वनिश्चये सत्यापि प्पपच्चे मिथ्याव्वानुमानमिव भेदप्रत्यक्षे स्यवप्यैक्यं चार्वाकादिमिरनुमीयते तत्राह-
: 1िन्र्रयांद—ग. सरंत्र-ग.

एवायमैक्यभ्रमः । अत एवाक्रुळ्या देहं प्रदईर्य वदत्ययमहामिति। अत एव देहात्मैक्यनिषघध्रुतिरप्युपपद्यते ; अन्यथा तस्याप्रसक्तप्रतिपेधकतापत्तेः। न च कुसमयप्राप्तनिषेधिका सा; प्रत्यक्षविरुद्वकुसमयस्याप्यनवकाशात्। तक्मादाभीरसाधारणात् 'अहं गौर' इत्यादिग्रत्यगादात्मन्यन्तःकरणैक्याध्यासादेहतद्वर्माध्यासोड्पीति सिद्धम् ।।

इत्यद्दैतासेद्बौौ देहात्मेक्याध्यासंपपात्तेः ॥

अत एवेति । मिध्यांवव्याव्यवद्विशेप्यकःव्वज्ञानेन सतर्केण सत्यत्वज्ञानमाभासीकृत्य मिध्यात्वं यथा प्रपश्चेडनुमीयते, तथा चार्वाकादी|नामैक्यच्याप्यवद्विशेष्यकत्वज्ञानेन सतर्केण भेदप्यक्षक्षमासीकृत्य नैक्यानु मानम् ; व्यापयाघ्यतिसन्धानेऽट्ययमहं गौरः स्थूल इति स्वाभाविकठ्यवहारदर्शनात्, परं तु मम देह इति भेदप्र्यक्षे सत्यापि नाहं गौर इल्यादिप्रव्यक्षामावात् गौरोडहृमिलैयैक्मप्यक्ष्षम्याप्रतिवन्धत्वातेनैवैव चार्वाकादीनामैक्यव्यवहार इति भावः। कुसमयस्येति। देहात्मैक्यबोधककुस्तितशास्घस्येत्यर्थः । अनवकाशादिति। श्रुतितन्मूलकशार्ं विना प्रत्यक्षविरुद्दे शास्त्र आस्तिकानामविभ्वासात्त्र्पाप्रार्थनिषेघकत्वं श्रुतेन्न युक्तमिति भावः : यतु—प्रत्यक्षोडपि देहात्मनोरेमेदों न ठ्यवन्द्दियते यमजयोरेमेद दृवेति तदूघवहारहेतजज्ञानाय श्रुतिरतो नानुवाद इति—तन्न; अव्यवह्ययमाणस्य भेदस्येदानीं प्रल्यक्षे मानाभावात्। यमजयोंभेदन्तु ठ्यवह्दियते, तद्व्यवहर्ता ुु सामग्रचभाबान्न प्रत्यक्षीकियत इति ॥ तर्कैरिस्यादि-देहात्मैक्योपपादनम् ॥


## अभரनिर्वाँचत्वलक्षणोपपत्ति:

ननु—अविद्यायां तन्निबन्धनाध्यासे च सिद्धेगपि न तस्यामनिर्वचनीयत्वसिद्धि: ; लक्षणप्रमाणयोरभावात्। तथाहिकिमिदमनिर्वाच्यत्वम्, न तावन्निरुक्तिविरहः (१), तन्निमित्तज्ञानविरहो वा (२), तन्निमित्रार्थविरहों चा (३), तन्निमित्तसामान्यविरहो वा (४)। आद्ये अनिर्वाच्य इत्यनेनैनैव निरुक्तणा 'इदं रूप्यमि’ति निरुक्तया च ठ्याघातः, द्वितीये निरुक्तिरूपफलसच्चेन तन्निमित्तविरहस्य चक्तुमशक्यत्वम्। अत एव न तृतीयः ; अर्थस्य निरुक्तावनिमित्तव्वाच । फलसच्वादेव न चतुर्थः । नापि सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम् (५) सदसद्रूपत्वेडच्युपपत्तेः । अत एव न सच्चराहित्ये सत्यसच्चविरहः (६) तथा च लक्षणासंभव इतिचेन्न; सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षण त्वम् । (७) सच्वासच्चाभ्यां विचारासहत्वे सति सढ़सचेन विचारासहत्वं वा (८) प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वं वा

## अथानिर्वाच्यत्वलक्षणोपपाचिः

तस्यामिति। स्वपयुक्ताध्याससहितायामविद्यायामित्यर्थः, तेन रूप्याद्यनिर्वाच्यव्वस्यापि समर्थनमम्रे नासझ्रतम् । वत्रुमशक्यत्वादिति। निरुक्तिरुपफलसत्वे तर्कारणज्ञानादिकमावइयकामिति भावः। अर्थ तन्निमित्तत्वं तक्कारणज्ञानविषयव्वं, तक्कारणत्वं वा, आघ्ये-आह-अत एव न तृतीय इति । द्वितीय आह—अर्थस्येति । प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वम् स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावपतियेगिगित्वम्।
(९) इत्यादिलक्षणे निरवद्यत्वसंभवात् । न च—आद्ये सतोऽपि सद्न्तरविलक्षणत्वात्सिद्वसाधनमिति-वाच्यम् ; सच्वावच्छिन्मभेदस्य सन्नति प्रतीतिप्रयोजकस्य संद्वैलक्षण्यपदार्थत्वात्। न हि सति सद्न्तरभेदेडपि सन्नेति प्रतीतिः, अतो न सिद्दूसाधनम् । एवं च सत्वरहितत्वे सत्यसच्चरहितत्वे सति सदसत्त्वरहितत्वमपि साधु । स्यादेतत्-सन्वं तावत्सत्ताजातिर्वो (१), अर्थक्रियाकारित्वं वा, (२), अवाध्यत्वं वा (३), प्रामाणिकत्वं वा (४), अरून्यत्वं वा (५), ब्रत्मत्वं वा (६), पराङ्गीकृतं वा (७)। नाद्यद्वितीयौ; गुद्धात्मनि सद्वैलक्षण्यस्य प्रपश्ने सद्वैलक्षण्याभावस्य चापातात्। न तृतीयः, त्वन्मते तुच्छस्याप्यबाध्यत्वेन तत्र सद्वैलक्षण्यस्यानिर्वाच्य(त्व)स्य बाध्यत्वेनासद्वैलक्षण्यस्य चायोगात्। न चतुर्थः; प्रमा ह्यन्तःकरणवृत्ति:, तद्विषयत्वस्य प्रपश्चेडपि सच्चेन सद्वेलक्ष्पण्यस्य तत्रासच्वश्रसङ्नात्। न पश्नमः ; तस्य प्रपश्नेऽपि विद्यमानत्वेन सद्वैलक्षण्याभावप्रसङ्डात्। न षष्ठः ; तद्वैलक्षण्यम्य जगति सच्वेनेष्टापत्तेः। न सप्तमः ; पराम्युपगतसश्चस्यासच्वविरहरूपत्वेनोभगवैलक्षण्योक्तचयोगात् । अत एव—एतेषां

इत्याद्यत्यनेन पूर्वोक्तज़ाननिवर्त्यत्वादिसज्ञूहः। सिद्बसाधनम् उक्तאक्षणमिष्टम् । सत्र्वासत्रवाम्यां सदसत्तेनेन विचारासहत्व सत्त्वाद्यत्यन्ताभाववत्त्वमित्यम्रे वक्ष्यते। त习्रापि सत्त्वादि नास्तीतिधीप्रयोजकस्य सत्त्वसामान्याभावादेर्निंशात् किंचिन्निष्ठसत्त्वाद्यमावमाद।य न दोष इत्याशयेनाह—एवं चेति। अपि साधितिति। विचारासहत्वमित्य. न्तोक्तवाक्यार्थरूपमित्यादि:। सत्त्वासत्त्वयोर्मिथो विरहत्वक्य मिथ्यात्वननुमाने प्रत्याहर्यातत्वेडपि परोक्तदूषणं परिद्रीं तदखीकरांति-

विरहस्यासच्चरूपत्वं-निरस्तम्; अथासच्चं, निरुपाख्यत्वं, निःस्तरूपत्वं वा। नाद्यः ; असदादिपदेनैव र्यायमानत्वात्। न द्वितीयः; स्वरूपेण निषेधपक्षे शुक्तिरूप्यादेरपि निःस्रूूपत्वेनासद्वैलक्षण्यानुपपत्तेरिति—चेन्न; पराभिमतसत्वासत्वे एव विवक्षिते, न पारिभाषिके, अतो न ताद्सक्सदसद्वैलक्ष्य्योक्ताविष्टापात्तिः। नापि—तयोः परस्परविरुद्धत्वेन एकनिषेधस्यापरविधिपर्यवसन्नतया एकत्रोभयवैलक्ष्ण्यं ठ्याहतमिति वाच्यम्, निषेधसमुच्चयस्याताच्चिकत्वाड़ीकारान्न ठ्याहतिः। न ह्यताі्विकरजतेन गुक्तेर्विरोधः । न च तर्हि सदादिनैैलक्षव्योक्तिः कथम् ? तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्र्रकटनाय। न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदापि रूपं वास्तवं संभवति ।
पराभिमतेति। इष्टापत्तिः---इष्टसंपत्तिः। न ठ्याहतिरिति। पराम्युपगतयोः सत्त्वासत्त्वयोर्मिथो विरुद्धत्वेन पराभ्युपगतसत्त्वासत्त्वरूपावभावौन लक्षणे निवइइयेते, किंत्वतात्तिकत्वेन प्रतियोंगिसमानाधिकरणौ ठ्याप्य वृत्ती ; अतो न व्याहातिरिति भावः। कथम्-किमर्थम्। अतान्त्विकयान्तद्नावयोस्तदधिकरणे ममापीष्टत्वात्तुक्तिर्वर्येति ${ }^{1}$ भाव: । न सा व्यर्था; ताहहााभावयोः प्रतियोगिसमसत्ताकयेरेव निवेशेन स्वान्यूनसत्ताकम्य न्बसमानाधिकरणात्यन्ताभावक्य प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वक्य सत्त्वादौ ज्ञापकत्वादित्याइयेयाह--तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपत्वेति। प्रपश्चसत्वादिमिथ्यात्वेत्यर्थः ॥

ननु-त्वन्मते प्रपश्चे सत्त्वाद्यभावस्य तात्त्विकत्वमेव युक्तम्; अन्यथा सत्त्वादेक्तत्र तात्तिकत्वापत्तेस्तत्राह--स्रूूपतो दुर्निरूपस्येति। मिथ्यामूतस्येत्यर्थः । किंचिदपि सत्त्वादिरूपमधिष्ठाना-

[^205]ननु-सत्वादिराहित्यस्यातात्चिकत्वेऽपि सच्वदेद्दुर्निरूपत्वमात्रेणानिर्वाच्यत्वे पश्नमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ 'नानिवर्वंच्योऽपि तन्क्षय' इत्यनिर्वाच्यत्वनिषेधायोगः, सत्वादिवत्तद्राहित्यस्याप्यताश्विकत्वे सच्चादौ प्रमाणनिरासेन तद्राहित्ये तदुक्तथयोगः, अविरोधाय विधिसमुच्चयस्यैवाताच्चिकत्वस्वीकारश्रेति—चेन्न; पश्रमश्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे नैतत्रितयविलक्षणत्वमात्रमनिर्वोंच्यत्वम्, किंतु मुक्तिकालानवस्थायित्वसहितम् । तथा च मुक्तिकालावस्थायिन्यामविद्यानिवृत्तावनिर्वाच्यत्वनिवेधो युज्यते। सच्वादिराहिल्ये त्ववाधितार्थविषयकभ्रमाणोक्तिर्नास्त्येन। ज्ञापकमात्रोक्तिस्तदंशेडसाधारण्यतो वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्था।

न्यस्वरूपम्। बाधावघिव्वादिनाधिम्ठानस्वरूपन्य परिरेषेऽवि तदन्यस्सत्व्वादि संस्टस्टरूपं बाध्यत्वेन न वास्तवमिति भावः। दुर्निरूपत्व-मात्रेण-चवान्यूनसत्ताकस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिव्वमान्रेण। अनिर्वाच्यत्वे—ताहश्रसत्त्वाहाश्र्रपपश्चस्यानिर्वाचच्यपदार्थत्वे। नानिवाच्योड्पीति। न सन्नासन्नापि सदसदित्यादिः। तन्क्षयः一अविधानाशः। सच्चादिवदिति। प्रपश्चेत्यादि:। तद्राहिल्ये-स₹₹्वादिराहिलेय तदुक्तथयोगः—प्रमाणोत्केरयुक्तता। स्वीकारः स्वीकारापात्तिः। युज्यत इति । नन्वनिर्वाच्यविशेषस्य मुत्तिकालान्वयेडवि क्षत्ययावाददविघ्यानिवृत्तिव्यावृत्ये विशेषणोपपादानं ठ्यर्थमिति चन्न ; अविद्यानाशस्य मुत्तिस्वरूप्व्वमतेडनिर्वाच्चय्वासंभवात्, अनिर्वाच्यसामान्यय्य तत्व्वर्षानिवर्लयख्वावरयकत्वात्। अन्यथा ज्ञाननिकर्य्यव्वरूपस्य मिध्याव्वलक्षण्त्य तश्राव्याप्मयापतेत। ज्ञापकमात्रोक्ति:-ठ्याबहारिकस्य सत्वाधभावस्यानुमानायुत्तिः । तदंशे व्यावहारिकसत्त्वाभावाघंडों ${ }^{1}$ । असाधा-

अतात्विकविधिसमुच्यापत्तिस्त्तिष्चैन। न घ्यताच्चिकसत्वासच्चे निषेधसमुच्चयेऽपि विरुछ्येते। यनु विधिसमुच्यस्यातात्विकत्वपक्षे भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादित्युक्तम, तन्न ; अतात्विकत्वादेव अ्रान्तेबाधधस्य सच्च्रतिपेधस्याप्रतिक्षेपात्सत्व्वस्याताच्विकत्वाच तदुपपत्तेः। ननु-निषेधसमुचयस्यातात्विकत्वं किमुभयातात्विकत्वाद्वा, एकैकाताच्चिकत्वाद्वा। नाद्यः; उभयतात्विकत्ववदुभयातात्चिकत्वस्यापि विरुद्वत्वात्, विधिसमुच्चयस्य तात्विकत्वापाताच, एकैकप्रतियोगितात्चिक्वत्वापत्तेरेव न द्वितीयोऽपि ; तात्विकात्यन्ताभावर्रतियोगिन एवाताच्चिकत्वादितिचेन्न; उभयातात्चिकत्वादेव निपेधसमुच्चयस्याताच्चिकत्वम्। न चोभयताच्चिकत्ववदुभयातात्विकत्वमप्येकत्र विरूद्दम् ; वल्मीकादावकत्र स्थाणुत्वपुरुपत्वयोरताचिकत्वदर्शनात् । न च

देशतद्रावस्य चातात्विकते सत्व्वादिषीर्भ्रान्तित्तददभावर्धर्बाष इति ठ्यवस्था न स्यात्, अतात्त्वकस्य तात्विका ${ }^{1}$ ावर्धीरेव बाध इल्यभिमानः । अताच्चिक्वादेव -सत्व्वद्रततात्विकत्वादेव । सत्त्वप्रतिपेधस्य—सत्व्वादिपतिषेधरूपम्य । सत्चस्य-सत्व्वदेद । अताच्विकत्वाच्च - अतात्विकर्वादेव । तदुपपत्तेः -सत्व्वादिबाधोपपत्तेः । तात्विकाभावर्धत्वं बाघत्वे तत्रं नेलसर्थः । उभया-ताच्विकत्वात्-निषेधद्वयातात्विकत्वात्। एकैकाताच्चिकत्वात् एकैकमात्रत्तात्विकत्वात् - उभयतात्विकत्व्वदिति। एकत्र धर्मिणीत्यादिः। मिथो विरद्ययोरेकधर्मिणि ताच्तिकतयेवातात्तिकतयापि
¹तातिककवा-ग.

परस्परविरहरूपयोरेकत्रोभयोरतात्विकत्वं विर्द्दम्य एकत्र तन्वादौौ घटतत्र्रागभावयोरुभयोरण्यताच्चिकत्वदर्शनात् । न च प्रतियोगितद्त्यन्ताभावर्गोरेवायं नियमः ; नियामकाभावादस्माकमसंंप्रतिपत्ते: । वस्तुतस्तु—सच्वासच्चयोर्न परस्परविरइरूपत्वम्, किंतु परस्परविरहव्याप्यतामात्रम्। न च-ताद्धापारिभाषिकसदसंद्यैलक्षण्योक्तौ नास्माकमनिष्टमिति—वाच्यम् ; सच्चमबाध्यत्वम्, असच्वं सत्चेन प्रतीत्यनहत्वव्व्, तदुभयवैलक्षण्यं च तव जगत्यंप्रत्रतिपन्नमिति कथमिष्टापत्यवकाइःः ? इश्टापत्तौ च कथं न मतक्षतिः? अत एव धंसान्नुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपनित्यत्वानित्यत्वयोः सत्तहीने सामान्यादावभाववदुत्तरावधिराहित्यं नित्य्यत्वम्, भावान्यनिवृत्तिमत्वं चानित्यत्वम्, तदुभयाभावः प्रागभाव इव श्रुक्तिरूप्यदौ

विद्यमानवं विरुद्धमिति भाइः । नियामकाभावाव्-उक्तनियमप्राहकतर्काभावात्। प्रतियोगिसमसबायिन्यत्यन्ताभावानर्जकर्कतृमते कपालादौ भाविघटादेरिदमिदानीं घटवन्न बेल्यादि ${ }^{1}$ संशयस्य दर्शानेन प्रतियोगिजद्यन्तन्ताभाबयोरप्यतात्तिकयोरेकत्र विद्यमानत्वं न विरुद्धमिल्यपि बोद्धघम् । सत्त्वमबाध्यत्वम्वमत्यादि । विवेचितमेतन्मिध्याव्वानुमाने। घंसानुपलक्षितेत्यादि । ध्वसाप्र्रातयोगिवृत्तित्वविश़ेप्रसतायोगित्वं नित्यख्वम्, घंसपतियोगिचृत्तित्वविशिष्टसत्तायोगित्वमनित्यव्व्वम, तयोः सामान्यादावभाववदित्यर्थः। उत्तरावधिराहित्यम्धंबाप्रतियोगित्वम् । भावान्यनिबृत्तिमच्चम्-मावान्या या निवृ-

मिथ्याभूते सत्वासच्च्वयोरमावः स्यादित्याहुः । उक्तसच्वासत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि परस्परविरहानात्मकत्वात्। उक्तनित्यत्वानित्यत्वनत् । ननु-इदं नित्यत्वानित्यत्वयोर्मिलितयोर्ण्यतिरेक: सामान्ये प्रागभाने चास्तीव्युक्तमयुक्तम्; नित्यत्वस्य सामान्यानुगतध्चंसाप्रतियोगित्वरूपत्वात्, अनित्यत्वस्य च प्रागभावस्यापि प्रतियोग्येव धंसंस, भावस्यैवाभावो निवृत्तिः, अभावस्य तु भाव एवेति स्वीकारात्। ध्वंसोपलक्षि-तानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपपारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्त्योरेकत्रसामान्यादौ भात्ववदेकत्र सत्त्राच्चे स्यातामित्यपि स्यादितिचेन्न ; न हि वयं हृष्टान्तमात्रेण सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र स्थितिं ज्रूमः, येन घंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपपारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र सामान्यादौ सद्रावनिदर्शंनेन सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र सत्वमुच्येत 1 किंतु प्रमाणैः सिद्धे निषेधसमुच्चये सामान्यादि ठ्यावृत्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चं दृष्टान्तयामः। एवं च सामान्याद्यनुगतत्वदुक्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चसस्याद्टष्टान्तत्वेऽपि न क्षतिः। अत एवोक्तमध्यस्ते नित्यत्वानित्यत्वयोरिव ${ }^{1}$ सत्वास₹्वयोरव्यभावौ न विरुद्दौं; धर्मिण एव कल्पितत्वेन विरुद्वयोरपि धर्मयोरभावादिति । न चैंब कल्पितस्यानित्यत्वाभ्युपगमविरोधः ; ताच्विकानित्यत्वाभावेऽपि धर्मिसमसत्ताकानि ${ }^{1}$ त्यत्वसत्चेनाक्युपगमे

[^206]$$
1 \text { येंरभावाविव. }
$$

विरोधाभावात्। न च-कल्पितत्वहेतोर्विरुद्धधमाभावरूपसाध्यस्य च भावाभावाभ्यां ठ्याघात इति—वाच्यम्; अताच्विकहेतुसन्द्रावेन तात्विकधर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावात्। अत एव स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किश्चिद्पि रूपं वास्तनं संभवतीति प्राचामुक्तिरपि सङ्जच्छते ; व्यावहारिकेणैच दुर्निरूपत्वेन हेतुना ठ्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य साधनात् । अत एव-दुर्निरूपत्वरूपहेतोर्वास्तवरूपाभावसाध्यक्य चाताच्विकत्वेऽसिद्धिबाधौ ताच्विकत्वे व्याघात इति—निरस्तम् ; धर्मिसमसत्ताकहेतुसाध्यादिसत्त्वेनासिद्धयाद्यभावात्, ताच्विकहेत्वाद्यभावाच न ठ्याघातः। स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं च कल्पितत्वमेन । एतेन-

ऽपि। अनित्यत्वस्य तात्विकत्वेनाभावसत्व्वेडपि। न च कल्पितत्वहेतोरित्यादि । कल्पितत्वेन हेतुना धर्मसामनन्यस्य ताश्विकत्वेनामावः साध्यः; तथाच कल्पितत्वहेतोः ${ }^{1}$ सवविधेयीभूतस्य धर्माभावस्य च घर्मस्य च तात्त्विकत्वेनाभावग्राहिकानुमितिः। अतस्तस्याः सवस्मिन् ₹वोपजीव्यपरामरो चाप्रामाण्यसंपादकत्वेन व्याघात इति भावः । तात्त्विकं प्रामाण्यं स्वस्मिन् म्बोपर्जीठ्ये च नास्त्येव, किन्तु व्यावहारिकम्; तदेव चोपजण्यम्, अतो न तस्या ठ्याघात इत्याशयेनाह— अतात्त्विकहेत्विति। तात्विकधमर्मभावस्य धर्मसामान्यक्य तात्त्विकव्वेनाभावस्य । ठ्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य धर्मसामन्यस्य वास्तवत्वेन व्यावहारिकाभावस्य । धर्मिसमानसत्ताकेति । ब्यावहारिकेत्यर्थः। मन्मते ${ }^{2}$ हेत्वादेरत्यन्ताभावस्य सार्वत्रिकत्वाद्यावहारिको हेत्वादिमद्भद एव पक्षादिवृत्तिरसिद्धघ।दिरिति भावः। कल्पितत्वमेवेति। बािितसत्त्वासत्त्वोभयकत्वरूपवक्ष्यमाणमिथ्यांवमेवेत्यर्थः। एतेन

$$
1 \text { कल्पितत्वे हेतो:-क. } \quad 2 \text { तन्मते-क. ग. }
$$

किमिंद स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वं वा, केनापि दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण वा, सच्वासच्वाभ्यां चा। नाद्यः ; केनापि प्रकारेण दुनिरूपत्वमित्यनेन प्रकारेण दुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वाभ्यां ठ्याघातात् । अत एव न द्वितीयः; केनापि ग्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतदन्य्यकारेण दुर्निरूपत्वस्य केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वान्यत्वात्, मिथ्यात्वादिना कल्पितस्य सुनिरूपत्वाच। न तृतीयः ; तक्य सदसद्वैलक्षण्यावास्तवत्वाहेतु-त्वादिति-निरस्तम् ; तृतीयपक्षस्य क्षोद्सहत्वाच । तथाहिसत्त्वासत्वाभ्यां दुर्निरूपत्वं हि बाधिततदूयकत्वम्, तच्च धर्मविशिष्टधर्म्यताच्विकत्वे हेतुः ; तथाच सदसद्वैलक्ष्ण्यमपि धर्मस्तदताच्विकत्वे कथं न हेतुः स्यात् । नचैवं-कल्पितस्य द्वइयादृइयनाध्याबाध्यदुर्निरूपसुनिरूपत्वादिबहिर्मावोऽपि स्या-दिति-वाच्यम्; तात्विकद्टइयत्वाद्यरोषधर्मबहिभान्वस्य कल्पिते दृष्टत्वात् । अतात्विकस्य हइयत्वादेवर्यावहारिकग्रमाणै: र्यथादुर्निरूपत्वहेतु कस्य धर्माभावानुमानस्य सम्भवेन । सदसद्वै-
लर्षण्यावास्तवत्वेत्यादि। सदसत्वाम्यां दुर्निरूपत्वं स्वाधिकरणस्या-
वास्तवत्वसाधकं, न तु स्वसमानाधिकरणस्य सदसद्वैलक्षण्यादिधर्म-
स्येत्यभिमानः । अतात्विकत्वे हेतुरिति । धर्मविशिष्टो धर्मी बाध्य:, ${ }^{1}$ दुर्निरूपत्वादित्यनुमानाद्विशिष्टस्य बाध्यतासिद्धिः। अथवाधर्मी बाध्यो ${ }^{2}$ sबाध्यत्वेन घर्मसामान्यम्याभाववांश्श, दुर्निरूपत्वादित्यनुमानात्तस्सिद्धि: । वस्तुतो दरयत्वादिना धर्मिणां घर्माणं चोक्तदुर्निरूपत्वस्य सिद्धिरविशोषात्तेन च बाध्यत्वसिद्धि|रैत्यापे सम्भवतितित भावः। तात्विकद्टइत्वाद्यशोषधर्मबहिर्मावस्य । हशयत्वादे-

[^207]यथमझ्ञीकृतस्यैवमप्यविरोधात्। अद्रइयत्वादिकं तु व्यावहारिकं नास्त्येव। प्रातिभासिकं चैचदद्यङ्जीकर्म एव। एवंच तार्किकमते संयोगतद्भावयोरिव भद्टमते भेदाभद्योरिव सत्चासत्त्वाभावयोरप्यविरोध एव । नचैवं-सत्वासत्त्वयोरपि तद्वदेवाविरोधः स्यादिति—वाच्यम् ; अतात्त्विकयोरविरोधे इष्टापत्तेः, निषेधसमुच्चयस्यापि तात्विकस्यानङ़ीकारेण तत्साम्येन विधिसमुच्यस्य ताच्विकस्यापाद्यितुमशक्यत्वात् । न च ताच्चिकसंयोगतद भावनिदर्शानवलात्तदापादनीयम् ; दृष्टान्तेऽपि ताच्विकत्वासम्प्रतिपत्तेः । ननु-अनिर्वाच्यत्वं सत्वासत्व्वादिना विचारासहत्वम्, तच न तावत्सच्वाद्यनधिकरणत्वम्; असतो ज्रह्मणश्व निर्धर्मकरंवन तत्रातिठ्यापेः। न च—काल्पितसन्वाधिकरणत्वं ब्रह्नण्यपीति—वाच्यम्; तस्य जगत्यपि विद्यमानत्वेन तत्राव्याप्तेः । नापि सत्त्राद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्, निर्धर्मकबह्नणः सच्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन तुच्छेऽप्यसच्ववत्तद त्यन्ताभावस्याप्यभावेन कथंचिदतिव्यापितनेरासेऽपि तुच्छन्नह्मणोर्निर्धर्मकत्वेन धर्मवत्वादेरेवानिर्वाच्यत्वलक्षणत्वापातात्, निर्विशेषश्रुत्यापि ठ्याघातेन धर्ममात्रनिषेधायोगेन ब्रह्मणि सत्वराहित्ये तदत्यन्ताभावस्य दुर्वारत्वात् । नापि सदूपत्वाद्यभावः ; श्रह्मणस्सत्वाभावे सदूपत्वाभावेन तत्रातिठ्याप्तः । नापि सत्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम् ; बह्म-

स्तात्विकत्वेनाभावस्य । तार्किकमत इत्यादि प्रमाणसिद्धत्वंंशो दृष्टान्तः । तदापादनीयम् । विधिसमुच्चयतात्विकत्वमापादर्नयम् । निर्धर्मकत्वेन तन्रातिठ्यास्षेरिति। भावरूपघर्माभावेऽड्यभावरूपघर्मसत्वादतिठयापिरिति भावः । कथंचिदिति यदुक्तं तत्कुुटयतिनिर्विशोषश्रुत्येति। निषेधायोगेन अभावबोघनायोगेन। सत्व्वादे-

व्यपि सत्वस्येत्थमिति निर्वक्णमशक्यत्वाप् । नापि सत्त्वादिना भ्रमाणागोचरत्वम् ; अखण्डार्थनिष्वेदेन्तैकवेद्यव्नह्मणोडपपि सत्व्वादिप्रकारकप्रमाणागोचरत्वादिति-चेन्न ; सत्वादिना विचारासहत्वं सत्व्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम् । न चातिठ्यासि: ; घह्माणि सत्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावात् अन्यथा निर्विशोषत्वादिश्रुतिविरोधापत्त्र: । न च निर्विशेषत्वरूपविशेषसत्वासच्वाभ्यां ठ्याघातेन श्रुतिरन्यपरा; विशोपन्य कल्पितत्वेन तदभावासच्वेन तत्सत्व्वाभावेन ठ्याधाताभावात्, स्वाघगजतदभाववत् । अत एव-सत्व्वराहित्येऽपि तदत्यन्ताभाव आवइयक—इत्यपास्तम् । नन्वेवं-विशोषवत्वं धर्मवत्वंव वा अनिर्वाच्यत्वमस्त्विति--चेन्न; आस्तां तावदयं युहुदुपदेशः ; उक्तलक्षणस्य निष्पन्नत्वात्। यद्वा-सत्त्वादिना रित्थमिम्यादि । निर्बकुकशक्यसत्व्वादिकत्वमिल्यर्थः । सत्वाभावो
 वत्तद त्यन्ताभाबस्याप्यभावादिति। तथाच वक्ष्यमाणरीत्या धर्म ${ }^{1}-$ समानसत्ताकालन्ताभावो लक्षणमनतिव्यापमिंति भाव:। समाघते विशेषस्य कल्पिपत्वेनेति । विशेषसामन्यғ्य कल्पितत्वेनेत्यर्थः। तदभावासत्वेन विशेषाभावरूपस्य विशेषस्याव्यसत्वेन। तत्सत्वाभावेन व्याघाताभावात् निर्विऐोष्वम्यासत्त्वेन यो ठ्याघातस्तन्यासम्भवात्। बिशोष्तद्वावयोरेकत्र कश्पितत्वे दृष्तन्तमाह-स्वामेति। अत एव जह्माणि विद्यमानस्य सत्त्वाभावादेर्मिथ्यात्वेन ज्रस्वण्यावादेव। तदत्यन्ताभावः घर्मिसमानसत्ताकस्तदल्यन्ताभावः । आवइयकः घ्रद्सण्यावइयकः। एवं घर्मिसमानसत्ताकव्वविशेषणावइयकवं। निष्पन्नत्वादिति। न च सत्ताद्यभावव्वं ठरर्थमिति -बाच्यम् ; धर्मिसमान-

विचारासहत्वं सदूपत्वाद्यभावः । सत्त्वरूपधर्माभावेऽपि यथा ब्रह्मणः सदूपत्वं तथापपादितमधस्तात्। अतो न तत्रातिव्यासिः। न चैंब—सदात्मके श्रह्मणि औतससत्यपदादौ लाक्षणिकत्वं न स्यादिति-वाच्यम् ; सत्त्वधर्मविशिष्टवाचकस्य तस्य निर्धर्मके लक्षणाया आवइयकत्वात्। न हि निर्धर्मकस्वरूपवाचकत्वं कस्यचिद्यि पदस्यास्ति। ननु—सच्चादिराहित्यमताच्चिकमपि न तावत्र्रातिभासिकम् ; रूप्यप्रपश्नयोर्वह्म्नत्पारमार्थिकत्वापत्तेः । नापि धर्मिसमसत्ताकम् ; बाधबोध्यक्य भ्रान्तिसिद्धेन साक्यायोगात्। नापि व्यावहारिकम्; जगति व्यावहारिकत्वे रूप्ये प्रातिभासिकत्वे चोक्तदोषात्, रूप्ये व्यावहारिकत्वे च जगति पारमातर्थैकत्वापातेनाद्वैतहानिरिति -चेन्न ; धर्मिसमसत्ताकस्यैव सत्त्वादिविरहस्येष्टत्वात् । न च बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन

सत्ताकत्वसम्बन्धेन सत्ताभावादेरेक्षणत्वसम्भवात्। तद्वयक्तित्वेनाभावस्य लक्षणत्वेन सत्तादिप्रतियोगिकत्वाविशोषणवैयर्थ्यश्राक्कानवकाशात्। वस्तुतो मन्मते लक्षणवाक्यस्येतरण्यावृत्ताखण्डार्थतया प्रमाणत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेन वैयर्थ्यशाक्काया नावकाशः । तथोपपादितमिति । सदाकारप्रतीतौ सर्वानुगतमेकं ज्रह्सैव सदूपं विषये, नान्यदननुगतत्वादित्याद्युक्तामित्यर्थः। अधस्तात् मिथ्यात्वानुमाने। कस्यचिदिति । आकाशादिपदस्यापि शुद्धण्यक्तौ शाक्तिर्न सर्वसम्मतेति भावः। यद्यपि विशिष्टवाचकस्य शुद्धेडीि शाक्तिसत्वात्तत्र न लक्षणा। अत एव पश्वादिपदस्य लोमवल्झाङ्कूलवच्छक्तस्य लाक्रूलवत्त्वमांत्रेण बोधकवं लक्षणां विनैव। अत एव चानुकूलयत्नशक्तस्यारुयातस्यनुनूक्रमात्रबोघकत्वं लक्षणां विनैवेति कुसुमाइ्ञल्यादावुक्तम्, तथापि विशिष्टबोधकत्वस्यौत्सर्गिकस्य बाघेन शुद्धबोघकत्वस्थलेडपि लक्षणेति व्यपदेशो, न तु लक्षणेति पूर्वोक्तमिहानुसन्धेयम् । इष्टत्वात् लक्षणत्वनेष्टेत्वात्।

साध्यायोगः ; बाधस्याधिष्ठानमात्रगोचरत्वेन रूप्यवत्तत्सत्वविरहस्यापि साक्षिसिद्धतया बाधबोध्यत्वाभावात्। नचैवं सत्वप्रताितिविरोधः ; अताचिविकस्य तस्याप्यङ्गीकारात्। न चैवंतात्त्विकसत्व्वविरहसैये लक्षणत्वपर्यव्रसानम्; तात्विकत्वं चाबाध्यत्वम्, तथाच बाध्यत्वमेव लक्षणमास्तिवति-वाच्यम्; बाध्यत्वस्यान्यविशेषणत्वेनोपात्तस्य लक्ष्ये धर्मिण्यनन्वयेन तन्मात्रमुपादायेतरवैयथ्थ्यक्य वक्तुमशाक्यत्वात् । न च—श्रुत्या युक्तथा च मेदं निराकुर्वता कथं सद्सन्द्रिन्नत्वरूपं तद्वयाप्तं वाऽनिर्वाच्यं समर्थ्यत इति वाच्यम् ; मा विषीद् ; अतात्विकस्यैन तक्य समर्थनात्। बाध्यत्वं तु मिथ्यात्वनिरूपणसमय एव निरुपितम्। तस्मान्न शुक्तिरूप्यप्रपश्वसाधारणानिर्वच्यत्वलक्षणनानुपपत्तिः ॥ इत्यद्वैतसिद्दावर्वर्वाच्यत्वलक्षणम् ॥

बाधबेधध्यत्वाभावादिति। ननु—रूप्यं नास्ति रूप्ये सत्ष्वं नास्तीति बाघबोध्य एव रूप्ये सत्त्वाभाव इति-चेद्र्रान्तोऽसि; याहशविषयकत्वेन भ्रममूल।ज्ञाननाशकत्त्वरूपा बाधकता, ताद्हास्थैन भ्रान्तिसिद्धवैलक्षण्यं वाच्यम् ; अन्यथा रूप्यादेरष्युक्तविषयत्वेन विरोधात्। तथाच सत्त्वाभावादिलिषयकत्वे नोक्तबाधत।, किंत्वधिष्ठानविषयकत्वेनेति न दोषः । वक्रुमशाक्यत्वादिति । धूमप्रागभावे धूमत्वस्येव भिन्नघर्मिकत्वेन बाध्य[ता]त्वं नेतरैवैयर्थ्यसम्पादकमिति भावः। निरूपितम् । स्वाश्रयनिष्ठठ्याव्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिरूपत्वेन विवेचितम् ॥ तरैक: सारसवतै रतैै्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्वान्तभझाय अनिर्वाच्यत्वलक्षणम् ॥


$$
1 \text { बाधाविरोधात्-ग. } 2 \text { कवेन-क. ग. }
$$

## अथाऽविद्याडSद्यनिर्वाच्यत्वे प्रत्यक्षानुमानपमाणनिरूपणम .

प्रमाणं च प्रत्यक्षानुमानागमार्थापत्तयः। प्रत्यक्षं तावत् 'मिथ्यैव रजतमभात्' इल्यादि। न च मिथ्याइाब्दोडसत्पर्यायः; वक्ष्यमाणयुक्तथा नृभ्षॄ्नादिसाधारणासत्च्चस्य ख्यायमानरूप्यादौ वत्तुमशक्यत्वात् । न चैतावन्तं कालमसदेव रजतमभादित्यनुमवविरोधः ; अनिर्वाच्ययत्वैकदेशसस्च्वन्यतिरेकविषयत्वेनैवोपपत्तेः। नचैवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ं $\overline{\text { ह ' }}$ ' त्यत्रापि सत्यमित्यस्यासत्वव्यतिरेकविषयतयैवोपपात्चिः ; अह्माणि सद्रूपतायाः प्रागुपपादितत्वेन तस्यासत्व्व््यतिरेकविषयत्वकल्पनाया अनुचितत्वात् । तथाच वह्नणि सत्र्रत्ययस्य रूप्येडसत्प्रत्ययस्य च सत्वासत्व्वयोर्बाधकासत्त्वतत्सत्च्वभ्यां विशेषेण न प्रसङ्ञसाम्यम्।। अनुमानं च 'विमतं' सच्चरहितत्वे सत्यसच्चरहितत्वे सति सच्चासच्वरहितम्, बाध्यत्वाद्दोप्रयुक्तभानत्वाद्वा, यन्नैंं तनैवं यथा बह्न । न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम् ; सच्वासत्वे,

अथाऽविद्याद्यनिर्वाच्यत्वे प्रत्यक्षाडन्नुमानप्रमणणानरूपणम्.
प्रत्यक्षानुमानेत्यादि । अभावस्य प्यक्षत्ववादिनं प्रति प्रत्यक्षेत्युक्तम् । तस्यानुपलठघ्वव्वादिनं प्रति त्वभावघटितमिथ्यात्वेडनुपलधच्यनुमानाघेन मानं बोध्यम् । ख्यायमानरूप्यादौ। प्रत्यक्षरूप्यद्यौ। न प्रसङ्गसाम्यामिति। सत्वदम्यासत्वाभाववदर्थकले रक्षणापतिः ; अबाध्य एव तच्छक्तेः, असत्पदन्य्य तु सदन्यार्थकत्वे न लक्षणेत्यवि बोध्यम्। अप्रसिद्दूविशोषणत्वम्-सत्व्वाभाबसमानाधिकरणस्यासत्व्वाभावस्य सदसत्त्वरहितत्वांशे विशेषणस्याप्रसिद्दिः।

समानाधिकरणात्यन्तामावप्रतियोगिनी, धर्मत्वादूपरसवत्, सच्वमसच्च्चानधिकरणानिष्ठम् , असच्त्वं वा सच्चानधिकरणानिष्ठम् ; धर्मत्वादूपवत्' इति सामान्यतस्तत्सिद्धे: । न च साध्यैकदेशासिद्धघा अंशतः सिद्धसाधनम् ; 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम्, समानाधिकृतत्वात्' इत्यत्रेव सिषाधयिषाबहुलेन सिद्धसाधनविरहस्योपपादितत्वात् । न च—सत्त्वासत्व्वयेः परस्परविरहरूपतया साध्यं व्याहतमिति—वाच्यम् ; अतात्चिकत्वेन परस्परविरहानात्मकत्वेन च समाहितत्वात्। भेद्स्य ताच्चिकस्यैच निरसिष्यमाणत्वेन न तेन विरोधः । न च जह्सवत्सत्वराहित्येऽपि सदूपत्वेनानिर्वाच्यत्वाभावोपपन्या अर्थान्तरम् ; सच्चरहितस्य प्रपश्वस्य सद्वपत्वे मानाभावेन बाधात्। ज्रह्सणि च शून्यतापत्तिरेव सदूपत्वे प्रमाणम् । न च- 'विमतं सदसदात्मकम्, वाध्यत्वात्, व्यतिरेकेण जह्नवत्' इत्याभाससमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी—मिथ समानाधिकरणौ यावत्यन्ताभावौ तः्रतियोगेनी। धर्मत्वात् धर्मद्रयत्वात् ${ }^{1}$ । असत्वानधिकरणानिष्ठं असदन्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकम्, सदन्यत्त्वे सत्यसदन्यत्त्वे सति सद्सदन्यत् ${ }^{2}$ बाध्यत्वादित्यनुमाने विशेषणप्रसिद्धयर्थममिदं बोध्यम्। सिषाधगिषाबलेन एकढेशसिद्धावपि समुदितस्यासिद्धम्य सिद्धेरुद्द्इयत्वबलेन । ननु—सद्भेदादिघटितसाध्यकानुमानष्याधातः, त्वन्मते भेदानिरासातत्राह — मेद्स्येति ।

1 'यदापि मिथ समानाधिकरणाल्यन्ताभावकत्वं न दृथान्तसाधारणमनुगतम , कि तु . . ल्यन्ताभ|वद्वयत्वरूपम् : तथापि सत्यत्वमसत्त्वाल्यन्ताभावसमानाधिकरणा . . . . . . . . योगिधर्मत्वात् . रूपवंदल्यनुमाने’ इति गपुस्तके अधिक: पाठो दइयते, ${ }^{2}$ सदन्ल्यत्व साति सद सदन्यत्-ख.

साक्यम्; ' विमतमसत्, सच्वानधिकरणत्वत्, नृश्दाध्वत्' इति सत्प्रतिपक्षश्षेति - वाच्यम् ; र्यातिबाधान्यथानुपपत्तिलक्षणविपक्षबाधकतर्कस्य चक्ष्य्याणत्वेनाभाससाक्यसत्र्रतिपक्षयोर भावात्। नचासदेव रजत्मभादिति प्रत्यक्षवाधः ; असदित्यस्य सत्च्वाभावविषयकत्वस्येकत्तात्, अन्यथा र्यात्यनुपपत्तेः। अत एव मिथ्याराबद्रोडप्यसत्पर्गयय इति-निरस्तम्। न चैवं ब्रह्मण्यपि सत्वाभावेनासदिति बुद्धि: स्यात् ; निर्धर्मके सत्व्वरूपधर्माभावविष्रयकग्रतीतेरिष्टत्वात् ; तुच्छत्वविषयकप्रतीतेरापाद काभावात् । न चैवमसत्त्वाभावेन जगति सदिति प्रतीत्यापत्तिः ; इष्टापत्तेः। न च— नृशृङ्भासत्वनुद्बितो नास्या बैलक्ष्ण्यमनुभूयत इति वाच्यम् ; एतावता तस्या अपि सच्वराहिल्यविषयकत्वमस्तु, न तु तदनुरोधेनैतस्यास्तुच्छत्वत्विषयकत्वम् ; तुच्छत्वे अत्र बाधकसच्चात् ; समानाकारप्रतीत्योरपि विचित्रविषयकत्वस्य प्रागेव दीर्शितत्वाच ।।

गत्तु- 'सत्वासच्चविकल्पेष्वाद्यद्वितीययेर्जगति स₹्वराहित्यांशो, रूप्यादावसत्बराहित्यांशे, तृतीयचतुर्थयोरुमयत्राप्य-

र्यात्यनुपपत्तेः। पत्यक्षानुपपत्तेः। समानाकारप्रतीत्योः।समानशब्दोल्डिर्यमानबुद्धयोः। सत्च्चासत्त्वविकल्पेषिवति। सत्वंत्वावत् 'सत्ताजातिर्वा, अर्थक्रियाकारित्वं वा, अबाध्यत्वं वा, प्रामाणिकतंवं वा, अशून्यत्वं वा, ज्रह्मत्वं वा पराझीकृतं वा' इति पूर्वोक्तविकलेप्वित्यर्थः। सत्व्वराहित्यांशा इति । बाध इत्यग्रेऽन्वयः। एवमन्यत्रापि । असत्त्वराहित्यांश इति। सत्ताजातेरर्थक्कियाकारित्वस्य चासत्त्वाभावत्वेन तयो रूप्यादौं बाध इल्यभिमानः । वस्तुतः प्रातीतिकेऽपि तयोः संभवस्योक्तत्वान्नेदं परोक्तं युक्तम्। तृतीयचतुर्थयोारिति। अबाध्यत्व-

सत्व्वराहित्यांशे, पश्नमे तूभयत्र सच्वराहित्यांशे, सपमे $\overrightarrow{य ु}^{3}-$ न्यायेनोभयत्राप्यसत्व्वराहित्यांशे, एवमेवावाध्यत्वगून्यत्वे प्रामाणिकत्वशून्यत्वे च पक्षे बाधाः, षष्ठे त्ववाध्यत्वरूपसत्चेनाण्युपपत्य्या अर्थान्तर'—इति-तन्न ; पृर्वोक्तासत्वमादायांशतो बाधसिद्बसाधनादेः परिहृतत्वात् ॥

ननु-साध्यप्रसिद्वूचर्थानुमाने सत्त्वसत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्पराल्यन्ताभावत्वात्, घटत्वाघटत्ववत्, असत्व्वम् सत्त्वानधिकरणानिष्ठ न, तत्प्रतिषधरूपत्वात्, यथा अनित्यत्वं नित्यत्वानधिकरणानिष्टं

प्रामाणिकत्वयोः सत्त्वरूपप्वे तदभावये|रसत्व्वरूपयोास्क्न्मते प्रपश्वरूप्ययोः सत्त्वात्तदभावांशे तढुभयन्र बाध इति भावः । सत्रमे असत्वाभावरूपं सत्ष्वमिति पराझ्ज़कृतवक्षे । उत्कन्यायेन सत्व. निषेषे सत्व्वाभावरुपासत्व्वमावइयकमिति न्यायेन । अबाध्यत्वशून्यत्वे । तृतीयपक्षरूपसत्व्वस्याभाबांशे । प्रमाणिकत्वगून्यत्वे चतुर्थपक्षरुपस्त्वस्याभावांशे। मन्मत इति छेषः। पक्षे जगति। पूर्वोक्तासत्त्वम्। पराभ्युपगतं सत्वेन पर्तात्यनर्हत्वरूपं वाइसत्त्वन्। सच्चासत्त्वे इत्यादि । सत्त्वमसत्व्वा्यन्ताभाववन्न्राप्यन्ताभावाप्रतियोगि, असत्त्वान्यन्ताभावत्वात्, यो यदत्यन्ताभावः स्र तदत्यन्ताभाववन्निष्ठाल्यन्ताभावाप्रतियोगी, यथा घटवस्याल्यन्ताभावोऽघटत्वं घटत्वात्यम्ताभाववन्निष्ठान्यन्तामावप्रतियोगीट्यर्थः। असत्त्वमित्यादि। असच्यं सत्व्वानधिकरणनिष्ठभेदप्रतियागितानवच्छेदकम्, सत्वात्यन्ताभावव्वात्, यो यदत्यन्ताभावः स तदनधिकरणनिक्षेददर्रतियेगितानवच्छेदकः, यथा नित्यत्वाभावो निल्यंख्वानघिकगणनिष्ठभेद्वतियोगितानव-

न एंं सच्त्वमपि पक्षीकुत्य प्रयेक्तव्यमिति सत्र्रतिपक्षता, परस्परविरहानात्मकत्वं चोपाधिरिति -चेन्म; सत्वासत्वयो: परस्पराविरहानात्मकत्वस्योक्तत्वेन हेतोरसिद्धत्वात् ; उपाधेः साधनठ्यापकत्वाच ; र्यातिबाधान्यथानुपपत्या विपक्षबाधकतर्केण उपाधिसत्प्रतिपक्षयोरनवकाशात् । गत्तु—नित्यानित्यत्वद्वष्टन्ते साधनवैकल्यमुक्तम् ; तदयुक्तम् ; परेण धवंसाप्रतियोगित्वतत्र्रतियोगित्वयोः परस्परिरहरूपयेर्नित्यत्बानित्यत्वयोः सत्रिध एवोक्तेः। यत्तु--'घटत्वाघटत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वादूपरसवत् ; कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वादूपचत्, हति चाभाससाम्यम्; सद्विलक्ष्षणत्वास-द्विलक्षणत्वकल्पितत्वाकल्पितत्वद्चइयत्वाद्टइयत्वसुानिरूपत्वदुार्निरूपत्वादौं प्रथमस्य द्वितीयतृतीययोर्यथाक्रममसद्वैलक्षण्ये सद्वैल-

नित्यत्वयोध्ध्र्नसानुपलक्षितोपलक्षितसत्तारूपत्वेनैकाश्रयमिन्नेऽपराश्रयभेद संभवः, विनाशिसद्भिने सामान्यादावविनाशिसदेभेदस₹्वादिति——ाच्य-



क्षण्ये च त्रिण्वपि क्ञेयत्वन्यवहार्यव्वादौ व्यभिचारशेति; तन्व; ‘क्षितिः सकर्तका, कार्य्व्वात, घटबत' इल्यनुमाने ‘अदुरुः (न) सकर्तकः, कार्येत्वावं' इत्याभाससाम्पम कुरादद्धी व्यमिचारो वा यथा न दोष:, तथा धमल्वेन हेतुना समानापिकरणाभावश्रतियोगित्वं साधयतो मम बटत्वाघटत्वादौौसाघ्यसत्वेन व्यभिचाराभावाद्बदोगश्यानाभासत्वाए। न ह्यविर्द्धधर्मत्वादिकं ताद्काध्यसत्वे पयोजकम्, किन्तु धमंत्वमात्रम।न हि दुगत्वादिधर्माणां कुताप्यभागासम्भवः। तदुक्तम्-‘न हि सरूपतो दुर्निरूपष्य किश्रिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति' इति। अत एवात्यन्ताभावर्रतियोगित्वेजपि न व्यभिचारः। न चात्मनिक्षाल्यन्ताभावश्रतियोगित्वेनार्थान्नरम्; आत्मनो निर्ष्घक्वत्वेनायन्तनाभावस्पाप्यमावात् ; अनात्मनिष्ठल्वेन विश्रेणाद्धा। न चैंं ‘कल्पिपत्वमकल्पिप्वानधिकरणानात्मनिष्ठाय्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिकात्यन्ताभावश्रतिगित्वाव्, अकल्पतत्ववन' हल्याभाससाम्वम् ; अन्याः प्रसकें. रिश्वृ्वाइ। मिथ्यात्वे यथा मिथ्यात्वसाधकहुयन्वादेने व्याभचार:, तथाइस्यापि वादिविशोषे प्रत्येकदेशसापनेन साष्याप्रसिद्विशक्राजपि। तथाहि-सत्र्यातिकादिनें प्रति 'असद्विक्षणं करणानिष्वसाए्यक्योर्कानुमानयोः। न दोप इ़ति। तस्प क्षसमत्वादिति शेषषः। अर्थन्नरममिति। सच्वगून्यनिषात्यन्ताभावपतियोगित्वमादायोंत्रनुमानेड्यान्तरमिति माबः। अल्यन्ताभाकस्येति। आत्मनि विघमानस्पापीति ऐोष:। तथाचासन्वादिग़्ये बतरते तस्समसत्ताको योड्यन्ताभावस्तव्रतियोगित्बन्य सत्वादौौ साघ्यन्वान्वार्थन्तरमिति मावः। अस्यापि। अनातननिषायन्ताभावपतियोगिलहेतोरपि। बादिविशेषमिति। वस्हुत इलादिः। सत्र्यातिवादिनें। शपस्षसच्वादिनमे।

विमतं सद्विलक्षणम्, बाध्यत्वात्, गुक्तिरजतसंसर्गवत् ; असत्र्यातिवादिनं प्रति सद्विलक्षणं विमतम्, असद्विलक्षणम्, अपरोक्षघीविषयत्वात्, घटवत्। पक्षधर्मताबलादानिर्वचनीयत्वसिद्धि:। यथा च न सिद्धसाधनव्याघातादिकं तथोक्तमधस्तात् । एवं प्रपश्ननिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्वं, सत्वासत्वोभयवृत्ति, प्रपश्वनिष्ठठ्यतिरेकम्रतियोगिमात्रवृत्तित्वात्, व्यवहार्यत्ववत्; सदसदुभयवृत्तित्वं प्रपश्वनिष्ठष्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्ति, सत्त्वासत्वोंभयवहृत्त्यशेषवृत्तित्वात्, भेद्रतियोगित्ववत्। अप्रयोजकत्वमनुकूलतर्कोक्त्या निरसिष्यते। तस्मादनुमानमत्र मानम् ॥

इत्यद्वैतसिद्दौ अनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम्.

असत्ख्यातिवादिनं प्रपश्चाळीकत्ववादिनम्। 'नैकदा त्रयाणां विवाद इति न्यायेन दूगोरेव विवादादैकैकं प्रत्येवानुमानं वाच्यम्। तत्र चाभावदूयनिवेझो प्रयोजनाभाव इति भावः। सर्वन्प्रत्येकमेवानुमानमुच्यताम् ; तथापि न विशोषणाप्रसिद्धिरित्याइायेनाह —एवमिति। प्रतियोगित्ववदिति। प्रपश्चः सत्व्वासत्त्वोभयाभाववान्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरुप्यवदित्याद्यपि बोध्यम् II

> तर्कै: सारस्वतै रतैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः ।
> दुरन्तध्वान्तनाशायाऽनिर्वाच्यत्वानुमेयता ॥

इलद्देतसिद्धिव्याख्यायां गुरुचन्द्रिकायामनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम् ॥

## अथाSविद्याSSड्यनिर्वचनीगत्वे रर्थापनि-

## प्रमाणनिरूपणम .

अर्थापत्तिरपि ख्यातिबाधान्यथानुपपन्यादिर्यापा तत्र प्रमाणम्। तथाहि—विमतं रूप्यादि सचेन्न बाध्येत, असचेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽणि, तस्मात्सदसद्विलक्षणत्वादानिर्वचनीयम्। ननु सत्ताजात्यर्थक्रियाकारित्वादिकमनङ्गीकारपराहतम्, त्वन्मते ठ्यभिचारि च। न च व्यवहारद शाडवाध्यत्वमापाद्यम् ; तथा सति ‘नेह नाना' इति श्रौतनिषेधेन ठ्यवहारदशायामबाध्यस्य जगतोऽनिर्वचनीयत्वासिद्विप्रसङ्नात् ; यौक्तिकबाधस्य ठ्यवहारद्शायामपि दर्शीनाच अबाध्यत्वरूपं सत्वमापाद्याविशिष्टम् ; प्रमाणिकत्वं तु न्नह्मनिष्टनिर्विशेषत्वादौं तच्चावेद्कश्रुतिवेद्ये त्रह्मभिन्नतया बाध्ये व्यभिचारीति सच्वानिरुक्ति:अथागविद्याडड्यनिर्वचनीयत्वेज्र्थापत्तिप्रमाणनिरूपणणम्. अर्थपपत्तेर्विषयपरिशोधकं तर्कमहह—तथा हीत्यादि। विपयंयानुमाने हेतोः पक्षधर्मतामाह-बाध्यते प्रतीयतेऽपीति। तस्मात्

चारीति। रूप्यादौौ प्रपश्चे चेत्यादिः। प्रपश्चे ठ्यभिचाराभावं राङ्कते— न चेति। प्रसङ्ञादिति। प्रपश्चे श्रुत्यादिना ठ्यवहारकालाबधध्यत्वस्येष्टत्वेन तदापत्त्यसम्भवात्सत्त्वाभावस्य विपर्ययानुमानासम्भवेन सत्त्वाभावादिघटितस्यानिर्वचनीयत्वस्यासिद्दिपसङ्ज इति भावः । यौक्तिकबाधस्य किंचिद्इइये यौक्तिकमिथ्यात्वनिश्चयस्य। ठ्यवहारद्शायां सर्वदृइयमिथ्यात्वानिश्ययद्शायाम् । नह्मभिन्नतया बाध्य इति।

$$
1 \text { दनं-क. क. ग. }
$$

इति; मैवप् ; सत्चं ह्यत्र प्रामाणिकत्वम्। प्रमाणत्वं च तच्चावेदकत्वम्। तच रक्षणया शुद्दव्रद्तबोधकवेदान्तवाक्ये। न तु निर्विंशष्त्वादिधर्मप्रतिपादके, अतो न तत्र व्यभिचारः। न च-स्वतः प्रकाइमाने बह्मणि चिन्मात्रे वैयर्थ्येन प्रमाणाप्रवृत्या प्रामाणिकत्वाबाध्यत्वयोर्व्याप्तिग्रहे न स्यात्। प्रत्युत ब्रह्मभिन्न एव प्रामाणिकत्वसत्वेन तन्य बाध्यत्वेनैव सह व्यात्तिः स्यादिति-वाच्यम् ; इद्यणः स्वप्रकाशत्वेजपि व्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवृत्य्यर्थ प्रमाणप्रवृतेत्रे सफलत्वात्। अत एव न बाध्रत्वेन सह प्रामाणिकत्वस्य व्याप्तिः ; वह्साणि व्यभिचाराद्विरोधाच । न हि तत्त्वमावेदयता बेद्यमतत्त्व नाम। ननु-रूप्यादिवाधकस्य तत्त्वावेदकत्वे अद्दैतहानिः; अतत्त्वावेदकत्वे तन्निबन्धनं रूप्यदेर्रामाणिकत्वं न स्यादिति—चेन्न बाधकस्यातच्वावेदकत्वेडपि रूपाद्यम्रामाणिकत्वे प्रयोजकतैव; बाध्यान्यूनसत्ताकत्वस्यैव बाधकत्वे तन्त्रत्वात। अत एवातच्वावेद्कन्यावहरिक्रमाणबाधितस्यापि रूप्यदेरद्रैतवत्त्वतः प्रामाप्यश्युक्तपारमार्थिकत्वमस्तु । न चास्य तत्व्वाेदकाद्दैतभुतिबाघः त तस्या भेदक्रुतिवत्प्रत्यक्षप्राप्रव्यावहारिकरूप्यनिषेधानु-बादितयोपपत्तेरिति-निरस्तम् ; अधिकरणानात्मकत्वपक्षे द्वैतनिषेधस्यापि व्यावहारिकत्वोपपादनाच्च ।
तंत्वववेवदकवेद्यत्वं बाध्यस्यावीत्यभिमानः। प्रामाणिकत्वं प्रमाणुुख्यतात्रर्यविषयत्वम् । तत्वावेदकत्वं-अबाध्यविषयकत्वम् ${ }^{1}$ । न तु निर्विंशप्व्वादिति। ‘केवलो निर्गुणः' इत्यादिश्रुतेरेवन्तरतात्वर्पेण निर्विशेष्व्वादिबोधकव्वं, न तु मुख्यतात्पर्येणेति भावः। तत्त्वं अबाध्यम्। अद्दैतवत्-द्दैतनिषेधवत् । स्वतः प्रामाण्येत्यादौ हेतुमाहअतत्वावेदकेत्यादि । तन्निषेधस्य हैद्वतिषेषस्य। उपपादनादिति। ${ }^{1}$ विषयत्व-क. ग.

केचितु-सदित्यसत एव विलक्षणामेह विवक्षितम्, न च-असत एवेत्यवधारणस्य सदसद्दिलक्षणं न चेदित्यर्थपर्यवसानेन प्रतियोग्यप्रसिद्धूचा आपादकाप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्; प्रतियोगिप्रसिद्देरनुमानेन प्रागेत्र साधितत्गात्। न च सदसद्विलक्षणं न चेदित्यत्र सत् किमिति पूर्वविकल्पप्पसरः, प्रामाणिकत्वरूपस्त्वे दोपानवकाशात् । न च बाधेनैवानिर्वाच्यत्वसिद्धाचा ख्यात्युक्तचयोगः ; तस्या अर्थापच्यन्तरत्वात्, आकरे एकत्वोक्तिस्तु प्रयोजनैक्यादिति कणठतस्तात्पर्यतश्रेति-अनुः ॥ यद्वा-अबाध्यत्वमेव संत्वम् ; न च तर्द्यपाद्यावैगिप्ृथम्, अवाध्यत्वं हि तैकालिकनिपेधाप्रतियोगिग्वम्य । तेन च विपरीतप्रमाविषयत्वामाव आपाद्यत इति नापाद्यावैशिष्टच्वम्। ठ्यवहारस्यापाद्यत्वेन वा नापाद्यावैशिष्चच्यम् न च—बाध्य-
न्यूनसत्ताकख्वस्य बाधकत्वामावे तत्रव्वो्कयोपपादनस्य मिध्यात्वानुमानप्रस्तावे कृतत्वादिल्यर्थः। तथाच द्वैतांनेघघस्येव रूप्यादिबाधकस्यातत्व्ववेदकवेऽऽपि बाधकवं दृष्टन्नासिद्यूश्रेति भावः॥

केचित्-अन्मदीयाः। पर्यनमानेनेति। एतन्मते असचेच्न प्रतीयेतेत्यस्यानिर्वाच्चव्वसाधकार्थापच्यन्तराम्मेप्राकत्वश्य वक्ष्यमाणव्वात्, सच्चेन्न बाध्येतेत्यस्बापि सदसदन्यत्वसाधकत्वस्वावई्यकत्वान्सत्वं सदसद्विऊक्षणन्यच्च्वपर्यवसितमिति भावः। तस्याः —्वान्युक्तेः। अर्थापत्त्यन्तरत्वात——सदसद्दिकक्षणं न चेन्न प्रतीयेतेत्यर्थापत्यन्तरसहकरितकोन्तरपर्वात् । प्रयोजनक्यात्-स्तन्यत्वसिद्यिरुपफहैक्यात् । आहुरिति । कंचिदिय्यनेन पूर्वनिर्दिष्टः स्वमतमिंथं ठ्याकुर्वत इत्यर्थः । ज्रैकालिकेति -स्वाधिकरणवृत्तीत्यादिः । विपरीतग्रमा—स्वाधिकरणे निषेध्यत्वप्पमा। ठ्यवहारस्य अवाध्यत्व-

> A. VOL III.

त्वेनैवासद्यावृत्तेरपि सिद्धचा अनिर्वचनीयत्वसिद्दिपर्यवसानेन शेषवैयथ्थ्यम्, न प्रतीयेतेत्यत्र विपर्यये दइयत्वैनैव सद्रैलक्षण्यसिद्धधा न बाध्येतेत्युक्तिरप्ययुक्तेति-वाच्यम् ; बाध्यत्वद्धइयत्वयोरैकैकस्य सदसझ्यवृत्युभयसाधकत्वं यद्यपि संभवति, तथाप्येकैकस्य एकैकदेशव्याप्यत्वग्रहदशायामुभयोः साफल्यात्, उभयव्याप्यमव्येकैकमेकदेशसाधकत्वेनोपन्यस्यतः प्रत्येकैकसाधकत्वस्य दोषावहत्वाभावात् । अर्थापात्त्विद्यं वैतत्, एकत्वोक्तिस्वसतो बाध्यत्वं सतोड्यात्मनो छइयत्वमझ्ञकार्वतः परस्य मते एकैकेनोभयसाधनासंभवानिबन्धना । ननु—न बाध्येतेत्यत्र बाधः किं बाधकज्ञानेन निवृत्तिः, त्रैकालिकनिषेधो वा। आद्ये इप्टापत्तिः। द्वितीये असद्विलक्षणत्वपक्षेण बाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसानमिति-चेन्न ; उभयथाप्यदोषात्। नचाद्य इप्टापत्तिः ; ज्ञाननिवर्त्यत्वे भुल्यादिसम्मतेरुकत्वात् । द्वितीयेऽपि

प्रमाविषयत्वस्य. श्रुतिमुरुभताप्रर्यविषयत्वस्येति यावत् । तन्चेदुक्तविषषत्वशालि स्यद्वद्वसत्, न चोक्काविषयताशालि, तन्माच्छुतितबाध्यत्वान्न सदिति बोध्यम्। एवं च परकीयस्य सत्वृव्यवहारस्य प्रपश्च्व सत्त्वेडपि न क्षतिः। हुइत्वेन-वृत्तिविषयत्वेन। शुद्धद्रद्षणो वृत्त्यविषयत्वपक्षे इत्यादि:। एकैकदेशव्याप्यत्वेति-उक्कव्यावृत्त्योरेकमात्रं प्रति ठ्याव्यत्वेत्यर्थः। उपन्यस्यतः प्रति-उपन्यासकर्तृन्पति। असतः—युक्तिरूप्याद्देः। बाध्यत्वम् ₹वाधिकरणे निषेध्यव्वम् । इष्टापत्तिरिति । मन्मते रूप्यादे र्बाधानिकर्ल्यव्वादिति रेषः। असद्विलक्षणत्वक्षेणेत्यादि। असद्वितक्षणत्वसाघनाय यद्वाध्यते चेल्यादिरूपं विपर्ययानुमानपर्यवसानं तदभाव इत्यर्थ: ।

नासद्विलक्षणणत्वेन विपर्ययापर्यत्रसानम् ; प्रतिपन्मोपाधिस्थनिषेघप्रतियोगित्वस्यासत्यसंभवेनासद्वैलक्षण्यस्यैव विपर्ययपर्यवसानप्रयोजकत्वात्। असचेदित्यत्रापि यद्यप्यसच्चं न सत्ताजातिराहित्यम्; सत्ताहीने सामान्यादौ व्यभिचारात् । यत्वात्मनि व्यभिचारादिन्युंक्तं पैः, तन्न ; तन्मते अरत्मनि सत्ताया: सत्तेनापादकस्यैवाभावात, अस्मन्मते च तत्र द्रयत्वस्यैवाभावेनापाद्यस्यैव भावतत्। नापि बाध्यत्वम्; शुक्तिरूप्यादौ ठ्यभिचारापत्तेः; तथापि निरुपाखयत्वं निः ₹वरूपत्वं वा असत्वम्। न च-निरुपाखुतत्वं र्यात्यभावः, तथाचापाद्यावैशिष्ट्यमितिवाच्यम्; निरुपाख्यत्वस्य पद्वृ्यविषयत्वरूपत्वात् 1 ननु निःस्वरूपत्वं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, तच्च प्रपश्वसाधारणमिति तत्र व्यभिचारः, न च—पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधो न स्वरूपतः प्रपश्र्न्येति—वाच्यम्; निर्धमेकन्रह्मण्यपि तेन रूपेण निषेधात्तस्यापि मिथ्यात्वापतेरिति-चेन्न ; मिथ्यात्वलक्षणे प्रतिपन्नोपाधाविति विशोषणबलात्तत्र नातिठ्यासितित्युकत्वात्। यस्मिन्नपि पक्षे प्रपश्नस्य स्वरूपेण निषेधः, तदा अप्रतिपन्मोपाधिकत्वे सति ख्वरूपेण निषेधप्रतियोगिववं निःस्वरूपत्वम् । न चैतत्र्रपं्च्वेडस्ति, येन तस्मादसन्न भवतीति विपर्ययपर्यवसानं न स्यात्। ननु—न प्रतीयेतेत्यत्र प्रतीितिसामान्य-

प्रतिपन्नोपाधिस्थेति । स्वसमानाधिकरणेत्यर्थः । पदवृत्तीति। देशकालसंबन्घाभावेन तुच्छस्य न पदवृत्तिविषयत्वम् । शशाविषाणादिपदजन्यो विकल्पस्तु न पदवृत्तिसापेक्ष:; शाब्दप्रमाविपर्यययोरेव तत्वादिति भावः। प्रतिपन्नोपाधौ-स्वाधिकरणे निषेधांश इत्यादिः। अभ्रतिपन्नोपाधिकत्वे—सत्वेन प्रतीत्यनर्हत्वे । कालासंबन्घित्वं

विरहस्तावदापाद्यते, तदयुक्तम ; असन्नृथृळ्नमित्यादिवाक्यादसतोजपि प्रतीतेः, अन्यथा असद्वैरक्षण्यज्ञानायोगः, असत्र्रतीतिनिरासायोगश्ध, असत्पदस्य अनर्थकत्ने प्रयुक्तपदानां संभूय कार्यकगरित्वायोगे बोधकत्वानुपपात्ति:, असतोऽसत्चेनाप्रतीतावसम्यवहारानुपपच्तिः, तदुक्तम्-
'असद्विलक्षणज्ञौौ ज्ञातव्यमसदेव हि ।
तस्मादसत्र्रतीतिश्र कथं तेन निवार्यंते।
इति-चेन्न; प्रतीत्यभावेड्यसतोडसम्नृशङ्गमिति विकल्पमात्रेगैव सर्तोपपत्तेः । तदुक्तम्-'शब्दज्ञानान्तुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' इति ।न च—विकल्प इच्छादिवज्ज्ञानान्यवृत्तिर्वा, ज्ञानविशोषो वा । आद्ये अनुभवविरोधप्रतीत्ययोगौ, द्वितीये असतः प्ररीपिरागततन । वस्तुरून्य इल्यन्रापि किमपि नोह्क्रिखतीति गा, असदेवोल्धिखतीति वा । आद्ये अनुभवविरोधः, द्वितीये इष्टापत्तिरिति-वाच्यम् ; विकल्पस्य ज्ञानान्यक्तित्ति बाधकाभावात्, शरविषाणमनुभवामीत्यम्रत्ययाच्च। वस्तुरून्यता

दळद्दयार्थ:, तेनासति सत्च्वेन प्रतीतेर्र्रीन्तैः स्वाकृतत्वेडपि न क्षतिः। सर्वोपपत्तेरेति । असद्विलक्षणः प्रपश्च इत्यादि वाक्यादसंदूंशे विकल्प, प्पभ्चाघंगे प्रमा, तदुमयाबच्छिन्नचितमाद़ाय संभूयकारिंखवम् । अत एवेदं रूप्यमिल्यादिशाब्दात्र्राभाकरादिभिस्तथोच्यते। एकैंव वा वृत्तिरांश्रिकविकल्पपमारूपेति भावः॥

ननु--‘प्रमाणविपर्यययविकल्पनिद्रामृत्रतय इति पातझअलीयसूत्रस्य ज्ञानविभाजकत्वात् संस्कारजनकर्बाच विकल्पोडपी ज्ञानम्। अत एव निद्रारूपा सौपुपी वृत्तिरिि ज्ञानमेव। अर्थविकल्पस्य ज्ञानत्वाभावेडपि स्वातन्न्येण संक्कारजनकतवमुपेप्य संसकारजनकवृत्चिविभा-

च सोपाख्गधर्मानुल्धेखित्वम्, अतो न कोडपि दोषः। विकल्पस्य ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञानविपयत्वाभाव आपाद्यः। भुक्तिरूप्यादेरसच्चे च प्रतीतिविषयत्वं विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं वानुपपन्नमित्यनिर्वाच्चत्वसिद्द्धि:। यद्वा— सत्वेन प्रत्रीत्यभाव एवापाद्धः । नजु-प्रमारूपताहक्र्रत्ययाभाश्रापादनामिष्टमेव । न ह्यसतः सत्च्चेन प्रतीतिः केनचित् प्रमोच्यते। न च ताहुग्रान्तिविरहस्ताहक्पतीतिसामान्यविरहो वाडsपाद्यः; येन पुंसा झारो भुङ्भाभावो नावगतस्तस्य गोग्र्यु्नम्नीति वाक्यादिव राराशृङमस्तीति वाकगादपि अान्त्रिदर्शनात्, न हि घढधषादिशबद्वदत्र पदार्थानुपस्थापकत्वम्, न वा कुण्डमज़ाज़िऩमिल्यादिवदन्वयाबोधफत्व्वम् ; अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताश्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसंधीचीनस्य सच्वात्, अन्यथा प्रतीत्याद्यभावप्रसझ इति—चेन्न ; 'इदं रजत' मिति प्रात्यक्षिकभ्रमवदस्याप्यनिर्वाच्यविषयत्वात्, न च-अस्याप्यनिर्वर्यत्वे रूप्या-
जकत्वपक्षे ${ }^{1}$ सूत्रम्, इच्छादीनां चो क्तवृत्तिमूलक्त्वेनेक्तविभागपदर्शोनेनैव निरोद्धन्यसकलवृत्तीनां ज्ञापनं ज्ञानविभाजकव्पक्षेडपि नुल्यामितिचेन्न; ज्ञानव्वेनैव विकल्पस्य हेतुतासंभवे स्वातन्त्रेण हेतुत्व गौरात्, अन्यथा बिपर्ययगादीनामपि तदापतेः, जानामीति प्रत्ययन्तु विकल्पस्थलेडपि बुल्य इस्यम्वरसादाह विकल्पस्येति। ज्ञातत्वे 'हीर्घीर्भी' रित्यादिश्रु:्युक्तथरिवाएँ्यजातिविछेषवत्त्वे'। न हीति। अगृहीतपदार्थसंबन्धकेति रोषः। न वेति। अयोग्यार्थकेति रेषः। शाब्दादिभ्रमस्यार्लीकविषगत्वसंमयदाइन प्रात्यक्षिकेति । ननु'असदेदेवेदम्र आसी 'दिल्यादि श्रुल्येवेक्तवाक्येनाप्यसतः सत्वेन प्रती-

$$
1 \text { विभाजकं सू-ग. ? वृरोषवेक-क. ग. }
$$

द्रेदो न स्यादिति-वाच्यम् ; को ह्यनिर्वाच्यादनिर्वाच्यं भेत्तुमध्यतसितः? यमेवमाक्षिपसि, किंतु निःझ्वरूपात्। यथाच सत्त्वेन न निःस्वरूपविषयत्तं तथोक्तं प्राक्। न चैवं शाराशृए्भादेरनिवर्वाच्यत्वे निःस्वरूपत्वोच्छेदः; ${ }^{1}$ राशाशृझ्स्तीत्यत्र शाशे शृङ्गारोपेण शइीयत्वारोपेण चा अनिर्वाच्य(त्व)विषयत्वेऽपि 'असन्नृशृङ ' मित्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं विकल्प्यमानाखण्डशाशाशृङ्भादेरनिर्वाच्यानात्मकस्य निःस्वरूपत्वात्। न चात्र नि:स्वरूपत्वादिविकल्पः ; उक्तोत्तरत्वात् । न च—'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शाब्दः करोति ही'ति त्वन्मते तस्याध्यस्तस्यास्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेऽपि 'राशाशृङ्भम'दिति वाक्यादिव ' शाशाझृङ्तम्ती' ति वाक्येर्डप शाराश्झझाब्देनासत एव प्रतीति-रिति-वाच्यम्; अस्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेन राशाशृङ्भपदाभ्यां तदाधिष्ठानमवइयं चक्तव्यम्; अत्यन्तासच्चानधिष्ठानमिति न शाशश़ङ्गुपदाभ्यां तदुपस्थितिः । दृष्टान्तीकतवाक्ये तु नानिर्वच्यं किंचिद्यि प्रतीयत इति नाधिष्ठानज्ञानापेक्षेति वैषम्यात्। अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमित्यादि त्वसत्यादिपदासमभिव्य|हृतशाराशृङ्भमसदिति वाक्यपरम्। न च-'तद्वैक आहुरसदेवेद्मग्र

तिराFताम् ; तत्राह-यथा चेति। तथोक्तमिति। सदेवासीदित्यादिना यद्विर्धीयते तदभाव उक्तश्रुत्या विधायत इत्युक्तं मिथ्यात्वानुमाने इत्यर्थः। विवेचितं तदस्माभिस्तत्रैव। अनिर्वाच्यत्वविषयत्वेऽपीति। असति सत्त्वसंबन्घाभावेन मन्मते सत्त्वसंसर्गस्यानिर्वाच्य एव भानादित्यादि: । न च तद्वैक इत्यादि । परेण पुनः शाक्षितत्वात्पुनः

असी'दिति श्रुत्या असतः सत्वेन प्रतीतिरिति वाच्यम्; यथा नानया असतः सच्चप्रतिपादनं तथोक्ष मिथ्यात्वलक्षणे । तर्किकास्तु—राशाङृएदिपदानामपार्थकतैवेतिबदन्ति । नचानन्वयनिश्ययविरहद्शायां प्रवृत्तिपर्यन्तानुभवविरोधः ; अनन्वयनिश्वयद्शायामेवाबोधकतोन्तेस्तद्विरहद्रायामपि नाखण्डशश शाहृङादिबोधकत्वम्, किंतु सन्मात्रगोचरव्यधिकरणप्रकारकज्ञानं वा सदुपरागेणासदोचरज्ञानं वा । केवलासद्धाने सामग्रीविरहात्। तदुक्त बौद्वाधिकारे- 'सङ़तिग्रहणाभावात् शशश़श्नादिपदानामबोधकते ' ति। न च यौगिकराब्दानामवयवसङ़न्यतिरेकेण पृथक्सझत्यनपेक्षत्वम्; अवयवशक्तिप्राधान्येन बोधनेडखण्डासद्वोधनस्याशक्तत्वात् । अवयवानां स्वशक्तचपुरक्कोरणाप्रत्यायकत्वत् । न हि पाचकादि: पाकादि-
 त्यादिवाक्यानामबोधकत्वम् ; तेषां शारो शृह्भाभाववोधकत्वात्। एषा तु बोधकता न शशशाङ्नपद्यात्रे, किंतु नास्तीतिपद्सममिव्याहूते । अतो न नास्तीति पौनरुक्तचरूपश ङ्काभासाद्यवकाश इति । यद्वा-अपरोक्षप्रतीत्यभाव आपाद्यः। न च-यद्सत्तन्न समाहितमिति बोध्यम् । अपार्थकता वाक्यार्थाबोधकत्वम्। अखण्डेति। शझीयस्वादिरुपेण|प्रतायमानेलेल्थः। टीकाकृन्मते अ्रमस्येल सदुपरसकस्यासतः संसर्गғ्य भानमाश्रित्याह—सदुपरागेति । इाो श्रृष्भाभावबोधकत्वादिति । लक्षणया श्रृत्रपदस्य शशचृतिरर्थः, नज्पदस्य श्रृक्षाभावोर्थः:, श़ापददे चोक्तरक्षणायां तावपर्यमाहकमिति भावः। नन्वेवं- शश श्टृ बनददाम्यामपि शशचृत्ते: श्टृद्नाभावस्य उक्षणया बोधनसंभवान्नास्तीत्यस्य वैयर्थ्य, तत्राह—एपेति । तथाच तथा

प्रतीयत इति ठ्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्ष्मावइगकम्, भतश्भासतोऽपि प्रत्यक्षत्वम्; ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयत्विषयकत्वानिगमात्, किंच शाराशृङ्यद्यत्यन्ताभावप्रत्यक्षमावरयकम् ; अन्यथा असतोऽट्यसत्त्वबुद्धिर्न स्यात्, तथाच राशश़ाङदेः प्रत्यक्षत्त्वमेवेतिवाच्यम् ; साक्षादित्यनिषेध्यतयेति चापरोक्षम्रतीतिविषयनिशोषणात्। उक्तस्थले च ज्ञानव्रिषयतया निषंध्यतया च विषयत्त्तमिति नास्ति विशिष्टाभावस्यापाद्यस्यासंभवः । यद्वासत्वेनापरोक्षप्रतीीतिविषयत्वाभाव आपाद्यः। न च—इदं रूप्यमित्यादिश्रान्त्या अत्यन्तासदेन सच्चेन प्रतीयत इति— वाच्यम्; अत्यन्तासतस्ताद्हरणतीतिविषयत्ते सामग्रयभावात् । इन्द्रियसन्निकर्षो हि प्रत्यक्षे सामान्यसामग्री, न चासति सोऽस्ति । नच-प्रातिभासिकत्वपक्ष रूप्यादे: प्रतीतिपूर्वकालेऽसत्चेन कथं सन्निकर्षरूपग्रत्यक्षसामग्रिसंभव इति—वाच्यम् , अस्मन्मते ज्ञातैकसति रूप्यादौ साक्ष्यपरोक्षेडज्ञाननाशकान्तःकरणवृत्तिप्रयोजकसन्निकर्षानुपयोगात्। न हि तवापीश्वरसाधारणप्रत्यक्षमात्रे सन्निकर्षो हेतुः। न च—प्रमायां निर्दुष्ट्टन्द्रियसन्निकर्षो हेतुः, न तु भ्रमे, स हि दोषसहितेन्द्रियादेव भव्रिष्यतीति-चाच्यम् ; सन्निकर्षो हीनिद्द्रयनत्सामान्यसामग्री, तदनपेक्षस्येन्द्रियस्याजन-

स्वीकारेऽपि ताॅपर्यप्राहकत्वन नाम्तीत्यावर्यकामिति भावः। सत्त्वेनापरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभानः अपराक्षप्रतीतेः सत्त्वप्रकारतानिरुपितविशेष्यत्वाभावः। ठ्याप्तिज्ञानादिविशाषणतया प्रत्यक्षविशेष्यत्वं तु न सत्त्वप्रकारतानिरुपितम्; प्रत्यक्षान्तरमपि न सत्चेनासद्विषयकम्; अनिर्वाच्येष्वेवाधिष्ठानसत्तासंचन्धप्रतीतेः, ‘वस्तुरून्यों विकल्प'इति सूत्रेण विकल्पस्य सत्तास्वरूपविषयकत्वनिषेधाच । न चैवं- पीमात्र-

कत्वमित्युक्तत्वात् । न च तरिं शाब्द्वोधसामान्यसामग्र्या योग्यताज्ञानादेरमावात्कथे परोक्षविकल्पः स्यात्? अयोग्यताज्ञानविरहो हि सामान्यसामग्री, न तु योग्यताज्ञानम्; असंसर्गाग्रहरूपायोग्यताज़ानविरहस्य विशिष्टज्ञाने आवश्यकत्वात्। स चासद्वोधके वाक्येडस्येत। न हि राशग़ुझेऽस्च्वं नास्तीति जानानः राशाशृङ्नमसदित्यवगच्छति। एतन्निबन्धन एवापरोक्षप्रतीतौतौ प्रदेपः । एतेन—सन्मांत्राविपयकापरोक्षज्ञानमसद्विषयकम्, सत्च्वानाधिकरणविषयकप्रतीतित्वात्, असद्विषयकपरोक्षप्रतीतिवत्। न चात्र प्रातिभासिकसाधारणसद्विवक्षायामाश्रयासिद्धि:, परमार्थसद्विवक्षायां मात्रपदैवयर्थ्यमिति-चाच्यम् ; अ्रममात्रस्यैवाधिष्धानीभूतपरमार्थसद्विषयतया मात्रपदं विना आश्रयासिद्दुर्दुप्परिहरत्वादिति-निरस्तम् ; सामग्रीविरहेण बाधाव्, शाब्दत्व्व्योपाधित्वत्, धर्मादिकमपरोक्षप्रतीतिविषयः, प्रतीतिविषयत्वादित्याद्याभाससाम्याच । किंचासतो रूप्यस्यापरोक्षप्रतीतिविषयत्वे शराशृझादेरप्यपरोक्षप्रतीतिविषयत्वं स्यात्, विशो-

घटितमेवापाद्यतां, किं प्रत्यक्षनिवईोनेति-वाच्यम् ; असतः प्रत्यक्षविषयव्वस्य पराम्युपगतस्य निरासाय पत्यक्षघटितस्यापाद्यतया पतिज्ञानात्, सामान्यसामग्री प्रत्यक्षसामन्यहेतु: प्रातिभसिकत्वक्षे, प्रातिभासिकत्वमतंडपि सामान्यधर्मवृच्छंदेनैन प्रमाणवृतेर्भर्ममे प्रत्यक्षत्वे चाक्षुषत्वादौं वा सीकृते सन्निकर्षजन्यत्वावरयकत्वात्, अन्यथा तत्र पत्यक्षत्वे इन्द्रियजन्यत्वादौ वा मानाभावात्, स्वविशिष्टं प्रति दोषाणामेव हेतुत्वेनोपपत्ते: । न चास्तु तथा, तथावि साक्षिसंबन्धादेव प्रत्यक्षता अ्रमविषयस्येति--वाच्यम् ; त्वन्मते तस्यासत्त्वेन साक्षिसंबन्घासंभवात्, सदसतोंरसंबन्धात्, अन्यथा घ्यसादिति नाममात्रं क्यादिति भावः ॥

षाभावत्, सविशोषत्वेऽसच्वव्याकोपात् । ननु-सदसतोः सत्तानिः स्वरूपत्वादिनेव नृशृङ्भराशाशङ्भादीनामपि परस्परं नृशृङ शशाशृङ्भादिशब्द्रैव परोक्षप्रतीतिठ्यवहारविषयत्वादेर्विशेषस्यास₹ाविरोधिनो बुद्धिसिद्धस्य संभवः। न च—सर्वसामर्थहीनस्यासतः सता ज्ञानेन कथं संबन्धः! विषयत्वस्य तत्र वकुमशाक्यत्वात्, भाति प्रतीयत इत्यादिकर्तकर्मत्वादि विरोधा-चेति-वाच्यम् ; अतीतादेः स्मृत्यनुमित्यादिविषयत्वादिवदुपपत्तेः, न च—तत्र प्रतीत्यादेरेव विषयत्वम्, तावतैव तत्र विषयताव्यवहार इति वाच्यम्; समं ममापतति-चेत्, मैवम्; शाशाब्दस्य नरि अ्रमदशायां नृशृङ्भाब्देनेव शाशाङ्भञब्देनापि नृशृङ्स्स प्रतीयमानत्वेन नृशृङ्डादिशब्दैरेव प्रतीयमानत्वादेशपि परस्परविशेषस्य वक्षुमशक्यत्वात्। न च-दुष्टेटन्द्रियादे रूप्यसंस्कारसाचिव्यवच्छझाशृङ्संस्कारसाचिव्याभावात्तस्यापरोक्ष अ्रमाविषयत्वम्, अन्यथा तवाप्यनिर्वाच्यान्तरमेव तत्र कथं नोत्पद्येतेति-चाच्यम् ; संस्कारस्य न तावत्रतीतौ साक्षादुपयोगः ; स्मृतित्वापत्तेः, किंत्वर्थोत्पत्तिद्वारा, तथाच संस्कारनियामकतापि

ननु—झुक्तिरुप्यादौ रुप्यत्वादिविशेष एवापरोक्षतानियामकोऽस्तु ; तश्राह—सविशेषत्व इति। रूप्यादे: सतोडसस्संबन्धानुपपत्ते:, अस (द्दि) न्विशेषस्तु शश श्रृभ्जादाववीति भावः। शाइाब्द्स्य नारि अ्रमदशायां नरि शशइब्दस्य शक्तिभ्मदशायाम्। अशक्यत्वादिति। प्रत्क्षहेतुविशेषाभावे तात्पर्य बोध्यम्। तेन ततद्दीविषयय्वादिविशेषसत्त्वेडपि न क्षतिः। स्मृतित्वापत्तेरिति । प्रल्यमिज्ञायां तु नच्यतार्किकमते समृतिरेख हेतुर्न संक्कारः, मन्मते तु प्रत्यभिज्ञा ततांशे स्मृतिरेवेति भावः। पूर्वानुमूतजातीयस्यैच अमेदयादन्वयन्यति-

अनिर्वाच्यतापक्ष एव न त्वसद्विषयतापक्षे । वस्तुतस्तुसंस्कारस्तावतात्विकरजतादिगोचर एव प्राथमिकरजतादिभ्रभे
 तदविषयत्वाविशोषात्। तथाच कथं स नियामको भवतु? एवं रेकाम्यां संसकारो अ्रमे प्रयोजकः, तत्र रजतत्वाघचच्छिन्नतादात्यादिसंबन्धावच्छिन्नपकारतानिरूपितविशोष्यतासंबन्धेन संसकारं प्रति तादात्म्यादिना ${ }^{1}$ रजतत्वादिकार्यत्वं न तूक्तविशेष्यताशालिभ्रमत्वादिना गौरवादित्यपि बोध्यम् । यस्य पुरुषस्य रजतभ्रमो जातस्तस्यासद्रजतस्वरूपे संस्कारसत्त्वात्तम्यैव अ्रमान्तर तज्जन्ये भानम्, न तु शाशाश्रृछादे: ; समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावसंभवात् । यस्य तु प्रथमत एवासद्रजतभ्रमस्तस्य तत्र भ्रमे सत्यरजतसंक्कार एव हेतु: परेण वाच्य:, तत्र यद्यसत्रक्रारफत्वरूपं अ्रमतवं कार्यतावच्छेदकम्,
 वस्तुतस्तिवति। शाराशङ्धादिसर्वसाधारणः सर्वासम्द्रमजननयोग्यः ननु-रजतभ्रमत्वं कार्यतावच्छेदकम्, तच रजतत्वावचिछछनं यदसन्निष्ठं प्रकारत्वं तच्छालित्वं न; येन सर्वासतामुक्तभ्रमे भानं स्यात्, किंतु तदसद्वर्घक्तिनिष्ठोक्तपकारताकत्वम् ; तत्राह-तदविषयत्वाविशेषादिति । यदि तद्वयक्तितिषयकसंस्कारो हेतु: क्यात्तदा तद्वयक्तिभ्रमत्वेन कार्ग्त्वं स्यात्; समानविषयकत्वैनैव।सद्विषयकसंसकारभ्रमयोर्हैतुहेतुमत्व्वद्शर्शात्, तद्वयक्तचन्यसत्यविषयकसंसकारे हेतुत्वे तु कार्यतावच्छेदके सर्वासद्वयक्तीनामैंकैकठ्यक्तिनिवेशे विनिगमकाभावः। न हि रजतत्वेन काचिदेवासद्वचक्तिर्म्रमविषय इत्यत्र त्वया मानमानेतुं शाक्यम्। तथाचानन्तासद्धयक्तनां भाने गौरवमनुमवविरो-

$$
1 \text { रजतत्वादिना कार्यत्वं-क. }
$$

प्रवृतिविषयत्वान्यथानुपपत्तिरपि ग्रमाणम् । इदमंशास्यासदूप्यात्मना प्रतीतौ सामग्रीविरहस्योपपाद्नात्। ननु-अनिदंरूपे प्रातिभासिके यदिदंत्वं व्यावहारिकसत्वं च तद्द्रयं न तावत्सत्; अद्वैतठ्याकोपात्, नाप्यनिर्वाच्यम्; तथा सति तस्यासद्वैलक्षण्यार्थ प्रातिभासिकत्वाय सत्चेन प्रतीत्या भाव्यम्। एवं च तदूपि सच्चमनिर्शाच्यं चेत्, तस्यापि सत्वेन प्रतीत्या भाव्यमित्यनवस्था, तथाच तयोरसच्चं वान्यम्। तदुक्तम्-
' अन्यथात्वमसत्तस्मान्द्रान्तावेव प्रतीयते ।
सत्व्वस्यासत एवं हि स्तीकार्यैव प्रतीतता ।
तस्यानिर्वचनीयत्वे स्यादेश ह्यनवस्थितिः ॥' इति ॥
टीकायामपि इदंत्वसच्वयो: सत्वायोगादनिर्वाच्यत्वे इदंत्वेन

घश्ष। अथ-असद्रजतनिष्ठोक्तप्रकारताकवंवं तथेति-चेन्न ; असतो हि रजतत्वं सद्रजतसाधारणं सद्वा, तदसाधारणमसद्बा। आद्ये सदसतोः संबन्धायोगः, अन्त्ये शशविमाणादिमात्रगतरर्मघटितस्यापि तथाष्वं तदवस्थम्, सत्यरजतसाघ|रणरजतत्वादिप्रकारकेच्छावतां अ्रमविषये प्रवृत्तयनुपपत्तिश्र। प्रनृत्तीति। इदंत्वादिविशिष्टरूप्यादि़पवृत्तत्यत्यर्थः । प्रतीतौ उपादानपत्यक्षविधया प्रवृत्तिहेताविति ऐोषः । सामग्रीविरहस्य सन्निकर्षादेहेत्वमावस्य । प्रातिभासिके प्रातिभासिकसंसृष्टतया प्रतीयमानं गुक्तयाद्यधिष्टाननिष्ठं यदिदंत्वं ठ्यावहारिकसच्वं च तदुक्तसंसृष्टरूपेण न सत्; अद्दैतहाने, नानिर्वाच्यमसद्वैऊक्षण्यप्रयोजकस्य सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्यावइयवाच्यत्वेनानवस्थितेः। अन्यथात्वमित्यादि । अन्यथात्वं शुक्तयादे रूप्यादिरूपत्वम्। अ्रान्तौ असद्विषयज्ञाने। एनं हि एवंच। सत्त्वश्यासत

रूप्यावगाहि तदप्रतीतौ ${ }^{1}$ प्रवृत्त्ययोगात्, सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्वादि विकल्पप्रसरेणानचस्थानादिदंत्त्वव्यावहारिकसत्व्वयोरसत्व्वमित्युक्तमिति—चेन्न ; तयोरसत्त्वेऽपरोक्षप्रतीतिविषयत्वे सामग्रयमावादेर्बाधकस्योक्तत्वादनिर्वाच्यत्वमेव। न च तथा सत्वेन प्रतीत्या भाव्यम्; इष्टापत्तेः। न चैवमनवस्था; सत्त्वस्य सदिति प्रतीतावतिरिकसत्व्नस्यानपेक्षणात्, अन्यथा त्वत्पक्षेड्यसति रूप्ये यत्सत्वं प्रतीयते तस्ग सत्त्वायोगात्, असत्त्वे च तथैव प्रतीतौ प्रवृत्र्यनुपपात्ति:, सत्त्वेन प्रतीतावनवस्था च स्गात् । न च—सत्ते सत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्येऽव्यसतः सत्त्वेन प्रतीत्या प्रवृत्युपपत्तेरसति प्रतीतस्य सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावप्यसत्व्वसिद्देश्य नास्माकं काप्यनुपपत्तिः, तव तु रूप्यादिसत्वश्य सत्त्वनाप्रतीतौ प्रवृत्युपपत्तावपि प्रातिभासिकत्वानुपपत्तिरिति—वाच्यम् ; एवं हि तत्सत्चंन्वं स्रूपतो न सत्; तुच्छत्वात्, विज्ञानतोडपि न सत्, सत्त्वेनाप्रतीतेः तथाचासति कथं तन्निबन्धनो ठ्यवहारः, न च—प्रतिभासकाले सत्ते स्वरूपतो निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्, पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वेऽनवस्थैवेत्यसत्च्वमेच रूप्यादी़नामिति -वाच्यम् ;
एव प्रतीतता अन्तौ सवीकार्येल्यर्थः। तदप्रतीतौ इदंत्वाप्रतीतौ। इदंत्वेन रूप्यानगाहि प्रवृत्ययोगात् सत्त्वाप्रतितावपि साद्वषयकत्वरूपप्रामाण्यायमेण प्रवृत्त्ययोगात् । इदंत्वव्यावहारिकसत्वयो: शुक्तयादिनिष्ठये|रवि रूप्यादिसंसृष्टतया प्रतीयमानयोः । .असतः शुक्किरुप्यादे: । असत्वसिद्ध्रेरिति । अ्रमपकारत्वादिनेत्यादिः । तन्निबन्धनः तद्धीहेतुकः । व्यवहारः सदाकारानुगतंयवहारः

प्रतीतिकाले सत्वेऽपि स्वरूपतो निषेधस्य पारमार्थिकत्वेन निषेंघे $प ् य न व स ् थ ा प र ि ह ा र स ् य ~ च ो क ् त त ् व ा त ् ~ । ~ न ा प ि-प ् र त ् य े-~$ कात्मकत्वेन्नुपपत्या उभयात्मकतैवास्त्विति-वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वात्, अ्रमत्वानुपपत्तेश्र। नचानिर्वाच्यविषयत्वेन यथा तव मते अ्रमत्वम्, तथा सद्सदात्मकत्वे यत्सत्त्वं तद्विषयत्वेन भ्रमत्वमस्तु ; एवं तर्हि 'सच्चासच रजत' मित्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः। न च असदेव रूप्यमिति बाधश्य सद्वैलक्षण्यविषयत्ववत् सद्रजतमिति अ्रमस्याप्यसद्वैलक्षण्यमेव विषयोऽस्तु, तथाच ग्रातीतिकमपि सत्त्वं मास्त्वति——वाच्यम्; तथा सति बाधेन अ्रमविषयसत्त्वनपहारे बाथकत्वन्यवहारोच्छेदग्रसङ्गात्, अगृहीतासत्वस्यापीदं रजतं सदिति प्रतीतेश्र। न हि पुनरगृहीतसत्वस्यासदूप्यमभादिति प्रत्ययः ; बाधस्य प्रसक्तिपूर्चकत्वत्। ननु-असद्विलक्षणं चेन्म बाध्येत सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेत, अतोऽनुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वाभाव एव किं न सिध्येत्, न चअबाधाप्रतीत्योलाघवात्सच्वासत्वे प्रयोजके, न त्वसद्वैलक्षण्यसद्वैलक्षण्ये ; गौरवादिति-वाच्यम्, बाधप्रतीत्योरेव प्रथमोपस्थितयोः प्रयोजकजिज्ञासायामसत्त्वसत्त्वयोः प्रयोजकत्वं कल्प्यते, लाघवात्, ग्रथमोपस्थितत्वाच, न तु सद्विलक्षणत्वादे:; प्रवृतिश्र। दत्तोत्तरत्वादिति। विरोधादिनेत्यादिः। अ्रमत्वानुपपत्तेरिति । सद्विधयकधी: प्रमैव न तु अ्रम इति भावः। दुर्निवारतेति। ननु-सत्त्वमेव भ्रमविषय:, असत्त्वं तु अ्रमप्रकारत्वादिना सेत्स्यतीति-चेन्न ; सदसदात्मकविषयत्वस्य अ्रमत्वरूपत्वोक्तिविरोघात्, सत्व्वादिम्रत्येकांक्तिदोषाणां सत्त्वादिसमुच्चयेऽप्यवारणाद्विरोधाच्च। प्रथमोपस्थितयो:—स्वाभावर्धपूर्वमुपस्थितयोः । संद्वैलक्षण्यादेरपती-

गौरवात, चरमोपस्थितत्वाच। तदनन्तरं च भान ${ }^{1}$ प्रयोजकाभावादेवाभानोपपत्तौ न प्रयोजकान्तरकल्पना । नृशृङ्गादेरसत्व्वेपि न बाधः, प्रसक्तथभावादिति—चेत्, मैवम्; सत्त्वं न तावत्र्रतीतिप्रयोजकम् ; रूप्यस्योभयमतेडप्यप्रतीत्यापत्तेः, नाप्यसत्वं बाधप्रयोजकम् ; उभयमतसिद्धासति बाधादर्शनात्, रूप्ये चासत्त्वस्याद्याप्यसिद्धे:, प्रत्युतासत्वेडनुपपत्तेर्कक्ष्यमाणत्वात् गौरवं प्रामाणिकम्। तस्मात्सिद्धं ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वमिति ।।

इत्यद्वैतसिद्दौं ख्यानिवाधान्य ग्रनुपपत्तिः ॥

त्यादिप्रयोजकत्वे सत्त्वादे: प्रतीतिप्रयेजजकत्वं वाच्यम्; तच्च न संभवतीत्याह - मैवमिति। प्रतीतिप्रयोजकम् प्रतीयमानत्वसमवयापकम् । अप्रतीत्यापत्तेरिति। न च-प्रतीतिबलात्सत्त्वं साधनीयमिति —वाच्यम् ; प्रतीतेः सत्त्वक्याव्यत्वासिद्द्धः। बाधादर्शनादिति । न च-संद्वैलक्षण्यस्य त्वन्मते बाधप्रयोजकत्ववदुपपातिरिति-वाच्यम् ; मन्मते सद़सदन्यत्वस्यैव बाघप्रयोजकत्वात्। ननूभयसिद्धं सर्वमसद्वाध्यते, शाशो विषाणीत्यादिश्रमेषु शाशविषाणादेरपि बाधात्त्रह्ट— रूपये चेति। तथाच बाध्यमात्रेषु रूप्यादिष्वसत्त्वानिश्रयादसत्त्वस्य बाघप्रयोकत्वकल्पनासंभव इति भावः। प्रामाणिकमिति। प्रतीतिप्रयोजकं सत्त्वं स्वसमानाधिकरणात्यन्तभावाप्रातियोगित्वादि रुपं वाच्यम्। तथाच लाघवात्कालसंबन्धवत्त्वादिकमसघ्यावृतं तथोच्यतान्। एवं बाधप्रयोजकं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कालसंबन्घित्वं वा युक्तम् ; न तु सर्वेदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियेगित्वं कालासंबन्घित्वं

# अथ निषेधपतियोगित्वानुपपत्त्या अनिवंचनीयत्वसमर्थनम्. 

केचितु-वाध्यत्वं सत्यसति चानुपपन्वमिल्यनिर्वाच्चत्व-मिति-आहुः। न च-अतीते तन्काहासति घंसप्रतियोगित्वबव् सर्वदा असत्यप्यत्यन्ताभावश्रतियोगित्वं स्यात्, तथा च बाध्यत्वं नात्यन्तासच्वविरोधीति-वाच्यम् ; कालान्नरसतायाः कालान्तरसतां प्रत्यनुपयोगेडपि बियमानतादगायामेव घटादौ घंस्रतियोगित्वम् ; ‘अनिल्यो घटोडस्ती'ति प्रतिते:, न तु घंसादिकाले घटे घंसपतियोगिल्वम्; तदानीं घटादींना-
 सत्व्वयोः पतीतिकाषपयोजफकले तर्कामाव: अनिवाच्यम्याप्वपरोष्षणीबाघयोः संभवात्, कालसंबन्षस्य तत्वें ल्वित्ति तर्कः ; काइसंब-
 परतीतौ सच्च्स्यावाषे च पयोजकलं प्रामाणिकम, तदवच्छेककस्य


दुर्न्ध्धान्तमझाय स्यातिघाधन्यथान्थितिः ॥

अथ निपेधपतियोगित्वानुपपच्या अनिर्वचनीयत्वसमर्थनम्.
कालान्तरसत्तायाः-धंस्पतियोग्यादे: ₹वकालसतायाः । कालान्तरसत्तіं-ध्वंसप्रतियोगित्वादेध्वंसकालसत्ताम् । तदानीं घटादीनामिति । अधिकरणासंबद्धकालक्य प्रतियोगित्वादाववचंछेद-

मेवाभावाव्। न च तार्हि घटो न छंसप्रतियोगीति प्रत्ययः स्याप्त न रूपवानित्यस्यापि प्रसक्नात्। अथ यावत्सत्वं रूपसत्वाबैवम्, समं प्रकृतेऽपि। वस्तुत्त्तु-छ्वंसकालेडपि घटो छ्वस्त इति घंसप्रतियोगिता घंटे प्रतायत एव । तथाचानागतवर्तमानातीतावस्थाः कमेणाविर्भावयंस्तिरोभावयंश्यानिर्वाच्यो घटः कालत्र्येज्प्यनुस्पूत इति नः सिद्धान्तः। एवं च सत्यनिर्वाच्यत्वमेव प्रतियोगित्वादौं प्रयोजकमिति स्थितम् । ननु-असद्दैलक्षण्यापेक्षया लघुत्वात्सत्वमेव प्रतियोगित्वादौौ प्रयोजकमस्तु, तथा-

कत्वसंभवाद्दिति भावः। यावत्सच्वमिति । उक्तनुद्दे रूपवद्धदविष्यकत्वाद्येदस्य च ठ्याप्यवृत्तित्वादुक्तुद्धिरपमेति भावः। सममिति। घंसपतियोगिमेदस्योो्तषीविषयत्वात्या।द्नमः, अत्यन्ताभावविषयकत्वे नु दूूयोः धमात्वम् । घटस्योत्वत्तिकाले रूपस्येव नाइकाले तत्रतियोगित्वस्वाव्यल्यन्ताभावसत्वादिति भावः। यतु—स्वाधिकरणक्षणे घटो न नइयति, किंतु स्वानधिकरणक्षण इति प्रत्ययात्व्वश्रयक्षणे घटादेर्न नाइप्रतियोगित्वामिति—ततुच्छम् ; स्वानषिकरणक्षणे नइयतीत्यत्र हि प्रतियोगित्वे उत्रक्षणावच्छिन्नव्वं न विषय:, तथा सति त्वन्मते पतक्ष्षणे नइयति पदार्थे एतदुत्तरक्षणे न नइयताति घीः स्यात् ; कित्वा. एयातस्योत्वन्याघर्थकर्वात्स्वानविकरणक्षणात्पतिकनाशप्रतियोगित्वं घटे विछोषणम्, तः स्वाषिकरणकालावच्छचन्न्वेडप्यं्याहतम्। न चैवंनाइतत्रत्रयोगित्वयोर्मिन्नकालवच्छिन्नयोः संबन्धयोग इतिवाच्यम् ; घंसपतियोगिनोश्ताहश्ययोः संबन्षस्य त्वयापि बाच्यत्वात् । अधिकरणासंबद्धकालो नावच्छेछक इल्यस्यैव पकृतत्वात्। परीत्योक्तू। स्वरीत्याह—वस्तुत इति। अनिर्वाच्यः ततदवस्थाम्यो मेदामेदादिना दुर्वचः। अनुस्यूत इति। नच-नष्टघटादेरुपादानापत्तिरिति-

चानिर्वाच्यत्वेगपि प्रतियोगित्वादिकमनुपपन्नमेवेति-चेत्, सत्यम्; सत्व्वमेव यत्क्रिचित्कालाबाघयत्वरूपं तत्र प्रयोजकम्, न तु त्रिकालाबाध्यत्वरूपम्, गौरवात्। न च तर्हि कथं सति बाध्यत्वमनुपपन्नम् ; न सन्मात्रे, किंतु परमार्थसतीत्येेहि। तथाचानिर्वाच्यतापक्षे नानुपपत्तिः। नच तर्हि कथमसद्दैलक्षण्यप्रतियोगित्वमसति, कथं वा 'नासदासी' दिति धौतिमेषः; असत्त्वं तावन्निःस्वरूपत्वम्, तद्दैलक्षण्यं सत्त्ररूपत्वम्, तच्च निष्प्रतियोगिकमेव। श्रुत्यर्थोऽपि तदेव । तथाच नास्ति प्रतियोगित्वपतिपत्तिः । न च-राशाइॄं नास्तीति प्रत्यक्षत एवासति निपेधप्रतियोगित्वमनुभूयत इति—वाच्यम्;

वाच्यम् ; भमावस्थायां जलाहरणाधर्थिनामुपादनस्ये' 'ृत्वात्। न हि वस्लादेः सहुचितित्रसारितावस्था एककार्यार्थिनैवोपादीयन्ते, न वा वस्यादिस्वरूपं तायु नानुस्यूतम् ; तथाच य आदौ मृत्पिण्डीभूत आसीत् पश्षाद्धटीभूत्तः स एवेदानीं भम इति प्रत्ययादवस्थायु भिन्नाषवपि ठ्यक्तिस्वरुपमनुगतमह्याहतमिति भावः। किंचित्कालाबाध्यन्वरूपं ${ }^{2}$ अवच्छिन्नं बाषाऽविषयवंवं, घ्रह्मतुच्छयोर्वयावर्तनायावच्छिन्नान्तम्, त्रक्षणि बाघविषयत्वं सार्वदिकत्वान्न कालावचिछनन्न, तुच्छे कालुस्यासंबद्धव्वादपि न तद्वच्छिन्नं तदिति भावः। समाघते-न सन्मात्र इति । बाध्यत्वमनुपपन्नमिल्यनुषज्यते । निःस्ररूपत्वं-सत्वेन प्रतीय्यनहत्वम् । निष्प्रतियोगिकमिति । तथा चासद्विउक्षणादिपदमुक्ताहल्वरूपेण निरूबलक्षणया बोषकमिति भावः ।

मुपाईने कार्यान्तरार्बिनामुपादनस्ये-क. ग. क्किनिल्काताबच्चिंन बाหाविषयल्वमिलर्थः.

दुष्टेपलम्मसामग्री शाराइ़ादियोग्यता।
तस्यां नानुपल्भम्भस्ति नास्ति सानुपलन्भने ॥ इति ।
न च—प्रतियोगिसत्वविरोध्यनुपलब्धिरेव तश्रूाहिका, सा च प्रकृतेऽस्त्येवेति—वाच्यम्; स्तम्भात्मनि योग्यत्वप्रसिद्धया पिशाच उपलन्मापादनं संभवति, राशाझृङस्तित्वं न योग्यतया ठ्याप्रम्, यद्वलात्तेन उपलम्म अापाद्येत, तथा च नात्र प्रतियोगिसत्वविरोधिन्यनुपलब्धः। अत एव पिशाचादीनां भेदः प्रत्यक्षः, नात्यन्ताभावः । न च-शृङ्भादिकं योग्यतया ठ्याप्तमेवेति—वाच्यम्; तावता हि शृङाभाव

प्रामाणिकी। विशोष्यता-अश्रयता अनुमानेन वाच्या। न चालीके सा संभवति । अस्तु तर्हीशास्यालिकस्याभावानुमानं, तत्राह— अभावेति। वस्तुनो न ब्वलीकस्य । तथाचानुयोगित्वप्रतियोगित्वे नालीके ${ }^{1}$ स्त इति भावः। नन्वयोग्यस्याप्यनुपलबध्याऽभावो गृद्सतां, तत्राह—दुष्टोपलम्भेत्यादि । दुष्टा दोषसहिता शशश्टृक्नयुपलम्भस्य सामग्री कारणकूटं वासनादिसहितः ईबदादिरिति यावत् । योग्यतेति। बोग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलबिधरेवाभाव्याहिका वाच्या, अन्यथातीन्द्रियमात्रस्य सर्वत्राभावसिद्धघापत्तेः ; सा च क्रकृते नास्तीति भावः । प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी प्रतियोगिसत्त्वेनापदननाई्रतियोगिका अनुपल निधः স्या्याभावस्य प्रतियोग्यतुपल्नबिःः। तन्र्ताहिकाअभावमात्र्याहिका। एवकारात्पूर्वोक्तानुपलबिधर्न तथा; पिशाचादिभेदस्य ₹तम्भादौ मनस्त्वाघ्यत्यन्तामावस्य घटादैा ग्रहे तदभावात। स्तम्भात्मनि स्तम्भाभिन्ने । ₹त्म्भो यदि पिशाचः स्यात्तदोपलम्येतेत्यापादनं संभवति ; ₹तम्भाभिन्नस्येपलबिधविषयत्वरूपयोग्यत्व-

एव योग्यानुपलब्धिसंभवः, न त्वलीकाभावे । एवं च शाराशृ⿺辶 नास्तीत्युद्धिखन्त्या अपि बुद्धे: रारो शृङ्जाभाव एव विषयः । गवि शाराशृद्धं नास्तीत्यस्या अपि गवाधिकरणकशृङ्भे शरीतयत्वाभावो विषयः ; अनन्यगतिकत्वात्। अत एव गोरनन्वयोऽपि नास्ति; राराभृङ्भादेरुपस्थित्यभावात् न तदभावग्रह इति तार्किकरीत्योक्तत्वाच । अत एव सम्ममे पदार्थत्वनिषेधस्यांसंभवात्पदार्थाः षडेेवेत्यत्र कुसृष्टिव्याखुयानम्। न च- 'घटो नास्ती 'ति बुद्धेघटसंसर्गाभाव एव विषयः, न तु घटाभावः ; पूर्व तत्र घटस्य सत्वेन तदत्यन्ताभावस्याभावात्, प्राक्रध्वंसाभावयोः प्रतियोगि ।

व्याव्यत्वात्। अत्र यदि शाराइं स्यात्तदा उपलग्येतेति तु न संभवति ; शाशश्टृस्त्योक्तव्याव्यत्वाभावादिति समुदायार्थः । ननुशशाश्टंत्रं नास्तीत्युल्केखान्यथानुपपत्या श़्तत्वादिरुपेण योग्यानुपलबिधरेव राशाशृन्नाद्यभावय्याहिका; तत्राह—एवं चेति । अत एव अप्रसिद्धस्याभावनुद्धौ विशेष्यतया विशेषणतया वा प्रतीत्यसंभवादेव । सप्रमे द्रव्यदिषड्मिन्ने। पदार्थत्वनिषेधस्येति। पदार्था: घडेवेत्यत्र षडित्यस्योद्देइयत्वे विशेष्यसङ्रतसैयैयारस्यान्ययोगच्यवच्छेदबोघकत्वव्युत्पत्या द्रव्यादिषड़मिन्नेष्वभावेषु पदार्थत्वव्यवचछेदः: 'पार्थ एव घनुर्घर' इत्यादौ पार्थन्येषु घनुर्धरत्वव्यवच्छेद इव बोध्यः। स चाप्रसिद्धत्वाह्बाघितत्वाच विशेषणतया बोद्युमशक्यः। बाधवारणाय षडनन्यभावे ${ }^{1}$ पदार्थत्वव्यवच्छेदे तु विझोष्याप्रसिद्धिरपि । तथाच तद्वनेदे शशाश्रृत्रादेरप्रसिद्धस्य नाभावविशेषणतया बोष इति भावः। कुस्टृष्टिव्याख्यानामिति। घडेन पदार्था इत्यत्र षडन्यभावे ${ }^{1}$

[^208]कालेऽसंभावितत्वात्, भेदस्य घटापसरणानपसरणयोस्तुल्यत्वाव्, संसर्गोडपि न ताच्विकः ; प्रतियोगिनि पूर्ववव्ध्वंसाघनुपपत्ते:, किंत्वसन् संसर्ग इति-वाच्यम् ; उत्कमत्रोदय-नाचार्यै:-यन्भिबन्धना हि यत्प्रतीतिः तद्भावनिवन्धनैव तदभावप्रतीतिः। इह च घटास्तित्वप्रतीतिः संयोगनिबन्धना, तदभावप्रतीतिः संयोगाभावानिबन्धनैव । स च संयोगस्तान्विक एव। न च धंसादिविकल्प: ; घटानयनात्र्राक्संयोग्रागभा-

पदार्थत्वव्यवच्छेदे उत्काभाव: प्रीतो न वा, अपतीतश्रेक्कथं निषेषः ? पतीतश्येन्सैस्तैव पदार्थाः। अथ-पदार्थुपु सपत्वं नाश्तीत्यर्थ इति चेन्न ; घटपयादिष्ठु सप्तत्वस्य सत्वात्। अथ-द्रण्यव्वादिके बड्रक्ष्षणयोगितया बट्व्वमापाद्य तत्र सपत्वंवं नास्तीत्यर्थ इति—चेन्न; षट्सु तस्पेष्पत्वादतिरिक्तस्याप्रसिद्धत्वात्। किंच द्रच्यस्वादे: प्रलेक्यरिस्यागनिषेषे बाषः ; गुणादौौ द्रग्यत्वादित्यागात् ; समुदायपरिर्यागनिषेधेपषि
 घयोगसमुदायम्य उ्यवच्छेदो न तु द्रव्यत्वादिसमुदायस्यायोगठयवच्छेदः। उक्तायोगसमुदायश्षाभावेषु प्रसिद्धः। तथाच भावाः घडेवेल्ययोगण्यवच्छेदस्य, द्रव्यादिधड्मिने भावत्वन्यवच्छेदाद्द्रव्यादय एव भावा इल्यन्ययोगण्यवच्छेदस्य वा पकृते बोष इति लीलाबस्यां ं्याख्यातम्। असंभावितत्वादिति। घटो नास्तीत्यददौ घटसामान्यन्य घ्वंस: प्रागभावो वा विषयो बाच्चः; तर्राहो महाप्रलयान्यकाहेष्बव्रासेद्द्र:, द्वितीयस्तु सर्वदेति भावः। यघपि घटसंयोगादिसामन्यस्य घ्वंस: प्रागभावो वा न महाप्रलयान्यकाले प्रसिद्ध:; तथापि घटसंयेगा यावन्तः प्रल्येंक तत्पातियोगिकाः संसर्गाभावा उक्षषीविषया इत्याइये-नाह-घटानयनादित्यादि। अनुमवस्यादरेडभावकूटमपि न विषय:,

बस्य घटेऽपसारिते संयोगध्वंसस्य सच्चात्। न हि घटेडन्यत्र नीते तदेशे घटसंयोगोऽस्ति, येन प्रागभावादिव्व्याहन्येत। तथाच संसर्गप्रतियोगिकाभावस्वीकारेडपि नासत्प्रतियोगिकाभावसिद्धि:। वस्तुतस्तु— घटप्रतियोगिकत्वेनैवाभावस्यानुभवाव्वायं संयोगप्रतियोगिको भवितुमहीति । एवं च सति कालविशोषसंसर्ग्यत्यन्ताभावो वा उत्पादविनाशझालिस्तुरीय: संसर्गाभावो वा भूतलादिसंयुक्तस्य घटस्य विशोषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावो वा अङ़ी़रणीयः । न च-अत्राद्ये छंसादेरुच्छेद: । कपालेडपि घटान्यकालसंसर्गिणैवात्यन्ताभावेन तद्वघवहारोपपप्तेरिति वाच्यम्; 'दण्डी गौरश्नलती'ति विलक्षणव्यवहारत्रये द्रव्यगुणकर्माणि विलक्षणानि हेतुर्यथा, तथात्रापि नास्ति नष्टो भविष्यतीति विलक्षणन्यवहारत्रयस्यैंकेनात्यन्ताभावेनोपपादयितुमशक्यत्वाद्विलक्षणाभाव -

किंतु सामान्याभाव इल्याशयेनाह—एवं चेति । विशेषसंसर्गी कालविशेषावच्छिन्नाश्रयताक:। भूतले संयोगेन घटो नाहतीत्यादौ भूतालादिसयुयक्तघटाघयावो भूतलादौ विषय इल्याशयेनाह-भूतलादीिति। अद्य इति। तृतींय ततद्विशेषणसंसर्गाभावकूटस्य भानमित्युक्षै। तदुपपत्तिः तद्वचन्तिध्वंसमादायैवेति न तदन्यथासिद्धिः; द्वितीये तु यद्यव्युप्पत्याददिमता सामान्याभाबेन तद्वृचक्किपतियोगिकनाशस्यान्यथासिद्धि:, तथाव्यत एवेल्यादिना तस्य समाघेयत्वात् आद्य एव समयविछोषसंसर्गश्चेल्याढ़े: कथनीयत्वाच्चाध इल्येवोक्तम्। घटान्यकालेति। तत्कपालावच्छदेन घटकत्कालादन्यकाओेत्यर्थ: । विलक्षणन्यनहारत्र्यस्येति। नास्तील्य习习्यन्ताभावत्वं नष्ट इत्यत्र ध्ंस्त्वं भविष्यतील्यन्र प्रागभावत्वमभावांशो प्रकारः; तानि चाखण्डा सखण्डा बोपाघय

त्रयसिद्धिः। समयविशोषसंसर्गश्र तत्समयावच्छिनं स्वरूपमेव संयोगध्वंसादिर्वा । न च—संयोगादिध्वंसादिनैवावइयकेन तार्हि प्रतत्युपपपत्तिरिति—वाच्यम् ; घटप्रतियोगिकत्वेनानुभवानुपपत्तेरुक्तत्वत् । न च—कपालेऽपि घटधवंसादि: संबन्धस्थानीयोऽस्तु, एक एवात्यन्ताभावो ठ्यवहारयत्वितिवाच्यम्; विलक्षणण्यवहारत्रयानुपपत्या दत्तोत्तरत्वात्। अत एव द्वितीयतृतीयपक्षावपि क्षोदक्ष्षमौ; घटग्रतियोगिकत्वानुभवस्यान्यथोपपादायुतुमशाक्यत्वात्। एतेन-द््डसत्त्वेऽपि पुरुषासत्त्वाद्द्ज्य्यभावदर्रानादस्तु तत्र विशिष्टाभावः, नचात्र संयोगसत्त्वे संयोग्यभावो दृष्टः, तथाच न विशिष्टस्याभावः, किं तु विशोषणस्यैवेति—निरस्तम् ; संयोगिप्रतियोगिकत्वेनानुमवात्।

इत्यन्यदिति भावः । स्वरूपं भूतलाद्याश्रयरूपमाश्रयत्वम् । तत्तदधिकरणस्य स्वस्मिन् संबन्घत्वासंभवादाह—संयोगध्वसाद्देनेति । अदिना संयोगगप्रागभावसक्ञूहः । तथाच घटस्य संयोगनाशोंत्रं पुनन्नयने नासतीति व्यवहारानापत्ति: ; तत्तत्संयोगपागभावकालीनतत्तत्संयोगध्वसस्यैव संबन्धत्वात्। संयोगिप्रतियोगिकत्वेनेति। यत्राधिकरणे प्रतियोगि न संयुक्तं तत्र नान्यः पक्ष इति बोध्यम्। यतु-घटो नास्तीति घीर्न संयेगमात्रस्याभावं गृह्बाति, कितुु मूतलादिघटसंयोगस्य ; तथाच यत्र घटो नास्ति तन्र संयोगोऽसन्नेवेति तन्न; यत्र कादाचित्को घटसंयोगसतत्रोक्तसंयोगः सन्नेव । अन्यत्रोक्तधीस्थलेऽपि न दोष:। यन्निबन्धनेत्य ाद्याचार्येक्तेह्ययमर्थः। प्रतियोज्यनु योगिनोर्येन संबन्घेन रूपेण चाभावविषयकधीविषयत्वं तेन संबन्घेन रूपेण चाभावर्धीविषयत्वम्; तथाच प्रतियोग्यनुयोगितावच्छेदकरूपेण प्रसिद्धिरभावबुद्धयापेक्ष्यते, न तु तदाधिकरणीयतंतत्संभन्ष-

संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे रारणमिति। तस्माभ्भिषेधग्रतियोगित्वान्यथानुपपत्त्याप्यनिर्वच्यत्वसिद्धि:।।

इत्यद्वतसिद्दौं निषेधपतियेगिगत्वानुपपत्त्या<br>अनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ॥

## अथ श्रुत्य र्थापत्युपपत्तिः.

' नासदासीब्नो सदासी 'दिल्यादिश्रुतयोऽप्यनिर्वाच्यत्वे प्रमाणम् । न चात्र सद्सच्छब्द्रौ पश्वभूतपरौ, 'न सत्तन्मासदुच्यत' इत्याद्तौ भूते प्रयोगात्, 'यद्न्यद्वायोरन्तरिक्षाचैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चेत्यस 'दिति श्रुतेश्चेति-वाच्यम्, प्रसिद्बपरत्वे

विशिष्ट्रतियोगितावच्छेदकरूपेण। उक्तं हि ‘सद्भयामभावो निरूप्यत’ इति। एवं च घटसंयोगित्वमूतलत्वाम्यां सतोः प्रासिद्धि: प्रकृतेऽसत्येन।। तर्कै: सारक्वतै रलैश्रन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः।
दुरन्तध्वन्तभझ्ञाय अनुपपन्ना निषेध्यता ।।
इलद्द्वैतसिद्धिव्याख्यायां गुरुचान्द्रकायां निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्यानिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ॥

## अथ श्रुत्यर्थापत्युपपात्ति:

नासदासीदित्यादि । 'नासदासीनो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो ठयोमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य रार्मन्नग्भ: किमासीदुहनं गभीरम् । न मृत्युरासीदमृतं न तार्हि राज्या अद्न असीत्रकेतः।

संभवत्यप्रसिद्धपरताया अयुक्तत्वात्, न हि भूते सदसच्छब्दौ प्रसिद्धौ, किंतु पारमार्थिकापारमार्थिकयोरेव। न च 'नासदासी 'दित्यत्राप्रसिद्धग्रातिषेधापत्ति: ; 'नो सदासी 'दित्यनेन

आनीदवातं स्वधया तदेकें तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास । तम आसीत्तमसा गूढमप्रेऽर्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छेनाम्वपिहितं यदासीत्तमसस्तन्महिनाजायैतैक्म्। कामक्तदप्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासी 'दित्यादीत्यर्थः । पारमार्थिकयोरिति। भूतेषु शास्रीयप्रसिद्धिमात्रम्, सत्यालीकयोस्तु शास्र्रिया लौकिकी च प्रसिद्धिरिति तयोर्बलतत्त्वम् । अत एव माधवीयभाष्ये व्याख्यातम् । प्रलये स्थितं जगक्कारणस्वरूपमाह-नासदासीदित्यादि। तदानींप्रलये, असत्—निरुपाख्यम्, नासीत् ताहृशास्य कारणत्वासंभवात्। नापि सत् सत्वेने निर्वाच्यमासीत्, सद्रूपक्य तद्विलक्षणजगत्परिणामित्वासंभवात् । तथा चानिर्वाच्यमासीदित्यर्थः। नासीद्रज इति। रजांसि लोक इति यास्कः, एकवचनं तु सामान्यापेक्षम्। ब्योमादेवेक्ष्यमाणत्वात्तदन्यलोक्तदानीं नासीदित्यर्थ:। तथा ठयोम अन्तरिक्षलोकः परः परसतादुपरि द्युलोकादिसत्यलोकान्तं च तदा नासीत्। एवं चतुर्दशभुवनगर्भ त्रह्माण्डं निषिध्य तदावारकत्वेन पुराणप्रसिद्धानि भूतानि निषेघति — किमावरीव इति। आवृणोतेर्यङ्डुगन्ताच्छन्दासि लिटि तिपि रूपमावरीव इति । किमावरणीयं कर्म भूतजातमावृणोतु आवरणीय|भावादावारकमूतान्यपि न तदानीमासन्नित्यर्थः। कुह कुत्र देशे स्थित्वा मूतमावृणुयात्तादृरोदेशोऽपि तदा नेत्यर्थः। कस्य रार्मन् रार्मणे कस्य भोगाय आवृणुयात्, भेक्तारोऽव्युपाधिमनोलयात्तदा नासन्नित्यर्थः। 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासी 'दित्यादि. श्रुत्या अम्भःसत्व्वभ्रमं निरस्यति-अम्भः किमासीदिति। प्रऊये

संहर्ता मृत्यु:स्यात्तन्राह-न मृत्युरिति। तर्घमृतंतं जीवनं स्यात्तन्राहअमृतमिति। न रान्या इति । तथा राइ्या अन्हश्व प्रकेतः प्रज्ञानं नासीत् चन्द्रसूर्याभावात् । आनीदित्यादि । तत् सरववेदान्तप्रसिद्धं ब्रझ्म अर्नीत् जीवितबत् । ननु-कथं श्रह्मणो जीवनम्; प्राणसंबन्धात्, तत्राह-अवातमिति । आसीदित्यर्थकमानीदित्युक्तमिति भावः। स्वधया मायया सहितम्। ₹वस्मिन्धार्यत इति स्वधा। स्वधेत्यनेन सहार्थकतृतीयया च मायाया ईश्वरानाश्रितत्वमीश्ररेक्षणानपेक्षत्वं च साछ्ब्बोंक्त वर्यते। एकं अद्वितीयं सर्वदा द्वितीयरून्यम्। एवं च ख्वधासाहित्योक्तिण्र्यवहारतो न परमार्थत इति बोघ्यम्। ननु-स्वधासहितं श्रह्म यदि तदानीमस्ति तर्हि न रज इत्याद्यसक्नत्, न हि मायातोऽन्यद्रजआदिकम् ; तत्रह——तस्माद्वान्यदित्यादि। तस्मात्त्वधायुक्तन्नह्मणो $5 न ् य द ् र ज आ द ि ~ प र ः ~ स ् ट ष ् ट ि-~$ काले जायमानं नास तदानीं न बभूव। हशबदेनोक्तत्रह्मान्यस्यानिराच्यस्य जगतः प्रसिर्द्धि घ्येतयति। ननु—यदि तदा जगन्नासीतक्रथं तर्हि जनिकियाकर्तृत्वम् ? कारकाविशेषस्य कर्तृत्वात्, निमित्तस्यैव कारकरवात्, पूर्ववर्तिन एव निमित्त्वात्त习ह— तम आसीत्तमसा गूढमग्रे इति । तमसा अन्धकारवद्शावरूपेणात्मसंबन्धिश्वरूपावारकेणाज्ञानेन। गूढं- संसकाररूपापत्त्या स्ववशीकृतम्। तमः अज्ञानामिन्नं जगत्तदानामव्यासीदित्यर्थः । तथाचाविर्भावः स्थूलतापत्तिरूप उत्पात्ति:, संसकारावस्थैव नाशा इति भाव:। एतेनासक्कार्यवादिनो निरस्ताः। ननु—तमसा गूढं तम इति विरुद्धम् ; तत्राह—अप्रकेतं अप्रज्ञायमानं कार्यकारणयोरत्यन्तभेदाभावात्तमसोऽत्यन्तमेदे मानशून्यमित्यर्थः। अत एव सलिलं कारणीभूततमासे सज्नतम्, तादाट्त्या• पन्नमिति यावत् । 'घलगतौ' इत्यस्माद्धातोरौणादिक इलच्घत्ययः । सर्वे जगत्ता अासीत् अस्तेलाढ़ तिपि 'बहुलं छन्दसी’ तीड़भावे

सन्र्भिमत्वे उक्ते असत्त्वस्यापि प्रसक्ते:। न च तदानीमित्यस्य वैयर्थम्य् ; 'नासीद्रजो नो क्योमे' ति रजोनिषेधादावेव तदन्वयात् । न हि रजःश्रभृतीनां सर्वदा अनस्तित्वम्।
' हल्ध्याम्य' इति तिलोपे ‘तिप्यनस्ते ' रिति दकाराभावः। यद्वा सलिलमिति बुप्षोपमा ; यथा नीरं क्षीरयुक्तमेकतापन्नं तथा कारणगतं जगदित्यर्थः। तुच्छेन सद्विलक्षणेन। अपिहितं निगूढम्। एकं संस्काररूैैकावस्थापन्नम् । आस्ठ आसमन्ताद्धवनयुक्तं यज्जगदासीत्तपस ईश्धरालोचनस्य महिम्ना स्थूलविचित्ररूपेणाजायत आविर्बभूव। अथवा अपिहितं आवृतम्। एकं अद्वितीयम्। आस्पु विभु संसकारनापन्नजगद् ${ }^{1}$ नुस्यूतं यद्रघ्म असीदित्यर्थः ॥

प्रसक्तेरिति । सद्रिन्नत्वेनैव सर्वेदेशकालनिष्ठाभावप्रातयोगित्वरूपासत्व्वस्यानुमानसंभवादिति भावः। न चैवं-शास्रमूलकप्राप्तियुक्तस्य शारोण निषेषे विकल्पापत्तिरिति—वाच्यम्; अननुष्ठेये विकल्पासंभवात्। न ब्यां घटो न घट इत्यद्दौ विकल्पः संभवति, विरोघात्। वैयर्थ्यमिति। नासदासीदित्यत्रन्वये इत्यादिः। रजोनिषेघादावेव न ववसदादिनिषेधे । वस्तुतस्तदानीं सद्भिन्नमासीदित्यर्थकनोसदासीदितिवाक्य तदानीमसद्भिन्नमासीदित्यर्थकनासदितिवाक्ययोः तम असीदित्यनेनैककाक्यतया सद्सद्विन्नं तम असीदित्यर्थपर्यवसानसंमवाच्तदेकवाक्यतार्थमेव नासदित्यादौ तदानीमित्यस्यान्वयावरयकत्वात्, नझः पर्युदासर्थकत्वास्वीकारे तु सन्नासीदित्यत्र बाष एव सत आह्मनः सदा सत्त्वात्। अथाऽSनीदवातामित्याद्येकवाक्यतया आह्मान्यत्सन्नासीदित्यर्थ इति-चेन्न ; प्रतियोग्यप्रसिद्धे:, सदसद्विन्नत्वस्य पर्युदासपक्ष एव शाब्दत्वेनोपसंहारमात्रेण 'आमेयं चतुर्घा करोति’

न च 'नो सदासी' दित्यनेनैव रजः्रभृतिनिषेधे सिद्धे पृथह्निषेधानुपपत्तिः ; 'नो सदासी' दित्यत्र सच्छब्दस्य परमार्थसत्परत्वेन ठ्यावहारिकसतो रजःप्रभृतेर्निषेधस्य ततः प्राप्तयभावात्, 'अनीद्वातं स्वधया तदेकमि' ति वाक्यशेषाद्रक्नणोडप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः, 'तम असीदि' ति वाक्याद-
'पुरोडाशां चतुर्घा करोती'त्यनयेारिव विवक्षितार्थसिद्धेश्र। अन्यथा हि सदसतोः प्रतिषेघसहकृतेन तम असीदित्यनेन तमसः सदसद्रिन्नत्वमार्थिकं स्यान्न शाबद्यम् । किंच तदार्नामित्यक्य सद्तत्प्रातिषेषГनन्वये ${ }^{1}$ आर्थिकमपि तन्न स्यात्; न हि कदाचित्तत्रातिषेधसहकृता कदाचिद्विध्यानत्वेन तमउक्तिस्तमसः सदसदन्यत्त्वं विनाऽनुपपन्ना। त₹्मात्सदसान्निषेधपक्षे तदानीमित्यस्य तदन्वयावइयकत्वेऽप्युक्तयुक्तया स पक्षेत न युक्तः ; कितु सदसद्विन्नमासीदिति पयुद्दास एव । तत्र च तदानीमित्यस्यान्वयेऽप्यदेाष ईत्याशयेन रजोनिषेधादाबेव तदन्वयादित्युक्तम् 1 रजआदिनिषेष एव तदन्वयो न तु सदसन्निषेषे; तस्य प्रकृते नउर्थत्वाभावादिति भावः 1 अत एव सद्रिन्नत्व उक्ते इट्युक्तम् । नझोके इति तत्रार्थः । व्यावहारिकसतः सत्वेन ठ्यवहार्यस्य । एतेन प्रातिभासिकस्यापि पृथगुक्तयापत्तिरिति परोक्तमपास्तम् ; रजआदिपद⿸्य प्रातिभासिकादिघटितलोकपरत्वेन ठ्यारुयातत्वात्। रा末्के-आनीदित्यादि । यथा तम असिदित्यादिवाक्यशोषेणोपसंहारादाविद्यायास्तदात्मककार्येसामान्यस्य च सदसदन्यत्वं लंम्यते ; तमःपदस्याविद्यात्मकार्थकत्वादविद्यात्मके आसीढित्यस्यान्वयेऽविद्यायामवि तद्न्वयात्, अर्थात्तस्यां सत्त्वलाभसंभवाच, अनीदित्यस्यासीदित्यर्थकत्वात्तदाISSनीदित्याद्युपंसहारेण 1 प्रतिषेधान्वये-क. ग.

विद्याया इवेति चेत्, भ्रत्यन्तराविरोधाय सदेकं घक्ष सदासीभ सदसद्विलक्षणमित्यर्थपर्यवसानात् ॥

हत्यद्वैतसिद्धौ नासदासीदित्यादिकुल्यर्थापत्तिः॥

## अथासत्ख्यातिभझः,

तस्मादनिर्वाच्यख्यातिरेव प्रमाणसंभवात्, न त्वसदन्यथार्यातिः ; प्रमाणविरहात् । न चासद्धानेऽ्सदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षं मानम्; अनन्तरोो्तबाधकेन संद्वैलक्षण्यविषयकत्वाव्, न चेदं प्रत्यक्षमपि, त्वयापि ह्यसदात्मनः सतः ज्रह्सणोडपि सदसदन्यव्वं स्यादिति भावः 1 चेदिति। नेति शोषः। तेन पर्यनसानादिति हेतोर्नासक्रतिः। श्रुत्यन्तरेति। 'सदेव सोग्येदमम्य आसीत् ' 'सल्यं ज्ञानमनन्त' मित्यादीत्यर्थः। न सदसद्विलुक्षणमिति । 'नासदासीन्नो सदासीत्रम आसीदि' ल्यनेन सदसद्विकक्षण干्य व्यवहारतः प्रलये सत्वोक्तावप्यासीदित्यन्र विद्यमानैकपदेन 'एकमेवाह्द्वतायं' ' अट्मा वा इदमेक एवाश्र असी' दिलाधैकवाक्यतापन्नेन सदसद्विउक्षणस्य द्वितीयसामान्यस्पाभावस्तदानीं ऊुम्यत इृि भावः ॥

तर्कै: सारस्वतै रन्नैश्धन्द्रिकानन्द्रमूषणै:
दुर्त्बध्वान्तनाशाय नासदित्यादिसकतिः ॥
इलद्दैतस्सिद्बिव्याख्यायां गुर्चन्दिकायां नासदासीदिल्यादिश्रुर्यापत्तःः ॥

## अथासत्ख्यातिभझ्नः

न त्वसदन्यथाख्यातिरिति। न त्वसदन्यथाख्यातिवान्।

प्रत्यक्षत्वमझ्भीक्रियते । न चात्र पूर्वकालीनभानविषये रजतेऽसत्वमिति ज्ञानमसदात्मना सद्विषयीकरोति। न च विमतमसत्, सत्वानाधिकरणत्वात्, शशाशृঙ্গवत्, विमता अग्रमा असद्विषयिणी, सत्त्वानधिकरणविषयकत्वात्, सन्मात्राविषयकत्वे सति सविषयकत्वात्, नृशाङ्भमसदित्यादिवाक्याजन्यपरोक्षवदित्यनुमानं तत्र मानम् । पूर्वोक्तयुक्तया तत्र बाधात्, प्रथमानुमाने शब्दैकसमधिगम्यत्वस्य द्वितीयतृतीययो: परोक्षत्वस्योपाधित्वाच्च । किंचासत्रयात्यङ्जीकारेण बौद्धमतप्रवेशापतिः । न च सदुपरागो विशोषः ; तथाप्यसत्ख्यात्यापत्तेस्तदवस्थत्वात्। न च—तार्किकैरप्यसतः संसर्गस्य भानाड़ीकारेण तेषामप्येवमापाद्येतेति —वाच्यम् ; तथाङ्भीकारे तेषामपि तथैव ।
अङ्भीक्रियत इति। अन्यथा शाशश्टृन्नमसदित्यपि प्रत्यक्षम्रीकियेतेति शेष:। सद्विषयीकरोतीति। न च इदंत्वविशिष्टस्य सतोऽसदात्मकतया प्रत्यक्षं मानमिति-वाच्यम् ; ${ }^{1}$ सदन्यत्वस्यैव तत्र भानमित्युकत्वात् । पूर्वोक्तयुक्तथा—असतः प्रत्यक्षत्वाद्यसंभवयुक्तया । परोक्षत्वस्य —परोक्षघित्वस्य। ननु - आद्यस्योपाघेनृत्टश्नादौ साध्याठ्यापकत्वम् ; तस्य स्वज्ञानानुठ्यवसायविषयत्वात्, द्वितीयस्यापि स्वज्ञानानुठ्यवसाये साध्याठ्यापकत्वामिति-चेन्न; शाब्दान्यज्ञानं प्रति साक्षादनिषेध्यत्वेनाविषयत्वश्य प्रथमोपाधित्रात्, अप्रमाया असदन्यत्वादिविषयकत्वमादाय सद्विषयकत्वपर्यवसानवारणाय साक्षादसद्विषगकत्वस्यैव साध्यीकार्यतया द्वितीयस्यापि साध्यंयापकत्वात्, पक्षधर्मावच्छिन्नयथाश्रुतसाध्यव्यापकत्वस्यानपायाच । यतु—प्रथमोपाधिमति ब्रह्साणि साध्याभावात्साध्याव्याव्यत्वं दोष——ति, तन्न

$$
1 \text { सदसदन्यत्वस्पैव. }
$$

वस्तुतस्तु-तेषामपि सत्संसर्गभान एव निर्भरता, श्युक्तिरूव्यं तत्तादात्म्यं चेत्यतोडन्यस्य रजतभ्रमे जविषयत्वात्, तेषां च सत्यत्वाव्।न च तहिं अ्रमत्वानुपपात्तिः ; व्यधिकरणप्रकारकत्वेन तक्वात् । न च-रजतप्रतियोगिकसंसर्गस्य ग्युक्तथनिष्ठत्वादसत्संसर्गभानं विना व्यधिकरणप्रकारत्वमेव न स्यादितिवाच्यम् ; तत्किमायुष्मक्षसत्संसर्गः श्रुक्तिनिष्ठ:, येन तद्विषयत्वं व्यधिकरणप्रकारकत्वायाङ्भीकुरुे। तस्मान्र्रासमानवैशिस्टयप्रतियोगित्वं न प्रकारत्वम्, किंतु ज्ञानविषययोः स्वरूपसंबन्धविशेषः । स च स्वरूपसंबन्धः सन्वा संसर्गो भासतामसन्वा। उभयथापि समान एव। न च शशाशृधमसदित्यादिवाक्यैरसत्यपि परोक्षप्रतीतेस्त्वयाक्झीकारेण तवाप्यसत्ख्यात्यापत्तिः ; तत्र हि न प्रतीविः, किंतु किकल्पमात्रमिन्युक्तत्वात्। तस्मान्नासत्ख्यातिः॥ हल्यसत्ख्यातिभभ्रः ॥

साध्यव्याव्यत्वस्येपाषित्वाघटकर्वात् । निर्भरताज्ञापनाय तार्किकोक्तमाह - शुक्तिरूप्यमिल्यादि। असन्वा मिध्या वा। समानः तदभाववद्विशेण्यतानिरूपित्पकारताकत्वरूपस्य ठ्यधिकरणपकारकत्वस्य निर्वाहकतया तुल्य: । वस्तुतो भासमानस्य वैशिष्टयन्य प्रतियोगिब्वं मान्तु प्रकारत्वम् । वैशिष्ट्यस्य भासमानं प्रतियोगित्वं बु स्यादेव ; गुक्तयादिनिष्ठवैशिष्टयपतियोगित्वस्य रूप्यादौः भानसंभवादित्यादि विवेचितं सामन्यलक्षणाखण्डने । तत्र हीति । हि शब्दोडबघारणे, नैव प्रतीतिरित्यर्थः ॥

तर्कैः सारस्वतै रतैै्रन्द्रिकाचन्द्रमूषणैः।
दुखन्नध्वन्तभझ़्राय असत्ब्यातिनिराकृति. ॥


## अभान्यथारूगातिभड्ग:

नाप्यन्यत्र स्थितस्य रूप्यस्य भानादन्यथाख्यातिः; अत्यन्तासत इवान्यत्र सतोडप्यपरोक्षग्रतीतिप्रयोजकसन्निकर्षानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। न च संस्कारस्मृतिदोपाणां प्रत्यासात्तित्वम्; रजतम्रत्यक्षमात्रे रजतसंयोगत्वेन कारणत्वावधारणात्, सन्निकर्षान्तरसत्वेऽपि तदभावे रजतम्रत्यक्षेत्पत्तेर्नकुमशक्यत्वात्। न च लौकिकम्रमारूपप्रत्यक्ष एव तस्य कारणत्वम्; अस्य विभागस्य स्वशिष्यानेव प्रत्युाचितत्वात्, गौरंकरत्वात्,

## अथान्यथाख्यातिभङ्गः

संस्कारस्मृतिदोषाणामिति । इदं रूप्यमित्यादिभ्रमां रूप्याघंशो उपनयसन्निकर्षजन्य इति प्राम्चः--संस्कारम्योपनयंवे तज्जन्यप्रत्यक्षस्य स्मृतित्वाद्यापत्त्या स्मृतिरेबोपनयो न संस्कार इति वदन्ति। नठ्यास्तु-उपनयप्रयोज्यस्य विषयत्वस्य लौकिकत्वासंभवादिदं रुप्यं साक्षात्करोमीति प्रत्ययानुपपत्तेद्दोषाणामेव अ्रमीयलौकिकतिषयत्वे निय। मकत्वमित्याहुः । प्रत्यक्षमात्रे इति । द्रत्यनिष्ठविषयतया प्रत्यक्षसामान्ये इन्द्रियसंयोगस्य हेतुत्वकइपनायां लाधवाह्हौ|किकविषयतया प्रत्यक्षे इन्द्रियसंयागोऽलैकिकविषयतया प्रत्यक्षे उपनयादिर्हेतुरिति कल्पनानवकाशात् 'सुरुभि चन्दन'मित्यादौ़ 'सौरमं ₹्मरामी' त्येब प्रत्ययादुपनयादिहेतुवे मानाभावाच्च । अत एव दोषғ्य न लौकिकविषयताप्रयोजकत्वम् ; रजतादिलौकिकपकारतानिरूपिततादात्म्यादिसांसर्गिकविषयतानिरूपितविशेष्यतया प्रत्यक्षं प्रति विषयादिदोषस्य हेतुंवंव गौरवेण तादात्मादिसंबन्घेन रजतादावेव तद्धेतुत्वौचित्यात्। द्वितीयादि

$$
\text { A. VOL III. } 11
$$

निर्विकल्पकसाधारण्याभावाच । रजतेन्द्रियसन्निकर्षजस्य रजते रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य अ्रमत्तानुपपत्ते:। 'इमे रङ्गरजते' इति अ्रमे विद्यमानोऽपि रजतसम्बिकर्षो जनको न भवति, अनुमिताविव छ्रचिद्विद्यमानोऽपि विषयः । अथानुमितेर्विषयजन्यत्वे प्रत्यक्षत्वापति:, अतीतेडनागते च विषये अनुमितिर्न स्यादिति बाधकम्, रजतप्रत्यक्षस्य रजतसन्निकर्षजन्यत्वे प्रमात्वापत्तिः, असन्निकर्षे च तत्प्रत्यक्षं न स्यादिति बाधकं प्रकृतेऽपि तुल्यम् । यदि तु दोषमहिम्ना रजतसान्बिकर्षस्य रङ्ञानांशो जनकत्वम्, रङ्भसनिकर्षस्य च रजतज्ञानांशे, तदा रजतज्ञानांश तत्स्सि-

क्षणे इन्द्रियसंयोगोत्पत्त्य। चाक्षुषाद्युत्पत्तिसंभवादिति भावः। अनिर्वचनायख्यातौ विचारितमेतद्श्माभिः। ननु—प्रत्यक्षभ्रमसामान्ये सान्निकर्षानुपपत्तिरिति यदुक्तम्, तन्न युक्तम् ; 'इमे रऊ़रजते’ इति रख्नरजतयो रजतरक्न कारके अभमे सन्निकर्षसंभवात्, तत्राह--रजतेन्द्रियेति । रजते रजतत्वप्रकारकेति '। यथा रजते रजतत्व प्रकारस्तथा रजतमपि स्वर्मिंस्तादात्म्येन प्रकारोऽस्तु ; न तु रके एवेति ज्ञापनायेदमुक्तम्। अ्रमत्वानुपपर्तेरिति । रजतसन्निकर्षस्य तादास्येन रजतप्रमायां हेतोः सत्त्वात् अभमात्रत्वानुपपत्तेरुक्तपमात्वापत्तेः। रजतप्रत्यक्षस्य रक्भे रजतप्रकारकपत्यक्षस्य। असन्निकर्षे इदं रजतमित्यादिश्रमस्थलीये रजतासन्निकर्षे। दोषमहिम्ना दोषसहकृतत्वेन । रझ्भज्ञानांशे तादास्येन रछ्नप्रकारकज्ञानांशे । रजतज्ञानांशे तादास्येन रजतपकारकज्ञानांशो। एवकारः शेषः। रजतादिसन्निकर्षसत्त्वेऽपि न रजतादिप्रकारकप्रमा, दोषेगैव तत्रतिबन्धात्, किन्तु धर्मीन्द्रियसन्निकर्षसहकृतदोषबलाद्रजनादिप्रकारकभ्रम इत्यर्थः । रजतज्ञानांशे रजतप्रकारकभ्रमांशो । तत्सन्मिकर्षाजनकत्तात् रजतसन्निकर्षस्या-

कर्षाजन्यत्वा ${ }^{1}$ त्र्रमात्वाभाववत्रत्यक्षत्वाभावोऽपि स्यात्। तस्मादिमे इत्येवेन्द्रियजन्यम्, रह्नरजते इति तु स्मृतिरूपमविद्यावृत्यात्मकमनिवेचनीयत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ॥

इत्यन्यथाख्यातिभद्नः ॥

## अथाविद्यकरजतोलेपत्युपपत्तिः

तच्चानिर्वचनीयमज्ञानोपादानकम्, तच्वज्ञानेन नाइंय च। नन्वेवं-‘रूप्यमुत्पन्नं नष्टं चे ' ति धीप्रसझः, त्रैकालिकजनकत्वात् । प्रत्यक्षत्वाभावोडपीति । दोषस्य प्रत्यक्षहेतुता तु प्रस्युक्तेति बोध्यम् । प्रमासामान्ये मनस उपादानत्वाचक्चुरादिसान्नेकर्षसहकृतस्य मनस एव चाक्षुपादिपमोपधायकर्वात् भ्रमसामान्येडविधैवैपापदानम् । ततद्दोपसंसकारादिसहकृतायास्तस्या एव भ्रमाविरेषोपधायकत्वम्। तथा च अभाइ्मकवृतेश्थाध्भुषादिरुपत्वे मानाभावः अघिष्ठानचाक्षुषे भ्रमस्य तादास्म्याध्यासाच्चाधुषषादिविषययाघिष्ठाने (न) रजतादेस्तादाल्म्याध्यासाच रजतं पइयामित्यादिप्रल्यय इत्याइयेनाह तर्मादित्यादि ॥

तर्कैः सारस्वतैः—अन्यथाख्यातिभज्ञनम् ॥


निषेधप्रतीतिश्न न स्यादिति-चेन्न ; उत्पादविनाराप्रतीतिरियं आन्निसमये आपायदे, बाधसमये वा। नाद्यः; पूर्वोटपना-
 ज्ञानातुदयेन रूप्यस्पाविनाशान्च। न दितीयः ; अत्यन्ताभाकग्रहस्यैव प्रतियोगिग्रह इस तदुव्पादविनाश्रहेंगपि प्रतिबन्धकत्वात् । न हि कुतापि कदाव्यल्यन्तामाधाधिकरणव्वेन प्रतीते उत्वद्वनिनाश्रतीतिरिर्ति। न च-त्रयाणां सत्चे कथम्यन्ताभागतुद्धग्रा विनाशतुद्द्रिपतिबन्धः विनाशदुदूचुगात्यन्ताभाबतुद्धि: किमिति न प्रतिबध्येतः नियामकाभावादितिवाच्यम्; फलवहेनात्यन्ताभावधीसामप्रचा एव बलवन्वेन तस्पैय विनिगमकत्वान । न च तहर्गुव्पदाद्यधिकरणे

## अथाविद्यकरजतोत्पन्युपपतिः

विनिगमकत्वाव । नुु-समरोप्वघर्म उवपदादादेरोपा-
 घाने घी: उत्पादादिक उु मिध्याब्बादिकमिबानृत्वान्न रूप्यादौ गुबते, अन्यथा वदमम्युपतमससत्वं रूव्यादौ कुतो न गुबते? विचारदशायां तु प्रमाणघृत्योत्पपदादिकं गृष्तन एव। एतेन--का-

 एव त夭कल्पनं तु न युक्तम् ; अन्यथानुपपत्त्या अ्रमस्यासद्विषयकतवं सदुपरागेणासतोऽवि प्रत्यक्षत्वमित्यस्यैय युक्तरवादित्यादि-परास्तम् ;
 क. ग.

अत्यन्ताभावः कथम् ? प्रतीतिमुपलमस्व। गया अपरोक्षप्रतीत्याद्यन्यथानुपपश्या सिद्बोत्पादादिकस्य त्रकालिकनिषेधप्रतियोयोगित्वं विषयीकियते। यद्वा-न स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्, किं तु पारमार्थिकत्वाकारेण। न च-पारमार्थिकत्वस्यापि प्रतिभाससमये प्रतीतत्वेन न न्रैकालिकनिषध प्रतियोगित्वं संभवति, रजतप्रतियोगित्वेनानुमवविरोधश्येति—वाच्यम् ; प्रतीतिकालप्रतीतं पारमार्थिकत्रमपि प्रातीतिकमेवेति न तन्निषिध्यते, किंत्वन्यत्र वृत्येवेति तेनाकारेण रजतस्यैव निषेध

सदुपरागेणासद्भानम्याव्यसंभवेन अ्रमविषयम्य प्रत्यक्षत्वायोग्यत्वादेरावइयकत्वेडपि तद्र्राहकसामग्रयनवतारादेंव तदग्रहात्। एवं चेाक्तानवतारकालीनाया अत्यन्ताभानबुद्धेर्नाशादिबुद्धघनुत्पत्तिण्याप्यत्वेन नाइाएदिबुद्विपतिबन्धकत्वमुक्तम्, न तु दाहादौं मण्यादरिव वास्तवं प्रतिबन्घकत्वम् । अत एव न हि कुत्राीीत्याद्यपि तदभिप्रायकमिति घ्येयम् ॥

अत्यन्तामाव: कथमिति । अत्यन्तामावस्य प्रतियोगिनेव ध्वंसप्रागभावाभ्यामपि सह नैककालावच्छेदेन सामानाधिकरण्य मित्यमिमानः । नोक्त।र्थ: प्रामाणिकः ; प्रतीतिविरोधादित्याइयेन समाघत्ते-प्रतीतिमिति । पारमार्थिकत्वेन रूव्यं नास्तीत्याकारकबाघन्य रूप्यनिषेधाविषयकत्वेन रूप्ये पारमार्थिकत्वनिषेषविषयकत्वं वाच्यम् ; तथाचासकतिरित्याशा ङ्ふय निषेधति—न च पारमार्थिकत्वस्येति। अन्यन्रवृत्तीति । अन्यंत्रत्यवययम् ; तेनान्यत्र वृत्तिर्यक्य तदित्यर्थः । उक्तधीविषय इति ऐोषः । तद्विषगत्वं न निषंध्यत्वेन ; किंतु तदवच्छेदकत्वेनेत्याह - तेनाकारेणेति ।

इति न तत्प्रतियोगित्वेऽनुमवविरोधोऽपि । ननु—यद्यपि प्रसक्तिर्जानम्, सा च स्मृतिरूपा पारमार्थिकत्वस्यास्तेन, तथापि निषेध्यताप्रयेजकपारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकस्य प्रसक्तिर्नस्तीति—चेन ; व्यधिकरणधर्मावचिछ्छन्नप्रतियोगिको ह्ययमभावः, तत्र्रतीतौ च न विशिष्टप्रसक्तिरुद्देइया; प्रत्येकप्रसक्तथैव तत्र्रतीत्युपपत्ते: । निर्विकल्पकाद मावप्रतीतिरिष्टापत्त्यैन परिहरणीया । यद्वा — लौकिकपरमार्थरनतस्यैव तत्र 'न्रकालिकनिषेधः । न च तर्हि 'नेह नान'ति निषेधायापि तात्विकग्रपश्वान्तरोररीकारापात्ति: ; नेह नानेति निषेधस्थले किंचनेति पदसन्द्रंशात् प्रतीयमानसर्वनिषेधस्यावइयकतया निषेध्यत्वेन प्रपश्नान्तरकल्पनाया गौरवकरत्वात्, प्रक्तते तु सर्वत्वेन प्रतियोग्यनुल्वेखादापणस्थरूप्यनिषेधस्य इद्यावइयक-

न विशिष्टप्रसक्तिरिति। यद्रूपविशिष्टक्य प्रतियोगित्वर्षस्तदूपविशिष्टस्य प्रसक्किरेक्ष्यते, ठ्यधिकरणरूपविशिष्टस्य तु न प्रतियोगित्वधीरिति न तस्य प्रसक्तयपेक्षेति भावः ॥

नन्वेवं-—प्रनियोगिनि पारमार्थिकत्ववैकिष्टयाभाने उक्ताभाव-बुद्धेर्विशिष्टैविशिष्टयरीत्वाभावात्पारमार्थिकत्वानिर्विकल्पोत्तरमप्युक्त।भावधीः स्यातत्राह—निर्विकल्पकादिति । अभावप्रतीतिः। उक्ताभावधीः। इष्टापत्येति । विशोषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य हेतुत्वे मानाभावात्समानधिकरणरूपावच्छिन्नाभावरीरापि निर्बिकल्पकोत्तरं स्वीकियते । तद्धेतुत्वस्य प्रामाणिकत्वे तु सैव तथा न स्वीक्रियते। उक्काभावधियस्तथाऽस्वीकारे तु न किंचिन्मानमिति भावः। प्रतीयमाननिषेधस्येति । निषेघाधिकरणे प्रतीयमानं यत्तन्निषेघस्येत्यर्थः ।

त्वेनाप्रतीतनिषेघकल्पनैव युक्ता। न चान्यथाख्यातिभिया तस्याग्रस्तौौ कथं तन्निषेधः अपरेक्षत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपतत्र्रसक्कः संभवात् 1 एतेन-अधीस्थं पारमार्थिकत्वमवच्छेदकम्, अनवच्छेद्कस्याभासस्य धीस्तु निषेघधीहततुरितिपरास्तम् । न च--आरोपपूर्विकैन निषेधधी:, तस्यानारोपातकथं तद्मावप्रत्यय इति—वाच्यम्; आरोपस्य हेतुतायां मानाभावेन प्रतियोगिस्मरणाधिकरणानुभवादिनैव तदुपपत्ते: । अत एव न बुद्धिपूर्वकतदारोपोऽपि । अन्यथाख्यातेः सामग्रथभांवनासत्खयातिवत् भ्रागेव निरासादारोपस्य विशोषादरीनजन्यत्वेन बुद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तेश्न 1 किंचाभावप्रस्किरेव तत्र्रसक्ति: । ननु-(अाभास इत्यप्रसक्ते) रजतत्वाकारेणाभासानाभासयोः प्रसक्तिर्बाच्या, सा चानुपपन्ना ; उभयोरकसामान्याभावात्, फलबलेन व्याप्तिग्रहे सामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वेऽप्यन्यत्रातिप्रसङ्नेन तदभावाचेति—चेन्न ; शुक्तिरूप्यस्यापणरूप्येण प्रातितिकक्य सामान्यस्याभावे तदार्थिप्रबृत्र्यजुपपत्त्या तदुभयसामान्यस्यैकस्यावइयकत्वात् $\mid$ तेन सामान्येन प्रत्यासच्या आपणरूपय ज्ञानं न ज्रूमः, किंतु

अप्रतीतनिषेधेति। निषेधाधिकरणेऽप्रतीतन्य निषेघेत्यर्थः। अधस्थंप्रतियोगिप्रसक्तावपकारः । अवच्छेदकं निषेध्यतावच्छेदकम् । अनवच्छेद्कस्य—निषेघ्यतानवच्छेदकम्य । आभासस्य प्रातीतिकपारमार्थिक₹वस्य । निषेधधीहेतुरिति । इत्युक्तामिति ${ }^{1}$ शोषः। आरोपपूर्विका निषेधाधिकरणे प्रतियेागिप्रसक्तिपूर्विका। तत्रसक्ति: लौकिकपरमार्थप्रसक्तिः। अतिप्रसझेन सार्वश्यापत्त्या। प्रातीतिकस्य प्रतीतिप्रकारस्य। सामान्यस्य रजतत्वाघ्येकजातीयंत्वस्य। तद्र्थिम्रवृतिः

$$
1 \text { इत्ययुक्तामिति-क. ग. }
$$

प्रतियोगितावच्छंदकप्रकारकं ज्ञानं प्रतियोग्याविषयकमप्यभावप्रतीत्युपयुन्कं संवृत्तमिति। अतो न सामान्यप्रत्यासत्तिनिबन्धनातिप्रसङ्यावकाशः । यतु व्यापित्त्रहे सामान्यप्रत्यासत्तिमझ़ीकत्यातिप्रसझ्जेनान्यत्र तदनङ्झीकरणम्, तदाइीविषप्गुखे फ़्नुलिं निवेशय बृश्थिकान्द्रयनाटनम् । प्रमेयत्वेन व्याप्ति परिच्छिन्दन् सर्वशः स्यादिति क्याप्तिग्रह एवातिप्रसक्ञस्य प्राचीनैरुतत्तात्वात्र्वं च यथाश्रुतप्राचीनग्रन्थानुसारेणोक्तम्। अन्योन्याभावमादाय तु लौकिकपरमार्थरजतस्य निषेध्यत्वं प्राग्य्याख्यातं

व्यावहारिकजातीयार्थिभवृत्तिं। प्रतियोगितावच्छेदकग्रकारकं ज्ञानं रूप्यव्वादिरूपेणाभासीभूतरूप्यादिप्रसक्किः। प्रतियोग्यविषयकं लौ|केकपरममर्थरूप्यादिरुपपतियोग्यविषयकम्। प्राचीनग्रन्थेति। लौकिकपरममर्थरजतनिषेघ्यताबे|फकतन्वपद्वापिकादिवाकयेत्यर्थः। ग्याख़्यातमिति । इदं रूप्यमिति भ्रमे प्रातीतिकरूप्ये व्यावहारिकरूप्याभेदावगाहनेन नेदें रूप्यमिति बाधोडपि तयोर्मेदमवगाहंतं; समानविभाक्तिकनामार्थयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावे भेदस्यैव भानादित्यादि व्याइख्यातम् । तथाचोभयोरेकजात्यमावेऽपि प्रातीतिके ठ्याबहारिकजातीयार्थिपवृत्तिकqपघते, तत्र =्यावहारिकतादास्यारोपादिति भाबः ॥

यतु—उभयानुगतसामान्यं प्रातीतिकं न वा. आघे ठ्यावहारिकस्य रूप्यव्वं व्यावहारिकं न स्यात्, द्वितीये प्रातीतिकस्य रूव्यंवं ठ्यावहारिकं क्यात्, न चेष्टापतिः ; इदं रूप्यमिति धीविषयसामान्ये रूप्यत्वं नाहतीति बाधविरो|घादिति-तन्न; रूप्यप्रकारकभ्रमस्यले उक्तवाघस्यान्वीकारात्, स्वीकरेर आधेयतासंबन्धेनोक्तविषयस्याभावो रूप्यत्वे भातीत्यदोषषात्। ननु— व्यावहारिकम्य रूप्यत्वादे: पमाणबृर्ति विना भानासंभव;, भ्रमस्थले तत्र तस्याः स्वीकारस्तु न संभ-

न विस्मर्तठ्यम्। न च सोपादानत्वे सकर्तकत्वापत्तिः; इषापत्तेः। ननु—एवमपि रूप्यस्य कथमज्ञानमुपादानम् ? तदनुविद्धतया अप्रतितेः, इद्मंशानुविद्युतया प्रतीतिरर्नुलिनिर्देशान्चेलाश्रलबन्धनादितश्येदमंशा एव सत्यविकाराविरोधेन मिथ्याविकारात्मना विवर्तत इत्त्यङ़ाक्रियतामिति—चेन्न ; गुक्तचज्ञानस्य तावदन्वयव्यतिरेकाम्यां कारणत्वमावश्यकामित्युपादानमपि तदेवास्तु; तत्कल्पनाया एवाभ्यार्हितत्वान, उपादानान्तरासिद्देः। किंच श्युत्तिज्ञानमज्ञानं नाशयद्रूप्यमपि नाशयति । तच तदुपादानव्वं विना न घटते ; निमित्तनाइस्य कार्यनाशं प्रत्यप्रयोजकत्वात् । उपादेगे उपादानानुवेधनियमाभावात् । 'रूपं घट: ' 'कपालं घट' इत्यप्रतीतेः, कथंचिदनुनेधस्य जडत्वावति ; भ्रमात्पते पूर्व सन्निकर्षाद्यसंभवादिति-चेन्न; मन्मंत है रूप्यत्वादिजातेग्र्यावहारिकण्यक्तिसंसृष्तयैव प्रमाणवेद्यत्वनियमेन पातीतिकव्यान्तिससृष्टतया साक्षिमान्रवेद्यता। अथवा—रूव्यत्वादिरूपेण संसकारस्य पूर्व सच्च्वेन रूव्यत्वाधघेश समृतिरुपैव वृात्तिरिति ध्येयम् ॥। इपापत्तेरिति । अधिष्ठानपकाइल्वेन हेतुववात्तद्वत एव कर्तृवव् ; कार्यानुकूळम्योपादान्रकाशस्यैव हि लाघवेन कर्तृत्वरूपत्वम्, अनुकूलताविंशषापादा|नान्नातिपसस्र , न तूपादानगोचरज्ञानेच्छाकृतिमत्व्वम्य ; तथाइ्वीकरोपीध्धरे तदम्तीति भावः। अभ्यार्हितत्वत्व। अश्रयव्वेनान्तरक्रव्वात्। उदमंशक्य मनसो दोषम्य बोपादानत्वमित्यत्र विनिगमकाभावादुपाएननव्वेनातिरिक्तमज्ञानं कर्व्यत इस्यादि पूर्वोंकं स्मर्तण्यम् । नाशायति अल्यन्तमुच्छिनति । तदुपादानं अज्ञानमुपादानम्। कार्यनाइं कार्याट्यन्तोच्छेदम्। तेन दोषादिनिमित्तनाशस्य अमादिनाइपयोजकत्वेडपि न क्षतिः। कपालं घट इति।

दिनात्रापि संभवात् । अज्ञानावच्छेदकतया इदमंशो इद्मंशा नुविद्धतया प्रतीतिरेव तदनुविद्धतया प्रतीतिः । कार्यकारण योरभेदाद क्रुलिनिर्देशादिकमप्युपपद्यते। न च—परोक्षज्ञानस्या प्यज्ञाननाशाकतया श्वैत्यानुमित्या अज्ञाने नाशिते पीतभ्रमानु दयः स्यात्, उपादानाभावादिति-वाच्यम्; विषयगताज्ञा नस्य परोक्षवृच्याऽनाशात् । न चापरोक्षवृत्तेरज्ञाननाशाकताय। मपि 'घटोऽय'मिति साक्षात्कुते पटोऽयमिति वाक्याभासाद्र मानुत्पत्तिप्रसङ्नः । न ह्यत्र ' वह्द्निना सिश्वती 'त्यत्रेतान्वयवि रोध्युपस्थितिरास्ति, येनेष्टापत्तिरवकारामासाद्येदिति - चाच्यम् यदा हि घटतंव पटत्वविरुद्धतयाडवगतम्, तदा हि तदर्शा। विरोधिदर्शानमेवेति कथं नेष्टापत्त्यककाशः ? यदा घटत्वस्व

कपालं घटेपादानमित्यजानतो यथा कपालं घट इति न षी:, तथाड ज्ञानमुपादानमित्यजानतो रूप्यमज्ञानमिति न घीः। नचाज्ञाने साक्ष्क भास्ये तादात्येन रूप्यादे: सत्त्वात्तयोस्तादाँ्यं साक्षिणा गृद्यतामितिवाच्यम् ; अननुभवबलेनैव तस्यावृतत्वकल्पनात्रमाणवृत्त्यैव तद्रूह। त्पुरोवर्चितादात्म्यस्याज्ञानतादास्म्याभाव亏्याव्यत्वेन गृहीतस्य সहाल्छो। कानां तद्रहासंभवाच । विचारकाले तु यद्रूप्यमभाच्चदविद्येति ग्रह्द स्तिवष्ट एवेति भावः । अभेदादिति । इदमः कारणीभूतचिदवच्छे दकत्वाचत्रेति शोषः। अनाशादिति। ननु-श्वेतत्वाज्ञाने सति श्वेत राउ्ब्वार्थिप्रवृत्विर्न क्यादिति—चेन्न स्यादेव ; न हि श्येतत्वाप्रत्यक्षे श्वर्ं त्वप्रकारिका प्रवृत्तिः, किंतु शा्त्वत्वादिप्रकारिका प्रवृत्तिः। यदि तत्र श्वेत₹्वप्रकारिका प्रवृत्तिरिति सशापथं श्रवीषि, तदासत्त्वापददक ज्ञानाभाव एव प्रवर्तकोऽसतु । पटत्वाविरुद्धतया पटत्वाभावच्याप्यतया तद्दर्शनं इदंत्वविशिष्टं तद्द्रन्, विरोधि अयं पट इति अ्रमविरोधि

पटत्वविरुद्धतया न ज्ञां तदा घटत्वज्ञानेन तदज्ञाननाचेडपि पटत्वविर्दूद्धतया अज्ञातविशेषाज्ञानस्य सच्चात्तदुपादानक एव भ्रम इति न काव्यनुपपात्तिः। न च-साक्षिवेद्याज्ञानयुखादौ ज्ञानाभावत्वदुःखाभावत्वारोषौ न स्याताम्, अज्ञानरूपोपादा-नामावादिति-वाच्यम् ; दुःखाभावभिक्क्वेन ज्ञानामावभिन्नत्वेन दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तयाइज्ञानत्वविरुद्वधर्मतया वा अधिघ्वानज्ञां अ्रमनिवर्वकम्। तच विरोधमेदादि न साक्षिगम्यम्, किंत्वनुपल्रब्धगम्यम् । तथाच तदज्ञानमेव अ्रमोपादानम्।न च-परोक्षाध्यासों न परोक्षज्ञानेन निवर्तेत, तस्याज्ञानानिवतैकत्वादिति वाच्यम् ; परोक्षाध्यासे हि प्रमातृगताज्ञानमेवोपादानम्। तच्च परोक्षज्ञानेनापि निवर्तत इत्युक्तत्वात्। न चरूप्यं दृधृाजधिष्टानतत्व्वज्ञानं विना निवृत्त्य पुंसोऽज्ञाननिवृत्यभावेन रूप्यतज्ज्ञानयोरविद्यापरिणामयोरानिवृच्या रूप्यधीसामग्रीसद्धावेन तद्दीर्दुर्वीरैवेति-वाच्यम् ; रूप्यं तद्बीश्योत्प्ये तावदुदीच्यज्ञानेन उपादाने विलीयेते । उपादानस्य निवृत्तिः परं न भवति ; अधिष्टानतच्वज्ञानाभावात् । रूप्यबुद्युन्तरोत्पत्ति-
दुःखत्वविर्दूध्धर्मवत्तया दु:खत्वघटितो यो दु:खाभाबत्वविरुद्धो ${ }^{1}$ दुःखाभावत्वाभावठ्याप्यत्वेन गृहीतः : मुखत्वादिरूपो घर्मस्तदूत्तया। अथव-दुःखत्व दुःखहेतुत्वं तदूपो यो दुःखाभाक्त्वाभावक्याप्यतय। गुहीतो धर्म: तद्वृत्तया। अज्ञानत्वविरुद्धधर्मवत्तया ज्ञानामावत्वाभावव्याव्यतया गृहीतं यदखण्डमज्ञानत्वं तद्क्त्तया। न साक्षिगम्यमिति। ${ }^{2}$ सविषयत्वाखण्डाज्ञानत्वादिनैव साक्षिमास्यमज्ञानं न तुत्तविरुद्धधर्मबत्व्वादिनेति भाव: । विलीयेते संस्काररूपेण तिष्तः । संसकारस्या-

[^209]स्त्विद्य माकारान्तःकरणवृत्तिसन्रावेनानुत्प व्नाधिष्ठानतष्वसाक्षा त्कारस्य भवत्येव । तदभावे तद्विलम्बादेव विलम्ब इति न काप्यनुपपात्तिः। तथाच सर्वप्रत्ययानां स्वगोचरशूरत्वात्प्रतीतिकाले रजतस्य विद्यमानता सिद्धा। न चैवं---तात्विकत्वमपि सिद्धघेत्, तस्यापि प्रातीतिकत्वादिति-- वाच्यम् ; अपरोक्षप्रतीत्या तावत्रिकालाबाध्यत्वरूपं ताच्चिकत्वं विषयीकतु न राक्यत इत्युक्तत्वात्। परोक्षप्रततिया विषयकितमपि तात्विकत्वं प्रातीतिकमेव ; कालान्तरबाधेन पुनरताच्विकत्वस्य संभयोग्यत्वान्न साक्षिग्रा्यता। स्थूलावस्थारूपेण पुनरुपर्तिवक्ष्यमाणसामझ्भया नानुपपन्ना। एतेनविलयो यदि ध्बंसस्तदा पुनरुपत्तिर्न स्यात्, यदि तिरोघानं तदा रूप्यादौ तदसंभवः ; पिशाचादेरेव तन्संभवादिस्यपास्तम् । स्वगोचरशूरत्वात् बाधादिमानान्तराविरोधेन स्वविशेष्ये स्वविशेषणठ्यवस्थापकत्वात् ॥

प्रतीतिकाल इति । ननु-प्रतीत्यभावकालेऽपि घटादिरिव गुक्तिरूप्यादिरपि वर्तताम्; घटादाविव तत्राप्यसझ्जातबाषे प्रतीत्यमावकालोत्तरं तदेवेदुमिति प्रत्यभिज्ञानादिति-चेन्न ; दोबादिशून्यपुरुषम्यापि संक्कारसहितसाक्षिणा प्रत्यभिज्ञापतेः। न च-दोोषादिहेत्वभावेनाविद्यावृत्त्य-भावान्नोक्रापत्तिरिति--- वाच्यम् ; आगन्तुकदोषादिकं विनापि स्मृत्यादिरूपाविधावृत्त्युत्पत्त्या रूप्यादावेव दोषादेहेतुत्ववात्, रूप्यभ्रमोचरं र末्रम्रमकाले रूप्याय्रहणेन रूप्यनाशास्यावइयकत्वाच्च। न च तत्र स्वरूप ${ }^{1}$ गोचराविद्यावृत्तिरवे|तराविद्यावृत्त्या नइयति, न तु रूप्यामितिवाच्यम् ; सुखदु:खादितदाकारवृत्तिरूपयोर्मनःपरिणामयोरुत्रेण मनःपरिणामेनेव रूप्यतदाकारवृत्तिरूपयोराविध्यापरिणामयरेरुत्तराविध्धापरिणा-

$$
{ }^{1} \text { स्वरूवागो-क. स्वरूप्य-ख. }
$$

वात् । तस्मादधिष्टांांड़न्तःकरणवृत्तिः, अधयस्तांशे चातिघावृत्ति:। तस्यां च तादात्म्यक्य भानान्नाख्यातिमत्र्रेशः ॥ इल्यांि्यिकरजतांत्पत्य्युपपत्तिः ॥

## अण अ्रमझ्य वृत्तिद्वयापपत्ति:

ननु—एवमिदमंशस्याप्यध्यन्तत्वेनेद्मिति द्यात्मकम्, इदं रूप्यमिति च त्रचात्मकम्, ₹वमे इदं रूप्यमिति ज्ञानं चतुरात्मकं च स्यादिति-चेन्न ; इंंत्वस्याध्यस्तत्वेऽपि नेदमिति
मेन नाइयत्वात्, एवं रूप्यादित弓्र्रमयोखवाधितयोरुत्रेण मनःपरिणामेनापि नाशो खाषवात्; पल्रुवाविद्यापरिण|मत्वेनागन्तुकदोषपयुक्ताविद्यापरिणामव्वेन वोत्तरधीनाइयत्वादित्युक्तव्वादिति । तथाचाधिष्ठानसद्रूपसंबन्ध एव गृद्यते, तनु तात्चिकर्वाभावसाधकम्, यतु स्वकाले सत्ताप्राहकं कालत्यये मिथ्यात्वाभावमवइयं गृद्वातीति तन्मानाभावादिना प्रत्युक्तम् । तस्यां मनोषृत्तौ । तादात्म्यस्य—अविद्यावृतितादात्म्यस्य ॥

दुरन्तध्वान्तभक्वाय रूप्याधज्ञानसंभवम् ॥


## अथ भ्रमस्य बृत्तिद्दूयोपपत्ति:

नन्वेवमिति। एवं अध्यम्तस्य मनोवृतितिषयाधिष्ठानसापेक्षवे।। इदमंशास्य इदंंव्वस्य । अध्यस्तव्वेन संसृष्रुपेणाध्यमतत्वेन ।

आ्यात्मकम् ; इदंत्वाद्यधिष्टानस्य स्तप्रकाशत्वात्। न हि वयं सर्वत्राध्यासे द्यात्मकतां ज्रूमः, अपित्वन्तःकरणवृत्तिसन्यपेक्षाधिष्ठानप्रकारो। अत एव नेंद रूप्यमिति त्रयात्मकम्, स्वये तु चतुरात्मकत्वशाङ्का सर्वथानुपपन्ना; इदंरूप्ययोरप्यध्यसनीयत्वात्, अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूपाधिष्ठानस्य स्व्रकाशत्वात् । न च रूप्यज्ञानस्याचाक्षुषत्वे 'रूप्यं पइयामी' ति चाक्षुपत्वानुमवविरोषः; चाक्षुपदंधृत्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामत्वेन चाक्षुपत्वोपचारात्, अनुभवव्वमान्रानुभव एव आत्माने पख्यामीत्युल्छेखदर्शनाच । ननु-रूप्यज्ञानस्याविद्यातृत्तित्वेन प्रातिभासिकतया प्रतिभासावइयंभावेनाध्यस्तविषयज्ञानस्य चाध्यइदंत्वाद्यधिष्ठानस्य - संसृष्टेदंत्वं प्रत्याधारस्य रूप्यावच्च्नचैतन्यस्य । स्वप्रकाशत्वात् मनोवृत्तिविषयानात्मकर्वात् । द्वगात्मकतां मनोवृत्त्य|विद्यावृत्तिविषयाम्यामाधारारोप्याक्यां घटिताम् । सव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकारो सत्यपेक्षोऽघिष्ठानपकाशो यस्य ताहदाआ्रमे। यत्रादौ रूप्यभ्रमः पश्चात्तत्र चैत्रीयत्वादिभ्रमः तत्र रूप्यं चैत्रीयमिति द्यात्मकत्वेऽपि यत्र युगपत्ताद्दराभ्रमस्तन्रैकैव अविद्यावृतिरिति न द्वुचाह्मकं ज्ञानम् । मनोवृतिरुपाधिष्ठानधीजन्यभ्रमे तु वृत्तिद्वयात्मकत्वमावइयकामिति भावः। स्वभे तु चतुरिति । यत्रादाविदामिति शुक्तिरीः पश्चात्तत्र रूप्यमिति धीः, ताद्धास्वमे वृत्तिद्वयाइ्मकम्। यत्र तु युगपदिदं रूप्यं चाध्यन्तं तत्र च्वमे तदुभयगोचंरैकैव वृतिः, अविद्यावच्छिन्नचिद्रूपाधिष्ठानगोचराप्यविद्यावृत्तिरन्या, तथाच पूर्वस्थल उ्यात्मकं ज्ञानम्, द्वितीयस्थले तु द्वघात्मकम्, चतुरात्मकत्वं त्विदं रूप्यमित्यादिस्वमस्य न संभवतीति भावः। स्वप्रकाशत्वात् पूर्वजाताविद्यवृत्तिविष्यत्वात् ॥

स्तत्वनियमेनाविद्यावृत्तेरप्यविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यवेद्यत्वम्, एवं तस्यापि तस्यापीत्यनवस्थितिरिति-चेत्,सत्यमेतत्। न पुनरन-

यतु—इदमंशाधिष्ठानस्य पकाशः स्वत:, इदमंशावच्छिन्नस्य तु वृत्तिकृत इति द्याह्मकता स्पष्टा । एवं स्वमे इदमंशस्याबाघेन तदंशे बृत्विरुत्कृष्टा, रुप्यस्य तु बाधेन तढ़ंशो वृतिरपकृष्टा, चिन्मात्रे स्वयंप्रकाशोडविद्यावच्छिन्नचिति चाविद्यावृतिरिति चतुरात्मकता स्पष्टेतिततुच्छम् ; च्वप्रकाशचितमादाय द्वघारमकतादेरिष्टत्वात् । आचार्यदूष्यप्रकृतप्रन्थे हीदं रूप्यामिति ज्ञानं त्रयत्मकम्, म्वमे तच्चतुरात्मकं स्यादित्युक्तम्। तत्र स्वप्रकाशचितमादाय सवमे ${ }^{1}$ चतुरात्मकत्वमापद्येत। तस्मादाघारारोप्ययोर्वृत्तिद्वयाई्रीकारे इदमित्यत्रैव तयो।वृतित्वयापादनं तत्राभिप्रेतम्, तच न संभवति ; इदंश रूपारोप्यम्य रजतावच्छिन्नचिद्रूपाषारस्य चैकस्यामविद्यावृत्तौ विषयत्वात् । न च रजतभ्रमं प्रतदिंज्ञानस्येवेदंत्वभ्रमं प्रति रजतज्ञानस्यापि हेतुत्वादविद्यावृत्तिद्वय-मावइयकामिति-वाच्यम् ; न ््यारोपे आधारावच्छेदकसामान्यज्ञानं हेतु:, पूर्व रजतज्ञानं विनापीदं रजतमिति अभोदयात्, किंत्वारोपहेत्वविद्याविषयावच्छेदकस्य सामन्यरूपेण ज्ञानम् ; विशोषरूपैणैय तस्यावृतत्वात्, इदंत्वारोषं प्रतीव रजतं नोक्तविषयावच्छेदकम्। तस्मादिदंत्वसंसर्गरजतयोरेकस्यामविद्यावृत्तौ इदमाकारमनेवृृत्तिर्हुरिरितादं रजतमिति अमे द्वघाकारे उ्याकारत्वापादनं मौड्यादेव। स्वमे उत्कृष्टापकृष्टवृत्विद्वयोक्तिरपि तथैन; ₹वमृद्टषं सर्वमिदमादि मिथ्यति पश्षाहाघेनाबािितविषयकत्वरूपोक्कर्षासंभवात्, तथाच तत्रैकैवाविद्यावृत्तिरिदंखूप्योभयविषयकेति ध्येयम् ॥
${ }^{1}$ स्वमे चतुरात्मकत्वस्याभिप्रेतत्व इदं रुप्यांमात जाप्रति ज्ञानेऽपि चतु-क. ग. ${ }^{2}$ इदंवन-क. ग.

वस्था; अविद्याब्टत्तिप्रातिभासके चैतन्येेविद्यावृत्ते: स्वत एवोपाधित्वेन वृच्यन्तरानपेक्षत्वत्व। ननु-अज्ञानस्य रूप्याकागज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमिति प्रतीतेर्ज्ञानगताकारेंौोोपपत्तावतीतविषयकज्ञानन्यायेन बोपपत्तौ रूप्यरूपाविद्यापरिणामकल्पना न गुक्तेति-चेन्न ; ज्ञानाकरेंगैव मविषयकत्वे साकारवाद्रसङ्नात् । अतीतविषयवदुपपादनेडप्यपरोक्षत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात्। न च-दोषाणां स्वाभ्रय एवतिशयहेतुत्वेन चक्षुर्गतदोषजन्यो भ्रमः कथमचाक्षुपः स्यात् ? अन्यथा त्वचा गुहीते शह्बे चक्षुपा गुहीते रूप्यसाद्हरये च निमीलितचक्षुपोऽपि पीत-

प्रतिभासके चैतन्य इति । चैतन्यमेव वरिभासकं बृत्तिस्तु वियमाना सती तद्वयावर्तिकेत्युपाधिः । तथा च न्वोपहितचितापि वृतेर्भास्पत्वसंभवान्न वृत्य्यन्नरापेक्षेति भावः। यचु-वृत्तेः प्रातितिकसत्च्वात्वोपहितप्रतीतै। सल्यां सत्व्वम्, सत्वे चोपाघित्वमिल्यन्योन्याश्रय इति तच्छोमते? न ह्युपाघित्वसि|द्देसावेक्षं सत्व्वं ज्रूमः ; येनोपाघित्वसत्वेडेन्यान्यमाश्र्यतःः। किन्तु यया वृत्त्या संबद्धा चिद्ञासिका तर्या विद्यमानते सति चयावर्तकर्वरूपपुपाधिकत्वमिति। उत्तत्वादिति। अपरोक्षत्वं न ज्ञानगतोऽखण्डावेशेषः; साकारखादापतें, अनातृतचित्संबन्धध्यैव सुखादावपरोक्षत्वरूपतया क्लमत्त्वात्। अन्यथा विकक्षणवृत्तिविषयत्वस्य सुखादौ कल्पने गौरवादुक्तसंबन्धैनैवेपपतौ ज्ञानगतापरोक्षत्वरूपाखण्धर्में मानाभावादद्येय्युक्तमिति भावः। स्वाश्रये म्वाश्रयजन्ये। अतिशयहेतुत्वेन अभव्वादिरुपातिशयप्ययोजकत्वेन। त्वचा गृहीते रा्क्वे


[^210]भ्रमरूप्यभ्रमयोरापत्तेरिति-वाच्यम् ; दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वमित्यस्यैवासिद्धेर्नियामकाभावात् । न चोक्तातिप्रसङ़ो नियामकः; स्उसंचन्धिनि कार्यजनकत्वाङ़कारेणानतिप्रसक्भात् । संबन्धश्य स्वाश्रयजन्यज्ञानविषयत्वरूपः। स च न तदेति संस्काराविषयग्राहीन्द्रियजन्याधिष्ठानज्ञानस्यापरोक्षभ्रमहेतुत्वाच्चचा गृहीते तदभावाव् साद्रं गृहीत्वा चक्षुर्निमीलनस्थले इदंबृत्तिसद्धावे प्रमाणाभावेन नातिप्रसक्रापादनं शक्यम्। तत्सत्वे इप्षापत्रिरें । नन्चेवं- ृृत्तिमेदे ज्ञानैक्यानुभवविरोघः, नचाध्यस्तेनाभेदेन विषययोरेकतापन्नत्वाज्ञानयो-
गृहीते सादइये इदं रूप्यमिति भ्रमस्य निमीलितचक्षुष्के आपत्तेश्रेल्यर्थः। रूप्यसाद्रग्याक्षुषस्य जनकतासंबन्चेन संयोगसंबन्चन वाडSश्रयश्रक्षु:। तदजन्येऽपि ज्ञाने अमवव्वमुक्तचाक्षुपभयोज्यं स्यादिति भावः। नियामकाभावादिति। यथनुभवं कार्यजनकत्वं कल्येत्यति भावः। स च न तदेति। पित्तदोषशश्रयचक्षुर्जन्यज्ञानविशेष्यव्वसंबन्धश्ध त्वब्यात्रेण शब प्रहणकाले नास्तीत्यर्थ:। ननु -धर्भीन्द्रियसन्निकर्ष एवेन्द्रियभ्रमहेतुः; अन्यथा शाख्वादौ रूपाद्यविषयकचाक्षुषाद्यंभवात् , श्रेतरूपादेश्र पीतत्वादिभ्रमस्थले म्रहणाभावात्, पीतत्वादिश्रमूर्वं शह्यादिचाक्षुषादसंभवात्, न च पीतरूपश खुयो अत एव द्रठ्यत्व रू रूपाणा निर्विक₹्पकं तार्किकादिसंमतमिति-घाच्यम् ; ताबतापि नियमेन भमपूर्वमुक्तचाध्षुषोत्पत्तौ मानाभावात्, युगपदेव ताहचशचक्षुषभ्रमयोः संभवात्, तथा च स्वाश्रयजन्वज्ञानविषयतासंबन्धेन दोषस्य हेतुववसंभवस्तन्राह-संसकारविषयग्राहीति । संककारहेत्वनुभवजनकेल्यर्थः। भ्रमहेतुत्वात् अम०्यवहारपयोजकत्वात् ।

$$
1 \text { द्रठ्य हूपत्व-क. गा. }
$$

A. VOL III.

रैक्यमुपचर्यत इति—वाच्यम् ; एवमेकत्वप्रतिपादक्रयोगसम-थरनेऽन्गनुमवविरोधस्यापरिहारादिति-चेन्न ; विषययोारभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यास इत्यस्योपचारशबढार्थत्वेनानुमचविरोधाभावात्। न च—तार्है धारावाहिकज्ञानेष्वैक्याध्यासापत्तिः, विषयैक्यज्ञानस्यारोपनिदानक्य सच्चादिति-वाच्यम् ; आरोपस्य कारणानापाद्यत्वात्। न च विषयैक्यस्य ज्ञाँनैक्याध्यासनिमित्तत्वं न दृष्टमिति-वाच्यम्; पूर्वोक्तयुक्तया ज्ञानभेढे सिद्द्बेडपूर्वकल्पनायामपि दोषाभावात्। यद्वा-यथेदमंशाचच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वाद्रूप्यामिंत्वेन भाति, तथेदमाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वेन रूप्यज्ञानमिदंज्ञानत्वेन भाति। न च तर्हि बाधकाद्विषययोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीप्रसनः ; विषयभेदग्रहज्ञानभेदग्रहगोर्भिन्नसामग्रीकत्वनापादनस्याशाक्यत्वात् । केचित्तु— भ्रमपरोक्षअमे इन्द्रियजन्याषिष्ठानज़ानस्यानियमादपरोक्षक्रमेत्युक्तम्। कारणानापाद्यत्वादिति । यज्जातीयं कारणं यज्जातीयारोपे कचिद्दृष्टं तज्जातीयात्सर्वस्मात्तज्जातीयम्ग्यानापाद्यत्वादित्यर्थः विशिष्यैव हेतुत्वामिति भावः। अराक्यत्वादिति। ननु—कदााचिज्ञानयोरपि भेदो गृह्येत सर्वदा तन्र सामग्रयभावश्य वक्तुमशक्य-त्वादिति-चेत्, गृद्यत एव ज्ञानयोः कार्यकारणत्वादिविचारकाले भेद:; तयोः कार्यकारणत्वानह्नीकारपक्षे तु मनोऽविद्ययोरेकवृत्तिरूप: परिणामश्वाक्षुषस्मृतिरूपः सुरभि चन्दनमित्याकारपरिणाम इव चाक्षुषानुमितिरूपः पर्वतो वह्रिमानित्यादिपरिणाम इव चेत्यपि वत्कुं शक्यते। न चैंतं-रुप्यादरपि चाक्षुषाविषयत्वे सन्निकर्षकारणत्वादौ ठ्यमिचार इति --.. वाच्यम् ; विषयतासंबन्छेन चाक्षुषत्वावचिछ्छन्नाषि-

काले विषयैक्यग्रहनियमवब्न ज्ञानैक्यग्रहानियमः ; तं विनापि प्रवृत्त्याद्युपपत्तेः, तथाच बाधकाले न तदूनैक्यग्रहनियमोऽपीति -- आहु: । न च—इदंतृत्ते ज्ञातैकसत्वेन तद्वच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानमेव नास्तीति - वाच्यम् ; खृत्तेः साक्षिवेद्यत्वेन यद्यपि तदोचराज्ञानं नास्ति ; तथापि तदवच्छिक्नजैतन्ये गुक्त्यवच्छिक्नगोचराज्ञानसत्वात् 1 तथाचेद्वंतृत्तिराश्रयाशच्छोदिका न तु विषयावच्छेदिकेति वस्तुस्थितिः । अत एव--शुक्कितत्वं जानत इदंतृत्तितच्त्वं चाजानतो रूप्यनिवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ इति--निरस्तम् ; श्रुक्तितच्वा-
करणताया रूप्यादावनङ्ञीकारात् , अन्यथा सौरभादावपि व्यमिचारापत्तेः। अत एव मणिकृताव्युक्तम्-... 'प्राभाकरस्तु मितिमात्रांशो सर्वे ज्ञानं साक्षत्कार , इति। न ज्ञानैक्यग्रहनियम इति। यथा निदाघदूनदेहस्य गञ्राह्हदसर्वा्कीणमजने तत्तद्वयवावच्छिन्नसुखानां समानजातीयानां समकालीनानां न भेदम्रह्, तथा प्रक्टतेडपीति भावः । नियमोऽपीति । अर्थत₹्ववव्यवस्थापकोडापि बाधो अ्रमज्ञाने ययेरैक्यमारोपितं भाति, तयोर्मेदमवगाहते। ज्ञानयोरैक्यक्य भ्रमाविषयत्वे तु तयोर्मेदं नावगाहते। वस्तुतोऽर्थतत्त्वच्यवस्थापकत्वं अ्रममूलाज्ञानविषयविषयकतं न तु याबदुक्तविषयविषयकंव्वम् ; आंशिकबाधे तदभावात्। न वा भ्रमे ययंरैकैकारोपस्तयोरेमेदावेषयकत्वम् ; तत एव। तथाच अमस्य ज्ञानयोरैक्यविषयकव्वेडापि न क्षतिरिति ध्येयम् ॥

नन्विदं वृर्तर्जातैकसत्वेडापे तस्यां रजताकारवृत्विमेद्य्याज्ञातत्वात्तद्जानमेव रजतज्ञानोपादानमित्येव कुतो न सिद्धान्त्यते ? तत्राहअत एवेति । इदं वृत्तितत्वं इदंवृतौ रूप्यवृत्तेर्मेदम्। तद्ज्ञानानुवृत्तीति। उक्तभेदाज्ञानानुवृतीत्यर्थ:। तदनुवृतौ च रूप्यज्ञानस्याप्यनु-

ज्ञानस्यैवोभयपरिणामित्वात्, इदमंशास्तदाकारष्टत्तिध्यैद्यमाश्रयमात्रावच्छेदकमित्युक्तत्वात् । न चैच्रमप्यबाधितज्ञानैक्यानुमवविरोधः ; अध्यस्तेन सहेन्द्रियासंप्रयोगस्यैव बाधकत्वात्। न च सन्भिकर्ष: प्रमासामग्री ; करणानां प्राप्यकारित्वनियमेन

वृत्त्यापतिरिति भावः। वस्तुत उपादानीभूतोक्ताजानानुच्छेदेन रजतज्ञानस्यानुच्छेदेऽप्युत्तर्ञानेन निवृत्तिसंभवादानिवृत्वावपि सुखादेर्नाशे तद्धासकचिस्सत्वे सुखं साकात्करोमीत्यस्येव रुप्यनाशो तज्ञानसत्वेडपि रूव्यं साक्षात्करोमीत्यस्य वयवहारस्यासंमवान्नानुपवत्तिः; परं तु एकस्यैवाज्ञानस्य रूप्यतज्जानापादानत्वे लाघवाच्तदेव युक्तामिति ध्येयम् । आश्रयमात्रावच्छेदकमिति। इदं रुप्यमिदं ${ }^{1}$ रूप्यज्ञानमिति द्वयकारानु-भवाद्ज्ञानमूलकभ्रमविशेष्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नस्यैवाज्ञानाधारावच्छेदेकरूपत्वादेकस्याज्ञानस्य द्वयमाश्रयतावच्छेदकम् । यद्वच्छिनां हि चितमज्ञानमाश्रयति तदवच्छिन्नां तों तत्परिमाणोऽपि, तदाश्रयतावच्छेदकमेव तदंशो विशेष्यतावच्छेदकम् । अयैवं-—इदं ज्ञानं रूप्यमित्यपि अ्रमाकारः स्यादिति-चेन्न ; इं ज्ञानं न रूप्यमिति बाघसत्त्वत्समानविषयकसं₹काररूपस्य हेतोरभावात् इदमादिनिष्ठप्तत्यासत्त्या दोषविशेषाणां रूप्यादिहेतुत्वादिद्मादावेव रूप्याद्युत्पत्य्या इदं ज्ञाने तदापत्त्यसंभवात्। तादात्यसंबन्घेनाविद्यापरिणामरूपं ज्ञानं प्रत्यविध्याविषयविषयकज्ञानत्वेन तादास्येन हेतुत्वादुक्तज्ञानरूपे इदं ज्ञान एव तादास्मेन रूप्यादिज्ञानोत्पादः । असंप्रयोगस्य असंयोगप्रतिसंघानस्य । अध्यस्तम्, इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः, हन्द्रियासन्निकृष्टत्वादित्याघ्यनुमानं बाघकामिति भावः ।

[^211]सक्निकर्षस्यापि सामान्यसामग्रतित्वात्। न हि दृष्टा छिदा दारुवियुक्तकुठारेणेत्यन्यत्र विस्तरः। यत्तु— भुक्तिरेव विवर्ताधिष्ठानमस्तु, न चैतन्यमिति-तन्न ; अधिष्ठानस्य भ्रमजनकाज्ञानविषयत्वेन तदक्प्पततया सत्यत्वनियमात्, शुक्तेश्र मिथ्यात्वात्। यद्वा-अविद्यावृत्तेर्न ज्ञानत्वम्, अतो ज्ञानैक्यधीः; ज्ञानत्वस्याज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वात्। न चैवं धारावाहनस्थले द्वितीयादिज्ञाने ज्ञानत्वं न स्यादिति-वाच्यम्; तस्यापि तत्तत्कालविशिष्ट्राहकत्वेनागृह्हीतग्राहकतयाऽज्ञाननिवर्तकत्वात् । वस्तुतस्तु—यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति ठ्यवहितज्ञानेनेवाव्यवहितज्ञानेनाप्यज्ञाननिवर्तनादिति न काप्यनुपपतिः। परोक्षस्थलेऽपि प्रमातुगताज्ञाननियृत्तिरस्तेवेति तत्र जानामीति

सामान्यसामाग्रीत्वात् ज्ञानसामान्यसामग्रीव्वात् । तदकल्पिततया अज्ञानाप्रयुक्ततया। नियमादिति । वस्तुतः शुक्त्यादे स्तूलाज्ञानविषयत्वेडपि न परोकदूषणावकाशः । अनादौ परमते विषयत्वस्येव मन्मते विषयित्वस्यापि कादाचिक्कस्य संभवादिति ध्येयम्। मिथ्यात्वादिति । शुक्तयवच्छिन्नचिद्रूपं तु यद्यपि मिथ्या, तथापि नाज्ञानविषयः; चिन्मत्रनिष्ठायामज्ञानविषयतायां श्रुक्तयादेरुपाधित्वात्। न च-व्यावर्स्यविषयताकालाव्यापकत्वमुपाघित्वे विघटकमिति—वाच्यम्, व्यावृत्तिषीकालु्यापकत्वस्यैवोपाघित्वे तन्रत्वात् । न काप्यनुपपत्तिरिति । वस्तुतो $\leqslant$ ज्ञाननिवृतित्वरूपयोग्यत्वं प्रमात्व ${ }^{1}$ पर्यवसितम् । अत एवेदमाकारवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् । परोक्षस्थले परोक्षभ्रमकारणादघिष्ठानसामान्यज्ञानात् । निषृत्ति: नाइं प्रति ₹वरूपयोग्यता। तेनेदमाकारवृतेरेज्ञाननिवृत्यनुपषायकत्वेऽपि

प्रत्ययः। तेन सहाभेदग्रहात्परोक्षभ्रमेउपि जानामीति प्रत्ययः। न च विवरणेडन्तःकरणपपरिणामे ज्ञानत्वोपचारादिदंशृत्तेराि ज्ञानत्वोक्तौ विवरणविरोघः ; तस्य प्रकाशत्वनिबन्धनज्ञानपद्ग्रयोगविषयत्वामित्येतत्परत्वात्, न त्वज्ञननिवर्तकत्वनिबन्धनज्ञानपदग्रयेगोऽ्यौपचचारिक इति तस्यार्थः। तथाचाविद्यावृतौ यत्र ज्ञानपदप्रयोगस्तत्रौपचारिक एव। न च-अविद्यावृत्तेरज्ञानत्वेन ज्ञानस्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमिति विरुुयेत, निरपवादनियमस्यैव संभवादिति वाच्यम्; इच्छाजनकवृत्तिमात्रस्य ज्ञानत्वमभिप्रेत्योत्सर्गत्वोकेः । यद्वा - वृत्तिभेदेड्पददंदूप्ययोरिद्ममंशावच्छिन्वचैतन्यप्रकाइयत्वेन फलैक्याज्ज्रानैक्यधीः। न च-परोक्षभ्रमेड्परोक्षैकरसचैतन्यरूपफलैक्यामावाक्कथं तन्निबन्धनज्ञानैन क्षतिः। तेन सह— ताह्हजज्ञानेन सह। अमेडवीत्यपिशब्दादपरोक्ष-
 च भमे ज्ञानत्वानकीकारो विचाददशायामपि ज्ञानैक्यबुद्रचुपपादनायेति बोध्यम् । ग्रकाशत्वेति । असत्त्वपादकाज्ञानशून्यचिदूपूत्वेत्यर्थः। प्रयोगविषयत्वमिति । औपचारिकमिति शोषः । अज्ञानत्वेन ज्ञानान्यत्वेन। इच्छाजनकेति। सुखादावपि वृतिममक्रीकृत्येदमुत्कम्। तत्र तदनझीकारे त्वसत्वापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वस्यैवेच्छाविषयतापयोजकत्वान्नाविद्यातृत्तेरिच्छापयोजकत्वम्। परंतु ज्ञानस्यौस्सर्गिकमित्यादौ ज़ानवदमुक्तानवच्छेदकत्वाश्रयविषयक ${ }^{1}$ चित्परामिति ध्येयम्। फलैक्यादिति । आवरणनाशरूपफलविशिष्टत्वेनेदमंशावच्छिन्नचिदेव फलं न तु रूप्यावच्छिन्ना। तथाचोक्तफलस्यैक्यात्तदवाच्छिन्नयोर्वृत्तिज्ञानयों ैैयन्यवहार इति भावः ॥

क्यानुमव इति——ाच्यम् ; तत्र फलैक्यमप्युपचर्य ज्ञानैक्योपचार इत्येव निशोषात् । ननु-त्वन्मते यथाक्रमामिदेंरूप्याकारान्तःकरणणवृत्र्यविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितां्यां वा, तद्भिव्यकाभ्यां वा, इदमंशावच्छिन्नतदननच्छिन्नाम्यामिद्मंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वा, वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात्कथं फलैक्यम् ? अनवच्छिन्नफलीभूतचिन्मात्राभेद्स्य सर्वत्र समानत्वात्। न हीदमंशेडपि तदवच्छिन्नम्नव चैतन्यमुपादानम् ; आत्माश्रयात्। न वा रूॅये इद्मंशानवच्छिन्नमुपादानम्; इदं रूप्यमिति प्रती-त्यनुपपत्तेरिति-चेन्न ; अविद्यावृत्तिस्तावन्नाज्ञाननाशिका, किंत्वन्तःकरणवृत्तिरिद्ममाकारा । तथाच तदभिव्यक्तचैतन्यमेव रूट्यममिव्यनक्तीति फलैक्यसंभवात् । न ह्यचच्छेदकमेदेन फलभेदः, कितु व्यझ्ञकमदेन । तथाच परमार्थसचैतन्यमधिप्ठानमध्यस्तज्ञानस्य। तच द्विविधं ठ्यावहारिकसत्प्रातिभासिक-

तदाभिव्यक्ताभ्यां वृत्तिकृतावरणनाशाविशिष्टाम्य।म् । वृतेश्चिदुपरागार्थत्वे प्रथमः पक्षः। आवरणनाशार्थत्वे तु द्वितीयः पक्षः। अथमनोऽवंचिछन्नचितो जीवत्वपक्षे विषयचैतन्यमनावृतमेव; जीवस्य विषयचैतन्येनाभदान मिष्यक्तयैव वृत्त्यभावकाले विषयाद्रष्ट्र्वात्, तत्पक्षमाश्रित्याह— इद्मंरोति । चैतन्याक्यामिति। इदमंशरूप्याकारवृत्तिकृतप्रमात्रभेदापन्नाम्यामिति ईोषः । दूष्यग्रन्थे यद्यपि मध्यमो वाकारो नास्ति, तथापि पक्षत्र्यसंभवात्स उक्तः। अभिण्यनक्तीति। इदमंशोऽज्ञानास्वीकारपक्षेऽपीद्याकारवृत्तर्द्रव्यत्वाद्याकारकत्वसंभवेन द्रत्यत्वादिविशिष्टांशोऽज्ञाननाशाकत्वं बोध्यम् । ठ्यञ्जकमेदेन अज्ञाननाशाकवृतिभेदेदेन । मनोवृतिमेदेदे तक्कृतस्याज्ञाननाशास्यापि भेदात्तद्बिशिष्टचिद्रूपफलभेद इति भावः। तच अध्य干 ${ }^{\text {त }}$ ॥

सचेति । तदुक्तम्-' प्राग्व्यावहारिकसच्वविषयत्वात्रत्यक्षं नागमबाधक'मिति । परमार्थसश्वमादाय त्रिविधं सत्व्वम् ॥ .

इत्यद्वैतसिसिद्धौ भ्रमस्य वृत्तिद्वयोपपत्तिः॥

## अथ सन्तन्त्रिविध्योपपतिः

नजु-एवं सत्त्वत्रैविध्यविभागो नोपपद्यते, प्रातिभासिकाद्व्यपक्रष्टस्य स्वामरूप्यस्य ठ्यावहारिकाद्युत्कुत्कृष्टाया अविद्यानिवृत्तेः सद्भावादिति चेन्न ; स्वामे प्रातिभासिकनिकृष्टत्वे प्रमाणाभावात्। तथाहि--प्रातिभासिकत्वं हि प्रतिभासमात्रसच्वम्, तच्च स्वप्वजागरयोः समानम्। ननु—जागरेऽधिष्ठानतावच्छेद्केद्मंशास्याधिकसत्ताकत्वम्, स्वप्मकाले तस्यापि प्रातिभासिकत्वमित्येन निकुष्टत्वमिति-चेन्न; स्वझे हीद्मो नाधिघ्ठानतावच्छेदकत्वम्, तुल्यवदारोप्यत्वात्। तत्राधिष्टानमाविद्या-

तंर्कः सारस्वतै रलैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणै:
दुरन्तध्वान्तभङ्ञाय अमे वृत्तिद्वयं मतम् ॥


अथ सत्तान्नैविध्योपपत्ति:
आरोप्यत्वादिति। यतु—स्वामेदमंशस्याधिष्ठानतानव ${ }^{1} च ् छ े द-~$ कत्वेडपि बाध्यत्वाभावाद्ब।ध्यरूप्यादुकृृष्टत्वामिति प्रकृते विवक्षितमिति-

$$
1 \text { नताव-क. ग. }
$$

वच्छिन्नमेव चैचन्यमिति वक्ष्यते । अविद्यानिषृत्तेः पं्ञमप्रकारतापक्षे संसारकालीनसत्व्वस्यैवायं विभाग इति न न्यूनता। यद्वा-अविद्यानिवृतेः सच्चाभावेन सत्त्वविभागे न तद्सकूहनिबन्धनो दोषः। वस्तुतस्तु-अविद्यानिवृतिर्त्रह्मस्वरूपा अनिवंचनीया वेति न विभागन्यूनता । न च—विभागस्य तात्विकत्वेऽपसिद्धान्तः, अताच्विकत्वे त्रिविधत्वं गतमेवेतिवाच्यम्; ब्नह्मातिरिक्तमताच्विकमिति वद्तो विभागाताच्विकत्वस्येष्टत्वात्। न च तर्हि ताचिवकन्र्रविध्यहानिः ; को हि Аै्रैिध्यस्य तात्विकत्वं ज्रवीति? किंतु ठ्यावहारिकत्वमेव। न च

तचुच्छम् ; जाग्रत्कालेऽपि शुक्तिरूप्यायुक्तोलकर्षस्येद्मंशे सत्वेन जाप्रच्छुक्तिरुप्यापेक्षया स्वाम्यशुक्तिरुप्यस्य तावताप्यपकर्षापतिपादनेन पक्कतानुपयोगात्। न हि जाग्र््रमबाघकेनेदमंशः ₹्वरूपण बाध्यते, कितु संसृष्टतया; तथा बाध्यत्वं तु स्वामेद्मंशेडपि वाच्यम्, अन्यथा जाग्रश्रमेऽपीदमंशे तन्न स्यादविशोषात् । किंच स्वापेद्मंशः कथमबाध्य:? 'स्वमदृष्टं सर्व मिथथे' त्यनुभवात्, बहिःसथस्येदमंशास्य सन्निकर्षाभावेनापरेक्ष्यानुपपत्त्या रूप्यदिवत्तस्याव्युत्पत्त्यावइयकत्वेनाविद्यकत्वनिश्ययाच । संसारेति। मुक्त ${ }^{1}$ कालीनव्रक्मसत्व्वासक्र्रहोक्तिस्तु शोभते ; तस्य संसारकालेऽपि सत्त्वेन सज्ञ्रहानपायात्। सत्वाभावेनेति । न च तस्यास्तुच्छत्वापत्तिः ; उत्पत्त्यादिमत्त्वात् । बह्मस्वरूपेति । ज्ञानसाध्यव्वं तु नाशमात्रस्याधिकरणस्वरूपत्वम्; अत एवेपपदितं मण्डनमनुरुध्याह — अनिर्वचनीया वेति । अविद्यायास्तु स्वकालीनकार्य प्रत्युपादानत्वमित्याद्युक्तम् । इष्टत्वादिति 1 न चास्थूलमित्यादिश्रु:्युक्तत्वेन भेदरूपो विभागसता-

$$
1 \text { मुत्ति-ग. }
$$

तात्विकस्य बह्मणोऽताच्विकाच्छुक्तिरूप्याद्वाधाधिगम्यस्य विभागस्य कथमतान्विकत्वमिति-वाच्यम् ; बाधबोध्यत्वं न ताच्विकत्वे प्रयोजकम्, किंत्त्रबाध्यत्वम् ; तच न ज्रह्मातिरिक्तवृत्ति, नेह नानेत्यादिना बधात्। न च त्रिविधसत्त्वाइ्भीकारे बह्मैव सदिति स्वमतविरोधः ; तस्य परमार्थसद्रह्नैवेत्येतत्परत्वात् । एतेन — विश्वमिथ्यात्वत्रह्मनिर्विशोषत्वादावप्येवं विकल्प्य द्षणमिति--अपास्तम् । ननु--अत्र परमार्थसदेव सदितरद्वयं सद्विलक्षणमेव सत्तेन भाति, बाधविलम्बाविलम्बाभ्यां तन्र्रेद इत्यमिप्रेतम्, उत वा सत्वस्सैवावान्तरमेद् इति । नाद्यः; त्वन्मते रूप्याभावे रूप्यधीरिव सच्चाभावे सत्त्वबुद्धेरयोगात्। कदाचिद्यि सच्वाभांच तुच्छवदुत्पत्याद्ययोगात्, ठ्यावहारिके प्रातिभासिकादर्थंगतविशोषाभावेन तत्राऽर्थक्रियादे: श्रुतीनां तद्विषयत्वेन प्रामाण्यस्य चायुक्त्यापातात्। प्रत्युत नभौनैल्यभ्रमहेतोरिवार्थभ्रान्तिहेतुत्वेनाप्रामाण्यनिश्रय एव स्यात्। नान्त्यः ; आरोपितानारोपितसाधारणसामान्यधमर्माभावात्, ठ्यावहारिक-
त्विक इति—वाच्यम्; अच्छायमित्यादिसममिठ्याहारात् अस्थूल मित्यादे: स्थूलाद्यन्ताभाववदर्शकत्वादखण्डार्थकत्वाच्च । नेह नानेति 1 एतद्वाक्यस्यार्थन्तरवर्णनं तु शतधा दूषितम् । तुच्छवदिति । कार्यमात्रस्यति ओेषः। प्रातिभासिकादित्यादि । ठ्यावहारिकविषयकज्ञानम्य प्रातीतिकज्ञानापेक्षयार्थगतस्य विश्राषस्याभावेन ठ्यावहारिकज्ञानादेवार्थक्कियाविशोषः । मिथ्याभूतब्यावहारिकविषयत्वेऽापि ${ }^{1}$ ज्योतिष्टोमादिश्रुतनानां प्रामाणिकत्वमित्ययुक्तामिति भावः। अयुक्त्यापतात् अयुक्तत्वापातान् । अप्रामाण्यनिश्रय इति ।

स्यानारोपितविरेप्वे इट्टापतेग्रेति-चेन्न; द्वितीयपध्रै्यैव क्षेदक्षमत्वात। तथाहि-अवाछ्यत्वरूपमरोपितानरोपितयोः सामान्यम् । अन्यदा बाघ्येडपि सकालाबाध्यत्वमाग्रेणरोपितेत्रि तस्य संभवाद, आरोपितानारोपितयोरेकसामान्याभावे पृृत्याघनुपपतेरुक्तत्वाव। अत एवोत्रम्
'आकाशादौौ सत्यता तावदेका
प्रत्यझन्तने सल्यता काचिदन्या।
वत्संपकाल्सल्यता तत्र चान्या
च्युत्पन्नोज्यं सत्यर्वब्दस्तु तत्र"॥ हति ॥
यथा प्रातिभासिकरजते ज्ञातैकसदेकें रजत्व्वमु, लौकिकपरमार्थरजते चाज्ञातसदपरं रजतव्वम्, तदुभयानुगतं चारोपि-

 विषयत्बसामन्यमावाबूप्न । स्वकालाबाधायत्वमान्तेण स्वकालाब-
 वस्य व्यवच्छेदः । तृतीयाथंथ्याभेदक्य तस्येत्यत्रान्वयः। प्रवृत्याद्यनुपपत्तेरिति। येन हि रजतत्वादिसामान्येन विशिष्टं पूर्वमुपलबखं तत्र्रकारकपवृत्तेर्भ्रमस्थलेडप्यनुभवससिद्धाया उपपादनाय तत्पकारकत्वं अ्रमस्यावइयं वाच्यम् ; तथा चाबाध्यत्वप्रकारकप्रवृतये 5 बाध्यत्वप्रकारकत्वमपि तस्यावइयकमित्यन्यथाख्यातिदूषणान्द्रमविषयेऽबाध्यत्वादिसामान्यसिद्धिरिति भावः। ज्ञातैकसदिति। उभयानुगतजातेद्दोषादिकार्यतावच्छेदकत्वासंभबात्रमाणच्यापारं विना प्रातीतिकरजते भानासंभवात्, ठ्यक्किविशोषसंबन्धित्वेनैव प्रमाणबेद्यत्वनियम इति कल्पने गौरवात्, तद्यक्तित्वादिनाव्युभयानुगतजातेः प्रमाणवेद्यं्वनियमाच ज्ञातैकसद्रजतत्वाघ्यावइयकामेति भाव:। अज्ञातसदपरमिति। सााक्षे-

तानारोपितसाधारण रजतत्वं रजतशब्दालम्बनम्, एवमाकाशादावारोपितैका सत्यता, चिदात्मनि चानारोपिताडपरा, तदुभयसाधारणी चान्या ठ्यावहारिकी सत्यता सत्यशब्दालम्बनमिति भात्वः । सद्विशोषत्वेऽपि ठ्यावहारिकस्य प्रपंश्वस्य नानारोपितविशेषत्वम् ; येनेष्टापत्तिरवकारामासादयेत्, सत्त्वस्यानारोपितत्वात्मकत्वाभावात्। सत्वाङ्धीकारादेव नोत्पत्त्यादिविरोधोऽपि । न च-स्वरूपेण बाध्यत्वं प्रपश्षेऽपि नास्ति ; तुच्छत्वप्रसक्ञात्, पारमार्थिकत्वाकारेण बाध्यत्वं निर्धर्मकतया ब्रह्नण्यप्यस्तीति कथं कदाचिद्राध्यत्वमादाय व्यावहारिकत्वादिस्थितिरिति वाच्यम् ; मिथ्यात्वरूपसाध्यनिरुकावेवास्य दत्तोत्तरत्वात् । यत्तु-सग्रकारकस्यैव ज्ञानस्य प्रपश्वबाधकत्वं वक्तव्यम् ; निष्प्रकारकत्वे बाधकत्वायोगात्, तथाच स प्रकारस्तात्विक एव
मात्रवेद्यक्य रजतःवादेः प्रमाणवेद्यत्वानुभूयमानत्वानुपपतेः प्रातीतिकसाधारणजात्या व्यावहारिकस्य हेतुत्वाद्विस्वीकारे प्रातीतिकरजतादितो च्यावहारिकरजतकार्यविझेषापत्तेश्च साक्षिमान्रवेद्यभिन्नमुक्तकार्यहेतुतावच्छेदकं रजतः्वाघ्यावइयकमिति भावः। उभयानुगतत्वे मानमाहरजतशब्दालम्बनमिति। रजतादिशब्दस्य प्रातीतिकेऽपि प्रयोगादुकानात्योः प्रयोगनिमित्रत्वे नानार्थत्वस्यापत्ते: रजताकारोभयानुगतपतीतेहर्षविशेषादिरूपकार्यप्रयोजकत्वस्योभया ${ }^{1}$ निष्ठस्योक्तसामनन्याम्यां प्रत्येकचृत्विभ्यामवच्छेतुम शक्यत्वाच्चोभयानुगतरजतत्वाघ्यावरयकामिति भावः। यत्वेक्वसामान्ये प्रतींतिकठ्यावहारिकसंबन्धो विरुद्ध इति, तन्न ; विरोषे बजजाभावात्, व्रह्मदृर्ययोरबाध्यत्वादिसामान्यस्येव तादात्म्यादिसंबन्धस्येव च तस्याविरोषत् । दत्तोत्तरत्वादिति। अभावरूपधर्मस्य ब्रक्षाणि

स्यात्-इति, तन्न ; स्वरूपोपलुक्षणोपलाक्षेतस्वरूपविषयकण्यावृत्ताकारज्ञानस्यैव निष्प्रकारकत्वेऽपि बाधकत्तमित्यस्यापि प्रागेवोक्तत्वात्। स्वरूपोपलक्षणनिबन्धनव्यावृत्ताकाइत्वेऽपि यथा नाखण्डार्थत्वक्षतिः, तद्प्युक्तमधस्तात्। ननु-ठयावहारिकप्रातिभासिकयोर्बर्यत्वाविशोषे किंनिबन्धनो भेदः, न तावन्मायि-

संभवात्त्वरूपत्वेन निषेध्यत्वमादाय भिथ्याव्वलक्षणसंभवादित्याद्युक्तम् । प्रागेवेति। यत्र घर्मान्तरमुपलक्ष्येते तत्रैव सप्रकारकत्वनियमो यथा काकवन्त इत्यादानुतृतत्वादि, यत्र तु व्यक्तिस्वरूपमुपलक्ष्यते तत्र न तथा, यथाऽऽकाशादिपद्जन्यनिर्विकरपोपस्थितौ ठ्यक्किस्वरूपमात्रमुपलक्ष्यत इत्याद्युक्तम ॥

यचु-प्रातीतिकमात्रवृत्तिरजतत्वादौ मानाभावः दोषादीनां सामानाधिकरण्यसंबन्घेन स्वविशिष्टं प्रत्येव हेतुत्वसंभवात्, प्रातीतिकठ्याक्तिसंबन्घित्वेन प्रातीतिकत्वस्योभयानुगतजातौ संभवेन प्रमाणावेद्यत्वसंभवाच । किंचोक्तमानबलेन रजतत्वादित्रैविघ्येडप्याकाशादिमात्रगतसत्यतायां मानाभाव इति, तन्न ; ₹वविशिष्टत्वस्य नित्यसाषारणत्वेन दोषादिजन्यतानवच्छेदकत्वात् । न च—तत्तद्वघक्कित्वमेव तत्तजन्यता-वच्छेद्कमस्त्विति-वाच्यम् ; चिरमनुवर्तमानेन तचद्दापेण जानितरजतादिव्यक्तेर्भ्रमन्तरेण विलयेऽपि पुना रजतज्यक्तयन्तरोत्पादात्तत्यद्यक्तित्वेन त₹कार्यत्वे गौरवात्। नित्यसाधारण्यवारणाय कालिकसंबन्धोडपि वैशिष्टचघटकतया निवेइय इति -चेन्न; कालिकसंबन्धेन घटत्वादिमघ्यद्दोषादिसमानाधिकरणं तत्वेन जन्यतामादाय विनिगमनाविरहाव्कल्प्येन प्रातीतिकमात्रगतसामान्येन विनिगमनाविरहाभावात्, आकाशादिमात्रगतसत्यतायां तु 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य '

कत्वाविद्यकत्वाम्यां भेदः ; मायाविद्ययोरभेदात्, अर्थगतविशेषाभावे तदयोगाश्च। नाप्यर्थक्रियाकारित्वाकारित्वाभ्यां विशेषः; स्वामघटादौ स्वामजलाहरणाद्यर्थक्रियादर्शनात् । न चार्थक्रियायां ठ्यावहारिकत्वं विशेषणम् ; अन्येन्याभ्रयात्, स्वाशाज्ननालिएन्नादौ प्रातिभासिके व्यावहारिकसुखजनके डतिव्यापेत्र। नापि अह्सज्ञानबाध्यत्वतन्भिन्नज्ञानबाध्यत्वाभ्यां विशोषः; त्वन्मते रूप्यदेरापि ग्रुक्तयवच्छिन्नव्रह्नधीबाध्यत्वात्, चह्नण्य $् य स ् त स ् य ~$ क्षणिकत्वादेरपि प्रातिभासिकस्य घह्नधीवाध्यत्वेनातिप्रसङाच्य। नापि ब्रद्सग्रमाबाध्यत्वतदन्यभ्रमाबाध्यत्वाभ्यां विशोषः ; त्वन्मते ज्रह्नज्ञानस्यैव प्रमात्वाप् । नापि प्रमाबाध्यत्व्र्रान्तिबाध्यत्वाभ्यां विशेषः; भ्रान्तिवाध्यत्वस्य व्रह्नण्यपि सत्त्वात् । नापि पारमार्थिकविषयधीबाध्यत्वव्यावहारेकविषयर्थवाध्यत्वाभ्यां विशोषः ; अन्योन्याश्रयात् । नाप्यन्योन्येतरत्वाभ्याम्;

इल्यादिश्रुतिरेव मानामिति बोध्यम्। अर्थगतेति। ठ्यावहारिकप्रातीतिकयोररविशेषादूूयोरवि मायिकत्वमाविद्यकर्वं बा स्यादिति भावः। ज्रह्मधीवाधयत्वेन बह्म न क्षणिकमिति धीबाहयत्वेन। त्वन्मत इति। तथा च तदन्यपमात्वमपसिद्दामिति भाबः। भ्रान्तिबाध्यत्वस्य क्ष मिथ्येति अन्त्या मिथ्याव्वेन ज्ञाव्यव्वस्य। अन्योन्याश्रयादिति। पारमार्थिकव्वस्य ज्ञानात्दद्धटितनयावहारिकव्वस्य ज्ञानम्, व्यावहारिकले च ज्ञाते व्यावहारिकमातीतिकान्यव्वं वारमार्थिकर्व ज्ञेयमित्यन्योन्याश्रयात् । अन्येन्येतरत्वाभ्यां व्यावहारिकान्यव्वाभ्याम् ${ }^{1}$ ।

$$
1 \text { न्यत्तप्रार्तíतिकान्यत्वाम्यां-ग. }
$$

भेदकाभावे इतरत्वस्यैवायोगात्, अन्योन्याश्रयाचेति —चेन्म ; सग्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वाम्यां ग्रुद्वह्नहीवाध्यत्वतदन्यधीवाध्यत्वाभ्यां वा महावाक्यजन्यधीवाण्यत्वतद्वन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा भेदसंभवात् । गुद्धशब्देन निर्धर्मकाधिछ्ठानमात्रमेवाड्र विवक्षितम् । न च—निर्धमें यद्वस्तुगत्या तज्ज्ञांन भ्रमकालेडपि, निर्धर्मकत्वविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा ज्ञांन चेद्विवक्षितम्, तदा अखण्डार्थताहानिः, प्रकारीभूतनिर्घर्मकत्व-द्वितीयाभाबदेस्ताच्चिकत्वापत्तिश्चेति-चाच्यम् ; निर्धर्मकं यद्वस्तुगत्या तन्मात्रगोचरज्ञानस्य विवाक्षितत्वात्, तस्य च अ्रमकालेऽभावाव् । निर्धर्मकत्वादेस्तद्बुद्वावुपायत्वमात्रम्; न तु तदुद्दौरी विषयत्वम्। अतो नाखण्डार्थतहानिप्रकारताच्चिकत्वापत्ती । निष्पकारकत्वेऽवि संशयादि निवर्तकत्वपुपपादितमेव। तस्मादज्ञानोपादानकं जगन्मिथ्येति सिद्धम् ॥

विशेष इत्यनुषज्यते । भेदकाभावे अनुगतानतिपसक्तस्य भेदपतियोगितावच्छेदकस्याज्ञाने। इतरत्वस्य भेदज्ञानस्य। ननु --पातातिकान्यत्वरुपुच्यावहारिकत्वेन भेद् प्रातीतिकंवम् . तन्राह। अन्योन्याश्रयानेति । प्रातीतिकत्वज्ञानाद्वयावहारिकव्वज्ञानम, तज्ज्ञानाच प्रातीतिकत्वज्ञानमिल्यन्योन्याश्रयाचेल्यर्थः । साडडयमित्यादिवाक्यनन्यनिष्प्रकारकषीवाध्ययेदद्य व्यावहारिकत्वापत्तेराह- गुडद्धेति। श्रुद्धस्य विषयत्वानझीकारेडप्याह—महावाक्येति । वाक्यन्य न बाघकसाक्षाक्कारहेतुत्वम्; किंतु भावनासहकृतमनस इति भामतीमतेड्याह— स्वबाधकेति । तद्धुद्दौौ चरमतदुद्धौ उपपादितमिति । उपउक्षणविघय। उ्यातृताकारत्वादेनेलेयादिः। तस्मादित्लर्थ स्पष्टयाति-

# उपाधिनाधप्रतिपक्षशून्यं विपक्षबाधागमसण्यपेक्षम् । <br> दृयत्वमच्याहतमम्बरादिमिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढं हि मानम् ॥ 

तदेवं दृइयस्य प्रपः्रस्य मिथ्यात्वात्तदतिरिक्तन्रह्यूपाखण्डार्थनिष्ठवेदान्तवाक्यं परतच्वावेदकम् । सखण्डार्थविषयकं सर्वमतत्वावेद्कमेवेति । यद्यपीदं ब्रद्यज्ञानाव्यवहित अ्रमविषये प्रातिभासिके ठ्यावहारिकलक्षणमतिठ्याप्तम्, प्रातिभासिकलक्षणं चाव्यापम्; तथापि करणसंसार्गिदोषपप्रयुक्तत्वं तद्संसर्गिदेषप्रयुक्तत्वं च तयोर्लक्षणं निरवद्यम् ॥

इति सत्चत्रैविध्येपपपत्ति: ॥

उपाधीत्यादि। प्रतिपक्ष: सत्पतिपक्ष:, विपक्ष习ाधकस्तर्क:, सापेक्षं सहितं, दृ₹यत्वं दृइयत्वादिहेतुः, दृढं हि दढढमेव । करणसंसार्गिदोषप्रयुक्तत्वम् करणनिष्ठसंसर्गितया करणसन्निकृष्टनिष्पप्यत्यास्या या दोषनिष्ठा प्रयोजकता तन्निरूवितप्रयाज्यतावत्वम्। काचादिदोषाणां हि चक्षुरादिसान्निकृष्टधर्मिगतपत्य।सत्र्या प्रातीतिकाध्यासहेतुत्वम्। परोक्षभ्रमस्थलेडपि ठ्याप्तिज्ञानादिकरणसंसृष्टपक्षादिनिष्ठपत्यासत्त्यैव दोषाध्यासयो: कारणकार्यभाव ऊहनीयः॥

अविद्यायास्तु व्यावहारिकविषयकं स्ववृत्तिभ्रमं प्रति तादास्म्येनैव हेतुत्वम्। अतः करणसान्निकृष्टानेष्ठपत्यासत्त्यवच्छिन्नपयोजकतानिरूपितप्रयोज्यत्वं करणसंसर्गील्यादेरर्थः। तद्नवच्छिन्नप्योजकतानिरूपितप्रयोज्यत्वं तदसंसर्गीत्यादेरर्थः। अविद्यान्यदोषआयुक्तत्वमविद्यारूपदोषप्रयुक्तवं च द्वयोः पर्यवसितार्थः। तेन करणसन्निकर्षद्रेरननुगत• त्वेऽपि न क्षति:। दोषत्वं च तावद्दोषाणामन्यतमत्वं जातिविशेषो वा,

## अविद्यातत्कार्यात्मकानिबिडबन्धठ्यपगमे यमद्वैतं सत्यं प्रततपरमानन्द्ममृतम्। भजन्ते भूमानं भवभयभिदें भव्यमतयो नमस्तæ्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये ।।

तदवच्छिन्ना प्रयोजकता प्रथमलक्षणे निवेइया; तेन दोषप्रत्यक्षादौ व्यावहारिके नातिज्याप्तिः। उक्तप्रयेजजकतानिरूपितपयोज्यतापि शुाा़्तिरूप्याद्यन्यतमत्वेन शक्तिविशेंषण वा बोध्या। अविद्यारूपदोषप्रयुक्तत्वं यद्यपि प्रातीतिकेऽव्यक्ति; तथापि मूलाविद्याप्रयुक्तत्ं वाच्यम् ; अनादिदृइयडापि तदन्याहतम्। यद्यप्यविद्यान्यद्|षकार्यत्वं अ्रमतद्विषयसाधारणरूपेण, तत्र कार्यतावच्छेदकंसन्धो दोषाश्रयतत्तद्धार्मिनिष्ठा न स्वाश्रयाविद्याश्रयताबच्छेदकत्वरूप उमयीयः; परोक्षभ्रमस्थले तदसंभवात्। रजतज्ञानस्येद्मर्थे रजतम्येदमाकारवृत्तौ चोत्पत्त्यापत्तरुमयोरुक्तावच्छेदकत्वाविशेषात् । न च-सवाश्रया।विद्याविषयतावच्छेदकत्वसंबन्ध एव तादृशा इति--वाच्यम् ; गुक्तित्वादिविशिष्टम्यैनोक्तावच्छद्कत्वेनेदम मर्थतज्ज्ञानयोः रजतज्ञानयोरूपषत्त्यसंभवात्। तथापि दोषसंसकारावेशेषाणं स्वविशिष्टरजतत्वाद्यवच्छिन्नम्य तादाॅत्या।दिसंबन्धेनोतेपत्तावविद्याया इदमाकारज्ञाननिष्ठप्रत्यासत्था रजतादिज्ञानोल्पतौ च विशेषतो हेतुत्वावइयकत्वात्। तत एव रजतादेरिदंत्वाददिविशिष्टनिष्ठंवसंभवादुक्ताविषयतावच्छेदऋ₹वसंचन्धेन रजतादितद्दीसाधारणरूपेण सामान्यतो दोषकार्यंत्वेडपि न दोष:। यद्यपि ब्रह्मज्ञानजन्यनाशतज्जन्यनाइयोरन्यतरप्रतियोगित्वं
 नाशस्यैन अ्रह्मज्ञानजन्गनाशजन्यत्वात्, पल्बवाविद्यापि मूलाविद्येव व्यावह्वारिक्येवेति न तत्राप्यतिव्याप्तिः। तथापि पल्डुआविद्यानझीकारपक्षे प्रातीतिकविईఫपेऽतित्याप्तिर्चोध्या। अत्र पद्धआविद्यापक्षे मूलुपल्डआविद्या-

अनादिसुखरूपता निखिलद्धइयनिर्पुक्तता
निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः। त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः ॥
इनि श्रामत्परमहंसपरित्राजकाचार्यभ्रावंश्वश्वरसर्सवर्ता-श्रीचरणाशष्यश्रीमधुखद्रनसग्स्वतीविरचितायामद्वेतसिद्दौ सपरिकरपपश्नमिध्यात्वनिरूपणं नाम प्रथमः पराच्चिद्धः ॥

प्रयुक्तत्वे लक्षणे, पक्षान्तर चाविद्यामनस्तवप्परणामान्वंत्वे सत्यविद्याविषयतानवच्छेदकह्हइयव्वं प्रातीतिकत्वम्, उक्करक्षणशून्यव्वे सति बाध्यंत्वं ठयावहारिकरवमित्यपि बोध्यमिति शिवम् ॥ यः पूर्णानन्दमगोडऽव्यनुगतमनसां वल्लवीनां विधेयो यश्षेन्द्रादेर्नियन्ता विजगट्यतननूमारने सावधानः॥
यश्च श्रीशः : सुदा|नः पृथुककणाणं सादरं संचखाद
तस्य श्रीपादुकाया भवतु कृतिरियं मालिका मल्लिकायाः ॥ १॥ न वीक्षध्ं दैवादिह निपतितां दोषकणिकां

यथापीनच्छत्र रविकरकुलैराकुलुतममः।
महासेतौ। दुर्गोत्तरणमनसो गाढकवचे
विशाले सद्ञामघतकृताधियो मक्कृत।धियः ॥ २ ॥
काडद्दैतसिद्यिगा वाचः क वयं म्वल्पबुद्ययः।
लघूनपि गुरुकुर्यानुरुरूणां चरणस्मृतिःः॥ ३॥
तर्कै: सारसृतै रबैैचन्द्रिकाचन्द्रभूषणे:।
दुरन्तध्वन्तभझ्ञाय सत्व्वत्रैविध्यनिर्णयः ॥ ४॥

क्यासाद्रेः शतथधा भेद्दात्ररकिण्याश्व तद्भुवः। आल्यन्तिकसमुच्छेदादिदानीं नाममाॅता ॥५॥ सारस्वतसमुद्रको ध्वान्तघ्घंसपसझ्नतः।
यया चन्द्रिकया तस्याः परिच्छेदोड्यमादिमःः॥ ६॥
इति श्रीनारायणतीर्श्यपरम।नन्दसरस्वतांशिष्युर्रीव्रह्मानन्दसरस्वतं। विरचितायामद्र्रंतसिद्विटीकायामद्द्वतचान्द्रकागं

प्रथमः परिच्चेदः •माप्न•॥
\| गुभमस्तु ॥

## Appendix.

अस्या अद्दैतसिद्दू: सव्यार्यायास्तिष्चपि सम्पुटेषु ग्रन्थांन्तरेग्यः संगृहीतानां बचनानामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका.

## अ

सं. पु.
1340 अम्नय आज्यस्य --?
1278 अम्नये दाश्रे पुरोडाइं-तै. सं. $\quad 2-3-4$
1340 अग्नय आज्यं-?
2223 अभिहोंत्रं जुहोति-तै. सं. 1-5-9
1306 अग्निज्योंतिज्ज्योतिः - तै. अा. 4-10
1306 अग्रिर्मूर्धा-तै. सं. $1-5-5$
1308 अग्निर्वे त्राष्मण:-?
1344 अगिर्हिमस्य भेषजम्- तै. सं. 7-4-18
1278 अग्निर्होता क्यादि --तै. अा. 3-3
1248 अगिः सोमांक्रं—
2225 अग्नीषोमतियं पशुमालमते-तै. स. 6-1-11
$126: 3$ अग्रेश्रग्वेद: -?
1282 अक्रगुणविरोधे—ज. सू. 12-:3-25
1205 अचिन्त्यमठ्यवद्वां्य--नृ. उ. ता, खण्ड 1
1314 अजक्षीरेण जुहोति- तै. सं. 5-4-3
2151 अजामेकां-9े्व. 4-5
2231 अजेडर्मीषोमीयः-?
1303 अजो नित्यः -कठ. $2-18$
2357 अजो ख्येको जुष्पाणः-श्वे. 4-5
323 अझ्षताखिलसंवेत्तु:-?
1288 अक्षानेनावृतं क्षानं-गीता. 5-15
2374 अझ्नममिति द्वूयसापक्ष-विवरण.
A. VOL III.

सं. ${ }^{\text {. }}$.
198
365 अणुरूपेडपि भगवान्- -
141 अणोरणीयान्-कठ. 2-20
315 अत पव चोपमा-च. सू. :3-2-18
2357 अतीतानागताभ्वैव-?

1481 अतिरात्रे घोडरिनम् -?
1496 अतत्परा तत्पर-सं. शा. 3-284
1376 अतोऽबबोध्रकत्वेन-?
1172 अतांडनुभव पवैकः-बृ. वा. 1002
1 :376 अत्यन्तासत्यपि कानं-खण्डन 1-104 (11 ल्लोक)
1461 अत्र घ्यवावपन्ति - ?
2127 अव्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः-बृ. 4-3-9
2275 अथ तस्य भयं-तै. उ. 2-7
1388 अथ ताहराधमाध्रित-ईश्वर. वा. पक्षधर
1176 अथ परा यया तदक्षरं-मु. उ. 1-1-5
1396 अथ सुखश्षानमेत्रार्थक्रिया-रास्त्रदीपिका 1-1-2
3 56 अथ हैतत्पुरुपः स्वपिति-ब्. 2-1-17
3 57 अथातोऽहङारादेशः—छा. 7-2-1
:) 57 अथात आत्मादेशः -छा. 7-25-2
1124 अथाताऽग्निमग्निष्टोमेन-?
1316 अथातो ब्रह्नजिशासा-ख. स्. 1-1-1
1.324 अथैषोड श्वः प्रतिगृत्यते -?

1304 अदितिद्यौ:-तै. आ. 1-14
1384 अद्छष्दारकोपादानगोचर-अनु-चि, ई्वा,
158 अध्ष्टे द्रप्ट-वृ. 3-7-23
1269 अहष्पमषयवहार्य-नू. उ. ता. 1 सण्ड
2195 अद्रव्यत्वान्तु-जै. सू. 3-4-2

सं. पु.
$2 \quad 306$
488
313
117 अध्यस्तमेव हि-सं. शा. 1-36
1329 अध्वर्यु निष्फामन्तं प्रस्ताना-?
1329 अध्वर्यु निष्कामन्तं प्रस्ताना- ?
1449 अध्वर्यु चृण्णते -?
2107 अनवस्थादयो दोषा:-खण्डन?
2.291 अनादिमायया-गौ. का. 1-16;
2107 अनवस्थादयो द्दोषा:-खण्डन?
2.291 अनादिमायया-गौ. का. 1-16;
2 307 अनिल्यत्वनिकारित्व- -
365 अनिरुद्दो हि लंकेषु—माशक्षनमू .349-29

2286 अन्विष्यतां न्रपश्रेष्ठ-वि. पु. 2-1.3-95
2431 अनीशाया शोचति-मु. उ. :3-1-2
142 अनुकृतेस्तस्य च--व्र. सू. 1-3 - 2
1198 अनुपलब्धे तत्र्रमाणम्--जै. सू. 1-1-,
2 3:3: अनुपलभ्यात्मानं-?
$1 \quad 29$
1275
1 1:36

- 285

298
431
24
23:3
49
249
78
235
अद्वय अत्मा सन्मांत्र-नृ. ड. ता. 9 खण्ड अद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते-नृ. उत्तर. ना. खण्ड. I अद्वैतचाक्यं त्वनन्यर्याषत्वात्- भाम-?

अनुभूयंत हि पृथिष्यादिकं-भाम. : $-\cup-11 ;$
अनु मा शाधि-वृ. $+-3-1$
अनुमिल्यादौ न क्रिगाजन्य-विवरण
अनुष्दो वाॅय-जे. सू. $\quad 3-1-48$
अन्नुसवनं सवनीया:-?
अन्तूतेन हि प्रत्ग्यूढा:--छा. 8-3-2
अन्तर्भाविनसत्वं-खण्डन $1-4$, (30)
अन्तवद्दे किल ते शालावत्य-छा. 1-8-8
अन्तःकरणविशिष्ट पव—विवरण
अन्त्ययंगर्य थोक्तम्-जै. सू. 1-ン-18
अम्नमाशितं त्रेधा- छा. 6-5-1
अन्य पवैकद्देरोन-तन्र्र. 954

सं. पु.
2291 अन्यथा गुन्बतः--गौ. का. 1-5
3140 अन्यथार्वमसत्तसमात्-?
221 अन्यदा सत्वं तु-खण्डन 1-45 पुंट
320 अन्यश्ष परमोा राजन् - मोश्षधर्म
2294 अन्या माया पुनः स्टष्टा-?
1488 अन्योऽ 1 सावन्यो s हमस्मि-तृ. 1-4-10
362 अन्ये व्यन्यस्मिन्पतिष्टितः-छा. 7-14-2
1309 अपरावे चा अन्ये-तै. सं. 5-2-9
2233 अपां का गतिः-छा 1-8-5
1269 अपाणिपादे S हम - कै.
2311 अपागादग्रेरम्रित्वं- छा. 6-4-1
1339 अपूर्वे चार्थवाद्द—ज. सू. 10-8-5
2195 अपकरणे तु-जै. सू. $3-4-26$
298 अप्रत्यक्षेपपलन्मस्य - धर्मकीर्ति
1478 अप्राप्ते शास्ममर्थवत्-?
1269 अप्राणेत ह्यमनाः--मु. उ. 2-1-2
1275 अभयं वै जनक-वृ. 4-3-4
1249 अभागि प्रतिषेधात्- जै. सू. 1-2-5
2402 अभावप्रत्ययाल्बबना-यो. सू. 1-10
150 अभावात्पुनर्नाचेतनत्वान्देव-पश्वपा 1-1-2
1308 अभिधेयाविनाभूत-तन्त्र. 318
1115 अभीष्ष्सिद्वावपि-ख. 1-137 (27 श्रो)
2 20:3 अभद्धिनः सावयवस्य-स. शा. 2-65
2204 अभेदिनो निर्विक्टतेः-सं. शा, 2-66
2204 अभ्युपगक्य चेदं - रा. भा. 2-1-14
2330 अमृत्युं कर्मणा केचित् -भार. उद्योग. 42-3
1307 अभ्यष्नात इन्द्र——. सं. 2-4-8
1180 अयं पटः पतव्तन्तु-चित्सुखी 1-12 ख्लो.

सं. पु.
265 अयमात्मा घ्रह्म-बृ. 2-5-19
2288 अयमेब स योडयमात्मा-बृ. 2-5-1
1309 अयक्षिया वै माषाः-?
2303 अयं वै हरयः-बृ.-2-5-19
1395 अर्थेनैव विशोषो हि-न्या. कु. 4-4
1324 अर्थेऽनुपलबधे-जै. सू. 1-1-5
2308 अर्थ ब्यविद्यमाने 5 पि-भाग. 11-2-55
2308 अविद्यमानोऽऽयवभासते 5 र्थ:-भाग. 11-2-38
2307 अविद्यमानं जीवस्य - ₹कान्द्
2347 अविद्यायोनयो भावाः-?
2350 अविद्यायामन्तरे-क्फठ. उ. 2-5
. 18 आविद्यास्तमयों मोश्नः--्ञ. सि. 3-106
118 अविद्यैच वा अस्तु-विवरण
2273 अविनारी वा-बृ. 4-3-23
1 1.26 अवयवहार्यमलक्षणं-न. उन्नरता. 1-सण्ड
135 अविरुद्धतिशोषण-सं. शा. 1-167
1307 अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः -ज. सू. 1-2--40
1266 अविशोषेण यचछासं-ज. सू. 10-8-26
2296 अठयक्ता पव ये डन्तस्तु- गौ. का. 2-15
366 अव्यक्ताह्यक्तमुत्पष्नं-मोक्ष 349-49
1269 अशबब्दमस्पर्शं—कठ. 1-3-15
1269 अरारीरं शारीरेषु-कठ. [-2-22
1268 अशुद्दमिति चेन्न- च्र. सू. 3-1-25
1474 अश्वाभिधानीं-तै. सं. 5-1-2
2266 अष्टन आ विभकौ-पा. सू. 7-2-84
2288 असतश्र सतश्रैव-भा. डद्यो. 69-11
2344 असतोऽधि मनोऽसृज्यते- तै. क्रा. 2-2-9
1497 असल्यमप्रतिष्ठं-गीता. 12-8

सं. पु.
148
$1 \quad 48$
1482
$1 \begin{array}{ll}17\end{array}$

असदेंबद्रम्र आसीत्-छा. 6-2-1
असदा दद्रम्र आसीत्-तै. उ. 27
असह्यपदेशात्-त्र. सू. $2-1-17$
असंच्चन्न घर्तर्येत, श्रोतृव्यापारनानात्वे, एकोकथ-वसितानां-तब्ज. 477 पुट.
2 2:34 असम्निकृष्पवाचा च- तन्न्र 87 पुट.
2116 असङ्रो ह्ययं पुरुष:-- बृ. 4-:3-15
3132 असद्विलक्षणशतौ-?
2.266 असिद्वितीयो डनुससार पाण्डबम्।
$211 \%$ असुर्या न(म ते लोका:--र्ई उ. 3
362 अस्ताति च-पा. सू. 5-3-40
1177 अस्ति भाति प्रियं-?
1 152 अस्ति ब्रह्म -तै. उ. $2-6-1$
1303 अस्तीत्येवोपलब्धव्यः--कड. .) -1.3
2 :35 अस्तु वा पदादपि—?
2.35 अस्तु वा तद़पप शाक्यम्। ?

150 अस्थिरात्कार्यमिचछ्छन्तः--भाम. ?-2-26
1174 अस्थृल्डनणु-बू. .3-8-8
1 १41 अस्नेहमचछ्छाय-य. :3-8-8
2 2.32 अस्य लोकस्य का गतिः-छा. 1-9-1
2288 अस्यां पृथिठ्यां तेजोमयः--बृ. $-5-1$
377 अहमित्येव योग बद्यः। ?
361 अहमेवाधस्थात्--छा 7-25-1
361 अह्हमेनंदंद सर्व-छा. 7-25-1
2) 335 अहमेंवेंद सर्वोडस्मीति - बृ. 4-3-20

367 अहंकारश्राहंकर्तवयं च-प्रश्न. 4-8
2400 अहंकाराभावाष्बि-सि. बि. 8 स्रो. क्या.
367 अह்ं मनुरुवं- बृ. 1-4-10

غ่. पु.
2276 अहिंसम्नन्यत्र तरिर्थेम्यः —छा. उ. 8-15-9
2293 अक्षैरेव बुध्यन्ते-तन्न्रवा. 306 पुट

## आ

2232 आकाश इति होवाच-छा. 1-9-1
2233 आकाशा पवैते 2 ्यः-छा. 1-9-1
129 आकाशं शब्दतन्मांरं-?
2230 आकाशादेव समुत्पद्यन्ते -छा. 1-9-1
1166 आकारावत्सर्वगतश्र-?
3 187 आकाशादौ सत्यता-सं. शा. 1-178
2345 आकाशाद्वायुः-तैत्त. उ. $2-1-2$
1281 आम्नावैष्णवमेकादश— आ. श्रौ. सू. 8-26-5
$3 \quad 156$ आग्रेयंय चतुर्धा - ?
1352 आचामेटुपवीति--?
2 35:3 आचार्यवनन् पुरुष:-छा. 6-14-2
1339 आज्यभागावर्निषोमाभ्यां-?
2 2:30 आज्यैः स्तुवते - -
(3) 33\% अत्मन्येव रतिंयेषां-?

2143 आत्मा कर्त्रादिरूपश्वत् वर्णिकसार अधि-प. उत
3105 आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं-रां. भा. अध्यासभाप्यम्
321 अात्मानौ तावेतौ-शां. भा. 1-1-17
148 आत्मा वा दंदं-廿. उ. 1-1
2302 आत्मानं रथिनं विद्धि-कठ. 1-3-3
2276 अात्मैवाभूद्विजानतः-र. उ. 7
361 आत्मैवाधस्तात्-छा. 7-25-2
1457 आत्मैवेद्मश्रे असीत्- षृ. 1-4-1
361 आत्मैवेदं सर्वम्-छा. 7-25-1
2341 आ त्वा हर्षमन्तरोधि-ऋ. सं. 8-8-3

सं. पु.
$2 \quad 296$
आदावन्ते च यक्षास्ति-गौ. का. 2-6
1344 आद्वि्यो यूपः-तै. ब्रा. 2-1-5
2128 आघ्येन ब्रह्मणेडन्याभास्यत्वम् - भाम. 1-3-23 (अर्थानुवाद्ः)
2244 आद्यर्धीवेद्यभेदीया-खण्डन. 1-102 (10 स्लो)
141 आनन्दो विषयानुमवः-पश्रपा.
ध्सास)
1177 आनन्द्दं ज्रह्मणो रूपं —?
1177 आनन्दं घ्रह्मणो विद्वान्-तै. उ. 2-4-1
1 301 आनथक्यप्रतिहतानां-?
3157 आनीद्वातं स्धधया-तै. व्रा. 2-8-9
1482 अपश्र न प्रमिणन्ति-ऋ. स. 2-7-3
2258 अपप पवेदमग्र आसु:-च. $5-5-1$
2258 आपो वा इद्मग्रे सलिलम्-तै. सं. 7-1-5
2250 आपो वा इदं संत्र भूतम्। ?
2201 अप्रकामस्य का स्पृहा-गौ. का. 1-9
2117 आभास पव च-ज्र. सू. 2-3-50
2203 आरम्भसंहति-सं. शा. 2-57
212 अरुह्य नौकावृषक्रुअंरषु। ?
350 आरोपे सति निमित्तानुसरणम्। ?
1223 आलोकविनाशितस्य-विवरण
1288 आवृतं क्षानमेतेन-गीता 3 -39
1398 आश्रयत्वयिषयत्व--सं. शा. 1-319
2329 अश्ववालः प्रस्तरः-तै. सं 6-2-1
1278 आसन्नानि हर्बींष्यभिमृशाति-आप. श्रौ. 4-8-2
1453 आहवनीयाद्द्वावम्नी-?
\%
2295 इचछामाष्रं प्रभेः सृष्टि:-गौ. का. 1-8

सं. पु.
1365 इत्थंभूतलक्षणे - पा. सू. 2-3-21
2252 इवं वा अंग्र नैव किंचन-तै. ब्रा. 2-2-9
1202 इदं सर्वमस्टत-तै. उ 2-8-1
1186 इदं सर्व यदयमात्मा-ब्व. 2-4-6
2309 इन्द्रजालमिव मायामयम्-मै. 4-2
1322 इन्द्रो घृत्राय-तै. ब्रा. 1-7-6
$220 \pm$ इमां राङ्कां-भाम. 2-1-13
1314 इयं गौः कग्या-?
$137 \pm$ हद्ध जन्मनि केषांचित्-्मी. स्लो. 239

2269 ईशानो भूतभव्यस्य-कठ. 2-4-12
319 ईश्वरांददार्जावस्यापि-शां. भा. (अर्थानुवाद) 3-2-5
1179 ईं,्वरस्य परिणामवत्वंव-(पद्धार्थखण्डन)
1136 ईश्वरोपाधिसर्वप्रधानमाया-तत्वद्वी.
2200 ईक्षतेर्नाशाब्दम्-ज. सू. 1-1-5
(उ)
1196 उक्तस्थले राराराजन्यत्वे-मणि. ई. वा. 19 पु.
1326 उौैहै₹चा क्रियते-आपस्तम्बपरिभाषा 1-7
2288 उतामृतत्वस्येशानः-पुरुषसूक्त 2
1249 उत्तरवेद्यामम्निश्रीयते -तै. आ. 1-26
1451 उत्तरवेद्यामम्मिं निद्धाति - ?
2213 उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्-(पदार्थखण्डनटीका)
2275 उद्वरमन्तरं कुरुते-तै. उ. 2-7
1489 उदीतमेतत्परमं तु न्रब्म-श्वे. 1-7
1314 उन्रिदा यजेत—?
2353 उपदेक्ष्यन्ति ते कानम्-गीता 4-34

सं तु.
363 उपर्युपरिष्टात्पा. स्स. 4-34
1277 उपांश्र चरन्ति-?
194 उभयथा च दोषात्-ब्र. स्र. $2-2-16,23$
1306 उभाभ्यां सायं ह्रयते तै. घ्रा. 2-2-2
2 331 उमे सत्वे क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते—भा. उद्यो. 42-4
1470 उरुप्रथस्व-प्रथ्रयति-आ. श्रौ. सू. 1-25-3
(ऋ)
2310 ऋते ऽर्थ यत्रतीयेत-भाग. य-Y-33
1443 ऋतं पिबन्नौ सुक्टतस्य-कठ 1-3-1
2425 ऋतं सत्यं तथा धर्मः -?
(ष)
2. 272 एक एवाद्वितीयोऽसौ-?

1130 एकधैवानुद्रष्टवयम्-वृ. 4-4-20)
2457 एकपदमुकत्वा-खण्डन 1-95
290 एकमेव क्षानम्-पश्वपा.
1191 एकमेवादितीयम्-छा. (i-・ン-1
2310 एकस्मिन्भेदाभावात्- गौ. सू. 4-2-11
2267 एकराबद्दे S यं बह्नर्थः-महाभाष्य 1-1-2t
2266 एकराबन्दे $5 य म न ् य-$ हैयट 4-1-9:3
2290 एकः समस्तं-वि. पु. $2-16-2 ;$
2 213 एस्ह्हसात्सम्बुद्धे:-पा. स्र. 6-1-69
2 279 एतत्सर्व मनः-खु. 1-5-3
2289 पतावदें खल्रु-ख. 4-5-15
1296 (एतक्रा) यद्राह्मणनि पश्न हरींषि-?
310 पतसमाज्ञायते प्राणः-- मु उ. 2-1-3
1318 एतस्यैन्र रेवतीष्णु-?
2307 पतेन मिथ्याराब्दस्य-न्यास 1-3-71

सं. पु.
1 I79 एवमीश्बरे जीवे च-(पदार्थखण्डनर्टीका)
2226 एवमेकत्र चत्वार:-तन्त्र.वा. (90 पुट)
2226 एवमेषोऽष्टोषांडपि-तन्न्त.वा. (90 पुट)
2344 एवमेवैतन्छेते- ब. 2-1-19
2427 एवमेवैषा माया-न. उ. ता. 9 खण्ड.
1486 एवमेवासमादाधमनः-बृ. $\quad-1-20$
2 3.25 एवं क्षाते तु अगवान्--वि. पु. 2-19-49
1269 एवं विदित्वा परमत्मरूपं-कै.
1490 पवं सौम्य स आदेशो भवति- ह्रा. 6-1-6
2305 एष त अन्मा-बृ. .3-7-.3
2229 एप एव परम आनन्द्दः - $4-3 \cdots$
36.3 एष तु वा अतिवदनि- छा. 7-16-1

1398 एष लोकपालः 一कौप्रीतकिब्राष्मणोपनिषत् $3-9$
1275 एष सेतुर्विधरण-बू. 1-1-22

1455 ऐेतदात्क्यमिंद्ं सर्व-छा. (i-8-7
1265 ं एन्द्या गाईपत्यं-?
1461 ऐरं कृत्वोनेयेयं-ताण्डथवाह्मणम् 8-6-10
ओ
2132 अंषधिन्नस्पतय: -?
1306 ओषधे त्रायस्ैैनम्-नै सं. 1-:3-1
औ
1454 औत्पत्तिकस्तु-ज. सू. 1-1-5
1295 औदुमबरी सर्वा-?
1.295 औदुग्बरीं स्पृष्णा- ?

क
239 कथमसतः सज्जायेत-छा. 6-2-2

सं. पु.
24 कथं पुनः कारणत्वमवसेयम्-खण्डन 1-38 पुट.
1295 कद्राचन स्तरारसि-ऋ. सं. 6-4-19
1163 करणवववहारस्तु-च्या. कु. 4-26 पुट.
1445 कविर्मनीषी-ई. उ. 8
387 कर्ता विकानात्मा पुरुषः-प्रश्न. 4-9
382 कर्ता रास्रार्थवत्वात्-व्र. सू. 2-3-33
2296 कल्पयत्यात्मनात्मानम्-गौ. का. 2-12
2213 कष्टाय क्रमणे-पा. स्त. 3-1-14
2197 कषाये कर्मभिः पक्के-मोक्ष?
2229 कस्मिन्बु भगतो विक्षाते-मु. उ. 1-1-3
377 कटिमन्वहमुत्रान्ते-प्रश्न. 6-3
2230 कशछन्द्दसां योगम्—ऋ. सं. 8-6-16
2294 कल्पितश्शेभिवर्तेत-?
2208 का तदस्तु गतिः-खण्डन. 1-309 (39 अो)
357 कामः सब्कल्प:-बृ. 1-5-3
2279 कामा ये 5 स्य हृदि श्रिताः-ब्य. 4-4-7
-1 91 कारणसंबन्ध उत्पत्तिः-तत्वकौमुदी.
1411 कार्यत्वहेतुस्वोपादान-मणि ई. वा.
134 कार्यात्मना तु नानात्वम्-त्र. सू. भा. 1-1-4 (भट्टभाईकर)
2233 का सास्नो गतिरिति-छा. 1-8-4
1497 किति च-पा. सू. 7-2-118
285 किंच्चिद्वेब विषयत्वं -(रिरोमणि)
1307 कि ते कृष्णन्ति कीकटेषु-क. स. 3-3-21
2345 कुत पतदागात्-बृ. 2-1-16
389 कूटस्थाडद्वितीय:-?
2124 कृताकृतविभागेन-न्या. कु. 4-9.
2293 कृत्रिमाकृत्रिमयोः-वैया. परि.

सं. पु.
2123 कृन्न्तेन हि कारकविशिष्प्प्-?
2125 कृओेऽकर्मकतापत्तेः-वै. भू. सा. 5
2206 के चिन्द्र वेत्यनुवर्तयक्ति-काशिका 6-4-92
142 केवलो निर्गुण:-9े. 6-11
1332 केशाइमक्ञु बपते一तै. सं. 6-1-1
2286 को भवनिति निर्देशःःवि. पु. अर्थानुवादः
1259 क च प्रत्यक्षतः प्रापम्-?
2286 क गातं छत्र्रमत्येषः-वि. पु. 2-13-96
1497 किति च—पा. सू. 1-1-5
1473 क्रियापदैक्योगित्वे-तन्त्रवा. 480
(ग)
1304 गुणवादस्तु-जै. सू. 1-2-10
1304 गुणादविप्रतिषेधः-जै. सू. 1-2-47
2223 ग्रहं समार्षि-?
356 गृहीतं चक्षु: गृहीत श्रोत्रम्-वृ. 2-1-17
1368 गोत्वविशिष्ट एव-?
3103 गोभिः श्रीणीत-?
2329 गौणं लाक्षणिकं चेति-तन्त्र. 155 पु.
1387 गौरवमेव तद्देतुतायाम् -?
(घ)
1215 घटत्वादिना नाभावप्रत्यक्षता-?
1218 घटत्वेनेतरभेदनिभ्धयेडपि-?
1170 घटादिकं सद्रूरूपे कल्पितम्-च्र. सि. 72 पुट (अर्थानुवादः)
1166 घटादय: स्वानुगतपतिभासे-प्रमाणमाला (आनन्न्नबोध)
297 घटैकाकारधर्षथा-पश्र्वद्री 8-4

सं. पु.
1471 घटोऽच्र द्छो न वेति-रास्त्रदीपिका 1-1-5 (अर्थातुवादः)

(ङ)
2.213 डिति ह्नस्वश्श-गा. सू. 1-4-6;
(च)
1461 चतुर्स्रिदादाधजिनो देव-ते. सं. $4-6-9$
1.278 चतुर्होंत्रा पौर्णमासीम् - ?

1 :306 चत्वारि श्रहा त्रयो अस्य-याशि. उ. 12 अनुवाक
1263 चर्भुँधै सल्यं अद्रागिल्याह -तै. व्रा. 1-1-4
2231 चित्र्या यजेत-तै. सं. $\quad 3-1-6$
2421 चैत्रप्रमा, चैच्रगतप्रमा-तत्वद्वा.

## (ज)

1288 जनैः ₹वकर्मस्तिमितात्मनिश्रयै:- ?
$1 \quad 136$ जानातेश्रानुमेयादिषु-विवरण
2334 जीव ईशो विशुद्धा चित्- ?
2115 जीवस्य जगदुपादानत्व-सि. बि. 1 श्को. ठ्या.
344 जीवाकाराहंवृत्तिपरिणत-विवरण
315 जीवेशावाभासेन-नु. ड. ता. !) खण्ड
2288 ज्यायान्पृथिठ्या:-छा .;-1t-3
1177 ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः-- छा. :3-14-3
37.3 ज्योतिरहं विरजा विपाष्मा-याश्कि. उ.

2308 ज्यातींषि विक्णु:-वि. पु. $2-12-.38$
296 झाततया अक्षाततया-विवरण
15.3 क्षतुरर्थप्रकाशास्य क्षानत्वात्-विवरण

186 कात्वा देवं-श्वे. 1-8
2415 कानप्रकाइयत्वास्-विवरण

## 211

सं. y .
1288 श्ञानमुत्पद्यते पुंसाम्-?
2272 आानानन्द्राद्यमिम्नत्वात्--वि. पु. 2-14-2
2308 क्षानस्वरूपो भगवान्-वि. पु. 2-12-38
1208 क्षानं यथा सत्यमसत्यमन्गत्-
3) 11 क्षाश्षावीशानीशौ-श्वे. 1-9

## न

1407 ततो मायां परां चक्र- हरिवंशः $-106-15$
2289 ततो यदुत्तरतरम-श्वे. 3-10
2199 तत्तु समन्वयात्-व. सू. 1-1-4
1335 तत्परत्वात्परत्वाच -प्रमाणमाला
2283 तत्त्वक्षानान्निश्रेयसाधिगम:- न्यायसूत्रम 1-1-1
2171 तच्वपपक्षपातो हि-भाम. (अध्यास)
2284 तत्तव्रह्ममार्गे सम्यक्संपम्न-जाबाल 9
2346 नत्रावेदकमान-सं शा. 9-83
199 तत्त्वमस्यादि-बृ. वा. 18:3
1275 तत्रवमसि-छा. (i-8-7
2203 तत्तेज पक्षत, ता आप एश्षन्न-छा. 6-2-3, 4
2297 तत्याज भेदं-वि. पु. $\quad 2-16-24$
2276 तत्र को मोहः - ईश 7
1332 तत्र तद्दद्यात्- आप. श्रौ. स्. $24-21$
210 तत्रार्थशब्यं विक्षानम्-मी. स्लो. 220 पुट
2203 तत्रापि पूर्वमुपगय्य-सं. शा. $2-58$
193 तथ्रैकत्वंव वनवत्- भाम. 2-1-15 (अर्थानुवाद)
388 तन्रैं सति कर्तारम्-गीता 18-16;
1494 तत्सत्यं स आत्मा-छा. 6-8-7
366 तत्सत्यमसौ स अविस्यः-बृ. 5-5-2
148 तत्सदासीत्--छा. 3-19-1

सं; पु:
1310 तत्सिद्दिजाति-ज. सू. 1-4-23
195 तथा चापरमाणुत्वं स्थूलत्वान् - अाम $2-2-16$
186 तथा घिद्नानमरूपाद्विमुक्त:-मुण्ड 3-2-8
2263 तथा समस्तुनो भेद्र्र्यम्-पश्वदशी 2-16
1306 तद्धर्थशास्तात्-ज. सू. 1-2-31
2311 तदर्थ यमनियमाक्याम्-न्या. सू-भा 4-2-46(प्रभ्धति)
1180 तद्नन्यत्वमारम्भण-ब्र. स्सू 3-1-14
2202 तदभिध्यानानेव-ब्र. सू. 2-3-13
1488 तद्धावभावमापन्न-वि. पु. 6-7-15
2307 तदूरेव स्थितं यत्तु (कौम)
2139 तनापीतेः संसार-ब्न. सू. 4-2-8
2330 तदात्मान मेबावेत्-बृ. 1-4-10
1489
$2 \quad 203$
$2 \quad 320$
$2 \quad 269$
$2 \quad 52$
304 तदेतजडं मोहात्मकम्-नू-उ-ता 9 खण्ड
2302 तन्देतन्मधु दध्यङ्ङाथर्वण:-वृ. 2-5-19
2258 तदैक्षत-छा. 6-2-3
2328
$2 \quad 425$
$2 \quad 357$
$1 \quad 316$
147
187
$3 \quad 87$
$2 \quad 283$ 282 तनूर्वर्षिष्ठा-तै. स. 1-2-11

सं. पु.
$2 \quad 298$
तन्वा स्वस्तामिसंबन्धः-माण्दू. भा. आनन्द्दतीर्थायम्
2125 तण्डुलक्कयणद्रशायां-?
1332 तण्डुलान्च्चभजेत्-तै. त्रा. 2-8-9
1459 तम आसीत्तमसा-ऋ. सं. 8-7-17
2229 तमादेशमप्रक्ष्यः-छा. 6-1-3
142 तमेव भान्तम् -कठ. $2-2-15$
160 तमेव विदित्वा-श्वे. 3-8
1270 तस्माद्यत्किचित्-?
210 तस्माद्यद्नास्ति नास्त्येव-मी. श्रो. 219 पु.
147 तस्मादसतः सजायते -का. 6-2-1
2301 तसमादन्तः परिण्छित्तिः-?
2306 तस्मादिदं जगदरोषम्-भाग. 10-14-2:
1263 तसमादुधैर्ऋचा क्रियते -?
1486 तस्मांकेकाकी न रमते-खृ. 1-4-3
1260 तस्मादीक्षितेन -?
1166 तस्मादा पतस्मादार्मनः一तै. उ. 2-1
1304 तस्माद्यू एवाग्नेर्दिवा-?
[नुवाद.
1451 तस्माजन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे - बृ. शां. भा. [अर्था
1260 तसमात्पत्यक्षद्टष्ट्रपि-नारद्दम्तृतिः 1-73
366 तस्मात्पसूतमब्यक्तम्-मोक्ष 349-28
2345 तस्माद्रह्लाविद्यया -सं. शा. 2-163
165 तसमाह्धौकिकपरमाथ-तत्वर्दा.
1502 तसमान्न क्षानाकारोऽर्थ:-?
2327 तस्मिन्प्रसन्झ-वि. पु. 1-17-91
1334 तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपः-टुप्टीका 6-5-55
1363 तस्य भासा-कठ. 2-2-15
2 328 तस्य ह वा पतस्य ब्रह्मण:--छा. 8-3-4
366 तस्य चिन्तयतः सृष्टिम्-मोक्षधर्म
A. VoL III.

15

सं. पु..
2327 तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम्- चृ. 2-1-20
2294 तरत्यविद्यां वितताम्-वि. पु. 5-17-14
2187 तरति शोकमात्मवित्-छा. 7-1-3
1194 तर्कादिना व्यापकतानिश्रये तु-दीधिति 110 पुट
2332 तं देवा आत्मानमुपासते-छा. 8-12-6
2235 ताद्बूप्येण परिचिछ्छत्तिः-तब्त्र. 87 पुट
2328 तानि है वा पतानि-छा. 8-3-5
2353 तन्यहंं वेद सर्वाणि-गीता. 4-5
2275 तान्येवानुविनशयति-बृ. 2-4-12
1114 तुच्छस्य विशोषणाभावात् बौद्दा?
2304 तुच्छेनाम्वपिहितम् - ऋ. स. 8-7-17
322 तुरीयं सर्वद्धक्सदा (तुर्य तत्सर्वद्धक्सदा)—गौ. का. 12
29 तुल्यार्थत्वेऽपि तैनैषः-ख्रो. 219 पुट
2201 तेजोडतस्तथा घ्याह-व्र. सू. 2-3-20
1480 (पाणा वै सत्यं) तेषामेष सत्यः-बृ. 2-1-20
2193 तेषामर्थेन संबन्धः-जै. सू. 3-1-7
1208 उ्रयमेतत्स्वमम्-न. उ. ता. खण्ड I
2307 त्रिगुणा प्रक्रतिर्माया -?
2231 त्रिबृद्धहिष्पवमानः-?
1463 त्रीणि है वै यक्षस्योदराणि-?
1273 (अश्व्वमध) त्रेधातर्वया दीक्षणीया-?
2132 त्वगिन्द्रियस्य साक्षादाधारो देहः-विवरण
1270 त्सरा वा एपा यक्षस्य-?
(द)
229 दण्डत्वादिकमेब-?
217 दण्डी प्रेषानन्वाह-?
362 दक्षिणोत्तराभ्यमतुसुष्-पा. स्र. 5-3-28

स. पु.
150 दर्शायन्ति चाभावान्दावोत्पन्तिम्-रां. भा. 2.2-26
1444 ददाति मब्यम्-ऋ. स. $2-1-11$
2223 दधा जुहोति-?
1278 ₹धि मधु घृतम्-तै. सं. 2-:3-:
2222 ₹राविशोषेण-?
1472 दर्शापूर्णमासाभ्यां स्रर्ग--?
362 दिक्राबनेम्य:-पा. सू. 5-3-27
1372 दुष्पझानग्टहीतार्थ-अ्झो. 225 पुट
1176 छइयते त्वग्रियया-कठ. 1-3-13
2142 दौच्नैव पुण्य च पापं च-ब्ट. 4-3-15
2431 देवादिभेदे 5 पध्वसे-वि. पु. 2-14-33
391 दबाः परमात्मानं भूरित्युपासंचक्रु:-ऐ. आ. 2-1-8
1277 देहेन्द्रियबुद्धि नासित-?
1271 देशाबद्धमुपांशुत्वम्-जै. सू. 9-1-20
319 देह्टयेगाद्वा से 5 पि-ज्र. सू . :3-:-6
2196 द्रव्यार्जनोद्देशोन-राबरभा. 4-1-2 (अर्थानुबान)
195 द्रव्यस्य (कार्यस्य) गुणसमुद्वाय-कल्पतरु 2-2-16
2326 द्रष्षव्यमात्मवद्विषणु:-वि. पु. 2-19-48
1327 द्रष्पष्यः श्रोतवयः —बृ. 2-4-5
1451 द्रयो: प्रणयन्ति, त₹माद्दूाक्यामेति —?
320 दासुपर्ण -मु. उ. :3-1-1
2265 द्वितीयगामी न हि शब्द:-?
1486 द्वितीयादै अयम्-बृ. 1-4-2
1462 दिपश्वारादनयोर्वङ्क्रयः一?
1498 रे सत्रे समुपाश्रित्य-?
2294 हैंतं न विद्यत इति—?
1262 हौ वि वदमानावेवायातौ-(बाजसनेयि)

स. पु.
1114 घर्मस्य तद्वतूप-?
2407 घर्ग्यरो सर्वमभ्रन्तम्-?
1446 धाता यथापूर्वमकल्पयत्-तै. या. उ. 1 अनुवाक
219 धातुसंबन्धे प्रत्ययाः-पा. सू. 3-4-1
2345 धीविपर्ययरुपेयम्-वृ. वार्तिकम् 1-5-122
1196 धूमविशोषादौ चन्द्र-?
2231 धेनुर्दक्षिणा-तै. आ. $1-32$
2269 धुवमक्षुवष्ठ -कठ. 2-1-2
2341 धुवा घौः धुवा पृथिवी-ऋ. स. 8-8-31
2342 धुरो राजा-ऋ. सं. 8-8-31
2142 ध्यायतीव लेलायर्ताव-बृ. 4-3-7
(न)
2287 न ऋते त्वत्क्रियते किचन--ऋ. स. 8-6-13
1342 न कठঞ्ञ भक्षयेत्-?
2277 न कंचन कामं कामयते-बृ. 4-3-19
1335 न क्रा सेट्-पा. सू. 1-2-18
1117 न ग्रास्यभेदमवधूय-बौद्धा. 153 पुट
1114 न च्र तस्य भाविको देश -बौद्दा. 153 पुट
1461 न चतुर्स्रिशादिति घूयात्-?
2294 न च नारां-?
150 न च निरुपाख्योपादानता-विवरणम् 1-1-2
1193 न च पक्षेतरत्वे स्वठ्याघातकत्वेन-?
1176 न चक्षुषा गृष्यते - मु. उ. 3-1-8
2404 न चेननुभववयातिः-वार्तिक 3-4-103
2332 न चेदिदावावेद्रीत्-के. उ. 2-5
2270 न जीर्णमलवद्वासाः-गौ. धर्म. 9-4

सं पु.
1445 न तजलं यम्न सुचारुपङ्कम्-भद्टि. 2-19
2172 न तत्र रथा न रथयोगाः -ब्व. $4-3-10$
1485 न तदस्ति सुखं लोके-बृ. वा. 2-4-85
1288 न तं विदाथ य इमाः—ॠ. सं. 8-3-17
124 न तावन्मिथ्याशब्दः-पश्न्रपा.
2342 न तु तह्दितीयमस्ति-ब्य. 4-3-2:3
$13: 39$ न तौ परीं करोति-?
1267 न देवताम्रिशाबदक्रियम्-जै. सू. 6-3-18
1128 ननु ब्रहात्मानुभव—विवरण.
1162 ननु नेश्वरश्ञानं प्रमा--न्या-कुसु. 4-5 (अ्लो. अवतारिका)
1269 न पुण्यपापे मम नास्ति-कै उ.
2211 नपुंसकस्य झलचः-पा. सू 7-1-72
1248 न पृथिव्याममिश्थेतव्यः-तै. सं. $5-2-7$
2275 न प्रेत्य संक्षास्ति- बृ. 2-4-12
1131 न बुर्दि मर्देयन्टष्ट्:-पश्नद्राी 9-91
2291 न निद्रां नैव च स्वमम्-गौ. का. 1-14
2 402 न भूतकालस्पृक्रत्यक्-वार्तिकसारः 197 पुट
1277 न लिप्यते लोकदुःखेन-कठ. 2-2-11
2212 न ल్ुमताद्रस्य-पा. सू. 1-1-63
1313 न विधौ परः राब्दार्थः —?
1451 न वैश्वदेवे उत्तरवेदिम्-?
3103 न रूद्रयाजिनः श्राद्दे-?
1498 न सम्नासन्न-शा-द 2-2-5
2402 न सुषुपिगविक्षानम्-वार्तिकसारः 196 पु.
1173 न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते-?
2233 न स्वर्ग लोकमतिनयेदिति-छा. 1-8-5
1268 न हि कल्याणकृत्कम्वित्-गीता 6-4
2112 न हि प्रमातृणामनिर्षचनात्-खण्डन

सं. पु.
1268 न हिस्यात्-?
237 न घनुमितिकालाविद्यमानः-अहैतग्रम्
1282 न घल्पवैगुण्ये संभवति-शासस्रन्दी का 12-2-2.3
1481 नातिरात्रे बोडशिानम्-?
353 नात्मानं न पशांघ्यैव—गौ. का. 1-12
157 नात्र काचन भिनास्ति-न्र. ड. ता. खण्ड 8
2250 नानात्वमवलम्बयापि-खण्डन 1-111 (17 ॠ्डो)
3 110 नानिर्वान्क्यो $5 प ि ~ त त ् क ् ष ् त ः ~ — — ा . ~ द . ~$
2226 नानृतं बदेत्-तै. स. $2-2-5$
1270 नान्तः प्रश्नम्-प्र. 7
1248 नान्तरिक्षेडग्निश्वेतब्य: 一तै. सं. 5-2-7
2305 नान्योडतोडसित श्रोता-बृ. 3-7-2.3
2276 नान्यः प्रतिबलो लोके-भारत.
1498 नाभाव उपलब्धे:—्न. सू. 2-2-28

239 नासतोS हृत्वात् —्न. सू 2-2-26
1469 नासदासीत्-तै. ब्रा. 2-8-9 ॠ. सं. 8-7-17
9 नासिसक्यपरिद्वारार्थम्-ॠ्डे. 219 पुट
353 नाह खल्वयमेवं सम्रत्यातमानम्-छा. 8-11-2
361 नाहमेवं ब्रर्वमीति होवाच-—छा. 7-24-2
1410 नाल्पे सुखमस्ति भूमैच सुखम्-छा. 7-23-1
141 निल्यो नित्यानाम्-कठ $2-2-13$
1348 निल्यानुभवग्राघं तमः-तश्वदी 55 पुट
1334 निमिश्षोपजननात्र्राक्- शास्रद्दीपिका 6-5-54

सं. पु.
311 निरनिष्ठोरो निरवद्यः -?
2171 निरपद्रवभूतार्थम्रमाणस्य -?
150 निरुपाख्यकारणवादिने प्रति-तच्वदी 1-1-2
2177 निरुपाधिकम्रमकार्यद्रर्रनमेव-विवरण 78 पुट
1405 निर्णयात्मनि साधारणे वा-दीधिति 70 पुट
2330 निर्वाणमय एवायम्-वि. पु. 6-7-22
2125 निर्वर्ल्ये च विकार्ये च-वै. भू. सा. 7 श्रो.
2291 निवृत्तेः सर्वदुःखानाम्-गौ. का. 1-10
389 निष्कलं निष्कियम्-श्वे. 6-19
1485 निष्पपश्वास्थूलादि-विवरण
1407 निहतां हस्तिमायां तु-हरिवंश 2-106-22
2331 नीहारेण प्रावृता जल्प्या:-ऋ. सं. 8-3-17
2218 नेति नेति-ब्ट. 2-3-6
152 नेह्ह नाना-वृ. 4-4-19
1367 नेत्रै: पुण्येन भूषाभिः —मुग्धबोपव्याकरण 190 पुट
1275 नैनं कृताक्टते तपतः-बृ. $4-4-22$
(प)
2231 पश्₹दशान्याज्यानि-?
2351 पण्डितं मन्यमाना:-कठ. 1-2-5
1267 (गाईपत्ये) पत्नीसंयाजान् जुहोति - ?
2307 पदं मिथ्या कारयते-काशिका. 1-3-71
3149 पदार्थाः बडेवेत्यत्र-न्याय लीलावती. 10 पुट
1266 पदे जुहोति-?
233 पझत्वादिनावयव-?
2293 परमार्थोडविनाइी-वि. पु. 2-14-24
366 परमात्मेति यं प्राहुः —मोक्ष. 349-27
178 परस्य तादात्म्यमसतीति चेत् न्या-कु. 3-106 पुट

सं. $\quad$.
178
$2 \quad 331$
1484
2
$3 \quad 19$
290 पुरुषाम्न परं किंच्चित्- कठ. 1-3-11
पुरोडारां चत्रुर्धा करोति

1286 पूर्वसंबन्धनियमे-खण्डन. 1-5
362 पूर्वाधरावराणाम्-पा. सू. 5-3-39
1487 पृथगार्मानं पेरितारं च-श्वे. 1-6
1202 पृथिर्वी झ्रहेत्युपासीत-
1278 पृथिरी होतेत्याधि-तै. आ. 3-2

सं. पु.
2302 पृथिव्येतावती-?
366 पृथिवी वायुराकाराम्-मोक्ष. 349-31
2231 पृहैः स्तुवते-?
1472 पौर्णमान्यां पौर्णमास्या-?
1329 पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यम्-जै. सू. 6-5-54
252 प्रकाशास्य सतस्तदीयतामात्रनिबन्धन-बौद्दा. 62 पुर
388 प्रक्टतेः क्रियमाणानि-गीता. 3-27
1321 प्रजापतिरात्मनो वपाम्-तै. सं. 2-1-1
1324 प्रजापतिर्वरुणाय-तै. स. $2-3-12$
1266 पजामेका रक्षत्यूज्जमेका-पदमअरी. 4-1-93
1259 प्रत्यक्षमनुमानं च—मनु. 12-105
2320 प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव-बृ. वा. 18 म्लो.
2234 प्रत्यक्षवदत्रापि-कारिका.
1266 प्रत्यक्षे चानुमाने च-?
2204 प्रत्यासम्ना परिणतिरियम् - स. शा. 280
1488 प्रत्यस्तमितभेदं यत्-वि. पु. 6-7-53
2248 प्रत्यक्षादावुत्पन्न जाने-?
2212 प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्-वै. वार्तिकम्. 1-1-62
2176 प्रणिधाननिबन्ध-गौ. सू. 3-2-44
2373 प्रतियोगिताश्र विशिष्य-दीधिति. 42 पुट
1358 प्रतियोगिनि देप्टे च-ख्यो. $2: 38$ पुट.
2232 प्रथमत्वात्प्रधनत्वात्- शा. द. 1-1-9
2311 पदिदर्शायिषुर्न्रसनस्य यथा-प्रोटक. 125 स्लो.
1407 अद्युस्नेन तु सा माया-हरिवंश $2-106-18$
1130 प्रपश्वोपशामम्-न. उ. ता. खण्ड 1
2291 प्रपश्रो यद्वि विद्येत-गौ. का. 1-17
3132 צ्रमाणविपर्यय-यो. सू. 1-6
2226 प्रमाणत्वाप्रमाणत्व-?

सं. पु.
295 प्रमाणान्यन्तरेणापि-बृ. वार्तिकम् 4-3-161
1161 प्रमात्वसामान्यस्य-?
2331 प्रमादाैदै असुराः-भा. उद्यो. 42-5
1164 प्रमापदं हि धात्वर्थतावचछछक्न-?
1160 प्रमामात्रे नानुगतो गुणः-?
1164 प्रवृत्तिसंवादादिना-?
2248 प्रवृत्तेनाव्यनौचित्यमूल्रम्-खण्डन. 1-105 ( 14 स्लो)
2351 प्रविशयामूढो मूढ इव-नृ. उ. ता. 9 खण्ड
1307 प्रस्तरमुत्तरं बर्हिषः सादयति-?
1313 प्सस्तरादिवाक्यमनन्य-भाम.?
1309 प्राणभृत उपदधाति-तै. सं. 5-3-1
377 प्रणाचन्ब्रद्धाम्-प्रश्न. 6-4
141 प्राणा वै सत्यम्- वृ. 2-1-20
1256 प्राबल्यमागमस्यैव -?
2229 प्रेयोडन्यस्मात्- बृ. 1-4-8
1172 प्राभाकरास्तु मितिमां्रंशो-?
(फ)
2163 फलव्यपपारयोर्धातुः-वै. भू. 2
(ब)
2357 बहवो क्षानतपसा-गीता. 4-10
2150 बहु निगद्य किमश्र -स. शा. 1-331
1450 बहल्पं वा स्वशाखोक्रम्-?
1306 बर्हिर्दिवसद्नम्--?
1320 बर्हिषि (रजंत) न देयम्-तै. सं. 1-5-1
276 बाधेऽढ़ढे Sन्यसाम्यात्किम्-खण्डन. 128 पुट (33 स्लो)
1501 बाधेन सोपाधिकता-शा. द. 2-2-5
1499 बाधितोडपीद्ह वो मानै:-शा. द. 2-2-5

सं. पु.
2230 बिभेल्यल्पश्रताद्देद्---भा. आ. प. 1 अध्याय
150 बौदैरभावस्य-कल्पतरु. $2-2-26$
2330 ब्रह्म वा इदमंग्र-ब्य. 1-4-10
388 घ्रक्सविद्रमोति परम्-तै. उ. 2-1-1
2274 घ्रहवेद्द घह्मैव भवति मु. उ. 3-2-9
1310 ग्रह्मास्टजत-?
2330 घह्मैव सन्क्रह्माप्येति-ख. 4-4-6
3103 ब्राक्सणो न हन्तन्य:-
395 ब्रक्षणोऽहं मनुष्योऽहम्-?
2287 आ्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् -पुरुषसूक्त.
3101 क्राह्मणो यजेत-?
2287 अ्राझ्मणो वै सर्वा देवता:-तै. त्रा. 1-4-4
(अ)
2284 भगवन्नाह्हमात्मवित्-मैत्रा. उ. 1-1
2293 भवेतां यदि वृक्षस्य-तन्त्र. 306
193 भावे चोपलबधे.-त्र. सू. 2-1-15
2313 मिद्यते हृदयग्रन्थिः -मु. उ. 2-2-8
2426 भूयश्रान्ते विश्वमायनिवृत्तिः-ल्वे. 1-10
2173 भूतग्रामः स एवायम्-गीता. 8-19
2304 भूतानीन्द्रियाणि-न्न. उ. ता. ख. 9
2269 भूतेभिर्ण्य जायत- कठ. 2-1--7
365 भूमा नारायणाख्यः स्यात्-?
1282 भूयो 5 जुग्रह - रास्त्रदीपिका. 12-2-23
391 भूरिल्येव प्रश्विसिति-ऐे. आ. 2-1-8
321 मेद्वयपेदशाच्च- त्र. स्त. 1-1-77
2272 भेद्वभेननिष्टृत्त्यर्थम्-वि. पु. 2-12

सं. पु.
2204 भोक्रािस्तूत्र-सं. शा 2-79
2295 भोगार्थ सृष्टिरित्यन्ये-गौ. का. 1-9

## (म)

387 मन उदक्रामन्मीलित इव—?
2194 मनननिद्विध्यासनाभावे-विवरण (अर्थानुवाद)
2194 मनननिदिध्यासनाभ्यां-चिव्ररण.
367 मनमश्र मन्तवयं च-पश्न. 4-8
391 मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयति-?
3 91 मनसैव मनो जयेत्-?
2345 मनोमयमिंद्द विश्वम्—?
1261 मनोडस्य दैवं चभ्षु:-?
389 मनो होचक्राम-बृ. 6-1-11
2430 मयक्ष शाग्बरश्चैव-दरिवंशा-?
2206 मयाध्याक्षेण प्रकृतिः-गीता 9-10
1485 मयि सर्व प्रतिष्ठितम्- कै. उ.
2301 मय्यनन्तगुणेडनन्ते - ?
367 महत्तत्वाद्विकुवर्वणात्-?
177 महान्तं विभुमात्मानम्-कठ. 1-2-22
189 महीघटत्वम्-वि. पु. 2-12-42
373 माममृतं कृधि-ऋ. स. 7-5-27
378 मामेव ये प्रपद्यन्ते-गीता 7-14
2295 मायामात्रं तु—क्र. सू. 3-2-3
2304 माया च तमोरूपा-न. उ. ता. 9
2305 मायया संनिरुद्इ:-श्वे. 4-9
2429 माया ह्रेषा मया सूष्टा-मोक्ष. 347-44
2 4:30 मायाम्टरं दयितयेप्सितम्- गाग. 11-5-31
2294 मायां तु प्रकृतिम्-श्ब. 4-10

स. पु.
2206 मितां ह्नस्वः-पा. सू. 6-4-92
2307 मिश्यैष ठ्यवसायस्ते-गीता 18-59
124 मिथ्याशब्दोडनिर्वचनीयतावचनः-पश्रपा. अध्यास
1486 मुग्धेडर्धसंपत्तिः परिराषास्-च्न. सू. 3-2-10
1281 मुख्यं वा—जै. सू. 1-2-23
1407 मुमोच धनुरायक्य-हरिवंश :2-106-17
311 मूढढ छव व्यवहरन्नास्ते-न्न. उ. ता. 9 खण्ड
1335 मृडमृद-पा. सू. 127
2281 मृत्तिकेल्येव सत्यम्-छा. 6-1-4
1275 मृत्योः स मृत्युमामोति-कठ $2-1-10$
217 मैत्रावरुणः प्रेष्यति-?
(य)
35 य आकारामन्तरो यमयति-बृ. 3-7-12
2202 य आकाशो तिष्ठन- वृ. $3-7-12$
(2 425 य आत्मा अपहत-छा. 8-7-1
320 य आत्मनि तिप्ठन्-(माध्यन्द्रिन)
1472 य पवं विद्वान् पौर्णमासीं-तै. सं. 1-6-9
1472 य पवं विद्वानमावास्यां-तै. सं. 1-6-9
1442 यचिकेत सत्यमित्तष्न मोघम्-ऋ. सं. 8-1-17
1271 यजमानः प्रस्तरः一?
2326 यतितवयं समत्वे च-वि. पु. 1-19-46
2 200 यतो वा इमரनि-तै. उ. :3-1
1123 यत्तदद्रेशयमग्राह्यम-मु. 1-1-6
2365 यत्जु दृ्टिपथं प्राप्तम्-यो. भा. $t-13$
2307 यत्तु कालन्तरेणापि-वि. पु. 2-13-100
1344 यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ. चाक्यपन्दीय 1-34
1477 यत्परः शब्दः-?

स. पु.
1331
2168
2273 यत्र त्वस्य सर्वम्- घू. 4-5-15
359 यन्र नान्यत्पइयति --छां. 7-24
2320 यत्र हि क्रैतमिव-ब. 4-2-15
1194 यत्र साध्योपष्येगः - मरिण
1189 यत्र साध्यहेत्वो:-?
1189 यत्र यद्दाबोन्नायकत्वम्-:
373 यत्रानन्द्राश्ध मोदाश्श- ॠ. स. $7-5-27$
1355 यत्राविचारितमेब—विषरण.
2343 यक्रैष पतत्सुतोडभूत्त + कैष--वृ. 2-1-16
2343 यन्रैष पतत्सुतो डभूत्र + तंदेषाषां-ब. 2-1-17
1310 यत्समदर्रोष्पका उपदधाति-?
1141 यत्साक्षादपरोक्षात् वृ. :3-4-1
2274 यथा आर्द्रेधांग्नः-बृ. 2-4-10
2274 यथा दुन्नुभेः -व. 4-5-8, 2-4-7
2274 यथा नद्यः स्यन्दमाना:-मु. :3-2-8
383 यथा च्च तक्षोभयथा-व. सू. 2--3-40
2142 यथाकाशास्थितः-गीता 9-6
1213 यथा विद्धमानमपि-दीधिति 70 पुट
2329 यथा है इयेनो निप्य-?
1320 यथा श्रंद्ध दक्षिणां ददाति-?
233 यथा सर्वनामत्वमहंप्देषु-?
213 यथा सत्यत्वाविरोषेडपि-भाम
2325 यथा हृष्टया प्रसक्नः सन्-?
367 यथा सौम्य वांांसि-प्रश्न 4-7
2282 यथा सौम्यैकेन-छा. 6-1-4
2276 ंयथास्मिन्नाकारो -बू. 4-3-19

सं. पु.
2117 यथाह्ययं (होको) ज्योतिरात्मा-?
2269 यथोदकं दर्गे वृष्पम्-कठ. 2-1-14
2269 यथोदकं शुद्दे शुद्धम्-कठ. 2-1-15
2286 यदम्र रोहितं रूपम्-छा. 6-4-1
1497 यदछ दाशुषे-ऋ. सं. 1-1-2
2429 यद्चरस्तन्बा वावृधान-ऋ. सं. 8-1-15
3153 यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाण्च-वृ. $2-3-2$
1493 यद्दा कर्मसु काम्येषु-छा. 5-2-8
1472 यद्दाग्रेयोऽष्टक्कालः-तै. सं. श-6-3
2232 यदाजिमायन्-?
2328 यदाजिमीयुस्तदाज्यानाम्-?
1489 यदात्मतच्वेन तु अ्रह्मतत्वम्-श्वे. 2-15
2 :328 यदा (त्रा) न्या ओषधयः-?
2342 यदा सुषुप्त इत्यादि-वृ. 2-1-19
1267 यदाहवर्नाये जुहोति-?
1329 यदि प्रतिहर्ता-?
1232 यदि क्ञानं विषयता-?
1162 यदि प्रमात्वसमानाधिकरण-?
2.297 यदि रथन्तरसामा सोम:-?

361 यदि वा नो महिस्नि-छा. 7-2t-1
2235 यदि शास्त्रैदेशालोचनन--तब्त. 953 पुट
2142 यदि स्वाभाविकं कर्तृत्वम्-चृ. भा. 4-3 (अर्थानुवाद)
2 353 यदेव मगवन्वेद-ब्टृ. 4-5-4
2) 268 यदेवेहह तदमुत्र-कठ. 2-1-10

2277 यद्वै तम्न पइयति- बृ. 4-3-22
1230 यन्मूतहितमत्यन्तम्-मोक्ष?
1248 यद्यम्निं चेष्यमाणा:-श्रौ. 26-1-1
1331 यधुद्राता जघन्यः-जै. स्. $6-5-55$

सं. पु.
1161
35
यध्यपि प्रमासामान्ये-?
35 यद्रम्मवत्वेन नियमत उपास्थते-(मणि)
387 यन्निष्ठा यनिरूपिता ठयाभि:-?
150 यनिबन्धना हि यत्पतीति:-?
328 यवमयश्चरुः -?
288 यस्तु सर्वाणि भूतानि-ईशा. 6
289 यस्मात्परं नापरमस्ति - श्वे. 3-9
212 यस्मात्र्पत्ययविधि:-पा. स्त. 1.4-1.3
290 यस्माभ्नाणीयोे न ज्यायो डस्ति—ंश्व. 3-9
275 यस्मिन्पश्ञ्र पश्व जना:-ब्ट. 4-4-17
271 यसिमन्द्यौ: पृथिवी-मु. उ. 2-2-5
273 यस्मिन्सर्वाणि भूतानि-ई. उ. 7
335 यस्य दुष्टं करणम्-राबरभाष्य 1-1-5
326 यस्य देवे परा भक्ति:-श्वे. 6-2.3
325 यस्य प्रासादात्-वि. पु.
306 (यस्योभयं) दविरार्तिमाचर्छेत् (छईति)—?
398 यः सर्वशः सर्ववित्-मु. उ. 1-1-9
285 या ते अग्ने अयाशाया-तै. सं. 1-2-11
285 या ते अग्ने रजाशाया-तै. सं. 1-2-11
442 याथातथ्यतोगर्थान्-र्क. उ. 8
207 यादरां ब्रह्मणः सत्त्वं--?
320 या निशाए-गीता 2-69
286 यावानर्थ उदपाने-गीता $2-46$
235 यावज्जीवमग्निहोत्रम् -?
272 यावत्या वाचा-?
310 यां वै कांचन अ्राघ्लणवतीम्-?
युक्तेः रबब्दान्तराज्ध—— स्र. सू. 2-1-18
युआनः प्रथमं मनः—श्वे. 2-1

सं. पु.
1323 यूपे पशुं बधाति-?
2293 यू स्रणाख्यै। नदी-पा. सू. 1-4-3
2211 येन विधिः - पा. सू. 1-1-72
1455 येनाश्रुतं श्रुतं भवति-छा. 6-1-3
(2) 229 येनाक्षरं पुरुषं वद-मु. उ. $1-2-13$

398 ययं प्रते विचिकित्सा-कठ 1-1-20
29 योडपि तावत्- अंडर. वा. थ.) पुट
2 112 यंडडन्यथा सन्तमार्मालम्-वर्शर्तै कसार: 2-4-100
366 योनिश्व हि गायंत-ब. सू $1-4=27$
1261 यो $य$ यं दक्षिणेडक्षिणि-च्ट. 5-5-4
3. 69 येग्सौत बयक्तत्वम्-मेंक्ष ;49--30

369 (से)येगहहंकार -मोक्ष 349 -:3।
320 यं विझान तिप्रन- क्र. . $-7-32$
387 यो ंचँ₹ं जिघ्रागीति-छा. र-12-4

13228 यो चाश्वं प्रतिगृहातन तै. स. $2-3-12$
2) 347 रजुसपंशिन्रदिश्वम्-:

2 :35() रमणीयचर्णा:-द्धा. .)-10-7
2) 326 रूपमेतदनन्तस्य - वि. पु. 2-19-47

4 302 रूपं रूपं प्रतिरूप:- ज्ञ. $3-5-19$
2304 रूपं रूपं मघवा वा भवति-ऋ. स. :3-3-20
(ल)
1262 लसितं विचक्षण-:
232 लक्ष्य्यर्वपमपि-सं. शाए. 1-5-16
1217 लिद्ञान संसकारयें:-पश्वपा.
A. VOL III.

सं. पु.

## 24

2201
$2 \quad 17$
2387 वप्रकरणे Sन्यत्रापि-चै. चार्नेकम्
1328 वरुणो वा एनं गृलाति-तै. सं. $3-3-1 \because$
1266 वर्त्मनि जुहोति-औौ. सू. 11-6-1:)
2215 वसंन्त ब्राह्मण:-?
:2 215 वसन्ते ब्राह्मणं-अपस्तक्वधर्म 1-1-19
1467 वसन्ते वसन्ते (ज्योतिप्रामेन) आर. और्रौ. सू. 10 ज) j
1318 वषट्कर्तुः प्रश्नम भक्ष: - -?
2287 वस्तु राजेति-वि. पु. 2-1.3-99
121 वस्तुशून्यो विकल्वः-ये. सू 19
2280 वाचारम्भणं विकार:--छा. 6-1-5
2206 वा चित्तविरागे-पा. सू. (6-4-9)
1314 वाजपेयेन स्वाराज्यकाम:-?
1282 वात्स्यायनादीनां त्रह्मण्यं समन्न्वय:--?
2304 वाग्रुर्यथैको भुजनम् -कठ. -5-10
:2 287 वायुँच घृतम्- ?
1305 वायुर्वै क्षेपिष्टर देशना—"ं. सं. 2-1-1

2 287 वासुदेवाभिधानस्य-वि. पु. $3-15-3.5$
2291 त्रिकल्पा विनिवर्नेन-गौ. का. 1-18
1480 विकारो नामंधयम् - छ्रां. (j-1-5
265 विश्कानमानन्नं व्रह्म -बृ. 3-9-28
2297 विश्शानं परमार्भ्षडसो-वि. घु. 2-11-.31
.) 83 विज्ञानं यक्षं ननुते-तै. उ. 2-5-1
(2) 345 विद्याविद्ये-सं. शा $\because-12-8$

1166 विद्धान्नामरूपर्दन्दुक्तः मुण्ड. 3-ソ-8

## सं. पु.

1323 विधिना त्वेकवाभ्यत्वात्र-जे सू. 1-1-7
1325 विधौ विधायके शब्दे-अध्यासभा. हया. कल्प.
2270 विनञ्म्यं नानाऔ-पा. सू. 5-2-27
2201 विपर्ययेण तु कमः—व्रह्म. सू. 2-3-14
2266 विप्रतिषिद्धधर्माणाम् जै. सू. 12-2-2.
1 :329 विप्रतिषेधाद्विकल्प:-ज. सू. 6-5-51
1 3:29 विभाग श्रुतः प्रायश्चित्तम् जै. सू. 6-5-49
2295 विभूर्तिं प्रसवं त्वन्ये-गौै. का. 1-7
2110 विभ्रमहतूनां विचित्रत्वात्- सि. वि. 1 अ्लो. ब्या.
(2) $4: 31$ विभेन्दजनंक- ति. पु. (;-7-16

18 विमतं क्षानबयतनंत्केण—?
2330 विमुक्तश्व चिमुष्येते -कट. . -1
1 :36 विरुद्धमिति नः क्षत्यग्य:-्भाम. 1-1-1 ब्र. सि. 63 पुट.
2236 विरुद्धवत्पतीयन्ते- ?
1298 विरोध्रे त्वनपेक्षम्-जै. सू. 1-i3 3
2) 203 विवर्तबादस्य हि--स. शा. 2-61

2 406 विवादपदं प्रमाणझानम् - विवरण 100 पुट.
2 197 विविन्दिषन्ति गक्षेन-वृ. $4-\downarrow-22$
$\therefore .270$ विशाष्यं नाभिधा गच्छेत्- ?
1466 विश्वमन्तरिश्षं च-मा. भा. 1--4--41
1465 विश्वमा प्रा—ऋ. स. 1-1-14
3) 6 विश्वस्य योनिः—?

1 :3-13 विश्वं सत्यम्-ऋ. स. :2-7-3
387 तिश्वो हि स्थूलभुक्-गौं. का. 1-3
150 विषयावभासाभवात्-विवरण 1-1-2
335 विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्-?
2235 विषयाविषयौ-तन्त्र. 88

सं. पु.
290 विषयावचिछनं फलम्-विवरण. 198 पुट.
1126 विष्णवे शिपिविष्टाय-तै. सं. ;-4-1
2292 विष्णोरिचछावरात्वात्तु-?
2351 विहाय जीर्णान्यन्यनि-गीता $2-22$
2263 वृक्षस्य रवगतो भद् - पश्नद्रुी. 2-15
1498 वैधर्म्याच न सत्रमादिवत्- न. मू. 2-ข-29
1355 चैशोष्यात्तु तद्वादः-न्न. स्य. $2-4-2$
2201 बैधन्यैैर्धुण्ये-व्र. सू. :2-1-34
1281 ब्याप्तिपक्षधर्मते बलम्-(न्याय--भा,)
2198 वीहीनवह्रन्ति—आँ श्रें. 1-1!)
1478 वीहीन्न्रोक्षति-आ. श्रे. सु. 1-19?
1488 नेदविदो विदित्वा-शे. 1-7
1449 वेन्दानदर्धत्य-मनु. 3-2
2350 चेदान्नविश्शन-मुण्ट. :;-2-6
1352 वेदें कृत्वा-?

1163 राक्यादन्येन (संर्रार्यदन्येन) रूंपण—?
1 225 राङ़ा चदनुमास्त्यन्न-न्या. कु. i-77 (स्लग)
147 शब्द्बकानानुपती-या. सू. 1-9)
1473 राब्दव्यापार (श्रोतृव्यापार) नानातंव-तन्त्रा. 177 पु.
2 :35 शब्दाश्रयत्वादिना-?
1267 शरमयं बर्हि:-?
388 शरीरवा ङानेभिर्यत् -गीिता. 18-15
2142 रारीरसग्रोडणि कौन्तेय一ग़िता. 13-31
1386 रारीरा जन्यत्तं ठ्यर्भविरोषणत्ग म्-ई. वाद. मरण. 19 पु.
1444 शाकमना शाकः-क. सं. 8-1-17
320 शारीरश्रोभययेपि हि--्र. सू. 1-2-20

सं. पु.
385 शास्तफलं प्रयोक रि-ज. सू. :3-7-18
2328 शास्त्रस्था वा-जै. सू. 1-3-9
2234 शास्त्रं शब्दार्थविक्षानतन् -रावरनाफग्य 1-1-5
1 379 रिावमद्दैतम्-प्रश्न. 7
1351 रिष्टाकोपे - ज. सू. 1-3-5
2211 रिा सर्वनाम ₹थानम्-पा. सू. 1-1-12
${ }^{2} 344$ शुक्क कृष्णम -बु. वा. $1-5-119$
1 1:31 शुर्द (निरूपति) ब्रह्मति -कल्प. 1-1-1
1265 श्रुतिलिझ्नवाक्य-ज. स. :3-3 14
1264 श्रुतेर्जाताधिकार: -जं. सु. :3-3-1
:3 87 श्रण्वन्तः श्रेत्रेण-ब्यृ. ( $\mathrm{i}-1-8$
1 16:3 इयेनेन (अभिचरन् ) यंजत--
2194 श्रोतव्यो मन्तव्यः-बू. '2-4-5
『)
1 92 घडसमाकमनादयः - ?
2. 211 षड्भ्यो ल्रुक-पा. सूं. 7-1-22

1461 षर्डिशरातिर्वाजिन:--
1462 पड्डिंशातिरित्येव-?
1 46: पड्डिंशातिश्धतुर्विशादेषाम्?
1463 पर्ड्विरातिरस्य बङ्झय:- ?
2 り26 पोडशिनं ग्रण्हाति—?
2.211 ธणान्ता पद्-पा. सू. $1-1-24$

183 स पवाधस्थात्-छा. 7-35-1
3 61 स पवेदं सर्र्रम्-छा. 7-25-1
2117 स पष इह प्रविष्प:-च. 1-1 7

सं. पु.
1275 स एष नेति नेति-बृ. 3-9.26
3135 सङुरत ग्रहणाभावात् -बौद्धा.
1485 सक्ष त्यच्चाभवत्-तै. उ. 2-6-3
2350 सति संपद्य न विदु:—छा. 8-9-2
2306 सत्र्नं स्वातन्ड्र्यमुद्दिष्ट्य - भार.
1 !): सत्वाच्चावरस्य-ब्र. सू. $3-1-16$
29 सत्यत्वं न च समान्यम्-ल्लो. चा. 919 पु.
210 सत्यस्य सत्यम्-वृ. 2-3-6
2172 सत्यानृते मिथुनीकृत्य-- शां. भाष्य (अध्यास)
2 330 सत्यं चानृतं च-तै. उ. 2-6-3
186 सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म -तै. उ. $9-1-1$
2328 सत्ये प्रतिषिष्ठतः कृष्णः —मा. उद्योा. 69-1ン
1115 सदसत्वस्सैकत्र विरोधेन विधिवतू-चौद्धा. 69 पु.
1114 सद्सतोः संबन्धानुपपत्तेः?
2329 सद्धाव एष भवतः一वि. पु. $2-12-45$
2329 सद्रह्यामृतवाचकत्तात्- रां. भा. छां. (i-:) (अर्थानुवादः).
455 संदेव सोग्येद्मम्र आर्सीत्-छा. (i-2. 1
176 सद्राद्रणिन्ताद्या:- विभ्रमविवेक 45 (स्लो)
493 सधीः स्वमो भूत्वा -बृ. 4-3-7
2330 सनत्सुजात यदिदम्- भा. उद्यो. 42-2
1128 सन्तमसबहुलाकयेारिव-(तत्त्वर्दा.) .
2209 सन्मिपातलक्षणो विधिः-- वै. परि.
2231 सत्तद्रानि पृष्टानि?
2296 सप्रयोजनता तेषाम्-गौं. का. वै. प्र. 2-7
377 स प्राणमसृजत-प्रश्न. 6-4
361 स भगवः कस्मिन्प्रतिष्टितः-छा. 7-24-1
2288 स भूर्मिं विश्वतो चृत्वा-पुर. सूक्त

सं. पु.
1 समानानेक-चया. सू. 1-1-13
371 समारोप्यक्य रूपेण-भाम. 1-2-1
1146 सम्यग्शानविभावसु: -स. शा 4 - 38
1169 संबन्धिभदात्सत्तैक-वाक्यपदीय :3-3:3
1 27.7 स यत्र किंचित्पइयति-ब्र. 4-3-15
366 स यो हैतन्महद्यक्षम्-वृ. : $-4-1$
1281 सरस्वतीमाज्यस्य यजेत?
2. 95 सर्वतीर्थद्रां सिद्वि:-ब. वर्निकम् 4-3-156

2 9.) सर्वनीर्थद्रां तावत्-वृ. वार्तिकम् $\quad \mathbf{t}-3-1.58$
2197 सर्त्र कर्मारिबलं पार्थ-रीता $1-3 \cdot 3$
2 :376 सर्ं वस्तु ज्ञाततया-विवरण 99 पुट
2.259 सर्वप्रतिपदिकेम्यः-चै. वर्णिक

234 सर्वनान्नां बुद्धिविषयत्व?
$1 \quad 123$ सर्वृ्रत्ययंवे्येडसिम्मन-त्र. सि. t-;;
2288 सर्त्र समाशोषि-भा.
1162 सर्वकार्य म $^{1}$ साधाधारणम ?
1136 सर्वस्य कर्टृत्वादेव-विवरण 900 पुट
1176 सर्वमूतषु गूढः--9े. (6-11
150 सर्व कार्यमभावपुरःसरम्- विवरण 913 पुट
1316 सर्व खल्विद्ं ब्रह्म—छा. :3-14-1
2274 सर्व तं परादात्-ब. 1-\% 7
388 सर्व है तेऽन्नमामुचन्ति-तै. उ. 2-2-1
2 2:32 सर्वंणि ह वा इमानि-छा. 1-9-1
2 197 सर्वोपेक्षा च-व सू. :3-4-26
217 सर्वद्वानि सर्वनामानि-पा. सू. 1-1-27
353 सर्वाः प्रजाः अहरहर्वर्वह्म-छा. 8-3-2
2287 सर्वेषु भूतेष्वोतम्?
2127 सर्नेभ्यो दर्शापूर्णमासौ?

सं. पु.
1298 सवनीये छिद्रापिधानार्थत्तात् -जे. सू. 12-2-8
2279 स वा एष अत्मा हृदि—छा. 8-3-3
2144 स वा एप एतसिमन् सम्रसादे -बृ 4-3-15
2144 स वा एष एतस्मिन् स्वमे-बृ. 4-3-16
$214 t$ स वा एष पतसिमन् बुद्धान्ते-व्ब. 4-3-17
2.278 स वा एष महानज आत्मा--बृ. 4-4-22

2 6 सविलासाश्षाननिव्तिर्बाधः-वितरण 215 पु. (अर्थानुवाद:).
1275 सलिल एको द्रष्प—वृ. 4-:3-32
2287 स हि कर्ता-बृ. 4-1-1.)
1481 साधु चन्द्रमासि-हयग्रावचधकाव्य ?
2123 साध्याभावस्तु यस्तस्गा-वाक्यपद्शीप?
114 साध्याभावनिश्वयवनि ?
1469 सापेक्षानुचादे हि न प्रमितिः-नयविनेक
2233 सामानाधिकरणयेन --शानद. 1-1--8
2220 सामानाधिकरण्यमत्र पन्द्याः ---सं. शा 1-197
2219 सामानाधिकरण्यमत्र अवति -सं. शा 1-196
2290 सितनरिलादिमेदन वि. पु. 2-16-22
1408 सिंहान्विद्रावितान् हरिवंश. :2-106-26
363 सुखं भगत्रा विजिझासे -छा. 8-24
2229 सुखमस्यात्मनो रूपम्-भाग. 7-1:3-26?
2240 सुदू रुधावनश्रान्ता-खण्डन. 1-97 स्को
2195 सुवर्ण हिरण्यं भार्यम्-तै. ब्रा. 2-4-4
1298 सुषिरो वा?
1486 सुषुप्तिकाले-कै. उ.
150 सुषुत्ते बिक्षानलेशस्य-पश्न्वपा. 1-1-2
1 :306 सूर्यों ज्योतिज्ज्योतिः-नै. ब्रा. 1-1-2
2304 सूर्यों यथा-कठ. 2-2-11

सं. पु.
1307 सृण्येव जर्भरी-ऋ.सं. 8-6-2
2262 सूष्टिस्थिति-सं. शा. 1-260
1309 सृष्णररूपदधाति—तै. सं. 5-3-4
1103 सेतुं टषूा समुद्रस्य?
1398 सेयं देवतैक्षत-छा. 6-3-2
2 :309 सेयं माया-भाग. 3-7-9
366 सैव हि सत्याद्यः-न्न. सू. 3-3-38
284 सोऽकामयत-तै. 2-6-2
366 सोहंकार-मंश्षधर्म 349-30
1299 सोमारौदं चरुम्-तै. सं. $2-2-10$
1 :.74 संत्मेन गंजत—श्रौ. सू. 8-21-2
2294 सोऽयं सत्यो ह्यनादिश्व?
1320 सो 5 रोदीव्-तै. सं. 1-5-1
1124 सौगतव्रह्मवादिनो-खण्डन. 1-7-6
1305 स्तेनं मनः ?
1191 स्वच्छेडन्तःकरणे?
295 स्वतोडसिद्द वृ. वार्तिकम्. 4 -3-162
2. 95 स्वतः सिद्धाऽथन्ता सिद्ध:-बृ. वार्तिकम् 4-3-160

2292 स्वममायास्वरूपेति-गौ. का. 1-7
2 269 स्वमान्तं जागरितान्तं च—कठ. 2-1-4
2144 स्वमेन शारीरम्- बृ. 1-3-11
1.500 स्वमर्घीसान्यतः - शा. द 2-2-5

2294 स्वममायागन्धर्व - गौ. सू. 4-2-31
2127 स्वप्रकाशमहानन्द्दम्-नृ. उ. ता. 8 खण्ड
2278 ₹वमपीतो भवति-छा. 6-8-1
2352 ₹वर्गकामो यजेत-तै. स. $2-5-5$
322 स्वरूपतः प्रमाणैर्वा-चित्सुखी. 4-4
2305 स्वात्मबन्धहरः सर्वदा-न्नु. उ. ता 2

सं g.
1 16:3 स्वाधिकरणक्षणध्वंस?
2354 स्वाध्याय प्रवचनाभ्याम -तै. उ. 1-8-1
1449 सवाध्यायोड ध्येतव्यः - तै. आ. 2-15
232 स्वानुरक्तमतिजन्महेतुताम्-सं. शा. 1-5-18
232 स्वानुरक्तमति जन्मकारणम्-सं. शा. 1-5-17
1204 स्वे महिस्नि-छा. 7-24-1
325 सेनैनैव कलिपते देरो?
2 212 स्थानिवदादेशाः-पा. सू. 1-1-5t;
150 स्थिरमनुयायिकारणम्-रां. भा. 2-2-26
212 ₹फटिकमणेरिवोपधान - पश्चवा (ल्रौहित्यमिध्यात्वविच्चार.
3 77 हन्ताहामिमए:—छा. 6-3-2
2213 हलिसर्वेषाम्-पा. सू. 8-:3-22
1249 हिरण्यं निधाय चेतठ्यम्?
1305 हिरण्यं हस्ते भवति?
1367 हेतुविद्रोत्रादेः-संक्षित्रसारठ्यक्रकण
2243 हेत्वाद्यभावसार्वश्ये--सं. शा. 1-102 (9 स्ला)
2430 हे नरास्तं न जानीथ—मा. भा. 7-3-17
3133 हिर्धीर्भी:-बृ. 1-5-3
2187 क्षीयन्ते चास्य-मु. ड. $2-2-8$
1351 क्षुते आचामेत्?

## ABBREVIATIONS.

ऋ. सं. ऋक्संहिता
तै. सं. तैत्तरीयसंहिता
तै. व्रा. तैत्तरीयव्राह्यणम्
तै. आ. तैत्तरीयारण्यकम्
घ. सू. चह्मसूत्रम
जै. सू. जैमिनिसूत्रम्
गौ. सू. गौतमसूत्रम् (न्गाय)
тा. सू. पाणिन्नययसूत्रम्
यो. सू. योगसूत्रम् (पातल्जल)
ई. उ. ईंशेपनिषत्
के. उ. केनोपनिषत्
कठ. कठोपनिषत्
प्रश्न. प्रश्नोपनिषत्
मु. उ. मुण्डकोपनिषत्
गौ. का. गंडडपादकारिका
तै. उ. तैत्तरीयोपनिषत्
या. उ. यार्क्षक्युपनिषत्
पे. पेतरेयोपनिषत्
बृ. बृहदारण्यकोपनिषत्
छा. छान्दोग्योपनिषत्
श्वे. श्वेताश्वतरोपनिषत्
नु. उ. ता. नुसिंहोत्तरतापिनी

मै. मैत्रायणीयोपनिषत्
क. कैवल्योपनिषत्
सं. शा. संक्षेपशारीरकम्
भाम. भामती
कल्प. कल्पतरः
शां. भा. शांकरभाष्यम्
यो. भा. पातस्अलयोगभाष्यम्
तन्न्र. तन्न्रावार्तिकम्
मी. स्तो. मीमांसा स्रोकवरार्तिकम्
पश्नपा. पश्रपाटिका
तच्वद्वा. तर्वदीपनम्
भाग. भागवतम्
भा. भारतम्
वि. पु. विष्णुपुराणम्
व्र. रि. ब्रह्मसिद्दि:
सि. बि. सिद्धान्तबिन्दुः
आ. शौ. सू. अपस्तम्बश्रौतसूत्रम् न्या. कु. न्यायकुसुमाख्जलिः
बै. भू. सा. चैयाकरणभूषणसारः बौद्धा. बौद्दाधिकारः (आत्मतत्व. विवेकः)
शा. द. शास्त्रदर्पणम्

## इल्येवं रील्या बोद्धव्यानि। इतरत्षुगमम् ॥

## मैसूर राजकीयप्राच्यकोगागरोे परिफ्कल्य देतनागगराक्षैरः संगुद्रितानां कर्याणां प्रवन्धानां

## प्रसिद्धिपत्रिका.

शौतसूत्रम्.
к. आ.

73 (1) आपस्तमबगुल्बसूत्रं इ्याख्यात्रयोपेतम् .... 2 12

## गृह्यस्तन्रम्.

41 (2) खादिरगृध्यमूत्रं रुद्रसकन्द्दीयसहितम् .... 10
55 (3) बोधायनगृह्यमूत्र्र परिशिप्पसहितम् .... 24
धर्मस्त्र्तम्.
50 (4) गौतमधर्मसूत्रं म₹करिण्याख्यासहितम् .... :3 8

## धर्मशास्ननिबन्धः.

43 (5) स्मृतिचन्द्दिका (पथमसंपुटं संसकारकाण्डः) 18
44 (6) स्टृतिचन्द्रिका (द्वितीयसंपुटं आ⿸्निककाण्डः) 28
45 (7) स्मृतिचन्द्रिका (तर्तायसंपुटं व्यवहारकाण्डः) 20
48 (8) स्मृतिचन्द्रिका (चतुर्थसंपुटं व्यवहारकाण्डः) 30
52 (9) स्टृतिचन्द्रिका (प्श्नमसंपुटं श्राद्यकाण्डः .... 34
56 (10) स्मृतिचन्द्रिका (प्हसंपुटं आरींचकाण्डः).... 18
71 (11) सरस्वतीविलासः प्रतापरद्रविरचितः .... 2 \&

# अर्थशास्बम्. 

> ₹. आ


## अलङ्హारशास्त्रम्.

| 51 | (16) | अल्ञङारमणिहार: | संपुटं | I | .... | 3 | 0 |
| :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: | :---: |
| 58 | (17) | ., | संपुटं | II | .... | 3 | 8 |
| 62 | (18) | " | संपुटं | III | .... | 2 | 8 |
| 72 | (19) | ,, | संपुटं | IV | $\ldots$ | 2 | 4 |
|  | (20) | काइयप्रकाशा: सेख | ताख्य | ¢ाथ | .... | 3 | 8 |

## वैद्यरास्त्रम्.

71 (:1) आयुर्वैदसूत्रं यंगानन्न्द्रायवयाख्यापेतम् .... 20

## ज्योतिशशास्त्रम्.

6:3 (22) विद्यामाधर्वयंयं विण्णुरार्मविरचितमुहृर्तद्दापिकाख्यक्याख्यायुत्तम्


## अद्वैतवेदान्तः.

| 75 | (2.5) अद्वेतसिद्दि:, गुहुचन्द्रिकापेता संपुटं | I .... | 3 | 12 |  |  |
| :--- | :--- | :--- | :--- | :--- | :--- | :--- |
| 78 | (26) | संपुटं | II | $\ldots$. | 3 | 4 |
| 80 | (27) | " | संपुटं III | $\ldots$. |  |  |

## विशिश्टद्बैववेदान्नः.




[^0]:    

[^1]:    1 भावत्वे.

[^2]:    ${ }^{1}$ न स्यात्तदा. 2 लाघकस्संभवात्. 3 सूचक.

[^3]:    ${ }^{1}$ उๆहिततादास्म्यात्, हुद्देडपि सत्त्वादिधर्मकख्वक्यबद्दार इल्याशयेनतिम्याम्स्युाक:,

[^4]:    ${ }^{1}$ ज्ञानतत्सामपयन्यतरजन्यघ्वंसप्रतियौगिनि. ${ }^{2}$ तादात्मत्व.

[^5]:    ${ }^{1}$ तत एव.

[^6]:    'न वा. ${ }^{2}$ योगित्वादिति ${ }^{3}$ भाति.

[^7]:    1 स्वाविषयक.

[^8]:    ${ }^{1}$ तत्संशयानं. ${ }^{2}$ व्रह्मणि. $\quad 3$ अबाध्यत्वात्. ${ }^{4}$ अपारमार्थि कत्वेन.

[^9]:    1 यतस्तक्षोक्रम्.

[^10]:    ${ }^{1}$ मित्युक्कुनियमो न व्याहतः.

[^11]:    1 अत्र तच्छब्देन स्वन्यूनसत्ताकत्क्मुच्यते. ${ }^{2}$ तच्छब्देनात्र सिद्धसाधनमुच्यते. 3 ध्वसान्याभाव. 4 भेदान्याभाव.

[^12]:    1 अमिथ्यारूपेण घटादिस्थूल्लक्षण. पा.

[^13]:    1 अन्ये हि, पा. 2 क्षेणिशेष. 3 नोत्तर.

[^14]:    1 न जायते. ${ }^{2}$ समसत्ताकं तदेव तहहाभेदविरोधि छति पा. 3 मृद्युपचयः

[^15]:    i मवच्छिकमाधेयत्वप्रयुक्रूतया. 2 न भातीति.

[^16]:    1 घ्वंसाभाने. 2 नाह्तीतित धी: इति पा.

[^17]:    1 योग्याज्ञाननिचत्थि.

[^18]:    1 प्रतिबन्धकतोक्त:. ${ }^{2}$ तदा भाबस्प. $\stackrel{\text { तत्सम्भवेन. }+9 \text { परीक्षित. }}{ }$

[^19]:    1. 1 धर्मिण:. 2 भञात्. 3 हानि. 4 असतोपि. 5 असत्सम्बन्ध:.
[^20]:    1 जुबदृत्ति.

[^21]:    1 विषयकतत्त्वज्ञानस्योक्त. ${ }^{2}$ विषयपेदेन विषयतापर्याप्लय|श्रयोक्तशा रजताभिजेद्मादेरेव श्रुफ्रयादिज्ञानविषयत्वसम्भवात्। न चेयं ज्रुक्तिरस्य रूप्यस्य ज्ञानं मे जातमिल्यादिज्ञानासम्भव इति वाच्यम्; इतरांशे अविंरोषणस्य अविशेष्यस्य चे|क्षपर्यास्तयाश्रयस्य विषयपेदेनोंत्रारिति। स्वसमानकालीnन्वेल्यारंम्य तथाचेल्यन्तं पाठान्तरम्। इति कोझागारीयमातृकायां वर्तते. ${ }^{3}$ ₹्य संभवः. ${ }^{4}$ उत्रांबषयकेनान्युक्त. ${ }^{5}$ प्रत्युपहित.

[^22]:    ${ }^{1}$ प्रल्कक्षमत, ${ }^{2}$ ज्ञानस्योत्तत्तेः ${ }^{3}$ स्वनिवर्त्याज्ञानविषयकेलेवार्थ:, 4 ज्ञान.

[^23]:    1 धारात्बादस्य. ${ }^{2}$ युक्षमितरविषयकस्यापि. 3 अविषयत्वात् धुद्धं.

[^24]:    ${ }^{1}$ स्वविषयस्वोपहितादभेदेन. ${ }^{2}$ मनस्संयोगे तत्तादास्य्यवति. इति पा. ${ }^{3}$ प्यसस्खेन.

[^25]:    1 हेतुरिरि भेद:.

[^26]:    ${ }^{1}$ ज्ञान. ${ }^{2}$ निरवच्च्छिकाशक्यता न लवच्छिभानुगल्यर्य. हति. पा. ${ }^{3}$ स्यात्। एवं.

[^27]:    ${ }^{1}$ त्वादिर्विषयस्य. 2 विरोधिखादिद्मश्ञान.

[^28]:    ${ }^{1}$ अज्ञाना. ${ }^{2}$ जीवेष्षभेदा गुणजन्यैव. नास्ल्यतत्कोशान्तरे.

[^29]:    ${ }^{1}$ सिद्धमिल्यस्याव्यापकत्वमर्थ. इति. पा. ${ }^{2}$ कल्पित. ${ }^{3}$ सामान्यस्य वक्ष्यमाण. 4 सल्येन वस्तुतस्तु.

[^30]:    1 स्व. 2 स्वविषये.

[^31]:    1 बोध्यत इतीच्छा. 2 सदूपत्वात्: 3 मन्यतमत्वादिव्यक्तेरेवाखण्डकारणता. 4 चन्द्रान्गुवेधलाभेन उत्छहेतुलाभात् न तदुन्तिवैयर्थ्यम्। यत्तु अनेकेषां तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वं हेत्ठः; ब्रह्मणस्तु नानेकत्वमिति न तत्र विद्धधीविषयेत्यर्थः-इत्यधिकपाठः.

[^32]:    1 विषयत्वान्यानम्युपगमाच. 2 ठ्यक्कितादात्म्याना. 3 व्यवहारावषयत्वमनुपपन्न.

[^33]:    ${ }^{1}$ र्मास्तु भेद:. ${ }^{2}$ घटादिशून्य. ${ }^{3}$ पल्लवाज्ञानस्य सत्त्वे. 4 नाब्षेतं.

[^34]:    1 स्यावरणा. 2 साक्षिणा तदक्ञानस्य क्रियादिरूपस्य साक्षिण्यध्यासात्। सस्ता वेल्यादि. इति कोशान्तरे पा. 3 न युक्तमू. 4 प्रसक. 5 असत्यादि.

[^35]:    ${ }^{1}$ रेकस्यासर्व. ${ }^{2}$ जीविशभेदामेदौ च भावात्.

[^36]:    ${ }^{1}$ जुपपत्तिरनुकूलस्तर्कः. ${ }^{2}$ ठ्याप्यत्वात्. ${ }^{3}$ रूपं. ${ }^{4}$ रक्तप्रागभाववति. 5 संयोगी. 6 शून्य. 7 साध्यासमानाधिकरणं. ${ }^{8}$ वच्छेदकसाध्यसमानाधिकरणं साध्य इल्यधिक: पाठ:.

[^37]:    ${ }^{1}$ न्कोपाय. ${ }^{2}$ जागते. ${ }^{3}$ स्य सख्वात्त. ${ }^{4}$ ज्ञातुं शक्य. ${ }^{5}$ मानात्सम्भवाख्य. 6 नौवाधिक. 7 तरत्वं संद्विग्धा.

[^38]:    1 सम. 2 नोप. 3 अभावत्वाश्रय. 4 तात्विकत्वा.

[^39]:    ${ }^{1}$ स्वबाधकेल्यादिना. ${ }^{2}$ नैव. ${ }^{3}$ साधकेन धूमप्रागभावत्वस्य. ${ }^{4}$ प्रकृते.

[^40]:    ${ }^{1}$ त्वाद्रूपावच्छेदेन भेदेन. 2 स्यानागमः 3 बाधकज़ाना, 4 निश्रयानिश्रितमिथ्याकत्वं, 5 पक्षो नायुक्तः. 6 स्वभिक, 7 साध्यत्वान्त.

[^41]:    ${ }^{1}$ सत्तादाल्म्य. ${ }^{2}$ अतात्विक. ${ }^{3}$ वियदाघवच्छिक्षानवच्छिक्नाद्युपादाना. 4 सर्वत्राधिष्टान. 5 रूपस्य. 6 असून्य.

[^42]:    1 योगिकान्यसंसर्गा．${ }^{2}$ तदवधारणे． 3 प्रत्यय．

[^43]:    ${ }^{1}$ घटाकाशत्व. ${ }^{2}$ घटव्यक्तः. ${ }^{3}$ सत्चे न. ${ }^{4}$ संबन्धता. ${ }^{5}$ तं्रागभावा.

[^44]:    ${ }^{1}$ विषयतासंम्बन्धेन-विषयत्लस्पविषयताधहितेसम्वन्थेन कारणलात्.

[^45]:    1 र्षकत्वम्. 2 संियकर्वं. 3 विषयतायाः. 4 गतत्वाद्विषयता.

[^46]:    ${ }^{1}$ सत्त्वासंयोगेन. ${ }^{2}$ भाव. ${ }^{3}$ अनतिरेक. ${ }^{4}$ मिल्याकारक. ${ }^{5}$ घटवद्भूतलमितिज्ञानस्ग विशोषणज्ञानादिविधग्रा विशिष्टबुद्धथादिहेतुत्वाद्धटवद्ध्तल. इल्यधिक: पाठ: .

[^47]:    1 विशोष्यताविरोषणनन्त. ${ }^{2}$ ल्याकारात्. ${ }^{3}$ घटत्वव्वं ंबन्मते. ${ }^{4}$ प्रकारताक.

[^48]:    1 न च. $\quad 2$ कल्यापत्तयाद्यनन्त. ${ }^{3}$ ₹्वं. ${ }^{4}$ व्विषय. 5 विद्यमानार्थ.

[^49]:    ${ }^{1}$ म्यल्षविष्वयकतया. ${ }^{2}$ साधनवभ्व. ${ }^{3}$ सिद्वेऽपि.

[^50]:    1 ऊहात्मकज्ञानस्य.

[^51]:    ${ }^{1}$ तर्फलार्थ. ${ }^{2}$ तत्संवैं: ${ }^{3}$ साम.

[^52]:    1 गौणाम्व． 2 श्रुतिर्निवर्तेत：－ 3 सत्य．

[^53]:    1 पूर्व.

[^54]:    ${ }^{1}$ प्रल्यक्षावच्छेदेनापि. ${ }^{2}$ न. ` ${ }^{3}$ प्रल्षक्षत्वादि.

[^55]:    1 बोधकेनापि.

[^56]:    1 तात्त्विक. 2 बिम्बाभाव छति.

[^57]:    1 प्रतिबिम्ब.

[^58]:    1 विरिष्टत्व. 2 व्याप्तयादीविषयाबाधसमसत्ताकमेव.

[^59]:    1 बाधक, ${ }^{2}$ तन्मिषेधत एव. ${ }^{8}$ परीक्षया.

[^60]:    1 अर्रमात्रा. 2 कुशा, ${ }^{3}$ पदार्था, 4 चोदनालिकं,

[^61]:    ${ }^{1}$ प्सस्त. ${ }^{2}$ बुद. ${ }^{8}$ दृर्षलत्य सेद्धान्तेड़ीकारात्. ${ }^{4}$ वचनात्.

[^62]:    ${ }^{1}$ सम्बद्वार्थ. 2 त्वादिनियमहूय. ${ }^{3}$ विद्यमानाज़. ${ }^{4}$ त्वादिविरोधः.

[^63]:    ${ }^{1}$ तर्रतेजेत्विल्वादिना सजातीयल्बम. ${ }^{2}$ जननाषटित. ${ }^{3}$ अधिकरणस्या.

[^64]:    ${ }^{1} 1$ मात्रेण तात्वर्य. 2 वाक्यख्नप्डार्थत्व.

[^65]:    1 थमेदस्य.

[^66]:    1 तव. 2 कर्तव्य श्य्यध्या.

[^67]:    ${ }^{1}$ कर्तव्यत्वेना. ${ }^{2}$ य्यात्मका. ${ }^{8}$ तात्पर्या. 4 चार्यवादेन.

[^68]:    1 कर्मतात्पर्यत्वेन. 2 भोजनादिष्ट. 8 कत्वं मुख्यार्षत्वं.

[^69]:    1 पुतीत्या 2 लक्षणाया मानान्तर 3 अखण्डार्थत्व 4 अन्योोष: $5_{0}$ वमन्यदेब

[^70]:    ${ }^{1}$ पूर्न. 2 परानुपमर्द. 3 संजाताविरोधि. 4 ठ्यापकं. 5 द्वादशाइतं दास्यकासीदिल्यस्य.

[^71]:    1 संयोगे विधिना उपांशु. ${ }^{2}$ करेवेन दक्षिणा. ${ }^{3}$ प्रयोगस्येति.

[^72]:    1 वाक्येन विरोषः. ${ }^{2}$ कारस्याशय. ${ }^{3}$ सहृष्टन्त. ${ }^{4}$ यत्र जातं.

[^73]:    ${ }^{1}$ बाधकतैव.

[^74]:    1 अविरोध.

[^75]:    ${ }^{1}$ पस्चभूतस्य. ${ }^{2}$ दुप्पास्तिव्यर्वहित.

[^76]:    ${ }^{1}$ काकादिसम्बन्धि. 2 द्वैताभावस्य व्यापकत्वात् . ${ }^{3}$ ज्ञाने. ${ }^{4}$ ज्ञाते 5 वयाव्यं यत्तद्वदिति.

[^77]:    ${ }^{1}$ तालपर्या. ${ }^{2}$ नब्म.

[^78]:    1 धर्मि. ${ }^{2}$ जन्यक्ननविषय.

[^79]:    ${ }^{1}$ त्ताकाराविधि. ${ }^{2}$ उपहितंविषयलत्वेऽपि. ${ }^{3}$ अविद्यार्धननसुखादौ, नर्कीधीन.

[^80]:    1 अजन्यत्व. 2 निवेरयते. 3 परमत.

[^81]:    1 निरूपितजन्यत्वाभाव.

[^82]:    ${ }^{1}$ उपायैः. ${ }^{2}$ अणु. ${ }^{3}$ उभय. ${ }^{4}$ वेरोद्वा सत्पदस्य. ${ }^{5}$ पा॥ नर्ञाकारात्.

[^83]:    ${ }^{1}$ अतथा. ${ }^{2}$ ज्रारीर. चछेद्रभर्मान्त्तर

[^84]:    1 त्वादुप. 2 ग्रृत्यन्ताभावा. ${ }^{3}$ शुर्काष्तणादे:.

[^85]:    1 अद्वेतउक्षणापेक्षया.
    ${ }^{2}$ घ्यार्श्रत्वावादि.
    ${ }^{3}$ नानास्तीति.

[^86]:    1 श्रैंते.

[^87]:    1 सकला.

[^88]:    1 विमोच (क्ष) के. 2 कार्य. ${ }^{3}$ तत्र पूर्वकालीनाबाधित. ${ }^{4}$ तस्य. ${ }^{5}$ ज्ञान.

[^89]:    ${ }^{1}$ ज्ञानं. ${ }^{2}$ निवेशेधर्मिताव₹छेदकताप्रल्यासत्त्या कार्यकारणभावः इल्याधिकः पाठ:.

[^90]:    ${ }^{1}$ घृत्ति. ${ }^{2}$ श्रम. ${ }^{3}$ ध्रम पा. 4 व्यापकलेक्लैसैव.

[^91]:    1 साध्यक्यापकेति प। ॥ 2 जीवणुत्वे. (जीवानन्यत्व). 3 जीवाणु
    A.S.V.

[^92]:    1 वैयर्थ्य.

[^93]:    ${ }^{1}$ ब्वस्यासत्यमावेपे. (वस्याभावेपे पा.)

[^94]:    ${ }^{1}$ विषयकस्वं. ${ }^{2}$ घटग़्तिं.

[^95]:    1 ब्नह्मत्र 2 संमतत्वादि. 3 परश्रमितत्वात्.

[^96]:    1 सिद्धघ. ${ }^{2}$ सम्मतत्वात्

[^97]:    1 दगा. 2 स्वामाकवत्व. ₹त्वववत्त्वास्वी.

[^98]:    1 द्वेंत. $\quad$ 'द्वताधिकरणंद्वताप्रमापक. 3 अनुवाद.

[^99]:    ${ }^{1}$ कर्मेंदेस्स्य.

[^100]:    1 पवपन्ति.

[^101]:    1 ताद़ार्थाभि. 2 वेदिदेत्तर.

[^102]:    1 न्ययोगननृृ्तेत: ${ }^{2}$ वापादितस्य.

[^103]:    1 त्रिकालबाध्य.

[^104]:    1 अथवा.

[^105]:    1 अेदेन.

[^106]:    ${ }^{1}$ भाने इति. ${ }^{2}$ सर्षषा. ${ }^{3}$ ज्ञानात्ताझखं, ज्ञातादिति वा पा. ${ }^{4}$ फलखेने हि.

[^107]:    1 प्रमा. 2 कर्मेन्द्रियानुपरमश्च. " साध्य. ${ }^{4}$ स्वरूपस्य.

[^108]:    1 दिनापर्यापिति. ${ }^{2}$ वेदवाहितितात्. ${ }^{3}$ निललं.

[^109]:    ${ }^{1}$ भुतिनिनेष्यर्वर्वछयोबोषक्लन. ${ }^{2}$ लेन.

[^110]:    1 असदेवेल्यादि. $\quad 2$ स्वबाधन. 3 द्वैतस्य,

[^111]:    1 प्राप्तार्थेति पा ॥ 2 न्नह्मतात्पर्य.

[^112]:    1 वग्गुन्वत्तिक्मण $\quad 2$ तवेतत्सत्य.

[^113]:    1 बाधितापन्हवो. 2 तदजुपपचमिति.

[^114]:    

[^115]:    1 कष्ष्या. 2 व्यवहारकाल इल्यारम्य न तु तद्बीरित्यन्तो प्रन्थ:-क पुस्तक न द्संते.

[^116]:    शोष्येत्यर्थः। अवच्छेद्कस्येत्यादि। अवच्छेदकस्योपाघेः। अवच्छिक्मस्य

[^117]:    1 ग्रातिभासिकलें तर्षं च.

[^118]:    1 कुण्छलितः पाठः-क पुस्तके म दृ्यते. " एतेन लिश्न-ग. ${ }^{3}$ कारणत्व-

[^119]:    ${ }^{1}$ साक्षितावच्छेदक-क. ग. ${ }^{2}$ श्रम. ${ }^{3}$ स्तद्ब्बीव्यक्तित्नेन, 4 भ्रयय्नृत्तित्व.

[^120]:    

[^121]:    

[^122]:    1 सर्वनाममु त्वदुक्त-ग. ${ }^{2}$ ताकाशाब्द-ग. ${ }^{3}$ शब्द्वाउस्थितस्यैव.

[^123]:    

[^124]:    । स्वांध्रत. "श्ञानानवांच्चन्नता. "तन्ममंबत.

[^125]:    

[^126]:     ग. ${ }^{4}$ तर्कल्पने-ग.
    Advaita. Vol. II

[^127]:    ${ }^{1}$ दोषाजन्येति-क. ख. ग• 2 मसंयुक्तसमवेतं-ग. ${ }^{3}$ द्यसम्भेवन-ग.

[^128]:    1 स्वस्वकारण-क. ग. त्वाद्रम्पंवाद्वांन-क. ग.

[^129]:    ${ }^{1}$ जन्यमात्रे-ग. 2 व्युक्तसत्वा-क.ख. 3 साध्यनिवेशात्-ग.

[^130]:    1 ज्ञाना-ग.

[^131]:    1 तथा-क.

[^132]:    

[^133]:    1 अनान्टृतत्पपक्षे-ग.

[^134]:    ${ }^{1}$ तस्यां तमो-ग. ${ }^{2}$ मनोवृत्त्यादौ-ग. 3 प्रीितिब्बवत्वेन-ख. 4 परि: ज़ाग्मंबनन्तन "परिणामा-ख.

[^135]:    

[^136]:    ${ }^{1}$ विषये. ${ }^{2}$ प्रच्यवः। द्वितीय-ग. ${ }^{3}$ चानृत्तप्रकाशस्य-ग. 4 व्यम्हार-ग.

[^137]:    1 प्राँताबम्बनेपाधिताया:.

[^138]:    1 चाsiे.

[^139]:    1 अवच्चिन्हस.

[^140]:    1 प्रतिन्धत्वास्-ग. ${ }^{2}$ श्रयत्वक्यबहारा-ख. ग. ${ }^{8}$ तुत्पती-ग.

[^141]:    1 प्रमेगचैतन्य-ग.

[^142]:    ${ }^{1}$ मिलनामिलन-ग. ${ }^{2}$ फलवत्त्वपू-ग.

[^143]:    1 ज्ञानादिपूर्व विषयत्वासत्वेऽपे ज्ञानान्यभावादेतेपपत्तेः 1 ज्ञानादीनां ग. 2 स्वोत्पत्तिद्वितियक्षणे . . . . . . ना संगवात्-ग.

[^144]:    1 धीविषयात्तज्ञानस्य-ग.

[^145]:    

[^146]:    1 निद्दिध्यासनभावे-ख.

[^147]:    ${ }^{1}$ व्रब्मान्य-क. ग.

[^148]:    1 कियायास्तु तसद्वर्धान्ता-क.

[^149]:    ${ }^{1}$ वादिकारण-ग. ${ }^{2}$ नुभवस्य कारण-ग. ${ }^{3}$ तज्जान-ग. ${ }^{4}$ सूत्र्म्-

[^150]:    1 न्तरतात्रर्यम्-क. स. 2 णाव्रह्माणि-क. 3 सिादेंखे । तेन प्रथमं-

[^151]:    1 म्रहावुरो-ग. 4 वा₹यार्थग्रवेशो-ख. 3 सामग्रगसत्वना-ग.

[^152]:    1 न्षति मान-ष. ${ }^{2}$ लमुरुपार्य महा-क. ग. ${ }^{3}$ निषेषसतलेड़े-ा.

[^153]:    1 स्वविषय-क. ${ }^{2}$ न निषेध-क.ग. ${ }^{3}$ संबन्धभाना-स. मान्तावइय-क.

[^154]:    1 बाध्य-ख.

[^155]:    ${ }^{1}$ पूर्वबलावल,ग. ${ }^{2}$ बलं-स. ग. ${ }^{3}$ तज्ञान-ख. अज्ञान-ग. ${ }^{4}$ खातिरिक-ग.

[^156]:    1 गतिरुक्ता साद्व-ग. 2 मवंक्षते-ग.

[^157]:    ${ }^{1}$ तत्र-ग.

[^158]:    

[^159]:    1 मिषदिति पदमासीदिलर्थक. इति स्यात्. ${ }^{2}$ प्कते श्रुतेः-ग.

[^160]:    1 राघस्तालर्यः्थ: ग.

[^161]:    1 विनामूतं-गा.

[^162]:    

[^163]:    1 विवक्षायां-ग. ${ }^{2}$ अनिष्यन्तां ${ }^{3}$ तत्र दा. क. ग. ${ }^{4}$ मुश्यानां-ग.

[^164]:    1 प्र|करणणिकरेना-ग.

[^165]:    1 दरशेयत्बनोक-क.

[^166]:    ${ }^{1}$ मावे न ; उत्पात्तिद्यिती-ग. $\quad 2$ च-ग. ${ }^{3}$ अन्यमाया-ख. ${ }^{4}$ अंन्यसृष्ट-ग.

[^167]:    1 इत्युत्ते-ग. 2 र्थकत्व-क.

[^168]:    ${ }^{1}$ व्बस्याभांनानसरु-ग.

[^169]:    - उपमाॅःः 2 हंतुभव्वन-क. ग.

[^170]:    

[^171]:    ${ }^{1}$ रन्तल्वा-स. रन्त्यव्वा-ग.

[^172]:    1 इक्ष्यंत-ग. 2 स्त्राभ.|निं त्र-ग.

[^173]:    1 स्वाम-ग.

[^174]:    1 पूर्व - - .
    ${ }^{2}$ द्बूलन्तरानम्भुपगमेंडाष-ग.
    

[^175]:    1 कल्पनाया:-ग.

[^176]:    1 वस्वाविषयकलेन-ग.

[^177]:    ${ }^{1}$ रक्तत्वादिविशोषणांमति-ग. ${ }^{2}$ ज्ञानदील्यार्थ:-ग. ${ }^{3}$ झत्व-ग.

[^178]:    Adジarta Vol. II.

[^179]:    ${ }^{1}$ त्वदुक्तघटं न जानामील्यन्रेव त्वदुक्तं-ग. ${ }^{2}$ तज्ञानकारण-ग.

[^180]:    

[^181]:    ${ }^{1}$ तादराज्ञाना-ग

[^182]:    ${ }^{1}$ स्वर्वषया-ग. ? माभ्यव्गापकतया-ग. 3 माध्याब्यापक-ग.

[^183]:    1 चिल्यपरोक्षायामितित स्यान्.

[^184]:    ${ }^{1}{ }^{1}$ तमना-क. 2 विकल्पेना-ग. $3^{-}$नाबाध-क. ग.

[^185]:    1 ब्यन्नहारप्रतिबन्धकत्न-ग. ${ }^{2}$ इल्यस्यौंचिल्यात्-ग. ${ }^{3}$ नन्त्वनांदि-ग.

[^186]:    ${ }^{1}$ विच्चित्राझा-ग. ${ }^{2}$ कारण-ग. ${ }^{3}$ विषमसत्ताकमत्कार्म-क.

[^187]:    ${ }^{1}$ प्राताबम्बयोंर्मिथेा भंद इव-ग. $\quad 2$ प्रमातर्येव-ग. ${ }^{3}$ न्यप्रति-क. ग. 4 अभिश्रेतम् : अघं ग.

[^188]:    1 मुखस्थ. 2 त्वात्तत्पक्ष-ग.

[^189]:    ${ }^{1}$ क्लस्न्वादिति रेष:-ग. ${ }^{2}$ सब्वेडपि तदभावस्य धीप्र-क. ${ }^{3}$ हेतुकलेन-ग.

[^190]:    1 अज्ञानप्रति -ग. 2 उक्षाज्ञानाभाव-क. ग 3 प्रातीतिकस्य-ग. 4 न त्वन्य. ${ }^{5}$ तुत्र्यभावस्तु तदा-ग.

[^191]:    1 अनुभावान्यथा-ग.

[^192]:    1 वर्तमानविषयकதल्यय:-ग. 2 भाविक्षणाव-ग.

[^193]:    1 निवर्तकव.
    2 संबदूताय-ग.

[^194]:    1 घटायवचिछन-ग.

[^195]:    ${ }^{1}$ तथानुम-क. ${ }^{2}$ प्रत्यभिज्ञानस्यात्मनः-ग. ${ }^{3}$ स्वहूप-ग. ${ }^{4}$ ज्ञान-क.

[^196]:    A. VOL. III.

[^197]:    ${ }^{1}$ सुषुप.

[^198]:    1 गौण एवमिह् महिमे-ख. ग. गो एवमिह महिमो-क.

[^199]:    

[^200]:    1 आरेपात्पूवमधिष्टानगतत्वेन-ग. 2 र्थाविषयिका-क.

[^201]:    ${ }^{1}$ मानाभावे-ग.

[^202]:    ${ }^{1}$ कर्तेल्यादिव्यवहारात्कर्तृवादिकम-क. ${ }^{2}$ भवे-क.

[^203]:    ${ }^{1}$ स्यादिति। जातेष्ट्यादील्याद्वपद गृही।तकर्मान्तरस्य फंड पुत्रादौ तन्संयुक्तसमवायेन जायते इत्यर्थः। पित्रन्यक्य पुत्र्र्ग। ₹्यात्-ग.

[^204]:    1 धर्मत्वस्य-क. ग. $\quad 2$ आत्मनः पार-ग. $\quad{ }^{3}$ मायावरिछन्त्वेना-ग.

[^205]:    ${ }^{1}$ तदु|क्तिस्ते ठ्यर्थति-ग.

[^206]:    तिस्तत्प्रतियोगित्वम् । अहुः अन्मदाचार्याः। न चैवमिति । एवं कल्पितस्य नित्यत्वानिल्यत्वयोरभावस्वीकोर। तांत्विकानित्यत्वाभावे-

[^207]:    1 धर्मविशिष्टे धर्माबाध्यो-क. 2 धर्माबाध्यो-क.

[^208]:    ${ }^{1}$ षडन गाभावे-ग,

[^209]:    ' दुस्बाभावव्याप्यवेन-क. ग. च सीविषगकवा-क. ग.

[^210]:    1 माभ्यय:-ग.

[^211]:    ${ }^{1}$ इदं रूप्यमिदंद ज्ञानं-क ग.

